तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer

Reg: No. N. 352.

वर्ष १० ता० १ दिसम्बर   सन् १९३४ अंक ?

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र। एक प्रतिका मूल्य दो आना।

जैन जगत्

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
सर्वतीर्थकृतामस्माकम्, शिवं सम्यमयं वचः॥

सम्पादक—न्या०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।

प्रकाशक—फ़तहचंद सेठी, अजमेर।

नम्र निवेदन।

जिन ग्राहकोंकी ओरसे प्राप्त मूल्य समाप्त हो गया है उनसे नम्रनिवेदन है कि वे कृपया दसवें वर्षका वार्षिक मूल्य तीन रुपया शीघ्र मनीआर्डर द्वारा भेजदें। वी०पी० मँगवानेकी अपेक्षा मनीआर्डर द्वारा मूल्य भेजनेमें उन्हें चार आनेकी बचत होगी तथा आगामी अंक भी उन्हें ठीक समय पर मिल सकेगा। जिन ग्राहकोंकी ओरसे ता० १५ दिसम्बर तक मूल्य प्राप्त न होगा तथा किसी प्रकारकी कोई सूचना न मिलेगी, उन्हें यह समझकर कि वे आगे ग्राहक रहना चाहते हैं तथा वी० पी० मँगवाना चाहते हैं, वी० पी० भेज दी जावेगी। अतः जो महानुभाव किसी कारणवश आगे ग्राहक न रहना चाहते हों उनसे नम्रनिवेदन है कि वे कृपया शीघ्र तथा निःसंकोच इसकी सूचना देदें जिससे उन्हें वी०पी० न भेजी जावे। अभी प्रमादसे अथवा किसी संकोचवश मनाई की सूचना न देने तथा बादमें वी० पी० लौटा देनेसे ग्राहकोंको कोई लाभ नहीं होता, किन्तु हमको वृथा प्रति वी० पी० सवा तीन आनेकी हानि उठानी पड़ती है। हम किसी ग्राहकको उसकी इच्छाके विपरीत वी०पी० भेजना नहीं चाहते। आशा है ग्राहकगण हमारे इस नम्रनिवेदन पर अवश्य ध्यान देंगे।

९वें वर्षकी फ़ाइल पूरी करनेके लिये सूचना।

९वें वर्षका पहिला तथा २१वाँ अंक स्टॉकमें नहीं है, शेष अंकोंकी कुछ प्रतियाँ मौजूद हैं। जिन्हें आवश्यकता हो वे प्रति अंक दो आनाके हिसाबसे टिकट भेजकर शीघ्र मँगवालें। —प्रकाशक

भारत दिगम्बर जैनपरिषद्का अधिवेशन के लिये निमन्त्रण—दिसम्बरके अंतिम सप्ताहमें अधिवेशन करनेके लिये श्री भारत दिगम्बर जैनपरिषद्को मेलसा दिगम्बर जैनसमाजकी ओरसे निमन्त्रण प्राप्त हुआ है। पूर्ण आशा है कि प्रबन्धकारिणी समिति निमन्त्रण स्वीकार कर लेगी। सभी जैनबन्धुओं, विशेष कर शिक्षित नवयुवकोंको अधिवेशनमें सम्मिलित होनेके लिये तथा अधिवेशनकी सफलताके अर्थ अभीसे प्रयत्न करना चाहिये। —मंत्री।

कुचामनमें मुनिवेषियोंमें परस्पर झगड़ा—कुचामनमें चंद्रसागरजी व मल्लिसागरजीके परस्पर झगड़ा व गालीगलौज होने तथा मारनेके लिये पिच्छियोंका प्रयोग किये जानेके समाचार मिले हैं। हम अभी जाँच कररहे हैं। विशेष समाचार आगामी अंकमें प्रकट होंगे। —प्रकाशक।

एक विलायतप्रवासी बन्धुका अपूर्व स्वागत—

श्रीमान बा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैन आई० सी० एस० *

श्रीमान बा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैन आई० सी० एस के विलायतसे लौटकर आने के समाचार गतांकमें प्रकट होचुके हैं। ता० १२ नवम्बरको श्रीमान रायबहादुर साहु जगमंदरदासजी नजीबाबाद, श्रीमान सेठ ताराचन्दजी नवलचन्दजी जवेरी तथा अन्य महानुभावोंने जहाजसे उतरतेही स्वागत किया। ता० १२ नवम्बरको बम्बईमें आपको भारत दिगम्बर जैन परिषदकी ओरसे ऐड्रेस दिया गया था। बम्बईसे कानपुर आते हुए राहमें भेलसा, भोपाल, इटारसी, ललितपुर आदि स्टेशनों पर जैनसमाज की ओरसे उनका खूब सत्कार किया गया। ता० १४ नवम्बरकी शामको कानपुर स्टेशन पर वहांके प्रतिष्ठित जैन व अजैन महानुभावों ने आपका स्वागत किया। बाहिरसे श्रीमान बा० अजितप्रसादजी एडवोकेट लखनऊ डिप्टी गोवर्धनदासजी सहारनपुर आदि अनेक सज्जन पधारे थे। ता० १५ की शामको पंचायती जैन मंदिर (जनरलगंज) में श्रीमान रायसाहब बा० रूपचन्दजी जैन आनरेरी मजिस्ट्रेटके सभापतित्वमें जैन मण्डल की ओरसे मानपत्र दिया गया। कानपुरके प्रायः सभी प्रतिष्ठित स्त्री पुरुषोंने उत्सवमें पधारकर हर्ष प्रगट किया। इस अवसर पर श्रीमान वैद्यरत्न कन्हैयालालजीने आपके स्वर्गीय पिता बा० नवलकिशोरजी वकील, तथा पितामह श्रीमान डिप्टी चम्पतरायजीकी सार्वजनिक तथा जैनसमाजकी सेवाओं का उल्लेख करते हुए आपकी सफलता पर हर्ष प्रकट किया। जैनमंडलके सभापति श्रीमान पं० प्यारेलालजी तथा श्रीमान रायबहादुर साहु जगमंदरदासजी के भाषण हुए। श्रीमान ब्रह्मचारी आनन्दसागरजी ने बा० लक्ष्मीचन्द्रजीको आशीर्वाद दिया। मन्दिरके फाटकपर फूलमाला आदिसे सत्कार किया गया।

वर्ष १० | अंक १

मार्गशीर्ष कृष्णा १० | ता० १ दिसम्बर

वीर संवत २४६१ | सन् १९३४ ई०

जैनजगत्

भगवान् सत्य।

तेरी ही सेवा करनेके लिये हजारों तीर्थंकर,
धर्म चक्रसे तीर्थ प्रवर्तन करते रहते जीवनभर।
तेरी ही करुणाको पाकर 'बोधि' बुद्ध बन जाते हैं,
स्वार्थ-वासना-विजय करने वाले जिन कहलाते हैं ॥१॥

मायापति कहलाते हैं जो दिखलाते तेरी छाया,
मर्यादा पुरुषोत्तमकी सी मूर्ति है तेरी माया।
तेरी ही एकाध किरण जब कोई जन है पा जाता,
तभी जगत्में ऋषि महर्षि मुनि और महात्मा कहलाता ॥२॥

तेरी ही करुणा-लव पाकर बनता वही मसीहा है,
पतित दीन सेवा सिवाय जिसको न और कुछ ईहा है।
तेरी आज्ञाके ओठोंसे छूकर जो ले आते हैं,
[illegible] के सच्चे सन्देश पैगम्बर कहलाते हैं ॥३॥

राम कृष्ण [illegible] ईसा और मुहम्मद भी
कन्फ्यूसियस आदि पैगम्बर तीर्थंकर अवतार सभी।
तेरी करुणाके सूत्रोंमें [illegible] समस्त तेरे चाकर,
अखिल जगत् चलता है तेरी ही करुणासे करुणाकर ॥४॥

श्रद्धाका अचलत्व, ज्ञानका मर्म, वृत्तका जीवन तू,
जनसमाजका मेरुदंड तू, धर्म कोषगृहका धन तू।
तेरी ही सेवा करनेसे होती है जगकी सेवा,
तेरी ही करुणा पानेसे मिलजाते जग के मेवा ॥५॥

पक्षपातका नाम न रहता जहाँ पड़े तेरी छाया,
अंधकारमें गिरता [illegible] जिसने तुझे न अपनाया।
सब धर्मोंका सार जगत्का प्राण सब सुखोंका आकर,
कर मनमें निवास, हो जिससे जगत्त्राण हे करुणाकर! ॥६॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

नूतन वर्ष ।

जैनजगत्का प्रत्येक नूतन वर्ष कुछ न कुछ ऐसी नूतन सामग्री लाता रहा है, जिससे समाजमें तहलका मच जाय। "जैनधर्मका मर्म" शीर्षक लेखमालाके विविध अध्याय कुछ न कुछ नूतनता लेकर ही आये थे। लेखमालाके विषयोंकी वह नूतनता तो पाठकोंको इस वर्ष भी मिलेगी, साथ ही सत्यसमाज की स्कीमसे एक तहलका और मच गया है।

गत वर्ष "नूतन वर्ष" शीर्षक लेखका उपसंहार करते हुए मैंने कहा था कि "भविष्यमें जैनजगत् समाजके सामने जो कार्यक्रम रक्खेगा उसके लिये हजारों नहीं-लाखों रुपये समाजको देने पड़ेंगे और प्रसन्नतासे देने पड़ेंगे"। उस समय भी मेरे दिलमें सत्यसमाज और सत्याश्रम आदिका कार्यक्रम था, परन्तु इसका मुझे ज़रा भी खयाल नहीं था कि वह भविष्य इतना निकट आ जायगा। इस प्रकार जैनजगत् द्रुतगतिसे आगे बढ़ता जाता है—वह एक एक दो दो वर्षमें एक एक युग पार करता जाता है—इसलिये उसका एक वर्ष भी कुछ न कुछ इतिहास रखता है लेखमालाके विषयमें दो शब्द कहकर मैं गतवर्षकी तीन विशेष घटनाओंके विषयमें कुछ कहना चाहता हूँ। लेखमालामें गतवर्ष प्रारम्भमें ज्ञान की चर्चा रही जो मौलिक होनेके भी बहुत कठिन नहीं थी। बादमें चारित्रका वर्णन आया है। लेखमाला बहुत लम्बी होगई है, परन्तु मैंने उसका अनावश्यक विस्तार नहीं किया है। मेरी इच्छा है कि लेखमाला जल्दीसे जल्दी समाप्त होजाय। इसके लिये मैं कुछ संक्षेपमें ही लिखूँगा! फिरभी कमसे कम एक वर्ष तो लगही जायगा। चारित्र अध्याय की समाप्ति होनेपर जैनजीवन सम्बन्धी चर्चा रहेगी, जिसमें सामाजिक समस्याओंपर विचार किया जायगा। और उसके बाद सर्वधर्मसमभाव अर्थात् स्याद्वाद पर एक अध्याय लिखा जायगा। होसका तो इसप्रकार आठवें अध्याय पर लेखमाला पूरी कर दी जायगी। परन्तु कुछ प्रकीर्णक चर्चाएँ और रह जाती हैं। हो सका तो, उनका एक प्रकीर्णक अध्याय बना दिया जायगा, नहीं तो वे बातें किसी दूसरे मौक़े पर कही जायँगी।

गतवर्षकी तीन मुख्य घटनाओंमें पहिली घटना मुनीन्द्रमण्डलीके भंडाफोड़के विषयमें है। जैनजगत् वर्षोंसे जिस बातको कहता आरहा है, उसीका स्पष्ट रूप जैनसमाजने अपनी आँखोंसे देखा। अब उसे मालूम हुआ कि मुनियोंकी भूखमें उसने कैसा अभक्ष्यभक्षण किया है! ये मुनिवेषी सिर्फ क्षुद्र स्वार्थों के वशमें होकर आप डूब रहे हैं और समाजको डुबाने की कुचेष्टा कररहे हैं। इनमें न तो नवयुगको पहिचाननेकी शक्ति है, न उसके अनुसार चलनेका साहस है और न प्राचीन नियमोंका पालन व रक्षण कर सकते हैं। इनके चारों तरफ़ दंभका आवरण पड़ा है। इनमें न तो सम्यक्त्व है, न ज्ञान, न चारित्र। आपस में लड़ते हैं, इनमेंसे हरएकको दो दो चार चार शिष्य मूड़कर आचार्य बननेकी फ़िकर पड़ी है! जहाँ जाते हैं वहाँ लड़ाई झगड़ा कराते हैं, मिथ्यात्वका प्रचार करते हैं! इन अनर्थोंके सिवाय ये किसीभी मर्ज़की दवा नहीं है। जबतक हम युगके अनुरूप कोई साधु संस्था खड़ी नहीं कर सकते तब तक साधुसंस्थाके बिना ही गुजर करनेमें अपनी भलाई है। खेद है, कि पंडितोंका एकदल स्वार्थवश तथा अपनी कुटेक रखनेके लिये इन निकम्मे और अनर्थकर जीवविशेषों के रक्षणमें अपनी शक्ति बर्बाद कर रहा है। केवल जैनसमाजमें ही नहीं किन्तु, सभी समाजोंमें यह एक जटिल समस्या है। साधुओंका बोझ तो किसी तरह सहन किया जासकता है, परन्तु उनके द्वारा जो जो अनर्थ होते हैं, अन्धविश्वासकी वृद्धि और विविध कष्टोंका जो सामना करना पड़ता है वह असह्य है। इस भारतव्यापी रोगको निर्मूल करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। दिगम्बर जैनसमाजको इस व्याधि का हटाना बहुत सरल है क्योंकि यहाँपर यह बिल-

कुल नई है और उसका अनर्थकर तथा भयंकररूप सबकी नजरोंमें आगया है। इस बातको लेकर कल तक जो लोग जैनजगत्‌को कोसते थे उन्हें भी अपनी ग़लती मालूम होगई है, और जैनजगत्‌की सेवा उन्हें सच्ची और क़ीमती मालूम होने लगी है।

दूसरी घटना मेरे ग्रीष्मप्रवास की है। यों तो कार्यविशेषसे इधर उधर जाते हुए मैं कुछ न कुछ प्रचार करता ही रहता था, परन्तु गतवर्ष गरमीके दिनोंमे प्रचारके लिये ही प्रवास किया था। उससे इसकी आवश्यकता स्थायी होगई है। इस वर्ष भी मैं अप्रेलके अन्तिम सप्ताहसे जूनके प्रथम सप्ताह तक भ्रमण करनेका विचार रखता हूँ। जहाँ जहाँके सज्जन मुझे बुलाना चाहें वे यथासाध्य शीघ्र सूचित करें जिससे प्रवासके प्रान्तका निर्णय किया जासके। गतवर्ष सूचना आनेपर भी जहाँ जहाँ मैं नहीं जा-पाया था, वहाँके सज्जन फिर लिखनेकी कृपा करें। इस विषयकी सूचनाएँ समय समयपर निकलती रहे-गी। इस प्रवासका सफल बनानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये। सत्यसमाजके सदस्य बनाना भी इस बारके प्रवासका एक लक्ष्य रहेगा।

तीसरी बात सत्यसमाजकी स्थापनाके विषयमें है। इसकी स्कीम पाठकोंके पास पहुँच चुकी है। इसविषयमें लोगोंको जो शंकाएँ थीं उनका भी उत्तर दिया गया है, तथा दिया जायगा। बिना किसी विशेष प्रचारके इस विषयमें सम्मतियाँ भी आई हैं, तथा सत्यसमाजके कुछ सदस्य भी बने हैं। बम्बईमें व्या-ख्यानमाला चालू है, कानपुरमें शाखा खुलगई है। इसप्रकार इसका कार्यरूपमें भी श्रीगणेश होचुका है। परन्तु यह तो सिर्फ नाममात्रका श्रीगणेश है, असली कार्य तो अभी शुरू होने को है।

जिन लोगोंमें साम्प्रदायिकताका मोह है उनके लिये तो इस स्कीमका समझना भी मुश्किल है। परन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें सम्प्रदायके भीतर आई हुई खराबियोंसे तो घृणा है परन्तु वे सम्प्रदाय की छाप नहीं हटाना चाहते। वे 'जैनधर्मका मर्म' का समर्थन कर सकते हैं, परन्तु सत्यसमाजका नहीं। परन्तु वास्तवमें 'जैनधर्मका मर्म' का समर्थन करना और सत्यसमाजका समर्थन करना एकही बात है। इस लेखमालामें जो धर्मका रूप दिखाया गया है वह किसी एक धर्मसे सम्बन्ध नहीं रखता है किन्तु वह तो सभी धर्मोंका निचोड़ है। ऐसे सार्वधर्मपर किसी एक नामकी छाप लगाकर हम उसे दूसरोंके लिये आकर्षणहीन बना देते हैं। ऐसे महानुभावोंको यह अवश्य सोचना चाहिये कि जिसप्रकार हमें अ-पने नामकी चिन्ता है, उसी प्रकार दूसरोंको भी होसकती है। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' का पाठ हमें इस जगह भी पढ़ना चाहिये। यदि हम नामकी पूजाकी ओटमें अपने अहंकारको पूजना अच्छा समझते हैं तो दूसरे क्यों न समझेंगे? और हम किस मुँहसे उनके सामने निःपक्षताकी दुहाई देंगे? हम छोटेसे आग्रहके कारण एक सर्वोपकारी वस्तुका त्याग करेंगे, उसके प्रचारमें बाधक बनेंगे।

कुछ भाइयोंकी यह आशंका है कि आपका लक्ष्य तो ठीक है परन्तु पीछेसे यह भी एक दल बन जायगा। इसका उत्तर मैं कईबार दे चुका हूँ कि आप कोई भी काम क्यों न करें, आपका दल बननेवाला अवश्य है। बिना कोई दल बनाये कोई अकेला क्या कर सकता है? हाँ, विचार सिर्फ इतना रखना चाहिये कि इसमें साम्प्रदायिक कट्टरताके बीज न आने पावें। मेरे खयालसे सत्यसमाजमें पाक्षिक और नैष्ठिकसदस्यकी व्यवस्था ऐसी अच्छी है कि वह साम्प्रदायिकता को पास न फटकने देगी। इससे अच्छी स्कीम अगर कोई भाई बतलावें तो इस व्यवस्थाको छोड़कर मैं उसे अपनानेको तैयार हूँ। परन्तु जो कोई नई स्कीम बतलाना नहीं चाहता और इसका भी विरोध करता है, उसके विषयमें मैं तो यही समझता हूँ कि या तो उसमें साहसका अभाव है, या अकर्मण्यता है, या ईर्ष्या है, या बात करनेका अ-नुत्तरदायित्व है।

अगर सब सम्प्रदायोंसे सम्बन्ध तोड़नेकी बात कही जाय, दूसरे महापुरुषोंसे घृणा करने का पाठ

सिखलाया जाय, दूसरोंके धर्मस्थानोंका बहिष्कार किया जाय तभी यह बात कही जा सकती है कि इसमें साम्प्रदायिक कट्टरता आती है। सत्यसमाज का जो मूर्तिमान रूप थोड़े दिनों बाद दिखलाई देगा उसे देखकर ही पाठक समझ सकेंगे कि वास्तवमें साम्प्रदायिक कट्टरताको नष्ट करनेके लिये इसमें सभी सम्भव उपाय किये गये हैं। सत्यसमाज अगर कोई सम्प्रदाय है तो वह सम्प्रदायोंका नाशक सम्प्रदाय है। यह अगर कोई विष है तो ऐसा विष है जो सैकड़ों विषोंके दुष्प्रभावको नाश करने वाला है। बस, इससे अधिक विश्वास मैं क्या दिला सकता हूँ?

इस विषयकी चर्चाके साथही जैनजगत्के नाम का प्रश्न खड़ा होता है। निःसंदेह जैनजगत् शब्दसे मुझे स्नेह है, क्योंकि इसी नामके नीचे मैंने अपने हृदयको निचोड़ निचोड़ कर रक्खा है। परन्तु हृदय के उस अर्कका यह उपयोग नहीं है कि वह इसी डिब्बीमें बन्द पड़ा रहे। अगर हम चाहते हैं कि उसका सौरभ दिगन्तव्यापी हो तो हमें डिब्बीका ढक्कन खोलना ही पड़ेगा। सुनार जब किसी सोनेके आभूषणको साँचेमें ढालता है तब आभूषण बनजाने के बाद उस साँचेको तोड़ डालता है। यह कृतघ्नता नहीं है, मूर्खता नहीं है, किंतु उपयोगिताका सवाल है।

जैनजगत्के साँचेमें जो आभूषण ढालागया है उसे दुनियाँको बतानेके लिये तथा उसके द्वारा मनुष्यता सुन्दरीका शृंगार करनेके लिये साँचेका आवरण हटाना ही होगा। आभूषणकी बनावट साँचे की उत्तमताकी सूचक होगी, स्मारक होगी। इसीलिये गताङ्कमें मैंने ये विचार प्रकट किये थे कि जैन जगत्का नाम बदलकर सम्प्रदायातीत नाम रख दिया जाय। नाम बदलजानेपर वह मनुष्यमात्रके आकर्षणकी चीज़ बन जायगी, अपने ढंगके सार्वजनिक पत्रके स्थानकी पूर्त्ति करेगी, यद्यपि ढाँचा तो वही रहेगा, जो अभी तक रहा है। जो कुछ परिवर्तन होगा वह रोचक परिवर्तन ही होगा। पाठकोंके लिये उसमें सुन्दर स्वादिष्ट खुराक ही मिलेगी।

कुछ बन्धुओंका विश्वास है कि इससे जैनपाठकों का आकर्षण मिट जायगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती। पहिले भी "सत्योदय" आदि सम्प्रदायातीत नाम वाले पत्र निकलते रहे हैं, परन्तु जैनियोंके लिये उनके नामके कारण कोई आकर्षण कम न था। जैनजगत्का परिवर्तन प्रचारके लिये है, उसे व्यापक बनानेके लिये है, जैनसमाजसे सम्बन्ध विच्छेद करनेके लिये नहीं है। सामाजिक चर्चाएँ तो फिरभी आज सरीखी चलतीही रहेंगी। इसलिये जैनजगत्के पाठक नाम बदलनेसे उसे छोड़ देंगे, यह बात समझमें नहीं आती। हाँ, जिनको बहाना करना है उनकी बात दूसरी है। बहाना एक ऐसी चीज़ है जिसका कभी अभाव नहीं होता। बहाना बताने वाले तो कोई न कोई बहाना ढूँढ ही लेंगे। उनकी पर्वाह करना व्यर्थ है।

जैनजगत्ने विरोधियोंकी कभी पर्वाह नहीं की, अथवा इतनी ही पर्वाह की है कि उनकी बातोंपर विचार करता रहा है, उनका उत्तर देता रहा है। इस समय विरोधी विद्वान प्रायः चुप हैं। जो एकाध सज्जन लिखते हैं उनका उत्तर दिया जाता है। कुछ ब्रह्मचारी विद्वानोंको यह देखकर बड़ा क्षोभ होरहा है। मैं डंकेकी चोट अन्धश्रद्धा पूर्ण बातोंका खण्डन कर रहा हूँ और जैनसमाजके प्रायः सभी विद्वान मौन हैं! इसका कारण क्या है? ब्रह्मचारी वर्ग इन विद्वानोंको उत्तेजित कर रहा है, परन्तु यह उत्तेजना व्यर्थ है। अगर लेखमालाका खण्डन होसकता तो उसके ऊपर सभी विद्वान एक पर एक कूद पड़ते। हाँ, विद्वान लोग उसपर अभिमत प्रगट करसकते हैं, परन्तु वह पक्षमें ही होगा यह नहीं कहा जासकता। वह पक्ष और विपक्ष दोनों तरहका होसकता है। परन्तु स्वतन्त्र विचारोंको प्रगट करनेका मौका कहाँ है? किसीमें जिज्ञासा कहाँ है? सभीको वकालत करना है। न्यायकी इच्छा किसे है? जो लोग अपनेको अभी तक सुधारकशिरोमणि कहते रहे हैं वे सुधारकम्मन्य भी इतने संकुचित और असहि-

ष्णु हैं कि अपनी अन्धश्रद्धाके विरुद्ध किसीका एक शब्द भी नहीं सुनना चाहते। इतना ही नहीं, अगर उन्हें मालूम होजाय कि यह स्वतन्त्रविचारक है तो उसकी जड़ खोदनेके लिये सतत प्रयत्न करने लगते हैं। इन सुधारकम्मन्योंकी असहिष्णुता और क्रूरता कट्टरसे कट्टर स्थितिपालककी असहिष्णुता और क्रूरतासे कम नहीं है, बल्कि कुछ अधिक ही है। ऐसे लोग जैन विद्वानोंको उत्तेजित करते हैं, तब हँसी आती है। किसी आदमीको छोटेसे पिंजड़ेमें बन्दकर दिया जाय और फिर कहा जाय कि 'तलवारके दो हाथ तो दिखला' तो वह बेचारा तलवारके क्या हाथ दिखलायगा? जैनसमाजके बहुतसे विद्वान इसी दशामें हैं। उनको उत्तेजित करना व्यर्थ है। फिर भी अगर इसका कुछ अर्थ है, कोई विद्वान ब्रह्मचारियोंसे उत्तेजित होकर आगे आना चाहता है तो मैं उसका स्वागत करता हूँ। मैं सबको खुला निमन्त्रण देता हूँ कि मेरे विचारोंकी सचाई जिसको जैसे जाँचना हो जाँचले। मैं सिर्फ इसीके लिये ही तैयार नहीं हूँ, किन्तु अगर कोई मेरी गलती बताये तो उसके अनुसार परिवर्तन करनेको भी तैयार हूँ। मैं किसी परम्पराका या अमुक विचारका गुलाम नहीं हूँ, मैं तो सत्यभक्त हूँ। भगवान सत्यकी उपासनाके लिये अगर मुझे लेखमाला पर और सत्यसमाजकी स्कीम पर स्याही फेरना पड़े तो इस काममें भी मैं सबसे आगे रहूँगा।

कुछ सुधारकम्मन्य और ऐसे पत्र—जिनमें किसीका सामना करनेकी तो क्या, सत्यको समझनेकी भी शक्ति नहीं है—गालियाँ दे देकर तथा व्यक्तिगत अपमान करके मुझे रोकना चाहते हैं। उनकी दृष्टिमें मैं न तीनमें हूँ न तेरहमें, मुझे तो वर्तमानकी जैन पाठशालाओंमें शिष्यभावसे कुछ दिन शिक्षा ग्रहण करना चाहिये। जिन शालाओंमें मैंने वर्षों पढ़ाया है और जिनमें मेरे मित्र और शिष्य अध्यापक हैं उनमें मुझे पढ़नेको भेजनेकी सलाह देना पागलपनकी सीमा है। ऐसी सलाह देनेवालोंके आचार्य या गुरु कब तक मुझे अभिनव टोडरमल्ल कहते रहे, पं० गोपालदासजीके साथ मेरी तुलना करते रहे। परन्तु आज मुझे ऐसी सलाह दी जाती है! बार बार उत्तेजित किये जानेपर भी मेरे सामने आनेकी हिम्मत रखनेवाला तो इनके गुरुजीको दिखता नहीं है, इसलिये दिन-रात हाय तोबा करते रहते हैं फिर शिक्षा देनेवालोंकी तो बात ही क्या है?

खैर, गालियों और अपमानोंकी चिन्ता नहीं है। अन्धश्रद्धालुओंका—कमजोरोंका—एक यही शस्त्र है। उनका यह दुर्व्यवहार प्रतिनारायणके चक्रकी तरह उन्हींके अधःपतनका कारण और मेरे गौरव तथा विजयका चिन्ह है।

अब कुछ जैनजगत्के प्रबन्धके विषयमें कहना है। जैनजगत्के प्रकाशक और सम्पादकको वे सुविधाएँ नहीं हैं जो एक छोटेसे छोटे पत्रसञ्चालकको रहती हैं। घरू कार्योंका शक्तिसे बाहर बोझ उठाते हुए उन्हें यह कार्य करना पड़ता है। इस काममें भी 'पीर बवर्ची भिश्ती खर' की कहावत चरितार्थ होती है। इसलिये वे जो कुछ करते हैं, उसपर पाठकोंको अपना काम समझकर सन्तुष्ट होना चाहिये। गत वर्ष कुछ अङ्क ठीक समय पर भी पहुँच सके थे और इस वर्ष भी इसके लिये यथाशक्ति सतर्कता रक्खी जायगी।

श्री० नाथूरामजी प्रेमी पिछले सवा वर्ष सख्त बीमार रहे। एक तरहसे उनका नया जीवन हुआ है। पहिले की तरह तो नहीं, फिर भी उनका स्वास्थ्य अच्छा है। पहिले आप जैनजगत्में नियमित रूपसे लिखते थे आशा है। आगे भी अब उसी प्रकार लिखेंगे। पिछले महीनोंमें श्री० जगदीशचन्द्रजी ऐम० ए० ने नियमित लिखकर जैनजगत्को सहायता पहुँचाई है। इस वर्ष भी हमें आशा है कि आप जैनजगत्के कुछ स्तम्भ सम्हाल लेंगे।

अब कुछ बात आर्थिक प्रबन्धके विषयमें भी। खेद है कि जैनजगत्की आर्थिक कठिनाई ज्योंकी त्यों बनी हुई है। अभी जैनजगत्के सिर पर करीब

४००) रुपयेका क़र्ज़ा है । गत वर्ष जो भेंटें मिली हैं उनसे गतवर्षका घाटा मुश्किलसे पूरा हुआ है, बल्कि उसमें भी कुछ बाक़ी है, फिर ऋण चुकानेकी बात दूर है । उसमें आधी भेंटें तो मेरे प्रवाससे सम्बन्ध रखती हैं । इसलिये जैनजगत्के लिये सहायताकी मात्रा कुछ और बढ़ना चाहिये ।

जयपुर और अजमेरके अधिकांश ग्राहक ऐसे हैं जिनके ऊपर दो दो, तीन तीन वर्षका मूल्य बाक़ी है। इस प्रकार दो तीन सौ रुपयोंकी रक़म फँसी हुई है । वे महाशय अगर पुराना मूल्य चुकादें तो बड़ी दया हो, यद्यपि इसमें दयाकी बात कुछ नहीं है । थोड़ीसी भी नैतिकता जिस मनुष्यमें होगी, वह इस काममें टालमटूल न करना अपना कर्तव्य समझेगा हम तो जैनजगत्के प्रत्येक पाठकसे क्रान्तिकी आशा लगाये बैठे हैं, परन्तु जिन्हें इतनीसी जवाबदारीका खयाल न रहता हो, उनसे हम और क्या आशा करें? इसलिये हम आशा करते हैं कि जयपुर, अजमेरके तथा अन्य स्थानोंके जिन ग्राहकों पर जैनजगत्का मूल्य बाक़ी है वे कृपया शीघ्र चुका देंगे। मनीऑर्डर द्वारा भेज दें अथवा सब मूल्यकी वी०पी० करनेको लिख दें या खुद जाकर दे दें। अन्यथा प्रकाशकजीको वी० पी० भेजना पड़ेगी और वी० पी० न छुड़ानेपर उन सज्जनोंका नाम प्रकाशित कर पत्र भेजना बन्द कर देना पड़ेगा ।

श्री० नथमलजी चोरड़ियाने जो १५०) रु०की सहायता दी थी उससे जैनसंस्थाओं और विद्वानों को जैनजगत् एक वर्षके लिये भेंट दिया गया था, सो एक वर्षके बदले दो वर्ष हो गये हैं । अब इस प्रकार भेंट नहीं दी जा सकती । इसलिये अब उन सज्जनोंको मनीऑर्डर द्वारा दाम भेज देना चाहिये, अन्यथा वी० पी० कीजायगी । अगर वे जैनजगत् न पढ़ना चाहते हैं तो सूचित करदें, अन्यथा वी० पी० अवश्य छुड़ालें ।

हमारे सामने इस समय तीन काम हैं—जैनजगत्का प्रकाशन, जैनधर्मका मर्म तथा अन्य सम्प्रदायातीत साहित्यका प्रकाशन, सत्यसमाजके प्रचार की अन्य प्रवृत्तियाँ ।

जैनजगत्के प्रकाशनके विषयमें तो मैं कह चुका हूँ । फिर भी यहाँ पुनरुक्ति की जाती है कि इसका जो घाटा है वह प्रत्येक ग्राहक तथा पाठकके ऊपर नैतिक ऋण है । उसे चुकानेके लिये जिससे जितना बन सके उतना प्रयत्न करना चाहिये ।

ग्रन्थप्रकाशनका काम अब बहुत आवश्यक हो गया है । लेखमालाके पुराने लेख मिलते नहीं हैं, और मिलें भी तो फ़ाइल रखकर पढ़नेमें दिक़्क़त भी है। इसलिये उसको प्रकाशित करनेकी सख़्त ज़रूरत है । तथा अब जैनजगत् आगे भी बहुतसा ऐसा साहित्य देगा जो पुस्तकाकार प्रकाशित करने योग्य होगा । पाठक उसका स्थायी रूपमें सञ्चय करना चाहेंगे । इसलिये ऐसे साहित्यके प्रकाशनके लिये कुछ स्थायी प्रबन्ध होना चाहिये । इसके लिये एक सत्यसमाज ग्रन्थमाला या सत्यसेवक ग्रन्थमाला स्थापित की जाय, क़रीब दो दो सौ पेजका जिसका एक एक पुष्प हो इस प्रकार धीरे धीरे वह सब साहित्य प्रकाशमें आ जायगा ।

बहुतसे लोग अपने पिता माता आदिके स्मारक रूपमें कुछ न कुछ किया करते हैं । कोई तो मृत्यु-भोज करते हैं, कोई रुपये निकालते हैं; कोई दोनों ही करते हैं । ये लोग अगर इस धनको सत्यसेवक ग्रंथ मालाको देदें तो उनके इष्ट जनोंके स्मरणमें ग्रन्थ-निकाले जा सकते हैं । यह उनका स्मारक भी होगा तथा सत्यप्रचार होनेसे लोकसेवा भी होगी ।

सत्यसमाजकी अन्य प्रवृत्तियोंमें बहुतसे काम है । बम्बईमें मासिक व्याख्यानमाला चालू की गई है । प्रतिवर्ष पन्द्रह व्याख्यान अवश्य हुआ करेंगे। साप्ताहिक कक्षा खोलनेका भी विचार है, समय आदि की सुविधा होने पर वह भी शुरू कर दी जायगी । तीसरी प्रवृत्ति प्रचार की है । अभी जब तक मुझे दूसरा समय नहीं मिलता तबतक गर्मीके दिनोंमें प्रवास करके प्रचार करूँगा । गतवर्ष मुझे अनुभव

हुआ था कि इस कामके लिये किसी योग्य साथी की आवश्यकता है। इसके बिना बहुतसा काम रुक जाता है। इस कार्यमें अभी मैं अपना खर्च उठाता हूँ, परन्तु साथीका खर्च समाजको ही उठाना पड़ेगा। इन सब कार्योंको केन्द्रीभूत करके संगठित रूपमें लाने के लिये तथा ऐसे कार्यकर्त्ता तैयार करनेके लिए और अस्थायीरूपमें कुछ लोग आकर कुछ लाभ उठासकें इसके लिए सत्याश्रमकी स्थापना भी अत्यावश्यक है।

इन सब बातोंके विशेष विवेचनकी यहाँ जरूरत नहीं है और कुछ विवेचन तो मैं पिछले अंकोंमें कर ही चुका हूँ। यहाँ तो सिर्फ इन बातोंका स्मरणमात्र कराता हूँ। इससे प्रत्येक पाठक इस बातका विचार करे कि यह सब स्कीम कैसे कार्यपरिणत की जाय। इन सब कार्योंमें अभी तक पूर्ण निःस्वार्थतासे काम हुआ है और भविष्यमें भी ऐसे ही सज्जनोंको लिया जायगा जो पूर्ण निःस्वार्थतासे काम करेंगे। इससे कार्य बहुत मितव्ययसे होगा।

बुद्धि, विद्या और परिश्रमका जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक तो कोई चिन्ता नहीं है। चिन्ता है अर्थ की। मुझसे और मेरे मित्रोंसे जितनी बनती है उतनी आर्थिक सहायता की जाती है। परन्तु जितना महान् कार्य अपनेको करना है उसे देखते हुए यह कार्य इनेगिने मित्रोंकी शक्तिके बाहर है। इसके लिये प्रत्येक विचारशील व्यक्तिको अपनी शक्ति न छुपाकर जितना बन सके उतना त्याग करना चाहिये।

आजकल मन्दीके युगमें लोगोंके सामने जो आर्थिक कठिनाई है, उसका मुझे खयाल है। फिर भी अगर हम निश्चय करलें तो बिना बाधाके हम कुछ न कुछ त्याग कर सकते हैं। जिनके घरमें कलको खानेके लिये भी नहीं है उनकी बात छोड़ दीजिये, परन्तु साधारण श्रेणीका गृहस्थ अगर चाहे तो वह घरमें एक छोटीसी पेटी रख सकता है जिसमें वह प्रतिदिन एक पैसा डालता जाय। त्यौहार, पर्व वगैरहके अवसर पर उसमें वह कुछ अधिक भी डाले। इस पेटीमें सालके अन्तमें छः सात रुपये आ जायँगे। सत्यसमाजके लिये यह भेंट पर्याप्त होगी। इसीमें से तीन रुपये जैनजगतका मूल्य हो जायगा और बाकी दो चार रुपये उसकी अन्य प्रवृत्तियोंमें सहायक हो जायँगे। अगर सिर्फ पाँच सौ आदमी ही यह काम करने लगें तो यह गाड़ी धीरे धीरे चलने लगेगी। जो लोग एकमुश्त सहायता दे सकते हैं वे ज्यादा दें। श्रीमान लोग बड़ी बड़ी रकम दें। इस प्रकार यह असाधारण कार्य किया जा सकता है। यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि आजका पैसा कलके रुपयेसे भी बड़ा है। पौधा जिस समय छोटा होता है उस समय लोटे भर पानीका जितना मूल्य है उतना उसके बड़े होने पर मूसलधार वर्षाका भी नहीं है। थोड़ीसी मदद करनेसे राजा श्रेणिकको जो जैनशासनमें स्थान मिल गया और वह अमर हो गया, वैसा स्थान और वैसी अमरता आज राज्य लुटा देने पर भी नहीं मिल सकती। मौकेकी बड़ी क़ीमत है और वह मौका अभी सामने है।

कुछ बन्धुओंका यह कहना था कि सत्यसमाज की सदस्यताकी कुछ फीस रखना चाहिये, जिससे कार्य करनेके लिये आर्थिक लाभ हो। परन्तु मैं इसे बिलकुल पसन्द नहीं करता क्योंकि सेवा करनेका प्रत्येकको जन्मसिद्ध अधिकार है, उसके लिये टैक्स कैसा? एक भिक्षुक भी उसका सदस्य बन सकता है। वह बेचारा टैक्स कहाँसे लायगा? इससे तो प्रचारमें बहुत बाधा होगी। सत्यसमाजमें आनेसे ही हम उससे पैसा लें यह अनुचित है। परन्तु इस का यह मतलब नहीं है कि सत्यसमाजके सदस्य शुल्कसे मुक्त करदिये गये हैं। सच बात तो यह है कि उन पर बड़ा टैक्स लगाया गया है। शुल्कके नामपर तो रुपये दो रुपये ही लिये जासकते हैं, परन्तु इतनेसे ही तो यह सब काम नहीं हो सकता। मैं तो उनसे अधिकसे अधिक त्यागकी आशा करता हूँ। सत्य समाजके सदस्य अगर चाहते हैं कि हजारों और लाखोंकी संख्यामें सत्यके उपासक बनें, साम्प्रदायिकता की बीमारीसे छूटें और इसप्रकार उन्हें भी लाखों

साथी मिलें तो उनकी मानसिक चिकित्साके लिये बिना किसी प्रेरणाके सदस्योंको अधिकसे अधिक त्याग करना ही चाहिये। मामूली शुल्कसे इसमें काम नहीं चलसकता। हाँ, जो ज्यादा नहीं देसकते वे एक पैसा देकरके भी त्याग करसकते हैं। परन्तु उन्हें त्याग करना चाहिये अवश्य।

बस, नूतन वर्षके नाम पर मैं बहुत कुछ कह गया हूँ। यद्यपि कहनेको अभी भी बहुतसी बातें हैं परन्तु वे तो समय समय पर कही जायँगी। प्रत्येक पाठकको अपने कर्तव्यका खयाल रखना चाहिये, और जिससे जो कुछ जितना बन सके वह, शक्तिको न छुपाकर, अवश्य करना चाहिये।

विरोधी निरास।

(२६)

ज्ञानमें तरतमता होनेसे सर्वोत्कृष्टता जरूर है, इससे सर्वज्ञ सिद्ध होता है—इस युक्त्याभासकी आलोचना मैंने बहुत विस्तारसे तथा विविध दृष्टान्त देकर की थी। आक्षेपकने इसकी आलोचनामें बहुत सी निरर्थक बातें कही हैं तथा आवश्यक बातें छोड़ दी हैं। खैर।

आक्षेप (९०)—आपने तीन बातें कहीं हैं। १—जो सबसे बड़ा है वह अनन्त ही हो यह नियम नहीं है। २—सबसे बड़ी ज्ञानशक्तिवाला थोड़ी ज्ञान शक्तिवालेके विषयको अवश्य जाने यह नहीं होसकता। ३—जितना ज्ञान रहता है उतना कार्य नहीं होता। पहिली बातका निर्णय दूसरी तीसरी बातसे है इसलिये पहिले हम दूसरी बातको लेते हैं। आपने जो अंशोंकी कल्पना करके उदाहरण दिया है उसके विषयमें हमारा कहना है कि ज्ञानमें न्यूनता अधिकता मिलती है अतः उसमें अंशोंका सद्भाव माना जाता है। किन्तु यह उसकी निजी चीज है; इसका सम्बन्ध बाह्य पदार्थको जानने न जाननेमें कुछ भी नहीं। अविभागीप्रतिच्छेदोंके द्वारा गुणकी तरतमताका माप किया जाता है। ये अविभागी अंश गुणस्वरूप ही हैं।

समाधान—ज्ञानमें न्यूनाधिकता किस बातकी है? लम्बाई चौड़ाई आदिकी क्या? ज्ञानका कुछ स्वरूप है या नहीं? आखिर ज्ञानका कार्य या उसका स्वरूप क्या है? यह बात निर्विवाद है कि पदार्थका जानना उसका स्वरूप और कार्य है। इसलिये उसमें जो अंशोंकी कल्पना होगी वह पदार्थको जाननेकी दृष्टिसे नहीं तो किसकी दृष्टिसे होगी? जब आप अंशोंको ज्ञानस्वरूप मानते हैं और ज्ञानका स्वरूप पदार्थको जानना ही है तब पदार्थोंको जानने की दृष्टिसे ही वह कल्पना कहलाई। नहीं तो ज्ञानमें न्यूनाधिकता किस बातकी है? और उसको सिद्ध करनेका हेतु क्या है?

मान लो कि ज्ञानकी तरतमताका पदार्थके जाननेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, तो इस तरतमतासे या सर्वोत्कृष्टतासे फायदा क्या? क्योंकि उसकी सर्वोत्कृष्टता पदार्थको जाननेकी दृष्टिसे तो है ही नहीं, तब सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होजाने पर भी यह कैसे सिद्ध होगा कि वह सबको जानता है? आपके मतानुसार तो वह किसीको भी न जान करके भी सर्वोत्कृष्टज्ञानी हो जायगा। इस प्रकार तो आप मेरा पूरा समर्थन कर रहे हैं।

आक्षेप (९१)—ज्ञान प्रकाशक है न कि कारक। कुम्भकार जिस शक्तिसे घटका निर्माण करता है उस समय उसकी वह शक्ति उस ही कार्यमें संलग्न रहती है, उस समय उसके द्वारा अन्य वैसे कार्योंका होना सम्भव नहीं किन्तु प्रकाशकके सम्बन्धमें यह बात घटित नहीं होती। प्रकाशक जिस पदार्थका प्रकाश करता है उसमें ही उसकी शक्ति संलग्न नहीं रहती, अतः वह उसही समय वैसेही अन्यपदार्थोंका भी प्रकाश कर सकता है। जिस प्रकार कि आकाशका एक प्रदेश एक परमाणुकी उपस्थितिमें भी अन्य परमाणुओंको स्थान देसकता है, इसी प्रकार

एक पाँच अंशवाला ज्ञानी अन्य पाँचअंशवाले ज्ञानियोंके ज्ञेयोंको जान सकता है। जिस प्रकार दस नंबरका लट्टू जिस चीजको प्रकाशित कर सकता है उसे दूसरा भी प्रकाशित कर सकता है। साथही ऐसा कोई पदार्थ नहीं जिसे कोई नीचेकी शक्तिके लट्टूका प्रकाश, प्रकाशित कर सके, किन्तु ऊपरकी डिग्रीके लट्टूका प्रकाश, प्रकाशित न कर सकता हो। इससे स्पष्ट है कि सबसे बड़ा ज्ञानी अपनेसे छोटे ज्ञान वालोंकी बातोंको जान सकता है।

समाधान–ज्ञान प्रकाशक हो या कारक परन्तु एक समयमें वह एक जगह संलग्न होकर दूसरी जगह संलग्न नहीं होसकता। यह बात न प्रकाशमें है, न आकाशके प्रदेशमें। एक परमाणुके स्थानपर दूसरा परमाणु एकही समयमें नहीं रहसकता, यह विज्ञानका मुख्य सिद्धान्त है। इसलिये आकाश प्रदेशका दृष्टान्त तो बिलकुल व्यर्थ है। प्रकाशका दृष्टान्त भी व्यर्थ है क्योंकि जो प्रकाश इससमय सौ घन गजको प्रकाशित कर रहा है, वही उस समय दूसरे सौ घन गजको प्रकाशित नहीं कर सकता है। जिससमय वह दूसरे सौ घन गजको प्रकाशित करेगा उससमय पहिले सौ घन * गजको प्रकाशित करना छोड़ देगा। यदि ऐसा न होता तो सौ घन गजको प्रकाशित करने वाले दीपकसे ही सैकड़ों योजनोंमें प्रकाश कर लिया जाता। इसलिये प्रकाशका दृष्टांत भी व्यर्थ है। इससे लट्टुओंका दृष्टान्त भी खंडित होजाता है। क्योंकि दस दस नम्बरके सैकड़ों लट्टू जितने क्षेत्रको प्रकाशित कर सकते हैं उतने क्षेत्रको सौ नम्बरका कोई एक लट्टू प्रकाशित नहीं कर सकता। इतना ही नहीं बल्कि यह भी हो सकता है कि दस नम्बरका एक लट्टू जिस चीजको प्रकाशित कर रहा है उसे सौ नम्बरका लट्टू प्रकाशित न कर रहा हो, भलेही वह दूसरी दसगुनी चीजोंको प्रकाशित कर रहा हो।

इसप्रकार दृष्टान्तोंके विषयमें गम्भीर विचार न करके आक्षेपकने बड़ी भूल की है। साथमें एक भूल और की है जिसने अनेक भूलोंको जन्म दिया है। आक्षेपक महाशय 'प्रकाशित करता है' और 'प्रकाशित कर सकता है' इन दोनों वाक्योंका एकही अर्थ करते हैं। इससे अनेक भूलें पैदा होती हैं। प्रश्न यहाँ जाननेका है, जान सकनेका नहीं। सौ नम्बरका लट्टू उन चीजोंको अवश्य प्रकाशित कर सकता है जो दस नम्बरके लट्टूसे प्रकाशित होसकती हैं, परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जासकता कि हमारे घरका छोटासा दीपक घरकी जिन चीजोंको प्रकाशित कर रहा है उन्हें सड़कके ऊपर लगा हुआ गसका लैम्प भी प्रकाशित कर रहा है। वह कर सकता है, पर कर नहीं रहा है। अगर वह घरमे प्रकाश करेगा तो उसका बाहर प्रकाश करना कुछ कम हो जायगा। इसी प्रकार ज्ञानी या केवलीकी बात है। जिस बातको हम तुम जानते हैं उन्हें निमित्त मिलनेपर केवली भी अवश्य जान सकता है। परन्तु जान सकता है; 'वह जानता है' यह नहीं कह सकते। वह जानेगा तो दूसरी तरफ उसका जानना कम हो जायगा, बशर्ते कि उसका ज्ञान चरमसीमा पर पहुँचा हो, जैसे कि गैस के लैम्प और दीपकके दृष्टान्तमें बतलाया गया है।

अंशों (अविभाग प्रतिच्छेदों) की वृद्धिका सम्बन्ध सिर्फ सूक्ष्मतासे नहीं है। उसका असर द्रव्य-क्षेत्र कालभाव, चारों ओर पड़ता है। अविभाग प्रतिच्छेदोंमें सूक्ष्मताके अविभाग प्रतिच्छेद, क्षेत्रके अविभाग प्रतिच्छेद आदि जुदी जुदी जातिके अविभाग प्रतिच्छेद नहीं हैं। जिस दिशामें अविभाग प्रतिच्छेद अधिक होजाते हैं उसी दिशामें ज्ञानकी उन्नति होती है। जिस ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद सूक्ष्मताकी तरफ अधिक लगे हुए हैं उस ज्ञानसे सूक्ष्मताका अधिक ज्ञान होगा। अगर क्षेत्रकी तरफ अधिक लगे हुए हैं तो क्षेत्रमें वृद्धि होगी। मतलब

* व्यवहारकी दृष्टिसे यह बात यहाँ कही जारही है जैसा कि आक्षेपकका अभिप्राय है। विज्ञानके अनुसार तो प्रकाशकी किरणें लहरोंके रूपमें बहुत लम्बी जाती हैं।

यह कि ज्ञानादिके अविभाग प्रतिच्छेदोंका सम्बन्ध द्रव्य क्षेत्र कालभाव चारोंसे है। किसी ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंका यह अर्थ नहीं करना चाहिये कि वे सूक्ष्मताके अविभाग प्रतिच्छेद हैं। वे चारोंके हैं। मैंने जो पाँच अंश छः अंश आदिका उदाहरण दिया है उसमें वे अंश सिर्फ सूक्ष्मताके ही नहीं हैं किन्तु क्षेत्रकालभावके भी हैं। छः अंशवाला ज्ञान पाँच अंश वाले ज्ञानके ज्ञेयको जान सकेगा, परन्तु वह पाँच अंश वाले दो ज्ञानोंके बराबर ज्ञेयको नहीं जान सकेगा, उन्हें तो दस अंश वाला ही जान सकेगा। छः अंश वालेमें सूक्ष्मताकी विशेषता भलेही हो, परन्तु वह क्षेत्रमें कम होगा। ज्ञानको अंशका नम्बर देते समय समीकरण पर ध्यान देना चाहिये।

इन भूलोंके अतिरिक्त आक्षेपककी एक भूल और है। वह है एकता और समानतामें भेद न समझने की। पाँच अंश वाले दो ज्ञान समान हो सकते हैं, एक नहीं, इसलिये दोनोंके अंश दस होंगे। इसलिये दश अंश वाला ज्ञानही उन दोनोंकी बराबरी कर सकेगा न कि छः अंशवाला या कोई पाँच अंश वाला। सार यह है कि आक्षेपकका कहना तो यह है कि सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी अपनेसे न्यून सभी ज्ञानियोंके ज्ञेयको अवश्य जानता है जब कि मेरा कहना यह है कि सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी अपनेसे न्यून किसी एक ज्ञानीके ज्ञेयको जासकता है, जानना अनिवार्य नहीं है और सभी न्यून ज्ञानियोंके ज्ञेयको जानना तो असम्भव है। ऊपरके वर्णनमें इसीका स्पष्टीकरण हुआ है।

आक्षेपकका वक्तव्य कितना अनुभवविरुद्ध है इसके स्पष्टीकरणके लिये एक छोटासा उदाहरण और दिया जाता है। इससमय भारतके पैंतीस करोड़ मनुष्योंमें कोई सबसे बड़ा श्रुतज्ञानी अवश्य है, क्योंकि जहाँ न्यूनाधिकता है वहाँ सर्वोत्कृष्टता अवश्य होती है। क्या वह सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी, बाकी ३४९९९९९९९ आदमियोंके द्वारा जाने गये सब पदार्थोंको जानता है? क्या इन पैंतीस करोड़में ऐसा कोई मनुष्य है जिसके ज्ञानके बाहर बाकी मनुष्योंको कुछ भी ज्ञान न हो? कहना न होगा कि ऐसा मनुष्य हो ही नहीं सकता।

अनादिकालसे आजतक अनन्त श्रुतज्ञानी हो चुके हैं। उनमें कोई सर्वोत्कृष्ट अवश्य था। वह अगर अपनेसे हीन सभी ज्ञानियोंके विषयको जानता तो वह अनन्त द्रव्य क्षेत्र कालभावका ज्ञाता बन जाता; जब कि श्रुतज्ञान अनन्तको विषय कर ही नहीं सकता।

इसप्रकार लौकिक और शास्त्रीय दृष्टिसे सैकड़ों उदाहरण दिये जासकते हैं जिससे सिद्ध होगा कि सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी अपनेसे हीन सभी ज्ञानियोंके सब विषयोंको नहीं जानसकता, जिससे कोई सर्वज्ञ सिद्ध हो जाय।

आक्षेप (६२)- आपने करोड़पतिका उदाहरण दिया है, और कहा है कि लखपतिके पास भी कोई ऐसी चीज हो सकती है जो करोड़पतिके पास न हो। परन्तु धन और ज्ञानमें भारी अन्तर है। धनका मापक रुपया है। लखपति और करोड़पतिकी सम्पत्ति एक सरीखी है जिससे दोनोंकी रुपयेमें माप होजाता है। अतः करोड़पतिके धनसे जब दूसरेके धनकी तुलना करते हैं तब उनके धनका उतना हिस्सा तो उसकी तुलना करनेमें रह जाता है, शेषधन इतना अधिक नहीं जिससे दूसरे धनिकोंके धनसे भी उसकी तुलना की जासके और फिरभी वह अधिक बना रहे। परन्तु ज्ञानमें यह बात नहीं है।

समाधान ज्ञान और धनमें अन्तर है परन्तु ऐसा अन्तर तो किसी भी उपमान उपमेयमें हो सकता है। चन्द्रके समान जब मुख बताया जाता है तब उसका यह अर्थ नहीं है कि किसी सुन्दरीका मुख काटकर अगर आकाशमें लटकाया जाय तो अमावसकी रात्रिभी पूर्णिमा होजायगी। इस प्रकार दोनोंमें विषमता होनेपर भी देखना यह चाहिये कि प्रस्तुत विषयके लिये उपयोगी समानता है या नहीं? प्रस्तुत प्रश्न यह है कि सर्वोत्कृष्ट पदार्थ, अपनेसे न्यून

सब पदार्थोंसे भी बड़ा रहता है या नहीं? इसप्रकार के निर्णयके लिये करोड़पतिका दृष्टान्त बहुतही उपयुक्त है। धनका माप रुपयेसे होता है तो ज्ञानका माप अविभाग प्रतिच्छेदों या अंशोंसे होता है। जब हम ज्ञानमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी कोई न कोई संख्या मानते हैं तब जो बात रुपयोंकी तुलनाके विषय में कही गई है वही ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी तुलनामें भी कही जायगी। यदि धनके समान ज्ञान में तुलना न होती तो जैनशास्त्रोंमें यह विवेचन क्यों आता कि अमुक ज्ञानसे अमुक ज्ञान अनन्तभाग वृद्धिरूप है, असख्यभाग वृद्धिरूप है, संख्यातभाग वृद्धिरूप है आदि?

मेरे दृष्टान्तोंका गढ़ इतना दृढ़ है कि आक्षेपकको वहाँसे किसी तरह किनारा काटना पड़ता है। धनके विषयमें आवश्यक समता होनेपर भी अनावश्यक विषमताओंका उल्लेख करके किनारा काटा और जिसमें यह बहाना नहीं था उसे साफ उड़ादेना पड़ा।

मैंने एक और उदाहरण दिया था कि एक काव्य, न्याय, इतिहास आदि अनेक शास्त्रोंका पंडित है किन्तु वह मराठी भाषा नहीं जानता; और एक साधारण स्त्री किसी विषयकी पंडिता तो नहीं है किन्तु मराठी भाषा जानती है। इन दोनोंमें कोई उत्कृष्ट अवश्य है किन्तु एक दूसरेके विषयको नहीं जानते।

इस दृष्टान्तमें रुपयों पैसोंकी कल्पित विषमता भी नहीं है, फिर क्या बात है कि एक उत्कृष्ट ज्ञानी अपनेसे हीन ज्ञानीके ज्ञेयको नहीं जानता? इससे मेरे वक्तव्यकी पूरी पुष्टि होती है।

आक्षेप (९३)—"ऐसे बहुतसे पदार्थ हैं जो पचास लाखके धनीके पास तो हों, किन्तु करोड़के धनीके पास न हो"—यह बात सम्पत्तिशास्त्रके प्रतिकूल है। कोई भी वस्तु अपने नामसे ही सम्पत्ति नहीं। जमुनाका रेता जमुना किनारे सम्पत्ति नहीं है और अंबालेमें है। सम्पत्तिका लक्षण मूल्यवान है।

समाधान-सम्पत्तिशास्त्रके इस प्रारम्भिक सूत्र के उल्लेखसे आक्षेपकके पक्षकी कोई सिद्धि तो दूर, किन्तु उनका विरोध ही होता है। किसको कब सम्पत्ति कहते हैं, इस विवेचनका कुछ उपयोग नहीं। जिनको भी जहाँपर सम्पत्ति मानलिया जाय उनकी दृष्टिसे लखपति करोड़पतिके विषयमें यह उदाहरण लेना चाहिये। यदि अम्बालेमें लखपति लाख रुपये की बालू एकत्रित करे तो वह लखपति तो कहलायगा किन्तु दस रुपयेकी पूँजीवाले एक तरकारी बेचनेवालेके बराबर उसके पास तरकारी न निकलेगी। इससे मेरे पक्षकी ही सिद्धि होती है कि लखपतिके पास वे सब चीजें होना आवश्यक नहीं है जितनी उसकी अपेक्षा गरीबोंके पास हैं। हाँ, लाखरुपयेका माल उसके पास है। दूसरा लखपति लाखरुपयेका दूसरा माल रख सकता है परन्तु उसके हाथमें बालू न होगी। इस प्रकार सम्पत्तिशास्त्रका यह विवेचन भी व्यर्थ है, अथवा उसका इतना ही अर्थ है कि वह मेरा पक्ष सिद्ध करे।

विवाह या सौदा—बम्बईके एक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनने जिनकी आयु ५७ वर्षसे अधिक है तथा पहिलेकी पत्नी व बालबच्चे भी मौजूद हैं, विवाहके नाम पर सोलह हजार रुपयेमें एक कन्याको खरीदा है! अबोध बालिका चार सौ तोले सोनेका जेवर देखकर विमोहित हो गई और उसने खुशी खुशी बलिके लिये आत्मसमर्पण कर दिया।

प्रेम पुरस्कार—मुलतानमें एक हिन्दू लड़की एक मौलवी साहिबके पास पढ़ती थी। मौलवी साहिबने कुछ बदनीयत जाहिर की। इस पर लड़की को गुस्सा आया और उसने तरकारी काटनेका चाकू उठाकर मौलवी साहिबकी नाक काट ली।

दहेजप्रथा का भयानक परिणाम—अमरनाथ को अपने विवाहमें कम दहेज मिला इस लिये वह और उसकी माता दोनों वधूको सताते रहते थे। आखिर एक रोज हृषिकेश ले जाकर वधू को उन्होंने गंगामें ढकेल दिया। मुकदमा चलनेपर अमरनाथ को सात वर्षकी तथा उसकी माताको तीन वर्षकी कड़ी क़ैदकी सजा हुई।

जैनधर्मका मर्म ।

(५३)

मुनिसंस्थाके नियम ।

अगर मुनिसंस्था खड़ी की जाय या रक्खी जाय तो उसके नियम कैसे होना चाहिये, इसका उत्तर देश कालकी परिस्थितिके अनुसार ही दिया जा सकता है। मुनिसंस्थाकी आवश्यकताके विषयमें दो बातें कही जा सकती हैं। एक वैयक्तिक आवश्यकता, दूसरी सामाजिक आवश्यकता। जिन नियमोंके आधारसे इन आवश्यकताओंकी अधिकसे अधिक पूर्ति हो उन नियमोंके आधारपर ही मुनिसंस्थाके नियम बनाना चाहिये।

जो मनुष्य शारीरिक कष्टोंकी पर्वाह नहीं करते किन्तु मानसिक शान्ति चाहते हैं और इस प्रकारकी मानसिक शान्तिमें ही जिनको बहुत आनन्द मिलता है वे मुनिसंस्थामें जुड़ जाते हैं या मुनि होजाते हैं। यह वैयक्तिक आवश्यकता है।

समाजको ऐसे सेवकोंकी आवश्यकता रहती है जो निःस्वार्थ भावसे काम करें। वैतनिक सेवकोंसे जो काम नहीं हो सकता या अच्छी तरह नहीं हो सकता, इस प्रकारकी सेवाका काम एक वर्ग करे, उसके लिये साधुसंस्थाकी आवश्यकता समाजको होती है। इस प्रकार व्यक्ति और समाज परस्पर उपकार करते हैं।

साधु, जीवननिर्वाहकी सामग्री—भले ही वह कमसे कम हो—समाजके पाससे लेता है। इतना ही नहीं, किन्तु अपने रक्षणकी समस्या भी वह समाजसे सुलझवाता है। आज गृहस्थ होकर अगर कोई अपमानित हो तो दूसरे उसकी इतनी पर्वाह नहीं करते, बल्कि उसे निर्बल या दब्बू समझकर मन ही मन उसे नीची निगाहसे देखने लगते हैं। परन्तु साधुके विषयमें बात उल्टी है। साधुके अपमानको समाज अपना ही अपमान समझता है, इसलिये वह साधुका अपमान होने नहीं देता। और इससे भी बड़ी बात तो यह है कि जो साधु अपमान वगैरहको सहन कर जाता है उसे समाज और भी अधिक श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है। जिस अवस्थामें गृहस्थकी महत्ता घटती है उस अवस्थामें साधुकी महत्ता बढ़ती है। गृहस्थ अवस्थामें अनेक जगह सिर झुकाना पड़ता है जब कि साधु बड़ेसे बड़े महर्द्धिकके सामने सिर नहीं झुकाता। यह सब समाजका, साधुके ऊपर बड़ा उपकार है, इसलिये उसे सारी शक्ति लगाकर समाजकी सेवा करना चाहिये।

जो आदमी समाजसे सेवासे अधिक बदला लेता है अथवा समाजको अनावश्यक कष्ट देता है, वह साधु कहलानेके लायक नहीं है। और न वे नियम साधुपदके नियम कहे जासकते हैं। साधुसंस्था भी एक ऐसी संस्था है जैसी अनेक लौकिक संस्थाएँ हैं। इसलिये उनके समान उसकी व्यवस्थाके नियम भी बदलते रहना चाहिये।

इसी नीतिके अनुसार मुझे यहाँ साधुसंस्था पर विचार करना है। जैनशास्त्रोंमें साधुओंके जो मूल गुण हैं उनमें कितने आवश्यक हैं और कितने अनावश्यक? और उनमें कुछ नियम बनानेकी आवश्यकता है कि नहीं? आदि समस्याएँ विचारणीय हैं।

जैनशास्त्रोंमें साधुओंके सत्ताईस या अट्ठाईस मूलगुण कहे गये हैं। दिगम्बर शास्त्रोंमें २८ हैं और श्वेताम्बर शास्त्रोंमें २७। दिगम्बर जैन साधुओंके * २८ मूलगुण ये हैं—

* पंचय महव्वयाइं समिदीओ पंच जिणवरोद्दिट्ठा।
पंचेविंदियरोहा छप्पिय आवासया लोचो। २॥
अचेलकमण्हाणं खिदि सयणमदंतघस्सणं चेव।
ठिदिभोयणेयभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसादु ॥३॥
—मूलाचार, मूलगुणाधिकार।

५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियविजय, ६ आवश्यक, १ केशलोंच, १ नग्नता, १ स्नान नहीं करना, १ जमीन पर सोना, १ दतौन नहीं करना, १ खड़े खड़े आहार लेना. १ दिनमें सिर्फ एक बार ही भोजन लेना।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मूलगुण २७ हैं और उनके दो पाठ मुझे मिले हैं। पहिला पाठ समवायांग † सूत्रका यह है—

५ अहिंसादि व्रत ५ इन्द्रियविजय, ४ क्रोधादि चार विवेक, ३ सत्य, (भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य) १ क्षमा, १ विरागता, ३ मन, वचन, कायकी समाहरणता अर्थात उनकी बुराइयोंको रोकना, १ ज्ञानयुक्तता, १ दर्शनयुक्तता, १ चारित्रयुक्तता, १ वेदना सहन करना अर्थात् ठंड गर्मीका कष्ट सहन करना, १ मरणका कष्ट सहन करना अथवा ऐसा उपसर्ग सहन करना जिससे मृत्यु होने की सम्भावना हो।

दूसरे § पाठके अनुसार २७ मूलगुण निम्नलिखित हैं—६ व्रत (पाँच व्रतोंमें एक रात्रिभोजन त्याग जोड़ देने से), ६ षट्कायके जीवोंकी रक्षा ५ पंचेन्द्रियदमन, १ लोभदमन, १ क्षमा, १ भाव विशुद्धि, १ यत्नाचारपूर्व कसफाई करना, १ संयमयुक्तता, ३ मन वचन कायकी बुराइयोंका रोकना, १ शीतोष्ण आदिके कष्ट सहना, १ मरणोपसर्ग सहना।

इन मूलगुणोंमें नामोंका भेद होनेपर भी वस्तुस्थितिमें कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। मूलगुणों में बहुतसे मूलगुण ऐसे हैं कि जिनका नाम नहीं आया है अथवा उत्तरगुणोंमें जिनका नाम आया है परन्तु जिनका पालन मूलगुणोंके समान होता है। जैसे दिगम्बर सम्प्रदायके मूलगुणोंमें रात्रिभोजन त्याग नहीं है परन्तु कोई मुनि रात्रिभोजन नहीं कर सकता। इसीप्रकार केशलोंच, स्नान नहीं करना, दतौन नहीं करना, इनका नाम श्वेताम्बर मूलगुणोंमें नहीं आया है परन्तु प्रत्येक श्वेताम्बर मुनिको इनका पालन मूलगुणोंके समानही करना पड़ता है। खैर, देखना यह है कि इन मूलगुणोंमें अब कितने रखने लायक हैं और कितने अब बिलकुल निकम्मे हैं और कितने अच्छे होकरके भी मूलगुणोंकी नामावलिमें रखने लायक नहीं हैं।

पाँच व्रत—सच पूछा जाय तो मुनियोंके मूलगुण अहिंसा आदिक पाँच व्रत ही हैं। परन्तु इनके पालन का रूप परिवर्तनीय है। अहिंसा आदिका विस्तृत विवेचन पहिले किया गया है, उसीके अनुसार मुनिको अहिंसाका पालन करना चाहिये। अहिंसाके नामपर पृथ्वीकाय, जलकाय आदिकी रक्षाके जो सूक्ष्म नियम हैं वे अनावश्यक हैं; वे मूलगुणमें नहीं रक्खे जासकते। हाँ, अगर किसी कर्तव्यमें बाधा न आती हो तो यथाशक्ति उनका पालन किया जाय तो कोई हानि नहीं है। स्वास्थ्यरक्षा आदिका खयाल न रखकर उन नियमोंका पालन करना अनुचित है।

पहिले जो अहिंसा आदिका विवेचन किया गया है उसमें अहिंसा, सत्य और अचौर्यकी जो व्याख्या की गई है वह गृहस्थ और साधु दोनोंको एक सरीखी है। साधु और श्रावकमें जो भेद होगा वह किसी खास कार्य द्वारा विभक्त नहीं किया जासकता। हाँ, साधु परिग्रहत्यागी होनेसे आरम्भी हिंसा आदिके अवसर उसे कम प्राप्त होंगे, तथा उसके परिणामोंकी

† सत्तावीसं अणगारगुणा प० तं० पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावायाओ वेरमणं, अदिण्णादाणाओ वेरमणं, मेहुणाओ वेरमणं, परिग्गाहाओ वेरमणं, सोइंदिय निग्गहे. चक्खिंदिय निग्गहे, घाणिंदिय निग्गहे, जिब्भिंदिय निग्गहे, फासिंदिय निग्गहे, कोहं विवेगे, माणविवेगे, मायाविवेगे, लोहविवेगे भावसच्चे, करणसच्चे, जोगसच्चे, खमा, विरागया, मणसमाहरणया, वय समाहरणया, काय समाहरणया, णाणसंपण्णया, दंसणसंपण्णया, चरित्त संपण्णता, वेयण अहियासणया, मारणंतिय अहियासणया।

§ छव्वय छकाय रक्खा पंचिंदिय लोहनिग्गाहो खंती।
भावविसुद्धी पडिलेहणा य करणे विसुद्धी य॥
संजम जोए जुत्ती अकुसल मणवयण काय संरोहो।
सीयाइ पीड सहणं मरणं उवसग्ग सहणं च॥

निर्मलता भी श्रावककी अपेक्षा अधिक होगी; बस अहिंसा, सत्य और अचौर्यकी दृष्टिसे साधु श्रावकमें इतनाही भेद होगा।

साधु और श्रावकका भेद मुख्यतः परिग्रहकी दृष्टि से है। अपरिग्रहके लेखमें अपरिग्रह की छः श्रेणियाँ बतलाई गई हैं। उनमेंसे प्रारम्भकी तीन श्रेणियाँ साधुके लिये हैं, और बाकी श्रावकके लिये।

अपरिग्रहके इस भेदका प्रभाव ब्रह्मचर्य पर भी पड़ता है। साधारणतः साधुको भी सिर्फ संकल्पी मैथुनका ही त्यागी होना चाहिये। परन्तु किसीभी प्रकारके मैथुनसे सन्तान होनेकी सम्भावना है और जहाँ सन्तान पैदा हुई कि उसके लिये अपरिग्रहकी प्रारम्भिक तीन श्रेणियोंमें रहना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। इसलिये यह उचित है कि वह ब्रह्मचारी रहे। अगर स्त्री पुरुष दोनों जीवित हों और दोनों ही साधुसंस्थाके आश्रयमें जीवन व्यतीत करना चाहें और उनकी उमर वानःप्रस्थ बननेके योग्य न हो तो यह जरूरी है कि वे दोनों सम्मतिपूर्वक कृत्रिम उपायसे सन्ताननिरोध करें और यथाशक्ति अधिकसे अधिक ब्रह्मचर्यका पालन करें। अपरिग्रही बननेके लिये सन्तानोत्पत्तिका रोकना आवश्यक है। हाँ, अगर कोई ऐसा साम्यवादी समाज हो जहाँ सन्तान भी समाजकी संपत्ति होती हो तथा समाजको सन्तानकी अत्यधिक आवश्यकता हो तो इस नियममें भी अपवाद किया जा सकता है। परन्तु साधारणतः राजमार्ग—उत्सर्ग मार्ग–वही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि सन्तान की समस्या अपरिग्रह व्रतके पालन करनेमें बाधक है इसलिये संतानोत्पत्तिके मार्गसे बचना चाहिये, और प्रारम्भकी तीन श्रेणियोंमेंसे किसी भी एक श्रेणीका अपरिग्रही बनकर साधु बनना चाहिये।

साधुसंस्थामें इस प्रकारके पाँच मूलगुण आवश्यक हैं।

पाँच समिति—यद्यपि पाँच महाव्रतोंमें पाँच समितियाँ शामिल होजाती हैं फिर भी जिस समय लोगोंका जीवन प्रवृत्तिबहुल होगया था और उसमें आवश्यक निवृत्तिको भी उचित स्थान नहीं रहगया था, उससमय प्रवृत्तियोंको सीमित करनेके लिये पाँच समितियोंका अलग स्थान बनाया गया है। परन्तु मैं कह चुका हूँ कि प्रवृत्ति भी अगर कल्याणकर हो तो धर्म है और निवृत्ति भी अगर अकल्याणकर हो तो पाप है, इसलिये निवृत्ति को धर्मकी कसौटी बनाना ठीक नहीं। इसलिये पाँच समितियोंको अलग स्थान नहीं दिया जासकता; वे पाँच महाव्रतोंमें शामिल हैं।

पाँच समितियोंमे पहिली ईर्यासमिति है। इसका अर्थ है, चलने फिरनेमे यत्नाचार करना। दिनमें ही चलना चाहिये, धीरेधीरे चलना चाहिये, आगे आगे चार हाथ जमीन देखते हुए चलना चाहिये, इत्यादि रूपमें इसका पालन किया जाता है। हाथी घोड़ा गाड़ी आदि का उपयोग भी नहीं किया जासकता। निःसन्देह ये नियम आदर्श हैं और एक समय के लिये आवश्यक भी थे। परन्तु आज ये नियम प्रगतिमें बाधक हैं। रेल, जहाज, वायुयान, मोटर आदि साधनों के बढ़जानेसे मनुष्यका कार्यक्षेत्र खूब व्यापक होगया है। और एक समाजसेवकके लिये कभी कभी लम्बी यात्रा करना आवश्यक होजाता है इसलिये इनका उपयोग भी अनिवार्य होजाता है। उस समय ईर्यासमिति उसके इस कार्यमें बाधक हो जाती है। इसलिये इसे मुलगुणोंमें नहीं रख सकते।

किसीकी रक्षा करनेके लिये या और भी किसी तरहकी सेवाके लिये रातमें चलना पड़े, या जल्दी जल्दी भागना पड़े तो ईर्यासमितिका पालन नहीं होसकता। इस प्रकार ईर्यासमितिकी ओटमें वह अपनी अकर्मण्यताको छुपाता है तथा समाजका नुकसान करता है। कभी कभी किसी शारीरिक बाधाके लिये भी रात्रिमें चलना या शीघ्र चलना आवश्यक होजाता है। उस समय यदि वह ईर्यासमितिके लिये स्वास्थ्यके नियमोंका भंग करे या दूसरोंसे ईर्यासमितिका कई गुणा भंग करावे तो

यह भी अनुचित है। इसलिये इन सब नियमोंका रखना आवश्यक नहीं है। अपने कर्तव्य में बाधा न पड़े, फिर जितनी ईर्यासमितिका पालन किया जाय उतना ही अच्छा है। परन्तु इसे मूलगुण में शामिल नहीं कर सकते।

दूसरी भाषासमिति है। इसमें भाषाके दोष दूर करके स्वपरहितकारी वचन बोलनेकी आवश्यकता है। निरर्थक हास्य और बकवादका त्याग है। परन्तु इसका सारा कार्य सत्यव्रतसे होसकता है, इसलिये इसको अलग गिनानेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ निरर्थक हास्य वगैरहका निषेध इसमें आता है, परन्तु मनोविनोदके लिये अगर ऐसा हास्य किया जाय जिससे परनिंदा न होती हो, अहिंसा और सत्यका भंग न होता हो तो उसके त्यागकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता होने पर कोई मौनधारण करे, किसीसे बातचीत न करे या कम करे तो उसको कोई बुरा नहीं कहता, परन्तु यह आवश्यक नहीं है। जितना आवश्यक है वह सत्य व्रतमें आचुका है इसलिये भाषासमितिका भी अलग उल्लेख नहीं किया जासकता।

तीसरी एषणा समिति है। इसमें निर्दोष आहारादिका विधान है इस विषयमें इतने अधिक सूक्ष्म* नियम हैं कि उन सबका वर्णन करनेसे बहुत विस्तार होजायगा। पुराने समय की साधुसंस्था जैसी थी उसके लिये वे नियम उपयोगी थे; और उसमें इसबातका पूरा खयाल रक्खा गया था कि साधुसंस्था के कारण गृहस्थो को कोई कष्ट न हो, तथा साधुओं की किसी क्रिया से अप्रत्यक्षरूपमें भी हिंसा न हो, दूसरे भिक्षुकों को भी कोई बाधा न पहुँचे। इसलिये मुनिके भोजनमें उद्दिष्टाहार त्यागका मुख्य स्थान है। जो भोजन अपने निमित्त से बनाया गया हो वह भोजन साधुके लिये अग्राह्य है। इसका मुख्य उद्देश्य यही था कि साधुके लिये गृहस्थोंको कोई कष्ट न हो, साधुके भोजनकी गृहस्थोंको कोई चिन्ता न करना पड़े और न विशिष्ट भोजन तैयार करना पड़े। साधु अकस्मात् किसी गलीसे निकल जाताथा और जो भी उसे बुलाता उसके यहाँ शुद्धाहार मिलने पर भोजन करलेता। परन्तु एक घरमें पूरा भोजन करने से उस गृहस्थको कुछ तकलीफ होने की सम्भावना थी इसलिये दूसरी रीति यह थी कि अनेक गृहस्थोंके यहाँ से थोड़ा थोड़ा भोजन माँग कर भोजन किया जाय। आजकल पहिली रीति दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित है और दूसरी रीति श्वेताम्बर सम्प्रदायमें। हाँ, मुनि होनेके पहिले क्षुल्लक अवस्थामें दिगम्बर लोग भी अनेक घर से भिक्षा माँगना उचित समझते हैं। जहाँ तक उद्दिष्टत्याग का सम्बन्ध है वहाँ तक यह दूसरी विधिही अधिक उपयुक्त मालूम होती है, क्योंकि किसी आदमीको अगर भरपेट भोजन कराना हो तो उसके उद्देशसे कुछ न कुछ बनाना पड़ेगा, अथवा अपने लिये बनाया गया भोजन उसे देकर अपने लिये दूसरा भोजन बनाना पड़ेगा।

उद्दिष्टाहार त्यागके जो नियम हैं वे बहुत सूक्ष्म हैं। उनसे मालूम होता है कि महात्मा महावीरने इस बातका पूरा खयाल रक्खा था कि साधु लोग समाजको कष्ट न दें। भोजनके विषयमें बहुतसी बातें जानने योग्य हैं। जैसे—

जिस भोजनके तैयार करनेमें हिंसा हुई हो, जो जैनमुनियोंके लिये, दूसरे साधुओंके लिये, गरीबोंके लिये या और किसीके लिये बनाया गया हो; साधु को देखकर बनती हुई सामग्रीमें कुछ बढ़ा लिया गया हो, या तुरन्त खरीदकर लाया गया हो, या किसी दूसरी चीजसे बदल लिया गया हो, या उधार लिया गया हो, जिसे निकालनेके लिये अटारी (अट्टालिका) आदिपर चढ़ना पड़ा हो, या बालकको दूध पिलाना बन्द करना पड़ा हो, जो भोजन किसी के दबावसे दिया गया हो, अपने सहयोगियोंके मना करने पर भी दिया गया हो, वह सब भोजन मुनिके लिये अग्राह्य है।

*देखो मूलाचार पिंडशुद्धि अधिकार।

इसीप्रकार किसीको खुश करके आहार लेना, झूठी सच्ची बातोंका अनुमोदन करके, या विद्या वगैरहकी आशा दिलाकर या कुछ औषध आदि देकर आहार लेना भी अनुचित है।

उद्दिष्टाहार त्यागका मुख्य कारण यही है कि समाज को कष्ट न हो, साधुसंस्था समाजके लिये बोझ न बनजाय। दूसरा कारण यह भी कहा जासकता है कि इससे विषयलोलुपता न आजाय, इच्छानुसार भोजन न मिलनेसे रसनाइन्द्रियका विजय हो। परन्तु इन दोनों प्रयोजनोंकी सिद्धि नहीं होरही है। आज एक निमन्त्रित व्यक्तिकी अपेक्षा उद्दिष्टत्याग का बाह्याचार दिखलाने वाला व्यक्ति समाजके लिये अधिक कष्टप्रद है। निमन्त्रणसे तो एक व्यक्तिके लिये एक आदमीको भोजन तैयार करना पड़ता है और अगर उसमें रसना इन्द्रिय जीतनेकी इच्छा हो तो निमन्त्रित होकरके भी जीत सकता है। निमन्त्रणमें सादा भोजन भी किया जासकता है। परन्तु उद्दिष्टत्यागीके लिये तो सैकड़ों मनुष्योंको भोजन तैयार करना पड़ता है। अगर एक भी मुनि भोजनार्थी होता है तो गाँवके सभी गृहस्थोंको एक एक आदमीकी रसोई अधिक बनाना पड़ती है। इतना ही नहीं बल्कि वह रसोई भी असाधारण होती है। इससे शक्तिसे अधिक खर्च भी होता है। इसकी अपेक्षा निमंत्रण स्वीकार कर लिया जाय तो समाज को बहुत कम कष्ट हो।

अगर अनेक घरोंसे भिक्षा लावे तो एक घरके भोजनसे कुछ अच्छा जरूर है, परन्तु उसमें भी कुछ हानि है। क्योंकि इससे साधु फालतू अन्न भी माँग लाता है। भोजनकी मात्रासे भी अधिक माँग लाता है। जबतक स्वादिष्ट भोजन न मिले, तबतक अनेक घरोंसे माँगता ही रहता है। इसलिये उद्दिष्टत्यागके विधानके जो दो प्रयोजन थे, वे सिद्ध नहीं होपाते।

प्रश्न—उद्दिष्टत्यागका एक तीसरा प्रयोजन भी है कि इससे साधु पापकी अनुमोदनासे बचा रहता है। भोजन तैयार करनेमें छोटे बड़े अनेक आरम्भ करना पड़ते हैं। अगर वह भोजन साधुके उद्देशसे बनाया जाय और साधु उसे ग्रहण करे तो भोजनके आरम्भका पाप साधुको भी लगेगा। उद्दिष्टत्यागमें वह पाप सिर्फ गृहस्थको लगता है, साधु उससे बचा रहता है।

उत्तर—पहिले हिंसा अहिंसाके विवेचनमें यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि जो आरम्भ जीवनके लिये अनिवार्य है, उसमें यथाशक्ति यत्नाचार करनेसे पाप नहीं रहता। कोई वस्तु हमारा नाम लेकर बनाई जाय या बिना नामके बनाई जाय परन्तु अगर हम उसका उपयोग करते हैं तो उसके पापसे हम लिप्त हुए बिना नहीं रह सकते, क्योंकि बिना किसी उद्देश के कोई काम नहीं किया जाता। भोजन जो बनाया जाता है उसमें, जो खाता है उसीका उद्देश रहता है, भले ही उसका नाम न लिया गया हो। बाजार में बिकने वाली चीजका पुण्य-पाप उसीके सिर अवश्य है जो उसे खरीदता है। इसी प्रकार आरम्भ में अगर पाप है तो अनुद्दिष्ट भोजन करने वाला मुनि भी उस पापसे बच नहीं सकता।

उद्दिष्टत्यागकी शर्तको अनिवार्य कर देनेसे कई बड़े बड़े नुकसान भी हैं। कोई भी देश अपनी आर्थिक परिस्थिति आदिके कारण भिक्षावृत्तिको क़ानूनसे बन्द कर दे तो इस प्रकारकी साधुसंस्था इस प्रकारके क़ानून बनानेमें बाधक होगी, अथवा अपने लिये कुछ ऐसे अपवाद रखवायगी जिससे वह भिक्षा लेसके। लेकिन इस एक ही अपवादसे सभी सम्प्रदायके साधु इस प्रकारका अपवाद चाहेंगे और उन्हें देना ही पड़ेगा। तब साधुवेषी भिक्षुकोंकी संख्या लाखों पर पहुँचेगी और वह क़ानून निरर्थक हो जायगा। यदि इस प्रकारके क़ानून बनानेवालों का जोर ज्यादः हुआ तो इस साधुसंस्थाको उठा देना पड़ेगा या चोरीसे चलाना पड़ेगा। परन्तु यह सब अनुचित है। इसीसे लगती हुई दूसरी बात यह है कि इससे अकर्मण्योंकी संख्या बढ़ती है। लोग परिश्रम करनेको पाप और भिक्षावृत्तिको—जिसमें

हरामखोरीके लिये सबसे अधिक गुंजाइश है—पुरुष समझने लगते हैं। साधु लोग, समाजके द्वारा पोषित होना अपना हक्क समझ लेते हैं और समाज को इच्छा न रहते हुए भी, भूखों न मरजाय, इस डर से भोजन कराना ही पड़ता है। इस प्रकार साधुओं के जीवनमें बेजिम्मेदारी और समाजके ऊपर एक बोझ चढ़ता है। यद्यपि साधुसंस्थाका कुछ न कुछ बोझ समाजको उठाना ही पड़ता है परन्तु वह इस ढंगका अनिवार्य न होना चाहिये और साधुसंस्थाके लिये निम्नलिखित चारों मार्ग खुले रहना चाहिये:—

१—अगर कोई दूसरा उपाय न हो तो रास्तेमें चलते चलते जो कोई उसे बुलाले और उसके यहाँ उसके लायक शुद्ध भोजन मिलसके तो भोजन करले।

२—अथवा थोड़ा थोड़ा अनेक घरोंसे माँगकर भोजन करले।

३—अगर कोई निमन्त्रण करे तो उसके यहाँ भोजन करले।

४—अपने परिश्रमसे पैदा किये पैसेसे भोजन खरीदकर या भोजनका सामान खरीदकर स्वयं तैयार करके भोजन करले।

इससे साधुमें बेजिम्मेदारी न आ पायेगी, और समाजको साधुसमाजकी चिन्ता न करना पड़ेगी क्योंकि उसके लिये स्वयं परिश्रम करनेका मार्ग खुला रहेगा। हाँ, आवश्यकताके लिये बाकी तीन मार्ग भी खुले रहेंगे।

प्रश्न—यदि समाज साधुओंके लिये कोई आश्रम बनादे और साधु लोग वहाँ भोजन करें तो वह भोजन उपर्युक्त चार श्रेणियोंमें से किस श्रेणीमें समझा जायगा?

उत्तर—चौथी श्रेणीमें; क्योंकि आश्रममें रहकर वह कुछ काम करेगा और उस कामके बदलेमें भोजन लेगा; मुफ्तमें नहीं। हाँ, अतिवृद्ध होनेपर या अतिरुग्ण होनेपर वह पेन्शनके तौरपर भोजन लेसकता है। परन्तु इस प्रकारकी पेन्शन देना न देना समाज की इच्छापर निर्भर है, अथवा उसकी पूर्व सेवाओंपर या भविष्यमें होनेवाली सेवाकी आशापर निर्भर है।

प्रश्न—साधुके लिये इस प्रकार भोजनके अनेक मार्ग खोलकर जहाँ आपने उसके सिरपर जिम्मेदारी लादी है और समाजका बोझ कुछ हलका कर दिया है, वहाँ साधुको भोजनके विषयमें स्वतन्त्रता देकर निरंकुश भी बना दिया है। इससे समाजका दबाव उसके सिर पर न रहेगा, वह किसी तरह पैसा पैदा कर समाजके विरोधमें भी खड़ा होसकेगा।

उत्तर—जिस समय समाजमें उसके पक्षका एक भी आदमी न रह जायगा, उस समय वह साधु कहलाकर रह भी नहीं सकता। वह साधुसंस्था से अलग कर दिया जासकेगा। उस समय उसके लिये भोजनका चौथामार्ग ही रह जायगा। वह मार्ग तो अवश्य खुला रहना चाहिये, नहीं तो वह चोर और डकैतोंमें शामिल हो जायगा। समाजने उसे साधु नहीं माना, बस यही क्या कम दंड है! यदि उसके पक्षमें कुछ लोग हैं तब तो उद्दिष्टत्यागी होकरके भी वह तागड़धिन्ना कर सकेगा, क्योंकि उसके भक्त उसकी आवश्यकताओंकी पूर्ति करेंगे। सच बात तो यह है कि सबसे कठिन मार्ग अपने परिश्रमसे पैदा करके खाना है। थोड़ीसी गड़बड़ी होनेपर इसी चौथे मार्ग का सहारा लेना पड़ेगा और इसमें उसकी पूरी कसौटी होजायगी। इस विषयमें एक बात और है कि कोई आदमी साधु कहलाता रहे और साधुता का पालन न करे तो भी वह आजके समान भयंकर न होगा। क्योंकि समाजके ऊपर उसके पोषण का बोझ न रहेगा और आजकल साधुवेष धारण करनेसे ही लोग जिस प्रकार सातवें आसमान पर चढ़ जाते हैं, दूसरोंसे पूजा कराना अपना हक्क समझते हैं, वह बात पीछे न रहेगी। उस समय तो गुण और समाजसेवाके अनुसार ही उपचार विनयका पालन होगा, वेषके अनुसार नहीं। इस प्रकार उद्दिष्टत्याग अनिवार्य नहीं है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

महात्मा और भगवान।

महावीरके साथ महात्मा शब्द लगानेसे कुछ सज्जनोंको बड़ा अपमान मालूम होता है। वे महावीरके साथ 'भगवान' के सिवाय दूसरा विशेषण लगाना ही नहीं चाहते। बल्कि कोई 'भगवान महावीर' न लिखे तो इसके लिये एक आन्दोलन खड़ा कर देना चाहते हैं। इससे मालूम होता है कि जैन समाजमें अन्यपार्टियोंके समान 'महात्मापार्टी' और 'भगवानपार्टी' के नामसे दो पार्टियाँ और खड़ी हो जाँयगी।

'महात्मा' और 'भगवान' शब्दके अर्थ पर उनने कुछ विचार किया है या नहीं, यह नहीं कहा जासकता परन्तु उनके शब्दोंसे जो बात समझमें आती है वह यह है कि मैंने महावीरको अनेकबार महात्मा लिखा है और मैं सर्वज्ञ नहीं मानता तथा बाह्य अतिशयोंको बहुत कम मानता हूँ इसलिये महावीरको महात्मा लिखता हूँ। जो लोग महात्मा लिखते हैं वे मेरा समर्थन करते हैं। इसलिये किसीको 'महात्मा महावीर' नहीं लिखना चाहिये; अगर कोई लिखे तो सम्पादकों को उसका खण्डन कर देना चाहिये।

मेरे खयालसे इस प्रकारका आन्दोलन उठानेवालोंने न तो जैनधर्मकी विशेषतापर ध्यान दिया है, न शब्दोंके अर्थ पर। महात्मा शब्दका अर्थ है कि जिसका आत्मा उन्नत होगया है अर्थात् जिसने आत्मिक गुणोंका विकास किया है। भगवान शब्दका अर्थ है कि जिसके पास ऐश्वर्य हो महात्मा शब्दसे आत्मोन्नति मालूम होती है और भगवान् शब्दसे वैभव या ठाठबाठकी उन्नति मालूम होती है। जैनधर्म आत्मोन्नतिका उपासक है, वैभवका नहीं। इसलिये वास्तवमें जैनधर्ममें भगवानको नहीं, महात्माको ही स्थान है। भगवान शब्द तो सिर्फ उसीकेलिये लागू होता है जो इस जगतका बनानेवाला हो, सञ्चालक हो, जो जगत्का मालिक हो। परन्तु जैनधर्ममें ऐसे भगवानको कोई स्थान नहीं है। क्योंकि जैनियोंने तो भगवानरूपी चक्रवर्तीको गद्दीसे उतार कर पूर्ण प्रजातंत्रकी स्थापना कर दी है—यहाँ तो कोई महात्मा हो सकता है, भगवान नहीं।

हिन्दू धर्ममें भगवान शब्द उपयुक्त है क्योंकि उनके यहाँ जगत्कर्ता ईश्वर माना गया है और उनका ईश्वर ऐश्वर्यशाली भी है। राम कृष्ण आदि उसी ईश्वरके अवतार माने जाते हैं, इसलिये उनको भी वे भगवान कहते हैं। जैनधर्मने इन भगवानोंको तो मिटा दिया परन्तु जैनियोंके हृदय पर यह छाप लग ही गई इसलिये उनने अपने घरमें नये भगवानों की सृष्टि की। वास्तवमें भगवान नामका या इस पद वाला कोई जीव जैनधर्ममें नहीं है।

यों तो ऐश्वर्यकी दृष्टिसे हम किसी सेठको भी भगवान् कहसकते हैं, परन्तु यह तो भगवान शब्दकी खिल्ली उड़ाना है। वास्तवमें जगत्के संचालनमें जिसका हाथ है उसीको भगवान कहना चाहिये। इसलिये किसी मनुष्यको भगवान कहना उचित नहीं है; फिर वह राम हो या कृष्ण, महावीर हो या बुद्ध। इन सबको महात्मा, महापुरुष आदि शब्दोंसे कहना चाहिये।

भगवान शब्दका व्यवहार जगत्कर्ता ईश्वरको करना चाहिये। परन्तु ऐसा ईश्वर तो कोई है नहीं, इसलिये हम उन धर्मतत्वोंको भगवान कहसकते हैं जो जगत्के रक्षण तथा सुख शांतिके कारण हैं। सत्य अहिंसा आदि तत्व इसी तरह के हैं। इन्हींका अवलम्बन लेकर मनुष्य तीर्थंकर महात्मा आदि बनता है। इसलिये हम 'भगवान सत्य', 'भगवती-अहिंसा' आदि शब्दोंका प्रयोग करें तो अनुचित नहीं है। परन्तु व्यक्तिविशेषको भगवान लिखना तब तक ठीक नहीं है जब तक भगवान शब्दका वर्तमान अर्थ प्रचलित है।

महात्मा शब्द बिलकुल निरुपद्रव है। बल्कि किसी मनुष्य को भगवान लिखनेकी अपेक्षा महात्मा लिखनेमें अधिक महत्व और सचाई है, क्योंकि

इसमें एक आदर्श हमारे साम्हने खड़ा होता है जिसके पीछे हम चलसकते हैं। भगवान शब्दसे तो एक ऐसा प्राणी हमारे साम्हने आता है जो सम्राट् शब्दसे आता है। सर्वभूतहित और समभावके आदर्श वालेके लिये तो उससे घृणा और ईर्ष्या ही होगी। महावीरके वास्तविक व्यक्तित्वको अगर समझना चाहतेहों तो हम उन्हें महात्मा शब्दसे पुकारें इसीमें हमारा कल्याण है! उन्हें भगवान कहना तो एक प्रकारसे दूसरों की बुरी छाप अपने सिरपर लगाना है तथा उनके आत्मिक उत्कर्षकी और अपनी आत्मोपासकताकी अवहेलना करना है। यहाँ मैं भगवान कहने वालों का तिरस्कार नहीं करना चाहता, परन्तु इसकी अपेक्षा महात्मा शब्द अधिक उपयुक्त है, यही कहना चाहता हूँ।

नैष्ठिकका कार्यक्षेत्र।

पूनासे एक ग्रेज्युएट सज्जन लिखते हैं:—

"किसीभी समाजका सच्चा सुधारक होगा उसे सत्यसमाजके मूल सिद्धान्त मान्य होंगे। इसलिये वे लोग सत्य समाजके नैष्ठिक सभासद बनेंगे। जब वे नैष्ठिक सभासद बनेंगे तब किसी एक समाजका कार्य करना उनके लिये तत्त्वविरुद्ध होगा। उनके लिये तो हरएक समाजका कार्य करना जरूरी कहलाया। फिर जो समाज बहुत पिछड़ा हुआ है उसमें सुधार करनेको कौन आगे आयगा? क्योंकि सच्चा सुधारक तो सत्यसमाजका नैष्ठिक सदस्य बनजायगा और उसका कार्यक्षेत्र विशाल होजायगा। और जो सच्चे सुधारक नहीं हैं, खाली सुधार की बातें करते हैं, वे न तो समाजमें सुधार करसकते हैं, न उनसे उस समाजको कुछ लाभ है। फिर उस पिछड़े हुए समाजकी क्या दशा होगी?"

ऐसी शंका स्वाभाविक है परन्तु अपरिहार्य नहीं। जो मनुष्य सर्वभूतहितकी भावना रखता है, उसका यह मतलब नहीं है कि जब और जहाँ सर्वभूत एकत्रित होंगे तब और वहाँ वह सेवा करेगा, किसी एकाध प्राणीकी सेवा न करेगा। ऐसा अर्थ किया जाय तब तो वह किसीकी सेवा ही न करेगा। इसलिये सर्वभूतहितका तात्पर्य सिर्फ इतनाही है कि वह किसीसे पक्षपात न रक्खे। वह किसी एक व्यक्ति की या परिमित व्यक्तियोंकी सेवा करे परन्तु उसकी दृष्टि विशाल-उदार-निःपक्ष रहे। इसका फल यह होगा कि परिमित क्षेत्रमें सेवा करते हुए भी दूसरों के नैतिक अधिकारोंका नाश न करेगा। सत्यसमाज का नैष्ठिक सदस्य किसी सम्प्रदायका पक्ष न लेता हुआ उसकी सेवा करेगा। किसीमें काम करनेका उसे अधिक मौका मिलता है, वहाँ परिचय अधिक है, वहाँ उसकी माँग है, आदि कारणोंसे किसी समाज विशेषमें काम करना बुरा नहीं है। सत्यसमाजी को ही यह मौका है कि वह हरएक समाजमें काम कर सकता है। हाँ, इसके लिये उसे साम्प्रदायिकता की गुलामी न करना चाहिये और न किसीके साथ पक्षपात दिखलाना चाहिये जिससे किसीके न्यायोचित अधिकारोंको हानि पहुँचे।
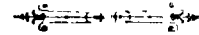
विविध विषय।

(लेखक—श्रीमान् नाथूरामजी प्रेमी)

जैनोंको कोई पूछता नहीं!

ता० २२ नवम्बरके 'जैनमित्र' के सम्पादकीय वक्तव्यमें एक अद्भुत शीर्षक दिया गया है—'राष्ट्रसंघमें जैनोंका स्थान क्यों नहीं?' मानों जैनोंका कोई एक राष्ट्र है, एक नेशन है, जिसका राष्ट्रसंघ या 'लीग ऑफ नेशन्स' में स्थान होना चाहिये! जान पड़ता है, सम्पादक महाशयने बिना समझे बूझे महासभा या कांग्रेसके लिये इस अनुपयुक्त शब्दका प्रयोग कर दिया है। खैर, इस लेखमें यह शिकायत की गई है कि "कांग्रेसके मुख्य कार्यकर्त्ताओंमें आजतक किसी जैनीका नाम नहीं है, उसका अभीतक कोई जैनी सभापति नहीं हुआ है, भारतकी कौमोंमें सिक्ख और पारसी कौमका नाम

तो लिया जाता है. परन्तु जैनोंको अकिंचित्कर समझ कर कोई नाम तक नहीं लेता। स्वयं महात्मा गाँधी भी पारसियोंको याद करलेते हैं, परन्तु जैनोंको छोड़ जाते हैं।" ऐसा क्यों होता है, इसका उत्तर भी आपने दिया है कि 'इसमें जैनोंका ही प्रमाद है, अनुत्साह है और अनुद्योग है। देशमें ऊँचा वही चढ़ता है जो परोपकारमें सबसे अधिक अपनी शक्तियोंकी बलि करता है। जैन क़ौममें उच्च शिक्षाके पारगामी भी बहुत कम हैं।" आदि। फिरभी आप शिकायत किये ही जाते हैं। शिकायत तो तब की जानी चाहिये, जब जैनोमें ऐसे योग्य, परोपकारी, देशके लिये सर्वस्वका बलिदान करनेवाले, उत्साही, उद्योगी हों और फिरभी केवल 'जैन' होनेके कारण उन्हें देशका नेतृत्व, कांग्रेसका सभापतित्व आदि न दिया जावे। पारसियों और मुसलमानों आदि को ये पद दिये गये, इसका कारण यह है कि उनमें ऐसे योग्य आदमी थे। केवल पारसी या मुसलमान धर्म के अनुयायी होनेके कारण ही उनका उक्त सत्कार नहीं किया गया। पारसियोंमें दादाभाई नौरोजीके बाद कोई योग्य और स्वार्थत्यागी नहीं निकला, इसलिये सन् १९०६ के बाद पारसी कौम भी इस सम्मानसे वंचित है। सिक्खोंकी जनसंख्या जैनों से लगभग पाँचगुनी है, फिरभी कोई सिक्ख अ-बतक कांग्रेसका सभापति नहीं हुआ, यद्यपि देशके राजनीतिक क्षेत्रमें इस वीर जातिका बहुत अधिक प्रभाव है। ऐसी दशामें इस शिकायतका कोई अर्थ ही नहीं है।

यह बात ग़लत है कि महात्मा गाँधी पारसियों को याद करलेते हैं, और जैनोंको छोड़ जाते हैं। अपने बीसों लेखों और व्याख्यानोंमें उन्होंने जैन जाति और जैनधर्मका स्मरण किया है और उप-युक्त अवसरों पर उसकी यथोचित प्रशंसा भी की है। पारसियोंका सम्मान इसलिये अधिक नहीं किया जाता है कि यह जाति विद्या, बुद्धि और व्यापारके क्षेत्रमें बढ़ी चढ़ी है, किन्तु इसलिये कि यह दान करनेमें अपनी समता नहीं रखती। इसने केवल अपनी जातिके लिये ही नहीं, सर्वसाधारण के कल्याणके लिये बिना किसी भेदबुद्धिके अपरिमित दान किया है। जैन जाति भी दानी गिनी जाती है, परन्तु उसका दान अधिकतर अपनीही जाति और धर्मके लियेही होता है—देशके और सर्व साधारणके कल्याणके लिये बहुतही कम। सिक्खों का ख़याल इसलिये अधिक किया जाता है कि एक तो उसकी संख्या पचास लाखसे अधिक है, और दूसरे वह शक्तिशाली और सुसंगठित क़ौम है। जरूरत पड़ने पर वह बड़ीसे बड़ी शक्तिको हिला सकती है। पंजाबकी बहुसंख्यक मुसलमान क़ौम भी उससे घबड़ाती है। इधर जैन समाजका यह हाल है कि संख्यामें कुल बारह लाख है और वह भी श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, तेरह, बीस, पंडित, बाबू और सैकड़ों जाति उपजातियोंमें बँटी हुई है। न उसमें कोई संगठन है, न अनुशासन—अपनी अपनी ढपली और अपना अपना राग—है। धार्मिक कट्टरता और धर्मोन्मादका यह हाल है कि जैन समाजके नेता और सुशिक्षित कहे जानेवाले लेखक सम्पादक तक ज़रा ज़रासी बातपर अपने अपने सम्प्रदाय और पंथवालोंको जेहादका झंडा खड़ा करदेनेके लिये उत्तेजित करदेते हैं—आपसमें लड़ाते हैं, लाखों रुपये मुकद्दमेबाज़ीमें ख़र्च कराते हैं और इन कामोंको 'धर्मसंरक्षा' का पवित्र नाम देकर प्रसन्न होते हैं। क्या ऐसीही क़ौमें राजनीतिक और देशसेवाके क्षेत्रमें सम्मान और प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकती हैं?

यहाँ यह कहे बिना भी जी नहीं मानता कि यदि कभी कोई जैनधर्मानुयायी या जैनकुलोत्पन्न पुरुष देशका नेता या कांग्रेसका सभापति होगा भी, तो वह उसके पहलेही जैनसमाज और धर्मसे बहिष्कृत करार दिया जायगा और उसके बहिष्कारकार्यमें हमारे ये धर्मधुरीण नेता और लेखकही मुख्य पार्ट लेंगे, क्योंकि उसके उदार विचारोंके साथ इनके

संकीर्ण विचारोंका मेल हो ही न सकेगा। इस समय भी जैन समाजमें जो महात्मा भगवानदीनजी जैसे इनेगिने सच्चे देशसेवक और तपस्वी हैं उनकी जैनोंमें क्या प्रतिष्ठा है ? उन्हें कौन पूछता है ? हमारे धर्मध्वज लोग तो उन्हें जैन माननेको भी तैयार नहीं हैं !

ब्रह्मचारीजी की मनोवृत्ति।

ऐसा मालूम होता है कि धन-दौलत और घर-द्वार के त्यागसे भी कठिन त्याग आदर सत्कार, प्रतिष्ठा-प्रतिपत्तिका है। हम देखते हैं कि अनेक साधु,मुनि त्यागी, परिव्राजक सबकुछ छोड़देते हैं, परन्तु मान-बड़ाईके मोहको नहीं छोड़ सकते। और इसी निर्बलताके कारण जनसाधारणका उनके द्वारा पूरा पूरा उपकार नहीं हो सकता। उन्हें लोगोंका रुख देखकर काम करना पड़ता है, और इसके लिये वे सत्यकी यथेष्ट उपासना नहीं कर सकते। उनके मुखसे उतनाही सत्य बाहर हो सकता है, जितनेको वे देखलेते हैं कि लोग सहन करलेंगे, उससे अधिक नहीं। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी इसी कोटिके त्यागी परिव्राजक हैं। जैन समाजकी और जैनधर्मकी सेवा करनेके लिये उन्होंने अपने आपको न्योछावर करदिया है। वे अथक परिश्रम करते हैं और अपना सारा समय इसी सेवाकार्यमें लगाते हैं। परन्तु उन्हें अपनी प्रतिष्ठाका मोह इतना अधिक है कि उसके मारे उनके द्वारा जितना कार्य होना चाहिये उतना नहीं होता है। इस बातको सभी लोग अच्छी तरहसे जानते हैं कि विधवाविवाहके आन्दोलनमें शामिल होनेके बहुत पहलेसे-शायद ८-१० वर्ष पहलेसे-वे जैन समाजके लिए विधवा-विवाहको कल्याणकारी समझते थे, परन्तु इसी 'ख्याति-लाभ पूजादि चाह' के कारण उनका साहस नहीं होता था कि वे इस विषयकी चर्चा करें; परन्तु जब उन्होंने देखा कि समाजमें मेरे विचारके लोगोंकी संख्या काफ़ी होगई है और अपने इस विचारको प्रकट न करने पर भी विरोधी लोग मुझे विधवाविवाहका प्रचारक समझते तथा असह्य आक्रमण करते हैं, तब वे हिम्मत बाँधकर विधवाविवाहके आन्दोलनमें कूद पड़े। इसके प्रचार के लिये उन्होंने खूब प्रयत्न किये, अपमान-आक्रमण भी सहे, परन्तु अपमान-तिरस्कार सहनेकी शक्तिकी उनमें जो कमी शुरूसे थी वह बनी ही रही और प्रतिष्ठाके मोहका उनसे त्याग न होसका। वे बराबर कोशिश करते रहे कि लोग उन्हें पहलेके ही समान चाहें, आदर-सत्कार करें और धनी मानियों में उनकी पूछ होती रहे। इसके लिए वे औचित्यकी सीमाका लंघन करके अपना विज्ञापन तक करनेसे बाज न आये। यदि किसी प्रतिष्ठित गिने जानेवाले व्यक्तिने शिष्टाचारके ख़यालसे, उनके विचारसे सहमत न होते हुए भी, उनका आदर-सत्कार किया, उन्हें अपने यहाँ ठहराया, तो उसकी भी चर्चा उन्होंने समाचारपत्रोंमे खास तौरसे की।

इसी प्रतिष्ठा-प्रतिपत्तिके मोहसे वे अबतक जैनमित्रका सम्पादन कर रहे हैं, और अपने स्वाभिमान तथा विचारस्वातन्त्र्यकी हत्या करा रहे हैं। जैनमित्र के 'सर्वेसर्वा' कापड़ियाजी उनके लेखोंमें यदि कहीं ज़रासी भी विधवाविवाहकी कोई गन्ध पाते हैं, या और कोई बात ऐसी देखते हैं जो उन्हें पसन्द नहीं है, तो वे उसे चटसे अपनी क़लमसे काटकर अलग कर देते हैं और ब्रह्मचारीजी इस अपमानको पानी के घूँट पी जाते हैं ! यदि न पीएँ, तो जैनमित्रके द्वारा जो प्रतिष्ठा प्राप्त होती है, उससे हाथ धोना पड़े।

ब्रह्मचारीजीको विश्वास था कि विधवाविवाहके अनुकूल लोकमत जल्दी तैयार हो जायगा और उनकी गई हुई प्रतिष्ठा शीघ्र वापस मिल जायगी; परन्तु इस कच्छप-समाजकी पीठ कितनी कठोर और आन्दोलन-आघात-प्रूफ है, इसे समझनेमें उन्होंने ग़लती की और उनका धैर्य जाता रहा। अब सुना है कि उन्होंने विधवा-विवाहके आन्दोलनको बहुत गौण कर दिया है और इसकी चर्चा उन स्थानोंमें करना छोड़ दिया है, जहाँ इसके विरोधी अधिक हैं।

ऐसी सभाओंमें तो जहाँ कि केवल जैनी एकत्र होते हैं, वे इस विषयको उठाते ही नहीं हैं। हाँ, पब्लिक सभाओंमें कभी कभी छठे छमासे इसका प्रतिपादन अवश्य कर दिया करते हैं। सागरके पिछले चातुर्मासमें उनकी यह मनोवृत्ति बहुत कुछ स्पष्ट होने लगी है। अमरावतीके इस चातुर्मासमें भी शायद यह विषय बहुत ही कम उठाया गया है। अब केवल 'सनातन जैन' में ही इसकी चर्चा होती है।

कट्टर धार्मिक समाजमें अपनी प्रतिपत्ति बढ़ाने के लिए अब उन्होंने जैनजगत्के विरुद्ध अपना धर्म का झंडा ऊँचा किया है, और तमाम पण्डितोंको उसके विचारोंका खण्डन करनेके लिए इस तरह उत्तेजित करना शुरू किया है. जिस तरह निरीह-सैनिकोंको मारू-बाजों और खून खौला देनेवाले रणगानोंसे किया जाता है। हम यह मानते हैं कि ब्रह्मचारीजी 'जैनधर्मका मर्म' जैसी कटुसत्य लेखमालाको नहीं पचा सकते हैं, उसकी तमाम बातोंसे सहमत नहीं हो सकते हैं, फिर भी उसके विरुद्ध इतना जबर्दस्त प्रोपेगण्डा करनेकी जरूरत नहीं होती, यदि उनके मनमें यह भावना काम न कर रही होती कि इससे धर्मात्माओंके और कट्टरोंके दरबारमें मेरी पूछ होने लगेगी, मैं बड़ा भारी धर्म-रक्षक समझा जाऊँगा। कुछ ही वर्ष पहले ब्रह्मचारीजी 'जैनजगत्' के भक्त थे, उसके ग्राहक बढ़ाने का प्रयत्न करते थे और एकबार तो उन्होंने उसके लिए इकमुश्त सौ रुपयाकी सहायता अपनी तरफ़से भेजी थी! यद्यपि उससमय 'जैनधर्मका मर्म' प्रारंभ नहीं हुआ था; फिर भी उसकी नीति काफ़ी उग्र थी और उसमें ऐसे अनेक लेख निकलते थे जो ब्रह्मचारीजीके विचारोंके एकदम विरुद्ध थे। परन्तु चूँकि उससमय ब्रह्मचारीजी अपनेको विधवाविवाह आन्दोलनके क्षेत्रमें असहाय समझते थे और जैनजगत् विरोधियोंके आक्रमणोंसे उनकी रक्षा करता था, इसलिए उन्हें उसका प्रचार अभीष्ट था। पर अब विधवा विवाहका आन्दोलन अपने आप धीरे धीरे बढ़रहा है, ब्रह्मचारीजीने स्वयं उससे किनाराकसी करली है, इस विषयको लेकर अब उनपर अधिक आक्रमण भी नहीं होते हैं, ऐसी दशामें अपनी दुर्बल मनोवृत्तिके वशवर्ती होकर वे क्यों न जैनजगत् के विरुद्ध जेहादका झंडा खड़ा करें?

जहाँ तक हम जानते हैं, वर्तमान नग्न भट्टारकों के प्रति ब्रह्मचारीजीकी ज़रा भी पूज्य बुद्धि नहीं है, वे उनको वैसाही समझते हैं, जैसा कि जैनजगत्; परन्तु जब जब मुनियोंके विहारमें कोई रुकावट आती है, वे आन्दोलनका तूफ़ान खड़ा कर देते हैं और मुनीन्द्रसागर, जयसागर आदिके घोर पतनके शर्मनाक समाचार जानकरभी अपनी 'वही रफ़्तार बेढंगी' नहीं छोड़ना चाहते। क्यों? इसलिए कि वे दिगम्बर जैनधर्मके परम संरक्षक और श्रद्धालु समझे जायँ और उनकी गई हुई प्रतिष्ठा किसी न किसी अंशमें फिर प्राप्त होने लगे। परन्तु हमारी समझमें यह प्रयास व्यर्थही होगा, क्योंकि यह गतानुगतिक समाज समझता है कि 'बूँदसे गई हुई घड़ेसे नहीं आती'।

सत्यसमाजपर लोकमत।

(१५)

बिरला हाउस,
माटुंगा, बम्बई ता: २१-११-३४ ई.

मान्यवर पण्डितजी,

वन्दे, जबसे आपने 'जैनधर्मका मर्म' लिखना आरम्भ किया है तबसे मैं यह सोचता रहा हूँ कि यह स्वतन्त्र विचारधारा केवल दिगम्बर जैनसमाज के ही दायरेमें क्यों चक्कर काट रही है? क्यों नहीं इसको समस्त मानवसमाजके अन्दर प्रवाहित होने का अवसर दिया जा रहा है? 'जैनधर्मका मर्म' लेखमाला मेरे ख़यालमें किसी धर्मविशेषकी मीमांसा नहीं है, किसी अमुक धर्मके सिद्धान्तोंको प्रतिपादन करनेका एक यत्न नहीं है, यह तो जीवन तत्व की मीमांसा है, यह मनुष्य जीवनके अन्दर

अमुक प्रकारके विचारों द्वारा, अमुक प्रकारके विधि विधानों द्वारा, अमुक प्रकारके क्रियाकर्म द्वारा जो खराबियाँ, जो विकार और जो मानसिक रोग घुस गये हैं उनको नष्ट करके मानवजीवनको और मनुष्यके मानस शरीरको स्वच्छ और निर्मल बनाने का एक साधन है।

दुनियामें जहाँ मनुष्य है, जहाँ मनुष्यसमाज है और जहाँ मत और पन्थ हैं, वहाँ खराबियाँ भी जरूर हैं। उन खराबियोंको निकालनेका जो नुस्खा हो वह नुस्खा किसी समाजविशेषके लिये ही सुरक्षित रखना मेरे खयालमें अनुचित है।

आपका 'जैनधर्मका मर्म' मेरी समझमें ऐसा ही एक नुस्खा है। इस नुस्खेको आपने जैनसमाजके लिये सुरक्षित रख छोड़ा है, यह शायद अनुचित कार्यकी कोटिमें आ जाता है।

हरेक चीजको सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिए जिस साधनका उपयोग करना जरूरी है, उस साधनकी आपने अब तक उपेक्षा की थी। मगर जैन जगत्के वर्ष ९ के २४ वें अंकमें 'सत्यसेवक या जैनजगत्' इस हैडिंगके नीचे आपने जो सम्पादकीय नोट लिखा है, उसे पढ़कर यह आशा की जाती है कि अब आप अपने मानवसमाजहितकर नुस्खे को जैनसमाजके लिए ही सुरक्षित न रखकर उसे सर्वसाधारण तक पहुँचानेके लिये यत्न करेंगे।

दुनियाँमें नामका भी बड़ा माहात्म्य होता है। जो सत्य बात आप जैनके नामसे लोगोंको सुनायगें उसको लोग जैन मान्यताओंके प्रचारका एक साधन समझ उसकी उपेक्षा करेंगे। मगर उसी बातको यदि आप सत्यके ही नामसे कहेंगे, उसमें किसी मत या पन्थ या धर्मका नाम न लेंगे, तो लोग उसको सत्य ही की तरहसे सुनेंगे, उसपर गौर करेंगे और उसे अपने उपयोगमें लासकेंगे तो लायँगे।

यद्यपि यह सच है कि, नामका मोह—खासकर अपनी सम्प्रदायके नामका मोह—छोड़ना बड़ा मुश्किल काम है तो भी जो मनुष्य सुधारका काम करनेका बीड़ा उठायगा उसे नामका मोह छोड़ना ही होगा, उसे सम्प्रदायातीत बनना ही पड़ेगा।

और अब जबकि आपने सत्यसमाज नामकी संस्था क़ायम की है और उसमें मनुष्यमात्रको सम्मिलित होनेका आह्वान करते हैं, तब आप—जहाँ तक मैं आपके लेखोंसे समझ सका हूँ—जिस पत्रको सत्यसमाजका मुखपत्र रखना चाहते हैं वह किसी सम्प्रदायविशेषका नाम चिपकाये हुए कैसे रह सकता है? जैसे संस्थाका नाम 'सत्यसमाज' रखा गया है वैसे ही पत्रका नाम भी सत्य शब्दसे आरंभ होना ही ठीक जान पड़ता है—पीछे उसका नाम चाहे 'सत्य सेवक' रखिए, चाहे 'सत्यजगत्' रखिए और चाहे 'सत्यसमाज' ही रखिए। नाम चाहे सो रखिए, मगर रखिए ऐसा जो सम्प्रदायातीत हो, जिसमें किसी सम्प्रदाय विशेषकी छाप न हो।

संभव है आपके सहकारी इसका विरोध करें। संभव है वे सम्प्रदायातीत बननेकी भावनाको पसंद न करें। संभव है पसंद करने पर भी वे उसको व्यवहारमें लाना न चाहें। संभव है व्यवहारमें लाने का इरादा रखते हुए भी इसको व्यवहारमें लानेके परिणामका विचारकर, साहस न करें, सम्प्रदायातीत बननेसे जो उपेक्षा, जो अवहेलना और जो तिरस्कार सम्प्रदायके लोगोंकी तरफसे होनेकी संभावना है, उसके लिये वे तैयार न हों, तो भी यदि सचमुच ही आप मनुष्यसमाजकी सेवा करना चाहते हैं तो आपको अपने सहकारियोंकी इच्छाके विरुद्ध भी संप्रदायातीत बनना होगा, और अपने पत्रके नामको भी सम्प्रदायातीत बनाना होगा।

आपका—जैनजगत्का—कार्यक्षेत्र आजतक केवल जैनसमाज, समस्त जैनसमाज नहीं केवल दिगंबर जैनसमाज, रहा है। मगर अब आपने मनुष्य समाजको कार्यक्षेत्र बनानेका इरादा किया है। यह इरादा भूरि-भूरि प्रशंसाके लायक है। सत्यसमाजकी नियमावली आपके विचारोंकी उदारता बताती है।

इसका व्यवहार आपके हृदयकी उदारताको प्रमाणित करेगा।

मगर इसको व्यवहारमें लानेकी उत्सुकताका सबसे प्रथम परिणाम यह होना चाहिए कि जैन जगत्के १० वें वर्षका नया अंक 'सत्य सेवक' या 'सत्य जगत्' के नामसे प्रसिद्ध हो। नामके साथ ही उसके समाचारसंग्रहमें और सम्पादकीय टिप्पणियोंमें भी सार्वदेशिकता होनी चाहिए। अबमें दिगम्बर जैनसमाजके समाचार और दिगम्बर जैन समाजसे सम्बन्ध रखनेवाली टिप्पणियाँ भी मनुष्य समाजके समाचार और मनुष्य समाजसे सम्बन्ध रखनेवाली टिप्पणियोंका एक भाग बनना चाहिए। अभिप्राय यह है कि इस दसवें वर्षके आरम्भसे पत्र सर्वथा सार्वजनिक रूपमें प्रगट होना चाहिए।

सम्भव है साल दो साल आपको इसमें अधिक कठिनाइयोंका मुक़ाबिला करना पड़े; मगर यह निश्चय है कि स्वाधीनताका पुजारी मनुष्य समाज आपका बड़े उत्साहके साथ स्वागत करेगा और सामाजिक और धार्मिक अनुचित बन्धनोंमें छटपटाता हुआ युवकदल दौड़कर आपको आ घेरेगा और आपकी कठिनाइयोंको दूर करदेगा।

हितैषी—कृष्णलाल वर्मा।

(१६)

श्रीमान माननीय पंडितजी,

लगभग चार वर्षसे मैं 'जैनजगत्'को ध्यानपूर्वक पढ़ रहा हूँ परन्तु अभीतक मैं इसमें नवीनता ही की सुगन्ध पाता हूँ। ज्यों ज्यों समय बीतता जाता है त्यों त्यों इसके लिये मेरी उत्सुकता अधिक ही होती चली जाती है। सच तो यह है कि मेरे हृदयमें "जैनजगत्" के प्रति मोह उत्पन्न हो गया है। ध्यान रहे कि इस मोह—उत्पत्तिका मूलकारण आपही हैं।

'जैनधर्मका मर्म' शीर्षक लेखमालाके सम्बन्धमें मैं अपने विचार पहिले ही आपकी सेवामें भेज चुका हूँ, अतः उसके सम्बन्धमें इतना ही लिखना काफ़ी है कि मुझे लेखमालामें जैनधर्मका मर्म ही नहीं, किन्तु अपने भावी जीवनकी कुंजी भी मिली है।

मेरी अनेक बार इच्छा हुई कि मैं लेखमाला सम्बन्धी अपने हृदय—उद्‌गार विस्तारसहित लेखनी द्वारा प्रकट करूँ, परन्तु लेखमालाके अधूरेपनने ऐसा न करने दिया। जब यह लेखमाला समाप्त हो जायगी तो अवश्य ही मैं अपने दिलकी भड़क निकालूँगा। मैं इसकी पूर्तिकी अत्यन्त उत्सुकतासे प्रतीक्षा कर रहा हूँ, परन्तु आपसे यह प्रार्थना है कि आप इस इन्तज़ारीके समयको जितना लम्बा बना सकें, बनाएँ।

मैं चार वर्षोंसे आपका अध्ययन करता आ रहा हूँ। इस समय में आपके सद्‌विचारोंका जो मुझ पर प्रभाव पड़ा है वह शब्दों द्वारा नहीं दर्शाया जा सकता। मैं तो आपको धार्मिक विषयोंमें एक Unquestionable authority समझने लगा हूँ। मैं ही नहीं, मेरा तो यह दृढ़विश्वास है कि प्रत्येक निष्पक्ष विचारक जिसने आपका जैनजगत् पढ़ा है, यही भाव आपके प्रति रखता होगा। जो लोग प्रकट रूपमें आपका विरोध करते हैं, वे भी दिलही दिलमें आपका लोहा न मानते हों, यह असम्भव है, क्योंकि सत्यता, निर्भीकता और स्वार्थरहितता के सन्मुख किसका सर नहीं झुक जाता?

यदि मैं आपको एक विज्ञानवेत्ता (Scientist) कहूँ तो अत्युक्ति न होगी क्योंकि आपने एक ऐसे यंत्रका आविष्कार किया है जिससे धर्मकी परख सहज ही होसकती है। आपका यह धर्म-मथनका कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय व सराहनीय है। इससे एक बड़ी भारी आवश्यकताकी पूर्त्ति होगी और सत्यके असंतुष्ट खोजियोंकी भूख भी मिटेगी। मेरे प्रशंसा-सूचक शब्दोंको आप दिखावटी व खुशामदाना न समझें। ये मेरे हृदयके उद्‌गार हैं। मेरे शब्द कभी मेरे हृदयके प्रतिकूल नहीं होते।

'सत्यसमाज' के विषयमें जो आपका प्रयत्न है, वह ठीक और मुनासिब है। उसमें सफलता प्राप्त

करना कठिन है, अतः कठिन परिश्रमसे ही काम चल सकता है; और आपके व्यक्तित्वसे मुझे यह आशा है कि फल आशातीत ही होगा। मैं इसमें जो कुछ सहायता कर सकता हूँ, वह बतलाइये। मैं उसके लिये प्रस्तुत हूँ। मैं इस कार्यमें आपकी जितनी सहायता कर सकूँगा, करूँगा, आप विश्वास रखें।

"जैनजगत' का नाम बदलनेके विषयमें मैं आपके विचारोंकी सराहना किये बिना नहीं रहसकता। उन विचारोंमें उदारता कूट कूटकर भरी हुई है। आपने जो नया नाम 'सत्य सेवक' सोचा है वह मुझे ज्यादह अच्छा नहीं लगता। यदि आप 'सत्यजगत्' या 'सत्यसमाज' में से कोई पसन्द करें तो ठीक होगा, क्योंकि इनमेंका हरएक नाम अपनी अपनी विशेषता रखता है। 'सत्यजगत्' नाम पर तो 'जैनजगत' नामकी छाप है। 'सत्यजगत्' से एक दम 'जैनजगत्' की याद आजाया करेगा। और 'सत्य समाज' में यह खूबी है कि यह जिस समाजका मुख पत्र होगा उसका नाम भी यही है। यदि इन दोनों नामोंमें आपको कोई नाम न जँचे तो मैं कहूँगा कि 'सत्य संदेश' नाम बहुत अच्छा रहेगा 'सत्यसेवक' से नम्रता अवश्य प्रकट होती है, परन्तु कुछ पुराने ढङ्गका होनेसे कहीं अच्छा मालूम नहीं देता। —रघुवीर शरण जैन, अमरोहा।

उदयपुरके पञ्चोंकी ओरसे चेतावनी।

खण्डेलवाल जैन हितेच्छु अंक २४-२५ ता० १०-१०-३४ तथा जैनगजट अंक ४९ में उदयपुर दिगम्बर जैन समाजकी ओर से कतिपय व्यक्तियोंने अपने विषय कषायोंको पुष्ट करनेके लियेही 'सकल दिगम्बर जैनसमाजको आवश्यक सूचना' शीर्षक समाचार प्रकट कराये है। वे बिलकुल निर्मूल है।

उदयपुर जैनसमाजकी ओरसे कोई समाचार जैनगजट व खण्डेलवाल जैन हितेच्छुको, जैनजगतमें प्रकाशित समाचारोंके खिलाफ नहीं भेजे गये। और जिन लोगोंके हितेच्छुमें दस्तखत निकले हैं, वे वाह्-वाहीका सेहरा प्राप्त करनेके लिये ही सुधर्मसागरजी के अनन्य शिष्योंमेंसे हैं। सुधर्मसागरजी यद्यपि जिनलिंग धारण करनेसे आदर्श व पूज्य हैं, तथापि वे अपने मनोमन्तव्यको 'दान विचार', 'सूर्य प्रकाश' एवं 'चर्चा सागर' जैसे भ्रष्ट ग्रन्थोंमें प्रकट कर चुके हैं और अब भी इन कुत्सित विचारोंको यद्वा तद्वा किसीके समक्ष प्रगट भी कर देते हैं। श्रीमान् पूज्य आचार्यवर्य शान्तिसागरजी महाराज अवश्य तपोरत्न हैं, और उनके आदर्शका समाजपर बहुत कुछ असर है, लेकिन ऐसे तपस्वी ऋषिराज अपने शिष्योंकी उच्छृंखलताको दूर करनेके लिये क्यों नहीं प्रयत्न करते? यह जरूर उनकी कमजोरी है। अस्तु, प्रकटित नामावलीमें कई व्यक्ति जैनजगतसे घनिष्ट सम्बन्ध रखते हुए भी उसे बहिष्कृत पत्रकी उपाधि देरहे हैं। यह बगुले भक्तकी सी प्रवृत्तिका द्योतक है। और उन हस्ताक्षर करने वालोंमें कई एक ऐसे है, जो सच्चे देव शास्त्र गुरुके असली स्वरूपसे अनभिज्ञ ही नहीं, प्रत्युत जिन्हें णमोकार मन्त्रका शुद्ध उच्चारण करना भी दुर्लभ है। इसीसे ये लोग अपने मनकी सी बात करते और सुधर्मसागरजीको साक्षात् परमात्मा समझते हैं। ऐसेही भक्त सन्मानित पदसे विभूषित हैं।

वे लोग जैनजगतमें प्रकाशित समाचारोंको सरासर सत्य जानते हुए भी असत्य ठहरानेकी कुचेष्टा करते हैं। क्या वे जैनधर्मके प्रधान अंग 'सत्य' का खून करके सूर्यके ऊपर धूलि फेंकनेकी उक्तिको चरितार्थ नहीं करते हैं?

पाँच वर्ष पूर्व जिस जैनजगतने मुनीन्द्रसागरजी की जीवनीको कपटपूर्ण ठहरानेका साहस किया था, क्या उससमय उसको मुनिनिन्दक पदसे विभूषित नहीं किया? फिर भी जैनजगत्—पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषो कपिलादिषु। युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः—आदि आर्षोक्ति उद्देश पर दृढ़ रहा, तो आज उस ही मुनीन्द्रसागरका कपटपूर्ण व्यवहार समाजके सामने आगया।

इतना होते हुए भी जैनमित्र व जैनजगतको घृणा की दृष्टिसे देखना समाजको रसातलकी ओर ढकेलना नहीं है तो क्या है? सुधर्मसागरजीको तेरह पंथ बीसपंथका पक्ष नहीं है—यह कहना भी बहुत विवादापन्न है। निष्पक्ष व्यक्ति किसी पक्षका आश्रय नहीं लेते। फिर उनका पुष्प-पूजन, गंधलेपन, पंचामृताभिषेक, स्त्रीप्रक्षाल, रात्रिपूजन आदिका नियम

दिलाना क्या पक्षपातको सूचित नहीं करता ? उनको बीसपंथका पक्ष है, इस बातको साबित करनेके लिए हमारे पास काफी प्रमाण हैं, जो समय आने पर प्रकट किये जायेंगे। आप वीरभक्तों, आप सत्यके उपासक हैं, जैनधर्मके आदर्शको प्राणीमात्रका आदर्श समझते हैं। फिर उसीमें धर्मके नामसे पाखण्डका समावेश करने वाले व्यक्तियोंकी पीठ ठोकते हो ! सचमुच यह अवस्था दयनीय है। उठो, प्रपंचियोंके जालजालसे जैनधर्मको बचाओ। —सत्यप्रेमी।

द० भगवतीलाल बैद   द० कनकमल सोनी
द० कालूराम सांगानेरिया   द० निहालचन्द सोनी
द० छोगालाल गदिया   द० जेवरलाल बड़जात्या
द० जवानमल अजमेरा   द० नेमीचन्द गदिया
द० गुलाबचन्द लुहाड़िया

मुनिविहार-रक्षा आंदोलन—इंदौर राज्यने नग्नविहारके सम्बन्धमें जो प्रतिबंध लगाया है उसके सम्बन्धमें लिखते हुए श्रीमान पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने जैनगजटके दूसरे अंकमें एक स्थलपर लिखा है कि—"जो पुरुष इस संसार दशा और मोह मायासे सर्वथा विरक्त हो जाते हैं, एवं मनसावाचा कर्मणा पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं, वे ही ऐसा नग्न रूप धारण करते हैं।" शास्त्रीजीका यह कथन कितना मिथ्या है, यह बतलानेके लिये विशेष दृष्टान्त करनेकी आवश्यकता नहीं। मुनीन्द्रसागर, जयसागर आदिके व्यभिचारकाण्डोंको अभी समाज नहीं भूला है। ये लोग वर्षों नग्न रहे और फिर भी मनमाने तौर पर व्यभिचार सेवन करते रहे। मुनीन्द्रसागर को मुनिवेष रखते हुए ही कई बार सोजाक हुआ। इसकी पापपूर्ण कथाएँ विस्तारपूर्वक प्रकट हो चुकी हैं और आज तक उसके किसी भी भक्तने उन्हें झूठा प्रमाणित करनेका साहस नहीं किया है। इसी तरह और भी कई मुनिवेषियोंकी लीलाएँ प्रकट हो चुकी हैं। हमारा केवल यह अभिप्राय है कि केवल नग्न रहनेसे ही कोई संसार दशा और मोहमायासे विरक्त एवं मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण ब्रह्मचारी नहीं माना जासकता; और वेषोंकी तरह नग्नवेषमें भी पाप छुप सकता है।

आज दिगम्बर जैनसमाज मुनिविहाररक्षक कमेटी बनाती है और उसके नामसे मुनियोंके विहार के प्रतिबंध दूर करानेके लिये भारतव्यापी आंदोलन उठाती है। लेकिन आश्चर्य तो यह है कि मुनिविहार रक्षा करनेसे पहिले मुनिधर्मरक्षा करनेकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। कोई ऐरा गैरा कपड़े उतारकर नंगा होजाता है और समाज द्वारा वह साक्षात् मुनिकी तरह पुजने लगता है। बड़े बड़े शास्त्री व दिग्गज विद्वान् कहानेवाले व्यक्ति उसके असली रूपको जानते हुए भी उसके पाँवोंमें अपना मस्तक रगड़ते हैं और यह कहते नहीं लजाते कि हमतो वेषको पूजते हैं—मानो मुनिमें किसी गुणकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। पाखंडियोंके इस प्रकार नग्नतांडवके कारण मुनिधर्म कलंकित हो रहा है, मुनिमात्रसे लोगोंकी श्रद्धा हटती जा रही है, लेकिन समाजकी व उसके स्वयम्भू नेताओंकी निद्रा भंग नहीं होती।

जैनी लोग वेषको पूजना चाहते हैं तो वे शौकसे पूजें अगर वे लोग नग्न व्यभिचारियोंके पापोंपर पर्दा डालकर उपगूहन अंगके नामपर उनका पोषण करना चाहते हैं तो खुशी से करें परन्तु समझमें नहीं आता कि वे लोग समस्त जनताको, जो जैन सम्प्रदायमें दीक्षित नहीं है, गुणरहित नग्नताको वेषधारियोंको बर्दाश्त करनेके लिये कैसे मजबूर कर सकते हैं?"

अगर हम चाहते हैं कि हमारे मुनियोंका जनता में आदर हो, वे सम्मानपूर्वक देखे जायें तो सबसे प्रथम हमारा यह कर्तव्य है कि हम लोग स्वयं मुनिसंस्थापर नियंत्रण रखें। जो अयोग्य व्यक्ति हमारे प्रमादवश मुनि बनगये हैं उन्हें शीघ्रातिशीघ्र मुनिपदसे पृथक करें तथा आगेके लिये ऐसी व्यवस्था करें जिससे "संसारदशा और मोहमायासे सर्वथा विरक्त एवं मनसा वाचा कर्मणा पूर्ण ब्रह्मचारी" ही मुनि बन सकें। तभी हमारा मुनिविहाररक्षा सम्बन्धी आन्दोलन कुछ अर्थ रख सकता है।

—एक स्पष्टवक्ता।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. **Reg: No. N. 352.**

वर्ष १० | ता० १६ दिसम्बर | सन १९३४ | अंक २

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र ।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र । | एक प्रतिका मूल्य दो आने ।

जैन जगत्

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।
सर्वतीर्थकृतामस्माकम्, शिवं सत्यमयं वचः ॥

सम्पादक—साहित्यरत्न दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई । | प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर ।

प्राप्ति स्वीकार ।

जयपुरनिवासी श्रीमान लक्ष्मनलालजी शाहने जैनजगत्‌की सहायतार्थ ?) प्रदान किये हैं । धन्यवाद । —प्रकाशक ।

मुनिवेषी चन्द्रसागरजीकी विचित्र लीला ।

खुशालचन्दजी पहाड़ियाका नाम चन्द्रसागरकी अपेक्षा ज्वालासागर विशेष उपयुक्त मालूम होता है। इन्होंने आगरामें श्री लोहड़साजन—बड़साजन प्रश्न को लेकर समाजमें जो कलह फैला रक्खी है, वह सर्वविदित है। आप साक्षात् क्रोधकी मूर्ति हैं। क्रोधके आवेशमें आकर इन्होंने अपने गुरु श्री शान्तिसागरजीका अपमान किया तथा उनसे विद्रोह कर अपना संघ अलग कायम कर लिया। पिछले दो चातुर्मासोंके समय जयपुर व अजमेरमें इन्होंने जो समताण्डव किया था उसका समस्त विवरण पहिले प्रकाशित हो चुका है। इस बार इनका चातुर्मास कुचामनमें हुआ था। चातुर्मासके प्रारम्भमें ही इन्होंने एक आर्यिकाको तंग करना शुरू किया और उसके खिलाफ यहाँ तक आंदोलन उठाया कि आपने यह घोषणा करदी कि जो श्रावक उस आर्यिकाको एकबार भी आहार देगा उसके यहाँ आगे मैं कभी आहार न लूँगा। श्रावकोंमें दो दल—एक चन्द्रसागरजीको आहार देने वालोंका तथा दूसरा आर्यिकाको आहार देने वालोंका—बने और किसी तरह चातुर्मास खतम हुवा। इस कारण जैनियोंको बड़ा सदमा हुई परन्तु चन्द्रसागरजीको इससे सन्तोष नहीं हुवा और इसलिये उन्होंने एक नया झगड़ा और खड़ाकर दिया। आपने अपने साथके क्षुल्लकों को थाली व कटोरियाँ श्रावकोंसे दिलवा कर उन्हें आज्ञा दी कि तुम सात घरसे रोटियाँ माँगकर यहाँ लाकर खाओ। तदनुसार क्षुल्लक जयसागरजी भँवरलालजी बाकलीवाल, कज्जूलालजी काला, मानमलजी पाटोदी, मौजीरामजी पहाड़िया आदिके यहाँ से रोटियाँ माँगकर लाये और चन्द्रसागरजीके सामने रखकर बोले—मैं गृहस्थ था तबही मैंने सखरी रोटी आदि खानेका त्याग कर दिया था। अब आप साधु बनाकर सखरी रोटियाँ खिलाते हैं तथा इस तरह भीख मँगवाते हैं। मैं इन्हें नहीं खा सकता। इसपर चन्द्रसागरजी बहुत बिगड़े और अनाप शनाप बकने लगे। ज्ञानसागरजीने चन्द्रसागरजीको शान्त करनेकी चेष्टा करते हुए समझाया कि—मुनि बननेसे पहिले तुम भी क्षुल्लक रह चुके हो। क्या तब तुम इसीप्रकार रोटियाँ माँगकर लाकर खाते थे? क्यों वृथा इन लोगोंको सताते हो? आदि, परन्तु चन्द्रसागरजी इसपर शान्त होने के बजाय और अधिक भड़के

और श्रुतसागरजी से हाथापाई करने लगे ! उन्हें पिच्छीसे मारा ! इस नारकीय लीलाका यहीं अन्त नहीं हुवा। चन्द्रसागरजीने जयसागरजीकी पछेवड़ी (चादर) व कमंडलु छीन लिया। इसपर जयसागरजी कुचामणसे ५ मील दूर पदमपुरा चल दिये तथा श्रुतसागरजी नसियाँ चले गये। क्षुल्लक सिद्धिसागरजी तथा चन्द्रसागरजीके भी आपसमें बहुत झगड़ा हुवा। अजीब दृश्य था। श्रावक लोग उत्तम क्षमाधारी मुनिजीके क्रोधको शान्त करनेका ज्यों ज्यों प्रयत्न करते थे त्यों त्यों उनका पारा चढ़ताही जाता था। आखिर और कोई उपाय न देख चन्द्रसागरजीको कोठरीमें बन्द कर दिया गया। बादमें पंच लोग जयसागरजीको पदमपुरासे मनाकर वापिस लाये। चन्द्रसागरजी दूसरे रोजतक यही कहते रहे कि जयसागर क्षुल्लक पदके अयोग्य है इसलिये इसे वापिस गृहस्थ बना देना चाहिये। लेकिन पंचोंने अपने गाँवकी बदनामी न हो, इस खयालसे किसी तरह चन्द्रसागरजीकी खुशामद कर जयसागरजीको कमंडलु व पछेवड़ी वापिस दिलवा दिये।

पाठकोंको यह जानकर आश्चर्य होगा कि उपरोक्त घटनाओंके पश्चात् भी श्री० सेठ गम्भीरमलजी पाँड्याने इनके चातुर्मास समाप्तिके उपलक्ष्यमें रथयात्रा उत्सव किया तथा इन्हीं ज्वालासागरजीको खास तौरपर प्रसन्न करनेके लिये बिना किसी प्रकारकी पूर्व सूचना दिये योंही कुछ लोगोंको इकट्ठा कर श्री राजावाटी गोडावाटी प्रान्तिकसभाके नामसे अभिनय कर डाला और मनमाने तौरपर लोहड़साजनोंके विरोध में प्रस्ताव पास कर लिया। —संवाददाता।

कलकत्ताका रथोत्सव— गतवर्षोंकी भाँति इस बार भी कलकत्तामें मिती कार्तिक शुक्ला १५ से मिती मार्गशीर्ष कृष्णा ५ तक रथयात्रा महोत्सव अत्यन्त समारोहपूर्वक मनाया गया। इस वर्ष कलकत्तामें जो खंडेलवाल–जैसवाल विवाहसम्बन्ध हुआ था और इस कारण खंडेलवाल पञ्चायतके मनमाने पञ्चोंने पाँच नवयुवकोंको जातिबहिष्कृत करनेकी घोषणा की थी, इस कारण इस अवसरपर यहाँ काफी हलचल रही।

पाँच दिन तक समस्त दिगम्बर जैन भाइयोंके लिये सायंकालीन भोजन बेलगछियामें ही होता है। खंडेलवाल पंचायतके मनमाने पञ्च चाहते थे कि इन भोजनोंमें उक्त पाँच नवयुवकोंको सम्मिलित नहीं होने दिया जाय। अपना हठ रखनेके लिये इन लोगोंने बहुत परिश्रम किया, परन्तु हर्ष है कि कलकत्ताकी समस्त दिगम्बर जैनसमाजकी सभामें उनकी कुछ न चल सकी और उन्होंने किसीकी अनुचित हठ रखनेके लिये धार्मिक उत्सवमें किसीके लिये प्रतिबन्ध लगाना उचित न समझा। कतिपय खंडेलवालोंके बहुत हो-हल्ला करनेपर उन्हें एक तरफ अलग अपनी प्राइवेट गोठ करनेकी इजाजत दे दी गई।

पहिली जलेबके दिन श्रीजीकी बाईं ओरका चमर ढोलनेकी बोली २०१) में श्री० रतलालजी झाँझरीने ली। उन कलहप्रिय खंडेलवाल पंचम्मन्यों को यह सहन न हो सका कि उनका तिरस्कृत व्यक्ति सरेआम श्रीजी पर चमर ढोलता हुआ चले तथा खंडेलवाल पंचायतका निर्णय इस प्रकार ठुकराया जाय। अतः उनमें से कई लोग राहसे ही वापिस लौट गये। बेलगछिया पहुँचकर खंडेलवालोंकी गोठमें इनेगिने आदमी जीमे। पंच लोग बुरी तरह झुँझला रहे थे। गोठमें जीमनेवालोंकी संख्या बढ़ानेके लिये बेलगछिया ले जाने तथा वहाँसे वापिस लानेके लिये मोटरबसोंका इन्तजाम किया, लोगोंपर दबाव दिया गया तथा अजैनों तकको शामिल किया गया परन्तु रंग फीका ही रहा।

लौटती रथयात्राके दिन खंडेलवाल पंचोंने इस बातके लिये बहुत प्रयत्न किया कि बहिष्कृत व्यक्तियों में से कोई व्यक्ति किसी प्रकारकी बोली न लेसके। इसकारण बोलियोंके मूल्य खूब बढ़े। जो एक डाक पहिली जलेबमें १२१) में हुई थी, उसके इस बार ६०१) लगे। हर तरह धाँधली करनेपरभी आखिर एक डाक ४५१) में श्रीमान बा० राजेन्द्रकुमारजी लुहाड़ियाने ले ही ली। विरोधियोंके चेहरे फीके पड़ गए। उनकी कोई हठ न चलसकी और वृथा हर तरह लांछित व तिरस्कृत होना पड़ा। इसका सारा कलंक पाँड्या बैनाड़ा ऐन्ड कम्पनी पर लगा जिन्हें प्रायः सभी समझदार लोग बुरीतरह धिक्कार रहे थे। रथोत्सवमें श्री० पं० परमेष्ठीदासजी रचित 'विजातीय विवाह-मीमांसा' का खूब प्रचार हुवा। —संवाददाता

वर्ष १०

मार्गशीर्ष शुक्ला ११

वीर संवत् २४६१

जैनजगत्

अंक २

ता० १६ दिसम्बर

सन् १९३४ ई०

भगवान सत्य !

पट खोल खोल !

मंदिरके तू पट खोल खोल !!

कबसे मैं यहाँ खड़ा हूँ ।

आशामय बना पड़ा हूँ ।

तेरे ही लिये अड़ा हूँ ।

निश्चयका बड़ा कड़ा हूँ ।

मुझसे दो बात बोल बोल !! मंदिरके.... ॥१॥

मैं ढूंढ फिरा जग सारा ।

भटका मैं मारा मारा ।

मैं ठगा गया बेचारा ।

तू मिला न मेरा प्यारा ।

मैं हार गया अब डोल डोल । मंदिर.. ॥२॥

गिरजाघर में तू जाता ।

मसजिदमें भी दिखलाता ।

मंदिरमें भी तू आता ।

पर पता न कोई पाता ।

तू है अलभ्य अनमोल मोल । मंदिरके....॥३॥

शास्त्रोंने जिसको गाया ।

मुनियोंने जिसे मनाया ।

तीर्थंकरने जो पाया ।

थी सब तेरी ही छाया ।

तू है अडोल पर लोल लोल । मंदिरके....॥४॥

तेरा ही टुकड़ा पाकर ।

बनते हैं धर्म-सुधाकर ।

जैनधर्मका मर्म ।

(५४)

भोजनके विषयमें और भी बहुतसे नियम हैं जैसे अमुक चीजको देखकर भोजन नहीं लेना आदि; परन्तु इन सबका उद्देश्य यही था कि जिससे मनुष्य सहृदय बना रहे । कोई मनुष्य रो रहा हो और साधु भोजन करे तो इससे कुछ स्वार्थपरता या निर्दयता मालूम होती है, अथवा किसी भक्ष्य पदार्थमें मांस आदिका संकल्प हो जाय और फिर भी उसे खाया जाय तो इसमें अभक्ष्यसे ग्लानि घट जाती है । साधक अवस्थामें इन मनोवृत्तियोंको बनाये रखनेकी आवश्यकता होती है, परन्तु इन अन्तरायोंके होने पर भोजनका छूट जाना एक बात है और छोड़ देना दूसरी बात । बहुतसे लोगोंको ग्लानि तो होती नहीं है, परन्तु दिखानेके लिये छोड़ देते हैं, तथा दूसरे लोगों पर बिगड़ पड़ते हैं । इस प्रकारकी कृत्रिमता अनावश्यक है । स्वच्छताके नियमोंका पालन करना तथा हिंसा आदिसे बचे रहना उचित है । परन्तु कुत्ते के भौंकनेसे और बिल्लीके बोलनेसे अन्तराय मानना, छोटे छोटे बहाने निकालकर भोजन छोड़कर भोजन करानेवालेको लज्जित करना उचित नहीं है । भोजन तभी छोड़ना चाहिये जब स्वभावसे इतनी ग्लानि आ

करुणाकर मनमें आकर ।

हममें मनुष्यता लाकर ।

चित् शान्ति सुधारस घोल घोल । मंदिरके...॥५॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त) ।

जाय कि भोजन न किया जाय। इस विषयमें नियम बनाना या अन्तरायोंकी संख्या गिनाना अनावश्यक है।

एषणा समितिपर विचार करते समय सचित्ता-चित्त पर विचार करना भी आवश्यक है। मांस वगैरह त्रसहिंसाजन्य पदार्थोंका त्याग करना आवश्यक है। परन्तु जैनसमाजमें वनस्पतिके विषयमें कुछ बाह्याडम्बर फैला हुआ है। जैनाचार्योंने प्राणिशास्त्र का अध्ययन करके यह निर्णय किया था कि कुछ वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनमें अनन्त जीव रहते हैं। कन्दमूल आदि इसी श्रेणीमें समझे जाते हैं। तथा वनस्पतियोंकी कुछ अवस्थाएँ ऐसी हैं जब उनमें अनन्त जीव होते हैं। वनस्पतिमें जब नसें नहीं मालूम होतीं, उनकी त्वचा बहुत मोटी होती है या दल से मिली रहती है, तब भी वे अनन्तजीववाली होती हैं। जैनाचार्योंकी यह खोज अवश्य ही उनकी अध्ययनशीलताका परिचय देती है।

परन्तु इसी आधारपर जो भक्ष्याभक्ष्यका विचार चल पड़ा है वह ठीक नहीं है। किसी वनस्पतिमें अनन्त जीव माननेका यही अर्थ है कि उनमें इतने अधिक जीव हैं जितने हम गिन नहीं सकते। यह बहुत सम्भव है कि उनमें [illegible] न हों, परन्तु सिर्फ इसी [illegible] अभक्ष्य कहना अनुचित है। क्योंकि एक शरीरमें अनन्त या असंख्य [illegible] रहते हैं इसका अर्थ यही है कि उन जीवोंका विकास बहुत थोड़ा हुआ है उनमें चैतन्यकी मात्रा प्रत्येक वनस्पतिकी अपेक्षा अनन्तवें भाग है। ऐसी हालतमें इन अविकसित साधारण प्राणियोंका भक्षण करना प्रत्येक वनस्पतिके भक्षणकी अपेक्षा कुछ अधिक उचित है। जिसप्रकार अनेक एकेन्द्रिय जीवोंको मारनेकी अपेक्षा एक त्रसकी हत्यामें अधिक पाप है, इसी तरह अनेक साधारण वनस्पतिको मारनेकी अपेक्षा एक प्रत्येक वनस्पतिके मारनेमें अधिक पाप है। परन्तु प्रत्येक वनस्पतिका भक्षण करनेके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा अनिवार्य है इसलिये प्रत्येक तथा साधारण वनस्पति का विचार किये बिना हमें त्रसहिंसाका ही खयाल रखना चाहिये। हाँ, अनावश्यक स्थावरवध न करना चाहिये।

साधारण वनस्पतिका त्याग एक दूसरी दृष्टिसे उचित है, परन्तु वह सब साधारण वनस्पतियोंका नहीं। प्रत्येक वनस्पति भी एक समय साधारण अवस्थामेंसे गुजरती है, जब कि उसमें नस, गुठली आदि नहीं होती। जो वनस्पति अन्त तक साधारण रहनेवाली है उसके भक्षण करनेमें तो कोई दोष नहीं है जैसे आलू आदि। परन्तु जो वनस्पति साधारण अवस्थाको पार करके प्रत्येक वनस्पति बनेगी उसका उपयोग साधारण अवस्थामें न करना चाहिये। यह त्याग अहिंसाकी दृष्टिसे नहीं है किन्तु अपरिग्रहकी दृष्टिसे है। किसी फलको उसकी साधारण अवस्था में नष्ट करदेनेसे उससे उतना लाभ नहीं उठाया जा सकता जितना कि उसकी प्रत्येक अवस्थामें उठाया जासकता है। आमका एक फल कोई उस अवस्था में खाजाय जब उसमें गुठली, दल, और त्वचाका भेद ही नहीं था तो समाजकी सम्पत्तिमेंसे एक फल को बर्बाद करदेना है। साधारण वनस्पतिके त्यागकी उपयोगिताका यह छोटासा प्रमाण है। इसे नियमका रूप नहीं दिया जासकता। हाँ, इसे भावना कह सकते हैं। मनुष्यको इसप्रकारकी भावना रखना चाहिये तथा किसी अच्छे कार्यमें बाधा डाले बिना यथाशक्ति ऐसी साधारण वनस्पतिकी हिंसासे बचे रहना चाहिये।

एषणा समितिके विषयमें बहुत बातें हैं, परन्तु इतने विवेचनसे उसका मर्म समझमें आजाता है। वर्तमानमें जो एषणा समितिका रूप है वह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके बदल जानेसे अनावश्यक है। जो सुधरा हुआ रूप ऊपर बताया गया है वह उत्तरगुणोंमें रखने लायक है, मूलगुणोंमें नहीं।

आदाननिक्षेपण समिति— प्रत्येक वस्तुको यत्नपूर्वक, हिंसाको बचाते हुए उठाना रखना आदाननिक्षेपण समिति है। इसको भी भावना या उत्तरगुणोंमें रख सकते हैं, इसे मूलगुण नहीं बनाया जा

सकता। इसके अतिरिक्त हिंसा अहिंसाका विचार भी सब जगह एक सरीखा नहीं किया जासकता। मानलो एक आदमी मकान बना रहा है; ऐसी अवस्थामें वह छोटे छोटे कीड़ोंकी रक्षाका विचार उतना नहीं कर सकता जितना कि पुस्तकके उठाने रखनेमें कर सकता है। इसीप्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये।

प्रतिष्ठापना समिति- वनस्पति तथा त्रसजीवों से रहित शुद्ध भूमिमें मलमूत्र आदिका क्षेपण करना प्रतिष्ठापना समिति है। यह भी भावना रूपमें ही रक्खी जासकती है, व्रतरूपमें नहीं। आजकल नगरों की रचना ऐसी है कि वहाँ जंगलमें या छोटे छोटे गाँवोंमें रहनेके नियम नहीं पाले जासकते। ट्रेन तथा जहाजमें यात्रा करनेपर भी इस विषयमें विशेष यत्न नहीं किया जा सकता। समाजसेवाके लिये नगरमें रहने, रेल और जहाजमें यात्रा करनेकी बहुत बार आवश्यकता होती है, इसलिये साधुको इनसे विरत करना उचित नहीं है। इसलिये प्रतिष्ठापना समितिका अर्थ द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार करना होगा, तथा इसे मूलगुणोंमें तो रख ही नहीं सकते।

इसप्रकार ये पाँच समितियाँ उपादेय होने पर भी मूलगुणमें शामिल नहीं की जासकतीं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी इन्हें मूलगुणमें शामिल नहीं किया है।

इन्द्रियनिग्रह—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, नेत्र और कान ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पर विजय प्राप्त करना या इनका दमन करना भी साधुके मूलगुण हैं। ये पाँच मूलगुण दोनों सम्प्रदायोंमें माने गये हैं।

इन्द्रियोंके दमन करनेका यह अर्थ नहीं है कि कोई व्यक्ति कोमल स्वच्छ वस्तुका स्पर्श न करे, स्वादिष्ट भोजन न करे, सुगन्धित स्थानमें न जावे, सुंदर दृश्य न देखे, संगीत न सुने आदि; किन्तु इसका अर्थ सिर्फ आसक्तिका अभाव है। इन्द्रियोंके विषयमें उसे इतना आसक्त न होना चाहिये कि वह कर्तव्य करने में प्रमादी होजावे अथवा दूसरोंके न्यायोचित अधिकारोंकी पर्वाह न करे।

साधुको चाहिये कि वह इन्द्रियोंके अनिष्ट विषय प्राप्त होनेपर भी अपनेको स्थिर रखे। किसीके यहाँ जाने पर यदि रूखा सूखा भोजन मिले तो भोजनदाताका मनसे, वचनसे, शरीरसे, तिरस्कार न करे। यदि घरके आदमीने कुछ भोजनमें गड़बड़ी कर दी है तो सुधारके लिये प्रेमपूर्वक समझानेके सिवाय और कोई उग्र व्यवहार न करे। सदा संतोष और प्रसन्नतासे भोजन करे हाँ, जो भोजन अस्वास्थ्यकर है उसे चाहे न ले। अथवा जो इतना बेस्वाद है जिसे खाना कठिन है तो थोड़ा खावे परन्तु इसके लिये किसीका अपमान न करे, किसीको दुःखी न करे।

संगीत आदि मनोविनोदके त्यागकी भी आवश्यकता नहीं है परन्तु उसमें इतनी आसक्ति न हो जो कर्तव्यच्युत होना पड़े। रोगीकी सेवा छोड़कर, अपने हिस्सेका जीवनोपयोगी काम छोड़कर या और आवश्यक कर्तव्य छोड़कर संगीत सुनना या कोई खेल देखना अनुचित है।

धर्म और अर्थके समान काम भी जीवनमें आवश्यक तत्त्व है। व्यर्थ ही अपने चेहरेको मनहूस बनाये रहना अनुचित है। फिर भी कामका सेवन धर्म और अर्थका विरोधी न होना चाहिये। इसीलिये साधुको इन्द्रियदमनकी आवश्यकता है। परन्तु जो लोग इन्द्रियदमनके नामपर निरर्थक कष्ट सहन करते हैं, लगातार अनेक उपवास कर स्वास्थ्यको बिगाड़ लेते हैं और सेवा कराकर दूसरोंको परेशान करते हैं, वे इन्द्रियजयी नहीं है। किसी कार्यके औचित्यानौचित्यका विचार करते समय, सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखवाली नीतिको कसौटी बनाना चाहिये। एकाध दिनका भोजन बचानेके लिये या कष्टसहिष्णुताकी थोड़ीसी कसरत करनेके लिये दूसरोंको परेशान कर डालना अधर्म ही होगा।

कई लोग इन्द्रियविजयके नामपर अमुक वस्तुओं

का या रसोंका त्याग कर देते हैं, परन्तु अधिकतर यह त्याग निरर्थक ही है। शक्कर न खाकर किशमिश और छुहारा उड़ाना, घीका त्याग करके बादाम का तेल या बादामका हलुआ खाना अधिक भोग है। हाँ, जो वस्तुएँ हिंसकताकी दृष्टिसे अभक्ष्य हैं अथवा जो बहुत अस्वास्थ्यकर हैं उनका त्याग करना ठीक है; परन्तु ऊटपटाँग किसी भी चीजका त्याग करना अनावश्यक है। हाँ, अभ्यासकी दृष्टिसे कुछ भी करो परन्तु वह सब अपने घरमें करो अर्थात् ऐसी जगह करो जहाँ उससे किसीको कष्ट न हो।

अभ्यास कुछ त्याग नहीं है, किन्तु समय पड़नेपर त्याग किया जासके इसके लिये वह प्रारम्भिक व्यायाम है। परन्तु दूसरेके यहाँ जाकर इस व्यायामके प्रदर्शनकी कोई ज़रूरत नहीं है, बल्कि दूसरोंको कष्टप्रद होनेसे हेय है। सबसे बड़ा त्याग तो यह है कि मौके पर जो कुछ मिल जाय उसीसे प्रसन्नतापूर्वक अपना काम चला लेना। मैं यह नहीं खाता, वह नहीं खाता इत्यादि प्रतिज्ञाओंकी जरूरत नहीं है, किन्तु मैं यह भी खा सकता हूँ (अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक उससे अपनी गुजर कर सकता हूँ) वह भी खासकता हूँ इत्यादि प्रतिज्ञाओंकी जरूरत है। त्याग सिर्फ उन्हीं चीजोंका करना चाहिये, जो अन्यायसे पैदा होती हैं या प्राप्त होती हैं।

अगर किसीको त्याग करना हो तो उसे जाति की दृष्टिसे त्याग न करना चाहिये, किन्तु संख्याकी दृष्टिसे त्याग करना चाहिये। एक आदमीने दस शाकों का त्याग कर दिया परन्तु प्रतिदिन पाँचसात तरहकी शाक खाता है, इसके बिना उसका काम नहीं चलता किन्तु दूसरे आदमी ने किसी भी शाकका त्याग नहीं किया किन्तु वह प्रति दिन कोई भी एक दो शाक खाता है तो पहिलेकी अपेक्षा दूसरा त्यागी है। इतना ही नहीं किन्तु पहिलेको हम त्यागी ही नहीं कह सकते; कदाचित् दंभी तक कह सकते हैं। इसलिये अगर त्याग करनेकी आवश्यकता मालूम हो तो संख्याकी मर्यादा बाँध लेना चाहिये। और वह भी सिर्फ इसीलिये कि दूसरोंको कष्ट न हो। इन बातोंसे अपनेको त्यागी न समझ लेना चाहिये, क्योंकि इनका मूल्य बहुत तुच्छ है।

खाने पीनेकी बातको लेकर लोग त्यागका दंभ बहुत करते हैं, इसलिये इस विषयमें कुछ अधिक लिखा गया है परन्तु इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंके विषयमे भी विचार करना चाहिये। मुख्य बात यह है कि किसी भी इन्द्रियके विषयमें आसक्ति न हो। कोई भी विषय प्राप्त हो या न हो, परन्तु प्रसन्नता बनी रहे। आसक्ति कर्तव्यमें बाधक न हो इसका नाम इन्द्रिय विजय है। साधुके लिये यह आवश्यक है। अस्वाद व्रत भी इसीके अन्तर्गत है। परन्तु पाँच इन्द्रियोंके विजयको पाँच मूलगुण कहना अनावश्यक है। इस प्रकारके विस्तारकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये पाँचके बदले इन्द्रियविजय नामक एकही मूलगुण रखना चाहिये।

आवश्यक— दिगम्बर सम्प्रदाय में छः आवश्यकके नामसे छः कार्य* प्रसिद्ध हैं। १ सामायिक, २ चतुर्विंशतिस्तव, ३ वंदना, ४ प्रतिक्रमण, ५ प्रत्याख्यान, ६ कायोत्सर्ग। कहीं कहीं† पर प्रत्याख्यान के स्थान पर स्वाध्याय पाठ भी मिलता है, जोकि इसबात का सूचक है कि जिससमय जिस बातकी अधिक आवश्यकता होती है उसे उससमय मूलगुण में रख लिया जाता है, साधुताके समान साधुसंस्था के नियम स्थायी नहीं हैं।

सामायिक के बदले में दूसरा शब्द है समता। सुखदुःख में, शत्रुमित्र में समभाव रखना समता या सामायिक है। इस समताभाव के अभ्यास के लिये सामायिक की क्रिया भी प्रचलित है। दिनमें तीन बार—सुबह, मध्याह्न और सन्ध्या को — कुछ समय

* समदा थओ य वंदण पाडिक्कमणं तहेव णादव्वं। पच्चक्खाण विसग्गो करणी या वासयाछप्पि—मूलाचार २२।

† समता धर बन्दन करै नाना थुती बनाय। प्रतिक्रमण स्वाध्यायजुत कायोत्सर्ग लगाय॥ इष्ट छत्तीसी ११। शीघ्रतामें प्राचीन ग्रंथका उद्धरण न खोज सका।

के लिये ध्यान लगाकर स्थिर होना। अभ्यास की दृष्टि से एक समय यह क्रिया आवश्यक मालूम हुई होगी, परन्तु आज इसकी जरूरत नहीं है। हाँ, मनुष्य एकान्त में बैठे, अच्छे विचार करे, इसमें कुछ बुराई नहीं है, परन्तु आवश्यकता न होनेपर भी प्रतिदिन इतना समय खर्च करना निरर्थक है। हाँ, यहाँ सामायिक का जो समताभाव अर्थ किया गया है वह ठीक है, परन्तु इसका बहुतसा काम तो इंद्रिय निरोध से चलजाता है। उससे अधिक समभाव उचित होनेपर भी मूलगुण में शामिल नहीं किया जासकता। हाँ, साम्प्रदायिक समभाव या सर्वधर्मसमभाव अनिवार्य है, इसलिये उसे मूलगुणमें अवश्य गिनना चाहिये। दूसरे शब्दोंमें स्याद्वादका सच्चारूप उसे जीवनमें उतारना चाहिये। इसप्रकार का समभाव मूलगुण में रखना आवश्यक है।

यद्यपि यह समभाव सम्यग्दर्शनमें ही आवश्यक है इसलिये यह जैनत्वकी मुख्य शर्त है, तथापि इस विषयमें इतनी गलतफ़हमी है और इसकी तरफ लोगों की इतनी उपेक्षा है कि इसकी तरफ जितना अधिक ध्यान आकर्षित कराया जाय उतना ही थोड़ा है। सर्वधर्मसमभावरूप समता प्रत्येक श्रावक को आवश्यक है, परन्तु जो साधुसंस्था में जुड़ रहा है उसे तो और भी अधिक आवश्यक है। इसलिये मूलगुणों की नामावलीमें इसका नाम सबसे पहिले रखना चाहिये। जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके बिना चारित्र की उत्पत्ति और स्थिति नहीं मानी जाती उसी प्रकार इस सर्वधर्मसमभावके बिना साधुता नहीं होसकती।

दूसरा आवश्यक **चतुर्विंशतिस्तव** है। महापुरुषोंकी स्तुति करना, उनका गुण गान करना उचित है। परन्तु यह गुणगान किसी सम्प्रदायके महापुरुषों में क़ैद न रहना चाहिये, और न उसमें चौबीसकी संख्या नियत रहना चाहिये। अपनी अपनी रुचि और परिस्थितिके अनुसार महापुरुषोंकी प्रशंसा करना उचित है, फिर वह एककी की जाय या दस की। इसलिये इस आवश्यकका नाम चतुर्विंशतिस्तव नहीं किन्तु महापुरुषस्तव रखना चाहिये। साथ ही यह भी न भूल जाना चाहिये कि पुरुष शब्द आत्मा अर्थमें है इसलिये महापुरुषोंमें आदर्श महिलाओंका भी नाम आजाता है।

इसप्रकार यह **महापुरुषस्तव** उचित होने पर भी मूलगुणमें नहीं रक्खा जासकता, क्योंकि साधुसंस्थाके लिये यह आवश्यक नियम नहीं है। अवकाश और इच्छा होने पर उनकी स्तुति करना चाहिये, न हो तो न सही। हाँ, साधुओंका कोई आश्रम बनाया जाय और उसमें इसप्रकारकी प्रार्थना रक्खी जाय तो कोई हानि नहीं है, परन्तु उसमें सिर्फ महापुरुषस्तव ही न होगा किन्तु सत्य अहिंसा आदि गुणोंका स्तव भी होगा। फिर भी इस प्रार्थनाको अनिवार्य नियमका रूप नहीं दिया जासकता क्योंकि साधुताके साथ इसका घनिष्ट सम्बन्ध नहीं है।

तीसरा आवश्यक **वन्दना** है। इसमें मूर्तिके आगे प्रणाम करना, अपनेसे जो पूज्य हों उनको नमस्कार करना आदिका समावेश होता है। महापुरुषस्तव वचनरूप पड़ता है, और यह शरीरकी क्रिया रूप पड़ता है; परन्तु इन दोनोंमें कोई मौलिक भेद नहीं है। ऐसे छोटे छोटे अन्तर निकालकर मूलगुणोंकी संख्या बढ़ाना उचित नहीं मालूम होता।

दूसरी बात यह है कि जिसप्रकार महापुरुषस्तव को मूलगुणोंमें शामिल नहीं किया है, उसी प्रकार यह वन्दना भी मूलगुणमें शामिल नहीं किया जासकता। हाँ, इसका करना बुरा नहीं है, बल्कि उचित है।

चौथा आवश्यक **प्रतिक्रमण** है। इसका अर्थ है अपराध-शुद्धि। हम से जानमें या अनजानमें जो दोष होगये हों उनसे वापिस लौटना अर्थात् मनसे, वचनसे, शरीरसे पश्चात्ताप करना प्रतिक्रमण है। सचमुच यह आवश्यक ही नहीं, अत्यावश्यक है। यद्यपि इसका पूर्ण रूपमें पालन करना कठिन है, फिर भी इसको पूर्णरूपमें पालन करनेकी यथाशक्ति चेष्टा

करना चाहिये। यथाशक्ति चेष्टा ही पूर्णरूपमें पालन करना कहलाता है।

आजकल तो प्रतिक्रमण पाठमें जीव के भेद प्रभेद गिनाकर, उनके कुल और योनियोंकी गिनती बताकर सबसे क्षमा माँगली जाती है। निःसन्देह इसके मूलमें सर्व जीवसमभावकी भावना है, परन्तु आज तो यह क्रिया ऐसीही है जैसे कि किसी बीमार की बीमारी दूर करनेके लिये उसके शरीरको चारों तरफ़ झाड़से झाड़ देना। शरीरके चारों तरफ़ झाड़ू फेर देनेसे बीमारी नहीं झड़जाती, उसी प्रकार प्रतिक्रमण पाठकी झाड़ू फेरनेसे अपराध नहीं झड़जाते। अपराध-शुद्धिके लिये हमें अपराधपर ही झाड़ू फेरना चाहिये। उससमग्र दुनियाँ भरकी गिनती गिनाना वास्तविक अपराधको चिकित्साके बाहर करदेना है अर्थात् उसपर उपेक्षा कर जाना है।

इन जीवोंकी गिनती गिनानेमें अन्धविश्वाससे काम लेना पड़ता है। जैनशास्त्रोंमें प्राणिशास्त्र तथा स्वर्ग नरक आदिका वर्णन है। उसको विश्वासके साथ ताजा रखना पड़ता है परन्तु इस विषयमें नई नई खोजें हुई हैं, होरही हैं, होंगी और उनसे वर्तमान मान्यताओंमें बहुत कुछ परिवर्तन भी पड़ सकता है। इसलिये आवश्यक मालूम होता है कि प्रतिक्रमण सरीखे आत्मशोधक कार्यमें से प्राणिशास्त्रकी चर्चाको अलग करदें। साधारणतः एक वाक्यमें सर्व प्राणियोंका स्मरण करलें। परन्तु यहाँ तकका सारा-कार्य तो एक प्रकारकी भूमिका हुई। सच्चा प्रतिक्रमण करनेके लिये तो यह आवश्यक है कि जहाँ अपराध है वहीं उसकी शुद्धि की जाय। यदि हमारे मुँहसे किसीके विषयमें अनुचित शब्द निकल गया है तो उसे स्वीकार करना, अथवा शक्य न हो तो अपने ही आप उसका पश्चात्ताप करना आवश्यक है। जिनके हम अपराधी हैं उनके विषयमें तो कुछ ध्यान ही न दें और दुनियाँभरके जीवोंसे माफी माँगनेका ढोंग करें, इस दंभका कुछ मूल्य नहीं है। अपने विशेष पापोंका शोधन करना ही प्रतिक्रमणका उद्देश है। प्रतिक्रमणके लिये किसी नियत समयकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता सिर्फ इतनी है कि वह अपराधके बाद जितनी जल्दी किया जाय उतना ही अच्छा है। अपराधके जितने अधिक समय बाद प्रतिक्रमण किया जायगा, उसका मूल्य उतना ही कम होगा।

प्रश्न— जो काम हो गया सो हो गया। अब उसके नाम पर रोनेसे क्या फ़ायदा? अब तो आगे का विचार करना चाहिये।

उत्तर— आगेका विचार करनेके लिये ही पीछे का रोना है। अपने किये हुए कामकी बुराईको अगर कोई स्वीकार न करे, उसकी निन्दा न करे तो वह भविष्यमें उससे क्यों बचेगा? भविष्यकी शुद्धिके लिये ही यह भूतालोचना है। दूसरी बात यह है कि जगत्की शान्तिके लिये तथा आधेसे अधिक अनर्थोंको रोकनेके लिये प्रतिक्रमणकी आवश्यकता है। प्रतिक्रमणसे द्वेष वासना दूर होजाती है, और द्वेष वासनाका दूर होना अधिकांश अनर्थोंका दूर होजाना है। द्वेषका सद्भाव जितना दुःखप्रद है उतना बाह्य कष्ट नहीं। विनोदमें किसीको कितनाही मारो उसे दुःख नहीं होता, परन्तु क्रोधसे आँख दिखलाना ही अपमान दुःख आदिका कारण होजाता है। यह साधारण उदाहरण जीवनके प्रत्येक कार्यमें मूर्तिमान रूपमें दिखाई देता है। व्यवहारमें जो अनेक प्रकारकी शत्रुताओंका अस्तित्व पाया जाता है, वह सिर्फ इतनीही बातसे दूर होसकता है कि हम अपनी ग़लती सच्चे दिलसे स्वीकार करलें। मानव-हृदय ही नहीं, प्राणिहृदय प्रेमका भूखा है। प्रतिक्रमणमें यही प्रेम प्रगट होता है, इसलिये प्रतिक्रमण अत्यावश्यक है।

यहाँ जिन आवश्यकोंका वर्णन किया जाता है उनके स्थानमें यह प्रतिक्रमणही रक्खा जाना चाहिये। बाक़ी आवश्यकोंमें जो उपादेय तत्त्व हैं, वे भी इसीके भीतर डाले जा सकते हैं। स्तुति, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि प्रतिक्रमणकी भूमिका मात्र हैं। इसलिये साधु के लिये प्रतिक्रमण मूलगुणमें रखना उचित है।

यह बात पहिले भी कही जाचुकी है कि संयमको

नियमोंसे नहीं बाँधा जासकता, इसलिये प्रतिक्रमण भी नियमोंसे नहीं बाँधा जासकता। प्रतिक्रमणका क्या लक्ष्य है, इस बातको समझकर, हानि लाभको तौल करके शुद्ध अन्तःकरणसे इसका पालन करना चाहिये। इसलिये कहाँ, कब, किसके साथ, कैसा प्रतिक्रमण करना चाहिये—यह सब विचारणीय है परंतु ध्येयकी तरफ दृष्टि लगाकर अगर इसका पालन किया जाय तो प्रतिक्रमण सम्बन्धी अनेक समस्याएँ हल होसकती हैं।

पाँचवाँ आवश्यक प्रत्याख्यान है। भविष्यके लिये अयोग्य कार्योंका त्याग करना प्रत्याख्यान है। वास्तवमें यह प्रतिक्रमणमें आजाता है, इसलिये इसको अलग कहनेकी कोई जरूरत नहीं है। इसके नामपर जो छोटी छोटी बातोंकी प्रतिज्ञाएँ लीजाती हैं वे भले ही लीजावें, परन्तु वे तो सब अभ्यासके लिये हैं तथा महत्त्वपूर्ण भी नहीं हैं। इसलिये प्रत्याख्यानको मूल गुणमे अलग स्थान नहीं दिया जासकता।

इसके बदलेमें कहीं कहीं स्वाध्याय रक्खा गया है। स्वाध्याय एक प्रकारसे आवश्यक है, फिर भी इसे मूलगुणमें नहीं रख सकते, क्योंकि साधुके साम्हने अगर सेवा वग़ैरहका महत्वपूर्ण कार्य हो तो स्वाध्याय न भी करे तो कोई हानि नहीं।

प्रश्न—स्वाध्याय पाँच तरहका है। पढ़ना, प्रश्न करना, विचार करना, ज़ोर ज़ोरसे याद करना, उपदेश देना। इनमें से कोई न कोई स्वाध्याय प्रतिदिन अवश्य करना चाहिये। जो लोग विद्वान हैं वे उपदेश देकर स्वाध्याय करें, और जो साधारणज्ञानी है वे पाँचोंमेंसे कोई एक जरूर करें। साधुसंस्थामें ज्ञान आवश्यक मालूम होता है और ज्ञानके लिये स्वाध्याय आवश्यक है।

उत्तर—सेवाके ऐसे अवसर बहुत हैं जब किसी को व्याख्यान देनेकी फुर्सत न हो और हो तो उसकी जरूरत न हो। साधुके लिये पुस्तकका पढ़ना पढ़ाना इतना आवश्यक नहीं है जितनी कि लोक-सेवा।

प्रश्न—तब आप लोक-सेवाको ही मूलगुण क्यों नहीं कहते? बाकी सब मूलगुण उठा दीजिये। ख़ासकर प्रतिक्रमणकी कोई जरूरत नहीं रह जाती।

उत्तर—अन्य मूलगुण लोकसेवाके लिये अत्यावश्यक हैं। जो मनुष्य अहिंसा, सत्य आदिका पालन नहीं करता, इंद्रियोंको वशमें नहीं रखता, समभाव नहीं रखता, वह लोकसेवा क्या करेगा? लोकसेवाके बहाने वह दुस्वार्थ साधना तथा अनेक अनर्थ ही करेगा। प्रतिक्रमण तो लोकसेवामें अत्यावश्यक है, क्योंकि जब तक वह अपनी भूलोंको न देखेगा तब तक वह सेवाके बदलेमें असेवा ही अधिक करेगा। प्रतिक्रमण स्वयं भी एक लोकसेवा है।

प्रश्न—यदि आप अन्य मूलगुणोंको लोकसेवा के लिये इतना आवश्यक समझते हैं तो क्या ज्ञान आवश्यक नहीं है? बिना ज्ञानके वह सेवा असेवाका तत्त्व क्या समझेगा? संयमके लिये ज्ञान तो अनिवार्य है, इसलिये उसे मूलगुणमें रखना चाहिये।

उत्तर—ज्ञानयुक्तता अर्थात् संयम तथा लोकसेवाके लिये जितने ज्ञानकी आवश्यकता है उतना ज्ञान धारण करना वास्तवमें मूलगुण है। परन्तु स्वाध्याय और ज्ञानयुक्ततामें अन्तर है। जो मनुष्य ज्ञानी है, वह अगर स्वाध्याय नहीं करता तो भी साधु रह सकता है। परन्तु जो ज्ञानी नहीं है किन्तु स्वाध्यायसे ज्ञानी बनना चाहता है, वह तब तक साधु नहीं बन सकता जबतक ज्ञानी न होजावे। स्वाध्याय से ज्ञानी बन सकता है, परन्तु जबतक वह ज्ञानी न बन जाय तब तक उसे साधुसंस्थाका उम्मेदवार ही रहना चाहिये। साधुसंस्थामे प्रवेश पानेके लिये ज्ञानयुक्तता एक आवश्यक शर्त है, अन्यथा अनेक निरक्षर भट्टाचार्य साधुसंस्थाको प्रभावहीन बना देंगे।

प्रश्न—ज्ञानयुक्तताको अगर आप मूलगुण बना देंगे तब तो पंडितोंके सिवाय दूसरा कोई साधुसंस्थामें प्रवेश न कर पायगा। इस प्रकार तो आप अल्पज्ञानियोंसे एक प्रकारसे साधुता छीन रहे हैं। हम नहीं समझते कि कोई सेवाभावी सज्जन निःस्वार्थ भावसे समाजकी सेवा करना चाहता हो तो

अधिक ज्ञानी न होनेसे ही उसकी सेवा अस्वीकार क्यों कर दी जाय ?

उत्तर—ज्ञानी होनेके लिये पंडित होना आवश्यक नहीं है। वह मातृभाषामें अपने विचार प्रकट कर सके, तथा तत्त्वको समझ सके, इतना ही आवश्यक है। दूसरी बात यह है कि बाह्यज्ञानका माध्यम सदा सर्वत्र एकसा नहीं रक्खा जा सकता। आजसे पच्चीस वर्ष पहिले जितने ज्ञानसे लोग पंडित कहलाते थे, उतनेसे आज गणनीय विद्यार्थी भी नहीं कहलाते। इसलिये उस समय साधुसंस्थामें प्रवेश करनेके लिये ज्ञानका जो माध्यम रक्खा जासकता था, उतना आज नहीं रक्खा जासकता। समाजकी सेवा करनेके लिये साधारण समाजसे कुछ विशेष ज्ञान होना आवश्यक है, भले ही वह बड़ा पंडित न हो। हाँ, साधुसंस्था में पदाधिकारी होनेके लिये विशेष विद्वान होना भी अनिवार्य है। तात्पर्य यह है कि साधुसंस्थाके सभ्य को इतना ज्ञान अवश्य रखना चाहिये जिससे लोगों पर उसका कुछ प्रभाव पड़ सके तथा सेवा और आत्मोद्धारके कार्यमें सुविधा हो। तीसरी बात यह है कि यह साधुसंस्थामें प्रविष्ट होनेकी शर्त है, साधुता की शर्त नहीं। साधुता और साधुसंस्थाकी सदस्यता में अन्तर है।

इस प्रकार स्वाध्याय नहीं, किन्तु ज्ञानयुक्तता साधुसंस्थाके सदस्यका एक मूलगुण कहलाया।

छट्ठा आवश्यक कायोत्सर्ग है। इसका अर्थ है शरीरका त्याग अर्थात् शरीरसे ममत्त्व छोड़ना। इसके लिये आज कल खड़े होकर कुछ जाप जपने की क्रिया भी प्रचलित है। शरीरसे ममत्त्व छोड़ना अर्थात् अपने स्वार्थको गौण बना देना, कष्टोंसे न डरना आदि अच्छी बातें हैं; परन्तु उसको अलग गिनाने की जरूरत नहीं है। वास्तवमें समभाव तथा इन्द्रियविजय करनेसे सच्चा कायोत्सर्ग होजाता है।
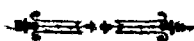
साम्प्रदायिकताका दिग्दर्शन।

(१५)

लेखक—श्रीमान पं० सुखलालजी।

(अनुवादक—प्रो० पं० जगदीशचंद्रजी ऐम० ए०)

(२)

यज्ञमे हिंसाकी प्रवृत्ति और हिंसाके प्रतिपादक वेदोंकी उत्पत्ति—

वैदिक लोग कहते हैं कि वेद अपौरुषेय और अनादि होनेके कारण निर्दोष और प्रामाणिक हैं। इसी प्रमाणभूत प्राचीन वेदमें याज्ञिक हिंसाका विधान है। इसके विरुद्ध जैन लोग कहते हैं कि यज्ञ मे हिंसाकी प्रवृत्ति पीछेसे हुई है, तथा इस प्रवृत्तिके प्रतिपादक वर्तमान वेद भी पीछेसे ही रचेगये हैं। पहले यज्ञ दयामय होते थे और आर्यवेद हिंसा-विधानसे रहित थे।

हिंसाप्रधान अनार्यवेद पीछेसे रचेगये हैं, जैन-लोगोंकी यह मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ग्रन्थोंमें पाई जाती है। श्वेताम्बर ग्रन्थोमें पउमचरिय और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और दिगम्बर ग्रंथों में पद्मपुराण तथा उत्तरपुराण * मुख्य हैं। इन ग्रंथों का प्रस्तुत पक्षके उपयोगी संक्षिप्तसार निम्नप्रकार हैं।

(क) त्रिषष्टिशलाकापुरुष-चरित्र।

लकड़ियोंकी मारसे जर्जरित नारदने 'अन्याय! अन्याय!' पुकारकर रावणसे कहा—हे राजन्! इस राजपुर नगरमें मरुत नामका राजा है, वह निर्दय ब्राह्मणोंके सहवाससे यज्ञ करनेके लिये प्रेरित हुआ है। इसलिये उसने अनेक पशुओंको इकट्ठा किया है। उन पशुओंकी पुकार सुनकर मुझे दया आयी, मैंने आकाशसे उतरकर मरुतसे पूछा कि 'यह क्या आरंभ किया है?' उसने उत्तर दिया 'यह ब्राह्मणोंके कथनानुसार देवतृप्ति और स्वर्गप्राप्तिके लिये धर्म्य-

* यह ग्रंथ भट्टारक गुणभद्रका बनाया हुआ है। देखो पीछे।

यज्ञ आरंभ करता हूँ। इस यज्ञमें पशुओंका होम करना है।' फिर मैंने मरुतसे कहा—'यह शरीर वेदी है, आत्मा यजमान है, तप अग्नि है, ज्ञान घृत है, कर्म समिध है, क्रोधादिक पशु हैं, सत्य यूप है, दया दक्षिणा है, तथा ज्ञानदर्शन और चारित्र ये तीन रत्न ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर नामके तीन देव हैं। यह वेदोक्त यज्ञ मुक्तिका साधन है। जो लोग क्रूर होकर बकरे वगैरहको मारकर यज्ञ करते हैं, वे लोग नरकों के दुख भोगते हैं। इसलिये हे राजन् इस पापको छोड़ यदि हिंसासे स्वर्ग मिलने लगे तो सम्पूर्ण जगत्को स्वर्ग मिल जाना चाहिये' मेरे इस कथनसे ब्राह्मण लोगोंने चिढ़कर मुझे मारा। हे रावण! मैं भागकर तुम्हारी शरण आया हूँ। तुम इस पशुवध को बचाओ। नारदके इस कथनसे पशुवधकी घटना देखनेके लिये रावण विमानसे उतरकर यज्ञस्थलमें आया। उसने मरुतको हिंसायज्ञ करते हुए रोका और नारदसे पूछा कि यह हिंसात्मक यज्ञ कबसे प्रारंभ हुआ है? नारदने कहा— चेदि देशके एक नगरमें क्षीरकदम्बक नामके गुरुके पास क्षीरकदम्ब का पुत्र पर्वत, मैं और राजपुत्र वसु ये तीनों पढ़ते थे। हम तीनमें से दो नरकगामी हैं, इसप्रकार ज्ञानी का वचन सुनकर नरक जानेवाले कौनसे शिष्य हैं, यह निश्चय करनेके लिये गुरुजीने एक युक्ति सोची। गुरुजीने हम तीनोंको आटेका एक कुत्ता बनाकर दिया और इस कुत्तेको ऐसे स्थलपर मारनेको कहा जहाँ कोई न देख सके। पर्वत और वसुने एकान्तमें जाकर कुत्तेको मार डाला। मुझे विचार आया कि जहाँ कोई दूसरा नहीं देखता वहाँ भी स्वयं मैं तो देखनेवाला हूँ ही, तथा ज्ञानी लोग सर्वत्र देखते हैं। इसलिये गुरुकी इसप्रकारकी आज्ञामें अवश्य कोई रहस्य होना चाहिये, यह सोचकर वह कुत्ता मैंने गुरु को वापिस सौंप दिया। गुरु मेरे ऊपर प्रसन्न और पर्वत और वसुके ऊपर नाराज हुए। कुत्तेको मारने वाले पर्वत और वसुके भावी नरक जानेकी चिंतासे दुखित होकर गुरुने दीक्षा ग्रहणकी, तथा गुरुके पुत्र पर्वतने शास्त्रोंका पढ़ाना शुरू कर दिया। मैं अपने घर चलागया और वसु राज्य करने लगा। वसु स्फटिककी अदृश्य शिलाके ऊपर आसन जमाकर बैठता था और सत्यके प्रभावसे उसका आसन ऊँचा रहता है, इस बातको फैलानेकी कोशिश किया करता था। एकबार मैं गुरुपुत्र पर्वतके पास गया। शिष्योंको पढ़ाते समय पर्वतने 'अजैर्यष्टव्यं' अर्थात् बकरोंसे यज्ञ करना चाहिये, इसप्रकार वाक्यका अर्थ किया। मैंने गुरुके कहे हुए अर्थसे विरुद्ध इस अर्थको सुनकर पर्वतको ताना मारा। मैंने कहा—गुरुजी तो 'अज' शब्दका अर्थ 'तीन बरसके पुराने न उगे हुए जौ' करते थे, तू इसका बकरा अर्थ कैसे करता है?

पर्वत ने मेरा कहना स्वीकार न किया और वह महाध्यायी वसुके पास निर्णय करानेके लिये तत्पर होगया। हम दोनों वसुके पास निर्णय करानेके लिये गये। परन्तु गुरुपत्नी पर्वतकी माताके दबावसे वसुने पर्वतके पक्षमें फैसला देते हुए कहा कि गुरुजीने अज शब्दका अर्थ बकरा ही किया था। वसुके सत्यभंग से कुपित होकर देवोंने वसुका आसन तोड़ डाला। वसु नीचे गिर पड़ा और मरकर नरकमें गया। पर्वत, लोगोंके तिरस्कारसे खिन्न होकर नगरके बाहर चला गया और वहाँ उसने महाकाल नामके असुरको अपने पक्षमें कर लिया।

रावणने पूछा कि यह महाकाल असुर कौन है? नारदने जवाब दिया कि मधुपिंग नामका एक राजकुमार था। राजकुमारको सुलसा नामकी एक राजकुमारी स्वयं वरण करना चाहती थी, परन्तु इस राजकुमारीको सगर नामके किसी दूसरे राजाने बीचहीमें वरण करली। मधुपिंग सगरके छलबलसे उदास होकर जंगलमें चला गया और वहाँ अज्ञानमय तप करके अंतमें मरकर असुर देवोंका स्वामी उत्पन्न हुआ। यही राजकुमार महाकाल है।

यह महाकाल अपने पूर्व जन्मके शत्रु सगर आदि राजाओंसे उनके किये हुए कृत्योंका बदला लेनेके विचारसे घूमता था। इतनेमें वह पर्वतसे

मिला। इस अवसरका लाभ लेनेके लिये महाकालने ब्राह्मणका रूप धारण करके पर्वतसे कहा—"मैं तेरे पिता क्षीरकदंबका मित्र हूँ। मेरा नाम शांडिल्य है। हम दोनों एक ही उपाध्यायके पास पढ़े हैं। नारद वगैरहने तुम्हारा अपमान किया है, यह जानकर मैं यहाँ आया हूँ। मैं मंत्रों द्वारा विश्वको मोहित करके तेरे पक्षकी पूर्ति किया करूँगा"। इस प्रकार कहकर उस महाकालने पर्वतके साथ रहकर बहुतसे लोगों को दुर्गतिमें डालनेके लिये कुधर्ममें मोहित किया। वह लोकमें सब जगह व्याधि और भूत वगैरह दोषों को उत्पन्न करके पर्वतके मतको निर्दोष ठहराने लगा। शांडिल्यकी आज्ञासे पर्वतने रोगकी शांति करना आरंभ किया और लोगोंका उपकार कर करके उन्हें अपने मतमें दीक्षित करने लगा। सगर राजाके नगर, अंतःपुर और परिवारमें भी उस असुरने दारुण रोग फैला दिया। सगर राजा भी लोकप्रतीतिसे पर्वतको मानने लगा, और उसने शांडिल्यके साथ रहकर सब जगह रोगकी शांति की।

बादमें शांडिल्यके कहे अनुसार पर्वतने लोगोंको उपदेश दिया कि "सौत्रामणि यज्ञमें विधिसे सुरापान करनेसे दोष नहीं लगता, इसलिये सुरापान करना चाहिये। गोसव यज्ञमें अगम्य स्त्रीके साथ गमन करना चाहिये। मातृमेध यज्ञमें माताका और पितृमेध यज्ञमें अंतर्वेदिमें पिताका वध करनेसे दोष नहीं लगता। कछुवेकी पीठके ऊपर अग्नि रखकर 'जुह्वकाराय स्वाहा' यह बोलकर प्रयत्नसे हुत द्रव्यके द्वारा उसमें होम करना चाहिये। यदि कछुवा न मिले तो पीले रंग का, क्रियारहित और खराब स्थानमें पैदा हुए ऐसे किसी शुद्ध द्विजाति (ब्राह्मण आदि) के, जलसे पवित्र कुर्माकार मस्तकके ऊपर अग्नि जलाकर उसमें आहुति देनी चाहिये। जो हो चुका है, और जो होनेवाला है वह सब पुरुष (ईश्वर) ही है। जो अमृतके स्वामी हैं (मोक्ष गये हैं) और जो अन्नसे निर्वाह करते हैं, वे सब ईश्वररूप हैं। इस तरह सब एक पुरुष (ईश्वर) रूप ही है। इसलिये कौन किसको मार सकता है? अतएव यज्ञमें अपनी इच्छानुसार प्राणियोंकी हिंसा करनी चाहिये, और यज्ञमें यजमानोंको मांस खाना चाहिये, क्योंकि वह देवताओंके उद्देशसे किया जाता है, तथा मंत्रादिसे पवित्र है"। इस प्रकार उपदेश देकर सगर राजाको अपने मतमें मिलाकर महाकालने कुरुक्षेत्र वगैरह स्थानोंमें भी यज्ञ कराया। इस तरह धीरे धीरे महाकालका मत फैलता गया और उसने राजसूयादिक यज्ञ भी कराये। महाकालने यज्ञके करनेवालोंको बतलाया कि यज्ञमें होम किये हुए प्राणी और राजा वगैरह विमानमें बैठकर ऊपर जाते हैं। इससे विश्वास होनेपर लोग पर्वतके मतको अंगीकार करते हुए बेधड़क प्राणिहिंसात्मक यज्ञ करनेमें उद्यत होगये।

यह सब देखकर मैंने दिवाकर नामके एक विद्याधरसे कहा कि—"तुम इन यज्ञोंमें से सब पशु हरण करलो"। दिवाकरने मेरे वचनोंको मानकर यज्ञमें से पशुओंको चुराना आरंभ कर दिया। यह बात परम अधार्मिक असुरको मालूम हुई। महाकालने दिवाकरकी विद्याको नष्ट करनेके लिये यज्ञमें ऋषभदेवकी प्रतिमा स्थापितकी। इससे दिवाकर विद्याधर शांत होगया। बादमें जब मेरे पास कोई उपाय न रहा तो मैं दूसरी जगह चला गया। इसके बाद उस असुरने मायाके द्वारा यज्ञमें उसी समय सगर राजा को सुलसा समेत होम कर दिया और महाकाल असुर कृतार्थ होकर अपने स्थानको चला गया।

इसप्रकार पापके पर्वत रूप उस पर्वतसे याज्ञिक ब्राह्मणोंने हिंसात्मक यज्ञ चलाया है। इस यज्ञको आपको रोकना चाहिये। इस प्रकार नारदके वचन स्वीकार करके नारदको सत्कारपूर्वक विदा करके रावणने मरुत राजाको क्षमा प्रदानकी।

(गुजराती भाषांतर पर्व ७ सर्ग २७ पृ० २७ से ३४)

(ख) उत्तरपुराण।

महाकाल नामके असुरने हिंसाप्रधान वेदोंको बनाया। उसके द्वारा उसने पर्वत नामके एक ब्राह्मण द्वारा हिंसक यज्ञोंको चलाया, तथा उस असुरने अ-

पने पूर्व शत्रु सगर राजा और उसकी रानी सुलसा को हिंसामार्गमें डालकर नरकमें पहुँचाया। पर्वत नारदका सहाध्यायी था, अज शब्दके अर्थसंबंधी मतभेदके कारण पर्वत नारदका शत्रु होगया था। पर्वतका मत था कि यज्ञके अवसरपर 'अज' शब्दका अर्थ बकरा करना चाहिये, परन्तु नारदका कहना था कि 'अज' शब्दका अर्थ—तीन बरसका पुराना नहीं उगा हुए धान्य–ही होता है। पर्वत और नारद का फैसला करने वाले और सत्यवादी गिने जाने वाले वसुके पर्वतके पक्षमें फैसला देनेके कारण वसु राजाका आसनसहित नीचे गिरना और नरकमें जाना, यह वर्णन त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और उत्तरपुराणमें एकसा है। इस कथाके भीतरी प्रसंगों और वर्णनोंमें अवश्य ही दोनों ग्रंथोंमें कुछ फेर है, परन्तु वास्तविक वक्तव्यमें कुछ भी फेर नहीं है।

(पर्व ६७ श्लोक १५७ से ४६१ तक)

(ग) पद्मपुराण।

'अज' शब्दके अर्थको लेकर नारद और पर्वत का विवाद, पर्वतके पक्षमें दिया हुआ वसुका फ़ैसला, और उस समयसे हिंसात्मक यज्ञकी प्रवृत्तिका आरंभ होना, यह वर्णन रविषेणाकृत पद्मपुराणमें भी है यहाँ वक्ता गौतम और श्रोता श्रेणिकराजा हैं। वास्तविक वक्तव्य एकही है, फिर भी दूसरे प्रासंगिक वर्णन और अर्थघटना त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र और उत्तरपुराणसे थोड़ा बहुत जुदी पड़ती हैं।

(पद्मपुराण, दौलतरामजीकृत हिन्दी अनुवाद पृ० १५७ से आगे।

(घ)पद्मपुराणका सम्पूर्ण प्रस्तुत वर्णन पउमचरिय से बिलकुल मिलता है। इन दोनोंकी कल्पना, शब्द-साम्य वगैरह परस्पर बहुत मिलते हैं। दोनों ग्रंथोंमें स्वयं पर्वत ही हिंसात्मक यज्ञकी प्रवृत्ति करता है। पद्मपुराणमें पर्वत उसी जन्ममें हिंसक यज्ञमार्गको चलाता है, पउमचरियमें वह मरकर राक्षस होता है और पूर्वजन्मके शत्रु नारदसे बदला लेनेके लिये हिंसक यज्ञ चलाता है। दोनों ग्रंथोंमें उत्तरपुराण और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्रकी तरह महाकाल असुरके पर्वत द्वारा यज्ञविधिमें प्रवृत्ति करानेका वर्णन नहीं है। (पउमचरिय एकादश उ० गा० १ से शुरू पृ० ६२)

(ङ) मत्स्य पुराण।

नारद और पर्वतका यज्ञमें अहिंसा या हिंसा–संबंधी विवाद, उसमें वसुका बीचमें पड़ना, और उसमें पर्वतका पक्षपात करना, ये उपर्युक्त जैन–वर्णनके मुख्य विषय हैं। यही विषय मत्स्य पुराण में है। यहाँ नारद और पर्वतका स्थान ऋषि और इन्द्र को दिया गया है। बाक़ी सब वर्णन एक सरीखा है। मत्स्य पुराणकी इस कथाकी प्रस्तुत जैन कथामें तुलना करनेके लिये नीचे उसका संक्षिप्तसार दिया जाता है। पाठक देखेंगे कि अंतमें जैन ग्रन्थोंमें और मत्स्य-पुराण में याज्ञिकहिंसा एक सरीखी गिनी गई है और उसको प्रधानता दी गई है। इतनी समानता होने पर भी यहाँ एक विशेषता यह है कि प्रस्तुत कथा में जैन ग्रन्थोंके अनुसार वेदकी उत्पत्ति पीछेसे हुई है, जब कि मत्स्य पुराण इस विषयमें मौन है। मत्स्य पुराण और जैन ग्रन्थोंका यह अंतर अवश्य ही किसी गूढ़ ऐतिहासिक तथ्यकी तरफ हमारा ध्यान खेंचता है।

ऋषियोंने पूछा कि स्वायंभुव स्वर्गमें त्रेता युग के आरंभमें किस प्रकार यज्ञका आरंभ हुआ। सूत ने उत्तर दिया —

जब विश्वभुग इंद्रने यज्ञ आरंभ किया, उससमय बहुतसे महर्षि लोग आये। उस यज्ञ में महर्षियों ने अन्य विधिके साथ पशुवध होता हुआ देखकर इंद्रसे कहा कि तूने यज्ञमें पशुवध नया ही चलाया है, तूने पशुहिंसा रूप अधर्मसे धर्मका नाश करना आरंभ किया है। हिंसा कभी धर्म नहीं होसकता। इस प्रकार ऋषियों द्वारा समझाये जाने पर भी इंद्र किसी तरह नहीं समझा और कदाग्रह में पड़गया। महर्षि और इंद्रमें यज्ञविधिको लेकर विवाद खड़ा हुआ कि जंगम प्राणियोंसे यज्ञ करना ठीक है, अथवा स्थावर प्राणियोंसे। इस विवादका अंत करनेके

लिये इंद्र और महर्षि लोग आकाशचारी वसुके पास पहुँचे।

वसुने बलाबलके बिना विचार किये हुए ही कह दिया कि यज्ञ में पशुओंका वध भी होता है, और फलमूल आदि स्थावर प्राणियोंका भी वध होता है। जो जिस समय मिल सके, चाहे वह जंगम हो या स्थावर, उसीसे यज्ञ करना चाहिये। यह मैं जानता हूँ कि यज्ञका स्वभाव हिंसा है। इस प्रकार का उत्तर सुनकर महर्षि लोगोंने वसुको शाप दिया और वसु आकाशसे नीचे गिरकर अधोगामी हुआ। सूत ने कहा कि यज्ञमें हिंसाविधिके समर्थन करनेके कारण वसुका अधःपात हुआ है, इसलिये यज्ञ में हिंसा नहीं करनी चाहिये। प्राचीन ऋषियोंने इस विषय में कहा है कि "करोड़ों ऋषि लोग तप करके स्वर्ग गये हैं। अनेक तपस्वी उंछवृत्तिसे फल, मूल, शाक और जलपान स्वीकार करके स्वर्ग गये हैं। अद्रोह, अलोभ दम, भूतदया, शम, ब्रह्मचर्य, तप, शौच करुणा, क्षमा, धृति यह सनातन धर्मका मूल है। यज्ञ द्रव्य और मंत्रात्मक है। तप समता रूप है। मनुष्य यज्ञसे देवोंको प्राप्त करता है। तपसे विराट-पना मिलता है, कर्मसन्याससे ब्रह्मकी प्राप्ति होती है। वैराग्यसे प्रकृतिलय और ज्ञानसे कैवल्य की प्राप्ति होती है। ये पाँच गतियाँ (प्राप्तिका मार्ग) हैं" इस प्रकार यज्ञकी प्रवृत्तिके विषयमें देव और ऋषियोंका विवाद पहले स्वायंभुव स्वर्गमें हुआ, उस समय ऋषि लोग वसुके वाक्योंका आदर किये बिना ही अपने अपने स्थानको चले गये। ब्रह्म, क्षत्र, आदि अनेक तपःसिद्ध सुने जाते हैं। प्रियव्रत, उत्तानपद, ध्रुव, मेधातिथि, वसु सुधामा, विरजा, शंखपाद, राजसु, प्राचीन वर्हि पर्जन्य, हविर्धनि, और बहुतसे अनेक राजाओं ने तप करके स्वर्ग प्राप्त किया है। राजा लोग तप करके ऋषि होकर राजर्षि कहे जाते हैं। इसलिये हरेक दृष्टिसे यज्ञसे तप ही बड़ा हुआ है। इस प्रकार स्वायंभुव सृष्टिमें यज्ञप्रवृत्ति होकर उस समयसे प्रत्येक युगके साथ यह यज्ञ चालू हुआ है।

(मन्वन्तरानुकल्प–देवर्षिसंवाद नामक अध्याय १४३ पृ० २८०)

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

विधवाविवाहमें कठिनाइयाँ।

विधवाविवाहके विषयमें इन्दौरसे एक विचारक महानुभाव लिखते हैं—

"देखनेमें आया है कि जिस समाजमें विधवा-विवाह प्रचलित नहीं है, वहाँ विधवाओंको जो कष्ट भोगना पड़ते हैं, उनपर तो खूब प्रकाश पड़चुका है। परन्तु जिस समाजमें विधवाविवाह प्रचलित है वहाँ विधवाओंको जो कष्ट भोगना पड़ते हैं, जोकि नीचे लिखे जाते हैं, उनपर कम प्रकाश पड़ा है। देखिये—

(क) जिस समाजमें विधवाविवाह चालू है वहाँ स्त्री घरकी मालकिन नहीं समझी जाती, बल्कि घरके लोग उससे सशंकित रहते हैं कि यदि इसका पति मर गया तो यह पुनर्विवाह (दूसरा और विधवा हुई तो तीसरा) करलेगी। और इसलिये घरके लोग विवाहके समयही उसके लिये उसके नाम पर कुछ सम्पत्ति निश्चित कर देते हैं। दैवयोगसे यदि पति गुजर जाय तो वह निश्चित सम्पत्ति देकर उस विधवाको घरसे अलग कर देते हैं।

(ख) घरसे अलग कर देनेके समय यदि विधवाके बालबच्चे हुए तो उन्हें घरवाले छीन लेते हैं।

(ग) घरसे अलग करदेने पर थोड़ी सम्पत्ति वाली गरीब विधवा स्त्रीको यदि इच्छा न हो तो भी पेटपालनके लिये तुरन्त अच्छा बुरा नया पति टटोलना पड़ता है। परिणाम यह होता है कि स्त्रियोंके लिये विवाहका उद्देश्य "पेटपालन" बनजाता है, और कालान्तरमें यह उद्देश्य वेश्यावृत्तिको पैदाकर देता है।

(घ) घरसे अलग की हुई अधिक सम्पत्ति वाली विधवा स्त्रीकी बड़ी बुरी हालत हो जाती है,

क्योंकि प्रभुत्व (स्वतंत्रता) और धनसम्पत्ति, ये दो अनर्थकारी साधन तो उसके पास है ही, और यदि यौवन तथा अविवेकिता ये दो अनर्थकारी साधन और उसके पास हुए तो फिर वहाँ अनर्थका क्या ठिकाना ? यथा—

" यौवनं, धन सम्पत्ति, प्रभुत्वं, अविवेकिता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमुयत्र चतुष्टयम् ॥ "

सच तो यह है कि ऐसी विधवा स्त्री नाम मात्र को आड़के लिये किसी एक पुरुषको खड़ा करलेती है, और उसकी आड़में उल्लिखित चार अनर्थकारी साधनोंसे रात दिन अपने घर पर चांडाल चौकड़ी (व्यभिचारी पुरुषोंकी जमात) इकट्ठी करती है। परिणाम यह होता है कि जब विधवाका यौवन और धन सम्पत्ति नष्ट होजाते हैं, तब वे चांडाल चौकड़ीके लोग उस विधवाके पास भी नहीं फटकते, और फिर आखिर उस विधवाको बुरी मौत मरना पड़ता है।

ये कष्ट कोरे कपोलकल्पित नहीं हैं। इन कष्टों के अनेक उदाहरण रात दिन खड़े होते रहते हैं।

विधवाविवाह भी प्रचलित हो और विधवाएँ ऊपर उल्लिखित कष्टोंसे भी बचजाँय, ऐसा सुविधाकारक एक उपाय है। वह यह कि—"प्रत्येक माता पिताका यह कर्तव्य हो कि वे अपने किसी मृतक पुत्र की विधवा स्त्रीके पुनर्विवाह करनेकी इच्छा प्रगट करनेपर अपने अन्य पुत्रोंके होते हुए भी अपने मृतक पुत्रके स्थानपर अन्य (सजातीय और सगोत्री) किसी योग्य उम्रके लड़केको अपनी गोद लेकर उस लड़केका उस अपने मृतक पुत्रकी स्त्री के साथ पुनर्विवाह करदे।" परन्तु अफ़सोस कि इस उपाय का वर्तमानके क़ानूनमें समर्थन नहीं है।

जिस समाजमें विधवाविवाह प्रचलित नहीं है वहाँ विधवाओंके कष्टोंका, जिनके घरोंमें विधवाएँ हैं उनके घरवालोंको ज्ञान न हो, ऐसी बात नहीं है; उन्हें ज्ञान तो है, परन्तु वे अपने घरकी विधवाओंको अन्यके घर भेजना नहीं चाहते। वेही क्यों, खुद विधवाएँ भी अन्यके घर जाना नहीं चाहतीं।

अतएव ऊपर उल्लिखित उपायको क़ानूनका रूप मिलनेकी अत्यन्त आवश्यकता है।

आशा है आप इन बातोंपर काफ़ी प्रकाश डालेंगे।"

प्रत्येक वस्तुके दो पहलू होते हैं। विधवाविवाह तो ख़ैर ठीक है, परन्तु धर्मका तथा समाजका ऐसा एक भी नियम नहीं है जिसका एक पहलू काला न हो। विधवाविवाहमें भी बुराइयाँ हैं, और वे ही बुराइयाँ उसकी कठिनाइयाँ हैं। पत्रप्रेषक महोदय को विधवाविवाहसे सहानुभूति है, और वे उसका प्रचार भी करना चाहते हैं, इसलिये वे इस बातको तो मानते ही होंगे कि विधवाविवाहमें जितनी बुराइयाँ हैं उनकी अपेक्षा वर्तमान द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार भलाइयाँ अधिक हैं, इसलिये उसके प्रचारकी ज़रूरत है।

ऊपर जो कठिनाइयाँ बताई गई हैं, उनमेंका कुछ अंश तो ऐसा है जो रहेगा ही, कुछ में अतिशयोक्ति है और कुछ का उपाय किया जासकता है।

(क) में जो कठिनाई बतलाई गई है वह अंशतः सत्य है, परन्तु जहाँ विधवाविवाह नहीं होता वहाँ की बुराईसे अधिक नहीं है। शंका और भय जहाँ एक तरफ अशान्ति पैदा करते हैं, दूसरी तरफ़ वे अत्याचारी पुरुषोंकी निरंकुशताको रोकते भी हैं। जिस स्त्रीकी कहीं गति नहीं है उसपर जितने अत्याचार किये जासकते हैं, उतने उस पर नहीं जो कुछ स्वतन्त्रता रखती है। अगर उसके नाम पर कुछ सम्पत्ति होती है तो और भी अच्छा है। अधिकांश प्रान्तोंमें उन स्त्रियोंका, जो पुनर्विवाह नहीं करतीं, फूटी कौड़ी पर भी अधिकार नहीं होता। निश्चित सम्पत्ति देकर अलग करदेनेकी बात अर्धसत्य है। क्योंकि जहाँ पुनर्विवाहका रिवाज है वहाँ भी अगर कोई स्त्री पुनर्विवाह नहीं कराना चाहती तो उसे कोई बिवश नहीं करसकता। मुझे भी अपने प्रान्त के कुछ उदाहरण याद हैं जिनमें कई बालविधवाओंने अपनी जातिमें विधवाविवाहका रिवाज होते

पर भी पुनर्विवाह नहीं किया और कुटुम्बियोंने सन्मानके साथ उनके जीवन भर साथ दिया। इस प्रकार इस विषयमें पुनर्विवाह करनेवाली और न करनेवाली विधवाकी दशामें कोई फरक नहीं है।

(ख) में जो कठिनाई बतलाई गई है, वास्तवमें वह पूरी कठिन समस्या है। जिन देशोंमें विभक्त कुटुम्ब प्रथा है, उन देशोंमें भी इस समस्याकी कठिनता जटिल है; फिर अविभक्त कुटुम्बवाले देशमें तो इस कठिनता का क्या कहना है? विभक्त कुटुम्ब प्रथावाले देशोंमें नातेदारी एक ही व्यक्ति (पति) में इतनी अधिक एकत्रित होती है कि दूसरों के लिये बहुत थोड़ी, नहीं के बराबर, बचती है, इसलिये पतिकी मृत्यु होने पर अन्य लोगोंका आकर्षण नहीं के बराबर रहता है। इसलिये दूसरा घर बसाने में मनोवैज्ञानिक संकट इतना अधिक नहीं सहना पड़ता। परन्तु अविभक्त कुटुम्बमें नातेदारी दूसरों से भी बहुत अधिक जुड़ती है। इसलिये कुटुम्बसे सम्बन्ध तोड़ने पर बहुत मानसिक कष्ट होता है। और सन्तानवती विधवाके लिये तो सन्तानके छिनने का भी प्रश्न है हाँ, जो विधवा सन्तानवाली नहीं है उसके साम्हने यह कठिनाई नहीं है इसलिये उसके साम्हने पहिली ही कठिनाई है। परन्तु यह कठिनाई कुछ तो कम की जा सकती है और कुछ सहन की जासकती है।

जिस प्रकार लड़की माबापके घरसे छूटकर ससुराल चली जाती है, किन्तु माबाप से उसका सम्बन्ध बनारहता है और वह सम्बन्ध विवाहके बाद भी आने जाने से प्रगट होता है उसी प्रकार पुनर्विवाहमें भी होना चाहिये। विधवाके पुनर्विवाहमें ससुरालवालोंका भी हाथ होना चाहिये, और पुनर्विवाह करदेने पर भी सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये। भले ही उसमें माबाप सरीखी घनिष्ठता न आनेपावे, परन्तु थोड़ा बहुत भी बाह्यरूप अगर बनारहेगा तो कुटुम्बके छूटने का दुःख बहुत कम हो जायगा। अथवा जिसप्रकार एक पुरुषका पुनर्विवाह होता है तो उसका पुरानी ससुरालसे सम्बन्ध शिथिल हो जाने पर भी बना रहता है, उस शिथिलताका प्रदर्शन करना ठीक नहीं समझा जाता, उसी प्रकार विधवाविवाहमें भी होना चाहिये। जिस स्त्रीका विधवाविवाह हो, उसका सम्बन्ध पुरानी ससुरालसे टूट नहीं जाना चाहिये। त्यौहार या शादी व्यवहार वगैरहके अवसरपर पुरानी ससुरालवालोंका कर्तव्य है कि वे उसे बुलावें, उसका यथोचित सन्मान करें। हाँ, तलाक़में यह सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। इसमें एक बड़ा भारी लाभ यह होगा कि तलाकका प्रथाको उत्तेजना न मिल पायगी। इसके बाद भी कुटुम्ब छूटने का जो थोड़ा बहुत कष्ट रहेगा वह सरलतासे सहन किया जा सकता है। जब माबापके कुटुम्बसे सम्बन्ध छूटता है और वह भी सहन किया जाता है तब यह कष्ट तो और भी सरलतासे सहन किया जासकेगा।

परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई तो उन स्त्रियोंके विषयमें है जो सन्तानवती हैं। सबसे पहिले एक बात अवश्य कहदेना चाहिये कि क़ानून कुछ भी हो परन्तु प्राकृतिक नियम तथा न्यायके अनुसार सन्तान के ऊपर अगर किसीका अधिकार है तो वह माताका है। मनुष्येतर प्राणियोंमें तो सन्तानका संबंध माताके साथही होता है इसलिये प्राकृतिक दृष्टिसे माताका ही अधिकार बड़ा कहलाया; तथा सन्तानके लिये माताको जो कष्टसहन और त्याग करना पड़ता है उससे भी माताका अधिकार बड़ा कहलाया। प्राचीन शास्त्रोंमें इसीलिये एक माताको सौ पिताके बराबर कहा है। इसलिये ससुराल वालोंका सन्तानपर कोई हक़ न होना चाहिये। माताके इस न्याय्य अधिकार की रक्षा अधिकसे अधिक होना चाहिये।

परन्तु इसीके साथ सन्तानके हिताहितका भी प्रश्न है। साम्पत्तिक अधिकार जबतक पुरुषके हाथमें है तबतक सन्तानको पिताकी सम्पत्ति मिलनी चाहिये। इसीलिये ससुरालवाले बालबच्चोंको छीन लेते हैं यदि

ऐसा न किया जाय तो सन्तानके साथ अन्याय हो।

इसप्रकार एक तरफ सन्तानके हिताहितका प्रश्न और दूसरी तरफ माताके अधिकारका प्रश्न एक दूसरेसे भिड़ते हुए दिखलाई देते हैं। व्यवस्था ऐसी होना चाहिये कि जिससे दोनोंका समन्वय होजाय।

मेरा खयाल तो यह है कि जबतक पुत्र नाबालिग़ है तबतक उसके ऊपर माताका ही पूरा अधिकार रहे। परन्तु बालिग़ होने पर माताका उसपर कोई क़ानूनी अधिकार न रहे और वह पैतृक सम्पत्तिका अधिकारी बने। पुत्रके नाबालिग़ रहनेपर भी अगर माताकी यह इच्छा हो कि वह पिताके घर पर रहे तो पिताके कुटुम्बियोंको उसका पालन करना ही चाहिये। यही बात पुत्रीके विषयमें भी है। नाबालिग़ अवस्था तक उसपर माताका अधिकार रहे और माता अगर स्वीकृति देदे तो पिताके कुटुम्बी पालन करें। और उसके विवाहका सारा खर्च पिताके कुटुम्बी उठावें, चाहे वह पुत्री पिताके घरपर रही हो चाहे माताके पास।

इतना होनेपर भी बहुतसी माताएँ अपनी अपनी सन्तानको पिताके घरही छोड़ दिया करेंगी, परन्तु उससमय उनको मानसिक वेदना न होगी क्योंकि उनको यही भान रहेगा कि सन्तान मेरी इच्छासे ही यहाँ छोड़ी जारही है, मुझसे कोई छीन नहीं रहा है; और जबतक सन्तान नाबालिग़ है तबतक जब मेरी इच्छा होगी तब ले जा सकूँगी, यहाँ आकरके भी मैं माताके अधिकारके साथ मिल सकूँगी। माताके हृदयकी ये भावनाएँ और ये सामाजिक तथा क़ानूनी परिवर्तन बालबच्चोंके छीननेका कष्ट दूर कर देंगे।

(ग) में जो कठिनाई बतलाई गई है उसमें कुछ वजन नहीं है, क्योंकि माताएँ अगर गरीब हों तो पुनर्विवाह करनेके अधिकारसे उनका कुछ नहीं बिगड़ता। जिस प्रकार पुनर्विवाहके अधिकारसे शून्य विधवा अपना पेट पालेगी उसी प्रकार पुनर्विवाहके अधिकारवाली पाले, इसे कौन रोकता है ? पेटपालन कीसमस्या दोनोंके सामने एक सरीखी है। जबतक कोई स्त्री पुनर्विवाह न करे तबतक उसे पतिघरमें रहनेका वर्तमान क़ानूनसे ही पूरा अधिकार है। हाँ, अगर पतिका कुटुम्ब भूखों मर रहा हो तो क्या पुनर्विवाह वाली, और क्या अपुनर्विवाह वाली, दोनों एकसी हैं। हाँ, पुनर्विवाह वाली दूसरी शादी करके किसी तरह संकटसे छूट सकती है, जब कि दूसरीके लिये गुप्त व्यभिचारका ही मार्ग खुला रह जाता है, जिसका भयंकर परिणाम नैतिक पतन, भ्रूणहत्या तथा विविध दुर्दशाएँ हैं।

(घ) में जो कठिनाई बतलाई गई है वह तो विरुद्ध हेत्वाभासकी तरह अपना खण्डन ही करती है। जो धनवान स्त्री पुनर्विवाह करेगी, उसीपर क्या यौवनादि चतुष्टयका भूत चढ़ेगा ? पुनर्विवाह न करने वाली क्या इन अनर्थोंसे बची रहेगी ? बात बहुत कुछ उल्टी है। पुनर्विवाह करनेपर तो उसे अपनी इच्छाओंको पूरा करनेके लिये कमसे कम एक पुरुष तो मिलेगा, और चांडाल चौकड़ीको जोड़नेसे रोकनेके लिये एक क़ानूनी विरोधक तो होगा। पुरुष कितना भी गया बीता हो तो भी वह कुछ न कुछ रोक अवश्य कर सकेगा बशर्ते कि वह पुरुष हो, नपुंसक न हो। अगर सैकड़ोंमें एकाध अपवाद ऐसा भी मिल गया जहाँ स्त्रीके सामने पुरुषकी नहीं चलती तो यदि वह जीवित पुरुष ही होगा तो इस सम्बन्धको स्वीकार करके वहाँ रहेगा ही क्यों ? अगर वह कायर, आलसी है, पेट भरनेके लिये पड़ा रहता है, उसकी स्त्री अगर व्यभिचारिणी है और वह कुछ नहीं कहता तो इसमें किसीकी क्या हानि है ? फिर भी वह मिट्टीके पुतलेके समान होनेपर भी निरर्थक नहीं है क्योंकि उसके रहनेसे उसकी पत्नीको भ्रूणहत्या करनेकी जरूरत नहीं रहती। इसप्रकार हिंसा बचती है।

परन्तु जो स्त्री धनवान विधवा होकर पुनर्विवाह नहीं करती उसका यौवन आदि गजब ढाता है। पुनर्विवाहिताके ऊपर थोड़ा बहुत अंकुश तो है—बल्कि एकाध अपवादके सिवाय अधिकांश स्थानोंपर इसप्रकार का अंकुश पूर्णसफल होता है। यों तो पुनर्विवाहिताही

क्यों, जो प्रथम विवाहिता सधवाएँ हैं, उनके विषयमें भी चांडाल चौकड़ीकी ये कहानियाँ बहुत सुनी जाती हैं। परन्तु श्रीमन्त विधवाएँ जब पुनर्विवाह नहीं करतीं तब कामके अंगनमें उनका जो भयंकर तांडव होता है उसकी तुलनामें किसी विवाहिताकी चांडाल चौकड़ी पासंग बराबर भी नहीं हो सकती। इस प्रकारकी कई घटनाएँ मेरे ध्यानमें हैं और सैकड़ों पाठकोंके ध्यानमें भी होंगी। (घ) चिन्हमें जो बातें लिखी गई हैं वे सब अविवाहित श्रीमन्त विधवाके विषयमें ही कही जा सकती हैं।

इसके बाद आपने जो एक सुविधाकारक उपाय बताया है वास्तवमें वह विचारकी अच्छी सामग्री है। जिसके घरमें एक ही लड़का हो और उसके मरनेसे एकही विधवा रह गई हो, वह किसी दूसरे लड़केसे अपनी पुत्रवधूकी शादी करते हुए उस लड़केको गोद लेले तो इस काममें क़ानूनकी कोई भी बाधा न होना चाहिये। निःसन्देह क़ानूनमें इस प्रकारके सुधारकी आवश्यकता है।

परन्तु इससे विधवाविवाहकी समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि यह सुविधा तो सिर्फ उसीको मिल सकती है जो किसी श्रीमन्त कुटुम्बके एकलौते बेटेकी पत्नी है। अगर कुटुम्बमें उसका कोई देवर या जेठ मौजूद हुआ तब गोद लेनेका प्रश्न खड़ा नहीं होसकता। इस जगह तो सिर्फ वही नीति काम आ सकती है कि जिसप्रकार माँ बाप अपनी कन्याकी शादी कर देते हैं और उससे सम्बन्ध बनाये रखते हैं, उसीप्रकार सास ससुर भी अपनी विधवा पुत्रवधू की शादी करके उससे सम्बन्ध बनाये रक्खें।

श्रीमन्त घरानेके लोग तो अपनी पुत्रवधूके लिये पुत्र गोद लेसकेंगे परन्तु ग़रीबोंके लिये लड़के कहाँसे मिलेंगे? क्योंकि ऐसा कौन युवक होगा जो अपने पिताके नामके स्थान पर दूसरे पुरुषके नामको अपनायगा? बड़ी उमरमें धन मिलने पर भी लोग ऐसा करनेको तैयार नहीं होते; फिर कोई कमाऊ युवक ग़रीबका बेटा बननेके लिये क्यों जायगा? यहाँ यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि धनवानोंकी अपेक्षा ग़रीबोंकी संख्या ही अधिक है। इसलिये इस दृष्टिसे यह क़ानूनी सुधार व्यर्थ ही होगा। जिन विधवाओंके सास ससुर जीवित नहीं हैं, उनके लिये भी यह क़ानून किसी उपयोगका न होगा क्योंकि देवर जेठ आदि तो किसीको गोद ले नहीं सकते जिसके साथ उसका विवाह कर दिया जाय फिरभी यह क़ानूनी सुधार आवश्यक और उचित मालूम होता है। अभीतक ऐसी विधवा पुत्रवधूके होनेपर सास सुसर किसीको गोद नहीं लेसकते। हाँ, वह विधवा पुत्रवधू गोद ले सकती है। परन्तु इससे उस बेचारी विधवा का जीवन व्यर्थ ही दुखमय बनता है। जब कुटुम्बमें बाहरका लड़का ही लाना है तब वह इतना बड़ा क्यों न लाया जाय जिससे पुत्रवधूका जीवन भी सुखमय हो जाय और वंश भी चलता रहे?

इस विषयपर क़ानूनके ज्ञाताओंको कुछ प्रकाश डालना चाहिये। जगत्के पाठकोंमें ऐसे बहुतसे क़ानूनवेत्ता हैं जो इस विषयपर काफी प्रकाश डाल सकते हैं। इस चर्चामें उतरनेके लिये उनसे मेरा आग्रह है।

पंचोंकी भूल।

बार्शी (शोलापुर) के सेठ चुन्नीलालजी कोचेटाका एक पत्र मेरे साम्हने है। उससे मालूम मालूम होता है कि बार्शीके सेठ बालचंद जीवराजजी ने तीन चार वर्ष पहिले एक शुद्ध ब्राह्मण लड़कीके साथ इन्दौरमें पब्लिकके साम्हने शादीकी थी उस समय आपने श्वेताम्बर जैन बोर्डके अग्रगण्य प्रेसीडेन्ट आदिसे भी सम्मति लेली थी। इस प्रकार यह काम विधि और समारोहपूर्वक हो चुका था। तीन चार वर्ष हो जाने पर भी पंचोंने किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं की, आपका खानपान वगैरह सारा व्यवहार पहिलेके समान ही चलता रहा।

इस वर्ष न मालूम कुछ लोगोंको क्या कुबुद्धि सूझी कि उनने पर्युषणके स्वामीवात्सल्यके बाद श्रीयुत बालचंद जीवराजजीका निमन्त्रण बन्द कर दिया।

उस समय वहाँ पर मुनि विचक्षण विजयजी भी ठहरे हुए थे। यह मामला आपके साम्हने पेश हुआ। आप के फ़ैसलेका सार यह है कि जैसी रीति अभीतक चली आई है वैसी ही चलने देना चाहिये। इस प्रकार आपका निमन्त्रण खुल जाना चाहिये था, परन्तु कुछ लोग अभी भी खिलाफ हैं और बालचंद जी को जातिसे बाहर कर रक्खा है।

इस समाचारमें कुछ नवीनता तो नहीं है परन्तु मूढ़ता पूरी पूरी है। लोग यह भूलगये हैं कि वर्तमानका जैनसमाज अनेक ऊँची नीची जातियोंकी खिचड़ी है, आज तो वे सब वैश्य बनगये हैं, और अनेक अनावश्यक टुकड़ियोंमें बँटे हुए हैं परन्तु ये सब मूलमें ऐसे न थे। वे दूसरी बात यह भी भूल गये हैं कि जैनियोंके प्रायः सभी महापुरुषोंने अनुलोम प्रतिलोम आदि विजातीय विवाह किये थे, इतना ही नहीं किन्तु उनका सम्बन्ध म्लेच्छों तकसे था। परन्तु मूढ़ और रूढ़िपूजक लोग इस बातको नहीं समझते। खैर, खुशीकी बात इतनी ही है कि मुनि विचक्षण विजयजीने न्यायोचित फैसला सुना दिया है। पंचोंका कर्तव्य है कि उनमें यदि थोड़ा भी विवेक हो तो वे उस फैसलेको स्वीकार करें।

अगर वे ऐसा नहीं करते तो मैं पूछता हूँ कि आखिर पंचोंकी मंशा क्या है? क्या उनकी मंशा है कि बालचंदजी जैनधर्म और जैनसमाजका त्याग करदें? क्या वे अपनी पत्नीका त्याग करके स्वयं व्यभिचारी बनजाँय और एक गरीब अबलाको वैधव्यकी ज्वालामें झोंकदें? क्या पंचोंने कोई सजातीय कन्याके साथ शादी करानेका आयोजन था? यदि नहीं तो किस बलपर उनको रोकनेका अधिकार चाहते हैं?

जिस चीजकी मनुष्यमात्रको आवश्यकता है, वह चीज आप किसीको दे नहीं सकते या नहीं देते और दूसरी जगहसे भी लाने नहीं देते तब समझ में नहीं आता कि आप क्या चाहते हैं? क्या दूसरे शब्दोंमें यह व्यभिचारको उत्तेजित करना नहीं है? मैं आशा करता हूँ कि बार्शीके उपर्युक्त लोग बालचंदजीको सन्मानके साथ मिलाकर धर्म और नीति की रक्षा करेंगे।

अब मैं दो शब्द सेठ बालचंदजीसे भी कह देना चाहता हूँ कि आपने जो कार्य किया है, वह साहसका हो करके भी नया नहीं है, अन्याय नहीं है। आपको निर्भयताके साथ डटे रहना चाहिये। इस कामके लिये आपको किसीके सामने झुकनेकी कोई जरूरत नहीं है। समाजमें निर्भयतापूर्वक स्पष्ट शब्दोंमें कह दीजिये कि—"मैंने जो कार्य किया है वह आत्महित और समाजहितकी दृष्टिसे सर्वथा उचित है, धर्मके अनुकूल है। अगर कोई धर्म इस कार्यको अयोग्य ठहराता है तो वह धर्म नहीं है। अगर कोई समाज विरोध करता है तो वह समाज नहीं है। उस समाज में रहना एक तरहकी कायरता है, पाप है।"

मैं इस विषयपर बहुत विचार करता हूँ कि जो मनुष्य, जातिके बंधनको तोड़कर शादी कर सकता है वह फिर उसी जाति या समाजके साम्हने क्यों गिड़गिड़ाता है? इसका एक ही कारण है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे किसी न किसी तरहकी एक समाज चाहिये। वह स्वयं सम्भवतः बहुत कुछ सहन करसके, परन्तु अपनी सन्तानकी चिन्ता उसे सताती है।

परन्तु आज ये चिन्ताएँ व्यर्थ हैं। समाज भी एक तरहका भूत है। उससे डरो तो वह डराता है; उसके साम्हने निर्भय होकर डटे रहो तो वह न्याय के आगे झुकता है। इस प्रकार समाजके साम्हने डटनेवालोंको सन्तानकी चिन्ता न करना चाहिये, क्योंकि समय ऐसा आरहा है कि इन पंचायतोंकी कायापलट हो जायगी। अगर न भी होगी तो भी इस प्रकार पंचायतोंका साम्हना करनेवालोंका एक ऐसा विशाल समूह बनजायगा जो उन बच्चोंको छातीसे लगायगा। उस विशाल समाजके आगे इन पंचायतोंकी एक न चलेगी।

साहित्य परिचय।

सुदर्शन—सम्पादक श्री० बाबू कामताप्रसाद जैन ऐम०आर०ए०ऐस०और श्री सुदर्शनलाल जैन। प्रकाशक श्री० रेवतीलाल अग्निहोत्री एटा। वार्षिक मूल्य ९)। यह एक जैन दैनिकपत्र है। जैनसमाजमें आजतक कोई दैनिकपत्र नहीं था। यह पहिला ही पत्र है। पत्रकी नीति भी निःपक्ष मालूम होती है। श्रीयुत सुदर्शनलालजीका बड़ा भारी साहस है। दैनिकपत्र स्थानीय बिक्री पर बहुत अवलम्बित रहते हैं, परन्तु जैनसमाजमें यह अशक्य है इसलिये बाहरके ग्राहकों को कुछ अधिक मात्रामें ग्राहक बनना चाहिये तभी यह पत्र चलसकता है। प्रारम्भके दस बारह अंकोंको देखनेसे मालूम हुआ कि पत्र उन्नतिशील है। अगर इसके ग्राहक अधिक संख्यामें बन जाँय तो इसमें सन्देह नहीं कि पत्र और भी अच्छी दशामें निकलने लगे। श्री० सुदर्शनलालजीके साहसकी प्रशंसा करते हुए हम इस पत्रकी सफलता चाहते हैं। श्री० बाबू कामताप्रसादजीने सहयोग देकर पत्रको स्थिर बनाने में मदद पहुँचाई है।

झलमला—लेखक श्री० पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी बी.ए.। प्रकाशक हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय हीराबाग पो० गिरगाँव बम्बई। मूल्य ॥।=)। छोटी-छोटी १६ कहानियोंका यह संग्रह है। कहानियाँ बहुत सीधी सादी हैं। उनकी कथावस्तु (प्लाट) बहुत छोटी है परन्तु प्रायः प्रत्येक कहानी अन्तस्तल में एक टकोर मारती है। अंतिम वाक्य पढ़ते पढ़ते सहृदयताको उभाड़कर आँखोंसे एकाध बूँद गिरवा देती है। कहीं कहीं तो मोपासाकी याद आजाती है। छपाई सफाई आदिके बारेमें तो प्रकाशकका नाम ही काफी है।

जैनीसप्तपदार्थी— मूल लेखक मुनि श्री यशस्वन् सागर जी। संशोधक और परिशिष्टकार मुनि हिमांशुविजय जी। प्रकाशिका विजयधर्मसूरि ग्रंथमाला, छोटासराफा उज्जैन। मूल्य।-)। जैन न्यायका यह एक छोटासा संस्कृत ग्रंथ है। विशेषता इतनी है कि प्रारम्भमें संक्षेपमें जीवादि सात तत्त्वोंका भी विवेचन है। प्रारम्भमें मूल लेखकका गुजरातीमें परिचय है और अन्तमें कुछ विस्तृत परिशिष्ट है इसके बाद छोटासा शब्दकोश भी लगा दिया गया है। पुस्तक अच्छी है।

धर्मवीर महावीर और कर्मवीर कृष्ण—लेखक पं० सुखलालजी, अनुवादक पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ। प्रकाशक आत्मजाग्रति कार्यालय ब्यावर (राजपूताना)। मूल्य -)॥

यह पुस्तक लेखमालाके रूपमें जगत्में निकल चुकी है। महापुरुषोंके जीवनकी वास्तविक घटनाएँ किस प्रकार साम्प्रदायिक लोगोंके द्वारा विकृत हो जाती हैं, चरित्रचित्रणमें एक महापुरुषके जीवन की घटनाएँ दूसरे महापुरुषके जीवनमें किस प्रकार अदल बदल कर पहुँच जाती हैं, आदि बातोंका इसमें बहुत ही सुन्दर सयुक्तिक विवेचन है। पं० सुखलाल जी एक मार्मिक और गंभीर विचारक विद्वान् हैं। आपके लेख पठनीय ही नहीं, संग्रहणीय होते हैं। पचास पृष्ठकी पुस्तकका -)॥ मूल्य भी खूब सस्ता है।

छट्ठा वार्षिक विवरण—दिगम्बर जैन विद्यार्थी सहायक कोष इंदौर अच्छा काम कर रहा है। प्रकाशक प्रबन्धकारिणी समिति सीतलामाता बाजार इन्दौर।
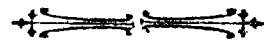
सत्यसमाजपर लोकमत।

(१७)

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० सुखलालजी, प्रो० हिंदू यूनिवर्सिटी बनारस, अपने एक पत्रमें लिखते हैं—

"......आपकी योजना पढ़ी है, परन्तु उसपर विशेष अभिप्राय प्रगट करने योग्य ध्यान नहीं दिया जासका। फिरभी यह योजना अवसरप्राप्त है और फलसाधक होगी, क्योंकि इसमें आपका आत्मा है।

कोई वस्तु पहिलेसे ही पूर्ण नहीं होती, क्रम क्रमसे पूर्ण होती है, इसलिये पहिलेसे ही अगर उसमें कोई त्रुटि मालूम हो अथवा कोई दूसरा दिखलावे तो उसकी पर्वाह नहीं की जासकती। स्वयं संचालक जो जाग्रत रहे तो वस्तु योग्य बनती है; अन्यथा योग्य वस्तु भी सड़जाती है। ... "

इसके बाद आपने सत्याश्रमके स्थानके बारेमें सलाह देते हुए बहुत कुछ लिखा है।

(१८—१९)

श्री० चौधरी धन्नालालजी जैन वैद्यविशारद ऐम० ऐस० बी० डॉक्टर, प्रोप्राइटर जीवनधारा ऑफिस भेलसा (ग्वालियर) से लिखते हैं—

"... ...सत्यसमाजका क़ायम होना समयोचित है। इस जमानेमें इसकी सख्त जरूरत थी। आपने अनेक जीवधारियोंको, राक्षसी समाजोंके कठोर दुर्व्यवहारोंसे दुखी जान, छुड़ानेका मार्ग निकाला, इसके लिये कोटिशः धन्यवाद है। ..... जिस सत्य की खोजमें दुनियाँके प्राणी थे, आप उसके उद्धारक हुए और जनताकी प्यास बुझानेके लिये उसे प्रकाश में लाये, आपका यह कार्य स्वर्णाक्षरोंमें अंकित किये जाने योग्य है।"

इस पत्रके साथही श्री० चिरंजीलालजी बड़ा बाजार भेलसाका पत्र भी आया है। आप दोनों सज्जन सत्यसमाजके जैन पाक्षिक सदस्य बने हैं। संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

१—धन्नालालजी चौधरी वैद्यविशारद। पिताका नाम—चौधरी मन्नूलालजी वैद्य। उम्र—४३ वर्ष। जैन पाक्षिक।

२—चिरञ्जीलालजी जैन। पिताका नाम रतनचन्दजी। उम्र ३६ वर्ष। जैन पाक्षिक।

(२०)

निम्नलिखित सज्जन सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्य बने हैं। नेमीचन्द्रजी जैन। पिताका नाम कुन्दनलालजी। उम्र ३२ वर्ष। पता—खेड़लसागंज इंदौर।

जैनजगत्का नाम।

जैनजगत्के नाम परिवर्तनके विषयमें चारों तरफ से आवाज़ आरही है और सभीको इसकी आवश्यकता मालूम होरही है। पाठक कुछ रायें गतांक में पढ़ चुके हैं। कुछका सार यह है:—

श्रीयुत चुन्नीलालजी कोचेटा बार्शीसे लिखते हैं—

"सत्यसेवक नामकी चर्चा पढ़कर रोम रोम आनन्दसे भरगया। आप सत्यमार्गके बतलानेवाले अवतारी महापुरुषहो। आपका अन्तःकरण निर्मल गंगानदीके माफिक पक्षरहित है। आप जरूर दसवें वर्षके प्रारम्भसे सत्यसेवक नाम रख दीजिये।"

श्रीयुत कनकमलजी मुणोत बी० ए० (ऑनर्स) और श्री० राजमलजी बलदौटा बी०ऐससी०ऐलऐल० बी पूनासे लिखते हैं—'जैनजगत्का नाम बदलनेकी बातपढ़कर बहुत खुशी हुई। आपने जो नाम बताया वह योग्य है। आप जैनजगत्का नूतन नामसंस्कार शीघ्र ही करनेकी कृपा करें।"

श्रीयुत धन्नालालजी जैन वैद्य भेलसासे लिखते हैं—"मेरी रायसे 'सत्यजगत्' नाम रखना अच्छा है।"

श्रीयुत सागरमलजी जैन बेरसिया (भोपाल) से लिखते हैं—

"... ...मुझे भी जैनजगत् नाम खटकता है। कई अजैनभाई पढ़ना व मँगाना चाहते हैं पर ऊपर जैन नाम देखकर ही हाथमें पत्र उठाकर रख देते हैं। मुनासिब समझें तो सत्यप्रचारक या सत्य खोजक नामरख दीजिये। विश्वास है कि आगे बहुतसे अजैनभाई ग्राहक होकर संख्या बढ़ादेंगे। उतनी कमी जैन ग्राहकोंसे न होगी, जितनी कि बढ़ जावेगी। जिसने एक मर्तबा भी जैनजगत्के विचार पढ़ लिये होंगे वे जरूर ही इसके ग्राहक रहेंगे।

सूचना—सत्यसमाजकी नयी नियमावली, 'ससत्यसमाज संघटना और गीतावाली'के नामसे प्रकाशित होगई है। जो सज्जन सदस्य या अनुमोदक बनना चाहें, पत्र डालकर मँगालें। —सम्पादक।

"दृढ़" जी का पत्र

श्रीमान संपादकजी महोदय ।

जय जिनेश

यद्यपि हम आपके "जैन जगत्" को कई वर्षसे लगातार व ध्यानपूर्वक पढ़ते आरहे हैं, परंतु हमारे भक्त हृदयमें जो दि० जैन धर्मके प्रति अगाध प्रेम व श्रद्धा थी, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं होपाया। कई बार जीमें आया कि हम श्रीमान माननीय बैरिस्टर चम्पतरायजी सरीखे निष्पक्ष व उदार विचारककी तरह आपको अपनी पीठ दिखलाकर जैनसमाज को अपनी उदारताका नग्न परिचय दें, परन्तु कुछ इस डरसे कि कहीं बैरिस्टर साहिबकी तरह हमें भी आपकी लताड़ न सुननी पड़े, और कुछ इस विचार से कि आखिर हम उन असामियोंमें से तो हैं नहीं जो 'जैनजगत्' के पढ़नेसे फिसल पड़ें, चुप हो रहे।

हमारे धर्मकी मान्यताओंका आप असफलतापूर्वक खंडन करते तो कोई आपत्तिकी बात न थी परन्तु, हाय ! हाय ! आपने तो सफलतापूर्वक खंडन कर डाला। इससे हमारे श्रद्धालु हृदयको बड़ी करारी ठेस पहुँची है। अतः हम आपको चेतावनी दिये देते हैं कि या तो आप अपनी इन हरकतोंसे बाज आजाइये, नहीं तो हमें अपने किसी श्री १००८ पूज्य सागराचार्यके नामसे शास्त्र लिखकर आठवें नर्कका निर्माण करना पड़ेगा और वहां स्पष्ट शब्दों में लिख दिया जायगा कि—"पं० दरबारीलालजीने जो दिगम्बर जैनधर्मकी मूल-मान्यताओंका बड़ी निर्दयतासे खंडन किया था, उसके कारण उन्हें इस आठवें नर्कमें जाना पड़ा"। आपके नर्कवासके उपरान्त इस शास्त्रको प्रकाशित करके हम अपने पूज्य धर्मकी प्रतिष्ठाको जैसे तैसे फिर पूर्ववत् बनालेंगे और आपके भोले भक्तोंको उस नर्कका भय दिलाकर उन्हें अपने पक्षमें खींच लेंगे। इस प्रकार आपका प्रयत्न तो निष्फल जायगा ही, बल्कि साथ ही आपका नाम सदैवके लिये नर्कगामियोंकी लिस्ट (List) में चढ़ जायगा।

ध्यान रहे कि हम उन व्यक्तियोंमें से हैं, जो हर जगह, हर समय तथा हर हालतमें अपने निश्चय पर मन वचन कायसे मेरु-पर्वतकी तरह अचल व अटल रहते हैं। जब कभी हम कोई निश्चय करते हैं तो अपनी शक्ति-अनुसार खूब सोच समझ कर करते हैं; परन्तु निश्चय कर चुकनेके पश्चात् फिर टससे मस होना हमारी नीति (Principle) के विरुद्ध होजाता है। भले ही कोई आप जैसा हमें हमारे निश्चयकी असत्यता व हानिकारकता भली भांति सुझादे परन्तु हम अपने निश्चयके विरुद्ध कभी भी अपनी अंतरात्मा (Conscience) से अपील नहीं कर सकते। आपकी लेखमाला निकलनेसे बहुत पहिले ही अपना यह निश्चय बनाचुके थे कि प्रचलित दि० जैन धर्म मुक्तिकी सच्ची सनद (Certificate) है और अन्य धर्म तो ढकोसले हैं, अतः अब, यह मानते हुए भी कि आपकी लेखमाला बावन तोले पाव रत्ती सत्य है और हमारी बहुतसी मान्यताएँ गलत व मिथ्यात्वपूर्ण हैं, हम अपना दृढ़निश्चय कैसे पलट सकते हैं ? अगर हम ऐसा कर डालें तो हमारा तो सत्यानाश ही होजायगा, अब तक जितना धर्म साधन किया है वह बिल्कुल निष्फल हो जायगा, और जैनसमाजकी दृष्टिमें अभव्य सिद्ध हो जायँगे।

मुझे तो भय है कि बैरिस्टर चम्पतराय जी, ब्र० शीतलप्रसाद जी, पं० अजितकुमार जी, पं० राजेन्द्रकुमारजी आदि आदि समस्त जैनविद्वान जो आपके विरोधमें एड़ीसे चोटी तकका पसीना बहा रहे हैं, उनमें से बहुतसे किसी न किसी दिन आगे पीछे आपके अद्भुत दरबारके दरबारी अवश्य ही बन जायँगे। सर्वज्ञ भगवानसे प्रार्थना है कि इन विद्वानोंकी निर्मल बुद्धि भ्रष्ट न होने पाये।

चूँकि हम सम्यग्दृष्टि हैं, इसलिये यह हमारा कर्तव्य है कि जो धर्मबन्धु पवित्र दि० जैनधर्मसे डिगता हो उसे ऊँच नीच समझा कर जैसे तैसे फिर उसी मार्ग पर ले आयें अतः हम उसी पवित्र

उद्देश्यको लेते हुए आपको यह पत्र लिख रहे हैं, और भविष्यमें भी पत्रादि लिखते रहेंगे। आपको फिर उसी सरल व आपत्तिरहित-सत्य या असत्य (अपने तो सत्यासत्य के झगड़ेसे कोसों दूर हैं) मार्ग पर लानेका भरसक प्रयत्न करनेमें कोई दक़ीका उठा न रक्खेंगे। यदि आपमें अभव्यता न हुई तो पूर्ण आशा है कि हमारा यह प्रयत्न निष्फल नहीं जायगा।

यदि हमारा यह प्रयत्न सफलीभूत न हुआ तो बतलाए देते हैं कि हम जैसे श्रद्धालु व भोले भक्तों के दुःखित हृदयोंसे निकलती हुई अजेय आहों और आपकी प्रबल व अकाट्य युक्तियोंमें ऐसा घमासान युद्ध होगा कि समस्त धार्मिक जगत, विशेषतः जैन समाज,में त्राहि त्राहि मच जायगी। अतः हम तो आपसे यही कहेंगे कि अब तक जो होगया सो होगया, परन्तु भविष्यमें आप अपनी लेखनशक्ति तथा अन्य समस्त शक्तियाँ आँख मीच कर प्रचलित दि० जैनधर्मकी "जी हुजूरी" में लगादें। इससे आपका जीवन-मार्ग निष्कंटक व सरल हो जायगा और हमें भी अनेक कष्टों व दिक्कतोंसे सहजमें छुटकारा मिल जायगा।

हमारी उपरोक्त बातोंके सम्बन्धमें यदि आपको किसीप्रकारकी शंका हो तो खुशीसे आप हमारे सन्मुख रखियेगा। हम अगले पत्रमें उसका समाधान कर देंगे। —आपका हितैषी, 'दृढ़'।

पुनश्चः—अगले पत्रमें हम आगमकी सहायतासे यह सिद्ध करेंगे कि आपकी लेखमाला सत्य होते हुए भी किस प्रकार आपके लिये तीव्र पापबंध का कारण है।
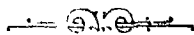
सत्यसमाज व्याख्यानमाला बम्बई।

विषय—साम्प्रदायिकतासे हानि।

उक्त समाजकी ओरसे ग्यारहवाँ व्याख्यान कांग्रेस अधिवेशनके अवसर पर ता० २५-१०-३४ ई० को रात्रिके ७॥ बजे (स्टे० टा०) हीराबाग व्याख्यान-भवनमें आयोजित किया गया था।

कांग्रेसनगरसे हीराबाग ५ मीलकी दूरी पर होते हुए भी उपस्थिति पिछले समस्त व्याख्यानोंकी अपेक्षा अधिक ही हुई थी। व्याख्यान-भवन पूरा भर चुका था। बाहरसे पधारे हुए मुख्य मुख्य व्यक्तियोंमें सेठ अचलसिंहजी आगरा, सेठ नथमलजी चोरड़िया नीमच,श्री अनोखेलालजी अरमरे इन्दौर, पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ सूरत, फतहचन्दजी सेठी और हेमचन्द्रजी सोगाणी एडवोकेट अजमेर, ब्र० पार्श्वसागरजी अधिष्ठाता कुंथलगिरि-ब्रह्मचर्याश्रम, महेशदत्तजी हरदा, अमोलकचंदजी खंडवाके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। स्थानीय सज्जनोंमें से सेठ ताराचन्दजी, कालीशंकरजी अवस्थी, पं० जगदीशचन्द्रजी एम० ए० आदिके नाम उल्लेखनीय हैं।

सर्वप्रथम श्री नथमलजी चौरडियाने अपने भाषणमें मनोनीत विषयपर बोलते हुए बतलाया कि-"हम लोगोंमें इतने भेद हो गये हैं कि जिनकी हम कोई गणना नहीं कर सकते। मात्र जैनियोंमें ही श्वेताम्बर, दिगम्बर, स्थानकवासी, समैया आदि कितनेही भेद हैं। और फिर उनमें भी प्रत्येकमें तेरहपंथी, बीसपंथी आदि कई भेद हो गये हैं। प्रत्येक पंथमें इन भेदोंके अलावा कितनी ही जातियाँ, उपजातियाँ, शाखाएँ, गोत्र आदि न मालूम क्या क्या हैं। इन भेदोंसे हममें मनोमालिन्य आगया है। आपसी मनोमालिन्य और साम्प्रदायिकताके कारण ही सामाजिक कार्यमें हमें बड़ी बाधा उठानी पड़ती है। इस साम्प्रदायिकताके कारण ही हमारेमें आपस में बेटीव्यवहार तक नहीं होता। साम्प्रदायिकताने हमें भ्रातृभावकी दृष्टिसे हेय बना दिया है। जैनियोंमें ही स्थानकवासी कहते हैं—बिना मुँहपर पट्टी लगाये सामायिक नहीं होसकती; दिगम्बरी कहते हैं—स्त्री को मोक्ष नहीं मिल सकता, श्वे० कहते हैं—मूर्तिका शृङ्गार होना ही चाहिये, आदि। इस प्रकारके तीनों सिद्धान्त अल्पज्ञोंको बड़े असमंजसमें डाले बिना

नहीं रहते। उन्हें भिन्न मतोंके होनेके कारण 'किस मतका अनुसरण करना और किसका नहीं करना' का निर्णय करनेमें भारी अड़चनका सामना करना पड़ता है। यदि तीनों सम्प्रदायवाले तीनों भेदोंका समन्वय करके एक सिद्धान्त स्थिर करें तो सहूलियत हो सकती है। इस फूटके कारण ही आज सरकार भी हमें स्वराज्य देते हुए घबराती है और इसीलिये कांग्रेस भी साम्प्रदायिकताको द्वेषकी दृष्टि से देखती है।'

पश्चात् श्रीमहेशदत्तजी मिश्र ने अपने भाषणमें बतलाया कि –

"सम्प्रदायवाद बहुत पुराना है और संसारके इतिहासमें इसका स्थान मुख्य रूपसे है। भारतवर्षमें धार्मिक आचरण, विचार मतभेद आदि कारणों पर ही साम्प्रदायिकवाद अवलम्बित है। उन प्रचलित व्यवहार नियमादिकोंको ही हम साम्प्रदायिकताका रूप देते हैं। आजकी परिस्थितिमें साम्प्रदायिकताका अर्थ धर्मवाद है। आजकी साम्प्रदायिकता हम लोगों की 'संकुचित-मनोवृत्ति' ही है। दुनियाँके देशोंमें हम बदनाम हैं कि इस धर्मवाद या साम्प्रदायिकवादके कारण ही हम स्वराज्य पाने योग्य नहीं है। मात्र हिन्दू और मुसलमानोंका मतभेद ही इसकी साक्षी नहीं है; वरन यह बात छोटी छोटीसी जातियों में, घर-घरमें और टोलियों-टोलियोंमें घुस गई हैं। साम्प्रदायिकता, ऊँच नीच, अच्छे बुरे और बड़े-छोटेका भेद-भाव न रखनेसे नष्ट हो सकती है। हमारे और आपके जीवनमें भी साम्प्रदायिकता आती रहती है। आर्यसमाजकी नींव भी इसी सम्प्रदायवाद पर है। हमें राष्ट्रीय और सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति करनेके लिये साम्प्रदायिकताका सम्मूल नाश करना होगा। और कई कारणोंसे यह सिद्ध हो चुका है कि सम्प्रदायवादके कारण ही देशकी अवनति हो रही है। आज हिन्दू-मुस्लिम सम्प्रदायवाद ही कांग्रेसकी प्रगतिमें मुख्य (Obstacle) बाधा है इसलिये हमें अपनी भावी संतानोंको यह शिक्षा देना चाहिये कि हम जो कुछ करते हैं, देखते हैं आदि सब एक हैं"।

सर्वोपरान्त पं० दरबारीलालजीका व्याख्यान हुआ जो इस प्रकार है :—

"दुनियाँके इतिहासमें जितने पन्ने खूनसे लिखे गये हैं उनमें अधिकांश पन्ने वे ही हैं जो सम्प्रदायवादकी लड़ाइयोंसे रँगे हैं। सम्प्रदायवाद चाहे धर्मका हो, चाहे धर्मसे सम्बन्ध रखने वाली जातियोंका हो, फिर भी सम्प्रदायका रहना अनिवार्य है। इसीलिये मैं यह कहता हूँ कि सम्प्रदाय तो रहे पर उसकी साम्प्रदायिकता न रहनी चाहिये। अहंकारकाभाव निकल जाना चाहिये साम्प्रदायिकतासे मनुष्यमें गुणग्राहकता नहीं रहती। एक कट्टर मनुष्यके पास जाकर यदि महात्माजीके संबंधमें पूछा जाय तो वह उन्हें अपने सम्प्रदायके दुराचारीसे भी अधिक तुच्छ कहेगा क्योंकि कट्टरता और साम्प्रदायिकतामें गुणग्राहकता नहीं होती। साम्प्रदायिकतासे दुनियाँकी, जितनी भी अच्छी बातें ग्रहण करने योग्य हैं, वे सब बंद हो-जाती हैं। यह पहली हानि है।

दूसरी हानि है—'सामाजिक-सहयोग' नष्ट होते हैं। इस प्रश्नके लिये कोई यह समझले कि क्या खाने पीने आदिसे ही एकता होगी? यदि ऐसा वह पूछता है तो उसीसे हम यह पूछते हैं कि क्या हवाईपुल बाँधनेसे एकता होगी?

तीसरी हानि यह है कि हम सत्यके विरोधी बनते हैं, क्योंकि उस समय हमारी बुद्धि यह हो जाती है कि जो कुछ हम बोलते हैं या हमारे ग्रन्थ पोथी, पुराणमें लिखा है, वही सत्य है—बाक़ी सब असत्य हैं, चाहे हमारे शास्त्रोंमें ९९ बातें ही असत्य क्यों न हों।

प्रत्येक साम्प्रदायिक-बुद्धिवाला सत्य और असत्यके मामलेमें सत्य बातकी कभी पुष्टि नहीं करेगा, क्योंकि साम्प्रदायिकतामें अन्धश्रद्धा हो जाती है। साम्प्रदायिक व्यक्तिका विकास नष्ट हो जाता है। साम्प्रदायिक व्यक्ति लकीरका फ़कीर होता है। अ-

व्यक्त रूपमें, सीधे या टेढ़ रूपमें हमारे मनमें जो भावना साम्प्रदायिकताकी भावना बन गई है, उससे हमारी उत्साही भावनाएँ नष्ट होजाती हैं। इस भावनासे हम गुलाम बने हुए हैं, बने रहते हैं, और बने रहेंगे।

हममें साम्प्रदायिकताकी बहुतसी भावनाएँ हैं, जिनसे हमारी जबर्दस्त संगठनशक्ति कई शक्तियोंमे विभाजित हो गई है और वह आपसमें लड़कर शून्यमें परिणत हो गई है!

अब हम साम्प्रदायिकताको नष्ट करनेके लिये कुछ मार्ग बताएँगे—

हमें चाहिये कि हम जो कुछ सोचें, विचारें, बोलें उसे एक साथ करें भी। साधारण बातोंकी दलबन्दी जितनी हास्यास्पद है, उतनी ही हास्यास्पद हमारी धार्मिक दलबन्दियाँ भी हैं। जीवनमें अनेक तत्त्वोंकी आवश्यकता रहती है, इसलिये किसी एक बात पर दलबन्दी करना ठीक नहीं। कोई यह माने कि प्रवृत्तिमय जीवन धर्म है तो हमारी दृष्टिसे तीर्थङ्कर सबसे अधिक प्रवृत्तिमय होगा, क्योंकि उसने करोड़ोंके समुदायको एकत्र कर धर्मकी स्थापना करनेके लिये जितनी प्रवृत्ति की है वह एक असाधारण प्रवृत्ति है। मैं तो इसीलिये आजकलके मुनियोंसे भी यह कहूँगा कि 'तुम खेती करो', क्योंकि आज दुनियाँ को अनाजकी इतनी आवश्यकता है कि जिससे दुनियाँ में बहुतसे प्रश्न हल हो सकते हैं, हमारे देशवासी भूखसे मरते हुए बच सकते हैं। परन्तु ऐसा न कहकर लकीरके फकीर बन जाना, यह हमारी सबसे जबर्दस्त भूल है। मनुष्यको देश, काल और परिस्थितिके अनुसार कार्य—कारणमें भी परिवर्तन करते रहना चाहिये। यदि हम साम्प्रदायिकताकी समाजको छोड़ते हैं, तो परम्पराकी गुलामी भी छोड़ते हैं। हमें चाहिये कि अपने हृदयको कोरे कागजकी तरह बनावें, फिर उस शुद्ध हृदयपर चित्र अंकित करें। तब चित्र अच्छा बन सकेगा।

यदि हम 'सत्य' की पूजा करें तो साम्प्रदायिकता नष्ट हो सकती है और इसीलिये हमें प्रत्येक धर्मप्रवर्तकका आदर करना चाहिये। उसीमें हमारा कल्याण है। हमें चाहिये कि नामकी पूजा न करें, गुणकी पूजा करें। व्यक्तिकी पूजा न करें, व्यक्तित्वकी पूजा करें।"

व्याख्यानके अन्तमें पंडितजीने सत्यकी पूजा करनेके लिये सत्यसमाजके (गतांकमें प्रकाशित) पाँचों उद्देश्योंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया था।

—भानुकुमार जैन।

विविध विषय।

(ले०—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

ब्रह्मचारीजी और जैनगजट।

एक सुप्रसिद्ध परिहासलेखकके प्रहसनमें एक मियाँ-बीबी आपसमें खूब लड़ते हैं और बीबी अपनी ज़बानकी तेज़ कतरनी जब मियाँके मर्मस्थलों पर चलाती है, तब मियाँ तलमला उठते हैं और अपने आपेको भूलकर एक डंडे से बीबीकी हड्डियाँ अच्छी तरह नरम कर देते हैं। बीबी ज़ोर ज़ोरसे चीखने चिल्लाने लगती है और साथ ही साथ अपने मियाँको बुरी तरह कोसने लगती है। यह सुनकर एक पड़ौसी आता है और उसके प्रति समवेदना प्रकाशित करता हुआ मियाँको भला बुरा कहने लगता है और उसे दुरुस्त करनेके लिए दूसरे पड़ौसियोंको बुलाता है। इस पर बीबी उस पड़ौसी पर बरस पड़ती है कि दाढ़ीजार, तू हमारे बीचमें बोलने वाला कौन? मियाँ बीबी मौक़े मौक़े पर लड़ाही करते हैं। तुझे क्या मालूम कि हम प्यार से लड़ते हैं या गुस्सेसे? हायरे, यह कैसा गाँव है? पड़ौसियोंके मारे यहाँ आपसमें लड़ना झगड़ना भी मुशकिल है, इत्यादि। कुछ कुछ यही तमाशा जैनजगत् और उसके प्रतिपक्षीदल की लड़ाईमें दिख रहा है। पं० दरबारीलालजी

के लेखोंकी लगातार पड़ने वाली चोटोंसे चीख चिल्लाहट मची देखकर जब ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने पंडित—पड़ोसियोंको रक्षा करनेके लिए पुकार मचाई, तब जैनगज़ट कहता है कि महाराज, तुम बीचमें बोलनेवाले कौन ? यह आग तुम्हारी ही लगाई हुई तो है। उनसे तो हम पीछे निपटलेंगे, शास्त्रार्थके लिए पहले तुम्हीं आजाओ—पहले हम तुम्हें ही दुरुस्त करेंगे।

जैनगज़ट कहता है—"बाबाजी महाराज, स्पष्ट बात तो यह है कि इसप्रकार उत्सूत्र लेखनी चलानेका सूत्रपात आपही से शुरू हुआ है। आपने विधवाविवाहको धर्मविरुद्ध नहीं माना, दरबारीलालजी सर्वज्ञ नहीं मानते, 'वीर' के सम्पादक वर्णव्यवस्थाको ढकोसला समझते हैं, गरज़ यह कि इस प्रकारकी उच्छृंखलता आप ही के द्वारा फैली है और इसका सुधार वहींसे होगा जहाँसे बिगाड़ हुआ है। इसलिए सबसे पहले विधवाविवाह पर आपको शास्त्रार्थके लिए तैयार होजाना चाहिए, उसके बाद दरबारीलालजीका भी नम्बर आ जायगा।"

× × ×

जैनगज़टके एक और लेखक श्री गयाप्रसादजी पाँडे ब्रह्मचारीजीसे कहते हैं—"जब कोई आपकी इस भूलको (विधवाविवाह-प्रचारको) बतलाता है तो आप झट कह देते हैं कि हमतो आर्षमार्ग पर चलते हैं, परन्तु क्या आपने कभी यह भी सोचाथा कि रोकनेवाले भी तो आर्षमार्ग पर चलनेवाले हैं? इससे अज्ञ जनताके लिए तो आपने ही एक आर्षमार्गके दो कर दिये थे! अब एक और यह तीसरा निकल पड़ा सो इसके जबाबदार सर्वथा आप ही हैं। आपने ही इस नवयुवक सुधारकोंको पहले ही उत्तेजना दी और आपकी ही उत्तेजनासे इनको आगे बढ़नेका मार्ग खुला और साहस हुआ, इसलिए अब आपही जबाब सवाल करें, फिजूलमें विद्वानोंकी शक्ति और समय बरबाद न करावें।"

× × ×

यदि जैनजगत्के प्रतिपक्षियोंका यही निश्चित उत्तर है, तो अब ब्रह्मचारीजीके लिये दोही मार्ग खुले रहगये हैं—एक तो यह कि वे विधवाविवाह को अनार्ष और धर्मविरुद्ध करारदें और अबतक जो पाप किया है उसका प्रायश्चित्त करलें और या स्वयं शास्त्रार्थ करनेके लिए कमर कस लें—विधवाविवाहको आर्ष सिद्ध करनेके लिए या पं. दरबारीलालजीको चुप करनेके लिए। तीसरा सहज मार्ग यह है कि जैनजगत्के विरुद्ध कुछ न लिखें, मौन धारण करलें। परन्तु शायद इसे वे अपनी शानके खिलाफ़ समझेंगे और यह उनकी कुछ न कुछ—सार हो या निस्सार—लिखते रहनेकी प्रकृतिके भी विरुद्ध है।

× × ×

जैनगज़टवाले भी बड़े चंट हैं। उन्होंने एक ढेलेसे दो पक्षी मारे हैं। एक तो सारा दोष ब्रह्मचारीजीके सिर मढ़कर उनके प्रति जो चिरागत द्वेष है, उसे बड़ी सफ़ाईसे प्रकट कर दिया है, और दूसरे अपनी कमज़ोरीको ब्रह्मचारीजीके विधवाविवाह-आन्दोलनकी ओटमें छुपा कर पं० दरबारीलालजीसे शास्त्रार्थ करनेकी झंझट में पड़नेसे छुट्टी लेली है। सचमुच ही उनकी यह बढ़िया सूझ तारीफ़के लायक है। प्रत्युत्पन्नमतित्व (मौक़ेकी सूझ) इसीको कहते हैं।

× × ×

परन्तु ब्रह्मचारीजी की इस शोचनीय अवस्थापर हमें दया आती है। अपनी मान-मर्यादाकी रक्षाके लिए, आर्षमार्गानुगामी कहलानेके लिए वे हज़ार कोशिशें करते हैं, बात बात में धर्मकी दुहाई देते हैं, परन्तु उनके विरोधी बराबर यही रट लगाये रहते हैं कि "सौ सौ गधे खाय चित्तमें एक न दीजै," ये बड़े हज़रत हैं, इनकी बातोंमें न आजाना। और यह संभव नहीं कि ब्रह्मचारीजी अपनी 'गुनाह बेलज़्ज़त' करनेवाली आदतको छोड़ दें। बेचारे आदतसे लाचार हैं।

ऊँची जातिके हिन्दुओंकी संख्यामें कमी।

लखनऊ यूनिवर्सिटीके प्रो० राधाकमल मुखोपाध्याय ने हाल ही में अपने एक व्याख्यानमें सप्रमाण बतलाया है कि पिछले पचास वर्षोंके भीतर संयुक्तप्रान्त और विहारमें २१ फ़ीसदी, पंजाब और बंगालमें ५१ फी सदी और पूर्व बंगालमें ८७ फी सदी मुसलमानोंकी जनसंख्याकी वृद्धि हुई है और संयुक्तप्रान्तके ऊँची जातिके हिन्दुओंकी संख्यामें भारी कमी हुई है। कायस्थोंकी संख्यामें १० फी सदी और ब्राह्मणों तथा राजपूतोंकी संख्यामें ५ फी सदीकी कमी हुई है। परन्तु नीची जातिके हिन्दू बराबर बढ़े हैं। संयुक्तप्रान्तमें पासी १८ फी सदी, चमार ६ फीसदी, विहारमें कुर्मी १८ फीसदी, ग्वाले १० फीसदी और बंगालमें राजवंशी १०० फीसदी, नामशूद्र ३१ फी सदी और माहिष्य १८ फी सदी बढ़ गये हैं। उच्च जातिके हिन्दुओंकी यह दशा बहुतही शोचनीय है। मुसलमानोंकी संख्यावृद्धिका कारण प्रो० साहब उनकी बहुविवाह, विधवा विवाह और वयस्क विवाहकी प्रथाओंको बताते हैं। हिन्दुओंकी छोटी जातियोंमें विधवाविवाह, बहुविवाह आदि की प्रथायें हैं, इसलिए उनमें भी वृद्धि हुई है परन्तु उच्च कही जाने वाली जातियोंमें न तो विधवाविवाह होते हैं और न बहुविवाह। छोटी उम्रके विवाह भी उनमें कसरतसे जारी हैं। इसके सिवाय उनकी विधवायें पतित होकर मुसलमानों और नीची जातियों की संख्या बढ़ाया करती हैं। एक और कारण यह भी है कि ऊँची जातियोंमें स्त्रियोंकी संख्या पुरुषोंकी अपेक्षा कम है। मेरठ और आगरेकी कमिश्नरियोंमें ब्राह्मणों, राजपूतों और जाटोंमें एक हजार पुरुषों के पीछे ७८० स्त्रियाँ हैं और कायस्थोंमें ८२५। पंजाबके ब्राह्मणोंमें८२२, खत्रियोंमें ८१ और अरोड़ों में ८६५ स्त्रियाँ हैं। इसके सिवाय इन ऊँची जातियों में वैवाहिक प्रथायें भी उनकी संख्यावृद्धिमें बाधा डालती हैं। संयुक्तप्रान्तमें इन लोगोंमें एक हजार स्त्रियोंमें ४८० विवाहित होती हैं और उनका पाँचवाँ हिस्सा (विधवायें) सन्तान उत्पन्न नहीं करता।

जैनसमाजके आँकड़ोंसे भी यही सिद्ध होता है। जिन जैनजातियोंमें—सेतवाल, पंचम, चतुर्थ, कासार आदिमें—विधवाविवाह जारी है, उनकी संख्या विधवाविवाह-विरोधी जातियोंकी अपेक्षा बराबर अधिक होती जाती है। जो लोग जैनसमाजके संख्या ह्रासके प्रश्नको कुछ महत्त्व देते हैं, उन्हें उपर्युक्त आँकड़ों पर विचार करना चाहिये।

धर्मविरोधी म्यूज़ियम।

अभी हालही 'विशालभारत बुकडिपो' से 'आज का रूस,' नामकी एक बहुत ही महत्वपूर्ण पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसके मूल लेखक श्री नित्यनारायण बनर्जीने गतवर्ष बोल्शेविकोंके रूसकी यात्रा की थी, और पुस्तकमें उन्होंने अपनी आँखों देखी हुई रूसकी हालतका चित्र खींचा है। रूस ही एक ऐसा देश है जिसने धर्मके नामसे फैले हुए तरह तरह के पाखंडों, मिथ्या विश्वासों और अज्ञानके विरुद्ध जेहादका झंडा खड़ा किया है। उसने बड़े बड़े नगरोंमें कई धर्मविरोधी म्यूज़ियम स्थापित किये हैं, जिन्हें देखकर लोग बहुत ही सरलतासे मिथ्या विश्वासों और उनके प्रचारक पादरियोंसे अपना पिंड छुड़ानेमें समर्थ हो जाते हैं। उक्त पुस्तकमें ऐसे ही एक म्यूज़ियमका वर्णन करते हुए लेखकने जो कुछ लिखा है, उसे हम यहाँ अपने पाठकोंकी जानकारीके लिए ज्यों का त्यों उद्धृत कर देते हैं:—

"घूमते फिरते हम लोग म्यूज़ियमके उस भागमें पहुँचे, जहाँ वे चीज़ें संग्रहीत थीं, जो पहले ज़माने में पवित्र समझी जाती थीं और जिन्हें छूना या जिनकी आलोचना करना, जनसाधारणके विश्वास के अनुसार, असंभव समझा जाता था। इन वस्तुओं में अनेक 'आइकन' (मूर्तियाँ), सोनेकी जिल्दों में बँधी हुई पवित्र बाइबिलें, सलीब आदि थे। क्रान्तिसे पहले हजारों रूसी मुसीबत और खतरेके समय जिन चीज़ोंके सामने अपने सम्पूर्ण विश्वास के साथ घुटने टेक टेककर प्रार्थनायें करते थे, लोक और परलोकके सुखोंके लिए दुआयें माँगते थे,—

अन्ध विश्वासमें कि ईश्वर उनके गुनाह माफ़ कर देगा, जिन जिन चीज़ोंके सामने बैठकर वे अपने अपने पाप क़ुबूल करते थे, आज वही सब चीजें यहाँ नुमाइशका सामान बनी रखी हैं। आज लोग उन्हें हाथसे छूसकते हैं, उनकी बनावटकी नज़ाकत पर बहस कर सकते हैं। अब वे उन्हें पुरानी ऐतिहासिक वस्तुओंसे रत्तीभर अधिक महत्व नहीं देते। फिर भी न तो उनपर वज्रपात होता है, न उनपर और उनके परिवारोंपर महामारीका प्रकोप होता है और न उनका हाथ या ज़बान ही कटकर गिरती है। इस प्रकारकी बातोंसे किसानोंको विश्वास दिलाया जाता है कि जिन चीज़ोंको वे अबतक पवित्र और सर्वशक्तिमान समझकर पूजते आते थे वे वास्तवमें झूठी हैं, निर्जीव हैं, शक्तिहीन हैं। जब वे अपमानसे स्वयं अपनी रक्षा नहीं कर सकतीं, तो दूसरोंकी रक्षा कैसे कर सकती है? ईश्वरकी महिमा का युग, ईश्वरके प्रतिनिधि होनेके दावेदार चमकीली पोशाकोंवाले पादरियोंका ज़माना और आइकन (मूर्तियां) तथा बाइबलकी पवित्रताके दिन बीत गये। धर्मविरोधी भावोंके तैशमें आकर रूसी किसानोंने आइकनों और सलीबोंको जला डाला, बाइबिलोंके पन्नोंको फाड़ फाड़ कर सिगरेट बनाकर फूँक डाले, यहाँ तक कि क़ब्रोंके पत्थर तक उखाड़ कर सीढ़ियोंमें लगा दिये।

"...... उन्होंने (बोल्शेविकों ने) ईसाई धर्मके विरुद्ध प्रमाण और तर्क इकट्ठा करनेमें बहुत सफलता पाई है, और यह कोई छोटी बात नहीं है। उन्होंने सिद्ध करदिया है कि पवित्र बाइबिलमें, जो ईसाईधर्मका आधार है, जो अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे बिलकुल ग़लत हैं। उदाहरणके लिए उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि बाइबिलका यह सिद्धान्त कि सूर्य पृथिवीके चारों ओर घूमता है ग़लत है। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि बाइबिलमें सृष्टिकी जो उत्पत्ति बताई गई है वह उससे बिलकुल भिन्न है, जो विज्ञान प्रमाणित करता है। बाइबिलका कथन है कि ईश्वर ने ही मनुष्योंमें विभिन्न श्रेणियाँ पैदाकी हैं। बोल्शेविक लोग बाइबिलके इस कथनसे यह सिद्ध करते हैं कि उच्च श्रेणीके लोगोंने समाजके कुछ वर्गोंको हमेशा अपनी ग़ुलामीमें रखनेके लिये ही (इस प्रकारके) धर्मकी रचनाकी थी। यहाँ पर बाइबिलके विचारों और सिद्धान्तोंकी तसवीरें बनाकर टाँगी गई हैं और उन्हीं तसवीरोंकी बग़लमें दूसरी तसवीरें हैं जिनमें यह दिखाया गया है कि उन्हीं सिद्धान्तों और विचारों पर विज्ञान क्या प्रमाणित करता है। उन्होंने यहाँ पर अनेक असली चिट्ठियाँ और प्रमाण ऐसे एकत्रित कर रखे हैं जिनसे सिद्ध होता है कि बिशप और पादरी हमेशा जनताके हितोंके विरुद्ध ज़ारका साथ देते थे। यहाँ इस बातका भी सुबूत मौजूद है कि जब कभी देशमें कोई बड़ा राजनीतिक उलट फेर होनेकी संभावना होती थी, तभी पादरी लोग ज़ारकी सलाहसे किसी धार्मिक पर्वकी घोषणा कर देते थे, ताकि धर्मविश्वासी किसानोंका ध्यान उधर बट जाय। जिन धर्मपिताओं (पादरियों) पर जनता अपने सुख-दुःखमें पूरा अन्धविश्वास रखती हो, जिन्हें वह अपना हितचिन्तक समझती हो, उन्हींकी विश्वासघातकताके ये प्रमाण निश्चय ही साधारण जनतामें आग लगा देनेके लिए काफ़ी है। इसके अलावा जब यह दिखाया गया है कि मक्कार और निकम्मे पादरी किस तरह लोगोंको उल्लू बनाते थे, किस तरह धर्मकी दोहाई देकर जनताका दोहन करते थे, तब यह स्वाभाविक ही है कि जनता पादरियोंके विरुद्ध बग़ावत करदे।" पृ० १७७-२०

मानहानि केस—कलकत्तावाले पं० श्रीलालजी काव्यतीर्थ द्वारा बा० जुगमंदिरदासजी जैन और बा० दुलीचंदजी परवार पर जो मानहानि केस चलाया गया था और जिसमें मजिस्ट्रेटकी अदालतसे क्रमशः २५) और १५) रु० जुर्माना हुआ था, उसकी अपील कलकत्ता हाईकोर्टमें की गई थी। उसकी सुनवाई ता० २८-११-३४ को जस्टिस एम० सी० घोष महोदयकी अदालतमें हुई। अदालतने दोनोंही महानुभावोंको निरपराध करारदेते हुए सर्वथा मुक्त कर दिया।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N. 352.

वर्ष १० ता० १ जनवरी

सन् १९३५ अंक ३

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र ।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र ।

जैन जगत्

एक प्रतिका मूल्य दो आने ।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न बुद्धे न हरे हरौ ।
सर्वतीर्थकृतामम्मान्यम्, शिवं सत्यमयं वचः ॥

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई ।

प्रकाशक—फूलहचंद सेठी, अजमेर ।

चन्द्रसागर-संघ छिन्नभिन्न होगया !

मुनिवेषी चन्द्रसागरजीने क्षुल्लक जयसागरजीको सात घरसे भीख माँगकर लानेके लिये जो आज्ञा दी थी तथा इस कारण श्रुतसागरजी, मल्लिसागरजी, जयसागरजी आदिसे जो उनका झगड़ा होगया था उसके समाचार गताङ्कमें प्रकाशित होचुके हैं । भक्तमण्डलीने चन्द्रसागरजीको किसी प्रकार मना कर तथा उनकी खुशामद कर उस समय मामलेको वहीं दबा दिया जिससे उत्सव किसी प्रकार शान्तिपूर्वक निबट जाय तथा कुचामणकी बदनामी न हो । परन्तु तीव्र प्रज्वलित कषायें इस प्रकार दबाई नहीं जा सकतीं । उत्सव समाप्त होनेके कुछ समय बाद ही इनमें फिर झगड़ा खड़ा होगया और जनता को भुलावेमें डालनेके लिये जो जाहिरा शान्तिका ढोंग किया गया था, उसका भंडाफोड़ होगया । श्रीमान् सेठ गम्भीरमलजी पाँड्या, पण्डित जवाहरलालजी शास्त्री तथा अन्य महानुभावोंने इन लोगों में परस्पर मेल करानेके लिये अकथनीय परिश्रम किया, घण्टों इन्हें हाथ जोड़े, इनके पाँवोंमें नाक घिसे परन्तु सब व्यर्थ हुआ । चन्द्रसागरजीने अपनी हठ न छोड़ी सो न छोड़ी । मिती मगसर सुदी १२ को एकाएक चन्द्रसागरजीने क्षुल्लक जयसागरजी को क्षुल्लक पदसे च्युत करके कमण्डलु, पीछी आदि छीन लिये । उपस्थित श्रावकोंमें इससे बड़ा क्षोभ फैला । श्रुतसागरजी मल्लिसागरजी आदि भी, मुनि कहलाने वाले अपने इस साथीकी इस हरकतसे अत्यन्त खिन्न हुए । ये लोग बहुत अर्सेसे चन्द्रसागरजीको शास्त्रानुकूल प्रवर्तन करनेके लिये समझाते आरहे थे । उन्हें चन्द्रसागरजीकी दिन-बदिन बढ़ती हुई उद्दंडताको देखकर उनके साथ आगे अपना निर्वाह होना कठिन प्रतीत हुवा और वे उनसे अलग होगये । चंद्रसागरजीको कुचामणसे केवल एक क्षुल्लक व दो एक श्रावकोंको साथ लेकर विहार करना पड़ा । बादमें मल्लिसागरजीने क्षुल्लक जयसागरजीको ऐलक दीक्षा दे दी तथा सुपार्श्वकीर्ति नाम रख कर अपना शिष्य बना लिया । ये दोनों साथ विहार कर रहे हैं । विश्वस्तसूत्रसे मालूम हुआ है कि श्रुतसागरजी ने कुछ श्रावकोंके समक्ष उपरोक्त घटनाओंके सम्बन्धमें खेद प्रगट करते हुए यहाँ तक कहा था कि "शास्त्रोंमें जो कथन आता है कि पञ्चमकालमें इतने मुनि नर्कगामी होंगे, सो वे

नर्कगामी मुनि हम ही लोग हैं। हम लोगोंमें तो तुम गृहस्थ ही अच्छे हो। हम लोग उत्तमक्षमाधारी कहलाते हैं, परन्तु हम लोगोंके साथ कभी शूद्रजल-त्याग, कभी जनेऊ, कभी लोहड़साजनबहिष्कार, कभी आर्यिका-बहिष्कार, कभी जयसागर-बहिष्कार आदि नित्य नये झगड़े बने ही रहते हैं।" श्रुतसागरजी एक क्षुल्लकके साथ अलग विहार कर रहे हैं।

श्री० सेठ गम्भीरमलजी पाँड्याने इस भ्रममें कि चन्द्रसागरजीके जरिये जैनधर्मकी अच्छी प्रभावना होगी, हजारों रुपया व्यय किया तथा इन्हें मनाये रखनेके लिये अनेक तांत्रिक व अनुष्ठान क्रियाएं कीं। कुचामणके श्रावकोंने भी अनेक कष्ट सहे। परन्तु इन सबका बदला चन्द्रसागरजीने जिस प्रकार चुकाया, धर्मकी हँसी कराई, मुनिधर्मको कलंकित किया, यह अत्यन्त परितापका विषय है। स्वार्थी पंडितलोग इन घटनाओं पर पर्दा डालकर भोली जनताको भुलावेमें डालनेके लिये इन लीलाओंको चौथेकालका दृश्य अथवा धर्मकी प्रभावना बतावें, परन्तु समाज सावधान होती जारही है। सेठ लोग अपनी महत्ता बढ़ानेके लिये इन पोपोंको चाहे जितना पुजानेका प्रयत्न करें और उनके आश्रित श्रावक भी नैतिक दुर्बलताके कारण जुबानसे भले ही कुछ न कहें परन्तु उनका हृदय निःसन्देह इस पोपडम के विरुद्ध विद्रोह कर रहा है और चन्द्रसागरप्रभृति मुनिवेषियोंके प्रति उनकी श्रद्धाभक्ति उठती जा रही है।

—संवाददाता।

भा० दि० जैन परिषद्का ग्यारहवाँ वार्षिक अधिवेशन डोंगरा (ग्वालियर) में ता० २६, २७ दिसम्बरको अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ। सभापतिका आसन जबलपुर निवासी श्री० बा० कस्तूरचन्दजी बी० ए० एलएल० बी० वकीलने सुशोभित किया था। श्रीमान सेठ लक्ष्मीचन्दजीने जैनहाईस्कूलकी स्थापनाके लिये पचास हजार रुपये तथा श्राविकाश्रमके लिये [illegible] रुपये दान दिये। उपस्थित जनतामें भी करीब ६ हजार रुपये हाईस्कूलके लिये प्राप्त हुए। कई उपयोगी प्रस्ताव पास हुए। विशेष विवरण आगामी अंकमें प्रकट होगा।—प्रकाशक।

बधाई—नूतन वर्षारम्भके उपलक्ष्यमें श्रीमान सेठ भागचन्दजी सोनी एम० एल० ए० अजमेर, रायबहादुर तथा बा० नेमदासजी खजानची कार्टरमास्टर जनरल देहलो रायसाहबकी उपाधिसे विभूषित किये गये हैं।

श्रीमती विद्यावती देवी जैन, नागपुर म्युनिसिपल कमेटीकी सदस्या निर्वाचित हुई हैं। बधाई।

लोहड़साजन प्रश्न—नसीराबाद निवासी श्रीमान घीसालालजी सेठीने सिगोद व आसपासके गाँवोंके कुछ व्यक्तियोंपर मानहानिका दावा किया था। उक्त दावा सिटीमजिस्ट्रेट अजमेरकी अदालतमें खारिज होगया। इसपर लोहड़साजनविरोधी पत्र बड़े हर्ष के साथ यह प्रकट कर रहे हैं कि—"लोहड़साजन हार गये", और समाजमें गलत तौरपर भ्रम फैला रहे हैं। उन्हें मालूम होना चाहिये कि यह दावा घीसालालजी सेठीने व्यक्तिगत रूपसे दायर किया था—लोहड़साजनसमाजका उसमें कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः "लोहड़साजन हार गये" यह प्रकट कर समस्त लोहड़साजन समाजको चिढ़ाना कदापि उचित नहीं है। जिस पर्चेके सम्बन्धमें घीसालालजीने दावा किया था उसके सम्बन्धमें कोई लोहड़साजन भाई उसे प्रकाशित करनेवालोंके खिलाफ कानूनी कार्यवाही कर सकता है। समाजहितैषी पुरुषोंके अनुरोधसे ही इस सम्बन्धमें कोई कार्यवाही नहीं की जारही है। आशा है लोहड़साजनविरोधी बन्धु वृथा उत्तेजित होकर ऐसी मूर्खता न करेंगे जिससे यह सामाजिक प्रश्न अदालतोंमें पहुँचे।

—एक जानकार।

—पाटली ग्राममें एक व्यक्ति अपनी बारहवर्षीया कन्याको किसी एक बूढ़ेके हाथ बेचना चाहता था। लड़कीके इनकार करनेपर पिता महोदयने उसकी नाक व हाथकी अँगुली काट डाली!

वर्ष १०

अंक ३

जैनजगत्

पौष कृष्णा ११
वीर संवत् २४६१

ता० १ जनवरी
सन् १९३५ ई०

भगवती अहिंसा ।

सदाचारकी सत्य कसौटी सब धर्मोंका प्राण ।
'त्राहि त्राहि' करनेवालोंका करती है तू त्राण ॥
तूही परम धर्म कहलाती सभी सुखोंकी खानि ।
तेरे दृष्टि-तेजसे होती निखिल दुःखतम हानि ॥

राम, कृष्णका कर्मयोग तू जैनोंका तपध्यान ।
बौद्धोंकी करुणा है तू ही जननी जनक समान ॥
तू ही सेवाधर्म यीशु का है तेरा इसलाम ।
तीर्थंकर पैगम्बर पैदा करना तेरा काम ॥

तेरे ही पदरज अञ्जनसे ज्ञान नयनकी भ्रान्ति ।
मिट जाती है और सभीको मिलती सच्ची शान्ति ॥
तेरे वरद हस्त की छाया से हटते सब ताप ।
तेरा दुग्धपान करने से कटते सारे पाप ॥

तेराही अञ्चल बनता है सघन वज्रमय कोट ।
जिससे टकराकर रहजाती विपदाओंकी चोट ॥
उसही अंचलकी छायामें सारा जग म्रियमाण ।
स्वास्थ्यलाभ करके करता है सच्चा निज कल्याण॥

तीर्थंकर पैगम्बर देवी देव दिव्य अवतार ।
नर से नारायण बनते हैं हर करके भूभार ॥
हैं सब तेरे पुत्र सभी का करती तू निर्माण ।
भगवति, सबके अश्रु पोंछकर करती दुखसे त्राण ॥

सत्य अचौर्य ब्रह्म अपरिग्रहका तू केन्द्र स्थान ।
तेरी प्राप्ति खींच लाती है सब सुख के सामान ॥

क्षमा शौच सत्याग आदि सब हैं तेरे ही अंग ।
तबतक क्रिया न धर्म न जबतक चढ़ता तेरा रंग ॥

जगदम्बे! भगवती! सभी जन गाते तेरा तान ।
तेरे रोम रोम के भीतर हैं ब्रह्मांड महान ॥
माता! दुखित जगत्के जीवोंपर निज अंचल तान ।
करुणाकर रखले गोदीमें सबको एक समान ॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

जैनधर्मका मर्म ।

(५५)

केशलौंच भी मुनियोंका मूलगुण माना जाता है। कमसे कम दोमास और अधिकसे अधिक चार मासमें* साधुको सिरके, दाढ़ीके, और मूँछोंके बाल उखाड़ डालना चाहिये। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में यद्यपि यह मूलगुणोंमें नहीं रक्खा गया है, फिर भी दिगम्बरोंके समान उनमें भी यह एक अनिवार्य नियम माना जाता है। साधु कष्टसहिष्णु है कि नहीं, इसकी जाँचके लिये यह मूलगुण बनाया गया है। कायर लोग साधु-संस्थामें न घुस आवें, इसके लिये भी यह मूलगुण उपयोगी हुआ था। उस समयको देखते हुए इस प्रकार शारीरिक कष्टसहन उपयोगी समझा गया; परन्तु आज इसकी जरूरत नहीं है। सच्ची साधुता शारीरिक कष्टसहनमें नहीं है; बल्कि इससे तो अनेक

*बियतिय चउक्कमासे लोचो उक्कस मज्झिम जहण्णो ।
सपडिक्कमणे दिवसे उववासेणेव कायव्वो ॥ मूलाचार १-२९

गुणहीन व्यक्ति साधुसंस्थामें घुसजाते हैं और विद्वान लोग नहीं जा पाते। हाँ, आवश्यकता हो तो यह कष्ट भी सहन किया जाय, परन्तु इससे किसीका कुछ लाभ तो है ही नहीं, तब निरर्थक कष्टकी क्या आवश्यकता है? हाँ, कष्टसहिष्णुता बढ़ानेके लिये कायक्लेश आदि तप किया जासकता है; परन्तु कायक्लेश तो इच्छानुसार होता है, वह कोई अनिवार्य शर्त नहीं है। केशलौंचको मूलगुण बनाना इस समय बिलकुल निरुपयोगी है।

प्रश्न— साधु तो निष्परिग्रह होता है; उसके पास उस्तरा वगैरह नहीं होसकते और न वे दीनता दिखला सकते हैं जिससे क्षौर करानेके लिये किसी से प्रार्थना करें। इसलिये लौंचके सिवाय उनके पास दूसरा उपाय क्या है?

उत्तर—निष्परिग्रहताका यह अर्थ नहीं है कि वह स्वच्छताके उपयोगी उपकरण भी न रक्खे। खैर, यहाँ तो साधुता और अपरिग्रहताकी उदार व्याख्या की गई है, इसलिये यह प्रश्न खड़ा ही नहीं होता, परन्तु दूसरी बात यह है कि प्राचीन परम्पराके अनुसार भी क्षौरकर्ममें कोई बाधा नहीं आती। क्योंकि जब साधुको पढ़नेके लिये पुस्तकें मिलती हैं, पहिननेके लिये कपड़े मिलते हैं, व खानेके लिये भोजन और बीमारीमें औषध मिलती है, तब क्षौरके लिये एकाध उपकरण न मिले या कोई क्षौर न करादे, यह कैसे होसकता है? जिस प्रकार श्रावक आहारदान करते हैं, उसी प्रकार क्षौरदान भी कर सकते हैं। इसलिये अपरिग्रहकी ओटमें क्षौरका विरोध नहीं किया जा सकता। हाँ, कष्टसहिष्णुताकी परीक्षाके नामपर ही इसका कुछ समर्थन किया जासकता है, परन्तु आजकल तो वह भी ठीक नहीं है। किसीकी इच्छा हो और इस तरहके कायक्लेशका अभ्यास करना हो तो वह भलेही करे परन्तु यह न तो मूलगुणों में रक्खा जासकता है, न उत्तरगुणोंमें।

नग्नता—यह दिगम्बर सम्प्रदायके साधुओंके लिये मूलगुण है। म० महावीरके समयमें बहुतसे जैनसाधु नग्न रहते थे। स्वयं महात्मा महावीर भी नग्न रहते थे, फिर भी उस समय यह मूलगुण नहीं था। दिगम्बर, श्वेताम्बर भेद हो जानेके बाद जब दोनों पक्षोंमें तनातनी होने लगी, तबसे दिगम्बर लोगोंने आवश्यकतासे अधिक इस पर जोर दिया और इसे मुनियोंके लिये मूलगुण बना दिया; और श्वेताम्बरोंने नग्नताका विच्छेद कर दिया। परन्तु मालूम ऐसा होता है कि महात्मा महावीरके समय में दोनों तरहके साधु होते थे। जिनकल्पी साधु नग्न रहते थे और स्थविरकल्पी वस्त्र धारण करते थे। जिनकल्प और स्थविरकल्प, ये दोनों शब्द ही कुछ अपना इतिहास बताते हैं। अगर इन शब्दोंका सीधा अर्थ किया जाय तो जिनकल्पका अर्थ 'जिनके समान' और स्थविरकल्पका अर्थ 'बूढ़ोंके समान' होता है। महात्मा महावीर जिन थे, इसलिये जो लोग उनके समान नग्न रहते थे वे जिनकल्पी कहलाते थे और जो लोग स्थविर अर्थात् बूढ़े=पुराने=म० महावीर से भी पहिलेके अर्थात् म० पार्श्वनाथके अनुयायिओं के समान रहते थे अर्थात् वस्त्रधारी थे, वे स्थविरकल्पी कहलाते थे। इससे मालूम होता है कि जैन सम्प्रदायमें भी वेशको इतना महत्त्व नहीं है।

हाँ, जिसप्रकार एक सेनाके सैनिकोंको एक सरीखी पोशाक पहिनना जरूरी समझा जाता है जिससे वे एक दूसरे को पहिचान सकें और साधारण जनताको भी उनको पहिचाननेमें सुभीता हो उसी प्रकार साधुसंस्थामें भी कोई नियत वेष (Uniform dress) हो तो कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु उसे साधुताकी अनिवार्य शर्त मान लेना हास्यास्पद है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें भी एक वेष नियत है परन्तु उस वेषको मूलगुण नहीं बनाया गया। और, शास्त्रोंमें तो वेषकी उदारताके प्रमाण दोनों सम्प्रदायोंमें पाये जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि श्वेताम्बर शास्त्रोंमें उस उदारताका विस्तृत वर्णन है और दिगम्बर शास्त्रोंमें संक्षिप्त। परन्तु इससे इतना

तो मालूम होता है कि दोनों सम्प्रदायोंमें वेषसंबंधी उदारता है।

श्री उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ भाष्यमें स्पष्ट लिखा है:-

"लिंग दो तरहका है, द्रव्यलिंग और भावलिंग। भावलिंगकी अपेक्षासे सभी मुनि भावलिंगमें होते हैं अर्थात् मुनित्वके परिणाम सबमें पाये जाते हैं, परन्तु द्रव्यलिंगकी अपेक्षा उनमें भेद है अर्थात् उनका वेष अनेक तरहका होसकता है"।

"द्रव्यलिंग तीन तरहका होता है। अपना लिंग अर्थात् जैन मुनिका वेष, अन्य मुनियोंका वेष और गृहस्थोंका वेष। इनमेंसे किसी भी वेषसे मोक्ष प्राप्त होता है"।

दिगम्बर आचार्य श्री पूज्यपादके शब्द भी भाष्यसे मिलते जुलते हैं। और इन्हींके शब्द आचार्य अकलङ्क देवने भी ज्योंके त्यों उद्धृत किये हैं–

"भावलिंगकी अपेक्षासे पाँचों ही निर्ग्रंथ होते हैं, द्रव्यलिंगकी अपेक्षासे उनमें भेद है।

इसप्रकार दोनों सम्प्रदायोंमें नियत वेषको कोई महत्त्व नहीं है। दोनों ही सम्प्रदाय, वेषका साधुता के साथ कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं बताते। यद्यपि पीछेसे दुराग्रहवश वेषकी कट्टरता भी आगई है, परन्तु इस कट्टरतारूपी धूलिके नीचे उदारताकी चमक बिलकुल साफ मालूम होती है। दिगम्बराचार्य श्री कुंद कुंद इसीलिये § कहते हैं—

'भावही वास्तविक लिंग है, द्रव्यलिंग वास्तविक लिंग नहीं है, क्योंकि गुण और दोषोंका कारण भाव ही है।'

कहनेका मतलब यह है कि जहाँ समभाव है वहीं साधुता है, फिर भले ही वह नग्न रहता हो या कपड़े पहिनता हो, जैन वेषमें रहता हो वा अन्य किसी वेषमें, साधुका वेष रखता हो या गृहस्थ का। उपाध्याय श्री यशोविजय * का कहना इसविषय में बहुत ही ठीक है—

"जैन लिंगको छोड़कर अन्यलिंग—दंड, कमण्डलु, त्रिदंड आदि—से जो लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं उसका कारण समभाव ही है। इसीसे रत्नत्रयका फल प्राप्त होना है, जिससे सच्चा जैनत्त्व मिलता है।"

वेषकी उदारताके—दिगम्बर सम्प्रदायमें-प्रमाण तो मिलते ही हैं परन्तु प्रवृत्तिरूपमें भी यह उदारता आ चुकी है। भट्टारक लोग—जो कि शाही ठाटबाट में रहते थे और अब भी रहते हैं—दिगम्बर ही माने जाते हैं, और उनमें कई तो अपनेको कट्टर दिगम्बर समझते थे और हैं। वेषकी उदारताका यह प्रबल प्रमाण है, साथ ही इसमें कुछ अतिरेक भी है जो कि आवश्यकतावश करना पड़ा था। क्या ही अच्छा होता यदि यह उदारता उसी समय आगई होती जबकि दिगम्बर, श्वेताम्बर नामके दो संघ पैदा हुए थे।

व्यावहारिक उदारताके कुछ नमूने और भी पेश किये जासकते हैं। जब नग्न मुनियोंको देखकर लोग उपद्रव करने लगते थे, तब उनके आचार्य चटाई वगैरह लपेटनेकी आज्ञा देदेते थे। अथवा कभी कभी जब कोई प्रभावशाली व्यक्ति मुनि होना चाहता था, किन्तु पुरुषचिन्ह वगैरहमें दोष होनेसे वह लज्जित होता था अथवा ठंड वगैरह नहीं सह सकता था तब उसके लिये दिगम्बर मुनि होते हुए

* लिंगं द्विविधं द्रव्यलिंगं भावलिंगं च। भावलिंगं प्रतीत्य सर्वे पञ्च निर्ग्रन्था भावलिंगे भवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्यभाज्याः। तत्त्वभाष्य ९–४९।

† द्रव्यलिंगं त्रिविधं स्वलिंगं, अन्यलिंगं, गृहिलिंगं इति तत्प्रति भाज्यम्। १०–७।

‡ भावलिंगं प्रतीत्य पंच निर्ग्रन्थ लिंगिनोभवन्ति द्रव्यलिंगं प्रतीत्यभाज्याः। सर्वार्थसिद्धि ९-४७, राजवार्तिक ९–४७-४।

§ भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंगं च जाण परमत्थं। भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बिंति। भावप्राभृत।

* अन्यलिंगादि सिद्धानामाधारः समतैव हि। रत्नत्रय फल प्राप्तेर्यया स्याद्भाव जैनता। अध्यात्मसार–समताधिकार–५०।

भी नग्नताकी शर्त उठाली जाती * थी।

इससे इतना तो मालूम होता है कि न तो दिगम्बर सम्प्रदायमें वेषकी एकान्तता थी, न श्वेताम्बर सम्प्रदायमें। व्यावहारिक उदारता भी दोनों सम्प्रदायों मे रही है तथा वास्तविक साधुताका नग्नताके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिये नग्नताको मूलगुणमें स्थान नहीं मिल सकता।

नग्नता हरएक सम्प्रदायमें रही है, परन्तु किसी सम्प्रदायके लिये अनिवार्य नियम बनालेना ठीक नहीं है। साथही इसबातका खयाल रखना चाहिये कि इससे किसीको कष्ट न हो। जहाँ नग्नताका रिवाज मृतप्राय हो वहाँ नग्न रहकर स्वतंत्रविहार करना महिलाओंके साथ अन्याय करना है।

प्रश्न—जब नग्न बच्चोंको देखकर स्त्रियोंको बुरा नहीं मालूम होता, और पशुओंको देखकर भी बुरा नहीं मालूम होता तब मुनियोंको देखकर बुरा क्यों मालूम होगा?

उत्तर—जिस प्रकार छोटे छोटे बालकों और बैलोंको नग्न देखकर स्त्रियोंको बुरा नहीं मालूम होता, उसी प्रकार छोटी छोटी बालिकाओं और गायोंको नग्न देखकर पुरुषोंको बुरा नहीं मालूम होता, तब क्या इसी आधारपर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पुरुष नग्न साधु बनकर स्त्रियोंके सामने निकलते हैं उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नग्न साध्वी बनकर पुरुषोंके सामने निकला करें? यदि नग्न स्त्रियोंको पुरुष सहन नहीं कर सकते तो नग्न पुरुषोंको स्त्रियाँ कैसे सहन कर सकती हैं? खैर, किसका नग्नदर्शन आपत्तिरहित है, और किसका नहीं, इस विषयकी संक्षेपमें मनोवैज्ञानिक मीमांसा कर लेना चाहिये।

बात यह है कि जिनके जिन चिन्होंको देखकर रतिकर्मकी अत्यधिक स्मृति होती है, उनको देखने का त्याग कराया जाता है। पशुओंके साथ मनुष्यका कोई लैंगिक सम्बन्ध न होनेसे उनको नग्न देखकर के भी हमारी वह स्मृति जागृत नहीं होती, या अत्यल्प जागृत होती है। इसलिये पशुओंकी नग्नता विचारणीय नहीं है। बालकोंके विषयमें भी यही बात है। पशुओंमें जहाँ जातीय विषमता है, बालकोंमें वहाँ परिमाणकी लघुतासे विषमता है। यह विषमता रतिकर्मकी स्मारकताको शून्यप्राय कर देती है, इसलिये पशु और बालकोंकी नग्नता असह्य नहीं होती। साधुके विषयमें यह बात नहीं कही जासकती। वह भले ही वीतराग हो, परन्तु उससे उसके अङ्ग नहीं मिट जाते, उनकी स्मारकता नहीं चली जाती।

प्रश्न—नग्नताका प्रश्न सिर्फ वेषका ही प्रश्न नहीं है, किन्तु निःपरिग्रहताका भी प्रश्न है। मुनिको पूर्ण अपरिग्रही होना आवश्यक है, जब कि कपड़ा रखने मे पूर्ण निःपरिग्रहताका पालन नहीं हो सकता।

उत्तर—अपरिग्रहव्रतका विवेचन पहिले इसी अध्यायमें किया जाचुका है। उससे मालूम होजाता है कि अगर आसक्ति न हो, संग्रह करनेकी वासना न हो तो कपड़ा, परिग्रह नहीं कहला सकता। अनासक्तिकी अवस्थामें कपड़ा, दया तथा स्वास्थ्यरक्षाका उपकरण है। नग्न देखकर दूसरोंको कोई कष्ट न हो इसप्रकारकी दयासे अंग ढकने लायक कपड़ा रखना कपड़ेको दयाका उपकरण बनाना है, तथा शीतादि कष्टसे स्वास्थ्य नष्ट न हो जाय इस विचारसे कपड़ा स्वास्थ्योपकरण बनता है। मुनिको शरीरकी पर्वाह नहीं होती, इसका यह मतलब नहीं है कि वह आवश्यकताके बिना भी स्वास्थ्यनाश करता है। कर्तव्यके लिये शरीरका उत्सर्ग करना या उसकी पर्वाह न करना एक बात है और व्यर्थ ही कष्ट उठाना दूसरी। इस दूसरी बातसे अपरिग्रहका कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि कभी कभी विवेकशून्यता तथा हठग्राहिता

---

*म्लेच्छो किल नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेनमण्डपदुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनां इत्यपवाद वेषः। तथा नृपादिवर्गोत्पन्नः परम वैराग्यवान् लिंगशुद्धिरहितः उत्पन्नमेहनपुट दोषः लज्जावान् वा शीताद्यसहिष्णुर्वा तथा करोति सोऽप्यपवादः प्रोच्यते। दर्शनप्राभृत टीका—२४।

के कारण इसका सम्बन्ध मिथ्यात्वसे हो जाता है।

किसी चीजका उपयोग करनेसे ही वह परिग्रह नहीं हो जाती। नहीं तो जमीनपर चलनेसे जमीन भी परिग्रह हो जाय। इसी प्रकार भोजन करनेसे अन्न और जल भी परिग्रह होजाय। आसक्ति होने पर शरीर भी परिग्रह है। भावलिंगके वर्णनमें शरीर को भी परिग्रह कहा है और सच्चा साधु बननेके लिये शरीरके त्यागका * भी उपदेश है। परन्तु शरीरका त्याग कर देनेपर वह जीवित ही कैसे बचेगा ? इसलिये शरीर त्यागका मतलब उससे ममत्व अर्थात् आसक्तिका त्याग है। कर्तव्यमार्गमें शरीर-प्रेम बाधक न बन जाय, यही भावना शरीरकी अनासक्ति है। कपड़ेके विषयमें भी यही भावना रखते हुए उससे स्वास्थ्यरक्षा आदि करना चाहिए।

अगर नग्नताको निष्परिग्रहताका अनिवार्य चिन्ह बना लिया जाय तो साइबीरिया आदि देशोंमें साधु-संस्थाका खड़ा करना असंभव हो जायगा। काश्मीर आदिमें भी शीतऋतुमें नग्न रहना कठिन है। वहाँ नग्न रहनेसे शीघ्रही स्वास्थ्य खराब होजायगा। तब वह आत्मोपकार और जगत्सेवा करनेके बदले आत्मापकार करेगा तथा दूसरोंसे सेवा करायगा। इसलिये नग्नताके लिये एकान्त आग्रह न रखना चाहिये।

नग्न वेष वहीं उचित कहा जासकता है, जहाँपर नग्न रहनेकी प्रथा खूब फैल गई हो, स्त्री पुरुष नग्न रहने लगे हों, अथवा वस्त्र इतने दुर्लभ होगये हों, कि लँगोटी लगानेसे भी समाजके ऊपर बोझ पड़ता हो, आदि। द्रव्यक्षेत्रकालभावके अनुसार इसका निर्णय करलेना चाहिये, परन्तु नग्नताके बिना साधुता नहीं रहसकती—यह एकान्त आग्रह कदापि न रखना चाहिये। इसलिये नग्नताको मूलगुण नहीं माना जासकता।

अस्नान और अदंतमण—स्नान नहीं करना और दतौन नहीं करना, ये भी मूलगुणमें शामिल समझे जाते हैं। ढाई हजार वर्ष पहिले मुनियोंके लिये सम्भवतः इस व्रतकी जरूरत हुई होगी परन्तु आज इसकी बिलकुल आवश्यकता नहीं है। यह भी सम्भव है कि दिगम्बर, श्वेताम्बर भेद होजानेके बाद ही इन्हें मूलगुणमें स्थान मिला हो। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूलगुणोंमें इनका नाम नहीं है, यद्यपि पालन तो उनके यहाँ भी होता है। स्नानसे स्वच्छता आती है और कभीकभी स्वच्छतासे शृङ्गारीभाव पैदा होजाते हैं तथा इससे वस्त्र पात्र का परिमाण भी बढ़ाना पड़ता है इसलिये यह नियम बनाया गया था। उस समय साधु भी जंगलके स्वच्छ वातावरणमें रहते थे इसलिये अस्नानकी स्वास्थ्यसम्बन्धी हानियाँ न खटकती थीं। परन्तु आज वे खटकती हैं। मलिनता से कृमि आदि पैदा होते हैं, दुर्गंध पैदा होती है जो अपनेको और दूसरोंको निरर्थक कष्ट देती है। इसलिये स्नान करना आवश्यक है। दंतवनतो औरभी अधिक आवश्यक है। अगर पशुकी तरह रूक्ष आहार लिया जाय, भूखसे अधिक न खायाजाय तो योंभी दाँत साफ़ रह सकते हैं। सम्भवतः इसी आशयको लेकर यह व्रत बनाया गया हो, जिससे लोग दुर्गंधके भयसे बहुत क़ीमती आहार लेकर समाजपर अधिक बोझ न डालें। परन्तु उसका असली उद्देश्य तो नष्ट हो गया, सिर्फ़ बाहिरी क्रिया बची रही। दँतौन न करने का व्रत उन्हींको पालन करना चाहिये जिनके दाँत दँतौन न करने परभी स्वच्छ रह सकते हों। जिनके दाँतोंमें स्वच्छता नहीं रहपाती, दुर्गंध आतीहै, उनको दाँत साफ़ करना ही चाहिये।

कहाजाता है कि दाँत साफ़ करनेसे दाँतोंके कीड़े मरते हैं। यदि ऐसा है तबतो दाँत अवश्य साफ़ करना चाहिये अन्यथा दाँतोंके कीड़े धीरेधीरे इतनी अधिक संख्यामें वहाँ अड्डा जमालेंगे कि थोड़ी सी भी हर-

---

* देहादि संग रहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू॥
—भावप्राभृत ५६।

देहो बाहिरगन्थो अण्णो अक्खाण विसय अहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो॥
—आराहणासार ३३।

कतसे वे मरेंगे, हिंसा किये बिना दाँतोंको हिलाना भी मुश्किल होगा। इसलिये यह अच्छा है कि निरन्तरकी इस महान हिंसासे बचनेके लिये प्रारम्भमें थोड़ीसी हिंसा करली जाय। यह विवेकपूर्ण अहिंसा ही कहलायगी। इस दृष्टिसे उपवासके दिन भी दँतौन करना उचित है।

भूशयन—जमीनपर सोना भी एक मूलगुण है। साधुकी कष्टसहिष्णुता तथा निष्परिग्रहताको बढ़ानेके लिये तथा आरामतलबीको दूर करनेके लिये यह नियम बनायागया था। अपने समयके लिये यह बहुत उपयोगी था, और अमुकअंशमें आज भी उपयोगी है। उससमय साधुसंस्थाको परिव्राजक अर्थात् भ्रमणशील बनाना जरूरी था, इसलिये अगर भूशयनका नियम न होतातो मुनिलोगोंके सिर पर सामानका इतना बोझ होजाता कि वे स्वतंत्रतासे भ्रमण नहीं करसकते थे। इसलिये भक्तोंको उनके साथ नौकर चाकर रखना पड़ते। रास्तेमें अगर कोई बिस्तर चुरालेता तो बेचारे मुनियोंकी गतिही रुक जाती, इसलिये यह नियम बनाकर बहुत अच्छा किया गया। परन्तु आज गमनागमनके साधन बदलगये हैं तथा सुलभ होगये हैं, उसकी आवश्यकता भी बढ़ गई है, साथही वस्त्रादिका उत्पादन भी बढ़गया है। सिवा करनेके तरीके भी बदलगये हैं। इसलिये यह व्रत सिर्फ अभ्यासके लियेही रखना चाहिये, मूल गुणमें डालने लायक नहीं है। हाँ, साधुमें इतनी मानसिक सहनशक्ति अवश्य होना चाहिये कि वह आवश्यकता पड़ने पर सन्तोषके साथ भूशयन कर सके।

खड़े आहार लेना—यह भी एक मूलगुण समझा जाता है। जब साधु नग्न रहता था, पात्र नहीं रखता था, और श्रावकके यहाँ भोजन लेता था और स्नान नहीं करता था, तब उसके लिये यह उचित था कि वह खड़े खड़े आहार ले। क्योंकि बैठकर आहार लेनेपर अन्नसे उसका शरीर भिड़ जायगा, जिसके लिये उसे स्नान करना पड़ेगा। इसलिये जिनकल्पी साधुके लिये यह नियम उचित था। परन्तु जब नग्नता आदिके नियम आवश्यक न रहे, न अस्नान व्रत रहा, तब खड़े आहार लेनेकी कोई जरूरत नहीं रही। आजकल यह बिलकुल अनावश्यक है।

एक ही बार भोजन लेना—यह नियम है तो अच्छा, फिर भी मूलगुणमें रखने लायक नहीं है, क्योंकि एकही बार भोजन करनेसे जहाँ एक तरफ स्वास्थ्य-हानि है, वहाँ दूसरी तरफ स्वास्थ्यहानिके साधनोंकी कमी नहीं होती। एकभुक्तिसे यह समझा जाता है कि मनुष्य कम खायगा। परन्तु, जब सदाके लिये यह नियम बनजाता है तब कम खानेकी बात निकल जाती है, एकही बारमें दो बारका भोजन पहुँच जाता है। अपथ्य और अजीर्णकी सारी शिकायतें ज्यों की त्यों होजाती हैं। बल्कि दूसरीबार भोजन न मिलनेकी आशासे जरूरतसे ज्यादः भी ठूँस लिया जाता है। अजीर्ण आदि रोकनेके लिये एकभुक्तिका नियम बिलकुल व्यर्थ है। यह बाततो खानेवालेकी इच्छापर निर्भर है कि वह अजीर्णसे बचारहे।

हाँ, भोजनकी लोलुपताको रोकनेमें थोड़ी बहुत सहायता मिलसकती है। परन्तु वह भी इच्छापर निर्भर है, अन्यथा एकभुक्तिमें भी रसना इन्द्रियकी आज्ञाके अनुसार मनमाना नाच किया जासकता है। इसलिये एकभुक्तिको मूलगुण बनाना उचित नहीं। हाँ, समयकी बचतके लिये यह शिक्षाव्रतके स्थानपर रक्खा जासकता है। उसमें पानीकी तथा औषधकी छुट्टी सदाके लिये होना चाहिये। बीचमें आवश्यकता होनेपर भी पानी न पीनेसे स्वास्थ्यको धक्का लगता है। इससे अपने कर्तव्यमें हानि होती है और दूसरोंकी परेशानी बढ़ती है। इसलिये पानी न रोकना चाहिये। उपवासमेंभी पानी पीना उचित है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो २७ मूलगुण कहेगये हैं, उनमें दो तरहके पाठ हैं। पहिले समवायांगके पाठके अनुसार अहिंसादि पाँच व्रत दोनों सम्प्रदायोंमें हैं जिनको मैंने यहाँ भी स्वीकार किया है। सिर्फ

उनकी व्याख्या समयानुसार की है। पाँच इन्द्रिय-विजयके विषयमें भी कहचुका हूँ। बाकी मूलगुण कुछ अव्यवस्थित, पुनरुक्त और अस्पष्ट मालूम होते हैं। क्रोधमानमायालोभके त्यागको चार मूलगुण माना है, परन्तु ये ऐसी बातें हैं जिनका निर्णय करना कठिन है। बल्कि यों कहना चाहिये कि इन को दूर करनेके लिये तो साधुसंस्थामें प्रवेश है। फिर इनको मूलगुणमें रखनेका क्या मतलब? आगे तीन तरहके सत्य, तीन मूलगुण माने गये हैं। उनमें भावसत्यका अर्थ है, अन्तरात्माको शुद्ध रखना। इसके लिये तो चारित्रके सारे नियम हैं, फिर इसको मूलगुण बनानेकी जरूरत क्या है? अथवा सिर्फ इसे ही मूलगुण बनालेना चाहिये और बाकी मूलगुणोंको दूर कर देना चाहिये। करणसत्यका अर्थ है, सफाई आदिका कार्य सतर्कतासे करना। पहिले समितियों का जो वर्णन किया है उनमें इसका समावेश होजाता है। समितियोंका मैंने मूलगुणमें नहीं रक्खा है इस-लिये यह भी मूलगुणमें शामिल न कहलाया। योग सत्य अर्थात् मन वचन कायकी सचाई। यह भी ऐसा मूलगुण है जो किसी विशेषताकी तरफ संकेत नहीं करता; अथवा माया कषायके त्यागमें इसका समावेश हो जाता है। क्षमाको अलग स्थान देना भी ठीक नहीं है। यह तो क्रोधत्यागमें आजाता है। यद्यपि इन दोनोंमें भेद बतलानेकी कोशिश की गई है कि क्रोधको पैदा न होने देना क्षमा है, और पैदा हुए क्रोधको रोक देना क्रोधविवेक है। परन्तु इस प्रकारके सूक्ष्म अन्तरकी कल्पना करके, तथा क्षमा की व्याख्याको संकुचित करके मूलगुणोंकी संख्या बढ़ाना ठीक नहीं है। इसी प्रकारका सूक्ष्म अन्तर अन्य मूलगुणोंमें भी बताया जासकता है, परन्तु वह निरर्थक क्लिष्ट कल्पना है।

ज्ञानयुक्तता—को अवश्य ही मूलगुणमें स्थान दिया जासकता है, क्योंकि बिना ज्ञानके समाजसेवा नहीं की जासकती। साधुसंस्थामें बहुतसे मूढ़ अक्षर-शत्रु घुस जाते हैं। इसलिये ज्ञानयुक्तताको अवश्य ही मूलगुणोंमें रखना चाहिये।

ज्ञानयुक्तताका यह अर्थ नहीं है कि संस्कृत, प्राकृत, इंग्लिश, अरबी, फ़ारसीका जानकार हो जाय, या किसी विषयका जीता जागता शब्दकोष या पद्य-कोष बन जाय; किन्तु जिसमें समझदारी हो, विवेक हो, जो कर्तव्याकर्तव्यका दूसरोंको भान करा सकता हो, वह ज्ञानयुक्त है। इसविषयका माध्यम देश कालके अनुसार बदलता रहेगा। जहाँ स्त्रीशिक्षाका कम प्रचार हो, वहाँ जितनी शिक्षासे किसी स्त्रीको विदुषी कहा जा सकता है, उतनी ही शिक्षासे किसीको विद्वान नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार जँगली जातियोंमें या पिछड़ी हुई जातियोंमें जितने शिक्षण से कोई विद्वान कहलाता है उतनेसे शिक्षणमें समुन्नत जाति या देशमें कोई विद्वान नहीं कहला सकता। ज्ञानयुक्तताका अर्थ करते समय यह दृष्टिबिन्दु ध्यान में रखना चाहिये। मतलब यह है कि साधुसंस्थामें ऐसे अयोग्य आदमी न आजाना चाहिये जिनके ज्ञानकी योग्यता साधुसंस्थाके कर्तव्यका बोझ न उठा सकती हो। आवश्यकता होनेपर उसे उम्मेदवारके तौरपर रख सकते हैं। साधुसंस्थाको कोई खास सहा-यताकी आशा हो और कोई प्रभावशाली आदमी प्रवेश करना चाहता हो और इस नियमके अपवादकी आव-श्यकता हो तो अपवाद भी किया जा सकता है।

दर्शनयुक्तता—भी मूलगुणमें रखने योग्य है, क्योंकि सम्यग्दर्शनके बिना सम्यक्चारित्र नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शनका विस्तृत विवेचन पहिले किया गया है। परन्तु यहाँ पर जिस अंशपर जोर देना है, वह है समभाव। साधुको समभावी अर्थात् सर्व-धर्मसमभावी होना चाहिये। साम्प्रदायिक पक्षपात न हो, अथवा उसे सत्यका ही पक्ष हो, किसी सम्प्रदाय विशेषका नहीं। साधु अर्थात् जिसे विश्व-मात्रकी सेवाकी साधना करना है, वह समभावी हो, यह आवश्यक है।

प्रश्न—जिन सम्प्रदायोंमें अहिंसा सदाचार आदि का मूल्य नहीं है और जिनमें उन्नतिके तत्त्व अधिक

मौजूद हैं उन दोनोंमें समभाव अर्थात् एकसा भाव कैसे रक्खा जासकता है ?

उत्तर- उन्नतिके लिये उपयोगी तत्त्वोंकी अपेक्षा से न्यूनाधिकता होसकती है, परन्तु जिससमय जो धर्म उत्पन्न हुआ था, उससमयकी परिस्थितिके अनुसार विचार करनेपर धर्मोके व्यक्तित्वकी तरतमता बहुत कम होजाती है। फिरभी जो न्यूनाधिकता हो उसकी हम आलोचना कर सकते हैं। परन्तु इसमें पूर्ण निःपक्षता और सहानुभूति होना चाहिये। सत्य, असत्यके विवेकको छोड़नेकी जरूरत नहीं है परन्तु धर्मकी ओटमें आत्मप्रशंसा या आत्मीय प्रशंसा और परनिन्दा या परकीय की निन्दाको छोड़नेकी जरूरत है। और साधुके लिये तो यह अत्यावश्यक है।

चारित्रयुक्तताको मूलगुण बनानेकी जरूरत नहीं है, क्योंकि पहिले जो मूलगुण बताये गये हैं वे सब चारित्र ही है। अहिंसा आदि व्रत भी चारित्र हैं। इसलिये चारित्रयुक्ततासे किसी विशेष गुणका या कर्तव्यका ज्ञान नहीं होता, इसलिये मूलगुणोंकी नामावलीमें इसका नाम नहीं रक्खा जासकता।

वेदना सहन करना, मरणोपसर्ग सहन करना आदि अच्छी बातें हैं। साधुमें साधारण लोगोंकी अपेक्षा कुछ कष्टसहिष्णुता अवश्य होना चाहिये, परन्तु इन दोनोंको अलग अलग मूलगुण नहीं कहा जासकता। हाँ, दोनोंके स्थानपर कष्टसहिष्णुता नामका मूलगुण रक्खा जासकता है। परन्तु इसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं होसकती, क्योंकि इसका सम्बन्ध मन और शरीर दोनोंसे है। मूलगुणोंमें मानसिक सहिष्णुताको ही स्थान दिया जासकता है। शारीरिक सहिष्णुतापर साधुका क्या वश है ? शरीरकी कमज़ोरीमें बाहरकी छोटीसी चोट अधिक कष्ट पहुँचा सकती है और दूसरेको शरीरकी दृढ़तासे बड़ी चोट भी इतना असर नहीं पहुँचा सकती। शारीरिक शक्तियो की इस विषमतासे इसका निर्णय करना कठिन है कि किसमें कितनी कष्टसहिष्णुता है। आखिर कष्टसहिष्णुताकी भी सीमा है, इसलिये इसका निर्णय और भी कठिन है। फिर भी साधारणतः कष्टसहिष्णुताका उल्लेख करना जरूरी है, जिससे साधुमें आरामतलबी आदि दोष न आ पावें, तथा आवश्यकता होनेपर उसका ध्यान इस तरफ़ आकर्षित किया जासके।

अनुरोध।

(ले०—पं० डॉ गि सूर्यभानु जैन 'भास्कर' बड़ीसादड़ी, मेवाड़)

कवि गाना गा दे ॥

प्रबल शोर मच जाय गगनमें।
गहरी नाद गुँजादे, कवि गाना गा दे ॥
काँप उठे सहसा उपवन, वन,
तरुवर, गिरिगह्वर अम्बर-घन।
सरिता, सरवर, ग्रह उपग्रह गन,
उछले सागर का चंचल मन ॥
ऐसी क्रांति मचादे, कवि गाना गा दे।

मिटे जगत् की दुखद दीनता,
मनुज जाति की पराधीनता।
आपस की सब मन-मलीनता,
विभव-जन्य, अनुरागहीनता ॥
मधुरी तान सुनादे, कवि गाना गा दे।

अरुणोदयकी किरण किरण पर,
उदधि ऊर्मि पर अंबुजगणपर।
द्युतिपर, क्षितिपर, रज कणकणपर,
क्षणके अणुअणु पर तृणतृण पर ॥
अपनी ध्वनि पहुँचादे, कवि गाना गा दे ॥

विहग रागसे राग मिलावैं,
सरिता सर सर शब्द सुनावें।
स्वरसे नभ जल [illegible] भर जायें।
सुर नर मुनि म[illegible] [illegible]रावैं ॥
मोहन [illegible], कवि गाना गादे।

[illegible] छिन्न हों वसुधा भर में,
विपुल शांति हो नगर नगर में।
प्रचुर प्रेम प्रकटे घर घर में,
जीवन के सूखे मरुधर में ॥
निर्मल स्रोत बहादे, कवि, गाना गा दे ॥

कभी न समझें प्रेम भंग में,
बहें स्नेह की जल तरंग में।
संग संग में एक रंग में,
"सूर्यभानु" अपनी उमंग में ॥
सबको रंग बनादे, कवि गाना गा दे। प्रबल।

'जयधवला' का प्रकाशन।

(लेखक—श्रीमान पंडित जुगलकिशोरजी मुख़्तार)

श्री गुणधराचार्य-विरचित 'कसायपाहुड' नामक सिद्धान्तग्रंथपर वीरसेनाचार्यकी रची हुई 'जयधवला' टीका है, जो यति वृषभाचार्यकी चूर्णिको भी साथ मे लिये हुए है और 'जयधवला' सिद्धान्तके नामसे प्रसिद्ध है। हालमें इस ग्रंथरत्नके प्रकाशनकी एक योजना प्रोफेसर हीरालालजी जैन एम० ए० एल-एल० बी० की ओरसे प्रकट हुई है, जिसके साथमें ग्रन्थकी रचनाका इतिहास ही नहीं बल्कि ग्रंथ जिस रूपमें—मूलप्राकृत, संस्कृतछाया, हिन्दी अनुवाद व टिप्पणीसहित जिस ढंगसे—प्रकाशित किया जायगा उसका नमूना भी ग्रंथके प्रारम्भिक अंशको ११ पृष्ठोंमें (पृ० ९ से १९ तक) छाप कर दिया है। ग्रंथके सम्पादनका सारा भार अकेले प्रोफेसर साहबने अपने कन्धोंपर उठाया है और प्रकाशनकी जिम्मेदारीको भेलसाके श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द सितावरायजीने अपने ऊपर लिया है। सेठजीके ११ हजारके दान-द्रव्यकी सहायतासे ही यह गुरुतर कार्य प्रारम्भ किया जा रहा है। ग्रंथको प्रायः सौ सौ पृष्ठोंके खंडोंमें द्विमासिक या त्रिमासिक रूपसे निकालनेका विचार प्रकट किया गया है, जनतासे अधिक संख्यामें ग्राहक होनेकी अपील की गई है और उसकी सहायता व सहानुभूति माँगी गई है।

जिस प्राचीन महत्वके ग्रन्थका वर्षोंसे सिर्फ नाम ही सुना जाता था, कुछ अपवादोंको छोड़कर शेषको जिसका दर्शन भी अभी तक प्राप्त नहीं हुआ था और जो मूडबिद्रीकी कालकोठरीसे किसी तरह बाहर आकर भी अलभ्य बना हुआ था उसके एकदम प्रकाशनकी योजनाके समाचारोंको सुनकर किस पुरातन जैनसाहित्यके प्रेमीको प्रसन्नता न होगी? मेरे लिये तो यह और भी अधिक प्रसन्नताका विषय है; क्योंकि कुछ अर्सेसे यह ग्रंथ मेरे विशेष परिचय में आया हुआ है। गतवर्ष कोई चार महीने आरा में रहकर तथा ९-१० घंटेका प्रतिदिन परिश्रम करके मैंने धवल और जयधवल दोनों ही सिद्धान्त ग्रंथोंका अवलोकन किया है और लगभग एक हजार पृष्ठके उपयोगी नोट्स भी उनपरसे उतारे हैं, जिनमें समाजको इन ग्रंथोंका विस्तृत परिचय दिया जा सके। उस वक्तसे इन ग्रन्थोंके विषयमें रिसर्च (अनुसन्धान) का भी कितना ही कार्य चल रहा है।

इस अवलोकनादि परसे मुझे इन ग्रन्थों, ग्रन्थ-प्रतियोंके लेखन-कार्य और उनके कुछ विभिन्न पाठों का जैसा कुछ अनुभव हुआ है उसे सामने रखकर जब मैं प्रकाशनकी उक्त योजनाको पढ़ता हूँ तो मुझे इस कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि इन ग्रंथों के प्रकाशनमें आवश्यकतासे कहीं अधिक शीघ्रतासे काम लिया जा रहा है। ये ग्रन्थ जितने अधिक महत्वके हैं उतनी ही अधिक सावधानीसे प्रकाशित किये जानेके योग्य हैं, खुद प्रोफेसर साहबने इस बातको स्वीकार किया है कि 'इतने बड़े ग्रन्थोंके सम्पादनादिकी व्यवस्थाका भारभार होना कठिन है' और यह ठीक ही है। ऐसी हालतमें प्रथम बार ही बहुत अधिक सावधानी तथा परिश्रमके साथ इनका सम्पादनादि कार्य उत्तमरीतिसे होना चाहिये, जिससे मूलग्रन्थ अपने असली रूपमें पाठकोंके सामने आ सके और उसके विषयमें किसी प्रकारकी अशुद्धियाँ, गलतफहमियाँ अथवा भ्रान्तियाँ रूढ न होने पावें। इसके लिये निम्नलिखित बातोंकी खास जरूरत है:—

(१) सबसे पहला मुख्य कार्य यह है कि जिस

प्रति परसे ग्रन्थ छपाया जाय उसे मूडबिद्रीकी उस प्राचीन प्रति परसे मुक़ाबला करके पहले ठीक कर लिया जाय, जो वहाँ ताडपत्रादिपर सुरक्षित है। मूडबिद्रीके पञ्च जब 'महाधवल' नामसे प्रसिद्ध होनेवाले ग्रन्थकी कॉपी तक देनेके लिये रज़ामन्द सुने जाते हैं तब वहाँ ठहर कर मुक़ाबलेका यह कार्य होजाना कोई बड़ी बात नहीं है। सेठ रावजी सखाराम दोशी आदिके प्रयत्न करनेपर इसके लिये भी उनकी स्वीकृति मिल सकती है। यदि किसी तरहपर भी मुक़ाबलेका यह कार्य न हो सके तो फिर पं० गजपति शास्त्रीकी कनडी अक्षरोंमें लिखी हुई उस प्रतिपरसे मुक़ाबला किया जाना चाहिये जो ला० प्रद्युम्नकुमार जी रईस सहारनपुरके मन्दिरमें मौजूद है और जिस परसे ही उत्तर भारतमें ग्रन्थप्रतिका कार्य पं० सीताराम शास्त्री-द्वारा प्रारम्भ हुआ है। साथ ही, देवनागरी अक्षरोंमें लिखी हुई पं० सीताराम शास्त्रीके पासकी उस प्रथम प्रतिको भी तुलनात्मक दृष्टिसे देख लेना चाहिये जो गजपति शास्त्रीकी प्रायः बोल कर लिखाई हुई अथवा उनकी देखरेखमें लिखी हुई कही जाती है और जिसके आधारपर ही पं० सीताराम-द्वारा सहारनपुर आदिकी प्रतियाँ तय्यार हुई हैं। इस प्रतिकी भी अप्राप्तिमें, पं० सीताराम शास्त्री की लिखी हुई प्रायः उन सभी प्रतियोंको मुक़ाबलेके लिये सामने रखना चाहिये जो सहारनपुर, आरा, शोलापुर, आदिमें मौजूद हैं; क्योंकि उक्त शास्त्रीकी लिखी हुई इन प्रतियोंमें अनेक स्थानोंपर पाठभेद पाया जाता है—किसी किसी प्रतिमें कोई पाठ छूट गया है तो दूसरी प्रतिमें वह उपलब्ध होता है अथवा अतिरिक्त या परिवर्तित रूपमें भी पाया जाता है। सबको सामने रखकर मुक़ाबला करनेसे ही वह 'पूर्ण संशोधन' का कार्य ठीक बन सकेगा जिसकी योजनापत्रकमें सूचना की गई है।

(२) हिन्दी अनुवाद ठीक ठीक होनेके साथ सुव्यवस्थित, प्रभावक और मूलकी अर्थ गहराई अथवा उसकी नयविवक्षाको प्रकट करनेवाला होना चाहिये—मात्र शब्दानुवादसे काम नहीं चलेगा।

(३) तुलनात्मक अध्ययनको लिये हुए महत्वपूर्ण टिप्पणियोंसे ग्रन्थ सर्वत्र विभूषित किया जाना चाहिये।

(४) छपाई अच्छे व्यवस्थित ढंगको लिये हुए बहुत ही शुद्ध तथा साफ़ होनी चाहिये, जिसके लिये यथायोग्य सुन्दर टाइपोंकी योजनाके साथ प्रेस-कॉपी और प्रूफ़-रीडिंगमें अत्यन्त सावधानी रखनेकी ज़रूरत है। साथ ही कागज़ अच्छा पुष्ट, सुदृढ एवं स्थायी होना चाहिये।

प्रकाशनकार्यको हाथमें लेनेसे पहले इन सब बातोंपर ठीक तौरसे ध्यान दिया गया मालूम नहीं होता—मूलादि प्रतियोंपरसे मुक़ाबलेकी तो कोई बात भी योजनापत्रकमें नहीं कही गई। इसीसे प्रोफेसर साहबने इतिहास आदिका जो भी नमूना प्रस्तुत किया है वह बहुत कुछ त्रुटिपूर्ण जान पड़ता है—कहीं कहीं मूलपाठ तक छूट गया है, संशोधनमें कमी रह गई है, ग़लत संशोधन भी हुआ है, छापेकी भी अशुद्धियां पाई जाती हैं, छपाईका ढंग भी स्खलित है, टिप्पणियाँ बहुत साधारण हैं, अनुवाद जैसा चाहिये वैसा निर्दोष एवं प्रभावक नहीं है, और ग्रंथ-रचनाका इतिहास तो सम्पादकजीकी अध्ययनादि-विषयक बहुत बड़ी असावधानीको व्यक्त करता है। उदाहरणके तौरपर यहाँ इन सब त्रुटियोंका पाठकों को थोड़ा थोड़ासा परिचय कराया जाता है:—

(क) जयधवला टीकाकी रचनाका इतिहास देते हुए, प्रोफेसर साहबने महावीर स्वामीके निर्वाणके पश्चात् एकसौ वर्षमें पाँच श्रुतकेवलियोंका होना बतलाया है, अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् १८३ वर्षमें ग्यारह अंग दशपूर्वके पाठी ग्यारह आचार्यों का होना लिखा है, महावीरके निर्वाणसे ६११ वर्ष पीछे द्वादशांगका लुप्त होना प्रकट किया है और इस वीरनिर्वाण संवत् ६११ के बादके किसी समयमें ही, जो विक्रम संवत् ८५५ से पीछेका न होना चाहिये, गुणधराचार्यके अस्तित्वको सूचित किया है।

समय-सम्बन्धी यह सब कथन और तो क्या, खुद जयधवला टीकाके ही विरुद्ध है! क्योंकि इस टीकामें, ग्रन्थावतारके कालक्रमको सूचित करते हुए महावीरके निर्वाणसे १६२ (६२ + १००) वर्षके अन्दर क्रमशः तीन केवलियों और पाँच श्रुतकेवलियों का होना लिखा है, भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् १८३ वर्षके समयमें ग्यारह अंग दशपूर्वके पाठियों का होना बतलाया है ("तेसिं कालो तेसीदि सद वस्साणि"), महावीरके निर्वाणसे ६८३ ("छस्स-दवामाणि तेसीदिवाससमयाहियाणि") वर्षके बाद आचारांगके (अथवा द्वादशांगके) विच्छेद होनेको सूचित किया है और इस ६८३ वर्षके बादकी आचार्य परम्परामें गुणधराचार्यके अस्तित्वका प्रतिपादन किया है। धवलसिद्धान्त और दूसरे मुख्य मुख्य ग्रन्थोंमें भी यही सब ६८३ वर्षका समय आचारांगके विच्छेद होने तकका दिया है। प्रोफ़ेसर साहबका इसे [illegible] ऊहापोहके ६११ वर्षका समय बतलाना [illegible] है। जान पड़ता है वे शीघ्रतामें केवलियों के ६२ वर्षके समयकी गणना करनी भूल गये और "तेसीदिसद" का अर्थ अङ्कादिकी किसी ग़लतीसे १८३ की जगह १७३ वर्ष समझ गये हैं! फिर भी निर्वाणसे अङ्गविच्छेद तकके सर्वकालपरिमाणको सूचित करनेके लिये शब्दों तथा अङ्कोंमें स्पष्टरूपसे लिखी हुई ६८३ वर्षकी संख्याकी उन्होंने क्यों उपेक्षा की, यह कुछ समझमें नहीं आता!!

(ख) पृष्ठ ११ पर 'गुणहरभडारएण' के अनन्तर और 'गाहासुत्ताणमादीए' से पहले निम्न पाठ छूट गया है, जो आरा आदिकी प्रतियोंमें पाया जाता है और जो इस टीकाग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञाको लिये हुए है—

"तित्थवोच्छेदभयेणुवहट्टगाहाणं अवगाहियसयलाया हुउत्थाणं सचुण्णिसुत्ताणं विवरणं कस्सामो। संपहि गुणहरभडारएण"

यदि दूसरी उपलब्ध प्रतियोंसे ही मुक़ाबला कर लिया होता तो इस प्रकारकी त्रुटि न रहती।

(ग) पृष्ठ १४ पर मूलका पाठ इस प्रकार दिया है:—

"पुण्णकम्मबंधत्थीणं देसव्वयाणं मंगलकरणं जुत्तं ण मुणीणं कम्मक्खयकंखुवाणमिदि ण वोत्तुं जुत्तं पुण्णबंधहेउत्तं पडि विसेसाभावादो मंगलस्सेव सरागसंजमस्स विपरिच्चागप्पसंगादो।

ण च संजमप्पसंग-भावेण णिव्वुइ-गमणाभाव-प्पसंगादो सरागसंजमो गुणस्सेडि-णिज्जराए कारणं तेण बंधादो मोक्खो असंखेज्ज-गुणो त्ति सरागसंजमे मुणीणं वट्टणं जुत्तमिदि ण पच्चवट्टाणं कायव्वं। अरहंत णमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्ज-गुण-कम्म-क्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो। उत्तं च—"

इसके प्रथम पैरेग्राफ़में 'गुणीणं' की जगह 'मुणीणं' पाठका संशोधन होना चाहिये था। पूर्वापर सम्बन्धको देखते हुए 'मुणीणं' पाठ ही ठीक बैठता है—अगले पैरेग्राफ़में भी दो स्थानोंपर 'मुणीणं'पद ही प्रयुक्त हुआ है। 'परिच्चाग' से पहले 'वि' शब्द को अलग रखना चाहिये था, वह यहाँ 'अपि' का वाचक है, उसे 'परिच्चाग' का अंग बनाकर और 'विपरित्याग' रूपसे छायानुवाद करके जो संशोधन किया गया है वह ठीक नहीं है। इस ग़लत संशोधन अथवा शुद्धको अशुद्ध बनानेके परिणामस्वरूप ही 'मंगलस्सेव' का छायानुवाद 'मंगलस्येव' की जगह 'मंगलस्यैव' किया गया है और तदनुसार उसका अर्थ भी ग़लत करना पड़ा है।

'ण च संजम-प्पसंगभावेण' यह पाठ प्रसंगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एवं अधूरासा जान पड़ता है और संशोधनकी अपेक्षा रखता है।

(घ) पृष्ठ १४ पर उक्त पाठका जो हिन्दी अनुवाद प्रोफ़ेसर साहबने दिया है वह इस प्रकार है—

"'जो पुण्यकर्मबन्धके अभिलाषी देशव्रती (श्रावक) हैं उन्हे मंगल करना उचित है, कर्मक्षयकी आकांक्षा रखनेवाले गुणी (मुनियों) को नहीं' ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि पुण्यबन्धके हेतुत्व के प्रति उन्हे कोई विशेष भाव नहीं है, तथा इससे तो जो मंगल सराग संयम है उसके ही सर्वथा त्याग का प्रसंग आयगा।

और संयम प्रसंगके भावमें निर्वाणगमनके अभावका प्रसंग नहीं हो सकता। सरागसंयम गुणश्रेणि निर्जराका कारण है और बन्धसे मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है, इसीसे सरागसंयम में मुनिओंका वर्तना योग्य है। अत: (मंगलका) प्रत्यवस्थान अर्थात् निराकरण नहीं करना चाहिये। अरहंतका नमस्कार तात्कालिक बन्धसे असंख्येय गुणा कर्मक्षयकारक है इससे उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्तिका प्रसंग आता है।"

इस अनुवादपरसे विषयका ठीक स्पष्टीकरण नहीं होता—वह कुछ गड़बड़को लिये हुए जान पड़ता है। प्रथम पैरेग्राफमें 'क्योंकि' से प्रारम्भ होने वाला अनुवाद विशेष आपत्तिके योग्य मालूम होता है। वहाँ मूलका भाव इस प्रकार है—

'क्योंकि पुण्यबन्धके हेतुत्वके प्रति (दोनोंमें) कोई विशेष नहीं है—ऐसा नियम नहीं कि श्रावक तो पुण्यबन्धके कारणका आचरण करें परन्तु मुनि न करें। (यदि ऐसा विशेष अथवा नियम किया जायगा तो) मंगलकी तरह सरागसंयमके भी त्याग का प्रसंग आयगा—पुण्यबन्धका कारण होनेसे वह भी मुनियोंके नहीं बन सकेगा।'

यदि विषयका स्पष्टीकरण करते हुए इस रूपमें ही अनुवाद रख दिया जाता तो, मैं समझता हूँ, पाठकोंको मूलका आशय समझनेमें ज़रा भी दिक़्क़त न होती।

इसीतरह दूसरे पैरेग्राफका अनुवाद भी आपत्ति के योग्य है। ऊपर यह बतलाया जा चुका है कि 'ण च संजमासंजमभावेण' यह पाठ प्रसंगको देखते हुए कुछ अशुद्ध एवं अधूरासा जान पड़ता है और वह ठीक ही है; क्योंकि 'णिव्वुइगमणाभाव प्पसंगादो' यह वाक्य हेतुरूपमें प्रयुक्त हुआ है और इसलिये अपने पूर्वमें एक पूर्ण वाक्यके सद्भावकी अपेक्षा रखता है जो उक्त पाठसे पूरी नहीं होती। सम्भवत: वह वाक्य 'ण च सरागसंजमस्स परिच्चागो जुत्तो' ऐसा

प्पसंगभावेण' यह वाक्यखंड उक्त हेतुवाक्यके पूर्वमें रहना चाहिये। इससे मूलका यह आशय स्पष्ट हो जायगा कि—'सरागसंयमका परित्याग ठीक नहीं है; क्योंकि इसतरह असंयमका प्रसंग उपस्थित होने से निर्वाणगमनके अभावका ही प्रसङ्ग आएगा।'

इस अनुवादमें 'और बन्धसे मोक्ष असंख्येय गुणा (अधिक उत्तम) है' यह अंश विशेष आपत्ति के योग्य है। इसमें 'तत्' का अर्थ 'और' और 'असंख्येयगुणा' का भाव 'अधिक उत्तम' ग़लत दिया गया है। मूलका आशय इसप्रकार जान पड़ता है—

'इससे उसमें बन्धकी अपेक्षा मोक्ष असंख्येय-गुणा (असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराको लिये हुए) है।'

'अत:' के बाद ब्रैकटमें 'मंगल' के स्थान पर 'सरागसंयम' होना चाहिये था और 'निराकरण' की जगह 'परित्याग' शब्दका प्रयोग प्रकरणके अधिक अनुकूल रहता। और अंतिम वाक्यमें 'प्रसंग आता है' ऐसा जो अनुवाद किया गया है वह भी आपत्तिके योग्य है, क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है मानो वह प्रसङ्ग सरागसंयमके परित्यागकी तरह अनिष्ट है। परन्तु अरहंतोंके नमस्कारमें मुनियोंकी प्रवृत्तिका होना कोई अनिष्ट नहीं है। अत: उस प्रवृत्तिका 'प्रसङ्ग पाया जाता है' या 'प्रसङ्ग ठीक बैठता है' ऐसा कुछ अनुवाद होना चाहिए था अथवा अनुवादका दूसरा ही ढङ्ग अख्तियार किया जाना चाहिये था।

इसी प्रकारसे अन्यत्र भी अनुवादकी त्रुटियाँ पाई जाती हैं, जो सब अनुवादको अन्यथा एवं श्रीहीन बनाए हुए हैं और जिनका एक दूसरा नमूना मङ्गलाचरणकी पाँचवीं गाथाके अनुवादमें 'णमह' के लिये 'नमस्कार करो' शब्दोंके प्रयोगसे व्यक्त होता है, जब कि प्रकरणको देखते हुए वहाँ 'नमस्कार करता हूँ' या 'नमस्कार है' ऐसा कुछ होना चाहिये था। क्योंकि वहाँ ग्रन्थकार महोदय नमस्कारादि रूपसे स्वयं मङ्गलाचरण कर रहे हैं, न कि

'णमह' का 'नमत' ऐसा छायानुवाद भी ठीक नहीं है। छायानुवाद अन्यत्र भी कुछ त्रुटिको लिये हुए है; जैसे पहली मूलगाथामें प्रयुक्त हुए 'पेज्ज' शब्दका संस्कृतछायानुवाद 'पेज्ज' ही रख दिया गया है, जब कि वह 'प्रेय' होना चाहिये था।

(ङ) मंगलाचरणकी दूसरी गाथाके अनुवादमें लिखा है—'वे चौबीस तीर्थंकर मुझपर प्रसन्न होवें'। यह शब्दानुवाद तो है परन्तु अर्थानुवाद नहीं-ग्रंथकारका यह कथन किस दृष्टिको लिये हुए है उसका इससे कोई स्पष्टीकरण नहीं होता। प्रश्न यह होता है कि परम वीतरागी चौबीस तीर्थङ्कर क्या किसी पर अप्रसन्न या हीनाधिक रूपमें प्रसन्न भी होते हैं? यदि ऐसा नहीं है तो फिर इस लिखनेका अभिप्राय? अभिप्राय, जिसे आगे डैश (-) डालकर अथवा अर्थात् शब्दके साथ व्यक्त करना चाहिये था, यह है कि 'मैं प्रसन्नतापूर्वक उनके गुणोंको अपने हृदयमें धारण करूं'। साथ ही फुटनोट द्वारा इस प्रकारका स्पष्टीकरण साथमें रहनेसे, जिसकी बड़ी जरूरत है, सिद्धान्तके समझनेमें कोई भ्रम नहीं होता।

(च) इसके नमूनेके इन १४ पृष्ठोंमें छोटी छोटी-सी कुछ पाठ टिप्पणियाँ हैं और वे भी एक ही प्रकारकी—अर्थात् आदर्शप्रतिमें क्या पाठ है मात्र इसी बातको सूचित करने वाली हैं; जब कि अनेक महत्वपूर्ण टिप्पणियोंका स्थान खाली ही जान पड़ता है। अस्तु; वह 'आदर्शप्रति' कौनसी अथवा कहाँकी है यह किसी जगह पर भी व्यक्त नहीं किया गया। आदर्शप्रतिके जिन पाठभेदोंका संशोधन किया गया है वे प्रायः लेखकीय मूर्खताके द्योतक अशुद्ध पाठ हैं अथवा शीघ्रतादिवश अक्षरोंको ठीक तौरसे न पढ़ने और न लिखनेसे सम्बंध रखते हैं। ऐसे पाठभेदोंको वास्तवमें पाठभेद ही न कहना चाहिये और न उन्हें दिखलानेकी ऐसी कोई खास जरूरत है; जैसे पहली गाथाकी टिप्पणीमें 'भवण' की जगह आदर्शप्रतिके अर्थशून्य 'वभण' पाठका उल्लेख किया गया है, जो शीघ्रतादिवश अक्षरोंके आगे पीछे लिखे जानेका परिणाम है। आराकी प्रतिमें शुद्ध 'भवण' पाठ ही पाया जाता है। इससे टिप्पणीका कार्य बहुत ही साधारण हुआ जान पड़ता है।

(छ) छापेकी भी कितनी ही अशुद्धियाँ देखनेमें आती हैं और वे प्राकृत, संस्कृत तथा हिन्दी तीनों में ही पाई जाती हैं। जैसे पृष्ठ १८ पर 'पेज्जसद्दो' की जगह 'पेज्जसद्दा', पृष्ठ १० पर 'गुणधरमपि' की जगह 'गुणधर-विमपि' और पृष्ठ १४ पर 'उन्हें' 'नहीं' जैसे शब्दोंको अनुस्वारहीन छापा गया है।

छापते समय कहीं कहीं पैरेग्राफका विभाग भी कुछ गड़बड़ा गया है; जैसे पृष्ठ १८ पर 'संपहि गाहाए' इत्यादिको नया पैरेग्राफ डालकर छापना चाहिये था—उसे पूर्वके चालू पैरेग्राफमें ही शामिल कर दिया गया है। पृष्ठ १९ पर चूर्णिकी टीकाको तो नया पैरेग्राफ डालकर छापा गया है परन्तु उसके हिन्दी अनुवादको छापते समय पैरेग्राफके विभाग को भुला दिया है—उसे चूर्णिके अनुवादमें ही शामिल कर दिया है और चूर्णिको छापते समय उसके शुरूमें पैरेग्राफका व्यञ्जक कोई स्थान ही नहीं छोड़ा गया। इससे एक नज़र डालते ही ऐसा मालूम होता है कि चूर्णिका कुछ अंश छूट गया है अथवा वह पूर्ववर्ती पृष्ठ पर दिया हुआ है, जब कि ऐसा कुछ भी नहीं है। चूर्णिसूत्रोंको यदि अच्छे इटैलिक टाइपमें छापा जाता तो ज्यादा अच्छा रहता।

मूलगाथा तथा चूर्णिमें प्रयुक्त हुए शब्दों अथवा पदोंकी टीका छापते समय टीकामें उन्हें कुछ बड़े अथवा ब्लॉक टाइपमें छापना चाहिये था, जिससे दृष्टि डालते ही अभिमत शब्दका अर्थादि मालूम करनेमें पाठकोंको सुविधा रहती।

इस प्रकार त्रुटियोंका यह कुछ दिग्दर्शन है। और वह मेरे इस कथनको पुष्ट करता है कि इस ग्रन्थके प्रकाशनमें जरूरतसे कहीं अधिक शीघ्रतासे काम लिया जारहा है। मुझे इसप्रकारका त्रुटियोंसे भरा हुआ चलता काम पसन्द नहीं है। यदि प्रकाशक सेठजी इतनेपरसे ही सन्तुष्ट हों तो यह उनकी

इच्छा है। मेरी रायमें तो इन सिद्धान्त-ग्रन्थोंके प्रकाशनके लिये काम करनेके ढंग आदिसे परिचित कुछ उदारहृदय अनुभवी विद्वानोंका एक सम्पादकीय बोर्ड नियत किया जाना चाहिये और उसके द्वारा बहुत ही व्यवस्थित रूपसे सम्पादन'दिका सब कार्य उत्तमताके साथ चलाना चाहिये. अकेले प्रो० हीरालालजीके वशका यह काम मालूम नहीं होता—खासकर ऐसी हालतमें जबकि उन्हें अपना पूरा समय और योग लगानेकी सुविधा भी प्राप्त नहीं है और वे खुद ही समयादिकी संकीर्णता मय अपनी उस स्थितिका पहलेमें ही उल्लेख कररहे हैं।

सम्पादकीय बोर्डमें प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय ऐम० ए० का भी खास स्थान रहना चाहिये, जोकि दिगम्बर समाजमें प्राकृत भाषाके एक मुख्य विद्वान हैं, कोल्हापुरके राजाराम कॉलिजमें प्राकृत भाषाके सिखानेका ही काम कर रहे हैं और बहुपरिश्रमी होने के साथ साथ साहित्यादि-विषयक शोध-खोजके ऐसे कामोंमें विशेष रुचि रखने वाले सज्जन हैं।

ग्रन्थके साथमें जब कि हिन्दी अनुवाद दिया जा रहा है तब प्राकृतका संस्कृत छायानुवाद रखने की मेरी रायमें कोई जरूरत नहीं है। हमारे पंडित लोग प्रायः संस्कृतके आधारपर प्राकृतको लगानेके आदी हो गये हैं, उनकी यह आदत छुड़ानी चाहिये। उन्हें अपने आगमोंकी मूलभाषाका अथवा उस प्राकृत भाषाका स्वतन्त्ररूपसे बोध होना चाहिये जिसमें उनके प्राचीन मौलिक ग्रन्थ लिखे हुए हैं। इस प्रकारके प्रयत्नों द्वारा यह सब कुछ हो सकेगा। संस्कृत छाया के साथमें न रहनेमें व्यर्थका कितना ही परिश्रम बचेगा, ग्रन्थका परिमाण भी एक तिहाईके क़रीब कम हो जायगा, जिससे लागत कम आएगी और मूल्य भी कम रक्खा जा सकेगा, जिसकी बड़ी जरूरत है।

यहाँ पर मुझे यह देखकर खेद होता है कि ११ पृष्ठोंका जो अंश नमूनेके तौर पर प्रकाशित किया गया है उसका मूल्य चार आने रक्खा गया है—समाचारपत्रोंमें, चार चार आनेके टिकट भेजकर लोगोंको इस अंशकी खरीदारी कर जयधवलका दर्शन करनेकी प्रेरणा की जा रही है! जब नमूनेका ही इतना मूल्य है तब ऐसा मालूम होता है कि ग्रंथ का मूल्य बहुत अधिक रक्खा जायगा, जिसे मैं किसी तरह भी उचित नहीं समझता। इस विषयमें दिगम्बर समाजको अपने श्वेताम्बरी भाइयोंसे शिक्षा लेनी चाहिये. जो आगमोदयसमिति आदि द्वारा बहुत कुछ सस्तेमें अपने आगम ग्रन्थोंका प्रचार करके अपनी श्रुतभक्तिका परिचय दे रहे हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि यह ग्रन्थ जिस रूपमें भी प्रकाशित होगा निकल जायगा जरूर—और नहीं तो संस्थाओं तथा मंदिरोंमें ही इसकी [illegible] कॉपी मँगाली जायगी [illegible] तरह इसके भी दर्शन [illegible] पूर्ण संस्करण निक[illegible] मियाँ बहुत कुछ [illegible] होना फिर अत्यन्त [illegible] प्रकाशित अंश पर [illegible] सम्मति [illegible] कुछ विस्तार के साथ लिख देना ही मैंने उचित समझा है। आशा है दूसरे विद्वान भी इस पर अपनी योग्य सम्मति देनेकी कृपा करेंगे और जहाँ तक होसके ऐसा यत्न करेंगे जिससे इन सिद्धान्तग्रन्थोंका प्रथम संस्करण बहुत ही शुद्ध, स्पष्ट, अभ्रान्त और उपयोगी प्रकाशित होवे। इत्यलम्।
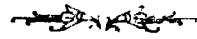
सत्यसमाज व्याख्यानमाला बम्बई।
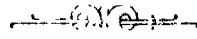
स्थानीय सत्यसमाज-व्याख्यानमालाका ११ वाँ व्याख्यान रविवार ता० २१-२-३४ ई० को रात्रिके ७॥ बजे हीराबाग व्याख्यानभवनमें हुआ। आगन्तुकोंमें से श्रीयुत् नाथूरामजी प्रेमी, साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ, श्री कृष्णलालजी वर्मा, मुनि तिलकविजयजी पंजाबी, श्री नेमीचन्द्रजी काशलीवाल इन्दौर निवासी, पं० जगदीशचन्द्रजी ऐम०ए० शास्त्री, पं० विद्याभूषणजी शास्त्री प्रतापगढ़

निवासी, पं० निरंजन शर्मा 'अजित' सम्पादक वेंकटेश्वर-समाचार, पं० राधाकृष्ण शुक्ल सम्पादक न्यू-सिनेमासंसार, ठा० काशीप्रसाद सिंह और श्री हेमचन्द्रजी मोदी की उपस्थिति उल्लेखनीय है।

आजके व्याख्यानका विषय 'सामाजिक-क्रान्ति से राष्ट्रका संबंध' निश्चित हुआ था।

सर्व प्रथम पं० विद्याभूषणजी शास्त्रीने अपने व्याख्यानमें निम्नलिखित सारयुक्त बातें बतलाई।

"क्रान्ति, समाजके लिये उतनी ही आवश्यक है जितना कि मनुष्यके लिये भोजन। क्योंकि मनुष्य का समाजसे अत्यन्त निकट सम्बन्ध है, समाज नाम, उसी संस्थाको दिया जाता है, जहाँ विभिन्न मतावलम्बियोंका संगठन कर एक सूत्रमें बाँध दिया जाय, अर्थात जिस स्थानपर संघर्षके रहते हुए भी समन्वयकी प्रधानता हो। कालान्तरमें पैदा हुई सामाजिक बुराइयोंके नाश करनेके लिये ही क्रान्तिकी आव-[illegible] [illegible]नैतिक, सामा-[illegible] और गरीबीका भेद [illegible] भेदभाव नष्ट करनेके [illegible] [illegible]यकता हुई। प्रत्येक [illegible] महत्व [illegible] है जब तक उस में रहकर मनुष्य किसी अन्य व्यक्तिको धक्का दिये बिना ही अपनी उन्नति कर सके। क्रान्तिके लिये हम कह सकते हैं कि प्रत्येक जगह एकसी क्रान्ति उपयुक्त न होगी। सब जगह अपनी अपनी परिस्थितियों के अनुसार ही क्रान्ति होना चाहिये। चूँकि समाज, राष्ट्रसे अलग नहीं है, सामाजिक क्रान्ति भी राष्ट्रीय-क्रान्ति ही समझी जानी चाहिये।"

द्वितीय व्याख्याता पं० निरंजन शर्मा 'अजित' के व्याख्यानका सार निम्नप्रकार है।

"समाज और मनुष्य पृथक नहीं; और समाज तथा राष्ट्र अलग नहीं। किसीभी जगह एकका काम दूसरेके बिना नहीं चल सकता। एक दूसरेके बिना काम न चलानेकी भी भावना मनुष्यमें स्वाभाविक है। मुनि, ऋषि और त्यागी तक समाज तथा राष्ट्र के सम्बन्धसे अछूते नहीं रहे। समाजकी क्रान्ति करनेके पहिले देश, काल परिस्थितिके अनुसार पूर्व विचार करले, हजारों वर्षकी पुरानी समाजके इतिहासका अध्ययन करे और क्रान्तिके पश्चात् समाज के निश्चित रूपकी कल्पना करनेके बाद ही क्रान्ति करे। किसी भी समाजकी बुराइयोंको सुधारनेका नाम क्रान्ति नहीं। सामाजिक क्रान्ति हम उसीको कह सकते हैं, जब एक समाजको मिटाकर नई समाजकी स्थापना करें। यदि हमारी सामाजिक-क्रांति का मुख्य आधार आर्थिक है तो आर्थिक, और राजनैतिक है तो राजनैतिक क्रांति ही हमें करना चाहिये। हमारी मुख्य क्रांति अभी वही कही जासकती है जो क्रांति हमें अपनी असलियतकी ओर लेजाए। संसार के सभी राष्ट्र शस्त्रास्त्र-नियंत्रणमें क्यों निष्फल हुए? इसका मुख्य कारण है प्रतिस्पर्द्धा। सभी अपनी अपनी शक्ति एक दूसरेसे कम नहीं रखना चाहते और खासकर ऐसे पददलित राष्ट्र, जैसे जर्मनी आदि, क्योंकि इन्हें फिर ऊपर उठना है, अपनेपर विजयी राष्ट्रोंकी होड़में टक्कर लेना है। हम हिटलरको इसी लिये दोष नहीं दे सकते, चूँकि उसका राष्ट्र पराजित है और उन्नत राष्ट्रोंमें अपने राष्ट्रकी गणना करनेके लिये वह जो कुछ करता है अच्छा ही करता है।

इसीप्रकार सामाजिक क्रान्ति होनेके कारणको हम सोचें तो हमें पता लग जायगा कि मत-परिवर्त्तन की प्रथा मिटा दी जाय तो सब सामाजिक झगड़े नष्ट हो सकते हैं। राष्ट्रीय-क्रान्ति यदि करना है तो उसके लिये यह आवश्यक है कि संसारके सभी देश अपने अपने देशकी आर्थिक शक्ति पर ही अवलम्बित रहें। एक देश दूसरे देशको अपने कब्जेमें करनेकी भावना छोड़ दें तो यह भावना भी पुष्ट हो सकती है, और ऐसा करनेसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थापित होसकती है; यद्यपि मैं यह कह सकता हूँ कि ये सब Practicable नहीं हैं।

सामाजिक-क्रान्ति करने वालोंको कभी कभी भ्रान्ति हो जाया करती है। उस भ्रान्तिको ही वे

क्रान्तिका रूप देने लगते हैं। ऐसा न होना चाहिये। वास्तविक-क्रान्ति ही समाजमें शान्ति स्थापित कर सकेगी।

तृतीय-वक्ता मुनि तिलक विजयजीके व्याख्यान का सार निम्नप्रकार है:—

'संसारके समस्त महान पुरुषोंने समाजके संरक्षणके लिये, शान्तिके लिये सुधार और क्रांतियाँ की है, कर रहे हैं और करते रहेंगे। पार्श्वनाथ स्वामीके समय चार अणुव्रतों को पालन करनेकी प्रथा थी पर महावीर स्वामीने एक पंचम अणुव्रतको और जन्म दिया और रात्रिभोजन प्रथाका निषेध किया। इसी प्रकार महर्षि दयानन्दने हिन्दू समाजकी गिरी अवस्था देखकर उसमें पुनर्जीवन डालनेकी कोशिश की और वह सफल हुई। इसी प्रकार यदि मनुष्य को यह मालूम पड़े कि अमुक धर्म, अमुक किसी अन्य-धर्मसे अच्छा है, तो वह धर्म परिवर्त्तन कर सकता है। पर दूसरा उसे परिवर्त्तन करनेके लिये बाध्य न करे। लाठी और भैंसकी कहावतके अनुसार उसे मतपरिवर्त्तनार्थ बाधा उपस्थित न करे क्योंकि मनुष्य अंग है समाजका और समाज, नाम है समूह का। मनुष्यके काममें बाधा उपस्थित करनेसे उसका विकास रुकजाता है। बिना बाधाके मनुष्यमें विकास होता है, मनुष्यके विकाससे समाजमें विकास होता है और समाजके विकाससे ही राष्ट्रका विकास हो सकता है। इसीलिये सामाजिक क्रान्तिका राष्ट्रसे निकट सम्बन्ध है।'

अन्तमें पं० दरबारीलालजीका व्याख्यान हुआ जिसका संक्षिप्त रूप निम्न प्रकार है—

'हमें अपनी आवश्यकताकी ओर नजर करके ही सामाजिक सुधार और क्रान्तिकी ओर ध्यान देना चाहिये।

यह कोई जरूरी नहीं कि किसी भी वस्तुकी दोनों बाजू सफेदही सफेद हों। हमें दोनों बाजूको सोच लेना चाहिये। देश काल परिस्थितिके भावको देखकर क्रान्ति करना आवश्यक है। इसीलिये हमें ऐसी समाजकी भी आवश्यकता नहीं जिसमें अक़ल के दख़ल देनेका अधिकार न हो।

धर्म, समाज और राष्ट्र इन तीनों शब्दोंके हमारे यहाँ विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं अर्थात धर्म है मन्दिरकी चीज, समाज है आचार-विचारकी और राष्ट्र है झन्डा वन्दन की। पर वास्तवमें तीनों एक ही चीज है। यदि स्वराज्यके लिये प्रयत्न करना हो तो राष्ट्रीय आन्दोलन करना ही पड़ेगा। और समाज सुधार करना हो तो वर्णव्यवस्था तोड़नाही पड़ेगी। पुरानी बातोंसे ही चिपके रहने से क्रान्ति नहीं हो सकती। प्राचीनताके नाते हम यह सिद्ध नहीं कर सकते कि वह अच्छी होगी ही। आजके लिये हमें आजके अनुसार कार्य करना होगा।

राष्ट्र संघटनके लिये सामाजिक क्रान्ति खूब असरदायक हो सकती है।

सामाजिक-क्रान्तिके लिये मनोबलकी आवश्यकता है, पशुबलकी नहीं, क्योंकि समाज-सुधार में माँ बाप भाई बहिनादिकोंकी भी गालियाँ आदि सहनी पड़ती हैं। राष्ट्रीययुद्धमें मनुष्यको शारीरिक कष्ट अधिक सहन करना पड़ते हैं किन्तु सामाजिक युद्ध में उसे मानसिक कष्ट अधिक सहन करना पड़ते हैं।

इसीलिये सामाजिक सुधार या क्रान्तिके लिये दृढ़ मनोबलकी अत्यन्त आवश्यकता है। उदाहरणार्थ महर्षि दयानन्दने आर्यसमाजकी स्थापनाके लिये पत्थरोंकी बौछारें सहीं, गालियाँ सहीं, तब कहीं उन्हें सफलता मिली।

इसी प्रकार दृढ़ मनोबलवाला व्यक्ति जब समाजमें क्रान्ति करेगा, तब राष्ट्रमें जागृति होगी, राष्ट्रसंगठनमें और उत्थानमें सहायता पहुँचेगी।

—भानुकुमार जैन।
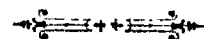
सम्पादकीय टिप्पणियाँ ।

सन्तान-निरोध ।

पूनामें जो महाराष्ट्र-महिला-सम्मेलन हुआ था, उसके बहुतसे प्रस्तावोंमें से दूसरा प्रस्ताव यह था कि "देशकी आर्थिक अवस्था अच्छी नहीं है, और साधारणतः लोगोंका स्वास्थ्य भी गिरा हुआ है, इस लिये देशकी सर्वमान्य स्वास्थ्यसुधार-संस्थाओं द्वारा विवाहित स्त्री-पुरुषोंको सन्तान-निरोधकी वैज्ञानिक शिक्षा दी जानी चाहिये।"

इतिहासातीत कालसे—उस कालसे जब कि आर्योंको अपनी संख्या बढ़ानेकी बहुत चिन्ता थी; यहाँ तक कि इसके लिये वे अनार्योंकी सैकड़ों स्त्रियोंसे शादी करके आर्यसंख्यामें वृद्धि किया करते थे—हम लोगोंकी यह धारणा हो गई है कि बहुत सन्तानवाला मनुष्य बहुत भाग्यशाली है। इसलिये हमारे घरमें खाने को हो या न हो, हम सन्तानका मनुष्योचित ढंगसे पालन कर सकें या न कर सकें, हम सन्तान पैदा करनेसे बाज़ नहीं आते। यद्यपि मैंने अनेक स्त्रीपुरुषोंको अधिक सन्तानसे दुःखी और चिन्तित होते देखा है; परन्तु इसके विरोधमें वे एक शब्द भी बोलनेका साहस नहीं कर सकते। फिर सन्तानिरोध की कुछ चेष्टा करना तो अशक्य ही है। परन्तु आज इस बेकारी और निर्बलताके युगमें सभीको न्यूनाधिक मात्रामें इसका अनुभव हो रहा है। महाराष्ट्र-महिला-सम्मेलनकी आवाज़, जनताके अन्तस्तलकी वेदना की एक छोटीसी प्रतिध्वनि है।

परन्तु आज सन्ताननिरोधका अन्दोलन चलाने में अनेक बाधाएं हैं। कुछ लोगोंकी मनोवृत्ति ही मूढ़तापूर्ण है; कुछ लोगोंमें लज्जा और अज्ञान होने से उन उपायोंका अवलम्बन नहीं लिया जा सकता, परन्तु इन सब बाधाओंसे भिन्न एक और भी बाधा है जो इस आन्दोलनके ज़रा आगे बढ़ते ही किसी न किसी रूपमें आकर अड़ जायगी। वह है साम्प्रदायिकता।

आज हमारे यहाँ साम्प्रदायिकता इतने भयंकर रूपमें है कि हर एक सम्प्रदाय मानों युद्धमें उतरा हुआ है। यदि आज सन्ताननिरोधका आन्दोलन ज़ोरदार हो जाय तो ऐसे नेताओंकी कमी न रहेगी जो यह कहते हुए मैदानमें आकूदेंगे कि हम सन्तान निरोध करके अपनी संख्या क्यों कम करें? इस लिये जैन, सिक्ख, पारसी, ईसाई आदि तो सन्तान-निरोधको आत्मघातक समझेंगे। रहे साधारण शब्दोंमें हिन्दू और मुसलमान। सो हिन्दू कहेंगे कि हमारी संख्या बहुत होने पर भी मुसलमान हमारी अपेक्षा अधिक बढ़ रहे हैं। आज हमारे बहुसंख्यक होने पर भी हमारी आत्मरक्षाका प्रश्न कठिन है, इसलिये सन्ताननिरोध करके हम अपने जातीय बलको क्यों घटावें? और उधर मुसलमान कहेंगे कि हमारा संख्याबल हिन्दुओंकी अपेक्षा एक तृतीयांश भी नहीं है इसलिये हम सन्तान-निरोधका आन्दोलन चलाकर अपनी मौत मोल नहीं लेना चाहते।

यह बहुत सम्भव है कि इस प्रकारके शब्दोंका उच्चारण अभी न हो, परन्तु जब साम्प्रदायिक कट्टरता अपना नंगा नाच कर रही है बल्कि धर्मका रंग देकर अहंकारकी शराब पिलाकर उसे और बदहोश किया जा रहा है, तब इस प्रकारकी मनोभावना न हो, यह असम्भव है।

सिर्फ़ सन्ताननिरोधकी बात ही क्या, बल्कि देशकी उन्नति तथा रक्षणके लिये जब कभी कोई काम करना पड़ेगा तो उस समय भी यह प्रश्न आड़े आयगा। यदि आज भारत स्वतन्त्र हो और कभी उसे युद्ध करना पड़े तो यहाँ इस बातके आन्दोलन खड़े होंगे कि लड़ाई पर मुसलमान सेना ज्यादः न भेजी जाय या हिन्दू सेना ज्यादः न भेजी जाय। यदि सैनिकों को भरती करनेका मौक़ा आवे तो अपनी अपनी जातिके आदमियोंको मरनेसे बचाने के लिये लोग कोशिश करेंगे। इस मनोवृत्तिके का-

रण यह देश ऐसा एक भी काम न कर पायगा जिस में त्यागकी आवश्यकता हो।

निःसन्देह यह एक नीच मनोवृत्ति है; परन्तु नीचता इस मनोवृत्तिमें उतनी नहीं है जितनी कि नीचताको पैदा करने वाले बाह्य साधनोंमें है। साम्प्रदायिक संख्याबलको यहाँ जितना महत्त्व दिया गया है, उसका परिणाम इसके सिवाय दूसरा हो ही नहीं सकता। अगर हम इस आपत्तिसे देश का उद्धार करना चाहते हैं, तब साम्प्रदायिक संख्या-बलका महत्त्व नष्ट होना चाहिये, उनके विशेषाधिकार न रहना चाहिये। शिक्षासंस्थाओंकी शक्ति साम्प्रदायिकताके नाशमें पर्याप्त मात्रामें लगना चाहिये। सम्प्रदायोंके बीचमें जो सामाजिक दीवालें हैं वे उठना चाहिये। रोटी-बेटी व्यवहारका क्षेत्र देशव्यापी होना चाहिये। सामाजिक और धार्मिक रूपोंको लेकर जब तक भारतमें एकसे अधिक जातियाँ रहेंगी तब तक यह संगठित होकर कुछ नहीं कर सकता। जैसे इंग्लैण्डमें रहनेवालोंकी एक जाति है और उसे अंग्रेज़ कहते हैं, जर्मनीमें रहने वालोंकी जर्मन, उसी प्रकार भारतमें रहनेवाले हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, जैन पारसी आदि सबकी एक ही भारतीय जाति होना चाहिये और उसमें अबाध रूपमें रोटीबेटीव्यवहार होना चाहिये। तभी लोगोंके दिलसे संख्या बलका भय दूर होगा, और तभी संगठित होकर कुछ काम कर सकेंगे और शान्तिसे रह सकेंगे। आजकी अवस्थामें तो चाहे हम संतानिरोधका आन्दोलन करें, चाहे स्वराज्यका अन्दोलन करें, इन सब आन्दोलनोंको साम्प्रदायिकता और जातीयता रूपी डायनें हड़प कर जायँगी।

दीक्षाकी बलिवेदी

मूढ़ लोगोंके पास जब अच्छी से अच्छी चीज़ पहुँच जाती है तब वे उसका बुरा से बुरा दुरुपयोग कर डालते हैं। न तो वे उसके स्वरूपको समझते हैं, न उसके प्रयोग करनेके ढंगको। जैनदीक्षाके विषयमें जैनसमाजमें भी ऐसा ही हो रहा है। दीक्षा सरीखी पवित्र वस्तु जो कि विश्वसेवाके लिये बनाई गई थी, आज उत्तरदायित्वहीन कायरोंकी शिकार बनरही है। जो कार्य एक दिन वीरताका परिणाम था, वह आज कायरताका परिणाम है।

अभी मोरवी (काठियावाड़) में एक बाई ने मिट्टीके तेलसे आग लगाकर आत्महत्या करली, क्योंकि उसके पतिने दीक्षा लेनेका पक्का विचार कर लिया था। बाईने यह बात पहिले ही कह दी थी कि अगर ऐसा होगा तो वह मर जायगी; और वह मर गई। हम उसके कामको कायरता कह सकते हैं परन्तु जिस हिन्दू समाजमें स्त्रियोंके पुनर्विवाहके लिये एक तरहसे रास्ता ही बन्द है और इसके विरोधमें विकट परिस्थितियाँ बनी हैं, वहाँ स्त्रियाँ जीते जी वैधव्यकी ज्वालामें जलनेकी अपेक्षा पाँच मिनिटके लिये अग्निकी ज्वालाका कष्ट सहन करें, यह स्वाभाविक है। परन्तु इन दीक्षाके प्रेमियोंको समझ लेना चाहिये कि घरवालोंकी जिम्मेदारीसे भाग जाना वीरता नहीं, कायरता है। सच्ची वीरता या साधुता इसमें है कि अपनी जिम्मेदारियोंको पालन करते हुए समाजकी सेवा की जाय, साधुता का पालन किया जाय। महात्मा महावीरका नाम लेने वालोंको उनके जीवनसे कुछ शिक्षा लेना चाहिये, और धर्मके नामपर इस प्रकारकी नरहत्यासे बाज़ आना चाहिये।

विधवाविवाह—एक जाति रिवाज़।

पुरुषसमाज स्वार्थी है। अपना स्वार्थ साधनेके हेतु वह स्त्री—अबला समाजपर पूर्वसे अत्याचार करता आरहा है। नहीं तो क्या कारण है कि एक बालाका विवाह जिसके दूधके दाँत भी न गिरे हों, गुड़ियाके मानिंद कर दिया जावे और दुर्भाग्यसे वह थोड़े दिन बाद विधवा होकर सारे जीवन भर अपनी कंचनसी कायाको वैधव्यकी होलीमें भस्मसात करती

रहे; तथा दूसरी ओर एक स्वार्थी पुरुष झूठ, चोरी, कपट और छलसे इकट्ठे किये चाँदीके टुकड़ोंके बल पर मदमस्त होकर एक दो नहीं, तीन चार विवाह करके भी अघाता नहीं पुरुषसमाज यह तो जरूर मानता है कि स्त्रीसमाजको पुरुषसमाजसे आठगुणा काम अधिक होता है। परन्तु वही, उक्त अत्याचार उस अबला, निर्बल समाजपर बराबर किये जा रहा है कि जिसे अपनेसे आठगुणा काम अधिक है। वह तो किसी भी स्थितिमें चाहे बाल्यकालमें, चाहे जवानी प्रौढ़ या वृद्धावस्थामें कभी भी विधवा हो जावे, पर वैधव्यकी व्यथामें जीवन अवश्य व्यतीत करे, और इधर पुरुषके पास एक स्त्री, जीवन सहचरी, जब साथ है तो भी वह अपने काम या पैसेके थोथे मदमें आकर दूसरी और तीसरी शादी करके जीवनमें गुलछर्रे उड़ाते रहनेके प्रयत्नमें रहता है। पुरुषको यहाँ तक देखा गया है कि उसके पुत्र, पुत्री और पौत्रके होते हुए भी ४०, ५० या ६० वर्षकी उम्रमें एक अबोध कन्याके माँगके सिन्दूरको मिटाने और आजीवन उसे अपने वैधव्यरूपी अग्निकुण्ड में धधकते रहनेके लिये छोड़ जानेको ही पाणिग्रहण करता है। इन अत्याचारोंसे ऊबकर कुछ सुधारकोंने इसका इलाज ढूँढ निकाला है कि विधवा अबला— इसमें सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यसे रहना अति उत्तम है—अपना वैधव्यकाल ब्रह्मचर्य और शान्तिसे यापन करे तो बहुत ही अच्छा है, नहीं तो वह अपना जीवन दुःखमय व्यतीत करके इधर उधर अपनी इच्छाओंको भटकाती हुई येन केन प्रकारेण उनकी पूर्तिके निमित्त भ्रूणहत्याय न करती हुई, किसी एक पुरुषको अपने जीवनका साथी बनाकर धर्मपूर्वक सुखपूर्वक निश्चिन्त होकर जीवनकी घड़ियाँ निकाल देवे। इस प्रकार विधवाविवाह चालू होनेसे समाज में जो गुप्त व्यभिचार, पापाचार आये दिन होते रहते हैं, वे रुक जायेंगे।

उक्त बातको लक्ष्यमें रखकर तथा पैसेवाले स्वार्थी धनाढ्य और दूसरोंके अधिकारोंको अपहरण करने वाले धनी मदोन्मत्तोंमें सुबुद्धिका प्रचार करनेके लिये दिगम्बर जैन बीसा जाँगड़ा पोरवाड़ सुधारकोंने मिलकर अपनी मलकापुर समाजमें नीचे लिखा प्रस्ताव तारीख ११-११-३४ को स्वीकृत कर लिया है। "पोरवाड़ समाजकी जो कोई विधवा स्त्री ब्रह्मचर्य व्रत पालनेमें असमर्थ होवे, उस विधवा स्त्री ने यदि पुनर्विवाह किया तो वह विवाह जाति रिवाज समझा जावेगा और उनके सामाजिक हक़ पूर्ववत् क़ायम रहेंगे।" इस प्रस्तावमें १५ आदमियोंकी जो सही है, सुना है उनमें सुधारक, पैसेवाले, वृद्ध और युवक भी हैं। अप्रकट रूपसे इनको सहयोग देनेके लिये और भी कई लोग कहे जाते हैं। हम इन सुधारक मित्रोंके सुप्रयासका स्वागत करते हुए अन्य समाजोंसे भी इसका अनुसरण कर विधवाविवाह को जातिरिवाज समझ लेनेका निवेदन करते हैं। आशा है इस ओर विशेष प्रगति होगी।

उक्त प्रस्ताव पास करके मलकापुर समाजके १५ धनीमानी सज्जनोंने एक जाहिर खबर समस्त दिगम्बर जैन बीसा जाँगड़ा पोरवाड़ समाजके नाम निकाली है। क्या इस ओर कंकाड़ा, असीर, खँडवा, साहाड़ा आदि बराड़ और निमाड़ प्रान्तके पोरवाड़ जैनभाई विचार कर उनका अनुकरण न करेंगे। एक दो विधवाविवाह इधर उधर जाकर समारोहके साथ करानेकी अपेक्षा यह उचित और अधिक श्रेयस्कर होगा कि विधवाविवाहके रिवाजको जातिरिवाज समाजके पूरे अधिकारोंसहित मान लिया जावे। इसीमें लाभ निहित है। —एक जैनयुवक।

सम्पादकीय नोट—प्रस्तावकी छपी हुई नक़ल 'जाहिर सूचना' के नामसे इस लेखके साथ आई है, जिसपर पन्द्रह सज्जनोंके हस्ताक्षर हैं। इसके अतिरिक्त १५ सज्जन ऐसे हैं जिनने हस्ताक्षर तो किये हैं परन्तु छपाये नहीं गये हैं। मलकापुरके बन्धुओंको इस सत्साहसके लिये बधाई है। परन्तु इस ढंगके दोचार विवाह कराके पंचायती रिवाजकी पक्की छाप लगालेनेकी जरूरत है, क्योंकि बिचारों

को जब तक कार्यरूपमें परिणत नहीं किया जाता तब तक विचार होनेपर भी संकोच बना रहता है। जिन बन्धुओंने हस्ताक्षर किये हैं वे चाहें तो शीघ्र ही इसप्रस्तावको कार्यरूपमें परिणत कर सकते हैं।

विविध विषय।

(ले०—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

वैशाली और ज्ञातृपुत्रवंश।

बौद्धधर्मके सुप्रसिद्ध पंडित और इतिहासज्ञ श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपिटिकार्यका 'तिब्बतमें सवा बरस' नामका भ्रमणवृत्तान्त हाल ही प्रकाशित हुआ है। इसके 'भारतके बौद्ध खंडहरोंमें' नामक प्रकरणमें भगवान् महावीरके वंश और उनके पिता के निवासस्थान वैशालीके सम्बन्धमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण चर्चा की गई है—

"बखरासे बनिया (मुजफ्फरपुर जिला बिहार) पहुँचा। वैशाली आजकल 'बनिया-बसाढ़' के नाम से ही बोली जाती है। बसाढ़ तो असल वैशाली है, जो वज्जियों * की राजधानी थी। बनिया उसीका व्यापारिक मुहल्ला था। यही जैन सूत्रोंका 'वाणिय-गाम-नयर' है। भगवान् महावीरका एक प्रधान गृहस्थ शिष्य 'आनन्द' यहीं रहता था। भगवान बुद्धके ग्यारह प्रधान गृहस्थ शिष्योंमें से उग्र गृहपति यहीं रहता था। वज्जियोंकी महाशक्तिशाली प्रजा-तन्त्रकी राजधानीका यह व्यापारिक केन्द्र महा-समृद्धिशाली था, यह बौद्ध-जैन-ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। अब यह एक गाँव रह गया है।···

"बनिया-बसाढ़के आसपास मिट्टीकी छोटी छोटी पकी मेखलाओंसे बँधी हुई कुइँयाँ कहीं भी निकल आसकती हैं। वहाँसे चलकर बसाढ़ आया। तालाबपर का एक मन्दिर जिसमें अब भी बौद्ध-जैन मूर्तियाँ हिन्दुओंके देवी देवताओंके नामपर पूजी जारही हैं, रौजा, गढ़ और गाँव सभी घूम फिर देखा। यहीं किसी समय वज्जियोंका संस्थागार (प्रजातन्त्र-भवन) था, जिसमें ७७०७ राजोपाधिधारी लिच्छवि किसी समय बैठकर मगध और कौशलके राजाओंके हृदय कम्पित करनेवाले, 'सात अपरि-हाणि * धर्मोंसे युक्त वज्जी-देशके विशाल प्रजा-तंत्रका संचालन किया करते थे। बसाढ़ और उसके आसपास अधिक प्रभावशाली जातिके लोग जथरिया (भूमिहार) हैं। आजकल तो ये लोग सोलहों आने पक्के ब्राह्मण जातिके बने हुए हैं, जिस जातिको जथ-रियोंके पुत्र (ज्ञातृपुत्र) बुद्धिमान महावीरने 'भिख-मगोंकी जाति' तथा 'तीर्थंकरों के न उत्पन्न होने योग्य जाति' कहा था। मैं जिस वक्त बसाढ़के एक

* लिच्छवि ही वृजि या वज्जी कहलाते थे।

* मगधके राजा अजातशत्रु (कूणिक) ने वज्जियों के संघराज्य (प्रजातन्त्र राज्य) को जीत लेना चाहा था। उसने बुद्धसे इस बारेमें सलाह माँगी। बुद्ध ने कहा (१) जबतक वज्जी अपनी परिषदोंमें बड़ी संख्या में और बार बार जमा होते हैं, (२) जब तक वे इकट्ठे उठते बैठते और मिलकर अपने राष्ट्रीय कार्योंको करते हैं, (३) जब तक वे बिना नियम बनाये कोई काम नहीं करते और अपने बनाये नियम क़ानूनका पालन करते हैं, (४) जब तक वे अपने बुजुर्गोंकी सुनने लायक बात सुनते और उनका आदर करते हैं, (५) जब तक वे अपनी कुलस्त्रियों और कुल कुमारियों पर ज़ोर ज़बरदस्ती नहीं करते, (६) जब तक वे अपने वज्जी-चैत्यों (राष्ट्रीय-मन्दिरों) का सम्मान करते हैं, और (७) जब तक वे विद्वान् अर्हतोंकी शुश्रूषा करते हैं तब तक वे कभी न हारेंगे, चाहे कितनी सेना लेकर उनपर चढ़ाई क्यों न करो। ये सात शर्तें 'अपरिहाणि-धर्म' अर्थात् क्षीण न होनेकी शर्तें कहलाती हैं।

—भारतीय इतिहासकी रूपरेखा पृ० ५१४-१५।

† भगवान् महावीर लिच्छवियोंके ज्ञात्रिक कुलमें पैदा हुए थे। ज्ञात्रिकका ही रूपान्तर जथरिया है। जथरिया लोग अब भूमिहारोंमें शामिल हैं। बिहारके भूमिहारोंने जिन्हें वीर लिच्छवि क्षत्रियोंके वंशज होनेका अभिमान करना चाहिए, अज्ञानवश अपने आपको ब्राह्मण कहना शुरू कर दिया है।

वृद्ध जथरियासे कह रहा था कि आप लोग ब्राह्मण नहीं हैं, क्षत्रिय हैं. तब उन्होंने झट नीमसारसे आकर जेथरडीह (छपरा ज़िला) में बसनेवाले अपने पूर्वज ब्राह्मणोंकी कथा कह सुनाई। बेचारोंको समृद्ध प्रतिभाशाली, वीर स्वतन्त्र ज्ञातृ जातिके खूनकी उतनी परवा न थी, जो अब भी उनके शरीरमें दौड़ रहा था और जिसके लिये आज भी पड़ोसियों की कहावत है—

सब जातमें बुर्बक जथरिया।
मारै लाठी छीनै चदरिया॥

जितना कि एक अधिकांश धनहीन, बलहीन, विद्याजड़, कूपमण्डूक, मिथ्याभिमानी जातिमें गणना करानेमें। वहीं क्यों! क्या सुशिक्षित देशभक्त मौलाना शफ़ी दाऊदी † भी 'शफ़ी जथरिया' के महत्त्वको समझ सकते हैं?

मुनिराजोंकी महिमा।

मुनिजनोंकी महिमा बढ़ानेके लिए पंडितदल निरन्तर कुछ न कुछ प्रयत्न किया ही करता है; क्योंकि वह अच्छी तरह जानता है कि वास्तवमें उनमें नग्नताके सिवाय और कोई चीज़ तो है ही नहीं। मुनि चन्द्रसागर जब आचार्य शान्तिसागरके संघमें थे तब उनके प्रचारकों द्वारा प्रसिद्ध किया गया था कि वे गृहस्थावस्थामें बैरिस्टर थे, परन्तु यह सफ़ेद झूठ बहुत दिनों तक न चली। अब वे अपने 'कलिकाल-सर्वज्ञ' गुरु से विद्रोह करके अपना अलग संघ बनाकर विहार करते हैं। इस गुरुद्रोहके कारण पहले तो कुछ समय तक पण्डितदल उनकी उपेक्षा करता रहा; परन्तु अब फिर उनके गीत गाये जाने लगे हैं। अभी कार्तिक सुदी ८ के जैनगज़ट में एक सज्जन ने प्रकाशित कराया है कि "कुचामन में उक्त मुनिराजने विजयदशमीके दिन पं० गौरीलालजी वाचकसे भट्टाकलंकदेवके लघीयस्त्रय ग्रन्थ का पाठ समाप्त किया। मुनिराज ने गतवर्ष अजमेर में जैनेन्द्रमहाव्याकरणको पढ़कर 'वैयाकरणता' प्राप्त की थी, उसीप्रकार इसवर्ष लघीयस्त्रय को पढ़कर तार्किकत्व प्राप्त किया है।" सो अब नाँदगाँवके मामूलीसी हिन्दी पढ़े लिखे हुए खुशालचन्दजी पहाड़्या मुनिधर्मकी कृपासे बैरिस्टर होने के बाद महावैयाकरण और महातार्किक हो गये हैं! जो आदमी अँगरेज़ीकी 'प्राइमर' पढ़े बिना भी बैरिस्टर कहला सकता है, वह अपने अनुयायियों की श्रद्धा भक्तिसे संस्कृतकी प्रवेशिका पढ़े बिना भी वैयाकरण और नैयायिक बन जाय, तो क्या आश्चर्य है? यदि शान्तिसागरजी मराठीकी तीन इयत्ता (कक्षायें) पढ़कर 'कलिकालसर्वज्ञ' बनाये जा सकते हैं तो उनके शिष्य चन्द्रसागरजीको वैयाकरण और तार्किक बनाना क्या बड़ी बात है?

परलोकगत मुनीन्द्रसागर उर्फ़ मुन्नालाल परवार ललितपुरमें पल्लेदारी या हम्मालीका काम करते थे। पढ़े लिखे इतना अधिक थे कि आचार्य बन जाने पर भी शुद्ध नहीं लिख सकते थे। जैन जगत्के पाठक जानते हैं कि वे अपने नामके साथ 'आचार्य' के बदले 'आर्चे' लिखा करते थे फिर भी पंडितदलकी कृपासे वे अनेक महनीय पदवियोंके धारक कवि और नाटककार सिद्धान्तलेखक और व्याख्याता बन गये! पाठक उनके नामसे डा० गुलाबचन्दजी पाटणीके पाटणी प्रिंटिंग प्रेस अजमेरसे प्रकाशित हुए 'भावप्रकाश' (अर्थात् जीवोंके शुभाशुभ भावोंका विशद व्याख्यान) नामक ग्रन्थका टाइटिल पेज देख सकते हैं। उसपर रचयिताका नाम इस प्रकार दिया है—"स्याद्वादवाचस्पति, वादीभसिंह, महाकवीन्द्र, न्यायभास्कर उपदेशाब्धिनि अलंकृत (?) अर्हच्छासनमहिमापयोधि कन्दर्पके चरित्र नायक पूज्यपाद श्री १०८ श्रीमदाचार्यवर्य मुनीन्द्रसागरजी महाराज।" बृहज्जैनेन्द्रव्याकरण, शाकटायनीय

† खुदीराम बोसवाले भारतके पहले बम मामलेमें शफ़ी दाऊदी सरकारकी तरफ़से वकील थे। १९२१ में वकालतसे असहयोग कर देशभक्त कहलाये। अब 'मुस्लिम अधिकारों' की रक्षामें जुटे हैं। वे भी जथरिया हैं।

नाटक आदि ग्रन्थोंपर भी लगभग यही पदवियाँ दी हुई हैं। कहनेकी जरूरत नहीं कि ये सब ग्रन्थ आचार्यमहाराज द्वारा पोषित टकापन्थी पंडितोंके द्वारा लिखे हुए हैं। बुरा हो दमोह और जबलपुरके पंचों का जिन्होंने मुनिसंघका भंडाभोड़ कर दिया, नहीं तो आज पण्डितदल उक्त मुनिपितामहके शोकका चीत्कार करके जमीन-आसमान एक कर देता और सुधारकोंको गालियाँ देसकनेका ऐसा अच्छा मौका हाथसे न जाने देता। हमें दुःख है कि शोलापुरके पं० वंशीधरजी शास्त्री, जो मुनीन्द्रसागरके प्रधान पृष्ठपोषक और प्रशंसक थे, जैनगजटमें उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करनेके लिए एक शब्द भी न लिख सके।

भगवान महावीरका सन्देश।

पाठकोंने सिन्धप्रान्तके सुप्रसिद्ध साधु टी०एल० वास्वानीका नाम सुना होगा। आप जीवदया और अहिंसाधर्मके विश्वप्रचारक महान् वक्ता और लेखक हैं। यूरोप अमेरिका आदि देशोंमें आपके विचारों की बड़ी प्रतिष्ठा है और आपको एक अन्तरराष्ट्रीय महापुरुषका सम्मान प्राप्त है। ता० ११ दिसम्बरको बम्बईके गोडी पार्श्वनाथके उपाश्रयमें श्वेताम्बराचार्य नीतिविजयसूरिके सभापतित्वमें आपका एक मननीय व्याख्यान हुआ। गुजराती दैनिक 'नव-भारत' से उसका सार यहाँ दिया जाता है—"मैं यहाँ आशीर्वाद लेने आया हूँ, मैं साधु नहीं हूँ, किन्तु प्रत्येक धर्मके साधुओंका सेवक हूँ। इसीलिए मैं श्री महावीरका सेवक हूँ। जिस जमानेमें महावीरने जैन धर्मको प्रकाशित किया उससमय यह माना जाता था कि जैनधर्मका क्षय होरहा है। महावीरने उसकी ज्योतिको सतेज किया। इस जमानेमें भी महावीरके सन्देशका खूब प्रचार करनेकी जरूरत है। युवकोंको यह कार्य करके इतिहासमें एक नवीन अध्यायका प्रारंभ करना चाहिए। यूनानके सुप्रसिद्ध दार्शनिक सॉक्रेटीज (सुकरात) महावीरके समकालीन थे। ग्रीस (यूनान) और चीनमें नई रोशनी फैलानेवाले और भी ऐसेही महापुरुष उत्पन्न हुए थे। उन महापुरुषोंके संदेश प्रत्येक स्कूल और कॉलिजमें वितरण किये जाते हैं, जबकि महावीरके सन्देशका प्रचार करनेके लिए कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है। जैन धर्म बहुत प्राचीन है। वैदिक धर्मने भी इस धर्मका प्रतिपादन किया है। महावीरने ज्ञान-प्रसारके लिए महान प्रयत्न किये। उन्होंने चलते फिरते विश्वविद्यालयकी तरह जगह जगह अहिंसाके सिद्धान्तोंका प्रचार किया, और मांसाहारनिषेध, पशुबलि विरोध के लिए महान् प्रयत्न किया। महावीर बहुतही बड़े वीर थे। वाटर्लूके युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला बहादुर ड्यूक ऑफ विलिंग्टन महावीरकी चरणरजकी भी समता नहीं कर सकता। वेलिंग्टनकी बहादुरीमें हिंसा थी, जबकि महावीरकी वीरता अहिंसा में है। ऐसे महापुरुषकी यादगीरी ताजी बनी रहे, इसके लिए महावीर-जयन्ती मनानी चाहिए। दूसरे देशोंकी मान्यतायें डगमगा रही हैं। भारतकी संस्कृतिमें त्याग और संयम है। इस संस्कृतिके अनुसार दूसरोंके देश जीतनेकी अपेक्षा अपने देश और अपनी इन्द्रियोंको जीतनेकी आवश्यकता है। वर्तमान सभ्यता या संस्कृतिको भोगरूपी रोग लगगया है। महावीरने उसकी दवा बतलाई है और वह है भोगका त्याग। सुखी बननेके लिए जीवनका हेतु, ध्येय और आदर्श निश्चित करना चाहिए। केवल धनही सुखका साधन नहीं है। अमेरिकामें अगणित करोड़पति हैं। वहाँ मि० बार्टन एक बड़ा भारी करोड़पति था। वह आत्महत्या करके मर गया और यह लिख गया कि जीवनका हेतु क्या है, जिन्दगी किस लिए है, इसका मुझे भान नहीं, और इसलिए दुखी होकर मैं अपघात करता हूँ। इसीलिए महावीरने पहले ज्ञानका उपदेश दिया है और फिर साधनाका सन्देश। उन्होंने विशेषतासे विश्वसेवाका सन्देश दिया है। उनका सन्देश निरपेक्ष सेवाका पाठ देता है।

महावीरकी सहानुभूति और जादूवाली हलचल को फैलानेकी जवाबदारी जैन भाइयोंके सिर है। दूसरोंको सुख पहुँचानेसे हमें भी सुख मिलेगा। अहिंसा एक महती जीवनशक्ति है, उसको खूब फैलाओ, बस महावीरका यही वास्तविक संदेश है।"

त्रिकालज्ञका अर्थ।

हरिजन आन्दोलनके सम्बन्धमें व्याख्यान देते हुए महाराष्ट्रके एक बहुश्रुत विद्वान 'साने गुरुजी' (एम० ए०) से प्रश्न किया गया कि हमारे ऋषि त्रिकालज्ञ थे, परन्तु महात्मा गाँधी तो त्रिकालज्ञ नहीं हैं, इसलिए उनके वचन कैसे प्रमाणभूत माने जा सकते हैं? इसके उत्तरमें व्याख्यनाताने कहा— "जो भूतकालकी परम्परा देखता है, भूतकालमें जो कार्य हुए हैं, उनका विचार करता है, जो वर्तमान कालका अच्छी तरह अवलोकन निरीक्षण करता है और भविष्यका भी विचार यथाशक्य दीर्घ दृष्टिसे करता है, वही त्रिकालज्ञ है। गाँधीजीने देखा, हिन्दुस्तानमें पहले घर घर चरखा चलता था, सब लोग सूत कातते थे, इससे लोग सुखी थे परन्तु अब कोई सूत नहीं कातता, पुतलीघर (मिल्स) बढ़ रहे हैं, इससे अनर्थ होरहा है, भविष्यकालमें और भी पुतलीघर खड़े होंगे तो मजूरोंकी संख्या बढ़ेगी, मिल मालिक पुष्ट पूँजीवाले बनेंगे। इससे सोचा कि यह असमान स्थिति, यह विषमता, और यह पूँजी शाहीका राक्षस उत्पन्न करके फिर उसे नष्ट करनेकी अपेक्षा, उसे उत्पन्न न होने देनाही अच्छा है और इसलिए खादी और चरखेको हम सबका कर्तव्य निश्चित किया। इसमें त्रिकालज्ञान है, भूत भविष्य और वर्तमान तीनोंका विचार है। इस प्रकारके दूरदर्शी महात्माओंकी हमेशा आवश्यकता रहती है और वे होते भी हैं। वे संसारके लिए दीपस्तंभके समान मार्गदर्शक होते हैं।

गाँधी और राजगोपालाचार्य की एक जाति।

एक और प्रश्नके उत्तरमें 'साने गुरुजी' ने कहा— गाँधीजी (काठियावाड़ी वैश्य) ने अपने लड़केका विवाह मद्रासी राजगोपालाचार्य (ब्राह्मण) की लड़कीसे किया, सो ठीक ही किया, क्योंकि वास्तवमें दोनोंकी जाति एक ही है। जिनके आचार-विचार और उपास्य एकसे हों, उन्हें एक जातिका ही समझना चाहिए। मैं देशसेवा करनेवाला और खादी पहिननेवाला ब्राह्मण हूँ। यदि मेरा विवाह एक विलायती कपड़े पहिननेवाली ब्राह्मण कहलानेवाली लड़कीके साथ हो, तो हम दोनोंकी कैसे पट सकेगी? राजगोपालाचार्यका कुटुम्ब गाँधीजीके आचार-विचारोंका पूरा अनुयायी है, इसलिए दोनोंकी जाति एक है। महात्माजी जब पिछली बार विलायत गये थे, तब वहाँ के जगत्प्रसिद्ध समालोचक और नाटककार बर्नेडशॉ ने उनसे कहा था, "गाँधीजी, आप और हम एक ही जातिके हैं, परन्तु अपनी जाति बहुत ही छोटी (अल्पसंख्यक) है।" बर्नेडशा भी अन्याय अत्याचारोंके विरुद्ध लड़नेवाले और दम्भ के दुश्मन हैं, इसलिए उन्होंने उक्त वाक्य कहे थे। विलायती मालकी दूकानें करनेवाले वैश्य, गाँधीजी की जातिके कैसे हो सकते हैं? फ़कीरको तो फ़कीर हो चाहिए। इस समय तो आड़-नाव (सरनेम) से ब्राह्मणादि पहिचाने जाते हैं, कामसे तो हम देखते हैं कि ब्राह्मण दर्जी भी हैं, धोबी भी हैं और नाईका भी काम करते हैं। मेरी समझमें नहीं आता कि एक दर्जीका काम करनेवाला और एक अध्यापकी का काम करनेवाला आड़-नावसे एक होने पर भी एक जातिके क्यों समझे जाने चाहिए! इस समय जो विवाह होते हैं, वे ही अजातीय और असनातनीय हैं। सच्चा आर्यविवाह और सच्चा सजातीय-विवाह तो गाँधीजीके पुत्रका ही हुआ है। ज्ञानधन ब्राह्मण ने अपनी लड़की परकीय सरकारी नौकरी करनेवाले ब्राह्मणको दी होती, तो उसे मैं अधार्मिक विवाह समझता। वह तो ब्राह्मण और गुलामके बीचका विवाह होता।"

दिगम्बर श्वेताम्बरोंका सम्मिलित कॉलेज।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी महाराज बहुत समय से एक जैन कॉलिज खोलनेका स्वप्न देख रहे हैं। जैनमित्रमें मौके बेमौके वे इसकी चर्चा किया ही करते हैं। शायद आपकी ही प्रेरणा और आन्दोलन से गतवर्ष न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी, बाबा भगीरथजी और पं० दीपचन्दजी वर्णीने इसके लिए एक लम्बा दौरा भी किया था जिसका फल शून्यमें ही आया था—कुछ हुआ हवाया नहीं था। अब आपने अपने मद्रासके दौरेकी रिपोर्टमें प्रो० ए० चक्रवर्ती एम० ए०, आई० ई० एस० का पत्र उद्धृत करके फिर लोगोंसे अपील की है कि ५–६ लाखका चन्दा करके एक जैन सेन्ट्रल कॉलिज खोल देना चाहिए और इसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर सभी जैनोंको सम्मिलित होना चाहिए। वर्तमान समयमें जैनोंके लिए स्वतन्त्र कालेजकी आवश्यकता है या नहीं, यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है, हम यहाँ उसे नहीं उठाना चाहते। हम तो केवल यह जानना चाहते हैं कि क्या ब्रह्मचारीजी और उनके सहयोगी नेताओं में इतनी साम्प्रदायिक उदारता है कि उनके मुँहसे श्वेताम्बरोंके साथ सम्मिलित होनेकी बात शोभा दे? जो लोग अपने हक़ोंकी रक्षाके नामसे पचीसों वर्षों से तीर्थोंके मुकद्दमे लड़ रहे हैं, उनमें अग्रभाग लेते हैं, अपने पत्रोंमें साम्प्रदायिकताके नामसे जनसाधारणको भड़काते रहते हैं, श्वेताम्बर मान्यताओं और उनके शास्त्रोंको अजैनोंसे भी अधिक मिथ्यात्वी, पाखंडी जैनाभास बतलाते रहते हैं, इसके लिए इतिहास तककी हत्या किया करते हैं, जिनमें मतसहिष्णुताका लेश भी नहीं है, समझमें नहीं आता कि वे किस मुँहसे श्वेताम्बरी भाइयोंके पास सहयोग करनेका सन्देश लेकर जायेंगे। कॉलेज तो एक बहुत बड़ी बात है, अभीतक कोई पाठशाला, स्कूल, सभा सोसाइटी या और कोई संस्था भी तो ऐसी अस्तित्वमें नहीं है जिसमें दोनोंके सहयोगका 'श्रीगणेश' भी हुआ हो। और श्वेताम्बरी भाई भी तो इस विषयमें कम कट्टर नहीं हैं। वे भी तो हमें 'निह्नव' (मिथ्यात्वी) आदि उपाधियोंसे विभूषित किया करते हैं। तब यह सम्मिलित कॉलेजकी नाव कैसे पार लगेगी?

सहभोज और बेटी व्यवहार।

अभी कुछ समय पहले किंग एडवर्ड कॉलेज अमरावतीके संस्कृतके प्रोफेसर बाबू हीरालालजी जैन एम० ए० एल० एल० बी० ने अपने यहाँ एक सहभोज किया था जिसमें वहाँ के विविध जातियों के गण्य-मान्य जैन भाई शामिल हुए थे और उसमें उस प्रेम और ऐक्य भावका वर्द्धन किया था जो एक धर्मके अनुयायियोंमें अवश्य होना चाहिए। सुना गया है कि इस सहभोजके कारण कुछ कट्टर विचार के लोगोंमें बड़ी सनसनी फैली है, परन्तु इसके साथ ही बरारप्रान्तीय जैन परिषत्के सभापति बाबू कस्तूरचन्दजी वकील (जबलपुर) ने अपने ता० २६ नवम्बर के व्याख्यानमें जो कि भातकुली पर हुआ था, इसका अनुमोदन किया है और जैन जातियोंमें पारस्परिक रोटी-बेटीव्यवहारके प्रचलित करने पर जोर दिया है। व्याख्यानका उक्त अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है—

जैनसमाजके भीतर जितना आन्तरिक सहानुभूति और परस्पर प्रेमका अभाव है, उतना शायद एक ही धर्मके मानने वाले अन्य किसी सम्प्रदायमें न होगा। इसका मूल कारण मुझे यही प्रतीत होता है कि हमने अपने खानपान और बेटीव्यवहारमें परस्पर सहयोग नहीं रक्खा। यही दो साधन हैं जिनसे मनुष्य सचमुच परस्पर स्थायी प्रेमबन्धनमें बँध जाते हैं। किन्तु जिन व्यक्तियोंसे हमारा कभी सहभोज और विवाहसम्बन्ध होनेकी सम्भावना नहीं है उनसे हमें हार्दिक प्रेम और सच्ची सहानुभूति नहीं होती। जैन शास्त्रोंमें उक्त दोनों कार्योंके लिये जैनजातियोंको कोई रुकावट नहीं है, तो भी

हिन्दूधर्मके संसर्गसे हमारे भीतर यह संकीर्णता बड़ी जटिलतासे आ बैठी है। इससे जैनजातियोंमें अनेक व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हो रही हैं। कितनी ही जातियोंकी संख्या अल्प होनेके कारण, तथा कितनी जातियोंमें गोत्र और मूलके बचावका बेढब गोरखधन्धा होनेके कारण योग्य वर कन्याका संयोग मिलना बड़ा दुष्कर हो रहा है। इससे कितने ही मा-बापोंके हृदय सदाके लिये टूट जाते हैं। शास्त्रीय विवादोंसे तथा समाजके हितकी दृष्टिसे यह बात अब बहुसम्मत हो चुकी है कि जैनजातियोंमें परस्पर विवाहसम्बन्ध होना शास्त्रसम्मत ही नहीं किन्तु आवश्यक है। जातियोंमें परस्पर प्रेम और मेलजोल बढ़ानेके लिये सहभोजोंकी भी बड़ी आवश्यकता है। खाने खिलानेमें हमारी समाजका बहुत द्रव्य खर्च होता आया है और हो रहा है, किन्तु इन भोजोंमें संकीर्णताकी नीतिके अवलम्बनके कारण परस्पर प्रेम बढ़नेकी जगह और विद्वेष उत्पन्न होजाता है। इस सम्बन्धमें अपने ही धर्मबन्धुओंके बीच नीचऊँचकी भावना रखना धर्मविरुद्ध, धर्मविघातक और समाज-शक्तिकी नाशक भावना है। अतएव हमें इन भोजोंद्वारा अपने समाजकी भिन्न भिन्न जातियोंमें मेलजोल बढ़ानेकी भावना प्रधानरूपसे रखना चाहिये। तभी ये भोज धर्म प्रभावनाके साधन माने जा सकते हैं। इस सम्बन्धमें जब मैंने समाचारपत्रोंमें प्रोफ़ेसर हीरालालजीके यहाँ दिये गये सहभोजके समाचार पढ़े तो मुझे बड़ी खुशी हुई। आशा है इस पद्धतिका खूब अनुकरण और प्रचार होगा और उसके फलस्वरूप परस्पर मेलजोल और प्रेमकी वृद्धि होगी तथा अन्तर्जातीय विवाहका मार्ग भी सुलभ होजायगा।"

आठ लाखका पुण्यबन्ध !

अहमदाबादके स्व० सेठ मनसुखलाल भगूभाईके सुपुत्र सेठ माकूभाई एक सुप्रसिद्ध धनी हैं। कहा जाता है कि आप शीघ्र ही शत्रुञ्जय तीर्थकी यात्राके लिए एक बड़ा भारी संघ निकाल रहे हैं, जिसमें लगभग पाँच हजार जैन यात्री शामिल होंगे। श्वेताम्बर जैनसमाजके बड़े बड़े धनिक और आचार्य नेमिविजयजी अपने शिष्यपरिवार सहित इस महान् संघको सुशोभित करेंगे। यह संघ पैदल रास्तेसे गिरनारजी होकर ४५ दिनमें पालीताना पहुँचेगा। मार्गके प्रत्येक मुक़ामपर संघपतिकी ओरसे मिष्टान्नभोज दिया जायगा और ऐसे प्रत्येक भोजमें चार पाँच हजार रुपये खर्च होंगे। बड़े शहरोंमें इससे भी अधिक, क्योंकि वहाँ भोजन करनेवाले अधिक होंगे। संघके साथ सोने चाँदीका मन्दिर और रथ रहेगा जो संघपति स्वयं तैयार करा रहे हैं। अनुमान किया जाता है कि सेठजीने इस कार्यमें ७-८ लाख रुपया खर्च करनेका विचार किया है। संघके स्वागतमें स्थान स्थानके लोगोंकी ओरसे जो खर्च होगा, वह इससे जुदा। संघके साथ वह मुकुट भी बड़े प्रबन्धके साथ जायगा जो शत्रुञ्जयके आदीश्वर भगवानके मस्तकपर सुशोभित करनेके लिये आनन्दजी कल्याणजीकी ओरसे कई वर्ष हुए कई लाख रुपया खर्च करके तैयार कराया गया था और भारतवर्षके देवस्थानोंमें जो बेजोड़ समझा जाता है।

बम्बईके गुजराती दैनिक 'जन्मभूमि' में इस संवादको प्रकाशित करनेवाले लेखक महाशय लिखते हैं कि—"इस संघके निकालनेमें जितना खर्च होगा उससे एक अच्छा कॉलेज खड़ा किया जा सकता है और इस रकमके केवल ब्याजसे, ३०० जैन विद्यार्थियोंका पोषण करनेवाला एक विद्यालय चलाया जा सकता है।" परन्तु शायद वे इस बातको भूल जाते हैं कि सेठजीके गुरुवर्य संघ निकालनेमें जिस महान् पुण्यबन्ध—सुगतिगमन और परम्परा मोक्षप्राप्ति—की गारंटी देते हैं, वह पुण्यबन्ध कॉलेज और विद्यालय खोलने या विद्यार्थियोंको पढ़ाने लिखानेमें कहाँ होसकता है?—यह तो उस संसारका बढ़ानेवाला होगा जिस संसारके जंजालमें पड़कर सेठजीको इतनी दौलतका स्वामी होना पड़ा है और जिसके काटनेके लिए बेचारे और कोई तपस्या आदि नहीं कर सकते हैं तो उस धनको ही तेज धारको काममें लाते हैं।

पत्नीपर अमानुषिक अत्याचार ।

बम्बईकी हनुमान गलीमें रहनेवाले दशा श्रीमाली प्राणजीवनदास चतुर्भुज शायद जैनधर्मानुयायी हैं, इसलिए आप अपनी नवविवाहिता पत्नी तारालक्ष्मी पर बड़ी दया रखते हैं। तारालक्ष्मीका अपराध यह है कि वह एक ग़रीब माबापकी लड़की है और उसके बापने ब्याहके समय पूरा दहेज नहीं दिया है। उसे इस अपराधमें जो गालीगलोज और ताने-उलहने सहने पड़ते थे, वे काफी न थे, इस कारण उसके जीवनसर्वस्व पतिने एकदिन प्रायमस स्टोवपर लोहे का खीला लाल करके उसके दाहिने पैरका अँगूठा दाग दिया। एकदिन भूलमें पत्नीके पैरकी ठोकरसे गरम चाहका बर्तन लुढ़क गया और उसके कुछ गरम छींटे पतिके पैरोंपर पड़ गये, इससे उत्तेजित होकर प्राणप्रिय पतिने उसे तबतक मारा जबतक कि उनके हाथ थक न गये ! फिर भी गुस्सा ठंडा न हुआ, इसलिए शामको कोयलेका अंगार चीमटेसे पकड़कर अबला बालाके गालोंको तीन जगह दाग दिया और फिर जलते हुए कोयलेको दाहिने हाथके पंजे पर रख दिया ! इसके बाद कार्तिक सुदी १४ की रात्रिको यह कहकर कि तू मेरी बदनामी करती है, मैं लोगोंके सामने मुँह दिखाने लायक नहीं रहा हूँ, इस बहादुर पतिने हुकम दिया कि चोलीके बटन खोल और उस ग़रीब गायकी सुकोमल छातीको भी गरम लोहेसे दाग दिया !! हद होगई। बेचारी अपने पीहर चली आई और अपने सौभाग्यशाली जीवनकी करुणाकथा सबको कह सुनाई। सुननेवाले काँप उठे। जातिके प्रतिष्ठित पुरुषोंने इस अन्यायको दूर करनेके लिए उद्योग किया; परन्तु वह व्यर्थ हुआ। आखिर पत्नीको अपने पिताकेही घर जीवन व्यतीत करनेका निश्चय करके पुलिस कोर्टमें नालिश दायर करनी पड़ी। कहा जाता है कि बनियेकी जात बड़ी कमज़ोर, कायर और डरपोक होती है, परन्तु यह शायद उन लोगोंके सामने, जो गालीका जवाब घूँसेसे दे सकते हैं। अपने अधीनों और ग़रीबोंके सामने तो ये शेर होते हैं। ग़ुलामोंकी मनोवृत्ति ही ऐसी होती है कि वे अपनेसे कमज़ोरोंको गुलाम बनाकर रखना चाहते हैं और उन पर ऐसे पाशविक अत्याचार करते हैं जैसे स्वयं उन्हें ग़ुलाम बनानेवाले उन पर नहीं करते।

सत्यसमाजपर लोकमत।

(२१)

पं० सूर्यभानुजी डाँगी अंग्रेज़ी अध्यापक मूथा जैन विद्यालय बलूँदा (मारवाड़) से लिखते हैं:—

"... मैंने जगतके अंतिम २-३ अंक सर्वप्रथम देखे। न जाने किस शक्तिकी अद्भुत प्रेरणासे मुझे सब के सब अंक देखनेकी तीव्रतम इच्छा जाग्रत हुई। फाइल उठाई। 'जैनधर्मका मर्म' एक दिनका स्पेशल अवकाश लेकर बैठ गया। मैं तो उसमें गड़ गया, यहाँतक कि भोजन करनेमें भी प्रमाद अनुभव होने लगा। उसमें मुझे आपकी विचित्र प्रतिभाका अद्वितीय प्रतिभास मिला मनही मन सराहनाकी और मस्तक गर्वोन्नत हो गया कि अपनेमें भी मनोवैज्ञानिक कसौटी पर धर्मकी परीक्षा करनेवाला निर्भय परीक्षक है। परिश्रम आपका असाधारण है। अध्ययन आपका गम्भीर है। सूक्ष्मदृष्टि आपकी अनुपम है। लेखनशैली आपकी अद्भुत है। विचार आपके निर्मल हैं। विवेचना आपकी पक्षपातसे कोसों दूर है। स्वागत करता हूँ।......मुझे भी आप समर्थक श्रेणीमें लिख लीजिये।"

श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी रामचन्द्रजी कोटेचा की सम्मति पहिले निकल चुकी है। अब आपने सदस्यताका फार्म भरकर भेजदिया है। आप जैनपाक्षिक सदस्य बने हैं।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

जैनसमाजका नाश हो रहा है। यदि यही गति रही तो एक दिन वह आयगा कि आपके मन्दिरोंमें मूर्तियोंको पूजनेवाला भी कोई न रहेगा ! तब हमारी मूर्त्तियोंका क्या होगा ? जैनोंका नाम मात्र स्कूलके लड़कोंको तवारीखमें पढ़ाया जायगा। विभाव परणतिको त्यागकरके स्वभाव परणतिको धारण करो। जिस धर्ममें जगत्कल्याणकी भावना है वही धर्म है। कुछ देशकालके परिवर्तन पर भी विचार करो। महासभाके अनुयायी सुधारकोंका विरोध करते हैं, मगर जबतक सुधार नहीं होगा तबतक कल्याण हो नहीं हो सकता। यदि हम रूढ़ियोंकी गुलामीको नहीं छोड़ेंगे तो हर जगह लतयाये जावेंगे। एक दिन वह आयगा कि हमे जैन कहते शर्म मालूम होगी। या तो नवदीक्षितोंको अपनाओ और उनके साथ बन्धुभाव स्थापित करो, या फिर तमाम ढोंग छोड़कर कह दो कि हमे वह दिन देखना है जब हमारी जिनमूर्त्तियाँ अजायबघरोंकी शोभा बढ़ायेंगी।"

एक ओसवाल परिवार तथा तीन ओसवाल युवक मुसलमान बने—"श्वेताम्बर जैन" में प्रकट हुआ है कि खीचन्द (मारवाड़) का रहनेवाला एक ओसवाल जो इधर कई वर्षोंसे मद्रासमें रहता था, सपरिवार मुसलमान बनकर फलौदी पहुँचा और वहाँके मुसलमान पोस्टमास्टरने उसे अपने यहाँ आश्रय दिया। उसी पत्रमें यह भी प्रकट हुआ है कि विवाह न होने और बेकारीके कारण जोधपुर स्टेटके तीन ओसवाल नवयुवकोंने इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया है। मुसलमानोंने उक्त तीनों युवकोंकी शादियाँ करा दी तथा लगभग एक एक हजारकी पूँजी देकर दुकानें खुलादीं और इसतरह उनको धन्धे भी लगा दिया। यह है सच्चा वात्सल्य ! जैनी लोग तो वात्सल्य अंगके नामपर अर्घ चढ़ाने अथवा ज्योनारें करदेनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझ लेते हैं !

जैनमन्दिरोंमें चोरियाँ—गत ता० २९ दिसम्बर को मनावद (इन्दौर रियासत) के दिगम्बर जैनमंदिर में से चाँदीकी चार प्रतिमाएँ, पांडुकशिलाकी १८०० तोले चाँदी, चाँदीके छत्र सिंहासन आदि चोरीमें गये हैं। इनमें एक प्रतिमा ३००० तोलेकी तथा एक ५०० तोलेकी थी। चोरोंने मन्दिरमें ही पांडुक शिलाकी लकड़ीका भाग जलाकर चाँदी निकाली। करीब आठ हजार रुपयों की हानि हुई है। कानपुरके एक निजी चैत्यालयमेंसे भी चाँदीकी मूर्ति चुराए जानेके समाचार मिले हैं। हमारे कई भोले भाई समझते हैं कि मूर्तिकी प्रभावकता उसकी कीमत पर है औ इसलिये वे बहुमूल्य धातुओंकी मूर्तियें बनवाया करते हैं। उपरोक्त घटनाओंसे उनकी आँखें खुलनी चाहिये।

अनुकरणीय विवेकशीलता—भोपालके श्रीमान सेठ गोकुलचन्दजी जैनने अपनी स्वर्गीया धर्मपत्नी गुलाबबाईका नुकता न करके उनकी स्मृतिमें दिगम्बर जैन कन्या पाठशाला खोलनेके लिये छः हजार रुपये दान किये हैं। गत ता० २८ दिसम्बरको उसका उद्घाटन श्रीमती विद्यावतीदेवी जैन म्युनिसिपल कमिश्नर नागपुरके करकमलोंसे कराया गया। श्रीमान सेठ गोकुलचन्दजीने अब विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा ली है।

दैनिक सुदर्शन।

जैन समाजमें सर्वप्रथम निकलनेवाला दैनिक पत्र।

इसमें जैनसमाजको जगानेवाले लेख, कविताएँ, गल्प और संसारके ताजेसे ताजे समाचार प्रतिदिन रहते हैं। जैनसमाजको इसे अवश्य अपना कर संचालकोंके उत्साहको बढ़ाना चाहिये। वार्षिक मूल्य ५) —मैनेजर सुदर्शन, एटा (यू० पी०)

आवश्यकता है।

"गाँधी" छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेन्टोंकी जरूरत है। एजेन्सीकी इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।
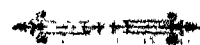
वर्ष १०

पौष शुक्ला १२

वीर संवत् २४६१

अंक ४

ता० १६ जनवरी

सन् १९३५ ई०

भगवती अहिंसा ।

अपनी झाँकी दिखला जा ।

निर्दय स्वार्थ-पूर्ण हृदयों में
शान्तिसुधा बरसा जा ॥ अपनी० १ ॥

तेरा वेष बनाकर आती ।
तुझको ही बदनाम कराती ॥

आकरके इस कायरता का
भंडाफोड़ करा जा ॥ अपनी० २ ॥

वीर–पूज्य वीरों की माता ।
तेरी कृपा वीर ही पाता ॥

अकर्मण्य आलसी जनों को
यह संदेश सुना जा ॥ अपनी० ३ ॥

अस्त्र–शस्त्र के संचालन में ।
आततायियों के ताड़न में ॥

तेरी गुप्त मूर्त्ति है, उस पर का
आवरण हटा जा ॥ अपनी० ४ ॥

प्राणहीन पूजा या तप में ।
दम्भपूर्ण मालाके जपमें ॥

घोर स्वार्थिता आ बैठी,
उसको चकचूर करा जा ॥ अपनी० ५ ॥

सज्जन के रक्षण में तू है ।
दुर्जन के तक्षण में तू है ॥

विविधरूपधारिणी अम्बिके
यह विवेक सिखला जा ॥ अपनी० ६ ॥

जब महिलाओं के सतीत्व पर ।
टूट पड़ेंगे पाप निशाचर ॥

राम, कृष्ण बनकर आवेगी
यह संदेश सुना जा ॥अपनी० ७॥

निर्दय क्रियाकांड में पड़कर ।
होंगे जब कर्तव्यशून्य नर ॥

वीर, बुद्ध बनकर आवेगी
यह भविष्य बतला जा ॥अपनी० ८॥

सुनम्रता का रूप दिखाने ।
जनसेवा का पाठ पढ़ाने ॥

ईसाके मुखसे बोलेगी
यह रहस्य समझा जा ॥अपनी० ९॥

मनुष्यता का पाठ पढ़ाने ।
मूढ़ों को संगठित बनाने ॥

बन आवेगी देवि मुहम्मद
यों आगाह करा जा ॥ अपनी० १०॥

अन्य विविध अवतारधारिणी ।
स्वच्छ हृदय नभतल बिहारिणी ॥

तेरे पुत्रों को पहिचानूँ
ऐसा मन्त्र बता जा ॥अपनी० ११॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

जैनधर्मका मर्म ।

(५६)

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सत्ताईस मूलगुणोंका जो दूसरा पाठ–प्रवचनसारोद्धारका–है, उसमें भी इसी प्रकारकी अस्तव्यस्तता तथा पुनरुक्ति पाई जाती है। उनका यह दोष नामावलिसे ही स्पष्ट होजाता है इसलिये उनका विवेचन करनेकी कोई जरूरत नहीं है। सिर्फ दो बातोंका विचार करना है। एक तो छः काय के जीवोंकी रक्षा, दूसरे व्रतोंमें रात्रिभोजनत्याग। इसमें से छः कायके जीवोंकी रक्षाको मूलगुणोंमें शामिल नहीं कर सकते क्योंकि पृथ्वी पानी अग्नि आदिकी रक्षाके सूक्ष्म नियम आज अनावश्यक हैं। तथा कभी कभी तो वे सेवाको रोकते हैं, अनावश्यक असुविधाएँ पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त इनमें जीव है कि नहीं, यह बात भी अभी तक असिद्ध कोटिमें है। सम्भव है कि भविष्यमें इनमें जीवन सिद्ध हो सके, परन्तु अभी तो इसकी सम्भावना कम ही है। और जब इनमें जीवन सिद्ध भी होगा तब भी इनका जीवन इतना अल्पमूल्य होगा कि उनकी रक्षाको एक मूलगुण बनाना अनावश्यक ही रहेगा। हाँ, वनस्पतिकाय और त्रसकायकी रक्षा विचारणीय है। परन्तु, अहिंसाव्रतके विवेचनमें जितना वर्णन किया गया है उससे अलग इसका कोई स्थान नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि छः कायकी रक्षाका व्रत अहिंसा व्रतमें आजाता है। उससे अधिकको मूलगुणमें लाने की कोई जरूरत नहीं है।

रात्रिभोजनत्याग–इस नये पाठमें रात्रिभोजनत्यागको मिलाकर अहिंसादि छः व्रत बनाये गये हैं। दिगम्बर सम्प्रदायके पाठमें और श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रथम पाठमें रात्रिभोजनत्यागका उल्लेख नहीं है। इससे यह तो मालूम होता है कि प्रारम्भमें मुनियोंके लिये रात्रिभोजनका त्याग अनिवार्य नहीं था। परन्तु रात्रिमें [illegible] चलना मुश्किल था, इसलिये रात्रिमें भिक्षा भी नहीं ली जा सकती थी, इसलिये रात्रिभोजन ठीक नहीं समझा गया। रात्रिभोजनमें ईर्यासमिति और एषणासमितिका ठीक ठीक पालन न हो सकनेसे रात्रिभोजनका यथाशक्य निषेध किया गया। फिर भी प्रारम्भमें इस निषेधने मूलगुणका रूप धारण नहीं किया। थोड़े समय बाद मुनियोंके लिये यह स्वतन्त्र व्रत मान लिया गया। दशवैकालिकमें * यह स्वतन्त्र व्रतके रूपमें मिलता है। दिगम्बर सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें भी इसका उल्लेख हुआ है। परन्तु यह वहाँ छट्ठे अणुव्रतके रूपमें प्रचलित † हुआ। इस प्रकार जब यह श्रावकोंके लिये व्रत बन गया, तब मुनियोंके लिये हो, यह स्वाभाविक है। मूलाचारमें यह व्रतकी रक्षाके लिये ‡ उपयोगी बताया है। सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक में कहा है कि यह अहिंसाव्रतकी भावनामें शामिल है। परन्तु यह बात मूलाचारके विरुद्ध मालूम होती है। मूलाचारमें पाँच व्रतोंकी रक्षाके लिये रात्रिभोजनत्याग, आठ प्रवचनमाताएँ और पच्चीस भावनाएँ § बतलाई गई हैं। अगर आलोकितपानभोजन भावना में रात्रिभोजनत्याग शामिल होता तो मूलाचारमें रात्रिभोजनको भावनाओंसे अलग न बताया होता। दूसरी बात यह है कि भावना तो भावना है, विचार है। वह पक्का नियम नहीं है। यों तो सत्यव्रतकी भावनाओंमें क्रोध, लोभका भी त्याग बताया है परन्तु इसीलिये किसीको थोड़ा बहुत क्रोध आजाय तो उसका व्रत भंग नहीं माना जा सकता।

* अहावरे छट्ठे भन्ते वए राइभोयणाओ वेरमणं। ···इच्चेयाइं पन्च महव्वयाइं राइभोयण वेरमण छट्ठाइं अत्त हियट्ठयाए उवसंपज्जित्ताणं विहरामि। ४ ६।

† कश्चिद्रात्रिभोजनमपि अणुव्रतमुच्यते। सागारधर्मामृत।

व्रतत्राणाय कर्तव्यम् रात्रिभोजन वर्जनम्। सर्वथाऽन्निवृत्तेस्तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्। ५-७० आचारसार।

रात्रिभोजन विरमणं षष्ठमणुव्रतम्। चारित्रसार।

‡ तेसिंचेव वदाणं रक्खट्ठं रादिभोयणणियत्ती। मूलाचार२९५।

§ गाथा २९५।

सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककार उसे खींचतान करके व्रतोंमें शामिल करते हैं।

इस विवेचनका सार यही है कि रात्रिभोजन त्याग पहिले मूलगुणोंमें नहीं था, पीछे उसकी आवश्यकता मालूम हुई और वह भावनाओंके रूपमें या स्पष्टरूपमें व्रत बना लिया गया।

परन्तु अगर मुनियोंके लिये ही यह व्रत रहता और श्रावकोंके लिये न रहता, तब बड़ी अड़चन होती। क्योंकि मुनियोंको तो श्रावकोंसे भोजन मिलता था—और भोजन भी वह, जो श्रावकोंने अपने लिये बनाया हो—तब मुनियोंको रात्रिमें भोजन करना पड़ता या शामका भोजन बन्द रखना पड़ता। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदायमें शामका भोजन नहीं होता है, परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह प्रचलित है, और इसमें कोई बुराई नहीं मालूम होती। दिनके दो भोजन गिननेका रिवाज दिगम्बर श्वेताम्बर दोनोंमें एक सरीखा है। बेला, तेला आदिके लिये जो शब्द प्रचलित हैं उनमें भी यह बात ध्वनित होती है। लगातार दो उपवास करनेको छट्ठ कहते हैं। छट्ठका सीधा अर्थ यही है कि जिसमें छट्ठा भोजन किया जाय अर्थात् पाँच भोजन बन्द किये जाँय। एक आजके शामका और दो कलके और दो परसोंके, इसप्रकार पाँच भोजन बन्द करनेपर छट्ठ होता है। इस अर्थमें प्रतिदिनके दो भोजन मान लिये गये हैं। छट्ठ आदि शब्दोंका यह अर्थ उनके इतिहासपर प्रकाश डालकर दिनके दो भोजन सिद्ध करता है। खैर, दिनमें दो भोजन हों या एक, परंतु श्रावकोंमें रात्रिभोजनका प्रचार रहनेपर सुबहके भोजनकी व्यवस्था भी बिगड़ जाती है। जो लोग रात्रिमें भोजन करेंगे, वे दिनके पूर्वार्धका भोजन जल्दी नहीं कर सकते, वे ग्यारह बारह बजे तक भोजन करेंगे। उससमय साधुके सामायिक आदिका समय आजाता है, इसलिये साधुके लिये भिक्षाका उचित समय 'पोरसी'* बताया गया था। यह समय करीब दस बजेके पहिलेही व्यतीत होजाता है और गरमीके दिनोंमें तो नव या उससे भी पहिले निकल जाता है। रात्रिभोजनत्यागीके घरमें इससमय निर्दोष भोजन नहीं मिलसकता। इन सब कठिनाइयोंमें यह आवश्यक मालूम हुआ कि साधुके समान श्रावक भी रात्रिभोजनका त्याग करें। शताब्दियोंके प्रयत्नके बाद इस विषयमें आशातीत सफलता मिली और साधुसंस्थाकी कठिनाई हल हुई।

इसमें सन्देह नहीं कि दिवसभोजनकी अपेक्षा रात्रिभोजन कुछ हीन श्रेणीका है। और पुराने जमानेमें जब कि आजकल सरीखे साधन नहीं थे, खास कर इस गरम देशमें तो, रात्रिभोजनत्यागकी बहुत आवश्यकता थी। रात्रिभोजनका त्यागकर देनेसे रात्रिके लिये निराकुलता भी रहती है। आरोग्यकी दृष्टिसे भी रात्रिभोजन, दिवसभोजनकी अपेक्षा ठीक नहीं है।

इतना सब होते हुए भी रात्रिभोजनत्यागको मूलगुणोंमें नहीं रख सकते। क्योंकि आज यहाँ मुनिसंस्थाके नियम ही बदल दिये गये हैं, इसलिये पुरानी असुविधाओंमें से कुछ असुविधाएँ तो यों ही निकल जाती हैं। अब न तो भिक्षावृत्तिको अनिवार्य रखना है, न रात्रिगमनका निषेध। इसलिये रात्रिभोजनत्यागकी अनिवार्यता नहीं रह जाती।

फिर भी साधुसंस्थामें साधारणतः रात्रिभोजनकी मनाई रहे परन्तु निम्नलिखित अपवाद रहें:—

१-बीमारीके कारण रात्रिमें औषध लेना।

२-पानी पीना या आवश्यकतावश फलाहार करना।

३-प्रवास या किसी सेवाकार्यके कारण अगर दिनमें मौका न मिला हो और रात्रिमें फलाहार वगैरहकी सुविधा न हो तो भोजन करना।

मतलब यह कि साधारणतः दिनमें भोजन करने का नियम रखना चाहिये और किसी खास जरूरत पर रात्रिभोजन करना चाहिये। शीतप्रधान देशोंके लिये तथा जहाँ पर लम्बी लम्बी रात्रियाँ होती हैं, वहाँ के लिये रात्रिभोजनत्यागका नियम इतना भी नहीं बनाया जा सकता।

---

* जिस समय अपने शरीरकी छाया अपने शरीरके बराबर ही लम्बी हो, उसको 'पोरसी' का समय कहते हैं।

शङ्का- भोजन न करके फलाहार करना तो और भी अनुचित है, क्योंकि इसमें खर्च बढ़ता है। इसकी अपेक्षा सूखे चने खा लेना अच्छा है।

समाधान—निःसन्देह सूखे चने खानेमें और फलाहारमें कोई अन्तर नहीं है। किन्तु चना खाकर चनेकी रोटी भी खाई जाने लगती है, इसके बीचमें मर्यादा बाँधना मुश्किल है। अन्न और फलके बीचमें मर्यादा बाँधी जा सकती है। फलाहारसे अच्छीतरह पेट नहीं भरता, तथा अन्नभोजनकी तरह यह प्रतिदिन सुलभ भी नहीं है। इसलिये रात्रिभोजनके अपवादमें फलाहार रखनेसे रात्रिभोजनकी प्रणाली निरर्गल रूपसे नहीं चल सकती।

मुनिसंस्थाके और भी छोटे छोटे नियम हैं, परन्तु मुनिसंस्थाके रूपमें जो यह क्रान्ति की गई है उससे उनके विषयमें स्वयं ही विचार हो जाता है। इसलिये उनके विषयमें विचार करनेकी जरूरत नहीं है। वर्तमानमें जो मूलगुण प्रचलित हैं, परीक्षा करने के बाद साधुसंस्थाके लिये जिन मूलगुणोंकी आवश्यकता रह जाती है, वे ये हैं—

१—समभाव, २—ज्ञानयुक्तता, ३—अहिंसा, ४—सत्य, ५—अचौर्य, ६—ब्रह्मचर्य, ७—अपरिग्रह, ८—इन्द्रियविजय, ९—प्रतिक्रमण, १०—कर्मठता, ११—कष्टसहिष्णुता।

वर्तमानमें इन मूलगुणोंकी आवश्यकता है और इनमें सभी आवश्यक बातोंका संग्रह और स्पष्टीकरण हो जाता है। इनमें से प्रारम्भके नव गुणोंकी आलोचना तो सत्ताईस और अट्ठाईस मूलगुणोंकी आलोचना करते समय कर दी गई है। बाकी दो मूलगुण और रह जाते हैं, उनकी संक्षिप्त आलोचना यहां कर दी जाती है।

कर्मठता— साधुको जीवननिर्वाहके लिये या उसके बदलेमें कुछ न कुछ सेवा अवश्य करना चाहिये। निवृत्तिकी दुहाई देकर प्रवृत्तिकी निन्दा करके चुपचाप पड़े रहनेका नाम धर्म नहीं है। हाँ, यह बात अवश्य है कि सेवा अपनी अपनी योग्यता तथा समाजकी आवश्यकताके अनुसार होगी। कोई कलाकार है तो उसको अपनी कलासे सेवा करना चाहिये, कोई विद्वान है तो वह विद्या देकर सेवा करे; अथवा अगर कोई वृद्ध है तो उसको बहुतसी रियायत दी जासकती है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि कलाकार या विद्वान ज्यादः और मजदूर कम हों तो कलाकार और विद्वानोंको मजदूरीभी करना पड़ेगी। मतलब यह कि किस कामकी कितनी आवश्यकता है उसे देखकर योग्यतानुसार कामका चुनाव किया जाना चाहिये। परस्परमें एक दूसरेकी सेवा करना, रोगीकी देखभाल रखना आदि आवश्यक कर्तव्य हैं जोकि इस मूलगुणके नामपर अवश्य करना चाहिये।

कष्टसहिष्णुता—साधु संस्था-जो कि सेवा संस्था है-उसमें कष्टसहिष्णुता तो अत्यावश्यक है। उपसर्ग और परीषहोंको विजयका वर्णन इसीलिये किया जाता है; परन्तु सहिष्णुता शब्द की महत्ता पर अवश्य ही ध्यान रखना चाहिये। कष्टोंके सहने का अर्थ है-कष्टोंको सहनकरके दुखी न होना, कर्तव्य न छोड़ना। जरा जरासी बातमें जो लोग झुँझला उठते हैं, अथवा थोड़ीसी असुविधासे भी जिनका पारा गरम होजाता है, वे कष्टसहिष्णु नहीं हैं। शारीरिक कष्टसहिष्णुताको यथासाध्य बढ़ाना चाहिये किन्तु मानसिक कष्टसहिष्णुता तो और भी अधिक आवश्यक है।

कष्ट सहिष्णुताका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य व्यर्थके कष्ट मोल ले। धर्म सुखके लिये है, इसलिये न तो अनावश्यक कष्टोंको मोल लेनेकी जरूरत है न आवश्यक और निर्दोष (जिससे दूसरोंके अधिकार नष्ट न होते हों) सुखोंके त्याग करनेकी जरूरत है। हाँ, सहिष्णुताका अभ्यास बढ़ानेके लिये उपवास आदि कोई भी काम किया जासकता है परन्तु उससे धैर्य न छूटना चाहिये, न स्वास्थ्यको हानि पहुँचना चाहिये।

इन ग्यारह मूलगुणोंमें मुनिसंस्थाके मुख्य मुख्य

नियम आजाते हैं। समयानुसार इनमें परिवर्तन भी किया जासकता है, परन्तु संख्याके घट बढ़ जाने पर भी या थोड़े बहुत नामोंके बदल जाने पर भी वस्तु तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आता। अन्य छोटे छोटे नियम तो समयानुसार बनाये जा सकते हैं।

चारित्रके अंगरूपमें बहुत सी बातें जैनशास्त्रों में प्रचलित हैं। परन्तु आजकल उनका अर्थ सिर्फ एकान्तिक निवृत्तिको लेकर कर लिया जाता है। इस लिये संक्षेपमें उनका वास्तविक अर्थ बतला देना आवश्यक है, जिससे कि इस संशोधित सत्य जैन-धर्मके साथ समन्वय होसके।

द्वादशानुप्रेक्षा।

वैराग्य पैदा करनेके लिये ये बारह तरह की भावनाएँ—विचारधाराएँ—जैनसाहित्यमें प्रचलित हैं।

अनित्य— प्रत्येक पदार्थ नष्ट होने वाला है, इस प्रकारका विचार करना अनित्यभावना है। अनासक्तिके लिये यह विचार बहुत अच्छा है। "दुनियाँ की जिन चीज़ोंके लिये हम अन्याय करते हैं, वे साथ जाने वाली नहीं हैं यह जीवन भी क्षणभंगुर है, तब भला इसके लिये दूसरोंके अधिकारोंका नाश करना व्यर्थ है। प्रकृतिको शायद हम थोड़े बहुत अंशोंमें विजय कर सकें, दूसरे मनुष्यों पर भी विजय पा सकें परन्तु मौत पर विजय नहीं पा सकते। मौत हमारी सब विजयोंको छीन लेगी। जो हमारे साम्हने देख नहीं सकते, कल वे हँसेंगे; आज जो एक शब्द भी बोल नहीं सकते कल वे ही मनमानी सुनायेंगे। जब यह 'चार दिनाकी चाँदनी फेर अँधेरी रात' है तब इस चाँदनीको अत्याचारसे काला क्यों बनावें? जब इस शरीरको एक दिन मिट्टीमें मिलना ही है तब इसे दूसरोंके सिर पर क्यों नचावें" इस-प्रकारके विचार हमें न्यायमार्गसे भ्रष्ट नहीं होने देते। यही अनित्यभावनाकी उपयोगिता है।

विपत्तिमें धैर्य रखनेके लिये भी यह भावना उपयोगी है। जिसप्रकार सम्पत्ति चली जाती है उसी प्रकार विपत्ति भी चली जाती है। विपत्तिके आने पर अगर हमारा ध्यान इस बातपर जाता रहे कि यह विपत्ति चली जावेगी तो हम घबराते नहीं हैं और हताश होकर नहीं बैठ रहते।

प्रत्येक वस्तुका दुरुपयोग होता है इसलिये इस भावनाका भी दुरुपयोग होसकता है, जिससे बचने की जरूरत है। पहिला दुरुपयोग है इस विचारको दार्शनिक रूप दे देना। दार्शनिक दृष्टिसे जगत नित्य है या क्षणिक, इस प्रकारकी मीमांसामें इस भावना का विचार न करना चाहिये। दार्शनिक दृष्टिका सम्बन्ध समस्त जगत्‌के विषयमें विचार करनेसे है, हेय उपादेय, आसक्ति अनासक्ति आदि दृष्टियोंसे नहीं। अनित्य भावना हृदयको निःस्वार्थ बनानेके लिये है। दार्शनिक दृष्टिसे अगर जगत् नित्य सिद्ध हो तो भी अनित्य भावना मिथ्या न हो जायगी।

दूसरा दुरुपयोग अकर्मण्यताका है। अनासक्त बनना चाहिये, परन्तु अकर्मण्य न बनना चाहिये। व्यक्त या अव्यक्त रूपमें हम समाजसे बहुत कुछ लेते हैं, उसका व्याजसहित बदला चुकानेकी कोशिश करते रहना चाहिये। दुनियाँ क्षणभङ्गुर है, और हम भी क्षणभङ्गुर हैं इसलिये उत्तरदायित्वहीन जीवन बनाना कायरता है।

अशरण—मैं दुनियाँका रक्षक हूँ, अथवा मेरे बहुत सहायक हैं, मेरा कौन क्या कर सकता है, इस प्रकारका अहङ्कार मनुष्यमें न आ जाय, इसके लिये अशरण भावना है। मनुष्यका यह अहङ्कार व्यर्थ है क्योंकि मरनेसे इसकी कोई रक्षा नहीं कर सकता, न यह किसीको मरनेसे बचा सकता है। बीमारी आदिके कष्टोंको इसे स्वयं वेदन करना पड़ता है, उस समय उसके दुःखानुभवमें कोई हाथ नहीं बटा सकता, आदि अशरण भावना है। इसका उपयोग अहङ्कारके त्यागके लिये करना चाहिये।

दया परोपकार आदि छोड़कर निपट स्वार्थी हो जाना अशरणभावना नहीं है। क्योंकि यद्यपि हम किसीकी रक्षा नहीं कर सकते किन्तु रक्षा करनेके

लिये यथाशक्ति प्रयत्न करके सहानुभूति तो बतला सकते हैं व कष्ट सहनेका उसमें साहस पैदा कर सकते हैं। इस भावनाका मुख्य लक्ष्य यही है कि प्रत्येक व्यक्तिको किसीकी शरणकी आशा न रखकर स्वाव लम्बी बनना चाहिये, तथा परोपकार आदि करके 'हम दुनियाँके रक्षक हैं, हमारे बिना किसीका काम नहीं चलसकता' इत्यादि अहङ्कार छोड़देना चाहिये।

संसार—'चाहे श्रीमान हो, चाहे गरीब, सभी दुःखी हैं' यह भावना इसलिये आवश्यक है कि जिस से हम संसारके क्षुद्र प्रलोभनोंमें फसकर कर्तव्य-च्युत न होजावें। दूरसे वस्तु सुन्दर दिखाई देती है, इस लोकोक्तिके अनुसार हम दूसरोंको सुखी समझा करते हैं परन्तु प्रत्येक मनुष्य जानता है कि मैं सुखी नहीं हूँ। जो चीज उसके पास होती है उसके विषयमें वह विचार किया करता है कि—"अच्छा! इससे क्या हुआ?" इस प्रकारका असन्तोष उसे दूसरोंकी तरह बननेके लिये प्रेरित करता है और यह प्रेरणा परिग्रहपापको बढ़ानेमें तथा उसके द्वारा अन्य पापोंके बढ़ानेमें सहायक होती है। अगर उसे यह मालूम हो जाय कि इतना पाप करके भी मुझे जो कुछ मिलेगा उसमें भी मैं दुखी रहूँगा तो पापकी तरफ उसकी प्रेरणा नहीं होती। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि अगर हमारे और दूसरोंके ऊपर अत्याचार होता हो तो हम उसे दूर करनेकी कोशिश न करें। प्रथम अध्यायमें कहे गये नियमोंके अनुसार हमें सुखकी वृद्धि करना ही चाहिये। इसलिये इस भावनाके विषयमें दूसरी दृष्टि यह है कि संसार में दुःख बहुत है, प्राकृतिक दुःखोंकी सीमा नहीं है, उन्हींको हटानेमें हमारी सारी शक्ति खर्च हो सकती है, फिर भी वे पूरे रूपमें न हट पावेंगे। ऐसी हालतमें हम परस्पर अन्याय और उपेक्षा करके जो दुःखोंकी वृद्धि करते हैं, यह क्या उचित है? संसारमें दुःख बहुत है, इसलिये हमसे जितना बन सके उसे नष्ट करनेकी कोशिश करना चाहिये, इत्यादि अन्य अनेक दृष्टियोंसे यह भावना रखना चाहिये जिससे स्वपर कल्याण हो।

एकत्व—मनुष्य अकेला ही पैदा होता है और अकेला ही मरता है, हर हालतमें इसका कोई साथी नहीं है, इत्यादि विचार एकत्वभावना है। स्वावलम्बन तथा अनासक्तिकी वृद्धिके लिये यह भावना बहुत उपयोगी है। परन्तु दुनियाँ, जो सहयोगके तत्त्व पर ठहरी हुई है, उसका इस भावनासे खण्डन नहीं होता, बल्कि वह सहयोग और भी अच्छा बनता है। पति पत्नी, पिता-पुत्र, गुरु शिष्य, भाई-बहिन, तथा मित्र आदिके जो सम्बन्ध है वे उचित और आवश्यक है परन्तु प्रत्येक व्यक्तिको यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इन सम्बन्धोंसे लाभ उठानेमें वह अकेला है। उसकी योग्यता ही उसके काम आयगी। जिसप्रकार हम अपनी भलाईके लिये दूसरोंसे सहायता चाहते हैं उसी प्रकार दूसरे भी अपनी भलाईके लिये हमसे सहायता चाहते हैं। दूसरोंकी भलाई करनेका हम में जितनी योग्यता होगी, उसीके ऊपर यह बात निर्भर है कि हम दूसरों से कुछ लाभ उठा सकें। यही हमारा एकत्व है जो कि सहयोगके अनेकत्वके लिये अत्युपयोगी है। एकत्वका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्त या अव्यक्त रूपमें दुनियाँसे तो हम लाभ उठाते रहें किन्तु उसका बदला चुकानेके लिये कहते फिरें कि "न हम किसीके न कोई हमारा, झूठा है संसारा"। यह तो एक प्रकारकी घोर स्वार्थान्धता है। एकत्व भावना इस स्वार्थान्धताके लिये नहीं है किन्तु स्वावलम्बी तथा योग्य बननेके लिये है। और हाँ, उस समय सन्तोषके लिये है जब हमको कोई सहारा न दे। उस समय हमें सोचना चाहिये कि प्रत्येक प्राणी अकेला है, अगर मुझे कोई सहारा नहीं देता तो मुझे अपनेमें ही सुखी रहनेकी कोशिश करना चाहिये, आदि।

अन्यत्व—मैं अपने शरीरसे भी भिन्न हूँ, इस प्रकार की भावनासे शारीरिक सुख दुःख अपनेको विक्षुब्ध नहीं कर पाते। प्रायः शारीरिक सुख दुःख के विचारमें ही मनुष्यकी सारी शक्ति नष्ट होती है, परन्तु सुख दुःखका बड़ा स्रोत शरीरसे भिन्न किसी

अन्यवस्तुमें है इस बातके विचारसे वह प्रथम अध्याय में बतलाई हुई सुखी रहनेकी कला सीखता है और सुखी बननेके लिये भौतिक साधनों पर ही अवलम्बित नहीं रहता।

प्रश्न—यद्यपि आपने आत्माका पृथक् अस्तित्व सिद्ध कर दिया है, फिर भी दार्शनिक या वैज्ञानिक दृष्टिसे आत्माकी समस्या, समस्या ही बनी रहती है। अब भी ऐसे विचारक हैं जो आत्माको स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानते। वे यह भावना कैसे रख सकते हैं? ये भावनाएँ तो धार्मिक हैं, इनका दार्शनिक या वैज्ञानिक बातोंसे सम्बन्ध करनेकी क्या जरूरत है?

उत्तर—अन्यत्व भावनाका दार्शनिक चर्चासे कोई सम्बन्ध नहीं है, इसलिये आत्माके नित्यत्व अनित्यत्वसे भी कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तो सिर्फ इतनी बातसे मतलब है कि शारीरिक सुखोंसे भिन्न और भी सुख है, जिसके न होने पर शारीरिक सुख न होनेके बराबर है और जिसके होनेपर शारीरिक सुखोंका अभाव नहीं खटकता। आत्मवादी उसे आत्मिक सुख कहें और अनात्मवादी उसे मानसिक सुख कहें। यह बात तो अनुभवसिद्ध है कि बहुतसे मनुष्य खाने पीनेका कष्ट होनेपर भी प्रसन्न रहते हैं, जिनको वासनाएँ भी उनके सुखको नहीं छीन पातीं और बहुतसे आदमी सब साधन रहनेपर भी ईर्ष्या आदिसे जलते हैं, चैनसे सो भी नहीं पाते। यही अन्यत्वकी सचाई मालूम होती है। इस सुखस्रोत को—जिसे कि आत्मवादी अनात्मवादी सभी मानते हैं—आत्माका, मनका या शरीरके किसी अन्यसूक्ष्म भागका कहिये इसमें कोई हानि नहीं, परन्तु उसके समझ लेने पर सुखके विषयमें मनुष्यकी जो दिशा भूल होती है वह दूर होजाती है। यही अन्यत्वभावनाका लाभ है।

अशुचि— शरीरकी अशुचिताका विचार करना अशुचिभावना है। इससे दो लाभ हैं। पहिला तो यह कि इससे कुल-जातिका मद और छूताछूतका ढोंग दूर होजाता है। मनुष्य अहंकारवश अपने शरीरको शुद्ध समझता है। कोई अगर व्यभिचारजात हो तो उसे अशुद्ध समझता है। परन्तु अशुचि भावना बतलाती है कि शरीर सरीखी अशुचि वस्तुमें शुचिता और अशुचिताकी कल्पना करना ही मूर्खता है। शरीर तो सबके अपवित्र हैं। इसी प्रकार कोई कोई भोले जीव शूद्रके घरमें पैदा होनेवाले शरीरको अशुचि और ब्राह्मण आदिके घरमें पैदा होनेवाले शरीरको शुचि समझते हैं। उनको भी अशुचि भावना बतलाती है कि सभी शरीर अशुचि हैं, इनमें शुचिता अशुचिताकी कल्पना करना मूर्खता है।

दूसरा लाभ यह है कि शरीरको अशुचि समझनेसे शारीरिक भोगोंकी आसक्ति कम होजाती है। इसप्रकार शारीरिक अहंकार और आसक्तिको कम करनेके लिये इस भावनाका उपयोग करना चाहिये। परन्तु अशुचिभावनाके नामपर स्वच्छताके विषय में लापर्वाही न करना चाहिये।

आश्रव— दुःखके कारणोंपर विचार करना आश्रवभावना है।

संवर— दुःखके कारणोंको न आने देने या उनके रोकनेके विषयमें विचार करना संवरभावना है।

निर्जरा— आये हुए दुःखको किसप्रकार दूर किया जाय सहन किया जाय आदि विचार करना निर्जरा भावना है।

आश्रव संवर निर्जरा भावनाकी सामग्री प्रथम अध्यायमें लिखी गई है। इस अध्यायमें भी सदाचारके जो नियम हैं वे भी उपयोगी हैं। तथा तीसरे अध्यायमें सम्यग्दर्शनके वर्णनमें भी बहुतसी सामग्री है।

लोक— विश्व बहुत महान है; उसमें हमारी क़ीमत एक अणु सरीखी है, इसलिये छोटी छोटी बातोंको लेकर अहंकार करना व्यर्थ है, आदि विचार लोक भावना है।

विश्व तीनसौ तेतालीस राजूका है? पुरुषाकार है या गोल या अनिर्दिष्ट संस्थान? इत्यादि भौगो-

लिक विचार लोक भावनाके विषय नहीं हैं। अथवा भौगोलिक दृष्टिसे जिसको जैसे विचार रखना हो रक्खे परन्तु भौगोलिक दृष्टिको मुख्यता न देवे। मुख्यता इसी या ऐसे ही विचारको देना चाहिये कि जिससे विनयशीलता आदि गुणोंको उत्तेजना मिले। विश्वके विषयमें विचार करनेमें जो एक कौतूहल, हर्ष तथा जीवनके क्षुद्र स्वार्थों पर उपेक्षा पैदा होती है जिससे पाप करनेमें उत्साह नहीं रहता, वह भी बड़ा लाभ है।

बोधिदुर्लभ—सब कुछ मिलना सरल है परन्तु सत्यकी प्राप्ति दुर्लभ है। मनुष्यजन्म, सुशिक्षा, सुसंगति आदि तो दुर्लभ हैं ही, परन्तु सब कुछ मिलजाने पर भी अहंकार रूपी पिशाच आकर सब छीन ले जाता है। धर्म और सम्प्रदायके वेषमें हम अहंकारके ही पुजारी होजाते हैं, इसलिये दुनियाँके विविध सम्प्रदायोंमें जो सत्य है, उसकी प्राप्ति नहीं हो पाती। किसी भी धर्मके द्वारा सब धर्मोंको प्राप्त करना दुर्लभ है, सर्वधर्मसमभाव दुर्लभ है, धर्मका मर्म प्राप्त करना दुर्लभ है और जबतक वह प्राप्त न किया जाय तब तक धर्मका जीवनसे कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता, जीवनकी सफलता नहीं हो सकती, आदि विचार करना बोधिदुर्लभ भावना है।

धर्मस्वाख्यातत्व—धर्म किस तरह कहा जावे जिससे वह स्वाख्यात अर्थात् अच्छी तरह कहा गया कहलावे, इसप्रकारका विचार करना धर्मस्वाख्यातत्व भावना है। धर्म सबके लिये हितकारी होना चाहिये, उसमें सबको समानाधिकार होना चाहिये, किसी दूसरे धर्मकी निन्दा न होना चाहिये, समन्वय बुद्धि होना चाहिये, गुण कहीं भी हो निःपक्षतासे उसको अपनानेकी उदारता होना चाहिये इत्यादि विशेषताएँ ही धर्मकी स्वाख्यातता है।

बारह भावनाओंके विषयमें यहाँ सूत्ररूपमें ही कहा गया है। इसका भाष्य तो बहुत लम्बा किया जासकता है परन्तु उस भाष्यका मसाला इन अध्यायोंमें जहाँ तहाँ बहुतसा है, इसलिये वह यहाँ नहीं लिखा जाता है।

विरोधी मित्रोंसे।

(२७)

आक्षेप (६४)—एक केवलीको जाननेके लिये दूसरे केवलीको ज्ञानकी सारी शक्ति लगानेकी जरूरत नहीं है। जैसे दर्पणको जानना एक वस्तु जानना है, भले ही उसमें अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित हो रहे हों। इसी प्रकार केवलज्ञानको जानना भी एक पदार्थको जानना है। जैसे समान शक्तिके दो एंजिन हों, उनमेंसे एक एंजिन अगर ट्रेनके डिब्बोंके साथ जोड़ दिया जाय तो दूसरा उसे खींच ले जायगा। एञ्जिनमें खींचनेकी शक्ति भी है और खिचनेकी भी। जाते जाते समय खिचनेकी शक्ति काममें आती है न कि खींचने की।

समाधान—इस आक्षेपके उत्तरमें मुझे तीन बातें कहना है। पहिली तो यह कि आक्षेपकने जैनधर्मके दृष्टिबिन्दु पर ध्यान ही नहीं दिया। जैनशास्त्रोंके अनुसार ज्ञेयकी अपेक्षा ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद अनन्तानन्त गुणे रहते हैं। ज्ञानका जो सर्व जघन्य अंश सूक्ष्म निगोदिया जीवके बतलाया जाता है. उसका विषय इतना थोड़ा है कि हम उसे बतला नहीं सकते, परन्तु उसके अविभाग प्रतिच्छेद इतने अधिक हैं कि उसकी गिनती सुनकर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। जीव अनन्तानन्त हैं, उससे अनंतानन्त गुणे पुद्गल, उससे अनन्तानन्त गुणे काल के समय, उससे अनन्तानन्तगुणे आकाश प्रदेश, उससे अनन्तानन्त गुणे धर्म अधर्मके अगुरुलघु अविभाग प्रतिच्छेद, उससे अनन्तानन्त गुणे एक जीवके अगुरुलघु अविभाग प्रतिच्छेद, उससे अनंत गुणे सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तक जीवके जघन्य ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद। छोटे छोटेसे छोटे ज्ञेयवाले ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद तो इतने हैं, तब केवलज्ञानके कितने न होंगे? इसीलिये केवलज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद राशिमें सब द्रव्योंके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी राशि आजाती है, बल्कि उनमें

अनंतानंतका गुणा अनंतानंतबार किया जाता है और उसमें अनंतानंतगुणी केवलज्ञान राशि बतलाई गई है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञेयके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद अनंतानंत गुणे अवश्य होना चाहिये। इस हिसाबसे एक केवलज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेदोंको अगर कोई जानना चाहे तो उसे उससे अनंतानंतगुणा होना चाहिये। इस दृष्टिसे केवलज्ञानोंमें भी न्यूनाधिकता सिद्ध हो जायगी। इस प्रकार एक केवलीके लिये दूसरे केवलीके अविभाग प्रतिच्छेद तो अज्ञेय ही रहेंगे।

दूसरी बात यह है कि एक ज्ञानसे जब अनेक पदार्थ जाने जाते हैं तब उनकी विशेषताएँ उसमें प्रतिबिम्बित नहीं होती हैं। एक दर्पणके भीतर एक पहाड़का भी प्रतिबिम्ब पड़सकता है, परन्तु पहाड़का सामान्य आकार ही प्रतिबिम्बित होगा, उसका प्रत्येक परमाणु नहीं। अगर पूर्ण रूपमें किसीको प्रतिबिम्बित करना चाहें तो अपने से बड़ेका प्रतिबिम्ब नहीं आसकता। एक केवलज्ञानमें जब जब दूसरे केवलज्ञानका प्रतिबिम्ब पड़ेगा और अन्य केवलज्ञानों तथा दूसरे पदार्थोंका भी प्रतिबिम्ब पड़ेगा, तब केवलज्ञान पूरे रूपमें प्रतिबिम्बित न हो सकेगा, उसका सामान्याकार ही प्रतिबिम्बित होगा, विशेषाकार रह जायगा। और यही बात सर्वज्ञताके अभावके लिये काफी होगी।

तीसरी बात एंजिनके दृष्टान्तके विषयमें है। एक एंजिन दूसरे एंजिनको खींच सकता है, परन्तु यह तभी जबकि दूसरा एंजिन वास्तवमें एंजिन न रहे अर्थात वह एंजिनकी तरह काम न करे। इसी प्रकार अगर केवलज्ञानकी शक्ति निश्चेष्ट पड़ी हो तो उस साधारण ज्ञानके समान केवलज्ञानको दूसरे केवलज्ञान जानलें परन्तु जब वह अपनी पूरी शक्ति से काम कर रहा हो तब उसे दूसरे ज्ञान पूरे रूपमें कैसे जान सकते हैं?

यह कहना हास्यास्पद है कि "दो केवलज्ञान एक दूसरेको आपसमें जानलेंगे इसलिये उनका लेन देन बराबर हो जायगा। जिस प्रकार समान सम्पत्ति वाले सौ व्यक्ति एक दूसरेको एक एक रुपया दें तो दे लेकर सब ज्योंके त्यों बने रहते हैं।" इस उदाहरणमें देनेकी कमी लेनेसे पूरी हो जाती है परन्तु ज्ञानके स्वभावमें यह बात नहीं है। हम अगर दस वस्तुओंको जान सकते हैं और दस वस्तुओंको जाननेसे हमारी शक्ति क्षीण होगई है और दूसरा आदमी हमें जानले तो वह शक्ति बढ़ न जायगी। जब हम किसीको जानते हैं तब हमारी ज्ञान शक्ति दूसरेको नहीं मिलजाती जैसाकि रुपया मिलजाता है। इसलिये जाननेसे केवलीकी शक्तिका क्षय तो होगा परन्तु उसकी पूर्ति इससे न हो जायगी कि दूसरा उसे जानले। जैसे दो पहिलवान अगर लड़ते है तो दोनोंकी शक्ति क्षीण होती है। एककी शक्ति घटकर दूसरेके पास नहीं पहुँचती जिससे वे पहिलेके समान ही बने रहें। सुन्द उपसुन्द आपसमें लड़कर मर गये; रुपयेके आदान-प्रदानकी तरह वे पहिलेके समान नहीं बने रहे।

"ज्ञानको अगर अनन्त मान लिया जाय तो भी वह अनन्त पदार्थोंको जानेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। निगोदियोंके ज्ञानमें अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद रहते हैं, फिर भी वह एक अक्षरको भी नहीं जान पाता।" मेरे इस वक्तव्यके विरोधमें आक्षेपकका कहना है:—

आक्षेप (८५)—ज्ञानमें अविभागी प्रतिच्छेदोंका अस्तित्व यदि अविभागी अंशोंकी बजाय ज्ञेयोंकी दृष्टिसे होता तब तो अविभागी प्रतिच्छेदोंकी वृद्धिके साथ तदनुरूप ही ज्ञेयोंकी वृद्धि भी अनिवार्य थी, किन्तु ऐसा नहीं है।....यह एक वैज्ञानिक सत्य है कि प्राणीके चारों तरफ विद्युत् तेज रहता है और ज्यों ज्यों उसके विचारोंमें अन्तर होता रहता है त्यों त्यों उस विद्युत् तेजके रङ्गमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि जितनी गुणी

कषाय होती है, उतनेगुणा उसका बाहिरी असर नहीं होता।

समाधान—आक्षेपके पूर्वार्धका उत्तर ९० वें समाधानमें दिया जा चुका है। (जैनजगत् १०-१) संक्षेपमें यहाँ भी यह बात कह दी जाती है कि जब ज्ञानकी अनन्तताका ज्ञेयसे कोई सम्बन्ध नहीं तो ज्ञान अनन्त बना रहे, परन्तु वह सब पदार्थोंको कैसे जानेगा? विद्युत् तेजके उदाहरणसे मेरेही पक्ष की सिद्धि होती है, क्योंकि कषायोंमें जितनी तरतमता होती है उतनी रङ्गोंमें नहीं। जब आक्षेपकने विज्ञानकी दुहाई दी है तब ज़रा वैज्ञानिक दृष्टिकोण से ही विचार करना उचित मालूम होता है।

विज्ञानके अनुसार विविध रङ्गोंके संवेदन और कुछ नहीं, सिर्फ प्रकाशकी तरंगोंकी लम्बाईकी न्यूनाधिकता है। जिन तरङ्गोंका तरङ्गदैर्घ्य (Wave-length) चार हजार एङ्गस्ट्राम (Angstrom एक सेन्टीमीटरका १०००००००० वाँ भाग) से आठ हजार एङ्गस्ट्राम तक रहता है, उनका संवेदन विविध रङ्गों के रूपमें होता है। जिनका तरङ्गदैर्घ्य ४००० एङ्गस्ट्राम है उनका संवेदन कासनी (Violet) रङ्गका होता है और ८००० एङ्गस्ट्राम तरङ्गदैर्घ्य वालोंका लालरङ्गका। और बीचमें विविध रङ्गोंका। इस प्रकार रङ्गोंके परिवर्तन ४००० और ८००० तरङ्गदैर्घ्यों में होते रहते हैं। इस प्रकार कषायोंकी तरतमताके बराबर उसमें तरतमता नहीं हो सकती।

दृष्टान्तकी असारता बतानेके लिये यह लिख दिया गया है, अन्यथा मूल वस्तुके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। एक जगह एक वस्तुका जैसे बाह्य-प्रभाव पड़ता है वैसा ही नियम सब वस्तुओंके लिये नहीं बनता। जब कि हम निगोदियाके अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेदोंके होनेपर भी उसके एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं मानते और उसमें अनन्तगुणी तरतमता होनेपर भी उसके विषयमें उतनी तरतमता नहीं मानते तब केवलज्ञानमें अनन्तता होकरके भी उसके विषयको अनन्त कैसे मान सकते हैं?

आक्षेप (९६)—तरतमताकी व्याप्ति यदि अनन्त के साथ नहीं है तो सान्तके साथ भी नहीं है। इस लिये यदि इसका व्याप्तिके आधारसे अनन्तता सिद्ध नहीं की जासकती तो उसका निराकरण भी नहीं किया जासकता।

समाधान—इस आक्षेपमें न्यायशास्त्रकी छोटी से छोटी बात भी बड़ी बुरी तरहसे भुलाई गई है। आप अनैकान्तिक हेत्वाभाससे विरुद्ध हेत्वाभासका काम लेना चाहते हैं, और जब उससे वह काम नहीं निकलता तो उसे दोष ही नहीं मानना चाहते। तरतमताके नियमके आधार पर जो लोग यह कहते हैं कि ज्ञानमें तरतमता है, इसलिये वह कहीं कहीं अनन्त है, उसके उत्तरमें मैंने हेतुको व्यभिचारी सिद्ध कर दिया। इससे अनन्तता सिद्ध न होसकी, और इस जगह मेरा काम पूरा होगया। क्या असिद्ध और अनैकान्तिक हेत्वाभास, दोष नहीं हैं और क्या इनके लगनेसे किसीका पक्ष नहीं गिरता? स्थान और समयके अभावसे ऐसी बातोंकी पूरी आलोचना नहीं की जाती परन्तु इस बातको साधारण आदमी भी अच्छी तरह समझ जायगा।

आक्षेप (९७)—शक्तिकी दृष्टिसे तो सभी ज्ञान बराबर हैं परन्तु व्यक्तिकी दृष्टिसे तरतमता है। व्यक्ति शक्तिके अनुरूप ही हुआ करती है। ज्ञानकी शक्ति अनन्त है, अतः व्यक्तिकी दृष्टिसे सबसे बड़ा ज्ञान भी अनन्त होगा।

समाधान—निगोदियाके ज्ञानकी व्यक्ति भी अनन्त होती है परन्तु इससे वह अनन्तज्ञ नहीं हो जाता। अगर कहाजाय कि अनन्त पदार्थोंको जानने का नाम अनन्त शक्ति है, तब यह असिद्ध ही है। क्योंकि ज्ञान अनन्त पदार्थोंको जानसकता है यह अभी साध्य ही है। साध्य तो असिद्ध होता है।

'यदि ज्ञान अनन्त पदार्थोंको जानेगा तो पदार्थ सान्त होजायगा,' मेरे इस वक्तव्यके उत्तरमें आक्षेपक ने जो कहा है वह वे पहिले भी करीब करीब ज्यों

लिखा जाता है।

का त्यों कह आये है, उसका उत्तर भी मैंने 'विरोधी मित्रोंसे' शीर्षक लेखमालाके २५वें लेखांकमें ७७वें नम्बरके समाधानमें दिया है। (जैनजगत ९-१९) मैंने कहा था कि भूत भविष्यके पदार्थोंका प्रत्यक्ष असम्भव है, क्योंकि वे असत् हैं। इसपर मैंने एक पर एक छः प्रश्न किये थे और उनका उत्तर दिया था। इसके विरोधमें आक्षेपकका कहना है—

आक्षेप (९८)—भूत पदार्थ वर्तमानमें नहीं हैं, फिर भी वे अपने समयमें थे। किन्तु खरविषाण न अभी है, न पहिले था। हमारा कहना तो यह है कि सत्का ही प्रत्यक्ष होता है, चाहे वह अभी हो, या रहा हो, या रहने वाला हो। दूसरी बात यह है कि जब दूरके पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है तब भूतका क्यों नहीं? क्योंकि व्यवहित तो दोनों हैं। तीसरी बात यह कि सत्य स्वप्नज्ञान तथा भावना ज्ञानसे किसे इनकार हो सकता है? चौथी बात यह कि भूत और भविष्यका जब आप परोक्ष मानते हैं तो प्रत्यक्ष क्यों नहीं? प्रत्यक्ष तो परोक्षसे भी सबल है प्रत्यक्षमें बाह्यनिमित्तोंकी आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियविजयीके सुखकी तरह वह स्वाधीन है।

समाधान—अगर भूत पदार्थ अपने समयमें थे तो उनका प्रत्यक्ष भी अपने समयमें हो सकता था। इस समय तो वह अभावस्वरूप है, इसलिये उसमें अर्थक्रिया नहीं होसकती। इसीलिये वह किसीका विषय भी नहीं होसकता।

प्रत्यक्ष तो दूरके पदार्थका भी नहीं होता; परन्तु वह सत् रूप है इसलिये किरणोंके द्वारा वह ज्ञातापर कुछ प्रभाव डाल सकता है। भूत-भविष्य का पदार्थ इतना भी नहीं करसकता। पदार्थ ज्ञान में कारण है, इसका विवेचन "जैनधर्मकामर्म" के पाँचवें अध्यायमें किया गया है। सत्य स्वप्नज्ञान कोई नहीं होता। स्वप्नमें तो पुराने अनुभवों और कल्पनाओंके मिश्रण जो संस्कारके रूपमें रहते हैं, जग पड़ते हैं। उनका पदार्थके होने न होने से कोई सम्बन्ध नहीं। भावना ज्ञान भी विचार या कल्पना रूप है। ये सब प्रत्यक्षरूप नहीं हैं।

ज्ञानके लिये किसी न किसी रूपमें बाह्यपदार्थों के अवलम्बनकी आवश्यकता होती ही है। परोक्ष ज्ञानमें तो वह अवलम्बन संस्कारके रूपमें मिलजाता है। प्रत्यक्षमें यह बात नहीं होती, क्योंकि संस्कारके जागनेसे जो ज्ञान पैदा होते हैं, उन्हें परोक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष अगर संस्कारजन्य हो जाय तो उसकी प्रत्यक्षता ही नष्ट होजाय। प्रत्यक्ष सबल हो या निर्बल परन्तु वह परोक्षका काम नहीं करसकता। यदि होता तब तो हम आपको भी स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आगमकी आवश्यकता न रहती। क्योंकि प्रत्यक्ष सबल है, इसलिये उसीसे इन सबका काम होजाता। तलवार सबल है इसीलिये वह सुई काम करसकेगी, यह नहीं कहा जासकता।

प्रत्यक्षको इन्द्रियविजयीकी तरह अगर माना जाय तब तो मेरा ही पक्ष सिद्ध होगा। क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रियविजयीका सुख बाह्य विषयोंके भोगका सुख नहीं है किन्तु आत्मानुभाव सुख है उसी प्रकार प्रत्यक्ष संवेदनभी सिर्फ आत्माका ही संवेदन है। बाह्य पदार्थोंका संवेदन तो वास्तवमें परोक्ष ही है। इसीलिये मैंने लेखमालाके पाँचवें अध्यायमें दर्शनको प्रत्यक्ष सिद्ध किया है, और धवलकारके प्रमाण देकर आत्मसंवेदनको दर्शन सिद्ध किया है।

"सत्य-भक्त" के प्रति।

[लि० पं० डोंगी गुलाबचन्दजी जैन 'भास्कर' अंग्रेजी अध्यापक श्री सुधा जैनविद्यालय पो० दलोदा (मारवाड़)]

भगवान सत्यके भक्त वीर !! ध्रु० !!
तन मनमें भर साहस प्रचण्ड,
कन कनमें भर कमनीय कांति।
चितवनमें भर सुखमय उमंग,
जीवनमें भर सौन्दर्य्य शांति।
लवणोदधिमें भर मधुर नीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥१॥

भयप्रद कतिपय अंधे विचार,
अरु गतानुगतिमय मूढ़ भ्रांति।
क्षणमें समूल हो जाँय क्षार,
फैलाना ऐसी प्रबल क्रांति।
पर रहना अति गम्भीर धीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥२॥

तुमको समझूँगा राम, कृष्ण,
ब्रह्मा, शंकर, धर्मावतार।
ईसामसीह, जरथोस्त, बुद्ध,
पैगम्बर, पुरुषोत्तम उदार।
तुमको मानूँगा महावीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥३॥

तुम तेज पुंज तुम दिव्य ज्योति,
तुम प्रिय स्वदेशके रत्न लाल।
तुम स्वाभिमान की विमल मूर्ति,
तुम विश्वप्रेमके गृह-विशाल।
तुम कुरूढ़ियोंके लिये तीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥४॥

कह "लघुवय वरका है सुभाग"
बच्चों पर करते अनाचार।
हा, बाल-वृद्ध-अनमेल व्याह,
अबलाओं पर भीषण प्रहार।
विगलित करना वैधव्य-पीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥५॥

इन पढ़े लिखोंकी सब विभूति,
जल बलकरके होरही क्षार।
बेकार फिरें क्या करें हाय,
इनमें न कला कौशल प्रचार।
इनको बतलाना सुनदबीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥६॥

ये मुफ्तखोर अज्ञान बाल,
मुनि-साधु नामधारी गँवार।
खाते औरोंका व्यर्थ माल,
लोभी लम्पट पूरे लबार।
हटवाना इनकी बुरी भीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥७॥

है घर घरमें डाकिनी फूट,
"तू तू ! मैं" हा ! लूटमार।
आपस आपसमें भेद भाव,
हा ! कैसे संकीरण विचार।
बिहरा नवयुगकी स्वर समीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥८॥

हैं बड़े बड़े ये धनी सेठ,
जिनकी सम्पतिका नहीं पार।
ओसर, मोसर, गंगोज, भोज,
हाँ में व्यय करते हैं अपार।
क्यों है लकीर के ये फकीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥९॥

लो पकड़ एक कर में कृपाण,
उसको करलो फिर तीक्ष्ण धार।
फिर काट कुकर्मोंका विषाण,
हिम्मत मत जाना बंधु ! हार।
है, अचल धर्मकी यही सीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥१०॥

जीवन है मरुस्थल महान,
होकर सतर्क करना विहार।
है विजयलाभ अति कठिन काम,
पग पग पर रहना होशियार।
यह 'सूर्यभानु' विनती अधीर,
भगवान सत्यके भक्त वीर ॥११॥

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

संख्या-बलके विशेषाधिकार।

संख्या-बलके विशेषाधिकार किस तरह मनुष्यमें अनावश्यक प्रतियोगिता तथा अहङ्कार पैदा करते हैं, इसके नमूने भारतवर्षमें बहुत हैं। किसीभी देशके लिये यह व्यवस्था शापके समान कही जासकती है।

इससे सामूहिक हित नष्टप्राय होजाते हैं। हमारे यहाँ राज्यकार्यमें यह विष बहुत तरहसे घुस गया है। हिन्दुओंकी इतनी संख्या है इसलिये उनके इतने मेम्बर होना चाहिए, मुसलमानोंकी इतनी संख्या है इसलिये उनके इतने मेम्बर होना चाहिए, इस मनोवृत्तिने क्षुद्र जातीयताको जितना महत्व दिया है, उससे कई गुणा अधिक, योग्यता तथा सेवाका अपमान किया है। सरकारी त्यौहारोंकी छुट्टियाँ भी इसीप्रकार की क्षुद्र मनोवृत्तियोंका परिचय देती हैं। हिन्दुओंके त्यौहारोंकी इतनी छुट्टियाँ हैं, मुसलमानोंके त्यौहारोंकी इतनी तथा अन्य प्रान्तोंमें अन्य जातियाँ भी अपने त्यौहारों पर छुट्टियाँ रखवाती हैं। इन सब बातोंका मनुष्यके हृदय पर यह प्रभाव पड़ता है कि अगर किसी तरह हम अपने समूहकी संख्या बढ़ालें तो हमारा भी बोलबाला होसकता है। भलेही उनमें पशु सरीखे मनुष्योंकी ही बहुलता क्यों न हो, उनको मनुष्य बनानेकी हमें चिन्ता नहीं रहती, सिर्फ संख्या बढ़ानेकी चिन्ता रहती है।

दुर्भाग्यसे जो समुदाय अल्पसंख्यक है, उसकी दुर्दशा ही समझिये। एक जैन व्यक्ति सालमें एक दिन महावीर-जयंती पर छुट्टी चाहता है तो यह उसे दुर्लभ है। इसीप्रकार सिक्ख आदि जातियोंके लोग दूसरे प्रान्तोंमें पहुँचने पर धार्मिक त्यौहारों पर छुट्टियोंके लिये तरसते हैं। किसी सम्प्रदायमें इनेगिने आदमी ही क्यों न हों, परन्तु उनकी आवश्यकता बहुसंख्यक लोगोंकी आवश्यकतासे कम नहीं होती। परन्तु उनको एक दिनकी भी छुट्टी नहीं मिलती, यह बहुत बड़ा अन्याय है। वास्तवमें संख्या-बलके विशेषाधिकारोंको आश्रय देना सत्य और सेवाधर्मका अपमान करना है, न्यायकी अवहेलना करना है।

न्यायके लिये यह आवश्यक है कि धार्मिक या जातीय त्यौहारों की एक भी छुट्टी न रक्खी जाय। सिर्फ राष्ट्रीय और प्राकृतिक त्यौहारोंकी छुट्टियाँ रक्खी जाँय, जैसे वसन्तोत्सव, संक्रान्ति, बड़ादिन आदि। अथवा स्वतन्त्रतादिवस, असैम्बलीकी बैठक का प्रथमदिवस आदि। इसके अतिरिक्त धार्मिक और सामाजिक त्यौहारोंके नामपर प्रत्येक व्यक्तिको १५दिनकी छुट्टी दीजाय। वह अपने सम्प्रदाय तथा जातीय त्यौहारोंके अनुसार उस छुट्टीका उपयोग करे। मानलो किसी व्यक्तिके यहाँ त्यौहारके १५ दिन ही नहीं हैं तो वह अपने थोड़े त्यौहारोंमें उस १५दिनकी छुट्टी बाँटले। मानलो एक जैनको दो ही त्यौहार मनाना है, एक पर्युषण दूसरा महावीरजयती, तो वह पर्युषणमें बारह दिनकी और महावीरजयन्ती पर तीन दिनकी छुट्टी ले सकता है। हाँ, प्रत्येक प्रान्तमें प्रत्येक सम्प्रदाय या उपसम्प्रदाय वर्षके प्रारम्भमें ही इन छुट्टियोंके दिनोंकी सूचना करदे जिससे उसदिन या उनदिनोंके कार्योंके लिये स्थानापन्न कार्यकर्त्ताका प्रबन्धकर लिया जाय तथा कोई मनमाने कार्यके लिये उस छुट्टीका उपयोग न करे। इस ढंगसे हिन्दू मुसलमान ईसाई सिक्ख जैन पारसी, आदि सभी नये पुराने समाजोंको इच्छानुसार व्यवस्था करनेकी स्वतन्त्रता मिलजाती है, सबको सन्तोष रहता है, अनुचित प्रतियोगिता भी नष्ट होजाती है तथा सरकारके कारबारमें इससे कोई नुकसानभी नहीं होता।

धारासभाओंके साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्वके विरोधमें तो बहुत कुछ कहागया है। यह विषभी बहुत भयङ्कर तथा एकताका नाशक है। यह बिलकुल उड़ा दिया जाय, यही अच्छा है। यदि किसी अल्पसंख्यक दलको यह चिन्ता है कि इससे हमारी जराभी आवाज नहीं रहेगी तो सम्मिलित निर्वाचन के आधार पर वह दल अपनी संख्याके हिसाबसे तीन-चतुर्थांश संख्या रिजर्व करा सकता है। जैसे किसी जगह बीस फी सदी हिन्दू हों और उन्हें यह डर हो कि पृथक प्रतिनिधित्व न रक्खा जायगा तो हमारा एकभी प्रतिनिधि वहाँ न पहुँचेगा तो वे बीस फीसदीके स्थानपर पन्द्रह फीसदी प्रतिनिधि अपने लिये रिजर्व करा सकते हैं। आवश्यकतातो यह है कि जातीय अल्पसख्या और बहुसंख्यामें प्रतियोगिता न हो। परन्तु अगर किसी समुदायको विश्वास

नही है तो वह संख्याके अनुसार मिलने वाले प्रतिनिधित्वमें से एक चतुर्थांशका त्याग करके तीन चतुर्थांश भागको रिजर्व करावे इसपर भी जिसका एक भी प्रतिनिधि न आवे वह रिजर्व न करासके इस नियमका फल यह होगा कि पृथक प्रतिनिधित्वकी उत्तेजना मिट सकेगी और इसप्रकार की माँग भी नष्ट होजायगी। आज हम अल्पसंख्यकोंको उनके अनुपातसे अधिक प्रतिनिधित्व देते हैं, इससे पृथक प्रतिनिधित्वकी माँग चारों तरफसे होने लगती है, तथा बहुसंख्यक दलके साथ अन्याय होता है इससे एकताका नाश होता है, यह तो है ही।

जिस देशमें सैकड़ो जातियाँ तथा सैकड़ो सम्प्रदाय हों, उसमें साम्प्रदायिकता तथा जातीयताके विषका अपहरण करनेके लिये अधिक से अधिक प्रयत्न होना चाहिये। उस विषको मारनेके बदले अगर हम उसे खुराक देकर बढ़ाते रहे तो यह बड़ी भारी भूल होगी।

ऊपर तो दो उदाहरण देकर इस बातको स्पष्ट किया गया है, परन्तु ऐसी बहुतसी बातें हैं जिनमें सुधार करनेकी जरूरत है, जिसमें यह विष निर्मूल होजाय। संख्याबलकी उत्तेजना देना हानिकर है। मनुष्यका कल्याण इसीमें है कि वह गुण, योग्यता, तथा सेवाभावको उत्तेजित करे।

प्रतिलोम गांधर्वविवाह।

दैनिक सुदर्शनके किसी गताङ्कमें निम्नलिखित समाचार छपा था:—

ब्राह्मणकी कन्या और मालीका प्रेम।

"चाँदपुरके एक ब्राह्मण पुजारीकी कन्याको बहका कर भगा ले जानेका अभियोग एक नीची जातिके लड़के पर चलाया गया है। ब्राह्मण कन्या का नाम शान्तिदेवी है और उसकी अवस्था १४ वर्षके लगभग है। लड़के का नाम अमूल्य है और वह जातिका माली है। कहा जाता है कि अमूल्य शान्ति देवीके घरके पास ही रहता था और रातदिन उसके पास आया जाया करता था, तथा उससे मजाक किया करता था। शान्ति उससे प्रेम करने लगी और एक दिन रातके समय उसके साथ भाग गई। दोनोंको भागते हुये किसीने नहीं देखा।"

"अमूल्य माली लड़कीको बहुत दूर लेगया और कई स्थानों पर उसे छिपाकर रक्खा। दोनोंके अनुचित सम्बन्धके कारण शान्तिदेवी गर्भिणी हो गई और कुछ समय बाद उसके एक कन्याका जन्म हुआ पुलिसने दोनोंको बहुत ढूँढ़ा पर उनका कोई पता न लग सका। दो वर्ष व्यतीत होजाने पर अमूल्य तथा शान्तिदेवी मुंशीगञ्जमें पाये गये। पुलिस ने दोनोंको गिरफ्तार करके चाँदपुर भेज दिया।"

"चाँदपुरमें दोनों मौलवी अजीजुररहमान डिप्टी मैजिस्ट्रेटके इजलासमें पेश हुए। उन्हें सैशन सुपुर्द करनेके लिए मैजिस्ट्रेटकी इजलासमें प्रारंभिक जाँच की कार्रवाई आरम्भ हुई लड़कीने मैजिस्ट्रेटके सामने अपना बयान दिया जिसमें उसने कहा कि मैंने अमूल्यके साथ विधिपूर्वक विवाह कर लिया है और अब हम दोनों पति और पत्नीके रूपमें एक साथ रहते हैं। मैं अपने पिताके घर वापिस लौटनेसे इन्कार करती हूँ।"

वरकन्याकी योग्यताका विशेष परिचय न होने से इस विषयमें विशेषरूपमें कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर भी इतनी बात तो कही जा सकती है कि ऐसी घटनाएँ स्वाभाविक हैं। आजीविकाकी सुविधाके लिये बनाया गया जातिभेद, प्रेमके पथमें कितनी भी रुकावट क्यों न डाले, परन्तु कभी न कभी और कहीं न कहीं उसे पराजित होना ही पड़ता है, और डङ्केकी चोट यह साबित कर देता है कि मनुष्यजाति एक ही जाति है।

यद्यपि जवानीके जोशमें कभी कभी अनुचित सम्बन्ध होना भी सम्भव है, गुण शील और योग्यता की प्रतिकूलता होनेसे कभी कभी ऐसे सम्बन्ध सुखप्रद नहीं होते, परन्तु इसका उपाय तो पहिलेसे ही होना चाहिये। समाजने मूढ़तावश ऐसी ऐसी कू-

ढ़ियोंको आश्रय दे रक्खा है कि उनके कारण इनसे हजार गुणे बुरे सम्बन्ध समाजमें दिनदहाड़े होते रहते हैं। कहीं कन्याविक्रय, कहीं दहेजका भयङ्कर तांडव बेचारी कन्याओंका जीवन बर्बाद करनेके लिये मुँह बाये खड़ा रहता है आश्चर्य नहीं कि दहेज के तांडवने उस ब्राह्मण बालाके जीवनको बिना पतवारकी नाव बना दिया हो और उसने विवश होकर एक माली युवकका सहारा ढूँढ़ा हो।

जो कुछ भी हो, परन्तु ऐसी घटनाएँ होती हैं अवश्य। इसलिये प्रश्न यह है कि ऐसी घटनाओंके हो जाने पर क्या करना चाहिये। उपर्युक्त समाचार से यह तो मालूम होता है कि वरकन्या दोनों ही एक दूसरेसे सन्तुष्ट हैं वे दोनों विवाहित होना और पति पत्नीके रूपमें रहना भी स्वीकार करते हैं। माली युवकने दो साल तक बराबर साथ दिया है, और उसका रक्षण तथा पालन किया है। एक कामुककी तरह लालसा तृप्त होने पर वह भागनेको तैयार नहीं है। इस प्रकार उसने पतित्वका कर्तव्य पूरा किया है और ब्राह्मण बालाने पत्नीत्वकी निष्ठा बतलाई है। ऐसी अवस्थामें उनके दाम्पत्यको नष्ट करना या नष्ट करनेका प्रयत्न करना अन्याय है। हिन्दूसमाजकी परिस्थितिको देखते हुए तो इसकी अन्याय्यता खूब ही भयङ्कर होजाती है। यदि आज दोनोंका दाम्पत्य सम्बन्ध तुड़वा दिया जाय तो किसी तरह वह माली तो अपनी गुजर कर लेगा, परन्तु उस ब्राह्मणबाला का क्या होगा? एक बच्चे की माँ हो जाने पर क्या कोई दूसरा सुयोग्य वर उसे मिल सकेगा? यदि मिल भी जाय तो क्या उससे उस ब्राह्मणबालाका हृदय सन्तुष्ट रहेगा? क्या प्रेमके ऊपर इस प्रकार बलात्कार किया जा सकता है? यदि नहीं तो यह सब प्रयत्न क्यों हो रहा है?

उत्तर एक ही है कि 'जातिमद'। दुर्भाग्यसे प्रत्येक मनुष्य अपनी जातिको सर्वोच्च समझता है। दूसरी जातियोंके साथ सम्बन्ध करनेसे उनकी जाति नष्ट होजाती है, यह दुर्वासना सबके मनमें बुरी तरह जमकर बैठी है। इसलिये ऊँची कहलाने वाली जातियाँ नीची कहलाने वाली जातियोंके सम्बन्धमें अपनेको अपमानित समझती हैं, दंडचक्र चलाती हैं। उसी प्रकार नीची कहलानेवाली जातियोंने भी ऊँची कहलानेवाली जातियोंके सम्बन्धसे अपनेको अपमानित समझना सीख लिया है और इसके लिये वे भी दंडचक्र चलाती हैं। फल यह होगा कि जिस प्रकार उस ब्राह्मणबालाको अपनी जातिमें कोई स्थान नहीं है, उसी प्रकार उस माली युवकको भी उसकी जातिमें कोई स्थान नहीं है। जातिमदका विषवृक्ष कैसे कैसे अनर्थ पैदाकर सकता है, उसका यह एक नमूना है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। अगर उसे समाजसे अलग कर दिया जाय तो या तो वह कैसे भी समाजको अपना लेगा, भले ही वह समाज उसकी प्रकृतिके विरुद्ध ही क्यों न हो, अथवा समाजहीन होकर वह इतना उच्छृंखल हो जायगा कि उसकी सारी उन्नति रुक जायगी तथा समाजमें वह रोगके कीटाणुकी तरह संचार करेगा।

ऐसी ऐसी रद्दी बातों परसे सामाजिक सम्बन्ध तोड़ना अनुचित ही नहीं, अन्याय है। ऐसी कोई जाति नहीं है जिसमें अच्छेसे अच्छे देव न पाये जाते हों और बुरेसे बुरे दानव न पाये जाते हों। जब उन सबमें एक जातीयताकी भावना रक्खी जाती है और इससे देवोंके देवत्व और दानवोंके दानवत्वमें कोई फरक नहीं पड़ता, तब उपर्युक्त दम्पतिको कोई भी जाति अपनाले और उनको अधःपतन तथा कष्टोंसे बचाले, इसमें किसीकी हानि नहीं है।

जाति कहो या वर्ण, उसका सम्बन्ध गुण और आजीविकासे है। परन्तु आजकल न जातियाँ गुणों पर अवस्थित हैं, न वर्ण आजीविका पर हैं। एक माली अध्यापक और न्यायाधीश भी होता है और एक ब्राह्मण चपरासी भी। एक ब्राह्मण भी मांसभक्षी, शराबी, मिथ्यावादी, व्यभिचारी होता है, और एक माली भी शाकभोजी, सत्यवादी, ब्रह्मचारी होता

है, इसलिये किसीको जातिमद करके सद्गुणोंका अपमान न करना चाहिये। हाँ, विवाहादि सम्बन्ध के लिये वह कौटुम्बिक परिस्थितिपर विचार करनेके लिये स्वतंत्र है परन्तु जातिमदके वशमें होकर यह काम न होना चाहिये। तथा किसी तरह अगर ऐसा सम्बन्ध हो भी जाय, जैसाकि उपर्युक्त घटनामें हुआ है, तो उसे सहन करनेकी-पचानेकी-शक्ति प्रत्येक समाजमें होना चाहिये। समाजकी रचना दूसरोंको उन्नत बनानेके लिये है, किसीको गिरानेके लिये नहीं है और न ऐसी स्वतंत्रतामें बाधा डालनेके लिये है कि जिस स्वतंत्रतासे दूसरोंके नैतिक अधिकारोंको धक्का नहीं लगता। विवाहादिकी स्वतंत्रता ऐसी ही स्वतंत्रता है। कोई व्यक्ति-पुरुष या स्त्री-किसीके साथ शादी करता है तो किसीको उसमें आपत्ति उठानेकी क्या जरूरत है, क्योंकि इससे वह किसी के नैतिक अधिकारोंको लूटता नहीं है।

उपर्युक्त घटनासे जिन लोगोंका सम्बन्ध है उन्हें चाहिये कि वे जातिमदमें अंधे होकर कुछ अनर्थ न कर बैठें। ब्राह्मण पुजारीको चाहिये कि वह अपनी पुत्रीको अभी भी अपनी पुत्रीके समान माने और मालियोंको चाहिये कि वे उसे पहिलेकी तरह अपनाये रहें।

भगवान या महात्मा।

'महात्मा और भगवान' शीर्षक एक टिप्पणी मैंने प्रथम अंकमें लिखी थी और उसके अंतमें लिखा था कि 'यहाँ मैं भगवान कहनेवालोंका तिरस्कार नहीं करना चाहता, परन्तु इसकी अपेक्षा महात्मा शब्द उपयुक्त है। यही कहना चाहता हूँ। ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीको मेरा यह रुखभी खटका है। उनका कहना तो यहाँ तक है कि महावीरको 'महात्मा लिखना वास्तवमें उन का अपमान करना व उनको तुच्छ गिनना है'। इसका कारण यह है कि महात्मा तो गाँधी आदि को भी लिखा जाता है! इससे तो वे तिलक, रवीन्द्र, गाँधी आदिकी कोटिमें आजाते हैं। खैर, इससे यह बात तो सिद्ध होगई कि दिगम्बर जैनसमाजके वे विद्वान, जो कि ब्रह्मचारीजी के साथी हैं, बुद्ध आदिको महात्मा सिर्फ इसीलिये लिखते हैं कि जिससे उनका अपमान हो, वे तुच्छ गिने जायँ, वे तिलक, रवीन्द्र आदिकी कोटिमें आजाय। साहित्यिक-क्षेत्रमें भी बुद्ध आदिका अपमान करना वे न भूलें, यह शायद उनके सम्यक्त्वके लिये अनिवार्य है। यदि उन का भाव अपमान करनेका नहीं है, तब उनकी दृष्टिमें भी ब्रह्मचारीजीकी यह भूल कहलाई।

चूँकि गाँधी आदिके साथ महात्मा शब्द लगाया जाता है इसीलिये अगर महात्मा शब्द से महावीरका अपमान होता है तब तो जो लोग 'महावीर स्वामीकी जय' बोलेंगे वे भी महात्मा महावीरका अपमान करनेवाले कहलायँगे। क्योंकि स्वामी शब्द स्वामी दयानंद, स्वामी श्रद्धानन्द आदि सन्यासियोंको लगता है। ऐसे ही कट्टर दिगम्बर विद्वानोंकी तरफसे अनेक जैन पुस्तकोंके अंग्रेज़ी अनुवाद हुए हैं जिनकी ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीने बड़ी प्रशंसा की है, परन्तु उनमें महात्मा महावीरके लिये Lord Mahavir, लिखा जाता है। परन्तु ब्रह्मचारीजीने आज तक इस पर आपत्ति नहीं की कि यह तो अंग्रेज़ ज़मींदारोंकी या राजमान्योंकी पदवी है, इससे तो महावीरका अपमान होगा। Lord लॉर्ड सरीखे साधारण शब्दके प्रयोग से तो ब्रह्मचारीजी को अपमान नहीं मालूम हुआ और महात्मा सरीखे सार्थक शब्दके प्रयोगसे अपमान मालूम हुआ, इसे बुद्धिभ्रम न कहें तो क्या कहें?

यदि बुद्धिभ्रमसे विचार किया जाय तब तो अनेक जैनाचार्य तीर्थंकरोंके अपमानकर्ता ही सिद्ध होंगे क्योंकि उनने तीर्थंकरोंके विषयमें ऐसे शब्दोंके प्रयोग किये हैं जो अन्यसाधारण लोगोंको भी लगाये जाते हैं। जैसे मुनि शब्द आज कलके साधारण वेषधारियोंको लगाया जाता है परन्तु आचार्य समन्तभद्रने तीर्थंकरोंको

भी लगाया है देखिये बृहत्स्वयंभू स्तोत्र—

> अन्वर्थसंज्ञः सुमतिर्मुनिस्त्वम् ।
> यथा मुनेस्तेऽनघ वाक्य रश्मयः ।
> विमलस्य ते मुनेः । आदि

इसी प्रकार महर्षि शब्द कपिल वशिष्ठ विश्वामित्र दयानन्द आदि नामोंके साथ भी लगता है, परन्तु आचार्य समन्तभद्रने तीर्थकरके नामके साथ लगाया है (यस्य महर्षे सकल पदार्थ .)। इसीप्रकार और भी बहुतसे शब्द हैं जो कि विद्वानों और वेषधारियोंको लगाये जाते हैं और वे शब्द तीर्थकरों को भी लगाये गये हैं, परन्तु इसीसे उनका अपमान नहीं होता।

यदि महात्मा शब्द अपमानवाची होता तो जिनेन्द्रकी नामावलिमें उसका समावेश न होना चाहिये था: जबकि सहस्रनाम पाठमें महात्मा शब्द भी आता है। (महात्मा महसां धाम महर्षिर्महितोदयः)

उत्तराध्ययनमें तो महावीरको भगवान कहकर के भी उनकी विशेषता बतलानेके लिये उन्हें महात्मा कहा है—

चम्पाए पालिए नाम सावए आसि वाणिए।
महावीरस्स भगवओ सीसे सो उ महप्पणो। २१-१

चम्पामें पालित नामका वैश्य श्रावक था। वह भगवान महावीर—जो कि एक महात्मा थे—का शिष्य था।

इस प्रकार महात्मा शब्दके बीसों प्रयोग जैनशास्त्रोंमें मिलेंगे। परन्तु मेरे पास इस साधारण कार्यके लिये विशेष समय नहीं है।

जैनशास्त्रोंमें भगवान शब्दका प्रयोग भी अधिक हुआ है परन्तु इसका कारण ईश्वरवादकी अव्यक्त छाप है। महात्मा शब्दमें वह छाप नहीं है।

भगवान्में 'भग' शब्दका अर्थ ज्ञानादि है परन्तु यह वास्तविक अर्थ नहीं किन्तु रूपक अर्थात् आलङ्कारिक है। यों तो आप किसी विद्वान् किन्तु कंगालको श्रीमान्, लक्ष्मीपति आदि कह सकते हैं और ज्ञानको अन्तरंग लक्ष्मी कहकर उस प्रयोगको सार्थक बना सकते हैं, परन्तु इससे व्यवहारमें गड़बड़ी बहुत होजायगी, यहाँ तककि शब्दोंका प्रयोग निरर्थकसा होजायगा। यही हाल भगवान् शब्दका है। एक ज्ञानी तपस्वीको लक्ष्मीपति कहनेके समान ही श्रमण महात्माओंको भगवान कहना है। इस शब्दसे वास्तविक अर्थ पर ध्यान नहीं जाता जैसा कि महात्मा शब्दसे जाता है। फिर भी किसीको भगवान शब्दका प्रयोग करना हो तो भले ही करे परन्तु महात्मा शब्दके प्रयोग को रोकना व्यर्थता है साथ ही इसमें ऐश्वर्यके आगे आत्माका अपमान है
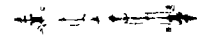
कहाँ जा छिपे सत्य भगवान् ?

'सत्य' बिना है छाया जग में
आज घोर अज्ञान ।
नहीं सूझता सच्चा हित–पथ,
कैसे हो कल्याण ।। कहाँ० १ ।।

त्राहि त्राहि मच रही विश्व में
सुख का नहीं निशान ।
'धर्म' मान कर पूजा जाता
हा ! मिथ्यात्व महान ।। कहाँ० २ ।।

अपढ़ धूर्त तक साधुवेश में,
कहलाते गुणवान ।
धर्मवीर विद्वानों का है
बहिष्कार सम्मान ।। कहाँ० ३ ।।

सत्य तत्व का हर प्रकार, हो
रहा घोर अपमान ।
कब तक यह सब सहन करोगे,
दर्शन दो भगवान ।। कहाँ० ४ ।।

—रघुवीरशरण जैन "वीर"
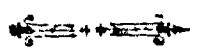
हृदजीका पत्र ।

श्रीमान् सम्पादक "जैनजगत्" जी,

जयजिनेश ।

हम, सम्यग्दृष्टि होनेकी हैसियतसे, आपके गले से इस विश्वासका एक घूँट उतारवा देना चाहते हैं कि आपने जो अपनी 'जैनधर्मका मर्म' आदि क्रान्तिकारी कृतियों द्वारा सत्य-संशोधन-कार्यका बीड़ा उठाया है, वह पाप बंधका कारण होनेके कारण आप के लिये अहितकर व दुखदायक है । क्यों ? इसका संक्षिप्त परन्तु मुँहतोड़ उत्तर आपको नीचेकी पंक्तियों से ज्ञात हो जायगा । आशा है कि यदि आपमें तनिक भी सभ्यता हुई, तो अवश्य अवश्य आप अपनी बुद्धि ठिकानेपर लाकर, भविष्यमें अपनेको इस पापबन्धके चङ्गुलसे बचाए रक्खेंगे ।

आपकी लेखमालासे जो हमपर करारी करारी चोटें पड़ी हैं, वे लेखनीद्वारा नहीं दर्शायी जासकतीं । संक्षेपमें यूँ समझ लीजिये कि आपने अपनी सभ्यता, निर्भीकता व निष्पक्षताके अचूक शस्त्रों द्वारा बड़ी निर्दयतापूर्वक हमसे हमारा दिल छीन लिया है । यदि हम ब्रह्मचारी होते तो कमसे कम दिल तो न खो बैठते । दिल पास होता तो "हाय हाय" वायवैला मचा कर कभी उसे शीतल तो बना लेते, सदा रोते न फिरते; परन्तु अब हम बेदिल क्या करें, आप ही उपाय कुछ बतलाइये । हमारा ही नहीं, सभी भक्तजनोंकी यही दुर्दशा हो रही है और इसका निमित्त कारण आप ही हैं; क्या यह पापबन्धका कारण नहीं ?

कुछ समय हुआ कि हमारे एक मित्र न्यायतीर्थ पण्डितजीने 'जैनधर्मका मर्म' की कड़ी आलोचना करते हुये हमसे यहाँतक कह डाला था कि यदि मुझे एक खून माफ होजाय तो मैं पं० दरबारीलालजीको गोलीसे उड़ा दूँ । उसी समय हमारी मस्तिष्क-खेती में यह विचार उपजा कि हम उन पंडितजीको उनकी इस दुष्ट व नीच मनोवृत्ति पर बुरी तरह डाटें, परन्तु इस भयसे कि कहीं हमे भी वह आपकी थैलीका चट्टा-बट्टा न समझ बैठें, हम चुपकी साध गये; इतना ही नहीं, हम हाँ में हाँ मिलाते हुए यहाँतक बक बैठे कि वास्तवमें धर्मद्रोहियोंका यही हाल होना चाहिये हम तो यह समझते हैं कि वास्तवमें उनकी इस कषाययुक्त मनोवृत्तिका और हमारी इस द्वेषपूर्ण वाणीका मूलकारण आप और आपकी हरकतें ही हैं, कोई और नहीं, और यही आपके लिये पापबन्धका कारण है ।

जैनधर्मकी दुहाई देनेवाले पत्रोंमे, विशेषतः 'जैनमित्र' में आपको कोरी कोरी गालियाँ दी जाती हैं, आपको धर्मद्रोही, धर्मनाशक, अधर्मन्य आदि उपाधियों द्वारा सम्मानित किया जाता है, ब्रह्मचारीगण तक आपको गालियोंका प्रसाद देनेसे नहीं हिचकिचाते हैं, पण्डितपार्टी कुढ़ कुढ़ दिल ही दिलमें आपको कोस रही है कुछ मनचली, पाखिण्डकी इच्छुक युवक उपाधियाँ भोलीजनताको तरह तरहसे आपके विरुद्ध भड़काती रहती है, आदि आदि । इस प्रस्त कलुषित वातावरणके केन्द्र (Centre) यदि आप नहीं, तो और कौन है ? मेरा तो विचार है कि इन सब पापमय कार्योंका उत्तरदायित्व आपपर ही है, और आप ही इस पापके भागी हैं ।

आप अपने हृदयको ही ले लीजिये । जबसे आपने "जैनधर्मका मर्म" और उसकी सियामिट्ट "विरोधी मित्रोंसे" ये दोनो लेखमालाएँ चालू की हैं तब तक से आपका हृदय क्रोध का तो Head quarter बन गया है । मैंने माना कि आपको जो कुछ क्रोध करना पड़ता है वह किसी बुरे उद्देश्य से नहीं, वरन अच्छे ही उद्देश्यसे करना पड़ता है, परन्तु क्रोध करना तो पड़ता है; और यही आगममें पापबन्धका कारण बतलाया गया है । अपनी पोज़ीशन (Position) साफ (Clear) करने और विरोधियोंके व्यक्तिगत आक्षेपोंके उत्तरमें व्यक्तिगत आक्षेप करनेमें जो कुछ अपशब्द आपकी लेखनी लिखती है, भले ही वे हमले offence के उद्देश्यसे नहीं बल्कि बचाव (Defence) के ही उद्देश्यसे ही क्यों न

लिखे जायँ, पापबन्धका कारण तो होते ही हैं। आप इस बचावके शिकंजेमें ऐसी बुरीतरह कसे हुये हैं कि आप उस उदार दूरदर्शी आत्माका जो अपना सर्वस्व त्यागकर विदेशमें मात्र जिनवाणीका प्रचार करनेके उद्देश्यसे अपनी जन्मभूमि छोड़ बैठा है, अनादर करनेमें भी नहीं हिचकते। ऐसे बचावपर पत्थर पड़ें, जिसके कारण घोर पापकर्म तक करना पड़े।

मेरी तो इच्छा थी कि छोटीमोटी एक एक बात को खोलकर सिद्ध करूँ कि किस प्रकार आपकी ये हरकतें पापबन्धका कारण हैं, परन्तु "अक्लमन्दोंरा इशारा काफी अस्त" की कहावत मुझे ऐसा नहीं करने देती। अतः अन्तमें यही प्रार्थना है कि आप अपने इस सत्य-संशोधनके कार्यसे बाज आएँ और आगेके लिये इसके द्वारा होनेवाले पापबन्धसे बचे रहें। आप मानें या न मानें, समझानेका जो हमारा कर्त्तव्य था वह हमने भली-भाँति पूरा कर दिया।

—आपका हितैषी, "दृढ़"

हृदय-क्रन्दन (१)।

(विधवा)

हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर ?

दैव सताई मैं विधवा हूँ,
जीवित भी मैं मृत अथवा हूँ,
गुप्त वेदनाका हूँ जीवित चित्र अशांत अधीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ १॥

हूँ पिशाचिनी, हूँ हत्यारी,
महा असंगल, अशकुन भारी,
मुझे झेलना, शान्त हृदयसे वाक्य विषैले तीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ २॥

असह कार्य-कोल्हूमें पिलना,
चक्की, चूल्हा, बर्तन मलना,
नित्य कृत्य है यह मेरा जब तक है सजग शरीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ३॥

रूखा सूखा जो मिलता है,
उदर गर्त को भर लेना है,
किसी प्रकार बुझा लेना है, ज्वलित पेटकी पीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ४॥

रोगग्रसित हूँ, निर्बल तन हूँ,
त्रासित, तापित, व्याकुल मन हूँ,
जगमें मेरा कौन, बँधायेगा जो मुझको धीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ५॥

मुंडितकेशा, कुत्सित वेषा,
रहना गृहमें मुझे हमेशा,
इससे ही पाना यौवन की अभिलाषा का तीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ६॥

दुखिया, अबला, ठुकराई हूँ,
जीवनसे मैं घबड़ाई हूँ,
बढ़ता जाता चीर-द्रौपदीसा मेरा दुख नीर।
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ७॥

जगमें कौन सहारा मेरा,
केवल बल ईश्वर है तेरा,
लेना मुझे शरणमें अपनी, करुणानिधि हे वीर!
हृदयकी किसे सुनाऊँ पीर॥ ८॥

—"वत्सल" विद्यारत्न।

सत्यसमाज प्रगति।

लोकमत।

श्रीमान् पं० महेशचन्द्रजी जैन आयुर्वेदाचार्य कानपुरका पत्र—

श्रीयुत श्रद्धेय पंडितजी,

सत्यं वन्दे!

आपने जबसे 'जैनधर्मका मर्म' लिखना प्रारम्भ किया, मुझे उसी समयसे आपकी लेखमाला पढ़ने का सौभाग्य न था, किन्तु सत्यसमाजके उद्घाटनसे मेरे हृदयमें एक तेजस्वी चिनगारीका जन्म हुआ, जिससे कि मैं आपकी लेखमालाका अनन्य पुजारी बन गया हूँ।

सत्यसमाजकी स्कीम अत्यन्त निःपक्ष, सुरम्य एवं व्यापक है, साथ ही साथ उदारतासे परिपूर्ण है जिससे भारतवर्षका बच्चा बच्चा भी उसमें भाग ले

सकता है। भारतवर्षमें अनेक सम्प्रदाय, अनेक जातियाँ एवं अनेक धर्म हैं कि जिससे एक कलहगृह माना जाता है और इसी कारण प्रेमसञ्चार होना अस्वाभाविक ही है। कितने ही धर्मोंने भारतवर्षमें जन्म लेकर विश्वव्यापी बननेकी चेष्टा की, किन्तु असफलता ही हाथ आई। विश्वमें यदि किसी भी वीरने लोकोपकारक सत्यका अन्वेषण कर सत्यधर्मको रक्खा होता तो भारतवर्षमें सिर्फ एक सत्यधर्म और उसके अनुयायी ही आज पाये जाते। किन्तु ऐसा नहीं है, कारण साम्प्रदायिक विष जनताके हृदयमें भरा हुआ है। सत्यसमाजकी स्कीम भारतवर्षको स्वतन्त्र बनाने वाली है।

सत्य अनादि निधन है, अज्ञेय है, किन्तु प्रत्येक प्राणीका आत्मकल्याण जीवननिर्वाहके लिये अवश्य प्राप्त होसकता है। सत्य प्रत्येक प्राणीको सुखी बनाता है। सत्यके ही उपासक बनकर हम सुख और शांति को प्राप्त कर सकते हैं। सत्यका कभी विनाश नहीं होता। प्रत्येक धर्मकी हीनता पाई जाती है किन्तु सत्य की हीनता कभी नहीं पाई जाती। हाँ, प्रचारकों और उपासकोंकी हीनाधिकता अवश्य पाई जाती है।

जिस तरह आपने 'जैनधर्मका मर्म' लिखा है उसी तरहसे आप अन्य धर्मोंके मर्म भी लिखनेकी शीघ्र कोशिश करें। हमें आशा ही नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि सत्यसमाजकी स्कीमसे संसारके प्राणी मात्रका कल्याण होगा। आशा है कि पाठकगण शीघ्र ही सत्यसमाजके प्लेटफार्म पर आयेंगे। जैन-जगत्का नाम परिवर्तित शीघ्र ही होरहा है, हमें इस बातका हर्ष है। इसका नाम 'सत्य जगत्' ही रक्खा जाय तो अच्छा है।

सत्यसमाज विश्वव्यापी हो, यही मेरी भावना है।

—महेशचन्द्र जैन आयुर्वेदाचार्य

सभापति, शाखा-सत्यसमाज कानपुर।

(२२)

पं० सुरेन्द्रनाथसिंहजी (श्रीपति) विशारद कानपुरका पत्र—

...आपकी सत्यसमाज संघटना और गीताबलि देखनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ। यद्यपि मेरे विचार आपसे पूर्णरूपेण विपरीत थे, क्योंकि मैं साम्प्रदायिकताके गहरे गर्तमें पड़ा हुआ आपको कोरा मुनिनिंदक और दूसरा दयानंदी अवतार ही समझ रहा था, किन्तु आपके निर्मल वात्सल्यपूर्ण सत्यने मुझे जगा दिया। मैंने एक जिज्ञासुकी दृष्टिसे सत्यसमाज के नियम देखे, मेरा चिर अशान्तहृदय शान्त होगया। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि हम अपने धर्मसे इतनी उदारता ला सकते हैं। जबतक हमारे अन्दर संकीर्णताके कीटाणु, अनुदारताकी दुर्गन्ध और पारस्परिक विद्वेष विद्यमान रहेंगे तबतक मुझे क्या किसी भी समाज-हितैषी व्यक्तिको यह आशा नहीं होसकती कि हम भी किसी दिन संसारमें फूले फलेंगे।

आपने इन सब बातोंका अन्वेषण कर वास्तव में यह प्रशंसनीय कार्य किया है। सत्यसमाजकी स्कीम परस्पर प्रेम, उदारता, बन्धुत्वकी जननी सिद्ध होगी। अंग्रेजी... वह सिद्धान्त, यह तो चला ही जाता है। आपको इस पर कभी भी विचार नहीं करना चाहिये, क्योंकि आप सत्य कहते हैं, सत्यकी विजय सर्वदा होती ही है, यह निश्चय है। विशेष क्या, मैं जैनसमाजसे भी अनुरोध करना न भूलूँगा कि वह यदि वर्तमान संसारमें गौरवान्वित और जीवित रहना चाहती है तो शीघ्र ही सत्यसमाजकी पुनीत स्कीम को कार्यरूपमें लावे, अन्यथा मुझे तो उसके नाम-शेषमें भी सन्देह है।

यह फार्म भरकर भेज रहा हूँ। कृपया स्वीकार करना। सत्यसमाजकी सेवा जहाँतक होगी मैं सर्वदा करनेके लिये प्रस्तुत ही हूँ।—सुरेन्द्रनाथसिंह श्रीपति

(२३)

श्री० विष्णु पाँडुरंगजी शेकदार बार्सी टाउन (सोलापुर) ने सत्यसमाजका अनुमोदनपत्र भरकर भेजा है।

श्री० पन्नालालजी जैन इंदौरने पत्रका नाम बदलनेकी सम्मति दी है और पत्रका नाम 'सत्यसेवक' या 'सत्यभक्त' सूचित किया है।

[२४]

औरंगाबाद (दक्खिन) से श्रीयुत गोविन्दजी भाईका निम्नलिखित पत्र आया है। आप बहुत ही निःपक्ष और जिज्ञासु विचारक हैं। मुंबईमें दो बार मुझसे मिल चुके हैं, और दोनों ही बार सत्य समाजके विषयमें हर पहलूसे शंका-समाधान रूप वार्तालाप कर चुके हैं। घर पहुँचकर और इस विषयमें बहुत विचार करनेके बाद आपका यह पत्र मिला है। आपने थियासोफिस्ट साहित्यका तथा कुरान आदिका अभ्यास किया है। जन्मसे आप श्वेताम्बर जैन हैं।

"मैं आजसे सत्यसमाजका नैष्ठिक सदस्य बनता हूँ। क्यों बनता हूँ, इसका कारण यह है कि मुझे यह एक ऐसा समाज मालूम होता है जो सर्वांशपूर्ण और पूर्ण आदर्शरूप है। उसमें शामिल होनेसे मुझे मालूम होता है कि मेरे जीवनका उद्देश पूरा सिद्ध होगा। आज तक मैं जिस चिन्तामणि को ढूढ़ता था वह मुझे मिल गया। नैष्ठिक श्रेणीमें आनेका कारण यह है कि इसीमें मेरी निर्भयताका रक्षण रहेगा।"

नाम—गोविन्दजी। पिता का नाम—श्रीयुत हंसा भाई। उम्र ५२ वर्ष। श्रेणी—नैष्ठिक। पता C/o पी० नवलचन्द ऐगड ब्रदर्स निजामगंज औरंगाबाद (दक्षिण)

[२५]

एक ब्राह्मण सज्जनका यह पत्र मिला है।

"..... सेवामें भगवान सत्यकी जय! आपने जो सत्यसमाज संस्था निकाली है उसके बाबत सेठ चुन्नीलालजी (बार्शी) ने अच्छी तरह विवेचनके साथ मालूमात करादी। सत्यसमाज संघटना और गीतावली के उद्देश नियमादि पढ़कर मेरे रोम रोम हर्ष आनन्द हुआ और उसका मैं वैदिक पाक्षिक बना हूँ। मेरा यह निश्चय होगया है कि इसकी सेवा निस्वार्थ बुद्धिसे जीवन भर करता रहूँ। .... जगत्के अन्दर साम्प्रदायिक झगड़े और जातिके टुकड़ोंसे समाज और धर्म रसातलको चला गया है, इसीलिये मैं आज तक निःपक्ष सत्य, सर्व-धर्म-समभावका मार्ग ढूँढ़ रहा था। जैसी मेरी भावना थी वह आज आपके सत्यसे पूरी हो गई।"

नाम—जगदीशप्रसाद शर्मा। पिताका नाम—हरफूलरामजी। उम्र ५० वर्ष। श्रेणी — वैदिक पाक्षिक। मु० सुन्दरपुर, जि० पो० रोहतक।

श्रीयुत रघुवीरशरणजी जैनकी सम्मति पहिले छपगई है। अब आप जैन पाक्षिक सदस्य बने हैं। जन्म से आप दिगम्बर जैन हैं।

नाम—रघुवीरशरण जैन। पिताका नाम—लाला छेदालालजी। उम्र २० वर्ष। जैन पाक्षिक। अमरोहा (मुरादाबाद)

[२६]

श्रीयुत पण्डित सूर्यभानुजीके प्रयत्नसे निम्नलिखित सज्जन वैष्णव सदस्य बने हैं, और आपने उस सभाका विवरण भी भेजा है जिसमें आप प्रभावित हुए हैं। आपका पत्र यह है:—

"सत्य-समाज संघटना और गीतावलि" पंडित डाँगी सूर्यभानु जैन "भास्कर" से प्राप्त की। प्रसन्न हुआ। पण्डितजीने छात्रहितकारिणी सभाके अधिवेशन में उसके उद्देश्य पढ़ सुनाये। उपस्थिति अच्छी थी। वयोवृद्ध श्रद्धेय डागाजोश्री अजयराज जी जैतारणवाले, पण्डित रत्नमाधवलालजी न्याय-तीर्थ, जोशीजी श्रीपण्डित रामचन्द्रजी स०प्र०अध्यापक, आदिके नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पंडित जीने सबसे पहले निम्न श्लोक पढ़कर सत्य-भगवान का आह्वान किया:—

यः स्मर्य्यते सर्व मुनीन्द्रवृंदैः, यः स्तूयते सर्वनरामरेन्द्रैः,
यो गीयते वेदपुराण शास्त्रैः स देवदेवो हृदये ममास्तां॥

महावीर, कृष्ण, बुद्ध, राम, ईसामसीह आदि सम्पूर्ण देवोंके भी एक मात्र आराध्यदेव सत्य भगवान्के विषयमें कहकर साम्प्रदायिकताकी विकृतिसे आई हुई खराबियों पर ज़ोरदार शब्दोंमें अच्छा

प्रकाश डाला जिसका उपस्थित जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा। आपने कहा, सम्प्रदाय बिना साम्प्रदायिकताके टिक नहीं सकते, जिस तरह अग्नि बिना उष्णताके, परन्तु उस साम्प्रदायिकताका रूप विकृत नहीं करना चाहिये जिसतरह एक व्यापारी द्रव्योपार्जनके उद्देश्यसे व्यापार करता है और एक नौकर नौकरी; दोनोंका उद्देश्य एक है, परन्तु साधन विभिन्न हैं। व्यापारीमें व्यापारिकता और नौकरीमें सेवाकी आवश्यकता है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि व्यापारी नौकरीका अनुदारतापूर्वक विरोध करे और नौकर व्यापारको तुच्छतापूर्वक बुरा बतलावे। जिस तरह इसप्रकार विशाल बने रहने पर हमारे व्यवहारमें कोई गड़बड़ नहीं होती उसी तरह यदि धर्म और सम्प्रदायमें विशालता और उदारता बनी रहे तो, कोई झगड़ा नहीं रह सकता। इसी तरह गम्भीर दृष्टि द्वारा हरेक सम्प्रदायमें वैज्ञानिक सत्यान्वेषण करना ही सत्य-समाजका उद्देश्य है, आदि आदि कई बातें बतलाईं। मुझे भी आप वैष्णव पाक्षिक सदस्यमें लिखलीजिये। भवदीय—

किशनदास वैष्णव। उम्र २८ वर्ष।
महाजनीअध्यापक (बलूँदा मारवाड़ निवासी)

(२७)

श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी जैन बार्शीके प्रयत्न से निम्नलिखित सज्जन जैन पाक्षिक सदस्य बने हैं। आप जन्मसे श्वेताम्बर स्थानकवासी हैं।

नाम फूलचन्द कोटेचा। पिताका नाम—जसराजजी कोटेचा। उम्र २२ वर्ष। श्रेणी—जैन पाक्षिक। मु० पो० चौसाला। ता० जि० बीड़ (निजाम स्टेट)।

उपर्युक्त सेठजीके प्रयत्नसे निम्नलिखित भाई अनुमोदक बने हैं—

(२८) जेठमल भीकचन्दजी काकडे मु० पोस्ट बार्शी।
(२९) बालचन्द जीवराजजी महता बार्शी
(३०) ईश्वरीप्रसाद वर्मा। ·· नयार (अलीगढ़)

आपके पिताका नाम और गाँवका नाम स्पष्ट नहीं पढ़ा जा सका।

प्रचार-कार्य।

जिन सज्जनोंको सत्य-समाजके नियमादि स्वपर-कल्याणकारी मालूम हों उनका कर्तव्य है कि वे यथाशक्ति इसका प्रचार करके इसे ऐसी दृढ़शक्ति बनावें जिससे यह मनुष्यजातिकी मानसिक सामाजिक आदि बीमारियोंको हटानेमें शीघ्रसे शीघ्र अधिक से अधिक काम करसके। मुझे सन्तोष है कि जो सज्जन सदस्य बने हैं वे इसका अच्छा प्रचार कर रहे हैं। श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजीका प्रयत्न स्मरणीय है। तथा पण्डित सूर्यभानुजी भी जो प्रयत्न कर रहे हैं वह भी बहुत क़ीमती और आशातीत है। श्रीयुत किशनदासजीके पत्रसे आपकी प्रयत्नशीलताका परिचय मिलता ही है परन्तु अभी हमें दूसरा पत्र भी मिला है जिससे उनकी सत्यभक्ति तथा प्रयत्नशीलताका खासा परिचय मिलता है। यह रहा वह पत्रः—

“ ···· ‘सत्यसमाजसंघटना और नियमावलि’ लेकर ठिकानेके राजकुमार साहिब—मेयोकालिजके १०–१२ वर्ष पुराने डिपलोमा—श्रीयुक्त शेरसिंहजी बहादुरके पास गया। उद्देश्य और नियमोंको सुनकर उनने अत्यन्त प्रसन्नता प्रगट की और फरमाया कि संस्थापक कौन हैं? आपकी प्रतिभाका परिचय देकरके उन्हें ‘जैनजगत’ के दो तीन प्रबन्ध सुनाये। सर्वज्ञत्वकी मीमांसा उन्हें बहुत जँची। सर्वज्ञके वास्तविक अर्थके व्यावहारिक दृष्टान्त मैंने रट रक्खे थे और चार पाँच उसी तरहके और बनाकर सुनाये तो उनके मुखसे एकदम निकल पड़ा कि ‘बिलकुल ठीक’। तत्पश्चात् मैंने उनको नाम [illegible] बाद पाक्षिक मंदिरकी रचनाके बारेमें कहा तो उन्होंने उक्त शैली की प्रशंसा करते हुए फर्माया कि यह समाज बहुत चलेगा और संस्थापकका परिश्रम बहुत सफल होगा। विधवाविवाहका भी आपने समर्थन किया। परन्तु ‘जाति उपजातिका मोह’ शब्द सुनकर आप चौंके से और कह पड़े कि यह तो आर्यसमाजकी नकल है। मैंने कहा—सत्यसमाज और आर्यसमाजमें पूर्व

पश्चिमका अन्तर है। जहाँ आर्यसमाज सब धर्मों का खंडन करके वैदिक साहित्यपर ही सीमित रहा वहाँ सत्यसमाज सब धर्मोंका समन्वय कर अपने वर्षोंके प्रबलतम अनुभवमें वैज्ञानिक सत्यका दर्शन करायगा और विशालताकी पराकाष्ठा प्राप्त करता हुआ उदारतम सिद्धान्तोंका अन्वेषण करेगा। जाति पाँतिके विषयमें मैंने कहा कि सत्यसमाजके संस्थापकका यह उद्देश नहीं है कि योग्यता और गुणका विचार न करके अनावश्यक और हानिकर समता का प्रचार किया जाय। सबसे पहले वे हमको मनुष्य बनना सिखाते हैं। उन मनुष्योंमें जिनको हम नीच समझते हैं, मानवताका व्यवहार करें, उनके गुणोंकी क़ीमत करें। जैसे एक स्त्रीके दो गहने हैं, एक सिर का बोर और दूसरे सोनेका लंगर। सिरका बोर यद्यपि सिर पर धारण करने योग्य है, क्योंकि उस का घाट इसी प्रकार घड़ा गया है तो भी यह हम जानते हैं कि नीचे स्थानपर पहने जाने वाला लंगर भी सोना ही है और उसकी क़ीमत उस बोरसे भी अधिक है। उसी तरहसे पूर्वजन्मके शुभकृत्योंसे आप श्री राजा हुए हैं, परन्तु यदि आप इस समय अनुचित कर्तव्य करें तो इसकी अपेक्षा उत्तम आचरण युक्त शूद्रकी कीमत अधिक होगी। इसीप्रकार हमें व्यवहार क़ायम रखते हुए भी नीच समझे जानेवाले भाइयोंकी क़ीमत उनके गुणोंके अनुसार अवश्य करनी चाहिये। इस प्रकार पौने घंटे तक बराबर संगति रही।"

"और भी अनेक श्रीमानोंसे चर्चा की है। बहुत से लोग आपको जानते हैं, फिर भी आपकी प्रतिभा और विलक्षणताको वे नहीं छू पाते। उन्हें खबर भी नहीं है कि हमारी समाजमें भी ऐसे रत्न हैं। आपकी बातें सुनकर पहिले तो वे आश्चर्य करते हैं, परन्तु जब उन्हें आपकी युक्तियाँ और प्रमाण सुनाये जाते हैं तब स्तम्भित होजाते हैं और आपकी महत्ता और विचारकता पर दंग रहजाते हैं। आप की युक्तियाँ इतनी प्रबल हैं कि उनका सन्तुलन करा-ने की हमने बहुत कोशिशकी परन्तु हम ज़राभी सफल नहीं हुए। बहुत सोचा कि इनका कुछ उत्तर बनजाय परन्तु बनता ही नहीं।"

"...पुराने परन्तु बहुत ठँसे हुए विचारोंको खोद बहाना सरल नहीं है। महान तपस्या और आत्मत्यागकी आवश्यकता अनिवार्य है। इन पुराने रोगोंका इलाज धीरे धीरे होगा और आपके बाद यह समाज और भी विशाल सेवा करके बतायगा जिस का मज़ा आप न देख सकेंगे।"

"अमरोहाके रघुवीरशरणजीने आपको unquestionable authority लिखा है। मैं मानता हूँ कि आपके प्रति उनकी यह भावना पर्याप्त महत्वसूचक है। मैं भी उसका समर्थन करता हूँ। —सूर्यभानु।

अपनी अपनी योग्यता और परिस्थितिके अनुसार प्रत्येक सत्यप्रेमीको सत्यसमाजके उद्देशोंका प्रचार करना चाहिये।

जैनजगत् का नाम।

इस विषयमें बहुतसी सम्मतियाँ आई हैं, जो पाठकोंकी सेवामें रक्खी जा चुकी हैं। इस विषयमें श्रीमान सेठ सुगनचंदजी लुणावत ज़मींदार धामनगाँवसे लिखते हैं—

सत्यसमाज, सत्यजगत् सत्यसेवककी बजाय 'सत्यसंदेश' नाम मुझे जँचता है। सत्यजगत् यह नाम भी योग्य है।

ब्र० चैतन्यजी बनारससे लिखते हैं कि मुझे 'सत्य-सेवक' नाम प्रिय है, फिर कोई भी रख सकते हैं।

विविध विषय।

(ले०—श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी)

पतितोंकी शुद्धिका कार्य।

ता० ६ दिसम्बरके जैनमित्रमें प्रकाशित हुआ है कि "न्यायाचार्य पं० गणेशप्रसादजी वर्णीने बुन्देलखंड प्रान्तमें भ्रमणकरके विनैकयार का सिपतितोंकी

शुद्धिका कार्य हाथमें लिया है। अभी तक अनेक जातिपतितोंको शुद्ध किया है, अनेकोंका मन्दिर खुलासा कराया है और अनेकोंका उद्धार किया है। अभी आप ता० २५ नवम्बरको जनारा पधारे थे। यहाँ भाई कान्हूरामजीको जो बिनैकया होगये थे, पंडितजीके उपदेशसे पंचोंने जिनदर्शनकी खुलासी करदी है। पहलेभी एक बिनैकावार भाईको यहाँकी पंचायत शुद्ध करके धार्मिक सामाजिक अधिकार दे चुकी है।" इस समाचारसे यह स्पष्ट नहीं होता कि जिन भाइयोंको शुद्ध किया गया है उनको सामाजिक अधिकार क्या दिये गये हैं। दस्साओं या बिनैकया भाइयोंको जैन मन्दिरमें जाने देना या दर्शन करने देना यह तो अब एक बिल्कुल मामूली बात होगई है, प्रायः सर्वत्र ही जिनदर्शनका प्रतिबन्ध उठा लिया गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उन्हें सामाजिक अधिकार भी दिये जाते हैं? सामाजिक अधिकारका अर्थ तो यह है कि अन्य अपतितों या कुलीन कहे जानेवालोंके साथ वे भोजनव्यवहार आदि बराबरी के नातेसे कर सकें, उन्हें नीच या छोटा न समझा जाय। अन्यथा सामाजिक अधिकार देनेका या शुद्ध कर लेनेका कोई अर्थ नहीं। वर्णीजीका बुन्देलखण्ड में काफी प्रभाव है, उनमें बिनैकया भाइयोंके प्रति सहानुभूति भी है। यदि वे चाहें और अपने विचारों को निर्भय होकर प्रकट कर सकें तो हमें विश्वास है कि उनके द्वारा यह एक बड़ा भारी कार्य होसकता है।

शारदा-कानूनको काममें लाओ।

शारदा क़ानूनको अमलमें आये बरसों बीत गये, परन्तु उसका उपयोग सुधारकोंकी अलसता और कायरताके कारण प्रायः नहींके बराबर हो रहा है। लोगोंको मालूम होगया है कि इस क़ानूनको भंग करनेसे सजाएँ होती हैं और जुर्माने होते हैं; फिर भी वे देखते हैं कि कोई इसकी तरफ ध्यान नहीं देता है और बराबर बालविवाह हो रहे हैं। इसलिए वे भी मौक़ा देखकर, डरते हुए भी ऐसे विवाह कर डालते हैं, उनमें साहस आजाता है। एककी देखादेखी दूसरा कर डालता है, और दूसरेको देखकर तीसरा। जो लोग बालविवाहके विरोधी होनेका दम भरते हैं, उनसे इतना भी नहीं होता है कि सौ रुपयाकी जमानत देकर ऐसे विवाह करनेवालोंके विरुद्ध मामला चलवा दें। इस विषयमें वे अपना कोई कर्तव्य ही नहीं समझते हैं। न यह कोई बड़े स्वार्थत्यागका काम है, और न इसके लिए किसी बड़ी भारी झंझटमें ही पड़ना पड़ता है; फिर भी सुधारकमन्य हाथ पर हाथ रक्खे हुए बैठे रहते हैं। यदि प्रत्येक जिलेमें एक एक ही ऐसी सभा स्थापित हो जाय, जो वर्ष भरमें चार छह मामले ही शारदाकानूनका उल्लंघन करनेवालोंके विरुद्ध चलवा दे, तो सारे ज़िलेमें तहलका मच जाय और बालविवाह बिल्कुल रुक जायँ। क्या हम अपने समाजके नवयुवकोंसे और युवकसभाओंसे यह आशा करें कि वे इस कामको अपने हाथमें लेंगे और देशके बल वीर्यका सत्यानाश करने वाले और जीवनीशक्तिका ह्रास करने वाले बालविवाहका प्रचार रोककर पुण्यभागी बनेंगे?

परिषदके भेलसा अधिवेशनमें पास हुए मुख्य प्रस्तावोंका सार।

प्र० नं० ३—श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्द्रजीने भेलसामें जैन हाईस्कूल खोलनेको ५००००) का दान किया है, जिसमें जैनधर्मकी शिक्षा अनिवार्य होगी, अतः परिषद् आपको 'दानवीर' के पदसे सुशोभित करती है।

प्र० नं० ४—(१) यह परिषद् बा० श्यामलालजी जैन एडवोकेट रोहतक तथा सेठ भागचन्द्रजी सोनी अजमेरको असेम्बलीके चुनावमें सफल होने पर, (२) मि० लक्ष्मीचंद्रजी जैन और मि० चंडीप्रसादजी जैनको आई०सी०एस० होनेपर, (३) श्री० लेखवती जैन अम्बालाको एम०एल०सी० तथा श्री०विद्यावती देवी नागपुरको म्यू० मेम्बर होनेपर बधाई देती है।

प्र० नं० ७—मरणभोजकी प्रथा धर्म और समाजकी घातक है, अतः बन्द करदी जाय।

प्र० नं० १०—मन्दिरके द्रव्यका मन्दिरके खर्चके अतिरिक्त तीर्थरक्षा, शास्त्रप्रचार तथा अन्य आवश्यक कार्योंमें भी उपयोग किया जाय।

प्र० नं० ११—गत वर्षके १७ वें प्रस्तावकी पुनरावृत्ति की जाती है कि किसी भी अपराधमें दोषीका मन्दिर-व्यवहार बन्द न किया जाय।

प्र० नं० १९—जैन श्राविकाश्रम भेलसामें खोलनेको श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजीकी धर्मपत्नी श्री० शकरबाईने ७०००), आपकी माताजीने २०००)तथा ५०१) श्री० सेठजीने दिये हैं, तदर्थ धन्यवाद।

प्र० नं० २०—परिषदकी सरकारसे रजिस्ट्री करा ली जाय।

अस्पृश्यताके विषयमें स्वागत-सभापति श्रीमान सेठ तखतमलजी जैन वकीलके उद्गार—

"मित्रों! मैंने धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन नहीं किया, न मैं धार्मिक दृष्टिसे इस सम्बन्धमें जोर देकर कुछ कहना चाहता हूँ। मैं तो अस्पृश्यताको पारलौकिक धर्मका अंग माननेके लिये भी तैयार नहीं हूँ। मैंने धर्म पण्डितोंके लेख अस्पृश्यताके पक्ष और विपक्षमें बहुतसे पढ़े हैं। नैयायिक या पण्डित लोग अपने अपने मतोंका प्रतिपादन करके लोगोंको अपनी वाचालशक्तिसे गुमराह भले ही कर सकें मगर मेरे खयालसे तो जिसको थोड़ीसी भी बुद्धि है, जिसने जगतमें फैली तरह तरहकी अस्पृश्यताको अपनी आँखों देखकर उसके मूल कारणोंका अध्ययन किया है, वह यह कहनेमें कभी नहीं सकुचा सकता कि अस्पृश्यता जैसी कोई वस्तु, सिवाय आग बिजली वगैरह चीजोंके जिनके छूनेसे तात्कालिक बुरा फल मिलता है, संसारमें नहीं है।

बन्धुओं! मैं इस अस्पृश्यताके ढकोसलेके थोड़े से उदाहरण आप लोगोंके सामने रखना चाहता हूँ, जिससे आपको पता लग जायगा कि यह अस्पृश्यता स्वार्थी मनुष्योंकी कृति है। ईश्वरीय या प्रकृतिके नियमोंसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर या प्रकृतिके नियम जीवमात्रके लिये एकसां हैं। जैसे सूरज, चाँद, आकाश, वायु अग्नि, जल, पृथ्वी वगैरा वगैरा। इन सब चीजोंका उपयोग जीवधारी मात्र एकसा करते हैं। अब आप कृत्रिम अस्पृश्यताको लीजिये:—

१—मदरास प्रान्तमें ऐसा रिवाज है कि अस्पृश्य लोग उच्चवर्णके मनुष्योंसे एक निर्दिष्ट स्थानकी दूरीके अन्दर आजावें तो उच्चवर्णीय महाशयको अशौच होजाता है और उनको जनेऊ बदलकर और पंचगव्य लेकर अपनी शुद्धि करना पड़ती है। मगर भारतवर्षके दीगर प्रान्तोंमें जबतक अस्पृश्यको न छुये कोई अशुद्धि नहीं मानी जाती।

२—सी० आई, सी० पी० वगैरा प्रान्तोंमें अस्पृश्य लोग मकानोंके अन्दर नहीं जासकते। टट्टियें झाड़नेके लिये मकानोंके बाहर संडास रक्खे गये हैं। अगर कभी पाखानेके अन्दर सफाई करना पड़े तो सारा हिस्सा पानीसे धोकर शुद्ध किया जाता है। बरखिलाफ इसके पंजाबमें मकानोंकी छतोंके ऊपर कदमचे रखकर पाखाने बनाये जाते हैं, और मेहतर लोग मकानोंके अन्दरके जीनोंसे जिनसे मकान मालिक आता जाता है, छतोंपर पाखाना साफ करनेके लिये आते जाते हैं और कोई शुद्धि नहीं की जाती।

३—बहुतसे स्थानोंपर, और जगह जाने दीजिए खास जिला भेलसामें, बहुतसे गाँवोंमें मेहतर लोग उच्च जातिके इस्तेमालके कुँवोंसे पानी नहीं भरसक्ते। कुछ गाँव इसी जिलेमें ऐसे भी हैं कि जहाँ मेहतर और उच्च जातिके लोग एकही कुँएसे पानी भरते हैं।

४—बहुतसे प्रान्तोंमें चमारोंको भी अस्पृश्य समझा जाता है, मगर वही चमार जब जूते बनानेका पेशा छोड़कर सिलावट या दीगर कोई पेशा करने लगता है तो अस्पृश्य नहीं समझा जाता और उसके लिये हमारे देवालय तक खुल जाते हैं।

मित्रों! क्या मदरास प्रांतके जैनधर्म और वैष्णवधर्मके अनुयायियोंसे पंजाब प्रान्तके अनुयायी भिन्न हैं?

क्या एक ही जिलेके एक गाँवके सनातन धर्मी या जैनी मेहतरोंके कुँएसे पानी भरनेसे बिगड़ जाते हैं, जब कि उनके पड़ौसमें लगे हुए दूसरे गाँवका रहने वाला उन्हींका भाई उसी हालतमें शुद्ध बना रहता है ? क्या मेलेठेलोंके मौक़ेपर रेलमें और मोटरोंमें अस्पृश्य लोगोंके छू लेनेपर भी किसी उच्चवर्णीयको उसके खाने पीनेका सामान अथवा कपड़े फेंकते देखा है ? क्या साहब लोगोंके घरोंमें मेहतरोंकी आमदरफ्त अपनी आँखोंसे देखनेके बाद भी हम लोग साहब लोगोंसे हाथ मिलाकर अपना अहो-भाग्य नहीं समझते ? क्या रेलसे आई हुई दवाइयों की बोतलें और सोडावाटर बड़ेसे बड़े सोलाधारी गटकनेमें कभी हिचकते देखे हैं ? क्या हम आँखोंसे यह बात नहीं देखते कि रेलसे आई हुई वस्तुएँ अस्पृश्य लोग ज़रूर छू लेते हैं ? क्या विलायती दवाइयोंमें अंग्रेजोंके हाथके पानीका मिश्रण नहीं है ?

और क्या क्या आप लोगोंको गिनाऊँ ? इन सब बातोंको जान बूझकर करते हुए लोगोंकी आँखोंमें धूल डालकर सुधारकोंके अस्पृश्यता मिटानेके कार्यों की घोर निन्दा की जाती है !

जैन समाजमें अस्पृश्यता यहाँतक फैल गई है कि ये अपने साधर्मी भाइयोंको मन्दिर तकमें देव दर्शनके लिये प्रवेश नहीं होने देना चाहते। ज़रा इस बुद्धिमत्तापर तो ग़ौर फरमाइये कि जिस मंदिर में अन्य धर्मावलम्बी लोग बिना रोक टोक बिला लिहाज़ जात पाँत आते हैं, उसी मन्दिरका दरवाज़ा जैन भाइयोंके लिये बन्द है !"

Under Section 19, clause (2), of the Provincial Insolvency Act, V of 1920, notice is hereby given to all the creditors concerned that the following petitions have been admitted and are fixed for hearing on the dates shown against them. Creditors wishing to urge any objections may do so on the dates fixed for hearing :-

No. of insolvency case	Date of presentation of petition	Name, address and description of debtor	Names of creditors stated in the petition	Date of admission of petition	Date fixed for hearing
IN THE COURT OF THE FIRST SUBORDINATE JUDGE 2nd CLASS, AMRAOTI					
196/34.	24-9-34	Kisanrao S/o Hanmantrao Marathe age 45 of Khar Talegaon Taluq Amraoti	1 Yeshwantrao S/o Baswantrao Marathe age 50. 2 Ramgopal S/o Narsingdas Marwari age 50. Both of Khar Talegaon Taluq Amraoti.	24-9-34	15-3-35.
109/34	17-8-34	Raghoba Laxman Krishna pant age 60 of Mangrul Dastagir Taluq Chandur.	1 Purushottam Wasudeo Brahman age 47. 2 Nathmal S/o Sheolal Marwari. Both of Mangrul Dastagir Taluq Chandur.	17-8-34.	22-2-35.

[illegible] 8-1-1935

(Sd.) J. P. JAIN,
First Sub-Judge II Class, AMRAOTI.

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. **Reg: No. N. 352.**

वर्ष १० | ता० १ फरवरी

सन् १९३५ | अंक ५

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न बुद्धे न हरे हरौ।
सर्वतीर्थकृतामस्माकम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—सा० र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।
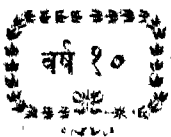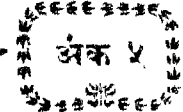
प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

ग्रीष्म-प्रवासकी सूचना।

प्रतिवर्षकी तरह इस वर्ष भी मैं ग्रीष्मके अवकाशमें अपने विचारोंके प्रचारके लिये निकलूँगा। युक्तप्रान्तसे कुछ निमन्त्रण आये हैं। गतवर्ष भी कुछ निमन्त्रण आये थे। परन्तु मैं जा नहीं पाया था, इसलिये इस वर्ष युक्तप्रान्तमें भ्रमण करनेका विचार है। जहाँ पर मेरे विचारोंसे सहानुभूति रखने वाले थोड़े बहुत सज्जन हों, वे मुझे अभीसे सूचित करें, जिससे प्रोग्राम बनानेमें सुभीता हो। निमन्त्रण देने वाले सज्जनोंपर ठहरने आदिके सिवाय रेल खर्च आदि का भार न पड़ेगा। हाँ, प्रकाशन तथा प्रचारके विविध साधनोंके लिये वे यथाशक्ति जितनी सहायता करसकें उतना अच्छा है। परन्तु इसमें विवशताका कारण नहीं है।

गतवर्ष कुछ निमन्त्रण पीछेसे मिले थे, इसलिये प्रोग्राममें गड़बड़ी होगई थी और कहीं मैं पहुँच भी नहीं पाया था। इसलिये जितनी जल्दी निमंत्रण आवें उतना ही अच्छा है।

भ्रमण साधारणतः १५ अप्रेलसे १५ जून तक होगा। इस समयमें अगर कहींके भाइयोंको कोई अमुक दिन प्रचारके लिये सुविधाजनक या असुविधाजनक मालूम हों तो वे मुझे अभी से सूचित करदें। आगे पहिले उन्हें पहुँचनेकी सूचना दीजायगी। उसका उत्तर अवश्य दें, क्योंकि निमन्त्रण देनेके और मेरे पहुँचनेके समयमें महीनोंका अन्तर रहता है, इस बीचमें बहुतसी परिस्थितियाँ बदल सकती हैं, इसलिये उस समयके पत्रका उत्तर देना अत्यावश्यक है। गतवर्ष ऐसी भूल होनेसे एक स्थान रह गया था।

गतवर्ष जिनके यहाँ का निमन्त्रण आने पर भी नहीं पहुँच पाया था वे अगर उचित समझें तो इस वर्ष फिर सूचना भेजदें।

बम्बईसे कानपुर की तरफ जानेके लिये दो मार्ग हैं। उनमें से जी० आई० पी० के मार्गसे मैं जाऊँगा, और अगर आवश्यकता होगी, तो बी० बी० सी० आई० के मार्गसे लौटूँगा। इसलिये दोनों लाइनोंके बीच के या आसपासके जिन स्थानोंके भाई मेरा उपयोग करना चाहें वे मुझे सूचित करें। —सम्पादक।

"जैन धर्मका मर्म" को छपानेकी योजना।

इस लेखमालाको पुस्तकाकार छपानेकी आवश्यकता है। हर्षकी बात है कि इस उपयोगिताको

समझकर श्रीमान् सेठ सुगनचंदजी लुणावत धामनगाँव ने २५१) रु० और श्रीमान सेठ राजमलजी ललवानी जामनेरने २५०) देनेकी कृपाकी है। इसके लिये उपर्युक्त दोनों उदारचेता महानुभावोंको जितना धन्यवाद दिया जाय उतना ही थोड़ा है। परन्तु पूरी लेखमालाको छपानेके लिये दोहजार रुपयोंकी आवश्यकता है, और अभी लेखमाला पूरी तैयार भी नहीं है इस लिये यह उचित समझागया है कि प्रारम्भके तीन अध्याय छपादिये जाँय। मुझे उनमें परिवर्तन और परिवर्धन करना है। समय मिलते ही वह काम शुरू कर दिया जायगा, और जहाँ तक होगा शीघ्रही लेखमालाका प्रथम भाग पाठकों को मिलसकेगा। क़ीमत करीब लागतमात्र रहेगी। जो उदारचेता पाठक उसकी अधिक कापियाँ लेकर प्रचार करना चाहें वे अभीसे प्रकाशकजीको या मुझे सूचित करदें तो सुभीता रहेगा।

चौधरी धर्मचन्द्रजी।

ता० ८-१२-३४ के 'वीर' में चौधरी धर्मचंद्रजी पर भाई कामताप्रसादजीने कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। एक दृष्टिसे मैं उनका स्वागत भी कर सका! चौधरीजीको मैंने दो एक-बार सुना है। मैं उनको नहीं के बराबर जानता हूँ। इसलिए मेरा तात्पर्य यह नहीं कि मैं कहूँ, वह श्रद्धेय नहीं है या है। उनके व्याख्यान सुनकर मैं प्रशंसा कर सका हूँ। साफ बोलते हैं और उन्हें मालूमात काफी हैं। मतमतांतरोंकी और विज्ञानकी स्फुट मान्यताएँ वे जानते हैं। उद्धरणों और विभिन्न पारिभाषिक शब्दावलियोंसे उन्हें अच्छा परिचय है। अच्छा बोलते हैं, अच्छा रहते हैं। लेकिन मुझे संदेह है कि जब वे "चौबीस नक्षत्रोंसे चौबीस तीर्थङ्कर सिद्ध करते हैं; वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओंसे जैन भूगोलका समीकरण करते हैं; विज्ञानसे दिव्य-ध्वनि सिद्ध करते हैं; आदि आदि" तब उसमें धर्म रहता है। सुनकर मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा कि उसमें लेश भी धर्म है। हाँ, बातें सुनने लायक जान पड़ीं और वैसा अच्छा लगा जैसा खिलाड़ीको सर्कसमें खेल करते देखकर अच्छा लगता है। उन कसरतोंपर हमें विस्मय होता है, आत्मा आर्द्र नहीं होती। और जहाँ तक धर्मका सम्बन्ध है, मुझे कहना है, वह सब शब्दोंकी कारीगरी है, और व्यर्थता है। यों अच्छा शग़ल है और अच्छा व्यसन है, किन्तु हम भूलें नहीं, धर्मके लिहाज़से वह कोरी व्यर्थता ही है। धर्मसे उतनी ही दूर है, जितनी दूर शतरंजका खेल। मैं कभी नहीं चाहूँगा कि धर्मचन्द्रजी जराभी कम अच्छे खिलाड़ी बनें और विज्ञानभरे भाषण न दें। लेकिन मैं चाहूँगा कि जब वे धार्मिकवक्ता हैं तब कुछ धर्मकी ओर भी बढ़ा करें, शास्त्रीयतामें ही न रहें। चौधरीजीको मालूम होना चाहिए कि मैं उनकी बातकी सफाईका प्रशंसक हूँ, और इसीलिए मैं चाहता हूँ कि वह कुछ धर्म भी पाएँ और हमें दें। नहीं तो विज्ञानकी शब्दावलीसे पोषित शाब्दिक शास्त्रीयता धर्मका अपलाप भी होसकती है, मिथ्यात्व भी हो सकती है।

मुझे चाह है कि भाई कामताप्रसादजी चौधरीजीके प्रति अपनी प्रशंसाका देय देकर 'वीर' द्वारा अपनी ओरसे भी यह माँग करेंगे कि चौधरीजी अपने भाषणोंमें कसरत चाहे कम दें (और इससे निःसन्देह श्रोताका अनुरंजन कम होगा) पर, वास्तव धर्म अधिक दिया करें। —जैनेन्द्रकुमार।
७ दरियागञ्ज, दिल्ली। १०—१२—३४।

प्राप्ति स्वीकार।

जैनजगतके लिये निम्नलिखित सहायता प्राप्त हुई है:—
१०) श्री० पं० अजितप्रसादजी ऐडवोकेट लखनऊ
१०) ,, सेठ गुलाबचन्दजी टोंग्या इन्दौर
५) ,, बाबू पन्नालालजी जैनाग्रवाल देहली
उपरोक्त महानुभावोंको इस उदारताके लिये अनेकानेक धन्यवाद। —प्रकाशक।

आवश्यकता है।

"गाँधी" छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेंटोंकी ज़रूरत है। एजेंसी की इच्छा रखने वाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।
—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।

वर्ष १०

माघ कृष्णा १३
वीर संवत् २४६१

जैनजगत्

अंक ५

ता० १ फ़रवरी
सन् १९३५ ई०

भगवान् सत्य !

मैंने चाहा तेरा प्यार
इसीलिये तेरे चरणों को ढूँढ़ फिरा संसार ॥मैंने॥
मन्दिर, मसजिद, गिरजाघर में
वन, उपवनमें, डगर डगर में
ढूँढ़ फिरा, पा सका न लेकिन तेरा कहीं निशान ।
तू तो था सब जगह, मगर था मुझे न इतना ज्ञान ।
इससे हुआ न तेरा साथ
तेरी पद-रज लगी न हाथ
निज-पर सुख कुछ हाथ न आया, हुई ज़िन्दगी भार ।
मैंने चाहा तेरा प्यार ॥ १ ॥

मैंने चाहा तेरा प्यार
छोटा सा मैं जन्तु और यह है अनंत संसार ॥मैंने॥
जगह जगह ढूँढ़ा है तुझको
पर, पथ का था ज्ञान न मुझको
चिल्ला चिल्ला थका सर्वदा बजा बजा कर ढोल
तू भी हँसता रहा, न बोला—भीतर ज़रा टटोल
तो भी रहा मान में चूर
ढोंगी, कुटिल, काल सम क्रूर
तेरा झूठा नाम सुना कर चकित किया संसार ।
मैंने चाहा तेरा प्यार ॥ २ ॥

मैंने चाहा तेरा प्यार
छलकरनेमें छला गया मैं बनकर मूर्ख गमार ।मैंने।
समझा था तुझको छलता हूँ
अब समझा मैं ही जलता हूँ
तुझको धोखा देना ही था धोखा खाना आप ।
जब समझा तू मनमें बैठा देख रहा सब पाप ॥
मेरा चूर हुआ अभिमान
तेरी देख पड़ी मुसक्यान
तेरे चरणों पर बरसाने लगा अश्रु की धार ।
मैंने चाहा तेरा प्यार ॥ ३ ॥

मैंने चाहा तेरा प्यार
तेरा आशीर्वाद मिला तब सूझ पड़ा संसार ॥मैंने।
जाति पाँति का मोह छोड़ कर
ऊँच नीच का भेद तोड़ कर
आया तेरे पास, दिखाया तूने अपना ठाठ
सर्वधर्म सम-भाव, अहिंसा का सिखलाया पाठ
मैंने पाया सत्य-समाज
जिसमें था तेरा ही साज
हुआ विश्वमय, विश्वबन्धु मैं तेरा खिदमतगार
मैंने चाहा तेरा प्यार ।

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

जैनधर्मका मर्म ।

(५८)

दशधर्म ।

दशधर्मके रूपमें भी चारित्रका वर्णन किया जाता है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य ये दशधर्म कहलाते हैं। ये दशधर्म अहिंसादिक पाँच व्रतोंके लिये साधक हैं। इनके पालनसे अहिंसादिकके पालनमें सुभीता होता है। अहिंसादि व्रतोंके वर्णन करनेमें इन दशधर्मोंका वर्णन होजाता है, परन्तु स्पष्टताके लिये इनका अलग वर्णन किया जाता है। यहाँ उनके विस्तृत वर्णनकी आवश्यकता नहीं है, सिर्फ दिशानिर्देश मात्र किया जाता है।

क्षमा—क्रोधका त्याग करना क्षमा है। इसका साधारण अर्थ विदित ही है। अहिंसाके पालन करने के लिये यह बहुत उपयोगी धर्म है। इसका पालन तो हरएक प्राणी कर सकता है परन्तु जब वीरता—शक्तिशालिता—समर्थताके साथ इसका सम्बन्ध होता है तब इसकी क़ीमत बहुत बढ़ जाती है।

प्रत्येक गुणके पहिचाननेमें दो कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि कोई दुर्गुण बाहरसे उस गुणके समान मालूम होने लगता है; दूसरा यह कि कभी [illegible] गुणका बाहिरी रूप वैसा ही प्रगट नहीं होता है जैसा कि साधारणतः प्रगट होना चाहिये। ये दोनों कठिनाइयाँ क्षमाके विषयमें भी हैं।

कभी कभी मनुष्य, भयसे, विवशतासे या कायरता से क्षमाका ढोंग करता है, परन्तु [illegible] निर्वैर नहीं होने पाता। इसका नाम क्षमा नहीं है। क्षमता रहने पर भी बदला न लेना क्षमा है। यद्यपि बदला लेनेकी शक्ति न होनेपर भी क्षमा रक्खी जासकती है, परन्तु शर्त यह है कि उसके दिलमें से बदलालेने की भावना बिलकुल निकल जाय; फिर भी दुनियाँ को उसका मूल्य तभी मालूम होता है जब कि उस के पीछे क्षमता होती है। कभी कभी मनुष्य स्वार्थ-वश पक्षपातवश क्षमाका ढोंग करके अन्याय और अत्याचारमें व्यक्त या अव्यक्त रूपमें सहायक होता है। यहाँ भी क्षमा न समझना चाहिये। अगर अत्याचारको रोकनेके लिये दंड देनेकी ही आवश्यकता हो तो क्षमाको धारण करते हुए भी दंड दिया जासकता है। उदाहरणार्थ म० रामचन्द्रने रावणको दंड दिया, परन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जासकता कि म० रामचन्द्र क्षमाशील न थे। अगर रावण अपराध स्वीकार करके सीता वापिस देदेता तो म० रामचन्द्र ज्योंका त्यों उसका राज्य छोड़ देनेको तैयार थे। इसलिये म० रामचन्द्र और म० महावीर, म० बुद्ध आदिकी क्षमाशीलतामें कोई अन्तर था, यह बात नहीं कही जासकती। जो अन्तर दिखलाई देता है वह हृदयकी वृत्तिका नहीं, किन्तु परिस्थिति का है। इसप्रकार जीवनमें ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कि हृदयमें क्षमा होने पर भी लोककल्याणके लिये या दंडनीय व्यक्तिके कल्याणके लिये दंडकी आवश्यकता होती है। दुःख इतना ही है कि साधारण लोगोंको यह समझना कठिन हो जाता है कि वास्तवमें यहाँ क्षमा है, या क्षमाभास है।

बाह्य अहिंसा किस प्रकार हिंसा होती है, और बाह्यहिंसा भी वास्तवमें किसप्रकार अहिंसा होती है, इस विवेचनमें जिस तरह विचार कियागया है, वैसा ही विचार यहाँ क्षमाके विषयमें भी करलेना चाहिये। क्षमा भी अहिंसा धर्मका एक भाग है, किन्तु कोमल और सुन्दर भाग है।

यद्यपि दंडको भी अहिंसाके भीतर स्थान है, फिर भी बहुतसे अवसर ऐसे आते हैं जब वैरकी परंपरा को दूर करनेके लिये या स्थायी शांतिके लिये क्षमा ही एक अमोघ उपाय रहजाता है। यदि मनुष्य सर्वत्र बदलेकी नीतिसे काम लेने लगे तो संसारमें दुःखोंकी वृद्धि कईगुणी होजावे और उसे कभी शान्ति न मिले। सिंह अगर मच्छरोंका शिकार करने लगे तो इससे उसका पेट तो न भरेगा, किन्तु

उसकी इतनी शक्ति बर्बाद होगी कि वह अधमरा हो जायगा। सफलता और शान्तिके लिये अनेक उपद्रवोंको सहन करके ही हम अपनी शान्तिकी रक्षा कर सकते हैं, तथा दूसरोंको भी सुमार्ग पर लगा सकते हैं। अनेक दुष्ट और क्रूर प्राणी जो कि किसी भी प्रकारके दंडसे नहीं सुधर सके, या दंडित नहीं किये जासके, वे क्षमासे सुधर गये। कोई कोई चीज़ पानीसे गलती है, और कोई कोई चीज़ अग्नि से गलती है। अपने अपने स्थान पर दोनोंकी उपयोगिता है। इसी प्रकार कहीं दंडनीति काम करती है, कहीं क्षमा। एकके स्थान पर दूसरेसे काम लेनेसे अनर्थ हो जाता है। जिसप्रकार दंडके स्थानपर क्षमा काम नहीं कर सकती, उसीप्रकार क्षमाके स्थान पर दंड काम नहीं कर सकता। दंडकी उपयोगिता कभी कभी है, उसमें दंडनीयके सुधारकी आशा कम है, जबकि क्षमाकी उपयोगिता सदा है और उससे क्षम्य के सुधारकी आशा अधिक है। जहाँ तक होसके क्षमासे काम लेना चाहिये, किन्तु अन्यायको रोकने के लिये जब कोई दूसरा उचित उपाय न रहे तब दंडसे काम लेना चाहिये। क्षमा अपने स्थान पर क्षमा है और दूसरी जगह क्षमाभास है।

मार्दव—मान-अहंकार मदका त्याग करना अर्थात् विनय रखना मार्दव है। क्षमाके समान मार्दव के पहिचाननेमें भी कठिनाई है। चापलूसी और दीनताका मार्दवसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु कभी कभी ये मार्दवके आसन पर आ बैठते हैं, इसलिये इनसे सावधान रहना चाहिये। आत्मगौरव या गुण गौरव कभी कभी मार्दवसे विरुद्ध मालूम होते हैं, परन्तु बात बिलकुल उलटी है। वास्तवमें ये दीनता और चापलूसीके विरोधी हैं। कभी कभी मद भी आत्मगौरवका रूपधारण कर लेता है, जब कि आत्मगौरवसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। जैसे, मेरा देश, मेरी जाति, मेरा धर्म, आदि भावोंमें आत्मगौरव समझ लिया जाता है। कभी कभी इनमें आत्मगौरव होता भी है, परन्तु अधिकांश स्थानोंमें देश, जाति, धर्मके स्थानों पर मनुष्य 'मेरा' की पूजा ही करता है, उन बड़े बड़े नामोंकी तो सिर्फ़ ओट ली जाती है। अपना भाव मार्दव है कि मार्दवाभास, इस बातकी पहिचान शुद्धान्तरात्मा ही करसकता है, फिर भी एकाध बात ऐसी कही जा सकती है, जिससे मार्दव और मार्दवाभासकी पहिचान करनेमें सहायता मिल सके।

अपने देश, जाति, धर्म आदिकी प्रशंसा करते समय इस बातका विचार करना चाहिये कि यह प्रशंसा अपना महत्व बतलानेके लिये है कि किसी सत्य की रक्षा करने या अन्यायका विरोध करनेके लिये है। अपना महत्व बतलानेके लिये उपर्युक्त प्रशंसा अनुचित है। जैसे—कोई मनुष्य इसलिये हमारे देश की निन्दा करता है जिससे वह हमारे देशको गुलामी की जंजीरोंमें जकड़ सके या उसके अधिकार छीन सके, तो उसके विरोधमें अपने देशकी प्रशंसा की जाय तो यह आत्मप्रशंसा न होगी, क्योंकि इसका लक्ष्य दूसरोंको अपमानित करना नहीं, किन्तु न्याय की रक्षा करना है। परन्तु कोई मनुष्य अपना महत्त्व स्थापित करनेके लिये अपने देशकी प्रशंसा करता है, और दूसरोंको अनार्य, म्लेच्छ, असभ्य कहता है, दुनियाँ में अपनी जगद्गुरुताकी घोषणा करता फिरता है, तो यह आत्मगौरव नहीं, अहंकार है।

जो बात देशको लेकर कही गई है, वही बात प्रान्त, नगर, जाति, कुल, धर्म सम्प्रदाय आदिको लेकर भी समझना चाहिये। इतना ही नहीं, किन्तु व्यक्तिगत प्रशंसामें भी इसी ढंगसे विचार करना चाहिये। यदि अपने व्यक्तित्व की निन्दा इसलिये की जाती हो जिससे एक निर्दोष समूहका अवर्णवाद (झूठी निन्दा) हो, उसका उचित प्रभाव घट जाय, उसकी निस्वार्थसेवा निष्फल जाय, तो दूसरोंको नीचा दिखानेके लिये नहीं किन्तु इन सब भलाइयोंकी तथा सचाईकी रक्षाके लिये आत्मप्रशंसा करना भी उचित है।

सार इतना ही है कि जिस आत्मप्रशंसासे तथा

आत्मीयप्रशंसासे न्यायकी—सत्यकी रक्षा होती हो वह उचित है, और जो दूसरों पर आक्रमण करती हो वह अनुचित है। इस कसौटीसे मार्दव और मार्दवाभासकी परीक्षा होसकती है। मार्दव सत्यधर्म का एक अंग है।

आर्जव- ऋजुता—सरलता—मायाचारहीनताका नाम आर्जव है। इधरकी बात उधर कहना—जिसे कि व्यवहारमें चुगलखोरी कहते हैं—आर्जव नहीं है। इसी प्रकार जिह्वापर अंकुश न रख सकनेके कारण मनमाना बकवाद करना और असभ्यताका परिचय देना, फिर कहना कि—हमारा दिलतो साफ है; जैसा मनमें आता है वैसा साफ कहदेते हैं—यह भी आर्जव नहीं है। मनमें आये हुए दुर्भावोंको दबा रखना गुण है न कि दोष। उनका नाशकरना सर्वोत्तम है परन्तु अगर उनका नाश न होसके तो उन्हे मनमें ही रोक कर धीरेधीरे नाश करनेका प्रयत्न भी अच्छा है। आर्जव धर्मका नाश वहीं होता है जहांपर प्रतिहिंसा करनेके लिये भाव छिपाये जाते है। किसीको मारने के लिये तलवार छिपाकर रखना और चलती हुई तलवारको रोकलेना, इन दोनोंमें जैसा अन्तर है वैसा ही अन्तर मायाचारीसे हृदयके भाव छिपाने तथा मानसिक आवेगोंको रोक लेनेमें है।

आर्जव धर्मका यह मतलब नहीं है कि अपनी या दूसरेकी प्रत्येक बात दुनियांके साम्हने खोलकर रखदेना चाहिये। मतलब यही है कि किसीके साथ अन्याय करनेके लिये ऐसा आचरण न करना चाहिये जिससे वह धोखा खाकर अन्यायका शिकार बन सके। आर्जव धर्मके नामपर शिष्टाचार या सभ्यता को तिलाञ्जलि देनेकी जरूरत नहीं है, परन्तु यह याद रखनेकी सख्त जरूरत है कि अपने किसी व्यवहारसे दूसरा आदमी धोखा न खाजाय, ठगा न जाय।

सत्यधर्मके वर्णनकी भी बहुतसी बातें इस धर्मके स्पष्टीकरणमें सहायता पहुँचा सकती हैं। आर्जव, सत्यधर्मका मुख्य अंग है।

शौच लोभका त्याग करदेना शौच है। अपरिग्रह धर्मका यह प्राण है। कभी कभी लोग मितव्ययिताको लोभ समझ जाते हैं, और कभी कभी कंजूसीको मितव्ययिता समझकर आत्मसन्तोष कर लेते हैं। इसी प्रकार कभी कभी अपव्ययको शौच-धर्म समझ जाते हैं, और कभी कभी उदारताको अपव्यय समझ लेते हैं। शौच क्या है और शौचाभास क्या है, इसका निर्णय करना कठिन है। अन्तस्तलकी शुद्ध वृत्तियोंसे ही इसकी ठीक ठीक जाँच की जासकती है। फिर भी एकाध बात ऐसी कही जा सकती है जिससे शौच और शौचाभासके विवेकमें सहायता मिले।

अपव्यय और मितव्ययकी सीमा निर्देश करने के लिये साधारणतः यह समझलेना चाहिये कि आमदनीकी सीमाके बाहर खर्च करना अथवा ऋण लेकर खर्च करना अपव्यय है, और आमदनीके भीतर खर्च करना मितव्यय है। हाँ, अगर खर्च करनेका ढंग ऐसा है जिससे किसी दुर्गुणकी वृद्धि होती है तो आमदनीके भीतर खर्च करना भी अपव्यय है। अपव्ययका नाम शौच नहीं है और मितव्ययका शौचसे कोई विरोध नहीं है। किन्तु यहाँ यह बात भी खयालमें रखना चाहिये कि शौच धर्म अपरिग्रह व्रतका प्राण है, इसलिये मितव्यय इस सीमापर न पहुँच जाय कि उससे अपरिग्रह व्रतका भंग होने लगे। अपरिग्रह व्रतका पहिले वर्णन हो चुका है। उसकी रक्षा करते हुए शौचधर्मका पालन करना चाहिये

शौच शब्दका सीधा शब्दार्थ पवित्रता है। लोभ सब अनर्थोंकी जड़ है, पापका बाप है, इसलिये उसका त्याग शौच कहा गया है। परन्तु शौचके नाम पर बाह्य शौचको अधिक महत्त्व प्राप्त होगया है। खैर, शौच कोई बुरी चीज नहीं है, चाहे वह अन्तरंग हो चाहे बाह्य। परन्तु बाह्यशौचके नामपर छुआछूतके या शुद्धि अशुद्धिके अनेक रिवाज या नियम बनगये हैं, उनमें अधिकांश निरुपयोगी ही नहीं,

किन्तु हानिप्रद हैं। शरीरको शुद्ध रखना उचित है, और जिससे स्वास्थ्यको हानि हो ऐसी बातका बचाव करना भी उचित है परन्तु मैं इसके हाथका न खाऊँगा, उसके हाथका न खाऊँगा, आदि बातें पाप हैं। शौचधर्मके नामपर जाति पाँतिका विचार होना ही न चाहिये। इसका विस्तृत वर्णन निर्विचिकित्सा अंगके वर्णनमें आचुका है, इसलिये यहाँ पुनरुक्ति नहीं की जाती।

सत्य–सत्यका वर्णन भी इसी अध्यायमें विस्तारसे हुआ है, इसलिये इस विषयमें भी यहाँ कुछ नहीं कहा जासकता।

संयम–इस विषयपर तो यह अध्याय ही लिखा जारहा है, इसलिये इस धर्म पर भी अलगसे लिखने की ज़रूरत नहीं है।

तप–जैनधर्ममें तपको बहुत महत्त्व प्राप्त होगया है, परन्तु जितना महत्त्व प्राप्त हुआ है उतनी ही ग़लतफ़हमी भी हुई है।

आजकल तपका अर्थ उपवास, खाने पीनेके नियम या बाह्य कायक्लेश रह गया है। महात्मा महावीर उग्र कष्टसहिष्णु थे, इसलिये उनके जीवन में अन्तरङ्ग तपस्याओंके समान बहिरङ्ग तपस्याओं का भी उग्ररूप दिखलाई देता है। बाह्य तप, बाह्य होनेसे उसकी तरफ लोगोंका ध्यान बहुत जल्दी आकर्षित होता है, तथा उनके पालनमें विशेष योग्यताकी आवश्यकता भी नहीं होती। यश या प्रशंसा भी शीघ्र मिल जाती है, इसलिये अधिक उपयोगी न होने पर भी वह बहुत जल्दी फैल जाता है। जैन साहित्यमें तथा जैनसमाजमें इस बाह्य तपने बहुत अधिक स्थान घेर लिया है। उसकी उपयोगिता तथा मर्यादाका भी ख़याल लोगोंको नहीं रहा है। बाह्य तपकी विशेष उपयोगिता इसीमें थी कि लोग स्वास्थ्यको सम्हाले रक्खें, तथा अवसर पड़नेपर कष्ट का साम्हना कर सकें, इसलिये कष्टसहिष्णुताका अभ्यास करते रहें परन्तु अब इन दोनों बातोंका विचार नहीं किया जाता न इनकी सिद्धि होती है। प्रत्येक व्यक्तिको यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि महात्मा महावीरने बाह्यतप जितना किया था उससे अधिक अन्तरङ्ग तप किया था। अन्तरङ्ग तपके बिना बाह्यतपका कुछ मूल्य नहीं है। दूसरी बात यह है कि युगके अनुसार भी तपकी आवश्यकता होती है। महात्मा महावीरका युग ऐसा था कि उस समय बाह्यतपके बिना लोगोंका सत्यकी तरफ आकर्षण करना कठिन था। इसलिये भी बहुतसे तप करना पड़ते थे। अज्ञानियों और बालकोंको समझानेके लिये अगर अनिवार्य हो तो थोड़ी बहुत मात्रामें इस प्रकारकी निर्दोष क्रिया करना पड़े तो कोई हानि नहीं है। तीसरी बात यह कि बाह्यतपकी कामना तभी पूरी होती है जब वह आनुषङ्गिक तप बनजाय। उपवासको लक्ष्यकरके उपवास करना एक बात है, और सेवा स्वाध्याय आदि तप करते करते उपवास करना पड़े, यह दूसरी बात है। इसका मूल्य अधिक है, क्योंकि सेवा स्वाध्याय आदिमें लीन होनेमें जो उपवास होता है उसमें आत्माका विकास अधिक मालूम होता है। ख़ैर, सार यह है कि बहिरङ्ग तपका महत्त्व अन्तरङ्गतपसे बहुत थोड़ा है तथा आजकल लोगोंको सत्यकी तरफ आकर्षण करनेके लिये—एकाध अपवाद प्रसङ्गको छोड़कर—अधिक आवश्यक नहीं है। अब तो इस विषयकी निःसारता समझायी जाय, यही उचित है। सच्चा तप तो अन्तरङ्ग तप है। बहिरंग तप जो किया जाय उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर ध्यान रखना चाहिये, तथा उससे स्वास्थ्यहानि न होना चाहिये।

तप बारह बताये गये हैं। उनमें से पहिले छः बहिरङ्ग तप हैं और पिछले छः अन्तरङ्ग तप हैं।

अनशन—उपवास करनेका नाम अनशन है। आजकल कई लोग उपवासमें पानीका भी त्याग करते है, परन्तु इससे स्वास्थ्य बिगड़ जाता है तथा उससे गर्मी बढ़ जाती है। स्वास्थ्य और व्यावहारिक उपयोगिताकी दृष्टिसे यह अनुचित है। इसलिये उप-

वासमें पानी पीनेकी छूट रखना चाहिये।

ऊनोदर— भूखसे कम खाना ऊनोदर है। यह बहुत अच्छा तप है। परन्तु मर्यादाका उल्लंघन करना अनुचित और अनेक तरहके क्रम बनाना अनावश्यक है, जैसे तिथि या चन्द्रमाकी कलाके अनुसार ग्रास लेना आदि। अगर कभी इसकी आवश्यकता भी मालूम हो तो प्रदर्शनसे बचना चाहिये।

वृत्तिपरिसंख्यान- भिक्षा लेनेके विशेष नियमको वृत्तिपरिसंख्यान* कहते हैं। ये नियम अनेक तरह के होते हैं, जैसे कोई मुनि यह नियम लेता है कि मै दो घरमे ही भिक्षा लाऊँगा§ आदि। अनेक घरोंसे भिक्षा लेते समय भोजनकी तृष्णा रोकनेके लिये यह तप है। अथवा कोई अटपटी प्रतिज्ञा लेनेको भी वृत्तिपरिसंख्यान कहते हैं। जैसे. भोजन देनेवाला अगर कोई क्षत्रिय होगा, या शूद्र होगा, या स्त्री होगी, घरके पास अमुक वृक्ष होगा तो भोजन लूँगा आदि। ये सब प्रतिज्ञाएँ इसलिये की जाती थीं कि जिससे अनशन अवमौदर्य (ऊनोदर) आदि तपोंके लिये मन उत्तेजित हो, आशामे निराशाको सहनेका अभ्यास बढ़े। कभी कभी दूसरोंको कष्टमे बचानेके लिये भी इसका उपयोग हो जाता है। इस प्रकारके तपमे महात्मा महावीरके द्वारा महासती चन्दनबालाका उद्धार हुआ था। इसी प्रकार दूसरोंका भी उद्धार किया जासकता है। आजकल तो भिक्षावृत्तिके अनिवार्यनियमको ही उठा देना है, इसलिये इस तपकी कोई जरूरत नहीं है। अगर भिक्षा लेनेका अवसर मिले भी तो ऐसी ही प्रतिज्ञा लेना चाहिये जिससे किसीका उद्धार हो। सिर्फ तपस्वी कहलानेके लिये निरुपयोगी प्रतिज्ञाएँ लेकर दूसरोंको परेशान करना तथा अपव्यय कराना अनुचित है। क्योंकि जब इस ढंगकी प्रतिज्ञाएँ ली जाने लगती हैं तब दाता लोग बीसों तरहकी वनस्पतियाँ और अन्य चीजें एकत्रित करते हैं, बदल बदलकर उनका प्रदर्शन करते हैं, इसमे एक तमाशा लगजाता है। यह सब हिंसाजनक और अनावश्यक कष्टदायक होनेसे छोड़देना चाहिये।

दिगम्बर सम्प्रदायके कोई कोई लेखक इस तप का उद्देश सिर्फ यही बताते हैं कि शरीर की चेष्टाका नियमन करनेके लिये यह व्रत है। इसका कारण शायद यही है कि दिगम्बर सम्प्रदायमें अनेक घरो से भिक्षा लेनेका नियम नहीं है। परन्तु यह अर्थ बहुत सकुचित है। इतनी छोटीसी बातके लिये अलग तप बनानेकी आवश्यकता भी नहीं है। इसके अतिरिक्त मूलाचारमें दाता तथा भाजन (बर्तन) आदिके नियमविशेषोंको वृत्तिपरिसंख्यान कहा‡ है। इस प्रकार राजवार्तिककारका अर्थ मूलाचारके विरुद्ध जाता है। मालूम होता है कि राजवार्तिककारकी नजरमे मूलाचार नहीं आया था। खैर, आजकल इस तपका अधिकांशभाग निरुपयोगी है।

रसपरित्याग— जिस रसकी तरफ आकर्षण अधिक हो अथवा उत्कट रसका चटपटीला भोजन ही अच्छा मालूम होता हो तो उसका त्याग करना रसपरित्याग है। रसना इन्द्रियको वशमें रखनेके लिये यह तप बहुत अच्छा है। हाँ, यह बात कषाय से न होना चाहिये। परन्तु यह शर्त तो हरएक तप के लिये आवश्यक है।

विविक्तशय्यासन— एकान्त सेवन करना विविक्तशय्यासन तप है। ब्रह्मचर्य पालने तथा मौज शौककी आसक्ति कम करनेके लिये यह तप किया जाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसलिये

*वृत्तिपरिसंख्यानम् अनेक विधम्। तद्यथा-उत्क्षिप्तान्तप्रान्तचर्यादीनां सक्तु कुल्माषौदनादीनाम् चान्यतममभिगृह्यावशेषस्य प्रत्याख्यानम्। तत्त्वार्थभाष्य ९-१९-३

§ एकागारसप्तवेश्मैकरथ्यार्धग्रामादिविषयः संकल्पो-वृत्तिसंख्यानं। —तत्त्वार्थराजवार्तिक ९-१९-४।

* न वा, काय चेष्टा विषय गणनार्थत्वाद्वृत्ति परिसंख्यानस्य। —त० रा० वार्तिक ९-१९-११।

‡ गोयर पमाण दायग भोयण णाणाभिधाण जं गहणं।
तह एसणस्स गहणं विविधस्स वुत्ति परिसंखा।
—मूलाचार १५५।

साधारणतः वह एकान्त पसन्द नहीं करता। परन्तु दूसरे लोगोंके अनावश्यक सहवासमें रह कर, वह जानबूझकर नहीं तो अनजानमें, बहुत कष्ट पहुँचाया करता है। इसके अतिरिक्त उसका सुख पराधीन हो जाता है, इससे उसको कष्ट होता है, और दूसरोंको भी कष्ट होता है। जैसे, एक आदमी ऐसा है जिसे किसी न किसीसे गप्पें मारनेकी आवश्यकता है। अब ऐसा आदमी अवश्य ही जानमें अनजानमें या उपेक्षावश दूसरोंके कार्यमें विघ्न करेगा, अथवा वह दुःखी होकर रहेगा। इसलिये अपनी और दूसरोंकी भलाईके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्यमें एकांत में रहकर सुखी रहनेकी तथा पवित्र मन रखनेकी आदत हो। इसके लिये यह तप आवश्यक है।

परन्तु यह याद रखना चाहिये कि तप किसी दोषकी निर्जरा करने अर्थात् उसे दूर करनेके लिये है। एक दोषको दूर करके दूसरे दोषोंको स्थान देने से वह तप नष्ट होजाता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, इसीलिये उसके दुष्प्रभावसे बचनेके लिये विविक्तशय्यासन तप है। परन्तु मान लो मनुष्य एक ऐसा प्राणी है जो घरके भीतर या गुफाओंमें अकेले पड़ा रहना ही पसन्द करता है, इस प्रकार उसमें जड़ता आगई है, परस्पर सहयोगके अभावसे अनेक प्रकारके प्राकृतिक कष्ट दूर नहीं किये जा सकते हैं, तथा विनोद आदिका निर्दोष सुख भी उपलब्ध नहीं है, ऐसी हालतमें विविक्तशय्यासन तप न कहलायगा, किन्तु सामाजिकता या सहवास तप कहलायगा। मतलब यह कि तप सुखप्राप्ति दुःखनाश तथा स्वतन्त्रताके लिये है। इसलिये कोई तप इनका विरोधी न होना चाहिये। विविक्तशय्यासन कभी कभी इनका विरोधी होजाता है इसलिये इस विषयमें सतर्कताकी जरूरत है। जैसे—एकान्तमें रहनेका अभ्यास हो जानेसे हमें प्रसन्न रहनेके लिये दूसरेकी आवश्यकता नहीं होती, इस प्रकार हम स्वतन्त्र भी होते हैं और दूसरोंको कष्ट देनेसे भी बचते हैं। परन्तु कल्पना करो कि हम किसी ऐसी जगह पहुँच जाँय जहाँ एकान्त दुर्लभ हो, एकान्तकी योजना करनेमें लोगोंको बहुत परेशान होना पड़ता हो। अगर ऐसी जगह न रह सकें और लोगोंकी सेवा न कर सकें तो यह हमारे जीवनकी बड़ी भारी त्रुटि होगी। ऐसी परिस्थितिमें विविक्तशय्यासन नहीं अविविक्तशय्यासन ही तप कहलायगा। हम, लोगोंको सहन कर सकें, कोलाहलमें भी शान्तिसे सेवा स्वाध्याय आदि तप करसकें, यह बड़ी भारी तपस्या है। इस तपका मतलब सिर्फ यही है कि हम विविक्तता या अविविक्ततामें समभावी हों, इसके लिये दूसरे को कष्ट न दें, स्वयं दुखी न हों।

हाँ, अगर गम्भीर चिन्तनके कार्यके लिये थोड़े बहुत एकान्तकी आवश्यकता हो तो कोई हानि नहीं है। किसी खास कार्यके लिये साधनके रूपमें विविक्तता या अविविक्तताकी इच्छा करना बुरा नहीं है, परन्तु साधारण हालतमें उसे दोनोंके विषयमें समभावी होना चाहिये।

कायक्लेश—शारीरिक कष्टोंको सहन करना भी एक तप है। कभी कोई शारीरिक कष्ट आ पड़े तो उस समय हम उसे सहन करसकें, समभाव रख सकें, इसके लिये यह तप है। एक समय यह साम्प्रदायिक प्रभावनाके लिये भी था, परन्तु आज यह प्रभावनाके लिये नहीं है बल्कि अप्रभावनाके लिये है। कोरी प्रभावनाके लिये तप करना कुतप है।

जैनधर्मने ऐसे तपोंका विरोध किया है। पंचाग्नि तपना, शीतऋतुमें पानीमें खड़े होना आदि कुतप माने गये हैं। परन्तु उस जमानेमें बाह्य तपका इतना प्रभाव था कि जैनाचार्योंको भी बाह्य तपका विरोध करना कठिन था इसलिये उनने इसका विरोध दूसरे ढङ्गसे किया। जैसे अग्नि जलानेमें हिंसा होती है, इसलिये पंचाग्नि तप नहीं तपना चाहिये आदि। परन्तु असली बात तो यह है कि ऐसे बाह्य तप करने की जरूरत नहीं है, जो सिर्फ़ सर्कसके खेलकी तरह लोगोंको आश्चर्यचकित करनेके लिये हैं। समयके असरके कारण तथा लोकाकर्षणके कारण कुछ जैना-

चार्योंने इसे प्रभावना * के लिये भी लिख दिया है, परन्तु यह दिशा ठीक नहीं है। वास्तवमें उसकी उपयोगिता सिर्फ कष्टसहिष्णुताका अभ्यास करनेके लिये है। फिर असली कष्टसहिष्णुता तो मनके ऊपर अवलम्बित है। प्रबल मनोबल होने पर ऐसे लोग भी कष्ट सहन कर लेते हैं जिनने कभी कष्टोंको नहीं सहा। जैनशास्त्रोंमें ऐसी अनेक कथाएँ आती हैं। सुकुमाल कुमार इतना कोमल था कि उसकी बैठकके नीचे एक तिलका दाना आ गया था इससे वह भोजन न कर सका था, परन्तु ऐसा आदमी जब तपस्या करने लगा और गीदड़ी उसे सात दिन तक चाटती रही तब भी वह दृढ़ रहा। इससे मालूम होता है कि असली अभ्यास तो मानसिक है। फिर भी थोड़ा बहुत इस प्रकारका अभ्यास किया जाय तो हानि नहीं है। परन्तु इसके लिये अन्तरङ्ग तपों को भुला बैठना, या प्रभावना समझना या इससे यश खरीदने लगना आदि अनुचित है। यह बात अन्य बाह्य तपोंके विषयमें भी समझना चाहिये।

हमारी अनुचित उदासीनता !

सब कुछ खो देने को हमने सब कुछ पा जाना माना।
सभी इन्द्रियों को हमने बस दुश्मन अपना है जाना॥
भूखों से बचने हित हमने एक काम करना ठाना।
क्या ठाना ?—ठाना, जीवनसे बचकर अलग निकल जाना॥१॥
अधिक कहें क्या हमने जग को धोखे की टट्टी समझा।
जीवन-सार्थक कर्मभूमि को क्या समझा ?—मिट्टी समझा॥
हा, इस उदासीनता का परिणाम नज़र आये जाता।
ह्रास—भयङ्कर जैनजातिको निशिदिन ही खाये जाता॥२॥

—दौलतराम 'मित्र'

* देह दुःखतितिक्षासुखानाभिष्वंग प्रवचनप्रभावनाद्यर्थं।
—त० रा० वा० ७-१९-१४।

साम्प्रदायिकता।

"संसारके अधिकांश युद्धों व अत्याचारोंकी नींव मात्र साम्प्रदायिक पक्षपात पर ही अवलम्बित थी," इतिहास इसका साक्षी है। यूरोप इतिहास (History of Europe) में कैथोलिक (Catholic) व प्रोटेस्टेन्ट (Protestant) आदि अनेक सम्प्रदायों के पारस्परिक युद्धों, अत्याचारों व भीषण हत्याकांडों को पढ़कर किस मनुष्यका हृदय नहीं दहल उठता ? भारत इतिहास भी इस कलंकसे बचा हुआ नहीं है। किसी भी देश या जातिके इतिहासको उठाकर देख लीजिये; वह इन साम्प्रदायिक खून खराबियोंसे ही लथपथ मिलेगा। इससे स्पष्ट है कि चिरकालसे संसारके कौने कौनेमें साम्प्रदायिकताका अन्यायकारी साम्राज्य स्थापित है। आजकल भी बहुत कुछ अंशों में यह साम्प्रदायिकता रूपी पिशाचिनी संसार पर अपना प्रभुत्व जमाए हुए है। भारत तो बुरी तरह इसके चंगुलमें फँसा हुआ है। जहाँ देखो वहीं साम्प्रदायिकताकी उपासना हो रही है। इस साम्प्रदायिकताने भारतकी सामूहिक शक्तिको छिन्न भिन्न कर रक्खा है और यही कारण है कि भारत सदियोंसे गुलामी व परतन्त्रताकी बेड़ियोंसे बुरी तरह जकड़ा हुआ है और प्रयत्न करने पर भी इस बंधनसे मुक्त नहीं होसका है।

सांप्रदायिकताका दूसरा नाम संकीर्णता है। जिस मनुष्यमें साम्प्रदायिक पक्षपातका कुछ भी अंश होता है, उसका हृदय विशाल व उदार नहीं होने पाता। वह अपने विशेष संप्रदायको ही अपना कार्यक्षेत्र समझता है और उसीकी सेवा करना वह अपने मनुष्य-कर्त्तव्यकी इतिश्री मान बैठता है। अन्य संप्रदायोंके प्रति उसके संकुचित हृदयमें इतनी घृणा व अश्रद्धा हो जाती है कि वह दूसरी संप्रदाय के एक आदरणीय महान् पुरुष तकको अपनी संप्रदायके नीचसे नीच व्यक्तिसे भी गिरा हुआ माननेमें नहीं हिचकिचाता। वह अपनी संप्रदायके दोषोंको खेंचातानी करके गुण सिद्ध करनेकी

कुचेष्टा करनेमें ही अपनी तर्कशक्ति व बुद्धिमत्ता का सदुपयोग समझता है। उसकी बुद्धि पर अज्ञान का ऐसा पर्दा पड़जाता है कि उसे दूसरोंमें गुण दिखाई ही नहीं देते, पर अपने तो दोष भी उसे गुण दीखते हैं। अन्य सम्प्रदायोंके दोष निकालना साम्प्रदायिक मनुष्यका स्वभाव होजाता है और उसी मे वह अपना महत्व व बड़प्पन समझता है।

वास्तवमें साम्प्रदायिक-पक्षपातसे मनुष्यकी बुद्धि बिगड़ जाती है। "जो सत्य है सो मेरा है" को वह 'जो मेरा है सो सत्य है' का रूपान्तर समझकर अपनेको एकान्तकी दलदलमें फँसा लेता है और अनेकान्तके रहस्यसे अर्थात् सचाईकी कुंजीसे वंचित रह जाता है। उसे पक्षपातवश अन्य सम्प्रदायोंके सहवास व सहयोगका सौभाग्य प्राप्त नहीं हो पाता, तो फिर भला वह दूसरोंके गुणोंको जान ही क्या सकता है? उसकी संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना उसके जीवनके विकासको नष्ट कर डालती है। वह तो अन्धश्रद्धालु बनकर पुरानी लकीरका फ़कीर बननेमें ही अपनेको सत्यवादी, सत्यप्रेमी व सत्य-उपासक समझ लेता है और इस प्रकार वह 'सत्य' का बुरी तरह गला घोंट कर अपने आपको मिथ्यात्वमें लगा अपना सर्वनाश कर डालता है।

उपरोक्त विवेचनसे मेरा आशय यह नहीं है कि संप्रदायोंका होना अनावश्यक व हानिप्रद है। उनका होना तो अत्यन्तावश्यक है, आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य है। यदि कुछ उदार मनुष्य साम्प्रदायिकताके अहंकारी भूतको मानवसमाजसे बहिष्कृत करनेके पवित्र उद्देश्यसे अपना एक स्वतन्त्र दल बनालें, तो वह दल साम्प्रदायिकताका विरोधी होनेपर भी एक पृथक् सम्प्रदाय माना जायगा, और वह सम्प्रदाय हानिप्रद न होकर लाभकारी होगा। वही सम्प्रदाय हानिकर होता है जिससे सम्बन्ध रखने वाले मनुष्य अन्धश्रद्धालुता, अहंकार व हठ के गुलाम हों। हमें साम्प्रदायिकतासे घृणा करनी चाहिये न कि सम्प्रदायसे। सम्प्रदाय आपत्तिजनक नहीं हैं, साम्प्रदायिकता आपत्तिजनक है। एक पश्चिमी विद्वानने तो यहाँ तक लिखा है कि "कोई भी देश सम्प्रदायोंके बिना उन्नति नहीं कर सकता, और बिना साम्प्रदायिकताके कभी किसी देशकी अवनति नहीं हो सकती"।

खेद तो यह है कि निष्पक्षताका ढिंढोरा पीटनेवाले व्यक्ति भी अवसर पड़नेपर साम्प्रदायिकता दिग्दर्शन करानेसे नहीं चूकते। साम्प्रदायिकताकी अव्यक्त व सुप्त भावना समयपर अपना काम कर ही डालती है। बात यह है कि अपनेको निष्पक्ष व उदार समझ लेने मात्रसे कोई साम्प्रदायिकताके भूतको, जो मुद्दतसे हृदयमें अपना अड्डा जमाए बैठा है, नहीं भगा सकता। इसके लिये तो कार्य करनेकी आवश्यकता है। मात्र 'हवाई पुल' बाँधनेसे ही काम नहीं चल सकता, काम तो तभी चल सकता है जब कि हम परस्पर सहवास व सहयोग द्वारा एक दूसरेके हृदय पर अपनी निष्पक्षता, उदारता व प्रेमकी छाप लगादें।

अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य है कि वह किसी व्यक्ति व संप्रदायविशेषसे घृणा न करके हरएकसे उचित मर्यादामें हरप्रकार मिले जुले और गुणग्राहकता के गुणसे अपनेको गुणी बनाकर अपने जीवनको उच्च व आदर्श बनाए। संकुचित मार्गका अवलम्बन करनेसे उन्नति करना अत्यधिक कठिन ही नहीं, वरन् असंभव है। परस्पर मिलनसे साम्प्रदायिकता दूर करना उन्नतिके शिखर पर पहुँचनेकी सर्वप्रथम सीढ़ी है। —रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

मेरी इच्छा।

चाह है मुझ को न यश, धन माल की!
चाह है मुझ को न जग जंजाल की!
चाह है मुझ को न स्वर्ग-निवास की!
चाह है मुझ को न भोग-विलास की!

× × ×

चाह है दुखिया जगत के दुख हरूँ!
चाह है बस, सत्य की सेवा करूँ!

—रघुवीरशरण जैन "धीर"।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

वैधव्यचिन्ह।

भारतवर्षके जुदे जुदे प्रान्तोंमें-विशेषकर हिन्दू समाजमें-यह नियम पाया जाता है कि विधवाएँ वेषमें से अमुक वस्तुओंका त्याग करें। बुंदेलखंड प्रान्तमें विधवाएँ नूपुर (बिछुए) पहिनना छोड़देती हैं, महाराष्ट्र और गुजरातमें विधवास्त्रियाँ कुंकू नहीं लगातीं, बंगालमें माँगमें सिन्दूर भरना छोड़देती हैं, कहीं कहीं सिर ढकने लगती हैं, इस प्रकार जुदे जुदे रिवाज हैं इन रिवाजोंका एक फल यह भी हुआ है कि उन उन प्रान्तोंमें सधवाओंको भी उन उन चिन्होंको धारण करना आवश्यक होगया है। बुंदेलखंडमें अगर कोई स्त्री नूपुर न पहिने तो उसकी असह्य निंदा होगी। अगर स्त्रियोंको चप्पल और स्लीपर पहिनना हो तो भी उन नूपुरोंका त्याग नहीं किया जासकता है, भले ही इससे उनको कितना ही कष्ट हो। जब ऐसी कोई स्त्री दूसरे प्रान्त में बसजाती है तब उसे दोनों प्रकारके रिवाज पालना पड़ते हैं। यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि ये सब चिन्ह क्यों बनाये गये? सधवा और विधवाको अलग अलग चिन्हित करनेका कारण क्या था? दूसरा प्रश्न यह है कि विधवा और सधवा के समान विधुर और सधुरको अलग अलग क्यों नहीं चिन्हित किया गया?

कहा जासकता है कि "स्त्रीका स्थान गिरजाने से वैधव्य घृणित समझा जाने लगा। विधवा स्त्री अभागिनी कहलाने लगी, उसके अभाग्यके सूचन के लिये उसके वेषमें परिवर्तन कर दिया गया। परन्तु पुरुष इस अपमानको कैसे सहसकता था? वह तो विधुर होकरके भी श्रीमान था, सौभाग्यशाली था, सधुर होनेकी ताक़त रखता था, वह इस अपमान को कैसे सहलेता?"

यह धारणा भी होसकती है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह वेषविशेषता मानापमानसे सम्बन्ध रखती है? इस विषयमें एक बात ऐसी है कि जिससे मालूम होता है कि इसका सम्बन्ध मानापमान से नहीं है। रिवाज ऐसा है कि जो चिन्ह विधवाएँ नहीं धारण कर सकतीं, वे कुमारियाँ भी धारण नहीं कर सकतीं। सधवाओंके जो चिन्ह विधवाओंको वर्ज्य हैं वे कुमारियोंको भी वर्ज्य हैं। इसलिये उन चिन्होंका कोई ऐसा मतलब होना चाहिये जो सधवाओंके विषयमें ही कहा जासकता हो, विधवाओं कुमारियों और विधुरोंके विषयमें नहीं। तभी अन्वय व्यतिरेक मिलकर कार्यकारणका निर्णय हो सकेगा।

दूसरा कारण यह कहा जासकता है कि "विधवाएँ त्यागमूर्त्तियाँ कहलायीं, इसलिये शृङ्गारके अमुक अमुक वेषधारण करनेकी मनाई कर दी गई।" विधवाओंके विषयमें ऐसी कल्पना करना असंगत तो नहीं है, परन्तु इस कल्पनाके विरोधमें भी प्रबल कारण है। एक तो यही कि यदि यह त्यागका ही चिन्ह होता तो कुमारियोंको उस त्यागकी क्या आवश्यकता थी? कुमारियाँ तो त्यागमूर्तियाँ नहीं हैं। दूसरी बात यह कि शृङ्गारके सारे साधनोंकी मनाई न करके सिर्फ एक साधारण साधन की ही मनाई क्यों की गई? बल्कि आज तो वह शृङ्गारका साधन अशृङ्गारका साधन है। तीसरी बात यह है कि अगर यह शृङ्गारका साधन समझकर छुड़ा दिया गया-अगर यह फैशनकी पराकाष्ठा थी जिसेकि सिर्फ सधवाएँ ही धारण करसकती थीं-तब यह सधवाओंके लिये अनिवार्य न होना चाहिये, क्योंकि फैशनकी कोई चीजका धारण करना इच्छाके ऊपर ही निर्भर है। अगर कोई सधवास्त्री फैशनेबुल न बनना चाहे और वह सादगी पसंद करे तो इसमें किसीको आपत्ति क्यों होना चाहिये? इससे मालूम होता है कि यह फैशनका चिन्ह नहीं है। ये तीन कारण ऐसे हैं कि जिससे मालूम होता है कि त्यागमूर्ति होनेके कारण ये चिन्ह विधवाओंके लिये वर्ज्य नहीं हैं।

ऊपर सधवाओंके जिन विशेषचिन्होंका उल्लेख

किया गया है, वास्तवमें वे श्रृङ्गार अश्रृङ्गार की दृष्टिसे नहीं, किन्तु बन्धन और उन्मुक्तताकी दृष्टि से थे। जो व्यक्ति विवाहके बन्धनमें बद्ध होनेके कारण किसीसे विवाहके विषयमें बातचीत नहीं करना चाहते थे, या सूचना कर देना चाहते थे कि अब मुझसे कोई विवाहके विषयमें बातचीत न करे, वे व्यक्ति विशेषचिन्ह धारण कर लेते थे; और जो विवाहके विषयमें 'स्वागतम्' कहनेको तैयार रहते थे, वे उन विशेष चिन्होंको नहीं रखते थे अथवा उतार देते थे। यही कारण है कि कुमारियां व विधवाएँ इस प्रकारके चिन्ह नहीं धारण करती थीं, क्योंकि उनको विवाह करना था। यही कारण है कि पुरुष-समाजने इन चिन्होंको धारण नहीं किया, क्योंकि कुमार और विधुर तो विवाहेच्छु थे ही, साथ ही बहुपत्नीत्वका रिवाज होनेसे सधुर पुरुषोंके साथ भी विवाहके विषयमें बातचीत की जा सकती थी। इसलिये सभी पुरुषों, कुमारियों और विधवाओंको इसप्रकारके चिन्ह धारण नहीं करना पड़ते थे, सिर्फ़ सधवा स्त्रियाँ ही इस चिन्हको धारण करती थीं, जिससे उनके सामने कोई विवाहका प्रस्ताव न रक्खे या इसके लिये कोई व्यक्त या अव्यक्त आयोजन न करे। वास्तवमें यह सौभाग्य चिन्ह नहीं था, किन्तु अमुक बन्धनमें बँधे रहनेकी निशानी थी। और इन चिन्होंका हटजाना, जिसे कि आज वैधव्यचिन्ह कहा जाता है, कोई दुर्भाग्यका सूचक नहीं था किन्तु "उत्तम वरकी आवश्यकता" (Wanted a suitable Husband) का विज्ञापन था।

समझमें नहीं आता कि जिन जातियोंने विधवा विवाह बन्द कर दिया है, उनने यह विज्ञापन क्यों लगा रक्खा है। अगर वे चाहते हैं कि विधवाएँ दूसरा विवाह न करें तो सधवाओंके समान विधवाएँ भी विशेष चिन्ह धारण करें। इसका उन्हें प्रचार करना चाहिये, अथवा इस विषयका नियम उठा देना चाहिये।

अब तो इन चिन्होंकी किसीको भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इनकी उचित उपयोगिता तो तभी थी, जब स्त्रियाँ विवाहके विषयमें स्वयं बातचीत कर सकती थी। आज तो हमारे यहाँ स्त्रियोंको इस विषयमें कुछ भी अधिकार नहीं है, तब उनके लिये इन चिन्होंका धारण करना न करना बराबर है।

इसप्रकार इनकी कुछ आवश्यकता तो है ही नहीं, बल्कि सौभाग्य और दुर्भाग्यकी अनुचित भावनाके उत्तेजक होनेसे इन चिन्होंको मिटाडालने की ज़रूरत है। फ़ैशनके चिन्ह समझकर कोई इन्हें धारण करे तो भले ही करे, परन्तु विधवाएँ भी अगर धारण करें तो इसमें कोई बुराई न होना चाहिये और अगर सधवाएँ भी धारण न करें तो उनको भी निन्दा की दृष्टिसे न देखना चाहिये। इस प्रकार सधवा और विधवामें समभावकी ज़रूरत है।

अभी अकोलामें इस विषयमें एक दूसरी ही दृष्टिसे यह आन्दोलन उठा है। उस तरफ़ मस्तकमें कुंकू लगाना सधवा होनेका चिन्ह समझा जाता है। परन्तु वहाँ की कुछ महिलाओंने यह आन्दोलन शुरू कर दिया है कि विधवाएँ भी कुंकू लगावें। उनके कहनेके अनुसार इसका कारण यह है कि कुंकू लगानेसे किसीको यह न मालूम होगा कि यह स्त्री विधवा है। आजकल विधवाओंको देखते ही दुष्ट गुण्डे उन्हें लावारिसी माल समझकर उड़ाने की, फँसानेकी चेष्टा करने लगते हैं। अगर विधवा कुंकू लगाने लगे तो गुण्डोंको शिकार ढूँढ़नेमें अवश्य कठिनाई होगी और अमुक अंशमें विधवाओंकी एक कठिनाई हल हो जावेगी।

उन चतुर स्त्रियोंने पहिले तो घर घर जाकर इस विषयमें विधवाओंको समझाया और जब उन्हें सफलता मिली तब उनने इस कामके लिये बड़ेभारी समारोहकी तैयारी की। इस दृष्टिसे भी सधवा और विधवाओंके वेषमें जो भेदकी लकीर खड़ी कर दी गई है, वह मिटा देना चाहिये।

एक पतिताकी आत्मकथा ।

मुनीन्द्रसागर संघके साथ जो एक बाई रहती थी—जिसकी पापकथाओंसे समाज अच्छी तरह परिचित है, उसने अपनी करुणकथा 'चाँद' के गत जनवरीके अङ्कमें छपाई है । उसका सार यह है–

"मैं बीसाहूमड़ हूँ । हमारी जातिमें साटे बदलेका रिवाज होनेसे मेरे पिताने मेरे बदलेमें एक लड़की लेकर मेरा विवाह एक गरीबके हाथ कर दिया । मेरे पति गरीबीके कष्टके कारण ही ९१ वर्षकी उमरमें मर गये और मुझे १४ वर्षकी उमरमें विधवा होजाना पड़ा । विधवा होनेपर मेरे पर खूब अत्याचार किये जाने लगे । उनसे बचनेके लिये मैं मुनीन्द्रसागर संघमें शामिल हो गई । सबके लिये मैं भार तो थी ही, इसलिये किसीने न रोका । थोड़े दिन बाद मुझे संघकी धूर्तताएँ मालूम होगईं, परन्तु मैं एक मुनिके प्रेममें फँस चुकी थी और आरामसे थी इसलिये घर न लौटी । बादमें मुनिजी मुनिवेष छोड़कर मोटर द्वारा हॉस्पिटल गये, उनकी वहीं मृत्यु होगई । मेरा प्रेमी मुनि आत्महत्या कर गया । मैंने भी आत्महत्याका विचार किया, परन्तु पुलिसको खबर लग जानेसे न तो मैं आत्महत्या कर सकी, न भ्रूणहत्या । अब मेरा कोई नहीं है, न जीवननिर्वाहके लिये कुछ है । यदि जातिकी ओरसे मेरा इन्तजाम न हुआ तो मुझे मुसलमान हो जाना पड़ेगा । समाज मेरे इस करुणपतनको देखकर भी न तो बालविवाह ही बन्द करेगा, न अन्धभक्तिसे ही सावधान होगा और न मेरी जैसी पतिताओंकी विडम्बनाकी कल्पना करके पुनर्विवाहके लिये ही सम्मति देगा, क्योंकि वैसा करनेसे उसकी नाक कट जाती है ।"

इस बाईकी करुणकथा पर स्त्रियोंको, खासकर विधवाओंको, ध्यान देना चाहिये । इस बाईको समाजने बहुत कष्ट दिया है, परन्तु ऐसी अभागिनियोंकी संख्या कम नहीं है जिनको समाजने इससे भी अधिक बुरी तरह से.पीस डाला है । इन सबके उद्धारकी आवश्यकता है । परन्तु दुःखकी बात यह है कि उनके उद्धारमें समाजकी तरफसे जितनी बाधा उपस्थित की जाती है उससे भी अधिक बाधा इन्हीं अभागिनी विधवाओंकी तरफसे उपस्थित होती है । समाज कोई एक प्राणी नहीं है कि वह एक ही साथ समझ जाय । उसे समझानेके लिये समाजके एक भागको परिश्रम करना पड़ता है जिसे कि सुधारक कहते हैं । विधवाएँ पतित होकर जो उद्गार निकालती हैं उसका शतांश भी अगर उसके पहिले निकालें, अथवा कुछ भी उद्गार न निकालकर सुधारसे लाभ उठावें तो अधिकांश विधवाओंका उद्धार हो जाय ।

मैं मानता हूँ कि स्त्रियाँ अशिक्षित होनेसे ऐसा नहीं कर पातीं, परन्तु उनकी अशिक्षा उनके उद्धारमें इतनी बाधक नहीं होती जितनी कि उनकी कायरता, दांभिकता और आत्मवंचकता होती है । यद्यपि इसके भी कारण हैं परन्तु कारण दिखलाने ही कोई अपराध अनपराध नहीं होजाता, कोई उसके फलसे बच नहीं जाता । यों तो समाज जो अत्याचार करती है उसमें भी मूढ़ता आदि कारण हैं, परन्तु इसलिये उसकी करतूतें निर्दोष नहीं हैं, यह नहीं कहा जासकता ।

समाजका कर्तव्य है कि वह अत्याचारोंसे बाज आये, परन्तु समाजमें स्त्रियाँ भी शामिल हैं इसलिये उनको तो कमसे कम इन अत्याचारोंके समर्थनसे बाज आना चाहिये । और उनमेंसे विधवाओंको तो अपनी आवाज बुलन्द करना चाहिये । वे व्यभिचारके लिये तैयार हैं, मुनियों और गुण्डोंके साथ भागनेको तैयार हैं, पर्देकी ओटमें ताण्डव करनेको तैयार हैं, और तैयार हैं अपने सच्चे उद्धारकोंके सिर पर पादप्रहार करनेके लिये, उनको गाली देने तथा बदनाम करनेके लिये !

कोई भी देश हो, कोई भी जाति हो, या कोई भी वर्ग हो, उसको अपने उद्धारके लिये अपने पैरों खड़ा होना पड़ा है । इसलिये स्त्रियोंको भी अपने उद्धारके लिये अपने पैरों पर खड़ा होना होगा । बात बातमें पुरुष-समाजके ऊपर दोष देकर छुट्टी

पाजानेसे उसका उद्धार न होगा। हाँ, न्यायके नाम पर मर मिटनेवाले पुरुष भी मिलेंगे। वे स्त्री न होते हुए भी स्त्रियोंके साथ [illegible] न्यायके नामपर सहानुभूति रक्खेंगे। स्त्रीसमाजके लिये उनका सहयोग बड़ा कामका होगा, परन्तु अगर स्त्रीसमाज उनके सहयोगसे लाभ न उठाना चाहे, कोई उद्धारक उद्धार करना चाहे और स्त्रीसमाज अपने उद्धारकोंका विरोध करके फिसल फिसल कर गिरना चाहे तो विधाता भी उसका उद्धार नहीं करसकता।

इस बाईके साथ समाजने जो अत्याचार किये हैं, उनके विषयमें मेरी सहानुभूति है इसने पतनके मार्गमें जो पैर बढ़ाया है वह भी क्षन्तव्य है, परन्तु इसने दंभका जाल फैलाकर अपने उद्धारकोंको हर तरह नीचा दिखानेकी कोशिश कर, अपने सच्चे उद्धारके मार्गमें जो रोड़ अटकाये, वह इसका भयंकर पाप है। समाजके भोलेपनसे लाभ उठाकर इसने समाजसे हजारों रुपये ठगे। जहां गई वहाँ सुधारकोंको बदनाम करनेकी कोशिश की। अनेक बार इस पापपथ से हटानेकी कोशिश किये जानेपर भी यह उससे न हटी। यह चाहती तो अपने हाथमें कुछ रुपये भी करसकती थी—जो रुपये कि इसने समाजसे लूटकर अपने सम्बन्धियोंको खिलाये—अपने किसी प्रेमी मुनिको साथ लेकर अपना पुनर्विवाह कर सकती थी। अगर इस विषयमें इसने ज़रा भी इशारा किया होता तो आज सरीखी दुर्दशा इसकी न होती। परन्तु उस पतित जीवनमें भी इसको धर्मात्मा कहलानेका तथा सुधारकोंको गाली देनेका रोग था, तब कोई उसका उद्धार कैसे कर पाता ?

जड़समाजसे तो इसके विषयमें क्या कहा जाय, परन्तु उन लोगोंसे दो शब्द कह देना अवसरप्राप्त है जो शिक्षित कहलाते हैं, फिर भी विधवाविवाहका विरोध करते हैं, अशिक्षितोंको मुनिवेषमें सजाकर उनसे नङ्गातांडव कराते हैं और उन पापलीलाओं की झनकारके रूपमें जो प्रलयङ्कर भयंकर अट्टहास्य सुनाई पड़ता है, उसको कहते हैं कि यह धर्मकी प्रभावना है !

इन मुनिवेषी पापियोंका समर्थन करनेवाले, और उनका सुधार करने वालोंको मुनिनिन्दक कहने वाले, जैनसमाजके बाहर होनेवाली यह प्रभावना देखें। "विधवाएँ क्या अपने पुनर्विवाहके लिये अर्जियाँ लिखती हैं" इसप्रकार प्रश्न करनेवाले ये जीती जागती अर्जियाँ पढ़ें ! होसके तो इनसे कुछ शिक्षा लें। अपने अन्तस्तलको मसलकर आत्महत्या न करें। न्याय तथा समताका पाठ पढ़ें युगधर्मको पहिचानें। अत्याचारकी चक्कीमें पिसनेवाली इन अभागिनी गायोंका आशीर्वाद लें। अवाकी तरह भीतर ही भीतर जलनेवाली पुतलियोंका हृदय ठंडा करें।

जिन लोगोंने सब कुछ जानते हुए भी भंडाफोड़ होनेके पहिले इस बाईको देवीकी तरह पूजा है, कमसे कम अब उनका कर्तव्य है कि वे इस बाईको मुसलमान होनेसे तो बचावें—इसलिये नहीं कि इस्लाम बुरा है परन्तु इसलिये कि वह इस्लामके गुणोंकी तरफ़ आकर्षित होकर इस्लामधर्म स्वीकार नहीं कर रही है। वह मुसलमान समाजमें जारही है, इस्लामधर्ममें नहीं। उसका यह परिवर्तन विवेकका फल नहीं, किन्तु एक समाजकी मूढ़ता तथा अन्यायाचारोंका फल है।

अन्तमें सुधारकोंसे, सहृदयोंसे, दयालुओंसे मेरी विज्ञप्ति है कि वे इसके पुराने पापोंको क्षमा करें, इसको आश्रय दें। इसको समाजमें रक्खें। इसके घबराये हुए हृदयको धैर्य बधाएँ। अगर यह पुनर्विवाह कराना चाहे तो इसका पुनर्विवाह करादें। यह बात न भूलजायँ कि आख़िर यह अपनी ही बेटी और बहिन है। स्त्रीसमाजने अपने त्याग और उदारताके बलपर शताब्दियों से नहीं सहस्राब्दियों से माता बनकर इस कहावतको चरितार्थ किया है कि "पुत्र कुपुत्र होता है, माता कुमाता नहीं होती" परन्तु पुरुष-समाजको अब यह ऋण चुकाना चाहिये और इसके लिये यह कहावत चरितार्थ करना चाहिये कि "पुत्री कुपुत्री होती है, पर पिता कुपिता नहीं होता।"

बै० चम्पतरायजी।

बैरिस्टर चम्पतरायजी उन महाशयोंमें से हैं जो अपनी गिनती दार्शनिक विद्वानोंमें कराना चाहते हैं, धर्मप्रचारक बनना चाहते हैं, दार्शनिक विद्वानोंसे चर्चा करना चाहते हैं परन्तु मौका आनेपर बड़ी बहादुरीसे चुप होजाते हैं। एक तरफ वे अपने बुढ़ापेकी दुहाई देकर किनारा काटते हैं, तो दूसरी तरफ तोपों और बमोंके विरोधमें रंगकी पिचकारी चलाकर सिद्ध करदेना चाहते हैं कि वे एक ऐसी जगह रहते हैं जहाँ बुड्ढों पर भी जवानी चढ़ती है, वे रंग रलियाँ किये बिना और पिचकारी चलाये बिना नहीं रहसकते।

मेरे विरोधमें उनने समय असमय पर जो कुछ लिखा था उसका उत्तर भी मैंने जैसे को तैसेके रूपमें दिया था। परन्तु उन सबके उत्तरमें वे चुप होगये। बहुत दिन बाद उनने एक लेख लिखा। इस लेखके विषयमें पहिलेसे ही पत्रमें सूचना निकली, परन्तु जब वह लेख निकला तब केवल मालूम हुआ कि एक नकली जवानने होली खेली है, और बमोंके खेली है, लड़ाईके मैदानमें खेली है।

होलीकी पिचकमें मेरे विरोधमें जो कुछ कहा है उसमें बहुत कुछ बातें वे ही हैं जिनका खंडन कई बार जोरदार युक्तियोंसे मैंने करदिया है और जिसके बाद आपको चुपरहना पड़ा है। शायद बुढ़ापेके दाँत या नकली दाँत नये अन्नको नहीं चबापाते, इसलिये आप पिसेको ही पीसते हैं। और कुछ गालियाँ लिखी हैं जैसे जैनजगत्को "धर्म उजाड़" की पदवी देना चाहिये आदि।

आज अगर मेरे पास फालतू समय होता तो अवश्य ही मैं अपने शस्त्रास्त्रोंको एक किनारे रखकर थोड़े समयके लिये पिचकारी हाथमें लेता। परन्तु मेरी शक्ति थोड़ी है और काम अधिकसे अधिक है, इसलिये अभी पिचकारी उठानेको समय नहीं है। हाँ, आपको इतना निमन्त्रण अवश्य देता हूँ कि मेरे वक्तव्यमें आपको जो अंश कमजोरसे कमजोर मालूम हो, उसीपर चर्चा करनेके लिये आप अपनी सारी शक्ति लेकर आ जाँय।

सत्य।

'सत्य' धर्म है, 'सत्य' कर्म है, 'सत्य' जगत का सार!
'सत्य' मोक्ष है, 'सत्य' ईश है, 'सत्य' ईश—अवतार!
'सत्य' अंतरात्माकी ध्वनि है, 'सत्य' हृदय उद्गार!
'सत्य' जगतका आभूषण है, 'सत्य' प्रेम आधार!

× × ×

'वीर' छोड़ दे सत्यभक्त बन सारे गोरखधंधे!
कब तक मेत्र नहीं खोलेगा? रे आँखों के अन्धे!

—रघुवीरशरण जैन "वीर"।

साम्प्रदायिकताका दिग्दर्शन।

(१६)

लेखक—श्रीमान पं० सुखलालजी।

(अनुवादक—श्री० पं० जगदीशचंद्रजी एम० ए०)

नये विषयको आरम्भ करनेसे पहले, 'यज्ञमें हिंसाकी प्रवृत्ति और उसके प्रतिपादक वेदोंकी उत्पत्ति' के सम्बन्धमें एक यह ध्यान देने लायक बात है कि जैनसाहित्यकी कथाओंमें वर्णन किये हुए नारद, पर्वत और वसुका उल्लेख वाल्मीकि रामायणमें भी मिलता है। उक्त तीनों नामोंकी समानता होने पर भी वाल्मीकि और जैन–कथामें कोई साम्य नहीं है। दोनोंमें केवल इतनी ही समानता कही जा सकती है कि जैसे नारद, पर्वत और वसु नामके पात्र वाल्मीकि रामायणमें आते हैं, उसी [illegible] जैन रामायणमें आते हैं। इससे [illegible] कि किसी समय लोगोंमें नारद, पर्वत जैसे नामोंकी खूब प्रसिद्धि रही होगी। वाल्मीकि रामायणमें प्राचीन एतरेय ब्राह्मणके शुनःशेप आख्यानमें आये हुए नारद-पर्वत नामक उल्लेखसे भी इसकी पुष्टि होती है।

दर्शन और उनकी उत्पत्ति।

वैदिकधर्मसे जैन, बौद्ध आदि सम्प्रदाय किस प्रकार निकले, यह बतानेके लिये विविध पुराणोंकी अनेक आख्यायिकायें इस लेखमालाके पहले भागमें दी गई हैं। इस लेखमें हमारा विचार जैनदर्शनसे निकले हुए जैनेतर दर्शनोंका जो जैनसाहित्यमें वर्णन मिलता है, उसे देनेका है। वैदिक पुराण और जैनसाहित्यके वर्णनमें एक प्रकारका साम्य होने पर भी उनमें बड़ा अन्तर है। वह अन्तर यह है कि पुराणोंका वर्णन देव और असुरोंकी घटनासे मिश्रित होनेके कारण मानवी बुद्धिमें स्पष्ट रूपसे नहीं आता इसलिये अलौकिक है, परन्तु जैनकथाओंका वर्णन इसप्रकारका नहीं है। सम्पूर्ण जैनकथायें ऐतिहासिक हैं, यह तो निष्पक्ष होकर नहीं कहा जा सकता, परन्तु उसमें से साम्प्रदायिकता निकालनेपर उसमें थोड़ी बहुत ऐतिहासिक बातोंकी सम्भावना है। इनमें साम्प्रदायिकताके प्रमाणोंकी दृष्टिसे और ऐतिहासिक* दृष्टिसे ये कथायें महत्व की हैं।

एकसाथ जैनसाहित्यको देखने पर उसमें जैनदर्शनसे सांख्य, बौद्ध, आजीवक और वैशेषिक इन चार जैनेतर दर्शनोंके निकलनेका वर्णन मिलता है। इन चारोंमें सांख्यदर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन श्वेताम्बर दिगम्बर दोनों साहित्यमें पाया जाता है। आजीवक और वैशेषिकदर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन दिगम्बर साहित्यमें नहीं है, वह केवल श्वेताम्बर साहित्यमें ही आता है। इसी प्रकार जैनदर्शनसे बौद्धदर्शनकी उत्पत्तिका वर्णन केवल दिगम्बर साहित्यमें ही मिलता है, श्वेताम्बर साहित्यमें नहीं। इन चारों दर्शनोंकी उत्पत्ति विषयक साहित्यके वर्णनका क्रमसे सार देनेके पहले इन दर्शनोंसे सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातोंका स्पष्टीकरण करदेना योग्य है।

*यहाँ जैनदर्शन से अन्य दर्शनोंकी उत्पत्तिका इतिहास विवक्षित नहीं है। यहाँ केवल इतिहाससे संबंध रखनेवाले दूसरे अनेक विषयोंमें इन कथाओंका अथवा कथाओंके बहुतसे भागका विशेष महत्व है, यही विवक्षित है।

१—सांख्यदर्शन अति प्राचीन भारतीय दर्शनोंमें से है। इस दर्शनके आदि प्रवर्तक कपिल ऋषिका निर्देश वैदिकसाहित्यमें सर्वत्र किया गया है। महाभारतमें † कपिलको सांख्यदर्शनका वक्ता कहा है। भागवत* में विष्णुके अवतार रूपमें कपिलका

† सांख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षिः पुरातनः।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥
—महाभारत मोक्षधर्म।

* "प्रजापतिका पुत्र मनु नामका सम्राट ब्रह्मावर्त देशमें रहता हुआ महार्णव पृथिवीका शासन करता था। उसके शतरूपा नामकी एक महारानी थी। उसके प्रियव्रत और उत्तानपाद नामके दो पुत्र और देवहूति नामकी एक कन्या थी। उस समय कर्दम नामका एक ऋषि रहता था। इस ऋषिको ब्रह्माने संतान उत्पन्न करनेकी प्रेरणाकी। ऋषिने सरस्वतीके किनारे जाकर दस हज़ार वर्ष तप किया। तपके प्रभावसे ऋषिको शंखचक्र गदाधर, गरुड़वाहन भगवान पुष्कराक्षके साक्षात् दर्शन हुए। ऋषिने भगवानसे प्रार्थना की कि मैं गृहमेधके लिये धेनुके समान अपने जैसे स्वभावकी किसी कन्याके साथ पाणिग्रहण करना चाहता हूँ। भगवानने कहा, हे ब्रह्मन्, मैंने तुम्हारे लिये ब्रह्मावर्तके राजा मनुकी पुत्री देवहूतिकी योजनाकी है, वे लोग तुमको देखनेके लिये आने वाले हैं। इतना कहकर भगवान् अंतर्धान हो गये। कर्दम ऋषि बिंदुसरोवरके पास रहते हुए मनुके आनेकी प्रतीक्षा करने लगे। इतनेमें मनु अपनी स्त्री और पुत्री सहित रथके ऊपर बैठकर वहाँ आ पहुँचे और कर्दम ऋषिसे अपनी पुत्रीका पाणिग्रहण करनेके लिये प्रार्थनाकी। बहुत धूमधामके साथ कर्दम और देवहूतिका विवाह होगया। देवहूतिकी माता शतरूपाने इस दंपतिको बहुतसे कपड़े गहने और गृहस्थ आश्रमके योग्य बहुत सा सामान दानमें दिया। इसके बाद मनु अपनी स्त्रीको लेकर ब्रह्मावर्तको वापिस लौट गये, और कर्दम ऋषि मनुकी बसाई हुई बर्हिष्मती नामकी नगरीमें रहकर गृहस्थाश्रम चलाने लगे। कर्दमसे देवहूतिके नौ पुत्रियाँ हुईं। अब कर्दमने प्रव्रज्या लेकर बनमें जानेका विचार किया परन्तु देवहूति

विस्तृत जीवन लिखकर अपनी माता देवहूति को कपिलके दिये हुए सांख्य तत्त्वज्ञानके उपदेशका विस्तारपूर्वक वर्णन कियागया है। श्वेताम्बर उपनिषद् * में कपिलको हिरण्यगर्भका अवतार कहा गया है। रामायणमें † कपिलयोगीको वासुदेवका अवतार और सगरके ६०००० पुत्रोंका दाहक बताया गया है। बुद्धकी जन्मभूमि कपिलवस्तुको महर्षि कपिलकी निवासभूमि बताकर ‡ उसके महत्वको दिखलाते हुए बौद्ध कवि अश्वघोष इन्हीं कपिल ऋषिका निर्देश करते हुए मालूम होते हैं। जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि कमसे कम वैदिक साहित्यकी परम्परामें सांख्यदर्शनके आद्य प्रवर्तक महर्षि कपिल ही गिने जाते हैं। तथा "सिद्धानां कपिलोमुनि:" कह कर गीता ¦ में इन्हीं कपिलको ऋषिश्रेष्ठ मान कर बहुत मान दियागया है। आसुरि और पञ्चशिख कपिलकी शिष्य परम्परा में मुख्य¹ हैं। पंचशिखका षष्टितन्त्र नामक ग्रन्थ सम्पूर्ण सांख्य तत्वज्ञानका संग्राहक एक महान ग्रन्थ था, जो कभीका नष्ट होगया है।

ने कहा कि अभी मेरे एक भी पुत्र नहीं हुआ है। कर्दम ने कहा कि हे राजपुत्रि, तू खिन्न मत हो, तेरे गर्भमें स्वयं भगवान 'अक्षर' पैदा होने वाले हैं। इस प्रकार बहुत समय बीतने पर मधुसूदन भगवानने देवहूतिकी कोखमें अवतार लिया—

" तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः।
कार्दम वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि॥"

अब स्वयं स्वयंभू मरीचि वगैरह ऋषियोंके साथ कर्दमके आश्रममें आये और उन्होंने कर्दम ऋषिको कहा, कि हे मुने, तुम्हारे घर जो बालकका जन्म हुआ है, वह अपनी मायासे उत्पन्न आद्य पुरुष कपिल है। हे देवहूति, तुम्हारी कोखसे उत्पन्न यह बालक कैटनार्दन है। इस बालककी लोगोंमें कपिल नामसे ख्याति होगी और सांख्याचार्य इसको बहुत मानेंगे। देवहूति की नौ कन्याओं के लिये स्वयंभूने नौ वर निश्चित किये, कलाको मरीचि के साथ, अनुसूयाको अत्रिके साथ, श्रद्धाको अंगिरसके साथ, हविर्भुवाको पुलस्त्यके साथ, गतिको पुलहके साथ, सताको क्रतुके साथ, ख्यातिको भृगुके साथ, अरुंधती को वसिष्ठके साथ, और शांतिको अथर्वणके साथ ब्याह दिया। कर्दम ऋषि वनको गये। बादमें महर्षि कपिलने अपनी माताके कल्याणके लिये सांख्य तत्वका उपदेश दिया।" —श्री भागवत स्कंध ३, अध्याय २१-२४-२५-२६ कापिलेयोपाख्यान।

" श्री भगवान उवाच—

अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि साङ्ख्यं पूर्वैर्विनिश्चितम्।
यद्विज्ञाय पुमान् सद्यो जह्याद् वैकल्पिकं भ्रमम"॥१

आदि प्रकारसे भागवतके ग्यारहवें स्कंधके चौबीसवें अध्यायमें सांख्यविधिका निरूपण किया गया है।

* श्वेताश्वतरोपनिषद् (५-२)—हिंद तत्त्वज्ञाननो इतिहास पूर्वार्ध ९०

† "यह सम्पूर्ण पृथिवी धीमान् वसुदेवके वश है और यह माधवकी महिषी है। यह समग्र पृथिवीको निरंतर धारण किये रहती है और दूसरी कापिली रूपसे सगरके पुत्र जलने वाले हैं"। श्लोक २-३ रामायण बालकांड सर्ग, ४०

"हे पुरुषव्याघ्र, तू शोक न कर, तेरे पुत्रोंका वध लोक कल्याणके लिये हुआ है। अप्रमेय कपिलने 'महान बल वाले इन पुत्रोंको जलाया है' इस प्रकार वैनतेयने कहा"—१७-१८ रामायण बालकांड सर्ग ४१

‡ "आसीद् विशालोन्नतसानुलक्ष्म्या पयोदपङ्क्त्येव परीतपार्श्वम्। उदग्रधिष्ण्यं गगनेऽवगाढं पुरं महर्षेः कपिलस्य वस्तु" ॥२॥

अश्वघोषका बुद्धचरित सर्ग—१

¦ "अश्वत्थ सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः
—गीता अ० १० श्लोक २६

¹ एतत् पवित्रमग्र्यं मुनिरासुरयेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पञ्चशिखाय तेन च बहुधा कृतं तन्त्रम्॥७०॥"
सांख्य कारिका

२ सप्तत्यां किल येऽर्थास्तेऽर्थाः कृत्स्नस्य षष्टितन्त्रस्य
आख्यायिकाविरहिताः परवाद विवर्जिताश्चेति ॥७२॥
—सांख्यकारिका

चाइनीज़ बौद्ध सम्प्रदायके अनुसार ६०००० श्लोक प्रमाण 'षष्टितन्त्र' नामका एक बड़ा सांख्य ग्रन्थ था।

आज सांख्यदर्शन वैदिक दर्शनोंमें एक दर्शन गिना जाता है। परन्तु किसी समय सांख्यदर्शनके आचार्य अनेक विषयोंमें प्रचलित वैदिक परम्परासे स्वतंत्रमत रखते थे, इसलिये वैदिक विद्वानों द्वारा नास्तिक गिने * जाते थे, तथा सांख्य आचार्य भी

इसके बनानेवाले पञ्चशिख आचार्य थे। वाचस्पति आदि विचारकोंके मतानुसार यह षष्टितन्त्र शास्त्र वार्षगण्यका था। षष्टितन्त्रमें आये हुये विषयोंका वर्णन 'अहिर्बुध्न्यसंहिता'के बारहवें अध्यायमें मिलता है। संहितामें षष्टितन्त्रके दो विभाग बताये गये हैं, पहला 'प्रकृति मण्डल' और दूसरा 'विकृति मण्डल'। इन दो विभागोंमें सब मिलाकर निम्न-लिखित साठ विषयोंका प्रतिपादन किया गया था। इसी कारण इस ग्रन्थका नाम षष्टितंत्र रक्खा गया, ऐसा मालूम होता है।

प्रकृतिमंडलमें ३२ विषय हैं। विकृतिमंडलमें २८ विषय हैं।

१ ब्रह्म तन्त्र	१—५ कर्मकाण्ड
२ पुरुषतन्त्र	६ भोगकाण्ड
३ शाक्ततन्त्र	७ वृत्तकाण्ड
४ नियतितन्त्र	८—१२ पंचक्लेश काण्ड
५ काल तन्त्र	१३—१५ तीन प्रमाण काण्ड
६ ७-८ त्रिगुणतन्त्र	१६ ख्याति काण्ड
९ अक्षर तन्त्र	१७ धर्मकाण्ड
१० प्राणतन्त्र	१८ वैराग्य काण्ड
११ कर्तृतन्त्र	१९ ऐश्वर्यकाण्ड
१२ सामितन्त्र	२० गुण काण्ड
१३-१७ पाँच ज्ञान तन्त्र	२१ लिंग काण्ड
१८-२२ पाँच क्रिया तन्त्र	२२ दृष्टि काण्ड
(कर्मेन्द्रिय सम्बन्धी)	२३ आनुश्रविक काण्ड
२३-२७ पाँच तन्मात्रा तन्त्र	२४ दुःख काण्ड
२८-३२ पाँच महाभूत तन्त्र	२५ सिद्धि काण्ड
	२६ काषाय काण्ड
	२७ समय काण्ड
	२८ मोक्ष काण्ड

—हिंद तत्त्वज्ञाननो इतिहास पूर्वार्ध, पृ० ९५-९६

'षष्टितंत्र'का जैन आगमोंमें बहुत सी जगह उल्लेख किया गया है। जिस स्थलपर किसी ब्राह्मण अथवा परिव्राजककी विद्वत्ताका वर्णन कियागया है, उस जगह 'षष्टितंत्र' तथा दूसरे ब्राह्मण ग्रंथोंके नामोंका उल्लेख मिलता है। जैसे स्कंद परिव्राजकके वर्णन करनेके प्रसंगमें बताया गया है कि,

"तत्थण सावत्थीए नयरीए गद्दभालिस्स अंतेवासी खंदए नाम कच्चायणस्सगोत्ते परिव्वायगे परिवसइ रिउव्वेद जजुव्वेद-सामवेद-अहव्वणवेद—इतिहास पंचमाणं निग्घंटु-छट्ठाणं चउण्हं वेदाणं संगोवंगाणं सरहस्साणं सारए वारए धारए पारए संडंगवी सट्ठितंतविसारए संखाणे सिक्खाकप्पे वागरणे छंदे निरुत्ते जोतिसामयणे अन्नेसु य बहुसु बंभण्णएसु परिव्वायएसु य नयेसु सुपरिनिट्ठिए यावि होत्था।"

—भगवतीसूत्र शतक २ उद्देश १ पृ. ११२, समिति

"श्रावस्ती नगरीमें स्कंदक नामका एक परिव्राजक रहता है जो गर्दभालीका अंतेवासी है और इतिहास तथा निघंटु सहित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और इन चार वेदों का सांगोपांग ज्ञाता, छह अंगोंका जानने वाला षष्टितंत्रमें विशारद, गणित, शिक्षा, कल्प, व्याकरण छंद, निरुक्त ज्योतिषशास्त्र वगैरह शास्त्रोंका वेत्ता और दूसरे भी ब्राह्मण और परिव्राजक नयोंमें सुपरिनिष्ठित है।"

'षष्टितंत्र' का अर्थ करते हुए भगवतीके टीकाकार कहते हैं कि,

"सट्ठितंत विसारए त्ति कापिलीयशास्त्र पण्डितः" भ.

"षष्टितन्त्रं कापिलीय शास्त्रम्" कल्पसूत्रम्

कल्पसूत्रमें (देवनंदाके स्वप्नफलका अधिकार, कल्पसूत्र व्याख्यान १ पृ० १५) ऋषभदत्त ब्राह्मण अपनी स्त्री देवनंदाको श्रेष्ठ स्वप्न आने पर कहता है कि, हे देवि, तुम्हारे एक सुन्दर पुत्र होगा। वह चार वेद और षष्टितंत्र वगैरह ग्रंथोंमें निपुण होगा। यहाँ मूलपाठ भगवती सूत्रके उपर्युक्त मूलपाठसे अक्षरशः मिलता है।

* 'आसुरि निरीश्वर सांख्यमतके उपदेशक होनेसे श्रौतविचार परम्पराके विरोधी मानेगये हैं। इसके परिणामस्वरूप शतपथके वंश ब्राह्मणमें से आसुरिकी ऋषिरूप वंश-परम्परा बंद हो गई है। श्रीयुत नर्मदाशंकर महेता बी० ए० का यह अनुमान अवश्य विचारणीय है।

देखो हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास भाग १ पृ० ९४

स्वयं आद्यशंकराचार्य कपिलको श्रुतिविरुद्ध और मनुवचनविरुद्ध तंत्रके प्रवर्तक कहते हैं। देखो ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २-१-१

वेद, महाभारत, पुराण और मनुस्मृति आदि के ज्ञानसे कपिलके तत्त्वज्ञानको श्रेष्ठ * समझते थे। परन्तु एक ओर स्वतंत्र सांख्य आचार्योंकी परम्परा लुप्त † होगई, और दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र जैसे प्रसिद्ध वैदिक विद्वानोंने सांख्यकारिकाके ऊपर श्रुतिसे अबाधित वेदसमन्वयी सौम्यटीका‡ लिखी। इस कारण वैदिक विद्वानोंमें सांख्यदर्शनके ऊपर नास्तिकताका कटाक्ष नामशेष रह गया।

जैनग्रन्थोंमें सांख्यदर्शन सम्बन्धी वर्णन वैदिक ग्रन्थोंके वर्णनसे बहुतसी बातोंमें मिलते हैं और बहुतसी बातोंमें भिन्न हैं। मिलने वाली तीन बातें हैं (१) सांख्यदर्शनका प्राचीनत्व और कपिलका क्षत्रियत्व, (२) आसुरिको कपिलका शिष्य मानना (३) और षष्टि-तन्त्र नामक सांख्यग्रन्थकी रचना। जैन और वैदिक ग्रन्थोंमें परस्पर न मिलने वाली बातोंमें मुख्य बात सांख्यदर्शनके आदि प्रणेताके विषयकी है। वैदिक ग्रन्थोंमें बिना मतभेदके कपिलको सांख्यदर्शनका मुख्य प्रवर्तक § कहागया है। जैन कथाके अनुसार यह मरीचि जैनोंके परम मान्य और अति प्राचीन प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का पौत्र और भरतचक्रवर्तीका पुत्र होता है। इसने पहले अपने पितामहके पास जैनदीक्षा स्वीकार की, परन्तु पीछेसे इसने शिथिलाचारी होकर एक नया ही वेष चलाकर सांख्यदर्शन के प्रस्थानकी नीव डाली। जैन कथामें कपिलको सांख्य आचार्योंका अग्रणी माना गया है, परन्तु यहाँ कपिलको मरीचि का शिष्य बताया गया है। कपिलने मरीचिका शिष्य होकर अपने मतका विस्तार किया और आसुरि नामक शिष्यको सांख्यतत्त्वज्ञानका उपदेश दिया। जैन और वैदिक ग्रंथोंमें परस्पर दूसरी न मिलने वाली बात यह है कि जैन कथाके अनुसार षष्टि-तन्त्र ग्रंथ आसुरिका बनाया हुआ है। परन्तु वैदिक परम्परा और खासकर सांख्यदर्शनकी परम्पराके अनुसार यह ग्रन्थ पंचशिखका रचा हुआ है।

जैन और वैदिक साहित्यकी बहुतसी बातें, भावनायें और वर्णनशैलीमें खास भेद होनेपर भी सांख्यदर्शनका प्राचीनता दोनोंके साहित्यसे प्रमाणित होती

* माठरवृत्तिकार मूलकारिकाकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि "इन कपिल ऋषि द्वारा उपदेश दिया हुआ तत्त्वज्ञान वेद, पुराण महाभारत और मनु आदि धर्मशास्त्रों से भी बढ़कर है।"

—देखो सांख्यकारिका ७० की माठरवृत्ति

† "सांख्यदर्शनके अनुकरण करनेवाले संन्यासियोंका वेष और आचार इस प्रकार है। वे त्रिदंडी अथवा एकदंडी होते हैं। अधोवस्त्रमें केवल एक कौपीन पहिनते हैं। उनके पहरनेके वस्त्र गेरुआ रंगके होते हैं। बहुतसे सांख्य-संन्यासी चोटी रखते हैं, बहुतसे जटाधारी होते हैं, बहुत से क्षुरमुंड होते हैं, मृगचर्मका आसन रखते हैं, ब्राह्मणके घर भोजन लेते हैं। बहुतसे केवल पाँच ग्रासोंके ऊपर रहते हैं। ये परिव्राजक लोग बारह अक्षरोंका जाप करते हैं। परिव्राजकोंको नमस्कार करनेवाले भक्त लोग परस्पर 'ओंनमो नारायणाय' बोलते हैं और परिव्राजकोंके सामने 'नारायणाय नमः' कहते हैं। वे लोग जैनसाधुओंकी तरह बोलते समय मुखवस्त्रिका रखते हैं। इनकी मुखवस्त्रिका कपड़ेकी नहीं होती, यह लकड़ीकी होती है। महाभारतमें इसे 'घीटा' कहा गया है। ये लोग जीवदया पालनेके वास्ते पानी छाननेका छन्ना भी रखते हैं, और अपने अनुयायियोंको भी छन्ना रखनेका उपदेश देते हैं। ये लोग मीठे पानीके साथ खारा पानी मिलजानेसे हिंसा मानते हैं और पानी की एक बूंदमें अनन्त जीवोंका अस्तित्व मानते हैं। इन लोगोंके आचार्योंके साथ 'चैतन्य' शब्द लगाया जाता है। इन लोगोंकी अधिक बस्ती बनारसमें पायी जाती है। ये लोग धर्मके नामपर किसी प्रकारकी हिंसा नहीं मानते। जैनदर्शन, गुजराती अनुवाद—

(पं० बेचरदास नो) प्रस्तावना पृ० ७३

‡ उदाहरणके लिये तुलना करो दूसरी सांख्यकारिका के ऊपर कर्मकाण्डप्रधान वैदिक श्रुतियोंका कटाक्षयुक्त परिहास और उग्र विरोध करने वाली माठरवृत्तिके साथ इसी कारिकाकी सांख्यतत्त्व कौमुदी तथा ७० वीं कारिका की माठरवृत्तिके साथ इसी कारिकाकी सांख्यतत्त्व कौमुदी।

§ देखो परिशिष्ट नं० १

है यह सुनिश्चित है। इतर दर्शनोंके ऊपर अलग अलग विषयोंमें सांख्यदर्शनका जो थोड़े बहुत रूप में गम्भीर प्रभाव देखा जाता है, वह सांख्यदर्शनकी प्राचीनताका आन्तरिक प्रमाण है।

गौरव गिरि।

तू तू मैं मैं छोड़, जोड़ प्रेम से पुनीत नाता,
तोड़ अभिमान झूठी, शेखी न दिखायँगे।
भाई बन भाई को अछूत न कहेंगे यदि
गृहदेवियों को देवी सम अपनायँगे।
दैव के भरोसे कर पर कर धरेंगे न
आके कर्मक्षेत्र बीच पौरुष दिखायँगे।
जीवन हथेली मे रखेंगे सत्य पूजा कर,
गौरव के गिरि पै समोद चढ़ि जायँगे॥ १॥
छोड़ स्वार्थ वासनायें करेंगे परोपकार,
बनेंगे अमर स्वार्थ-सिद्धि कर जायँगे।
बनेंगे जो प्रेम-पथ पथिक प्रसन्नता से,
चार दिन जीवन के चैन से बितायँगे।
थोड़ा भी मनुष्यता का पाठ पढ़ लेंगे यदि
कोयल के स्वर विश्व-प्रेम गीत गायँगे।
भगवान सत्य की उपासना करेंगे तब
गौरव के गिरि पै समोद चढ़ जायँगे॥ २॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)
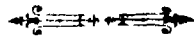
साहित्य परिचय।

विजातीय-विवाह मीमांसा—लेखक पं० परमेष्ठीदासजी जैन न्यायतीर्थ, प्रकाशक दुलीचन्दजी परवार जवाहिर प्रेस १६१।१ हरिसन रोड कलकत्ता। मूल्य ॥=)

पौने दो सौ पृष्ठकी इस पुस्तकमें इस विषयसे सम्बन्ध रखने वाली जैनसमाजोपयोगी प्रायः सभी चर्चा आगई है। आठ दस वर्ष पहिले मैंने वर्षोंतक जैनमित्रमें इस विषयमें लिखा था। बहुतसे सज्जनों ने उन सब लेखोंका सार पुस्तकाकार छपानेके लिये लिखदेनेका अनुरोध भी किया था, परन्तु मेरे सिर पर एकके बाद दूसरे आन्दोलन आते ही रहे, इस लिये पुरानी कृतियोंको संशोधनादि करनेका कार्य मुझसे न होसका। परन्तु इस विषय पर एक अच्छी सी पुस्तककी आवश्यकता थी। पं० परमेष्ठीदासजीने इस अभावकी पूर्ति करदी। इस विषयकी यह सांगोपांग पुस्तक बन गई है। पुस्तक संग्रहणीय है।

श्वेताम्बर मत समीक्षा दिग्दर्शन—लेखक बालचन्द्राचार्यजी; प्रकाशक फतेचन्द पूनमचन्दजी फलोदिया, अमरावती (बरार)। मूल्य एक रुपया।

पं० अजितकुमारजीने श्वेताम्बर-मत समीक्षा लिखी थी, उसीके उत्तरमें यह पुस्तक है। अधिकांश उत्तर ठीक दिये गये हैं, परन्तु पुस्तक देखनेसे यह बात तो मालूम होजाती है कि यह पुस्तक निःपक्ष आलोचना नहीं, किन्तु एकपक्षी उत्तर है। यह बात स्वाभाविक और क्षन्तव्य है। फिर भी पुस्तक इस रुचिके पाठकोंके लिये उपयोगी है।

तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय पर एक दृष्टि—लेखक—पं० बेचरदासजी; प्रकाशक—रतनचन्दजी इन्द्रचन्द्रजी पारख, मालीवाड़ा देहली। लेखकने तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, नामकी एक पुस्तक लिखी है। यह उसकी भूमिका है। विषय नामसे ही प्रगट है। उदारता और विद्वत्तापूर्वक लिखी गई है।

दिगम्बर जैन (शिक्षांक)—सम्पादक प्रकाशक—मूलचन्द किसनदासजी कापड़िया सूरत। मूल्य ॥।) वार्षिक मूल्य २।)

दिगम्बर जैन समाजकी शिक्षासंस्थाओं तथा शिक्षण कार्यके विषयपर प्रकाश डालनेवाला सुन्दर संग्रह है। पहिले विशेषांकोंकी अपेक्षा एक एक विषयके ये विशेषाङ्क अधिक सफल हैं।

The National Medical College

Magazine—सम्पादक एन० पी० शाह। यह National Medical College Students' Association Bombay का छहमाही पत्र है। असोसियेशनमें राष्ट्रीय विचारोंके सज्जनोंका बाहुल्य मालूम होता है। यह बात पत्रकी नीतिसे मालूम होती है। पहिला चित्र राष्ट्रपति राजेन्द्रबाबूका है। और भी चित्र हैं। डॉक्टरीसे सम्बन्ध रखने वाले लेखोंका अच्छा संग्रह है। सम्पादकका प्रयत्न प्रशंसनीय है।

वीरस्तु भगवान् स्वयम्—लेखक मुनि श्री फूलचन्दजी जैनधर्मोपदेष्टा (मारवाड़ी); प्रकाशक महता कानजी भूँभा भाई करांची। अमूल्य।

गुजरातीमें महावीर स्वामीका संक्षिप्त जीवन-चरित्र है।

२५ वर्षीय संक्षिप्त रिपोर्ट—श्राविकाश्रम जुनिली बाग तारदेव बम्बईकी यह २५ वर्षकी रिपोर्ट है। स्त्रीशिक्षाके लिये इस संस्थाने जो कार्य किया है, वह जैनसमाजसे छिपा नहीं है। अभी इसका रजतोत्सव हुआ था। उस समय करीब २०००) नये मकानके लिये और ६००) रुपये ध्रुवफंडमें आये थे। इसी अवसर पर छात्राओंने अनेक संवाद खेले थे। उसके गायनोंकी पुस्तक भी मिली है। मूल्य =)

ह्ढ़जीका पत्र।

श्रीमान सम्पादकजी साहब, "जैनजगत्"

जयजिनेश

बात यह है कि हमारा अन्तःकरण (न जाने क्यों ?) आपको भयानक व कठिन मार्गसे बचा कर निष्कंटक व महल मार्ग पर लानेके लिये बहुत लालायित है। यही कारण है कि हमे बार बार आप को पत्र लिखकर अपनी लेखनशक्तिका आभारी होना पड़ता है। हमे आपकी सीमा-रहित उदारता से पूर्ण आशा है कि आप हमारे पवित्र हृदय-उद्गारों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करके हमारे परिश्रमको सार्थक बनानेका प्रयत्न करेंगे।

आपका 'अन्धश्रद्धा' को त्याज्य व हानिप्रद समझना, हमें बहुत खटकता है। हमें दुःखके साथ कहना पड़ता है कि आप जैसा अद्वितीय व अजेय विद्वान भी कभी कभी ऐसी मोटी भूल कर बैठता है जिसको जानकर हँसी आये बिना नहीं रहती। देखिये, शेक्सपीयर (Shakespeare) ने एक स्थल पर लिखा है कि "प्रेम अन्धा होता है" (Love is blind) जब प्रेम, अन्धा होने पर भी, एक अत्यन्त पवित्र, पूज्य, व महान वस्तु है तब श्रद्धा-अन्धीश्रद्धाको क्यों बुरा कहा जाता है, यह समझमें नहीं आता। सच तो यह है कि जो 'श्रद्धा' अन्धी न हो वह वास्तवमें 'श्रद्धा' ही नहीं है। सात्विकश्रद्धा भी अन्धश्रद्धा ही का एक हलका रूप है। अतः 'अन्ध श्रद्धा' को बुरा व त्याज्य कहना परम पूज्य 'श्रद्धा' की बुराई करना है।

आपकी "जैनधर्मका मर्म" शीर्षक लेखमाला को पढ़कर एक ओर तो आश्चर्यमें दाँतों तले अँगुली दबानी पड़ जाती है, परन्तु दूसरी ओर हमारे भक्ति-पूर्ण हृदय-सागरमे क्रोध ज्वार आ आ कर रह जाता है और जी चाहता है कि ······। वास्तव में आपने हमारे सर्वोत्तम दिगम्बर जैन धर्मकी मूल मान्यताओंका बड़ी निर्दयता से खण्डन किया है। जब हम 'माला' की खण्डनात्मक सफलता पर दृष्टिपात करते हैं, उस समय हमारे मुखसे अचानक यह निकल पड़ता है कि—

आपकी 'माला' ने पटरा कर दिया,
क्या बताऊँ, उसने क्या क्या कर दिया ?
कुछ न सोचा, बेहया ने एक दम,
'धर्म' को पहिले तो नङ्गा कर दिया॥
फिर लगा कर कमचियाँ 'विज्ञान' की,
मैल तक भी दूर उसका कर दिया।
प्यारपूर्वक फिर पिलाया 'तर्क-दुग्ध',
पतले दुबले को मुसंडा कर दिया॥

'लठ' लिये फिरता है अब वह हर जगह,
'धर्म' को पक्का लफँगा कर दिया ।
"दृढ़" सँभालो लठ, बनो अब लट्ठबाज़,
'सत्य लठ' ने तो सफाया कर दिया ॥

आपकी प्रलयङ्कारी लेखमालाके विरुद्ध जिन महानुभावोंने उछलकूद मचाई है, वे कच्चे अन्धश्रद्धालु हैं, इसलिये उनका विरोध हमारी दृष्टिमें कुछ मूल्य नहीं रखता। हाँ, यदि पक्के अन्धश्रद्धालुओं द्वारा उसका विरोध किया जाता तो अवश्य हम जैसे अन्धश्रद्धालुका रोम रोम खिल उठता। परन्तु क्योंकि उन्होंने मौन-व्रत धारण कर रक्खा है, इस लिये वे बेचारे विवश हैं, नहीं तो अब तक वे 'माला' की बुरी तरह धज्जियाँ उड़ा देते। खैर ······ ···! जो लोग आपका विरोध करते हैं, वे आपके सन्मुख आनेका साहस नहीं करते। वे बनियेंकी तरह दुकानकी गद्दी परसे ही बाट दिखा दिखा कर रह जाते है, नीचे नहीं उतरते। यदि कोई उतावली में सामने आ भी जाता है, तो वह आपके एक दो वार झेलकर ही चम्पत हो जाता है। तो फिर भला हमे ऐसे लँगड़े विरोधसे कैसे सन्तोष होसकता है? भक्त-हृदयोंके मौनव्रतसे जो आपने अनुचित लाभ उठाया है, उसके सम्बन्धमें मै कहूँगा कि—

भक्तजन यदि मौन हैं, तो क्या हुआ?
यह न समझो काम अपना बन गया।
'सत्य—संशोधन' धरा रह जायगा,
'धर्म—डूबा' का जो हल्ला मच गया॥
छोड़ दो खटराग 'सत्यसमाज' का,
'सत्य' का क्यों तुमको दौरा पड़ा गया?
"दृढ़" बना रह दृढ़, न हिल, गिर जायगा,
फिर न कहना—हाय दद्दा मर गया॥

यह तो हम आपको जतला ही चुके हैं कि हमारे दृढ़ विचार कभी पलटा नहीं खा सकते, क्योंकि हम पक्के अन्धश्रद्धालु हैं। परन्तु जब हम आपकी "विरोधी मित्रोंसे" शीर्षक मुँहतोड़ लेखमाला ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं तो सहसा हमारे मुखारविन्दसे यह उद्गार निकल पड़ता है कि—

आपके दरबार का क्योंकर परेशाँ हाल हो?
जब कि 'दरबारी' वहाँ अनमोल दुर्लभ 'लाल' हो॥

'वीर' में इन शब्दोंको पढ़कर कि 'सबसे पहिले परमश्रद्धेय बैरिस्टर साहबने ही अपना विरोध दर्शा कर लेखमालाको धक्का पहुँचाया था' हमारे हृदयको बड़ा भारी धक्का पहुँचा है। इन लोगोंने हमें इस योग्य भी तो न रखा कि हम गर्वके साथ आपके सन्मुख आ सकें, भला ऐसे सफेद झूठका भी कुछ ठिकाना है! खैर, हम अपनी सफाईमें इतना लिखना ही काफी समझते है कि हम ऐसे विरोधियोंमें से नहीं जो क्रोध में पागल होकर झूठे आलाप अलापने लगें।

आपके 'भगवान व महात्मा' वाले लेखको पढ़ कर हमें आपके भोलेपन पर बड़ी दया आयी। क्या महात्मा गाँधी महावीर-तुल्य होगए? क्या अन्तरंग ऐश्वर्य वालेको भगवान नहीं कह सकते? क्या 'महात्मा' से आत्माकी उच्चतम अवस्था का बोध हो जाता है? कृपया इन प्रश्नोंका मुँहतोड़ उत्तर देकर हमारे भगवान-भक्त हृदयको सन्तुष्ट करनेकी असफल चेष्टा करनेका कष्ट उठाइयेगा।

आपके प्रभावका जो नित्य प्रतिदिन प्रचार होता जा रहा है, इसका मात्र कारण यह है कि आपके विरोधी बेचारे आपका ठीक ठीक विरोध नहीं कर पाते। इससे हमारे आर्षप्रणीत पक्षकी उलटी अप्रभावना होती है। आप उनका मुँहतोड़ उत्तर देकर अपना प्रभुत्व जमानेमें सफल हो जाते हैं। यही कारण है कि आज सैकड़ों आपके चेले बन गये हैं। मुझे भय है कि यदि ये लोग अपनी उछल कूद न छोड़ेंगे तो हमारा तो एक दिन सत्यानाश हो जायगा। यहाँ तो घरके आदमी ही लङ्का ढा रहे हैं, खेतकी बाढ़ ही खेतको खा रही है, फिर दूसरोंको क्या उलहना दें? हाय भगवान! इनको कब सुबुद्धि आयगी? हे भगवान! हमारी लाज रक्खो।

पंडितजी, अब तक जो हम मोटी मोटी बातें

बतलाकर ही अपने सम्यग्दर्शनके स्थितिकरण अङ्ग का पालन करते रहे, परन्तु अब भविष्यमें हम, इन व्यर्थ बातोंमें अपना बहुमूल्य समय न गँवाकर, मूल विषय पर आकर निशाने पर तीर लगानेका प्रयत्न करेंगे। अब हम आपकी लेखमालाके पर कैंच करेंगे। कैसे?, यह अगले पत्रमें देख लेना। योग्य सेवा लिखें। आपका—"दृढ़"।
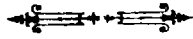
सत्यसमाज प्रगति।

पूनामें शाखा

(३१-३३)

श्रीयुत कनकमलजी मुणोत तथा श्रीयुत राजमलजी बलदौटाकी सम्मति पहिले प्रकाशित होगई है। आप लोगोंके प्रयत्नसे तीन सदस्य और बने हैं, इसप्रकार पाँच सदस्य होनेसे पूनामें शाखा होगई है। अभी पदाधिकारियोंके नाम नहीं आये हैं। सदस्यों का संक्षिप्त परिचय यह है:—

१—कनकमल मुणोत बी० ए० (ऑनर्स) पिता का नाम लालचंदजी, उमर २३ वर्ष। सदस्यताकी शाखा-नैष्ठिक। जन्मसे आप स्थानकवासी जैन हैं।

२—हरलाल बलदौटा। पिताका नाम-फूलचंदजी। उम्र २३ वर्ष। सदस्यताकी शाखा-नैष्ठिक। जन्मसे आप स्थानकवासी जैन हैं।

३—राजमल बलदौटा बी० एससी० एलएल० बी० वकील। पिताका नाम-उमेदमलजी। उम्र २६ वर्ष। नैष्ठिक शाखा। जन्मसे स्थानकवासी जैन।

४—त्र्यम्बक अंजल, शिक्षक-मॉडर्न हाईस्कूल पूना। पिताका नाम रामचंद्रजी। उम्र २७ वर्ष। नैष्ठिक शाखा। (जन्मसे आप वैष्णव ब्राह्मण हैं।)

५—ऊमचन्द भन्साली, व्यवस्थापक श्री फतहचन्द जैन विद्यालय चिंचवड़ पूना। पिताका नाम हीराचंदजी। उम्र ३२ वर्ष। नैष्ठिक शाखा। जन्मसे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन।

शाखाका पता-केअले बिल्डिंग लक्ष्मीरोड पूना

श्रीयुत पं० सूर्यभानुजी डाँगी बलूँदा (मारवाड़) सत्यसमाजके प्रचारके लिये आशातीत प्रयत्न कर रहे हैं। और आपको इसविषयमें जो सफलता मिल रही है उसका परिचय गतांकके विवरण से भी मिल जाता है। निम्नलिखित सम्मतियाँ तथा सदस्योंका बनना भी आपही के प्रयत्नका सुफल है।

(३४)

श्रीमान् राष्ट्रवीर कुँवर श्री शेरसिंहजी बहादुर जोधपुर नरेशके निकट कुटुम्बियोंमें से हैं। आपने निम्नलिखित सम्मति भेजी है। जातिपाँतिके विषय में जो आपके विचार हैं, उनके स्पष्टीकरणके लिये अभी यहाँ स्थान नहीं है। जैनजगत्में इस विषयमें बहुत कुछ लिखा गया है। मुझे आशा है कि कुछ समय बाद यह मतभेद भी मिट जायगा।

श्री जीवननिवास बाग पोस्ट ठि० बलूँदा
मारवाड़ ता० १८-१-३५

श्रीमान् संस्थापकजी महोदय, सत्यसमाज

मान्यवर पं० सूर्य्यभानुजी डाँगी जैन 'भास्कर'के द्वारा मुझे सत्यसमाज संघटना नामक पुस्तिका प्राप्त हुई। पंडितजीने मेरे सामने अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, सांख्य और योगका स्वरूप सामान्यरूपसे बतलाकर उनका सामान्य विवेचन करते हुए सर्वधर्म-समभाव विषय पर बहुत समय तक वार्तालाप की। वह पुस्तिका भी पढ़कर सुनाई। तद्गत कई विषयोंपर समालोचना भी चली। तत्पश्चात् पंडितजी ने मुझसे अनुरोध किया कि कुछ तुम भी इस विषय पर लिखकर भेजो तो उनके कहने पर मैं भी आप की सेवामें अपनी अल्प बुद्धि अनुसार कुछ निम्न शब्द प्रकट करनेको प्रेरित हुआ हूँ।

आपकी मन्दिर-स्थापनाकी योजना अत्यन्त ही प्रशंसनीय है। मुझे दोनों गायन पंडितजीने गाकर सुनाये जो कि अति उत्तम थे।

वास्तवमें श्री भगवान कहलाने वाले श्री राम, श्री कृष्ण, श्री बुद्ध आदि सभी महान पुरुष श्री भगवान सत्यके ही उपासक थे। यदि उनके रक्षक श्री

भगवान सत्य न होते तो वे कदापि इतनी प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते।

वास्तवमें हमको सब सम्प्रदायोंके प्रति सहानुभूति रखना चाहिये और परस्पर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये।

आपने ऐसे मनुष्योंके लिये एक ऐसा मार्ग तैय्यार कर दिया है कि जो बेचारे धर्मके अंधकार में फँसे हुए हैं और उसको नहीं समझकर अन्धश्रद्धामें अपना जीवन हार जाते हैं।

मैं पूर्ण विश्वासपूर्वक कहूँगा कि धीरे धीरे आप का सत्य धर्म और उदार योजना बहुतही सफलता प्राप्त करेगी। आपके इन अमूल्य विचारोंका अधिक प्रचार होने पर निश्चय ही हमारे देशका साम्प्रदायिक अन्धविश्वास मिटकर सर्वत्र सत्यका एक अनुपम साम्राज्य स्थापित हो जायगा।

जाति उपजातिके विषयमें आर्यसमाज वाली गड़बड़ आवश्यक नहीं है। हाँ, उनमें मानवताके नाते हमको उनसे अवश्य ही प्रेम करना उचित है, तिरस्कार नहीं करसकते, परन्तु उन बेचारोंके पूर्वजन्ममें उनके दुष्कर्म उपार्जन किये जानेके कारण ही वे आज नीच माने जाते हैं। व्यवहार बिगाड़ना इष्ट नहीं है।

आपके इस अनुपम सत्यसमाजके लिये विशेष क्या लिखूँ? मैं आपके पुष्ट उद्देश्योंका समर्थन करते हुवे इस पत्रको समाप्त करता हूँ। रा: कुं: शेरसिंह

(३५)

श्री० ठा० गोपालदासजी चौहानने सत्यसमाजके मंदिरकी स्कीमको खूबही पसंद किया है। आप सत्यसमाजके वैष्णव पाक्षिक सदस्य बने हैं। उम्र ३० वर्ष। पता c/o शम्भूमल गंगाराम बलूँदा (मारवाड़)

(३६)

श्री० पं० रामचंदजी स० जोशी, हिन्दीके विद्वान, गणितके प्रकांड पंडित और महाजनीमें निपुण हैं। यहाँ पोस्टमास्टर भी हैं। आप ब्राह्मण जागीरदार हैं। आप वैष्णव पाक्षिक सदस्य बने हैं। उम्र ३४ वर्ष। पता—पं० रामचंदजी जोशी बलूँदा (मारवाड़)

(३७)

श्री० अजयराजजी सा० डागा बलूँदा (मारवाड़)। आप वयोवृद्ध और अच्छे व्याख्याता हैं। जैनधर्म का मर्म अच्छी तरह समझते हैं। साधु महात्माओं की बहुत संगतिकी है। आपने सत्यसमाजका अनुमोदन करके सफलताकी आशा प्रगट की है।

(३८)

मारवाड़के प्रसिद्ध कार्यकर्ता श्रीयुत सेठ भीकमचंदजी छल्लाणी लिखते हैं:—

श्रीमान् माननीय पंडितजी साहब सादर जयजिनेन्द्र

ओसवाल समाजके सुपरिचित कवि कुँवर पं० डाँगी "सुर्य्यभानु" जैन "भास्कर" के द्वारा आप की "सत्यसमाज संघटना और गीतावली" नामक पुस्तक प्राप्त हुई। ध्यानपूर्वक पढ़ी। आपकी बुद्धि का बड़ा चमत्कार मालूम पड़ा। मुझे विश्वास है कि आपकी स्कीम बहुत ही उपकार करेगी, धार्मिक गुलामीसे छुड़ाकर हम नवयुवकोंको शान्तिका मार्ग बतलायगी। मुझे इतना आनन्द आया कि मैं वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। अभी कई एक कारणोंसे मैं किसी प्रकारका सदस्य नहीं बनसकता, परन्तु पूर्ण रूपसे अनुमोदन करता हूँ। नैष्ठिक मन्दिरोंकी रचनाका ढंग मुझे बहुत ही पसंद आया। जहाँ तक बन सकेगा मैं हर प्रकारसे मदद करनेका प्रयत्न करूँगा। —भीकमचंद छल्लाणी

पो० बलूँदा (मारवाड़)

ब्रह्मचारीजी और शास्त्रार्थ।

पण्डितदलके जैनगजट, हितेच्छु आदि पत्रोंने यह पॉलिसी इख्तियार कर रक्खी है कि जैनजगत्के साथ कोई छेड़छाड़ ही नहीं की जाय, जिससे उनके पाठक यह जान ही न सकें कि जैनजगत्में कुछ ऐसा लिखा जारहा है जिसपर कुछ ध्यान देनेकी जरूरत है। क्योंकि उसकी बातोंका जवाब देना उनके बूतेकी बात नहीं और यों ही अंटसंट लिखकर

अपनी कमजोरी जाहिर करना शायद वे ठीक नहीं समझते। परन्तु ब्रह्मचारीजी महाराज पर धर्मरक्षा का जोश सवार है, इसलिए वे जैनमित्रमें कुछ न कुछ लिखते ही रहते हैं या उन्हें लिखते रहना पड़ता है। क्योंकि वे समझते हैं कि यदि जैनधर्म को इस भारी संकटसे मैं न बचाऊँगा तो और कौन बचावेगा ? परन्तु शायद वे अपनेमें बचानेकी शक्तिका अभाव पाते हैं, इसलिए पण्डितोंसे पुकार पुकार कर कहते है कि भाइयो, दौड़ो, मैं तो न्याय शास्त्र जानता नहीं, परन्तु तुम्हारे पास तो बड़ी बड़ी डिगरियाँ हैं, न्यायशास्त्रका अगाध पाण्डित्य है, फिर क्यों नहीं उसे उपयोगमें लाते और पंडित दरबारीलालजीसे शास्त्रार्थ करके उन्हे पराजित कर देते जिससे वे धर्मका गला न घोट सकें ? अभी तक तो ब्रह्मचारीजी महाराज अपने लेखों द्वारा ही यह चीख-पुकार मचाते थे, परन्तु अबकीबार भेलसा-परिषत्के जलसेमें उन्होंने सब्जैक्ट कमेटीमें एक लम्बाचौड़ा प्रस्ताव ही पेश कर दिया कि अमुक अमुक छह पंडित एकत्रित होकर अमुक तिथिको अमुक स्थान पर पंडित दरबारीलालसे शास्त्रार्थ कर डालें। इसपर कुछ विचारशीलोंने सोचा कि यह तो 'गवाह-चुस्त मुद्दई सुस्त' वाला मसला है, और महाराज से कहा कि पहले आप उक्त पण्डितों को शास्त्रार्थके लिए तैयार करके उनसे मंजूरी तो ले लीजिए। यदि वे तैयार नहीं हुए—और जहाँ तक हम जानते हैं वे तैयार नहीं हैं—तो परिषत् शास्त्रार्थ की योजना न कर सकेगी और तब उसकी बड़ी भद्द होगी। और फिर इसके लिए प्रस्तावकी ज़रूरत ही क्या है? शास्त्रार्थियोंके तैयार होजाने पर शास्त्रार्थ सहजही कराया जा सकेगा। इस पर ब्रह्मचारीजी बहुत बिगड़े, कहा—आप लोगोंमें धर्मरक्षाकी भावना नहीं है, धर्मप्रेम नहीं है, आदि आदि, और आखिर उन्हें प्रस्ताव वापस ले लेना पड़ा! यह प्रस्ताव सब्जैक्टकमेटीमें ही पेश हुआ था, इस लिए इसकी चर्चा करनेकी जरूरत नहीं थी, परंतु ब्रह्मचारीजीने धर्मरक्षाकी अपनी अनन्य साधारण भावना प्रकट करनेके लिए इसे जैनमित्रमें भी प्रकाशित कर दिया है और उसके साथ फिरभी पंडितों से बड़ी आजिज़ीसे अपीलकी है कि वे किसी तरह इस अनर्थको रोकनेका प्रयत्न करें।

इस शास्त्रार्थके होनेमें हमें कुछ आपत्ति नहीं। पं० दरबारीलालजी भी इसके लिये तैयार हैं। परंतु हमारी समझमे यह नहीं आता कि ब्रह्मचारीजी जैसे सुशिक्षित पुरुषको इस गये बीते ज़मानेके भौथले हथियार पर इतना भरोसा क्यों है ? यह तो प्रेसका और पेपरोंका ज़माना है। इससमय तो इसीके द्वारा प्रत्येक आन्दोलन सफल और असफल किया जा सकता है। शास्त्रार्थोंमें तो यह हुआ करता है कि दोनोंही पक्षवाले अपनी अपनी जीतका डंका पीटते हैं और जो पक्ष प्रोपेगण्डा करनेमे तेज होता है, लोग उसीकी जीत समझने लगते हैं। परन्तु इस जीतका भी कोई अनुकूल फल नहीं होता है। उसके बाद भी दोनों पक्षवाले अपने अपने गीत गाते रहते हैं। पुराने ज़मानेकी वह मनोवृत्ति तो अब लोगोंमें रही नहीं है जिसके कारण हारनेवाला पक्ष अपना सिद्धान्त छोड़कर जीतनेवालेका अनुयायी होजाता था। क्या शास्त्रार्थ करने के लिए कटिबद्ध होनेवालों से यह प्रतिज्ञा कराई जासकती है कि वे यदि हार जावेंगे तो अपने विपक्षीके अनुयायी हो जावेंगे ?

एक बात और भी हमारी समझमें नहीं आती कि ब्रह्मचारीजी स्वयं शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते है ? और यदि शास्त्रार्थकलामें वे निष्णात नहीं हैं, तो लिखना तो खूब जानते हैं और उनके हाथमें सबसे अधिक पढ़ा जानेवाला पत्र है, फिर 'जैनधर्मके मर्म' का युक्तियुक्त खण्डन स्वयंही क्यों नहीं करते ? यह तो कोई दलील नहीं है कि मैं न्यायशास्त्र नहीं जानता। क्या न्यायशास्त्रको पढ़े बिना कोई किसी विषय पर विचार नहीं कर सकता ? वर्तमान संसारके जो बड़ेसे बड़े विद्वान हैं, क्या वे सभी आपका न्यायशास्त्र पढ़े हैं ? फिर भी, क्या वे किसी गहन विषय

पर विचार नहीं कर सकते हैं ? जैनधर्मके बड़े बड़े बीसों ग्रन्थ लिख डालने या अनुवाद करनेमें तो आपको न्यायशास्त्रके ज्ञानकी कमी नहीं महसूस हुई, फिर इसीके लिए उसका सहारा क्यों लिया जाता है ? न्यायशास्त्रको विधिपूर्वक पढ़े बिनाभी तो लोग युक्तियुक्त चर्चा किया करते हैं। विद्वानों और मनीषियोंकी गवेषणाओं और विचारोंके संग्रह परसे ही तो न्यायशास्त्रका निर्माण हुआ है। उस संग्रहके बादही वह बनता है, पहले नहीं। हमें बहुत सन्देह है कि आपने 'जैनधर्मके मर्म' को अच्छी तरह विचारपूर्वक पढ़ा है। किसी विषयकी तह तक पहुँचनेकी दृष्टिसे पढ़नेकी आपकी न तो आदत ही है, और न आपने अपने भ्राम्यमान परिव्राजक जीवनमें इसके लिए कोई अवकाश ही रख छोड़ा है। अन्यथा उक्त लेखमालाके विचारोंकी आलोचना करनेमें न्यायशास्त्रकी अनभिज्ञता आपके लिए बाधक नहीं होती।

और जिन पण्डितोंके आगे आप पुकार मचा रहे हैं, फिरभी जिनके कानोंपर जूँ तक नहीं रेंगती, वे भी कहाँ उक्त लेखमालाको पढ़ते हैं ? धर्मकी सख्त पहरेदारी उन्हें पढ़ने भी तो नहीं देती। इसके सिवाय उनके विचारने और सोचनेका दायरा इतना छोटा और संकुचित है कि ऐसी विशाल और विविध दृष्टिकोणस्पर्शी विचारधाराका अवगाहन करना उनके लिए असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आपके समाजमें साम्प्रदायिकता और कट्टरता इतनी कूट कूट कर भरी गई है, विशेष करके धार्मिक संस्थाओंमें पढ़े हुए और उन्हींके द्वारा जीवित पोषित तथा प्रतिष्ठा पाये हुए व्यक्तियोंमें कि वे अपनेसे ज़रा भी भिन्न विचारोंको सहन ही नहीं कर सकते, सुन ही नहीं सकते। और इस कट्टरताको आपही जैसे उपदेशक तथा लेखक निरन्तर पुष्ट किया करते हैं। इन्हें विचारसहिष्णुता सिखलाई गई होती और केवल दिगम्बर जैनसाहित्यके अतिरिक्त विश्वके विशाल ज्ञानभण्डारमें से कुछ और प्राप्त करनेकी भी जिज्ञासा उत्पन्न कराई जाती, तो ये आपके विधवाविवाह–धर्मके मूलभूत तत्त्वोंसे अविरुद्ध और और मानवतापोषक आवश्यक–आन्दोलनको इतनी बेरहमी और निर्लज्जताके साथ कुचलनेके लिए बद्धपरिकर न होते।

मैं यह नहीं कहता कि पण्डित दरबारीलालजी के सभी विचार और सिद्धान्त मानलेने चाहिए या वे सभी ठीक हैं। ऐसी आशा तो वे भी नहीं करते। परन्तु उनपर सहृदयता, सहिष्णुता और उदारताके साथ विचार तो होना चाहिए। ऐसा न करके, उनके विरुद्ध लोगोंको भड़काना, उनकी आवाजको बन्द करनेका प्रयत्न करना, कमसे कम विद्वान कहलाने वालोंके लिए तो शोभाकी बात नहीं है। यदि कोई जीवित समाज होता, तो आज उसे इस बातका अभिमान होता कि हममें एक ऐसा विद्वान उत्पन्न हुआ जो अपनी गहरी अध्ययनशीलता, निर्भीकता और अथक परिश्रमसे ऐसी बातोंपर एक बिल्कुल नवीन दृष्टिकोणसे विचारकर रहा है, जिनको सैकड़ों वर्षसे किसीने स्पर्श भी नहीं किया था, और जो साम्प्रदायिकताके विषसे मूर्च्छित इस पराधीन गुलाम देशके लिए एक नवीन सन्देश दे रहा है ! परन्तु दुर्भागी है जैनसमाज कि वह उक्त अनोखी और बिल्कुल मौलिक लेखमाला की क़द्र करना तो दूर रहा, यह भी नहीं चाहता कि वह पढ़े लिखे समझदार लोगोंके हाथों तक पहुँच जाय। जैनजगत्के पढ़नेवालों पर भी आज उँगली उठाई जाती है !

—नाथूराम प्रेमी।
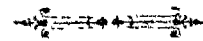
करुण क्रन्दन (२)

(विधवा)

स्वप्न राज्यकी छोटीसी मेरी यह एक कहानी है।
ओ‍ऽ दयाशीलोंके आगे मुझको आज सुनानी है॥
व्याकुल दुख से रोते रोते हलकी झपकी आई थी।
असह वेदना से पलभर को मेरी हुई रिहाई थी॥

मैंने देखा मेरे वे प्रियतम मेरे सम्मुख आए।
देखा मेरी ओर प्रेमसे, कुछ कुछ वह मृदु मुसकाए॥
बोले, मत व्याकुल हो तू, ए प्रिए! शीघ्र मैं आताहूँ।
आह! अकेली रोती क्यों! मैं आकर धैर्य बँधाताहूँ॥
कभी न अब तुझको छोडूँगा, आँखोंमें बिठलाऊँगा।
पल भरकोभी त्याग तुझे, मैं कहीं नहीं अब जाऊँगा॥
आते देख उन्हें मैं अपने मनकाहर्ष न सकी सम्हाल।
स्वागत हेतु उठी मैं अनाशाप्रिय सजाकर मोहन थाल॥
हर्षित हुई हृदय मे, मैंने अपनी खोई निधि पाई।
मेरे पीत कपोलोंपर, आभा क्या अरुण झलक आई॥
दीपक ले स्वागत के हित आई सत्वर उनके आगे।
मैंने देखा क्या? वह सहसा मेरे आगे से भागे॥

मैं बोली, प्रियतम, प्राणेश्वर! मुझे छोड़ अब मत जाओ।
बहुतहोचुकी 'आँखमिचौनी' अबतोमुझको अपनाओ॥
उन्हें पकड़ने चली अग्रसर बढ़ी आह मैं घबराई।
उठते ही हा, सूनी दीवालों से सहसा टकराई॥
सिर चकराया, देखा मैंने, केवल आहशून्य गृह था।
थी मैं केवल वहाँ अकेली और वहीं कारागृह था॥
सावनकी थी रात अँधेरी रिमझिम वर्षा होती थी।
और अँधेरे कोने में मैं फूट फूट कर रोती थी॥
वहप्रवञ्चना थी माया थी स्वप्नजगत्का था वह दृश्य।
प्रियतम कहाँ! आह विधवाके लिखा भालमें दुःख-
अदृश्य॥

—"वत्सल" विशारद।

Court Notice.

Under Section 19, clause (2), of the Provincial Insolvency Act V of 1920, notice is hereby given to all the creditors concerned that the following petitions have been admitted and are fixed for hearing on the dates shown against them. Creditors wishing to urge any objections may do so on the dates fixed for hearing.—

No. of Insolvency case	Date of presentation of petition.	Name, address and description of debtor.	Names of creditors stated in the petition.	Date of admission of petition.	Date fixed for hearing.
FIRST SUB-JUDGE, 2nd CLASS, AMRAOTI					
147-34	[illegible]	[illegible] Ramdeval Wani of Chandur Taluq Chandur	1 Ambadas Rukhabsa Wani 2 Yogasa Rukhabsa Wani 3 Gyarsilal Sawlaram Marwari. 4 Champabai W/o Jaideo-pershad Marwari. All of Chandur.	22-12-34.	15-2-35
113-34	29-8-34	Ganpat S/o Gangaji Marathe Teli of Wadali Taluq Amraoti.	Hari S/o Trimbak Gadre Pleader of Pimpalgaon District Nasik.	29-8-34.	15-2-35

(Sd) J. P. JAIN,

21-1-1935. First Sub-Judge, II Class, AMRAOTI

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N. 352.

ता० १६ फरवरी
वर्ष १०

सन् १९३५

अंक ६

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
सर्वतीर्थकृतामन्यम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। } प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

चर्चाके लिए निमन्त्रण।

स्याद्वाद विद्यालय बनारसके उपअधिष्ठाता बाबू हर्षचन्द्रजी बा० ए० ऐलऐल० बी० वकील ने सर्वज्ञता तथा मुक्तिके विषयमें चर्चा करनेके लिए एक निमन्त्रणपत्र मुझे भेजा है। वह जैनमित्रमें भी छप चुका है। मैं ऐसी चर्चाके लिये प्रसन्नता-पूर्वक तैयार हूँ। उस पत्रका उत्तर जो कुछ मैंने दिया है वह यह है:—

श्रीमान बाबू हर्षचन्द्रजी !

आपका पत्र मुझे यथासमय मिल गया था, परन्तु मैं उसका उत्तर समयपर न दे सका क्योंकि मुझे न्याय-तीर्थके विद्यार्थियोंको लेकर इन्दौर आना पड़ा था।

आपके पत्रसे मुझे प्रसन्नता हुई। शास्त्रार्थकी धींगाधींगी मुझे पसन्द नहीं है, परन्तु जिज्ञासु भाव से वीतरागचर्चा करना मुझे पसन्द है। आपका प्रयत्न भी इसी दिशा में है इसलिये मेरी तीव्र इच्छा है कि यह सफल हो। आपने मेरे विचारोंके विषयमें जो कुछ लिखा है वह स्वाभाविक है, क्योंकि आपने मेरे लेखोंको नहीं पढ़ा है। स्पष्टीकरणके लिये यहाँ कुछ सूचनाएँ लिखे देता हूँ।

१—मैं जैनधर्मानुयायी हूँ, परन्तु जैन धर्मानुयायी ही नहीं हूँ, किन्तु सर्वधर्मानुयायी हूँ। दूसरे शब्दोंमें सत्यसमाजी हूँ, सर्वधर्मसमभावी हूँ।

२—अब मुझे जैनधर्मके विषयमें संशय नहीं है, किन्तु निश्चय है। हाँ, कुछ बातोंमें वह निश्चय पक्षमें है और कुछ बातोंमें विपक्षमें। फिर भी मैं इतना निःपक्ष हूँ कि मेरे प्यारेसे प्यारे विचार भगवान सत्यके विद्रोही सिद्ध हों तो मैं उन्हें बड़ी निर्दयता से कुचल दूंगा।

३—मैं जैन कुटुम्बमें पैदा हुआ हूँ। मेरा शिक्षण भी जैनसंस्थाओंमें हुआ है। सोलह वर्षसे अध्यापन भी जैन संस्थाओंमें कर रहा हूँ। इसप्रकार मेरी संस्कृति तथा आर्थिक व्यवस्था जैनधर्मके अनुकूल है। अगर मैं जैनधर्मके गीत गाऊँ तो समाजसे पूजा सत्कार भी काफी मिल सकता है। परन्तु इन सब बातोंकी तथा कच्चे सूतसे सिर पर लटकती हुई तलवारोंकी पर्वाह न करके, आर्थिक हानि सहकर, आनन्दके लिये पर्याप्त समय मिलने पर भी, इसी काममें दिन रात जुटा रहकर जो कुछ सह रहा हूँ, उससे समझा जासकता है कि भगवान सत्यकी वेदी पर यह मेरे सर्वस्वका बलिदान है, भलेही उसका

वर्ष १०

अंक ६

माघ शुक्ला १३

वीर संवत् २४६१

जैनजगत्

ता० १६ फ़रवरी

सन् १९३५ ई०

भगवान् [illegible] !

तू जगत्-पिता वात्सल्य प्रेम रत्नाकर ।
देवाधिदेव सुख स्वतन्त्रता का आकर ॥
हैं राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध, मुहम्मद सारे
जरथुस्त, यीशु सब तेरे पुत्र दुलारे ॥१॥

है देशकाल का भेद, मगर हैं भाई
आकर सबने तेरी ही महिमा गाई
सब ही लाये तेरा पदरज का अञ्जन
जिससे विवेक का भान हुआ, दुखभञ्जन ॥२॥

छाती है जगमें जब कि घोर अंधियारी
अन्यायों से भर जाती पृथिवी सारी ।
बनता है कोई पुत्र दुलारा तेरा
वह विश्व मात्र का सेवक प्यारा तेरा ॥३॥

होता है उसका उदय जगत् में रविसम ।
मिट जाता जगका अन्धकार रंजो ग़म ॥
अन्यायों का नाम न रहने पाता ।
सर्वत्र शान्ति-साम्राज्य अनोखा छाता ॥४॥

अब फिर भूला है जगत् तात तेरी छवि ।
होगया सत्पथ लीन विश्व ज्यों गत रवि ॥
गिर पड़ा विपत् का और प्रलोभन का पवि
सब बुद्धिशून्य हो रहे महापंडित कवि ॥५॥

अत्याचारों की निकल गई है शंका
ताण्डव दिखलाकर बजा रहे हैं डंका
हिंसा की चंडी मूर्त्ति नाच करती है
भगवती अहिंसा का प्रभाव हरती है ॥६॥

ले चुकी अहिंसा का आसन कायरता
बदमाशी कहलाती चुकी नीति तत्परता ॥
[illegible] वीरत्व वेष कर धारण ।
[illegible] सबका सुख वात्सल्य निवारण ॥७॥

बलवान सब जगह सुविधाएँ पाते हैं ।
निर्बल बेचारे धुतकारे जाते हैं ॥
अबलाओंको है लोग पीसते ऐसे
चक्की के दोनों पाट अन्न को जैसे ॥ ८ ॥

बलवान स्वार्थको धर्म धर्म कहता है ।
निर्बल मौनी बन सारे दुख सहता है ॥
समताभावों की हँसी उड़ायी जाती ।
है न्यायशीलता पद पद ठोकर खाती ॥ ९ ॥

तेरे पुत्रों ने था जो मार्ग दिखाया
उसपर लोगों ने ऐसा जाल बिछाया
सब भूले तुझको बना दलों का दलदल
उसमें फँसते हैं मरते हैं खोकर बल ॥ १० ॥

अब है उदारता का न नाम भी बाकी ।
गाली खाती फिरती है आज वराकी ॥
हर जगह संकुचितता है राज्य जमाती ।
जनता तेरा पथ छोड़ भागती जाती ॥ ११ ॥

ढोंगों ने धर्मासन भी छीन लिया है ।
धार्मिकता का भी चोला बदलदिया है ॥

अंक ६

माघ शुक्ला १३
वीर संवत् २४६१

ता० १६ फ़रवरी
सन् १९३५ ई०

भगवान् सत्य।

तू जगत्-पिता वात्सल्य प्रेम रत्नाकर।
देवाधिदेव सुख स्वतन्त्रता का आकर॥
हैं राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध, मुहम्मद सारे
जरथुस्त, यीशु सब तेरे पुत्र दुलारे॥१॥

है देशकाल का भेद, मगर हैं भाई
आकर सबने तेरी ही महिमा गाई
सब ही लाये तेरी पदरज का अञ्जन
जिससे विवेक का भान हुआ, दुखभञ्जन॥२॥

छाती है जगमें जब कि घोर अँधियारी
अन्यायों से भर जाती पृथिवी सारी।
बनता है कोई पुत्र दुलारा तेरा
वह विश्व मात्र का सेवक प्यारा तेरा॥३॥

होता है उसका उदय जगत् में रविसम।
मिटजाता जगका अन्धकार रंजो ग़म॥
अत्याचारों का नाम न रहने पाता।
सर्वत्र शान्ति-साम्राज्य अनोखा छाता॥४॥

अब फिर भूला है जगत् तात तेरी छवि।
होगया संतमस-लीन विश्व ज्यों गत रवि॥
गिर पड़ा विपत् का और प्रलोभन का पवि
सब बुद्धिशून्य हो रहे महापंडित कवि॥५॥

अत्याचारों की निकल गई है शंका
ताण्डव दिखलाकर बजा रहे हैं डंका
हिंसा की चंडी मूर्त्ति नाच करती है
भगवती अहिंसा का प्रभाव हरती है॥६॥

ले चुकी अहिंसा का आसन कायरता
बदमाशी कहला चुकी नीति तत्परता॥
क्रूरत्व आज वीरत्व वेष कर धारण।
करता है सबका सुख वात्सल्य निवारण॥७॥

बलवान सब जगह सुविधाएँ पाते हैं।
निर्बल बेचारे धुतकारे जाते हैं॥
अबलाओंको हैं लोग पीसते ऐसे
चक्की के दोनों पाट अन्न को जैसे॥ ८॥

बलवान स्वार्थको धर्म धर्म कहता है।
निर्बल मौनी बन सारे दुख सहता है॥
समताभावों की हँसी उड़ायी जाती।
है न्यायशीलता पद पद ठोकर खाती॥ ९॥

तेरे पुत्रों ने था जो मार्ग दिखाया
उसपर लोगों ने ऐसा जाल बिछाया
सब भूले तुझको बना दलों का दलदल
उसमें फँसते हैं मरते हैं खोकर बल॥ १०॥

अब है उदारता का न नाम भी बाकी।
गाली खाती फिरती है आज वराकी॥
हर जगह संकुचितता है राज्य जमाती।
जनता तेरा पथ छोड़ भागती जाती॥ ११॥

ढोंगों ने धर्मासन भी छीन लिया है।
धार्मिकता का भी चोला बदलदिया है॥

मूसल से भारी पाप न पूछे जाते
निष्पाप क्रिया पर सब ही आँख उठाते ॥१२॥
हैं सभी रूढ़ियाँ तेरा मार्ग कहातीं।
पर तेरी ही आज्ञाएँ ठोकर खातीं ॥
बन रहे धर्मगृह द्वेष दम्भ क्रीड़ास्थल
है तांडव दिखला रहा सब जगह छल बल ॥१३॥
सद्धर्म जगत् भर को पवित्र करता है।
पर धर्म आजका छूने से मरता है ॥
तर गये भील चांडाल जिसे पाने से।
वह आज नष्ट होता उनके आने से ॥ १४ ॥
अब यह असत्य साम्राज्य न देखा जावे।
अच्छा है तेरा कोई दुलारा आवे ॥
अथवा मैं ही पा सकूँ चरण-रज तेरी ॥
तेरी पूजा में लगे ज़िन्दगी मेरी ॥ १५ ॥
पापों की जड़ दूँ खोद न जीता छोड़ूँ
सदसद्विवेक से सबके बन्धन तोड़ूँ
मिट्टी में यह तन मिले नाम भी जावे
पर तेरी पूजा में न कमी रह पावे ॥ १६ ॥
पशु अबला निर्बल शूद्र न पिसें बिचारे
प्राणी समस्त हों बन्धु बन्धुसम प्यारे
हो स्वार्थत्यागका भाव सभी के मनमें
सर्वत्र दया सत्प्रेम रहे जीवन में ॥ १७ ॥
अनुचित बन्धन तो एक न रहने पावे
सर्वत्र हिताहित बुद्धि मार्ग दिखलावे
अपने अपने अधिकार रख सकें सब ही
होगा मुझको संतोष तात! बस तब ही ॥१८॥
स्वामित्व न हो पशुबल धनबलका सहचर
दानव का हो अधिकार नहीं मानव पर
सच्चा सेवक ही बने जगत्-अधिकारी

जैनधर्मका मर्म।

(५८)

अन्तरङ्ग तप ही वास्तवमें तप हैं। इन्हींसे आत्मशुद्धि और लोकसेवा होती है। बाह्यतप तो इसलिये तप हैं कि वे अन्तरङ्गतपमें कारण हैं। महात्मा महावीरके पहिले बाह्यतपको ही तप कहा जाता था, परन्तु बाह्यतपसे आत्माका कोई विशेष विकास न होता था इसलिये उनने इन आभ्यन्तर तपोंकी रचना की या मुख्यता दी। जैनधर्मने तप शब्दके अर्थमें यह आवश्यक वृद्धि की थी। अकलङ्कदेव * ने इन तपोंकी आभ्यन्तरताके तीन कारण बताये हैं। (१) दूसरे धर्मोंने इनका तप रूपमें अभ्यास नहीं किया। (२) अन्तःकरणकी वृत्तिपर अवलम्बित हैं। (३) इनके करनेमें बाह्यद्रव्यकी आवश्यकता नहीं। इससे मालूम होसकता है कि जैनधर्मका वास्तविक तप क्या है?

अन्तरङ्ग तप छः हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान।

रह सके न कुछ भी वैर हृदय के भीतर
बह जाय नयन के द्वार अश्रु बन बन कर ॥
हो सदा "अहिंसा परमोधर्मः" की जय
अन्याय रूढ़ियों अत्याचारों का क्षय ॥२०॥
सब धर्मों में समभाव देव हो मेरा
निःपक्ष हृदय में नाम मन्त्र हो तेरा
मैं देख देख कर चलूँ चरणरज तेरी
बस, एक कामना यही प्रभो है मेरी ॥२१॥

—दरबारी लाल (सत्यभक्त)

---

* यतोऽन्यैस्तीर्थैरनभ्यस्तमभावितं ततोऽस्योत्तरत्वम् अभ्यन्तरमितियावत्। अन्तःकरणव्यापारावलम्बनात् तपसोऽस्याभ्यन्तरत्वम्। ९-२०-१। बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वाच्च।

प्रायश्चित्त—अपने दोषोंके दुष्प्रभावको दूर करनेके लिये स्वेच्छासे प्रयत्न करना प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त और दंडका उद्देश्य एक ही है। दोनों ही दोषोंके दुष्प्रभावको दूर करनेके लिये हैं परन्तु प्रायश्चित्त स्वेच्छतासे होता है, वह आत्मशुद्धिसे सम्बन्ध रखता है; जबकि दंडमें स्वेच्छाका खयाल नहीं किया जाता। इसलिये प्रायश्चित्त तप है, दंड तप नहीं है।

प्रायश्चित्त गुरु आदिके द्वारा दिया जाता है और दंड किसी शासकके द्वारा दिया जाता है, इसलिये दोनोंकी प्रक्रियामें भी भेद है। फिर भी कभी दंड प्रायश्चित्त बनजाता है और कभी प्रायश्चित्त दंड बन जाता है। अनिच्छासे लियागया प्रायश्चित्त आत्मशोधक नहीं होता इसलिये वह दंड है। और जब नीतिकी रक्षाके लिये शासकके सामने स्वेच्छासे आत्मसमर्पण किया जाता है तब वह दंडरूप होकर भी प्रायश्चित्त है। मतलब यह कि स्वेच्छा और अनिच्छासे दोनोंमें भेद पैदा होता है।

प्रायश्चित्त, दंड न बनजाय इसलिये अनेक दोषोंका बचाव किया जाता है। इसके लिये यह आवश्यक है कि किसी प्रकारका बहाना न किया जाय, मायाचार न किया जाय। जिससे अपनी निर्मलता सिद्ध हो और लोगोंमें निर्वैरवृत्तिका प्रचार हो उसी ढंगसे प्रायश्चित्त लेना चाहिये। प्रायश्चित्तमें निम्नलिखित दोषोंका बचाव करना चाहिये।

(१) प्रायश्चित्त करनेके पहिले इस आशयसे गुरुको प्रसन्न करना जिससे वे प्रायश्चित्त कम दें, (२) बीमारी आदिका बहाना निकालकर यह कहना कि अगर आप कम प्रायश्चित्त दें तो मैं दोष कहूँ। (३) जो दोष दूसरों ने देखलिये हैं उनका कहना और जो दूसरों ने नहीं देखपाये हैं उनको छुपाजाना। (४) बड़े बड़े दोष कहना, छोटे छोटे दोष छुपाजाना (५) बड़े बड़े दोष छुपा जाना और छोटे छोटे दोष प्रगट करना। (६) दोष न बताना किन्तु यह पूछ लेना कि अगर ऐसा दोष होजाय तो क्या प्रायश्चित्त होगा, इसप्रकार चुपचाप प्रायश्चित्त लेना। (७) सांवत्सरिक पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणके यह समय समझकर दोष प्रगट करना कि इसी सामूहिक प्रतिक्रमणके साथ ही प्रायश्चित्तका आलोचन प्रतिक्रमण होजायगा और अलग से कुछ न करना पड़ेगा। (८) प्रायश्चित्तमें अनुचित सन्देह करना। (९) अपने किसी घनिष्ठ मित्र या साथीको अपना दोष बताकर प्रायश्चित्त लेना, भले ही वह उचितसे अधिक हो। (१०) अपने समान किसी दूसरेने अपराध किया हो तो उसीके समान चुपचाप प्रायश्चित्त ले लेना।

इन दस दोषोंमें जिस बातको हटानेकी सबसे अधिक चेष्टा की गई है वह है प्रायश्चित्तकी गुप्तता। प्रायश्चित्तकी गुप्ततासे, उसका होना करीब करीब न होनेके बराबर होजाता है। वह न तो आत्मशोधन करता है, अथवा बहुत थोड़ा करता है और न निर्वैरता पैदा करता है। जब हमसे किसीका अपराध हो जाता है, और उससे जो वैर बढ़ता है—जो कि बड़े बड़े अनर्थोंको पैदा करता है—उसका कारण सिर्फ़ यह नहीं है कि उस अपराधसे उसकी ऐसी हानि होगई है जिसकी वह पूर्त्ति नहीं कर सकता, किन्तु उसका कारण यही होता है कि वह हमको अपना हितैषी और विश्वासी नहीं समझता। प्रायश्चित्तसे वह विश्वस्तता फिर पैदा कीजाती है। परन्तु अगर हम चुपचाप प्रायश्चित्त करलें तो इससे दो बड़ी हानियाँ होंगी। पहिली तो यह कि जिसका हमने अपराध किया है उसको हमारी आत्मशुद्धिका पता न लगेगा इसलिये उसका वैर बढ़ता ही जायगा। दूसरी यह कि इससे हमारे अहङ्कारकी पुष्टि होती है। अपराधी होनेपर भी जब हम अपना अपराध प्रगट रूपमें स्वीकार नहीं करते तब इसका कारण यही समझना चाहिये कि इससे हम अपनी तौहीन समझते हैं। यही अहङ्कार तो आत्मशुद्धि के मार्गमें सबसे बड़ा अड़ंगा है। जहाँ अहङ्कार है वहाँ प्रेम कहाँ? जहाँ प्रेम नहीं, वहाँ शान्ति कहाँ? जहाँ शान्ति नहीं वहाँ सुख कहाँ?

हमारी यह छोटीसी ही भूल अनेक अनर्थ पैदा

करती है। हम मित्रों की हानि और शत्रुओं की सृष्टि करते हैं। हम मुनि हों या श्रावक, हमारा कर्तव्य है कि हमसे जब किसीका अपराध होजाय तो वह हमें माफ़ करे या न करे परन्तु हमें उसके साम्हने अपराध स्वीकार कर लेना चाहिये। अपराध कितना भी पुराना पड़गया हो परन्तु वर्षों पीछे भी उसकी आलोचना सफल है। इस विषयमें अपवाद सिर्फ़ इतना ही बनाया जा सकता है कि किसी समाजहितके लिये उस अपराधका छुपाना आवश्यक हो तो छुपाया जाय। उसमें अहंकारका तो लेश भी न आना चाहिये। मायाचार, कायरता आदि भी आत्मशुद्धिमें बाधक हैं, इसलिये उनको दूर करने के लिये भी उन दोषोंको दूर करना चाहिये।

पुराने समयकी मुनिसंस्थाको लक्ष्यमें लेकर प्रायश्चित्तके नव भेद किये गये हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार, उपस्थान। अपने दोषको स्वीकार करना आलोचना है। इसकी आवश्यकता जैसी तब थी, वैसी अब है। लगे हुए दोषों पर पश्चात्ताप प्रगट करना, वह मिथ्या होजाय इत्यादि कहना यह प्रतिक्रमण है। आलोचन और प्रतिक्रमण ये एक ही तरह के प्रायश्चित्त हैं। प्रतिक्रमण शब्दका अर्थ है पापसे लौटना। इस दृष्टिसे आलोचन भी प्रतिक्रमण है। परन्तु यहाँ पर प्रतिक्रमण और आलोचनको अलग अलग कहा है, इससे प्रतिक्रमणको आलोचनसे विशेष समझना चाहिये, और सामाजिक व्यवहारमें प्रतिक्रमणमें क्षमायाचना शामिल करना चाहिये। कहीं सिर्फ़ आलोचनासे प्रायश्चित्त होता है, कहीं पर अपराधोंकी पृथक् पृथक् आलोचना न करके सिर्फ़ क्षमायाचनासे काम चल जाता है, और कहीं पर दोनों की आवश्यकता होती है। प्रत्येक बातकी जुदी जुदी आलोचना करके जुदी जुदी क्षमायाचना करना पड़ती है।

जिस विषयमें अधिक आसक्ति हो उस विषय को छुड़ादेना विवेक है। अमुक समयके लिये ध्यान आसन लगाना कायोत्सर्ग है। तपका वर्णन पहिले होचुका है। प्रायश्चित्तके प्रकरणमें तपका अर्थ उपवास आदि बाह्यतप है।

छेद प्रायश्चित्त पहिले समयके रिवाज पर अवलम्बित है। पहिले समयमें यह नियम था कि जो मनुष्य पहिले दीक्षित होता था, वह बड़े भाईके समान मानाजाता था और जो पीछे दीक्षित होता था वह छोटे भाईके समान माना जाता था। इसके बाद सभ्यताका नियम लगता था कि छोटा भाई बड़े भाई की विनय करे। एक मुनिकी उमर पचास वर्षकी है परन्तु वह पाँच वर्षसे दीक्षित है, और दूसरेकी उमर चालीस वर्षकी है परन्तु वह दस वर्ष का दीक्षित है, ऐसी हालतमें पचास वर्षकी उमरवाला चालीस वर्षकी उमर वालेका छोटा भाई कहलायगा। लोकव्यवहारमें जो स्थान उमरको प्राप्त है, मुनिसंस्थामें वह स्थान दीक्षाकालको प्राप्त था। जिसप्रकार व्यवहारमें गुण, पद आदिके कारण उमरके नियममें अपवाद होता है, इसीप्रकारके अपवाद दीक्षाकालमें भी हुआ करते थे। दीक्षाकालके इसनियमका उपयोग प्रायश्चित्तके लिये भी किया गया था। अगर आज दस वर्षके दीक्षितको नव वर्षका दीक्षित नमस्कार करता है और कल दस वर्षके दीक्षितसे ऐसा अपराध होगया कि उसकी दीक्षाका दो वर्ष छेद कर दिया गया तो वह आठ वर्षके दीक्षितके समान होजायगा और अब नव वर्ष वालेको बड़ाभाई मानेगा। यह छेद है।

कभी कभी दोषी प्रायश्चित्तमें कुछ समयके लिये संघसे बाहर करदिया जाता था। यह परिहार था। और जब बहुत भयंकर अपराध होताथा तब उसे फिर नये सिरसे दीक्षा दीजाती थी। यह उपस्थापना प्रायश्चित्त था।

पुरानी मुनिसंस्थाके लिये ये सब नियम बहुत उपयोगी थे, और आजभी इनकी उपयोगिता है। हाँ, थोड़ा बहुत परिवर्तन करनेकी आवश्यकता होगी तो इसमें कोई हानि नहीं है। मूल बात यही है

कि निर्दोषता बढ़ायी जाय, वैर भाव हटाया जाय, अहंकार दूर किया जाय, इसप्रकार आत्मशुद्धि हो। प्रायश्चित्त एक महान तप है। व्यवहारको सुव्यवस्थित और सुखमय बनानेके लियेभी इसतरह तपकी बड़ी उपयोगिता है। सैकड़ों उपवासोंका करना सरल है परन्तु सच्चा प्रायश्चित्त करना कठिन है। इसका महत्त्व भी सैकड़ों उपवासोंसे सैकड़ों गुना है।

विनय— विनय अर्थात् नम्रता भी एक सच्चा तप है। अहङ्कारके सिरपर यह सीधा दंड-प्रहार है। सत्यके द्वारपर लेजाने वाला एक सुंदर मार्ग है। इसके चार भेद हैं—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचारविनय।

ज्ञानके विषयमें विवेकपूर्वक पूज्यभाव रखना ज्ञानविनय है। ज्ञानके क्षेत्रकी बहुतसी बातें ऐसी होती हैं जो हमारे लिये उपयोगी नहीं होतीं, इस लिये हम उनका तिरस्कार करने लगते हैं परन्तु ऐसा न करना चाहिये। अगर कोई बात मिथ्या नहीं है अर्थात् कल्याणकारी है तो हमारे लिये उपयोगी हो या न हो, हमें उसके विषयमें मान रखना चाहिये। इसी प्रकार सत्यकी प्राप्तिके लिये दुनियाँमें जितने शास्त्र बने हैं, बनरहे हैं, अथवा उनमें विकास होरहा है उसके विषयमें भी आदर भाव रखना चाहिये।

कोई कोई लोग ज्ञानका ग्रहण, अभ्यास, स्मरण आदिको ज्ञानविनय कहते हैं। बाततो अच्छी है परन्तु श्रेणीविभाग की दृष्टिसे उसका समर्थन नहीं किया जा सकता। क्योंकि ज्ञानग्रहण, अभ्यास आदि तो स्वाध्याय नामके तपमें आजाते हैं। जब उसका स्वतन्त्र स्थान है तब उसका इसी जगह अन्तर्भाव करना उचित नहीं मालूम होता।

कोई कोई लोग ज्ञानियों की विनयको ज्ञान विनय समझते हैं, परन्तु यह तो उपचारविनय है।

सम्यग्दर्शनका विस्तृत स्वरूप पहिले कहागया है उसके अंगोंका वर्णन भी हुआ है। उन बातोंमें आदर रखना दर्शनविनय है। ज्ञान और दर्शनमें जो थोड़ा बहुत भेद है वह पहिले बतलाया गया है। उसीसे ज्ञानविनय और दर्शनविनय का भेद भी समझा जा-सकता है। सच बात तो यह है कि ज्ञानविनय और दर्शनविनय भगवान सत्यकी उपासना है।

चारित्रविनय भगवती अहिंसा की उपासना है। चारित्रके जो नियम पहिले बताये जाचुके हैं उनमें आदरभाव, विनयभाव रखना, स्वार्थके पीछे उनका मानसिक, वाचनिक या शारीरिक तिरस्कार न करना चारित्रविनय है।

ज्ञान दर्शन चारित्रको धारण करने वालोंका योग्यतानुसार आदर करना, किसीभी तरह उनका तिरस्कार न होने देना, उनकी अपेक्षा अयोग्योंका उनके सामने उनसे अधिक आदर न करना आदि उपचारविनय है।

अधिकारके और शक्तिके आगे भयसे, धन और किसी प्रलोभीके आगे लालचसे सिर झुकानेवाले तो प्रायः सभी हैं और ढोंगी वेषधारीके आगे अन्धश्रद्धा या समाजभय से झुकनेवाले भी बहुत हैं परन्तु इन कुवृत्तियों पर विजय प्राप्त करके सच्चे समाजसेवकों के आगे सिर झुकाना वास्तविक विनय है। यह एक तप है। मनुष्यकी पूजा उसकी समाजसेवा तथा उसके लिये उपयोगी स्वार्थत्याग से है। अमुकस्थान पर शिष्टाचार के रूपमें हम अधिकारी आदिके साथ नम्रताका व्यवहार कर सकते हैं परन्तु उसे जीवन की बाहिरी चीज समझना चाहिये। आत्माका उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें वह विनय नहीं है।

वास्तवमें यह उपचार विनय, ज्ञान दर्शन चारित्रविनय ही है। परन्तु ज्ञानदर्शनचारित्रका मूर्तिमानरूप उसको धारण करने वाला ही है, इसलिये उसका विनय करना चाहिये। इससे अपने में वे गुण उतरते हैं, इस मार्गपर चलनेके लिये दूसरोंको उत्तेजना मिलती है। इससे अपना और जगत्का कल्याण होता है।

वैयावृत्त्य—वैयावृत्त्यका अर्थ है सेवा। इसको तपमें गिनाकर जैनधर्मने यह बतला दिया है कि जैनधर्म का तप कोरा कष्टसहन नहीं है, सेवा-

हीन नहीं है, अक्रियात्मक नहीं है। दूसरोंकी सेवा करना भी वास्तवमें तप है।

तपका विवेचन विशेषतः मुनिसंस्थाको लक्ष्यमें लेकर किया गया था, इसलिये वैयावृत्यके पात्रोंमें नाना मुनियोंका ही उल्लेख हुआ है। विवेचनकी यह मुख्यता सामयिक है। इसका यह अर्थ न समझना चाहिये कि वैयावृत्यका क्षेत्र मुनिसंस्थामें ही संकुचित है। वहाँ संघकी वैयावृत्यका भी उल्लेख है जिसमें मुनि, आर्यिका, श्रावक, श्राविका चारोंका समावेश होता है। अकलंक देवने तो मनोज्ञवैयावृत्यमें मनोज्ञ* का अर्थ असंयत सम्यग्दृष्टि भी किया है, अर्थात् जो मनुष्य संयमका पालन नहीं करता किन्तु मक्षमार्गका विश्वासी है वह भी वैयावृत्यका पात्र है।

यह अर्थ भी कुछ सङ्कुचित है परन्तु दर्शन ज्ञान-चारित्रका साम्प्रदायिक अर्थ न करनेसे यह संकुचितता भी नष्ट हो जाती है। जब दर्शनज्ञानचारित्र हरएक सम्प्रदायमें होसकता है तब साम्प्रदायिक सङ्कुचितता तो नष्ट हो ही गई। जिसमें थोड़ा भी स्वार्थत्याग है, विश्वप्रेम है, वह चारित्रधारी तो है ही। इस प्रकार उदार व्याख्यानसे इसकी सङ्कुचितता दूर होजाती है।

फिर भी स्पष्टताके लिये इतना और समझलेना चाहिये कि इसके भीतर प्राणिमात्रकी सेवाका संकेत है। हाँ, समाजसेवा आदि गुणोंको उत्तेजना देनेके लिये गुणके अनुसार वैयावृत्य करना चाहिये। जो अधिक गुणी है, समाजसेवी है, वह वैयावृत्यका अधिक पात्र है। समान आवश्यकता होनेपर अधिक गुणीका अधिक ख़याल रखना चाहिये।

अधिकारी, श्रीमानों, और वेषियोंकी वैयावृत्य अधिक लोग किया ही करते हैं, परन्तु वास्तवमें वह तप नहीं है। ऊपर विनयके विषयमें जो बातें कहीं गई हैं वे यहाँ भी समझना चाहिये।
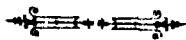
*—मनोज्ञोऽभिरूपः। ९-२४-१२। असंयतसम्यग्दृष्टिर्वा। ९-२४-१२। त० राजवार्तिक

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

विवाहित और अविवाहित।

मानव शरीरकी जैसी रचना है, और उसकी उत्पत्तिका जो ढंग है, उसको देखते हुए यही कहना पड़ता है कि अविवाहितकी अपेक्षा विवाहित व्यक्ति प्रकृतिके अधिक पास है। परन्तु मनुष्यको प्रकृतिका गुलाम रहना चाहिये, यह नहीं कहा जासकता। मनुष्य तो प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेके लिये है इसीलिये उसने प्रकृतिके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया है और उसने आंशिक विजय भी प्राप्त की है। मनोविज्ञान भौतिकविज्ञान आदि सभी विज्ञानोंके द्वारा मनुष्यने अपनी महत्ताकी छाप मारी है। और इस कार्यमें वह दिन दिन बढ़ता जाता है। मनुष्यका इतिहास प्रकृतिपर विजय प्राप्त करनेका इतिहास है, इसलिये 'विवाहित मनुष्य प्रकृतिके अधिक पास है, सिर्फ़ इतना ही प्रमाण विवाहितको अविवाहितसे अच्छा साबित करनेके लिये काफ़ी नहीं है, क्योंकि प्रकृतिके पास रहनेवाली चीज़ कल्याणकी दृष्टिसे प्रकृतिसे दूर रहनेवाली चीज़से बुरी भी हो सकती है।

धर्म और विज्ञान, प्रकृतिके ऊपर विजय प्राप्त करनेके शस्त्र हैं। धर्मके द्वारा आध्यात्मिक या मानसिक विजय की जाती है और विज्ञानके द्वारा भौतिक विजय। परन्तु क्या सचमुच मनुष्य प्रकृति पर विजय प्राप्त करसकता है? अथवा उसकी विजय एक सम्राट्की किसी देशपर विजय प्राप्त करनेके समान है? या एक बालककी माता पर विजय प्राप्त करनेके समान? प्रकृति इतनी महान, गूढ़ और शक्तिशाली है कि मनुष्य उसके सामने बच्चा ही है और सम्भवतः चिरकालतक बच्चा ही रहेगा। बच्चा रो रोकर माँ से कोई चीज़ लेलेता है और कभी कभी वह छोटी छोटी सुकोमल मुट्ठियाँ माँ के मुँह पर भी बरसा देता है। माँ हँसकर उसकी इच्छा पूरी करदेती है। भोला बालक शायद समझता होगा कि मैंने माँ को अपनी शक्तिसे जीत लिया है परन्तु

माँ हँसीमें, लापर्वाहीमें, अथवा उपेक्षामें ही जब कभी उसको हाथसे झटका दे देती है और जब बालक आँखें बन्दकरके रोनेका आनन्दानुभव करने लगता है उस समय उसके अहंकारका समुचित उत्तर मिल जाता है।

मनुष्य, प्रकृतिपर विजय प्राप्त करता जाता है परन्तु उसकी यह लब्धि माताके स्तनसे दूध पीनेके समान है। इसमें बालकका प्रयत्न अवश्य है परन्तु माताकी स्नेहवृत्ति प्रयत्नकी सहचारिणी है। अन्यथा बालक तो एक छोटासा झटका भी नहीं सह सकता। इसीप्रकार मनुष्य प्रकृतिके स्तनोंमें से दूध निकालता चला जाता है परन्तु प्रकृतिके एक छोटेसे झटकेमें—एक ही मिनिटके भूकम्पमें, तूफान आदिमें—मनुष्य रोपड़ता है, किंकर्तव्यविमूढ़ होजाता है। तब मालूम होता है कि मनुष्य, मनुष्यके लिये महान् होगा परन्तु प्रकृतिके लिये एक कीड़ा है।

प्रकृतिके आगे भौतिकविज्ञानियोंकी जोदशा है वही दशा तीर्थङ्कर, अवतार, पैगम्बर, मसीहा आदि कहलानेवाले मनोविज्ञानियोंकी है। उनकी विजय भी माताके आगे बच्चेकी विजय है। एक मनुष्य ब्रह्मचारी बनकर घोर तपस्या करता है, ठंड गर्मीके कष्ट सहता है, अपने सौन्दर्यको जान बूझकर नष्ट कर डालता है, रूखा सूखा आहार लेता है, समाजसे दूर भाग जाता है, इतने पर भी जब उसे स्वप्नदोष होता है, किसी स्त्री की आवाज सुनते ही जब उस तरफ देखे बिना नहीं रह पाता तब वह समझता है कि मैं एक कीड़ा हूँ। उससमय उसे प्रकृतिकी खिलखिलाहट सुनाई पड़ती है। उससमय वह समझता है कि मैं प्रकृतिका स्वामी नहीं किन्तु एक छोटासा बच्चा हूँ। उसका अभिमान गलजाता है।

इतनेपर भी मनुष्यको प्रकृतिसे लड़नेकी, उसका अञ्चल अलग करके दूध पीनेकी कोशिश करना ही चाहिये। उसकी भिड़कियोंकी या थपकियोंकी पर्वाह किये बिना आगे बढ़ना ही चाहिये। मनुष्य इस दिशामें बढ़ा भी है। सिर्फ विचार इतना ही करना है कि आध्यात्मिक और आधिभौतिक दिशामें मनुष्यने जो प्रगति की है वह उसके कल्याणके लिये हो, अकल्याणके लिये नहीं।

विवाहित, अविवाहितका प्रश्न भी आध्यात्मिक प्रगतिसे सम्बन्ध रखता है। बहुतसे लोग, खासकर श्रमण परम्पराके अनुयायी, विवाह को पापरूप, दुःखरूप समझते हैं और समझते हैं कि इसके रहते कोई कल्याणभागी नहीं होसकता। प्रकृतिके विरुद्ध यह आध्यात्मिक लड़ाई है। इसमें जो आंशिक विजय मिलती है, उसका सदुपयोग होता है, हुआ है। परन्तु यह बात किसी खास जगह पर खास व्यक्ति के लिये ही कही जासकती है। बाक़ी इस प्रगतिमें खतरा अधिक है। लोग समझते हैं कि हम अविवाहित रहकर समाजकी अच्छी सेवा कर सकते हैं, खूब स्वतन्त्र रह सकते हैं, अच्छा आत्मकल्याण कर सकते हैं, खूब आनन्दसे जीवन बिता सकते हैं, परन्तु अमुक अपवादों को छोड़कर इस विषयमें सफलताकी अपेक्षा असफलता अधिक मिलती है।

एक यूरोपीय विद्वान विवाहित और अविवाहितों की तुलना करता हुआ लिखता है:—

"अपराधीपन, घुमकड़पन, दरिद्रता, और अकालमृत्युके लिये विवाह रामबाण उपाय है। अविवाहित मनुष्यों पर किसीभी प्रकार की जिम्मेदारी न होनेसे वे स्वच्छन्द हो जाते हैं। इसलिये जब उनके मनमें अपराध करनेका विचार उठता है, तब उसके परिणामकी तरफ़ उनका ध्यान नहीं जाता जबकि विवाहित मनुष्य उसके परिणामपर सतर्कतासे विचार करता है।"

एक दूसरा विद्वान् भी कहता है—

"विवाहित मनुष्य अविवाहितकी अपेक्षा अधिक सतर्क रहते हैं और दरिद्रावस्थामें भी बहुत कम अपराधी बनते हैं। उनमें मृत्युसंख्या कम रहती है, इसलिये अविवाहितोंकी अपेक्षा विवाहितोंके बीमें उतारनेमें धोखा बहुत कम है।"

अविवाहित अवस्थाके दोष ब्रह्मचर्यके दोष न

समझना चाहिये। इसी तरह विवाहित अवस्थाके गुण कामवृत्तिके गुण न समझना चाहिये। असली बात यह है कि विवाहित मनुष्यमें स्वार्थत्याग, गंभीरता, विचारशीलता, सभ्यता, नियमितता अधिक आती है, इसलिये वह दीर्घजीवी होता है। देखा जाता है कि जो युवक गुंडे और असभ्य होते हैं, स्त्रियोंकी तरफ़ सन्मानकी दृष्टिसे कभी नहीं देखते, वे ही विवाहित होनेपर गौ हो जाते हैं!

परन्तु यह वर्णन जनसाधारणको दृष्टिमें लेकर है। कोई कोई ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें अविवाहित जीवन बिताना पड़ता है, तभी वे समाजकी सेवा कर पाते हैं। परन्तु इसका कारण उनकी परिस्थिति है। महात्मा महावीर और महात्मा बुद्धको जो काम करना था और उससमयकी जैसी परिस्थिति थी उसे देखकर कहना पड़ता है कि वे अविवाहित या गृहत्यागी बने, यही ठीक किया। अन्यथा वे इतना काम न कर पाते। यही बात महात्मा ईसाके विषय में भी है।

परन्तु यह बात भूल न जाना चाहिये कि विवाहित अर्थात् सपत्नीक होकरके भी कोई तीर्थंकर बनसकता है। महात्मा राम और महात्मा कृष्ण इसी अवस्थामें अवतार कहला सके। महात्मा जरथुस्त और महात्मा मुहम्मद जीवनभर विवाहित रहते हुए एक तीर्थकी स्थापना करते रहे। इस प्रकार विवाहित रहकरके भी कोई तीर्थंकर बनसकता है, यह बात ध्यानमें रखना चाहिये।

महात्मा महावीर और महात्मा बुद्धके जमाने में प्रचार और खोजके साधन इतने कम थे तथा वातावरण भी कुछ ऐसा था कि वे विवाहित रहते हुए ऐसा काम नहीं कर सकते थे। यह भी सम्भव है कि उनकी पत्नियोंकी मनोवृत्तियाँ इतनी विषम हों कि दोनों मिलकर एकही मार्गके पथिक न बन सकते हों, इसलिये उन्हें गृहत्याग करना पड़ा हो। परन्तु मुख्यता पहिले कारणकी ही मालूम होती है। आजकी परिस्थिति ऐसी नहीं है। देशाटन तथा प्रचारके साधन इतने बढ़गये हैं कि इसकेलिये अविवाहित बननेकी जरूरत नहीं है। हाँ, पत्नी ऐसी अवश्य होना चाहिये जो समाजसेवाके मार्गमें आड़े न आवे तथा यथाशक्ति सहायता पहुँचावे। ऐसी अवस्थामें जरथुस्त और मुहम्मदके समान मनुष्य महात्मा या तीर्थंकर तक बनसकता है।

आवश्यकता होनेपर गृहत्याग करना पड़े तो करना चाहिये, लेकिन उसे अपवादही समझना चाहिये। जो लोग यह समझते हैं कि विवाहित जीवन के साथ आत्मकल्याण और समाजसेवा नहीं हो सकती, वे भूलते हैं। इस दिशामें अविवाहितोंकी अपेक्षा विवाहित अधिक कर सकते हैं, खासकर आजकलके युगमें। हाँ, इसके लिये दम्पतिको समस्वभावी स्वार्थत्यागी होना चाहिये। और जितनी विषमता हो उसकी पूर्ति एक दूसरेके अनुसरणसे की जा सकती है।

त्यागमूर्ति।

हिन्दू विधवा त्यागमूर्त्ति है। महात्मा लोग भी उसे त्यागमूर्त्ति कहते हैं, और स्वार्थी तथा रूढ़ियों के गुलाम भी उसे त्यागमूर्त्ति कहते हैं। अन्तर इतना ही है कि महात्मा लोग उसका आदर करने के लिये, उसके दुःखोंको दूर करनेके लिये, समाज को जगानेके लिये कहते हैं, जब कि रूढ़िके गुलाम उसे अपने जालमें फँसाये रखनेके लिये कहते हैं। इसलिये शब्दसाम्य होनेपर भी दोनोंके वक्तव्यमें जमीन आसमानका अन्तर है।

हिन्दू विधवा त्यागमूर्त्ति होनेपर भी लोग उसे त्यागमूर्त्ति नहीं समझते, खासकर वे तो नहीं समझते जो कि उसे वैधव्य दीक्षासे दीक्षित मान बैठते हैं। उसका पद पद पर अपमान करना वे अपना धर्म समझते हैं। बेचारीके जीवन शरीरमें दुर्दैवने एक ऐसा घाव कर दिया है, जिसमें कभी [illegible] न आवगी, परन्तु उसके घावमें अपमानका नमक छिड़क कर उसकी वेदनाको नारकीय [illegible] परिणत [illegible]

है। एक तरफ़ तो विधवाओंको पवित्र, त्यागमूर्त्ति, दीक्षिता आदि कहा जाता है, परन्तु दूसरी तरफ़ उन्हें अपशकुनकी मूर्त्ति समझा जाता है, किसी भी मांगलिक कार्यमें उन्हें शामिल नहीं किया जाता ! इसप्रकार गिरेको ठोकर लगाई जाती है।

इसके भयङ्कर परिणामभी होते हैं, परन्तु गैंडा, हाथीसे भी अधिक मोटी खालवाले इस समाजको कुछ भी नहीं मालूम होता। वह तो नाककी सीधमें अँधाधुँध दौड़ता चला जाता है, पथ कुपथका विचार करके इधर उधर देखनेके लिये सिर हिलानेकी उसमें शक्ति ही नहीं है। कितने भयङ्कर स्फोट होते हैं, कान फाड़ देनेवाले कितने आर्तनाद सुनाई पड़ते हैं, हृदय में छुरीकी तरह चुभ जानेवाली कितनी चीखें सुनाई पड़ती हैं, परन्तु इस गैंडेको कुछ नहीं मालूम होता।

अभी नाजूबाई नामकी एक षोडशी विधवाने कुए में गिरकर आत्महत्या करली। विधवा होनेके एक वर्ष बाद उसने आत्महत्या की। लोगोंने कहा कि पति प्रेमके कारण उसने आत्महत्या की है। बस, प्रशंसा की इस छोटीसी क्रूर झंकारके द्वारा एक महान क्रन्दनको दबानेकी असफल चेष्टा कर दीगई ! ज्वालामुखीका मुँह एक रेशमी चादरसे ढँक दिया गया ! क्या ऐसे हास्यास्पद प्रयत्नोंसे वस्तुस्थिति छुपाई जा सकती है ? अगर वह बहिन जीवित होती तो उससे पूछा जाता कि—"बहिन ! एक वर्ष तक तुम्हारा पतिप्रेम हृदयके किस शयनागारमें सोता रहा और इतने दिन बाद जगकर तुम्हारे जीवनको लेजानेकी उसे क्या आवश्यकता हुई ?" अब इसका उत्तर कौन देगा ?

जिसदिन नाजू बहिनने आत्महत्या की, उसदिन उसके घरके सब लोग एक मङ्गलिक निमंत्रणमें गये थे। परन्तु नाजू बहिन विधवा थी, अपशकुनकी मूर्त्ति थी, इसलिये घरवाले उसे साथ न ले गये, न उसे निमंत्रण मिला था। वैधव्यकी यंत्रणा वह किसीतरह एक वर्षसे सहन करती थी, परन्तु वैधव्यके भीतर यह अपमान भी है, यह उसे आज मालूम हुआ। उसको अपना भयङ्कर भविष्य दिखाई देने लगा। दैव पर उसका वश न था इसलिये उसने उसे सहन किया। परन्तु मनुष्यका बनाया हुआ नरक उसे सहन न हुआ, इसलिये वह सदाके लिये चली गई। परन्तु समाजको क्या ? उसे तो प्रतिदिन ऐसे दृश्य देखना पड़ते हैं। मरनेवालीको क्या ? मर गई। परन्तु मुफ्तकी आँखें और मुफ्तके कान किसके पास हैं जो देखे और सुने ?

शाखाओंके कर्तव्य।

सत्य-समाजकी शाखाएँ जगह जगह बन रही हैं और गाँव गाँवमें बनने की जरूरत है। कानपुर और पूनामें शाखाएँ बन गई हैं। इधर वासीं और बलूँदामें भी शाखाके बराबर मेम्बर बनगये हैं, इस लिये वहाँ भी शाखा समझना चाहिये। एक बन्धु ने शाखाके विशेष नियम माँगे हैं। परन्तु अभी शाखाके विशेष नियमोंका समय नहीं आया है। कार्य ज्यों ज्यों आगे बढ़ेगा त्यों त्यों उसमें विशेष नियम बनते जायँगे। परन्तु सत्यसमाजके उद्देश्यों को कार्यरूपमें परिणत करनेका महान कार्य तो साम्हने ही पड़ा है। व्यक्तिकी अपेक्षा शाखाएँ इसकी पूर्त्ति कुछ विशेष रूपमें कर सकती हैं। अभी मैं ऐसे नियम नहीं बनाना चाहता, जो कोई अड़चन उपस्थित करें। और ऐसे विशेष नियम तो कभी नहीं बनाना है जो दूसरों पर आक्रमणात्मक हों। फिरभी सदस्योंमें संगठन हो, प्रेम-वात्सल्य बढ़े, कौटुम्बिक भाव जाग्रत हो जिससे वे सत्यसमाजके उद्देश्योंका प्रचार सरलतासे कर सकें, उस विषयमें अप्रमत्त रहें, इसके लिये यह आवश्यक मालूम होता है कि जहाँ पर शाखा होगई है वहाँ कुछ विशेष प्रोग्राम बने।

इस विषयमें पहिली बात तो यह है कि सब सदस्य मिलकर सात दिनमें एक दिन किसी नियत समय पर सामूहिक प्रार्थना करें। जो कविताएँ इस पत्रमें "भगवान सत्य" और "भगवती अहिंसा" के शीर्षकसे निकल रही हैं, वे खासकर इसी उद्देशको

लेकर बनायी जारही हैं। आगे अन्य महापुरुषोंके विषयमें भी कविताएँ निकलेंगी जो कि प्रार्थनाके लिये उपयोगी होंगी। इसके अतिरिक्त अन्य कविताएँ भी पढ़ी जासकती हैं, परन्तु उनमें दो बातोंका खयाल रखना चाहिये। एक तो यह कि वे स्तुतियाँ समभावकी विघातक न हों। एककी प्रशंसामें दूसरे की निंदा न हो। दूसरी बात यह कि अन्धश्रद्धापूर्ण अतिशयों का वर्णन न हो। मतलब यह कि सत्यसमाजके उद्देशोंके प्रतिकूल न हो।

प्रार्थनामें दूसरे लोगोंको भी सम्मिलित करनेकी चेष्टा करना चाहिये और महिलाओंके लिये तो विशेष प्रयत्न करना चाहिये, तथा उनके साथ बराबरीका व्यवहार रखना चाहिए, बल्कि उनको कुछ अधिक सुविधा दी जासके तो औरभी अच्छा है।

जहाँ पर पर्देका रिवाज है, वहाँ उसको दूर करनेका प्रयत्न करना, और उसके अभ्यासके लिये यह नियम बनाना और अच्छा है कि कमसे कम प्रार्थनाके अवसर पर पर्दा न किया जाय।

महीनेमें एक दिन व्याख्यान-सभा हो।

सहभोजकी प्रथाको उत्तेजन देनेके लिये समय समय पर ऐसे प्रसङ्ग उपस्थित किये जायँ।

ये सब बातें अनुरोधके रूपमें कही जारहीं हैं, परन्तु आशा है कि इनका ठीक ठीक पालन होगा।

विद्यावारिधिजीकी होली

विद्यावारिधि, पंडित, बैरिस्टर, विदेशोंमें जैनधर्मके प्रचारक आदि अनेक महती पदवियोंके धारक श्री० चम्पतराय जैनकी सहासे 'वीर' के ता० १६-४-३५ के अंकमें एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसका शीर्षक है 'शाबाश जैनजगत्'। इसे पढ़कर हमें बड़ा आश्चर्य हुआ। हम कल्पना भी न कर सकते थे कि इतना प्रतिष्ठित व्यक्ति अपने पदसे इतना नीचे उतर आ सकता है और इतने हलके, टुच्चे विचार प्रकट कर सकता है। यह लेख पिछली होली के अंकके लिये लिखा गया था, परन्तु समय बीत जानेके कारण कुछ फेरफारके साथ अब प्रकाशित किया गया है। सो अब बैरिस्टर साहब दाखिले दलीलोंको छोड़कर 'होरिहारे' बन गये हैं और इसीसे अनुमान होसकता है कि उनके श्रीमुखसे क्या निकला होगा—किसी विचार-विवेकपूर्ण बातके निकलनेकी तो ऐसे समयमें आशा ही नहीं की जा सकती।

लेखमें जो कुछ लिखा गया है उससे जान पड़ता है कि आप जैनजगत्‌से बेहद चिढ़गये हैं, और उस पर किसी न किसी तरह अपना गुस्सा उतारना चाहते हैं। परन्तु गुस्सेमें न तो विवेक-विचारको स्थान रहता है, और न दलीलों या युक्तियोंकी परवा की जाती है। यदि जैनजगत्‌के विचारोंको वास्तवमें गलत सिद्ध करना था तो उसके लिये कुछ परिश्रम किया जाता, युक्तियाँ दी जातीं, प्रमाण उद्धृत किये जाते तो उसका कुछ मूल्य होता। सो न करके केवल कटाक्ष, व्यंग्य, मजाक किये गये हैं। 'मोहनजो देरो' की खुदाईमें क्या क्या चीजें निकली हैं, उनपर इतिहासज्ञोंने क्या क्या परिणाम निकाले हैं, वे पाँच हजार वर्षोंके बीचके किन किन समयों की हैं*, उनके विषयमें बड़े बड़े विद्वानोंमें क्या क्या मतभेद हैं, आदि बातोंका आपको गम्भीरतासे अध्ययन करना था। विलायतमें इसके लिये साधनसामग्री भी सुलभ है, और फिर प्रमाणोंसहित बतलाना था कि वहाँ के लेखोंमें 'जिनेश्वर' शब्द कहाँ आया है जिससे जैनधर्मका अस्तित्व बहुत प्राचीन सिद्ध होता है‡।

* 'मोहनजो देरो' में जो खुदाई हुई है, उसमें सात स्तर या तहें हैं, और प्रत्येक तहमें मिली हुई चीजें भिन्न भिन्न समयों की हैं। उसकी एक तहमें तो एक 'बौद्धस्तूप' भी मिला है जो कनिष्कके समयका अनुमान किया जाता है। अतएव उसकी सभी तहोंमें मिली हुई वस्तुओंको पाँच हजार वर्ष पुरानी नहीं कहा जा सकता।

‡ मोहनजो देरोकी खुदाईमें जो प्राचीन सिक्के, सील आदि मिली हैं, उनकी लिपि और संकेत अभीतक पढ़े ही नहीं गये हैं। फिर यह जिनेश्वर शब्द विद्यावारिधिजीको कहाँ मिल गया ?

इससे आपका गौरव बढ़ता। परन्तु आप तो जैन-समाजके 'लेभागू' ऊपर ऊपरसे टटोलनेवाले, येन-केन प्रकारेण सबको जैन सिद्ध करनेकी धुनवाले इतिहासज्ञोंके निस्सार लेखोंको पढ़कर ही 'समकिती' बन गये हैं और जैनजगत्को 'मिथ्यार्ती' बतलाने चले हैं। आपके भरोसेपात्र इन इतिहासज्ञोंकी ढिठाई और बेशर्मीकी भी कुछ हद है जो दो दो तीन तीन दफ़ा सप्रमाण सिद्ध कर देनेपर भी कि "बुद्धदेवने निगंठनातपुत्त (भगवान महावीर) को कभी 'सर्वज्ञ' नहीं कहा और न समझा, बल्कि बुद्धदेवके शिष्योंने उनसे कहा था कि निगंठनातपुत्तके भिक्षु शिष्य उन्हें सर्वज्ञ, सर्वदर्शी समझते हैं।" बराबर यही लिखते जाते हैं कि बुद्धदेवने सर्वज्ञ कहा था और आप जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति भी उसे ठीक मान कर जैनजगत् पर वाग्बाण चलाते हैं! आपके इन इतिहासज्ञोंका साहस तो इतना बढ़ा चढ़ा है कि ये नैपालके तमाम पाशुपत (शैव) राजाओंको उनके शिलालेखोंमें 'भट्टारक'* और 'वृषभ' आदि शब्द पाकर उन्हें जैन बना डालते हैं और जगत्प्रसिद्ध बौद्ध सम्राट् अशोकको एक उस समयके यूरोपियनके लेख के भरोसे, जिस समय कि अशोकके सम्बन्धमें बहुत ही कम जानकारी थी, जैन सिद्ध कर देते हैं। इन्होंने जहाँ कहीं बैल, हाथी, सिंह आदि चिह्न देखे कि बस इन्हें उनसे अपने किसी न किसी तीर्थङ्करके चिह्नकी याद आ जाती है। फिर ये सोच ही नहीं सकते कि इन चिह्नोंका कुछ और भी अभिप्राय होसकता है। इसतरह ये इतिहासके नामपर मनमाना तांडव किया करते हैं और साधारण धर्मभोले भाइयोंपर अपनी इतिहासज्ञताका सिक्का जमाया करते हैं।

यह आपसे किसने कहा कि हिन्दूशास्त्रोंमें ऋषभदेवको जैनमतका संस्थापक और सर्वज्ञ कहा है? यह भी बुद्धदेव द्वारा भगवान महावीरको सर्वज्ञ कहने जैसी ही निर्मूल बात है। शायद आपने कहीं यह पढ़ लिया होगा कि भागवत (स्कन्ध ५ अ० ६) में ऋषभदेवका ज़िक्र आया है। परन्तु वहाँ तो ऋषभदेवको हिन्दूधर्मका एक बड़ा योगी बतलाया है और यह कहा है कि उनके चरित्रकी नक़ल करके कलियुगमें कोंक-वेंक देशोंका राजा अर्हन् अपने धर्ममार्गको छोड़कर कुपथ-पाखण्डको चलावेगा। अर्थात् भागवतसे—जो सातवीं आठवीं शताब्दिके पहलेका नहीं है—यही सिद्ध होता है कि जैनधर्मका स्थापक अर्हन् नामका कोई राजा था। उसे सर्वज्ञ कहना तो दूर रहा, स्वेच्छाचारी स्वविधिनियोग शौचाचारविहीन कहा है। उन दिनों कर्नाटकके आसपास कोंकण (कोंक), वेंगी (वेंक) आदि देशोंमें जैनधर्म फैला हुआ था, उसीको देखकर भागवतकारने जैनधर्मकी यह उत्पत्तिकथा गढ़ डाली है जिसकी इसके पहले के किसी हिन्दूग्रन्थसे पुष्टि नहीं होती। और इससे अधिकसे अधिक यही कहा जा सकता है कि भागवतकारके समयमें जैनधर्म था, परन्तु उस बेचारेको यह पता नहीं था कि उसका संस्थापक कौन है। जैनों के पूज्य 'अरहन्त' का नाम उसने सुन रक्खा था, इसलिए लिख मारा कि 'अर्हन्' नामका एक राजा था जिसने यह पाखंड चलाया, और जैनसाधुओंका आचार अपने परमहंसों योगियोंसे मिलता जुलता देखकर 'व्यवस्था' देदी कि जिन ऋषभदेवको जैनी अपना प्रथम तीर्थंकर मानते हैं, वे वास्तवमें १४ मनुओंमें से प्रथम मनुके प्रपौत्र और परमयोगी थे और उन्हींके आचार विचारकी भद्दी नक़ल 'अर्हन्' ने की। क्या ही अच्छा हो यदि विद्यावारिधिजी अपने इस परममान्य हिन्दूग्रन्थ भागवतका उक्त अध्याय आदिसे अन्त तक अच्छी तरह पढ़ जावें, और फिर बतलावें कि इसमें ऋषभदेवको जैनधर्मका संस्थापक और सर्वज्ञ कहाँ लिखा है।

और किसीने किसीको सर्वज्ञ कहा या नहीं कहा, यह तो प्रश्न ही नहीं है। कहनेको तो जैनधर्मके प्रायः सभी ग्रन्थ भगवान महावीरको सर्वज्ञ कहते हैं। प्रश्न तो यह है कि सर्वज्ञका अर्थ क्या है

* भट्टारक शब्द का अर्थ पूज्य, राजा और विद्वान होता है।

और कोई पुरुषविशेष सर्वज्ञ—भूत भविष्य वर्तमान के सब पदार्थोंको उनकी पर्यायोंसहित हस्तामलकवत् जाननेवाला—हो सकता है या नहीं। इस विषय मे जो युक्तियां और प्रमाण आदि दिये गये हैं, कृपया उनपर विचार कीजिए और जैनजगत् सम्पादकको विश्वास करादीजिए कि वह भ्रममें है, और सर्वज्ञका होना युक्तिप्रमाण सिद्ध है। होलीके हँसी मजाक लिखकर ही क्या आप ऐसे गम्भीर विषयों का निर्णय कर डालना चाहते हैं ?

जैनजगत् पर एक तीव्र कटाक्ष यह किया गया है कि उसका सम्पादक अँगरेजी स्कूलों या कालिजों के निकट भी नहीं गया है—केवल संस्कृत हिन्दीदाँ है, जब कि विद्यावारिधिजी बड़े भारी अँगरेजीदाँ क़ानूनदाँ और अनुभवी हैं। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि एक दार्शनिक और धार्मिक लेखमालाको लिखनेका अधिकारी एक संस्कृत-हिन्दीदाँ नहीं हो सकता है तो और कौन हो सकता है ? क्या इस देशके पुराने आचार्य और विद्वान् अँगरेजी और क़ानून जानते थे ? और क्या आप केवल अँगरेजी और क़ानूनके ही बल पर विद्यावारिधि और धार्मिक लेखक बनगये हैं ? जिस संस्कृत और हिन्दीको आप इतना तुच्छ समझते हैं, आपने अपनी अधिकांश अँगरेजी पुस्तकें उन्हीं के आधार पर तो लिखी हैं। और क्षमा कीजिये, आप मामूली संस्कृत भी तो नहीं जानते हैं, संस्कृत के साधारण भाषानुवादोंके एक प्रकारसे अँगरेजी ट्रान्सलेशन ही तो आप किया करते हैं। और सो भी बहुत प्रामाणिक नहीं। उसपर भी इतना अभिमान! लगातार एक युग तक अंगरेज़-प्रभुओंके देशमें सुख वैभव-विलासमय जीवन व्यतीत करते रहने के कारण शायद आपको यह भी पता नहीं है कि हिन्दी और दूसरी प्रादेशिक भाषाओंका साहित्य पिछले पच्चीस वर्षोंमें कितना विशाल होगया है जिसके द्वारा अँगरेजी न जाननेवाला भी विविध देशों, संस्कृतियों और धर्मोंकी जानकारी हासिल [illegible] कि जैनजगत्का सम्पादक स्कूलों और कॉलेजोंके बहुत ही निकट है और कालेजोंमें डॉक्टरी, इंजीनियरी, साइंस और आप ही जैसे क़ानून पढ़नेवाले विद्यार्थियोंको संस्कृत प्राकृतके जैनग्रन्थ और दूसरे दर्शन शास्त्र पढ़ाया करता है और अच्छी अँगरेजी न जानने पर भी पश्चिमी और पूर्वीय दार्शनिकोंके सिद्धान्तोंसे आपसे कहीं अधिक परिचित है।

आप जैनजगत्के सम्पादकको धर्मद्रोही बतला कर 'धर्म उजाड़' की पदवी से विभूषित करना चाहते हैं, इस उदारताके लिये सभी विचारशीलों को आपका कृतज्ञ होना चाहिये और आपको 'परम समकितो' के महान पद पर आरूढ़ करके कृतकृत्य होना चाहिए। हमारे समाजमें 'समकितियों' की कमी नहीं है; परन्तु आपके समकितके साथ उनकी तुलना नहीं होसकती। क्योंकि आप उस भोगभूमि और कर्मभूमि में चिरकालसे निवास कर रहे हैं, जहाँ के लोग वंशगत ईसाई होते हुएभी विचार-स्वातन्त्र्यके इतने उपासक हैं कि वहाँ उनके पवित्र ग्रन्थ बाइबलके विचारोंका भी खुले आम विरोध किया जाता है, उनकी खिल्ली उड़ाई जाती है और फिर भी ऐसा करनेवालोंका कोई अपमान नहीं किया जाता और उनको आगे बढ़नेमें किसी प्रकारकी रुकावट नहीं डाली जाती। जहाँ केवल पुराने मजहबी विचारोंसे चिपटे रहने वाले मूर्खोंके स्वर्गमें विचरने वाले कहलाते हैं, मजहबी कट्टरता नामकी कोई चीज जहाँ नहीं रही है, और जहाँ राजनीतिक स्वार्थसिद्धि के एक हथियार के रूपमें ही कभी कभी मजहबका उपयोग किया जाता है; साइंस और विज्ञान ही जहाँ का प्रधान धर्म है। ऐसे देशमें रहकर भी जब आपका विश्वास चलता, मलिनता, अगाढ़तासे रहित है, तब आपके समकित की बराबरी कौन करसकता है ? आपको अपने समकितके बिगड़ जानेकी चिन्ता भी बहुत अधिक रहती है। मुझे स्मरण है कि एक बार मैंने आपसे प्रार्थना की थी कि आप कृपा करके कुछ

जैनधर्मका तुलनात्मक अध्ययन करनेमें आपको सहायता मिलेगी। तब आपने फरमाया था कि 'नहीं भाई, मैं ऐसा करके अपने सम्यक्त्वको मलिन कर लेने की जोखिम नहीं उठाना चाहता।" ऐसी अवस्थामें यदि आप जैनजगत सम्पादकको 'धर्मद्रोही' या 'धर्म उजाड़' बनाना चाहते हैं, तो इसमें किसी को आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

सहयोगी 'वीर' में कुछ वर्ष पहले आपका एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें आपने स्वप्न स्वीडनमें आधीरातका सूर्य देखा था और इसकी चर्चा की थी। जैनधर्मके सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रोंके अनुसार ऐसा होना सर्वथा असंभव है, मिथ्यात्व है, इसलिए उस समय यहाँ के कुछ समकितियोंको आपके विश्वासके विषयमें सन्देह हो गया था, और वे समझने लगे थे कि आप 'बने हुए' हैं, वास्तवमें जैनधर्मपर आपका विश्वास नहीं है, केवल धर्मभोले जैनसमाजमें प्रतिष्ठा प्राप्तकरने और उनसे आदर सत्कार पानेके लिये ही आप समय समयपर जैन धर्मकी प्रशंसा करने या उसके प्रचार आदिका स्वाँग भरा करते हैं। परन्तु अब उनका उक्त सन्देह दूर हो जायगा और आपका 'सुकुमार सम्यक्त्व' सब तरहसे सुरक्षित और निर्भय रहेगा। हम भी चाहते हैं कि आपका सम्यक्त्व उस स्वर्गोपम भोग भूमिमें खूब हरा भरा और लहलहाता रहे, उसे किसी मिथ्यात्वीकी नजर न लग जाय।

३१-१-३५ —नाथूराम प्रेमी
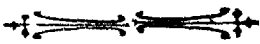
ढढ्ढजी का पत्र।

श्रीमान् "जैनजगत्" जी महोदय! जयजिनेश।

हमारा पूज्य दूरदर्शी वैज्ञानिक पंडितदल भली भाँति जानता है कि यदि वह आपकी धर्मनाशक, बुद्धिबिगाड़क व अधर्मप्रचारक "जैनधर्म का मर्म" शीर्षक बलवती लेखमालापर अपने द्रवित अन्तःकरणसे, क्रोधावेशमें अन्धा होकर अचानक चिनगारियाँ बरसाना प्रारंभ कर दे, तो इससे उलटी हानि ही होगी—एक ओर तो वह चिनगारियाँ अपनी गर्मीसे उनके अति संकुचित (Narrow) व मर्यादित (Limited) हृदयोंको फैला (Expand) कर उन्हें 'माल' पचाने योग्य अति विशाल (Wide) बनाने में समर्थ हो जायँगी और दूसरी ओर वह क्रोधाग्नि आपकी दाल गलानेमें भी सफल हो जायगी। इस प्रकार हर ओर वह अग्नि पंडित दलको ही मलियामेट करेगी, आप पर आँच आना तो दरकिनार उससे उलटी आपको सहायता ही मिलेगी। इसीलिये तो पंडितदल अपने तापमान (Temperature) को नहीं बढ़ने देता। महान दुःखका विषय है कि आप व आपके हिमायती इस वैज्ञानिक चुपकी (Scientific Silence) का दुरुपयोग करके विज्ञान (Science) का निरादर कर रहे हैं। श्रीमान् जी! हमारे दलकी इस चुपकीसे उसकी बुद्धिमत्ता, वैज्ञानिकता, विवेकशीलता, विशालहृदयता, गंभीरता उदारता, गहनता, सहनशीलता, शांतिप्रियता, दूरदर्शिता, सहिष्णुता, कषायहीनता इत्यादि इत्यादि समस्त शुभ 'ताएँ' टपकती हैं, डरपोकपन, दब्बूपन बुद्धूपन, उथलापन आदि अशुभ 'पन' नहीं। अतः हम आपसे कहेंगे कि आप भविष्यमें भक्तोंकी इस महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक चुपकीका दुरुपयोग करनेका दुःसाहस न करें, अन्यथा हम सत्यता, सभ्यता व विवेकशीलता आदि 'ताओं' को ताक़में रखकर 'पनों' की सहायतासे बिना आगा पीछा सोचे आप पर टूट पड़ेंगे। खैर·····।

एक कहानी है कि लोमड़ीने कुछ अंगूर देखे जो कुछ ऊँचाई पर बेलमें लटक रहे थे। वह बहुतेरी कूदी फाँदी, परन्तु उन अंगूरों तक न पहुँच सकी। अन्तमें निराश होकर कहने लगी कि 'चलो अच्छा हुआ, जो अंगूर हाथ नहीं आए, क्योंकि वे खट्टे हैं।' बस, ठीक यही बात आप पर घटित होती है। जब आपने देखा (बुरा न मानना जी) कि यह पंचमकाल है और मुझे किसी प्रकार भी सर्वज्ञ-

ताकी प्राप्ति नही होसकती तो लगे निरपराधिनी सर्वज्ञताको मिथ्या व कल्पित बता कर, साधारण अवस्थाको सर्वज्ञता कह कर, अपने निराश हृदय को तसल्ली देने। क्यों, है न यही बात ? परन्तु पंडित जी ! आपकी यह पॉलिसी (Policy) आपको बुरी तरह छकायगी। हमारा शुभचिन्तक हृदय तो यही कहता है कि आप निराश न होइये, पवित्र व महान् पूजनीय दि० जैन धर्म पर हमारे समान दृढ़ रहकर धर्माचरण करते जाइये। हम इस बातकी गारंटी (Guarantee) लेते हैं कि यदि आप हमारा कहना मान लेंगे तो कभी न कभी आपको सर्वज्ञता की अवश्य प्राप्ति होगी। यदि ऐसा न हुआ तो हम जुम्मेदार हैं। समझे !

समझमें नहीं आता कि आपने सर्वज्ञताका, क्या समझकर, मलियामेट कर डाला। देखिये, यदि आप द्वारा प्रतिपादित सर्वज्ञताको हम अपना अंतिम ध्येय बना लें, तब तो हमारा विकास ही रुक जायगा। हम कुछ उन्नति ही नहीं कर सकेंगे। सदा ऐसे ही बुद्धू बने रहेंगे। यदि हम अपने परमपुनीत दिगम्बर जैनधर्म द्वारा प्रतिपादित महान सर्वज्ञताको अपना लक्ष्य बनायेंगे, तो और कुछ नहीं तो आप वाली सर्वज्ञता तो प्राप्तकर ही लेंगे। मनुष्यको अपना लक्ष्य अपने उद्देश्यसे उच्च व बड़ा ही बनाना चाहिये, तब ही उद्देश्य प्राप्ति हो सकती है। अतः यदि आपकी परिभाषा सत्यकी कसौटी पर ठीक ठीक भी उतरे, तो भी किसी विवेकशील व बुद्धिमान मनुष्यको उसे हानिप्रद व उन्नतिबाधक समझकर भूलसे भी स्वीकार नहीं करना चाहिये। स्मरण रहे कि हम सत्यासत्यके झगड़ोंसे कोसों दूर हैं, हम तो लाभ-हानि, उन्नति अवनति, यश-अपयश सरलता कठिनताकी पहेलियों पर ही अपने मस्तिष्कका प्रयोग करते हैं, और वह भी जमानेकी रफ़्तारके अनुसार।

वास्तवमें आपने जो सर्वज्ञताके विषयमें भयङ्कर गोलमालकी है, उसे हमारा अन्धश्रद्धालु * हृदय रत्ती भर भी तो सहन नहीं कर सकता। परन्तु हम अबतक उसे चुपके चुपके सहन करके अपनी सहनशीलता व सहिष्णुताका हृदयग्राही परिचय देते रहे हैं। किन्तु अब हम चुप नहीं रहेंगे, अब तो हम दहाड़ेंगे और खूब दहाड़ेंगे। भला यह भी कोई खेल है कि जिस सर्वज्ञताको समस्त धार्मिक जगत् किसी न किसी रूपमें मानता है, आप उसको चुटकियोंमें मिटा डालें। श्रीमान जी ! कोई तो ईश्वर को सर्वज्ञ (भूत, भविष्य, वर्तमानकी, समस्त पर्यायों को युगपत जानने वाला) मानता है, कोई सर्वज्ञता को आत्माका स्वभाव बतलाता है, तात्पर्य यह कि सर्वज्ञताको सब मानते हैं। एक दोसे भूल होसकती है, सारे संसारसे भूल नहीं होसकती। अतः प्रत्येक कल्याण-इच्छुकका कर्तव्य है कि वह आँख मींचकर उसी मार्ग पर अपनेको डाल दे जिस पर सब चल रहे हैं। जो सबकी दशा होगी वही उसकी भी होगी। और इस दशामें सुदशा व दुर्दशा दोनों संतोषजनक ही होंगी। अतः उपरोक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि विश्वमान्य सर्वज्ञताको ढकोसला कहना अकल्याणकर, असंतोषजनक, व हानिप्रद (सत्य हो या असत्य) है। आप ही बताइये कि हानिप्रद नहीं तो क्या मोक्ष दायक है ?

हमने जो उपरोक्त कुछ मोटी मोटी बातें आपकी सीमारहित उदारताके सम्मुख रखकर आपको कल्याण मार्ग सुझानेका अकथनीय परिश्रम किया है, आशा है कि आप अवश्य उसे सार्थक बनाने का गौरव प्राप्त करेंगे। यदि आपने अपनी हठको नहीं छोड़ा तो हमें व्यर्थ ही एड़ी चोटीका पसीना एक करके आपको सुमार्ग पर लानेका असफल प्रयत्न करना पड़ेगा। याद रहे कि हम साहस हारने वाले व्यक्तियोंमें से नहीं हैं: हम दृढ़ हैं और दृढ़

* हम पिछले पत्रमें सिद्ध कर चुके हैं कि 'अन्ध श्रद्धा' को त्याज्य व हानिप्रद बताना अज्ञानता है। अन्ध श्रद्धा तो एक महान पूज्य व आदरणीय वस्तु है। यही कारण है कि अपनेको अन्धश्रद्धालु कहनेमें हम अपनी आत्माका गौरव समझते हैं।

ही रहेंगे। हमारी तो इच्छा थी कि हम इसी पत्रमें कुछ और बातें भी कामकी लिखें, परन्तु समयाभावसे हम ऐसा नहीं कर सकते। अगले पत्रमें लिखेंगे। प्रतीक्षा करें। हमारी बातोंका खूब मनन करें। योग्य सेवा लिखें। आपका—दृढ़।

सत्यसमाज प्रगति।

श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी कोटेचा बार्सी (शोलापुर) के प्रयत्नसे निम्नलिखित तीन सदस्य और बने हैं। इसप्रकार बार्सीमें शाखाके योग्य सदस्योंकी संख्या होगई है। अभी पदाधिकारियोंका चुनाव नहीं हुआ है। होजाने पर प्रकाशित किया जायगा।

(३९) धर्मवीर। पिताका नाम माड़ारामजी। उम्र २२ वर्ष। नैष्ठिक। पहिले ये भाई स्थानकवासी जैन थे परन्तु पीछे ईसाई होगये। बादमें फिर जैन बनगये। अब सेठ चुन्नीलालजीके प्रयत्नसे सत्यसमाजी बने हैं।

(४०) चम्पालाल ललवानी। पिताका नाम पृथ्वीराजजी। उम्र २६ वर्ष। जैनपाक्षिक। जन्मसे आप स्थानकवासी ओसवाल जैन हैं।

(४१) जगन्नाथ आप्टे। पिताका नाम विनायक जी। उम्र २९ वर्ष। नैष्ठिक। आप अभीतक आर्यसमाजी थे। मुंबईमें मुझसे मिले थे। बहुतसा शंकासमाधान हुआ। अभी भी कुछ कुछ आर्यसमाजी विचार हैं, परन्तु आशा है शीघ्रही आप सत्यसमाज के वातावरणमें पूर्ण समभावी हो जायँगे। आप डाक्टरी लाइनमें काम करते हैं। जन्मसे आप ब्राह्मण हैं। आपने भी सम्मति लिखकर भेजी है।

श्रीयुत पंडित रामचंद्रजी बलूँदा (मारवाड़), जोकि एक अच्छे विद्वान हैं, सत्यसमाजके सदस्य बनचुके हैं। आपकी सम्मति निम्नलिखित है।

"सर्वगुणसम्पन्न श्रीयुत् पण्डितजी साहब सादर सत्यदेवकी जय।

"श्रीमान् पण्डित सूर्यभानुजी द्वारा सत्यसमाज संघटना व पत्र संप्राप्त कर चित्तको अतीव प्रसन्नता प्राप्त हुई।

"आपश्री वास्तविक सत्यके शोधक हैं, ऐसा आपश्रीके सुलेखों व सद्विचारोंसे प्रतीत होता है।

"मेरा सच्चा अनुमान है कि इस कार्यसे, जो लोग भिन्न भिन्न प्रकारके साम्प्रदायिक झगड़ोंके चङ्गुल में फँसे हुए हैं उनका, बहुत कुछ कल्याण होगा।

"आशा नहीं किन्तु पूर्ण विश्वास है कि आपश्री को इस कार्यमें अवश्यमेव सफलता प्राप्त होगी और भविष्यमें आप इस समाजके अवतार माने जायेंगे।"

पण्डित सूर्यभानुजीके प्रयत्नसे निम्नलिखित तीन सज्जन सदस्य बने हैं। इन सदस्योंके बननेसे बलून्दा में भी शाखायोग्य सदस्यसंख्या होगई है। वहाँ शीघ्र ही शाखाका चुनाव हो जायगा, तब सूचित करदिया जायगा।

(४२) भीखमचन्द पण्डित। पिताका नाम उशारामजी। वैदिक पाक्षिक। उम्र २२ वर्ष। आप ब्राह्मण हैं। पता, भीखमचन्द माँगीलाल शर्मा बलूँदा (मारवाड़)

(४३) पण्डित मगनीराम। पिताका नाम विनयरामजी। उम्र २५ वर्ष। वैष्णव पाक्षिक। जोशी ब्राह्मण।

(४४) शिवराज। पिताका नाम बस्तीरामजी उम्र २५ वर्ष। वैष्णव पाक्षिक। शाकद्वीपीय ब्राह्मण। आपने निम्नलिखित सम्मति भी भेजी है।

"बड़ी सादड़ीके मेवाड़ी पण्डित कुँ० सूर्यभानुजी डाँगीसे सत्यसमाजकी किताब पाई। मैं बड़ी झंझटमें था कि यह धर्म अच्छा कि यह धर्म अच्छा। आज समझ गया कि सच्चा धर्म क्या है और हमने क्या समझ रक्खा है। आपके गीतोंको हमेशा गाया करूँगा। डाँगीजी और आपको खूब धन्यवाद देता हूँ।"

—शिवराज सेवक।

(४५) श्रीयुत पन्नालालजी भंडारी बी० ए० (ऑनर्स) बी० कॉम० ऐलऐल० बी० झाबुआसे लिखते हैं:—

"मान्यवर पंडितजी,

सत्यसमाजके मूल सिद्धान्तोंपर नवयुवक समाजकी दो राय होना कठिन है। आज कलके वैज्ञानिक वातावरणमें पला हुआ संसार-विशेषकर आध्यात्मिक संसार—मँजे हुए सत्यकी खोजमें है। सत्य प्रत्येक "धर्म" में है किन्तु समयप्रवाहके कारण, अन्धभक्तोंकी अतिशयोक्तियोंके कारण, और आदर्शरहित कुछ धर्मसंस्था-संचालकोंके कारण वह सत्य अवगुंठित होगया है। फलतः धर्म पदार्थ इने गिने पुरुषोंका ही इजारा Monopoly बन गया है। यही कारण है कि मँजे हुए सत्यके अभावसे और विज्ञानके प्रादुर्भावसे संसार 'धर्म' के नाम पर त्रुटिपूर्ण सत्यके प्रवाहमें गेंदकी नाई इधर उधर उड़ रहा है। संसार सत्यकी खोजमें है पर मिलता है झूठ सिक्का। ऐसी परिस्थितिमें सत्यसमाजकी आवश्यकता और भविष्य पर शंका करना निरी बेसमझ है।

सत्यसमाजकी योजना—रूपरेखा पढ़कर विश्वास होगया है कि वह एक लम्बे समयके विचारोंका फल है। उसकी नवीनता, उदारता और व्यापकता उसके आकर्षक विन्दु हैं। सत्यसमाजके मन्दिरकी कल्पना करते हुए मुझको उस ज्ञानउद्यानका भास होता है जहाँ सत्यशोध-पिपासासे प्रेरित मानव कम से कम सन्ध्या और सवेरे संसारके झमेलोंसे मुक्त होकर उस मन्दिरमें मिलकर अपने इष्टका मनन करते हैं और प्रेमपूर्वक या ईर्ष्यारहित आत्मोत्सर्ग ज्ञानगोष्ठी करते हैं।

सत्यसमाजके सदस्योंका विभाग उसकी सफलताकी दृष्टिविन्दुसे सन्तोषजनक है और शंकास्पद भी। सन्तोषजनक इसलिये कि अनेक व्यक्ति सत्यसमाजके उद्देश्यसे सहानुभूति रखते हुए भी सम्प्रदायकी अवहेलना नहीं कर सकते हैं। वे पाक्षिक या अनुमोदक बन सत्यसमाजके अङ्ग बन सकते हैं। शंकास्पद इसलिये कि पाक्षिक या अनुमोदक सदस्य बनाकर दो विरुद्धभक्तियोंका भार एक व्यक्ति पर लुटादेते हैं। जहाँ साम्प्रदायिक और सत्यसमाजके उद्देश्योंमें संघर्ष होगा वहाँ वह स्वाभाविक रूपसे सम्प्रदायकी ओर झुकेगा, अर्थात् सत्यसमाज निर्बलताका शिकार बनेगा। अतएव इस विषय पर कुछ अधिक मननकर एक ऐसी कसौटी तैयार करना चाहिये जो ऐसे मौक़ेपर कसी जाय।*

सत्यसमाज सफल होगा या नहीं, इसका एकतर्फा निश्चित उत्तर देना अनुचित है, पर हाँ जब आप इस संस्थाके मुख्यरूपेण संचालक हैं तब इसकी असफलताकी शंका दूर होजाती है। मुझको विश्वास है कि सत्यसमाजके जन्मसे नवयुवक दलकी चिर प्यास—क्रान्तिकी प्यास—बुझनेका सरल रास्ता है और यह भी विश्वास है कि एक क्लान्त पथिककी नाईं तड़फड़ाते हुए नवयुवक इस सत्यसमाज जलाशयमें उमड़कर अपनी पिपासा बुझाकर मानवसमाजको उन्नतिशील करेंगे।

ऐसी संस्थाएँ जो समाजके प्रचलित काँटोंको मूलसे उखाड़कर एक सत्यपर जमी हुई नवीनसमाजका ढाँचा बनाना चाहती हैं वे आर्थिक पीठबलके अभावसे निरे शब्दों में ही रह जाती हैं। आपके विचारों से प्रेम रखनेवाले और सत्यके भक्त जहाँतक बनसके वहाँतक आर्थिक सहायता देकर इस 'समाज' को सफल बना सकते हैं।"

प्राप्ति स्वीकार।

जैनजगत्के लिये निम्नलिखित सहायता प्राप्त हुई है:—

(१) श्री० ला० मित्रसेनजी नाहरसिंहजी रईस मुजफ्फरनगर।

(२) श्री० ला० मन्नलालजी बैंकर मेरठ।

(५) श्री०ला०छगनलालजी उत्तमचन्दजी सरैया सूरत।

उपरोक्त महानुभावोंको इस उदारताके लिये धन्यवाद। —प्रकाशक।

---

* सर्वधर्मसमभाव अथवा सत्यसमाजसंघटनाके ६-७ वें नियम कसौटीका काम देंगे। —सम्पादक

धर्मोंका इतिहास ।

(लेखक—श्रीयुत हेमचन्द्रजी मोदी ।)

मानव-प्रकृति पशु-प्रकृतिके महान् वृक्षकी ही एक शाखा है । मनुष्य नामधारी पशुने अपने मूल-स्वभाव, आवश्यकता, वासनाओं आदिमें अपने पूर्वजों की अपेक्षा कोई उन्नति नहीं की है । आजभी वह उसी तरह भूख, प्यास, वासनाओं आदिका गुलाम बना हुआ है और इसीलिए समाज-विज्ञान सिर्फ़ एक गुलामियोंका खाता-बही है । परन्तु फिर भी मानव जातिका इतिहास स्वातंत्र्य या आज़ादीके यन्त्रकी बनावट, उसकी चलन आदिकी एक लम्बी और निरन्तर खोज है । रिवाज, क़ानून, संस्थाएँ, विज्ञान, कला, धर्म, नीति आदि वस्तुएँ ऐसे आविष्कार हैं जो खोजे जाकर, आज़माए जाकर, स्टैंडर्डाइज़ किए जाकर स्थापित किए जाते हैं तथा आत्मा और शरीरको अपने सहजात असंख्य मालिकोंकी गुलामीसे छुटकारा देनेके अधिकाधिक पूर्ण उपायोंकी अनन्त खोजमें, फिर पोंछ डाले जाते हैं । वास्तवमें सभी जीवित वस्तुओं—वनस्पतियों, जानवरों, बैसिलाइओं, हाथियों, गोरिल्लों और उसी तरह मनुष्यों—का इतिहास स्वातंत्र्यकी खोजका इतिहास है ।

परन्तु स्वातंत्र्यको समझनेके लिए गुलामी क्या है, कैसी है, और उसका मूल क्या है, आदि बातोंको जाननेकी भी ज़रूरत है । गुलामीका मूल मनुष्यों और जानवरोंको मारनेवाली संक्रामक बीमारियोंके जीवाणुओंमें देखा जा सकता है । प्रत्येक जीवित वस्तुके स्वातंत्र्यके युद्धमें भान या होशका अभाव होता है । वह यह नहीं जानता कि मैं यह क्यों कर रहा हूँ । मनुष्यमें भी व्यवसाय और रुपये कमानेकी बुद्धि स्वातंत्र्यकी मूल भावनाका ही विकास है । रुपया वह इसीलिए कमाना चाहता है जिससे कि वह स्वतंत्रतापूर्वक जीवन बसर करसके । परंतु रुपया कमाते कमाते वह इस बातका भान या होश भूल जाता है और वह यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं समझता कि यह मैं क्यों कर रहा हूँ ? वह रुपये कमानेके लिएही रुपया कमाता है । इसीतरह रोगोंके जीवाणु भी अपने अस्तित्वको स्वतंत्रतापूर्वक बनाये रखनेके लिए ही अन्य जानवरोंपर हमला करते हैं । जिस प्रकार मनुष्य अपने रुपये कमानेकी इच्छा को परिमित कर दूसरे मनुष्योंको उसी अधिकारसे वंचित करनेसे अपने आपको रोक सकता, है उसी प्रकार रोगोंके जीवाणु भी अपने नाशकारी कार्यको परिमित कर दूसरोंके जीवित रहनेके अधिकारको छीने बगैर खुद भी जीवित रह सकते हैं । परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि अपनी स्वतंत्रताके युद्धमें जीवित वस्तुओंको भान या होशका अभाव होता है, इसी अभावके कारण गुलामीकी भावनाका—अर्थात् दूसरेको गुलाम बनाना और खुद दूसरेका गुलाम बनना—और उसके साथ उत्पन्न आध्यात्मिक और शारीरिक नस्लके पतनका प्रादुर्भाव हुआ है । गुलामीकी भावनाका परिणाम एक तरफ़ यह होता है कि नस्लमें उन शक्तियोंका अधिकाधिक विकास होता जाता है जिनसे कि वह शक्तिशाली हुआ है तथा साथही साथ उन दुर्बलताओंका भी विकास होता जाता है जिनसे कि वह इतनी दुर्बल हो गयी है । इसतरह एक दिशामें शक्ति और दूसरी दिशामें कमज़ोरी बढ़तीही जाती है । रोगोंके जीवाणु भी जहाँ अपनी आक्रमणकारी शक्तियोंमें अधिकाधिक वृद्धिंगत होते हैं वहाँ ही वे स्वयं अपनी जीवित रहनेकी शक्तियोंका खोते जाते हैं । बहुतसे रोगोंके जीवाणु अपने पंख खो बैठते हैं । विष्ठाके कृमियोंमें, जो कि आँतोंके पचे पचाये अन्नपर जीवन धारण करते हैं, मल, मज-

नाली, पाचनयन्त्र आदि नहीं होते क्योंकि उनकी उन्हें आवश्यकता नहीं रहती। दूसरी तरफ आक्रमणकारी अंगोंके सतत उपयोगमें आनेके कारण उनका खूब अधिक विकास होता है। इसी तरह मानवसमाजमें भी गुलामीकी भावनाके कारण शारीरिक शक्तियाँ दिनबदिन क्षीण होती जाती हैं, परन्तु एक दूसरे पर आक्रमण करने और नाश करनेकी शक्तियों और हथियारोंका विकास होता जाता है। जिस प्रकार झाड़की डालपर बैठा हुआ मनुष्य उसी डालको यदि काटे तो डालका और खुद उसका दोनोंका ही पतन निश्चित है, उसी प्रकार आक्रमणकारी शक्तियोंके द्वारा दूसरोंको गुलाम बनानेसे गुलामोंके साथ साथ अपना भी पतन सुनिश्चित है। रोगके जीवाणु अपने शिकारका नाश करके अपना भी नाश कर लेते हैं।

मैं कह चुका हूँ कि मानव-इतिहासकी लेबोरेटरीमें से पैदा होनेवाली नई नई खोजोंमें से धर्म भी एक खोज है यह खोज बीसियोंमें, शताब्दियोंमें, सहस्राब्दियोंमें बराबर परिष्कृत होती जाती है। उस लेबोरेटरीकी अन्य खोजोंके समान इसका भी एकही उद्देश्य है और वह है अधिकाधिक मात्रामें स्वातंत्र्य-प्राप्ति। और स्वातंत्र्यका अर्थ क्या है? स्वातंत्र्य और गुलामीकी भावनाके ऊपर किये गये पृथक्करणसे यह स्पष्ट है कि आक्रमणकारी स्वभाव, आक्रमणकारी साधनों, आक्रमणकारी मनोवृत्तियोंका नाश और उनके बदलेमें आत्मरक्षक और आत्मोन्नतिकारक स्वभाव, आत्मोन्नतिकारक साधनों, आत्मोन्नतिकारक मनोवृत्तियोंका विकास। पृथ्वी पटलपर आजतक जितने भी धर्म पैदा हुए हैं उनका सभीका यही एक लक्ष्य रहा है—स्वातंत्र्य प्राप्ति। परन्तु आज उनमेंसे सभी धर्म किसी एक विजयी, शिकारी, स्वच्छंद, शक्तिशाली, वर्ग, देश, या समाजके पोषक और किसी एक विजित, शिकार गुलाम, शक्तिहीन, पददलित वर्ग, देश या समाज पर शासन करने, विजय प्राप्त करने, उनके शिकार करने, उन्हें गुलाम बनाने, उन्हें अधिकाधिक निर्बल बनानेके हथियार होगये हैं। आज आवश्यकता है इस बातकी कि पुराने धर्मों, मजहबोंके अपने मौलिक दैवीस्वरूप तथा उनके विकृत भयंकर, राक्षसी, शैतानी स्वरूपोंको मानवसमाजके सामने नग्न करके दिखाया जाय तथा बताया जाय कि किस तरह मूर्खजनता धर्मके नामसे भड़काई जाकर एक शक्तिशाली वर्गका हथियार बनाई जाती है। यदि सत्यसमाजने इतना करके बता दिया तो समझो कि उसने अपना जन्म सार्थक कर लिया।

दुनियाँमें सबसे पुराना धर्म बहुदेववाद है। जब कि यह धर्म पैदा हुआ, उस समय आम जनता दो वर्गोंमें विभक्त थी। एक वर्ग तो खेती, किसानी करता था, तथा गाय बैलों आदि जानवरोंको पालता था। और दूसरा वर्ग या दल केवल पहले दलको लूटता पाटता और डाकेजनी करता और इसी पर अपना गुजारा करता। उसे मिहनत करके, पसीना बहाकर खाना पसंद नहीं था। जब मिहनती दल लुटेरे दलके आक्रमणोंसे तंग आ गया तब उसने सामूहिक रूपसे लुटेरोंके सरदारके पास जाकर कहा कि तुम हमें शान्तिसे रहने दो तथा अन्य लुटेरोंसे हमारी रक्षा करनेका जिम्मा लो तो एक निश्चित धन हम तुम्हें टैक्सके रूपमें एकत्रित करके दिया करेंगे। इसतरह दूसरे दलके लोग मना लिये गये और समाजमें छोटे छोटे राजाओं या दलपतियोंकी उत्पत्ति हुई। जैसे जैसे समाजमें सभ्यता और संस्कृतिका उदय होने लगा वैसे वैसे एक और नये वर्गका उदय हुआ जिसे कि बुद्धिजीवी वर्ग कहसकते हैं। इसका काम था लोगोंकी जानकारियोंका संग्रह करना तथा समाजके विभिन्न व्यक्तियोंको उनसे लाभ पहुँचाना। मनुष्य समाज अनादिकालसे दुनियाँ, चंद्र, सूर्य, नक्षत्र, हवा, प्रकाश, आदि क्या हैं, कैसे हैं, आदि प्रश्नोंपर अपने फिजूल समयमें विचार करता आया है। समाजके बुद्धिजीवी दलने इन विचारोंको एकत्र कर अपनी अल्पबुद्धिसे यह निर्णय समाजके सामने पेश किया कि जिसप्रकारसे उनके समाजमें छोटे छोटे

असंख्य राजा और दलप तिहैं, उसीतरह समाजके भाग्यपर शासन करने वाले असंख्य देवता हैं और उनकी सेनाओं,सिपाहियोंकी तरह हवा,पानी,वायु, आकाश आदि हैं। इन विचारोंके प्रचारसे जनतामें अपने राजाओं तथा दलपतियोंके प्रति श्रद्धा और भक्तिके भाव उदय हुए तथा राजाओं और दलपतियों ने ऐसे विचारोंका प्रचार करनेवाले बुद्धिजीवीवर्गको हरेकतरहकी मानप्रतिष्ठा,धन आदिसे सहायता देकर अपने वशमें कर लिया। चोरी डकैती आदि करने से समाजके राजा आदि तो दण्ड देते ही हैं, परन्तु देवता लोग भी दंड देते हैं तथा भक्ति खुशामद आदि करनेसे माफ़ करदेते हैं आदि विचारों तथा लोगोंमें शक्तिकी भावनाको उदय करनेके लिए मूर्तिपूजा तथा मातापिताकी भक्ति करनेका रिवाज भी इन्हीं लोगों ने क़ायम किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुदेववादका सिद्धान्त यद्यपि स्वयं बुरा नहीं था और मानवबुद्धि का संसारसमस्याको सुलझानेका सर्वप्रथम प्रयत्न था, परन्तु किस तरह वह एक शासकवर्गके हाथमें जनताको गुलाम बनानेका हथियार साबित हुआ।

इस तरह समाजमें सैकड़ोंकी संख्यामें दलपतियों या छोटे छोटे राजाओंकी सृष्टि हुई और फिर उनमें परस्पर ईर्षाद्वेष आदि होने लगे। एक दूसरेसे लड़ने और एक दूसरेकी प्रजाको हथियानेकी कोशिशें होने लगीं। इन बातोंसे प्रजा भी बहुत तङ्ग होगई, और उसके बुद्धिजीवीवर्गके लोगोंने उनकी मनोवृत्तियोंको पहिचान कर यह विचार किया कि सैकड़ों राजाओंकी गुलामी करनेकी अपेक्षा किसी एक राजा या सम्राट्की गुलामी करना कहीं अधिक अच्छा है। उस समय जिस तरह समाज जुदे जुदे राजाओं या दलपतियोंके दलोंमें बटा हुआ था उसी तरह जुदे जुदे देवताओंके भक्तोंके दलोंमें बट गया था तथा उनमें कौन देव श्रेष्ठ है आदि बातोंपर झगड़ा भी हुआ करता था। इन बातोंसे भी तङ्ग आकर लोगोंने राजनीतिकक्षेत्रके समान धार्मिकक्षेत्रमें भी एक ही ईश्वर माननेका निश्चय किया।

बहुदेववादके सिद्धान्तकी स्थापनाके समय तथा इसके बादमें एकेश्वरवादकी स्थापनाके समय समाजमें उग्र क्रान्तियाँ हुईं। समाजोंमें तथा देशोंमें क्रान्तियाँ, कुछ सौ-दोसौ वर्षोंसे ही नहीं होने लगी हैं, परन्तु क्रान्ति भी अनादि कालसे होती आ रही है। इन प्राचीन क्रान्तियोंका स्पष्ट रूपसे कहीं ज़िकर नहीं है परन्तु फिर भी हम प्राचीन ग्रन्थोंसे तथा समाज शास्त्रके नियमोंके अध्ययनसे उनका निश्चित अनुमान कर सकते हैं। प्रत्येक नये धर्मकी स्थापनाके समय, नई संस्कृतिकी स्थापनाके समय समाजमें एक या अनेक क्रान्तियाँ होती रही हैं और वे उतनी खूँख्वार, उतनी ही भयङ्कर होती रही हैं जितनी कि रूसकी या फ्रांसकी या स्पेनकी राजक्रान्तियाँ हुई हैं। साम्यवाद और फासिज्म उसी तरहके नये धर्म हैं, जिस तरहके बौद्धादि प्राचीन धर्म थे और उसके स्थापनमें भी समान रूपसे भयङ्कर खूँख्वार क्रान्तियाँ हुई हैं।

यह नियम है कि जो भी कोई नया धर्म या सिद्धान्त स्थापित होता है वह अपनेसे पहलेके धर्म या सिद्धान्तको अपनेमें पचा लेने और इस तरह उस मतवादियोंकी शक्तिको तोड़ डालनेका प्रयत्न करता है। इसी तरह एकेश्वरवादके सिद्धान्तके साथ प्राचीन बहुदेवतावादका भी समन्वय किया गया और ईश्वरको सर्वश्रेष्ठ मानकर अन्य देवताओंको उनके आधीन मानलिया गया। राजनीतिक और भौतिक क्षेत्रमें भी वही बात हुई अर्थात् एक सर्वशक्तिशाली चक्रवर्ती सम्राट्के साथ साथ उसके आधीन अनेक राजा मान लिए गये।

इस तरह हम देखते हैं कि जो बुराई बहुदेववादमें थी और जिसके कारण इतनी बड़ी क्रान्ति की ज़रूरत हुई, वही बुराई धीरे धीरे आकर फिर जम गई। एकेश्वरवादके बादकी प्रतिक्रान्ति जिसने कि फिरसे एकेश्वरवादके पर्देके भीतर पुनः बहुदेववादको छिपाया और राजनीतिक क्षेत्रमें भी एक-

च्छत्र सम्राट के पीछे अनेक छोटे छोटे राजाओंको घुसेड़ दिया। बिचारी ग़रीब जनता उसी तरह फिर पीसी जाने लगी।

इस तरहकी क्रान्तियाँ स्पष्ट या अस्पष्ट रूपमें सभी देशोंमें हुई हैं, परन्तु भारतवर्षमें जब यह हुई तबकी बहुत ही अधिक छाया प्राचीन ग्रंथोंसे मिल सकती है। यूरोपादिक खण्डोंमें वर्गोंको स्पष्ट हुए बहुत दिन नहीं हुए, परन्तु भारतवर्षमें श्रमिक वर्ग, धनिकवर्ग, अधिकारीवर्ग, और बुद्धिजीवीवर्गके शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण नाम बहुत पहले ही स्पष्ट होगये थे और इनकी धर्मशास्त्रानुसार रचना इस तरह की गई कि आगेके कालमें सामाजिक क्रान्तियाँ होना बिलकुल ही असम्भव होजाय।

समयका वही पुराना चक्र फिर चला। दलित वर्ग अत्याचारोंसे पीड़ित हो तिलमिलाने लगा और उसमें फिरसे विचारोंकी क्रान्ति होने लगी। राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति होनेके पहले हमेशा विचारोंकी क्रान्ति हुआ करती है। बहुदेववादके जमानेसे लोगोंमें देवताओंके आगे बलि देने तथा यज्ञादिकोंमें हजारों पशुओंकी बलि देनेकी प्रथा चली हुई थी। राजाओं और सम्राटों द्वारा अपनी श्रेष्ठता क़ायम करनेके लिए बड़े बड़े यज्ञ किये जाते थे, जिनमें गाय, बैल, घोड़े, बकरे, भैंसे और यहाँ तक कि मनुष्यों तक की बलि दी जाती थी। इन यज्ञोंमें अजहद सम्पत्ति राजाओंकी तरफ़से बुद्धिजीवीवर्ग या ब्राह्मणवर्ग को दान दक्षिणाके रूपमें दी जाती थी। इस कारण ब्राह्मण वर्ग इन यज्ञोंका पोषक था, उसकी आजीविका ही इन यज्ञोंपर निर्भर थी। बुद्धिजीवीवर्गने अधिकारीवर्गकी नाड़ी पहिचान ली थी और जान लिया था कि मान प्रतिष्ठा और पदके लोभसे इन लोगोंसे कुछ भी कराया जा सकता है। वे यज्ञोंके द्वारा मान, प्रतिष्ठा, पद यहाँ तक कि स्वर्ग और मोक्षका लोभ देकर उनके पैससे अपने जेब भरा करते थे। अत्यधिक पशुबलियोंके कारण देशमें गाय बैल आदि उपयोगी जानवर कम होगये। खेती, किसानी, सवारी आदिके लिये जानवर मिलना कठिन होगया। लोगोंमें और खासकर श्रमिक वर्गमें अशान्ति फैल गई। लोगोंमें ईश्वरवाद के विरुद्ध विचार फैल रहे थे, इस अशान्तिने उनको एड़का काम दिया। क्रान्ति होगई। बुद्ध और महावीर और उनके सम दूसरे महापुरुष नेता मिल गये। उन्होंने यज्ञों और पशुबलियोंके विरुद्ध ज़ोरशोरसे प्रचार करना शुरू किया। क़दीमी ब्राह्मणवर्गकी प्रभुताका नाश किया। वर्णाश्रम धर्मका सत्यानाश कर दिया। निरीश्वरवाद और सर्वेश्वरवादके विचारों का प्रकाश किया जो कि वास्तवमें आधुनिक साम्यवादके मूल थे। सब लोग समान हैं, मुक्ति सबको होसकती है, अहिंसा सबसे बड़ा धर्म है, किसी भी प्राणीकी हिंसा करना पाप है आदि। इन सिद्धान्तों के बीजके लिये उपजाऊ भूमि तैयार थी ही, वे खूब बड़े हो गये।

इस क्रान्तिमें बहुतसे अधिकारीवर्गके लोग भी शामिल थे, क्योंकि ब्राह्मणोंका यज्ञवाद एक तरफ़ तो उनके पैसे छीनता था; दूसरी तरफ़ गाय बैलके साधनोंके अभावमें खेती किसानी कम हो जानेसे खेती कम होनेसे टैक्सके रूपमें उनकी आमदनी कम हो गई थी। श्रमिक वर्गको शामिल करनेके लिए बुद्ध और महावीरने वर्णाश्रमधर्मका उच्छेद करना शुरू किया, अपने धर्मोंमें ऐसे सिद्धांत शामिल किये जो कि पूँजीवादी और अधिकारीवर्गको अप्रिय थे, जैसे कि आवश्यकतासे अधिक परिग्रह ग्रहण नहीं करना, ईश्वर को नहीं मानना, आदि। यदि ये दोनों सिद्धान्त किताबोंमें ही न लिखे रहकर व्यवहारमें भी लाये जाते तो आजकी समाजव्यवस्था ऐसी विकृत न होती और संसारमें इतना दुःख नहीं रहता।

बुद्ध और महावीरने अपने धर्मके प्रसारके लिए एक स्वयंसेवकोंकी सेना तैयार की थी, जो कि श्रमण या साधु कहलाते थे। आज कलके देशभक्तों के समान वे भी समाजसेवाके नामसे स्वार्थत्याग

न करें, इसीलिए उनके लिए परिग्रहत्यागके नियम बड़े ही कठोर बना दिये गये थे। परन्तु धीरे धीरे बुद्ध और महावीरके बाद इस संस्थाकी डिसिप्लिन में ढिलाई आने लगी तथा समाजके आलसी, निरुद्यमी और अकर्मण्य तथा लुच्चे लफंगे लोग बड़ी संख्यामें इसमें घुस गये। करोड़ोंकी संख्यामें लोग श्रमण हो गये और बड़े बड़े जत्थे बाँधकर घूमने लगे। पूँजीवादके विकासके साथ बेकारी भी बहुत काफ़ी बढ़ गई थी। पढ़े और बेपढ़े बेकार लोग इस संस्थामें घुस गये। इस तरह ब्राह्मण वर्गके लुप्त हो जानेके बाद उसका स्थान लेनेके लिए श्रमणों का यह बड़ा भारी वर्ग तैयार हो गया। आम जनता इनके भारके नीचे दबने लगी। इनसे उसे अपनी स्त्रियोंकी सतीत्वरक्षा करना भी मुश्किल हो गया। पूँजीपतियों, राजाओं, सरदारोंका भार तो समाज पर वैसा ही बना रहा, और यह नया भार तैयार हुआ। शकों और हूणोंके दलोंने भारतवर्षपर आक्रमण किया, परन्तु ये लोग मंत्रों और तंत्रोंके ही द्वारा उन्हें मार भगानेका स्वप्न देखते रहे। लड़ने का ठीक ठीक प्रयत्न नहीं किया गया। लोगोंमें बौद्ध शासनके प्रति असंतोष फैल गया। क्रान्ति हुई। शासन उलट गया। ब्राह्मण धर्मका पुनरुद्धार हुआ। परन्तु, नये ब्राह्मण धर्ममें यज्ञ नहीं थे, पशुबलि नहीं थी तथा अहिंसाके सिद्धान्तको भी उसने अपनेमें पचा लिया था।

ब्राह्मण धर्मका पुनरुद्धार जब किया गया तब उसके दार्शनिक और सामाजिक रूपमें बौद्ध धर्मकी नकल की गई थी और बुद्धको भी विष्णुके अवतार रूपमें ग्रहण किया गया। बौद्धोंके शून्यवादमें शून्य शब्दका हेर फेर करके उसकी जगह "ब्रह्म" शब्द रख दिया गया और शंकराचार्यका वेदान्त दर्शन बन गया। शांकर वेदान्तमें वर्णाश्रमधर्म तथा हजारों देवी देवताओंकी गुलामी आदि बातें कुछ नहीं थीं; परन्तु शांकरवेदान्तके शखसे ब्राह्मणधर्म की विजयने धीरे धीरे सब पुरानी बुराइयोंको बचे पर्देमें सँवार कर घुसेड़ दिया। फिर वही छोटे छोटे राजाओं और दलपतियोंकी सेनाओंने अपना अधिकार जमा लिया। वर्णाश्रम-धर्मका पुनरुद्धार हुआ। अछूत वर्ग और शूद्रवर्गमें भाग्यवाद और कर्मवादके नामसे फिर गुलामीके विचार भरे गये। लोगोंमें ये विचार फैलाये गये कि किसीके करने से कुछ होता नहीं है, जो कुछ भाग्यमें बदा होता है वही होता है। बुद्धिजीवी वर्गने भी लोगोंसे धर्मके नामसे रुपया ठगकर इसी सिद्धान्तका प्रचार किया। प्रजामें ये विचार फैलाये गये कि तुम्हारी वर्तमान अवस्था तुम्हारे पूर्वजन्मके कर्मोंका फल है। "अब तो गले पड़ी ढोलकी बजाये सिद्ध है"। जैनियोंका कर्मसिद्धान्त जो कि केवल लोगोंको ऐसे कामोंकी ओर प्रेरित करनेके लिए बनाया गया था जिनसे कि समाजका कल्याण हो, ऐसे कायर विचारोंको फैलानेका हथियार बनाया गया और कहा गया कि जो कुछ भविष्यमें होना है सो तो महावीर स्वामी आदि तीर्थंकर पहिले ही देख और जान चुके हैं। हमारे कितने ही पुरुषार्थ करने से उनकी सर्वज्ञ दृष्टिमें फ़र्क़ नहीं हो सकता। उनका अनन्तज्ञान और दर्शन क्या मिथ्या था? पुरुषार्थ करके उनके अनन्तज्ञान और दर्शनमें फ़र्क़ डालने का प्रयत्न फ़िज़ूल है। इसी तरहके बेवक़ूफ़ी भरे विचारोंने साधारण लोगोंकी आत्माको बिल्कुल मार दिया।

भाग्यवाद, कर्मवाद और निराशावादके सिद्धान्तोंने दो हजार वर्ष तक क्रान्तिको केवल रोक ही रक्खा हो सो नहीं, वरन् साथही साथ उन्होंने भारतवर्षकी वर्तमान गुलामी और परतन्त्रताकी भूमिका भी तैयार की। लोगोंमें यह धारणा हो गई कि यह सांसारिक जीवन किसी तरह दुखसे सुखसे काटही डालना चाहिए, इसके लिए विशेष हाथ पैर मारना और दुर्भाग्यसे लड़ना व्यर्थ है। उन्हें जीवनमें आनन्द नहीं रहा, उनके लिए वह एक यातना हो गया। इन सिद्धान्तोंने तथा बौद्धे

मोटे राजाओंके पारस्परिक ईर्षाद्वेषोंने राजनीतिक जीवनमें भी उन्हें भाग्यवादी और निराशावादी बना दिया। कोई भी राजा हो, आम जनताको उससे कोई मतलब नहीं। एक राजाके मारे जानेपर उसके स्थानपर दूसरा कोई भी राजा आवे, प्रजाको उसकी आधीनता स्वीकार थी, चाहे भलेही वह पुराने राजा का हत्यारा ही हो। जो भी रुपया देते उसीकी सेना में भर्ती होकर जनता लड़नेके लिए तैयार थी। न्याय-अन्याय विवेकका कहीं नाम नहीं था। स्वाभिमान नाम मात्रको नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें यदि मुसलमानोंके आक्रमणोंने सफलता पाई और यहाँ के बड़े बड़े राज्य धूलकी दीवारोंके समान हवाके झोंकेसे ढहते चले गये तो इसमें अचरजही क्या है? मुसलमानोंके सौ पचासके दल भी एक एक राज्य को हस्तगत करनेके लिए काफी थे। राजा लोगोंको रनवासोंके मारे ही फुर्सत नहीं थी, तो लड़ते कब ? श्रमिकवर्गको जो कि लड़ाइयोंमें हमेशासे मुख्यभाग लेता आया है, अपने राजाके प्रति जरा भी हार्दिक सहानुभूति नहीं थी, फिर लड़ता कौन ? भाड़ेके सैनिक आखिरकार कहाँ तक काम देते ? इस तरह गुलामीकी चक्की भारतके गलेमें बाँध दी गई जिसके वजनके मारे वह आज भी कराह रहा है।

बड़ी खुशीकी बात है कि आज समाजने अपनी गुलामीके कारणोंको समझ लिया है। आज वह जान गया है कि हम इसीलिए गुलाम हैं कि हमने दूसरोंको गुलाम बनाया है। यदि हम आज अपने शूद्र वर्गको, अछूतवर्गको शूद्रतासे और अछूततासे मुक्त कर देंगे तो सम्भव है कि भविष्यमें हमभी अपनी राजनीतिक गुलामीसे मुक्त हो जाँयगे। परन्तु मानव समाजके लिए इतनाही काफी नहीं है। इसतरह भलेही हम राजनीतिक पराधीनतासे कुछ दिनोंके लिए मुक्त हो जाँय परन्तु इस दलदलमें से निकलकर किसी दूसरेही दलदलमें फँस जाँयगे।

मैं कह चुका हूँ कि प्राचीन कालमें जितने भी धर्म पैदा हुए हैं उनके संस्थापकोंने श्रमिक वर्गको, ग़रीब वर्गको ही समाजमें सबसे ऊँचा स्थान देने का प्रयत्न किया था। परन्तु इन महापुरुषोंके मोक्ष जानेके बाद उच्चवर्गके लोगोंने इस धर्ममें घुसकर इसके मूल सिद्धान्तोंको बिगाड़ दिया तथा अपनी कामुकताको पुष्ट करनेके लिए इसके धर्मस्थानोंको व्यभिचारका अड्डा बना दिया।

इस तरह हम देखते हैं कि अनादि कालसे विभिन्न धर्मों, समाजों, दर्शनोंकी उत्पत्ति केवल एक ही उद्देश्यको लेकर हुई और वह था स्वतंत्रता की प्राप्ति। परन्तु अन्तमें वे ही धर्म, समाज और दर्शन गुलामीके कारणोंमेंसे एक बन गये। जब मनुष्यके आगे राजनीतिक और आर्थिक प्रश्न गौण होते हैं तब धर्मों और दर्शनोंका उद्देश्य आध्यात्मिक स्वातंत्र्य होता है और जब आर्थिक और राजनीतिक प्रश्न मुख्य होते हैं तब उस समयके उत्पन्न धर्मोंका उद्देश्य राजनीतिक और आर्थिक स्वातन्त्र्य होता है। आज दुनियाँमें आर्थिक और राजनीतिक स्वातन्त्र्य का प्रश्न मुख्य है इसीलिये कम्यूनिज्म और फासिज्म नामक धर्मोंकी उत्पत्ति हुई है। आज हिन्दुस्थानमें राजनीतिक और आर्थिक प्रश्न सिलग रहे हैं और इसीलिये यहाँ भी राष्ट्रवाद और समाजवादके धर्मों की उत्पत्ति हो रही है। आजकल पुराने ब्रह्मवाद और शून्यवाद, द्वैतवाद और अद्वैतवाद, एकान्तवाद और अनेकान्तवादको कोई नहीं पूँछता। क्या खाना और क्या पीना आदि प्रश्न बीमारोंके प्रश्न रह गये हैं। धर्मका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

भारतवर्ष आज क्रान्तिकी तैयारी कर रहा है। अब यहाँ भी किसी नये धर्मकी उत्पत्ति होगी जो कुछ कालके लिये यहाँ की समस्याओंको हल कर देगा। देखें वह क्रान्ति कब आती है और धर्मोंके इतिहासमें उसका क्या स्थान होता है!

उद्गारमाला से।
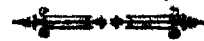
तुम कहते थे हम जावेंगे पर भूलगये क्यों अपनी बात ?
क्या [illegible] तुमने भी [illegible] दीनोंपर करते आघात ?

हम दीन हुए, जग हँसता है, पर तुम क्यों बन बैठे नादान ?
या किसी तरहसे रिसायके हो मनमें रक्खा है अभिमान ॥
अथवा पिछले पापोंका अबतक हुआ नहीं पूरा परिशोध ।
या किया हमारी वर्तमान करतूतोंने ही पथका रोध ?
तुम जिस बन्धनमें पड़े हुए हो तोड़ो उस बन्धनका जाल ।
मत ढील करो; क्या नहीं जानते हम दीनोंके हाल हवाल ?

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)
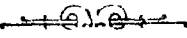
पुरस्कार।

"मृतक बिरादरी-भोज और जैनसमाज"

उपरोक्त विषयपर एक सर्वश्रेष्ठ पुस्तक लिखने वाले विद्वानको ५१) रुपया भेंट दिये जावेंगे। मरण की जीमन यद्यपि धर्मशास्त्र-विरुद्ध है और समाज का इससे कितना भारी अकल्याण हुआ है और हो रहा है वह भी किसीसे छिपा नहीं है, तो भी रूढ़िभक्त लोग अपनी जिद्द पर अड़े हैं। जब घरमें घर भरका पालन-पोषण करनेवाला कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है, उस समय उसके वियोगका दुःख, दवा दारूमें द्रव्य खर्च हो जानेका क्लेश, इन सबके ऊपर से समाजको खिलानेका व्यर्थ व्यय साधारणस्थिति के व्यक्तियोंकी तो जीते जी ही मौत है। ऐसी दशा में समाजके कल्याणके लिये, ग़रीबोंकी रक्षाके लिये, जो विद्वान ऐसी पुस्तक लिखनेकी कृपा करेंगे वे समाजका भारी उपकार तो करेंगे ही, परन्तु हजारों कुटुम्बोंके आशीर्वाद-पात्र भी बनेंगे। पुस्तक दस फॉर्मोंसे अधिक न होनी चाहिये। प्रकाशनका अधिकार इस पंचायतको रहेगा। पुस्तक ज्येष्ठ शुक्ला १५ तक हमारे पास आ जानी चाहिये।

विनीत—रतनलाल झाँझरी, मंत्री,
कलकत्ता खंडेलवाल सरावगी पंचायत
६२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट, कलकत्ता।

चाह।

हरगिज़ दिलमें यह चाह नहीं मुझपर न मुसीबत आने दो।
मैं चहूँ जहाँ पर वहीं उन्हें विघ्नोंका जाल बिछाने दो ॥
यदि डरवाने भयभूत खड़े परवाह नहीं डरवाने दो।
पथमें यदि कंटक बिछे हुए पगमें गड़ते गड़जाने दो ॥
बस, मुझे चाहिये ऐसा दिल जिसमें कायरता लेश न हो।
समभाव धैर्य साहसके बलपर विपदासे भी क्लेश न हो ॥
यदि ऐसा दिल मिलगया मुझे तो पथकंटक पिस जायेंगे।
विपदाके भयके भूतोंके विघ्नोंके दिल घबरायेंगे ॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)
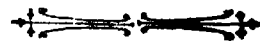
सूचना।

बैङ्गलौरके दिगम्बर जैनयात्रीसंघमें पंडिताचार्य चारुकीर्तिजी महाराज भी हैं। जहाँ जहाँ संघ पहुँचे वहाँके भाइयोंको आपके प्रभावशाली सदुपदेशसे सभा करके लाभ उठाना चाहिये। उनके साथ कई शुद्ध राग रागिणियोंमें जैन पदोंको गाने वाले जैनी भाई भी हैं।

"विजातीयविवाह-मीमांसा" के लेखक स्वनाम धन्य पं० परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ सम्पादक 'वीर' को कलकत्ता खंडेलवाल सरावगी पंचायतकी ओर से पूर्व सूचनानुसार ५१) भेंट किये गये हैं।

जो यात्री या यात्री संघ कभी कलकत्ता आवें उन्हें चाहिये कि अपने आनेकी सूचना हमारे पास भेज दिया करें। उनकी सूचनानुसार ठहरने और कलकत्ताके दर्शनीय स्थानोंके दिखाने आदिका प्रबन्ध कर दिया जायगा। आशा है इससे यात्रियोंको बहुत सुभीता होगा।

—रतनलाल झाँझरी, मंत्री।
श्री दिगम्बर जैनयुवक समिति,
९४ लोअर चीतपुररोड, कलकत्ता।

करुण क्रन्दन (३)

(विधवा)

मैं हूँ कौन ? विश्वमें मेरा किस प्रकार से है अस्तित्व।
मानव हूँ अथवा मैं क्या हूँ ? समझ न सकती इसका तत्व ॥
क्या हूँ मैं यह पता नहीं, हाँ, जीवित एक मूर्ति हूँ मैं।
जीवित-मृतक तत्व की ही, हाँ, केवल एक पूर्ति हूँ मैं ॥

नहीं जानती हूँ इस जगमें आह ! किसलिये आई हूँ ।
है इतना ही ज्ञात, वेदना, पीड़ा, चिन्ता लाई हूँ ॥
जगकी ये विनोद क्रीड़ायें, और विश्वके भोगविलास ।
जगकी सारा कामनाएँ हैं, मेरे लिए पुष्प आकाश ॥
जगमें रहकर भी मुझको रहना है जगके सुख से दूर ।
सुनना है मुझको सम्बोधन, अशकुन और अमंगल, क्रूर ॥
जगके सभी दृश्य ये मेरे लिये आह हैं स्वप्न समान ।
मैं एकाकी हूँ इस जगमें मिला मुझे यह शून्य स्थान ॥
जीव तत्व है मुझमें, पर है मुझे न जीने का अधिकार ।
हैं इन्द्रियाँ किन्तु मनाहत्व—क्रियाहीन हैं सब बेकार ॥
कहता है समाज, पानी में रह कर भी तू प्यासी रह ।
काजल की कोठरी बीच भी उज्ज्वल चन्द्रकला सी रह ॥
मछली ! पानी से बाहर रहकर भी देह हिला मत तू ।
पड़ी तप्त बालू में भी ऐ ! मत कराह, उफ़ ला मत तू ॥
तू क्षुधार्त है भोजन को ले देख उसे ऐ ! खाना मत ।
सह भीषण वेदना किन्तु तू अपना घाव दिखाना मत ॥
आँखें हैं, पर जग पदार्थको देख नहीं तू सकती है :
कानों के होते भी, आज्ञा है, न श्रवण कर सकती है ॥
तेरे लिये न इस जगकी खुशियाँ हैं, है तू रोने को ।
तेरा यह कमनीय कमल मुँह है आँसू से धोने को ॥
ओठों की लालिमा कालिमा में परिवर्तित होने को ।
कंटक की यह सेज बनी तेरे शरीर के सोने को ॥
जीवन भर मेरे ललाट में लिखा आह केवल रोना ।
मेरे लिए मृत्यु ही है बस, एक मात्र सुख का सोना ॥
भगवन् , तू ही रक्षक, मेरी नाव पड़ी है यह मँझधार ।
चाहे तो तू इसे डुबादे, चाहे इसे लगा दे पार ॥

—'वत्सल' विशारद ।
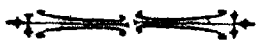
बैंगलोर दि० जैन यात्री संघ ।

उपरोक्त संघ ता० २७-१-३५ को ११ बजे हबड़ा स्टेशन पहुँचा । दिगम्बर जैनयुवक समितिके सदस्यों एवं स्वयंसेवकोंने स्टेशन पर पहुँचकर स्वागत किया । इस संघमें क़रीब २०० यात्री हैं । साथमें ही पंडिताचार्य श्री चारुकीर्तिजी महाराज भी हैं । आप श्रवणबेलगुलके भट्टारक हैं ।

कलकत्तेका दिगम्बर जैनभवन (धर्मशाला) इन यात्रियोंके लिये १०-१५ दिन पहलेसे ही रिज़र्व रक्खा गया था, परन्तु भवनके मंत्रीकी धींगाधींगी की वजहसे संघके लोगोंको ३ घंटा तक चौकमें बाहर पड़े रहना पड़ा । बूढ़ी स्त्रियों, दुधमुहें बच्चे और थके, माँदे, भूखे, प्यासे दिगम्बर जैनयात्रियोंकी, दिगम्बर जैनियोंकी धर्मशालामें ही ऐसी दुर्दशा होना वास्तवमें कलकत्तेके सभी जैनियोंके लिये लज्जा की बात है, और ख़ासकर उसके मंत्रीके लिये । आशा है कि कलकत्ता समाज इधर ध्यान देगी, और ऐसा प्रबन्ध करेगी जिसमें ऐसी अप्रिय घटना फिर न होने पावे ।

पंडिताचार्य चारुकीर्तिजीके तीन दिन रातमें व्याख्यान हुए, जिससे यहाँ की जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा । महाराजके व्याख्यानोंका सार यह था कि—अब किसी भी जैन भाईको पृथक् करनेका समय नहीं है, किन्तु समय है हृदयसे लगानेका और प्रेमपूर्वक समझानेका । आपने शिक्षा-प्रचार और ख़ासकर स्त्रियोंमें शिक्षाके प्रचारके लिये विशेष ज़ोर दिया । जैनधर्ममें त्यागियोंके लिये आडम्बर और स्वेच्छाचारिताका विरोध किया और अन्तमें सभीको धर्मके दृढ़श्रद्धानी होनेकी प्रेरणा की ।

अन्तिम दिन ता० २९-१-३५ को भट्टारकजीको एक अभिनन्दनपत्र कलकत्ता समाजकी ओरसे भेंट किया गया । भट्टारकजीने इसका यथोचित उत्तर दिया । आज बड़ी भारी भीड़ एकत्रित हुई थी ।

उपरोक्त संघको दिगम्बर जैनयुवक समितिके सभापति बा० धर्मचन्दजी सरावगी फ़र्म जोखीरामजी मूंगराजजी की ओरसे एक दिन भोजनादि कराकर सत्कार किया गया । —रतनलाल झाँझरी मंत्री ।

उपहार ।

जबसे दीपक जला तभीसे होने लगा अंग शृंगार ।
नव आशाओंसे भर करके भूलगई सारा संसार ॥

१ ज्ञान मिला । २ आडम्बर ।

लगी रही टकटकी द्वार पर आँखोंको न मिला अवकाश।
प्रियतम[३] तो तबभी न दिखाये मनही मन होगई निराश॥
मुरझा गये हाथके गजरे[४] सूख गया फूलोंका हार[५]।
मैंने भी तब तो झुँझलाकर मिटा दिया सारा शृङ्गार॥
बोली, स्वयं बनाया मैंने बाहरका बनावटी वेश।
क्या न हृदयकी सुन्दरता[६]से रीझेंगे प्यारे प्राणेश॥
जब कि यही गुनगुना रही थी तब प्रियतम आये चुपचाप।
खड़े खड़े आतुर नयनोंसे देखा बिखरा केश कलाप॥
हुआ सम्मिलन, हँसकर बोले-"क्या दोगी मुझको उपहार"
दृग से आँसू[७] निकल पड़े मैं बोली—लो मोतीका हार॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)
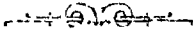
(पृष्ठ २ से आगे)

ध्यान रखियेगा। हाँ, जो विद्वान आनेवाले हों उनको यह भी सूचित करदीजिये कि उपर्युक्त विषय पर जो कुछ मैंने लिखा है उसे पढ़ अवश्य लें। इससे चर्चा करनेमें सुभीता होगा, अन्यथा व्यर्थ ही समय और शक्तिकी बर्बादी होगी। हाँ, आपके सामने एक विकट प्रश्न और है और वह है निःपक्षता का। जिस प्रकार मैं निःपक्षताका वचन दे रहा हूँ, क्या उस प्रकार आपकी ओरके विद्वान भी निःपक्षताका वचन देसकते हैं? अगर मुझे उनकी बात जँचजायगी तो मैं अवश्य ही अपना पक्ष छोड़ दूँगा। परन्तु अगर मेरी बात उन्हें या उनमें से किसी एकको जँची तो क्या होगा? क्या वे उस समय अपने विचारोंको प्रकट कर सकेंगे? क्या स्वतंत्र विचारोंको प्रकट करने पर भी उनका सम्बन्ध उन संस्थाओंसे आजकी तरह रह सकेगा, जिन में वे आज काम करते हैं? समाज उनसे घृणा तो न करेगी? बहिष्कार तो न करेगी? यदि समाजकी तरफ से आपको इतना वचन नहीं मिला है तब तो बेचारोंको हर हालतमें समाजके गीत गाना पड़ेंगे। तब चर्चाका फल क्या होगा और सत्यासत्यका निर्णय कैसे होगा? यह एक विकट प्रश्न है इसको सुलझानेके लिये भी आप प्रयत्न कीजियेगा।

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

३ भगवान सत्य। ४-५ द्रव्य-पूजाका सामान। ६ भाव-पूजा, अन्तरङ्गसमाव। ७-८ भक्ति।
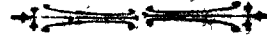
विविध विषय।

धर्मवीरताकी सनद—ब्यावरकी सुप्रसिद्ध फर्म श्री० रायबहादुर सेठ चम्पालालजी रामस्वरूपजीके मालिक श्री० रायसाहब सेठ मोतीलालजी जैन तथा उनके श्वसुर श्री० राधाकिशनजी अग्रवालके खिलाफ़ स्थानीय विजिलेंस सोसाइटीके मंत्री श्री० बा० कृष्णगोपालजी गर्गने शारदा ऐक्ट (बालविवाहप्रतिबन्धक क़ानून) भङ्ग करनेका आरोप लगाकर दावा दायर किया था। विजिलेन्स सोसाइटीकी ओरसे यह कहा गया था कि श्री० रायसाहब मोतीलालजीने ता० २६ फ़रवरी सन् १९३३ को ब्यावरमें श्री राधाकिशनजी की पुत्री विद्या उर्फ़ विद्यावतीसे विवाह किया और उसकी अवस्था उस समय १४ वर्षसे कम थी। लड़कीके पिता महोदय किसी रियासतमें चले गये हैं और अर्सेसे वहीं पर हैं। उनके खिलाफ़ वारंट निकले हुए हैं। फ़िलहाल यह मुकद्दमा रायसाहब पर ही चला। रायसाहबने श्रीमती विद्यावतीसे अपना विवाह होने अथवा २६ फरवरी १९३३ को विवाह होने तकसे इनकार किया। सोसाइटीकी ओरसे काफ़ी प्रमाण पेश न किये जानेके कारण यद्यपि राय साहब मोतीलालजी बरी कर दिये गये हैं परन्तु फ़ैसलेमें श्रीमान् सी० ऐच० गिडनी आई० सी० ऐस० महोदय डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेटके निम्नलिखित शब्द सारगर्भित हैं:—

"I have been most unfavourably impressed with the statement made by the accused and by the evidence of the two witnesses called on his behalf. I am afraid, I am unable to believe Rai Sahib Moti Lal's statement made when called for further examination, that the

entry of his marriage in the Register as having taken place on the 26th February 1933 is incorrect and I have little doubt that he was actually married on that day".

अर्थात् "मुजफ्फर अभियुक्त (रायसाहब मोतीलालजी) तथा उनकी ओरके दो गवाहोंके बयानोंका बहुत बुरा असर हुवा है। मैं रायसाहब मोतीलालके उस बयानको, जिसमें उसने यह कहा है कि २६ फरवरी १९३३ को उसका विवाह होनेके बाबत म्युनिसिपल रजिस्टरका इंदराज गलत है, विश्वास नहीं कर सकता और इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है कि वास्तव में उसका विवाह उस रोज (२६ फरवरी १९३३ को) हुवा था।" रायसाहब मोतीलालजी स्थितिपालक-दलके स्तम्भ माने जाते हैं, वे धर्मवीर, धर्मरत्न आदि उपाधियोंसे अलंकृत हैं। खेद है कि हम उनकी इस विजय (किन्तु वास्तवमें नैतिक पराजय) पर उन्हें कोई बधाई नहीं दे सकते।

मुनिवेषी मल्लिसागरजीकी निन्दनीय चेष्टाएं—

कुचामणमें चन्द्रसागर संघके छिन्नभिन्न होजाने के समाचार जैनजगतने क़रीब डेढ़ माह पूर्व प्रकाशित हो चुके हैं, परन्तु खण्डेलवालजैनहितेच्छु आदि पत्रोंने उस घटनाको बिलकुल छुपा दिया है और आजतक एक शब्द भी उसके सम्बन्धमें नहीं लिखा है। स्थानीय सहयोगी 'चन्द्रप्रकाश' ने भी जिसका ज़ाहिरा उद्देश्य चन्द्रसागरजी का प्रकाश करना ही बताया जाता है, इस विषयमें बिलकुल चुप्पी साध ली है। इतना ही नहीं, वह तो यहाँ तक हिमाक़त कर रहा है कि अकेले चन्द्रसागरजीके भ्रमण वृत्तान्तको "संघ समाचार" के नामसे प्रकाशित कर अबतक भोले भाइयोंको भुलावेमें डाले रखनेके लिये छल कर रहा है—मानो चन्द्रसागर संघ अब तक ज्योंका त्यों विद्यमान है, उसमें कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ है।

चन्द्रसागर संघके एक भूतपूर्व सदस्य मुनिवेषी मल्लिसागरजीके सम्बन्धमें,जो आजकल अकेले भ्रमण कर रहे हैं, बड़े विचित्र समाचार प्राप्त हुए हैं। मल्लिसागरजी ता० २७दिसम्बरको साँभर पहुँचे और वहाँ के श्रावकोंको केशलौंचके लिये पत्रियाँ छपा कर गाँवोंमें भिजवाने, अजैनोंके लिये अलग नोटिस बँटवाने, मंडप बनवाने, गाजे बाजेसे जुलूस निकालने आदिकी ताक़ीद कर केशलौंचका दिन ता० ६ जनवरी नियत किया। तदनुसार श्रावकोंने सब प्रबन्ध किया—केवल गाँवोंको पत्रियाँ नहीं भेजी। बस, मुनिजी इस पर बिगड़ पड़े और नियत समय से कुछ देर पहिले रूठ कर श्री० सेठ गुलाबचन्दजी कालाके बाग़में जाकर बैठ गये और बोले कि मैं तो यहाँ पर ही केशलौंच कर लूंगा। श्री० पं० रमेशचन्द्रजी शास्त्री व कतिपय पंचोंने जाकर उन्हें बहुत समझाया और कहा कि नियत स्थान पर जनता एकत्रित हो गई है, आप वहाँ जाकर केशलौंच न करेंगे तो धर्मकी हँसी होगी और हमारी भी नाक-कटाई होगी। इस पर मुनिजीने एक नया अड़ंगा लगाया कि यदि तुम सेठ गुलाबचन्दजी कालाके सम्बन्ध का पंचायती झगड़ा निपटा दो तो मैं चलनेको तैयार हूँ। इसपर लोग बिगड़ पड़े और बोले—आप चाहे चलिये या न चलिये; हमारी बदनामी होगी सो हम भुगत लेंगे लेकिन अब शहरमें आकर मुँह मत दिखाना—वहाँ अब तुम्हारी कोई बात भी नहीं पूछेगा। श्रुतसागरजीने उन्हें समझानेके लिये पार्श्वकीर्तिजीको भेजा। ख़ैर, बहुत कुछ समझाने बुझानेसे आप गुलाबबाग़से आये सही, परन्तु मंडप में केशलौंच न कर अलग स्थान पर किया। लोग आपकी इन हरक़तोंसे दंग रह गये—जैनों व अजैनों में इनके सम्बन्धमें बड़ी चर्चा रही। आपका शास्त्रज्ञान बिलकुल साधारण है, परन्तु आप चाहते हैं कि मैं आचार्यकी तरह पूजा जाऊँ। एक बार एक शङ्का करनेपर आपने श्री० पं० रमेशचन्द्रजी शास्त्री से कहा—मैं ऐसे नास्तिकोंसे, जो गुरुओंके वचनको प्रमाण नहीं मानता, बात नहीं करना चाहता।

ये हजरत इधर उधर भटकते हुए अब जैनपुर

नामक एक ग्रामके पास होकर जा रहे थे तो ग्रामके बाहिर एक औरत मिली जो पाखाना फिरने गई थी। उसने इनको नग्न देखकर अपना मुँह फेर लिया। भला मुनिजी इस अपमानको कैसे बर्दाश्त करते! खिसियाकर बोले—"क्या तू परण कर आई थी, उस रोज तेरे पतिसे भी ऐसे ही मुँह मोड़ा था?" उस औरतने घरवालोंसे इसका जिकर किया—गाँव भरमें सनसनी फैल गई। उद्दंडताकी पराकाष्ठा थी। मुनि या त्यागी तो क्या, कोई साधारण गृहस्थ भी ऐसी हरकत करनेका साहस नहीं कर सकता!

भौंकरोटा ग्राममें श्रावकोंसे यह कह कर कि जाड़ा बहुत तेज लग रहा है, सिगड़ी जलाकर मँगवाई, श्रावकोंसे स्वयं कहकर तेलकी मालिश कराई तथा स्वयं भी बहुत रात तक सिगड़ीसे हाथ सेंककर मालिश करते रहे।

जयपुर आकर इन्होंने नया ढंग अख्तियार किया। इनके आनेके पहिलेसे वहाँ ज्ञानसागरजी मौजूद थे। स्थितिपालक बन्धुओंने बहुत चाहा कि ज्ञानसागरजीके जरिये अपने व्यक्तिगत कषायोंको पुष्टि करें, लेकिन उन्होंने इनके हाथकी कठपुतली बनना स्वीकार नहीं किया। अतः उन्होंने मल्लिसागरजी पर लकड़ी की। मल्लिसागरजी लोहड़साजनोंसे चमार आदिकी तुलना कर के उनके साथ खानपान न करनेका उपदेश देने लगे, द्वारापेक्षणके समय भक्तजनोंसे यह कहला कर कि—"मेरे शूद्रजलका त्याग है, लोहड़साजनों के साथ खानपान करनेका त्याग है, ११ घरवालोंसे खानपान करनेका त्याग है" आहार लेने लगे। जनेऊके विषयमें आपने यहाँतक प्रतिपादित किया कि—जो जनेऊ नहीं पहिनता वह दूसरेका बीज है! दाक्षियामें चन्द्रसागरजी व श्रीमान् रावराजा सरसेठ हुकमचन्दजीके परस्पर जो झगड़ा हुवा था, उसका उल्लेखकर आपने रावराजा साहिबकी खूब निन्दा की तथा राजहठ, स्त्रीहठ, बालहठके साथ ही मुनिहठकी खूब पुष्टि की। इस सेवाके उपलक्षमें स्थितिपालकोंने इन्हें खूब पुजाया तथा ज्ञानसागरजीको बाबूपार्टी का मुनि बताकर उनकी निन्दाकी। इससे मल्लिसागरजीके हौंसले और बढ़े। मिती माह बदी १४ को श्रीमानसेठ सर्वसुखदासजी खजानचीकी नसियामें श्री आदिनाथ स्वामीका निर्वाण महोत्सव मनाया गया था। उस अवसर पर ज्ञानसागरजीका सप्तव्यसन त्याग के विषयमें व्याख्यान हुआ। आप भी दो चार अंधभक्तोंको लेकर वहाँ पहुँच गये और ऊटपटाँग बहकने लगे। मंगलाचरणके रूपमें सुधारकोंको मनमानी गालियाँ देनेके पश्चात् बोले—'आज इन सेठजीने हमको नहीं बुलाया और कलश कर लिये। हमको बुलाते भी क्यों? क्योंकि यहाँ इनके ज्ञानसागरजी महाराज मौजूद थे। हमको बुला लेते तो आधे खजानची हो जाते!' आदि। बड़ी मुश्किल से इन्हें शांत किया जा सका।

आपके स्वयं यह कहने पर कि हमारे विषयमें जिस किसीको कोई शंका हो, रूबरू आकर कहे हमारी निन्दा न करे। मिती माह बदी ५ को एक श्रावकने पूछा कि आप आहार लेनेके पूर्व श्रावकोंसे "लोहड़साजन त्याग" बुलवा कर आहार लेते हैं, सो यह प्रवृत्ति किस शास्त्रके आधार पर है? इसपर आप गरम होकर बोले—"मेरे पास इसका कोई जवाब नहीं है, मैं कोई उत्तर नहीं देसकता। अगर तुम जवाब ही चाहते हो तो तुम सब लोग मुझको लिखकर दो कि आप जो कुछ निर्णय करदोगे, वह हमको मान्य होगा।" इस पर श्रीमान पं० केशरलालजी शास्त्रीने कहा कि हमको आपसे निर्णय कराने की कोई जरूरत नहीं है, हम तो आपसे केवल इसप्रकार प्रतिज्ञा लिवानेका शास्त्राधार जानना चाहते हैं। अंधभक्तोंने इसपर हो-हल्ला मचाना शुरू करदिया तथा यह अफवाह फैलाकर कि लोग मुनिमहाराजको मारने चढ़ आये हैं, इधर उधरसे सौ डेढ़सौ आदमी इकट्ठे कर लिये। अंधभक्त बोले कि—इनसे क्या पूछते हो? ये तो नग्नमुनि हैं। इनको झगड़ोंसे क्या मतलब? इसपर केशरलालजी शास्त्रीने कहा कि—जब इन्हें झगड़ोंसे मतलब नहीं है

तब ऐसी सौगन्ध ... ...ड़ेकी मूल-कारण प्रतिज्ञा क्यों दिलाते ... र अंधभक्त फिर गुलगपाड़ा करने लगे। श्री० पं० प्यारेलालजी सेठीने कहा कि इस तरह हल्ला करनेसे कुछ लाभ न होगा। यदि मुनिजी स्वयं जवाब नहीं दे सकते हैं तो उनकी तरफसे कोई एक साहब खड़े हो जाइये तथा जवाब दीजिये। इसपर कई लोग बारी बारीसे वकील बनकर खड़े हुए परन्तु प्रत्येकको हार खानी पड़ी। अंधभक्त लोग मारपीट पर उतारू होगये। मल्लिसागरजी भी खिसियाकर बोले—"तुम लोग मुझे मारने आये हो? मुझे डर लगता है, जाओ, मैं ऐसी प्रतिज्ञा दिलवाऊँगा, तथा लोहड़साजनोंका नाम लिखाऊँगा। तुम्हें करना हो सो करो, मेरे ऊपर दावा करदो।" मुनिजी व उनके अंधभक्तोंको इस प्रकार लड़ते देखकर तथा ऐसे मूर्खोंसे चर्चा करनेमें कोई लाभ न देखकर प्रश्नकर्ता महाशय अपने स्थानको चले गये। मुनिजी भी दूसरे रोज जयपुरसे प्रस्थान कर गये।

मल्लिसागरजी पहिले शान्तिसागर संघमें थे। अजमेरमें उससे अलग होकर चन्द्रसागरजीके साथ जा मिले। फिर कुचामणमें चन्द्रसागर संघसे भी अलग हो गये। कई बार श्रुतसागरजीके साथ भी हुए, परन्तु फिर अलग हो गये। आजकल अकेले भ्रमण कर रहे हैं। इसी प्रकार चन्द्रसागरजीने अपने गुरु शान्तिसागरजीसे विद्रोह कर अपना अलग संघ बनाया, किन्तु वह कुचामणमें छिन्नभिन्न हो गया। आजकल ये भी अकेले भ्रमण कर रहे हैं। श्रुतसागरजी भी पहिले सुधर्मसागर संघ, शान्तिसागर संघ तथा चन्द्रसागर संघमें रह चुके हैं और आजकल अकेले विचरण कर रहे हैं। ऐसा ही कुछ हाल ज्ञानसागरजीका है। समाज अन्धश्रद्धामें इस तरह जकड़ा हुआ है कि वह कभी सोचनेकी आवश्यकता ही नहीं समझता कि आखिर इन महात्माओंमें इस प्रकार झगड़े होते क्यों हैं? वह तो मूढ़तावश उनमें से प्रत्येकके जयके नारे लगाना तथा उसके चरणोंमें अपना नाक रगड़ना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता है। जब दो व्यक्तियोंमें परस्पर झगड़ा होता है तो उनमें से कोई एक अवश्य ही गलतीपर होता है। कौन व्यक्ति गलतीपर है, यह मालूम किया जाना चाहिये तथा आगे वैसी गलती फिर न हो उसका उचित प्रबन्ध होना चाहिये। समाजके नेता मुनियोंके अधिकारोंकी रक्षाके लिये आन्दोलन उठाते हैं, किन्तु नैतिक दुर्बलतावश मुनियोंके सुधारकी ओर कोई लक्ष नहीं देते। इधर स्थितिपालक बन्धु सत्य घटनाओंपर भी पर्दा डालकर केवल यही गीत गाते रहते हैं कि मुनि महाराजोंके द्वारा सुधारकोंके मन्तव्योंका खण्डन किया जाता है, इसलिये वे लोग मुनिनिन्दा करते हैं। बेचारे इन निरक्षर मुनियोंका क्या हौसला जो ये सुधारकोंके मन्तव्योंका खण्डन कर सकें? जब बड़े बड़े शास्त्री ही मुकाबिलेमें नहीं ठहर पाते, तब इनकी कठपुतलियोंकी पर्वाह ही कौन करता है? पंडितलोग समाचारपत्रोंमें इनकी महत्ताके चाहे जितने गीत गावें, परन्तु उनके हृदयमें इनके प्रति जरा भी श्रद्धा नहीं है। पंडित इन्द्रलालजी शास्त्रीने जयपुरमें बहुत दिनोंतक मल्लिसागरजीको पढ़ाया था। एक रोज उन्होंने अपने मित्रोंसे कहा—"इन्हें क्या खाक पढ़ाऊँ? इन्हें पढ़ते पढ़ते छह वर्ष हो गये, फिर भी विभक्ति पहचानना नहीं आया, और श्लोक लगानेकी हविस करते हैं! संस्कृतका एक पत्ता भी इनको नहीं आता।" —प्रकाशक।

विरोधाभास।

पातिव्रत-धर्मको महत्व जो बखान करें,
कहें विधवान कूँ चिर-वैधव्य ही श्रेय है।
उन्हें कोऊ पूछे नेक आपनिहू ओर देखो,
पत्नीव्रत-धर्म तुम्हें क्यों न उपादेय है?॥
एक मरी दूजी करी, दोहू मरी और करी,
तथा मरी खाट पै हू ब्याह लों विधेय है।
स्त्री और पुरुषके स्वत्वनमें भेद भाखे,
'नाथ' ऐसो कूटनीति वारो धर्म हेय है॥

—'दरबारी'।

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N. 352.

ता० १,१६ मार्च सन् १९३५

वर्ष १० अंक ७-८

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषे न हरे हरौ।
सर्वतीर्थकृतामस्माकम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—बा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

श्रीमान ला० नन्हेंमलजी जैन देहलीने अपनी धर्मपत्नीके स्मरणार्थ दानके लिये निकाली रकममें से ५) जैनजगत्को प्रदान किये हैं। धन्यवाद।

पञ्चायती न्यायका नमूना।

कुछ दिन पहिले यहाँ यह अफवाह फैलाई गई थी कि स्थानीय बड़े धड़ेके एक सदस्य श्री० मोहनलालजी लुहाड़िया किसी दस्सा खण्डेलवालकी लड़कीसे विवाह करने गये हैं। इसीके आधारपर एक रोज बड़े धड़ेकी पञ्चायत बुलाई भी गई थी किन्तु बहुत देर तक विवेचनके बाद यही निश्चय हो पाया कि इस बातकी पूरी तौरपर जाँच करनेके लिये कि उक्त लड़की दस्सा है या बीसा, तथा उस धड़ेके कौन कौन व्यक्ति उस विवाहमें सम्मिलित हुए हैं, पञ्चायतकी ओरसे अमुक व्यक्तिको भेजा जाय। उक्त जाँच पड़तालका क्या परिणाम निकला अथवा वह जाँच कराई भी गई या नहीं, यह प्रकट नहीं किया गया। लेकिन मोहनलालजी व उनके साथियोंके वापिस लौटकर आते ही लोगोंने मनमाने मंसूबे बाँध लिये। कुछ व्यक्तियोंकी इच्छा थी कि बिना पंचायती बुलाये ही उन लोगोंकी "रोटी बन्द" कर दी जाय अर्थात् उन्हें जाति-बाहिर कर दिया जाय; अथवा पंचायती बुलाई भी जाय तो इस ढंगसे कि वे अपनी मनमानी कर सकें, दूसरोंको कुछ कहने सुननेका तो क्या पंचायतमें आने तकका मौका न मिल सके। तदनुसार ता० १३ मार्चकी रात्रिको क़रीब ११ बजे एक प्राइवेट स्थानपर कुछ पञ्च इस उद्देश्यसे इकट्ठे हुए कि पहिले वहींपर आपसमें तय कर बादमें रातको क़रीब १२ बजे नाममात्रके लिये पञ्चायती बुलावा भेजा जाय और इधर वहाँपर इकट्ठे हुए लोग मन्दिरमें जाकर अपना मनमाना फ़ैसला दे डालें। लेकिन इस प्रकार प्राइवेट तौरपर बुलाये गये लोग भी आपसमें एकमत न हुए और फलतः उक्त षड्यंत्र न चल सका। ख़ैर, ता० १४ मार्चकी रात्रिको नियमित रूपसे बुलावा देकर पंचायती हुई। मोहनलालजीके बड़े भाई श्री० लादूलालजीके नामका न्यौता होनेके कारण पञ्चोंने लादूलालजीसे उक्त विवाहके सम्बन्धमें पूछा। लादूलालजीने कहा कि—"मोहनलालके विवाहके सम्बन्धमें मुझे कुछ नहीं मालूम। कुछ लोग कहते हैं कि उसने दस्साकी लड़कीसे विवाह किया है, परन्तु और कई कहते हैं कि

बीसाकी लड़कीसे विवाह किया है। गत तीन चार वर्षसे मोहनलालसे मेरी अनबन है, वह मुझसे अलग रहता है। उसने विवाह सरीखे मामलेमें भी मुझसे कुछ न पूछा। इससे ज्यादा मेरी तौहीन और क्या हो सकती है? इसलिये अब आगे मैं उसे अपने न्यौतेमें शामिल नहीं रखना चाहता," आदि। इसपर मोहनलालजीके सम्बन्धका प्रश्न यहीं खतम हो गया। इसके बाद श्री० फूलचन्दजी बाकलीवाल तथा बालचन्दजी सेठीका प्रश्न आया। इन लोगोंने उक्त विवाहमें सम्मिलित होना स्वीकार किया किन्तु साथ ही यह कहा कि हम लोग बीसाकी लड़की जानकर ही विवाहमें शरीक हुए थे, तथा अबतक भी हम लोग यही समझते हैं कि वह बीसाकी ही लड़की है। पंचोंका कर्तव्य था कि वे इस बातकी तहकीकात करें कि लड़की वास्तवमें बीसा है या दस्सा, इस विषयमें उचित कार्यवाही करते। अगर पिछली पंचायतके निश्चयके अनुसार कोई जाँच नहीं कराई गई थी तो अब जाँच करनेके लिये दूसरी समुचित कार्यवाही करते। मगर कुछ पंच लोग इन लोगोंको दण्ड देनेपर तुले हुए थे। विवाह कौनसे स्थान पर हुआ, किसकी लड़कीसे हुआ, इतना भी उपस्थित पंचोंमें से किसीको मालूम नहीं था, न कोई मालूम करनेकी कोशिश करना चाहता था। "पंच परमेश्वर" बिना कुछ परिश्रम किये बस दण्ड देना चाहते थे। बात बढ़ाना उचित न समझ बालचन्दजी आदिने कहा कि अगर पंचोंकी यही धारणा है कि मोहनलालजीने दस्साकी लड़कीसे विवाह किया है तथा हम लोग ऐसे विवाहमें सम्मिलित होनेके कारण दोषी हैं तो अनजानमें होनेके कारण अब पंचलोग माफ करें। परन्तु उन पंचोंको इसपर भी सन्तोष नहीं हुआ। बहुत देरतक वादविवादके पश्चात् बहुसम्मतिसे निश्चय हुआ कि ये लोग प्रायश्चित्तके तौर पर मोराजीमें जाकर वहाँ के मन्दिरमें दर्शन पूजा कर आवें।

इस प्रसंगमें यह खुशीकी बात है कि सब पंचोंने बहुसम्मतिके सिद्धान्तको मानकर उपरोक्त निर्णय को स्वीकार कर लिया और इस तरह इस प्रश्नको, जिसकी आड़ लेकर कुछ लोग इस धड़ेमें फूट डलवाना चाहते थे, शांतिपूर्वक निपटा लिया।

इसी सिलसिलेमें दो शब्द पंचायतप्रथा के सम्बन्धमें लिखना अनुचित न होगा।

(१) अगर हम चाहते हैं कि पंचायतें आगे सम्मानपूर्वक जीवित रहें तो दलबंदी या धड़ाबंदी का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये तथा बिना हो-हल्ला मचाये प्रत्येक सदस्यकी बात शांतिपूर्वक सुनना चाहिये और सरलचित्तसे उसपर विचार करना चाहिये।

(२) किसी दोषी व्यक्तिको हीनमात्रामें दंड देना उतना हानिप्रद नहीं है जितना आवश्यकतासे अधिक मात्रामें दंड देना, अथवा किसी निर्दोष व्यक्ति को दंड देना। इसके लिये सुनी सुनाई बातों तथा अफवाहों पर विश्वास न करना चाहिये और अभियुक्तको अपनी सच्चाई सिद्ध करनेके लिये पूरी तौर पर सुविधा देनी चाहिये। इस सिद्धान्तका यथोचित पालन न करनेके कारण अक्सर पंचायती प्रश्न अदालतोंमें जा पहुँचते हैं तथा पंचोंको व्यर्थ परेशानी उठानी पड़ती है।

(३) पंचायती संगठनका एक मुख्य उद्देश्य है, समाजमें सदाचारकी वृद्धि करना, किन्तु दुर्भाग्यवश पंचायतोंने इस उद्देश्यको प्रायः सर्वथा भुला दिया है। आज पंचायतें किसके हाथका खाना और किसके हाथका नहीं खाना, किसके साथ कच्ची रसोई जीमना, आदि साधारण सी बातोंपर अर्धाग आसमान एक कर देती हैं, परन्तु समाजमें जो बड़े बड़े अनर्थ व दुराचार होरहे हैं, उनकी ओर उनकी दृष्टि नहीं जाती। प्रायः बच्चा बच्चा जानता है कि अमुक धड़े में अमुक व्यक्ति किसी गैर जातिकी विधवा स्त्रीको अपनी स्त्री बना कर मौज कर रहा है, फलाँ शख्स फलाँ विधवाको रोटी बनानेके बहाने अपने घरमें डाले हुए है जिससे हर दूसरे वर्ष बच्चे पैदा होते हैं, फलाँ शख्सने अपने भतीजेको पागल बताकर घर से निकाल दिया है तथा अपरन उसकी स्त्री पर द-

(शेष पृष्ठ १८ पर देखिये).

वर्ष १०

जैनजगत्

अंक ७

फाल्गुण कृष्णा ११

वीर संवत् २४६१

ता० १ मार्च

सन् १९३५ ई०

महात्मा राम ।

दुनियाँकी सन्मर्यादापर सर्वस्व दान करने वाला ।
जङ्गलमें भी जाकर मङ्गलका नव वसन्त भरनेवाला ॥
हँसते हँसते अपने भुजबलसे दुखसमुद्र तरनेवाला ।
तू मर्यादापुरुषोत्तम था दुनियाँ के दुख हरनेवाला ॥१

तू सूर्यवंशका सूर्य रहा जगको प्रकाश देनेवाला ।
अवतार वीरताका था तू दुखियोंकी सुध लेनेवाला ॥
यद्यपि तू रघुकुलदीपक था पर सबका नयन सितारा था।
बंधन कुल जाति न था तुझको तू विश्व मात्रका प्यारा था॥२

तुझको जैसा सिंहासन था वैसी ही वनकी कुटिया थी ।
जैसा सोनेका पात्र तुझे वैसी तांबेकी लुटिया थी ॥
तेरा था भोगी वेष मगर भीतरसे था योगी सच्चा ।
तू अग्निपरीक्षाओंमें भी पड़कर न कभी निकला कच्चा॥३

तेरा पत्नीव्रत सतीजनोंके पातिव्रत्य समान रहा ।
तुझको प्रेमीके साथ पुजारी बननेका अरमान रहा ।
सीता बिछुड़ी अथवा त्यागी तुझको उसका ही ध्यान रहा,
ऋषि ब्रह्मचारियोंसे भी बढ़कर था तेरा ईमान रहा ॥४

तू था मनुष्यताका पूजक था सारा जगत् समान तुझे।
तेरा बंधुत्व विशाल रहा सम थे लक्ष्मण हनुमान तुझे॥
केवट हो, कपि हो, शबरी हो, तूने सबको अपनाया था।
जो जो कहलाते थे अनार्य छातीसे उन्हें लगाया था ॥५

शबरीके जूँठे बेर ग्रहण करनेमें नहीं लजाया था ।
तूने पवित्रता शौचधर्म बस प्रेम-भक्तिमें पाया था ॥
कुल जातियों तिका उच्च नीचका सद्रहस्य समझाया था।
मानवका धर्म सिखाया था कुलमदको मार भगाया था॥६

तूने राक्षसपन नष्ट किया पर राक्षस नृपति बनाया था ।
सम्राट बना था पर तूने साम्राज्यवाद ठुकराया था ॥
सज्जनका रक्षण करता था दुर्जनका करता था तक्षण ।
भगवती अहिंसाके दोनों रूपोंके थे तुझमें लक्षण ॥७

मर मिटनेको तैयार रहा अन्याय अगर देखा तूने ।
भगवान सत्यको ही दुनियाँका सच्चा बल लेखा तूने ॥
राक्षसताका सरदार मिला जिसका असंख्य दल-
बल छल था ।
तू निराधार था सिर्फ तुझे अपने ही हाथोंका बल था॥८

पर तू निर्भय हो गर्ज उठा अन्याय नहीं करने दूँगा ।
सीता जावे मर मिटे रामपर न्याय नहीं मरने दूँगा ॥
जगकी पवित्रतम वस्तु सतीकी लाज नहीं हरने दूँगा।
अत्याचारी दुष्टोंसे मैं पृथिवी न कभी भरने दूँगा ॥९

यद्यपि भुजबलका मान न था वैभव भी तुझे न प्यारा था।
भय न था लालसा थी न तुझे तू तो सन्नीति दुलारा था॥
था चमक रहा भगवान सत्यका वरद हस्त तेरे ऊपर ।
भगवती अहिंसाने अञ्चल फैलाया था तेरे भूपर॥१०

विजयी बनकर साम्राज्य लिया फिर भी वनवासी
बना रहा ।
लंकाको ठुकराया तूने तू अनासक्तिमें सना रहा ॥
सर्वस्व त्याग करनेमें भी तूने ननुनच तक नहीं किया ।
जनता रञ्जन मर्यादाके रक्षणको तूने क्या न दिया॥११

कर्तव्य यज्ञकी वेदीपर सीताका भी बलिदान किया ।
आँखोंमें आँसू भरे रहे पर मुखको कभी न म्लान किया॥
तूने अपना दिल मसल दिया दुनियाँ के हित विषपान किया
तू सच्चा योगी बना रहा जीवन सुखका अवसान किया१२

आदर्श पुत्र था, त्यागी था, सेवा ही तेरा धर्म रहा ।
तूने विपत्तियोंकी वर्षाको हँसते ही सर्वदा सहा ॥
पुरुषोत्तम और महात्मा तू घर घरमें ख्याति हुई तेरी ।
तेरे पद-चिन्ह मिलें मुझको इच्छा है एक यही मेरी ॥१३

— दरबारीलाल (सत्यभक्त)

जैनधर्मका मर्म ।

(५९)

स्वाध्याय—स्वाध्यायको भी तपमें शामिल करके जैनधर्मने तपकी व्यापकता तथा प्रत्यक्ष फलप्रदताका सुन्दर प्रदर्शन किया है। स्वाध्याय वास्तवमें एक महान तप है। ज्ञानके बिना मनुष्य कुछ नहीं कर सकता और स्वाध्याय ज्ञानप्राप्तिका असाधारण कारण है।

इसके पाँच भेद किये गये हैं। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय, धर्मोपदेश।

शिष्योंको पढ़ाना* अथवा किसीको निर्दोष ग्रन्थ सुनाना या उसका अर्थ समझाना वाचना है। सच पूछा जाय तो वाचना का समावेश धर्मोपदेशमें करना चाहिये। प्राचीन ग्रन्थकारों ने जो इसे स्वतन्त्र भेद माना है उसका कारण प्राचीन युगमें लेखनपद्धतिकी कठिनाई है। पहिले जमानेमें शास्त्र श्रुति स्मृति रूपमें रहते थे। वे सुनेजाते थे और स्मरण में रक्खे जाते थे, इसलिये श्रुति या स्मृति या श्रुतिस्मृति कहलाते थे। जब कोई गुरु या गुरुतुल्य व्यक्ति किसीको याद करनेके लिये ग्रन्थ सुनाता था तथा उसका अर्थ भी समझाता था, तब यह वाचना कहलाती थी। धर्मोपदेशमें कोई पाठ नहीं किन्तु इच्छानुसार अपने शब्दोंमें व्याख्यान किया जाता था।

लेखनकलाका अधिक प्रचार न होनेसे स्वाध्यायके भेदोंमें, लिखी हुई पुस्तक आदिके पढ़नेके लिये कोई शब्द ही नहीं रक्खा गया। वाचनाका जो ऊपर अर्थ किया गया है, वह लिखितका पढ़ना नहीं मालूम होता। परन्तु आजकल उसका यही अर्थ करना चाहिये। आजकल पुराने ढंगकी वाचनाका रिवाज नष्टप्राय होगया है और लिखितके [illegible] रिवाज सब जगह फैलगया है। इसलिये वाचनाका अर्थ "पढ़ना" करना उचित है। प्राकृतभाषामें अध्ययनके अर्थमें यह शब्द प्रचलित हुआ है तथा आजकलकी लोकभाषामें तो पढ़नेके अर्थमें इस शब्दका प्रयोग और भी अधिक होता है।

पृच्छनाका अर्थ है पूछना। निष्पक्ष होकर जिज्ञासाके साथ शंकासमाधान करना भी एक प्रकारका स्वाध्याय है। पढ़ी हुई, सुनी हुई या अनुभवकीगई बातोंपर विचार करना अनुप्रेक्षा है। स्वाध्यायका यह बहुत महत्त्वपूर्ण-प्राणोपम भाग है। धारण करनेके लिये याद करना आम्नाय है। व्याख्यान देना, समझाना आदि धर्मोपदेश है।

व्युत्सर्ग— आभ्यन्तर तथा बाह्य उपधिका त्याग करना व्युत्सर्ग है। प्रायश्चित्तके भेदोंमें भी इसका वर्णन हुआ है, परन्तु वहाँ अपराधकी प्रतिक्रियाके रूपमें है जब कि यहाँ यह कारण नहीं है। आभ्यन्तर उपधिमें कषाय तथा बाह्य उपधिमें हर बाह्य वस्तुका संग्रह किया जासकता है। परन्तु इसकी विशेष उपयोगिता शरीर त्यागमें है। और शरीर त्यागका मतलब मर जाना नहीं है किन्तु उसमें विशेषरूपसे ममत्व छोड़देना है। अपरिग्रह व्रतकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेष जोर दियाजाता है।

ध्यान— मनकी एकाग्रताका नाम ध्यान है। इस तप पर बहुत जोर दियागया है, इसका वर्णन भी बहुत किया गया है। ध्यानके चार भेद हैं आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। पहलेके दो ध्यान बुरे हैं, संसार अर्थात् दुःखके कारण हैं। पिछले दोनों अच्छे हैं, मोक्षके अर्थात् सुखके कारण हैं।

आर्तध्यानमें पीड़ा होती है। दुःखरूप जो ध्यान है वह आर्तध्यान है। किसी प्रिय वस्तुके वियोग होनेपर (इष्टवियोग) या अप्रिय वस्तुके मिलनेपर (अनिष्टसंयोग) या बीमारी वगैरह से (वेदना)

* [illegible] अध्यापनम्। तत्त्वार्थभाष्य ९-२५॥ [illegible] ग्रन्थार्थोभय प्रदानम् वाचना। त० रा० वार्तिक ९-२५-१।

अथवा भविष्यत् विषयभोगकी आकांक्षासे (निदान) जो ध्यान होता है वह आर्तध्यान है।

शंका— प्रारम्भके तीन आर्तध्यान इसलिये अशुभ कहे जासकते हैं कि उनमें कायरता है इसलिये दुःखों पर विजय प्राप्त करनेमें बाधा उपस्थित होती है। सहिष्णुताका अभाव होनेसे थोड़ा दुःख भी बहुत मालूम होता है परन्तु निदान क्यों बुरा है? यह तो आप ही कहते हैं कि धर्म सुखके लिये है इसलिये अगर कोई सुखके साधनोंकी आकांक्षा करे तो इसमें बुराई क्या है?

समाधान—सुखके साधनोंकी आकांक्षा करना बुरा नहीं है, परन्तु निदानमें असली सुखकी आकांक्षा न करके नकली सुखकी आकांक्षा की जाती है। प्रथम अध्यायमें सुखका जो स्वरूप बतलाया गया वैसे सुखकी आकांक्षा करना बुरा नहीं है, क्योंकि वह सुख समाजकी उन्नतिके साथ होता है। परन्तु निदानमें ऐसे सुखाभासकी आकांक्षाकी जाती है जो दूसरोंके दुःखका तथा अनेक अनर्थोंका कारण है। इसलिये निदान आर्तध्यान है, अशुभ है। जो मनुष्य समाजको सुखीकरनेके साथ अपनेको सुखी करना चाहता है अर्थात् ऐसी आकांक्षा करता है उसके निदान आर्तध्यान न समझना चाहिये।

शंका—भविष्य सुखकी आकांक्षा करने वालेको आपने निदान बताया परन्तु वर्तमान सुखकी इच्छा करनेवाला अर्थात् वर्तमानमें विषयोंमें लीन रहनेवाला क्या आर्तध्यानी नहीं है? क्या वह शुभ ध्यानी है?

समाधान—वह शुभध्यानी नहीं किन्तु रौद्रध्यानी है। भविष्यकी भोगाकांक्षामें अप्राप्तिका कष्ट रहता है इसलिये इसे आर्तध्यानमें शामिल रक्खा है, परंतु वर्तमान भोगोंमें तो एक क्रूरतापूर्ण उल्लास रहता है इसलिये इसे विषयसंरक्षणानन्द या परिग्रहानन्द नामका रौद्रध्यान कहा है।

इसप्रकरणमें अपरिग्रहकी परिभाषा ध्यानमें रखना चाहिये। शरीरकी स्थितिके लिये तथा दूसरों को कष्ट न देते हुए अगर वस्तुओंका उपयोग किया जाय तो उसमें अशुभ ध्यान नहीं होता।

रौद्रध्यान—पापमें आनन्दरूप—उल्लासरूप-वृत्ति रौद्रध्यान है। इसके चार भेद हैं, हिंसानन्द, अनृतानन्द, चौर्यानन्द, परिग्रहानन्द। इनके लक्षण इनके नामसे ही मालूम होजाते हैं।

शंका—जिसप्रकार पाप पाँच हैं, उसीप्रकार रौद्रध्यान भी पाँच प्रकारका होना चाहिये था। कुशीलानन्द क्यों छोड़ दिया?

समाधान—वह परिग्रह या विषयसेवनमें शामिल है। पहिले चार व्रत और चार पाप माने जाते थे इसलिये रौद्रध्यानकी संख्या भी चार ही रही। पीछे जब ब्रह्मचर्यको अलग व्रत बनानेकी जरूरत पड़ी तब पाँच व्रत होगये। और पाँच व्रतोंको समझानेके लिये पापोंका भी पाँच भेदोंमें वर्णन करना पड़ा। परन्तु रौद्रध्यानके भेद बढ़ानेकी कोई जरूरत नहीं थी इसलिये वे चार ही रहे। अगर आज किसीको उसका पाँच भेदोंमें वर्णन करना हो तो भलेही करे, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

धर्म्यध्यान—ज्ञानचारित्र रूप धर्मसे युक्त ध्यान धर्म्यध्यान है। धर्मध्यानकी कोई ऐसी परिभाषा नहीं मिलती जो उसे शुक्लध्यानसे अलग करती हो। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यानमें क्या अंतर है, इसका भी स्पष्टीकरण नहीं मिलता है। सर्वार्थसिद्धिमें* इतना अवश्य कहा है कि श्रेणी आरोहणके पाहिले धर्म्यध्यान है और श्रेणीमें शुक्ल। फिरभी इससे दोनोंके स्वरूपमें अन्तर नहीं मालूम होता जिससे यह समझमें आजावे कि दोनोंमें यह गुणस्थान भेद क्यों हुआ है? इसके अतिरिक्त एक अड़चन और है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित तत्त्वार्थसूत्रमें ग्यारहवें और बारहवें § गुणस्थान

---

* तत्र व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिरिति श्रेण्यारोहणात्प्राग्धर्म्यं श्रेण्योः शुक्लं। ९-३७।

§ उपशान्त क्षीणकषाययोश्च। त० ९-३८॥

तक धर्म्यध्यान बतलाया गया है। अगर यह बात मानी जाय तब तो धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान एकाग्रपनेमें समान दर्जेके होजाते हैं। इसप्रकार इनमें स्वरूपभेद बताना और भी कठिन होजाता है।

बहुत कुछ विचारनेपर यही मालूम होता है कि धर्म्यध्यान प्रवृत्तिप्रधान है और शुक्लध्यान निवृत्तिप्रधान है, और दोनों ही बारहवें गुणास्थान तक जासकते हैं। तेरहवें चौदहवें गुणास्थानमें तो ध्यान लगानेकी आवश्यकता ही नहीं रहती है; वास्तवमें वहाँ ध्यान माना भी नहीं जाता, कर्मकी निर्जरा होनेसे ध्यानका उपचार किया जाता है। जीवनके अन्तिम समयमें यह अवस्था होती है। मनुष्यका उस समय निवृत्तिपरायण होना स्वाभाविक है।

धर्म्यध्यानके चार भेद हैं। आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थानविचय। आजकल इन चारों ध्यानोंकी परिभाषाएँ निम्नलिखित रूपमें प्रचलित हैं:—

जिस समय कोई बात समझमें न आवे, उस समय यह समझकर कि जिनेन्द्र कभी झूठ नहीं बोलते उस बातपर विश्वास रखना आज्ञाविचय है। अथवा जिनेन्द्रके कहे शब्दोंको युक्तितर्कसे सिद्ध करना आज्ञाविचय है †।

कहना न होगा कि धर्म्यध्यानके नामपर किसी वैज्ञानिक धर्ममें इसप्रकार अन्धश्रद्धाका समर्थन नहीं किया जासकता। जीवनमें कभी किसीको इस प्रकार श्रद्धासे काम लेना भी पड़े परन्तु ऐसी बातको तो अपवाद और आपद्धर्मके रूपमें रखना चाहिये न कि धर्म्यध्यानका भेद बनाकर। सम्भवतः निःपक्ष विचारणाको तो इसमें कोई स्थानही नहीं रहजाता। इससे मालूम होता है कि आज्ञाविचयका यह ठीक लक्षण नहीं है। शास्त्रोंका क्या अर्थ है, इस प्रकारका विचार भी आज्ञा विचय * कहा जाता है। यह अर्थ कुछ ठीक दिशामें अवश्य है, फिरभी संकुचित है। आगे वास्तविक अर्थपर किया जायगा।

प्राणी सन्मार्गसे किस प्रकार नष्ट हो रहे हैं, इस प्रकार विचार करना अपाय विचय है। कर्मका कैसा फल मिलता है इसपर विचार करना विपाक विचय है। और विश्वकी रचना पर विचार करना संस्थान विचय है।

साधारण दृष्टिसे ये परिभाषाएँ ठीक हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि स्थानसंविचयके नामपर भूगोल और खगोल पर जोर क्यों दिया गया? इतिहास और पुराणपर क्यों नहीं? बारह भावनाओंमें एक लोकभावना है, उसी तरहका यह संस्थानविचय ध्यान है। माना कि भावनामें ध्यानकी तरह स्थिरता नहीं है परन्तु अन्यभावनाओंको भी धर्म्यध्यानके भेदोंमें क्यों नहीं रक्खा? यदि कहाजाय कि इनका आज्ञाविचयमें समावेश होजायगा तो यहभी ठीक नहीं, क्योंकि इस प्रकार तो बाकी तीनों धर्म्यध्यानोंका आज्ञाविचयमें समावेश किया जासकता है। इससे मालूम होता है कि धर्म्यध्यानका यह श्रेणीविभाग ठीक नहीं है अथवा इनकी परिभाषाओंमें कुछ विकृति आगई है।

वास्तवमें धर्म्यध्यानके इन विभागोंमें एक क्रम है। बल्कि वे एक विचारके चार अंश हैं। आत्माको कल्याणमार्गमें लगाने तथा जगत्के उद्धारकी अपेक्षा से धर्म्यध्यानके ये भेद किये हैं।

धर्मशास्त्रमें आज्ञाका अर्थ है कर्तव्यकी प्रेरणा, अथवा कल्याणोपयोगी पदार्थोंका विधान। उसका विचार करना वह आज्ञाविचय है। अर्थात् सुखके मार्गपर विचार करना आज्ञाविचय है। प्राणियोंका

† उपदेष्टुरभावान्मन्दबुद्धित्वात्कर्मोदयात्सूक्ष्मत्वाच्च पदार्थानां हेतु दृष्टान्तो परमेसति सर्वज्ञप्रणीतमागमं प्रमाणीकृत्य इत्थमेवेदं नान्यथा वादिनो जिना इति गहन पदार्थश्रद्धानमर्थावधारणमाज्ञाविचयः अथवा स्वयंविदित पदार्थतत्त्वस्य सतः परं प्रतिप्रतिपादयिषोः स्वसिद्धान्ताविरोधेन तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनय प्रमाण योजन परः स्मृति समन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इत्युच्यते। सर्वार्थसिद्धि ९-३६।

* आज्ञावचनं नु प्रवचनमाज्ञाविचयस्तदर्थ निर्णयनम्। स्थानांग टीका ४-१।

जो कर्तव्य है उसका अर्थात् आज्ञाका पालन न करने से वे कैसे दुराचारी, पतित, स्वार्थी आदि होजाते हैं इसप्रकारका विचार अपायविचय है। इस प्रकार पतित होकर उन्हें कैसे कष्ट भोगना पड़ते हैं, इस प्रकारका विचार विपाकविचय है। प्राणियोंके इस अधःपतनसे संसारकी कैसी दुरवस्था होरही है यह संस्थानविचय है।

धर्म्यध्यानके इन चारों भेदोंका ऐसा अर्थ करने से उनमे एक प्रकारका क्रम आजाता है, जो कि धर्म के किसी उद्देश्यको पूरा करनेके लिये उचित और आवश्यक मालूम होता है।

शुक्लध्यान— धर्म्यध्यानकी तरह यहभी एक पवित्र ध्यान है, परन्तु निवृत्तिप्रधान है। इसके भी चार भेद हैं, पृथक्त्ववितर्क, (इस अवस्थामें ध्यान कुछ चञ्चल रहता है। एक विषय पर स्थिर होनेपर भी भीतर ही भीतर इसमें कुछ परिवर्तन होता रहता है) एकत्ववितर्क (इसमें परिवर्तन नहीं होता) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति (मरते समय जब शरीरमें एक प्रकारकी स्थिरता आजाती है, बहुत ही सूक्ष्म क्रिया बाकी रह जाती है, उससमय यह ध्यान माना जाता है) व्युपरतक्रिय-निवर्ति-इसमें वह सूक्ष्म क्रिया भी बन्द होजाती है।

पीछेके दोनों शुक्लध्यान अर्हन्तके ही मानेजाते हैं। इन ध्यानोंके लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं करना पड़ता। प्रत्येक अर्हन्तके जीवनके अन्त समयमें ये आपसे आप होते हैं।

ध्यानकी व्यावहारिक उपयोगिता भी बहुत है। इससे किसी विषय पर विचार किया जासकता है, इससे ज्ञानकी वृद्धि या प्राप्ति होती है, दुःखोंको भुलाया जाता है, अपने आपमें पूर्ण बनाया जाता है।

इस प्रकार ये अन्तरङ्गतप हैं। बहिरङ्गतपकी अपेक्षा अंतरङ्गतपोंपर अधिक जोर देना चाहिये। बहिरङ्गतप वास्तवमें तप नहीं है किन्तु वास्तविक तपके लिये एक साधन मात्र है।

त्याग—आठवां धर्म त्याग है। त्याग शब्दका व्यापक अर्थ कियाजाय तब तो इसमें बहुतसे धर्मोंका समावेश किया जा सकता है परन्तु यहाँपर उसका अर्थ दान है। पहिले अध्यायमें कहा जाचुका है कि समाज की उन्नतिमें अपनी उन्नति है। अगर हम समाजको पतित अवस्थामें छोड़कर उन्नत बनना चाहें तो हमें असफल होना पड़ेगा अथवा हमें जितनी सफलता मिलना चाहिये उतनी सफलता न मिलेगी। दानके द्वारा हम दोनोंका समीकरण करते हैं। दूसरोंको उन्नत बनाकर हम वातावरणको इतना स्वच्छ बनाते हैं जिससे हमें भी श्वास लेनेमें कष्ट न हो। इसप्रकार दान जितना परोपकारक है उतना ही स्वोपकारक है।

जैनशास्त्रोंमें दानके चार भेद किये गये हैं आहारदान औषधदान शास्त्रदान (ज्ञानदान) और अभयदान अभयदानके बदलेमें आवासदान भी कहा जाता है। वास्तवमें ये दान मुनिसंस्थाको लक्ष्य में लेकर कहेगये थे। इसलिये मुनियोंको जिन जिन चीजोंकी जरूरत होती थी उनका नाम लिखदिया गया। परन्तु वास्तवमें इसकी उपयोगिता सभीके लिये है, और देशकालके भेदसे इसके ढंगमें भी परिवर्तन करना आवश्यक है।

जैन साहित्यमें भी इस प्रकारका संशोधन हुआ है, और उसके अनुसार दानके चार भेद दूसरे ढंग से किये गये हैं-पात्रदान, करुणादान, समदान, और अन्वयदान। प्रारम्भके चार दान पात्रदानमें शामिल किये जाते हैं। दानके ये चार भेद पहिले भेदोंकी अपेक्षा अधिक पूर्ण हैं।

पात्रदान—जो लोग सदाचारी हैं, न्यायशील हैं, दुनियाँकी भलाईके लिये जिनने अपना जीवन लगाया है, उनको सहायता पहुँचाना, उनके जीवनकी आवश्यकताएँ पूरी करना पात्रदान है।

इसका साम्प्रदायिक अर्थ न करना चाहिये; किन्तु जो भी मनुष्य दुनियाँकी भलाईके लिये प्रयत्न करता हो और किसी भी ढंगसे क्यों न करता हो, उसे सहायता पहुँचाना आवश्यक है। हाँ, सच्चे पात्र को पहिचाननेके लिये विवेककी जरूरत तो है ही, साथ ही उसके कार्योंकी उपयोगिताका भी विचार

करना पड़ेगा।

पहिले ब्राह्मणोंको इस प्रकारका दान दिया जाता था और आज भी दिया जाता है, परन्तु अब ब्राह्मण कुलोत्पन्नको दिया जाता है, भले ही वह ब्राह्मण हो या न हो। अगर ब्राह्मणकुलोत्पन्न न हो किन्तु ब्राह्मण हो तो भी नहीं दिया जाता। श्रमण सम्प्रदायमें यह दान श्रमणों तथा श्रमणोपासकोंको भी दिया जाने लगा। परन्तु आज पात्रापात्रका विचार कुछ दूसरे ढंगसे करना चाहिये।

ब्राह्मणकुलोत्पन्न होनेसे या ब्राह्मण (विद्वान) होनेसे ही कोई पात्र नहीं होजाता और न श्रमण का वेष धारण करनेसे पात्र होता है। सच्ची साधुता का स्वरूप पहिले कहा गया है। उसीको कसौटी बना कर साधुता की—पात्रताकी—पहिचान करना चाहिये। मनुष्यमें निस्वार्थ समाजसेवाके भावके साथ समाज-सेवा करनेकी जितनी योग्यता होगी और उसका वह जितना उपयोग करेगा उसकी पात्रता उतनी ही अधिक होगा, फिर वह किसी भी जातिका क्यों न हो और किसी भी वेषमें क्यों न हो।

पहिले जमानेमें पात्रको चार वस्तुएँ दी जाती थीं। भोजन, औषध, ज्ञानवृद्धिके साधन, रहने या ठहरनेके लिये स्थान। वस्त्र तथा अन्य उपकरणोंका समावेश भी इन्हींमें होजाता है। आजभी इसप्रकार के साधन जुटाना आवश्यक है। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ और भी करना चाहिये।

पात्रोंमें भिक्षावृत्ति अनिवार्य न बनजाय, उनके हृदयपर कर्मण्यताका कुछ अंकुश रहे तथा कुपात्र भी पात्रोंमें न घुस जायँ इसके, लिये दानप्रणालीमें कुछ नया ढंग लाना चाहिये। उनको भोजनादि देनेकी अपेक्षा उपार्जनके साधन जुटादेना कहीं बहुत अच्छा है। वे स्वयं परिश्रम करें, उसके बदले में जीवननिर्वाहके लिये उचित और आवश्यक वस्तुएँ लें और अगर कुछ बचत हो तो समाजको अर्पण करें।

पहिले जमानेमें साधुओंके आश्रमोंको या धर्म-स्थानोंको जमीन वगैरह दी जाती थी। उसका प्रयोजन यही था कि समाजसेवक लोग कृषिद्वारा अपना जीवन निर्वाह करें और इसप्रकार स्वाश्रयी बनकर समाजसेवा करें। परन्तु बहुत समय व्यतीत होजानेपर इसका दुरुपयोग होने लगा। उनमें कर्मण्यता तो न रहा किन्तु जमींदारी शान आगई। उन ने अपने हाथसे काम करना छोड़दिया और पूँजी-वादी मनोवृत्तिसे काम लेना शुरू किया।*

आज पूँजीवादी मनोवृत्तिको दूर करके इसी प्रकारके आश्रमों या संस्थाओंकी जरूरत है जिस के बन्धनमें रहकर समाजसेवक वर्ग समाजसेवा करता हुआ जीवन यापन करे, जिससे इनको भी शान्ति मिले और समाजको सच्चे सेवक तथा मित्र मिलें। जो काम पैसा खर्च करके वेतनभोगी विद्वानों से नहीं होसकता, वह इनसे हो, फिर भी समाजके ऊपर इनका कम से कम बोझ पड़े।

यह आवश्यक नहीं है कि ये लोग खेती ही करें। ये लोग गृहउद्योग तथा मशीनोंके अन्य काम भी करें, छोटे बड़े कारखाने चलावें—साहित्य प्रचार के लिये मुद्रणालय चलावें। इससे साधुसंस्था और समाजसेवक वर्ग स्वाश्रयी, कर्मण्य, उत्तरदायित्वपूर्ण और संगठित बनेगा। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय दृष्टिसे बहुत लाभ होंगे। उदाहरणार्थ—

राष्ट्रके जो उद्योग विदेशी पूँजीपतियोंकी प्रतियोगिताके कारण पनप नहीं सकते या टिक नहीं सकते, वे इन स्वार्थत्यागियोंके भरोसे खड़े किये जासकेंगे क्योंकि इन लोगोंको बदला बहुत थोड़ा देना पड़ेगा।

अगर राष्ट्रका ग्राम्यजीवन बर्बाद होरहा है तो ये लोग—जोकि विवेकी सभ्य और त्यागी होंगे—ग्राम्य जीवनका आदर्श उपस्थित करेंगे, जहाँ

* आजकल सरीखी ज़मींदारोंकी प्रथा अर्वाचीन है। अगर मैं भूलता नहीं हूँ तो अकबर बादशाहके समय राजा टोडरमल ने इस प्रथाका सूत्रपात किया था। इसके पहिले ज़मीन के मालिक ही ज़मीन जोतते होंगे। इसलिये सन्यासियों को दीगई ज़मीन का उपयोग वेही करते होंगे।

स्वच्छता, सभ्यता, सहयोगशीलताके साथ नागरिकता का समन्वय किया जायगा। इसप्रकारके नमूने उपस्थित कर दूसरे ग्रामोंको इसीप्रकार सुधारनेकी कोशिश करेंगे। एकबार जहां इसप्रकार ग्राम्य सुधार की हवा चली कि वह सर्वव्यापी होजायगी।

जिस देशमें करोड़ों रुपये धार्मिक संस्थाओंको दान दिया जाता हो उस देशमें अगर उसका चौथा भाग इस ढंगसे खर्च किया जाय तो देशकी सारी आवश्यकताएँ देशमें ही पूरी की जा सकती हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक आक्रमणोंका पाप दूर किया जासकता है। अगर किसी उद्योगमें एक लाख रुपया प्रति वर्ष घाटा सहा जाय और उसमें काम करनेवाले साधुके समान अपरिग्रही हों तो यह सम्भव ही नहीं है कि थोड़े वर्षोंमें वह अपने पैरोंपर खड़ा न हो सके। प्रारम्भमें ही जब पैसाबादी मनोवृत्ति काम करने लगती है तब असफलता होती है, परन्तु यहाँ तो पूंजी खोदेने तककी तैयारी है और निःस्वार्थ काम करना है तब क्यों न सफलता होगी?

इसप्रकार दान करनेकी दिशामें परिवर्तन करना चाहिये। ऐसी संस्थाओंके नीचे उद्योग चलानेके लिये धनका दान करना किसी भी अन्य धार्मिक संस्थामें दान करनेकी अपेक्षा अधिक पुण्यका कार्य है क्योंकि इससे स्वकल्याण और परकल्याण दोनों ही होते हैं। इस ज़रियेसे बेकारी भी हटायी जासकती है और आदर्श समाज भी बनायी जासकती है। इन दोनों बातोंके नाना सुफल होंगे वे अलग।

ये आश्रम लोगोंको शांति प्रदान करने तथा जीवनसुधारकी शिक्षा लेनेके लिये भी उपयोगी होंगे। पुराने ढंगके लोगोंमें तीर्थाटनका बहुत रिवाज है। नये ढंगके लोग भी हवाखोरीके बहाने देशाटन करते ही हैं। कुछ लोग नगरोंसे या अपने स्थानसे ऊबकर कुछ समयके लिये अन्यत्र चलेजाते हैं। ऐसे लोगों के लिये ये आश्रम बड़े कामकी चीज होंगे। यहाँ पर आकर लोग सकुटुम्ब होकर रहें। जीवनसुधार का, संयमका, शांतिका अभ्यास करें। साथ ही वायुपरिवर्तन भी। इसप्रकार ये संस्थाएँ समाज राष्ट्र और विश्वकी बहुत अच्छी चीज़ बनसकेंगी।

पात्रदानकी यह नयी व्यवस्था विवेकपूर्ण तथा बहुत फलदेने वाली है। रोटी खिला देनेसे या थोड़ा सा अन्न देदेनेसे या थोड़ीसी सम्पत्ति आँख बन्द कर जहाँ चाहे फेंकदेनेसे पात्रदान नहीं होजाता। उसके लिये विवेकसे काम लेकर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये जिससे समाजका सर्वाङ्गीण विकास हो, उसके कष्ट कम हों तथा सुखमें वृद्धि हो।

पात्रदानमें अन्य दानोंकी अपेक्षा विशेषता यह है कि उसमें पात्रकी पूजा की जाती है। इसके लिये चरण धोने आदिकी प्रणाली प्रचलित है। यह तो अनुचित है परन्तु इसके भीतर एक रहस्य है, वह अवश्य ध्यानमें और व्यवहारमें रखने लायक है।

पात्रदान ऐसे ही लोगोंको दिया जाता है जोकि निःस्वार्थ समाजसेवक हैं। उनको दान देकर हम उनके ऊपर अहसान नहीं कर रहे हैं। यह बात ध्यानमें रहे इसलिये यह पूजा-अर्चाकी प्रथा है। इस तरह वर्तमानरूप त्यागकरके भी हमें उसका भाव ध्यानमें रखना चाहिये, तथा सच्चे समाजसेवकोंको अहसानोंसे न दबाकर उनका आदर करना चाहिये। तभी उनसे लाभ उठाया जासकता है, अन्यथा सच्चे सेवक न तो मिलेंगे और न हम उनसे सच्ची सेवा ले सकेंगे। कदाचित् वे हमारी इच्छाके अनुसार काम करेंगे, जैसाकि हम चाहते हैं, परन्तु हितके अनुसार नहीं।

करुणादान—दीन दुःखी मनुष्यको करुणा बुद्धिसे दान देना करुणा दान है। चिकित्सालय खुलवाना आदि इसी दानके भीतर है। सदाव्रत द्वारा गरीबोंको भोजन देना भी करुणादान है। परन्तु इसकी अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उनसे कुछ काम कराया जाय जिससे उनमें दीनता, भिखमंगापन, आलस्य आदि न आने पावे।

शंका—अगर किसी देशमें काम करनेवाले

इतने अधिक हों कि उन्हें काम न मिलता हो, और फिर इन भिक्षुकोंसे भी काम लिया जाने लगे तब तो बेकारी और बढ़ेगी।

समाधान—इनको ऐसे काम दिये जावें जिन्हें कि आर्थिक दृष्टिसे लाभप्रद न होनेसे कोई न करता हो। देशमें ऐसे बहुतसे काम होते हैं जो बहुव्यय-साध्य होते हैं परन्तु उनका फल उतना अधिक नहीं होता। इसलिये उसके लिये कोई पैसा खर्च नहीं करता। ऐसे काम इन लोगोंसे लेना चाहिये। मान लो गाँवके बाहर एक ऐसा जंगल है जहाँ लोग शाम को घूमने जासकते हैं, परन्तु जंगल इतना ऊबड़-खाबड़ तथा पथरीला है कि कोई उसका उपयोग नहीं करता। म्युनिसिपैलिटी या ग्रामपंचायतमें पैसेकी इतनी गुंजाइश नहीं है कि वह मजूर लगाकर यह काम करासके। और उस गाँवका कोई श्रीमान भिक्षुकोंको मुट्ठीभर अनाज रोज देता है। अब अगर वह इस शर्तपर अनाज दे कि सब भिक्षुक पन्द्रह मिनिट तक वह जंगल साफ़ करें तो थोड़े ही दिनों में वह बिलकुल साफ़ होजायगा। अगर इसमें भी मजूरोंकी मजूरी मारी जाती हो तो और कोई काम देखना चाहिये। यह तो एक उदाहरण मात्र है। और इस तरहके काम ढूँढे जासकते हैं जो भिक्षुकों से कराये जाँय किन्तु उसके लिये किसीको बेकार न होना पड़े। इसप्रकार करुणादानमें अगर विवेकसे काम लिया जाय तो अकर्मण्य लोग करुणास्पद बननेका ढोंग न करेंगे, तथा यह दान व्यापकरूप में लोकोपकारक सिद्ध होगा। हाँ, जो लोग किसी कारणसे कोई काम करने लायक न हों तो उनको वैसी ही मदद की जाय। क्योंकि इसका क्या ठिकाना कि हमारी कभी ऐसी दुरवस्था न होगी। उस समय इस सुनियमका सुफल हमें भी मिलेगा। परोपकार क्यों आवश्यक है, इसविषयमें प्रथम अध्यायमें लिखागया है।

शङ्का—अगर हम कर्मफलको मानते हैं तो हमें करुणादान क्यों करना चाहिये? प्राणी अपने पाप का फल भोगते हैं। वह उन्हें भोगना चाहिये। उन्हें उससे छुड़ानेका प्रयत्न करनेवाले हम कौन?

समाधान—इस प्रकारका विचार हमें दूसरोंके लिये ही न करना चाहिये, किन्तु अपने कुटुम्बियों और अपने लिए भी करना चाहिए। अपना पुत्र जब बीमार पड़े तो उसकी चिकित्सा सेवा न करना चाहिए यहाँ तक कि जब हम स्वयं बीमार पड़ें तब नीरोग होनेकी चेष्टा न करना चाहिए। चलते चलते गिर पड़ें तो उठना भी न चाहिए अन्यथा कर्मफल में बाधा आयगी। अगर अपने लिए हम इतनी उदारताका उपयोग नहीं करते तो दूसरेके लिए भी उसका उपयोग न करें, इसीमें हमारी भलाई है।

दूसरी बात यह है कि हमारे और दूसरेके भाग्य मे क्या है यह हमें दिखाई नहीं देता। इधर कर्म भी अपना कार्य करनेके लिए नोकर्म (बाह्य निमित्तों) की अपेक्षा रखता है। इसलिए सम्भव है कि उसका शुभकर्म उदयमें हो जिससे वह विपत्तिसे छुटकारा पानेवाला हो, परन्तु किसी बाह्यनिमित्तकी जरूरत हो। वह हमें जुटा देना चाहिए। सहायकका संयोग भी तो उसके शुभकर्मकी निशानी है।

तीसरी बात यह है कि मनुष्यमें दैवकी प्रधानता नहीं है, किन्तु पुरुषार्थकी प्रधानता है। दैव अपना काम करे, परन्तु हमें भी अपना काम करना चाहिए। दैवको हम नहीं जान सकते न वह हमारे हाथमें है। हमारे हाथमें पुरुषार्थ है, प्रयत्न है, इसलिए दैवका विचार किये बिना हमें प्रयत्नशील होना चाहिए और अधिकसे अधिक भलाई करना चाहिए।

शङ्का—असंयमी प्राणियोंपर करुणा करनेसे तथा उनकी रक्षा करनेसे असंयमकी वृद्धि ही होगी। भविष्यमें वे जो पाप करेंगे उसके निमित्त हम भी होंगे।

समाधान—प्राणीके जीवनमें असंयम ही नहीं होता, किन्तु संयम भी होता है, उसमें प्रेम भी होता है, इससे वह किसीका अवलम्बन भी बनता है। इसलिये हमें असंयमीका नहीं, किन्तु असंयमका

विचार करना चाहिए। असंयमके कार्यमें सहायता कभी न करे, परन्तु असंयमीको सहायता करना चाहिए। सम्भव है इसीसे वह संयमी बने, दूसरोंके लिए वह भलाईका साधन बने। गाय भैंस आदि पशु भी असंयमी होते हैं, परन्तु उनकी रक्षासे समाजकी रक्षा है। अहिंसाके प्रकरणमें भी इस विषयमें विवेचन किया है। उसपर भी विचार कर लेना चाहिए।

समदान—सामाजिकता तथा प्रेम बढ़ानेके लिये प्रीतिभोज करना आदि समदान है। यथाशक्ति ये काम भी उपयोगी हैं। इससे साम्पत्तिक वितरणमें समता आती है। पारस्परिक सहयोगका भाव बढ़ता है। प्रवास वगैरहमें हम दूसरोंको, दूसरे अपनेको सहायक होते हैं। हाँ, विवेकसे काम लेनेकी जरूरत तो यहाँ भी है। मृत्युभोज सरीखी क्रूर क्रियाओंका समर्थन इससे नहीं किया जासकता।

अन्वयदान—अपनी सम्पत्तिका किसी या किन्हीं उत्तराधिकारियोंको सौंपना अन्वयदान है। बहुतसे लोग शायद इसे दान न मानेंगे परन्तु यह भी एक दान है। हमारे मरजानेपर हमारे उत्तराधिकारी जो हमारी सम्पत्तिके स्वामी होजाते हैं वह दान नहीं है। दान वही है कि अपने जीते जी अपनी सम्पत्तिका यथायोग्य वितरण करदेना तथा वानप्रस्थ होकर अपना स्थान दूसरोंको खालीकर देना तथा अपने हाथमें ऐसे काम लेलेना जो समाजकी उन्नति तथा प्रगतिके लिये उपयोगी हैं किन्तु आर्थिक बेकारी नहीं फैलाते। जीवनके अंतिम भागमें सेवा और शान्तिके लिये प्रयत्न करना चाहिये। कर्मयोगी बनकर विश्वमात्रकी सेवाके लिये कर्मशील बनना उचित है। अन्वयदान इस क्रियामें बहुत सहायक है।

दानकी यहाँ दिशामात्र बतला दी गई है। इससे दानके विषयमें पर्याप्त विचार किया जासकेगा। हाँ, एकबात ध्यानमें रखना चाहिये कि दान ऐच्छिक धर्म नहीं है किन्तु अनिवार्य है। सम्पत्ति होनेपर अगर दान न किया जाय, उसको क़ैद करके रख लिया जाय तो इसमें समाजका द्रोह है, परिग्रह पाप है। अपरिग्रहके प्रकरणमें भी इस विषय पर पर्याप्त विचार किया गया है।

सम्पत्ति एकन एकदिन छूटनेवाली तो अवश्य है। भले ही वह ऐसे आदमीको मिले जिसे हम अपना पुत्र कहते हैं, परन्तु आखिर वह भी तो समाजका ही एक अङ्ग है। शायद हम यह समझें कि उसे सम्पत्ति देनेसे नाम चलेगा परन्तु इसका भरोसा क्या है? दूसरी बात है यह कि अगर सम्पत्तिसे नाम चल सकता है तो उसका उपयोग जीवनमें ही क्यों न किया जाय जिससे यशका आनन्द अपनेको मिल सके। तीसरी बात यह है कि अपने मरनेके पीछे उत्तराधिकारी सम्पत्ति लेते और उसमें किसीका जितना नाम हो सकता है उससे हजार गुणा नाम उसका होता है जो समाजके लिये सम्पत्ति देजाता है। यहाँ सन्तानको भिक्षुक बना देनेकी बात नहीं है। सन्तानका पालन रक्षण उन्नति आदि भी समाजका काम है। परन्तु सभी तरफ समतौलता रहे इसके लिये एक तरफ जोर दिया गया है। इस प्रकार दान यशकी दृष्टिसे तथा समाजहितकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी है। यह परमार्थ भी है और स्वार्थ भी है।

आकिञ्चन्य—अर्थात् अपना कुछ न समझना। अपरिग्रह व्रतके लिये शौच और दानके लिये यह उत्तेजक है। अपनेको स्वामी नहीं किन्तु ट्रस्टी, रक्षक माननेमें निराकुलता भी है तथा समाजहित भी है।

ब्रह्मचर्य—इसका विवेचन पहिले विस्तार से किया गया है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

सूक्ष्ममोह।

कभी कभी हम सरल बुद्धि से विचार करते हुए भी संस्कारों पर विजय न पानेसे सूक्ष्म मोहके जालमें फँसजाते हैं। उससमय हम नहीं समझ पाते

कि यह मोह जाल है। हम निःपक्षताके नाम पर ऐसी बातें कहते हैं जो दूसरा भी कहसकता है किन्तु हम उससे सहमत नहीं हो सकते। इसी प्रकारका एक पत्र मुझे एक यतिजीका मिला है जोकि स्नेह और आदरके साथ लिखा गया है और जिसमें कषायावेश बिलकुल नहीं है। फिर भी उसके विषयमें मुझे यह अप्रिय सत्य कहना पड़ता है कि यह सूक्ष्म मोह है, जिसकी गति समझना कठिन है। यतिजी का कहना है—

"जैनजगत्का नाम बदलकर सत्यजगत् या सन्देश आदि आप देना चाहते हैं, परन्तु इसकी कोई आवश्यकता तो नहीं है, कारण कषायोंकी मन्दता हुए बिना जैनीभी हो नहीं सकता और सत्य भी समझा नहीं जासकता। अतः दोनो नाम समान हैं। सत्यसमाजकी स्कीम देखनेकी उत्कंठा है, भेज-देनेकी कृपा करें।"

"आजतक जितने धर्मसम्प्रदाय मतमतान्तर शाखा प्रशाखाके रूपमें फैले हुए हैं उनके आदिकालमें वे अपने शुद्धरूपमें जरूर रहे होंगे परन्तु काल पाकर उनमें विकार होता गया—स्वरूपमें परिवर्तन होता गया। इसी रीत्या आपका सत्यसमाज चाहे असली रूपमें कुछ दिनके लिये रह जाय परन्तु काल पाकर उसमें भी विकार उत्पन्न होना संभव है, कारण कषायोंकी तीक्ष्णताही संसार है और कषायोंकी मंदताही सत्पथ है। अतः संसारमें इन दोनोंमें मैजोरिटी सदा किसकी है? इसका विचार अवश्य करें। मैं यह मानता हूँ कि आपके विचार बड़े विशद हैं और आपकी आलोचना भी अत्यंत मार्मिक है, परन्तु इससे यह नहीं कहा जासकता कि इससे सभी आकर आपसे मिल जाँयगे। कथनमात्र तो सभी सत्यकी प्रशंसा करते हैं परन्तु सत्यका आदर कितने करते हैं इसका जरा विचार करें। आज तो विविध सम्प्रदायों की आवश्यकता ही नहीं है, सभीको किसी न किसी रूपमें एक होजाना चाहिये। ऐसे समयमें आप एक नया सम्प्रदाय बनाकर फूटकी वृद्धि कर रहे हैं। हमारी समझसे तो ऐसा होना अच्छा नहीं। जैनधर्मको ही सर्वोपरि बनाकर सब धर्मोंको इसमें शामिल करदें, यह विशेष लाभदायक है। सत्य यह सामान्य धर्म है, इसे सभी स्वीकारते हैं परंच पालन करना सहज नहीं।"

जबकि सत्य और जैनत्व दोनों ही दुःसाध्य हैं, कठिन हैं इसलिये एक हैं तब जैन शब्दका ही मोह क्यों? सत्य नामसे लोग मेरे साथी न हो जाँयगे परन्तु जैन नामसे भी कितने हो जाँयगे? अगर हम यह बतलाना चाहते हैं कि हममें साम्प्रदायिक मोह नहीं है और दूसरोंसे भी हम ऐसी आशा रक्खें, उनसे ऐसा अनुरोध भी करें तब हमें किसी ऐसे नामकी दुहाई न देना चाहिये जो किसी सम्प्रदायसे सम्बन्ध रखता हो। जिन या जैन शब्दका व्युत्पत्त्यर्थ कुछ भी हो परन्तु आज तो वह एक साम्प्रदायिक संस्थाका द्योतक बना हुआ है। यों तो दूसरे नामभी जिन या जैन सरीखे अच्छे अर्थ वाले ही हैं—बुद्धका अर्थ ज्ञानी है, वेद भी ज्ञानार्थक है, इस्लामका अर्थ आप्तवाक्यका पालन है परन्तु क्या जैन, इस्लामके, वेदके या बुद्धके नीचे मिलजानेको तैयार हैं? यदि नहीं तो हम यह कैसे आशा करें कि दूसरे लोग जैनके नीचे आनेको तैयार होजाँयगे? सब सम्प्रदायोंको मिलानेके लिये किसी एक सम्प्रदायके नामको अपनाना हास्यास्पद प्रयत्न है। जब हम जैनधर्मको सर्वोपरि मानकर उसके नीचे सब धर्मोंको लाना चाहते हैं तब यह प्रयत्न साम्प्रदायिक कट्टरताको दूर करनेके लिये नहीं, किन्तु एक नया द्वन्द्व खड़ा करनेके लिये हो जाता है। इसके लिये तो हमें एक ऐसे नामको ही अपनाना पड़ेगा जिससे लोगोंका द्वेष न हो, सभी सम्प्रदायोंमें जो सन्मानित हो और जिसके प्रयोगसे किसीको अपने सम्प्रदाय के जय या पराजयका अनुभव न हो। सत्य शब्द इसके लिये सर्वोत्तम है। यदि सत्य नामका कोई सम्प्रदाय होता तो मुझे इस नामका भी त्याग करना पड़ता।

सत्यसमाज भी भविष्यमें विकृत हो जायगा, परन्तु इसीसे वह अनावश्यक नहीं है। जो मनुष्य पैदा हो रहा है वह एक दिन बीमार होगा और मरेगा, इसीलिये उसका पैदा होना बन्द नहीं किया जासकता। जो मकान बनरहा है वह एक दिन जीर्ण होगा और गिरेगा, इसीलिये उसका बनाना बन्द नहीं किया जासकता। आज जैसे हम जीर्ण मकानके स्थानपर नया मकान बनारहे हैं, कल जब यह जीर्ण होगा तब दूसरा कोई इसके स्थानपर नया मकान बनायगा। इसप्रकार सुधारकों और क्रान्तिकारकोंकी परम्परा तो चालू ही रहेगी। कल फिर भूख लगेगी, इसीलिये आजका खाना बन्द नहीं किया जासकता।

आपका यह वाक्य बड़ाही सुन्दर है कि "आज तो विविध सम्प्रदायोंकी आवश्यकता ही नहीं है। सभीको किसी न किसी रूपमें एक होजाना चाहिये।" परन्तु जिस किसी रूपमें एक बनेंगे वह रूप इन सम्प्रदायोंके रूपसे व्यापक और कुछ भिन्न तो अवश्य होगा तब उस नये रूपका नया नाम भी होगा। जहाँ नया रूप है वहाँ नया नाम भी है अगर आपने उसे कुछ भी नाम नहीं दिया तो भी नया रूप, उदार धर्म आदि किसी शब्दसे प्रगट तो करेंगे। तब "नयारूप" यह भी एक नाम होगा "उदारधर्म" यह भी एक नाम होगा। इसप्रकार जो चीज किसी न किसी रूपमें गले पड़ने वाली है उसको हम सम्हालकर विवेकपूर्वक ही स्वीकार क्यों न करें ?

सत्यसमाज नया सम्प्रदाय बनरहा है कि नहीं, अथवा फूटकी वृद्धि कर रहा है कि नहीं, यह तो भविष्य बतलायगा। परन्तु अपने साम्हने एक महान सफलता मौजूद है जिससे हम बहुत कुछ शिक्षा ले सकते हैं। वह सफलता है हिन्दूधर्मकी। आज हिन्दूधर्म एक धर्मके समान बना हुआ है परन्तु मूलमें यह बात नहीं थी। वैष्णव, शैव और शाक्त ये मूलमें उतनेही जुदे जुदे धर्म हैं जितने कि आज वैदिक और इस्लाम हैं। परन्तु धीरे धीरे इन सबका इतना अच्छा समन्वय कर दिया गया कि वैष्णव-शैवका भेद रहने परभी आज एक वैष्णव शिवमन्दिर पर आक्रमण नहीं करता, न शैव विष्णु-मन्दिरपर आक्रमण करता है। बल्कि एक दूसरेके लिये पर्याप्त सन्मान भी है। यहाँ तक कि पशुबलिको महान पाप समझनेवाले वैष्णव भी कालीकी निन्दा न करेंगे। इस उदारताने इस अन्तःकलहको नामशेष कर दिया है। अन्यथा एक दिन ये भी हिन्दू-मुसलमानोंकी तरह लड़ते थे निःसन्देह हिन्दुओंको मुसलमानों ईसाइयों बौद्धों और जैनोंके साथ प्रतिद्वन्दिता है परन्तु जितनेके समन्वय करनेका उनने प्रयत्न किया उतनेका समन्वय तो हुआ। उनका विरोध समन्वयकी सीमाके बाहर हुआ। इसीप्रकार सत्यसमाज कुछ कदम आगे बढ़कर जैन बौद्ध इस्लाम ईसाई आदि धर्मोंके साथ हिन्दूधर्मको मिलाकर एक व्यापक रूप देना चाहता है तो हिन्दूधर्मके समान इसको भी सफलता मिले,यह कोई अनहोनी बात नहीं है। यह माना कि इतना बड़ा विशाल कार्य मुझ सरीखे तुच्छ व्यक्ति न कर सकेंगे. परन्तु यह काम भी तो मुझ अकेलेका नहीं है। मैं तो इस कामके लिये लोगोंको निमन्त्रण देता फिरता हूँ। सब मिलकर इस कामको करेंगे। सम्भव है इसके लिये, भविष्यमें कोई महात्मा आवे तो उसके मार्गके असंख्य पत्थरों में से अगर हमने थोड़े बहुत साफ कर दिये, कुछ काँटे बीन दिये. मार्गसूचनके कुछ निशान बनादिये तो क्या बुरा है ? जो कार्य अच्छा है उसके लिये हमें यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

इसप्रकार जो काम हिन्दू धर्मने विविध धर्मोंको मिलाकर किया, वही कार्य सत्यसमाजको सब धर्मों को मिलाकर करना है। साथही हिन्दू समाजने सिर्फ शक हूण आदिको पचाया है,उसीतरहकी पाचनशक्ति सब धर्मोंमें पैदा करके जातीय तथा प्रान्तीय आदि दीवालोंको तोड़कर मनुष्यताकी पूजा करनी है। हम अपने सम्प्रदायमे दुनियाँके सम्प्रदायोंको मिलाकर और अपनी जातिमें दुनियाँकी जातियोंको मिलाकर

एकता करना चाहें तो यह नहीं हो सकता। अगर हम अपनी आँखोंमें धूल न झोंकना चाहें तो हमें यह जानलेना चाहिये कि इस विचारमें एकता, उदारता, समताकी मनोवृत्ति नहीं, किन्तु दिग्विजयकी क्रूर मनोवृत्ति छुपी हुई है। अपने अपने जातीय और साम्प्रदायिक झंडेके नीचे दुनियाँको बुलाने और खींच लानेका प्रयत्न तो सदासे होता आरहा है। यह उदारता नहीं किन्तु वह रोग है जिसे हम दूर करना चाहते हैं यदि मुट्ठीभर जैनी अपने झंडेके नीचे सब को पकड़लानेकी मनोभावना रखते हैं, यद्यपि आज उनकी पाचनशक्ति अत्यन्त क्षीण होगई है, तो करोड़ों मुसलमानोंका यही दावा क्यों न हो ? कम से कम वे सबको अपनेमें पचा तो सकते हैं। बस, यही तो झगड़ेकी जड़ है। यहींसे तू तू मैं मैं शुरू होती है। हम समताकी दुहाई देते देते रणचंडीकी पूजा करने लगते हैं। ईश्वरका नाम लेकर शैतानको अर्घ चढ़ते हैं और उसके इशारे पर नाचते हैं।

सत्यसमाज ऐसी जातीय और साम्प्रदायिक वासनाओंको कुचल देना चाहता है। वह सभी सम्प्रदायोंका आदर करते हुए भी किसी एक सम्प्रदायकी वकालत नहीं करना चाहता, न किसी एक सम्प्रदायको दूसरेके सिर पर बिठलाना चाहता है। वह सूक्ष्मसे सूक्ष्म मोहपर अपनी कठोर दृष्टि रखना चाहता है। यही इसकी उपयोगिता है।

सर्वज्ञताकी बीमारी।

सर्वज्ञताका वास्तविक अर्थ क्या है, इस बातको मैंने अनेक प्रबल प्रमाणोंसे, अनेक दृष्टियोंसे तथा जैनशास्त्रोंके आधारसे सिद्ध किया है; परन्तु सर्वज्ञता की अन्धश्रद्धापूर्ण कल्पना जो लोगोंके हृदयमें घर कर गई है वह इतनी प्रबल है कि सदसद्विवेक बुद्धि को जाग्रत ही नहीं होने देती। उसके कारण तार्किकता और वैज्ञानिकताकी दुहाई देनेवाले भी अन्धश्रद्धाके प्रवाहमें इसप्रकार बहते चले जाते हैं जैसे कि बरसाती नदीके प्रवाहमें एक तिनका बहता जाता है।

जब अन्धश्रद्धा अपने समर्थनके लिये तर्कका वेष पहिनती है तब उसका रूप बड़ा विचित्र और हास्यास्पद होता है। बैरिस्टर चम्पतरायजीने भी अपनी अन्धश्रद्धाको ऐसा वेष दिया है जिससे उसका रूप एक अद्भुत चीज बन गई है। उसमें न तो श्रद्धालुओंकी अनिर्वचनीयता है, न तार्किकोंकी प्रखरता स्पष्टता और बुद्धिग्राह्यता है। आपके आक्षेपोंका समाधान मुझे इसलिये करना पड़ता है कि वह आपका है। अन्यथा वह इतना कमजोर है कि उसके उत्तर देनेकी जरूरत ही नहीं है।

सर्वज्ञताकी सिद्धिकरनेके लिये आपने अपने वक्तव्यको तीन भागोंमें बाँटा है। ज्ञानकाविषय, ज्ञानका वर्णन, ज्ञानका ब्यौरा। पहिली बातके विषयमें आपका कहना है:—

"सब पदार्थ ज्ञानके विषय हैं। जिस पदार्थको कभी कोई जानही न सकेगा उसके अस्तित्वको कभी कोई सिद्ध ही न कर पावेगा। इसलिये सब पदार्थ ज्ञेय हैं।

इस वक्तव्यके उत्तरमें चार बातें हैं:—

१—सामान्यरूपसे सब पदार्थ हम भी जानते हैं जैसे 'सब पदार्थ सत् हैं'। अब क्या हम इतनेसे सर्वज्ञ होगये ? क्या ऐसी ही सर्वज्ञता आपको सिद्ध करना है ? यदि हाँ, तो इतनी तपस्या क्यों ? ऐसी सर्वज्ञता हर एक मनुष्यमें अभी भी है, यह हम स्वीकार करते हैं।

२—हम किसी पदार्थको जान नहीं सकें तो उस का अस्तित्व सिद्ध न होगा। परन्तु इसीसे उसका अभाव न होजायगा। अस्तित्वका होना एक बात है और अस्तित्व सिद्ध होना दूसरी बात है। आज अगर हम किसी नये पदार्थको जानते हैं तो 'असत् की उत्पत्ति नहीं होती' इस नियमके अनुसार हम यह समझते हैं कि हमारे जाननेके पहिले भी यह था। यदि हमारे न जानने पर भी वह था तो पदार्थ के अस्तित्वकी उसकी ज्ञेयताके साथ व्याप्ति न रही। इसलिये यह भी कहा जासकता है कि जिस

पदार्थोंको हम अभी तक नहीं जानपाये वे भी हैं।

३–ज्ञेयता एक सापेक्ष धर्म है। उसके लिये किसी दूसरे पदार्थकी-ज्ञानकी अपेक्षा अनिवार्य है। परन्तु अस्तित्व ऐसा सापेक्ष नहीं है। उसे किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं है। इसलिये अस्तित्व और ज्ञेयका व्याप्ति नहीं बनसकती।

४–सब पदार्थ अगर ज्ञेय भी सिद्ध होजाँय तो भी इससे सर्वज्ञताकी प्रचलित परिभाषा सिद्ध नहीं होसकती, क्योंकि वे एक ही आत्माके विषय सिद्ध नहीं होते। फिर एक ही आत्माको युगपत् सर्व-प्रत्यक्ष करना है। यह 'युगपत्' तो असम्भवताकी मात्राको और भी बढ़ा देता है।

इसप्रकार सब पदार्थोंके ज्ञेयत्वकी बात असिद्ध भी है और सर्वज्ञसिद्धिके लिये अकिञ्चित्कर भी है।

आगे चलकर आपने सर्वज्ञसिद्धिके लिये एक सहज युक्ति दी है। "द्रव्यके गुण सदा एक समान होते हैं इसलिये चेतन द्रव्यके गुण भी सबके समान ही होसकते हैं और यह बात देखनेसे भी साधारणतया ठीक पाई जाती है क्योंकि जो बात एक व्यक्ति जान सकता है उसको और लोग भी* जान सकते हैं इसलिये प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञानकी अपेक्षासे तीनों कालों और तीनों लोकोंके सब व्यक्तियोंके ज्ञानके बराबर ज्ञान पाया जाता है"।

एकता और समानताके अन्तरको न समझ करके यह भयंकर भूल हुई है। सब आत्मा समान हैं तो समान जानेंगे परन्तु सबका काम एक नहीं करसकता। जैसे अगर पचास घड़े एक समान हैं तो उनमें बराबर पानी भराजायगा, परन्तु उसका यह मतलब नहीं है कि जो पानी एक घड़ेमें भरा है वही दूसरेमें भी भरा है। और न इसका यह मतलब है कि एक ही घड़ेमें बाकी ४९ घड़ोंका पानी समा जायगा। वे सब बराबर हैं, एक नहीं। पहिले पं० राजेन्द्रकुमारजीने भी ऐसी ही शंकाकी थी उसका समाधान भी देखना चाहिये। आक्षेपककी तोपके ये दो गोले हैं जो कि मिट्टीके ढेलोंसे भी कमजोर हैं। सर्वज्ञता सम्बन्धी मेरी विवेचनामें जो विविध दृष्टिकोणसे अनेक विचार पाये जाते हैं उनको तो आप छू नहीं सके। लेखका बाकी कलेवर निरर्थक और हास्यास्पद बातोंसे भरा है। उदाहरणार्थ आत्माको आपने अखंड सिद्ध किया है। यह तो मैं भी मानता हूँ परन्तु इससे सर्वज्ञताका क्या सम्बन्ध? आत्माको एक अखंड द्रव्य सिद्ध करनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि वह सर्वज्ञ है।

"सर्वज्ञताका आधार ज्ञानीका अस्तित्व है" आपका यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानीसे 'ज्ञ' सिद्ध होता है, न कि सर्वज्ञ।

आगे चलकर आपने इस बातके प्रमाण उद्धृत किये हैं कि दूसरे धर्मोंने भी सर्वज्ञ माना है। सो माना होगा। इससे हमें क्या? ईश्वरको जगत्कर्ता मानने वाले धर्म क्या थोड़े हैं? परन्तु इसीलिये कोई तार्किक जगत्कर्ता ईश्वर न मान लेगा। और फिर आपके उद्धरण भी इतने पक्षपात दंभ और नासमझीसे भरे हुए हैं कि देखकर आश्चर्य खेद और घृणा पैदा होती है। जिस बातकी आप वर्णमाला भी नहीं समझे हैं उस बातकी लम्बी लम्बी बातें आपने लिख मारी हैं। एक विद्वान तो क्या परन्तु रद्दीसे रद्दी अर्धदग्ध भी ऐसी बातें लिखने का दुःसाहस न कर सकेगा।

बौद्ध दर्शनके विषयमें कुछ न समझकर के भी आपने वे ही बातें लिखमारी हैं जिनका मैंने सयुक्तिक तथा विस्तार से खूब खंडन किया है। खेद

* इसके विरोधमें अगर दार्शनिक सूक्ष्मविवेचना कीजाय तथा बौद्ध दर्शनके "विजानाति न विज्ञानमेकमर्थद्वय यथा। एकमर्थं विजानाति न विज्ञानद्वयं तथा" इस नियमके अनुसार वर्तमान विज्ञानकी सहायतासे विवेचन किया जाय तो लेनेके देने पड़ जाँयगे। परन्तु पाठकोंको वह चर्चा बहुत कठिन जायगी तथा उसके बिनाभी यहाँ अच्छी तरह खंडन किया गया है इसलिये उसे छोड़ दिया है।

*—जैनजगत ९-१० पृ० १५

है कि आप उनका उत्तर तो नहीं दे पाये किन्तु वे ही बातें फिर लिख मारी है कि बुद्ध महावीरको सर्वज्ञ मानते थे आदि। यह बात मैं लिख चुका हूँ कि इनबातोंमें जैनियोंके वक्तव्यको बुद्धका वक्तव्य बताकर तथा बुद्धने इन बातोका जो खण्डन किया उसे छुपाकर पाठकोंकी आँखोमें दिनदहाड़े धूल झोंकी गई है।

एक जगह आप लिखते हैं—"गौतमने अवश्य किसी सर्वज्ञको खुद देखा होगा जिससे इतना न हिलनेवाला अचल श्रद्धान उसको प्राप्त हुआ"। परन्तु क्या आपने भी कोई सर्वज्ञ देख लिया है, जिससे आपको न हिलनेवाला अचल अन्धविश्वास प्राप्त हुआ है? जब बिना सर्वज्ञ देखे आप इतने विश्वासु हो सकते हैं तब इसके लिये बुद्धको सर्वज्ञ देखने की क्या जरूरत थी? और इस बातसे तो आपको क्या मतलब कि तार्किकोंके अनुसार भी सर्वज्ञता देखनेकी चीज नहीं है? आदमीको देखकर भी उसकी सर्वज्ञताका प्रत्यक्ष सर्वज्ञ ही करसकता है। इस लिये मानना चाहिये कि या तो बुद्ध सर्वज्ञ थे, या उनने सर्वज्ञ नहीं देखा था।

धर्मकीर्तिका उदाहरण देकर तो आपने गजब ही किया है। मुझे यह बात फिर लिखना पड़ती है कि जिस विषयको आप जराभी नहीं समझते उस विषयमें टाँग क्यों अड़ाते हैं? बिच्छूका भी मंत्र न जानकर साँपके बिलमें हाथ क्यों डालते हैं? आपका कहना है "न्यायबिन्दु नामक ग्रंथमें पहिले और अंतिम तीर्थंकर ऋषभदेवजी और महावीर स्वामी का जो उल्लेख किया है वह भी कुछ कम आश्चर्यजनक नहीं है। वह लिखते हैं कि जो सर्वज्ञ होता है वह ज्योतिष आदि विद्याओंको सिखाता है जैसा कि ऋषभदेव और वर्द्धमान महावीरने किया। धर्मकीर्तिने अपने धर्मसंस्थापकका नहीं बल्कि दो जैन तीर्थंकरोंका एक न्यायशास्त्रके नियमको दर्शानेके लिये उल्लेख किया, अवश्य ही एक महान् आश्चर्यकी बात है, किन्तु सम्भवतः इसका कारण यह है कि गौतम बुद्धको जो कोई सर्वज्ञ कह दिया करते थे उस बातको उन्होंने स्वयं अस्वीकार कर दिया था।"

थोड़ीसी बुद्धिसे काम लिया होता तो इसप्रकार हास्यास्पद अज्ञताका प्रदर्शन आपको न करना पड़ा होता। धर्मकीर्तिने ऋषभ और महावीरका नाम प्रशंसाके लिये नहीं किन्तु निंदाके लिये लिया है। धर्मकीर्ति यहाँ दृष्टान्ताभास अर्थात् असत्य-दृष्टान्तोंका वर्णन कर रहे हैं। उनका भाव यह है कि सर्वज्ञके दृष्टान्तमें ऋषभ और महावीरका नाम लेना दृष्टान्ताभास अर्थात् असत्य दृष्टान्त है। सर्वज्ञके लिये ऋषभ और महावीरको दृष्टान्ताभास बताकर धर्मकीर्तिने ऋषभ और महावीरकी सर्वज्ञता पर हमला किया है, जिसको कि आप समर्थन समझ रहे हैं और बड़े बड़े मनसूबे बाँध रहे हैं। शायद आप दृष्टान्त और दृष्टान्ताभासका अर्थ ही नहीं समझते। अगर मैं कहूँ कि "सर्वज्ञ होता है, यह कहना ठीक नहीं"—मेरे इस वक्तव्यमें से 'ठीक नहीं' यह वाक्य निकालकर 'सर्वज्ञ होता है' इतनी बातको कोई उद्धृत करता फिरे, ऐसा ही यह उद्धरण है। अगर आप न्यायशास्त्र नहीं समझते तो कमसे कम सामान्य बुद्धि तो होगी, उसीके भरोसे जरा आगे पीछे नजर डाल लेते कि इस प्रकरणमें उनने सिर्फ ऋषभ और महावीरका ही नाम नहीं लिया है किन्तु कपिल (सांख्यप्रणेता), गौतम (न्यायदर्शन प्रणेता) का भी नाम लिया है। इसका कारण क्या है कि बौद्ध दर्शनका प्रखर आचार्य धर्मकीर्ति जिस जगह कपिल, गौतम, ऋषभ, महावीरका नाम लेता है, बुद्धका नाम नहीं लेता! इससे साधारण बुद्धिवाला भी समझ सकता है कि यह उन लोगोंकी लिस्ट है जिनकी धर्मकीर्तिको निन्दा करना है। बुद्धकी निन्दा अभीष्ट नहीं है इसलिये उनका नाम नहीं लिया गया।

जैनाचार्योंने भी इसी प्रकार दृष्टान्ताभासोंके प्रकरणमें बुद्धका * नाम बार बार लिया है और

---

* प्रमाण नय तत्त्वालोक प० ६ सूत्र ७४-७५-७६ आदि।

कपिल वगैरहका नाम भी लिया है जब कि महावीर आदिका नाम नहीं लिया बैरिस्टर साहिबकी बुद्धि अगर यहाँ काम करने लगे तो वह यही कहेगी कि "न्याय शास्त्रके सिद्धान्तको समर्थन करनेके लिये जैनाचार्य अगर बुद्धका नाम लेते हैं और महावीर का नाम नहीं लेते तो यह महान आश्चर्यकी बात है। संभवतः इसका कारण यही है कि जैनाचार्य महावीर को सर्वज्ञ नहीं मानते।"

नासमझीका उदाहरण यह एक ही नहीं है किन्तु आपकी यह आदत जगह जगह दिखलाई देती है। किसी बातको पढ़कर आप इतने हर्षोन्मत्त होजाते हैं कि विवेक चिन्तन और सामान्य बुद्धि भी खो बैठते हैं। इसीलिये आपके उद्धरणोंका जरा भी मूल्य नहीं है। यहाँ तक कि उनमें प्रामाणिकता भी नहीं है।

आपकी खींचातानी भी बड़ी विचित्र होती है। इंजीलमें कहीं लिखा होगा कि 'तुम रोशनी हो' बस इस वाक्यमें आपको सर्वज्ञ दिखाई देने लगा। क्योंकि रोशनी अर्थात् ज्ञानमूर्त्ति और ज्ञानमूर्त्ति अर्थात् सर्वज्ञ। ऐसी रद्दी बातोंकी क्या आलोचना की जाय? एक बन्दरने कहा कि देखो मैं आमके वृक्षमें इमली बता सकता हूँ। यह कहकर झट आमके वृक्षसे इमलीपर कूद गया और इमली तोड़कर बतादी। बस, इसीतरह आप रोशनीसे ज्ञानपर और ज्ञानसे सर्वज्ञ पर कूद जाते हैं। यह सोचनेकी तकलीफ ही नहीं करते कि ज्ञानी होनेसे ही कोई सर्वज्ञ नहीं होजाता।

इसप्रकारके निरर्गल प्रलाप इस बातकी निशानी हैं कि सर्वज्ञताकी बीमारी सन्निपातका रूप धारण कर गई है।

सत्य के सेवक से।

[रचयिताः—श्रीयुत कुँ० पँ० डाँगी सूर्य्यभानुजीजैन 'भास्कर']

सत्य के सेवक बढ़ते चल ; ॥ ध्रु० ॥
तेरे चरण चिन्ह शिव-सुख-मय,
जीवन पर अंकित कर निर्भय।
विजय-श्री पावेगा निश्चय;
उर अम्बर में हो अरुणोदय ॥
विफल न खोना पल,
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥१॥

बाधाएँ बढ़ बढ़ कर आएँ,
नूतन नूतन रंग बनाएँ।
क्यों हम दुर्बलता दिखलाएँ;
उनकी शक्ति कुचलते जाएँ।
हों न कभी चंचल;
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥२॥

सत्य ही है तेरा आधार,
इसीसे होगा बेड़ा पार।
विरोधी दल का हाहाकार;
समझना तू अपना सत्कार ॥
प्रण से तनिक न टल;
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥३॥

आखिर एक समय आवेगा;
पूर्ण सफलता तू पावेगा।
सबके संकट विसरावेगा।
जग तेरी महिमा गावेगा।
अतुल मिलेगा बल;
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥४॥

सिद्ध, बुद्ध, ज़रथुस्त, राम को,
गुरु गोविन्द जिनेंद्र श्याम को।
महमद पैगंबर इस्लाम को,
ईसा के पावन पैग़ाम को ॥
करना खूब अमल
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥५॥

दम्भ अहंत्व न लाना प्यारे,
इन्हें सर्वथा रखना न्यारे।
जीवन के हैं शत्रु हमारे
नष्ट करेंगे प्रयत्न सारे ॥
"सूरजभान" सँभल,
सत्य के सेवक बढ़ते चल ॥६॥

साम्प्रदायिकताका दिग्दर्शन।

[१७]

लेखक-श्रीमान् पं० सुखलालजी।

(अनुवादक-पं० जगदीशचन्द्रजी ऐम० ए०)

२—बौद्ध दर्शन सांख्यदर्शनकी तरह स्वल्प साहित्यमें जीवित नहीं है, बल्कि बौद्ध दर्शनका साहित्य और इसके अनुयायियोंकी परम्परा अखंड और विशाल है। बौद्ध दर्शनके प्रस्थापक गौतमबुद्ध का जन्म ईसवी सन् से ६०० वर्ष पहिले कपिलवस्तुके रहने वाले शुद्धोदनके घर हुआ था। बुद्धने घर छोड़कर त्याग स्वीकार किया, भिन्न भिन्न गुरुओंकी उपासनाकी और अन्तमें सब गुरुओंको छोड़ कर स्वतन्त्र रूपसे विचार करनेसे बुद्धको ज्ञानकी प्राप्ति हुई। ज्ञान प्राप्त करनेके पहिले बुद्धकी तपस्या और गुरुओंकी उपासनाका वर्णन बौद्ध साहित्यमें मिलता * है। बुद्धने आलारकालाम और उद्दकरामपुत्तके पास जाकर योगमार्गकी शिक्षा ग्रहण की। स्वयं बुद्धने उस समयकी प्रचलित अनेक प्रकारकी तपस्याओंका वर्णन किया है। इस वर्णन में बुद्धने स्वयं जैन परम्परामें दीक्षा लेनेका किसी भी स्थल पर स्पष्ट रूपसे वर्णन नहीं किया। हाँ, इस वर्णनसे यह मालूम होता है कि बुद्धकी तपस्या और आचारोंमें बहुतसी तपस्यायें और बहुतसे आचार जैनोंके ‡ रहे हों। स्वयं बुद्ध भगवान जैन परम्परामें अपना दीक्षित होना नहीं कहते। परन्तु बुद्धके लगभग पन्द्रह सौ बरस बादके एक जैन साम्प्रदायिक ग्रंथमें गौतमबुद्धके, जैनोंके तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथकी परम्परामें, दीक्षित होनेका थोड़ासा वर्णन पाया जाता है। यहाँ ग्रन्थकार गौतमबुद्धका जैन दीक्षा छोड़कर नवीन मतके प्रवर्तक रूपसे साम्प्रदायिक कटाक्षकी भावनासे ※ वर्णन करते हैं।

जैन आचार्योंकी तरह वैदिक विद्वानोंने भी तथागत गौतम बुद्धको वैदिक परम्पराके विरुद्ध क्रान्तिकारी विचारोंके कारण नास्तिक कहा † है। तथा जिसप्रकार जैनआचार्योंने अपने सर्वसंग्राहक नयवादमें गौतमबुद्धके क्षणिकवादका एक नयरूपमें समावेश करके बौद्ध दर्शनका समन्वय ‡ किया है, उसीतरह एकबार बुद्ध भगवानको धर्मातिक्रमी और प्रजाद्वेषी कहकर समर्थ वैदिक विद्वानोंके वंशजोंने बुद्धके आचार विचारकी लोकप्रियता बढ़नेपर अपने सर्वसंग्राहक अवतारवादमें बुद्धको स्थान दिया, और विष्णुके अवताररूपमें बुद्ध निन्दा-स्तुतिकी § है।

३—साधारण जनताकी बात तो एक ओर रही, परन्तु विशिष्ट विद्वान् भी भारतीय दर्शनका इतिहास लिखते समय आजीवक दर्शनका स्मरण नहीं करते। यह आजीवक दर्शन कभी हिन्दुस्तानमें बहुत प्रसिद्ध और विस्तृत रूपमें मौजूद था। यह आजीवक दर्शन आज अपनेमेंसे निकले हुए बहुतसे छोटे सम्प्रदायोंके नाम और देश-कालके अनुसार बदले हुए आचार-विचारमें नाम और स्वरूपसे बिलकुल नष्ट होगया है। प्रोफेसर होर्नलने वराहमिहिरके बृहज्जातकके ऊपरसे ईसवी सनकी छठी शताब्दि तक इस दर्शनके स्वतन्त्र आचार्योंके होने का अनुमान किया ✱ है। साहित्यके क्षेत्रमें आजीवक साहित्यका कोई भी नामशेष नहीं है। जैन.

---

* देखो पुरातत्त्व, पुस्तक दूसरी पृ० २४९—२५७ बुद्धचरित्र लेखमाला।

‡ तुलना करो मज्झिम निकायके महासिंहनाद सूत्रके २१वें पैरेग्राफ़के साथ दशवैकालिकका तीसरा और पाँचवाँ अध्ययन।

※ देखो परिशिष्ट नं० २।

† देखो इस लेखमालाका पहला लेख।

‡ जं काविलं दरिसणं एयं दव्वट्ठिअस्स वत्तव्वं।
सुद्धो अण तणयस्स उ परिसुद्धो पज्जव विगप्पो ॥४८॥
सन्मतितर्क मूल तृतीय कांड।

§ निन्दसि यज्ञविधेरहह श्रुतिजातं सदयहृदय दर्शित पशुघातम्
केशवधृत बुद्ध शरीर। जय जगदीश हरे ॥६॥
—गीत गोविंद।

✱ देखो होर्नलका "आजीवक" पर निबंध।

बौद्ध और वैदिक ग्रंथोंमें आजीवक मत, उसके मन्तव्य और उसके प्रवर्तकोंके महत्वपूर्ण उल्लेख * मिलते हैं। वैदिक ग्रथोंकी अपेक्षा जैन और बौद्ध ग्रंथोंमें ये उल्लेख अधिक प्रमाणमें पाये जाते हैं। पीछेके टीका ग्रंथोंको छोड़कर जैनोंके मूल आगम और बौद्धोंके पिटक ग्रंथों तकमें आजीवकमत का वर्णन मिलता है। आजीवक पंथके नंदवच्छ, किससंकिच, और मक्खलि इन तीन नायकोंका निर्देश बौद्ध वाङ्मयमें मिलता है। इन नायकोंमें मक्खलि का नाम बुद्ध भगवानके समकालीन छह महान प्रतिस्पर्धियोंमेंसे एक प्रतिस्पर्धीके रूपमें आता ‡ है।

इसी मक्खलिको जैनग्रंथोंमें मंखलि गोशाल कहा गया है। यह गोशाल दीर्घतपस्वी भगवान महावीरकी तपस्याके समय छह वर्ष तक महावीरके साथ रहा। पहले भगवान महावीरके शिष्य रूपमें, बादमें आजीवक पंथके नेता और भगवान महावीरके कट्टर प्रतिस्पर्धीके रूपमें जैन आगम भगवतीमें गोशालकका वर्णन मिलता है। जैन आगमोंमें § गोशालक और महावीरके अनुयायियोंके बीचमें होने वाले संघर्षण, मतपरिवर्तन और इन मूल प्रवर्तकोंके बीचमें होने वाली चर्चाका वर्णन मिलता है। आजीवक पंथके साहित्य और उसकी स्वतंत्र शिष्यपरम्पराके संपूर्ण नाश होने परभी इस पंथ और इसके प्रवर्तक आचार्योंके विषयमें थोड़े बहुत विश्वसनीय उल्लेख जैन-बौद्ध ग्रंथोंमें मिलते हैं। इस पंथके प्रवर्तक मक्खलि गोशालके जीवनसम्बन्धी विस्तृत उल्लेख केवल जैनग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। इन उल्लेखोंमें ऐतिहासिक तथ्यकी बहुत सम्भावना होने परभी पीछेके जैनग्रन्थोंमें इनमें साम्प्रदायिकताका गहरा और विस्तृत असर मालूम होता है।

४–वैशेषिक दर्शन छह वैदिकदर्शनोंमें * से है। आज वैशेषिक दर्शनकी परम्परा केवल विचार और साहित्यमें है और उसके मामूली न होने पर भी उसके स्वतंत्र आचार्योंकी परम्परा कभीकी दूसरे नये उद्भूत संप्रदायोंके रूपमें समाकर नामशेष होगई है। परन्तु एक समय। इस दर्शनके प्रचारक आचार्योंका विचार और आचारमें स्वतंत्र स्थान था। वैशेषिक दर्शनका दूसरा नाम पाशुपत अथवा शैव दर्शन भी है ‡।

आज कल इस दर्शनके मूलसूत्र कणादसूत्रके नामसे उपलब्ध हैं। इन सूत्रोंको दशाध्यायी भी कहते हैं। इनके ऊपर अनेक भाष्य, टीका, विवरण आदि

* इन सब ग्रन्थोंकी सविस्तर सूचि प्रो० होर्नलके आजीवक नामक निबंध में हैं—देखो इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजियन एँड इथिक्स वाल्युम १ पृ० २५९।

‡ देखो दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्त और उसका मराठी अनुवाद (प्रो० राजवाडे कृत) परिशिष्ट पृ० ९०।

§ देखो सूत्रकृतांग दूसरा श्रुतस्कंध आर्द्रकीय अध्ययन उपासक दशांग सद्दाल पुत्राधिकार भगवती शतक १५।

* न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा ये ६ वैदिक दर्शन हैं।

‡ "इस दर्शनका दूसरा नाम 'पाशुपत' या 'कणाद' दर्शन भी है। इस दर्शनके मानने वाले साधुओंका वेष और आचार नैयायिक मती साधुओंके समान है।

नैयायिक मती साधुओंका वेष और आचार निम्न प्रकार है। ये साधु दंड रखते हैं, बड़ी लँगोटी पहिनते हैं। शरीर पर कम्बल ओढ़ते हैं, जटा बढ़ाते हैं, शरीरमें राख लगाते हैं, जनेऊ पहिनते हैं, जलपात्र –कमंडल रखते हैं, रसके बिना भोजन लेते हैं, अधिकतर वनमें निवास करते हैं, हाथमें तुंबड़ा रखते हैं, कंदमूल, फलके ऊपर रहते हैं और अतिथिसत्कार करते हैं। ये साधु दो प्रकारके होते हैं, एक स्त्रीरहित और दूसरे स्त्रीसहित। स्त्रीरहित साधु उत्तम समझे जाते हैं। ब्रह्मचारी लोग पंचाग्नि तप करते हैं और जब ये संयमकी पराकाष्ठा पर पहुँचते हैं, उस समय नग्न रहते हैं। उन्हें नमस्कार करनेवाले 'ओं नमः शिवाय' बोलते हैं और साधु लोग नमस्कार करने वालोंको 'नमः शिवाय' कहते हैं।" इत्यादि।

देखो जैनदर्शन गुजराती अनुवाद (पं० बेचरदास) की प्रस्तावना पृ० ६६

§ देखो गुणरत्नकी टीका पृ० १०७ तथा माधवाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह पृ० २१०

ग्रन्थ लिखे गये हैं। इन सूत्रोंमें से अन्य सम्पूर्ण भारतीय दर्शनोंके ऊपर थोड़ा बहुत प्रकाश डालने वाले विपुल साहित्यने जन्म लिया है। वह साहित्य आज भी जीवित है। इन महत्वपूर्ण वैशेषिक सूत्रों के रचने वाले काश्यप गोत्रीय कणाद थे। ये कणाद वैशेषिक दर्शनके आद्य प्रवर्तक हैं। कणाद ऋषिका दूसरा नाम औलुक्य है, इसलिये वैशेषिक दर्शन औलुक्य दर्शन भी कहा जाता है। इस दर्शनकी उत्पत्तिके विषयमें बौद्धग्रंथोंमें कुछ देखनेमें नहीं आया है, परन्तु वैदिक पुराणोंमें कणाद ऋषिके विषयमें कुछ उल्लेख मिलते हैं। वायुपुराण * आदि पुराणोंमें कणादको उलूकका पुत्र कहा गया है। राजशेखर † का कहना है कि महेश्वरने उलूक (उल्लूक) का रूप धारण करके इस तपस्वी कणादको छः पदार्थोंका उपदेश दिया। इसके ऊपरसे कणाद ऋषिने वैशेषिक दर्शन बनाया और वह औलुक्य दर्शन के रूपमें प्रसिद्ध हुआ। कणादका दशाध्यायी प्रमाण यह सूत्र ग्रन्थ ई० स० के प्रारम्भके पहिलेका मालूम होता § है।

साहित्यकी तत्कालीन समग्र शाखाओंमें प्रामाणिक प्रकांड हेमचन्द्र अपने अभिधान चिन्तामणि कोषमें वैशेषिक और औलुक्य दो नामोंको समानार्थ रूपमें कहकर अपनी स्वोपज्ञ टीकामें औलुक्य नामका खुलासा करते हुए वैदिक पुराणोंकी आख्यायिकाका कुछ अनुसरण करके लिखते हैं, कि उलूक वेषधारी महेश्वरने जो दर्शन बनाया, वही दर्शन औलुक्य अथवा वैशेषिक ‡ दर्शन है।

परंतु जैन ग्रन्थोंमें औलुक्य दर्शनका जैनदर्शनमें से निकलनेका वर्णन मिलता है। जैनग्रंथोंमें जो सात निह्नवों * (जैन मत छोड़कर जैनमतका अपलाप करके अलग मन्तव्य स्थापित करना) का वर्णन है उसमें छठे निह्नव रूप व्यक्तिसे औलुक्य दर्शन निकलनेका मनोरंजक उल्लेख मिलता है। इस छठे निह्नव होनेका और उससे औलुक्य दर्शनके निकलनेका समय जैन उल्लेखोंके अनुसार विक्रमकी पहिली शताब्दि § आता है।

सांख्यदर्शनकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें जैनग्रन्थोंमें सबसे प्राचीन वर्णन आवश्यक निर्युक्तिमें मिलता है। इसका सार परिशिष्ट नं० १ में दिया गया है। निर्युक्तिके इस उल्लेखका आलंकारिक रूप देकर आचार्य हेमचन्द्रने अपने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थमें विस्तारसहित वर्णन किया है। दिगम्बर ग्रन्थोंमें यह वर्णन प्राचीनसे प्राचीन आदिपुराणमें देखनेमें आता है। उसमें श्वेताम्बर ग्रन्थों की अपेक्षा थोड़ा फेर है, और वह यह है कि श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें कपिलको मरीचिका शिष्य कहा गया है और वहाँ कपिलके द्वारा सांख्यमतके फैलाये जानेका उल्लेख है। परन्तु आदिपुराणमें मरीचिके द्वारा ही त्रिदंडी मार्गके निकलनेका वर्णन है और यहाँ कपिलको मरीचिका शिष्य नहीं कहा गया है (हिन्दी अनुवाद पृ० ६३७)।

विक्रमकी दसवीं सदीके दिगम्बर आचार्य देवसेन अपने दर्शनसारमें बौद्धमतकी उत्पत्तिका वर्णन देते हैं। यह वर्णन अथवा इससे मिलता जुलता वर्णन दूसरे किसी ग्रन्थमें आजतक देखनेमें नहीं आया। इस ग्रन्थके वर्णनका संक्षिप्त सार परिशिष्ट नं० २ में दिया गया है।

आजीवक मत और उसके नायक गोशालक का वर्णन भगवती, उपासकदशा, आवश्यक वृत्ति आदि ग्रन्थोंमें मिलता है। इसका संग्रह आचार्य

---

* वायुपुराण पूर्वखंड अ० २३ ब्रह्ममहेश्वर संवाद।

† पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद संपादित प्रशस्तपाद भाष्य का विज्ञापन पृ० ११-१७।

§ देखो हिंदतत्त्वज्ञाननो इतिहास भाग १ पृ० २२२।

‡ देखो अभिधानचिंतामणि कांड ३ श्लो० ५२६ की स्वोपज्ञटीका

* बहुरय पएस अव्वत्त समुच्छेद दुगतिग अबिया चेव। सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थम्मि उ वद्धमाणस्स ॥७७८।
आवश्यकवृत्ति पृ० ३११-३१८।

§ आवश्यकगाथा ७८२ पृ० ३१२।

हेमचन्दने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' के दशवें पर्वमें किया है। यह संग्रह बहुत विस्तृत है, और उसमें अनेक जगह अश्लील जैसा वर्णन भी पाया जाता है। यहाँ इस वर्णनमेंसे अश्लीलता निकाल कर संक्षिप्तसार परिशिष्ट नं० ३ में दिया गया है।

वैशेषिक दर्शनकी उत्पत्तिकी कथा सबसे पहले आवश्यक निर्युक्ति (गा० ७८०) में मिलती है। इस वर्णनका विस्तार उसकी आवश्यक वृत्ति और विशेषावश्यक भाष्यमें किया गया है। यहाँ विशेषावश्यकभाष्यके इस भागका सार परिशिष्ट नं० ४ में दिया गया है। त्रैराशिक स्थापनामेंसे वैशेषिक मत के प्रवर्तक रोहगुप्तके सम्बन्धमें दो परम्परायें मिलती हैं। एक परम्पराके अनुसार ये आर्यस्थूलिभद्र के शिष्य आर्यमहागिरिके शिष्य होते हैं, और दूसरी परम्पराके अनुसार ये श्रीगुप्त नामके आचार्य के शिष्य होते हैं। ये दोनों परम्परायें उपाध्याय विनय विजयजीने अपनी सुबोधिका नामकी कल्पसूत्रकी टीकामें लिखी हैं—अष्टम व्याख्यान पृ-१६५
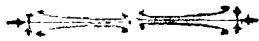
सत्य भगवान्।

धन्य ! तुम पूज्य सत्य भगवान् !
सत्यसूर्य-किरणें चमकाकर, करो विश्वकल्याण ॥१॥
हो जाते हैं जो भूले भटके प्राणी, निष्प्राण।
उन्हें पिलाकर सत्यामृत, देते हो जीवनदान ॥२॥
सब धर्मोंमें छिपे हुए तुम बसते हो, भगवान।
सर्व-धर्म-समभावी ही का करते हो उत्थान ॥३॥
मंदिर, मसजिद, गिरजाघर हैं तुमको एक समान।
जाते हो तुम वहाँ, जहाँ भी मिलता है सम्मान ॥४॥
सत्यभक्तका होता है जब सत्यहेतु बलिदान।
मुखपर लादेते हो उसके एक मधुर मुसकान ॥५॥
जहाँ धर्मकी ओलटमें होते हैं पाप महान।
वहाँ तुम्हारा ढूँढ़ेसे भी मिलता नहीं निशान ॥६॥
फाँसी खाकर खुशी खुशी, मनसूर हुआ निष्प्राण।
किन्तु न छोड़ी सत्यभक्तनें 'अनअलहक़' की* तान ॥७॥
सत्य-हेतु ही प्रभु ईसाने खोये अपने प्राण।
†साक्रटीजने हँसते हँसते, किया विषम विषपान ॥८॥
सदा तिरस्कृत हुआ मुहम्मद सत्यभक्त गुणवान।
किंतु न विचलित हुआ, रहा वह अचल सुमेरुसमान ॥९॥
सत्योद्धारक महावीर ने तज ऐश्वर्य महान।
जैनधर्म-प्रतिभा चमकाई, किया विश्वकल्याण १० ॥
सत्यहेतु श्री श्रमण बुद्धने किया घोर तप ध्यान।
बुद्धधर्मकी नींव डालकर दिया सुफल-प्रद ज्ञान ॥ ११
सत्येच्छासे किया ‡ऋषी ने आर्यधर्म-निर्माण।
धर्म-रूढ़िका भेद सुझाया, किया जाति-उत्थान ॥१२॥
पैगम्बर तीर्थङ्कर गणधर, ऋषि, मुनि, साधु महान।
सब थे सच्चे सत्य-उपासक, सत्यमूर्ति गुणवान ॥१३॥
'धर्म' मानकर जब पुजता था, हा ! मिथ्यात्व महान।
तुम ही तो बनकर आए थे महावीर गुणवान ॥१४॥
बहिष्कारसे ही होता था जब सुधार सम्मान।
तुमने भेजे दयानन्दसे कर्मवीर बलवान ॥ १५ ॥
अद्वितीय है अब भी तो भगवान ! तुम्हारा दान।
भेजा है तुमने गाँधी सा, परम अहिंसावान ॥ १६ ॥
जैनजाति पर भी तुमने, है किया अतुल अहसान।
देकर उसको 'दरबारी' सा अद्वितीय विद्वान ॥ १७ ॥
सत्य-सुधा बरसाते आओ, आओ ! हे भगवान।
अंधकारको दूर भगाकर, हरो जगत् अज्ञान ॥ १८ ॥
मुझको भी सन्मार्ग दिखाओ, हे मेरे भगवान।
बस कर मेरे हृदय-कमलमें, हो जिससे कल्याण ॥
नहीं मैं भूलूँगा अहसान, ॥ १९ ॥

—रघुवीर शरण जैन "वीर"

---
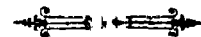
* 'अहम् ब्रह्म' (मैं ब्रह्म हूँ)

†Socrates "जगत् अनादि है" साक्रटीज़की इस घोषणापर उसके विरोधियोंने उसे विषका प्याला पीनेका दंड दिया था, जिसको उस वीरवरने सहर्ष पूरा किया किन्तु अपने सिद्धान्तसे नहीं डिगा।

‡ महर्षि दयानन्दजी।

सत्यसमाज व्याख्यानमाला।

विषय—प्राचीनताकी बीमारी।

उक्त व्याख्यानमालाका १९ वाँ व्याख्यान हीराबागके व्याख्यानमंदिरमें ता० १०-२-३५ को रक्खा गया था, जिसमें उपर्युक्त विषय पर मेरा व्याख्यान हुआ था। इसके बाद वयोवृद्ध बाबू अजित प्रसाद जी ऐम० ए० ऐलऐल० बी०, वकील लखनऊने कुछ कहा था। आपका वक्तव्य जिज्ञासापूर्ण शंकाओं के रूपमें था। बादमें पंडित दरबारीलालजीने बड़ी योग्यतासे समाधान किया था, जिसमें वकील साहिबके वक्तव्यका अमुक अंशमें समन्वय करते हुए प्राचीनताकी बीमारीका रोचक ढंगसे वर्णन किया गया था। मेरे व्याख्यानका सार यह है:—

"इस विषयमें किसीको विवाद नहीं है कि इस समय हमारे देशकी दशा बहुत ही शोचनीय है। उसका स्वास्थ्य बहुत ही खराब है। वह तरह तरह की बीमारीयोंसे ग्रस्त हो रहा है। बीमारियाँ दो तरहकी होती हैं–शारीरिक और मानसिक। इनमेंसे मानसिक बीमारियाँ अधिक जटिल, दुर्बोध्य और सांघातिक होती हैं। प्राचीनताकी बीमारी भी एक मानसिक बीमारी है, जिससे भारतकी सोचने विचारने की शक्तिको लक़वा मार गया है। यह बीमारी बहुत पुरानी है। इस समय इसका प्रकोप प्रधानतया पूर्वीय देशोंमें है, जिनमें भारत सबसे प्रधान है। पाश्चात्य देशोंमें भी किसी समय था और अल्प स्वल्प अब भी है, परन्तु वहाँका प्रधान जनसमुदाय उससे मुक्त हो गया है और इस कारण उससे कोई खतरा नहीं रहा है। इस बीमारीसे सदसद्विवेक बुद्धि–अच्छे बुरेकी जाँच करनेवाली अक़ल—मारी जाती है। वह समझने लगता है कि प्राचीनता ही समीचीनता या अच्छेपनकी दलील है और प्राचीनतासे बढ़कर कोई अच्छाई नहीं है। जो विचार—जो रीतिरिवाज–जो सामाजिक धार्मिक व्यवस्थायें–प्राचीन होती हैं, उन सभीको वह अच्छी समझता है और इसलिए वह प्रयत्नशील रहता है कि अपनी सभी वर्तमान व्यवस्थायें प्राचीन सिद्ध हो जायँ। उसकी तमाम ऐतिहासिक खोजें इसी एक दृष्टिबिन्दुपर केन्द्रित रहती हैं। नवीनताके नाम से वह चिढ़ता है, भड़कता है और किसी भी अच्छी से अच्छी नवीन बातको केवल नवीन होनेके कारण वह ग्रहण नहीं कर सकता। जिस तरह पित्तप्रकोप वाला रोगी स्वादिष्टसे स्वादिष्ट और पथ्यसे पथ्य चीज़को पचा नहीं सकता, क़ै कर देता है, उसी तरह इस बीमारीसे ग्रसित रोगी प्रत्येक कल्याणकारी सुपथ्य व्यवस्थाको दूर फेंक देता है।

वास्तवमें अच्छे बुरेकी कसौटी प्राचीनता और नवीनता नहीं है। प्राचीनताको मैं बुरा नहीं कहता और न यह कहता हूँ कि नवीनता ही अच्छाई है। प्राचीन बात अच्छी भी हो सकती है और बुरी भी। इसी तरह नवीनतामें भी अच्छाई और बुराई दोनों हो सकती हैं। प्राचीनप्रियतासे एक लाभ जरूर होता है कि उससे हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्षोंके प्रयत्नसे जिन सत्योंको निश्चित किया है और अपने जीवनमें ढाला है, उनकी रक्षा होती रहती है; परन्तु इससे हानि कहीं अधिक होती है। क्योंकि सत्यताओंके साथ हम पुरानी असत्यताओंसे भी चिपके रहते हैं और इससे हम आगे नहीं बढ़ सकते और सत्यशोधनके मार्गको रुद्ध कर देते हैं।

जैनधर्मके शब्दोंमें इस बीमारीका मूल कारण या निदान अनादि मिथ्यात्व अर्थात् परम्परासे चला आता हुआ अज्ञान है। इस अज्ञान, या विवेकशक्तिकी कमीसे सत्यकी जाँच नहीं की जासकती और जो थोड़ेसे लोग विवेचना करके सत्यके समीप पहुँच जाते हैं उन पर लोग विश्वास नहीं करसकते। मनुष्य अभ्यासका ग़ुलाम है। जिस रास्ते चलनेका उसे अभ्यास होजाता है उससे बाहर क़दम रखनेकी बात वह सोच ही नहीं सकता। उसे उसमें यहाँ तक खतरा दिखता है कि वह दूसरोंको भी उस मार्गसे जाने देना पसन्द नहीं करता। परन्तु साथ ही उसमें गता-

नुगतिकता भी हद दर्जेकी होती है। जब वह देखता है कि कुछ लोगोंने नया मार्ग पकड़ लिया है तो धीरे धीरे वह भी उसी पर जाने लगता है और कालान्तरमें उसका भी उसे अटल अभ्यास हो जाता है। ऐसा जान पड़ता है कि पुराणप्रियता मनुष्य का एक स्वभावसा है। इसके कारण वह किसी भी नई चीजको श्रद्धाकी दृष्टिसे नहीं देखता। कविकुल-गुरु कालिदास तकको संदेह था कि उनकी नई रचना पूर्ववर्त्ती रचनाओंके सामने पसन्द न की जायगी और इसलिए उन्हें लिखना पड़ा था कि -

पुराणमित्येव न साधुसर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यं।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरं भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

अर्थात् न सभी पुराना अच्छा होता है और न नया। समझदार लोग दोनोंकी परीक्षा करते हैं और जो परीक्षामें ठीक उतरता है उसको ग्रहण करते हैं। जो परप्रत्ययनेय बुद्धि हैं, अर्थात् गाँठकी अक्ल नहीं रखते, जिनकी बुद्धिको दूसरोंका विश्वास खींचकर चलाता है, वे मूर्ख हैं। मेरी समझ में मूर्खताकी इससे अच्छी व्याख्या और नहीं हो सकती। इस प्राचीनताकी बीमारीका मूल भी इसी पर प्रत्ययनेय बुद्धिमें है।

इस बीमारीके बीज हमारे देशके स्वभावमें इतने गहरे पैठ गये हैं कि उनका उन्मूलन होना एक तरहसे असंभवसा होगया है। दुनियाके महानसे महान् सुधारकोंने–भगवान महावीर बुद्ध आदिने— इनको नष्ट करनेका प्रयत्न किया, परन्तु ये नष्ट नहीं हुए। कुछ शताब्दियों तक ये दबे रहे और फिर उग आये। उक्त महावीर और बुद्ध आदिके अनुयायी कहलाने वालेही उनका सिंचन करने लगे और अपने प्रवर्तकोंकी इस शिक्षाको भूल गये कि युक्तिमद्वचन ही ग्रहण करने योग्य हैं—प्राचीनता और नवीनतासे युक्तियुक्तताका कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रकृतिने भारतवर्षको सब ओर से सुरक्षित बनाया था–एक तरफ़ वह अभेद्य पर्वतमालासे घिरा हुआ है और दूसरी ओर अपार जलराशिसे। यदि यह सुरक्षितता बनी रहती तो इस प्राचीनप्रियता के रहने पर भी हम एक तरहसे सुखी रहते और अपनी सुदूरव्यापी प्राचीनताके गीत गाते हुए अपने आपमें मस्त रहते। परन्तु सारी दुनिया तो हम जैसी नहीं थी, वह हमारी पर्वतमालाओंको भेद कर और समुद्रकी छातीको चीरकर भीतर घुसने लगी और धीरे धीरे उसने हमारे गलेमें गुलामीकी जंजीर डालदी। बहुत समय तक तो हमने अपनी प्राचीनप्रियताके कारण इस गुलामीको महसूसही नहीं किया परन्तु जब यह बेतरह खटकने लगी और हमारे मनुष्यत्वको ही कुचलने लगी, तब कहीं हम सोचनेको तैयार हुए हैं कि क्या करना चाहिये।

परन्तु इस 'क्या करना चाहिए' के सोचनेमें सबसे बड़ी बाधा है वही प्राचीनप्रियता। हम सोचते जरूर हैं परन्तु वह सोचना शुद्ध और सत्य-सोचना नहीं है, हम प्राचीनको ही सत्य समझते हैं और इसलिए असली सत्यसे दूर रहते हैं। और हममें से जो थोड़ेसे लोग वास्तविक सत्यको सोच सकते हैं उनकी बात हम सुनना नहीं चाहते, या सुनते है तो उसके अनुसार चलनेमें हमें भय होता है कि कहीं ऐसा करनेसे हमारी प्राचीनताकी अवहेलना न हो जाय।

हम ऐसे समयमें से गुजर रहे हैं जिसका हमारे प्राचीनसे कोई मेल नहीं है, और हमारा भारतसे बाहरके ऐसे लोगोंके साथ मुक़ाबला है जो जीवन-युद्ध कलामें सैकड़ों वर्षोंके अनुभवी और अतिशय पटु हैं और जिनका स्वास्थ्य इस प्राचीनता और इसके जैसी अन्यान्य बीमारियोंसे मुक्त है। तब यह आवश्यक है कि हमारा देश भी सब तरहसे स्वस्थ, बलवान् बुद्धि वैभवसम्पन्न और साहसी बने। इसके बिना हमारी रक्षा नहीं होसकती—जीवित जातियों में हमारी गणना नहीं हो सकती।

वर्तमान युग विज्ञानका है। विज्ञानके प्रसाद रेल, तार, बेतारके तार, फोनोग्राफ़, रेडियो, हवाई जहाज आदिका हम उपभोग तो करते हैं, परन्तु

विज्ञानकी खोजमें हम हाथ भी नहीं लगाते, और इसका एक कारण यह प्राचीनताकी बीमारी भी है। हमारे यहाँ के प्राचीनताके पुजारी कहते हैं कि हमारे वेदोंमे रेल, तार, हवाईजहाज, लोहेके कारखाने आदि सब कुछ लिखे हुए हैं, हमारे जैनग्रन्थोंमें शब्दसमूहको पुद्गल माना है, जिन शब्दोंको पकड़कर एडीसन साहबने फोनोग्राफ आदिका आविष्कार किया है ! बात यह है कि विदेशी लोग हमारे प्राचीन ग्रन्थोंको उठाकर ले गये और उनको पढ़पढ़ाकर ये सब करामातें दिखलाते हैं ! परन्तु कोई भला आदमी यह सोचकर लज्जाका अनुभव नहीं करता कि आखिर ये शास्त्र हमारे पास हजारों बरसों तक रहे और अब भी हैं, फिर हम लोग क्यों हाथ पर हाथ रक्खे बैठे रहे !

देशके वर्तमान राजनीतिक आन्दोलनकी गतिविधि की खबर रखनेवाले जानते हैं कि इस समय हमारी प्रगतिके मार्गमें सबसे अधिक बाधक धर्मों और जातियोंका वैमनस्य है। हिन्दू-मुसलमान, जैन अजैन, ब्राह्मण-अब्राह्मण, छूत-अछूत आदि द्वन्द्वोंके प्रश्न इतने जटिल है कि हम इनके होते हुए राजनीतिक क्षेत्रमे एक तरहसे कुछ कर ही नहीं सकते। प्रत्येक युग्म एक दूसरेका दुश्मन बना हुआ है और इसका मूल है वही प्राचीनप्रियता। इसके कारण पड़ोसमें रहते हुए भी हिन्दू, मुसलमानधर्म, मुस्लिम संस्कृति और उसकी अच्छाइयोंको नहीं जानते और न मुसलमान, हिन्दूधर्म, हिन्दूसंस्कृति और उसकी खूबियों को। यही क्यों, एकही धर्मकी शाखायें शिया-सुन्नी, दिगम्बर श्वेताम्बर, सनातनी-आर्यसमाजी परस्पर लड़ा करते हैं, एक दूसरेका सिर फोड़ा करते हैं।

संसारका कोई भी धर्म ऐसा नहीं है, जो अपने को सबसे प्राचीन सिद्ध न करता हो; सभी अपनेको अनादि बतलाते हैं। और प्राचीनता ही जब सत्यता है, तब भला एक धर्मका अनुयायी दूसरे धर्मको जाननेकी जरूरत क्यों समझने लगा ? और यह तो सोचताही कौन है कि सभी धर्म, कमसे कम अपने वर्तमान रूपमें, प्राचीन या अनादि नहीं हो सकते !

यूरोपका इतिहास इस बातका साक्षी है कि जब तक यह प्राचीनप्रियताकी बीमारी रही, तब तक वहाँ भी यही दशा रही, बल्कि इससे भी बुरी। वहाँ के लोगोंने तो अपने प्राचीन धर्मोंके नामसे लाखों करोड़ोंका खून बहाया है, जीते मनुष्योंको जलाया है, उनके धर्मको स्वीकार न करनेवालोंको नारकीय कष्ट दिये है, सैकड़ों वर्षों तक धार्मिक युद्ध किये हैं ! और इस दुर्दशाका अन्त तब हुआ जब वहाँ कारण-कार्यवादका जन्म और विकास हुआ, विज्ञान धर्म की जंजीरोंको तोड़कर स्वतंत्र हुआ और मनुष्यने अपनी सदसद्विवेक बुद्धिसे सोचना समझना प्रारंभ किया। इसके बादही वहाँकी राजनीतिक संस्थाओं का विकास हुआ, विज्ञानने आश्चर्यजनक आविष्कार किये और वहाँकी जातियोंने लगभग सारे संसारपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

इस बीमारीकी केवल एकही चिकित्सा है, और वह है सत्यप्रेम-सत्यकी उपासना। यह समझना कि जो सत्य है वही धर्म है - यह नहीं कि जो धर्म है, शास्त्र है, वही सत्य है। इसके बिना हम धर्म-शुद्धि नहीं रख सकते—

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमं।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सिना॥
केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीन विचारे तु धर्महानिः प्रजायते॥

अर्थात् धर्मशुद्धिकी अभिलाषा रखनेवालोंको चाहिए कि वे जो कुछ करें वह प्रत्यक्ष, अनुमान और विविधागम शास्त्रोंके द्वारा अच्छी तरह जाना हुआ करें। केवल शास्त्रोंका आश्रय लेकर किसी बातका निर्णय न कर लेना चाहिए। क्योंकि जो विचार-जो निर्णय-युक्तिहीन होते हैं, केवल इस दृष्टिसे किये जाते हैं कि शास्त्रोंमें लिखे हैं, इसलिए मान्य हैं—उनसे धर्मकी या सत्यकी हानि होती है।

सत्यसमाज इसी सत्यप्रेमके प्रचारके लिए है। प्रत्येक धर्ममें कुछ न कुछ अच्छाइयाँ हैं, सचाइयाँ

हैं, उन्हें जानकर हमें सर्वधर्मसमभावकी वृद्धि करनी चाहिए, और द्वेष या घृणा तो किसी भी धर्मसे न करना चाहिए।" —नाथूराम प्रेमी।

अंधश्रद्धा से।

मृतशान्तिधारिणी अब तेरे भक्तों पर संकट आया है।
निर्बल निर्बुद्ध समझ उनको विज्ञोंने आन दबाया है॥
तेरी मदिराके प्याले पर सारा जग 'थू थू' करता है।
जो पीते हैं, उन भक्तों पर भी अब धिक्कार बरसता है॥
वैज्ञानिक सज्जनों ने आकर चमत्कार दिखलाया है।
मृतशान्तिदायिनी अँधियारी रजनीमें सूर्य उगाया है।
इस सत्यसूर्यकी दीप्तप्रभा जब भक्तों पर पड़जाती है।
लगती है भारी चकाचौंध, मनमें कषाय आजाती है॥
इन आँखों से यह सत्य उजाला नहीं सहाजाता किंचित्।
किस भाँति सत्यका हो विनाश, बस इसीलिये हैं हम चिंतित।
हम भक्तजनोंके संकट पर क्यों जोश न तुझको आता है।
क्या सत्यदेवकी सूरतसे तेरा भी दिल घबराता है।
बलवान सुधारक सत्यभक्त तेरे पीछे हैं पड़े हुए।
यदि भला चाहती है तो रहना इन वीरों से बचे हुए॥
विज्ञान दुहाई देदेकर ये आगे बढ़ते आते हैं।
विज्ञान-शस्त्र को देख देख हम पीछे हटते जाते हैं॥
संसार तुझे ललकार रहा है उसको नाच नचाजा री।
आकर श्रीयुत 'दृढ़' जी को भी निष्कंटक मार्ग दिखाजा री॥

—"दृढ़"

सत्यसमाज प्रगति।

श्रीयुत पं० बुधमलजी पाटणी एक योग्य विद्वान तथा साहसी सुधारक हैं। आपने इसमार्गमें १४ वर्ष पहिलेही क़दम बढ़ाया था। इसके लिये आपके ऊपर बड़ी बड़ी विपदाएँ आई किन्तु आपने उन्हें बहुत वीरता और दृढ़तासे सहा। अब आप सपत्नीक सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्य बने हैं। ऐसे साहसी सज्जनोंके लिये तो सत्यसमाजकी विशेष उपयोगिता है। सत्यसमाज उनका सहर्ष स्वागत करता है।

(४६) बुधमलजी पाटणी। पिताका नाम धन्नालालजी। उम्र ४६ वर्ष। नैष्ठिक शाखा। जन्मसे खंडेलवाल दिगम्बर जैन। पता, घर नं १४ जूनापीठा इन्दौर।

(४७) सुन्दर बाईजी। पतिका नाम बुधमलजी पाटणी। पिताका नाम रामचन्द्रजी विठ्ठल शेरलेकर। उम्र २६ वर्ष। नैष्ठिक शाखा। जन्मसे वैष्णव सारस्वत ब्राह्मण।

मेरा वक्तव्य।

जैनसमाजके जातीय अन्यायसे संक्लेशित होकर मैंने १४ वर्ष हुए तब अन्तर्जातीय विवाह किया था। यद्यपि मेरा यह कार्य जैनशास्त्रोंके अनुसार था, तथापि जातिविरुद्ध कार्य होनेसे मेरा जातिसे बहिष्कार किया गया। इसप्रकार मैं चौदह वर्षों तक जातिबहिष्कृत रहा। दूसरी जातियोंने भी मेरे प्रति बहिष्कृतके समान व्यवहार रक्खा और मुझे एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ा। सब तरफ जाति और सम्प्रदायकी संकीर्णताको देखकर मैं किसी इतर समाजमें शामिल नहीं होसका। हर्षकी बात है कि अब 'सत्यसमाज' की स्थापना हुई है जिसके उद्देश्य मुझे बहुत पसन्द हैं, कारण वे आत्मोन्नति-देशोन्नति तथा समाजोन्नतिके करनेवाले हैं। "सत्वेषु मैत्री" की जैन भावना और "स्याद्वाद" की सार्थकता तभी समझी जासकती है जब सर्वधर्मसमभावको अपनाया जाय। हर्षकी बात है कि सत्यसमाजके द्वारा जैन और अजैन सभी लाभ उठा सकते हैं और सत्य भगवानके उपासक बनकर धार्मिक और लौकिक उन्नति कर सकते हैं। जो लोग जाति और सम्प्रदायकी संकीर्णतासे हैरान होरहे हैं उन्हें अब सत्यसमाजमें शामिल होजाना चाहिये।

—प्रार्थी, बुधमल पाटणी।

चौधरी धन्नालालजीने निम्नलिखित पाँच सज्जनों के फार्म भरवाकर भेजे हैं। दो सदस्य पहिले होगये थे और पाँच ये—इसप्रकार भेलसामें कुल सात सदस्य होजानेसे शाखा होगयी है। हाँ, कार्यकर्ताओंका चुनाव अभी नहीं हुआ है।

(४८) मन्नूलालजी। पिताका नाम–परसादीलालजी। उम्र ३२। जैन पाक्षिक। जन्मसे दिगम्बर जैन परवार। पता क़िले अन्दर, कुआवाला मकान भेलसा।

(४९) हजारीलालजी। पिताका नाम–परमानन्दजी। उम्र ३०। जैन पाक्षिक। जन्मसे दिगम्बर जैन परवार। पता–हजारीलाल प्यारीलाल भेलसा।

(५०) नाथूरामजी चौधरी। पिताका नाम–बट्टूलालजी। उम्र २५। जैन पाक्षिक। जन्मसे दिगम्बर जैन परवार। पता C/o जीवनधारा आफिस भेलसा।

(५१) भगवानदासजी। पिताका नाम–बंशीधरजी। उम्र ५१। जैन पाक्षिक। जन्मसे दिगम्बर जैन परवार। पता–भगवानदास बंशीधर जैन बड़ा बाजार भेलसा।

(५२) व्रजभूषणजी। पिताका नाम–बाँकेलालजी। उम्र २०। जैन पाक्षिक। जन्मसे दिगम्बर जैन जैसवाल। पता–बाँकेलाल व्रजभूषण जैन भेलसा।

श्रीयुत धन्नालालजी और चिरञ्जीलालजीके नाम पहिले प्रकाशित होचुके हैं।

श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी कोटेचाके प्रचार कार्यसे निम्नलिखित सज्जन सत्यसमाजके पाक्षिक सदस्य बने हैं। आप लिखते हैं—

(५३) "श्रीयुत चुन्नीलालजी कोटेचा बार्शीवालों की तरफ़से सत्यसमाज संघटना और नियमावली मिली। पढ़कर बहुत आनन्द हुआ। मैंने विधवा-विवाह आदिका प्रचार करके समाजसेवाका कार्य किया है और अभी भी कर रहा हूँ। आपके विचार मुझे बहुत पसन्द हैं। मैं सत्यसमाजका पाक्षिक सदस्य बना हूँ और तन मनसे प्रचार कार्य करता रहूँगा। आपका—

मोहनलाल मुणोत जामखेर (अहमदनगर)

पिताका नाम जवारमलजी, उम्र ५२ वर्ष। जैन पाक्षिक। जन्मसे स्थानकवासी जैन ओसवाल।

(५४) श्रीमान् पं० लोकमणिजी जैन गोटेगाँव (नरसिंहपुर) एक अच्छे विद्वान हैं। साहित्यसेवी अनुभवी विचारक हैं आपकी सम्मति निम्नलिखित है–

पंडितजी - मैंने 'जैन धर्मका मर्म' शुरूसे पढ़ा और मनन किया है। इतना मर्मस्पर्शी है कि एक एक शब्द अन्तःकरणमें स्थायी स्थान बना लेता है। निरपेक्षता और नम्र सत्यका पद पद पर आदर किया गया है। विश्वधर्म जैनधर्म है, इसका मसाला भरा पड़ा है। प्रत्येक विचारकको उसमें बैठनेका स्थान दिया गया है। आपकी लेखनी हाथसे नहीं घिसटती, वह हृदयसे चलती है इसलिये प्रत्येकके हृदयमें स्थान कर लेती है। यों तो मधुर दुग्ध भी खटाई द्वारा दूषित किया जासकता है, जैसा कि समाजके पंडित आपकी अनुपम सत्यपुष्पमय सुरभित माला को मसल डालनेकी असफल चेष्टा किया करते हैं। जो आज आपकी मालाको तोड़ मरोड़ कर फेंकना चाहते हैं, समय मध्यस्थ बनकर उनके ही गलेमें यह माला पहनावेगा। वे आपके उपासक बनें या नहीं, पर मालाके गुणों पर मुग्ध होंगे।

सत्यसमाजकी स्कीम भी अपूर्व है। मानव जाति की समानता प्रकट करती है। मनुष्य मात्रके कल्याण पर दृष्टि रखकर घोषितकी गई है। किसी भी धर्म और जातिके झगड़नेके लिये स्थान नहीं रखा गया है। सब जगह सत्यकी पूजाकी गई है। सब स्वार्थोंको सत्याग्निमें भस्म करनेकी सलाह दी गई है। और इसीलिये आपका यह कहना ठीक है कि "धर्म सत्य है" की जगह "सत्य धर्म है"—इत्यादि।

अजीर्णमें वायुके अवरोधसे जैसे मनुष्यकी दयनीय स्थिति होजाती है वैसी ही स्थितिसे वर्षों गुजरना पड़ा है। सर्वज्ञके विषयमें शंकाओं पर शंकाएँ होती थी; कहीं मिथ्यात्वके गड्ढेमें न जा गिरूँ इस भयसे बाहर न ला सकता था—भीतर ही भीतर शंकाएँ सड़ती रहीं, दूषित द्रव्य बढ़ता रहा। वह इतना बढ़ा कि इलाजकी जरूरत हुई। चिकित्सा शुरू की। आपकी लेखमालासे रोग घटना शुरू हुआ, शंका निर्मूल हुई, हृदय हलका हुआ, हाथ पाँव फैलानेको स्थान मिला–मजहबी घृणा दूर हुई, मनुष्य

को मनुष्य समझनेकी शक्ति प्राप्त हुई।

पंडितजी, कहीं आप सर्वज्ञके ज्ञानमें झलक गये होते तो पंचमकालमें धर्मनाशके जैसे उन्होंने बहुतसे कारणोंका निर्देश किया है, आपका भी निर्देश अवश्य किया होता! उन्हें साफ साफ अपनी निरक्षरी भाषामें श्रेणिक राजाको कह देना होता कि अमुक शताब्दीकी अमुक तिथिमें परवार जातिमें एक दरबारीलाल नामका महापंडित होगा; वह अपनी वज्र लेखनीसे सर्वज्ञको भूत भविष्यतके जाननेके पचड़ेमें नहीं फसने देगा, वह वर्तमानकी भी अनावश्यक बातोंमें सर्वज्ञका समय बर्बाद नहीं करेगा—वह उन्हें निजानन्द अवस्थामें ही तल्लीन रक्खेगा—वह मुनियोंको भी वस्त्र पहननेको कहेगा और कहेगा उनसे खेती पाती करके उदर पूर्ति करने को!! वह उन्हें समाजप्रलापसे बचनेकी सलाह देगा, उन्हें स्नान और दंतधावन करना सिखलावेगा और जब उन्हें समाजका भार रूप समझेगा, तब उनका भंडाफोड़ कर उनको रास्ते पर लावेगा। पंडित उससे कुढ़ेंगे, उसकी लेखनी पर दाँत पीसेंगे, उसे नास्तिक कहेंगे, उसका बॉयकाट करेंगे जब आकाश-पाताल सब एक कर डालेंगे, तब आवेंगे उसके झंडेके नीचे, और कंधासे कंधा लगा कर स्वपर-कल्याणमें रत होंगे—इत्यादि। अस्तु, सर्वज्ञके ज्ञान में आप न झलके, इसीसे इतना झगड़ा आ खड़ा हुआ, पर वह धीरे धीरे शान्त हो रहा है, यही खुशीकी बात है। अधिक क्या लिखूं, थोड़ा लिखा बहुत जानना। —आपका

लोकमणि गोटेगाँव।

(५५) श्रीयुत राजेन्द्र नारायणजी गुप्त, राजेन्द्राश्रम बेरसिया (भोपाल) का निम्न लिखित पत्र ढाई महिने पहिले आया था, जोकि भूलसे रह गया। आपकी शुभ सम्मति निम्नलिखित है—

"आपकी 'सत्यसमाज' की रचनाप्रणालीको मैंने अत्यंत विवेचक-दृष्टिसे देखा। जिन जिन सिद्धांत और लक्ष्योंको रखकर आपने इस सर्वोपकारी, और किंचित् धर्मबन्धनोंसे मुक्त 'समाज' का अनुसन्धान किया वह सर्वथा सराहनीय है। मनुष्य जो वेद, शास्त्र द्वारा मनीषि प्रतिपादित किया गया है वह एक मात्र 'सत्य' ही के सहारे किया गया है। अन्यथा सत्यरहित होनेपर वह व्यर्थ कल्पनायुक्त वस्तुसे भी हेय है। सत्य प्रत्येक व्यक्तिका जीवनाधार होते हुए उसके सब कार्यकारणोंको उच्चतम आदर्श पर लेजाते हुए आत्माके चरम लक्ष्यको दिखाता है और इसीके सहारे सांसारिकतासे पारलौकिक सुखों का आविर्भाव करता है। मैं अत्यन्त उत्साह और हृदयग्राह्यतासे इसके सब प्रेमी, और भावुक जनों से निवेदन करता हूँ कि इस समाजको दिल खोलकर अपनावें और अपने आचरणको समाजनियमानुकूल बनाकर अपने दैनिक कार्य-कर्तव्योंमें इसके प्रत्येक नियमका पूर्ण रूपसे पालन करें।"

बलूदा समाचार—यहाँ की सत्यसमाजके अध्यक्ष श्रीयुत पं० रामचन्द्रजी शर्मा और मंत्री श्रीयुत पं० सूर्यभानुजी डाँगी हुए हैं।

विचारिये।

यदि आप बेरोजगार हैं तो सिर्फ चार आनेकी पूंजी मात्रसे पाँच रुपये तककी पूंजीमें यदि आपको (५) रुपयेसे ५०) रुपये माह कमाकर अपना भविष्य सुधारना है तो सवा आनेके टिकट भेजकर इस पते पर लिखिये— पता—मित्र एन्ड कम्पनी

मदनमोहन मंदिरके पास, हरदा (सी०पी०)
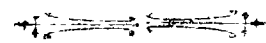
आवश्यकता है।

"गाँधी" छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेन्टोंकी जरूरत है। एजेन्सीकी इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।

जयधवलाके सम्पादनपर !

(ले०—श्री० पं० सुखलालजी अध्यापक, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी)

कुछ महीने हुए मेरे एक मित्र पण्डितने मुझे खुश खबर सुनाई। वह यह थी कि जयधवलाका सम्पादन होनेवाला है। साथ ही उसका एक नमूना जो प्रोफेसर हीरालालजीने भेजा था, वह भी मुझे दिखाया, सुनाया और मुझसे कहा कि इसपर आप अपना विचार प्रकट करें, ऐसी प्रोफेसर हीरालालजी की पत्र द्वारा माँग है। आज तक मैं कार्यवश कुछ लिख न सका। अभी थोड़े रोज हुए बाबू जुगलकिशोरजीकी इसपर सम्मति और सूचना जब पढ़ी तब तो एक तरहसे लिखनेका विचार बन्द ही कर दिया, क्योंकि मेरा वक्तव्य उनके लेखमें क़रीब क़रीब सब आजाता है। फिर भी एक बार कुछ मित्रोंसे जब इस बारेमें चर्चा छिड़ी तब मुझको खुद और उन मित्रोंको भी यह समुचित जान पड़ा कि इस बारेमें मै अपना विचार प्रकट करूँ, और मैंने यह समझ लिया कि ऐसे विषयोंमें पुनरुक्ति न करना ही कदाचित् दोष होगा। जहाँ तक होगा मैं संक्षेप मे ही यहाँ लिख देना चाहता हूँ और अनेक गौण प्रश्नों तथा इनके ब्यौरेको छोड़ देता हूँ।

सबसे पहले जिस बात पर समग्र ध्यान एकाग्र होना चाहिए, वह बात है मूल पाठ-शुद्धि की। जब इसकी मूल नक़ल एक ही है और वह प्रयत्नसे भी सुलभ है तब उसके साथ अत्यन्त सावधानता पूर्वक प्रेस कापी मिलाये बिना मूल पाठके छपानेका आरम्भ करना मानों उपलब्ध सामग्रीकी हत्या करना है। खर्च और श्रमकी पर्वाह ऐसी चेतनपूजामें कभी की जानी न चाहिए। एक बार छप जाने पर फिर असल और नक़ल लिखित प्रतियोंको कौन देखता है? मुद्रित विकृत पाठ प्रचारमें आते हैं और कालक्रमसे पुरानी पोथियाँ नष्ट हो जाने पर अनेक शुद्ध और महत्त्वपूर्ण पाठ हमेशाके लिए अदृश्य होजाते हैं। इसलिए मूलप्रतिके ऊपरसे की गई अन्य नक़लों के साथ नहीं, बल्कि मूलप्रतिके साथ ही प्रेसकापी का मिलान करके पाठ लिख देने चाहिये। यह भी न समझना चाहिये कि मूलप्रतिके साथ मिलानेसे पाठशुद्धि पूर्णतया हो ही जायगी। उस मूलआदर्श मे भी अनेक पाठविकार होनेकी पूरी सम्भावना है। तो भी जैसे पाठ हो वैसे लिखकर उनके संशोधनके लिए अन्य प्रयत्न करना चाहिए।

वह प्रयत्न यह होगा कि छपनेवाले इस ग्रन्थके छोटे बड़े समग्र विषय पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जिस जिस श्वेताम्बरीय या दिगम्बरीय, संस्कृत या प्राकृत ग्रन्थमें खण्डश: या पूर्णरूपसे आये हों उन समग्र लिखित मुद्रित श्वेताम्बरीय दिगम्बरीय उपलब्ध ग्रन्थोंको एकत्र करके उनमें आये हुए जयधवलाके विषयोंकी पृथवार यादी करना और उसके आधार से पाठ तथा अर्थशुद्धिका प्रयत्न करना। मै इस जगह जानबूझकर ही ऐसे दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय ग्रंथोंकी सूची नहीं देता, पर इतना कह देना चाहता हूँ कि इस गिरी हुई दशामे भी जयधवलाके विषय की खंडित अखंडित भावसे चर्चा करनेवाले ग्रंथोंकी महत्त्वपूर्ण विशाल राशि है, जो न सिर्फ पाठ और अर्थशुद्धिमे ही बल्कि अनेक जगह गम्भीर अर्थके विवेचनमें, तुलना करनेमें, मतभेद दिखानेमें और विचारविकास प्रदर्शित करनेमे उपयुक्त होगी; अनेक ग्रन्थोंमेंसे तो जयधवलाके अंश शब्दश: मिलेंगे। और सबसे अधिक महत्त्वका, पर अद्यापि बहुधा अज्ञात द्वार इसके द्वारा यह खुलेगा कि जिसमे कर्मविषयक जैनसाहित्यगत दो विचारधाराएँ जो दिगम्बरीय श्वेताम्बरीय ग्रंथोमें हैं, उनका मूल कहाँतक एक है, कहाँ से किस किस कारणवश परिवर्तन हुआ इत्यादि सब बातें बड़े आकर्षक ढंगसे प्रकाशित हो

जायँगी और स्थावर तथा जड़ तीर्थोंके लिये लड़नेवाले दोनों फिरकोंके विचारशील उत्तराधिकारी फिर अपनी जंगम और शाश्वत चैतन्यप्रधान मूल संस्कृतिका ऐक्य अनुभव करके निर्जीव विरोधोंको भूलने लगेंगे। जयधवलामें भी पुराने, पर उसके परम मूलके समकालीन पञ्चसंग्रह, कर्मप्रकृति आदि श्वेताम्बरीय ग्रंथोंको दिगम्बर भाई अपनायेंगे और धवला आदि दिगम्बरीय ग्रंथोंका स्वाध्याय बिना किये हर-एक सच्चा जिज्ञासु श्वेताम्बर असन्तुष्ट रहेगा।

मेरी स्पष्ट मान्यता है कि अब प्रकाशित होनेवाले प्राकृत ग्रंथोंके साथ संस्कृतछाया देना पूर्णरूपेण समय, शक्ति और धनका दुरुपयोग करना है, और जब हिन्दी अनुवाद भी करना हो तब तो संस्कृत-छाया अजागलस्तन हो जाती है। हिन्दी अनुवाद न करना हो तब भी ऐसे ग्रन्थके अधिकारियोंके लिये संस्कृतछाया बिलकुल अनावश्यक है।

मेरी समझमें हिन्दी अनुवाद तब तक न करना चाहिए जब तक मूलपाठ पूर्ण शुद्ध छप न जाय। हिन्दी अनुवाद जब करना हो तब भी वह मूलके साथ नहीं, पर अलग पीछेसे किया जाय हाँ, ऐसा क्रम पहिलेसे ही निश्चित कर लिया जाय जिससे मूल मूल पढ़नेवाला बिलकुल आसानीसे उसका अनुवाद और और अनुवाद पढ़नेवाला बिलकुल आसानीसे उसका मूल निकाल सके। जिन्हें प्रकाशनका अनुभव है, वे इसके लिये सब कुछ जानते हैं, जान सकते हैं। साथ साथ हिन्दी छपनेसे खरीदने वालोंके लिये अनावश्यक बोझ तो बढ़ ही जाता है, पर मूल-पाठके अखंड उपलब्ध करनेकी खूबी भी चलीजाती है। इतने बड़े और इतने अशुद्ध ग्रंथको पूर्ण बिना पढ़े, पूर्ण बिना शुद्ध किये और पूर्णरूपेण मुद्रण विभाग बिना निश्चित किये, इसका अनुवाद करना मानों बारह वर्षकी बच्चीसे सबल और सुन्दर बच्चेके जन्म की आशा करना है। अनुवादमें खर्च होनेवाली समग्र शक्ति प्रथम मूलपाठके संशोधनमें लगा देनेसे मूल-ग्रन्थ तो शुद्ध हो ही जायगा, पर पीछेसे अनुवाद-कार्य भी बिलकुल सरल और शुद्ध हो सकेगा।

अभी तक साधारण जैन लोग और कुछ विद्वानभी ऐसा समझते हैं कि कर्मशास्त्रका विचार जैन परम्परा के सिवाय अन्यत्र नहीं है, और अगर होगा तब भी उसमें कोई महत्त्व नहीं है। उनसे मेरा यहाँ प्रसंगवश निवेदन है कि वे अपनी इस धारणाको बदलदें। जय-धवलाके सम्पादनमें ऐसे अनेक परिशिष्ट और टिप्पण आने चाहियें जिनमें ब्राह्मण और बौद्ध परम्पराके तद्विषयक विचार न्यूनाधिक रूपसे स्पष्ट सन्निहित किये जाँय। ब्राह्मण और बौद्ध परम्पराके अनेक ग्रंथों में से मैं सिर्फ योगभाष्य और विशुद्धि मार्गका निर्देश करता हूँ। आजकल मैं विशुद्धिमार्ग (विसुद्धिमग्ग) का स्वाध्याय करता हूँ और उसमें कर्मविषयक विचारधाराकी बौद्ध परम्पराका जैन परम्पराके साथ मिलान करता हूँ तब मुझे मालूम होता है कि हम लोगोंने साम्प्रदायिकताके अक्षम्य पापसे आजतक एक दूसरोंकी विचारसम्पत्ति, जो प्राचीन भारतकी एक तपस्या है, उसकी अवज्ञा करके शास्त्र और ज्ञानके नामपर अज्ञानका ही पोषण किया है। जय-धवला जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके प्रकाशनके प्रकाशसे इस अज्ञान अन्धकारका विलय होजानेसे एक तरफ से वह ग्रन्थ ब्राह्मण बौद्ध पुस्तकालयोंके लिये भी ग्राह्य हो जायगा और दूसरी तरफसे हम संकुचित पण्डितोंका अभ्यासक्षेत्र विस्तृत होनेसे मिथ्यात्वका भूत काँपने लगेगा और विद्याविषयक सम्यक्त्वका बीजारोप होगा।

संशोधन कार्यको व्यवस्थितरूपसे करनेमें जय-धवलाका तो पाठशोधन होगा ही, पर साथमें राज-वार्तिक, श्लोकवार्तिक, लब्धिसार, क्षपणासार, गोमट्ट-सार आदि ग्रन्थोंकी शुद्धिपर भी बड़ा प्रकाश पड़ेगा। इसके विपरीत यदि संशोधनमें उपेक्षा की गई तो जैसे मुद्रित राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रंथ, जो न केवल दिगम्बर साहित्यके और न केवल जैनसाहित्यके बल्कि समग्रभारतीय साहित्यके महामूल्य रत्न है, उनकी अशुद्धिके कारण मिट्टी पलीत हुई है

वैसे ही जयधवलाकी भी होगी।

यहाँ तक तो संशोधनके सम्बन्धमें कुछ सूचन हुआ, अब मेरी दृष्टिमें इस कार्यको करनेके लिए जो जो योग्य, समर्थ हैं उनसे किस प्रकारका काम लिया जाना चाहिए अथवा उन्हें यह काम कैसे सौंपना चाहिये इसका भी सूचन करना विचारके लिये उपयुक्त समझता हूँ।

दिगम्बरसमाजके मेरे अपरिचित पण्डितोंमें से कोई ऐसे भी होंगे जो हरतरहसे विशेष योग्य हों, पर परिचितोंमें से यहाँ सिर्फ दो व्यक्तियोंका निर्देश करना पर्याप्त समझता हूँ—बाबू जुगलकिशोरजी और पं० वंशीधरजी (धर्मशास्त्राध्यापक इन्दौर)। यदि उक्त बाबूजीको प्रस्तुत सम्पादनका काम सौंपा जाय और वे इसे जीवनकृत्य समझकर स्वीकार कर लें तो जहाँतक मैं समझता हूँ यह कार्य अनेक दृष्टिसे सुसंपन्न होगा। जो सहृदय, उक्त बाबूजीकी सतत कार्यशीलता, अङ्गीकृत कार्यको पूरा करनेकी वृत्ति, जैनतत्त्वज्ञान तथा इतिहासका उदार परिशीलन और उनके समुचित पुस्तकसंग्रहको जानते हैं, वे शायद ही मेरे इस प्रस्तावको अयुक्त समझेंगे। इतना होते हुए भी प्रस्तुत सम्पादनकार्यको उक्त बाबूजीके द्वारा अपनाये जानेमें जो विशिष्ट लाभकी खास दृष्टि है, वह यह है कि उक्त बाबूजी अपना अन्तिम जीवन ऐसी प्रवृत्तिमें लगा रहे हैं या लगानेको उद्यत हैं जिसमें उनकी अन्य शक्तियोंके साथ बचीखुची सम्पत्ति भी लग जाय। अतएव उनके द्वारा इस कामको अपनानेसे ऐसे भगीरथ कार्यके लिये न केवल अवैतनिक योग्य परिश्रमी सम्पादकका ही लाभ है बल्कि थोड़ी कुछ आर्थिक मदद भी संभावित है। पं० वंशीधरजी ने कदाचित् ऐसे किसी सम्पादनकार्यको किया न होगा तो भी जहाँ तक मेरा खयाल है उनकी धर्मशास्त्र विषयक उपस्थिति इतनी अच्छी है कि इसके द्वारा यदि योग्य रूपसे मदद ली जाय तो पाठ और अर्थ शुद्धिमें बड़ा उपकार होगा। ऐसा विशाल ग्रन्थ यदि शुद्ध और ग्राह्य शैलीसे तैयार करना हो तो यह तो मानना ही पड़ेगा कि इसमें अनेक सुयोग्य व्यक्तियोंका सहकार आवश्यक है। ऐसे मौके पर ही समन्वय सिद्ध करनेसे अनेकान्त दृष्टिका सामर्थ्य प्रगट हो सकता है। दूसरे जितने अपेक्षित हों और जितनोंका रखना साध्य हो उन सब सहायक कार्यकर्ताओंको तथा पंडितोंको रखकर मुख्य जवाबदेही अमुक व्यक्ति या व्यक्तियोंको सौंपकर इसकी बहिरङ्ग व्यवस्थाके लिये भी खास प्रबन्ध हो जाना चाहिये और बाबूजीकी दृष्टिमें ही इसके कार्यालयका स्थान भी मुकर्रर होना चाहिये। इस कार्यके लिये दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायकी सब पुस्तकोंसे युक्त एक समर्थ पुस्तकालय तो अपेक्षित होगा ही पर तदुपरान्त इसके लिये वैदिक और बौद्ध वाङ्मयका बड़ा भाग अपेक्षित होगा और साथ साथ कार्यस्थानके लिये यह भी दृष्टि रहनी चाहिये कि यदि शक्य हो तो ऐसा स्थान पसंद किया जाय जहाँ भिन्न भिन्न दर्शनके धुरंधर पण्डितोंका समागम अनायास और असूल्य प्राप्त किया जासके और तद्द्वारा टिप्पणी परिशिष्ट आदि व्यापक अभ्यासपूर्ण लिखना सरल हो।

स्थूल और शीघ्र कार्यकारी जैनसमाजको मेरी यह कल्पना कदाच अव्यवहार्य और अनुपयुक्त मालूम होगी, पर जिन्होंने ऐसे कार्य किये हैं, जिन्होंने ऐसे कार्य देखे हैं वही इस बारेमें प्रमाणभूत हो सकते हैं। मेरा तो विश्वास ही नहीं दृढ़ विश्वास है कि यदि विचार, औदार्य और समन्वयपूर्वक काम लिया जाय तो प्रस्तुत सम्पादनके द्वारा जैनसमाज विद्याप्रकर्षके मार्गमें बहुत कुछ आगे बढ़ेगा। जो धनी हैं और विद्या तथा शास्त्रका मूल्य समझ सकते हैं उनके लिये तो धन सफल करनेका यह एक सुन्दर स्थान है। जैनसमाजमें, खासकर दिगम्बर समाजमें शास्त्रजीवी और धर्मप्रिय अनेक पंडित हैं उनमें से जो जो अपने थोड़े बहुत त्यागके द्वारा अपनी विद्या तथा बुद्धि शक्तिको इस कार्यमें लगावेंगे वे परमार्थ के साथ कर्मप्रवीणताका स्वार्थ भी सिद्ध करेंगे और

तद्द्वारा अपने कार्यक्षेत्रको व्यापक भी बना सकेंगे।

सम्पादकीय नोट—जयधवलाकी चर्चाने इस समय खासारूप पकड़ लिया है। प्रोफेसर हीरालाल जीने नमूना निकालकर अन्य दृष्टियोंसे अच्छा किया हो या बुरा, परन्तु इतना लाभ तो पहुँचाया ही है कि विद्वानोंका ध्यान इस तरफ खूब आकर्षित हुआ है। जिस दिन मुझे यह नमूना मिला, उसके दूसरे दिन ही कई पृष्ठका पत्र मैंने प्रोफेसर हीरालालजीके पास भेजा था, जिसमें प्राकृत पाठकी, छायाकी, अनुवादकी, अशुद्धियाँ बतलाकर अन्य अनेक बातोंका विचार किया था। उस समय मेरी यही इच्छा थी कि ये समालोचनाएँ समाचारपत्रोंमें न आकर विद्वानोंमें आपससे तय होजावें। परन्तु किसी कारणसे यह चर्चा समाचारपत्रोंमें आ ही गई। मुझे भय है कि कहीं वह कार्य ही न रुक जावे। इसलिये अब इस चर्चाको समेट कर कार्यको आगे बढ़ानेका प्रयत्न करना चाहिये।

यद्यपि अब और चर्चा करना ठीक नहीं था परन्तु पं० सुखलालजीके लेखमें कुछ ऐसी विशेषताएँ है कि इस विषयमें अनेक लेखोंके प्रकाशित होने पर भी उसकी आवश्यकताका अनुभव करातीं हैं, इसलिये यह लेख प्रकाशित किया जाता है।

मेरे खयालसे यह ठीक होगा कि अगर पं० बेचरदासजी सरीखे किसी योग्य विद्वानकी सेवा इस काम को मिलसके तो उनके जरियेसे प्रो० हीरालालजी यह काम सम्हालें अथवा बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार अगर बनारस रह सकें तो पं० सुखलालजी की सहायतासे वे यह काम करें। पं० वंशीधरजी इन्दौरसे भी इस विषयमें सहायता मिल सकती है, परन्तु वे इन्दौर नहीं छोड़ सकते, इसलिये उनसे सहायताकी आशा नहीं करना चाहिये। इस कामके लिये श्वेताम्बर शास्त्रोंके विद्वानकी भी आवश्यकता है। पं० बेचरदासजी, बाबू जुगलकिशोरजी मुख्तार तथा प्रो० हीरालालजीकी त्रिपुटी मिलकर इस काम को करे और पं० सुखलालजीकी भी समय समयपर सलाह मिलती रहे तो यह काम बहुत सुन्दर हो।

हाँ, मेरा जहाँतक खयाल है, जयधवलाकी अपेक्षा धवलाको अगर पहिले छपाया जाय तो ठीक होगा। धवलाके प्रारम्भमें ही कुछ चर्चाएँ मुझे ऐसी मालूम हुई है कि उनका पहिले प्रकाशित होना जरूरी है। जयधवलामें आगे ऐसी कोई चर्चा है कि नहीं, यह मालूम नहीं है। फिर भी अगर पहिले धवलाका प्रकाशन किया जाय तो विशेष उपयोगी होगा।

पृथ्वीका आकार।

(ले०—श्री० रघुवीरशरणजी जैन)

[नोट—पूर्वाचार्योंकृत ग्रन्थोंमें जो कुछ भी भूगोल व खगोल सम्बन्धी वर्णन मिलता है उसको धार्मिकरूप देना मूर्खता व धृष्टता है। दर्शन इतिहास व भूगोल खगोल आदिका धर्मसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। आधुनिक भूगोलवेत्ताओंने स्पष्ट व अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि पृथ्वी नारङ्गीके समान गोल है, परन्तु हमारे जैनी भाई अपने शास्त्रों व ग्रन्थोंकी आड़में जैनधर्मकी झूठी दुहाई दे देकर इस सर्वमान्य सिद्धान्तको मिथ्या व निराधार कहनेमें किंचित भी नहीं हिचकिचाते। वे इसीमें जैनधर्मका गौरव समझते है। जब उनके सन्मुख आधुनिक खगोलके समर्थनमें कोई प्रमाण रक्खा जाता है, तो वे उसे हूहामें टालकर अन्धविश्वास व पक्षपातवश अपनी खोखली मान्यताओंके ही गीत गाने लगते हैं। परन्तु वास्तवमें वे इस प्रकार अपने परम वैज्ञानिक जैन धर्मको कलंकित करते हैं, अपने जैनत्वको लजाते हैं तथा अपनी दुर्बलता व अनुदारताका नग्न परिचय देकर 'सत्य' का गला घोटते हैं। उन्हें याद रखना चाहिये कि अंधविश्वास व पक्षपातसे जैनत्व कोसों दूर है, जिसको 'सत्य' कहते हैं वही जैनत्व है और उसीकी रक्षामें ही जैनत्वकी रक्षा है। हमें अब अपने पूज्य पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक मान्यताओंको विज्ञान व सत्यकी कसौटीपर कसकर जैनधर्मको शुद्ध वैज्ञानिक रूप देना चाहिये। इसमें ही जैनधर्मकी सच्ची उपासना होगी और हम जैनत्वकी रक्षा कर सकेंगे; अन्यथा नहीं। अतः प्रत्येक सच्चे जैन-

धर्म-उपासकका कर्तव्य है कि वह आधुनिक खगोलका मनन करे, जैनाचार्योंद्वारा प्रतिपादित खगोलसे उसकी तुलना करे, और जहाँ भी उसे 'सत्य' मिले उसे निर्भीकतापूर्वक ग्रहण करे। इस प्रकारके तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study) की सुविधाके लिये मैं शीघ्र ही खगोलके सम्बन्धमें विस्तारसे लिखनेवाला हूँ. परन्तु इस स्थल पर मैं मात्र यही सिद्ध करनेका प्रयत्न करूँगा कि पृथ्वीका आकार नारङ्गीके समान गोल है। आशा है कि पाठकगण इस संक्षिप्त लेखसे कुछ लाभ उठायेंगे। — लेखक]

आधुनिक सिद्धान्तके अनुसार पृथ्वी (Earth) नारङ्गीके समान गोल है, इसके दोनो सिरे—उत्तरी ध्रुव व दक्षिणी ध्रुव–चपटे हैं और मध्यभाग—विषुवतरेखा (Equator) वाला भाग–कुछ फूला हुआ है। पृथ्वीके गोलाकार होनेके कई प्रमाण हैं, कुछ पर नीचे प्रकाश डाला जाता है—

(१) क—समुद्रतट पर खड़े होकर या किसी जहाजपर चढ़कर दृष्टि फेंकनेसे समुद्रके धरातलका बहुत थोड़ा भाग ही दिखाई देता है और जहाँतक दृष्टि अपना कार्य करती है, उस भागकी सीमा एक वृत्तसे परिमित होती है। ज्यों ज्यों ऊँचाईपर जाते हैं त्यों त्यों वह वृत्त बढ़ता है, फलतः अधिक भाग दिखलाई देता है। ऐसा आकार गोले (Sphere) के अतिरिक्त किसी अन्य आकृतिका नहीं होसकता।

ख—स्थलपर वृक्ष, पर्वत और टीले इत्यादि के कारण पृथ्वीका धरातल ठीक ठीक नहीं देखा जा सकता, परन्तु समुद्रमें ऐसी कोई बाधा नहीं है, वहाँ पृथ्वीके धरातलका निर्दोषतापूर्वक अध्ययन किया जा सकता है। यदि पृथ्वी गोलाकार नहीं है, चपटी है, तो कोई कारण नहीं कि एक आता हुआ जहाज समुद्रतट पर खड़े हुए व्यक्तिको पूरा पूरा न दिखलाई दे। परन्तु होता ऐसा ही है—जहाजका पहिले ऊपरी भाग दिखाई देता है और ज्यों ज्यों वह समुद्रतटके निकट आता है त्यों त्यों उसका निचला भाग भी क्रमशः दीखता जाता है, फलतः कुछ समयके पश्चात् पूरा जहाज दीखने लगता है। यह सब तभी सम्भव है जब कि पृथ्वीका आकार गोलेके समान हो।

पृथ्वीके गोले (Sphere) के किसी बिन्दुपर भी यदि एक स्पर्शरेखा (Tangent) खेंची जाय तो वह रेखा उस बिन्दु (Point) को ही नहीं, वरन एक लम्बे फासले (Distance) को भी अपनेमें अन्तर्गत कर लेती है। इसके दो कारण हैं—

(i) पृथ्वी एक अत्यन्त विशाल गोला है, जिसका व्यास लगभग ८००० मील लम्बा है व परिधि लगभग २५००० मील लम्बी है।

(ii) पृथ्वीका यह विशाल गोला (Sphere) सपाट व चिकना नहीं है, पर्वत, नदियाँ, समुद्रादिक के होनेसे यह बहुत रूक्ष व खुरेरा * (Rough) है।

जब जहाज स्पर्शरेखाके § क्षेत्रके बहुत निकट आजाता है, तब ही वह समुद्रतट पर खड़े हुए मनुष्य को दिखाई देता है, पहले नहीं, और उस समय भी उस जहाजका मात्र ऊपरी भाग ही दिखाई देता

*कोई कोई कहते हैं कि यह बात बुद्धिमें नहीं आती कि ऐसी पृथ्वी जिसमें मीलों गहरे समुद्र व मीलों ऊंचे पहाड़ हों, नारंगीके समान गोल हो। इसके उत्तरमें मैं कहूँगा कि पृथ्वीकी विशालताकी तुलनामें इन पहाड़ों व समुद्रोंकी ऊँचाई गहराई नहीं के बराबर है। यह समझ लीजिये कि यदि हम दो फ़ीट व्यास (diameter)वाले ग्लोब (वह गोला जिसपर पृथ्वीका नक़शा बना हुआ है) को पृथ्वी मानें और एक पतला काग़ज उसपर कहीं चिपकादें तब उस काग़जकी मोटाई बड़ेसे बड़े पहाड़की ऊँचाई दिखलानेके लिये काफ़ी होगी और यदि एक बूँद उस globe (ग्लोब) पर लुडका दी जाय तो उस एक बूँदका लुडका हुआ जल गहरेसे गहरे समुद्रकी गहराई बतलानेके लिये उपयुक्त होगा। बात यह है कि हमें पृथ्वी की विशालताको दृष्टिगत रखते हुए इन ऊँचे पहाड़ों व गहरे समुद्रोंकी ऊँचाई व गहराईको देखना चाहिये।

§ यदि किसी गोले (Sphere) के किसी बिन्दुसे भी गोलेपर स्पर्श रेखा (tangent) खेंचे तो वह रेखा गोलेके बाहर ही रहती है, मात्र वह बिन्दु ही उस रेखा और गोले दोनोंमें सम्मिलित (common) होता है, अन्य एक बिन्दु भी नहीं।

है। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ता आता है त्यों त्यों वह अधिक अधिक दीखने लगता है और जब वह स्पर्शरेखाकी सीमामें आजाता है उस समय ही वह पूरा पूरा दिखाई देता है।

इस प्रत्यक्ष व अति स्पष्ट प्रमाणके विरोधमें यह युक्ति दी जाती है कि भूमि व जल छोटे छोटे मूर्तिक कणोंके पारस्परिक संघर्ष व प्रतिक्रिया (reaction) से बनते है, इस कारण समुद्रतटके निकट जहाँ हर समय अधिक वेगसे इन दोनोंका बनाव-बिगाड़ होता रहता है, यह मूर्तिक कण (particles) बहुत संख्यामें स्थल व जलके ऊपर छाये रहते हैं। ये कण (particles) नीचे बहुत भारी स्थूल व प्रकाशाभेद्य (opaque) ‡ होते हैं, परन्तु ऊपर क्रमशः ये हलके सूक्ष्म व प्रकाशभेद्य (transparent) होते चले जाते हैं। यही कारण है कि पहिले जहाज का ऊपरी भाग ही दीखता है, धरातलके निकटवर्ती प्रकाशाभेद्य (opaque) कण निचले भागको दीखनेसे रोक देते हैं। परन्तु ज्यों ज्यों जहाज निकट आता जाता है त्यों त्यों दृष्टि उन कणोंकी प्रकाशाभेद्यता (opacity) पर विजय पाती चली जाती है और फलतः जहाज अधिक दीखता जाता है।

परन्तु यह युक्ति बिल्कुल निराधार व पोच है। प्रथम तो स्थल और जलकी बनावट (construction) की समानताका प्रश्न ही विचारणीय है। जल (hydrogen) व (oxygen) नामकी दो गैसों (gases) का मिश्रण (Compond) एक तरल द्रव्य (liquid) है परन्तु * भूमि प्रायः एक संघात द्रव्य (solid) है। इसके अंगों (constituents) में जलके विपरीत मूलसंघात द्रव्य Elementary solid substances) पाये जाते हैं। अतः स्थल व जलकी बनावट (Costruction) को उपरोक्त कल्पनानुसार समान मानना सदोष है। यदि हम इस कल्पनाको ठीक भी मानलें तो फिर यह नहीं मानाजा सकता कि वे कण धरातलके ऊपर आच्छादित रह सकते हैं क्योंकि वे वायु (air) से भारी * होनेके कारण वायुमें टिक नहीं सकते। परन्तु यदि हम इस बातको भी 'दुर्जन तोष न्याय'से ठीक ठीक मानलें तो यह प्रश्न उठता है कि जब समुद्रके किनारे खड़े हुए मनुष्यको जहाजका ऊपरी भाग दिखाई देता है, तब उसी समय उसी समुद्रतटके एक ऊँचे टीले पर बैठे हुये मनुष्यको नीचे वाले मनुष्यकी तुलनामें क्यों अधिक भाग दिखाई देता है। क़ायदे से तो ऊपर वाले मनुष्यको निचले मनुष्यसे कम भाग दीखना चाहिये क्योंकि वह जहाजसे, नीचे वाले मनुष्यकी अपेक्षा, अधिक दूरी (distance) पर है तात्पर्य यह है कि हम जिस पहलू (side) से भी देखते हैं यह युक्ति खोखली व निराधार ही सिद्ध होती है। अतः ज्ञात हुआ कि जहाजके पहिले ऊपरी भागका दीखना और फिर क्रमशः निचले भागका दीखना पृथ्वीकी गोलाई सिद्ध करता है।

यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार दृष्टि-दोष के कारण अत्यन्त विशाल सूर्य दूरीपर होनेसे अत्यन्त छोटा दीखता है, ठीक इसीप्रकार दृष्टिकी भूल से ही जहाज ठीक ठीक नजर नहीं आता, तो इसके उत्तरमें मैं कहूँगा कि दृष्टिमें यह दोष तो स्वाभाविक है कि एक बड़ी वस्तु भी दूर होनेके कारण छोटी नजर आये. परन्तु उसमें यह दोष नहीं है कि वह वस्तु अधूरी (Partly) दीखने लगे। छोटेपन और अधूरेपनमें बहुत अन्तर है। यदि जहाज दूर होने के कारण कितना ही छोटा क्यों न नजर आता तो कोई आपत्ति न थी, परन्तु वह तो अधूरा दीखता है, उसका निचला भाग तो जरा भी नहीं दिखाई देता। अतः इसका कारण दृष्टिका दोष नहीं, वरन् पृथ्वीकी गोलाई ही है।

---

‡ कुछ अंशोमें।

* सामूहिकरूपमें (on the whole)

* यदि इन कणोंको वायुके कणों (particles of air) से हलका मानेंगे तब तो वायु इन कणोंसे और भी अधिक प्रकाशाभेद्य (opaque) माननी पड़ेगी, जो प्रत्यक्ष-विरुद्ध है।

(२) जब चन्द्रग्रहण * (Lunar eclipse) होता है अर्थात् जब पृथ्वी (Earth) सूर्य (Sun) और चन्द्रमा (Moon) के बीचमें आजाती है, तो उससमय उसकी छाया जो चन्द्रमापर पड़ती है वह गोलाकार होती है। गोलाकार छाया गोलाकार वस्तु की ही हो सकती है, अतः पृथ्वी गोलाकार है।

(३) पृथ्वीके किसी स्थानसे पश्चिम या पूर्वको चलें और दाहिनी या बाईं ओर बिना मुड़े सीधे चले जावें तो लौटकर फिर उसी स्थान पर आजाते हैं। यदि हम भारतसे पूर्वकी ओर समुद्र द्वारा सफर करें तो हम उत्तरी अमरीका (North America) के पश्चिमी तट पर पहुँच जाते हैं। और यदि हम पश्चिमकी ओर सफर करें तो यूरोप (Europe) होते हुए हम उत्तरी अमरीकाके पूर्वीतट पर पहुँच जाते हैं। यदि पृथ्वी चपटी अथवा सीधी होती तो यह असम्भव था। सबसे प्रथम मेजलन नामक स्पेनिश (Spanish) ने १५१९ ई० में ऐसा भ्रमण करके इसको सिद्ध किया था।

* चन्द्रमा पृथ्वीके चारों ओर घूमता है, प्रत्येक चक्करमें यह एक बार अमावस्याको पृथ्वी और सूर्यके बीच में होकर आता है और एकबार पूर्णमासीके दिन पृथ्वीकी दूसरी ओर होकर जाता है।

पूर्णमासीके दिन पृथ्वी, सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें आजाती है और पृथ्वीकी छाया चन्द्रमा पर पड़ती है। चूँकि चन्द्रमा स्वयम् प्रकाशमान नहीं है, इसलिये जब कभी वह पृथ्वीकी प्रच्छायामें आजाता है तो, पृथ्वीकी ओटमें आ जानेसे, उसपर सूर्यका प्रकाश नहीं पड़ने पाता, फलतः चन्द्रग्रहण हो जाता है।

चन्द्रमा पृथ्वीकी प्रच्छायामें पूर्णमासीके दिन ही होता है। यही कारण है कि कभी कभी पूर्णमासीकी रातको सारी रात पूर्णचन्द्रमाका दर्शन न होकर सारा चन्द्रमा या उसका कुछ भाग अँधेरेमें आ जाता है और पृथ्वीतल पर जहाँ जहाँ रात होती है वहाँ पूर्णचन्द्रका दर्शन जैसा होना चाहिये, नहीं होता। इसीको चन्द्रग्रहण कहते हैं। इस सम्बंधमें एक स्वतंत्र लेखद्वारा विस्तारपूर्वक लिखूँगा।

उत्तर व दक्षिण की ओर भी जाकर हम उसी स्थान पर आ सकते थे, परन्तु दुर्भाग्यसे उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवों (North and south poles) के आसपास इतनी ठंड है कि मनुष्य वहाँतक पहुँच तक नहीं पाता। अनेक साहसी खोजियोंने वहां जानेके लिये प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सके। इस मजबूरी और विवशताका दुरुपयोग करते हुए प्रायः हमारे जैन विद्वान यह कहा करते हैं कि यदि उत्तर व दक्षिणकी ओर जाकर हम उसी स्थान पर आजाएँ जहाँ से हम चले थे, तो अवश्य पृथ्वीकी गोलाई सिद्ध हो जाय, पूर्व या पश्चिमकी ओर जाकर हो उस स्थानपर लौट आना पृथ्वीकी गोलाई सिद्ध करनेके लिये उपयुक्त नहीं है, परन्तु उनका यह कहना कितना निस्सार व पोच है! विद्वान पाठक स्वयं इस बातका अनुमान कर सकते हैं।

(४) जो तारा (Star) एक स्थान पर ठीक सिरकी सीधमें होता है, वह उस स्थानसे उत्तर तथा दक्षिणकी ओर दूसरे स्थानों पर सिरकी सीधमें नहीं होता। मनुष्य सीधा खड़ा रहता है इसलिये यदि पृथ्वी गोलाकार न होकर चपटी होती तो उस तारेको अन्य स्थानोंमें भी सिरकी सीधमें ही होना चाहिये था, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः पृथ्वी चपटी नहीं है, गोल है।

(५) यदि पृथ्वी चपटी होती तो सूर्यका प्रकाश कम या अधिक मात्रामें समस्त पृथ्वी पर फैला होता, परन्तु ऐसा नहीं होता। जब अमरीका में सूर्यका प्रकाश फैला होता है, अर्थात् जब अमरीकामें दिन होता है, उसी समय भारतमें रात्रि होती है, सूर्यका प्रकाश तनिक भी नहीं होता। सूर्य पृथ्वीसे लाखों मीलकी दूरी पर है, इसलिये कोई बड़ेसे बड़ा पहाड़ भी उसके प्रकाशको इतनी पूर्णतः नहीं रोक सकता, जो एक ओर तो दिन रहे और दूसरी ओर रात होजाय। कहीं कहीं कई कई महीनों केदिन रात होते हैं। यह बात चपटी पृथ्वीपर कैसे संभव होसकती है? हाँ, गोल पृथ्वीमें इसकी संभ-

वता * है। चपटी पृथ्वीमें तो सदैव दिन ही रहना चाहिये, रात कभी नहीं होनी चाहिये इससे ज्ञात होता है कि पृथ्वी गोल है। जिस समय एक ओर सूर्यका प्रकाश फैला होता है अर्थात् जब एक ओर दिन होता है तो दूसरी ओर रात होती है।

(६) यदि पृथ्वी चपटी होती तो सूर्य निकलने का दृश्य भिन्न होता (यदि यह मान लिया जाय कि चपटी पृथ्वीपर भी सूर्य निकलने व छिपनेकी कोई व्यवस्था होसकती है)। अब जब हम सूर्यको निकलते हुए देखते है, तब वह हमें पृथ्वीमें मिला हुआ दीखता है और शुरू शुरूमें उसका थोड़ा भाग ही दीखता है और फिर क्रमशः उसका अधिक भाग दीखने लगता है, कुछ समय पश्चात् पूरा पूरा नजर आने लगता है। चपटी पृथ्वीमें भले ही वह बहुत दूर होनेके कारण पृथ्वीमें मिला हुआ दीखने लगे परन्तु अधूरा तो किसीप्रकार भी नहीं दीख सकता। अत स्पष्ट है कि पृथ्वी चपटी नहीं, परन्तु गोल है।

(५) लैवलिंग (levelling) करने वाले भली भांति जानते हैं कि यदि वे नहर अथवा रेलवे लाइनकी नाप बराबर करते जांय तो प्रत्येक मील (one mile) के फासलेमें ८ इञ्चकी ऊँचाईका अन्तर मिलता है, अर्थात् एक मील लम्बाईके बीच पृथ्वी ८ इञ्च उभरी हुई है यदि समुद्रमें हम कुछ डंडे (Poles) एक लाइनमें इस प्रकार गाड़ें कि सबका, जलके धरातलसे ऊपर वाला भाग एक दूसरेके बराबर हो, तो बीचकी लकड़ियों को देखकर ऊँचाईका विचार हृदयमें आता है और फौरन पृथ्वीकी गोलाईकी पुष्टि होजाती है।

वास्तवमें पृथ्वी नारङ्गीके समान गोल है। चूँकि प्रत्येक मीलकी लम्बाईमें ८ इञ्चकी ऊँचाई या नीचाई पड़ती है, अत मापविद्या (Mensuration) की रीतिसे पृथ्वीका व्यास (Diameter)

$$\frac{१ \text{ मील}}{८ \text{ इञ्च}} = \frac{१७६० \times ३ \times १२}{८} = ७९२६ \text{ मीलके लग-}$$

भग हुआ।

पृथ्वीके व्यासकी लम्बाई है भी इतनी ही। इसकी परिधि § (Circumference) लगभग २४९०० मील है। पृथ्वीके धरातलका क्षेत्रफल (area) लगभग १९,८०,००,००० वर्गमील है। इसके ३/४ अंश पर तो जल है और १/४ अंशसे कुछ कम भाग स्थलीय है।

समयाभाव वश मैंने इस संक्षिप्त लेखमें कुछ मोटे मोटे प्रमाण देकर ही पृथ्वीकी गोलाई सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यदि पाठकोंकी इच्छा हुई और समय मिल सका तो एक दूसरे लेख द्वारा पृथ्वी की गति पर भी विचार करूँगा। मुझे आशा है कि पाठकगण मेरे इस लेखका सदुपयोग करके मेरे प्रयत्नको सफलीभूत बनायेंगे

विविध विषय।

एक जैन साध्वीके गुप्त प्रेम का परिणाम

फलोदी (मारवाड़) के जैन उपाश्रयमें रहनेवाली एक जैन साध्वी को किसीसे गर्भ रह गया। ओसवाल नवयुवकोंकी प्रेरणासे उसे जोधपुरके महारानी वनिताश्रममें भिजवा दिया गया है। अफवाह है कि उक्त आर्यिकाका किसी पुलिस कान्सटेबिलसे अनुचित सम्बंध था। जैनियोंका कर्तव्य है कि ज्येष्ठा आर्यिकाके समान इसके प्रति भी स्थितिकरण अंगका पालन करें।

एक हिन्दू महिलाकी वीरता—

मौजे सावौं (मुरादाबाद) मे हींग बेचनेवाला एक काबुली एक बढ़ईकी स्त्रीको देखकर अत्यंत कामविह्वल होगया और उसने उस पर आक्रमण करना चाहा। स्त्री ने फौरन दरवाजा बंद करलिया। दुर्भाग्यवश उस स्त्रीका लड़का बाहिर रह गया था। उक्त काबुलीने उस स्त्रीको फुसलानेके लिये लड़केको पीटना शुरू

---

* इस पर फिर कभी प्रकाश डाला जायगा।

§ फिर कभी तारा व ग्रहोंकी परिधि निकालनेकी रीति लिखी जायगी। पाठक धैर्य रक्खें।

किया, यहाँ तक कि अंतमें उसका हाथ काटकर घर में फेंक दिया परन्तु तब भी उस स्त्रीने दरवाजा न खोला। आखिर वह काबुली जबर्दस्ती दरवाजा तोड़कर घरमें घुस गया। स्त्री भी जानपर खेल गई और उसने अपने सतीत्वकी रक्षाके लिये उस पिशाच पर बसूलेसे आक्रमण किया और उसका वहीं काम तमाम करदिया। प्रान्तभरमें उस महिलाकी बहादुरीकी बड़ी चर्चा है।

एक जैन युवतीका सत्साहस—रतलामके एक पोरवाड़ जैन महाशयने वृद्धावस्थामें विवाह करनेके लिये 'आटा साटा' करनेकी तजवीज लगाई थी अर्थात् अपनी १८ वर्षीया पुत्रीका विवाह एक अयोग्य व्यक्तिसे कर उसके एवजमें उसके रिश्तेकी एक बालिकासे अपना विवाह करनेका आयोजन किया था। वृद्धमहाशयकी पुत्रीने इसका घोर विरोध किया परन्तु कामलोलुपी बुड्ढा न माना। आखिर अपनी रक्षाका और कोई उपाय न देख उस लड़कीने थाँदलाके एक पोरवाड़ नवयुवकके साथ स्वेच्छासे विवाह कर लिया। रतलामकी जनताने लड़कीके इस साहस पर उसका अभिनंदन किया तथा हर्ष प्रकट किया।

दहेज के लिये हत्या—विवाहके समय अधिक दहेज न मिलनेके कारण लाहौरमें एक १८ वर्षीया दुलहिनकी गला घोंटकर हत्या करदी गई। इस सम्बन्धमें पुलिसने वधूकी सास तथा पतिको गिरफ्तार किया है।

विवाह है या नीलाम?—रींगसके पासके एक गाँव दाद्याके एक अग्रवाल महाशयने चार हजार रुपये लेकर अपनी भतीजीका विवाह एक अधेड़के साथ करना निश्चय किया था। इतने ही मे एक बूढ़ा आठ हजारकी थैली लेकर पहुँच गया। चाचाजी आठ हजारपर फिसल पड़े। नीलाममें ज्यादा रक़म की बोली बोलनेवाले ही को तो माल मिलता है!

जनेऊका ढकोसला—अभी उस दिन स्थानीय तेरहपन्थी पञ्चायतका एक जनेऊधारी खण्डेलवाल जैन युवक एक खटीक जातिकी युवतीके साथ अपना मुँह काला करते हुए पकड़ा गया। हमारे मुनिम्मन्य जबर्दस्ती लोगोंके गलेमें जनेऊका धागा डलवा कर समझते हैं कि हमने समाजको धर्म मार्गमें लगाकर उसका उद्धारकर दिया। वास्तवमें जनेऊ अजागलस्तन मात्र है। खेद है कि मुनि लोग (?) सदाचारका उपदेश देनेके बजाय अर्थशून्य बाह्य क्रियाओंके प्रचारमें व्यर्थ अपना समय बर्बाद करते हैं तथा समाजमें मिथ्या जातिमदके भाव फैलाकर समाज व देशके साथ द्रोह करते हैं।

सुरुचिपूर्ण दान—जयपुर निवासी श्रीमान् नानूलालजी बैदने अपने पुत्र विजयचन्द्रके विवाह के उपलक्षमें ५५) विभिन्न पाठशालाओं, पुस्तकालयों, हरिजन सेवक समिति तथा अन्य उपयोगी संस्थाओंको दान देकर अपनी सुरुचिका परिचय दिया है। १०) जैनजगत्को भी प्रदान किये हैं।

नुकता प्रथा (मृतक भोज) के विरोधमें परिषद्के सभापतिकी अपील—श्री भारत दिगम्बर जैन परिषद्के मेहसाना अधिवेशनमें नुकता प्रथा बन्द करनेके सम्बन्धमें प्रस्ताव पास हुआ था। श्रीमान पण्डित कस्तूरचन्दजी उपदेशक तथा कतिपय इनेगिने व्यक्तियोंके अतिरिक्त प्रायः सब ही उपस्थित व्यक्ति इस प्रस्तावसे सहमत थे। उपदेशक महाशय मृतक भोजको एक आवश्यक धार्मिक-प्रथा मानते हैं! विधवा अपने पतिके वियोगमें विह्वल हो, रो रही है; बच्चे बिलख रहे हैं; कोई उन्हें ढाढ़स बँधानेवाला नहीं, पासमें पैसा नहीं। चाहे जेवर बेचना पड़े, घरबार बन्धक रखना पड़े, परन्तु मोसर तो किया ही जाना चाहिये क्योंकि यह धार्मिक प्रथा है! बिना मोसर किये मृत व्यक्ति की आत्माकी गति नहीं होसकती और उसके परिवारवालोंकी शुद्धि नहीं हो सकती! घरमें कोई व्यक्ति मरगया, यह महान पातक हुआ! अब इस पातकके प्रायश्चित्तके लिये पंचोंको मिष्टान्न भोजन

कराया जायगा, उन्हें तृप्त किया जायगा, तब कहीं मृत व्यक्तिके परिवार वालोंकी शुद्धि होगी ! कैसी अच्छी धार्मिक व्यवस्था है ! अफसोस यह है कि आज इस बीसवीं सदीमें भी पण्डित लोगोंको ऐसी मूर्खतापूर्ण धार्मिक व्यवस्थाएँ देते लज्जा नहीं आती।

मृतक-भोजकी प्रथाके विरुद्ध वातावरण तैयार होरहा है। कई लोगोंने मोसर न जीमनेकी प्रतिज्ञाएँ ली हैं। कई प्रान्तोंमें मोसर प्रथाकी बीभत्सताको कम करनेके लिये यह नियम बनाया गया है कि ३० साल व उससे कम उम्रवाले व्यक्तियोंका मोसर नहीं किया जाय। मोसरमें अमुक संख्यासे अधिक व्यक्तियोंको नहीं बुलाया जाय, आदि। यह काफी नहीं है। मोसरकी प्रथा अमानुषिक है, हृदयहीनताकी द्योतक है, तथा मिथ्या विश्वास व मूढ़तापर उसकी नींव टिकी हुई है। वह व्यर्थ व्यय तो है ही। इस प्रथाको पूर्णरूपेण बन्द करदेना ही उचित है।

गत ता० १६ फरवरीको नागपुरमें स्वर्गीय शिवनारायणजी राठीका मोसर था। राठीजीके उत्तराधिकारियोंको मोसर न करनेके लिये बहुत कुछ समझाया किन्तु वे न माने। इसपर नागपुर व प्रांतके सुधारक युवकोंने मोसरके दिन, दिनको तीन बजे से रात्रिके ७॥ बजे तक पिकेटिंग किया। पिकेटिंग इतना प्रभावोत्पादक हुआ कि जब तक धरना जारी रहा, कोई सज्जन जीमने नहीं गये। स्वयंसेवकोंने जिस तत्परता, दृढ़ता व शान्तिपूर्वक अपने कर्तव्यका पालन किया वह सराहनीय है।

जैनयुवकोंको भी साहसकर आगे बढ़ना चाहिये तथा जैनसमाजसे इस नुकता प्रथाका शीघ्रही अंत करदेना चाहिये। पेटार्थू पण्डित लोग चाहे जितना उलटा सीधा बहकावें, परन्तु यह स्पष्ट है कि जैनधर्म इस प्रथाका किसी प्रकार भी समर्थन नहीं करता। परिषद्के सभापति महोदयने इसविषयमें युवकोंके नाम जो अपील निकाली है वह सर्वथा उचित है। जो लोग परिषदके अन्य मन्तव्योंसे सहमत न हों, उन्हें भी इस महान उपयोगी कार्यमें परिषदके साथ सहयोग करना चाहिये।

शास्त्र-सभा में उद्दंडता——अजमेरमें कई पंचायतों व मन्दिरोंके होते हुए भी सायंकालीन शास्त्रसभाका नियमित प्रबन्ध केवल तेरहपंथी धड़ेके पंचायती मन्दिरमें ही है। वहाँ एक विद्वान शास्त्री वक्ता पद पर नियुक्त है। किन्तु, खेद है कि कतिपय उद्दंड व्यक्तियोंके कारण धर्मजिज्ञासुओंको उक्त शास्त्रसभामें उचित लाभ नहीं मिलता। शास्त्रसभा का मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रावकों को नियम रूप से शास्त्र अध्ययनका अवसर मिले, उनकी शंकाओं का प्रेमपूर्वक समाधान हो, जिससे उनके ज्ञानकी उत्तरोत्तर वृद्धि हो, उन्हें अध्ययन व मननमें रुचि पैदा हो। प्रथम तो वक्ता महोदय ही ऐसी दुर्बल मनोवृत्तिके हैं कि जब कभी कोई विषय ऐसा आजाता है कि जो उपरोक्त व्यक्तियोंके अथवा आश्रयदाता सेठजी के मन्तव्योंके विपरीत हो तो वे प्रायः गोलमोल सा उत्तर देकर चुप हो जाते हैं। कभी कभी वे साहसकर स्पष्ट बात कहदेते हैं अथवा कोई भाई प्रश्नकर स्पष्ट उत्तर जानना चाहता है तो ये लोग खिसियाकर लड़ने तक पर उतारू हो जाते हैं। इन लोगोंको प्रश्नकर्ता को यदि दुर्भाग्यवश वह किसी दूसरी पंचायतका सदस्य हुआ तो——यह कहते लज्जा नहीं आती कि——बस तुम्हारा इस मन्दिरमें क्या अधिकार है ? अगर ऐसे प्रश्न करोगे तो कान पकड़ कर मन्दिरके बाहिर निकाल दिये जावोगे——मानो मन्दिर उनकी मौरूसी जायदाद हो ! जो लोग ऐसी श्रेणीके व्यक्तियोंकी, जो सर्वज्ञ व आगमके बंधनोंसे बंधे हुए हैं, शंकाओंको भी बर्दाश्त नहीं करसकते, उनका समाधान नहीं करसकते, वे स्वतंत्र विचार वालोंसे क्या बात कर सकते हैं ? खैर, अगर उपरोक्त मन्दिर पंचायती संस्था है तथा वह किसी की मौरूसी जायदाद नहीं है तो पंचों का कर्तव्य है कि वे ऐसी समुचित व्यवस्था करें जिससे प्रत्येक धर्मबन्धु शान्तिपूर्वक वहाँ धर्मसाधन करसकें। —प्र०

(पृष्ठ ७ से आगे)

खल जमा रक्खा है, अमुक विधवा इतनी बार गर्भपात कर चुकी है, अमुक स्त्री एक पतिके होते हुए भी खुल्लमखुल्ला वेश्यावृत्ति कर रही है, अमुक व्यक्तिने खटीक जातिकी स्त्रीके साथ व्यभिचार किया, अमुकने मंदिरका उपकरण हड़प कर लिया, अमुकने मंदिरकी तिजोरी तोड़कर पंचायती रुपया चुरा लिया आदि आदि, परन्तु कभी किसी पंचायतको ऐसे कारणों पर किसीको दंडित करते नहीं देखा गया। पंचायतोंको सदाचारकी वृद्धिके लिये निष्पक्षतापूर्वक ऐसे अपराधियोंको दंड देना चाहिये।

(४) पञ्चायतका प्रत्येक सदस्य चाहे छोटा हो या बड़ा, रईस हो या ग़रीब, बराबर हैसियत रखता है और इसलिये सबके साथ एकसा बर्ताव होना चाहिये।

(५) विषयका निर्णय करते समय उस पर सिद्धान्त रूपसे चर्चा करनी चाहिये, उससे सम्बन्धित व्यक्तिके व्यक्तित्वका खयाल न करना चाहिये। पचायतमें बैठकर अपनी अदावत निकालनेके लिये निर्दोषको दोषी करार देना अथवा अपने मेलवालोंको सदोष होते हुए भी निर्दोष बनाना सर्वथा अन्यायपूर्ण है।

आशा है पंचलोग उपरिलिखित पंक्तियों पर शान्तचित्तसे विचार करेंगे। —एक समाजहितैषी।

साम्प्रदायिकताका विष— लैजिस्लेटिव असेम्बलीके पिछले चुनावके समय अजमेर मेरवाड़ाके सब जैनियोंने प्रायः एकमत होकर श्रीमान रायबहादुर सेठ भागचन्दजी सोनीके निर्वाचनमें सहायता दी थी तथा चुनावमें सफल होनेपर प्रायः सब जैन पत्रोंने इसपर हर्ष मनाया था। कुछ बन्धुओंको तो इस विजयमें जैनधर्मके उद्धारका स्वप्नतक दिखा था और उन्होंने पब्लिक सभाओंमें ये आशाएं प्रकट की थीं कि अब सेठ साहिब असेम्बलीके द्वारा विश्वभरमें जैनधर्मका प्रसार करदेंगे! अस्तु। सेठ साहिबने अपनी नीतिको प्रकट करनेके लिये कोई मैनीफेस्टो (सूचना पत्र) नहीं निकाला, न कहीं कोई भाषण दिया, किन्तु फिर भी जैनियोंने समुदायरूपसे सहयोग किया तथा विजयपर हर्ष मनाया, इसलिये नहीं कि वे सेठ साहिबको उसपदके योग्य समझते थे, किन्तु केवल इसलिये कि सेठ साहिब जैन हैं। जैनगजट, खण्डेलवाल जैनहितेच्छु, आदि पत्रोंके सम्पादकोंने इनके पक्षमें केवल जैन होनेके कारण कई बार लेख लिखे तथा जैनसमाजको इन्हें हरतरह सहायता देनेके लिये प्रेरणाकी। सब जैनी जानते थे कि सेठ साहिबका ज्ञान इतना विशाल है कि वे असेम्बलीमें किसी विषयपर विवेचन करना तो दूर, वे साधारणतः भाषणोंको समझ भी नहीं सकेंगे; यह सर्वप्रकट था कि राजनीतिमें उन्होंने पहिले कभी भाग नहीं लिया और वे अपनी परिस्थितिके कारण अपना स्वतन्त्र मत नहीं रख सकते। क़रीब दो मासे असेम्बली की बैठक हो रही है। इस अवधिमें कई महत्वपूर्ण विषयों पर वहां चर्चा हुई परन्तु सेठ साहिबका अभी तक 'कुँवारपन' ही भङ्ग नहीं हुआ है—समाचार पत्रोंमें अभीतक उनकी 'मेडन स्पीच' होने तक का जिकर नहीं आया। अजमेर-मेरवाड़ा बहुत ही बिछड़ा हुआ प्रान्त है, परन्तु अभीतक सेठ साहिबने उसके सम्बन्धमें कोई प्रश्न भी नहीं पूछा। कई महत्वपूर्ण प्रश्नोंके समय या तो सेठ साहब ग़ैरहाजिर रहे, या आँख मींचकर सरकारका साथ दिया। राजनीतिको जाने दीजिये, जिन प्रश्नोंका सम्बन्ध देशके व्यापार से है, उन तक में सेठ साहिबने देशके हितका ध्यान नहीं दिया और देशके हितोंके विरुद्ध अपनी सम्मति दी। देश व प्रान्तको इनसे क्या आशा हो सकती है? और जैनी भी इनसे अपने धर्म व समाजका क्या उद्धार करा सकते हैं? जैनसमाजने केवल साम्प्रदायिकता के कारण देशके हितोंको ठुकरा कर देशद्रोह किया! क्या जैनसमाज अब भी इसके लिये लज्जा का अनुभव करेगी? साम्प्रदायिकताके विष ने हमारे सारे जीवन को नष्ट कर दिया है, और जब तक यह दूर नहीं होता देशमें जातीयताका जन्म नहीं हो सकता। —एक स्पष्टवक्ता।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works Ajmer.

तार का पता—"JAINJAGAT" Ajmer. Reg: No. N. 352.

वर्ष १० ता० १ अप्रेल सन् १९३५ अंक ९.

जैनसमाज का एकमात्र स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

जैन जगत्

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु। (?)

सर्वतीर्थकृताम्मान्यम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

सूचना।

ग्रीष्म–अवकाशके कारण क़रीब ता० १५ अप्रेल से ता० १५ जून तक जैनजगत् सम्पादक श्रीमान साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ अपने मन्तव्योंके प्रचारार्थ भिन्न भिन्न स्थानोंमें भ्रमण करेंगे। अतः ता० १० अप्रेलके बाद जो महानुभाव उन्हें पत्रादि भेजें वे बम्बई न भेजकर—C/o प्रकाशक जैनजगत् अजमेरके पतेपर भेजें।—प्रकाशक।

अजमेरमें वृहत् उत्सवका आयोजन।

स्थानीय "समस्त पञ्च श्रावक बड़ा धड़ा" के नामसे आगामी मिती वैशाख शुक्ला २ ता० ५ मईसे वैशाख शुक्ला ८ ता० ११ मई तक अजमेरमें वेदी प्रतिष्ठा, कलशारोहण, पट्टाभिषेक, रथयात्रा महोत्सव आदिकी योजना की जा रही है। क़रीब पंद्रह वर्ष पहिले अजमेर गादीके भट्टारक श्री ललितकीर्ति जीका स्वर्गवास हुआ था। तबसे यह गादी खाली है और शायद आगे भी यह गादी खाली ही रहती—कमसे कम भावी भट्टारक श्री० पं० हरखचन्दजीने इस गादी पर बैठनेका ख़याल भी न किया होता, यदि सौभाग्यवश या दुर्भाग्यवश क़रीब दो वर्ष पहिले बड़ाधड़ा पंचायतने उनके मनमाने अधिकारोंमे हस्तक्षेप कर उनसे पंचायती सम्पत्तिका हिसाब न माँगा होता। श्री० पं० बिरधीचन्दजीके स्वर्गवासके बादसे बड़ेधड़ेकी पंचायती सम्पत्ति पं० हरखचंदजी के हाथमें रही है। इसके अलावा पं० बिरधीचंदजी की निजी सम्पत्ति भी जो वे बड़ाधड़ाकी नसियाँ में भोजनशाला बनवानेके लिए दे गये थे, इन्हीके हाथ में है। कई वर्ष बीत जानेपर भी पं० हरखचंदजीने भोजनशालाका कार्य प्रारम्भ नहीं किया। क़रीब दो वर्ष पहिले बड़ाधड़ाकी पञ्चायतने उनसे हिसाब तलब किया तो पंडितजीने इसके लिये कुछ समयकी मुहलत माँगी और तदनुसार पञ्चायतने हिसाब पेश करनेके लिये एक महीने बादकी एक तिथि नियत कर दी। पंडितजीने किसी प्रकार उस तिथिको टाल दिया। बादमें वे बीमार होगये और इलाजके लिये कई महीनों तक बाहर रहे। इस तरह पंचोंको हिसाब बतानेकी बात टलती गई। इसी सिलसिलेमें गत चातुर्मासमें नागौर गादीके भट्टारक महाशयका यहां आगमन हुआ। उनके ठाटबाट तथा मनमानी सत्ता देखकर हरखचन्दजीका जी भी भट्टारक बनने के लिये ललचाया। कुछ समय पहिले स्थानीय छोटे धड़ेकी पञ्चायतसे जायदादके सम्बन्धमें कुछ झगड़ा हो गया था तो उस समय उनकी ओरसे भी ऐसा ही कुछ उत्तर दिया गया था जिसमें पंडितजीको निरधिकारी बताते हुए उनकी हैसियतमें शंका की गई थी।

पंडितजीने सोचा कि भट्टारक बनजाने मात्रसे ही सर्वसिद्धि हो जायगी—न कोई हिसाब किताब पूछ सकेगा, न कोई मेरे कार्यमें किसी प्रकारका हस्तक्षेप कर सकेगा; बस स्वच्छंद रूपसे मैं जो चाहूँगा करूँगा। उन्होंने स्वास्थ्य लाभके लिये वायु-परिवर्तन करनेका बहाना बनाया और शहरसे बाहिर करीब तीन मील दूरी पर "छतरियों" में जाकर रहने लगे। धीरे धीरे पंचायतके कुछ सदस्योंको फुसलाकर उन्हें अपने पक्षमें कर यह प्रतिज्ञा घोषित की कि भट्टारकपद पर प्रतिष्ठित होनेके लिये तिथि नियत होजानेके बाद ही मैं शहरमें लौटूंगा। भट्टारक बनने के लिये पंचोंसे इजाजत लेनेके लिये नहीं, किन्तु उनकी उपस्थितिमें मुहूर्त दिखानेके लिये 'छतरियों' पर ही एक रोज पंचोंको इकट्ठा किया। वहाँ कई व्यक्तियोंने हिसाबके विषयमें चर्चा की परन्तु पंडित जीने योंहीं झूठ मूठ आश्वासन देकर भट्टारक बनने के लिये तिथि नियत करली। परन्तु बादमें आपने स्वयं ही उस तिथिको पलट कर बिना पंचोंकी स्वीकृतिके "समस्त पंच श्रावक बड़ा धड़ा" के नामसे उपरोक्त प्रकार उत्सव करानेके लिये पत्रिकाएँ छपा कर वितरण करादीं। खैर।

हरखचन्दजीके नामके साथ 'पंडित' शब्दका प्रयोग देखकर पाठक शायद यह समझे होंगे कि हरखचन्दजी शास्त्री न्यायतीर्थ आदि परीक्षा पास न हों तो भी कमसे कम संस्कृत व हिन्दीका कामचलाऊ ज्ञान तो अवश्य ही रखते होंगे। उनका भ्रम दूर करनेके लिये ही यहाँ यह प्रकट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि वे संस्कृत समझना तो दूर हिन्दी भाषाकी दो चार पंक्तियाँ भी शुद्ध नहीं लिख सकते। और उनके चारित्रके विषयमें तो लिखना व्यर्थ ही है क्योंकि वे यहाँ काफी ख्यातिप्राप्त हैं। परन्तु मैं भूलता हूँ। प्राचीन कालके मुनियों, भट्टारकों आदिके नामकी कमाई खानेके लिये आजकलके मुनियों भट्टारकों आदिको ज्ञान, तपश्चरण, चारित्र आदिकी कोई आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार नंगा होजाने मात्रसे मुन्नालाल हम्माल आचार्य मुनीन्द्रसागर बनगया, हमारे पंडित हरखचन्दजी भी लाल वस्त्र धारण कर "जैनपत बादशाह श्री १०८ श्री भट्टारकजी श्री हर्षकीर्तिजी महाराज" बन जावेंगे और यह परिवर्तन होते ही उनके घोटेमें, उनकी मालामें, उनकी फूँकमें, उनकी हरएक चीजमें करामात नजर आने लगेगी। —एक जानकार।

नीमचमें श्री चोरड़िया जैनकन्यागुरुकुलकी स्थापना

अजमेर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्सके अवसरपर श्री० समाजभूषण सेठ नथमलजी चोरड़िया ने जैनकन्यागुरुकुलकी स्थापनाके लिये सत्तर हज़ार रुपये दान देनेकी घोषणा की थी। तदनुसार सेठ साहबने गत नवम्बर मासमें उसका ट्रस्टडीड कराकर ट्रस्टी क़ायम कर दिये हैं। गुरुकुलमें ६ वर्षकी अवस्थासे १२ वर्षकी अवस्था तक बालिकाओंको रखकर उन्हें व्यावहारिक, धार्मिक व नैतिक शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया जा रहा है। पढ़ाई निःशुल्क होगी, परन्तु वस्त्र भोजन आदिके लिये मासिक शुल्क १२) देना होगा। साधारणस्थितिके गृहस्थोंसे आधा शुल्क अर्थात् ६) माहवार भी लिया जा सकेगा, परन्तु ऐसी कन्याओंकी संख्या फिलहाल १२ से अधिक न होगी। सर्वथा असमर्थ बालिकाओं को बिलकुल फ्री भी भरती किया जा सकेगा किन्तु ऐसी बालिकाओंकी संख्या फिलहाल ४० से अधिक नहीं होगी। कन्याओंको हिन्दी, गणित, इतिहास, भूगोल, अंग्रेजी, सामान्य संस्कृत, पाकविद्या सब प्रकारकी सिलाई, मोजा, स्वेटर, मफलर आदि बुनना, मलमें सितारेका काम, भरत जरीका काम, संगीत, चित्रकारी आदि विषयोंकी शिक्षा देकर उन्हें सुयोग्य गृहिणी बनानेका उद्योग किया जावेगा। गुरुकुलका सञ्चालन सेठ साहिबकी सुपुत्री श्रीमती केसरबाई तथा पुत्रवधू श्रीमती फूलकुँवरदेवी (जो अभी वर्धा गाँधी महिलाश्रममें अध्ययन कर रही हैं) की देखरेखमें होगा। जैनियोंको इस संस्थासे लाभ उठाना चाहिये।

वर्ष १० | अंक ६

चैत्र कृष्णा १३ | ता० १ अप्रेल

वीर संवत् २४६१ | सन् १९३५ ई०

महात्मा कृष्ण ।

तू था जीवनका रहस्य दिखलानेवाला ।
कर्मोंमें कौशल्य-पाठ सिखलानेवाला ॥
योग भोगका सत्य समन्वय करनेवाला ।
सूखे जीवनमें अनन्त रस भरनेवाला ॥१॥

सच्चा योगी और प्रेम-पथ-पथिक रहा तू ।
विषयवासनाके प्रवाहमें नहीं बहा तू ॥
नयी प्रीतिकी रीति योगके संग सिखाई ।
मानो अम्बुदवृन्द संग चपला चमकाई ॥२॥

जब समाजकी दशा होरही थी प्रलयङ्कर ।
अत्याचारी दुष्ट बने थे भूत भयंकर ॥
मातपिताको पुत्र कैदखाना देता था ।
बहिन-बेटियोंका सुभाग्य भी हर लेता था ॥३॥

छलबलका था राज्य नीतिका नाम नहीं था ।
थे स्वार्थी सब लोग, सत्यसे काम नहीं था ॥
सभ्यजनोंमें भी न मान महिला पाती थी ।
जगह जगह बीभत्स वासना दिखलाती थी ॥४॥

ऐसा कोई न था समस्या जो सुलझाता ।
दिग्विमूढ़ मानव समाज को पथ बतलाता ॥
न्याय और सत्यकी विजय का ज्ञान लड़ाता ।
पीड़ित की सुनकर पुकार जो दौड़ा आता ॥५॥

लाखों आँखें बाट देखतीं थी तब तेरी ।
उनको होती थी असह्य क्षण क्षणकी देरी ॥
अगणित आहें रहीं वाष्पमय वायु बनातीं ।
कर करुणा संचार हृदय तेरा पिघलातीं ॥६॥

तू अदृश्य था किन्तु बुलाते थे तुझको सब ।
कहता था संसार 'अरे आवेगा तू कब' ?
'कब जीवन की कला जगत् को सिखलावेगा ?
सत्य, अहिंसाका पुनीत पथ दिखलावेगा' ॥७॥

आखिर आया, हुई भयंकर वज्र गर्जना ।
दहल उठे अन्याय, पाप की हुई तर्जना ॥
दुखी जगत्को देख सभीको गले लगाया ।
आखिर तू रो पड़ा, हृदय तेरा भर आया ॥८॥

मिला तुझे भगवान सत्यका धाम दुःखहर ।
मन ही मन भगवती अहिंसाको प्रणाम कर ॥
माँगी तूने छोड़ स्वार्थमय सारी ममता ।
दुखी जगत्के दुःख दूर करनेकी क्षमता ॥९॥

दिव्य नेत्र खुल गये दुःखका कारण जाना ।
जीने मरनेका रहस्य तूने पहिचाना ॥
दुख-विनाश-संकल्प हृदयमें तूने ठाना ।
तूने निश्चित किया सत्य-सन्देश सुनाना ॥१०॥

कर्मयोग संगीत सुनाया तूने ज्यों ही ।
सकल मानसिक रोग निकलकर भागे त्यों ही ॥
किंकर्तव्यविमूढ़ता न तब रहने पाई ।
अकर्मण्य भी कर्मपाठ सीखे सुखदाई ॥११॥

सर्व-धर्म-समभाव हृदयमें धरके तूने ।
सब धर्मोंका सत्य समन्वय करके तूने ॥
मानव मनके अहंकारको हरके तूने ।
मनुष्यत्वका पाठ दिया जी भरके तूने ॥१२॥

यद्यपि जगको सदा सत्य-सन्देश सुनाया ।
पर दुष्टोंके लिये सुदर्शन चक्र चलाया ॥
दूतसूत आदि विविध रूप अपना बतलाया ।
जहाँ ज़रूरत पड़ी वहाँ तू दौड़ा आया ॥१३॥

तू छलियोंको छली, योगियोंको योगी था ।
था क्रूरोंको क्रूर, भोगियोंको भोगी था ।
निज निजके प्रतिबिम्ब तुल्य तू दिया दिखाई ॥
मानो दर्पण प्रभारूप तेरा धर आई ॥१४॥

मुरलीकी ध्वनि कहीं, कहीं पर चक्रसुदर्शन ।
कहीं पुष्पसा हृदय, कहीं पर पत्थरसा मन ॥
कहीं मस्त संगीत, कहीं योद्धाका गर्जन ।
कहीं छोड़िया राग, कहीं दुष्टोंका तर्जन ॥१५॥

कहीं गोपियों संग प्रेमका शुद्ध प्रदर्शन ।
भाई बहिनोंके समान लीलामय जीवन ॥
कहीं मल्लसे युद्ध कहीं बच्चोंसी बात ।
बालक लीला कहीं, कहीं दुष्टों पर घात ॥१६॥

कहीं राजके भोग कहीं पर सूखे चाँवल ।
कहीं स्वर्गप्रासाद कहीं विपदाओंका दल ॥
कहीं मेरु सा अचल कहीं बिजली सा चञ्चल ।
वस्त्र भिखारी कहीं, कहीं अबलाका अंचल ॥१७॥

कहीं सरलतम हृदय कहीं पर कुटिल भयंकर ।
कहीं विष्णुसा शान्त कहीं प्रलयेश्वर शङ्कर ॥
कहीं कर्मयोगेश जगद्गुरु या तीर्थंकर ।
दुर्जनका यमराज सज्जनोंका क्षेमंकर ॥१८॥

मानव-जीवनके अनेक रूपोंका आकर ।
सत्यदेव भगवती अहिंसाका तू चाकर ॥
तूने अगणित ज्ञान रत्न थे विश्वको दिये ।
मुझको बस तेरे अखंड पदचिन्ह चाहिये ॥१९॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त) ।
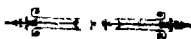
विविध शंकाएँ ।

सत्यसमाजकी रूपरेखा नवम वर्षके २१वें अंक में प्रकाशित हुई, उसके बाद ही २२वें अङ्कमें सत्य-समाजके विषयमें आवश्यक शङ्काओंका समाधान किया गया; इसके बाद भी अनेक प्रश्नोंका समाधान किया गया है। बम्बईकी सत्यसमाज व्याख्यानमाला में भी मैं बहुतसी शङ्काओंका समाधान किया करता हूँ। परन्तु सत्यसमाजका ठीक ठीक रूप लोगोंके सामने लानेके लिये तथा उसकी व्यावहारिक कठिनाइयोंको दूर करनेके लिये न मालूम कितनी शङ्काओंका समाधान करना पड़ेगा। मैं ऐसी शङ्काओंका सिर्फ स्वागत ही नहीं करता हूँ, किन्तु पाठकोंसे अनुरोध करता हूँ कि वे कठोरसे कठोर शङ्काएँ भेजें। इससे सत्यसमाजकी उपयोगिता समझनेमें बहुत सुभीता होगा, तथा उसके जो रूप अनिश्चित हैं, उनका भी निश्चय हो जायगा। साथ ही आवश्यक और उचित परिवर्तन भी हो सकेगा।

पूना सत्यसमाजके एक सदस्य—श्रीयुत कनकमलजी मुणोत बी० ए० (आनर्स)—की तरफसे मेरे पास बहुतसी शंकाएँ आई हैं। शंकाएँ अविश्वासका फल नहीं, किन्तु जिज्ञासाका फल है। उनके उत्तर द्वारा पाठकोंके सामने बहुतसी बातें रक्खी जा सकेंगी।

शङ्का (१)—आपने नैष्ठिकसदस्यकी व्याख्या करते हुए यह दिग्दर्शित किया है कि—"जो लोग अपने सम्प्रदाय या समाजमें रहना नहीं चाहते या किसी कारणसे रह नहीं सकते वे लोग वहाँसे सम्बन्ध तोड़कर इस समाजके नैष्ठिक सदस्य कहलायेंगे", समाजके त्यागका क्या अर्थ है? क्या ओसवाल ओसवाल न रहेगा? खण्डेलवाल खण्डेलवाल न रहेगा? हाँ, वह जातिपाँतिका पक्षपाती न होगा, न उसमें उसे आनन्द प्राप्त होगा, न एक ही ज्ञातिको—जिसमें उसका जन्म हुआ है—उसे महत्व देगा। लेकिन उस जातिमें तो उसकी गणना होगी न? आर्य-

समाजी खुदको आर्यसमाजी जातिके मानते हैं या हिन्दू ? अपने समाजका सम्बन्ध तोड़ना याने समाजकी पंच पचायत आदिमें भाग न लेना, इतना ही न ? यद्यपि वह उक्त समाजमें प्रमुखतासे भाग न लेगा तथापि उसी समाजका वह कहलावेगा न ?

समाधान——अगर किसीको ओसवालका पक्षपात नहीं है, उसमें आनन्द नहीं है, उसको वह महत्व भी नहीं देता, और दूसरी किसी भी जातिके साथ बेटी-व्यवहार करनेको तैयार है, तब उसका ओसवाल कहलाना विशेष महत्व नहीं रखता। एक मनुष्य साधु बन जाने पर ओसवाल कहलाता है, परन्तु वह स्वयं ओसवाल कहलानेकी कोशिश नहीं करता। हाँ, दूसरे लोग उसे ओसवाल भले ही समझा करें। अभी उस दिन महात्मा गाँधी जीको उनकी जातीय सभामें निमन्त्रण मिला था, जिसके उत्तरमें उनने इस आशयका वक्तव्य दिया था कि अब मैं उस भूली हुई बातको याद नहीं करना चाहता। बस, यही उपेक्षावृत्ति ही उस समाजका त्याग है। इस बातको मैं अपने ऊपर ही घटाकर स्पष्टीकरण कर देता हूँ।

कई लोग परवार समझकर मेरी प्रशंसा करते हैं, परन्तु मैं तुरन्त कह देता हूँ कि मैं अब अपनेको परवार समाजका सदस्य नहीं समझता। अगर मुझे परवार सभा एक सदस्यकी हैसियतसे निमन्त्रण दे तो मैं उसे स्वीकार न करूँ। हाँ, किसी सलाहकार की हैसियतसे या और किसी सेवाके लिये बुलावे तो एक सेवकके रूपमें जाना आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि मैं ऐसी सेवकता किसी दूसरी जातिकी भी स्वीकार कर सकता हूँ। अगर परवार सभाका कोई आदमी मर्दुमशुमारी करने आवे तो मैं उससे पूछूँगा कि तुम परवार जातिमें पैदा होनेवालोंके नाम लिख रहे हो या परवार जातिके सदस्योंके ? पहिली हैसियतसे तुम मेरा नाम लिख सकते हो; दूसरीसे नहीं। अगर कोई ऐसी संस्था हो जिसमें परवार जातिके सिवाय दूसरी जातिका आदमी मेम्बर न बन सकता हो तो मैं उसमें अपना नाम न जोडूँगा। अभी एक भाईका मुझे पत्र मिला जो कि मेरी स्तुति से रँगा हुआ था। इस तरहके कई पत्र मिलने पर मुझे मालूम हुआ कि मैं परवार हूँ इसलिये यह आकर्षण है; तब मैंने उसे लिखा कि तुम यह आकर्षण बन्द कर दो। अगर तुम मुझे सत्यभक्त या समाजसेवक समझकर चाहते हो तो ठीक, नहीं तो आकर्षण वापिस लेलेना चाहिये। नैष्ठिक सदस्य किस तरह अपनी जातीयताका त्याग करे, इसके ये थोड़ेसे नमूने हैं।

परन्तु इस सङ्कुचित जातीयताका त्याग करने पर भी कौटुम्बिक सम्बन्ध और नातेदारीसे सम्बन्ध नहीं टूटता। नैष्ठिक सदस्य हो जाने पर भी उसके भाई भतीजे बहिन बहिनोई साले ससुर आदि ज्यों के त्यों बने रहेंगे। हाँ, वे लोग अगर इस तरहका सम्बन्ध न रखना चाहें तो बात दूसरी है। मेरा ध्येय इतना है कि कुटुम्ब और मनुष्यताके बीचमें जाति-पाँतिका जो निरर्थक पचड़ा पड़ा हुआ है वह नष्ट हो जाना चाहिये।

कोई पूछ सकता है कि जब हम ओसवाल ही न रहे, तब उसके सदस्योंके साथ हमारा सम्बन्ध कैसे रहेगा ? बस, इसी भ्रमको नष्ट करनेकी जरूरत है। अपनको इन भेदोंको बिलकुल नाजायज ठहरा देना है और कहना है कि हमारी तुम्हारी नातेदारी ओसवाल परवार आदिकी हैसियतसे नहीं किन्तु एक मनुष्यकी हैसियतसे है।

एक हिन्दू जब मुसलमान हो जाता है, उस समय वह अपनी हिन्दूजातिकी टुकड़ीको भूल जाता है। उसी तरह सत्यसमाजी (नैष्ठिक) को भी भूल जाना चाहिये। हाँ, भूतपूर्व प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा से आवश्यकता होनेपर वह अपनी ओसवालताका जिकर कर सकता है। परन्तु मुसलमान होकर भूलनेमें और सत्यसमाजी होकर भूलनेमें थोड़ा अन्तर है। वह यही कि उसमें कौटुम्बिक सम्बन्ध भी विच्छिन्न कर देना पड़ता है; जब कि यहाँ नहीं

होना। पुरानी समाजसे उसे द्वेष हो जाता है; जब कि यहाँ प्रेम और उचित सहयोग बना रहता है।

आर्यसमाजकी लड़ाई हिन्दुत्वसे नहीं है, बल्कि एक तरहसे हिन्दुत्व तो उसका आदर्श ही है। इसलिये आर्यसमाजी अपनेको आर्यसमाजी समझे और हिन्दू भी समझे तो कोई विरोध नहीं है। जैसे कि सत्यसमाजी अपनेको सत्यसमाजी समझे और मनुष्य भी समझे। हाँ, ओसवाल, अग्रवाल, दस्सा बीसा आदि न समझना चाहिये। आर्यसमाजमें व्यावहारिकरूपमें कुछ ढीलापन होगा परन्तु उसका अनुकरण करनेकी हमें आवश्यकता नहीं है।

हाँ, मान लो कि ओसवाल जातिने यह नियम बना लिया कि वह किसी भी जातिके साथ सम्बन्ध करनेको तैयार है और निर्विरोध ऐसे सम्बन्ध होते भी हैं तो ऐसी अवस्थामें ओसवाल आदि 'सरनेम' की तरह अपनाये जा सकते हैं। जैसे आगारकर, पुणेकर, नांदूरकर, येलनकर आदि सरनेम हैं उसी तरह ओसवाल भी बने। वास्तवमें ओसवाल यह 'सरनेम' ही है। मराठीमें जिस अर्थमें 'कर' लगाया जाता है उसी अर्थमें हिन्दीमें "वाला" या "वाल" लगाया जाता है। 'ओसिया वाल' जो कि पीछेसे 'ओसवाल' होगया, वास्तवमें 'ओसियाकर'की तरह सरनेम है। आज फिर उसको अपने उसी मूलरूप में ले जाना चाहिये।

एक प्रश्न यह भी होगा कि इन जातियोंको सरनेम बनानेके लिये अपनेको उनका सदस्य क्यों न रक्खा जाय? बस, यहाँ पाक्षिक और नैष्ठिकका भेद स्पष्ट होता है। यह काम पाक्षिकका है, नैष्ठिकका नहीं। नैष्ठिक बाहर रहकर ऐसी शक्ति तैयार करता है जिससे उस सङ्कुचित जातीयताका ध्वंस हो जाय। (उसकी विशेष उपयोगिता दूसरे प्रश्नके उत्तरमें कही जायगी)। पाक्षिक भीतर रहकर यही काम करता है। जब तक ओसवाल आदि जातियाँ 'सरनेम' की तरह न मानी जाने लगें और उनका रूप भी ऐसा न बन जाय तब तक नैष्ठिक सदस्यको उनका सरनेम की तरह उपयोग न करना चाहिये।

शङ्का (२)—नैष्ठिक सभासदके लिये स्वसमाज तथा स्वसम्प्रदायके त्यागकी आवश्यकता क्यों प्रतीत होती है? उसकी पूर्ण निष्ठा सत्य और अहिंसापर हुई कि काम बना। क्या अपनी ज्ञातिमें या अपने सम्प्रदायमें रहकर मनुष्य, सत्यसमाजके सब नियमोंका (नैष्ठिकशाखाका) यथोचित पालन न कर सकेगा?

समाधान—इस प्रकारकी शंका ही नैष्ठिकशाखा की आवश्यकता बतलानेके लिये काफी है। जब हम समझते हैं कि जातिके नामपर चलती हुई ये टुकड़ियाँ नाजायज हैं, तब भी जो उनका सूक्ष्म मोह भीतर बैठा है उसे पूर्ण नष्ट करनेके लिये नैष्ठिक सदस्य आवश्यक है। और इसकी व्यावहारिक उपयोगिता तो और भी अधिक है। मान लो सत्यसमाजमें नैष्ठिक भेद नहीं है, सभी पाक्षिक सरीखे हैं। अब एक आदमी ऐसा है जो जातिसे अलग कर दिया गया है। तब क्या वह ओसवाल पाक्षिक या परवार पाक्षिक बन सकता है? फिर वह ओसवाल बने कि परवार, यह कठिनाई तो है ही। साथ ही अगर उसे इन टुकड़ियोंमें शामिल होना पसन्द न हो और न वह वैष्णव शैव आदि बनना चाहता हो तो वह कहाँ जाय? मान लो कोई व्यभिचारजात हो—पंढरपुर सरीखे किसी आश्रममें जन्मा हुआ बालक हो, या किसी घूरेपर पड़ा हुआ मिला हो—परन्तु हिन्दू ऋषियोंकी तरह ज्ञानी बन गया हो, बलवान हो गया हो और वह सत्यसमाजका सदस्य बने तो उसे किस समाजकी शाखाके आगे नाक रगड़ना चाहिये जिससे वे उसे अपनेमें मिला लें? नैष्ठिक सदस्य न रहनेसे सत्यसमाजका केन्द्र ही नष्ट हो जायगा। वहाँ साधारण स्थान ही न रह जायगा। जातिमदका बीज ज्योंका त्यों सुरक्षित रह जायगा। इतना ही नहीं, बल्कि पाक्षिकोंका बल टूट जायगा। अभी तो एक पाक्षिक, सत्यसमाजके नियमोंका पूर्ण पालन करता है और उसे बल रहता है कि अगर मेरी जातिने और मेरे सम्प्रदायने मेरा बहिष्कार

किया तो मैं नैष्ठिक बन जाऊँगा। इस बलसे समाज में निर्भय होकर काम कर सकता है। परन्तु नैष्ठिक शाखा न होनेसे उसे यह बल न मिलेगा। वैष्णवसे निकलकर शैव या जैन बनना, ओसवालसे निकलकर परवार अग्रवाल बनना बहुत कठिन है तथा अनुचित भी है।

यहाँ एक प्रश्न होसकता है कि यदि ऐसा है तो जो लोग इस प्रकार बहिष्कृत हैं, व्यभिचारजात हैं, या अनार्य आदि श्रेणियोंके हैं, वे सब मिलकर अपना एक सामान्य वर्ग बना लें, परन्तु जो ऐसे नहीं हैं वे नैष्ठिक क्यों बनें?

ऐसा करनेपर सत्यसमाजके दो भेद तो हो ही गये। सिर्फ नाममें स्वर व्यञ्जनका अन्तर हुआ। 'नैष्ठिक' की जगह 'सामान्य वर्ग' या ऐसा ही कोई नाम रक्खा गया। परन्तु इससे ऐसी भयङ्कर हानि होगी जो सत्यसमाजकी जड़में कुठाराघात करेगी। वह सामान्यवर्ग बहिष्कृतों और पतितोंका कहलाने लगेगा, और जातिमदका नंगा नाच होने लगेगा। साथ ही, नैष्ठिक सदस्य सत्यसमाजका पालन तो करेंगे पाक्षिकोंसे अधिक हो, परन्तु उनका स्थान होगा नीचा। यह घोर अन्याय होगा। इसलिये नैष्ठिकोंमें ऐसे लोगोंको पहिले ही आगे आना चाहिये जो बहिष्कृत नहीं हैं, व्यभिचारजात नहीं हैं, अनार्य आदि श्रेणियोंके नहीं हैं। उनके आनेसे नैष्ठिक श्रेणी गौरवहीन न होने पावेगी। अगर हम मानते हैं कि वर्तमानकी जातियोंके द्वारा बहिष्कृत होनेका कुछ मूल्य नहीं है, व्यभिचार पाप है परन्तु व्यभिचारजातता पाप नहीं है, दस्सा और बिनैक्या होना पाप नहीं है, किसीभी देश और किसीभी जातिमें जन्म लेना पाप नहीं है, धर्म और उच्चता, हाड़ और मांसकी वस्तु नहीं है, तब हमें उन सब लोगोंको छातीसे लगाना चाहिये; हमारे और उनके बीचमें जो दीवाल खड़ी है उसे गिरा देना चाहिये। सत्यसमाजके उद्देशोंमेंसे यह एक महान उद्देश है। यदि हमारे हृदयमें अभी भी शुद्धयशुद्धि का पुराना भ्रम मौजूद है, तो हमारी मनोवृत्ति सत्य समाजीकी मनोवृत्ति नहीं है।

इसपर यह प्रश्न होसकता है कि यदि ऐसा है तो पाक्षिक श्रेणी क्यों बनाई? एक ही नैष्ठिकश्रेणी रखना थी। परन्तु पाक्षिक श्रेणी बनानेका पहिला कारण तो यह है कि जिसप्रकार हमारे पास सम्प्रदायातीतता तथा जात्यतीतताका आदर्श बतलानेके लिये नैष्ठिकश्रेणी है, उसीप्रकार सब सम्प्रदायोंसे तथा समाजोंसे प्रेम बतलानेके लिये पाक्षिकश्रेणी है। यदि सभी नैष्ठिक होजाँयगे तो सत्यसमाजी और दूसरे लोगोंके बीचमें जो पुल है वह टूट जायगा। जाति और सम्प्रदायोंके भीतर रहकर सत्य समाज के व्यावहारिक रूपको कार्यरूपमें परिणत करनेवाले मिट जायेंगे। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि पाक्षिक श्रेणी उन लोगोंके लिये है जिनकी परिस्थिति एकदम समाज छोड़नेकी नहीं है परन्तु समय आनेपर वे समाज छोड़ सकेंगे। ध्येय यह है कि लोग पहिले पाक्षिक सदस्य बनें किन्तु ज्योंही उनकी झिझक निकल जाय, परिस्थिति अनुकूल हो जाय, नामका मोह निकलजाय त्योंही नैष्ठिक बन जायँ। जो लोग एकदम नैष्ठिक बन सकते हैं वे और भी अच्छा करते हैं। जो लोग पहिलेसे पाक्षिक भी नहीं बन सकते हैं, वे अनुमोदक बनकर सत्यसमाजसे सम्बन्ध रख सकते हैं। इसप्रकार क्रमसे आगे बढ़नेका एक मार्ग तैयार कर दिया गया है। पाक्षिक और नैष्ठिकके अधिकारोंमें कोई भेद नहीं रक्खा गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि अनुचित अहंकारको स्थान न मिल जावे। दूसरी बात यह है कि आन्तरिक विश्वास और कार्यक्षेत्रके मुख्य मुख्य भागोंमें दोनों क़रीब एक सरीखे हैं।

समाजको त्यागे बिना सत्यसमाजके सब नियमों का पालन होसकता है, परन्तु उससे वह सत्यसमाजी कहलायगा। नैष्ठिककी जो विशेषता है, वह उसमें नहीं आसकती।

शंका (३) - नैष्ठिक सदस्य और पाक्षिक सदस्य इनमें तात्त्विक दृष्टिसे क्या फ़र्क है ? व्याख्याओं में अन्तर है। एकमें ज्ञाति धर्मका त्याग है और सत्य समाजका अंगीकरण; दूसरेमें ज्ञातिधर्मका त्याग न करते हुए सत्यसमाजके तत्त्वोंका अनुपालन है। तत्त्वत: मुझे फ़र्क नज़र नहीं आता है।

समाधान - तत्त्वत: उनमें फ़र्क नहीं है, तब नज़र कैसे आयगा ? व्यावहारिक रूपमें जो उनमें थोड़ा बहुत अन्तर है, वह उपर्युक्त दो समाधानोंमें स्पष्ट होगया है।

शंका (४) पिछले कतिपय उदाहरणोंमें देखनेमें आता है कि जिससमय समाजमें मूर्त्तिपूजाका प्रचार हुआ उसवक्त मूर्त्तिप्रजायोजकोंका यही हेतु था कि मूर्त्तियाँ सिर्फ़ रूपकमय रहें। लेकिन इस रूपकमय स्मारकमें कालके प्रभावसे परिवर्तन होकर अब मूर्त्तिपूजाने घर कर रक्खा है। अथवा उसका मूलभूत उद्देश एक तरफ़ रहगया है, और दूसरेही रूपमें उसका पूजन होने लगा है। उसको केवल आलम्बन रूप अब कितने लोग मानते हैं ? इसीप्रकार अहिंसा और सत्यकी आजकी रूपकमय मूर्त्तियाँ कल वही रूप धारण न करेंगी ? भावि प्रजा भगवान सत्य और भगवती अहिंसा की—यदि उनकी रूपकमय मूर्त्तियाँ आज स्थापित करदी गईं—द्रव्य पूजाही करेगी। जिस उद्देशसे उनका प्रतिष्ठान आज होगा वह उद्देश क्या भाविकालमें भी रह सकेगा ? इसलिये मेरी अल्पमतिमें यह ठीक होगा कि ऐसी रूपकमय मूर्त्तियाँ न रक्खी जाँय। विद्यमान मूर्त्तिपूजाको जो स्थान आज प्राप्त हुआ है, वह इसको भी होगा। मूर्त्तियोंके अलावा उन सिद्धान्तोंके पोषक विविध तत्त्वोंसे पूरित बोधमय वचन उक्त मन्दिरोंमें लगाये जायँ तो क्या मूर्त्तियोंका हेतु उनसे सफल न होगा ? खर्चा भी न होगा, तथा आजकी अनेक हिन्दू जैनों की मूर्त्तियोंमें इनकी और वृद्धि न होगी।

समाधान—इस शङ्कामें मूर्त्तिसे सम्बन्ध रखने वाले कई प्रश्न हैं। पहिला प्रश्न तो यही है कि मूर्त्ति रखना कि नहीं ? दूसरा प्रश्न यह है कि रखना तो सत्य, अहिंसाकी रखना कि नहीं ? विशेष व्यक्तियोंके लिये मूर्त्तिकी अनावश्यकता स्वीकार करते हुए भी मुझे यह कहना पड़ता है कि साधारण जनताके लिये मूर्त्ति आवश्यक है। जहाँ पूजा, भक्ति, स्तुति आदि हैं वहाँ मूर्त्ति भी होनी चाहिये। हृदयके लिये एक आलम्बन चाहिये। जो लोग मूर्त्तिपूजक नहीं हैं वे भी आलम्बनके लिये मसजिद, प्रार्थनामन्दिर स्थानक, आदि बनाते हैं। काबाका अमुक पत्थर, क़ब्र, ताज़िया आदि सब मूर्त्तियाँ हैं। जो हमारा आदर्श है तथा आराध्य उसका स्मरण करानेवाली कोई वस्तु आदरकी पात्र होती है, यह हृदयकी स्वाभाविक वृत्ति है और यही मूर्त्तिपूजा है। मूर्त्तिपूजाका दुरुपयोग हुआ है, और उसके विरोध का भी दुरुपयोग हुआ है। अन्धभक्तिमें कोई कम नहीं रहा। बल्कि मूर्त्तिपूजाके विरोधने मूर्त्तियोंको तोड़कर लोगोंका हृदय तोड़नेकी चेष्टा अधिक की है। खैर, यह विषय स्वतन्त्र है, इसके यहाँ कहनेकी जरूरत नहीं है। परन्तु मूर्त्तिपूजाके विरोधी और अविरोधी दोनोंको यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि मूर्त्तिपूजा मूर्त्तिकी पूजा नहीं है किन्तु मूर्त्तिके द्वारा पूजा है। मूर्त्ति तो सिर्फ उसका अवलम्बन है।

द्रव्यपूजा और भाव पूजाका अन्तर भी ध्यान में रखना चाहिये। किसीके प्रति आदर बतलाना द्रव्यपूजा है और उसका अनुकरण करना भावपूजा है। यह मुख्य है, फिर भी दोनों आवश्यक हैं। कोरी द्रव्यपूजा केवल मूर्त्तियोंकी ही नहीं होती है परन्तु उन व्यक्तियोंकी तथा गुणोंकी भी होती है। सत्यके गीत गाना किन्तु उसका पालन न करना सत्य की द्रव्यपूजा है। मतलब यह कि द्रव्यपूजा पर्याप्त नहीं है, पर बुरी नहीं है; साथ ही वह मूर्त्तिके बिना भी उतनी ही होसकती है जितनीकि मूर्त्तिसे।

हाँ, अगर कोई सत्यसमाजी पाक्षिकका हृदय ऐसा हो कि वह मूर्त्तिका उपयोग न कर सकता हो

तो उसे इसके लिये विवश नहीं किया जासकता। वह मूर्तिको लक्ष्यमें लेकर नहीं किन्तु अपने मनो-मन्दिरके देवको लक्ष्यमें लेकर प्रार्थना कर सकता है। सत्यसमाज मन्दिरमें वह मूर्तिके साम्हने नहीं किन्तु बाजूमें खड़ा होसकता है और मूर्तिको नहीं किन्तु किसीभी आसमानी या मानसिक अवलम्बन को–रूपको–प्रणाम कर सकता है। वह निराकार या साकार रूपमें जैसी कुछ कल्पना करसके उसे प्रणाम कर सकता है। सत्यसमाज किसीके सिरपर मूर्तिपूजा नहीं लादना चाहता, किन्तु जिनको आवश्यकता है उनको सुविधा देना चाहता है, तथा सर्वधर्मसम-भावका मूर्तिमंत रूप दुनियाको बताना चाहता है। वह सर्वसाधारणकी चीज़ बनना चाहता है। बुद्धि और मनका समन्वय करना चाहता है।

यह तो हुई सामान्य मूर्तिपूजाकी बात। अब दूसरा प्रश्न है रूपकमय मूर्तियोंका। इसमें एक बड़ी भारी आपत्ति यह हो सकती है कि रूपकोंको कालान्तरमें व्यक्तित्व मिलजाता है और वह भी झगड़े की चीज़ बनजाता है। यह ठीक है, परन्तु सत्य-समाजमें तो राम कृष्ण महावीर बुद्ध आदि वास्तविक व्यक्तियों तकमें विरोध दूर किया गया है तब कल्पित व्यक्तित्वके साथ विरोध तो और भी कठिन है। अगर सत्य अहिंसाकी मूर्तियाँ न रक्खी जाँयगी तो बाकी मूर्तियाँ महापुरुषोंकी मूर्तियाँ न रहकर भगवानोंकी मूर्त्तियाँ बनजाँयगी। परन्तु उपर्युक्त महापुरुषोंमें देवत्वका आरोप नहीं करना है। सत्य और अहिंसाके सेवकोंमें वे आदर्श रूप थे, श्रेष्ठ थे बस, इससे ऊँचा स्थान किसी भी वास्तविक व्यक्तिको नहीं देना है। सत्य और अहिंसाके अनुचर, दूत, आदि रूपमें ही उनकी पूजा है—इस भावको हम भूल न जावें इसके लिये सत्य और अहिंसाकी मूर्त्ति अत्यावश्यक है।

गुणोंको जो व्यक्तित्व (personification) दिया जारहा है वह इसलिये कि उसके बिना कोई साकार रूप मनमें लाया नहीं जासकता। भारतमाता नामकी कोई देवी न होने पर भी हमें उसका चित्र आकर्षित करता है और एक कपड़ेके टुकड़ेको राष्ट्र-ध्वज कहकर हम मूर्तिपूजक न होकरके भी सिर झुकादेते हैं। यूनियनजैकके आगे मूर्तिपूजाका विरोधी प्रोटेस्टेन्ट अंग्रेजभी सिर झुका देता है। अमेरिका सरीखे प्रोटेस्टेन्ट देशमें भी स्वतन्त्रता देवीकी मूर्त्ति बनायी जाती है। लक्ष्मी और सरस्वतीकी नारीमूर्तियाँ या नारीचित्र बनते ही हैं। इसप्रकार इनको व्यक्तित्व दिया जाकर के भी वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त नहीं होता। एक तो इनके नामभी ऐसे प्रसिद्ध गुणवाचक हैं कि इनको वास्तविक व्यक्तित्व प्राप्त न होगा। इनकी रूपकताका लोगोंको ख्याल रहेगा। दूसरी बात यह है कि पहिले सरीखा ज़माना आज नहीं है। पहिले ज़मानेमें शब्दोंको स्थिर रखने का कोई उपाय नहीं था। शास्त्र या उपदेश श्रुति-स्मृति (सुनने और याद रखने) के रूपमें रहते थे। इसलिये बहुत ही जल्दी विकृत होजाते थे। बल्कि दोचार पीढ़ियोंमें तो मूल शब्दोंका कहीं पता ही नहीं लगता था। आज साधन बढ़गये हैं। "अहिंसा और सत्य रूपक है, कोई व्यक्ति नहीं" इस वक्तव्य को पहिलेके समान विकृत नहीं किया जासकता। सत्यसमाजके साहित्यमें इन बातोंका इतना अधिक और अनेक जगह स्पष्टीकरण किया जायगा कि चिरकाल तक वह तथ्य ज्योंका त्यों लोगोंके साम्हने रहेगा। अगर कदाचित विकृत हुआ भी तो फिर कोई इस तथ्यका उद्धार करेगा। प्रागैतिहासिक कालमें जिन गुणोंको व्यक्तित्व प्राप्त होगया है, और जिसने उन्हें रूपक बनाया था, उसके स्पष्ट वचन उपलब्ध नहीं होरहे हैं फिर भी उनका वास्तविक रूप आज खोजा जासकता है और खोजा जारहा है। फिर आजके युगमें शब्दोंको स्थिर रखनेके अनेक प्रबल और अव्यर्थ साधनोंके रहते हुए पहिले तो तथ्यका लुप्त होना ही कठिन है; अगर हो भी जाय तो उसे ढूँढनेमें भविष्यके खोजियोंको ज़रा भी कठिनाई न होगी।

मूर्त्ति कुछ पत्थर और धातुकी ही नहीं होती, वह कागज और रंगकी, कपड़ेकी तथा अक्षरोंकी भी होती है। जहाँ किसी आकारमें आकर्षण हुआ कि मूर्त्ति होगई। इसलिये वाक्योंको लिखकर टाँगना भी मूर्त्ति होगी। इसप्रकार हम मूर्त्तिको रखही लेंगे किन्तु आकर्षण कम कर लेंगे। इसके लिये तारन-पंथका उदाहरण काफ़ी होगा। तारनपंथी लोग मूर्त्तिविरोधी हैं, किन्तु अक्षरपूजक हैं। इसलिये वे वेदीपर पुस्तक विराजमान करते हैं, उसकी पालकी निकालते हैं, पूजा करते हैं, प्रसाद बाँटते हैं। वे मूर्त्ति को पत्थर कहकर ठुकरा देते हैं, परन्तु पोथीको कागज कहकर नहीं ठुकराते। इसी प्रकार बोधमय वचनोंकी बात है। उनका लगाना अनुचित न होकरके भी वे मूर्त्तियोंकी आवश्यकताको दूर नहीं करते।

मूर्त्ति-वृद्धिकी चिन्ता न करना चाहिये। चिन्ता का विषय है उनमें द्वेषवृत्ति। आज जगत्में हजारों तरहकी मूर्त्तियाँ हैं और उनको लेकर मनुष्यमें जितनी द्वेषवृत्ति है उतनीही बल्कि उससे कुछ बढ़-कर द्वेषवृत्ति उससमय भी होसकती थी जब कि संसारमें हजारोंके बदले सिर्फ़ दो ही तरहकी मूर्त्तियाँ होतीं। द्वेष, मूर्त्तियोंकी विविधताके बहुत्वपर नहीं, किन्तु अनुदारता तथा मूढ़तापर निर्भर है। फिर ये मूर्त्तियाँ तो अन्य मूर्त्तियोंमें समन्वय करनेवाली हैं, इसलिये औषधकी तरह उपादेय हैं।

अब रहगया आर्थिक प्रश्न; सो यह समस्या कठिन नहीं है। मूर्त्ति पत्थरकी न मिले तो मिट्टीकी सही, लकड़ीकी सही, अथवा चित्र ही काफ़ी है। प्रचार होजानेपर दो दो चार चार आनेमें अच्छेसे अच्छे चित्र मिलने लगेंगे। प्रारम्भमें जब तक इतने साधन नहीं हैं तब तक कागज पर 'भगवान सत्य' 'भगवती अहिंसा' आदि लिखकर टाँगा जा सकता है। यह सब सुविधा आजके लिये ही नहीं है, किन्तु सदाके लिये है। जिसकी जैसी रुचि हो, जैसे साधन हों, वैसाही करलेना चाहिये।

शंका (५)—नैष्ठिकोंका एक मन्दिर विविध-पाक्षिकोंके विविध मन्दिर ऐसे एक ही स्थान पर कितने मन्दिर होजाँयगे? इनका खर्च कैसे चलेगा? और एक ही सत्यसमाजमें इतने विविध मन्दिर यह दिलको ठीक नहीं लगती।

समाधान—जब हमें विविध सम्प्रदायोंका सम-न्वय ठीक लगता है, तब विविध मन्दिरोंका समन्वय भी ठीक लगेगा। परन्तु विविध मन्दिरोंका समन्वय करना है, रचना नहीं। रचना तो सिर्फ़ एक नैष्ठिक मन्दिरकी करना है। परन्तु आज भारतमें जो हजारों की संख्यामें मन्दिर बने हैं, उनका समन्वय करनेका ध्येय अवश्य है। उनके वर्तमान रूपको रखना भी नहीं है और उन्हें नष्ट भी नहीं करना है। इसके लिये पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना कीगई है। जैसे एक हिन्दू मन्दिरमें विष्णु मूर्त्ति होने पर विविध कोनों या स्थानोंपर शिव, गणेश, हनुमान आदिकी मूर्त्तियाँ रहती हैं, बस इसी नीतिका कुछ व्यापक और व्यवस्थित रूप पाक्षिक मन्दिर है। जहाँ मन्दिरकी आवश्यकता हो, वहाँ प्रत्येक सत्यसमाजी को—चाहे वह पाक्षिक हो या नैष्ठिक—नैष्ठिक मन्दिर ही बनाना चाहिये। परन्तु अगर उसके हाथमें पहिलेसे ही कोई साम्प्रदायिक मन्दिर हो और उसका नैष्ठिक मन्दिरमें परिवर्तित करना कठिन हो तो उसे पाक्षिक मन्दिरका रूप दे देना चाहिये। अथवा अपनी सामाजिक या अन्य किसी परिस्थितिके अनुसार कभी अपने सम्प्रदायका ही मन्दिर बनवाना अनिवार्य हो तो उसको उसे अपने सम्प्रदायका पाक्षिक मन्दिर बनवाना चाहिये। मतलब यह कि पाक्षिक मन्दिरकी कल्पना तो वर्त-मान मन्दिरोंके सुधारनेके लिये तथा पक्षपात वाले मन्दिरोंको रोकनेके लिये है।

पाक्षिक मन्दिरोंके खर्चका सवाल तो आताही नहीं है क्योंकि उनका खर्च तो जैसा पहिले चलता था वैसा चलता रहेगा। बल्कि सत्यसमाजकी छाप लगजाने से द्रव्यपूजाका खर्चीला रूप शून्यप्राय करदेनेकी प्रेरणा मिलेगी। नये पाक्षिक मन्दिर बन-

वानेकी तो जरूरतही नहीं है, फिरभी कोई बनवाये तो उसका प्रबन्ध उसपर है, सत्यसमाजपर नहीं। नैष्ठिक मन्दिरका खर्च कुछ है ही नहीं, क्योंकि उसमे फल फूल नैवेद्य चढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। सफाईका भार तो सदस्य अपने हाथसे कर लेंगे। हाँ, सत्यसमाजके साहित्यकी छोटीसी एक लाइब्रेरी उसमें अवश्य होगी। इसप्रकार सत्यसमाजका मन्दिर मन्दिर भी है, प्रार्थनालय भी है, स्वाध्याय-शाला या वाचनालय भी है, व्याख्यानभवन भी है, और सदस्योंका मिलन-मन्दिर भी है। उसमें विशेष खर्चकी कोई आवश्यकता नहीं है।

शंका (६) जनगणनाका समय जब आवेगा तब उसमे धर्म सत्यसमाज, और जाति सत्यसमाज ऐसा लिखवाना चाहिये न? लेकिन अधिकारी तो यही कहेंगे कि हम सत्यसमाज नहीं जानते, हमे हिन्दू ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आदि ऐसा कुछ कहो या जैन वैदिक मुसलमान क्रिश्चियन ऐसा कुछ कहो! तब क्या करना चाहिये? आर्यसमाजी बन्धु क्या करते हैं?

समाधान वे कुछभी करते हों परन्तु अपना मार्ग स्पष्ट है। पाक्षिक तो उपर्युक्त ढंगसे भेद लिखवा हो सकता है। सिर्फ धर्मके स्थानमे उसे सत्य समाजी विशेषण और लगवाना चाहिये। जैसे आज लोग श्वेताम्बर जैन, दिगम्बर जैन आदि कहते हैं उसीप्रकार सत्यसमाजी जैन, सत्यसमाजी बौद्ध आदि लिखवाना चाहिये। परंतु नैष्ठिकको तो दोनोंही स्थानों मे सत्यसमाजी ही लिखवाना चाहिये। आवश्यकता होने पर इस नामकी रजिस्ट्री कराली जायगी या और कोई उपाय किया जायगा। दो तीन वर्षमें सदस्योंकी संख्या बढ़जाने पर एक सम्मेलन किया जायगा, उसमें ऐसे प्रश्नोंका निर्णय कर लिया जायगा और उनको व्यवहारमें लानेका उपाय भी सोच लिया जायगा।

शंका (७)—रामराम, जयगोपाल, जयजिनेन्द्र, सलाम आदि जो धर्मसूचक नमस्कारवाचक शब्द हैं उनकी जगह सत्यसमाजका भी कुछ नमस्कार-वचन है? या बन्देमातरम् आदि या सबमें से कोई भी? क्योंकि सत्यसमाजका सदस्य तो निःपक्ष रहेगा, उसके लिये तो सभी तत्त्वतः ग्राह्य हैं।

समाधान—शिष्टाचारके जो शब्द सिर्फ हृदयकी भावनाको बतलाते हैं जैसे कि—प्रणाम, नमस्कार, सलाम, आशीर्वाद, वन्दना, आदि उनके विषयमें कोई विचार नहीं। उनका इच्छा और औचित्यके अनुसार जहाँ चाहे प्रयोग किया जासकता है। बाकी शब्दोंके लिये दो बातें हैं। एक तो जब सत्य-समाजी आपसमें व्यवहार करें तब; दूसरे जब अन्य लोगोंसे व्यवहार किया जाय तब।

सत्यसमाजके लिये भी एक ऐसे शब्दकी आवश्यकता तो है। सत्यसमाजपर प्रकाशित होनेवाली सम्मतियोंमें बहुतसे सज्जनोंने 'जय सत्य देवकी' 'सत्य भगवानकी जय' 'सत्यम् वन्दे' आदि शब्दोंका प्रयोग किया है। परन्तु रामराम, जयजिनेन्द्र आदि शब्दोंका बहिष्कार नहीं किया जासकता क्योंकि इसमें एक तरहकी कट्टरता साबित होगी। इसलिये एक शब्द बना करके भी अन्योंका समन्वय करना जरूरी है।

सत्यका स्थान सर्वोच्च है, इसलिये सत्यकी जय को बतलाने वाला कोई शब्द रखना अच्छा होगा। सत्यंवन्दे, वन्दे सत्यम्, सत्यं जयतु, सत्यं विजयते, तराम आदि शब्दोंका जिनको प्रयोग करना हो वे कर सकते हैं, परन्तु सरल और सुविधाजनक शब्द 'जय सत्य' है। सत्यसमाजी आपसमें जहाँ तक बने इसी शब्दका प्रयोग करें। परन्तु जब ऐसे लोगोंके साथ व्यवहार करना हो जो सत्यसमाजी नहीं हैं, तब उनके साथ वही शब्द बोलना चाहिये जो उनने बोला है—रामरामके उत्तरमें रामराम, जयजिनेन्द्रके उत्तरमें जयजिनेन्द्र। अगर अपनेको ही पहिले बोलना हो तो 'जय सत्य' बोलनाही उचित है। चिट्ठी पत्रीमें भी जहाँ तक हो 'जयसत्य' लिखना चाहिये। लिखनेमें इस बातका इतना विचार

नहीं किया जासकता कि उसने क्या लिखा है।

अवसरके अनुसार वन्देमातरम् आदिका भी प्रयोग किया जासकता है। कट्टरता या द्वेषवृत्ति कहीं भी न आना चाहिये।

शंका (८)—सत्यसमाज सदस्यके लिये वार्षिक चन्दा कुछ हेतुको लेकर ही न रक्खा गया होगा। कृपया हेतु लिखें। खर्चा सारा कौन करेगा? मन्दिर खोलनेमें मकानादि किराये से लेना होंगे। ग्रामस्थ सदस्य उस खर्चेकी व्यवस्था करें, ऐसा ही न?

समाधान—सत्यसमाज एक समाज है। वह कोई सभा या मण्डल नहीं है कि चन्दा न देनेसे उस सदस्यका नाम काट दिया जाय। सत्यसमाजी रहना उसका जन्मसिद्ध अधिकार है। पैसा न देसकनेसे वह छिन नहीं सकता। इसलिये चन्देकी शर्त नहीं डाली जासकती। परन्तु चन्देकी शर्त न डालना एक बात है, और चन्दा न करना दूसरी बात है। शर्त नहीं डाली जासकती, परन्तु चन्दा किया जासकता है। इस विषयमें किसी नोटमें मैं लिखचुका हूँ। सत्यसमाजके प्रत्येक सदस्यको अपनी शक्तिके अनुसार अवश्य कुछ न कुछ आर्थिक सहायता करना चाहिये। प्रत्येक शाखाको अपनी परिस्थिति के अनुसार अपने यहाँ के सदस्यों से चन्दा लेना चाहिये। उससे मन्दिरका कार्य, मन्दिरके वाचनालयकी व्यवस्था, व्याख्यान आदिका प्रबन्ध, तथा अन्य ढंगोंसे सत्यसमाजका प्रचार, वात्सल्य प्रचार के लिये सहभोजकी व्यवस्था आदि करना चाहिये। मन्दिरके लिये अभी मकान किरायेसे लेना चाहिये। उसमें स्वाध्यायके लिये कुछ साहित्य जरूर रहे तथा 'सत्यसन्देश' पत्र भी अवश्य पहुँचे। कुछ दिन बाद सत्यसमाजका बहुतसा साहित्य होजायगा। उस सब का संग्रह मन्दिरमें अवश्य रहे।

हाँ, यहाँ एक बात और कहना है कि प्रत्येक शाखाको और जहाँ शाखा न हो वहाँ प्रकीर्णक सदस्यको चाहिये कि वह सत्यसमाजके मुख्य केन्द्र या प्रधान कार्यालयको कुछ न कुछ सहायता अवश्य भेजे—वह सहायताकी रक़म छोटीसे छोटी क्यों न हो। अभीतक प्रधान कार्यालयका जो खर्च होता है, उसका बहुभाग मैं ही उठा रहा हूँ; परन्तु एकतो इससे पूरा काम नहीं होता, दूसरे यह व्यवस्था भी सदा नहीं रह सकती। वर्तमान परिस्थितिमें सत्य समाजका यथेष्ट प्रचार नहीं होसकता। इसके लिये मुझे जल्दीसे जल्दी आजीविकाका सब काम छोड़ना चाहिये और सत्याश्रमके लिये कोई उचित स्थान मिलते ही मैं छोड़ दूँगा। आज तो प्रचारके लिये मैं ही निकलता हूँ और उसका खर्च भी मैं उठाता हूँ परन्तु कल अनेक प्रचारकोंकी आवश्यकता होगी, उनका भी खर्च (सफर खर्च; न कि वैतनिक खर्च) समाजको ही उठाना पड़ेगा। साहित्य प्रचारके लिये भी प्रारम्भमें बहुत कुछ धनकी आवश्यकता होगी। सत्याश्रमके संचालनके लिये कुछ न कुछ आर्थिक सहायता चाहिये।

सत्यसमाजके जो वर्तमान सदस्य हैं वे इतना भार नहीं उठा सकते, तो भी 'सरमें पोनी ही सही' इस कहावतके अनुसार उन्हें सहायता करना चाहिये। सत्यसमाजके कार्य इतने सुन्दर, सरल और सर्वहितकारी है कि उनमें सहायता करनेके लिये किसीको भी निमन्त्रण दिया जासकता है, भले ही वह सत्यसमाजका सदस्य हो या न हो। परन्तु इसके लिये सतत प्रयत्न करते रहना, सत्य समाजके प्रत्येक सदस्यका अविस्मरणीय कर्तव्य है। सत्याश्रमकी विशेष व्यवस्थाके विषयमें फिर कभी लिखा जायगा।

शंका (९)—प्रार्थनाके लिये खासरूपसे कुछ साहित्य तैयार होगा क्या? क्या बहुतसे सदस्य ऐसे मन्दिरों की अनावश्यकता नहीं बतलाते?

समाधान—प्रार्थनाके लिये प्रत्येक अङ्कमें कुछ न कुछ साहित्य प्रकाशित होता जाता है। उसकी आवश्यकता है, माँग भी है। अन्य भाषाओंमें भी धीरे धीरे ऐसा साहित्य तैयार किया जायगा।

मन्दिरोंकी अनावश्यकता एकाध सज्जनने बताई

है, परन्तु उसकी आवश्यकताका समर्थन बहुत अधिकने किया है। सम्मति पढ़नेसे यह बात मालूम हो सकती है। परन्तु इसके निर्णयके लिये मतामत पर विचार करनेकी अपेक्षा विशाल और व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करना आवश्यक है। कोई भी समाज सिर्फ इनेगिने उदासीन विद्वानोंका नहीं बनता किन्तु उसमें स्त्रियोंका, साधारण लोगोंका भी समावेश होता है। इसकी आवश्यकता पर मैं पहिले विस्तारसे लिख चुका हूँ।

शंका(१०)—सब धर्मोंका इस सत्यसमाजमें समन्वय हुआ है। क्या यह अलग धर्म मानना चाहिये?

समाधान—'हाँ, और न' दोनोंमें इसका उत्तर दिया जासकता है। जब अलग नाम देनेकी जरूरत पड़ी है तब अलग धर्म तो कहलाया ही। और जीवनमें सरलतासे क्रान्ति करनेके लिये इस अलगपनकी जरूरत भी है, परन्तु इसका अलगपन दूसरी धर्मसंस्थाओं जैसा कट्टर नहीं है। इसमें दूसरोंसे सम्बन्ध नहीं टूटता। इसका कोई उदाहरण नहीं मिल रहा है। हाँ, दार्शनिक उदाहरण दिया जा सकता है कि सत्यसमाज प्रमाण है, दूसरी धर्मसंस्थाएँ नय। प्रमाण नयमें जैसी भिन्नाभिन्नता है, वैसी ही यहाँ भी है।

शंका(११)—ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, थियोसोफिस्ट (Friends Society) आदिका ही रूप इसे प्राप्त होगा न?

समाधान—दसवीं शंका सरीखा इसका भी समाधान है। आर्यसमाजमें कट्टरता है, वह सत्यसमाजमें नहीं है। थियोसोफिस्ट संस्थाके साथ उसके सदस्योंका जैसा सम्बन्ध है, यहाँ उससे कुछ गाढ़ा होगा। यहाँ प्रत्येक सदस्यके सिरपर कुछ सामाजिक उत्तरदायित्व अधिक है।

शंका(१२)—'ग्राम्य-शाखा' में ग्राम्य शब्दके स्थान पर ग्राम शब्दकी योजना अधिक अनुकूल प्रतीत होगी। यद्यपि ग्राम्य, ग्रामीण, ग्राम शब्दसे अर्थ एक ही निकलता है तथापि हमारे प्रान्तमें ग्राम्य शब्दसे अच्छा अर्थ नहीं निकलता, इसलिये ग्राम्य की जगह ग्राम शब्द लिखा जावे।

समाधान—"प्रान्तिक शाखा" शब्दकी तरह 'ग्राम्यशाखा' शब्द बनाया गया था। इसमें तत्पुरुष नहीं, बहुव्रीहि समास था। परन्तु जब भ्रम होनेकी सम्भावना है तब 'ग्राम शाखा' लिखना ही ठीक है।

शंका(१३)—सत्य और अहिंसाके पूर्व भगवान शब्दको जोड़ना सत्य और अहिंसाको अधिक personification देना सरीखा मालूम होता है।

समाधान—इसका उत्तर चौथी शंकाके समाधानमें आजाता है। अगर भगवान शब्द उनके साथ न जोड़ा जायगा तो वह किसी व्यक्तिके साथ जुड़ जायगा जो कि अनुचित है। और जब 'भगवान रामचन्द्र' कहने वाला 'भगवान मोहम्मद' कहते हिचकिचायगा तब समभावको धक्का लगेगा। भगवान शब्द अनाद्यनन्त ईश्वरको आता है परन्तु उसकी सत्ता असिद्ध होनेसे वह अनाद्यनन्त तत्त्वको लगाया गया है। एकाध अपवादको छोड़कर साधारण जनताको उपासनाकी आवश्यकता है और उपासना के लिये किसी एक व्यक्ति person की आवश्यकता है। अगर व्यक्ति न हो तो किसी गुण, धर्म, तत्त्वको personification देनेकी आवश्यकता है। जैनशास्त्रोंमें आचार शास्त्र* को भी भगवान कहा है। इसी तरह यहाँ भी समझना चाहिये।

उत्तर देनेके बाद मैं शंकाकारको धन्यवाद अवश्य दूँगा कि उनने ऐसी शंकाएँ करके मेरे बहुत से विचारोंको निकालनेका मौका दिया है। अन्य पाठकोंको भी इनका अनुकरण करना चाहिये। इसको पढ़नेके बाद बहुतसे सदस्योंके मनमें श्रेणी बदलनेका भाव आसकता है। कोई नैष्ठिक श्रेणीको

*आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्त इस्सामि। आचारांग निर्युक्ति।

कठिन समझकर पाक्षिक बनना चाहेंगे, कोई पाक्षिक सदस्य नैष्ठिक श्रेणीको 'हौआ' समझते थे, वे इस स्पष्टीकरणसे शायद नैष्ठिक बनना चाहेंगे। कोई पाक्षिक और नैष्ठिकसे अनुमोदक बनना चाहेंगे। वे सब बिना किसी संकोचके अपनी श्रेणी बदल सकते हैं। जिसको जिस श्रेणीमें रहना हो, वह उसी श्रेणीमें रहे, परन्तु हृदयसे रहे और उस श्रेणीके अनुरूप उत्तरदायित्वका सदा खयाल रक्खे।

सत्यसमाज प्रगति।

[५६]

श्रीमान् बाबू छोटेलालजी रईस कलकत्ताका पत्र–

श्रद्धेय पंडितजी! ....रायबहादुर बाबू सखीचन्दजीसे कई बार बातचीत हो चुकी है और वे आपकी स्कीमको बहुत पसन्द करते हैं। मैंने भी उस पर भलीप्रकार विचार किया है। तीसरे और चौथे उद्देश्यों पर मुझे कुछ कहना है। मेरी रायसे पहिले उन्हीं धर्मोंसे सम्बन्ध रक्खा जाय जिनका उत्पत्तिस्थान भारतवर्ष है। अन्य सब उद्देश्योंसे मैं पूर्ण सहमत हूँ और अनुमोदन करता हूँ। इसलिये यथाशक्ति उससे लाभ उठानेकी तथा सहायता देने की कोशिश करता रहूँगा।

मेरा यह अनुभव है कि जो भी दिगम्बरी, जैनेतर समाजमें कार्य करनेको मिल गये हैं वे उन्हींके हो गये हैं; और इस कारण इस समाजकी बहुत हानि हुई है। यद्यपि इसमें दोष समाजका ही है तोभी समाजके शुभचिन्तकोंका यह कर्तव्य है कि समाज को जागृत करें। यद्यपि मेरे विचार किसी भी प्रकारसे संकुचित नहीं हैं तो भी मैं साम्प्रदायिक अवश्य हूँ। मैं समझता हूँ कि आप जैसे विद्वान किसी भी समाजके लिये गौरव हैं तथा आपसे समाजका आशातीत उत्थान होसकता है। अस्तु, मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि आप जैनसमाजको ही पहिले पथपर लावें, तत्पश्चात् अपनी शक्तिको दूसरोंके लिये व्यय करें।

आपकी प्रभावपूर्ण तार्किक विचारधाराने दिगम्बर जैनसमाजमें एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न करदी है। अपने नामके आगे पीछे बड़ी बड़ी उपाधियाँ लगाने वाले विद्वान तो कानमें तेल डालकर चुप हो गये हैं; और उनकी यह नीति ठीक भी है, कारण वे अपनी कमजोरीको समझते हैं। कुछ विद्वान, जिनकी अटूट श्रद्धा दिगम्बर जैन धर्म पर है, उन्होंने आगे आकर सत्साहस प्रकट किया है और आपके लेखोंका उत्तर दे रहे हैं। किन्तु उनका उत्तर अभी तक विशेष प्रभावक नहीं हुआ है। समाजका बहुभाग स्थितिपालक है और आपकी अनेक बातोंको स्वीकार करनेको तैयार नहीं है, तोभी उसके हृदयमें एक गहरी उथल पुथल मचगई है।

सारांश यह है कि इन लेखोंने जैनसमाजमें काफी क्रान्ति उपस्थित करदी है। जो लोग कितनी ही बातें अभ्यास (आदत) से किया करते थे तथा व्याख्यान और शास्त्र तोतेके कबूतरोंकी तरह सुना करते थे, उन लोगोंको भी बाध्य होकर सब कार्योंमें बुद्धि लगानी पड़ती है। यह सब आपके गंभीर अध्ययन और अविश्रान्त परिश्रमका फल है।

आपका—छोटेलाल जैन।

नोट—तीसरे, चौथे नियमपर विस्तारसे विवेचन करनेको यहाँ स्थान नहीं है, फिरभी संक्षेपमें मेरा कहना यही है कि जिस उदार दृष्टिसे हम भारतमें पैदा होने वाले धर्मोंका समन्वय करेंगे, वह उदार दृष्टि अभारतीय धर्मोंका भी अवश्य समन्वय करेगी, अन्यथा वह नष्ट होजायगी। वैष्णव, शैव, शाक्त या जैन, बौद्ध आदि भारतीय संप्रदायोंका समन्वय करने में ऐसी क्या बात रह जायगी जिससे हम क्रिश्चियानिटी और इसलामका समन्वय न कर सकें? सत्यसमाजका उद्देश कट्टर जातीयता, कट्टर राष्ट्रीयता, और कट्टर साम्प्रदायिकताको नष्ट करके सबमें उदारता का संचार करके मनुष्यको एकजातीय बनाना है। 'भारतीय' की शर्त लगानेमे हम सत्य से वंचित तो होते ही हैं, साथ ही कट्टरताको भी

फैलाते हैं या क़ायम रखते हैं। जिस प्रकार समाज-हितके लिये भारतीय धर्म पैदा हुए हैं, उसी प्रकार भारतके बाहरके भी धर्म पैदा हुए हैं। जिसप्रकार भारतके धर्मोंमें भलाइयाँ हैं, उसी प्रकार बाहरके धर्मोंमें भी हैं। जिसप्रकार भारतके धर्मोंमें विकार आगये हैं, उसी प्रकार बाहरके धर्मोंमें भी विकार आगये हैं। दोनोंके ही विकार दूर किये जासकते हैं और उनमेंसे सत्य ढूँढा जासकता है। इसलिये सैद्धान्तिक दृष्टिसे तो सीमाका संकोच नहीं किया जासकता। अब रही व्यावहारिक बात। व्यवहारमें शायद यही कठिनाई कही जासकेगी कि मुसलमान और ईसाई इस तरफ़ ध्यान न देंगे तथा उनका नाम पड़ा होनेसे हिन्दू भी चौंक कर किनाराकशी करेंगे। नियम बनाते समय ही यह कठिनाई मेरे ध्यानमें आई थी। परन्तु यह कठिनाई होने पर भी हमें इसको जीतनेका प्रयत्न करना ही होगा। भारतीय दृष्टिसे भी अगर विचार किया जाय तो भी हमें इसी दिशामें चलना होगा। हम सैकड़ों वर्ष तक हिन्दू संगठन करते रहें तोभी हम भारतमें एकजातीयता पैदा नहीं करसकते। न हिन्दू, मुसलमानोंको पचा सकते हैं, न मुसलमान सब हिन्दुओंको। संगठन से हम इस द्वन्दको बढ़ा सकते हैं और इसका लाभ तीसरेको पहुँचासकते हैं। इसलिये हमें उसी नीतिसे काम लेना चाहिये जो कई हजार वर्ष पहिले काममें लाई गई थी और जिसमें आशातीत सफलता मिली है। विष्णु, शिव, शक्ति आदि आर्य अनार्य देवी देवताओंका समन्वय करके हिन्दू धर्मके नाम पर जब एक उदार धर्म बन गया तब कहीं थोड़ी बहुत शान्ति हुई। इसी प्रकार अब भी हमें इनके साथ महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद, आदिको मिला कर एक ऐसा उदार धर्म बनाना पड़ेगा जिसमें सब समा सकें। तभी भारतके हिन्दू मुसलमानोंकी समस्या हल होगी, तथा दुनियाँको बन्धुत्वका पाठ पढ़ाया जासकेगा। इस प्रकार व्यावहारिक दृष्टिसे भी इस उदारताकी आवश्यकता है। सत्यसमाजका प्रचार होने पर दूसरे लोग भी इससे लाभ उठावेंगे।

दिगम्बर जैनसमाजमें मैं सोलह वर्ष काम कर चुका हूँ। इस समाजके लिये मुझे जो जो उपयोगी आन्दोलन मालूम हुए, प्रायः वे सभी चलाचुका हूँ; और उनमें अंशतः सफलता भी मिली है। परन्तु मैं समझता हूँ कि यह समाज इतना गया बीता नहीं है कि वह दुनियाँके लिये एक भी आदमी न देसके। यदि मुझ सरीखे सौ आदमी भी इस समाजमें काम करने लगें तोभी समाजका काम बाक़ी ही रहेगा। यही हाल अन्य समाजोंका है। यदि सभी समाजें ऐसा ही विचार करने लगें तो किसी विशाल और उदार उद्देशसे समाजकी सेवा करने वाले कहाँ से आयेंगे? अथवा क्या जैनसमाज यह चाहती है कि दूसरे लोग ही ऐसे सेवक पैदा किया करें? यदि हाँ, तो मुझे उसके इस कलंकको धोनेके लिये भी बाहर जाना चाहिये।

हाँ, एक बात अवश्य है कि इसप्रकार व्यापक क्षेत्रमें काम करके भी मैं समाजसे असहयोग नहीं करना चाहता। इसका कारण यह है कि मेरा कार्य-क्षेत्र मुख्यतः धार्मिक और सामाजिक है। मुझे अपने कामके लिये सभी समाजोंसे सहयोग करना, उनमें हिलना मिलना है; तब जैनसमाजसे तो मेरा सम्बन्ध टूट ही कैसे सकता है? जैनसमाज मुझे भले ही अपना न समझे परन्तु मैं तो जैनसमाजको अपना समझता ही रहूँगा क्योंकि मुझे सभी समाजों को अपना समझना है।

पहिले जो लोग समाजसे बाहर होगये उसका कारण यह था कि वे लोग राजनैतिक क्षेत्रके योद्धा थे। ऐसे लोग समाज या धर्मका उपयोग तभी करते हैं जब उन्हें सेवाकार्यमें अपनी शक्ति बढ़ानेके लिये समाज और धर्मके पीठबलकी आवश्यकता होती है और वह उन्हें मिलता है। जैनसमाजने उनका दमन करनेके सिवाय ऐसा पीठबल नहीं दिया, तब उनने जो मार्ग पकड़ा उसके सिवाय उनके साम्हने दूसरा क्या मार्ग था?

जैनसमाजमें एक दल (पंडित और बाबू दोनों में) ऐसा है जो किसी योग्य और सच्चे सेवकको समाजमें रहने देना नहीं चाहता, क्योंकि इससे उन्हें अपना स्थान गुमाना पड़ता है। इसलिये वह वर्ग समाजकी अन्धतासे लाभ उठाकर योग्य कार्यकर्ताओं को अलग करादेता है। अब इसके सिवाय दूसरा क्या उपाय है कि समाज ऐसे लोगोंके फंदमें न फँसकर विचार शक्तिसे काम ले? अथवा जो लोग इस तत्वको थोड़ा बहुत भी समझते हैं वे कुछ आगे बढ़कर काम करें।

खैर, उन सबसे मेरी बात निराली है। पहिले तो मैं कुछ अधिक बेशरम हूँ इसलिये समाजके धक्के खाकरके भी मैं उससे बिलकुल सम्बन्ध न तोड़ूँगा। दूसरी बात यह है कि मेरा कार्यक्षेत्र ही ऐसा है कि किसी भी समाजसे मैं सम्बन्ध नहीं तोड़ सकता। —सम्पादक

श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी बार्शीके प्रयत्नसे निम्नलिखित दो सदस्य और बने हैं। सेठजी का उत्साह और प्रयत्न प्रशंसनीय है।

(५७) मेघराजजी। पिताका नाम नेमचंदजी। उम्र ४० वर्ष। जैन पाक्षिक, जन्मसे बीसा ओसवाल स्थानकवासी जैन।

(५७) चुन्नीलालजी मुणोत। पिताका नाम—जवारमलजी। उम्र २६; जैन पाक्षिक। जन्मसे स्थानवासी जैन ओसवाल।

भूलसुधार—छट्टे अंकमें 'सत्यसमाज प्रगति' में श्रीयुत धर्मवीरजीके विषयमें यह लिखा था कि आप जैनसे ईसाई और ईसाई से जैन होकर सत्यसमाजी बने हैं। परन्तु यह बात ग़लत है। आपने ईसाइयों के यहाँ नौकरी जरूर की है परन्तु आप ईसाई नहीं बने। यद्यपि सत्यसमाजमें किसीके ईसाई होने न होने से व्यक्तित्वमें अन्तर नहीं पड़ता फिर भी इस प्रकार ग़लत समाचार प्रकाशित होनेका हमें खेद है। पाठक इस समाचारको सुधार लें।

साहित्य परिचय।

जीवनामृतम्—लेखक मुनि न्याय विजयजी न्यायविशारद न्यायतीर्थ। प्रकाशिका लीलावती देवीदास वालकेश्वर रोड विजयमहल मुंबई। मुनिजीकी यह एक संस्कृत द्वात्रिंशिका है, जिसका अंग्रेजी और गुजराती अनुवाद भी मुनिजीने किया है। छपाई सफाई कागज आदि उत्तमश्रेणीका है। क़ीमत दो आना बहुत सस्ती है। दो चित्र हैं, पाँच पृष्ठका Preface भी है। पुस्तक पठनीय है।

विधवोद्वाह-विवेक प्रथमखंड— लेखक पं० श्रीहरिशङ्करजी दवे। प्रकाशक चौधरी श्रीचन्दजी, अध्यक्ष महेश पुस्तकालय अजमेर। मूल्य दो आना। वैदिक धर्मके अनुसार विधवाविवाहके समर्थनमें यह पुस्तक लिखी गई है। यह इसका प्रथमभाग है परन्तु आगे तीन भागोंमें क्या होगा उसका विवरण पढ़नेसे मालूम होता है कि यह पुस्तक बहुत उपयोगी होगी। जो लोग विधवाविवाहकी उपयुक्तता शास्त्रोंसे समझना चाहते हैं उनके लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है।

Jain Hostel Magazine—सम्पादक बी० डी० जैन बी० ए०, पी० ई० एस० और एस० सी० कौशल बी० ए०। यह इलाहाबादके जैन होस्टल का पत्र है जो कि वहाँके विद्यार्थियोंके उत्साहका फल है। पत्र सचित्र और साफ़ है। आधा भाग अंग्रेज़ी और आधा हिन्दी है। लेख अच्छे हैं।

वैद्य—सम्पादक विष्णुकान्त जैन। प्रकाशक हरिशंकर वैद्य। यह पत्र मुरादाबादसे १९ वर्षसे निकल रहा है। अभी तक यह पत्र पं० शंकरलालजी जैन के सम्पादकत्वमें निकलता था परन्तु आपका स्वर्गवास हो जाने से बहुत क्षति हुई है। यह विशेषाङ्क आप ही की स्मृतिमें निकाला गया है। इससे आपकी प्रभावशालिताका पता लगता है।

भाषण—गुजरात दि० जैन प्रान्तिक सभाके

प्रथमाधिवेशन पावागढ़के प्रमुख सेठ गुलाबचन्दजी हीराचन्द दोशीका यह भाषण है। भाषणमें विजातीय विवाहपर बहुत अच्छी तरहसे प्रकाश डाला गया है तथा समाजकी अन्य बातों पर भी ठीक विचार किया गया है। भाषणके अन्तका एक पेज कुछ भाड़ूत्मा सा तथा विचारशून्य मालूम होता है। ऐसे सुन्दर भाषणमें ऐसी अन्धश्रद्धापूर्ण और विचारहीन बातें कहाँसे आगईं, यह समझमें नहीं आता। भाषणके प्रारम्भिक भागमें "परिस्थिति प्रमाणे आचार विचारो माँ फेरफार थवो जोइये" इस बातको आप सामान्य सिद्धान्तके रूपमें मान लेते हैं परन्तु पीछेके भागमें कहते हैं "सिद्धान्तो नेज जे विपरीत स्वरूप माँ बतावे छे तेने धर्मनो शत्रु कही दूर राखवो जोइये" "सिद्धान्तो त्रिकालाबाधित होय छे ते कोई नी इच्छापर के युक्तिवाद पर आधार राखता नथी।"

दुनियाँके धर्मोंके साम्हने युक्तिवादके आधार परही सिंहगर्जना करनेवाले जैनियोंकी यह कैसी दीन और दयनीय दशा है! सिद्धान्त अगर युक्तिवाद पर आधार नहीं रखते तो क्या अन्धश्रद्धा पर आधार रखते हैं? जब जैनाचार्योंने दूसरोंके खंडन करनेके लिये युक्तिवादके गोले बरसाये, उस समय युक्तिवाद बुरा नहीं था। जब सिरपर बीतने लगी तभी बुरा हो गया! सिद्धान्तोंकी त्रिकालाबाधितता क्या अन्धश्रद्धा की तोपके बल पर ही रक्षित रक्खी जायगी? इस वैज्ञानिक युगमें ऐसे शब्दोंको बोलना जैनधर्मको लजाना है। आगे आपने कहा है—

"आपणे ज्यां सुधी पोताने जैन आगमों मां जे सिद्धान्तो निश्चित करेला छे तेमनेज मानवा पड़शे। ते सिद्धान्तो जो कोई ने भूलभरेला लागता होय तो भले ते ते ऊपर श्रद्धा न करे। परन्तु तेनी विरुद्ध मां पोताना मनमाना सिद्धान्तो काढ़ी तेनो जो ते लोको मां प्रचार करे तो एटलुंज कहेवुं पड़शे के ते जैन न थी अने तेना सिद्धान्तो ए जैन सिद्धान्तो न थी, तेने जैन शब्द वापरवानो अधिकार पण न थी। ते छतां ते जैन शब्द वापरी लोकोने धोको आपे छे तेथी लोकोए तेवी व्यक्तिओ थी सावध रहेवुं जोइये।"

परिस्थितिके अनुसार विचारोंमें फेरफार करने का शायद यही तरीका है! भाईजीने शायद जैन शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया और न आपको श्वेताम्बर दिगम्बर आदिके मतभेदों तथा एक ही सम्प्रदायके आचार्योंके मतभेदोंका परिचय है। अगर होता तो आप चक्करमें पड़जाते कि यहाँ तो परस्पर विरोधी बहुतसे सिद्धान्त हैं—किन किन को माना जाय! और माना तो उन्हें जाय जो प्रत्यक्ष और अनुमानसे अविरुद्ध हों परन्तु विरुद्धोंको आँखें बन्द करके कैसे माना जाय? जो कोई इन सिद्धान्तों में परिवर्तन करता है, वह लोगोंको धोखा नहीं देता है। वह तो साफ़ कहता है कि अमुक आचार्य ने यह लिखा है किन्तु वह सत्यके विरुद्ध है, इस लिये उसे बदलकर इसप्रकार रखना चाहिये जिससे सत्यके अनुकूल होजावे। वह अपने वक्तव्यको आचार्योंका वक्तव्य नहीं बताता जिससे उसे धोखेबाज समझाजावे। हर एक धर्मके आचार्योंने उसी धर्मके नाम पर इसप्रकारके सुधार किये हैं, तभी उस धर्म का साहित्य बहुमूल्य बना है, संशोधित हुआ है तथा उस धर्ममें जीवन रहा है। ऐसा सुधारक उस धर्मके नाम पर अगर कुछ नवीनता लाता है तो वास्तवमें वह उस धर्मको भविष्यके लिये गौरवान्वित बनारहा है।

ऐसे लोगोंको यदि जैनसमाज शत्रु समझकर दूर रखना चाहता है और उन्हें धोखेबाज समझना चाहता है और चाहता है कि वे अपनेको जैन न कहें तो चिन्ता न कीजिये यह सब होजायगा। जो लोग जैनसमाजकी अल्पसंख्यकताका तथा उसमें तिलक गाँधी आदि क्यों नहीं पकते, उसका नाम सार्वजनिक क्षेत्रोंमें क्यों नहीं लिया जाता आदिका रोना रोते हैं, उनके लिये रोनेका मसाला सुरक्षित रहेगा।

जैनधर्म अपने समयका वैज्ञानिक धर्म है। बहुत

दिनों तक उसके इस विरदका कुछ मूल्य रहा। परन्तु वैज्ञानिक जगत्‌में जो विचारकता, मौलिकता, उदारता रहती है उसका भयंकर शत्रु आज जैन समाज बन रहा है। इसने स्याद्वादको मुर्दा या नपुंसक बना डाला है। इसकी अधोगतिका यह एक प्रबल कारण है। अन्धा जैनसमाज यह नहीं देखरहा है। गौरवके अवसरको वह ठुकराता है। वह ठुकरावे और अपना फल भोगे। एक सत्यके भक्तको इसकी कुछ पर्वाह नहीं होती। 'जै' और 'न' कुछ ऐसे स्वर व्यञ्जन नहीं हैं जिनमें जगत्‌का सारा गौरव भरा हो। अन्य स्वर व्यञ्जनोंका मूल्य भी उतना ही है। बल्कि जैनसमाजकी जो दशा है उसको देखते हुए उसका सदस्य बनाकर कोई अपनेको गौरवान्वित नहीं बनासकता। जैनसमाजपर दया भक्ति या प्रेमके वशमें वह अपनेको जैन समझे तो भले ही समझे।

जैनसमाजको एक दिन अपनी इस मूढ़ता और असहिष्णुताके कारण अवश्य रोना पड़ेगा। अथवा भविष्यका जैनसमाज आजके जैनसमाजके नेताओं की मूढ़ताको धिक्कार देनेके लिये ही उनका नाम लेगा।

जो लोग युक्तिवादके सहारेसे जैनसिद्धान्तकी रक्षा नहीं करसकते और न उसमें समीचीन परिवर्तन करके नया प्राण डाल सकते हैं, वे अपनी कायरता को छुपानेके लिये जैनधर्मको तिजोरीमें बन्द करके उसका दम घोट सकते हैं, सच्चे निस्स्वार्थ सेवकोंके मनमें जैनसमाजसे घृणा पैदा करासकते हैं, परन्तु वे न तो सत्यको पा सकते हैं, न अपना और जगत्‌का कल्याण कर सकते हैं, न जैनधर्मके जीवनकी रक्षा कर सकते हैं।

आवश्यकता है।

"गांधी" छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेन्टोंकी जरूरत है। एजेन्सीकी इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

साहस और कायरता।

चौथे अंककी एक टिप्पणीमें मैंने लिखा था—"आजीविकाकी सुविधाके लिये बनाया गया जातिभेद प्रेमके पन्थमें कितनीभी रुकावट क्यों न डाले, परन्तु कभी न कभी और कहीं न कहीं उसे पराजित होना ही पड़ता है और डंकेकी चोट यह साबित करदेता है कि मनुष्य जाति एकही जाति है।"

आजीविकाकी सुविधाके लिये बनाये गये जाति भेदके विषयमें जो शब्द कहे गये हैं वेही शब्द निवासस्थानके भेदसे बने हुए जातिभेदके विषयमें भी कहे जासकते हैं। हिन्दू, तुर्की, पारसी आदि भेद इसी ढंगके हैं। जब तक इनका निवासस्थानभेद बनारहा तबतक तो किसी तरह पारस्परिक विवाहमें कठिनाई थी; परन्तु जब ये एकही जगह आकर बसगये, पड़ौसी होगये, एक दूसरेको खूब पहिचानने लगे उस समयभी बाप दादोंके निवासस्थानकी दुहाई देकर जातिभेदकी दीवाल खड़ी किये बैठे रहना मूर्खता तथा अहंकारके सिवाय और क्या है? परन्तु प्रेम इसपर भी विजयी होता है और मनुष्यजातिकी एकता साबित करता है। परन्तु हम उसकी आवाज को कुचलते हैं, भीतर ही भीतर हम उसे गुँगलादेना चाहते हैं, इसलिये भयंकर विस्फोट होता है और कभीकभी चहकते हुए दो मनुष्याकार सुन्दर प्राणी हमारी आंखोंके सामने लाशके रूपमें दिखाई देने लगते हैं। अभी नागपुरके मौरिस कालेजमें इसी-प्रकारकी एक घटना हुई।

वहाँ इन्टर क्लासके एक छात्रका नाम था चमनलाल धावन, जोकि दुर्भाग्यसे हिन्दू था और उसी क्लासकी एक छात्राका नाम था कुमारी पेरीन भगोचा जोकि दुर्भाग्यसे पारसी थी। दोनो सुशिक्षित थे, वयस्क थे, अपने जीवनका साझीदार चुनने का अधिकार रखते थे; उनमें प्रेम होगया। परन्तु समाजकी वह तलवार जोकि सिर्फ ऐसेही मामलोंमें

कच्चे सूतसे सिरपर लटकती रहती है, दोनोंके बीचमें खड़ी हो गई। अब उनके सामने तीन ही रास्ते थे। या तो वे उस तलवारको उठाकर फेंकदें और अपने साथीसे मिलजाँय, अथवा सदाके लिये अपने साथी को छोड़दें, अथवा तलवारको बीचमें रखकर आलिंगन करें जिससे वह दोनोंके शरीरमें घुसकर उनका प्राणान्त करदे। जातिप्रथाकी चण्डीको एक बलिदान मिले और समाज अपने सिरपर नृशंसताका एक काला टीका और लगाले।

सामाजिक वातावरणमें पले हुए और शिक्षाके नामको लजाने वाले उन कायरोंसे पहिला मार्ग न लिया जासका, उन सच्चे प्रेम पुजारियोंसे दूसरा मार्ग भी न लिया जा सका, इसलिये उन साहसियोंने तीसरा मार्ग लिया। वे एक जलाशयके किनारे पहुँचे। रात्रिका समय था। उनने चारों ओर नजर फेंकी। अखंड निस्तब्धता थी। सब सो रहे थे, समाज सो रहा था, मानो वह भयंकर और क्रूर उपेक्षाके साथ कह रहा था कि "तुम मरो, हमें इसकी पर्वाह नहीं है"। उस अनंत निस्तब्धताके भीतर समाजका वह क्रूर शब्द उनके कानोंसे टकराया, रात्रिके अन्धकार में भी समाजका वह क्रूर चित्र उनके दिव्यनेत्रोंने देखा, समाजके नामपर उनने एक बार थूका, उपेक्षाकी हँसी हँसे, फिर दोनोंकी चार आँखें हुई जिनने कहा कि—कहो, अब हमको कौन अलग कर सकता है? दोनोंने आलिङ्गन किया, दो तन एक प्राणसे एक तन एकप्राण बने। पानीमें छमाका हुआ, फिर सब शान्त! जातिप्रथाने दो प्राणियोंको इस प्रकार बड़े आरामके साथ निगल लिया!

उनके कमरेकी तलाशी हुई, वहाँ एक पत्र मिला जिसमें लिखा था—

"जीवनमें तो हम दोनोंका संयोग हो नहीं सकता था, परन्तु कब्रमें तो हम दोनों संयुक्त होकर ही जा रहे हैं।"

हम इन दोनोंके प्रेमकी पूजा कर सकते हैं, इनके साहसकी प्रशंसा कर सकते हैं परन्तु इनकी कायरताके लिये ?

ये युवक थे, शिक्षित थे, समाज नहीं तो समाज के विद्रोही हजारों पुण्य पुरुष इनके साथी थे, क़ानून इनका सहायक था। फिर ये मरे क्यों? सिविल मैरेज ऐक्टके अनुसार क्या ये शादी नहीं कर सकते थे? इतनी शिक्षा पाकरके भी क्या ये अपने पैरों पर खड़े रहकर समाजकी अक्ल ठिकाने नहीं ला सकते थे? इस देशके ऐसे युवक युवतियों से जब हम इतनी आशा न करें तो किससे करें? इनकी इस कायरताको देखकर हृदयमें से एक ऐसा करुण क्रन्दन निकलता है जिसके स्वरमें इनके प्रेम की पूजाके शब्द और साहसकी प्रशंसाके शब्द विलीन हो जाते हैं।

नर नारीका कार्यक्षेत्र।

नर और नारीके शरीरमें जो अन्तर है, वह भेदका नहीं अभेदका कारण है। उनका जीवन एक दूसरेका पूरक है। दोनों अपने अपनेमें अपूर्ण हैं, और दोनों मिलकर एक चीज बनते हैं। जिस प्रकार हाथ और पैरमें पर्याप्त विषमता होने परभी दोनोंमें जातिभेद नहीं कहा जासकता, वे एकही वस्तु के दो टुकड़े हैं—दो अंग हैं—उसी प्रकार नर और नारी में पर्याप्त विषमता होनेपर वे एकही जीवनके दो अंग हैं। दोनों मिलकर एक जीवन बनता है। एक अंग दूसरे अंग पर अत्याचार न करे, इस बात का खयाल अवश्य रखना चाहिये और इसके लिये जितना प्रयत्न होसके करना चाहिये। परन्तु नर और नारीमें जातिभेद की भावना पैदा हो, उनमें सामूहिक युद्ध छिड़े, यह अत्यन्त भयंकर है। समाज के ऊपर आनेवाली विपत्तियोंमें यह सबसे बड़ी विपत्ति है।

इससे बचनेके लिये उपाय यही है कि हम अभीसे सम्हल जाँय। हमारे कौटुम्बिक जीवनकी नींव त्याग और प्रेम पर हो। अहंकार उसके पास न फटकने पावे। दो में से एक अपनेको अधिकारी और दूसरेको दास न समझे। अपने दोषोंको जिस

प्रकार वह क्षम्य बनाना चाहता है, उसी प्रकार दूसरे के दोषोंको भी क्षम्य समझे। इस प्रकार जब दोनों मिलकर न्यायपूर्वक प्रेमपूर्वक जीवन बनायेंगे तभी सुख और शान्तिकी वृद्धि होगी।

गार्हस्थ्य जीवनकी सुव्यवस्थाके लिये यह आवश्यक है कि दोनोंमें कार्यक्षेत्रका विभाग हो और जो जिस विभागके लिये अधिक अनुकूल हो उसे वह विभाग सौंपा जाय और इस प्रकार परस्परकी सहायतासे कार्य किया जाय। परन्तु इसमें इस प्रकारका अहंकार न आना चाहिये कि स्त्रियोंको सौंपे गये काम पुरुष नहीं कर सकता और पुरुषों को सौंपे गये काम स्त्रियाँ नहीं कर सकती।

इस प्रकारका थोड़ा बहुत भेद जो हमें दिखलाई देता है वह स्वाभाविक नहीं, किंतु शताब्दियोंके संस्कारोंका फल है। इन संस्कारोंको बदलनेसे बात बिलकुल उलट सकती है। स्त्रियाँ सबला होसकती हैं और पुरुष निर्बल होसकते हैं।

बर्मामें इस प्रकारके उदाहरण हमें दिखलाई देतेही हैं कि वहाँकी स्त्रियाँ पुरुषोंकी तरह व्यापार धन्धेका सारा काम करती हैं। पुरुष व्यापारी वहाँ स्त्री व्यापारियोंकी अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। यह इस बातका प्रबल प्रमाण है कि स्त्री और पुरुष दोनों— शारीरिक भिन्नताओंके रहनेपर भी–समान शक्ति रखते हैं।

यद्यपि अधिकांश देशोंमें पुरुषका कार्यक्षेत्र बाहर और स्त्रीका कार्यक्षेत्र घर रक्खा गया है परन्तु दुनियाँ में ऐसे भी प्रदेश है जहाँ यह बात इससे बिलकुल उल्टी है।

बाली द्वीपमें—जो कि ईस्ट इंडीजमें जावा, सुमात्राके पासमें है और जहाँ प्रतिवर्ष हजारों यूरोपियन और अमेरिकन मौज मजा करनेके लिये जाते हैं—नर और नारियोंका कार्यक्षेत्र बिलकुल उल्टा है। अन्य देशोंमें जो जो काम पुरुषोंके लिये रक्खे गये है वे सारे काम वहाँ स्त्रियाँ करती हैं। जिस प्रकार यहाँपर स्त्री और बालकोंको पुरुषकी आज्ञा में चलना पड़ता है, उसी प्रकार वहाँ पर पुरुष और बालकोंको स्त्रीकी आज्ञामें चलना पड़ता है। सारा स्वामित्व स्त्रियोंके हाथमें है। घरका सब काम पुरुषों को करना पड़ता है और स्त्रियाँ उन्हें आवश्यक खर्च दिया करती हैं। अगर पुरुषको अधिक खर्च की जरूरत होती है तो वह स्त्रियोंसे विनंति करके, उन्हें खुश करके लेता है।

पुरुष सुबह उठकर स्त्रीके लिये चा तैयार करता है, घर साफ करता है, बच्चोंके पालन पोषणका सारा काम करता है, उन्हे खिलाता है, चुप रखता है, जब स्त्रियाँ बाहरसे काम करके आती हैं तबतक वह रोटी तैयार रखता है। इसके अतिरिक्त पानी भरना, बर्तन मलना, पीसना, कूटना, कपड़े धोना आदि कामभी पुरुषोंके हाथमे हैं। महीनेमें एकाध दिन वे स्त्रियोंसे आज्ञा लेकर समुद्रके किनारे फिर सकते हैं।

अगर ये पुरुष लड़ें झगड़ें, स्त्रियोंके सामने बोलें तो स्त्रियाँ उन्हें दण्ड देती हैं। और कई एक पुरुष तो स्त्रियोंसे इतना डरते है कि जबतक स्त्री घरमें रहती हैं तबतक एक शब्द भी बोले बिना चुपचाप घरका काम करते रहते हैं।

इन लोगोंमें एक दुर्गुण है कि जब स्त्रियाँ बाहर काम पर चली जाती हैं तब अड़ोस पड़ोसके पुरुष मिलकर जुआ खेलते हैं; परन्तु ज्योंही स्त्रीकी आवाज मिली कि सबके सब खेल छोड़कर भागजाते हैं। इससे भी वहाँकी स्त्रीकी प्रभुता समझी जासकती है।

वहाँके बाजारोंमें जाइये। आपको पुरुष ढूँढने पर भी न मिलेगा। माल खरीदना, बेचना, ग्राहकों को समझाना यह सब काम स्त्रियाँही करती हैं। खेतों में भी सारा काम वे ही करती हैं। जब मूसलधार वर्षा चालू रहती है उस समयभी घुटने तक कीचड़ में रहकर वे बड़े मजेमें काम करती हैं। ऐसे कठोर काम वे अपने सुकुमार पतियोंको नहीं सौंपतीं।

उस देशमें नारियल बहुत होता है। वे चपल

स्त्रियाँ उन वृक्षोंपर गिलहरीकी तरह चढ़ जाती हैं और ६०–७० फुटकी ऊँचाई पर एक हाथसे वृक्ष पर लटककर दूसरे हाथमें नारियल तोड़कर टपाटप गिराने लगती हैं। यह काम इतना कठिन है कि यहाँ तो सरकस वालेही ऐसे दृश्य दिखा सकते हैं।

ये स्त्रियाँ दोदो तीनतीन मनका बोझा सिर पर उठाकर बाजारमें लेजाती हैं और शामको घर आकर अपने पतियोंसे उसी प्रकार विनोद करती हैं जिस प्रकार अपने यहाँ पुरुष घर आनेपर स्त्रियोंसे विनोद करता है।

स्त्रियोंमें इतना स्वामित्व होनेपर भी, स्वभावमें कुछ गर्मी होनेपर भी, वे प्रेमकी मूर्ति होती हैं। पुरुषोंकी सेवाके प्रबन्धमें कमी नहीं करतीं।

इस प्रकार पुरुषोचित जीवन बिताने पर भी उनमें स्त्री समाजके दो तीन गुण बराबर बने हुए हैं। एक तो वे सुन्दर होती हैं। साधारणतः कठोर काम करने से मनुष्यका सौन्दर्य कम पड़जाने की बात कही जाती है, परन्तु उनमें इस नियमका अपवाद मालूम होता है। दूसरी बात है उनकी कलाप्रियता। नृत्यकलाका उनको बड़ा शौक होता है। सम्भवतः चार वर्षकी उम्रसे ही उनको नाचने की शिक्षा दी जाने लगती है, और नव वर्षकी उम्र में वे जलसोंमें नाचने लगती हैं।

वहाँ की सामाजिक अवस्था पर पूर्ण विचार करने पर जो सबसे बड़ा आश्चर्य होता है, उसका कारण है वहाँ का पातिव्रत्य। इतनी क्षमता, कर्तव्य-स्वातंत्र्य आदि होनेपर भी वहाँकी स्त्री व्यभिचारिणी नहीं होती। हमारे देशकी स्त्रियाँ इतनी पराधीन और पर्दे में बन्द होनेपर भी इतनी पतिव्रता नहीं होती जितनी कि वहाँकी स्त्रियाँ होती हैं। इस प्रकार वहाँ व्यभिचार अन्य सब देशोंकी अपेक्षा बहुत कम है।

बाली देशके इस वर्णनमें हमारे ध्यानमें यह बात अच्छी तरह आसकती है कि स्त्री और पुरुषों का कार्यक्षेत्र उलट भी सकता है और वह चल भी सकता है इसलिये स्त्री और पुरुषको इस विषयका तो अभिमान करना ही न चाहिये, और अमुक अपवादोंको छोड़कर योग्यतानुसार कार्यक्षेत्रका चुनाव करके एक दूसरेकी प्रगति, स्वतन्त्रता और आनन्दमें बाधा न डालकर जीवन बिताना चाहिये।

सुख कहाँ है ?

यद्यपि त्यागके मिथ्या गीतोंने तथा त्यागकी ओटमें रहनेवाली भोग-लालसाने और त्यागके नाम पर चलनेवाली कायरता, अकर्मण्यता और स्वार्थलिप्साने त्यागके मूल्यको बहुत कम कर दिया है, फिर भी असली त्यागकी झाँकी कभी न कभी दिखाई दे ही जाती है और बतला जाती है कि सुख का सम्बन्ध वैभवसे नहीं आत्मासे है, हृदयसे है, संतोषसे है, प्रेमसे है।

पूर्व हो या पश्चिम, शुद्ध त्यागकी कीमत सब जगह है। इतिहासमें जब हम देखते हैं कि अमुक महापुरुष वैभव पर लात मारकर चला गया तब हमारा हृदय आश्चर्यसे भर जाता है। लोग समझते हैं कि यह सिर्फ त्याग ही है परन्तु उसके भीतर जो सुखकी-सच्चे सुखकी-प्यास निहित रहती है उस पर किसका ध्यान नहीं जाता। साधारण लोग जो कि वैभव और सुखको पर्यायवाची शब्द मानते हैं, यद्यपि मुँहसे कहनेमें शरमाते हैं परन्तु दिलमें यही बात रहती है कि वैभवके त्यागमें क्या सुख है। यह बात दिनरात गानेपर भी वे नहीं समझ पाते। परन्तु प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें कुछ न कुछ ऐसे प्रसंग जरूर आते हैं जब उसे त्यागमें ही सुख मालूम होता है। अगर मनुष्यमें इतना त्याग न होता तो मनुष्य समाज नरक हो गया होता, उसमें रसका नाम भी न रहा होता।

संसारमें भी थोड़ा बहुत वास्तविक सुख अगर प्राप्त करना हो तो उसका मूल प्रेममें है, अहिंसामें है, त्यागमें है। जिनने प्रेममें-मोहमें या विषय वासनामें नहीं-सुखका दर्शन कर लिया वे सच्चे सुखी हैं। उन्हें सुखकी कुंजी मिल गई है। संसारके बड़ेसे बड़े वैभव को ठुकरा देना उनके लिये ऐसा ही है जैसे कि

बच्चेका पुराने खिलौनेको ठुकरा देना। यही कारण है कि सती सीताको रामका अनुसरण करनेमें आनंद मिला, सावित्रीको वैभव छोड़कर ऋषिकुमारके साथ जंगलमें रहना अच्छा लगा। एक हृदयमें जो दूसरे हृदयको आनंद देनेकी शक्ति है, वह बड़ेसे बड़े वैभव में भी नहीं है। इस बातके उदाहरण पौराणिक युगमें और ऐतिहासिक युगमें बराबर मिलते रहे हैं और आज भी मिलते हैं।

भारतवर्षके लिये यह बहुत आश्चर्यकी बात नहीं है, यूरोपके लिये भी एक दिन नहीं थी परन्तु आज के यूरोपसे ऐसी आशा नहीं रक्खी जाती हम समझते हैं कि वह भौतिकताकी चरमसीमा पर बैठकर आध्यात्मिकताकी हँसी उड़ानेके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। वहाँकी रमणियोंको एक एक पैनी के लिये अपने सतीत्व और सौन्दर्यको बेंचती हुई सुनकर, सम्पत्तिके लिये दीपक पर पतंगकी तरह गिरती देखकर इस बातकी हम कल्पना नहीं कर सकते कि वहाँ भी सच्चे प्रेमकी मूर्तियाँ होती होंगी परन्तु पश्चिमकी भौतिकताकी बात जितनी सच है उतनी ही सच यह बात भी है कि वहाँ भी ऐसी प्रेम मूर्तियाँ होती हैं जो समझती हैं कि सुखका सम्बन्ध सम्पत्तिसे जितना है उससे हजारों गुणा प्रेमसे है, हृदयसे है, इसलिये वे प्रेमके लिये, हृदयके लिये सम्पत्तिको लात मार देती हैं। पश्चिमकी एक ऐसी ही घटना यहाँ दी जाती है।

लंडनमें एक मि० एडवर्ड मेयर स्टीन रहते हैं जो बहुत बड़े श्रीमन्त हैं। उनकी पुत्रीने एक सामान्य मजूरसे शादी करली है जो कि मोटर गाड़ी सुधारने का धंधा करता है और एक मामूली कोठरीमें रहता है। लड़की जब शादी करने लगी तो उसने अपने बापसे पूछा। बापकी इच्छा नहीं थी परन्तु उसने रोकना ठीक न समझा। विलायतकी परिस्थितिके अनुसार रोका भी नहीं जासकता था। विवाहके बाद लड़कीने एक श्रीमन्तका राजमहल सरीखा भवन छोड़कर एक झोंपड़ीमें निवास किया। बापके दिलको धक्का लगा, पर क्या करता? पुत्रीके स्नेह के कारण बाप दिनमें तीन बार कीमतीसे कीमती मोटरमें बैठकर आता है, परन्तु न तो लड़की उसकी मोटरसे लुभाती है, न बापकी दान-दक्षिणा लेती है। अपनी कमाईसे अपनी गुजर करनेमें वह अपने सुखकी, प्रेमकी रक्षा समझती है। बाप लड़केकी दूकान पर मोटर सुधारनेका काम देता है और उसका जामाता उसे स्वीकार करता है।

बाप अपनी पुत्रीसे उसके सुख दुखकी बात पूछा करता है परन्तु पुत्रीका उत्तर सिर्फ यही रहता है कि—"आपके बड़े बड़े भवनों और प्रासादोंमें अपार मौज शौक करते हुए मुझे जो चीज नहीं मिली वह आज मुझे यहाँ मिली है। मैंने जीवनमें संतोष प्राप्त किया है जो कि मुझे वहाँ कभी नहीं मिला था, लालसा घटी है और गरीबके घरमें आकर मैं यह सीखी हूँ कि जीवन क्या है?"

लड़की भी कभी कभी बापके घर जाती है परन्तु नियत समयसे वहाँ अधिक नहीं ठहरती।

भारतवर्षमें तो ऐसी देवियाँ घर घर मिलेंगी परन्तु आज उनकी परीक्षाके साधन यहाँ नहीं है। वे कुटुम्बियोंकी तरफसे जिधर हाँकी जाती है उधर चली जाती हैं। अगर विवाहसे उनका इच्छाका सम्बन्ध होता तो हमें अवश्य पता लगता कि इधर भी ऐसी कितनी ही सावित्रियाँ हैं।

भौतिक उन्नतिका विरोध करना उचित नहीं है। कोरी आध्यात्मिकता जड़वादसे भी भयंकर है। भारतके अधःपतनमें इसका बहुत बड़ा हाथ है। परन्तु इतना कहनेके साथ इतना तो कहना ही पड़ता है और कहना ही चाहिये कि सुखका स्रोत बाहरसे नहीं, भीतरसे है, वह वैभवमें नहीं प्रेममें है, स्वार्थ में नहीं त्यागमें है।

अपने पैरों पर।

समाजसुधारके बहुतसे कार्य—जिनके मार्गमें प्राचीन विचारके लोग रोड़े अटकाया करते हैं—बहुत शीघ्र हो सकते हैं, अगर उनके लिये लोग अपने

पैरोंपर खड़े हो जावें। इसलिये सुधारक तबतक क्या कर सकते हैं जबतक कि 'मुद्दई सुस्त गवाह चुस्त' की कहावत चरितार्थ होती रहेगी ? जो लोग अत्याचार पीड़ित हैं वे ही अगर चूँ न करें तो दूसरे उन्हें सहायता कैसे पहुँचावें ? बल्कि दूसरोंको सहायता देनेमें भी अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और इतने पर भी सफलता नहीं मिलती।

हम लोग गृहस्थ हैं और गृहस्थ शब्दका ठीक अर्थ है वैवाहिक जीवन व्यतीत करनेवाला, इसलिये गृहस्थ-जीवनका बीज विवाह है। परन्तु आजकल हमारी विवाहसंस्था बहुत दूषित है। बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेलविवाह रूपी कीड़ोंने इस संस्था को खोखला कर दिया है। इसका असर हमारे जीवनभर रहता है। वैवाहिक घटना हमारे जीवनमें—खासकर स्त्रीसमाजके जीवनमें—इतना अधिक महत्व रखती है कि स्वर्ग और नरकके मार्ग उसीके हाथमें है, ऐसा कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। इतनी महत्वपूर्ण घटनाके विषयमें हम जितने लापरवाह हैं, वह अत्यन्त आश्चर्यजनक और खेदकारक है।

वैवाहिक कुरीतियोंको रोकनेके विषयमें बहुत कुछ आन्दोलन हुआ है, परन्तु इन आन्दोलनोंकी जोरदार आवाज समाजके उस अन्तस्थल पर नहीं पहुँची है जहाँ पहुँचने पर लोगोंको उसका सामना करना असम्भवप्राय हो जाता है। इसके अतिरिक्त जिन कारणोंसे इन कुरीतियोंका जन्म होता है उनको दूर करनेकी भी हमने कोशिश नहीं की है। हमने चोरीको पाप ठहराया है, परन्तु मनुष्य ईमानदारीसे निर्वाह कर सके, इसके साधन नहीं जुटाये हैं।

वैवाहिक समस्याको सुलझानेके लिये तथा विवाहको अधिक सुखमय बनानेके लिये हमें एक न एक दिन इस विषयमें क्रान्ति करना ही पड़ेगी। परन्तु जबतक यह क्रान्ति नहीं हुई है तबतक भी बहुत कुछ किया जा सकता है। परन्तु इस सुधारका बीज स्वावलम्बन तथा निर्भयतामें है।

विवाहकी कुरीतियोंको रोकना प्रत्येक समाजसेवकका, समाजके प्रत्येक सभ्यका कर्तव्य है परन्तु जिनपर यह अत्याचार होता है वे अगर चुप रहें तो इससे काम नहीं चल सकता। वे अगर हिम्मत से काम लें तो दूसरोंकी थोड़ी भी सहायता उनका उद्धार कर सकती है तथा समाजके सामने एक सुन्दर नमूना पेश कर सकती है।

माता पिता कन्याओंके तथा बालकोंके अभिभावक हैं, संरक्षक हैं, ट्रस्टी हैं, परन्तु स्वामी नहीं है। इसलिये विवाहके कार्यमें सहायता पहुँचाना उनका कर्तव्य है। परन्तु जो माता पिता अपनी इस सुविधाका दुरुपयोग करते हों, इसके द्वारा अनुचित स्वार्थसिद्धि करते हों तो उनके विरुद्ध आवाज उठाना विवाहार्थियोंका कर्तव्य है। वास्तवमें आज इसी बातकी आवश्यकता है कि उनमें इस प्रकार आवाज उठानेका बल पैदा किया जाय।

जो माता पिता निःस्वार्थी हैं उनको इस विषयमें डरनेकी जराभी जरूरत नहीं है, क्योंकि उनकी निःस्वार्थ सेवाको अस्वीकार कोई भी विवाहार्थी नहीं कर सकता। अगर हजारमें एकाध कोई निकलेगा तो भी इसमें माता पिताका क्या नुकसान है ? वह गिरकर फिर उठेगा तथा दूसरोंको शिक्षा प्राप्त करने के लिये उदाहरण बनेगा।

यूरोपके समान स्वतन्त्रताकी अभी आवश्यकता नहीं है फिर भी उनको इतना अधिकार तो जरूर मिलना चाहिये और उसे व्यवहारमें लाना चाहिये कि उनकी सलाहके बिना कोई सम्बन्ध पूर्ण रूपसे स्थिर न किया जाय। और उनके विरोध रहते तो सम्बन्ध करना घोर अन्याय समझा जाय। समाज को तथा युवकोंको इस विषयमें आगे बढ़कर काम करना चाहिये।

परन्तु इसके लिये भी अपने पैरों पर खड़े होने की जरूरत है। जब कन्याओंको मालूम हो जाय कि माता पिता अपने स्वार्थके पीछे विवाहकी वेदी पर हमारा बलिदान करना चाहते हैं तब उनका कर्तव्य है कि वे अपने जीवनकी और न्यायकी रक्षा करने

के लिये अपनी हरएक शक्ति तथा सुविधाका उपयोग करें। उनके मार्गमें कठिनाई है परन्तु अन्तमें विजय उन्हीं की है, तथा इसके अतिरिक्त इन अत्याचारोंसे बचनेका दूसरा मार्ग भी नहीं है। दूसरे मार्ग जो है भी, वे अमुक अंशतक काम देसकते हैं, इसके बाद तो उन्हें अपने पैरोंपर ही खड़ा होना पड़ेगा। अथवा जब वे विवाहार्थी निर्भयताका परिचय देंगे तभी राजकीय क़ानून, लोकमत आदि उन्हें सहायता पहुँचा सकेगा।

समय समय पर ऐसी घटनाएँ होजाती हैं जिनमें ऐसे अन्यायोंका प्रतिकार होता है। उनका जितना प्रचार किया जाय उतना ही थोड़ा है, क्योंकि ऐसे विवरण पढ़नेसे पढ़नेवालोंमें साहस आता है। ऐसे विवरण विवाहार्थी युवक युवतियोंके कानों तक पहुँचाना हरएक विचारशीलका कर्तव्य है। इस प्रकार की एक घटना मारवाड़की एक जैन कन्याके विषय में घटित हुई है जिसका विवरण समाचारपत्रोंमे आया है। वह यहाँ भी दिया जाता है।

"जोधपुरके आहोर प्रान्तमें पादलड़ी नामका एक ग्राम है। वहाँ एक जैन स्त्रीने अपनी लड़की का विवाह एक योग्य लड़केके साथ करना निश्चित किया था। परन्तु लोभवश कुछ समय बाद उसकी नियत बदली और उसने रुपया लेकर एक बुड्ढेके साथ विवाह करना निश्चित कर लिया। लड़की समझदार थी और उसके कार्यको देखकर यह भी कहना पड़ता है कि उसमें हिम्मत भी काफी थी, इसलिये उसने इसप्रकार नरकमें जाना अस्वीकार किया। तब जिस युवकके साथ उसका सम्बन्ध पहिले निश्चित हुआ था उसीके साथ चुपचाप विवाह कर लिया। परन्तु उसकी माँ ने पुलिसमें रिपोर्ट कर दी इसलिये वर और कन्या दोनों ही हवालातमें ठूँस दिये गये। परन्तु वहाँ के ठाकुर अत्यन्त न्यायप्रिय निकले। उनने दोनोंकी बातें सुनीं और अपनी न्यायतुला पर तौलकर दोनोंको निर्दोष ठहराया। इतना ही नहीं किन्तु माताको ही दोषी ठहराकर गाँवसे निकाल दिया। और जब ठाकुर साहिबने राजगुरु को बुलवाकर वर कन्याका हजारों मनुष्योंके सामने विधिपूर्वक विवाह कर दिया तब तो उनकी न्यायप्रियता और उदारता अत्यन्त प्रशंसनीय होगई।"

इस प्रकारका साहस अनुकरणीय है। ठाकुर साहिबने जैसा न्याय किया, प्रत्येक समाजके नेताको शासकको, सरपंचको करना चाहिये। और यह घटना हरएक युवक युवतीके कानमें पहुँचा देना चाहिये, और उनको सिखलाना चाहिये कि जो अपने पैरोंपर खड़ा होता है वह अपनी रक्षाके साथ समाज की रक्षा करता है।

सुदृष्टि !
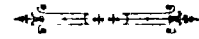
तुझे है नमस्कार शत बार।
तू अत्यन्त अनोखा विभु है,
तेरा ही आधार ॥ तुझे है० ॥
तू ही श्रद्धा-ज्योति जगाता,
तू ही आत्म-शक्ति प्रकटाता,
निर्भय पथका पथिक बना कर,
सिखलाता सत् प्यार ॥ तुझे है० ॥
मानस-मन्दिर विमल बनाता,
साहस से उसको सजवाता,
मित, हित, प्रिय वचनों का बनता,
सुमनों जैसा हार ॥ तुझे है० ॥
सत्य-शुद्ध-आचरण सिखाता,
लक्ष्यबिन्दु का लक्ष्य बनाता,
उस पर मर मिटना सिखलाता,
नहीं दिलाता हार ॥ तुझे है० ॥
पक्षपात की भींत गिराता,
सत् बादी की विजय कराता,
अनेकान्त का प्राण एक तू,
साम्यवाद का द्वार ॥ तुझे है० ॥

जो तेरी पूजा करता है,
... ... पर मरता है,
उस पर दुनियाँ होजाती है,
अपने आप निसार ॥ तुझे है० ॥
तुझ पर वीर बुद्ध रीझे थे,
ईसा ममीह भी रीझे थे,
गुरु गोविन्द-अनुज खेले थे,
रख सिर पर दीवार ॥ तुझे है० ॥
तुही एक है धर्म ठिकाना,
सब सुमनों में गंध समाना,
तेरे प्रति हो "प्रेम" अटल,
तब हो सुखमय संसार ॥ तुझे है० ॥

—ब्रह्मचारी प्रेमसागर ।

विविध विषय ।

शूद्रजलत्यागका ढोंग ।

मिती चैत्र बुदी पंचमीको दीतवारकी सहेली की आमेर (जयपुर) में गोठ थी । इस सहेलीके मुखिया खासकर शूद्रजलत्यागी तथा पंडितदल के हैं । जब मिती चैत बुदी ४ शनिश्चरवारको जयपुर से एक लड्डी चून-बेसण-घृत-खांड-बरतन-पाल-पट्टी वगैरह सामानसे भरकर आमेरको जारही थी, लड्डीके दड़े परसे रवाना होतेही सामनेसे भंगीकी पाखाने तथा कूड़े कचड़ेसे भरी हुई भैंसा गाड़ी आ-गई । रास्ता तंग होनेसे दोनों फँसगई—तब बड़ी मुश्किलसे जैन—अजैन दोनोंने मिलकर सुलझाई । उस समय कितने ही अजैन कह रहे थे कि—"यह कैसे सरावगी हैं जो इस प्रकार एकमेक हुए सामानको खायेंगे ! माली गूजरके हाथका तो पानी भी नहीं पीते और अब पाखानेसे भरी हुई गाड़ीसे एकमेक होजाने पर कैसे खायेंगे ! इन सरावगियोंकी सोध—तथा शूद्रजलत्याग लोगदिखाऊ है ! इनकी सोध तो तब रहे कि इस सामानको काममें नहीं लें । कितने ही श्रावकोंने इस प्रत्यक्ष घटनाको देखकर भी आँखें मींचकर दूसरे दिन आमेरमें गटागट माल तोड़े— —एक संवाददाता ।

पं० राजेन्द्रकुमारजीका दु:साहस ।

पं० राजेन्द्रकुमारजी अम्बालाने १६ फरवरी १९३५ के "जैनदर्शन" में पृष्ठ २३ पर "जैनधर्मका मर्म और पं० दरबारीलालजी" शीर्षक लेखमालाकी सफाईमें अपनी कलुषित मनोवृत्ति व दुर्बल मानसिकशक्तिसे प्रेरित होकर मुझपर एक अनोखा ऊटपटाँग आक्षेप करनेका दु:साहस किया है । यह बात कोई नई नहीं है । ऐसे व्यक्ति जो समाजके भयके कारण समाजकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाकर ही अपनी उदरपूर्त्ति करते हैं, वे सदैव ऐसे ही आक्षेप करके अपना परिचय दिया करते हैं । उक्त पंडितजी भी उन्हीं व्यक्तियोंमें से एक हैं । आपने मुझपर आक्षेप करते हुए लिखा है कि, "सम्मति तो कभी कभी निराधार भी हो जाया करती है । दृष्टान्तके लिये यों समझिएगा कि भाई रघुबीरशरणजी अमरोहाने 'दर्शन' और 'जगत्' की लेखमालाके और सत्यसमाजके सम्बन्धमें अपनी सम्मति 'जगत्' में प्रकाशित कराई है । क्या आप समझते हैं कि वह सम्मति साधार है या दोनों लेखमालाओंको तुलनात्मक ढंगसे पढ़नेके बाद निर्धारित की गई है ? भाई रघुबीरशरणजी मेरे बन्धुओंमेंसे एक हैं । मैं उनके स्वभावसे भलीभाँति परिचित हूँ । अत: मैं इस बातको दृढ़ताके साथ कह सकता हूँ कि आपने अपनी सम्मति निर्धारित करनेसे पूर्व दोनों लेखमालाओंको तुलनात्मक ढंगसे नहीं बाँचा है । व्यक्तिगत दृष्टान्त उपस्थित करना मैं मुनासिब नहीं समझता किन्तु सम्मतियोंकी और सत्यसमाजके नवजात सदस्योंकी वास्तविकताका पता हमारे समाजहितैषियोंको लगजाय, इससे मैंने एक बन्धुके नामका और उनकी वास्तविक परिस्थितिका उल्लेख यहाँ कर दिया है" ।

मैं नहीं समझता कि पंडितजीने किस आधार पर यह लिख मारा कि मैंने दोनों लेखमालाओंको तुलनात्मक ढंगसे नहीं बाँचा है। आपके शब्दोंसे पता चलता है कि आपका यह अनुमान ही है, अतः मैं इस विषय में इतना ही लिखना काफी समझता हूँ कि आपका अनुमान कलुषित मनोवृत्ति द्वारा विकृत अनुमान है तथा यह अनुमान व्यक्तिगत सम्बन्धके दुरुपयोग पर पूर्णतया अवलम्बित है। खेद है कि बिना पूछताछ किए पंडितजीने मुझपर यह आक्षेप कर डाला। पंडितजीका कर्तव्य था कि पहिले वे मुझसे पूछते कि मैंने दोनों लेखमालाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया है या नहीं? यदि मैं हां में उत्तर देता तो उसका मित्रताके नातेसे प्रमाण माँगते। इसके पश्चात् इस क्षुद्र कृत्य पर उतारू होते। परन्तु ऐसे व्यक्तियोंमें, जो मात्र आक्षेप करनेके लिए ही आक्षेप करते हैं, इतनी विवेकशीलता व धैर्य कहाँ? मैं पंडितजीको निमंत्रित करता हूँ कि वे अमरोहे आकर इस बातकी परीक्षा करलें कि मेरी सम्मति साधार है या निराधार है। यहाँ न आसकें तो अन्य किसी उपायसे ही इस विषयकी खोज करलें। साहु रघुनन्दनप्रसादजीसे उन्हें वास्तविकताका पता लग सकता है। पण्डितजी साहब, मैंने दोनों लेखमालाओंका पाठ ही नहीं, वरन शक्त्यनुसार दोनोंका मथन व तुलनात्मक अध्ययन भी किया है. इस विषय पर मेरठमें अनेक विरोधी विचार वाले जैन मित्रोंसे प्रेमपूर्ण वार्तालाप भी किया है। खैर।

अब आपहीके शब्दोंमें आपका उत्तर दिया जाता है:—

"आक्षेप कभी कभी निराधार भी हो जाया करता है। दृष्टान्तके लिये यों समझिएगा कि भाई राजेन्द्रकुमारजी अम्बालाने मेरी सम्मति पर 'दर्शन' में आक्षेप किया है। क्या आप समझते हैं कि वह आक्षेप साधार है? या मेरी सम्मति व मेरे स्वभावके ठीक ठीक अध्ययनपर निर्धारित किया गया है? भाई राजेन्द्रकुमारजी मेरे बन्धुओंमेंसे एक हैं। मैं उनके स्वभावसे भली भाँति परिचित हूँ। अतः मैं इस बातको दृढ़ताके साथ कहसकता हूँ कि आपने अपना आक्षेप निर्धारित करनेमें पूर्ण मेरी दोनों सम्मतियोंको द्वेषरहित ढंगसे नहीं बाँचा है और न मेरे स्वभाव पर ही दृष्टि डाली है। व्यक्तिगत दृष्टांत उपस्थित करना मैं मुनासिब नहीं समझता किन्तु आक्षेपोंकी और सत्यसमाजके विरोधियोंकी वास्तविकताका पता हमारे सत्यप्रेमियोंको लगजाय इससे मैंने एक बन्धुके नामका और उनकी वास्तविक परिस्थितिका उल्लेख यहाँ करदिया है।"

पण्डित राजेन्द्रकुमारकी उथली मनोवृत्तिसे मैं पहिले हीसे परिचित हूँ। आपके कारनामोंका मुझे ठीक ठीक ज्ञान है, परन्तु उनकी इन सब महान कमियों व दुर्बलताओंका ज्ञान होते हुए भी मैं आज तक उनका आदर करता आया हूँ और विचारोंमें घोर अन्तर होने पर भी मैं मित्रता व बन्धुताको निभाता आया हूँ और निभाता रहूँगा। परन्तु यदि मेरे मित्र ने फिर इस प्रकार सत्यका खून करनेकी कुचेष्टाकी तो समाजके सन्मुख मुझे पण्डितजीका नग्न परिचय देना पड़ेगा।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

वृद्ध—विवाह

हमारे सुननेमें आया है कि रायचूर निवासी एक वयोवृद्ध धनिक सज्जन श्रीमान दुलीचन्दजी साहेब मालिक फर्म दुलीचन्द चुन्नीलाल अपना चौथा विवाह १५—२० हजार रुपये लगाकर मद्रासकी एक १७ वर्षीया बालिकासे करनेका विचार कररहे हैं। सेठ साहबको उनकी तृतीय पत्नीसे पाया हुआ एक चार बरसका लड़का भी मौजूद है। विवाहकी तैय्यारीकी प्रथम श्रेणीका (दाढ़ी मूँछ आदिको कलप लगाकर बुढ़ापेपर आवरण डालनेका) सेठ साहबने अंगीकारभी कर लिया है। इस उम्रमें विवाह करके सेठ साहब उक्त बालिकाकी जिंदगीका सत्यानाश करने जा रहे हैं। क्या रायचूर और मद्रासका समाज इस ओर

ध्यान देगा ? —कनकमल मुणोत,
बी० ए० (ऑनर्स) ।

अ० भा० जैन वनिताश्रम आगराके फूलचन्द जैनकी सजा बहाल रही—

पाठक भूले न होंगे, जैनवनिताश्रम मोतीकटरा आगराके फूलचन्द जैनपर दगा फरेब और धोखा-देहीका एक मुक़दमा सिटी मजिस्ट्रेटकी अदालतमें चला था। इसमें फूलचन्दको छः महीनेकी सख्त सजा दी गई थी। फूलचन्दने इसकी अपील जजके यहाँ कर रखी थी और खुद जमानतपर छूटा था। कई महीने बाद अब जाकर २२ मार्चको उसकी सुन-वाई हुई। अपील एडीशनल जजकी अदालतमें पेश थी। आपने अपीलको खारिज कर दिया और यह कहा कि फूलचन्दको अपने भाग्यकी सराहना करनी चाहिये जिसके कारण उसे छः महीनेकी बहुत ही छोटी सजा मिल रही है। इसका अर्थ स्पष्ट है कि फूलचन्दका अपराध इतना बड़ा है कि उसे बहुत कम सजा दी गई है। हम समझते हैं कि फूलचन्द जैनको सजा होनेसे दूसरे ऐसे ही धंधे करनेवालोंको अब आँखें खोल लेनी चाहिये।

मंत्री—जैनकुमार सभा आगरा।

होलीका हुरदंग—उच्च जाति व कुलका अभि-मान करनेवाले लोग भी होलीके अवसर पर जिस प्रकार असभ्यताका प्रदर्शन करते हैं, अपनी बहू बेटियोंके सन्मुख हावभाव दिखाकर अश्लील गाने गाते हैं, बेहूदे व भद्दे मजाक करते हैं, राह चलते लोगों पर कीचड़, धूल, फटे पुराने जूते फेंकते हैं, यह घोर लज्जाकी बात है। जिन लोगोंको हम नीच अछूत, शूद्र आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं, वे सम्हल रहे हैं और श्रीकृष्ण प्रह्लाद आदिकी भक्तिसे पूर्ण सभ्योचित गान गाकर उत्सव मनाने लगे हैं। परन्तु खेद है कि जगद्गुरु कहानेवाले ब्राह्मणों, अपनी जाति के सिवाय मनुष्यमात्रको हीन समझनेवाले सरावगियों, राजपूतोंके वंशज कहानेवाले ओसवालों, अपनेको राजा अग्रसेनकी सन्तान बतानेवाले अग्रवालों आदि की निद्रा अभी तक भङ्ग नहीं हुई है और वे अब भी उसी पुरानी बेढंगी चालको अख्तियार किये हुए हैं। अभी उस दिन जब नयाबाजारमें ब्राह्मणोंका "बाल ब्रह्मचारी" स्त्रियोंके सम्मुख गा गाकर तथा नाच नाचकर विचित्र ढंगसे ब्रह्मचर्यका उपदेश दे रहा था, उससे कुछ दूरी पर ही खटीक, रैगर आदि जातिके लोगोंकी घेरमें श्रीकृष्णकी स्तुतिमें गान हो रहा था! दरोगा, माली, सुनार आदि निम्न बताई जानेवाली जातियाँ पवित्र होली मनाने लगी हैं, परन्तु जन्मगत उच्चताभिमानी ब्राह्मण बनिये अभी तक पुरानी परम्पराकी लकीरको ही पीट रहे हैं।

होलीके अवसर पर आसमर्फक पर धूमधाम करनेपर बम्बई, कलकत्ता आदि शहरोंमें कई बार लाठी चार्ज किये गये हैं तथा उनपर जुर्माने हुए हैं। इस बार कलकत्तामें क़रीब ३०० आदमी गिरफ्तार किये गये थे जिनमें प्रत्येक पर १) से ५) रुपया तक जुर्माना किया गया।

—पालीताणाके शत्रुञ्जय नामक प्रसिद्ध जैनमंदिर में बीड़ीके एक टुकड़ेके कारण आग लग गई जिससे क़रीब एक लाख रुपयेका नुक़सान हो गया। आग इतनी भीषण थी कि वह २४ घंटोंके बाद बुझाई जा सकी।

—इन्दौरमें ता० १९ अप्रैलको स्वर्गीय रायबहादुर सेठ कल्याणमलजीकी धर्मशालामें महात्मा गाँधीजी के करकमलोंसे ग्रामोद्योग प्रदर्शिनीका उद्घाटन होगा। इसी अवसर पर ता० २० अप्रैलसे महात्मा जीके सभापतित्वमें अखिल भारतवर्षीय हिन्दी साहित्य सम्मेलनका अधिवेशन होगा, तथा हिन्दीप्रचार के लिये महात्माजीको एक लाख रुपये भेंट किये जायेंगे।

—इन्दौरमें हिन्दी यूनिवर्सिटी स्थापित करनेकी योजना की जारही है। इसके लिये प्रो० डॉ० सरयू-प्रसादजी तिवारीने बीसहजार रुपये तथा पं० लक्ष्मी-नारायणजी त्रिवेदीने पचास हजार रुपया लागतका मकान देनेकी घोषणा की है।

—अहमदाबाद प्रान्तके जनू गाँवके हरिजनोंने पुलिसमें रिपोर्ट की है कि वहाँ के उच्चजातिवाले उनकी स्त्रियोंको नदीमें से पीतलके बरतनोंमे पानी नहीं भरने देते तथा उन्होंने उनके कई बरतन छीन लिये। मुखियाके मकानकी तलाशी लेनेपर उनके कई बरतन मिले। पुलिसने मुखियाको गिरफ्तार कर लिया है।

—म्हसवामें एक कुंवारी लड़की गर्भवती हो गई। बच्चा पैदा होने पर अपनी आबरू बचानेके लिए उसने तथा उसकी माँ ने मिलकर बच्चेकी हत्या कर डाली। मालूम हो जानेपर केस चला और माँ बेटी दोनोंको आजन्म कारावासका दंड दिया गया।

—रूपाहेली (अजमेर मेरवाड़ा) के एक जागीरदारके यहाँ एक बरात आई थी। बरातमें रंडियोंके नाच व आतिशबाजीकी बड़ी धूमधाम थी। आतिशबाजीकी गाड़ी भरी हुई एक तरफ खड़ी हुई थी। एकाएक आतिशबाजीमें आग लग गई और आग फूटकर ऐसी फैली कि पाँच आदमी जलकर मर गये, दस बारह मनुष्य घायल हुए। प्रायः प्रत्येक बरातीको कुछ न कुछ क्षति उठानी पड़ी।

तेरहपंथी धड़की पंचायतका अद्‌भुत न्याय—

करीब तीन वर्ष पहिले छोटे धड़के एक सदस्य श्रीमान गुलाबचन्दजी सोगाणीने अपने विवाहके समय कुछ रस्मोंमें फेरफार किया था, जिसपर उस धड़के कुछ व्यक्तियोंने बरात रवाना होनेसे पूर्व ही मंदिरमें इकट्ठे होकर उनके बहिष्कार का फतवा दे डाला था। इसके उपरांत भी उस धड़के कई व्यक्ति उस विवाहमें शरीक हुए और अबतक गुलाबचन्दजीके साथ उस धड़के अनेक व्यक्तियों का तथा और धड़े वालोंका व्यवहार पूर्ववत जारी है। छोटे धड़की पंचायतने इस विषयमें आगे कोई कार्यवाही नहीं की—न और पंचायतोंको इस फतवेकी सूचना दी और न अपने धड़ेमें ही उसके उल्लंघन करने वालोंसे कोई जवाब तलब किया। बात वास्तवमें यह थी कि उक्त फतवा किसी खास सिद्धांत पर निर्धारित न होकर केवल कुछ व्यक्तियोंके व्यक्तिगत द्वेषका फल था। और अब तो जब कि ऐसे कई विवाह प्रायः सब धड़ोंमें हो चुके हैं जिनमें वैवाहिक रस्मोंमें भिन्न भिन्न दिशाओंमें परिवर्तन हुए हैं, उस फतवेका कोई मूल्य ही नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें विवाहके तीन वर्ष बाद बिना कोई नूतन कारण पैदा हुए अनायास ही तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतके द्वारा गुलाबचन्दजीका बहिष्कार किया जाना उस पंचायतके सूत्रधारोंकी मूर्खता व कूट स्वार्थपरताको प्रदर्शित करता है। सुना है कि अभी हाल ही में तेरहपंथी धड़ेका एक सदस्य किशनगढ़में शराबके नशेमें उत्पात करते हुए पकड़ा गया है; उक्त पंचायतने अब तक इस विषयमें कुछ जाँच पड़ताल तक नहीं की है और शायद करेगी भी नहीं। बात यह है कि धर्मकी ठेकेदार उक्त पंचायत शराबी, जुआरी, लम्पटी, साधुओं व संस्थाओंके मालको हड़प करनेवाले आदि व्यक्तियोंको दोषी ही नहीं समझती—उसकी विकृत दृष्टिमें तो केवल वे लोग दोषी हैं जो जातिहित व समाजमें कुरीतियोंमें सुधार करनेके लिये साहस कर आगे आते हैं अथवा जैन औषधालयको चन्दा देते हैं —स्पष्ट वक्ता।

—श्री० डॉ० मुंजे फौजी शिक्षालय स्थापित करने का उद्योग कर रहे हैं। इसके लिये आप ने सिंधकी प्रसिद्ध राजस्थानी दानवीर सेठ प्रतापमलने एक लाख रुपये दान देनेका वचन दिया है।

वरकी आवश्यकता।

शीघ्र ही एक अत्यन्त सुन्दर १६ वर्षीया कन्याके लिये एक सुयोग्य स्वस्थ और शिक्षित वरकी आवश्यकता है। कन्या हिन्दी और अंग्रेजी शिक्षाप्राप्त और गृहकार्यमें पूर्ण दक्ष है। केवल वे ही सज्जन पत्रव्यवहार करें जो सुधारक, शिक्षित हों, जीविकोपार्जन करते हों, और जो अन्तर्जातीय सम्बन्धके पक्षमें हों। वरकी अवस्था लगभग २३—२४ वर्ष की हो। पत्रव्यवहार फोटो और पूर्ण विवरण सहित निम्न पते पर करें। —रतनलाल मालवीय, वकील बी. ए. एल एल बी., सागर सी. पी.

के बाद ही पत्र उपर्युक्त रूपमें आजाय, इसके लिये मैं प्रयत्नशील हूँ। अपनी अपनी योग्यताके अनुसार सहयोगी बन्धुओंको अपना अपना बोझ उठा लेने के लिये मेरा सादर निमन्त्रण है।

मेरे बहुतसे सहयोगी बन्धु जैनेतर समाजमें इस पत्रका प्रचार करनेके लिये बहुत उत्सुक थे। अब उनको सत्य-संदेशके ग्राहक बढ़ानेका पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। और जिनका ध्यान अभी तक इस तरफ आकर्षित नहीं हुआ है, वे भी ध्यान दें। इससे सत्यसंदेशको आर्थिक सहायता ही नहीं मिलेगी किन्तु सत्यका प्रचार भी होगा, सैंकड़ों और हजारों का उद्धार भी होगा।

सत्यसंदेश कोई व्यापारिक लाभके लिये निकाला गया पत्र नहीं है और न इसके साहित्यका व्यापारिक उपयोग किया जायगा। यह तो 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का संदेश सुनाने वाला फ़क़ीर है। परन्तु फ़क़ीर अगर डॉक्टर और वैद्यकी तरह फीस न ले तोभी उसे कमसेकम दो रोटियाँ तो चाहिये। इसलिये जो लोग धनिक हैं, वे ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिको अपनी श्रद्धा और शक्तिके अनुसार कुछ न कुछ इसकी वेदीपर अवश्य चढ़ाना चाहिये। यह निश्चित है कि दूसरी जगह जो काम लाखों लगाने पर नहीं होता, वह यहाँ हजारोंमें ही होजायगा।

आओ! हम मिलकर अपने एक सच्चे सेवकका स्वागत करें। एक दूसरेके ऊपर भाला तानकर टूटते हुए सम्प्रदाय और समाजोंके बीचमें छाती तानकर खड़े होजाने वाले इस वीरकी पूजा करें। और एक बार जैनजगतको ही नहीं किन्तु अखिल जगत्को सत्यकी शक्ति और प्रेमकी पवित्रता दिखलादें।

एक महत्वशाली अन्तर्जातीय विवाह— पाठक श्री० बा० लक्ष्मीचन्द्रजी जैन, आई० सी० एस० के शुभनामसे परिचित होंगे। क़रीब पाँचमाह पूर्व आप आई० सी० ऐस० परीक्षा पास कर विलायतसे लौटे थे और अलीगढ़में जॉइण्ट मजिस्ट्रेट के पदपर नियुक्त हुए थे। आप दिगम्बर जैन महासभाके संस्थापक स्वर्गीय श्री० डिप्टी चम्पतरायजी के पौत्र तथा महासभाके कोषाध्यक्ष स्व० श्री० बा० नवलकिशोरजी वकीलके पुत्र हैं। अभी गत ता० १० अप्रेलको आपका शुभविवाह श्री० राजा ज्वालाप्रसादजी (चीफ इञ्जीनियर यू० पी० गवर्नमेंट) की सुपुत्री श्री० सुमित्रादेवी बी०ए० के साथ जैनपद्धति के अनुसार सम्पन्न हुआ। वर महोदय जन्मसे अग्रवाल तथा कन्या राजाशाही वैश्य जाति की है। विवाहमें केवल कानपुरके ही नहीं परन्तु यू०पी० प्रांतके कई प्रमुख व लब्धप्रतिष्ठित जैन व अजैन महानुभाव सम्मिलित हुए थे। विशेषसमाचार आगामी अङ्कमें प्रकट किये जावेंगे। हम इस सुन्दर सुयोग्य सुशिक्षित युगलको इस शुभअवसर पर हार्दिक बधाई देते हैं।

एक मुनिवेषीका घोर अध पतन— मुनिवेषी नमिसागरजी जो पहिले बहुत अर्से तक दक्षिणी शान्तिसागरजीके संघमें रह चुके हैं, एकलविहारी होकर समाजमें मनमाना उत्पात कर रहे हैं। क्रोधावेशमें आकर श्रावकोंको गालियाँ देना, श्राप देना, पिच्छीसे ताड़न करना आदि आपकी नित्यनियम क्रियाएँ हैं। आपके साथमें एक श्राविका रहती है। कई बार वह मुनिजीके साथ शयन करती हुई पकड़ी गई। अभी आप राजमहल (रियासत जयपुर) में हैं और सुजाकसे पीड़ित हैं। क्या मुनिधर्म रक्षकों का (?) ध्यान इस ओरभी आकर्षित होगा?

वैवाहिक सुधार— खंडेलवाल समाजमें विवाह सम्बन्ध-निर्णयके लिये कहीं चार कहीं तीन तथा कहीं केवल दो साकें टाली जाती हैं। इस विषमता को दूर करनेके लिये खंडेलवाल महासभाके सम्मेद शिखर अधिवेशनपर एक प्रस्ताव पेश हुआ था परन्तु सञ्चालकोंने उसे टाल दिया। हर्ष है कि समाज के नवयुवक अब इस ओर स्वयं अग्रसर होने लगे हैं। अभी गत माहमें भादवा (जयपुर) में श्रीमान सत्यंधरकुमारजी सेठीने केवल दो साकें टालकर अपना विवाह किया। इस विवाहमें जयपुरके कई प्रतिष्ठित व्यक्ति शरीक हुए थे। अजमेरके श्रीमान् सुजानमलजी सोनी (सहायक मंत्री दिगम्बर जैन महासभा) ने तो इसमें मुख्यभाग लिया था—कन्या पक्षको मायरा आप ही ने दिया था। क्या हम आशा करें कि श्रीमान् सुजानमलजी दुरङ्गीचाल छोड़कर साहसपूर्वक अपनी दकियानूस पंचायतीको भी सुधारनेका प्रयत्न करेंगे? —प्रकाशक।

वर्ष १०

अंक १०

जैनजगत्

चैत्र शुक्ला १३

वीर संवत् २४६१

ता० १६ अप्रैल

सन् १९३५ ई०

महात्मा महावीर !

यद्यपि न किसीको ज्ञात रहा तू कब कैसे आजावेगा।
अंधी आँखोंके लिये सत्यका पदरज अञ्जन लावेगा॥
अज्ञानतिमिरको दूर हटाकर नवप्रकाश फैलावेगा।
रोते लोगोंके अश्रु पोंछ गोदीमें उन्हें उठावेगा॥१॥

तोभी अपना अञ्चल पसार अबलाएँ ऊँची दृष्टि किये।
करती थी तेरा ही स्वागत अञ्चलमें स्वागत-पुष्प लिये॥
अधिकार छिने थे सब उनके उनको कोई न सहारा था।
था ज्ञात न तेरा नाम मगर तू उनका नयन सितारा था॥२

पशुओंके मुखसे दर्दनाक आवाज़ सदैव निकलती थी।
उनकी आहोंसे जगत् श्याम था और हवाभी जलती थी॥
भगवती अहिंसाके विद्रोही धर्मात्मा कहलाते थे।
भगवान सत्यके परम उपासक पदपद ठोकर खाते थे॥३

पशुओंका रोना सुनकर तो पत्थर भी कुछ रो देता था।
पर पढ़े लिखे क़ातिल मूर्खोंका वज्र हृदय रम लेता था॥
था उनका मन मरुभूमि जहाँ करुणारसका था नाम नहीं।
थे तो मनुष्य पर था मनुष्यतासे उनको कुछ काम नहीं॥४

शूद्रोंको पूछे कौन जातिमदमें डूबे थे लोग जहाँ।
वे प्राणी हैं कि नहीं इसमें भी होता था सन्देह वहाँ॥
उनकी मजाल थी क्या कि कानमें ज्ञानमंत्र आने पावे।
यदि आवे तो पिघलाया शीशा कानोंमें डाला जावे॥५

था कर्मकांडका जाल बिछा पड़ गये लोग थे बंधनमें।
था आडम्बरका राज्य सत्यका पता न था कुछ जीवनमें॥
ले लिये गये थे प्राण धर्मके थी बस मुर्देकी अर्चा।
सद्धर्म नामपर होती थी बस अत्याचारोंकी चर्चा॥६

पशु अबला निर्बल शूद्र मूक आहोंसे तुझे बुलाते थे।
उनके जीवनके तो क्षण क्षण वत्सर सम बनते जाते थे॥
तेरे स्वागतके लिये हृदय पिघलाकर अश्रु बनाते थे।
आँखोंसे अश्रु चढ़ाते थे आँखें पथ बीच बिछाते थे॥७

तूने जब दीन पुकार सुनी सर्वस्व छोड़ दौड़ा आया।
रोगोंने मानो वैद्य दीनने मानो चिन्तामणि पाया॥
तू गर्ज उठा अत्याचारोंको ललकारा सब चौंक पड़े।
सब गूँज उठा ब्रह्मांड न रहने पाये हिंसाकांड खड़े॥८

पशुओंका तू गोपाल बना पाया सबने निज मनभाया।
तूने फैलाया हाथ सभीपर हुई शान्त शीतल छाया॥
फहरादी तूने विजय वैजयन्ती भगवती अहिंसाकी।
हिंसाकी हिंसा हुई सहारा रहा नहीं उसको बाक़ी॥९

सारे दुरिन्धन तोड़मोड़ दुष्कर्मकांड सब नष्ट किया।
भगवान सत्यके विद्रोहीगणको तूने पदभ्रष्ट किया॥
भगवती अहिंसाका झंडा अपने हाथोंसे फहराया।
तू उनका बेटा बना विश्व तब तेरे चरणोंमें आया॥१०

ढोंगी स्वार्थी तो 'धर्म गया, हा धर्म गया' यह चिल्लाते।
तेजस्वी रविके लिये कहे कुवचन घूकोंने मनमाने॥
लेकिन तूने पर्वाह न की ढोंगोंका भंडाफोड़ किया।
सदसद्विवेकका मंत्र दिया भगवान सत्यका तंत्र दिया॥११

तू महावीर था वर्द्धमान था और सुधारक नेता था।
तू सर्वधर्मसमभाव विश्वमैत्रीका परम प्रणेता था॥
भगवान सत्यका बेटा था आदर्श हमारे जीवनका।
तेरे पदचिन्ह मिले मुझको वरदान यही मेरे मनका॥१२

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

जैनधर्मका मर्म ।

(६०)

परिषह विजय ।

मुनि या संयमी मनुष्यको परिषह विजय करना चाहिये, अन्यथा वह संयमका पूर्णरूपसे पालन नहीं कर सकता, वह संयमसे गिर पड़ेगा । इसके लिये बाइस परिषहोंको जीतनेका उल्लेख है । मैं पहिले मुनियोंके ग्यारह मूलगुणोंका उल्लेख कर आया हूँ । उनमें एक कष्टसहिष्णुता भी है । परिषहोंका यथाशक्ति विजय करना इसी मूलगुणमें शामिल है । स्वास्थ्य वगैरहको सम्हालनेकी जो बातें कष्टसहिष्णुताके वर्णनमें कही गई हैं, उनका यहाँ भी ध्यान रखना चाहिये । हाँ, योग्य कर्त्तव्यके लिये स्वास्थ्य का क्या, जीवनका भी [illegible] करना पड़ता है ।

यद्यपि यहाँ परिषह-विजय पर कुछ लिखनेकी जरूरत नहीं थी, परन्तु कुछ परिषहों पर जुदे जुदे दृष्टिबिन्दुओंसे विचार करना है, इसीलिये यहाँ कुछ लिखा जाता है । परिषह बाईस हैं । उनका अर्थ उनके नामसे ही स्पष्ट हो जाता है । यह भी आवश्यक नहीं है कि वे बाईस ही मानी जाँय । आवश्यकता होनेपर उनमें न्यूनाधिकता भी होसकती है । उनके नाम ये हैं:—

क्षुधा (भूख), पिपासा (प्यास), शीत, उष्ण, दंशमशक (डांस, मच्छर, बिच्छू, सर्प आदि) नग्नता, स्त्री, चर्या (चलनेका कष्ट) निषद्या (एक जगह आसन लगानेका कष्ट), शय्या (सोनेका कष्ट; कठोर जमीनमें सोना पड़े आदि), आक्रोश (गालियाँ वगैरह सहना पड़े), वध (मारपीट सहना पड़े), याचना, अलाभ (भिक्षा वगैरह न मिले), रोग, तृणस्पर्श (कंटक वगैरह), सत्कार पुरस्कार (मानापमान), प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन । इनमें से कुछ परिषहों पर विशेष सूचना करनेकी जरूरत है ।

नग्नता — इस विषयमें मूलगुणोंकी आलोचना करते समय लिख दिया गया है । यहाँ सिर्फ इतना समझना चाहिये कि परिषहोंमें नग्नताके उल्लेखसे इतना तो मालूम होता है कि जैन[illegible] में नग्नता प्राचीन है अर्थात् महात्मा महावीरके जमानेसे है । परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वह अनिवार्य है । परिषहोंमें जो परिषह उपस्थित हो जावें उनपर विजय करना चाहिये । सहन करनेके लिये प्रत्येक परिषहको रखना जरूरी नहीं है । जैसे साधु प्रति समय भूखा प्यासा आदि नहीं रहता उसी प्रकार नग्न रहना भी जरूरी नहीं है । हाँ अगर कभी नग्न रहना पड़े तो उसे विजय करनेकी [illegible] रखना चाहिये । कुछ लोग नग्नताके समर्थनमें कहने लगते हैं कि अगर कोई मनुष्य नग्न रहकर ठंड, गर्मी नहीं सह सकता तो वह साधु क्यों बनता है ? [illegible] उत्तरमें पहिली बात तो यह है कि कष्टसहिष्णुताका सम्बन्ध सिर्फ शरीरसे नहीं है, वह [illegible] परिस्थितियों पर अवलम्बित है । दूसरी बात यह है कि नाग्न्य परिषहका ठंड गर्मी आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु लज्जासे है । एक आदमी शीतपीड़ित होकर ताप रहा है, किन्तु नग्न है तो हम उसे शीत-परिषह विजयी तो न कह सकेंगे, किन्तु नग्न परिषह विजयी कह सकेंगे । इसी प्रकार लँगोटी लगाकर ठंड सहनेवाला नग्नपरिषहजयी नहीं है, किन्तु शीतजयी है । इसीलिये इस परिषहका सम्बन्ध चारित्रमोहसे रक्खा गया है; क्योंकि इससे शरीरपर नहीं, मनपर विजय प्राप्त करना है । मनपर विजय प्राप्त करके भी अगर लोगोंकी सुविधाके लिये नग्न न भी रहे तो भी वह नग्नपरिषहविजयी है ।

स्त्री — स्त्रियोंकी तरफसे कामुकतापूर्ण आकर्षण किया जाय तो उस आकर्षणपर विजय प्राप्त करना स्त्रीपरिषहविजय है । यह परिषह तो सिर्फ साधुओं को ही लागू होसकती है, न कि साध्वियोंको । परन्तु

परिषह विजय तो दोनोंके लिये एकसी आवश्यक है। तब स्त्रीपरिषहके समान पुरुषपरिषह क्यों नहीं मानी जाती ? इसका कारण तो सिर्फ यही मालूम होता है कि पहिले जमानेमें जब साधारणतः किसी बातका उपदेश दिया जाता था तब वह विवेचन पुरुषोंको लक्ष्यमें लेकर किया जाता था, इसलिये उनही को लक्ष्यमें लेकर यह परिषह बन गई है। दूसरा कारण यह है कि साधारणतः पुरुष जितना स्त्रीकी तरफ आकर्षित होता है, उतनी स्त्री पुरुषकी तरफ आकर्षित नहीं होती, अथवा आकर्षित होकरके भी उसका आकर्षण प्रकट नहीं होता। इसलिये पुरुषको सम्हालनेकी अधिक जरूरत मालूम हुई। परन्तु ये दोनों कारण पर्याप्त नहीं हैं। इसलिये आज तो इस परिषहका नाम बदल देना चाहिये। स्त्रीपरिषहके बदल इसका नाम "कामपरिषह" रखना चाहिये। यह स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये एक सरीखी है।

याचना—इस परिषहके अर्थमें दोनों सम्प्रदायों में मतभेद है। दिगम्बर सम्प्रदाय कहता है कि प्राण जानेपर भी दीन वचन न बोलना और न किसीसे आहार वगैरहकी याचना करना, याचनापरिषह* विजय है। याचनाके रिवाजको वे पाप समझते हैं। जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इसे पाप नहीं माना गया है, बल्कि याचना करनेमें दीनता तथा अभिमान न आने देना याचनापरिषहका विजय है। दोनों सम्प्रदायोंके मुनियोंकी भिक्षाकी ढंग जुदा जुदा है। इसीलिये इस परिषहके अर्थ करनेमें यह गड़बड़ी पैदा हुई है। मैं लिख चुका हूँ कि भिक्षाके दोनों ढङ्ग प्राचीन हैं। पहिला ढङ्ग जिनकल्पियोंका है, दूसरा ढंग स्थविरकल्पियोंका। आंशिकदृष्टिसे दोनों ठीक हैं; फिर भी याचनापरिषहकी उपयोगिता तथा वर्गीकरणकी दृष्टिसे पहिला अर्थ कुछ असंगत मालूम होता है। यहाँ यह बात याद रखना चाहिये कि याचनापरिषहका सम्बन्ध भी चारित्रमोह† से है। इससे यह मालूम होता है कि उसमें किसी मानसिक वासना पर विजय प्राप्त करना है। दिगम्बर मान्यताके अनुसार उसका सम्बन्ध चारित्रमोहसे नहीं रहता; बल्कि भूख प्यास सहनेके समान असाता वेदनीयसे होजाता है। यों तो हरएक परिषह में वास्तविक विजय तो मनपर ही करना पड़ती है; परन्तु कुछका सम्बन्ध पहिले शरीरसे है फिर मन से, जब कि कुछका सीधा मनसे। ग्यारह‡ परिषह शारीरिक कष्टोंसे सम्बन्ध रखती हैं, इसलिये उनका कारण असातावेदनीय माना जाता है; और बाकी ग्यारह घातिया कर्मोंसे सम्बन्ध रखती हैं।

याचना करनेमें लज्जा दीनता संकोच आदि मानसिक कष्टोंका सामना करना पड़ता है इसलिये उनके विजय करनेका विधान किया गया है। इसलिए याचना करना ही वास्तवमें परिषह कहलायी जिसपर विजय प्राप्त करना है। याचना न करना परिषह नहीं है क्योंकि उससे किसी मानसिक कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता। इसीलिये परिषह का नाम याचना है, न कि अयाचना।

इस ग्रन्थके अनुसार जो मुनियोंका कार्यक्षेत्र विशाल है तथा मुनियोंका धर्म गृहस्थोंके लिये भी उपयोगी है, इसलिये याचना परिषहका क्षेत्र विशाल है। भोजनके विषयमें भिक्षावृत्ति अनिवार्य न होने से उस विषयमें आज याचना परिषह अनिवार्य नहीं है, फिर भी अगर कभी जरूरत हो तो याचना विजय करना चाहिये। इसके अतिरिक्त धर्म तथा समाज की उन्नतिके लिये लोगोंसे अनेक प्रकारकी याचना करना पड़ती है, इसलिये वहाँ भी उस परिषहके विजयकी आवश्यकता है।

मल—इसके विजयकी भी जरूरत है, परन्तु

---

*अथवा पुनः कालदोषाद्दीनानाथ पाखंडिबहुले जगत्यमार्गैरनात्मविद्भिः याचनमनुष्ठीयते। त०रा० वार्तिक ९-९-२१

†चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्री निषद्याक्रोशयाचना सत्कारपुरस्काराः। ९-१५ तत्वार्थ।

‡ क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल।

इसके नामपर शरीरको मलिन रखनेका जो रिवाज है वह ठीक नहीं है। अकलंक देवने इस विषयमें एक बात यह भी कही है कि केशलौंच परिषह भी इसी में शामिल है। परन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि मल परिषह विजयका अर्थ है घृणित चीजों मे भी घृणा न करके कर्तव्यपर दृढ़ रहना। बाल कोई मल नहीं हैं, बल्कि वे तो शृङ्गारके साधन माने जाते है। अगर उन्हे मलरूप माना भी जाय तो उनके धारण किये रहनेमे मलपरिषह विजय है न कि लौंच करनेमें। इसलिये यह समाधान ठीक नहीं है।

आज केशलौंचकी जरूरत नहीं है, इसलिये उसका उल्लेख निरर्थक है। अगर उसकी जरूरत होती तो उसका नाम अलग ही लेना चाहिये था। यहभी सम्भव है कि प्रारम्भमें—जबकि परिषहोंकी गणना की गई हो उस समय—केशलौंचका रिवाज न हो।

प्रज्ञा—विद्वान और बुद्धिमान होनेसे मनुष्यमें एक प्रकारका अहंकार आजाता है। यह उसके अधःपतनका मार्ग है, तथा समाजहितका नाशक है इसलिये ऐसा अहंकार न आना चाहिये। यहाँ प्रज्ञा उपलक्षण है इसलिये किसी भी तरहका विशेष गुण जिससे अहंकार पैदा हो सकता है, वह सब प्रज्ञा शब्दसे समझना चाहिये।

अज्ञान—अज्ञानकी व्याख्या भी गुणाभावरूप करना चाहिये। प्रज्ञासे यह उल्टा है। उसमें गुणके अहंकारका विजय करना पड़ता है और इसमे गुणाभावसे जो दीनता, निराशा, अपमान, अरमानसे पैदा होनेवाली कषाय आदिका अनुभव करना पड़ता है, उसपर विजय की जाती है।

अदर्शन—अविश्वास पर विजय प्राप्त करना अदर्शन परिषह है। धर्म मनुष्यको सदाचारी बनाना चाहता है। इसलिये वह इस बातकी घोषणा करता है कि सदाचार संयम तप आदिसे सब प्रकारकी उन्नति होती है। सैकड़ों मनुष्य मिलके जो काम कर सकते हैं, जो जान सकते हैं वह सब तपस्वीकी ऋद्धियों और अलौकिक प्रत्यक्षोंके आगे कुछ नहीं है। इस आशासे सैकड़ों मनुष्य अपने जीवनको सदाचारमय बनाते हैं और जब उन्हें सदाचारका मर्म समझमें आजाता है तब वे समझ जाते हैं कि ऋद्धियों आदिकी बात तो निरर्थक है, सदाचारसे इनका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। वास्तवमें सदाचारसे आत्मिक शान्ति और सुख मिलता है, परलोक सुधरता है, दुनियाँकी भलाई होती है और उससे मेरी भी भलाई होती है। इस प्रकार धर्मका मर्म समझकर वह केवली होजाता है। परन्तु यह अवस्था प्रारम्भमें नहीं होती। पहिले तो मनुष्य यह समझता है कि संयमका पालन करनेसे सचमुच मैं यहीं बैठे बैठे हजारों कोसकी सब चीजें देखने लगूँगा, तपसे आकाशमें उड़ने लगूँगा, बनाना और बिगाड़ना मेरे बाँए हाथका खेल होजायगा आदि। अन्तमें जब उसे इनकी प्राप्ति नहीं होती और उधर वह धर्मका मर्म भी नहीं समझ पाता, तब वह व्याकुल होजाता है। वह धर्म पर अविश्वास करने लगता है। इसका नाम है अदर्शन परिषह। जैन शास्त्र कहते है कि यह परिषह दर्शन मोह अर्थात् मिथ्यात्वके उदयसे होती है। बात बिलकुल सत्य है। धर्मका मर्म नहीं समझना, यह मिथ्यात्व तो है ही। उसीसे यह परिषह होती है। इस परिषह को विजय करने का उपाय यही है कि धर्मका मर्म समझा जाय। उसके कार्य-कारण भावका ठीक ठीक पता लगाकर यह विश्वास किया जाय कि धर्मका फल भौतिक जानकारी तथा ऋद्धियाँ नहीं है, किन्तु आत्मिक ज्ञान तथा शान्ति है। इस तरह अदर्शन परिषहपर विजय करना चाहिये।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि परिषहोंकी नियत संख्या बनानेकी जरूरत नहीं है। परिषहोंकी संख्या बदली भी जासकती है। उदाहरणार्थ लज्जा परिषह है। जब एक आदमी साधु होजाता है और उसे अपने हाथसे झाड़ू लगाना पड़ती है, बर्तन मलना पड़ता है, कभी मलमूत्र भी साफ करना पड़ता है तो

उसे इन कामोंमें लज्जा आती है। परन्तु ऐसी लज्जा न आना चाहिये। इसे स्वावलम्बन, सेवा और अहिंसाका कार्य [illegible] प्रसन्नतासे करना चाहिये। यह लज्जा परिग्रहका विषय है। इस प्रकार और भी परिग्रहके [illegible] हैं।

[illegible] धर्म चारित्रमय है। इसलिये उसका जितने रूपोंमें विवेचन किया जाय उतना ही थोड़ा है। दुःखोंको दूर करने तथा भविष्यके लिये न आने देनेके लिये अनेक उपायोंका वर्णन जैनशास्त्रोंमें किया गया है उनमें अधिकांशकी विवेचना यहाँ कर दी गई है। कुछ उपाय जान बूझकर छोड़ दिये जाते हैं। जैसे चारित्रके पाँच भेद हैं सामाजिक छेदोपस्थापना आदि। अभेद रूपमें व्रत लेना सामायिक, भेद रूपमें व्रत लेना छेदोपस्थापना। आजकल इन भेदों की कोई विशेष उपयोगिता नहीं है, इसलिये उनपर उपेक्षा की जाती है।

गृहस्थधर्म।

जैन शास्त्रोंमे अहिंसा अणुव्रत आदि १२ व्रतोंके नामसे गृहस्थधर्मका जुदा विवेचन किया गया है। साधारण शब्दोंमें गृहस्थोंका [illegible] अणुव्रत कहा जाता है। परन्तु अणुव्रत और महाव्रतकी सीमाका वर्णन मैं पूर्ण और अपूर्ण चारित्र शीर्षकके नीचे कर आया हूँ। साधारणतः श्रावकका अणुव्रतके साथ और मुनिका महाव्रतके साथ सम्बन्ध न जोड़ कर स्वतंत्र रूपमें ही इनकी व्याख्या करना चाहिये, जैसी कि पहिले मैंने की है। इसलिये जैन शास्त्रोंमें जो अणुव्रत या देशव्रतके नामसे कहे जाते हैं, उन्हें अणुव्रत न कह कर गृहस्थव्रत कहना चाहिये।

गृहस्थोंके बारह व्रत कहे गये हैं। अहिंसा आदि पाँच व्रत तो वे ही हैं जिनका पहिले विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत और हैं। इनमेंसे कुछ तो अनावश्यक हैं। संक्षेपमें उनका विवेचन किया जाता है।

गुणव्रत तीन हैं और शिक्षाव्रत चार हैं। अणुव्रतमें वृद्धि करने वाले व्रत गुणव्रत हैं और संयम की या मुनिधर्मकी शिक्षा देने वाले व्रत शिक्षाव्रत हैं। यहाँ तक जैन शास्त्रोंमें मतभेद नहीं है, परन्तु गुणव्रत और शिक्षाव्रतके नामोंमें मतभेद है। एक मत—जिसका आचार्य उमास्वाति आदिने उल्लेख किया है—के अनुसार व्रतोंका क्रम यह है:—

तीन गुणव्रत—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदंडव्रत। चार शिक्षाव्रत—सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोगपरिमाण, अतिथिसंविभाग।

गुणव्रत प्रायः जीवन भरके व्रत * होते हैं, और शिक्षाव्रत प्रतिदिनके अभ्यासके व्रत हैं। इस लक्षणके अनुसार देशविरतिको गुणव्रतमें शामिल नहीं कर सकते, परन्तु आचार्य उमास्वातिने यह परिवर्तन क्यों किया इसका ठीक ठीक उल्लेख नहीं मिलता। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी आगमपरम्परामें भी देशविरतिको गुणव्रत नहीं माना है।

सम्भव है कि आचार्य उमास्वातिने गुणव्रत और शिक्षाव्रतका भेद किसी दूसरी दृष्टिसे किया हो। परन्तु वह दृष्टि उल्लिखित नहीं है। सम्भव है कि उनके ये विचार हों कि दिग्विरति और देशविरति एक ही ढंगके व्रत हैं, इसलिये उनको एक ही श्रेणी में रखना चाहिये। दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि देशविरतिमें कोई ऐसी क्रिया नहीं है जो संयमके साथ खास सम्बन्ध रखती हो। अणुव्रती की दृष्टिसे देशकी मर्यादा भले ही उपयोगी हो सकती हो परन्तु महाव्रतीके लिये उसकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह मर्यादाके बाहर भी पाप नहीं करता तथा समस्त नरलोकमें भ्रमण कर सकता है, इसलिये भी देशविरति, संयमकी शिक्षाके लिये उपयोगी नहीं मालूम होती। दिग्विरति, देशविरति,

१—गुणार्थं अणुव्रतानामुपकारार्थं व्रतं गुणव्रतम्, दिग्विरत्यादीनामणुव्रतानुबृंहणार्थत्वात्। तथा भवति शिक्षाव्रतं। शिक्षायै अभ्यासाय व्रतं देशावकाशिकादीनां प्रतिदिवसाभ्यसनीयत्वात्। अतएव गुणव्रतादस्यभेदः। गुणव्रतं हि प्रायो यावज्जीविकमाहुः।

—सागारधर्मामृत टीका ४-४।

अनर्थदंडविरति ये तीनों ही व्रत विरतिप्रधान अर्थात् निषेधप्रधान हैं। इनमें किसी विधायक कार्यक्रमकी मुख्यता नहीं मालूम होती, इसलिये भी आचार्य उमास्वातिको इन्हें एकही श्रेणीमें रखना पड़ा हो।

दूसरा मत जिसका उल्लेख आचार्य समन्तभद्र आदिने किया है उसमें देशव्रत और उपभोग परिभोगपरिमाणमें परिवर्तन हुआ है। अर्थात् देशव्रत शिक्षाव्रतमें शामिल है और उपभोगपरिभोगपरिमाण, भोगोपभोग परिमाण नामसे गुणव्रतमें शामिल है।

इसके अतिरिक्त थोड़ासा भेद यह भी है कि आचार्य समन्तभद्रने अतिथिसंविभागको वैयावृत्य का नाम देकर इसकी व्याख्या कुछ व्यापक करदी है। इसमें और भी अनेक प्रकारकी सेवाका समावेश कर दिया † गया है।

इस विषयमें तीसरा मत आचार्य कुंदकुंद आदि का है—उनके गुणव्रत तो आचार्य समन्तभद्रके समान हैं परन्तु शिक्षाव्रतोंमें देशावकाशिकके स्थान पर सल्लेखनाका * नाम है। इनके मतानुसार देशावकाशिक अर्थात् देशविरतिको न गुणव्रतमें स्थान है न शिक्षाव्रतमें, और सल्लेखना नामक नया व्रत आया है। यद्यपि सल्लेखनाका उल्लेख अन्य आचार्यों ने भी किया है परन्तु इसको बारह व्रतोंसे बाहर रक्खा है। इसका कारण यह है कि यह व्रत गृहस्थों के लिये ही नहीं किन्तु साधुओंके लिये भी है, तथा मरते समय ही इसकी उपयोगिता है—साधारण जीवनमें इसका कुछ उपयोग नहीं है।

आचार्य वसुनन्दीने शिक्षाव्रतोंको सबसे भिन्न रूप दिया है। उनने भोगोपभोगपरिमाण व्रतके दो टुकड़े करके उनको दो व्रत बना दिया है—भोगविरति और परिभोगविरति। फिर अतिथिसंविभाग और सल्लेखनाको लेकर चार शिक्षाव्रत * कर दिये हैं। सामायिक और प्रोषधोपवास व्रतका तो बहिष्कार ही कर दिया है।

इसके अतिरिक्त और भी बहुतसे मत हैं जिनमें या तो व्रतोंकी थोड़ी बहुत परिभाषा बदल दी गई है अथवा गुणव्रतोंमें एक आचार्यका अनुकरण किया गया है और शिक्षाव्रतोंमें किसी दूसरे आचार्यका अनुकरण किया गया है।

इन मतभेदोंका मुख्य कारण देशकालका भेद है। गुणव्रत और शिक्षाव्रतकी परिभाषा भी जैसी चाहिये वैसी स्पष्ट नहीं है, इसलिये भी अनेक व्रत वर्गीकरणमें इधरके उधर होगये हैं। इस विषयमें अनेक आचार्य तो चुप्पी साधकर रहगये हैं और अनेकों ने अनिश्चित रूपमें भेद दिखलाया है। 'प्राय.' शब्द का प्रयोग करके उनने लक्षण-भेदको अस्पष्ट कर दिया है। वास्तवमें वहाँ अस्पष्टताका कारण भी है। जैसे—गुणव्रतके भेद अगर इससे किये जायँ कि उसमें जीवन भरके लिये व्रत लिये जाते हैं और इसलिये देशविरतिको गुणव्रतसे बाहर कर दिया जाय तो भोगोपभोग परिमाण व्रत भी अमुक अंश में अलग करदेना पड़ेगा अथवा उसके एक अंशको गुणव्रत और दूसरे अंशको शि[illegible] व्रत मानना पड़ेगा, क्योंकि भोगोपभोगपरिमाण [illegible] और नियम दोनोंका विधान † है। यम [illegible] रहना है और नियम ‡ में समयकी मर्यादा रहती है।

---

† न केवलम् दानमेव वैयावृत्यमुच्यते अपितु —
व्यापत्तिव्यपनोदः पदयोः संवाहनं च गुणरागात्।
वैयावृत्यं यावानुपग्रहोऽन्योऽपिसंयमिनाम्। ४-२२।
—रत्नकरण्डश्रावकाचार।

* सामाइयं च पढमं विदियं च तहेवपोसहं भणियं तइयं च अतिहिपुज्जं च उत्थसल्लेहणा अन्ते। चारित्रप्राभृत २५।

* तह भोय विरइ भणियं पढमं सिक्खावयं सुत्ते। [illegible] तह परिभोयणिवुत्ति विदिय.। अतिहिस्ससंविभागो तदियं ..। सल्लेखणंचउत्थं......। —वसुनन्दीश्रावकाचार।

† नियमोयमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोग संहारे।
नियमः परिमितकालो यावज्जीवं यमोध्रियते।
३-४१। र. क. श्रा.

‡ अद्य दिवा रजनी वापक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा।
इतिकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।

सागारधर्मामृत टीकामें शिक्षाव्रतकी एक और परिभाषा दी गई है कि विशेष श्रुतज्ञान की भावना रूप परिणति जिनमें होती है वे शिक्षाव्रत * हैं। देशावकाशिक आदिमें विशिष्ट श्रुतज्ञानकी भावनाकी आवश्यकता होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशावकाशिककी अपेक्षा अनर्थदण्डविरतिमें श्रुतज्ञानकी भावना अधिक अपेक्षित है। तब उसे गुणव्रत क्यों माना जाय? प्रोषधोपवासमें बल्कि उससे कम अपेक्षित है, तब उसे गुणव्रतमें क्यों न रक्खा जाय? इसलिये यह भेद भी ठीक नहीं है।

सच तो यह है कि गुणव्रत और शिक्षाव्रत यह भेद ही कुछ निरर्थकसा मालूम होता है। सभी का नाम शिक्षाव्रत होना चाहिये। श्वेताम्बर आगमोंमें जब किसी श्रावकके बारह व्रत लेनेका उल्लेख आता है तब वह यही कहता है कि मैं पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत † लेता हूँ। वह तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत नहीं बोलता; यद्यपि पीछेके श्वेताम्बर साहित्यमें गुणव्रत और शिक्षाव्रतका भेद मिलता है। इससे मालूम होता है कि गुणव्रत शिक्षाव्रतका भेद पीछेसे आया है। परन्तु आकरके भी वह ठीक ठीक नहीं बन सका।

खैर, यहाँ इनकी गहरी मीमांसा करनेकी जरूरत नहीं रह जाती। परन्तु इससे इस बातका फिर एक बार समर्थन होता है कि जैनाचार्य भी आचारशास्त्रकी परम्परा भूल गये थे और वे समयानुसार स्वेच्छासे नये विधान बनाते थे। वे पुरानी परम्परा भूलें या न भूलें, परन्तु समयानुसार उचित विधान बनाने तथा उनमें परिवर्तन करनेका प्रयत्न उचित है।

इन सातों व्रतोंको शील भी कहते हैं। व्रतोंके रक्षण करनेके लिये जो उपव्रत बनाये जाते हैं उन्हें शील ‡ कहते हैं। इसलिये इनकी शीलसंज्ञा भी ठीक है।

अब यहाँ मैं उन व्रतोंकी आलोचना करदेना चाहता हूँ जिससे मालूम होजाय कि इस समय कौनसा व्रत उपयोगी है और कौनसा नहीं? आज कल इन शीलों या शिक्षाव्रतोंकी संख्या कितनी रखना चाहिये?

जैनेन्द्रजी का पत्र।

पंडितजी,

मैं इधर दिनोंसे आपको लिखनेकी सोचता था। संकोच यही था कि आपको अवकाशकी कमी हो। अब श्री पं० नाथूरामजी प्रेमीके पत्रसे मालूम हुआ कि मैं आपको लिख सकता हूँ और मुझे अवश्य लिखना चाहिये।

बहुत दिन हुए एक जैन मित्रने मुझसे पूछा था कि सर्वज्ञके सम्बन्धमें जो आपका वक्तव्य है और जो उन दिनों जैनजगत्में निकल रहा था, क्या मैं उससे सहमत हूँ? मैंने उनसे कहा था कि आपके लेखोंकी उपयोगिताका मैं क़ायल हूँ लेकिन सहमत मैं नहीं हूँ। उन मित्रने तब उस सम्बन्धमें मुझसे कुछ लिखवाया भी था। वह फिर छपा हुआ मुझे कहीं देखनेको नहीं मिला।

मुझे अपने ऊपर आपका यह ऋणसा मालूम होता है कि मैं अपनी असहमति और अपनी धारणा आपको लिख भेजूँ।

सर्वज्ञके विषयमें एक औसत जैनकी जो बुद्धिगत मान्यता है वह अति स्थूल है, और सुधारणीय है। त्रिकाल त्रिलोककी सब वस्तुओंकी सब पर्यायोंको युगपत जाननेवाला सर्वज्ञ होता है, यह प्रचलित बोध है। निस्सन्देह सर्वज्ञताको एकाएक समझाया

* शिक्षाप्रधानं व्रतं शिक्षाव्रतं। देशावकाशिकादेर्विशिष्टश्रुतज्ञानभावनापरिणतत्वेनैव निर्वाह्यत्वात्। ४-४।

† अहं णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्त सिक्खावइयं दुवालसविहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि।
—उवासगदसा १-१२।

‡ परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि। व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि।
पुरुषार्थसिद्ध्युपाय १३६

भी और किन शब्दोंमें जावे? बहुज्ञताका अति संवर्द्धित परिपूर्ण रूप ही सर्वज्ञता होगा—साधारणजन इसी भाँति उसे समझ सकता है। इसमें मुझे कोई विशेष अयथार्थता भी नहीं दीखती। किन्तु यह मैं स्वीकार करता हूँ कि सर्वज्ञताकी इस परिभाषाके शब्दार्थको पकड़नेसे और उसे चिपटा लेनेसे भाव की हत्या होती है। इस भाँति सर्वज्ञता निरी उपहास्य भी बनाई जा सकती है।

आपके लेखने उस सर्वज्ञताकी निष्प्राण परिभाषा पर आघात किया है, यह अनिष्ट नहीं है। इसकी जरूरत थी। बहुज्ञताका परिवर्द्धित रूप सर्वज्ञता है, समझनेके लिये हम ऐसा समझ लें, यहाँतक तो ठीक; किन्तु हम अपनी प्रतीति ही ऐसी बनाले, हमारा अन्तिम विश्वास ही ऐसा हो जावे तो यह गलत है। विज्ञानकी दृष्टिसे भी वह गलत है, अध्यात्म और व्यवहारकी दृष्टिसे भी गलत ही है।

आपके तर्कसे यह बात प्रमाणित होजाती है। बहुज्ञता अधिकसे अधिक बढ़कर भी सर्वज्ञता नहीं होसकती, क्योंकि 'समस्त' में बहुविध–ता नहीं है। समस्त तो अखंड है। 'समस्त' असंख्यसे भी बड़ा, अनन्तसे भी बड़ा है। इस भाँति बहुज्ञता अनन्तज्ञता तक तो पहुँच सके, सर्वज्ञता तक नहीं पहुँच सकती, यदि मात्र इस ही कारण कि वह बहुज्ञता है।

यहाँ तक तो मैं आपके साथ हूँ। लेकिन आपका लेख आगे भी बढ़ा है, और वहाँ मैं उससे स्पष्टतया अलग हो जाता हूँ।

मेरा मन्तव्य है कि सर्वज्ञता है। उस सर्वज्ञताके लिये और भी शुद्ध शब्द कहूं, कैवल्य। कैवल्यमें एकसे अधिकको जाननेकी बात ही नहीं आती। जो अखंड है, अविभक्त है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वांतरात्मा है, उसको पाना, कैवल्य पाना है। उससे बाहर होकर कुछभी अन्य नहीं है। त्रिकाल त्रिलोक सब उस अखण्ड-तत्वके भीतर ही गर्भित है। मुझे कहना है कि ऐसा कैवल्य तो है। वह कैवल्य सर्वज्ञताकी हमारी सब प्रकारकी धारणाओंके ऊपर है।

मुझे उस केवलज्ञानमें पूर्ण विश्वास है। वह विश्वास इतना पूर्ण है कि उसे आवश्यकता नहीं है कि महावीर अथवा पार्श्वनाथ अथवा और किसी ऐतिहासिक पुरुषके केवलज्ञानी होनेके प्रमाणकी वह भिक्षा माँगे। मैं मानता हूँ कि कृष्ण नहीं थे भगवान। रामचन्द्र भी भगवान न थे, महावीर भी भगवान न थे। कोई उनमें केवलज्ञानी नहीं था। अर्थात् ऐतिहासिक पुरुषकी भाँति जीवन यापन करनेवाले महावीर, रामचन्द्र और कृष्ण मनुज थे। वे खण्डमात्र थे, एक एक व्यक्ति थे। लेकिन मैं यह भी मानता हूँ कि इनमें से किसीको अथवा तीनोंको परमात्मा रूपमें ध्याना अनिवार्यतया न अपनेको धोखा देना है, न ही औरोंको धोका देना है। मैं मानता हूँ पत्थर को प्रतिमाके रूपमें पूजा जासकता है। इसमें, जिसको पूजते हैं, उसकी अवज्ञा नहीं है। वह [illegible] झूठ नहीं है। वह पूजा कल्याणकर देखी जाती है। प्रतिमा पत्थर ही है किन्तु भक्तके लिये वह भगवान है। उस तर्कका भक्तके निकट क्या मूल्य है जो साबित करता है कि प्रतिमा पत्थर ही है। हाँ पत्थर, और है पत्थर तब भी भक्तमें उसको लेकर भक्तिकी धारा उमड़ पड़ती है, इसको कैसे इन्कार किया जा सकेगा? और तब उसको टोका भी नहीं जासकेगा।

ऐतिहासिक महावीर सर्वज्ञ नहीं थे और बौद्धिक सर्वज्ञता असम्भवता है—इतना कहकर भी आप आगे क्या चाहते हैं, वह मैं नहीं समझ सका। क्या आप श्रद्धाके आधारको [illegible] देना चाहते हैं? अथवा श्रद्धाके आधारको स्थूल नहीं देखना चाहते, सूक्ष्म ही देखना चाहते हैं? किन्तु श्रद्धा [illegible] अपनी शक्ति से निर्गुणको सगुण और अव्यक्तको [illegible] बनाये बिना चैन नहीं पा सकती। इसलिये मैं कहता हूँ कि उस आधारको, वह स्थूल हो कि सूक्ष्म, तोड़ने की चेष्टा करनेसे नहीं चलेगा। इसका परिणाम जन सामान्यमें उद्वेग होगा। और आप जानते हैं—'यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः'—ऐसा बनकर रहना होगा। लोकको उद्विग्न बना छोड़

कर जो तुष्ट होता है उसे सत्यार्थीसे आगे बढ़कर थोड़ा बहुत हठी भी कहना होगा। जिस सत्यका दूसरा पहलू अहिंसा नहीं है उसमें असत्यका आभास अवश्यम्भावी जानना चाहिये।

सर्वज्ञताको जिस स्थूल रूपमें औसत जैनने अपनी प्रतीतिके साथ चिपटा रक्खा है, लगभग सर्वज्ञताको तदनुरूप स्थूलरूपमें ही आप भी देखते हैं। निस्सन्देह उस रूपमें वह असिद्ध ठहरती है। सच तो यह ही है कि वह किसी भी रूपमें सिद्ध नहीं ठहराई जासकती। ऐसा इसलिये नहीं कि सर्वज्ञता नहीं है, प्रत्युत ऐसा तो इसलिये है कि सर्वज्ञता इतना महान और महीन तथ्य है कि मनुष्यकी प्रत्येक परिभाषा और प्रत्येक रूप उससे ओछा ठहरता है।

जीवनका मेरे निकट कोई अर्थ नहीं है, यदि मुझे मुक्ति न हो। कोई पूछे कि उस मुक्तिको किसीने देखा है? कोई सिद्ध करसका है? इतिहासमें से किसी मुक्त प्राणीको खोजा जासकता है? मैं कहूँगा—नहीं, फिर भी मुक्ति तो है। जब बन्धन दिखलाई देते हैं तब हो ही कैसे सकता है कि मुक्त न हो? वह मुक्ति असिद्ध भले दीखे, लेकिन हमारे लिए तो वही है, वही हमारा ध्येय है, चरम लक्ष्य है।

उस मुक्तिका प्रमाण तो हमारे अपनेही भीतर गहरेसे गहरा रमा हुआ है। नहीं तो हम बन्धन क्या तोड़ना चाहते हैं? मुक्ति हो ही नहीं तो बंधन अप्रिय क्यों लगता है?

इसी प्रकार सर्वज्ञताका सबसे बड़ा प्रमाण हमारी अपनी अल्पज्ञतामें ही है। हमारी छद्मस्थताका नहीं तो और अर्थ ही क्या है? हम आज छद्मस्थ हैं ही क्यों, यदि हमें कभी भी पूर्ण होना नहीं है? सर्वज्ञताकी ओर हमें इसलिए नहीं बढ़ना होगा कि महावीर अथवा और कोई सर्वज्ञ होगए हैं बल्कि उस ओर तो बढ़ना इसलिए होता है कि सर्वज्ञता हमारे भीतर है, हमारे स्वभावगत है। उस अपने स्वभाववश होकर हम सदा अल्पज्ञ रहकर भी सर्वज्ञताकी ओर बढ़ते ही रहेंगे, क्योंकि अल्पज्ञता तो आजका और मायाका सत्य है, शाश्वत और यथार्थ सत्य तो सर्वज्ञता ही है।

ऊपर मैंने कुछ बुद्धिहीन सी बातें कही हैं। मेरे निकट यद्यपि वे ही बात अधिक सार-वान हैं। किन्तु बुद्धिके तलपर आकर हम क्या देखते हैं? 'आइनस्टीन', जो पश्चिमका सबसे बड़ा गणितज्ञ है गणितके जोरसे कालको असिद्ध ठहराता है। इस तरह स्पष्ट होजाता है कि हमारे ज्ञानका जो रूप है वह अन्तिम नहीं, कल्पित है। वह आपेक्षिक है। अपने परिचित शब्दोंमें कहें तो, वह ऐकान्तिक है। वहतो इस प्रकार ज्ञान है ही नहीं, अज्ञान है। इसविधि, मात्र उतनाही नहीं जो कि मनुष्य मानता है, अथवा मानता है कि वह जानता है प्रत्युत वह भी जिसको वह अनुभव करता है—सब आपेक्षिक है, सब अज्ञान है। मनुष्यकी दृष्टिसे वह सभीही ज्ञान हो किन्तु कैवल्यकी दृष्टिसे तो वह माया ही है। यह कैसे आश्चर्यका विषय है कि आप, जो सत्यार्थी है तर्कके हेतुसे भी इस नाना प्रकारके मायावी ज्ञान के संग्रहकी परिभाषामें ही केवलज्ञानको समझने और समझाने लग जावें!

व्यवहारकी दृष्टिसे भी हम देख सकते हैं कि हम ज्ञानी उस पुरुषको नहीं कहा करते हैं, जिसके पास फुटकर सूचनाओंका बहुत बड़ा संचय हो। सोसाइटी के जीव ज्ञानीके रूप में स्वीकार—होते बहुधा नहीं देखे जाते, यद्यपि उन्हें तो दुनियाकी बहुतसी बातोंका अता पता रहता है। अपने कामकाजमें भी ज्ञानी हम बहुधा उस व्यक्तिको स्वीकार करते हैं, जिसको खबरें तो चाहे बहुत मालूम न हों पर जिसने घटनाओं और वस्तुओंका सारतत्व पाया हो। बहुधा विरक्त और एकांत-प्रेमी पुरुषोंमें से ही ज्ञानी हुआ करते हैं। इस दृष्टिसे हम यह देख सकते हैं कि ज्ञान कदाचित उतना बहुत जानने में नहीं है, जितना कि सार (जो कि संक्षिप्त है) जाननेमें है। अनेकको एकरूपमें जानना बहुत बड़ा

ज्ञान है। उस एकको जानने से अनेक सहज भाव से जान लिया जाता है।

बात यह है कि मनुष्य स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर प्रयाण करता है। आपने सर्वज्ञताकी स्थूल मान्यता पर चोट देकर बुरा किया, यह मैं नहीं कहता। किन्तु, आपके लेखमें यह ध्वनि होती कि आप व्यक्ति को स्थूलतासे सत्यताकी ओर लेजाना चाहते हैं; आपके लेखमे एकान्तिक ध्वनि न होती; आपका लेख कल्पित सर्वज्ञताको संस्कार देकर वास्तविक सर्वज्ञताकी ओर लेजाना चाहता होता, तो मुझे प्रसन्नता होती। मूर्तिको तोड़ना कभी आवश्यक हो भी जावे, पर भक्तिको तो नहीं तोड़ना होगा। आपका लेख इसी ओर बढ़ता है। आपके आघात ने सर्वज्ञताके प्रचलित रूपको ही नहीं, सर्वज्ञताको ही खंडित करना चाहा है— यह निरहंकृत सत्य-प्रीतिका लक्षण नहीं जान पड़ता।

कुछ बात आपकी सत्य-समाजकी प्रतिस्थापना को लेकर भी मनमें उठीथी। सत्यके प्रति आपकी निर्भीक श्रद्धाको देखकर मेरे मनमें ईर्षा हो आना चाहती है। ऐसे व्यक्ति थोड़े और भी हों, तो क्या कहना! मेरी प्रार्थना है कि मुझमे भी सत्यके प्रति आप जैसा आग्रह और लगन उपजे। किन्तु मुझे तो सत्यकी अस्पष्ट झाँकी भी नहीं पासकी है। तब मैं सत्यको प्रणाम करके ही रह लेता हूँ और अहिंसाको पकड़ लेता हूँ।

मुझे ऐसा जान पड़ता है कि सत्यतो भगवानका निर्गुण रूप है। वह रूप है,जिसके साथ हम अपना बुद्धिका सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। यहाँतक कि उस रूपकी उपासना भी नहीं की जासकती। उस अनिर्वचनीय सत् तत्वके समक्ष, प्राणावेगमें जब हम उपासनामें नत-जानु होते हैं, तब मानों उस निर्गुण सत्यको हम सगुण ईश्वर बना उठते हैं। उस निर्गुणरूपको स्पर्श करनेके प्रयासमें जो हम उसे सगुण मूर्त्तरूपमें देखना चाहते हैं, वही हमारी साधना और सार्थकता है। उस निर्गुणरूपमें जब कि सत्य अविभक्त, अविभाज्य और ऐक्य है तब आराधना, साधना और उपासनाका विषय बननेपर उसमें नानात्मकता आ रहती है। देश-देश और काल काल में जो नाना उपास्य बने हैं वे सभी अपने अपने ढंगमें सत्य हैं। 'ये यथामाम् प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। उन उपास्य रूपों की अनेकता अनिवार्य है। उस अनेकताको निवारण करनेकी इच्छा भी क्यों? अपनी परिस्थिति और अपने तलपर जो सत्य है दूसरी परिस्थिति और दूसरे तल पर वह सत्य नहीं स्वीकारा जाता, तब इसमें क्षोभकी क्या बात है? जब मेरे पास मेरा अपना हृदय है और दूसरेके पास उसका अपना है, तब दोनों अपने-अपने हृदयोंकी तृप्तिके रूपमें उस सत्यको स्वरूप दें—इसमें विडम्बना कौनसी है?

इस दृष्टिसे भी मुझे उचित मालूम होता है कि जहाँतक सत्यकी आराधना, साधना और उपासना का सम्बन्ध है वहाँतक संगठित समाजकी आवश्यकता नहीं है। प्रार्थना सामूहिक हो सकती है, जबकि वह समूह किन्हीं नियमोंके अन्तर्गत न मिला हो अपितु प्राकृतिक रूपसे ही बन गया हो, क्योंकि सत्यता किन्हीं दो का भी सर्वथा एक नहीं हो सकता। उसको तो अपनीही आत्माकी साधना से साधना होगा। उस सत्यके स्वरूपकी समानता अथवा उसकी पूजाकी समानताके आधार पर लोक-संग्रहके लिए जो समाज बनाया जायगा, वह संप्रदाय न बन जावे, इसकी संभावना नहीं है। जो जैन है, वह जैन न रहे, यह क्यों आवश्यक है? अथवा वह जैन रहकर उसके ऊपर 'सत्यसमाजी' भी रहे, यह क्यों श्रेय है? जितने धर्म-मत हैं, उनमें किसीमें यदि किसीको संतृप्ति नहीं है तो वह व्यक्तिगतरूपमें अपने मार्गसे सत्यकी उपासना कर सकता है। किन्तु उसको वह प्रचलित करे, प्रचारित करे, इसकी आवश्यकता समझमें नहीं आती। इस पद्धतिसे मानवीय सम्बन्धोंमें सरलता बढ़ेगी, ऐसा अनुमान नहीं होता।

किन्तु संगठन क्या आवश्यक नहीं है ? क्या व्यक्ति अपने आपमें पूर्ण है ? क्या लोकसंग्रह अनावश्यक है ? ये प्रश्न उठाए जासकते हैं। इनका उत्तर यह है, कि नहीं; 'परस्परोपग्रह' तो जीवका लक्षण है। वह जीवनका भी लक्षण है। व्यक्ति अकेला नहीं रह सकेगा। अकेलापन तो असत्य भी है। किन्तु सामाजिकताके लिए जो धर्म हमें प्राप्त होता है वह सब तो 'अहिंसा' शब्दमें समा जाता है। करणीय सत्य, अहिंसा है। जब सत्य को व्यवहारमें उतारना होता है तब अहिंसा प्राप्त होती है। इसलिए समाज बनानेका आधार, अहिंसाका आचरण, अहिंसाका प्रचार, अहिंसा का सम्यक् दर्शन और सम्यक ज्ञान बनाना होगा। समाजका धर्म अहिंसा है, सत्यकी उपासना नहीं। उपासना विधिमें एकता लानेकी बात जरूरी नहीं है, न उन उपास्य देवताओंको एक पंक्तिमे अथवा एकवेदी पर बैठानेसे किसी सत्यकी सिद्धि समझनी चाहिए। यदि मैं राम रामकी रट लगाकर कृष्ण को भजने वाले व्यक्तिके प्रति समदर्शी रहता हूँ तो कृष्णकी मूर्त्तिको बिना अपनी उपास्य श्रेणीमें रक्खे भी समाचरणी बनता हूं। आपने सत्यकी उपासना की जिस सपाट एकरूपताको अपने समाजका आधार रक्खा है, वहाँ मुझे सौंदर्य्यका और आत्मीयताका दर्शन नहीं होता है, एक प्रकारकी नेकनीयतीका ही दर्शन होता है। और जहाँ वास्तवमे ऐक्य है, वहतो नैतिक नेकनीयतीसे गहरा कोई स्थल है। जिस प्रकार साथ खाने पीने और विवाह शादी करनेके व्यवहारको आपसी प्रेमकी अनिवार्य शर्त समझना भूल है, लगभग वैसाही भ्रम मुझे आपके सत्यसमाजके मूलमें अनुभव होता है।

मै अपने इरादेसे बहुत ज्यादा लिखगया। अब मैं समाप्त करूँगा। जैसा मैंने कहा—मैं इस ऋण को अपने पास नहीं रख सकताथा। आप मेरे देय इस पत्रको लेलें, और मुझे जो समझाना हो, अवश्य समझावें। आप देखिएगा मैं समझनेमें भी मन्द नहीं हूँगा और मत परिवर्तन करनेमें भी व्यर्थ अहंकारी नहीं दीखूँगा। इस पत्रको आप जैन-जगतमें भी निकालदें।　　　आपका विनीत—

७ दरियागंज दिल्ली २६-३-३५)　　　जैनेन्द्रकुमार

सम्पादकीय नोट —जैनेन्द्रजीको किसी कारण से यह भ्रम हो गया है कि वे मुझसे असहमत हैं। सम्भवतः इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि वे भावुकताप्रधान हैं और मैं तार्किकताप्रधान। यह प्रधानता ही यह भ्रम पैदा कर रही है, अन्यथा न तो तार्किक हृदयहीन होता है, न सहृदय तर्कहीन। यहाँ भी दोनों एक ही विचारके हैं, परन्तु हृदयकी वृत्तियोंमें थोड़ा अन्तर है। जैनेन्द्रजी मूर्ति तो चाहते हैं, परन्तु कोई शिल्पी मूर्तिनिर्माणके लिये पत्थर पर छैनी चलावे, यह दृश्य नहीं देखना चाहते। [illegible]ताके जिस रूपका मैंने खण्डन किया है, उसका विरोध आप भी करते हैं। फिर भी आप सर्वज्ञता चाहते हैं, कैवल्य चाहते हैं। इसीलिये आप अपनेको मुझसे भिन्न समझते हैं। यही भ्रम है। इसके लिये मैं कुछ पुराने लेखोंके उद्धरण दे दूँ तो बस होगा।

जैनजगत् वर्ष ९, अंक ८, पृ० ९—

"शुद्धात्मज्ञानकी पराकाष्ठा केवलज्ञान है। जीवन्मुक्त अवस्थामें जो आत्मानुभव होता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञानीको फिर कुछ जानने योग्य नहीं रहता इसलिये उसे सर्वज्ञ भी कहते हैं। ......उपनिषदोंमें जीवन्मुक्त अवस्थाका जो वर्णन है वह भी आत्माकी एक अविकृत निश्चल दशाको बताता है। आत्मज्ञानीको ही जीवन्मुक्त कहते हैं। केवली, अर्हन्त, जीवन्मुक्त ये सब एक ही अवस्था के नाम हैं।"

जैनजगत ८-८-४ में लिखा था—"जिसने सुखके मार्गको अच्छी तरह जान लिया है अर्थात् पूर्णरूपमें अनुभव कर लिया है वही केवली या सर्वज्ञ कहलाता है।"

इससे मालूम होता है कि मैं केवली या सर्वज्ञ

का निषेधक नहीं हूँ; मैं तो सिर्फ उनकी तर्कविरुद्ध (असिद्ध नहीं) असंगत परिभाषाका विरोधी हूँ।

ऐतिहासिक व्यक्ति कैसे भी हों, परन्तु उनको सत्यसमाज मंदिरमें स्थान दिया है इसका कारण व्यावहारिक चतुरताके साथ वह भावुकता है जो एक मूर्तिके साम्हने भक्तमें होती है। सर्वज्ञताकी आप उपासना करना चाहते हैं परन्तु वह तो भगवान सत्यकी उपासना है। भगवान सत्यकी कल्पनासे किसीको उद्वेग नहीं होसकता। उससे ईश्वरवादी का उद्वेग दूर होता है और अनीश्वरवादीको भी संतोष रहता है। सर्वज्ञताके वर्तमान रूपको दूर करकेभी मैंने लोगोंको अवलम्बनहीन नहीं बनाया है। मैंने तो घटनाओंके संग्रहवाले सर्वज्ञको हटाया है। मनुष्यको स्थूल से हटाकर सूक्ष्म मर्मज्ञताकी तरफ खींचा है।

जो बात सर्वज्ञताके विषयमें है वही मुक्तिके विषयमें भी। मुक्तिके वर्तमान रूपों और बन्धनों को मैंने हटाया है। हम उसकी कालिक अनन्तताके झगड़ेमें क्या पड़ें? उसे सुखरूप ही क्यों न मानलें? वह सान्त हो तो क्या? सिर्फ एक दिन भरपेट रहनेके लिये हम क्या नहीं करते? तब सान्त मुक्ति या स्वर्ग या और कोई सुखशान्तिके लिये हमारा आकर्षण क्यों नष्ट होजायगा?

आप असिद्धको उपयोगी समझकर मानते हैं, मानना चाहते हैं, परन्तु मैं भी किसी असिद्धका खण्डन नहीं करता। मैं तो सिर्फ विरुद्ध और असंगत या अनुपयोगी या दुरुपयोगीका खंडन करता हूँ।

भावुकताको चरितार्थ करनेको मैं मना नहीं करता, निर्गुणको। उपासना पूजनेका भी मैं विरोधी नहीं हूँ, इसीलिये सत्य और अहिंसाको मैंने भगवान और भगवती बनाया है, उनकी मूर्तियाँ भी चाहता हूँ परन्तु इतना अवश्य कहता हूँ कि भावुकता और अनुभवको अधिकसे अधिक तर्कसंगत बनानेकी कोशिश करना चाहिये। *अन्यथा भावुकता, सहृदयता, भक्ति अनुभव, आदि सुन्दर नामोंकी ओटमें मूढ़ता,* जड़ता, अन्धविश्वास, रूढ़िप्रियता आदिका नंगा नाच होने लगेगा। 'तर्क' इतना बेईमान या दंभी नहीं होता कि जहाँ उसकी गति नहीं है वहाँभी पहुँचनेका वह ढोंग करे। फिर तर्कका भंडाफोड़ करना बहुतही सरल है। वह कठोर है, पेचीदा है, पर अंधेरेमें नहीं है इसलिये अपने विश्वासोंको ऐसा अवश्य बनाना चाहिये जिसे तर्क पा सके, या न पा सके पर तोड़ न सके। अन्यथा आप अपने विश्वासको भी टिका नहीं सकते। जड़ शान्ति कदाचित् मिलजाय, परन्तु चेतनशान्ति—मुक्ति नहीं मिलसकती।

मैं जो कठोर परीक्षण कर रहा हूँ वह इसलिये नहीं कि अवलम्बन मुझे बुरे मालूम होते हैं किन्तु इसलिये कि मुझे दृढ़तर या दृढ़तम अवलम्बन चाहिये। मैं विश्राम करनेके लिये द्वीप चाहता हूँ, ह्वेल मछलीकी द्वीपाकार पीठ नहीं। अगर हम ऐसा दृढ़तर या दृढ़तम अवलम्बन ढूँढ़ सकते हों तो हमें अवश्य ढूंढना चाहिये। "कौन झगड़े में पड़े" इस प्रकार आलस्यकी विरुदावली न गाना चाहिये।

सत्यसमाजके विषयमें भी आपको भ्रम हुआ है कि मैं अनेकताको नष्ट करना चाहता हूँ। वास्तव में मैं यह बताना चाहता हूँ कि यह अनेकता अनेक व्यक्तियोंके समान नहीं, किन्तु एक व्यक्ति-भगवान सत्य-के अनेक अंगों या रूपोंके समान है। हम अपने बापको पूर्ण मनुष्य मानें—यहाँ तक ठीक है, परन्तु यह कहें कि दुनियाँके सारे मनुष्य मेरे बापकी संतान हैं, उन सबके बाप तो नपुंसक हैं, तो यह ज्यादती है। इसी ज्यादतीको दूर करना है, और यह बतला देना है कि उन सब बापोंका भी एक बाप है जो नपुंसक बने पैदा नहीं करता।

सत्यकी यह उपासना संगठित समाजके बिना भी हो सकती है, फिर भी संगठनकी आवश्यकता है। मोतियोंको सूतमें पिरो देनेसे उनका मूल्य भले ही न बढ़े, परन्तु उपयोगिता बढ़ जाती है। इसका उत्तर आपने ही दे लिया है, इसलिये विशेष उत्तर *न दूँगा।*

जो जैन है वह जैन न रहे, इसकी जरूरत नहीं है, परन्तु एक साधारण आदमी सत्यसमाजी हो यह आवश्यक है। वह सिर्फ इसलिये कि वह दूसरोंका आदर करना सीखे, सत्यके बदलेमें दुराग्रहकी पूजा करना छोड़ दे, और अपने मार्गमें आती हुई कठिनाइयोंमें अपने भाइयोंका सहारा प्राप्त करे। जो इस पाठशालामें शामिल हुए बिना भी सत्योपासना कर सकता है, जो सारी कठिनाइयोंको अपने दम पर कुचल सकता है, उसको यहाँ नाम लिखानेकी जरूरत नहीं है। परन्तु अगर कोई इसकी आवश्यकता समझता हो तो उसे सूचित करना प्रत्येकका कर्तव्य है। चाणक्य, अकबर और शिवाजी अगर राजनीतिके स्कूलमें नाम लिखाये बिना भी उस विषयके निष्णात होगये तो इसीसे राजनीति पढ़ानेकी अनावश्यकता सिद्ध नहीं होजाती।

सामाजिकताके लिये जिस धर्मकी ज़रूरत है, वह अहिंसा शब्दमें समाजाता है जरूर, परन्तु दुनियाँके झगड़ोंमें अहिंसा और हिंसाकी इतनी दुहाई नहीं दीजाती जितनी सत्य और असत्यकी। इसलिये सत्य नाम रक्खा गया। अहिंसा और सत्यको परस्पर भिन्न करना ही कठिन है। सच पूछा जाय तो दोनों मिलकर एक चीज़ बनती है। इसलिये एकके कहने पर दूसरी शामिल होजाती है। दोनोंको पूर्णरूपमें पाना असंभव है। दोनोंका कल्पनासे दर्शन किया जासकता है और उन्हें प्रणाम किया जासकता है। अहिंसाके विरुद्ध खड़ी होने वाली कोई चीज़ सत्य नहीं होसकती। इस बातको मैंने सत्य और अहिंसाकी व्याख्यामें खूब स्पष्ट किया है।

एकरूपता और एकताके अन्तरको मैं समझता हूँ। एकरूपता होने हीसे एकता नहीं हो जाती और [illegible] हो सकती है-सिर्फ इतनेसे ही [illegible] नहीं कहा जाता। चिकित्सा [illegible] भरते हैं, और न करने पर भी बचते [illegible] इसीसे चिकित्साका बहिष्कार नहीं किया जासकता। शिक्षण देने पर भी मनुष्य दुराचारी असभ्य मूर्ख और दुखी रहता है और शिक्षण न देने पर भी सदाचारी आदि होता है, इसीलिये शिक्षण अनावश्यक नहीं होजाता। एक पोशाकमें रहने पर भी सैनिक विरोधी दलमें मिल जाते हैं, और लड़ाईके बाजे सुनते रहनेपर भी कायर भाग जाते हैं, इसीलिये ये अनावश्यक नहीं हैं। इस एकरूपतामें आपको सौन्दर्य और अध्यात्मका दर्शन नहीं होता, यह स्वाभाविक है क्योंकि इसको आपने सत्यसमाजका आधार समझ लिया है। भाषाको कोई प्राण या आत्मा समझले तो अध्यात्मका दर्शन कैसे होगा? सुन्दरसे सुन्दर जूतेको कोई पैर समझले तो सौन्दर्य कैसे दिखेगा?

खानपान, बेटीव्यवहार, प्रेमालाप, आलिङ्गनादि सकड़ों कार्य ऐसे हैं जो प्रेमके न होनेसे रुकते हैं, किन्तु प्रेमके न होने पर भी होजाते हैं और होने पर भी नहीं होते। परन्तु क्या इसीसे उनसबको छोड़ देना चाहिये? मेरे खयालसे आप व्यवहारको मात्रासे अधिक गौण कर रहे हैं। इससे प्रेमियोंका प्रेम अज्ञात तथा निष्फल तक रहेगा और प्रेमहीनोंको अहंकार तथा निर्दयता छिपानेको ओट मिलेगी।

सहभोजके विरोधी यह कब कहते हैं कि हम अछूतों तथा विजातियोंसे द्वेष करते हैं? परन्तु छूजाने पर और चौका बिगड़ जाने पर जब उनकी आँखें लाल होजाती हैं या नाकही सिकुड़ जाती है उस समय उनका प्रेम उसीप्रकार द्वेषमें परिणत हो जाता है जिसप्रकार शीतल चन्दन अग्निमें। ऐसी परिस्थितिमें सहभोज आदिके व्यवहार प्रेमको पैदा भले ही न करें, रक्षण भी न कर सकें, परन्तु थोड़े बहुत अंशमें उसे फायर-प्रूफ अवश्य बना सकते हैं। यही क्या कम है? इसीप्रकार सत्यसमाज मंदिरकी या सामूहिक प्रार्थनाकी बात है। इससे कोई सर्वधर्मसमभाव भले ही न सीख सके, उसका रक्षण भी कदाचित् न कर सके, परन्तु मैं भी इससे सर्वधर्मसमभाव नहीं सिखाना चाहता—सिर्फ उसकी *मौन भाषा सिखाना चाहता हूँ, जोकि ध्वनिमय भाषा*

से शतगुण मूल्यवान है। और मनुष्यके लिये भाषा कितनी आवश्यक है, इसके कहनेकी जरूरत नहीं।

बहुत कहागया इसलिये बन्द करता हूँ, और बहुत कहना है फिर भी बन्द करता हूँ। क्योंकि इस विषयमें पहिले भी कहा गया है और अभी तो कहने के लिये न जाने कितने मौके और आयँगे। अन्तमें मैं इतना और कहूँगा कि निश्चय व्यवहार, द्रव्यक्षेत्र काल भाव, साधारण आदमीकी मनोवृत्ति, आदि बातों पर गम्भीर और विस्तीर्ण विचार करके अपना मत बनावें।

सत्यसमाज प्रगति।

श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी कोटेचा सत्यसमाज-प्रगतिके लिये बार्शीमें बहुत प्रयत्न कर रहे हैं। इसके लिये आप यथाशक्ति तन मन धन लगा रहे हैं। और अब तो आपको श्रीयुत आप्टे आदि सहयोगी भी मिल गये हैं जो बार्शी शाखाकी उन्नतिमें पूर्ण सहयोग दे रहे हैं। बार्शीमें अभी निम्नलिखित सदस्य तथा अनुमोदक और बने हैं:—

(५९) किसनदासजी शेटे बी० एससी०, बी० ए०, एलएल० बी०। पिताका नाम—कमलादासजी शेटे, उम्र ३२, वैदिक पाक्षिक, जन्मसे ब्राह्मण। पता चाटेगल्ली बार्शी।

(६०) मूरजीभाई, पिताका नाम—नरसीभाई, उम्र २७, जैन पाक्षिक, जन्मसे मूर्तिपूजक श्वेताम्बर कच्छीदसा ओसवाल। आप यहाँ के प्रसिद्ध सुधारक नेता, जैनपाठशालाके प्रेसीडेन्ट, लोकलबोर्डके मेम्बर हैं।

(६१) पं० रामचन्द्रजी कानिटकर। पिताका नाम—रामचन्द्र बालाजी, उम्र ३२, वैदिक पाक्षिक, जन्मसे स्मार्त हिन्दू ब्राह्मण, पता—भगवान संगीत विद्यालय बार्शी।

(६२) गणपति अम्बासी बाबर, उम्र २४, वैदिक पाक्षिक, जन्मसे हिन्दू मराठा।

निम्नलिखित दो सज्जनोंके अनुमोदनपत्र आये हैं।

(६३) खुशालचन्द प्रेमराजजी पटवा बार्शी।

(६४) छगनलाल लालचन्दजी ओसवाल, मु० गोमलवाड़े (अहमदनगर)।

श्रीयुत पं० सूर्यभानुजी डाँगीकी प्रयत्नशीलता से भी पाठक परिचित हैं। दुर्भाग्यसे आपके पिताश्रीका अभी देहान्त हो गया, जिसके लिये आप एक माह घर पर रहे। परन्तु शोकमें सहानुभूति दिखलानेके लिये भी जो लोग आते थे, उनसे आप सत्यसमाजकी चर्चा करते थे, प्रचार करते थे। इस कर्तव्यपरायणताकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। इसी समय आपके काका श्रीयुत कुन्दनमलजी डाँगी आये और इसी प्रचारके फलस्वरूप पाक्षिक सदस्य बने। श्रीयुत कुन्दनमलजी प्रसिद्ध सुधारक, त्रिस्तुतिक सम्प्रदायके अग्रगण्य सुकवि भजनीक और सुशिक्षित हैं, एक प्रेसके मालिक जमींदार और व्यापारी हैं। यह रहा आपका पत्र—

(६५) "चिरञ्जीव सूर्यभानुसे आपके सत्यसमाजकी योजना एवं तत्सम्बन्धी विशेष ज्ञातव्य मालूम हुआ। 'जैनधर्मका मर्म' नामक लेखमाला के कुछ प्रबन्ध भी पढ़े। आपके सहानुभूतिपूर्ण विमल विचार तथा [illegible] योजना [illegible] है, जनसाधारण [illegible] करने [illegible] है। आपकी [illegible] होती है। पुराने [illegible] पड़े हुए दकियानूसी लोग आपकी प्रतिभा [illegible] नहीं छू सकते। मैं मानता हूँ कि आपके ऐसे विचारवाले बहुत हैं, परन्तु उनका संगठन करनेका जो आपने बीड़ा उठाया है वह अवश्य सार्थक होगा। 'जैनधर्मका मर्म' पुस्तक रूप छपनेपर मैं भी उसका अध्ययन करूँगा। आशा है अन्य धर्मोंका मर्म भी आप शीघ्र प्रकाशित करेंगे। विशेष क्या लिखूँ। मुझे भी आप जैनपाक्षिक सदस्य श्रेणीमें लिख लें। मैं शहर पहुँचते ही शीघ्र शाखा का प्रबन्ध करनेका प्रयत्न करूँगा और समय समय पर अपने विचार प्रकट करता रहूँगा।"

भवदीय—कुन्दनमल।

पिताका नाम—ऋषभदासजी, उम्र ४१, जैन पाक्षिक, जन्मसे श्वेताम्बर जैन ओसवाल, पता—श्री वर्द्धमान जैन प्रिन्टिङ्ग प्रेस निम्बाहेड़ा (टोंक स्टेट)।

(६६) श्रीमती सरलादेवी बलदौटा, पतिका नाम—हरलालजी बलदौटा, उम्र १८, नैष्ठिक, जन्म से श्वेताम्बर बीसा ओसवाल। पता कैंजल प्रिन्टिङ्ग लक्ष्मीरोड पूना।

अभी मैं पता ... मालूम हुआ था कि आपने सत्यसमाजको शंकासमाधानपूर्वक समझकर स्वीकार किया है।

श्रीयुत भाई भानुकुमारजी भी सत्यसमाजके प्रचारके लिये बहुत प्रयत्नशील रहते हैं। आपको इधर हरदा तरफ जानेका मौका आया तो आपने सत्यसमाजके निम्नलिखित तीन सदस्य बनाये।

(६७) सीतारामजी पटाले, पिताका नाम श्रीकिशनजी पटाले, उम्र ३०, वैदिक पाक्षिक, जन्मसे सनातनी ब्राह्मण, हरदा सी० पी०।

(६८) केशरीमलजी जैन, पिताका नाम चंपालालजी, उम्र २०, जैन पाक्षिक, जन्मसे दिगम्बर जैन लमेचू। पता-गड़ीमोहल्ला हरदा, सी० पी०।

(६९) अनोखीलालजी, पिताका नाम फूलचंदजी, उम्र १८, जैन पाक्षिक, जन्मसे दिगम्बर जैन कठनेरा। पता-पो० रहटगाँव तहसील हरदा (होशंगाबाद सी० पी०)

उपर्युक्त समाचारोंके बाद सत्यसमाज प्रगतिके निम्नलिखित समाचार और मिले हैं। श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी काटेचाके प्रयत्नसे निम्नलिखित सदस्य और अनुमोदक बने हैं।

(७०) मोतीलालजी कोटेचा, पिताका नाम सुखलालजी कोटेचा, उम्र २४ वर्ष, जैन पाक्षिक, जन्मसे ओसवाल जैन। पता—बीड़ (निजाम स्टेट Via अहमदनगर)।

(७१) रूपचंदजी भण्डारी, पिताका नाम तिरदीचंदजी भंडारी, उम्र २४ वर्ष, पाक्षिक जैन। जन्मसे ओसवाल जैन। पता—P. O. लक्ष्मणदास करणीदान जि० अहमदनगर।

निम्नलिखित सज्जन अनुमोदक बने हैं—

(७२) डॉ० चुन्नीलालजी नाहर, पता—भीकमचंद चुन्नीलाल नाहर, घोड़नदी (पूना)

चौधरी धन्नालालजी जैन वैद्य और चिरञ्जीलालजी जैन भेलसामें सत्यसमाजके प्रचारके लिये पूरा प्रयत्न कर रहे हैं। आप लोगोंके प्रयत्नसे निम्नलिखित चार सदस्य और बने हैं।

(७३) धरमचंदजी, पिताका नाम वंशीधरजी, उम्र .. वर्ष, पाक्षिक जैन, जन्मसे दि० जैन परवार पता—धरमचंद राजमल जैन बड़ा बाजार भेलसा (ग्वालियर स्टेट)

(७४) पन्नालालजी दरबार, पिताका नाम टीकारामजी टड़ैया, पाक्षिक जैन, उम्र ५० वर्ष। जन्मसे दि० जैन परवार। पता—टीकारामजी पन्नालाल दरबार वाले, भीतर क़िला, भेलसा (ग्वालियर)

(७५) छोटेलालजी, पिताका नाम पन्नालालजी उम्र २७ वर्ष, पाक्षिक जैन। जन्मसे दिगम्बर जैन परवार चौसके, भेलसा।

(७६) राजमलजी, पिताका नाम पूरनचंदजी, उम्र २२ वर्ष, पाक्षिक जैन, जन्मसे दि० जैन परवार। पता—राजमल पूरनचंद जैन भेलसा।

बार्शी समाचार—यहाँकी ग्रामशाखाके अध्यक्ष श्री० किसन कमलादासजी शेटे बी०एमसी० बी० ए० एल एल० बी० वकील और मंत्री श्रीयुत पी० बी० आप्टे चुने गये हैं। यहाँ पर शीघ्र ही सत्यसमाजका पृथक् कार्यालय बनेगा।
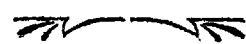
सम्पादकीय टिप्पणियाँ !

महात्मा और भगवान ।

इस विषयमें दो टिप्पणियाँ लिख चुका हूँ। इसपर 'जैनमित्र' के ३६-१६ वें अंकमें ब्र० शीतलप्रसादजी ने तथा 'सनातन जैन' के ८-२२ अंकमें एक भाईने कुछ लिखा है—'सनातन जैन' वाले भाई तो कुछ बढ़कर लिख गये हैं, अपने दिलको तसल्ली देनेके लिये उन्हें मेरा शाब्दिक अपमान भी करना पड़ा है। लेख का विशेष विस्तार न हो, इसलिये मैं एक प्रश्नावली सी रख देना चाहता हूँ जिससे दोनोंके वक्तव्यका उत्तर होजायगा। पहिले नव प्रश्न ब्रह्मचारीजीसे हैं। बादके प्रश्न सनातन जैन वाले भाईसे।

१—आप मेरे विषयमें लिखते हैं कि "भगवान शब्दका व्यवहार श्री महावीर स्वामीके लिये करते हुए भी अपनी कही हुई बातकी पक्ष नहीं छोड़ी है"। क्या मैंने पहिले ही लेखमें यह नहीं लिखा था कि—'भगवान कहनेवालोंका मैं तिरस्कार नहीं करता'? फिर दूसरे लेखमें इससे ज्याद: मैंने क्या लिखा है जिसे आप मेरी स्वीकारता समझ रहे हैं?

२—अगर मैं किसीको सर्वज्ञ नहीं मानता और फिर महात्मा शब्दका प्रयोग करता हूँ,इसीलिये आप महात्मा शब्दको अपमानजनक समझते हैं, तब अगर मैं इसी अर्थमें भगवान शब्दका प्रयोग करने लगूँ तो क्या आप भगवान शब्द छोड़ देंगे? अरहंतमें जो गुण आप मानते हैं वे जिनमें नहीं हैं ऐसे लोगों के लिये जिन जिन शब्दोंका प्रयोग हुआ है उनका प्रयोग यदि महावीर नामके साथ किया जाय तो *क्या आप इसे अपमानजनक समझेंगे? क्या आप महावीरके साथ वे ही विशेषण लगायँगे जो दूसरों को नहीं लगते?*

३—'भगवानकी मर्जी; भगवान जो करेगा सो होगा' आदिमें जगत्कर्ता ईश्वरके लिये भगवान शब्द कहा गया है। तब आप क्यों उपयोग करते हैं? जैसे मेरे द्वारा महात्मा कहे जानेसे असर्वज्ञका बोध होता है, उसीप्रकार दूसरोंके द्वारा भगवान कहे जानेसे जगत्कर्तृत्वका बोध होगा! आपको दोनोंही अनिष्ट हैं।

४—अङ्गरेज जमींदारोंको लगाई जानेवाली लॉर्ड (Lord) की पदवी महावीरके साथ क्यों लगाते हैं? इसका उत्तर आपने क्यों न दिया?

५—भग शब्दका अर्थ अगर ज्ञान है तो भगवान शब्दका अर्थ-ज्ञानी हुआ। उसका 'त्रिकाल त्रिलोकका युगपत् ज्ञानी' अर्थ कहाँ से निकला? अगर भगवानसे वह अर्थ निकाल सकते हैं तो महात्मासे क्यों नहीं निकाल सकते? और फिर उसका प्रयोग अपमान जनक क्यों कहते हैं?

६—वैशेषिक दर्शनोंमें जीवन्मुक्त (अरहंत) और मुक्त (सिद्ध) को भी जीवात्मा ही कहा जाता है। जगत्कर्ता ईश्वरके सिवाय वे किसीको परमात्मा नहीं कहते। साधारण जनताभी इसी अर्थमें उस शब्दका व्यवहार करती है। तब आप महावीर आदिको परमात्मा क्यों कहते हैं?

७—कोषोंमें भग शब्दके जो अर्थ पाये जाते हैं उसमें मुख्य और बहुप्रचलित अर्थ कौन है?

भगं श्रीकाम माहात्म्य वीर्ययत्नार्ककीर्तिषु—अमर।

भगं श्रीयोनि वीर्येच्छाज्ञान वैराग्य कीर्तिषु-मेदिनी।

इस्सरिय रूप सिरि जस धम्मपयत्ता मया भगाभिक्खा—विशेषावश्यक।

क्या इन प्रमाणोंसे यह नहीं मालूम होता कि भग शब्दका मुख्य अर्थ ऐश्वर्य और लक्ष्मी है, ज्ञान वैराग्य आदि उसके अल्प प्रचलित अर्थ हैं?

८—भगवान कहनेसे अगर आपके सामने सर्वज्ञकी मूर्ति आजाती है तब तो भगवती शब्द बेचारा अपने अर्थके लिये तरसता रहेगा क्योंकि *आपके मतमें स्त्री सर्वज्ञ नहीं होती!*

९—आप महावीरको स्वामी क्यों कहते हैं? यह तो दयानन्द आदिको लगाया जाता है!

१०—एक भाईने महावीरको महात्मा लिखा। इसपर ब्र० शीतलप्रसादजीने उसे रोका, जबकि मैंने

कहा कि जिसको जो लिखना हो लिखने देना चाहिये, भगवान और महात्माकी पार्टी नहीं बनाना चाहिये। इसपर भाई शिवलालजी मुझे लिखते हैं कि 'ऐसे अधम विचार मत फैलाओ! दलबन्दीका बीजारोपण मत करो'। क्या दलबन्दीको रोकनेका प्रयत्न करना अधम विचार है? दलबन्दी ब्रह्मचारीजी कर रहे हैं कि मैं?

११—शिवलालजी स्वीकार करते हैं कि जिसके पास ऐश्वर्य हो उसे भगवान कहते हैं। परन्तु कहते हैं कि बाहिरी वस्तुओंसे किसीका क्या ऐश्वर्य? नहीं तो श्रीमानोंको भगवान कहना पड़ेगा। परन्तु जिसप्रकार हम ज्ञानादि अन्तरंग ऐश्वर्यशाली पंडितो को भगवान नहीं कहते, उसी प्रकार श्रीमानोंको भी नहीं कहेंगे। अगर अपने गुणोंके स्वामित्वसे ही कोई ईश्वर कहलावे तब तो एक पत्थर मिट्टी आदि भी ईश्वर है क्योंकि वह रूप रस गन्धादिगुणोंका स्वामी है। ऐसी हालतमें तो ईश्वर भगवान आदि शब्दोंकी कोई उपयोगिता—विशेषता नहीं रहजाती। जगतमें जो ये शब्द आये हैं वे बाह्य ऐश्वर्यके लिये ही आये हैं। पीछेसे अधियोंकी कृपासे रूपक आदि अलंकारोंके रूपमें विस्तार हुआ। खैर, इतना तो सिद्ध है कि भगवान शब्दका अर्थ निश्चयात्मक नहीं है। अन्तरंग ऐश्वर्य भी उससे समझा जा सकता है और बहिरंग ऐश्वर्य भी; परन्तु महात्मा शब्द में इस सन्देहको भी गुंजाइश नहीं है। इसलिये महात्मा शब्दमें भगवानकी अपेक्षा स्पष्टता अधिक है, तब महात्मा शब्दका प्रयोग करना अधिक संगत क्यों न कहा जाय?

१२—भगवान और ईश्वर शब्द बिलकुल समानार्थक है। व्यवहारमें भी समानार्थक माने जाते है। ईश्वर शब्दका अर्थ भगवानके समान होने परभी ईश्वर शब्दसे एक जगत्कर्ता समझा जाता है। यद्यपि व्युत्पत्त्यर्थसे यह बात सीधे नहीं निकलती परन्तु जगत्कर्ता माने बिना व्युत्पत्त्यर्थ ठीक नहीं बैठता। इसलिये भगवान और ईश्वरका अर्थ या भावार्थ जगत्कर्ता किया जाता है सभी दार्शनिकोंने, जिनमें जैन भी शामिल हैं, ईश्वर शब्दका अर्थ जगत्कर्ता किया है। गोम्मटसारमें 'ईसर मंडलिदंसण' (६९) आदि गाथामें ईश्वरका अर्थ जगत्कर्ता किया है। निरीश्वरवाद शब्दका अर्थभी जगत्कर्ता न मानना होता है। सांख्य लोग भी मुक्तात्मा मानते हैं परन्तु वे निरीश्वरवादी कहलाते हैं। सेश्वर सांख्य, निरीश्वर सांख्य आदिका अर्थ भी जगत्कर्ता मानना और न मानना होता है। 'ईश्वरासिद्धेः' इस सांख्यसूत्रमें भी ईश्वरका अर्थ जगत्कर्ता है। इसप्रकार दार्शनिक विद्वानोंसे लेकर आबालगोपाल तक जगत्कर्ताके लिये ही ईश्वर और भगवान शब्दोंका प्रयोग होता है। इसलिये अगर जैन लोग इन शब्दोंका प्रयोग तीर्थकरोंके लिये करते हैं तो इसका कारण उनके ऊपर कर्तृत्ववादकी छाप है। इसीलिये जैनियोंके स्तुति स्तोत्र इसी रंगमें रंग गये हैं। "द्रौपदिको चीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो" अथवा "मोय तारो प्रभू मोय तारो मोरे औगुन न विचारो" आदि इस छापके नमूने है।

१३—एक तरफ तो आप कहते हैं कि 'अन्य की सम्पत्तिसे किसीका क्या ऐश्वर्य,' परन्तु इसी लेखमें दूसरी जगह लिखते हैं कि "जैनियोंने भगवानको गद्दीसे नहीं उतारा बल्कि उसे त्रिलोकीनाथ बनाकर स्वतन्त्र एवं स्वाधीन बनाया है।" आत्मासे भिन्न पदार्थोंके स्वामित्वको न माननेवाले भी त्रिलोकी का नाथ तो चाहते हैं। "भूत वही जो सिर चढ़ बोले" की बात है। भगवान और ईश्वर शब्दोंके अपनानेका यही फल है। जब बहिरंग ऐश्वर्यकी निन्दा करनेवाले निन्दा करते समय भी त्रिलोकीकी नाथताको नहीं भूल सकते, तब दूसरों की क्या बात है?

१४—मैंने सत्य और अहिंसाको भगवान और भगवती शब्द लगाया है उसका कारण यह है कि उनको महात्मा नहीं कहसकते क्योंकि वे कोई व्यक्ति नहीं हैं।

दूसरी बात यह है सत्य (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान) और अहिंसा (सम्यक् चारित्र) का अवलम्बन लेकर ही प्राणी महात्मा, तीर्थंकर आदि बनता है। इसलिये सत्य और अहिंसा तीर्थंकरोंको पैदा करने वाले हैं, यह कहाजाता है। इसलिये उनमें कर्तृत्वका आरोप करनाभी अनुचित नहीं है। इसी बातको तोडरमलजीने भी कहा है—

मंगलमय मंगलकरन वीतराग विज्ञान।
नमो ताहि जातें भये अरहंतादि महान॥

अरहंतादिको पैदा करनेवाला वीतराग विज्ञान, अहिंसा और सत्य ही है। इसलिये इन्हे भगवान और भगवती कहना उचित है। इस कर्तृत्वसे दार्शनिक मीमांसामें कुछ गड़बड़ी पैदा नहीं होती, क्योंकि इनका व्यक्तित्व कल्पित है इसलिये इनका कर्तृत्व भी कल्पित रहेगा।

ज्ञान चारित्र अरहंतोंके गुण हैं इसलिये इनका स्थान अरहंतोंसे नीचा है, यह समझना भूल है। क्योंकि अरहन्त एक व्यक्ति है जब कि अहिंसा और सत्य अनन्त व्यक्तियोंमें रहनेवाला एक व्यापक तत्त्व है। विद्वत्ता (सरस्वती) विद्वानोंका गुण है इसलिये सरस्वतीका स्थान विद्वानोंसे नीचा नहीं होता। वह भगवती बड़ेसे बड़े अनन्त विद्वानोंसे भी वन्दनीय रहती है।

मैं अपने इन भूले भटके भाइयोंसे कहूँगा कि शब्दोंके प्रयोगमें दलबन्दी न बनावें। आप भले ही इच्छानुसार शब्दोंका प्रयोग करें, परन्तु दूसरों को उचित प्रयोगोंसे रोकिये मत। तथा किसी शब्दका प्रयोग करते समय भी अधिक उपयुक्तता तथा अधिक स्पष्टताका खयाल रखिये!

एकही माताकी सन्तान

मनुष्य आपसमें क्यों लड़ता है, इसप्रश्नका उत्तर जितना सरल है उससे अधिक कठिन है। सरल तो इसलिये कि हम कहेंगे कि स्वार्थके लिये लड़ता है; और कठिन इसलिये कि जिस नाम पर वह लड़ता है, क्या उसमें उसका सच्चा स्वार्थ रहता है? क्या उसके स्वार्थकी सिद्धि होती है?

उदाहरणके लिये हम जैनियोंके ही कुछ प्रश्न ले लें। दिगम्बर श्वेताम्बर क्यों लड़ते हैं? कौन किस पर डकैती कर रहा है? धर्मस्थान तो पूजनेकी वस्तु है। वह कोई धन पैसेकी तरह भोगोपभोगकी वस्तु तो है ही नहीं कि उसपर अधिकार जमायाजाय। अगर जमा भी लिया तो क्या मिला? वहांसे कुछ लिया जासकता तो है नहीं; कुछ देना ही पड़ता है। तब वह कौनसा स्वार्थ है, जिसके लिये हम लड़ रहे हैं? इसके सिवाय इसका क्या उत्तर है कि हम अहंकारके लिये लड़ रहे हैं—धर्मके लिये नहीं लड़ रहे हैं, धनके लिये नहीं लड़ रहे हैं। हमारी इस लड़ाईका उद्देश्य न तो खुदाका नूर है, न बहिश्तकी हूर है। वास्तवमें हम शैतानके चक्करमें पड़ गये हैं। जैसे दर्पणमें तीतुरकी छाया दिखाकर अकेले तीतुरको लोग लड़ाते हैं, उसी प्रकार शैतान कल्पित प्रतिद्वन्द्वीकी छाया दिखाकर हमको हमसे ही लड़ाता है।

राष्ट्रीय दृष्टिसे जब हम हिन्दू मुसलमानोंके झगड़ों पर विचार करते हैं तब हमें वहां भी अपना पागलपन दिखाई देता है। कौंसिलोंकी बैठकों और इनी गिनी नौकरियोंके लिये ऐसा टग-ऑफ़-वार हो रहा है कि समस्त राष्ट्र ही उससे टूटा जाता है। हम [illegible]की दृष्टिसे ही अगर इस पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि इस जगह भी हम गुनाह बेलज्जतकी कहावत चरितार्थ कर रहे हैं।

अगर अल्पसंख्यकोंके हाथ उनके अनुपातसे कुछ अधिक बैठकें आ भी गई तो उससे क्या होगा? क्या वे लोग ऐसा नियम बना सकेंगे कि अमुक दल

की सम्पत्ति छीनकर अमुक दलको देदी जाय ? वह कौनसी ऐसी चीज है जो कौंसिलोंका बहुमत अल्पमतवालोंसे छीन लेगा ? हाँ, यह बात जरूर है कि कोई तीसरा उन दोनोंको नंगा अवश्य कर डालेगा। इस प्रकार इस प्रतियोगितामें लुटनेके सिवाय मिलने को क्या है ?

इसी प्रकार नौकरियोंकी बात है। मानलो कि अमुक दलके दस हजार आदमियोंको अनधिकार काम दे दिया गया, परन्तु इसके बदलेमें सारा राष्ट्र गुलाम बना रहा। दस हजार आदमियोंको जितना लाभ हुआ है वह कहीं बाहरसे तो हुआ नहीं है; वह तो देशके भीतरसे ही आया है, दूसरे भाइयोंके अधिकार छीन कर दिया गया है। परन्तु बाकी ३५ करोड़ जनताका जो नुकसान हुआ है उसकी पूर्ति कैसे होगी ? इसमें आठकरोड़ मुसलमान भी हैं। हमारे साम्हने कोई आदमी एक रोटी डालकर रुपया लेजाय और हमारे भाईके साम्हने आधी रोटी डालकर रुपया लेजाय, उस समय हम यह सोचें कि हमें आधी रोटी ज्यादा मिली है, इसलिये दोनों भाई मिलकर रुपया छीननेवालेका साम्हना न करें, तो हमारी यह भूल ही नहीं किन्तु अक्षन्तव्य मूढ़ता होगी। यही मूढ़ता हम कर रहे हैं। परन्तु इस मूढ़ताका त्याग किये बिना-हम एकही माताकी संतान हैं—यह पाठ पढ़े बिना हमारा उद्धार नहीं है। जो भाई अभी तक भ्रममें पड़े हुए हैं उन्हें एक न एक दिन यह बात सीखना ही होगी और एक स्वरमे कहना होगा कि हम एकही माताकी सन्तान हैं।

उस दिन दिल्लीमें सर आगाखाँ सरीखे मुसलमान नेताने भी कहा था—

"मैं बचपनमें महाराष्ट्र में एक शरीर और छोटे बड़े बहुतसे हाथवाली मूर्ति देखा करता था। अपनी संस्कृति तथा जगत्के उद्धारमें अपना भाग देनेके लिये भारतवर्षको उस देव मूर्तिका अनुकरण करना चाहिये कि हम जुदी जुदी संस्कृतिके होने पर भी एकही माताके पुत्र हैं। अगर मुसलमान भारतमें न आये होते तो भी इस देशकी विशालता तथा आबोहवाकी विभिन्नता देखते हुए कहना पड़ता है कि यहाँ पर जुदी जुदी संस्कृतियोंका अस्तित्व होता। यह विभिन्नता एक दूसरेका सहयोग स्वीकार करती है। मेरी अटल श्रद्धा है कि ऐसी एकता भारतमें स्थापित होगी"।

आशा है सर आगाखाँके ये शब्द उनके दिल से निकले होंगे, तथा अन्य हिन्दू मुसलमान नेताओं के हृदयसे भी यह उद्गार निकलेंगे। वह समय आ गया है जब हिन्दू मुसलमान अपनी भूलको समझ कर एकही माताकी सन्तानका अनुभव करने लगें।

पूनामें तीन दिन।

नलदुर्ग (सोलापुर) के एक सज्जन एक मराठा बाईके साथ मिश्रविवाह करना चाहते थे। इसके लिये मुझे निमन्त्रण मिला और साथ ही पूना सत्यसमाजका पत्र मिला कि 'सत्यसमाजके सदस्योंके सन्तोषके लिये तथा पूनामें सत्यसमाजके प्रचारके लिये आप पूना अवश्य आइये।' तदनुसार मैं ता० २३ मार्चको पूना मेलसे वहाँ पहुँचा।

सत्यसमाजकी रूपरेखा अभी इतनी स्पष्ट नहीं हुई है कि उसके विषयमें लोगोंको सभी बातें मालूम हो जायँ। पूना सत्यसमाजकी तरफसे इस विषयमें मुझे एक शंकावली मिली थी, जिसका उत्तर गत नवम अंकमें दिया गया है। उसका उत्तर मुझे साक्षात् पहुँचकर भी देना था। इसलिये मेरे पहुँचनेपर शंका-समाधानका ही प्रोग्राम शुरू हुआ, जो कि रात्रिके एक बजेसे ऊपर तक चला। इससे सदस्योंको पूर्ण सन्तोष हुआ और उनने स्वीकार किया कि अब हम सत्यसमाजके प्रचारका काम अच्छीतरहसे कर सकेंगे।

दूसरे दिन शामको मेरे व्याख्यानका प्रोग्राम था, जिसमें व्याख्यानके बाद शंकासमाधानका प्रोग्रामभी

शामिल था। ब्र० शीतलप्रसादजी भी पधारे थे। मैंने सम्प्रदायोंमें सत्य, उनकी एकान्ततामें सत्यकी अवहेलना, उनकी एकता आदिके साथ समाजसुधारकी बातें कही थीं। बादमें शंकासमाधान हुआ। छोटी-मोटी शंकाएँ तो बहुत थीं, परन्तु खासखास शंकाएँ जो ध्यान खींचने योग्य हैं, वे ये हैं।

एक आर्यसमाजी सज्जनने पूछा था कि 'मुहम्मदने तो अपने बेटेकी बहूसे भी शादीकी थी। ऐसे चरित्रहीन व्यक्तिका और उसके सम्प्रदायका आप कैसे समन्वय करेंगे'?

मैंने कहा—जैसे शहरमें गटर या कचराघर होता है उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके जीवनमें कुछ ऐसे ही भाग पाये जाते हैं, परन्तु इसीलिये वह घृणित नहीं होजाता। किसी महात्माको जाननेके लिये यह देखना चाहिये कि उसने किस दिशामें काम किया और किस परिस्थितिमें काम किया। अरबके खूँख्वार लोगोंके सामने अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहका जो रूप रक्खा जा सकता था वही म० मुहम्मदने रक्खा और परिस्थितिके अनुसार आत्मरक्षाके लिये और अपने मिशनको चलानेके लिये उन्हें कठोर ढंगसे काम लेना पड़ा। उनके विविधविवाह कामुकताके परिणाम नहीं, किन्तु उनके मिशनके साधक थे। किसके साथ शादी करना और किसके साथ शादी नहीं करना, यह तो हरएक युगकी जुदी जुदी रीति है। हमारे यहाँ मामाकी लड़की सगी बहिनके समान मानी जाती है; जब कि पहिले जमानेमें—और कहीं कहीं आजभी—उसके साथ शादी की जाती थी। हिन्दू ऋषियोंकी बातें और द्रौपदीके पांच पति क्या अश्चर्यजनक नहीं हैं। जैन शास्त्रोंके अनुसार भोगभूमिमें सगे बहिन-भाईमें ही परस्पर विवाह होजाताथा और मजा यह कि इतने पर भी वे मरके सब मर कर देवगतिमें जाते थे।

इतनेमें ब्र० शीतलप्रसादजीने जोशीले शब्दोंमें कहा—आप यह क्या कहरहे हैं! वहाँ विवाह होता ही न था।

मैंने कहा—परन्तु बच्चे तो पैदा होते थे? विवाहकी अमुक रीति वहाँ नहीं थी, परन्तु अगर उसे विवाह न कहा जाय तो दाम्पत्य भी न होगा और उस समयकी सारी सन्तान व्यभिचारजात कहलायगी।

ब्र०—परन्तु वे लोग बहिन-भाईकी परस्पर शादी करते थे इसलिये स्वर्ग नहीं जाते थे—वे मन्द कषायसे स्वर्ग जाते थे।

मैं—परन्तु मैं यह कब कहता हूँ कि पुत्रवधूके साथ शादी करनेसे मुहम्मद महात्मा बनगये। महात्मा तो उन्हें उनकी सेवाओं और त्यागने बनाया। जैसे बहिन-भाईकी परस्पर शादी हो जाने पर भी भोगभूमिके समयमें मन्दकषायी बननेमें आपत्ति नहीं थी, उसी प्रकार पुत्रवधूके साथ शादी करनेवाला भी कोई समाजसेवा करे और महात्मा बने, इसमें क्या आश्चर्य है?

एक सज्जनने पूछा—आपके सत्यसमाजके नियमोंमें मांसभक्षण-निषेधका नियम है कि नहीं?

मैंने कहा—नहीं; यद्यपि मैं मांसभक्षणका घोर विरोधी हूँ और उसके निषेधका उपदेश भी देता हूँ परन्तु अनिवार्य शर्तके रूपमें मैंने यह नियम नहीं बनाया।

ब्र० शीतलप्रसादजी सत्यसमाजको बदनाम करनेके लिये इस अवसरको कैसे चूकते? वे तुरंतही अपनी गर्जन्त भाषामें बोले—

"तब तो सत्यसमाज मांसभक्षणका ही प्रचार करेगी। सत्यसमाजसे हानिके सिवाय कुछ भी लाभ नहीं है। इससे तो दयानन्द स्वामी अच्छे थे और आर्यसमाज अच्छा है..।"

एक कट्टर दिगम्बरके मुखसे दूसरे सम्प्रदायकी प्रशंसा सुनकर मुझे आनन्द तो हुआ और मैंने मनमें सोचा कि जिसदिन सत्यसमाज अपने पैरों पर खड़ा होकर विस्तीर्ण हो जायगा, उसदिन इसप्रकारके

लोगोंके लिये वह भी अच्छा होजायगा। खैर, आप की बात पूरी होने न होने मैंने उत्तर दिया—

"आर्यसमाजको हिन्दू समाजके अमुक भाग का सुधार या समन्वय करना है, जबकि सत्यसमाज को हिन्दूके साथ मुसलमान, ईसाई आदिको भी मिलाना है और उनकी साम्प्रदायिक तथा जातीय कट्टरता कम करना है। अगर सत्यसमाजमें मांस-त्यागकी अनिवार्य शर्त रखलें तो साम्प्रदायिक कट्टरताके नाश करनेमें वह असमर्थ और साधनहीन होजायगी। हाँ, सत्यसमाजी होने पर मांस त्याग करानेके लिये पूरा प्रयत्न किया जायगा। सत्यसमाज में जो आठ मूलगुण बताये गये हैं उनमें मांसत्याग भी एक है, और यही बात मद्यके विषयमें है। इससे सत्यसमाजको मांसप्रचारक कहना दिलके फफोले फोड़ना है। ब्रह्मचारीजी कमसेकम जैनधर्मको तो मानते हैं और जैनधर्मके अनुसार सामान्य जैनी ही नहीं किन्तु सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवाला) तक मांस-भक्षी होसकता है। जैनधर्मके इस विवेचनसे क्या कोई कहसकता है कि जैनधर्म मांसप्रचारक है? यदि ब्रह्मचारीजी जैनधर्मको मांसप्रचारक मानते हों तो सत्यसमाजको भी मान सकते हैं।

ब्रह्मचारीजी एक बातमें निरुत्तर होनेपर दूसरी बात छेड़ देते थे। इसलिये आप बोले कि—'सत्यसमाजमें तो सब का लोप कर दिया गया है। पुराने आचार्यों के भी विरोधमें लिखा गया है। फिर भी आप अपने वक्तव्यको 'जैनधर्मका मर्म' कहते हैं। जब आप आचार्योंके भी विरुद्ध लिखते हैं तब उसे 'जैनधर्म का मर्म' कहनेका आपको क्या अधिकार है? किस आधारसे आप उसे 'जैनधर्मका मर्म' कहते हैं?'

मैंने कहा—जो लोग यह मानते हैं कि महावीर स्वामीने सब सत्यका उपदेश दिया था उनको यह शंका पूछना ही न चाहिये। उनको यह देखना चाहिये कि मेरा कहना सत्य है कि नहीं? यदि वह सत्य है तो उसे जैनधर्म मानना चाहिये, भले ही वह जैनशास्त्रोंमें लिखा हो या न लिखा हो। इतना तो आप मानते ही हैं कि जैनशास्त्रोंमें सारा जैनधर्म नहीं है, उसका बहुभाग नष्ट होगया है, तथा बचा हुआ भाग भी विकृत है। जैनाचार्योंमें परस्पर विरोध है, इसीलिये दिगम्बर-श्वेताम्बरोंका मतभेद है इससे इतना तो माळूम होता है कि जैनाचार्य भूलते रहे हैं। उदाहरणार्थ स्त्रीमुक्तिकी बात ले लीजिये—

ब्रह्मचारीजीने कहा—बस बस! हम स्त्री-मुक्तिकी बात नहीं सुनना चाहते। मैंने कहा—जब आपने प्रश्न पूछा है, तब आपको वह बात सुनना पड़ेगी। अगर मेरा वक्तव्य आपके समाधानकी दिशामें न हो तो आप भले ही कहना।

लोगोंने भी कहा कि आप नहीं सुनना चाहते हैं तो कान बन्द कर लीजिये, परन्तु हम लोग तो सुनना चाहते हैं।

मैंने कहा—स्त्रीमुक्तिके विषयमें दिगम्बर श्वेताम्बरोंमें मतभेद है इससे इतना तो माळूम होता है कि दोमेंसे किसी एक सम्प्रदायके सारेके सारे आचार्य भूल गये। तब इन भूलने वाले लोगोंपर आँख बन्द करके विश्वास कैसे किया जासकता है? यह भी सम्भव है कि किसी बातमें सबके सब भूल गये हों; जैसे भौगोलिक प्रश्नमें। इसलिये सबसे अच्छा रास्ता यही है कि अपन परीक्षा करके सत्यासत्यकी खोज करें, और जो सत्य हो उसे जैनी जैनधर्म समझें, हिन्दू, वैदिक धर्म समझें, बौद्ध, बौद्धधर्म समझें—इसप्रकार सभी लोग अपना अपना धर्म समझें।

ब्रह्मचारीजीने और भी बातें कहीं थीं जिनका तुरंत उत्तर दिया गया था। जोशमें आप मेरे विषयमें यहाँ तक कह गये कि मेरे मिथ्यात्वका उदय आगया है। मैंने तो हँसते हुए इतना ही कहा कि मिथ्यात्व शब्द का उच्चारण इतना कठिन नहीं है कि मैं इसे दस बार न बोल सकूँ परन्तु ऐसी गालियोंका उत्तर न देना ही बड़ा उत्तर है। ब्रह्मचारीजीके व्यवहार तथा थोथे वक्तव्यसे उपस्थित जनताको कुछ चिढ़सी हो गई। कुछ लोगोंने तो अन्तमें यहाँ तक उनसे कह दिया कि "हमें पंडितजीके एक एक अक्षरमें जैनधर्म

दिखाई देता है, जब कि आपके वक्तव्यमें अन्धश्रद्धा के सिवाय कुछ नहीं मालूम होता।"

यह सारी चर्चा अत्यन्त प्रभावोत्पादक हुई और इससे सत्यसमाजके प्रचारके लिये मार्ग प्रशस्त हो गया। इसके बाद जब तक मैं पूनामें रहा, सुबहसे सोते समयतक शंकाओंका समाधान ही करता रहा।

ता० २५ को सुबह सेठ बाबूलाल नानचंदजीके यहाँ दुग्ध-पानका प्रोग्राम था। वहाँ भी शंकासमाधान हुआ। बादमें डा० गोरे जो कि इंगलेंड आदि विविध देशोंमें भ्रमण कर आये हैं उनसे बहुत देर तक शंकासमाधान हुआ। भोजनके बाद भी शंकासमाधानका प्रोग्राम था। श्री नवलमलजी फीरोदिया आदि अहमदनगरके सुशिक्षित युवक आये, उनसे चर्चा हुई। इसके बाद मुनि श्री न्यायविजयजी पधारे। पहिले दिन मैं आपके यहाँ गया था परन्तु आप वहाँ थे नहीं, इसलिये आपने यह तकलीफ़की थी। आप मेरी विचारकताके कारण मुझसे बहुत स्नेह रखते हैं। आपसे भी विविध विषयोंपर वार्तालाप हुआ। इसके बाद शामको मिश्र-विवाह हुआ।

वर महाशय (रावजीभाई) नलदुर्गके रहनेवाले एक श्रीमान युवक हैं, जोकि सुन्दर सुशिक्षित और स्वस्थ हैं। आप दसाहूमड़ दिगम्बर जैन हैं। कन्या मराठा जाति की है जो पिछले कई वर्षोंसे पूनामें शिक्षा प्राप्तकर रही थी। विवाहोत्सवमें तीनों सम्प्रदायके जैन तथा जैनेतर लोगोंकी काफी संख्या थी। स्त्रियाँ भी पर्याप्त संख्यामें थीं। सिविलमैरेज ऐक्टके अनुसार विवाह हुआ था—दोनोंने अपना जुदाजुदा धर्म लिखवाया था। श्रीयुत् केलकर आदि प्रसिद्ध वक्ताओंके व्याख्यान भी हुए थे। ब्र० शीतलप्रसादजी तथा मेरा भी व्याख्यान हुआ था। वर पक्षकी तरफ़ से क़रीब सवा दो सौ रुपये दानमें दिये गये जिसमें ५१) सत्यसन्देश (जैनजगत्) को भी मिले।

विवाहोत्सवके बाद मुझे शंकासमाधानके लिये बैठजाना पड़ा। रात्रिके ग्यारह बजेतक चर्चा चली।

ता० २६ को दुग्धपानके बहुतसे निमन्त्रण थे। पहिले भीकमचन्दजी बम्बके यहाँ गया। वहाँ शंका-समाधान हुआ। फिर श्रीमती सुन्दरबाईके यहाँ गया। कल मेरे व्याख्यानसे आप प्रभावित हुई थी इसलिये चर्चाके लिये यह प्रोग्राम रक्खा था। आपने भी अनेक प्रश्न किये। उनमेंसे एक प्रश्न विशेष उल्लेखनीय है।

प्रश्न—रामचन्द्रने सीताका त्याग किया परन्तु उनका यह कार्य क्या उचित था? यदि नहीं तो उनको न्यायी राजा कैसे कहा जासकता है?

उत्तर—आजकी दृष्टिसे यह अनुचित हुआ है, परन्तु इससे म० रामचन्द्रको अन्यायी नहीं कहा जा सकता। रामचन्द्रका सीता-त्याग सीताके ऊपर जितना अन्याय था, उससे अधिक अपना दमन था। सीता कुछ साधारण प्रजा नहीं थी किन्तु वह सम्राज्ञी थी। रामचन्द्र अगर पुरुषोंके प्रतिनिधि थे तो सीताजी स्त्रियोंकी प्रतिनिधि थीं। प्रजाके सन्तोषके लिये यह सीताजीका ही बलिदान नहीं था किन्तु रामचन्द्रका भी बलिदान था। सीता-त्यागके बाद रामचन्द्रने फिर दूसरा विवाह नहीं किया; एक तपस्वी ब्रह्मचारीके समान जीवन बिताया। उनका सोनेका संसार मिट्टी होगया। उनकी विवेकबुद्धिने उन्हें सदा कर्तव्यतत्पर रक्खा और आँखोंको न रोने दिया, परन्तु हृदय रोता रहा। किसी कार्यमें जब रामचन्द्रका सपत्नीक उपस्थित होना अनिवार्य होगया तब भी रामचन्द्रने दूसरा विवाह न किया बल्कि सीताकी सोनेकी मूर्त्ति बनवाई। यहाँ आकर रामचन्द्रको महत्ता सूर्यकी तरह चमकने लगती है। अगर सीता-त्याग उनके जीवनका कलंक है तो वह इस चमकमें विलीन होजाता है।

सुन्दरबाईजीको मेरे समाधानोंसे बहुत सन्तोष हुआ। अन्तिम प्रोग्राम सेठ बाबूलालजी नानचन्दजी के यहाँका था। आप मध्यस्थ विचारके श्वेताम्बर जैन श्रीमान हैं। आपके यहाँ भोजनके पहिले और भोजनके समय खूब चर्चा हुई। दर्जनों शंकाओंका

समाधान हुआ। आपको इससे आशातीत प्रसन्नता हुई, और आपके शब्दोंमें आपने एक नया प्रकाश पाया।

पूनामें इतनी अधिक शंकाओंका समाधान हुआ कि उन सबका स्मरण रखना मेरे लिये कठिन होगया है। खासखासका उल्लेख किया है। पूना सत्यसमाज–शाखाके सदस्य कनकमलजी मुणोत, राजमलजी बलदौटा, आमचन्दजी भंसाली, हरलालजी बलदौटा, त्र्यम्बकजी अंजल खूब उत्साहपूर्वक काम रहे हैं। आप लोगोंके सतत प्रयत्नसे पूना में सत्यसमाजका काफी प्रचार हो जायगा।
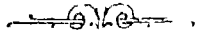
मिथ्या–अभिमान नहीं, सत्य–प्रताप।

(लेखक—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा।)

जब कोई विद्वान परास्त होकर व्यक्तिगत आक्षेप करनेकी उद्दंडता करे तो किसी हद तक यह सहनीय है, परन्तु यदि कोई साधारण व्यक्ति इस क्षेत्रमें भद्दे ढंगसे अपनी टाँग अड़ानेकी हिमाकत करे तो उसे एक स्वाभिमानी युवक-हृदय कदापि सहन नहीं कर सकता। ऐसे ही व्यक्तियोंमेंसे एक बुलन्द-शहर निवासी बाबू शिवलालजी जैन मुख्तार भी हैं, जिन्होंने मार्च सन १९३५ ई० के "सनातन जैन" में "मिथ्या अभिमान" शीर्षक गंदे लेख द्वारा अपनी असभ्यताका नग्न परिचय दिया है। आपने उस लेख द्वारा श्रीमान् माननीय सत्यभक्त महाउदार निःस्वार्थी पंडित [illegible] जीके ऊपर अपशब्दों व गालियों की बौछार करके पंडितजीके सत्यभक्त हृदयको अनुत्साहित नहीं, बल्कि अत्यधिक उत्साहित करनेका पुण्यलाभ प्राप्त किया है। आक्षेपक महोदय भली भाँति अपने झुँझलाए हुए हृदयमें यह बिठालें कि सत्यभक्त वीरात्मा पर गालियों व अपमानोंका रंच-मात्र भी कुप्रभाव नहीं पड़ता वरन् व्यक्तिगत निर्मूल आक्षेपोंसे उसकी दृढ़ता व निश्चलताकी पुष्टि ही होती है। अतः मुख्तार साहब पंडितजीके क्षोभ व घृणाके नहीं, वरन् धन्यवादके पात्र हैं।

मुख्तार साहबने अपने उस असभ्यता भरे लेखकी भूमिकामें अपनेको विद्वान प्रगट करनेका प्रयास किया है। आप लिखते हैं कि "शंका दो प्रकारकी होती है। एक वह है, जो पदार्थका स्वरूप समझनेमें न आनेसे होती है, किन्तु उस अवस्थामें धार्मिक श्रद्धा शिथिल नहीं होती। इस प्रकारकी शंका उत्पन्न होने पर मनुष्य विशेषज्ञोंके द्वारा अपनी शंकाका निवारण कर लेता है। दूसरी शंका वह है जो कुज्ञानवश होती है। कुज्ञानी कभी अपनी बुद्धिको दोष नहीं देता, न दूसरोंके उपदेश से ही शिक्षा ग्रहण करता है, बल्कि सर्वज्ञकथित आगमको भी कदाग्रहवश दूषित ठहराता है, शास्त्र-वाक्योंको आचार्योंकी बुद्धिका विकार बतलाता है, अपने मिथ्या विचारोंका प्रचार करके जनतामें अधर्म फैलाता है, अपने विकल्पों व भ्रमात्मक विचारोंको ही सत्य घोषित करता है। सत्यता और निष्पक्षताकी दुहाई दे देकर जनसमूहको अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न करता है"। इन शब्दों द्वारा जो आक्षेपकजीने शंकाकी मिट्टी पलीदकी है, उस पर कुछ शब्द लिखे बिना हम नहीं रह सकते। आप अपनी पोथियोंको सर्वज्ञकथित अर्थात् शुद्ध सत्य समझते हैं, आपके अनुसार दिगम्बर आम्नायके धर्म-ग्रन्थ पूर्णतः सत्य हैं, उनका कोई भी विषय परीक्षा-कोटिमें रखने योग्य नहीं है*। उन पोथियों के प्रतिकूल जो भी कोई विचार है, वह बाबू शिव लालजीके पक्षपातपूर्ण नेत्रोंको भ्रमात्मक व मिथ्या

*आक्षेपक साहबको विदित हो कि आपके माननीय बाबू भोलानाथजी मुख्तारका विचार आपके प्रतिकूल है। उसी अंकमें पृष्ठ ४ के दूसरे कॉलममें वे लिखते हैं कि "हमारे कोई कोई शास्त्रीय विषय परीक्षा कोटिमें रखने योग्य अवश्य हैं"। ज़रा कृपा करके दस क़दमकी दूरीपर रहनेवाले इन सुयोग्य मुख्तार साहबसे (जो कि आपके हमपेशा व हमशहरी होनेसे अवश्य आपके पक्के मित्र भी होंगे ही) इस विषयका ज्ञान प्राप्त कर लीजियेगा।

दिखाई देता है। खेद है कि मुख्तार साहब इतनी मोटी बात भी नहीं समझ पाए कि " जैनधर्मका मर्म" इसी मर्जकी तो दवा है कि दिगम्बर आम्नाय या श्वेताम्बर आम्नायके शास्त्र सर्वज्ञ-कथित हैं या नहीं। पंडितजी "मर्म" द्वारा सर्वज्ञ कथन विषयक कदाग्रहपूर्ण मिथ्या विश्वासको ही तो दूर करना चाहते हैं। उनके अनुसार आपका " सर्वज्ञ कथित आगम " सर्वज्ञकथित नहीं है, बल्कि सर्वज्ञ-कथित आगम तक स्वयंको पहुँचानेका एक सफल साधन है; जज (Judge) नहीं, बल्कि गवाह है। उनके अनुसार यदि शास्त्रोंमेंसे समयके दूषित प्रभावसे आए हुए कूड़े करकटको दूर कर दिया जाय तो हमें 'सर्वज्ञकथित आगम' के मनोहर दर्शन हो सकेंगे, अन्यथा नहीं। फिर आक्षेपकजीका यह कहना कि पंडितजीके विचार मिथ्या व भ्रमात्मक हैं, बिल्कुल भ्रमात्मक है। मात्र कहनेसे काम नहीं चलता है। यदि आक्षेपक महोदय अपने इस वक्तव्यके समर्थन में कोई युक्ति या युक्तियाँ पेश करते जिसका परिहार असंभव होता तो अवश्य उनकी बात मानली जाती, परन्तु उनके कहने मात्रसे उनकी हाँ में हाँ कोई बुद्धिमान व्यक्ति तो मिला नहीं सकता। हाँ, मूर्खों की मैं कह नहीं सकता। मुख्तार साहब अपनी पोथियोंको सत्यका मूर्तिक रूप मानते हैं और उन परकी हर शंकाको ग़लत व भ्रमात्मक मानते हैं। शंकाको आप सदा ग़लत ही समझते हैं। खेद है कि आपको यह भी नहीं मालूम कि शंका सदैव सात्विक होती है, और सात्विकतारहित 'शंका', शंका नहीं होती, वह निर्णय होता है। निर्णयको शंका कहना भूल है। आपकी मनघड़ंत दूसरी शंका, शंका नहीं निर्णय है। यदि 'दुर्जनतोष न्याय'से इसे शंका भी मानलें तो कहना पड़ेगा कि उसका स्वरूप ग़लत व भ्रमात्मक ढंगमें दर्शाया गया है। यदि उसे इस ढंगमें लिखा जाता कि "दूसरी शंका वह है जो अज्ञान, पक्षपात, अहंकार व अन्धश्रद्धाके वशीभूत होकर कीजाती है। अन्धश्रद्धालु कभी अपनी बुद्धि को दोष नहीं देता है, न दूसरोंके उपदेशसे ही शिक्षा ग्रहण करता है बल्कि वह सर्वज्ञकथित आगम अर्थात् सत्यको भी कदाग्रहपूर्ण अन्धश्रद्धावश दूषित ठहराता है। शास्त्रवाक्योंको सर्वज्ञवाक्य और आचार्योंको सर्वज्ञ बतलाता है, अपने अन्ध-श्रद्धा देवी द्वारा पल्लवित विचारोंका प्रचार करके जनतामें महा अधर्म फैलाता है। अपने विकल्पों और भ्रमात्मक विचारोंको सत्य घोषित करता है। शास्त्रों की दुहाई दे देकर जन समूहको सत्यसे अपनी ओर खींचनेका प्रयत्न करता है।" तो अवश्य उनकी बात माननीय हो जाती। परन्तु मुख्तार साहब यह कोरी सचाई कैसे लिखते क्योंकि ऐसा लिखनेसे इन्हें लेने के देने पड़ जाते।

इस पांडित्य (?) प्रदर्शनके पश्चात् आपने पं० दरबारीलालजीके व्यक्तित्व पर कई मूर्खतापूर्ण तुच्छ आक्षेप किये हैं, जिनका परिहार नीचे संक्षेपमें किया जाता है।

आक्षेप (१)—"जैनजगत्" के सम्पादक पं० दरबारीलालजीकी मानसिक स्थिति भी कुछ ऐसी ही हो चली है, वह अपने आपको पंचमकालका पचीसवाँ तीर्थंकर या चौदहवीं सदीका जैन-नबी (पैग़म्बर) समझने लगे हैं।

उत्तर—खेद है कि मुख्तार साहबको इतना भी नहीं मालूम कि " जैनजगत् " के सम्पादक २४ तीर्थंकर नहीं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिसे दो ही तीर्थंकर मानते हैं, इसलिए अपनेको पचीसवाँ तीर्थंकर तो किसी हालतमें भी नहीं मान सकते। मालूम होता है कि आक्षेपक महोदयने " जैनधर्म का मर्म" पढ़ा तक भी नहीं है। खैर, यह बात तो मैंने by the way बतलादी, असल बात जो मैं कहना चाहता हूँ वह तो यह है कि पंडितजी अपनेको तीर्थंकर या पैग़म्बर नहीं बल्कि सत्य भगवानका एक तुच्छ पुजारी, बावजूद सत्यका एक छोटेसे छोटा भक्त समझते हैं। यदि आक्षेपक म

सत्यपुजारीका अर्थ मुख्तार साहबके कोष (Dictionary) में तीर्थंकर या पैगम्बर है तो लो हम भी उनकी हाँ में हाँ मिलाकर कहे देते हैं कि "पंडित दरबारीलाल अपनेको तीर्थंकर व पैगम्बर समझते हैं।" आशा है कि आक्षेपकजी मेरी इस चापलूसी से खुशीके मारे आपेसे बाहर होगए होंगे।

आक्षेप (२)—पंडितजीको सत्यशोधक समाज की स्थापनाकी धुन सवार है और इसी भावनासे वे "जैन साहित्य" को तोड़ मरोड़कर उसे "जैनधर्मका मर्म" का रूप देरहे हैं।

उत्तर—पंडितजीको जैन साहित्यमें कूड़ा करकट दूर करनेकी धुन सवार है और इसी कारण उन्हें आपके "जैन साहित्य" को तोड़ मरोड़ना पड़ता है। सत्यशोधक समाजकी स्थापनाकी धुन जो पंडितजी को सवार है वह अत्यन्त प्रशंसनीय व सराहनीय है। सत्यकी सच्ची उपासनामें यदि जैन साहित्यको तोड़ना मरोड़ना तो वह भी उचित है, क्योंकि पंडित जी सत्यको जैनत्वसे अधिक 'मूल' समझते हैं और समझना भी चाहिए।

आक्षेप (३)—पंडितजी अपनी मंडलीके दो-चार दस पाँच मनुष्योंसे अपने प्रशंसात्मक निर्णय ले लेकर जैनजनताको अपने इन्द्रजालमें फँसा रहे हैं। इसके उपरान्त भला इस धृष्टताका भी कोई ठिकाना है कि हमारे जैनधर्मके नवीन पैगम्बर जैन धर्मकी ही जड़ काटनेके लिए जैन जातिसे ही आर्थिक सहायता लेरहे हैं, मानों हमारे पाँवतलेकी मिट्टी निकालकर हमारी ही आँखोंमें झोंक रहे हैं।

उत्तर—पंडितजी किसीकी खुशामद नहीं करते, न डाकाही डालते हैं; वे तो जैनधर्मका शुद्ध रूप जैनसमाजके सन्मुख रखते हैं। जिन विचारशील उदार व्यक्तियों पर उनके विचारोंका प्रभाव पड़ता है, वे उन्हें अपनी सम्मतियाँ देते हैं तथा आर्थिक सहायता भी देते है। पंडितजी जैनधर्मकी जड़ नहीं काट रहे, उसकी जड़को विज्ञान जलसे सींच सींच कर मजबूत बना रहे हैं। आपके पाँवतलेकी मिट्टी निकालकर आपकी आँखोंमें नहीं झोंक रहे हैं बल्कि उसमें शुद्ध जैनधर्मका मनोहर वृक्ष उगा रहे हैं। पंडितजी जैनजनताको अपने इन्द्रजालमें नहीं, फँसा रहे हैं बल्कि भगवान सत्यके मन्दिरमें निमन्त्रित कर रहे हैं। सत्यके सद्भावसे जैनजनता स्वयं उनके पास चली जाती है। आपको पक्षपातकी बीमारी है इसलिये आपको सत्य-मन्दिर इन्द्रजाल दिखाई देता है।

आक्षेप (४)—हमारे विज्ञ पाठकोंको "जैनदर्शन" के दर्शन मात्रसे भले प्रकार मालूम हो सकता है कि "जैनधर्मका मर्म" नामका लेखमाला कोरा वाग्जाल और मिथ्या कल्पनाओंका संग्रह है। पंडितजीकी युक्तियाँ युक्तियाँ नहीं, युक्त्याभास (fallacious arguments) हैं जो सामान्यतः तो यथार्थ और सत्य प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तवमें सब वह वाकछल ही होता है, जैसे कागज के फूल देखनेमें सुन्दर परन्तु सुगन्धरहित होते हैं।

उत्तर—हमारे विज्ञ पाठकोंको जैनदर्शन व "जैनजगत्" की लेखमालाओंको तुलनात्मक ढंगसे सावधानतापूर्वक बाँचनेसे भली भाँति स्पष्ट मालूम हो जायगा कि "जैनधर्मका मर्म और पं० दरबारीलालजी" शीर्षक लेखमाला बिल्कुल निस्सार व थोथी है। उसमें जितनी भी युक्तियाँ दी हैं, वे सब युक्त्याभास हैं। "विरोधी मित्रोंसे" शीर्षक लेखमालामें जो राजेन्द्र कुमारजीकी युक्तियोंका मुँहतोड़ उत्तर दिया गया है, उससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट है। 'जैनधर्मका मर्म' की समस्त युक्तियोंकी नींव विज्ञान पर है, वे सादी, सीधी और (to the point) हैं। उन्हें युक्त्याभास कहना मूर्खता है। वे कागजके फूल नहीं हैं, प्राकृतिक फूल हैं जिनमें रूप रस दोनों हैं। उन्हें कागजका फूल तो उस समय कहा जा सकता है जब कि उनमें सुगन्धका अभाव सिद्ध कर दिया जाय। मात्र बक देना काफ़ी नहीं है।

आक्षेप (५)-मैंने "सत्यशोधक समाजके संयोजकके नाम खुली चिट्ठी" शीर्षक एक लेख पण्डितजीकी सेवामें उपस्थित किया था। उसके उत्तर में पण्डितजीने अपने पांडित्यकी छटा दिखाते हुए अभिमानपूर्ण उत्तर दिया है कि "जिनमें सामना करनेकी तो क्या सत्यके समझनेकी भी, शक्ति नहीं है, गालियाँ दे देकर और व्यक्तिगत अपमान करके मुझे रोकना चाहते हैं।"

उत्तर-पंडितजीके उपरोक्त शब्द (जिनमें "……… चाहते हैं) "जैनजगत्" के वर्ष १० के अंक १ में पृष्ठ ९ के दूसरे कालममें मिलते हैं। वहाँ उन्होंने मुख्तार साहबका तनिक भी हवाला या इशारा नहीं दिया है, फिर मुख्तार साहबका यह कहना कि ये शब्द मेरी चिट्ठीके उत्तरमें है, मुख्तार साहबकी पोल खोलनेमें सहायता देता है। बात यह है कि जहाँ गड्ढा होता है वहीं पानी भरता है। पंडित जीने तो साधारणतः इस बातको लिखा, मुख्तार साहब अपनेको वहाँ विराजमान समझ बैठे। इससे निम्नलिखित बातें मालूम होती हैं जो मुख्तार साहब को भी मान्य है। यदि उन्हें मान्य नहीं होतीं तो वे वहाँ अपनेको क्यों समझ बैठते। वे बातें यह है—

१—मुख्तार साहबमें सामना करनेकी तो क्या, सत्यको समझनेकी भी शक्ति नहीं है।

२—मुख्तार साहब गालियाँ देने, व्यक्तिगत अपमान करनेमें सिद्धहस्त है।

साफ साफ बात तो यह है कि मुख्तार साहब इस बातपर झुँझलाए बैठे थे कि उनकी खुली चिट्ठीका पंडितजीने उत्तर क्यों नहीं दिया। मुख्तार साहबको मालूम होना चाहिए कि पंडितजी उनकी तरह निकम्मे नहीं हैं जो उन जैसे तुच्छ व्यक्तिगत आक्षेपोंका उत्तर देनेमें, अपना बहुमूल्य समय गवाएँ। इसी कारण मुख्तार साहब इस तलाशमें थे कि कहीं पंडितजी की कलमसे कुछ ऐसे शब्द निकल जाँय जिन्हें मैं अपनी चिट्ठीके उत्तरमें मानकर अपना "मुँहमियाँ मिट्ठू" बनकर संतोष पाऊँ। ऊपर लिखे उनके शब्दों में आपको अपना (Photo) फोटो दिखाई दिया और फौरन उन्हें अपनी जागीर मान बैठे। वाह! मुख्तार साहिब! आपतो बड़े उस्ताद आदमी हैं।

आक्षेप (६)-यू० पी० व पंजाबमें पण्डितजी की लेखमालाका उत्तर देनेवाले घर घरमें मौजूद हैं। जब प० राजेन्द्रकुमार और उनके संघने शास्त्रार्थके लिए ६ महीने तक उन्हें ललकारा तो एक दिन भी उनके मुकाबलेपर आनेके लिए साँस न लिया।

उत्तर मुख्तार साहब 'सनातन जैनको' अपनी पालिता कचहरी समझ बैठे हैं, तभी तो सफेद झूठ लिखनेमें तनिक भी न लजाए। लेखमाला का उत्तर देनेवाले घर घरमें मौजूद हैं, तभी तो बड़े पदवीधारी दिग्गज पण्डित सामने आनेका साहस तक भी नहीं करते। राजेन्द्रकुमारजी किस प्रकार दुम दबाकर बैठ रहे, यह समाजको भली भाँति मालूम है। कृपया पं० राजेन्द्रकुमारजी और पं० दरबारीलालजीका पत्रव्यवहार "जैनजगत्" के ७ वें वर्षकी फाइल उठाकर पढ़ लीजिये, तब आपको भली भाँति मालूम हो जायगा कि किस प्रकार राजेन्द्रकुमारजीने मूर्खतापूर्ण अड़ङ्गाओंसे पीछा छुड़ा लिया और फिर किस तरह शोलिन पं० दरबारीलालजीने अपना पिंड छुड़ाया। अब जो "जैनदर्शन" में राजेन्द्रकुमारजीने अपने मित्रोंकी सहायतासे लेखमाला लिखी है उसका खंडन भी निकल रहा है। जितना निकल चुका है, उसे जरा पढ़िए तो सही, सब आटे दालका भाव मालूम हो जायगा। मुख्तार साहब जरा आगे चलकर पं० दरबारीलालजीको उपदेश देते हैं कि उन्हें 'दर्शन' की लेखमालाको एकान्तमें विचारपूर्वक पढ़ना व उसपर मनन करना चाहिए। इस धृष्टताका भी कोई ठिकाना है! जिस अद्वितीय विद्वानने कई वर्षोंके घोर मनन व परिश्रमके पश्चात अपनी लेखमाला लिखी, जिसका सफल खण्डन अभीतक कोई भी नहीं करसका है, उस बोर सत्य-भक्तको मुख्तार साहब ऐसा उपदेश देनेकी धृष्टता करते हैं, यह बड़े अफसोस और शर्मकी बात है। मुख्तार साहब, जरा हृदयपर हाथ रखकर कलम चलाया करो, बहुत बकवास द्वारा अपनी मूर्खता और असभ्यता का परिचय देना बुद्धिमत्ता नहीं है। (क्रमशः)

* जैनजगत् वर्ष ७ अंक १३, १७–१८, १९, २०,

विषय सूची ।

अजमेरमें अन्धश्रद्धाका उफान ।

कुछ दिनोंसे यहाँ क्षुल्लक आदिसागरजी आये हुए थे। असाता वेदनीय कर्मके उदयसे उन्हें वृद्धावस्थामें भी चेचकने आ घेरा। असाध्य अवस्थामें कई जैन बन्धुओंने दिन रात उनके पास रहकर उनकी उचित सेवा शुश्रूषा की और इस प्रकार मनुष्योचित कर्तव्यका पालन किया। ता० १ मई को दिनके करीब चार बजे उनका प्राणान्त होगया। कुछ व्यक्तियोंने जो अन्धश्रद्धा व पाखंडकी बीमारी से बहुत बुरी तरह ग्रसित हैं, इस अवसर पर भी अपनी वृत्ति चरितार्थ कर दी। उन्होंने रोगीको बेहोशीकी हालतमें नङ्गा कर मुनि घोषित कर दिया और उन्हें मनमाने रूपमें पुजाने लगे। बादमें कुछ होश आनेपर रोगीने इसका विरोध किया तथा अपने आपको मुनिपदके सर्वथा अयोग्य बतलाया तो उन्हें वापिस कपड़े पहना दिये। लेकिन ता० १ मईको फिर नङ्गा कर दिया। अत्यधिक वेदनाके कारण जिस समय रोगीको विश्राम व एकान्त की अत्यन्त आवश्यकता थी, अन्धभक्त लोगोंने एक तंग मकानमें उन्हें लिटाकर उनके निकट ही एक हंडा जलाकर रख दिया और लगे भक्त व भक्तिनें उनके चरणोंमें सिर रगड़ने। अन्धभक्ति यहीं तक सीमित न रही—वह इससे और आगे बढ़ गई—यहाँ तक कि प्राणान्त होजानेके बाद ता० १ मईकी रात्रिको अनेक पुरुषों व स्त्रियोंने शवके चरणोंमें भी सिर रगड़ा और बहुत रात तक शवके सम्मुख संगीतके साथ भजन गाते रहे। ता० २ मई को दिनके ९ बजे नग्न शवका बाजे बाजोंके साथ विमान निकाला गया और शहरसे बाहर तीन चार मीलकी दूरीपर "छतरियों" में ले जाकर चन्दनकी चितामें उनका दाहसंस्कार किया गया। अब वहाँ शायद मुनि आदिसागरजी की समाधि बनाई जावेगी। आजकल इस कलिकालमें मुनिमार्ग बड़ा सरल हो गया है। जीवन किस प्रकार यापन किया गया है, इसके देखनेकी आवश्यकता नहीं; मरते समय कोई ख्वामख्वाह नंगा हो जाय या कर दिया जाय, बस वह मुनि बन जाता है, और उसके आगे नाक रगड़ना प्रत्येक श्रावकका आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। जो लोग आज भी मुनीन्द्रसागरके नाम की माला जपते हैं और गुणोंके बजाय वेषपूजा ही में धर्म समझते हैं, उनसे और आशा ही क्या की जा सकती है ?

अन्धभक्त लोग चाहते थे कि शवके जुलूसमें स्त्रियाँ भी साथमें जावें। इसके लिये औरतोंमें घोषणा भी कराली गई थी, किन्तु बादमें कुछ लोगों को सुबुद्धि उपजी और इसलिये स्त्रियोंका साथमें जाना बन्द रखा गया।

छतरियोंके रास्तेमें शान्तिपुरेके सामने श्रीमान सेठ भागचन्दजी साहबकी कुछ जमीन है। भक्तलोग इस जमीनमें दाहसंस्कार करना चाहते थे, जिससे धीरे धीरे बीसपन्थियोंकी "छतरियों" के समान तेरहपन्थियोंकी अलग "छतरियाँ" बन जावें। इसके लिये उन्होंने बहुत हथकंडे किये परन्तु सेठ साहिबके बिलकुल इनकार कर देनेके कारण उनकी कुछ न चल सकी। —एक दर्शक।

वर्ष १०

अंक ११

वैशाख कृष्णा १३

वीर संवत् २४६१

सत्यसंदेश

ता० १ मई

सन् १९३५ ई०

'सत्य-सन्देश' के प्रति ।

"मम हृदय--कमल विकसित कर रे !"
यह विनय विमल उरमें धर रे ! ॥ध्रुव॥

दिनकर बनकर सघन-गगन पर,
रुचिकर मनहर अरुण बरण भर,
अन्तरमें छिपकर अन्तरतर;
चमक अचञ्चल चिर-थिर रे !
मम हृदय कमल विकसित कर रे ॥१॥

सरल-सत्य-शिव-सुन्दर-स्पन्दन,
विहर "सत्य सन्देश" चिरंतन।
कोटि कोटि अभिनन्दन वन्दन ।
युग युग रह रह अमर अरे !
मम हृदय-कमल विकसित कर रे ॥२॥

सब निगमागम का मंथन कर,
सत्य-तत्त्व-मक्खन सम्मुख धर।
[illegible]जन्य सुविवेकशून्य नर-
—पक्ष सकल विगलित कर रे !
मम हृदय-कमल विकसित कर रे ॥३॥

ईसा, पैगम्बर, पुरुषोत्तम ।
राम, कृष्ण, जिनवीर, बुद्ध सम ।
सत्य-भक्त 'दरबारी' प्रियतम ।
—के वचनों से निःसर रे !
मम हृदय-कमल विकसित कर रे ॥४॥

स्नेह-सुधा का स्रोत बहा दे,
शिव-सुखमय सुषमा सरसा दे,
लोल ललित लहरी लहरा दे ।
विप्लवमय, जीवन भर रे !
मम हृदय-कमल विकसित कर रे ॥५॥

त्रिभुवन की कल्याण कामना !
शत्रु मित्र पर एक भावना !
'सूर्यभानु' की यही प्रार्थना ।
विहरित करना घर घर रे !
मम हृदय-कमल विकसित कर रे ॥६॥

सूर्यभानु डाँगी 'भास्कर' ।

महात्मा बुद्ध ।

न तेरी करुणा का था पार ।
तू था सत्य-पुत्र तेरा था बन्धु अखिलसंसार ॥न तेरी०॥

निर्धन सधन और नर-नारी
मूढ़ विवेकी जनता सारी
पशु पक्षी भी मुदित किये तब औरों की क्या बात ।
किये मूठ हिंसा आदिक पापोंके घर उत्पात ॥
किया पापोंका भंडाफोड़ ।
धर्म तब आया बन्धन तोड़ ।
मिटा दीन, दुर्बल, मनुजों के मुख का हाहाकार ।
न तेरी करुणाका था पार ॥१॥

न तेरी करुणाका था पार ।
करुणाशशि ऊगा आलोकित हुआ निखिलसंसार । न०
अबलाएँ अञ्चल पसार कर
बोल उठीं आओ करुणाधर
नूतन आशाओंसे सबका फूला हृदयोद्यान ।
रुग्ण जगतने पाया तुझको सच्चे वैद्य समान ॥
हुए आशान्वित सारे लोग
छूटने लगा अधार्मिक रोग
पृथ्वी उठी पुकार, पुत्र ! अब हरले मेरा भार ॥
न तेरी करुणाका था पार ॥२॥

जैनधर्मका मर्म ।

(६१)

दिग्विरति—मैं अमुक दिशामें इतनी दूर जाऊँगा, इससे अधिक न जाऊँगा—इसप्रकार जीवनभरके लिये मर्यादा बाँधना दिग्विरति है । मनुष्य मर्यादाके बाहर पाँच पापोंसे बचा रहता है, इस दृष्टि से इस व्रतकी उपयोगिता बताई जाती है । इसप्रकार अहिंसादि अणुव्रतोंकी वृद्धिका कारण होनेसे यह गुणव्रत कहलाता है । यहाँ तक कि मर्यादाके बाहर पाँच पापोंसे पूर्ण निवृत्ति रहती है इसलिये उसे मर्यादाके बाहर उपचारसे महाव्रती * भी कह दिया है । यद्यपि साथमें यह बात भी कहदी है कि उसमें महाव्रतीके समान मन्दकषायता न होनेसे वह वास्तवमें महाव्रती नहीं है, फिर भी उपचरित महाव्रत कहना भी कम महत्त्वकी बात नहीं है ।

श्रमणसंस्कृतिके अनुसार निवृत्तिमार्गका अभ्यास करानेके लिये इस व्रतकी थोड़ीसी उपयोगिता थी परन्तु वास्तविक उपयोगिता नहीं के बराबर है । एक मनुष्य हिमालयके उस पार अगर हिंसा न करे और देशके भीतर सब कुछ करे, इसलिये वह व्रती नहीं होजाता—पापका क्षेत्र कम होजानेसे पाप कम नहीं होजाता । माना कि इस व्रतके पहिले मनुष्यको अणुव्रती होना आवश्यक है, परन्तु अणुव्रती रहकर भी मनुष्य जितना पाप मर्यादाके बाहर करसकता है, उतना मर्यादित क्षेत्रमें भी कर सकता है । इसलिये इस व्रतको व्रत रूप न मानना चाहिये । बल्कि आजकल तो इससे नुकसान ही है, क्योंकि आज सारी पृथ्वी एक बाजार या गाँवके समान होगई है । यानायातके इतने साधन बढ़ गये हैं, साक्षात या परम्परारूपमें हमारा जीवन सारी पृथ्वीके साथ इस तरह गुँथ गया है कि हमारा सबसे असम्बद्ध होकर रहना अशक्यप्राय होगया है । हमें सेवाके लिये, विकासके लिये सीमाके भीतर कैद न रहना चाहिये । एक तो पुराने ज़मानेकी तरह निवृत्तिप्रधान बनना कठिन है, फिर एकान्तनिवृत्ति ही तो धर्म नहीं है । धर्मकी एक बाजू निवृत्ति है और दूसरी बाजू प्रवृत्ति है, इसलिये भी

न तेरी करुणाका था पार
पशु अबला निर्बल शूद्रों की तूने सुनी पुकार । न०
लाखों पशु मारे जाते थे
मुख में तृण रख चिल्लाते थे
किसी माइका लाल न देता था उनपर कुछ ध्यान ।
बढ़ती थी शोणित पी पीकर बस हिंसा की शान ॥
मिटाये तूने हिंसाकाण्ड
दयासे गूँज उठा ब्रह्माण्ड
क्रन्दन मिटा सुन पड़ी सबको वीणा की झङ्कार ।
न तेरी करुणाका था पार ॥३॥

न तेरी करुणाका था पार ।
ढा दी गईं सभी दीवालें रहे न कारागार । न तेरी०
जगमें बजा साम्यका डङ्का
मनकी निकल गई सब शङ्का
दम्भ और विद्वेष न ठहरे चढ़ा प्रेमका रङ्ग ।
बही दीनता बहा जातिमद ऐसी उठी तरङ्ग ॥
हुआ झूठों का मुँह काला
सत्य का हुआ बोलबाला
एक बार बज पड़े हृदय-वीणाके सारे तार ॥न तेरी०॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त) ।

---

* अवधेर्बहिरणुपाप प्रतिविरतेर्दिग्व्रतानि धारयताम् ।
पञ्च महाव्रतपरिणतिमणुव्रतानि प्रपद्यन्ते । २४ ।
प्रत्याख्यानतनुत्वान्मन्दतराश्चरण मोह परिणामाः ।
सत्त्वेन दुरवधारा: महाव्रताय प्रपद्यन्ते । २५ ।
—रत्नकरण्ड श्रावकाचार ।

इसको व्रत रूपमें रखनेकी कोई ज़रूरत नहीं है।

देशविरति—यह व्रत भी दिग्विरतिके समान दिशाओंकी मर्यादा बनानेके लिये है। अन्तर इतना ही है कि दिग्विरतिकी मर्यादा जीवन भरके लिये होती है और इसकी मर्यादा अमुक समयके लिये होती है; इसलिये इसका क्षेत्र भी छोटा रहता है। इसमें दिन दो दिन आदिके लिये मर्यादा लीजाती है, इसलिये छोटे क्षेत्रकी रहती है। परन्तु जिन कारणों से दिग्व्रत अनावश्यक था उन्हीं कारणोंसे यह भी अनावश्यक है। आचार्य समन्तभद्रने इसका नाम देशावकाशिक रक्खा है। देशव्रत या देशविरति कहनेमें कभी कभी बारह ही व्रतोंका भान होता है इसलिये सामान्य देशव्रत और इस विशेष देशव्रतमें अन्तर नहीं मालूम होता, इसलिये इसका नाम देशावकाशिक कर दिया, यह ठीक ही किया है।

अनर्थ दंडविरति— निरर्थक पापोंका त्याग अनर्थदंडविरति है। परन्तु निरर्थकमें जो 'अर्थ' शब्द है उसका अर्थ अनिश्चित है। अनेक जैनाचार्यों ने इस व्रतके नामपर इतनी अधिक बातोंका उल्लेख करदिया है और उनके व्यावहारिक रूपोंको इतना अस्पष्ट रक्खा है कि इसे व्रतरूपमें स्वीकार करना कठिन होजाता है। बहुतसे लोगोंके मनमें ऐसा भ्रम है कि स्वास्थ्यके लिये वायुसेवन करना, तैरना, दौड़ना, कूदना आदि भी अनर्थदंड है। अगर इन सब बातोंको अनर्थदंड न माना जाय, तो दूसरी तरफ यह प्रश्न उठता है कि तब अनर्थदंड क्या है जिसका त्याग किया जाय। मनुष्यकी प्रत्येक क्रियामें अर्थ और कामका साक्षात् या परम्परा सम्बन्ध रहता ही है, इसलिये निरर्थक पाप किसीको भी नहीं कह सकते।

इस प्रश्नकी इस तरह जटिलता रहने पर भी यह बात निश्चित है कि यह एक व्रत है। इससे अहिंसा आदि व्रतोंका बहुत कुछ संरक्षण होसकता है। हाँ, इसकी सापेक्षता विशाल होनेसे इस पर गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है।

आचार्य उमास्वातिने इस प्रकरणमें 'अर्थ' शब्द का अर्थ किया है 'उपभोग परिभोग' *। इससे जो भिन्न हो अर्थात् जिससे उपभोग परिभोग न होता हो वह अनर्थ है। इसके लिये जो दंड—प्रवृत्ति—मन वचन कायकी क्रिया हो वह अनर्थदंड है। उसका त्याग अनर्थदंडविरति नामका व्रत है।

उपभोग और परिभोगमें पाँच इन्द्रियोंके व्रत आते हैं, किन्तु इन्द्रियाँ पाँच ही नहीं है, छः हैं। मन एक महान इन्द्रिय है, इसका विषय भी विशाल है इसलिये 'अर्थ' शब्दका अर्थ करते समय इसके विषयको भी ध्यानमें रखना चाहिये।

बहुतसे काम ऐसे हैं कि जो स्पष्ट ही अनर्थदंड मालूम होते हैं। जैसे हमारे हाथमें लकड़ी है और रास्तेमें कोई पशु खड़ा है तो बहुतसे लोग बिना किसी प्रयोजनके या आवेशवश उसे लकड़ी मार देते हैं। इससे न तो इन्द्रियोंकी सन्तुष्टि है और न कोई स्वास्थ्य वगैरहका लाभ है। इसलिये यह अनर्थदण्ड है। ऐसी वृत्तिका त्याग होना चाहिये।

यद्यपि हमारे द्वारा छोटी छोटी प्रवृत्तियाँ इस प्रकारकी होती रहती हैं कि उनके बिना भी हमारा काम चल सकता है, परन्तु अनिच्छासे वे हो जाती हैं। जैसे एक मनुष्य खड़े खड़े पैर हिला रहा है, उङ्गली चला रहा है। उसका यह काम निरर्थक है। फिर भी ऐसे छोटे छोटे कामोंको अनर्थ नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ये शरीरकी स्वाभाविक क्रियाके समान अनिच्छासे होते हैं।

इसी प्रकार कभी कभी मनोविनोदके लिये भी हमें ऐसा काम करना पड़ता है जो कि बाहिरी दृष्टि से आवश्यक नहीं मालूम होता। उसे भी अनर्थदण्डमें न रखना चाहिये। इस प्रकारकी बातों पर विचार करनेके बाद भी यह कहना उचित है कि अनर्थदंड विरति एक व्रत है। इस व्रतकी उपयोगिता यह है कि हम अपनी प्रत्येक प्रवृत्तिके फलाफल पर

* उपभोग परिभोगौ अस्यागारिणोऽर्थः। तद्व्यतिरिक्तोऽनर्थः। —त० भाष्य—७—१६

विचार करना सीखें, और जिनप्र वृत्तियोंसे हानिके बदले लाभ कम हो, पुण्यकी अपेक्षा पाप अधिक हो, उनका त्याग करें। अहिंसादि व्रतोंके वर्णनमें जो हिंसा आदिके अपवाद बताये गये हैं, उनका दुरुपयोग न हो जाय इसके लिये यह अनर्थदंड विरति है। इस प्रकार व्रतोंका संरक्षक होनेसे यह व्रत शीलरूप है, शिक्षाव्रत है।

अनर्थदण्डविरतिमें जिन जिन अनर्थोंके त्याग करनेका विधान है उनको पाँच भागोंमें विभक्त किया गया है। पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, प्रमादचर्या और दुःश्रुति।

पापोपदेश—जो काम पाप रूप हैं उनका उपदेश देना पापोपदेश है। हममें अनेक आदतें ऐसी रहती हैं जो बुरी होती हैं और जिन्हें हम भी बुरी समझते हैं, फिर भी उनका जानबूझकर या लापर्वाही से प्रचार करते हैं। एक बीड़ी पीने वाला दूसरेको बीड़ीका शौक लगायगा, यद्यपि वह जानता है कि यह हानिकर है। यह पापोपदेश है। जो बात बुरी है उसको अगर हम स्वार्थवश या कमजोरीसे त्याग नहीं सकते तो कमसे कम इतना जरूर करना चाहिये कि हमारे द्वारा उसका प्रचार न हो। कौनसा कार्य पाप है और कौनसा पाप नहीं है, इस विषयका निर्णय करनेके लिये पहिले जो पाँचों पापोंकी और व्रतोंकी आलोचना की गई है उस पर ध्यान देना चाहिये।

पापोपदेशसे अपना कोई लाभ नहीं है, किन्तु दूसरोंका अधःपतन है इसलिये इसका त्याग करना चाहिये।

शङ्का—अगर किसी पापोपदेशसे अपना लाभ हो, स्वार्थ सिद्ध होता हो तो क्या वह पापोपदेश नहीं है? क्या स्वार्थियोंको पापोपदेशकी छूट है?

उत्तर—पापोपदेश तो वह भी है, परन्तु वह पापोपदेश अनर्थदण्ड नहीं है। यह सम्भव है कि अनर्थदण्डसे भी बढ़कर उसका पाप हो, परन्तु यहाँ तो इतना ही विचार करना है कि एक तरहका पाप अगर सार्थक और निरर्थक किया जाय तो सार्थककी अपेक्षा निरर्थक अधिक बुरा है।

अनेक जैन लेखकोंने पापोपदेशके नामपर कृषि आदिके उपदेश देनेका निषेध किया है। परन्तु यह निवृत्त्येकान्तवादका फल है। जिसको हम न्याय्य और आवश्यक वृत्ति कह सकते हैं, उसके विषयमें उपदेश भी दे सकते हैं। मनुष्यके जीवन-निर्वाहके लिये जब कृषि आदि आवश्यक हैं, तब उनका प्रचार करना, उनमें सुधार करने तथा सतर्क रहने का उपदेश देना उचित है। इसे पापोपदेश न समझना चाहिये। हाँ, शिकार वगैरह संकल्पी हिंसा आदिका उपदेश अवश्य पापोपदेश है।

पीछेके जैन लेखकोंको भी पापोपदेशके अथवा अनर्थदण्डके अर्थमें संशोधन करना आवश्यक मालूम हुआ है। इसीलिये हेमचन्द्राचार्यने * कहा है कि पारस्परिक व्यवहारके सिवाय दूसरे स्थानोंपर ऐसा उपदेश न देना चाहिये अर्थात् पारस्परिक व्यवहार में ऐसा उपदेश अनर्थदण्ड नहीं है। इस संशोधन से पापोपदेशकी व्याख्या करीब करीब ठीक होजाती है। पारस्परिक व्यवहारकी बात उनने हिंसादानके विषयमें भी की है, जिसका अनुकरण पं० प्र० आशाधरजीने भी सागारधर्मामृतमें किया है।

हाँ, यहाँ इतनी बात और कहना है कि उदारचरित मनुष्यके लिये सारा जगत् व्यवहारका विषय है। और प्रत्येक मनुष्यको उदार होना चाहिये इसलिये जो काम समाजके लिये आवश्यक है, वह पारस्परिक व्यवहारके विषयमें हो या अविषयमें इसका विचार ही न करना चाहिये। मतलब यह है कि निवृत्तिमार्ग पर बहुत अधिक भार डाल देनेसे जो आवश्यक प्रवृत्ति पर भी अवहेलना हो गई है उसे दूर करके अनर्थदण्डका त्याग करना चाहिये।

हिंसादान— हिंसा करनेके लिये उसके सा—

*वृषभान् दमय, क्षेत्रं कृष, षंढय वाजिनः।
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न युज्यते॥
—योगशास्त्र ३-७६

धनोंका दान करना हिंसादान है। जिन चीज़ोंसे हिंसा होसकती है उनका दान करना हिंसादान नहीं, किन्तु हिंसाके लिये उनका दान करना हिंसादान है। अनेक लोग हिंसादानके नाम पर अपने पड़ौसीको या किसी अपरिचितको रसोई बनानेके लिये भी अग्नि नहीं देते; यह भूल है। केवल शस्त्रका विचार न करना चाहिये किन्तु उसके उपयोगका विचार करना चाहिये। शाक बनानेके लिये अगर कोई चाकू मांगे तो चाकू देना यह हिंसादान नहीं है; किन्तु किसीको मारनेके लिये चाकू देना हिंसादान है।

हां, कभी कभी हिंसा अहिंसा होती है, जैसा कि पहिले कहा जाचुका है। ऐसी अवस्थामें हिंसाके लिये दान भी हिंसादान नहीं है। एक स्त्रीको इसलिये कटार दीजाय कि अगर उसके सतीत्व पर कोई आक्रमण करे तो उससे वह आत्मरक्षा करे, तो यह हिंसादान नहीं है।

इसप्रकारके उचित हिंसादानको अनर्थदंड न कहना चाहिये और न इस विषयमें यह विचार करना चाहिये कि यह दान परिचितके लिये है या अपरिचितके लिये। जैन लेखकोंने हिंसादानके विषयमें भी यह कहा है कि पारस्परिक व्यवहारके बाहर हिंसादान* अनुचित है। परन्तु भलाईके लिये पारस्परिक व्यवहारका क्षेत्र समग्र विश्व है। जिन जिन लोगोंने रसोई बनानेके लिये भी अग्नि देनेकी मनाई की है § उनने एक प्रकारसे निवृत्त्येकान्तका पोषण किया है जो कि अनुचित है।

प्रश्न—जो लोग युद्धकी सामग्री बनाने या बेंचने का धन्धा करते हैं और अपना व्यापार चमकानेके लिये दो राज्योंको लड़नेको उत्तेजित करते हैं, राष्ट्रीयताका ऐसा मोहक संगीत सुनाते हैं कि जिससे मोहित होकर अनेक राज्य हरिणकी तरह युद्धके जालमें फँसजाते हैं, उनका यह कार्य अनर्थदंड कहलायगा कि नहीं? यदि नहीं तो जगत्‌में आप हिंसादान किसीको भी नहीं कह सकेंगे। यदि हाँ, तो इसमें अनर्थदंडकी परिभाषा कहाँ जाती है? क्योंकि अनर्थदंड तो उस पापको कहते हैं जिससे अपना कोई प्रयोजन सिद्ध न होता हो। परन्तु राज्योंको लड़ानेसे तो शस्त्रास्त्रके व्यापारियोंका व्यापार चमकता है।

उत्तर—वास्तवमें वह भयंकर पाप अनर्थदंडकी परिभाषामें नहीं आता परन्तु वह है हिंसादान अवश्य। वह अनर्थदंड रूप नहीं है किन्तु उससे भी बढ़कर घोर हिंसारूप है। ऐसे लोग तो महा हिंसक हैं।

अपध्यान—पापकी सफलताकी तथा पुण्यके पराजयकी इच्छा करना, ईर्षाके अनुसार घटनाओं पर विचार करना अपध्यान है। ध्यान करनेसे किसीका हानिलाभ तो हो नहीं जाता इसलिये वह निरर्थक तो है ही, और पापरूप है, इसलिये अनर्थदंड कहलाया। न्याय या न्यायीके जय और अन्याय या अन्यायीके पराजयके विचार अपध्यान नहीं हैं। जैसे राम-रावण के युद्धमें रामकी जय और रावणके पराजयके विचार अपध्यानरूप नहीं हैं। साधारणतः रागद्वेषके विचारोंसे अपनेको मुक्त रखना चाहिये परन्तु न्यायरक्षण और अन्यायका नाश दुनियाँकी भलाईके लिये आवश्यक है इसलिये वैसा विचार अपध्यान नहीं है।

प्रमादचर्या—निरर्थक ज़मीन खोदना, अग्नि जलाना आदि प्रमादचर्या नामक अनर्थदंड है। बहुतसे लेखकोंने वायुसेवन आदिको भी प्रमादचर्या बतलादिया है, परन्तु वह ठीक नहीं है। स्वास्थ्य तथा मनोविनोदके लिये मात्राके भीतर कुछ काम किये जायँ तो वह प्रमादचर्या नहीं है।

दुःश्रुति—ऐसी बातोंका सुनना या पढ़ना

---

* यन्त्र लांगल शस्त्राग्नि मूशलोदूखलादिकं।
दाक्षिण्याविषये हिंसा नार्पयेत् करुणापरः।
—योगशास्त्र ३-७७।

§ हिंसादानं विषास्त्रादि हिंसाङ्गस्पर्शनं त्यजेत्।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत्।
—सागारधर्मामृत ५-८।

जिससे मनमें विकार तो पैदा होते हैं किन्तु न तो मानसिक उन्नति होती है, न कोई दूसरा लाभ होता है, दुःश्रुति है। संशोधनके लिये या अध्ययनके लिये पढ़ना दुःश्रुति नहीं है। बहुतसे लेखकोंने दूसरे सम्प्रदायोंके ग्रन्थ पढ़नेको भी दुःश्रुति कहा है। यह साम्प्रदायिक संकुचितता अनुचित है।

श्वेताम्बर सम्प्रदायमें इस दुःश्रुति नामक अपध्यानका नाम नहीं आता है। उवासगदसा सूत्रमें चारही अनर्थदंडोंका * उल्लेख है। इससे मालूम होता है कि पहिले दुःश्रुति नामका अनर्थदंड नहीं माना जाता था; पीछेसे उसकी जरूरत मालूम होने लगी। अथवा कट्टर साम्प्रदायिकताका भी यह फल होसकता है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें यह संख्या तो चारही रही किन्तु दुःश्रुतिका काम प्रमादचर्यासे ही लेलिया गया। इसीलिये हेमचन्द्राचार्य ने प्रमादचर्याके भीतर ही दुःश्रुतिको शामिल ‡ कर लिया है।

सामायिक—थोड़े समयके लिये सब पापोंका त्याग करदेना सामायिक है। परन्तु इसका रिवाज इस प्रकार है कि थोड़े समयके लिये अमुक आसन लगाकर मनुष्य ध्यान लगाकर स्थिर होजाता है; कुछ मन्त्रका जाप भी किया जाता है। इसप्रकार दिनमें तीन बार—सुबह, दुपहर और संध्याको—सामायिकका विधान है।

बहुतसे स्थानोंपर यह विधान रिवाजमें परिणत होगया है। तीन बार तो नहीं, किन्तु दोबार या एक बार लोग सामायिक करते हैं। जिसको फुरसत हो वह तीनसे भी अधिक बार सामायिक करे परन्तु साधारणतः इस या ऐसे ही किसी एक कामके लिये दिनमें एकबार समय देना काफी है। इसलिये साधारणतः एक बारका रिवाज होना चाहिये। विशेष अवसरोंपर एकसे अधिक बार किया जाय तो अच्छा है।

सामायिकमें मन्त्र पढ़नेका रिवाज अनावश्यक है। इसकी अपेक्षा कर्तव्याकर्तव्यका विचार करे, प्रतिक्रमण करे यही अच्छा है। अथवा जिस भाषाको वह समझता हो उस भाषामें हृदयको आकर्षित करनेवाले पद्य पढ़े तो अच्छा है। इतने बार अमुक नाम बोलना चाहिये, इत्यादि नियम समयका दुरुपयोग कराते हैं, क्योंकि नामोंके गिननेमें ही उसका समय नष्ट हो जाता है। हाँ, यह सम्भव है कि पुराने समयमें समय मापनेके विशेष साधन न होनेसे समय-मापक यन्त्रके रूपमें नामोंकी गिनती रक्खी गई हो; परन्तु आज उसकी जरूरत नहीं है। जब तक विचारोंकी धारा ठीक चलती रहे तब तक उसे बैठना चाहिये अथवा घड़ीसे समयका निर्णय कर बैठना चाहिए।

यद्यपि नामोंका गिनना आदि भी चित्त स्थिर करनेमें सहायक होता है परन्तु उस स्थिरताका कुछ मूल्य नहीं है जो जीवनके लिये उपयोगी कोई पारमार्थिक लाभ न देती हो।

प्रोषधोपवास—साधारणतः इसके तीन नाम मिलते हैं—प्रोषधोपवास, पौषधोपवास और पौषधव्रत। पहिला नाम दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित है किन्तु उसके अर्थ करनेमें लेखकोंमें मतभेद है। पूज्यपाद और अकलंक * आदि आचार्य प्रोषध शब्दका अर्थ पर्वदिवस—अष्टमी चतुर्दशी—करते हैं, और पर्वके दिनोंमें उपवास करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। प्रोषध शब्दके अर्थमें समन्तभद्राचार्यका मत जुदा है। वे कहते हैं कि उपवासके पहिले

---

* तयाणन्तरं च णं चउव्विहं अणट्ठादण्डं पच्चक्खाइ। तं जहा-अवज्झाणायरियं, पमायायरियं हिंसप्पयाणं, पावकम्मोवएसे। १—४३।

‡ कुतूहलाद्‌गीत नृत्त नाटकादि निरीक्षणं।
कामशास्त्र प्रसक्तिश्च द्यूतमद्यादि सेवनं। ३-७८।
जलक्रीडान्दोलनादि विनोदो जंतु योधनं।
रिपोः सुतादिना वैरं भक्त स्त्री देशराट् कथा।
३-७९। योगशास्त्र।

* प्रोषधशब्दः पर्वपर्यायवाची। प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः। त० राज० वा० ७—२१—७

दिन दिनमें एकबार भोजन करना प्रोषध † है। पहिले प्रोषध (एकबार भोजन करना) करना, फिर उपवास करना फिर प्रोषध करना, इसप्रकार प्रोषधोपवास होता है।

समन्तभद्राचार्यका मत श्वेताम्बर सम्प्रदायके मतसे भी नहीं मिलता; श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो मत प्रचलित है वही पूज्यपाद आदि दिगम्बराचार्यों को भी स्वीकृत है। अर्थ एक है परन्तु शब्दमें थोड़ा फरक है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें 'प्रोषध' नहीं किन्तु 'पौषध' § पाठ है।

पहिले ज़मानेमें उपवासका अधिक महत्व था इसलिये यह एक व्रत बनादिया गया। परन्तु आज इस व्रतकी आवश्यकता नहीं है। उपवास करना ठीक है परन्तु नियमित व्रतके रूपमें नहीं। शरीरमें विकार वगैरह होने पर उपवास करना चाहिये। पीछे भी इस व्रतकी आवश्यकताका कम अनुभव होने लगाथा। इसीलिये सागारधर्मामृत आदि ग्रंथोंमें हलका भोजन † करनेका भी विधान है, क्योंकि शक्तिके अनुसार तप करनाही कल्याणकारी है।

साधारणतः नियम ऐसा रखना चाहिये कि सप्ताहमें एकदिन एकाशन किया जाय, और एकाशनमें भी प्रतिदिनके समान सादा भोजन किया जाय। यही प्रोषधोपवास है।

उपभोग परिभोग परिमाण—यहाँपर उपभोग शब्दका अर्थ है इन्द्रियोंके वे विषय जो एकही बार भोगे जासकते हैं जैसे रोटी पानी गन्धद्रव्य आदि। परिभोगका अर्थ है इन्द्रियोंके वे विषय जो एकबार भोग करके फिर भी भोगे जा सकते हैं जैसे वस्त्र आदि *। परन्तु अन्य जगह उपभोगके अर्थमें भोग शब्दका और परिभोगके अर्थमें उपभोग शब्दका व्यवहार हुआ है। आश्चर्य तो यह है कि एक ही पुस्तकमें इस प्रकार शब्दोंकी गड़बड़ी पाई जाती | है।

इस विषयमें मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि इस प्रकारके परिमाणकी आवश्यकता नहीं है। बल्कि अमुक वस्तुओंका त्याग कर देनेसे शेष वस्तुओंकी माँग तीव्र हो जाती है इससे अधिकतर अपनेको और दूसरोंको परेशानी उठानी पड़ती है। इसलिये आवश्यकता होनेपर इस नियमको किसी दूसरे ही रूपमें लेना चाहिये। इसे गणनाकी मर्यादा बना लेना चाहिए कि आज पाँच या दस वस्तुओंसे अधिक न लूँगा, जिससे कि अपनेको या दूसरोंको बहुत परेशानी न उठाना पड़े।

हाँ, दूसरे रूपमें भी इस व्रतका पालन किया जा सकता है। जो वस्तुएँ हिंसाजन्य हैं तथा आध्यात्मिक और आधिभौतिक दृष्टिसे हानिकारक हैं, उनका त्याग करना चाहिए। आचार्य अकलङ्कने इसका बहुत ही सुन्दर क्रम पाँच भागोंमें बतलाया है। भोगसंख्यानके वे पाँचभेद बताते हैं—त्रसवध, प्रमाद, बहुवध, अनिष्ट, अनुपसेव्य।

चलते फिरते प्राणियोंके नाशसे जो चीज़ तैयार होती है उसका त्याग पहिले करना चाहिए। इसमें मांसका नाम ही ठीक तौरसे लिया जाता है। उसका त्याग अवश्य करे। हृदयको विक्षिप्त करनेवाली शराब आदिका त्याग दूसरा है। तीसरी श्रेणी जैनाचार्यों के प्राणिशास्त्रके ज्ञानकी अपेक्षासे है। अमुक वनस्पतियोंमें अनन्त स्थावर जीव रहते हैं इसलिए

† चतुराहार विसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। सप्रोषधोपवासोयदुपोष्यारंभमाचरति। रत्न० श्रावकाचार। ४-१९

§ पौषधः पर्वेत्यनर्थान्तरम्। तत्त्वार्थभाष्य ७-१६।

† उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः। आचाम्ल निर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः। ५—३५।

* उपेत्यभुज्यतेइति उपभोगः, अशनपानगन्धमाल्यादिः। ७-२१-८। परित्यज्य भुज्यते इति परिभोगः, अच्छादन प्रावरणालंकारशयनासनगृह यान वाहनादिः। ७-२१-९। त० राज वा०।

| गंधमाल्याशिरः स्नानवस्त्रान्न पानादिषु भोगव्यवहारः। शयना सनांगना हस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोग व्यपदेशः। ८-१३-३ त० राजवार्तिक।

उनका त्याग करना चाहिए। इस विषयमें संशोधन की जो आवश्यकता है उसका जिकर मैं पहिले कर चुका हूँ। वहाँ यह बात कही है कि वनस्पतिका भी इस ढंगमें उपयोग न करना चाहिए जिससे उसका विघात तो अधिक हो और लाभ कम हो।

जो वस्तु अपने शरीरके लिये हानिकर है वह अनिष्ट है। साधारणतः विष आदिको अनिष्ट कह सकते है परन्तु जुदे जुदे प्राणियोंके लिये जुदा जुदा ही 'अनिष्ट' होगा। इसलिये किसी वस्तुका नाम नहीं लिया जासकता। इससे यह बात समझमें आजाती है कि स्वास्थ्यकी रक्षा रखना भी धर्मकी रक्षा करना है। नीरोगी मनुष्य अपनी और जगत की सेवा करता है, यही तो धर्म है।

जिस वस्तुका सेवन शिष्ट सम्मत नहीं है, घृणित है, वह अनुपसेव्य है।

इसप्रकार उपभोग-परिभोग परिमाण या भोगोप भोग परिमाण नामक शीलका पालन करना चाहिये।

प्रश्न—भोगोपभोगपरिमाणको शीलमें क्यों रक्खा? इसे तो अपरिग्रहके स्थान पर मूलव्रत बनाना चाहिये था, क्योंकि भोगोपभोगही सारे अनर्थोंकी जड़ है।

समाधान—अधिक भोगोपभोग और अधिक परिग्रह ये दोनों ही पाप हैं, परन्तु अधिक परिग्रह बड़ा पाप है। जगतमें जो बेकारी फैलती है तथा दूसरोंको भूखों मरना पड़ता है तथा मनुष्य अधिक पाप करता है उसका कारण परिग्रहका संचय है। इसका विशेष विवेचन अपरिग्रहके प्रकरणमें किया गया है।

अतिथिसंविभाग—सद्गुणी तथा समाजसेवी मनुष्योंको स्थान भोजन आदि देना अतिथिसंविभाग है। त्याग धर्मके वर्णनमें इसका विशेष विवेचन हो चुका है। यहाँ किसी भी प्रकारकी अनुचित संकुचिततासे काम न लेना चाहिये। आचार्य समन्तभद्र ने इसका नाम वैयावृत्य रक्खा है, और उसका अर्थ भी व्यापक किया है। उसका भी यथायोग्य समावेश करलेना चाहिये। वर्तमान युगमें निम्नलिखित सात शीलोंकी या शिक्षाव्रतोंकी जरूरत है:—

१—प्रतिक्रमण (सामायिक आदि), २-स्वाध्याय, ३—अतिथिसेवा, ४—दान (अपनी आमदनीमें से अमुक भाग समाजोपयोगी कार्योंमें खर्च करना), ५—भोगोपभोग परिसंख्यान, ६—अनर्थदंड विरति, ७—प्रोषध (सप्ताहमें एक दिन एकाशन करना)।

अतिथिसेवा और दान ये दोनों वैयावृत्यकी व्यापक व्याख्यामें आजाते हैं परन्तु दोनोंकी उपयोगिता पृथक् पृथक् है और दोनों पर जोर देना है इसलिये अलग अलग उल्लेख किया है।

सबकी व्याख्या हो चुकी है। सात शीलोंके विषयमें इतनी बात और ध्यानमें रखना चाहिये कि ये पाँच अणुव्रतोंके रक्षणके लिये तो हैं ही, साथही जिनने अणुव्रत नहीं लिये हैं वे अणुव्रत प्राप्त करने के लिये तथा अभ्यासके लिये इनका पालन करें।

सर्वदेवपरिषत्।

सर्वधर्मसमभावकी पवित्र भावनाको मूर्तिमन्त रूप देनेके लिये सत्यसमाज-मन्दिरमें सर्वदेव परिषत्की जो रूपरेखा बनाई गई है वह जब तक कार्यपरिणत न होजाय तब तक लोगोंको उस विषयमें गलतफहमी रहे, यह स्वाभाविक है। उनमेंसे कई लोग ऐसे हैं जो इस नवीन योजनासे ऐसे घबराये हुए हैं कि उसपर वे ठंडे दिलसे विचार भी नहीं कर सकते। वे कुछका कुछ समझकर स्वयं भूलते हैं और दूसरे लोगोंको भुलानेकी चेष्टा करते हैं। अभी चैत्रशु० १ के जैनमित्रमें एक वार्तालाप छपा है—

'ला०—हमने सुना है कि सर्व धर्मवालोंकी एकता करनेका ऐसा उपदेश देते हैं कि एक ही मंदिरमें श्री महावीर, राम, कृष्ण, कालिका, महादेव, ईसामसीह आदिकी पूज्यनीय वस्तुएँ स्थापित करो और सब कोई सबको नमन करे व पूजें तथा जिसको जो

देवता अधिक इष्ट हो उसको कुछ ऊँचा आसन देवें, शेपको नीचा ।

ज्ञा०—भाई, यह बात भी असंभव है। यदि एकको ऊँचा आसन होगा, दूसरोंको नीचा होगा तब दूसरोंके भक्त अवश्य अप्रसन्न होंगे। समान कोटि ही में सब पूज्यनीय रहें व सबही सबको मानने लगें, तब ही ऐसा संभव है। परन्तु ऐसा होना धर्मगुरुओंको कब मान्य होसकता है कि अहिंसाके आदर्श श्री महावीरके साथ कालिका देवीको विराजित किया जावे जिसके सामने उसके भक्त पशुबलि करके धर्म मानते हैं, व गृहस्थयोग्य राधाकृष्णको स्थापित किया जावे, जहाँ सांसारिक शृङ्गारका दृश्य है या शिवलिंगकी स्थापना हो ? यह कुछ संयोग जुड़ते नहीं। जो एक एक प्रकारकी स्थापनाके विशेष भक्त हैं वे कभी ऐसा पसन्द न करेंगे।'

संवादलेखकने सत्यसमाज-मन्दिर पर ध्यान ही नहीं दिया। उसकी रूपरेखामें साफ लिखा है कि 'नैष्ठिक मन्दिरमें भगवान्सत्य और भगवती अहिंसा की रूपकमय मूर्ति या चित्र होगा। उसके आसपास यथायोग्य स्थान पर राम कृष्ण महावीर बुद्ध ईशु आदिकी मूर्तियाँ या चित्र होंगे'। सत्यसमाज-संघटनाके इन शब्दोंसे कोई भी समझसकता है कि इसमें किसीको नीचा ऊँचा स्थान नहीं दिया गया है किन्तु कालक्रमसे समान स्थानों पर उनके चित्रादि लगाना है। यह नैष्ठिक मन्दिर ही सत्यसमाजका पूर्णमन्दिर है।

हाँ, पाक्षिक मन्दिरमें अवश्य अपने सम्प्रदाय के इष्टकी मूर्ति मुख्य स्थानपर होगी परन्तु इससे किसीका अपमान नहीं है। यहाँ तो "जिसका विवाह उसका गीत" वाली कहावत है। अमुक स्थान या समयपर दूल्हाको मुख्य स्थान देनेपर भी दूल्हा अपने सभी कुटुम्बियोंसे बड़ा नहीं होजाता। एक अखाड़ेमें हनुमानकी मूर्ति मुख्य स्थान पर हो और हनुमानके भी पूज्यकी मूर्ति गौण स्थान पर, तो इससे उसका अपमान नहीं है। गणेशके मन्दिरमें उनके माता पिता शिव और पार्वती एक किनारे रहें तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। हम अपने घरमें अपने बापके चित्रको इतने आदरसे रक्खें जितने कि बड़े बड़े नेताओंके चित्रको न रक्खें तो इसमें हमारा बाप हमारी दृष्टिमें भी उन नेताओंसे बड़ा नहीं हो जाता। इससे सम्बन्धकी निकटता ही मालूम होती है, व्यक्तित्वकी महत्ता नहीं। इससे नेताओंका अपमान करनेकी भावना भी द्योतित नहीं होती है। एक जैनमंदिरमें राम कृष्णके चित्र दीवालों पर टँगे हों उसीप्रकार राम, कृष्णके मन्दिरमें महावीर, बुद्ध के चित्र टँगे हों तो इससे हमारा आदर भाव द्योतित होगा न कि अनादर भाव। सत्यसमाजी उन सबको समान भावसे ही मानता है, परन्तु सामाजिक परिस्थितियोंके कारण तथा संस्कारोंने जो आदि महात्मा से [illegible] पैदा करदी है उससे वह [illegible] बना है [illegible] धर्मगुरुओंको वह मान्य न हो परन्तु सत्यसमाजीको उन गुरुओंकी मान्यता अमान्यता की पर्वाह नहीं होती। वह किसी भी शास्त्र, गुरु या विधानको वहीं तक मानेगा जहाँ तक उसके सर्वधर्मसमभाव और सत्यपूजामें बाधा न आवे। किसी भी सम्प्रदायके शास्त्र और गुरु उसके लिये बन्धनरूप नहीं हैं।

कालिकादेवीको विराजित करनेकी बात लिखने में भ्रम हुआ है, क्योंकि उसमें सत्य और अहिंसा की ही मूर्तियाँ हैं—काली शिव आदिकी नहीं; क्योंकि इनकी गणना राम कृष्ण आदिके समान ऐतिहासिक महात्माओंमें नहीं है। वास्तवमें शिव और शक्तिकी मूर्तियाँ तो सत्य और अहिंसाके समान गुणोंकी रूपकमय मूर्त्तियाँ ही हैं। इसलिये शिव और शक्ति का समावेश सत्य और अहिंसामें होजाता है। उनके लिये अलग मूर्त्तियाँ बनानेकी जरूरत नहीं है।

सत्यसमाज मन्दिरमें राम कृष्ण आदिकी मूर्त्तियाँ या चित्र ऐसे ही न होंगे जैसे वे आजकल मन्दिरमें हैं। उनमें भी कुछ संशोधन किया जायगा। रामकी मूर्ति अकेलेकी होगी और बनवासी वेषमें

होगी, या चित्र सीतासहित चित्र होगा तो भी बनवासका होगा । महाभारतमें अर्जुनको गीता सुनाते या कर्मयोग सन्देश देते हुए कृष्णकी जैसी मुद्रा होना चाहिये वैसी ही कृष्णकी मूर्त्ति या चित्र होगा—राधाकृष्णकी नहीं । महावीर और बुद्धकी मूर्त्तियां तो आज भी ठीक हैं । ईसाकी मूर्त्ति भी क्रॉस पर लटकती नहीं, किन्तु जगत्को सत्यसन्देश सुनाती हुई रहेगी । इस ढंगकी बहुतसी मूर्त्तियाँ मैंने देखी हैं । इसी ढंगसे अन्य महात्माओंके विषयमें भी समझना चाहिये ।

शक्तिका जो भयङ्कर रूप है वह कई हजार वर्ष पहिले लोगोंकी जो मनोवृत्ति थी उसकी अपेक्षा ठीक है । साधारण लोग शक्तिकी कल्पना ऐसी ही करते हैं । जैनियोंने भी ऐसी ही कल्पना की है । उनके चेतनचरित्र नाटकमें जब मोहके कटकसे और ज्ञानके कटकसे तोप गोले चलते हैं तब वह दृश्य कालिकाके दृश्यसे कुछ विशेष अन्तर नहीं रखता । यद्यपि जैनियोंने कागज पर तदाकार चित्र नहीं बनाये, किन्तु अतदाकार शब्द-चित्र तो बनाये हैं । भावनाओंमें तो कुछ अन्तर नहीं है । "तोरी उत्तम क्षमापै मोय आवे अचम्भो कैसे किये कर्म चकचूर ।" गानेवाला जैनी जब चकचूरका चित्र अपने मनमें खींचता है तब उसे कालिकाकी लपलपाती जीभ न सही, किन्तु अनाजको पीसकर चकचूर कर डालने वाला चक्कीका पाट तो याद आता ही है । पिंडस्थ-ध्यानमें ह्रींकारके रेफसे निकली हुई ज्वालाएँ जब ब्रह्माण्डमें फैलकर सब कर्मोंको जला डालती हैं तब उनका मानसिक चित्र कुछ कम भयङ्कर नहीं होता । साधारण जनताके आकर्षण और स्थिरताके लिये उसी मानसिक चित्रको मूर्त्तिका रूप दिया जाता है ।

जैनी भी तो आखिर शाक्त अर्थात् शक्तिके उपासक हैं । मोक्षके लिये वज्रर्षभनाराच संहननको अनिवार्य बतलानेवाले, शक्तिके उपासक नहीं तो क्या हैं ? अनन्त चतुष्टयमें अनन्त वीर्य (शक्ति) की गिनती करनेवाले और वीर्यान्तरायके क्षयक्षयोपशम के बिना ज्ञानावरणका भी क्षय क्षयोपशम न माननेवाले, शक्तिकी उपासना करनेवाले नहीं तो क्या हैं? तीर्थङ्करके अङ्गुष्ठमें अगणित इन्द्रों बराबर शक्ति माननेवाले अगर शक्तिके पूजक नहीं तो क्या हैं ? सारा संसार शक्तिपूजक है । शक्तिकी हमें जरूरत है इसलिये हमें उसकी पूजा करना चाहिये । हाँ, पुरानी भावना बदलना चाहिये । उसके आगे पशुओं के बलिदानकी जरूरत नहीं है, मुंडमाला नहीं चाहिये, उसका रूप इतना भयङ्कर भी नहीं बनाना चाहिये । फिर भी उसका रूपक एक क्षत्राणीके समान तो होगा । शक्तिका स्थान भगवान सत्य और भगवती अहिंसाके दरबारमें सैन्याध्यक्षाका स्थान है । इसलिये सत्य और अहिंसाकी आज्ञामें रहकर उसको अपना काम करना चाहिये । हम सशक्त बनें और अपनी शक्तिका उपयोग अहिंसा और सत्यके लिये करें, यही हमारी शक्ति पूजा है । यह सब विचारधारा सत्यसमाजियोंको, खासकर शाक्त सत्यसमाजियोंको, समझाई जायगी और मद्यमांसके त्याग की प्रेरणा की जायगी । तब जो लोग ऐसे शाक्त बनेंगे उन्हें सत्यसमाजी शाक्तोंमें शामिल किया जायगा ।

सत्यसमाजी शाक्त-सम्प्रदाय कैसा होगा और वर्तमान शाक्त सम्प्रदायमें कैसा संशोधन करके उसका समन्वय किया जायगा, ये सब बातें सत्यसंदेशके पाठकोंके पास धीरे धीरे पहुँचेंगी ।

जो केवल निवृत्त्येकान्तवादी हैं उनको यह देव परिषत् आश्चर्यजनक तथा असंगत भले ही मालूम हो, परन्तु जिनने जीवनके दोनों पहलुओंको समझा है और उसपर सर्वतोमुख विचार किया है, उन्हें राम कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि एक ही वस्तुके अनेक पहलू मालूम होंगे ।

आवश्यकता है ।

'गाँधी' छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्रीके लिये हर जगह जैन एजेन्टोंकी जरूरत है । एजेंसी की इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें ।

—काश्मीरी स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर ।

विरोधी मित्रोंसे ।

(२८)

एक तो 'जैनधर्मका मर्म' तथा जगत्‌का सम्पादन इतनी शक्ति और समय लेलेता है कि दूसरा काम करना मुश्किल होता है । फिर इधर जबसे सत्यसमाजकी स्थापना की, तबसे उसके प्रचारका कार्य बढ़ गया । इसलिये "विरोधी मित्रोंसे" शीर्षक लेखमाला मैं दो तीन माहसे नहीं लिखपाया । मैं अपने विधायक कार्यक्रमको कुछ समयको भी रोकनेके लिये तैयार नहीं हूँ । विरोधी मित्रोंको उत्तर देनेका काम पीछे भी होसकता है, तथा कोई दूसरा भी कर सकता है । विरोधी मित्रोंको उत्तर तो अवश्य दिया जायगा परन्तु जब तक विरोधी मित्रोंके वक्तव्य विशेष प्रभावक नहीं हैं तब तक जल्दी करनेकी कोई जरूरत नहीं है । हाँ, मैं अनावश्यक देर न लगाऊँगा । खैर ।

" शुद्धतामें हर तरह समानता होना आवश्यक नहीं है" इसबातके समर्थनमें मैंने तीन दृष्टान्त दिये थे जिनसे शुद्धता और समानताके अविनाभावका खण्डन होता था । १-पहिला दृष्टान्त सुवर्णका था, सुवर्ण शुद्ध होने पर भी जुदे जुदे आकारमें रहता है । २- दूसरा मुक्तात्माओंके आकारका था । वे शुद्ध होने पर भी जुदे जुदे आकारमें रहते हैं । ३- तीसरा दृष्टान्त दर्पणका था ।

इनमेंसे प्रत्येक दृष्टान्त सर्वज्ञसाधक व्याप्तिको व्यभिचरित करनेके लिये पर्याप्त है । बल्कि दूसरा दृष्टान्त पौद्गलिक न होनेसे पुद्गलकी विषमताका प्रश्न भी यहाँ उपस्थित नहीं होता था । परन्तु आक्षेपक ने इन दोनों दृष्टान्तोंका उत्तर देनेसे साफ़ किनारा काट लिया, और तीसरेके विषयमें कहदिया कि-

आक्षेप (९९) क—दृष्टान्त पदार्थसिद्धि में बिलकुल अनुपयोगी है । ख—स्कन्धरूप होनेसे तथा अवयवोंकी न्यूनाधिकतासे उसमें विभिन्नता आती है । ग—ज्ञानको बाह्य सहायताकी आवश्यकता नहीं है जब कि दर्पणको है । घ—दर्पणमें पड़ने वाले प्रतिबिम्बोंमें विभिन्नता होने पर भी दर्पणकी शक्तिमें भिन्नता नहीं आती ।

समाधान- क- एक आदमी कहे कि "जहाँ जहाँ पत्थर होता है वहाँ वहाँ अग्नि होती है" इसके उत्तरमें दूसरा कहे कि "यह नियम ठीक नहीं क्योंकि मेरे कमरेमें पत्थर तो रक्खा है परन्तु अग्नि नहीं है" इसके उत्तरमें अगर यह कहा जाय कि "अरे यह तो दृष्टान्त है, दृष्टान्त तो साध्यसिद्धिमें बिलकुल निरुपयोगी होता है" तो जगत्‌से तर्कशास्त्र को उठादेना पड़ेगा । क्योंकि हेतुकी विपक्षवृत्ति बतलाना असंभव होजायगा । व्यभिचार बतलानेके लिये जो दृष्टान्त दिये जाते हैं वे अनुपयोगी कहकर उड़ाये नहीं जासकते ।

ख—अवयवोंकी न्यूनाधिकता न होने पर भी आकारमें विषमता होती है, जैसे कि सिद्धोंके आत्मप्रदेशोंमें न्यूनाधिकता न होने पर भी आकार भेद होता है । दूसरी बात यह है कि यहाँ प्रतिबिम्बकी विषमताका विचार करना है । मेरे पहिले लेखमें (जैनजगत् ८-१३-५) में यह बात स्पष्ट थी कि दर्पण तलपर कचरा वगैरह न रहना उसकी शुद्धता है । इसप्रकार शुद्धता वाले दर्पणोंमें प्रतिबिम्ब नाना तरहके रह सकते हैं ।

ग—ज्ञानमें बाह्यपदार्थोंकी आवश्यकता है इस बात *को मैं विस्तारसे कह चुका हूँ । ९८ नम्बरके समाधान में भी यह बात कही गई है । (जैनजगत् १०-४-१३)*

घ- शक्तिकी विषमता मैं भी नहीं कहता । परन्तु शक्तिकी विषमता न होने पर भी व्यक्तिकी विषमता होसकती है । जैसे सिद्धोंकी आकृतिमें । इस विषयकी आलोचना भी अनेक बार होचुकी है ।

इसलिये शुद्धताकी दुहाई देकर विषयकी दृष्टिसे सब ज्ञानोंमें समानता नहीं कही जासकती ।

ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानसे सर्वज्ञ सिद्ध होता है—इसके उत्तरमें मैंने कहा था कि असर्वज्ञ वैज्ञा-

निक पहिलेकी अपेक्षा अधिक ज्योतिष जानते हैं, यह हजारों वर्षके अनुभवका फल है आदि। इसके उत्तरमें आक्षेपकका कहना है कि—

आक्षेप (१००)-(क) हजारों वर्षमें अनुभव की वृद्धि किसप्रकार हुई, बतलाइये। (ख) ज्योतिष ज्ञानका आधार सर्वज्ञ है, यह बात सभी रचयिताओं ने कही है। (ग) सर्वज्ञके द्वारा ज्योतिषज्ञानकी बातों के प्रतिपादनमें कोई आपत्ति नहीं। (घ) दार्शनिक विद्वानोंने भी ज्योतिषका आधार सर्वज्ञ माना है।

समाधान—केवल ज्योतिष ही नहीं किन्तु सभी विषयोंके अनुभवकी वृद्धि होरही है, हुई है। आज कल जो नये नये आविष्कार हुए हैं और होरहे हैं वे अनुभववृद्धिके सूचक हैं। इस विषयकी बहुतसी बातें मैंने अपने मूल लेखमें ही लिखी थीं। जो बात हमारे पूर्वजोंको नहीं मालूम थी वे आजकी पीढ़ीको मालूम हैं, इसीसे क्रमविकास सिद्ध होजाता है। सूर्य चन्द्र तारागण आदि क्या हैं और उनमें कौन कौनसे तत्त्व हैं, वे स्थिर हैं कि अस्थिर आदि सैकड़ों बातें आज हमें मालूम हैं, जो पूर्वजोंको मालूम नहीं थीं।

खैर, इस विषयमें तो मैं इसी पत्रमें एक लेख-माला प्रकाशित करनेका विचार रखता हूँ। यहां ऐति-हासिक दृष्टिसे नहीं किन्तु तार्किक दृष्टिसे विचार करना है। प्रश्न यह है कि सर्वज्ञके बिना ज्योतिष का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता? क्या हमें दिनरात का ज्ञान नहीं होता? क्या हम सूर्य को उत्तरायण दक्षिणायण नहीं देखते? क्या चन्द्रकी कलाओंकी न्यूनाधिकता हमें दिखलाई नहीं देती? क्या हमें सूर्य चन्द्र पृथ्वी आदि की गतियोंका ज्ञान नहीं हो सकता? ज्योतिषके भीतर ऐसी कौनसी बात है जिसको हम मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके द्वारा न जान सकते हों? जबतक कोई ऐसी असाधारण बात न मिल जाय तबतक सर्वज्ञकी कल्पना नहीं की जासकती। दूसरी बात यह है कि एक आदमी पृथ्वीको चपटी और स्थिर और दो सूर्य मानकर ग्रहण आदिका ज्ञान करता है; दूसरा आदमी पृथ्वी को गोल तथा दौड़ती हुई मानकर ग्रहण आदिका ज्ञान करता है। आपकी दृष्टिसे तो सर्वज्ञके बिनातो ऐसा ज्ञान हो नहीं सकता। पृथ्वीको गोल मानने वालोंका सिद्धान्त भी सर्वज्ञप्रणीत कहलाया और चपटी माननेवालोंका भी। परन्तु आपके मतानु-सार सर्वज्ञ परस्परविरुद्ध तो बोल नहीं सकते हैं इसलिये कमसे कम दोमें से किसी एक सिद्धान्तका मूल प्रणेता तो अवश्य ही असर्वज्ञ था। अगर उस असर्वज्ञ प्रणीत सिद्धान्तके आधारसे आज ग्रहण वगै-रहका ठीक ठीक ज्ञान होता है तो ग्रहण वगैरहके ज्ञानमें सर्वज्ञकी अवश्यंभाविता कहाँ रही? इससे सामान्य ज्योतिषज्ञान और सामान्य सर्वज्ञके वक्तव्य का तथा अन्य बातोंका भी समाधान होजाता है।

(ख) भारतीय ज्योतिषियोंकी ही नहीं किन्तु हरएक शास्त्रलेखककी यह आदत रही है कि वह अ-पनी बातका सम्बन्ध सर्वज्ञसे जोड़ता रहा है। परन्तु इससे सिर्फ इतना ही सिद्ध होता है कि वे सर्वज्ञ मानते थे। किन्तु यहाँ सर्वज्ञ माननेवालोंका सद्भाव सिद्ध नहीं करना है, किन्तु सर्वज्ञ सिद्ध करना है।

(ग) अगर सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसके द्वारा ज्योतिषशास्त्र के क्या किसीभी शास्त्रके प्रतिपादनमें आपत्ति नहीं है, परन्तु वह हो तभी न?

(घ) इसका समाधान 'ख' के समान है। जो दार्शनिक सर्वज्ञ मानते हैं वे उससे ज्योतिषका प्रणयनभी मानते हैं। इससे भी सर्वज्ञ माननेवालों का अस्तित्व मालूम होता है, न कि सर्वज्ञका।

आक्षेप (१०१)-सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहणका शा-स्त्रीय वर्णन भविष्यका वर्णन है। न यह शास्त्रकारों का मायाजाल है, न केवल सामान्य कथन ही। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीकी बातेंभी इसी प्रकार की हैं। मौजूदा वैज्ञानिक अपने सतत परीक्षणके फलसे इस परिणाम पर पहुँचे हैं।

समाधान-जिन घटनाओंको मैंने शास्त्रकारोंका मायाजाल कहा था, उन्हें आपने साफ उड़ादिया।

अमुक कालमें अमुक आचार्य या अमुक राजा होगा इत्यादि भविष्य कथन जो शास्त्रोंमें मिलता है उसे मैंने मायाजाल कहा है। सूर्यग्रहण आदि तो ज्योतिष की बात है और १००वें समाधानमें इसका उत्तर दिया गया है। इसे आप सामान्य कथन नहीं मानते, परन्तु यह सामान्य कथन है। ज्योतिषके गणित सूत्रों पर अवलम्बित है। कोई भी ज्योतिषी हिसाब लगाकर बता सकता है कि अमुक दिन ग्रहण पड़ेगा, इसलिये यह नियमरूप होनेसे सामान्य कथन ही है।

उत्सर्पिणी अवसर्पिणीकी आलोचना जो मैंने की थी उस की भी पर्यालोचना बाकी है। परन्तु आक्षेपक ने यहाँ पर एक ऐसी सुन्दर बात कह दी है जो मेरे पक्षको सिद्ध करती है। यदि मौजूदा वैज्ञानिक सतत पर्यालोचनसे उत्सर्पिणी अवसर्पिणीका निर्णय कर सकते हैं तो यह बात बिलकुल ठीक है कि इस निर्णयके लिये सर्वज्ञकी कोई जरूरत नहीं है। उत्सर्पिणी आदि का निर्णय कर सकना सर्वज्ञताका साधक नहीं है।

आक्षेप (१०२)—परस्पर अविरोधी वचनसे हम सर्वज्ञ सामान्यकी नहीं, सर्वज्ञ विशेषकी सिद्धि करते हैं। हम परस्पर अविरोधी वचनके साथ सर्वज्ञताकी व्याप्ति नहीं मानते, किन्तु सर्वज्ञताके साथ परस्पर अविरोधी वचन की मानते हैं। हमारा यह कहना नहीं कि जो जो परस्पर अविरोधी वचन बोलता है वह वह सर्वज्ञ है, किन्तु यह है कि जो जो सर्वज्ञ है वह वह परस्पर अविरोधी वचन बोलता है। परस्पर अविरोधी वचन केवल जैन तीर्थंकरों के ही हैं, अतः वे ही सर्वज्ञ हैं।

समाधान—आक्षेपकने यहाँ अपने वक्तव्यका अपने ही आप खंडन कर लिया है। जब आप अविरोधी वचनकी सर्वज्ञतासे व्याप्ति नहीं मानते, तब अविरोधी वचनसे किसी व्यक्तिविशेषको सर्वज्ञ कैसे सिद्ध करते हैं? जैन तीर्थंकरों के वचन अगर अविरोधी भी हों तो भी आपके कथनानुसार वे सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होते, क्योंकि अविरोधी वचन के साथ सर्वज्ञकी व्याप्ति ही नहीं है।

आक्षेप (१०३)—जैनशास्त्रोंके परस्पर विरोध का आपने उल्लेख नहीं किया। अगर कहीं विरोध मिले तो विकारी समझकर छोड़ देना चाहिये। दूसरी बात यह है कि जिस शास्त्रके जिस अंशके सम्बन्ध में विरोधी कथन मिलता हो, उसही सम्बन्धमें यह बात कही जासकती है न कि सम्पूर्ण उस शास्त्रके सम्बन्ध में।

समाधान—मेरी लेखमालामें ही जैनशास्त्रों के परस्पर—विरुद्ध कथनों का जगह जगह उल्लेख है। लेखमालाका छब्बीसवाँ लेख (जैनजगत १-८-३) देखो। जुदे जुदे मूलगुण तथा उत्तरगुणोंका वर्णन देखो। और भी इस विषयमें लिखा गया है।

यदि हम विरुद्ध भागको विकारी समझकर छोड़दें तो यह सारी बात हरएक धर्मवाला अपने शास्त्रके विषयमें कह सकता है। दूसरे धर्मवाले भी कहेंगे कि हमारे शास्त्रों में जो परस्परविरुद्ध बातहो उसे विकार समझकर छोड़ दीजिये और बाकी अंशको प्रमाण मानिये। इस प्रकार उन शास्त्रोंके गुणप्रणेताको भी सर्वज्ञ मानिये। तब केवल जैन-तीर्थंकरही सर्वज्ञ कैसे होंगे? इस प्रकार यह युक्ति न सर्वज्ञ सामान्यको सिद्ध करती है, न सर्वज्ञ विशेषको।

आक्षेप (१०४)—सर्वज्ञाभावके समर्थनमें आपने चार बातें लिखी हैं उनमें पहिली बात है, केवली के ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोगका क्रमसे होना, और इसके विषयमें भी आपने दो बातें कहीं हैं। एकतो प्राचीन मान्यताकी बात, दूसरी लब्धिका सदा उपयोगात्मक न होनेकी बात। सो प्राचीनता की बात ठीक नहीं क्योंकि श्वेताम्बर सूत्र वी० सं० ९८० में बने हैं।

समाधान—आपने जो गाथा उद्धृतकी है उसमें 'आगम लिहिओ' का अर्थही आपने बदल दिया। आपने 'लिखा गया' के बदलेमें 'रचा गया' अर्थ

किया है जिससे संस्कृत न जाननेवाले पाठक धोखे में पड़जाँय। खैर, मैं श्वेताम्बर आगमोंके विषयमें अनेकवार लिखचुका हूँ कि मैं उन्हें पूर्ण शुद्ध या अविकृत नहीं मानता। मेरातो सिर्फ़ यही कहना है कि वे दिगम्बर शास्त्रोंकी अपेक्षा अधिक मौलिक हैं—ऐतिहासिक दृष्टिसे उनका मूल्य अधिक है। वी० सं० ९८० के पहिले होनेवाले सिद्धसेन दिवाकरने आगमकी इन्हीं बातोंका अपने सम्मति तर्कमें उल्लेख किया है, और आगमके नाम पर उल्लेख किया है। इससे मालूम होता है कि ये आगम ९८० के पहिले भी थे। इस विषयमें 'विरोधी मित्रोंसे' शीर्षक लेखमालामें बहुत कुछ लिखागया है। देखिये जैनजगत् वर्ष ७, अंक २३, पृ० ११ और ७–२४ – १३। ८–२–११ और ९–१०–१२ आदि।
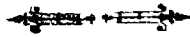
हृढ़जीका पत्र।

हमने अबतक आपको कई बातें सुझानेका प्रयत्न किया, परन्तु हमारी बकवासका प्रभाव आपके हृदय पर उतना ही पड़ा जितना कि जलका चिकने घड़े पर। हमें जो हमारे सुप्रयत्नमें करारी असफलता मिली है उससे हमारा घोर अपमान तो हुआ ही है, साथ ही हमें हानियाँ भी बहुत हुई हैं। खैर, फिर भी हम अपनी हरकतसे उससमय तक बाज नहीं आ सकते जिस समय तक आप 'चीं' न बोल पड़ें।

समझाने सुझाने का, बस काम है हमारा।
'मानो' या 'नहीं मानो', यह काम है तुम्हारा॥
यदि मान जाओगे तो, खाओगे हलुआ पूरी।
वरना, तकोगे भूखे ही, मुख सदा हमारा॥
हे सत्यभक्त, "हृढ़" जी की, बात मान जाओ।
चल जायगा नहीं तो, इकदिन कहीं दुधारा॥

प्रथम इसके कि हम विद्वत्तापूर्ण ढंगसे आपकी खोखली सर्वज्ञताका भंडाफोड़ करें, हम एक पतेकी बात बतलाना चाहते हैं, और वह है धार्मिक ग्रंथोंकी कथाओंके अलंकार व महाअलंकारके सम्बन्धमें। विद्वान पंडितजी! आपने जो जैनकथाओंको कोरी गप कहकर नासमझ मस्तिष्कोंको बहकानेका निन्दनीय प्रयास किया है, वह कभी भी क्षमा किये जाने योग्य नहीं! हमें यह देखकर महान आश्चर्य व दुःख होता है कि आप जैसा विद्वान कवि भी अलंकार [illegible] व महाअलंकार [illegible]yperbole) के भेदको नहीं समझता। अजी साहब! इन कथाओं [illegible]वादेवी अलंकारका मनमोहक व [illegible] वस्त्र पहने हुए नग्न नृत्य कर रही है, और अपनी अदाओं (motion) से पाठकोंके हृदयोंको बेमोल खरीदकर उन्हें बेदिल बना रही है। परन्तु आप कैसे मनुष्य हैं जो आपपर रत्तीभर भी प्रभाव नहीं पड़ा? हम आपसे यह पूछते हैं कि यदि हम भगवती अंधश्रद्धाकी प्रेम मदिरा पीकर नशेमें एक महाअन्यायी मिथ्यात्वप्रचारक विद्वानको 'न्यायालंकार' की पदवी प्रदान करनेकी कृपा कर दें तो क्या आप हमें मूर्ख व नासमझ कहेंगे? कदापि नहीं। ठीक जिस प्रकार यहाँ 'न्यायालकार' की पदवीमें अलंकार है, ठीक उसी प्रकार उन कथाओंमें भी अलंकार व महाअलंकार भरे पड़े हैं अतः उन कथाओंको आप कैसे गप कह सकते हैं, जरा बतलाइये तो? अतः आपसे आज्ञापूर्ण प्रार्थना है कि आप कभी भी भविष्यमें उन पूजनीय, माननीय, आदरणीय, सराहनीय कथाग्रन्थोंका निरादर करनेकी सफल चेष्टा करनेका साहस न करें, नहीं तो अच्छा नहीं होगा।

अब हम 'सर्वज्ञता' के विषय पर अपने अतिचपल तेज मस्तिष्कका प्रयोग करते हैं—

श्रीमानजी! आपने पवित्र दिगम्बर जैनधर्मकी सर्वज्ञताका बुरी तरह मलियामेट करके जैनधर्मके आदर्श (ideal) को इतना गिरा दिया है कि अब हम निर्लज्ज व निर्भय होकर सबके सन्मुख यह डींग नहीं मार सकते कि सब धर्मोंमें जैनधर्मका आदर्श सर्वोत्कृष्ट व सर्वोच्च है। खैर, देखो कुछ तो इसका इलाज करेंगे ही।

"जैनजगत्" के ८ वें वर्षके ८वें अंकमें आपका मनघड़ंत सर्वज्ञता—इतिहास पढ़कर तो मैंने (न जाने क्यों ?) इतनी ज़ोरसे दोनों तले उँगली दबाई कि खून निकलते निकलते रहगया। खैर होगई। वास्तवमें इस इतिहासको लिखनेमें आपने इतनी खेंचातानी की कि कलम तोड़ डाला। वाह! वाह! चूमनेके बहाने मुँहमें भरलूँ आपके दाहिने हाथके अँगूठे व उसके बराबरकी दो उँगलियोंको जिन्होंने उस इतिहासको लिखा। आपने सर्वज्ञता पर लेखनी चलानेमें जो परिश्रम किया है, पसीना बहाया है, मस्तिष्क पेला है, समय खोया है, तीन दो पैसेका चिराग़में तिलका तेल व्यर्थ जलाया है, पैसेकी मातवाली निबोंमें से एक निब घिसी है, छदामकी रोशनाई बहाई है, सवातीन आनेका मटीला काग़ज लीपा है इत्यादि २, उन सबका कचूमर यहीतो है न, कि "त्रिकाल त्रिलोकवर्ती पदार्थोंका सर्वदा युगपत् प्रत्यक्ष करनेवाले योगी की कल्पना तो एक अटपटी कल्पना है" (जैनजगत् वर्ष ८ अंक ८ पृष्ठ ८)। उपरोक्त निचोड़के पश्चात उसकी 'हाँ में हाँ' मिलानेके उद्देश्य से आपका यह घसीटना, कि" क्योंकि ऐसा योगी किसीकी बात क्यों सुनेगा ? किसीसे वह प्रश्न क्यों पूछेगा ? और उसका उत्तर क्यों देगा ? क्योंकि उसका उपयोग[illegible] [illegible] है वह किसी एक जगह कैसे आसकता है। [illegible] बैठे हुए मनुष्यकी जैसे वह बात सुन रहा है उसी तरह वह अनंत कालके अनंत मनुष्यों, अनंत तिर्यञ्चों अनंत देवों और अनंत नारकियोंके शब्द सुन रहा है। अब किसकी बातका उत्तर दे ? अमुक मनुष्य वर्तमान है, इसलिये उसकी बातका उत्तर देना चाहिये और बाक़ीका नहीं देना चाहिये—इस प्रकारका विचार भी उसमें नहीं आसकता क्योंकि इस विचारके समान अनन्तकालके अनन्त विचारभी उसी समय उनके ज्ञानमें झलक रहे हैं। तब वे किसके अनुसार काम करें ?" बावनतोले पावरत्ती ठीक है। उपरोक्त थोड़ेसे शब्दोंमें प्रश्नोंकी भीड़ करनेका उद्देश्य यह मालूम होता है कि भोला पाठक घबराकर आपका लोहा मानले। कुछभी हो, यहतो हमभी कहे बिना नहीं रह सकते कि आपके अनेक नादान दोस्तों (हमारे भोले नासमझ हिमायतियों) ने उपरोक्त टुटपूँजिये प्रश्नोंके बेजोड़–तोड़के असफल उत्तर देने की बहुतेरी कोशिशकी परन्तु सब निरर्थक। यद्यपि हम आपके कट्टर विरोधी व शत्रु हैं किन्तु यह अवश्य स्वीकार करेंगे कि आप अकेले तो घड़ी भर के हैं और हमें छोड़कर आपके सब विरोधियोंका विशाल समूह एक माशाभर भी नहीं। अनावेअली ! इसका कारण यह नहीं कि आपके विरोधी अनुचित मार्ग पर हैं और आप उचित पर, वरन् यह कि वे ऊटपटाँग ढंगसे अपने सर्वहितेच्छु श्री कल्याण पथओंका अनुसरण, समर्थन व मंडन खंडन करते हैं और आप चालाकी, होशियारी व काँइयापनसे अपने महाअकल्याणकारी, धर्मनाशक दुखदायक पक्ष की बैलकी तरह दिनरात जुतकर भरपूर पुष्टि करते हैं। कुछ बेचारे भोले व्यक्ति, जिनके उथलेपन पर मेरे हृदयसे करुणास्रोत बह रहा है, अपनी सम्मतियों द्वारा हथेली लगाकर आपको उत्साहित करने में सदा डूबे रहते हैं। हम अपनी इस विनाश-सूचना-दायक हार (Defeat) को जबतक देखते रहे, देखते रहे, परन्तु अब नहीं देख सकते। अब तो हम अपने दृढ़ हृदयको लेकर युद्धक्षेत्रमें कूद पड़े हैं। अतः अब हम आपको नाक चने चबाए बिना दम नहीं लेंगे। आपकी तूती इस कारण बोल रही है कि आपको अबतक कोई ढंगका खंडक नहीं मिला था। अब हम मिलगए हैं, ज़रा सम्हल कर चलना। याद रखो यदि सम्हल सम्हल कर नहीं चले तो मुँह के बल औंधे गिरोगे और ऐसे समयमें आपके चेले चाटे आपकी हाँ में हाँ मिलाने वालेभी दूरहीसे 'सत्यं वंदे, सत्यं वंदे' कहेंगे; पास नहीं फटकेंगे।

हमने ऊपरजो आपकी कुछ पंक्तियाँ लिखकर

आपका गौरव बढ़ाया है, उसका बदला निकालनेके पवित्र उद्देश्यसे हम नीचे उन पंक्तियोंमें ठुसे हुए ६ प्रश्नोंका गर्दनतोड़ उत्तर देते हैं :-

१ प्रश्न—ऐसा योगी किसीकी बात क्यों सुनेगा ?

गर्दनतोड़ उत्तर—क्यों नहीं सुनेगा ?

२ प्रश्न—किसीसे वह प्रश्न क्यों पूछेगा ?

गर्दनतोड़ उत्तर—क्यों नहीं पूछेगा ?

३ प्रश्न—और उसका उत्तर क्यों देगा ?

गर्दनतोड़ उत्तर—क्यों नहीं देगा ?

४ प्रश्न—उसका उपयोगतो त्रिकाल त्रिलोकमें विस्तीर्ण है, यह किसी एक जगह कैसे आसकता है ?

गर्दनतोड़ उत्तर—जिस प्रकार एकही कमरेमें अनंतकालके अनन्त लैम्पोंका प्रकाश आसकता है। यदि आपको इसमें संदेह है तो आप कमरेमें अनंतकालके अनन्त लैम्प रखकर देख लीजिये।

५ प्रश्न—साम्हने बैठे हुए मनुष्यकी जैसे वह बात सुन रहा है उसी तरह वह अनन्तकालके अनन्त तिर्यञ्चों अनन्त देवों और अनंत नारकियोंके शब्द सुन रहा है। अब किसकी बातका उत्तर दे ?

गर्दनतोड़ उत्तर—जो उत्तर पाने योग्य होगा, तथा जिसके भाग्यमें उत्तर पाना लिखा होगा।

६ प्रश्न—अमुक मनुष्य वर्तमान है, इसलिये उसकी बातका उत्तर देना चाहिये और बाकी का नहीं देना चाहिये—इस प्रकारका विचार भी उसमें नहीं आसकता क्योंकि इस विचारके समान अनंतकालके अनंत विचारभी उसी समय उसके ज्ञानमें झलक रहे हैं। तब वे किसके अनुसार काम करें ?

गर्दनतोड़ उत्तर—जिस प्रकार बिना सोचने समझने वाली टिकट मशीन उसमें कोई सिक्का डाले जाने पर उस सिक्केके ही के मूल्यका टिकट ग्राहकको दे देती है ठीक उसी प्रकार प्रश्न ५ के गर्दनतोड़ उत्तरमें बतलाए हुए भाग्यशाली व्यक्तिको वह योगी स्वतः(Automatically) उसके महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंका महत्त्वपूर्ण उत्तर देदेगा।

इस छठे प्रश्नमें आपने ऐसी मोटी भूलकी है, जिसको देखकर ऊपरका दम ऊपर और नीचेका दम नीचे रहगया। एक ओर आप यह लिखते हुए भी कि उसके ज्ञानमें अनंतकालके अनंत विचार झलक रहे हैं, दूसरी ओर आप यह लिखनेका साहस कर रहे हैं कि 'इस प्रकारका विचार उसमें नहीं आसकता'। भला बतलाइये कि जब अनंतकालके अनंत विचार उसके ज्ञानमें झलक रहे हैं तो वह विचारभी अवश्य वहाँ विद्यमान होगा फिर यह लिखना कि वहां वह विचार नहीं आसकता, क्या अर्थ रखता है ?

खैर, हमने ऊपर आपके साधारण प्रश्नोंके संक्षिप्त व गर्दनतोड़ उत्तर देनेका कष्ट उठाया है। आगे चलकर हम बालकी खाल निकालेंगे और आपके सभी थोथे ढुलके प्रश्नों व आक्षेपोंका उत्तर देने व समाधान करनेकी असफल चेष्टा करनेका भरसक प्रयत्न करेंगे। आप अभीसे डर न जांय, अभी तो हमने नमूनाही दिखाया है, "आगे आगे देखिये होता है क्या ?"

सर्वज्ञता पर आपने बहुत लिखा है, इसलिये हमारा क़लम भी बहुत लिखेगा, परन्तु धीरे धीरे, गंभीरता और गहनता व सावधानतापूर्वक; उतावलीसे नहीं। यह परिश्रम न करना पड़े, इस लोभके कारण हमारा अन्धभक्त हृदय यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यदि आप अपना भला चाहते हैं तो अभीसे मान जाइये। अधिक राड़ बढ़ाकर हमें व हमारे हिमायतियोंको परेशान न करिये। हम अगले पत्रमें भी आपकी सर्वज्ञताकी क़लई खोलने व उसका बुरी तरह भंडाफोड़ करनेका प्रयत्न करेंगे। योग्य सेवा लिखें।

—आपका, "दृढ़"

मिथ्या-अभिमान नहीं, सत्य-प्रताप।

(लेखक—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा ।)

(गतांकसे आगे)

आक्षेप (७)—पंडितजीने आगे चलकर लिखा है कि "जिन शालाओंमें मैंने वर्षों पढ़ाया है और जिनमें मेरे मित्र और शिष्य अध्यापक हैं उनमें मुझे पढ़नेके लिए भेजनेकी सलाह देना पागलपन की सीमा है।" पंडितजीका यह लेख उनकी युक्ति और न्यायका नमूना है। भला जिस मास्टरने किसी विद्यार्थीको तीसरी चौथी कक्षामें पढ़ाया हो और वह बादमें M. A. होकर किसी कालेजका प्रोफेसर हो जाय जहां मास्टरोंको लैक्चर दिये जाते हों तो क्या उस मास्टरका यह कहना कि यह प्रोफेसर मुझे क्या पढ़ावेगा, यह तो मेरा ही पढ़ाया हुआ है, उसके पागलपनकी सीमा नहीं है ? इत्यादि ।

उत्तर—यह आक्षेप इतना मूर्खतापूर्ण है कि उत्तर देनेमें भी हिचकिचाहट होती है। आक्षेपक महोदयको विदित हो कि पं० दरबारीलालजीने तीसरी चौथी कक्षाको नहीं पढ़ाया है, उन्होंने न्याय-तीर्थ, शास्त्री तक पढ़ाया है और अब भी पढ़ाते हैं; यहीं तक पढ़ाई होती है। मालूम नहीं वे किस नशेमें आकर ऐसा घसीट बैठे। दूसरे, जरा आक्षेपक महोदय यह बतलानेकी कृपा करें कि उनकी यह बात पंडितजी पर कैसे घटित हो सकती है! खेद है कि एक ऐसे वैज्ञानिकको जिसने अपने नवीन आविष्कार द्वारा पुराने वैज्ञानिकोंको स्तम्भित कर दिया है, उसे विज्ञानके स्कूलमें जानेकी सलाह दी जारही है। निस्सन्देह ऐसी सलाह, देनेवालेके पागलपनकी सीमा नहीं है। आक्षेपकर्ता, यदि आपके हृदयमें अपने शब्दोंका तनिक भी मूल्य है तो बतलाइये कि यह युक्ति किस प्रकार पंडितजीके व्यक्तित्व पर घटित हो सकती है। वह M. A. पास प्रोफेसर कौनसे हैं जो मास्टर दरबारीलालजीको पढ़ायेंगे ? यही उत्तर मैडीकल कालिज (Medical College) व लॉ कालिज (Law College) के विषयमें है। व्यर्थ लीपा-पोतीसे विज्ञसमाज किसीकी बात नहीं मान सकता; अतः कृपया उपरोक्त प्रश्नोंका उत्तर देनेका साहस कीजिये, अन्यथा अपना यह तुच्छ आक्षेप वापिस लीजिये ।

आक्षेप (८)—पंडितजी लिखते हैं कि "कल-तक मुझे उनके आचार्यगुरु अभिनव टोडरमल कहते रहे और पंडित गोपालदासके साथ मेरी तुलना करते रहे, परन्तु आज मुझे ऐसी सलाह दी जाती है"। मैं पंडितजीसे पूछना चाहता हूँ कि (१) यह वाक्य मेरे मान्यवर कौनसे आचार्य ने आपकी शानमें प्रयुक्त किए हैं ? (२) आप किसी शास्त्रका उदाहरण दे रहे हैं या किसी शिलालेखमें ये खुदे मिले हैं ? (३) इस भविष्य-वाणीका उल्लेख किस आधार पर है ? आपसे ही मनघड़ंत शब्दोंसे ऐसी बहीकी तरह अपनी प्रशंसाके पुल बाँधे जाते हैं और आपही आप पंडित टोडरमलजी और पंडित गोपालदासजीसे अपनी तुलनाकी जाती है ?

उत्तर—खेद है कि मुख्तार साहब जैनसमाजकी अति निकटभूतकी Politic से भी अनभिज्ञ हैं। प्रश्न हैं तो अज्ञानतापूर्ण, परन्तु फिर भी क्रमसे उत्तर देता हूँ—

(१) आपके आचार्य ब्र० शीतलप्रसादजी ने, जिनके मुखपत्र "सनातनजैन" में आपने यह गंदा और बेहूदा लेख छपवानेका दु साहस किया है।

(२) "जैनमित्र" के आधार पर जो इस बातके प्रमाणके लिए शास्त्र व शिलालेखसे कम नहीं।

(३) यह भविष्यवाणी क्यों कर ? यह वाणी अभी हालकी ही है, टोडरमल व बरैयाजीके समयकी नहीं।

(४) आपही आप पंडितजी अपनी तुलना पं० टोडरमल व बरैयाजीसे नहीं करते, आपके गुरु ब्र० शीतलप्रसादजी ऐसा करते हैं, जो कि आपकी सनातन जैनसमाजके संस्थापक होनेसे आचार्यतुल्य (आप लोगोंकी दृष्टिमें) समझे जाते हैं तथा आपके "सनातन जैन" पत्रके सम्पादक हैं।

आक्षेप९—पंडितजीका सत्यसनातन जैनागमका विरोध और जिन भक्तोंके प्रति उनका दुर्व्यहार प्रति नारायणके चक्रकी भाँति उन्हींके अधःपतनका कारण और जैनागम और जिनभक्तोंकी विजयका चिन्ह है। जिस तरह बीजगणितमें माइनस (—) और माइनस (–) मिलकर प्लस (+) हो जाता है इसी प्रकार जैनागमके विरोधका विरोध करनेसे जैन सिद्धान्तका समर्थन स्वतः होजाता है।

उत्तर—तभी तो सत्यसमाजका प्रतिदिन प्रचार बढ़ता जारहा है और विरोधी दलका प्रभुत्व घटता जारहा है। प्रत्यक्ष वातावरणको देखनेसे भली भाँति पता लग जायगा कि पंडितजीका कहना ठीक है या आपका। मैं यह काम आक्षेपक महोदय व अपने विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ता हूँ। रही माइनस-प्लस वाली बात सो उसका सरल मुँहतोड़ उत्तर यह है कि माइनसमें माइनस* लगे तभी तो प्लस हो सो अभी तो माइनस कोई माईका लाल लगा नहीं पाया है। भविष्यमें अगर किसी ने लगाया भी तो, भगवान सत्यकी यदि आज्ञा हुई तो सत्यके प्रतापसे हमें उस प्लसमें माइनस लगाकर कुलको माइनस बना लेना भी चुटकियोंका खेल है। आपके जैनागमके विरोधियोंके विरोधका परिहार करनेसे आपके जैनागम का विरोध स्वतः होजाता है।

आक्षेप१०—जैनसिद्धान्त गली कूचोंमें फिरने वाले भिखारियोंका टुकड़ा नहीं है जिसे चील कव्वे झपट कर खाजायँगे बल्कि स्वार्थत्यागी, सच्चे वैरागी, अखंड तपस्वी योगिराजोंकी उत्कृष्ट निर्मल आत्माके निर्दोष ज्ञान-सूर्यका प्रकाश है, जो धूर्तोंके धूल उड़ानेसे कभी मलीन नहीं होसकता, पाखण्डियोंके पाखण्डसे कभी खण्डित नहीं होसकता और मायावियोंका मायारूपी आवरण उसे कभी आच्छादित नहीं कर सकता।

उत्तर—अगर यह बात है तो आप "जैनधर्मका मर्म" को जैनसिद्धान्त क्यों नहीं मानते क्योंकि उसका अभी तक हजार प्रयत्न करने पर भी बालबाँका नहीं होसका है और आपके जैनसिद्धान्तकी तो बुरी तरह धज्जियाँ उड़ चुकी हैं। अतः जिसका खंडन नहीं हुआ उसे जैनसिद्धान्त समझना चाहिए। फिर क्यों अपने टटपूँजिये खंडित सिद्धान्तको जैनसिद्धान्त कहते हो? "जैनधर्मका मर्म" को जैनसिद्धान्त क्यों नहीं कहते?

ऊपर संक्षेपमें मैंने मुख्तार साहबके समस्त व्यक्तिगत आक्षेपोंका मुँहतोड़ उत्तर दिया है। यदि मुख्तार साहबमें जरा भी भद्रता हुई तो मैं आशा करता हूँ कि वे अपने आक्षेपोंको वापिस लेकर अपने नैतिक बलका परिचय देंगे।

अन्तमें मैं बाबू भोलानाथ साहब सम्पादक "सनातनजैन" से पूछूँगा कि वे ऐसे गंदे व भद्दे लेखों को अपने पत्रमें स्थान देनेका क्योंकर दुःसाहस कर लेते हैं? पत्र-सम्पादन एक जुम्मेदारीका काम है, उसमें मित्रताका लिहाज रखना अनुचित है। अतः मैं आशा करता हूँ कि भविष्यमें 'दरख्शाँ' साहब ऐसी गंदगीसे अपने पत्रको कलंकित करनेकी कुचेष्टा न करके कर्तव्य-वेदीपर मित्रताका बलिदान करनेसे नहीं चूकेंगे।

साहित्य परिचय।

पंचसुत्त—सम्पादक श्रीयुत ए० ऐन० उपाध्याय ऐम० ए० प्रोफेसर राजाराम कॉलेज कोल्हापुर। यह प्राकृतभाषा में एक प्राचीन श्वेताम्बर सूत्र है जो कि मुंबई यूनिवर्सिटीमें पाठ्यक्रममें रक्खा गया है। इसकी कई आवृत्तियाँ हो चुकी हैं। स्वयं उपाध्यायजी ने ही इसकी एक आवृत्ति पहिले निकाली थी। अब

*वास्तवमें तो यह माइनस जैनसिद्धान्तका खंडन है, न कि जैनसिद्धान्तके खंडनका खंडन। यहाँ आक्षेपक महोदय बहुत मोटी पर भयकर भूलकर बैठे हैं। इस भूलकी उपेक्षा करके ही आक्षेपका उत्तर दिया है। —लेखक।

यह संशोधित आवृत्ति निकाली है। इसमें अंग्रेजीमें नोट, अनुवाद और शब्दकोष तीनों बातें हैं। Introduction तो है ही। विद्यार्थियोंके लिये यह आवृत्ति बहुत उपयोगी होगी।

जैनभारती—लेखक पं० गुणभद्रजी जैन। प्रकाशक दुर्लीचन्द्रजी परवार, जिनवाणी प्रचारक कार्यालय, हरिसनरोड कलकत्ता। मूल्य १)। सजिल्दका १॥)। श्रीयुत मैथुलीशरण गुप्तकी भारतभारतीके ढंग पर यह पुस्तक तैयार की गई है। ऐसी पुस्तक आजसे पन्द्रह वर्ष पहिलेही तैयार होना चाहिये थी, परन्तु जब हुई तबही सही। जैनसमाज में जो पद्य-साहित्यका प्रकाशन होता है वह प्रायः बहुत निम्न श्रेणीका रहता है। उसे देखते हुए जैनभारतीका प्रकाशन होना हर्षकी बात है। कहीं कहीं पद्य बहुत अच्छे बने हैं। फिर भी इसे और अच्छा होना चाहिये था। कमसेकम छन्दोभंग न आना चाहिये था। जैनभारतीकी पहिली ही पंक्तिमें दोष है—वह गीतिका की है और दूसरी हरिगीतिका की है।

"कार्यके आरम्भमें भगवानकी जय बोलिये॥
यहाँ 'सत्कार्य' करदेनेसे छन्द ठीक हो जाता।

"जो साधु सदुपदेशकी मेघ बरसाते यहाँ॥
इसमें २७ मात्राएँ ही रहगई हैं। 'सदुपदेश' के स्थान पर "सत् उपदेश" लिखदेनेसे छन्द ठीक हो जाता।

"अहा एकदिन मृगराज थे निज क्रूरता छोड़ेहुए॥"
इसमें एक मात्रा बढ़गई है। इसके बदलेमें—

"मृगराज तक थे एकदिन निज क्रूरता छोड़े हुए॥"
आदि पाठ बदल देना था। अन्त्यानुप्रास भी बहुत जगह बिगड़ा हुआ है। इतना सब होते हुए भी जैनसमाजके लिये, खासकर दिगम्बर जैनसमाजके लिये, पुस्तक अच्छी है। छपाई सफाई जिल्द आदि उत्तम है।

सत्यवादी—बुवाबाजी अंक। सम्पादक बा० आ० पाटील कोल्हापुर मूल्य ।) यह विशेषाङ्क 'गुरुडम' के विषयमें निकाला है। अपने यहाँ इस विषयका सम्भवतः यह पहिलाही विशेषाङ्क है। राजनैतिक धार्मिक सामाजिक आदि क्षेत्रोंमें कैसा गुरुडम चल रहा है, इस विषयके लेखोंका सुन्दर सग्रह है। यद्यपि इस विषयकी सफेद बाजू भी होती है, परन्तु लोग जागृतिके लिये तथा मूर्खता (परप्रत्ययनेय बुद्धित्व) को कम करनेके लिये इस प्रकारके लेखोंका चयन ठीक है। इस असाधारण प्रयत्नके लिये सम्पादक धन्यवादके पात्र हैं। मराठी भाषा जाननेवालोंको पढ़ना चाहिये।

नवराजस्थान—सम्पादक, रामनाथजी सुमन, रामगोपालजी माहेश्वरी। वार्षिक मूल्य ३)

अकोलासे यह सुन्दर साप्ताहिक अभी निकलना शुरू हुआ है छपाई, सफाई, लेखों और समाचारोंका संग्रह, पत्रकी नीति आदि सभी कुछ अच्छा है। आशा है हिन्दी साप्ताहिकोंमें इस पत्रका अच्छा स्थान होगा।

देवशास्त्रगुरुपूजा—प्रकाशक—चौ० रतनचन्द चिरंजीलाल जैन, बड़ा बाजार भेलसा (गवालियर) मूल्य एक आना।

स्व० कविवर वृन्दावनजीकृत यह पूजा है, जिसका दिगम्बर जैन मंदिरोंमें उपयोग हुआ करता है।

विज्ञान-चमत्कार

(लेखक—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा।)

क्या आपके मस्तिष्कमें यह बात कभी आसकती है कि आज दिन भी महात्मा महावीरको चलते फिरते, तपस्या करते, दुख सहते, उपदेश देते व निर्वाण-पद प्राप्त करते हुए देखा जासकता है? बोधिवृक्षके नीचे विचार मग्न ध्यानावस्थित दशामें विराजमान महात्मा बुद्धके दर्शन किए जासकते हैं? वीर मन्सूर व साक्रटीज़ (Socrates) आदिको सत्य-हेतु सहर्ष जीवन बलिदान करते हुए देखा जासकता है? क्या कभी स्वप्नमें भी आपको यह विचार आसकताहै कि महाभारतका युद्ध, श्रीकृष्णजी के कारनामे, भीमका बल-प्रदर्शन, कर्णकी दानवीरता,

सीताकी अपूर्व दृढ़ता, श्रीरामचन्द्रजीकी युद्धनिपुणता, आदि आदि समस्त साधारण व असाधारण बातोंका हम दर्शन लाभ आज भी कर सकते हैं? क्या आपके दिमागमें यह बात स्थान पा सकती है कि आज भी हम छत्रपति शिवाजी महाराजकी वीरताका निरीक्षण कर सकते हैं? आज भी आगरे के सुप्रसिद्ध संसारदुर्लभ ताजमहल इमारतकी सन १६५० ई० में रखी हुई नींव देखी जासकती है? अंग्रेज राजाके प्रतिनिधि (Representative) सर टामसरो को सम्राट जहाँगीरके क़दम चूमते हुए आजभी देखा जासकता है?

निस्सन्देह प्रिय पाठकोंको ये बातें पागलोंके प्रलाप सदृश प्रतीत होंगी, वे इन बातोंको निरर्थक व बेहूदा समझकर इनकी उपेक्षा ही करेंगे, परंतु यदि आप ज़रा गंभीरतापूर्वक विचार करके विज्ञान के अन्दर प्रवेश किया जाय, तो सहजही इन बातों की सत्यता प्रत्यक्ष होजायगी। पाठक देखेंगे कि ये बातें निराधार नहीं बल्कि विज्ञानकी दृढ़ नींव पर रखी हुई है, जैसा कि आगे बतलाया जायगा।

भौतिक विज्ञानके महान विज्ञानवेत्ता ऐन्सटीन का कथन है कि समस्त प्राचीन बातें आज भी देखी जा सकती है। महात्मा महावीरको जीवित अवस्था में नहीं देखा जासकता, वरन चित्रपट पर उनके सच्चे कारनामोंका ठीक ठीक दर्शन व उनका दर्शन किया जासकता है। क्यों कर? इस पर नीचे संक्षेप से साधारण व सहल विवेचन किया जाता है। यदि होसका तो फिर कभी विस्तारसे इस आश्चर्यजनक पहेलीको सुलझानेका प्रयत्न करूँगा।

मोटी रीतिसे यह समझ लीजिए कि प्रत्येक काम, प्रत्येक बात और प्रत्येक गतिका प्रतिबिम्ब *(Image) सदा निकलता रहता है। सिनेमा (Cinema) इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उसके द्वारा हम अभिनेताओं व अभिनेत्रियोंके काम, बातचीत* गति आदि समस्त बातोंका ठीक ठीक प्रतिबिम्ब कहीं बैठे देख सकते हैं। अब कोई ग्राहक-पदार्थ—जैसे दर्पण (Mirror) हमारे सामने आजाता है तो हम अपने प्रतिबिम्बको प्रत्यक्ष देख सकते हैं। प्रतिबिम्ब कहाँतक जासकता है, इसकी सीमा अपरिमित (Unlimited) है, वह अरबों खरबों मीलतक जा सकता है, मैं तो कहूँगा कि असंख्य मीलतक जा सकता है, केवल उसे ग्रहण करके प्रत्यक्ष कर दिखाने के लिए एक उपयुक्त ग्राहक-पदार्थ की आवश्यकता है। इसी सिद्धान्तके आधारपर आज बेतारके तार (Wireless telegraphy) की सहायतासे फोटोग्राफ (Photograph) भेजनेका आश्चर्यजनक तरीक़ा (Method) निकला है। घर बैठे बैठे यहाका प्रतिबिम्ब अमेरिका आदि जगहोंमें मिनटोंमें भेजा जासकता है और वहाँका प्रतिबिम्ब यहाँ आसकता है।

ब्रह्माण्ड अनन्त है। इसकी कोई सीमा नहीं। केवल जितना हम देखते व जानते हैं, वहींतक संसार नहीं है। प्रकाश एक सेकंड (Second) में १,८६,००० मील चलता है। सूर्यसे पृथ्वी तक प्रकाश आनेमें कुछ मिनट लगते है। सूर्यके अतिरिक्त जो तारा पृथ्वीसे सबसे निकट है उससे हमारे पासतक प्रकाश आनेमें ४ वर्ष लगते हैं। ध्रुवतारे (Pole star) से पृथ्वीतक प्रकाश आनेमें कई वर्ष लगते है। बहुतसे तारे इतनी दूरी पर हैं कि उनसे प्रकाश आनेमें लाखों अरबों वर्ष लग जाते हैं। ऐसे तारे भी अवश्य होंगे जिनका प्रकाश असंख्य वर्षोंमें हमतक पहुँचता होगा। ऐसे तारोंकी दूरी मीलों—कोसोंसे नहीं नापी जाती बल्कि उस समय (Time) से नापी जाती है, जितने समयमें वहाँका प्रकाश यहाँतक पहुँचता है। इन तारोंसे जो प्रकाश हमें आज दिखाई पड़ता है, वह इस समयका नहीं वरन *उस समयका है जब कि उसने वहाँसे हमारी ओर चलना प्रारम्भ किया था—वह समय लम्बेसे लम्बा* व छोटेसे छोटाही क्यों न हो। ठीक इसी प्रकार इस समय जो प्रकाश वहाँसे चल रहा है, वह उचित

समय पश्चात हमको दिखाई देगा, अभी नहीं। मान लो कि एक तारेका प्रकाश पृथ्वी तक एक हजार वर्षमें पहुँचता है। अब यदि इस समय वह अपने स्थानसे हट जाय तो भी एक हजार वर्ष तक हमे वह तारा वहीं दिखाई देगा जहाँ था, और एक हजार वर्ष बाद वह वहाँ दिखाई नहीं देगा, बल्कि वहाँ दिखाई देगा जहाँ वह हट कर चला गया है। यदि वह इस समय नष्ट भी हो जाय तो भी एकहजार वर्ष तक वह वहीं दिखाई देता रहेगा, हाँ, हजार वर्ष बाद दिखाई नहीं देगा।

महाभारत युद्धका प्रतिबिम्ब अब उन तारोंमें पहुँच रहा होगा जहाँसे यहाँ तक प्रकाश आनेमे ५००० वर्ष लगते हैं। महात्मा महावीरका प्रतिबिम्ब अब उन तारोंमे पहुँच रहा होगा जहाँ से यहाँ तक प्रकाश आनेमे २५०० वर्ष लगते है। यदि उन तारोंमें इतने शक्तिशाली ग्राहक पदार्थ मौजूद हों जो यहाँके दृश्यों व शब्दोंको ग्रहण कर सकें, तो सब कुछ प्रत्यक्ष देखा जासकता है और देखा जासकेगा। उपरोक्त विवेचनसे यह सिद्धान्त निकलता है कि समय-काल (Time) व आकाश (Space) एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न रूपान्तर है। दूरी और समय दो भिन्न वस्तुएं नहीं है बल्कि एक ही वस्तुकी दो भिन्न अवस्थाएं हैं, अतः आकाश और काल दो भिन्न द्रव्य नहीं वरन एक ही द्रव्य है, हाँ अवस्थाकी दृष्टिसे अवश्य भिन्न हैं। *

पाठक इस बातसे चौंकेंगे, सम्भवत कोई कोई इसे असंभव भी कहने लगें। मैं शीघ्र ही अपनी वैज्ञानिक लेखमालामें इसको विस्तृत विवेचन द्वारा सिद्ध करूँगा। पाठक उससमय तक धैर्य रखें।

*जैन विद्वानोंको इस पर गंभीरतापूर्वक विचारना चाहिये। *जैन मान्यताके अनुसार आकाश और काल* भिन्न भिन्न द्रव्य है, परन्तु विज्ञान इन्हें एकही द्रव्य मानता है। यहाँ इतना संकेत और कर देता हूँ कि विज्ञानके अनुसार धर्म और अधर्म द्रव्य भी एक ही हैं। इस पर फिर विवेचन करूँगा।

उपरोक्त सिद्धान्त ईन्सटीनके 'सापेक्षवाद' (Relativity) का महत्वपूर्ण अंग है। ईन्सटीन महाशय के इस गहन सिद्धान्तने भौतिक विज्ञान जगतमे बड़ी उथल पुथल मचा दी है। इस सिद्धान्त ने संसारके बड़े बड़े विद्वानोंको चमत्कृत कर दिया है। पहिले तो इसका बहुत विरोध हुआ (जैसा कि स्वाभाविक ही है), किसी ने भी इस सिद्धान्तको नहीं अपनाया, मगर अब सबकी समझमें यह अच्छी तरह आगया है, फलत समस्त वैज्ञानिक जगतने एक स्वरसे इसे स्वीकार कर लिया है। सन १९२१ ई०में उन्हें इस सिद्धान्तके हेतु संसार-प्रसिद्ध नोबल पुरस्कार (Nobel Prize) भी मिला। आज कल इसी सिद्धान्त पर वैज्ञानिक प्रगति अधिकतर हो रही है। वैज्ञानिकों को आशा है कि हम इस बीसवीं शताब्दी (Century) तक समस्त भूतकालीन सत्य घटनाओंको सफलतापूर्वक देख सकेंगे। देखिए क्या होता है?

(अपूर्ण)
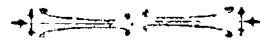
विविध वृत्त

(संग्राहक—श्रीमान कृष्णलालजी वर्मा)

—अमेरिका देशके कैलिफोर्निया शहरमें एक पेड है उसको कहते हैं 'बबोना'। वह इतना चौड़ा है कि उसका तना खोद कर जो खो बनाई गई है, वह ३० फीट लम्बी है। वृक्ष तीन सौ फीट ऊँचा है।

—अमेरिकाके न्यूयार्क शहरमें 'ग्राण्ड सेन्ट्रल टर्मिनल' नामका स्टेशन है। उसमें ६५ प्लेटफार्म हैं। उन पर हमेशा दो हजार गाड़ियाँ आतीजाती हैं।

—सन १५९० ई० में दूरबीनकी शोध हुई थी।

—*सन १८७३ में टेलिफोनकी शोध हुई थी।*

—अमेरिकाके वाशिंगटन शहरमें एक मीनार है। उसको 'वाशिंगटन मॉन्युमेंट' कहते हैं। उसकी ऊँचाई ५५५ फ़ीट है। इससे ऊँचा मीनार दुनियामें दूसरा नहीं है।

— दुनियाँमें २७५४ तरहकी भाषाएँ बोली जाती हैं।

— दुनियाँ में सबसे पहला पत्र रानी एलिजाबेथके समयमें इंग्लेंडमें, निकला था। उसका नाम 'इं-ग्लिश मर्क्युरी' था।

—समुद्रकी अधिकसे अधिक गहराई ३५५२० फीट है। (मराठी सुमन)

—कनाडामें अभी एक घंटा तैयार होरहा है। वह दुनियाँमें सबसे बड़ा होगा। पहली सितंबरसे 'माँट्रिअल' के लोगोंको वास्तविक समय बतायगा, ऐसा अनुमान है। इस बड़े घंटेके डायलका घेरा ६० फीट है। यह लंदनके प्रसिद्ध घंटे बिगबैनकी अपेक्षा सात गुना है। यह एक बहुत बड़े मकान पर ६० फीट ऊँचे फौलादके स्तंभ पर लगाया जायगा। यह घंटा रातको दस माइलकी दूरीसे स्पष्ट दिखाई देगा। इसकी मशीनरीका वजन तीनसौ मन होगा। इसके मिनिटके काँटेका वजन ६२॥ मन होगा। घंटेको साफ करनेके लिये ऊपर चढ़ा हुआ मनुष्य काँटे पर बैठकर, घंटेको साफ कर सकेगा। मनुष्यका तीन मन वजन भी इस घंटेको हानि न पहुँचा सकेगा। मनुष्यके वजनके सबबसे घंटेमें, समय बतानेमें, गड़बड़ी न होगी। इसके लोलकका वजन ६० मन का होगा। उस पर चढ़ कर घंटा साफ करने पर भी वह बराबर चलता रहेगा। घंटेका संबंध वेधशालाके साथ रहेगा, इसलिये समयमें एक मिनिटका भी फर्क न आयगा।

—पत्थरकी खानोंमें काम करनेवाले मजदूरोंकी जिन्दगी हमेशा खतरेमें रहती है। कईवार ऊपर खुदकर अधर रही हुई शिलाएँ अथवा भूमि टूट पड़ती है और सैकड़ों मनुष्य दबकर मरजाते हैं। कारण वह कब गिर पड़ेगी, यह समझनेका कोई उपाय नहीं था। अब एक नवीन यंत्रकी शोधसे डर जाता रहा है। इसको, यंत्रकी अपेक्षा 'वाद्य' कहना ठीक होगा। यह आवाज करके भयकी सूचना देता है। कोई शिला टूट पड़नेको होती है तब तीन चार दिन पहलेहीसे यह सूचना देता है। इसकी रचना सिस्मोग्राफ (धरतीकंपमूचक) यंत्र के सिद्धान्त पर की गई है। कुछही समय पहले एक खानमें अधर भूमिखंड गिरनेवाला था। इसकी सूचना इस यंत्रने सात आठ दिन पहलेही देकर सैकड़ों जानोंकी रक्षाकी थी।

– ईस्वी सन् १४०० से १५०० तकके बीचमें, जर्मनीके अन्दर एक महिला हुई है, उसका नाम था 'बारबारा'। उनके ४३ सन्तान हुई - २८ पुत्र थे और १५ पुत्रियाँ थीं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि एकही समयमें उसके एकबार ७ और दूसरी बार ६ बच्चे हुए। मगर उन ४३ में एक भी बच्चा ९ वर्षसे अधिक नहीं जिया। जगतमें आजतक एक भी स्त्री ऐसी नहीं हुई जिसके इतने अधिक बच्चे हुए हों। यह जानकारी जर्मनीके चर्चसे प्राप्त होती है।

(मराठी ज्ञान मंदिरसे)

— जर्मनीके हेगोवर नामक गाँवमें एक हल मिला है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह हल दुनियाँके सब हलोंसे पुराना है। करीब छः हजार वर्ष पहले जर्मनीमें ऐसे हलोंसे खेती होती थी। यह हल लकड़ेका बना हुआ है।

—अबतक यह जानना कठिन था कि मनुष्य झूठ बोलता है या सच। मनुष्यके मनकी बात जानना अबतक यदि असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य था। मगर अब एक ऐसा यंत्र बनाया गया है कि जिससे मनुष्यकी झुठाई तुरंत मालूम होजाती है। अमेरिकामें इस यंत्रका अच्छा उपयोग होरहा है। अदालतोंमें जब अपराधियोंके बयान लिये जाते हैं तब जज और जूरी इस यंत्रका उपयोग करते हैं

अमेरिकामें नॉर्थवेस्ट विश्वविद्यालयमें एक अपराध–परीक्षक प्रयोगशाला है। उसके प्रोफेसर 'लिओवार्ड कीलर' ने इस यंत्रकी शोधकी है। अमेरिकाके जस्टिस वॉन पेल्टने सबसे पहले अपनी अदालतमें इस यंत्रका उपयोग कियाथा। दो मनुष्यों पर खूनका आरोप था। जब उनका बयान लिया गया तो उनके बाहु और हृदयोंपर यह यंत्र लगाया

गया था। जब तक वे सच बोलते थे तब तक उसमें सीधी लकीरें मालूम होती थीं; परंतु जब वे झूठ बोलते थे तब बाँकी टेढ़ी लकीरें मालूम होती थी। इसी प्रमाणके आधार पर दोनोंको सजा दीगई थी।

—क्लीवलेंडमें एक अजीब घोड़ा है, जिसके पैरोंमें खुरके बदले मींढेके जैसे सींग हैं। इस अजीब घोड़ेको देखनेके लिए हजारों मनुष्य आते हैं।

(गुजराती प्रजामित्र केसरी से)

गिरजाघर-दर्शन।

मेरे उदार हृदयने मुझे गिरजाघर (Church) के दर्शन करनेके लिये बाध्य किया। फलतः मैं अपने एक मित्रके साथ ता० १७ फरवरी १९३५ (रविवार) को ६ बजे (शाम) के नियत समयसे लगभग बीस मिनट पहिलेही यहाँके कैथॉलिक चर्च (Catholic Church) के अहातेके विशाल द्वार (Gate) पर जा डटा। चर्चमें जानेका यह हमारा पहिलाही प्रयास था, इसकारण हम रुक रुक कर द्वारके अन्दर घुसे। ज्योंही चर्चके एक द्वार पर पहुँचे, एक ईसाई महोदयने अत्यन्त सभ्य व नम्र शब्दोंसे हमारा स्वागत किया और हमारे बारबार मना करने पर भी उनने हमारी साइकलें (Cycles) उचित स्थान पर स्वयं रखीं। उन ईसाई महोदयके इस सद्व्यवहार का मेरे हृदय-पटल पर एक स्थायी प्रभाव पड़ा और मेरे हृदयमें ईसाईयोंकी ओरसे प्रेम हिलोरे खाने लगा।

इसके पश्चात ज्योंही हम चर्च (Church) के भीतर गये, वहाँ हमें उचित स्थान मिला। कुछ समय तक हम चर्चकी विशाल इमारत, ईसाइयोंकी पूज्य मूर्तियाँ व चर्चका सुप्रबन्ध व तरतीब (Management and arrangement) देखते रहे। फिर ६ बजे से ६॥ बजे तक हमने ध्यानपूर्वक ईसाई भाइयोंकी मनोहर* प्रार्थनाको सुना। वह प्रार्थना अंग्रेजी भाषामें अत्यन्त चित्ताकर्षक सभ्य व नवीन ढंगसे की गईथी। सब उपस्थित भारतीय व अंग्रेज ईसाई उस प्रार्थनामें भाग ले रहे थे। वास्तवमें मैंने जो कुछ चर्चमें देखा, वह अवर्णनीय है। मैंने वहाँ नम्रता, सभ्यता, तथा शांतिका दर्शन पाया। मैंने देखा कि वहाँ कोई एक दूसरेसे बात नहीं करसकता, कोई लड़ाई नहीं लड़ सकता, कोई प्रेमालाप नहीं कर सकता, कोई हँस रो नहीं सकता, कोई उछल कूद नहीं सकता, कोई लेट नहीं सकता, कोई सो नहीं सकता, कोई किसीसे आँख नहीं लड़ा सकता। संक्षेपमें यह कहना चाहिये कि वहाँ कोई भी असभ्य व अधार्मिक क्रिया नहीं हो सकती। वास्तवमें चर्च एक धर्मालय है, एक धर्म-स्थान है, एक मन्दिर है।

जब कभी मैं चर्चकी इस सुदशाका हिन्दू और जैनमन्दिरोंकी दुर्दशा व दयनीय पतितावस्थासे मिलान करता हूँ तो लज्जासे मस्तक झुक जाता है। हमारे मन्दिर धर्मालय नहीं, अधर्मालय हैं। वहाँ क्या नहीं होता? सब कुछ होता है। वहाँ ढोंग होता है, लड़ाई झगड़ा होता है, कषायोंका अखाड़ा जमता है, वहाँ पाप होते हैं, झूठ बोला जाता है, बुरी आदतोंका नंगा नाच होता है, ब्याहशादी आदि की तथा हर प्रकारकी घरेलू व सामाजिक चर्चा होती है। वहाँ आँखें लड़ती हैं, व्यभिचार होता है, दुर्वासनाओंकी तृप्ति होती है, पापका घड़ा भरा जाता है, असभ्यता, मूर्खता व धृष्टताका वहाँ सदा अड्डा जमा रहता है। इस भयसे कि कहीं मन्दिरोंकी पापलीला लिखनेसे मेरी लेखनी अपवित्र व अश्लील न हो जाए, मात्र इतनाही और लिखना काफी समझता हूँ कि मन्दिरोंमें प्रत्येक प्रकारका अधर्म होता है। मेरे हृदयको जो शांति और आनन्द चर्चमें जाकर मिला, मन्दिरमें उसका पता भी तो नहीं मिलता। वहाँ अशांति और अधर्मका प्रचार है, चर्चमें शांति और धर्मका साम्राज्य है। चर्च धर्मालय है, वर्तमान के मन्दिर अधर्मालय बने हुए हैं इसलिये आज मन्दिरसे चर्च अधिक आदरणीय हो; इसमें क्या

* इस मनोहर प्रार्थनाका हिन्दी अनुवाद फिर किसी समय पाठकोंके सन्मुख रक्खा जायगा।

समाचार-संग्रह ।

—कोटाके एक वृद्ध महाशय भैरूँदानजी राठीके विवाहके विरोधमें खूब आंदोलन किया गया जिसके फलस्वरूप विवाह देशनोकमें नहीं होसका। किन्तु अभागी बालिकाको गुप्त रीतिसे मोटर द्वारा बीकानेर लेजाकर राठीजीने किसी प्रकार विवाहका उपक्रम कर लिया। इस विवाहमें किसी जातिबन्धुने भाग नहीं लिया, यहाँतक कि कन्याके मामा तकने मांडेरा देनेसे इनकार कर दिया। परन्तु इससे क्या ? आवश्यकता इस बातकी है कि ऐसे विवाह को विवाह ही न समझा जाय और अत्याचार-पीड़ित बालिकाका ऐसे विवाह—अभिनयके बाद भी सुयोग्य वरके साथ विवाह कर दिया जाय।

—इन्दौर नरेशने एक आज्ञा निकाल कर अस्पृश्य होनेके कारण होनेवाली सब असुविधाओंको दूरकर दिया है। उन्होंने राज्यकी सब संस्थाएँ एवं सार्वजनिक स्थान हरिजनोंके लिये खुले करदिये हैं और राजकीय तथा सार्वजनिक मन्दिरोंके द्वार भी उनके लिये खोल दिये हैं।

—गत १५ अप्रेलको मोहर्रमके अवसरपर फीरोजाबादमें भीषण हिन्दू मुस्लिम दंगा होगया जिसमें १३ व्यक्ति जिन्दा जलादिये गये। पुलिसको तीनबार गोली चलानी पड़ी। इसी अवसर पर भारतमें और भी कई स्थानोंमें हिन्दू मुस्लिम दंगे हुए और कई निरपराध व्यक्ति जन्मसे किसी सम्प्रदाय विशेषके होनेके कारण दूसरे दलके मजहबी दीवानों व गुन्डों द्वारा नृशंसतापूर्वक मारडाले गये। दुनियामें मनुष्यताकी जितनी हानि इस साम्प्रदायिकता रूपी पिशाचिनीके कारण हुई है, उतनी और सब कारणों को मिलाकर भी नहीं हुई।

—देहलीमें श्रीमान रायबहादुर सेठ माणिकचन्दजी सोनी ऐम० ऐल० ए०, लाला प्यारेलालजी आदि के प्रयत्नसे दो सभाएँ हुईं, जिनमें निश्चय हुआ कि संसारके शासकोंके पास जैनधर्मका महत्त्व समझाने के लिये प्रतिभाशाली पुरुषोंका डेपूटेशन लेजाने का प्रबन्ध किया जाय और इसका श्रीगणेश सम्राट् सिलवर जुबिलीपर लंदन डेपूटेशन भेजकर किया जाय।

—जालंधर जिलेके एक गाँवमें एक वृद्धकी १६ वर्षीय वधूने अपना गला छुरीसे काटकर इसलिये समाजको आत्म-बलि दी कि प्रथम तो उसे खूँसट वर मिला और फिर उस वृद्धका घरेलू जीवन भी बहुत ही निकृष्ट ढंगका था।

—हिन्दी साहित्यसम्मेलनके गत अधिवेशनमें श्रीमती चंद्रावती लखनपाल एम० ए० बी० टी को उनकी 'शिक्षा मनोविज्ञान' शीर्षक पुस्तकपर १२००) का मंगलाप्रसाद पारितोषिक दिया गया तथा श्रीमती महादेवी एम०ए० को उनके 'नीरजा' नामक काव्य ग्रन्थ पर ५००) का सेकसरिया पुरस्कार दिया गया।

—करीब दो वर्ष पहिले द्वारकाके एक स्थानकवासी जैनने एक जैन विधवाके साथ विवाह किया था। इस कारण पंचायतने उसे जाति बहिष्कृत कर दिया था। अब पंचायतने उससे २२००) दंड स्वरूप लेकर पुनः जातिमें शामिल कर लिया है।

निजयसागर फिर मुनि बन गया—जब मुनीन्द्रसागर जबलपुर अस्पतालमें मर गया तथा देवेन्द्रसागरने कुएँमें गिरकर आत्महत्या करली तो विजयसागरने भी गलेमें फाँसी लगाकर आत्मघात करने का प्रयत्न किया परन्तु मालूम हो जानेपर लोगोंने आकर उसे बचा लिया। बादमें वह माणिकबाईको लेकर कहीं चल दिया था। इसके पश्चात् माणिकबाईके कन्या पैदा हुई। अब मालूम हुआ है कि विजयसागर स० नागरजी पर सैंकड़ों जैनोंके सामने वस्त्र त्याग कर फिर मुनि बनगया है। अब उसने अपना नाम विजयसागरके बजाय सिधुविजय रक्खा है। कई लोगोंने उसे मना भी किया किंतु वह नहीं माना।

पाठकोंको शायद यह याद होगा कि सिधुविजय उर्फ विजयसागर बिलकुल निरक्षर भट्टाचार्य है, वह अपना नाम लिखना तो क्या, वर्णमालाका कोईभी अक्षर नहीं लिखसकता। वह २८ मूल गुणोंका पालन करना तो दूर, उनके नाम तकसे अनभिज्ञ है। लेकिन अब भी मुनिवेषपूजक जैनी उसकी नवधा भक्ति करते हैं, उसके चरणोंमें अपना मस्तक रगड़ते हैं, और उसे पूज कर न जाने किस कल्याणकी कामना करते हैं !

आश्चर्य है ? मैं अन्तमें अपने भाइयोंसे यह निवेदन किये बिना नहीं रह सकता कि यदि वे अपने मन्दिरों को सच्चे मन्दिर बनाना चाहते हैं तो वे उन्हें चर्च की तरह शांत व धर्ममय बनायें, मन्दिरोंके दुरुपयोगको बन्द करदें, उन्हें धर्मालय बनाकर अपना व अपने धर्मका उद्धार करें।

—रघुवीरशरण जैन, मेरठ कालेज मेरठ।
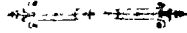
फूलचंदजी साहका असत्य प्रलाप।

श्री फूलचंदजी साह सभासद सैली दीतवारने हालके खण्डेलवाल जैन हितेच्छु अंक १२ वर्ष १५ में "दीतवारकी सैलीके विषयमें एकदम सफेद झूठ" शीर्षक लेख प्रकाशित किया है। सत्य बातको असत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हुये आप सुधारकोंके प्रति गाली गलौजसे पेश आये हैं। यह आपकी बुद्धिमानी का नमूना है। धार्मिकताका सारा ठेका आप ही ने ले लिया है। दीतवारकी सैलीकी गोठ चौथकी हो या पंचमीकी, इसका असल मामले पर कोई असर नहीं पड़ता। पर, लेखकने इसीके आधारपर अपना बचाव करनेकी फिक्र की है। सच है, डूबता हुवा आदमी तिनकेका भी सहारा लेनेकी फिक्र करता है।

लेखक महाशय लिखते हैं कि सामान बनाही आमेर में था, जयपुरमें सामान तैयारही नहीं हुवा था; हमारी समझमें नहीं आया कि यह लिखनेका क्या मतलब है। जगत्के सम्वाददाताने भी यह नहीं लिखा कि भोजनकी चीजें जयपुरमें बनी थीं, उसने भी यही लिखा है कि शनिश्चरको जयपुरसे एक लढ़ढी चून, बेसण, घृत, खांड, बर्तन, पालपली वगैरह सामान से भरकर आमेरको जारही थी। क्या हितेच्छुके लेखकका यह मतलब है कि ये सब चीजें भी आमेरमें ही तैयार हुई थीं ? असल बाततो यह है कि इस लेखकके वास्तविक लेखक महाशयतो इस तरहसे लोगोंको चक्कर देने वाली और भुलावेमें डालने वाली एकदम झूठी बातें लिखनेमें सिद्धहस्त हो चले हैं और ऐसी ही तरकीबोंसे वे अपनी डूबती हुई नौका बचानेकी फिक्रमें हैं।

आगे चलकर आपने जयपुरके रास्ते व बाजार चौड़े होनेका हेतु दिया है सो महाशयजी, दड़ा पर तो दो गाड़ी एकसाथ बड़ी कठिनाईसे निकल सकती हैं। ऐसी तंगीकी जगहमें दोनों गाड़ी भिड़ जावें व फँस जायँ तो मामूलीसी बात है। जयपुरके इतने चौड़े बाजारमें भी कई ताँगा गाड़ी व बैल गाड़ीमें मुठभेड़ होजाना या आपसमें फँस जाना रोजानाकी सी बात है। जयपुरके बाजारमें भी जब गाड़ी ताँगे मुठभेड़ होकर फँस जाते हैं तो दड़े पर ऐसी घटनाको असम्भव मानना आपकी स्थूल बुद्धिका नमूना है।

आगे चलकर आप पूछते हैं कि इस बातके कौन कौन गवाह हैं। एक सीधासी सत्य बातको सीधे रास्ते मान लेना आपका कर्त्तव्य था, पर जब इसके बजाय आप गवाह चाहते हैं तो हमें इसमें भी उजर नहीं। जगतमें प्रकाशित वाक़ए के एक नहीं अनेक गवाह हैं। लाला हरगोविंदसहायजी चक्कीवाले फूलचन्दजी छाबड़ा, लड्डूलालजी हलवाई, प्यारेलालजी सेठी, हंसराजजी कासलीवाल, गणेशी मालण भोंडू नारायण ब्राह्मण और इसके बेटेकी बहू आदि कई थे। आप जरा सचाईकी तरफ प्रवृत्त होकर पूछताछ करते तो आइये। आपके सामानकी गाड़ी भंगीकी गाड़ीसे फँसी और पाँच सात मिनटकी कोशिशके बाद बड़ी मुश्किलसे अलग होसकी। उस समय दड़ेके व कई दीगर लोगोंने यह सब घटना अपनी आँखोंसे देखी थी। सही बात स्वीकार करनेमें आपको कोई उजर नहीं करना चाहिये था, मगर झूठ बोलना और द्यूतक्रीड़ा करना यहतो आपकी नित्यक्रिया है। जो महाशय नित्य द्यूतक्रीड़ा करते हैं उनके लिये इस प्रकारकी सफेद झूठ लिखना कोई आश्चर्यकी बात नहीं। पाठकों को ऐसे धूर्तोंसे सावधान रहना चाहिये।

—कल्याणमल जैन.

सांगलीकी तरफ भीलवड़ी गाँवके अप्पणबाबाजी घटगे और भहुबाबाजी घटगे नामके दो धूर्त मुनिवेष बनाकर सालमें ६ माह घूमते हैं और भोली जनता से रुपया ऐंठते हैं और बाकी ६ माह घरमें गृहस्थ बनकर मौज करते हैं। रुपया खतम होने पर फिर ६ माहके लिये मुनि बनजाते हैं। न जाने परीक्षा प्रधानताका दावा करनेवाली जैनसमाज यह सब कैसे सहन कर रही है।

—बम्बई शहरमें दिगम्बर जैनसमाजके दो बड़े मंदिर हैं, जिनमें भूलेश्वरका जैनमंदिर तेरहपंथ आम्नायका बताया जाता है। लेकिन धीरे धीरे गोबरपंथी त्रिवर्णाचारानुयायी लोग उसपर अपना दखल जमा रहे हैं। वहाँ पहिले कईबार आपसमें मुठभेड़ होचुकी है। अभी कुछ लोगोंने जयपुरसे प्रतिमाएँ बनवाकर मँगवाई तथा शोलापुरमें प्रतिष्ठा कराकर सुखानन्द धर्मशालामें लाकर विराजमान कीं। वहाँ उनका पंचामृताभिषेक किया गया तथा फल-फूल आदिसे पूजा कीगई। तेरहपंथियोंको यह सहन न होसका। इस पर काफी झगड़ा हुवा और आखिर यह निश्चय हुवा कि इन प्रतिमाओंको भूलेश्वर जैनमंदिरमें विराजमान नहीं किया जावेगा। पहिले सबने इसे मंजूर कर लिया किन्तु बादमें रात्रिके समय चुपचुप ही उन प्रतिमाओंको डिब्बेमें बन्दकर भूलेश्वर मंदिरमें लाकर विराजमान कर दिया।

—धनशाली जैनसमाज लाखों रुपया प्रतिवर्ष मन्दिरोंमें, साधुओं व संस्थाओंके अर्थ दान देता है किन्तु खेद है कि उनका उचित उपयोग न होनेके कारण समाजको कोई विशेष लाभ नहीं होता। लाखों रुपया सोना चाँदी व जवाहिरातके रूपमें मंदिरोंमें पड़ा हुवा है परन्तु उसकी रक्षाका कोई उचित प्रबन्ध नहीं है और आये दिन मन्दिरोंमें चोरियाँ होती रहती हैं, यहाँतक कि प्रतिमाएँ तक चुराई जाने लगी हैं। नकद रुपया पंच चौधरियोंके यहाँ जमा कराया जाता है लेकिन वे उसका कोई हिसाब नहीं देते, उलटे उस सार्वजनिक रुपयेके बल पर पंचायतों पर अपनी सत्ता जमाते हैं। पंचायतियोंमें जबकभी फूट पड़ जाती है और दो दल हो जाते हैं तब निर्माल्य द्रव्य धर्मरक्षाके नामपर मनमाने रूपमें खर्च किया जाता है—उससे गार्डनपार्टियाँ दी जाती हैं, गोठें होती हैं, सैर सपाटे किये जाते हैं। वीर निवासी धर्मके ठेकेदार एक सेठजीके विषयमें तो एक बड़ी विचित्र बात सुनी गई है। अपनी लड़कियोंके विवाहमें वरपक्षकी ओरसे मन्दिरमें जो उपकरण चढ़ाया जाता है, वह आप अपने घरू मन्दिरमें ले लेते हैं तथा बादमें मौका देखकर अपने लड़कोंके विवाहमें उन्हीं उपकरणोंको दूसरी जगह चढ़ा देते हैं, मानो वह उनकी निजी सम्पत्ति ही हो। संस्थाओंके द्रव्य का भी प्रायः यही हाल है। साधारण तौरपर रुपया समाजके धनीमानी सेठ साहूकारोंके यहाँ ब्याजके तौरपर जमा कराया जाता है, परन्तु ब्याज मिलना तो दूर, कभीकभी असल रुपया ही मारा जाता है या ऐसा जा फँसता है कि वापिस मिलना मुश्किल हो जाता है। अजमेरकी विभिन्न जैन संस्थाओं—औषधालय, पाठशाला, विद्यालय भंडार, आदिका करीब चालीस हजार रुपया श्रीमान रायबहादुर सेठ भागचन्दजीके यहाँ जमा है परन्तु सेठ साहबने अकारणही रुपया रोक रखा है—न ब्याज देते हैं और न असल रकम लौटाते हैं—और इस कारण उपरोक्त संस्थाएँ मृतप्राय होरही है। जयपुरकी जैन महापाठशालाका रुपया भी इन्हीं सेठजीने रोकरखा है जिसके कारण रियासतकी ओरसे उसे जो सहायता मिलरही थी वह भी बन्द होगई है। तात्पर्य यह है कि समाजकी ओरसे यथेष्ट दान होते रहने पर भी कोई उपयोगी कार्य नहीं होपाता। आवश्यकता इस बातकी है कि हम लोग दान करनेके साथ यह भी देखनेका कष्ट करें कि उस द्रव्यका सदुपयोग होता है या नहीं, तथा सार्वजनिक द्रव्य हड़प करने वालोंके खिलाफ उचित कार्यवाही कर रुपया निकलवावें तथा उसका उचित उपयोग करें। तभी हमारा दान सफल हो सकता है।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

सांगलीकी तरफ भीलवडी गाँवके अप्पा बाबाजी पटंगे और महू बाबाजी पटंगे नामके दो धूर्त मुनिवेष बनाकर सालमें ६ माह घूमते हैं और भोली जनता से रुपया ऐंठते हैं और बाकी ६ माह घरमें गृहस्थ बनकर मौज करते हैं। रुपया खतम होने पर फिर ६ माहके लिये मुनि बनजाते हैं। न जाने परीक्षा प्रधानताका दावा करनेवाली जैनसमाज यह सब कैसे सहन कर रही है।

—बम्बई शहरमें दिगम्बर जैनसमाजके दो बड़े मंदिर हैं, जिनमें भूलेश्वरका जैनमन्दिर तेरहपंथ आम्नायका बताया जाता है। लेकिन धीरे धीरे गोबरपंथी त्रिवर्णाचारानुयायी लोग उसपर अपना दखल जमा रहे हैं। वहाँ पहिले कईबार आपसमें मुठभेड़ हो चुकी है। अभी कुछ लोगोंने जयपुरसे प्रतिमाएँ बनवाकर मँगवाई तथा शोलापुरमें प्रतिष्ठा कराकर सुखानन्द धर्मशालामें लाकर विराजमान की। वहाँ उनका पंचामृताभिषेक किया गया तथा फल-फूल आदिसे पूजा कीगई। तेरहपंथियोंको यह सहन न होसका। इस पर काफी झगड़ा हुआ और आखिर यह निश्चय हुआ कि इन प्रतिमाओंको भूलेश्वर जैनमंदिरमें विराजमान नहीं किया जावेगा। पहिले सबने इसे मंजूर कर लिया किन्तु बादमें रात्रिके समय चुपचाप ही उन प्रतिमाओंको डिब्बेमें बन्दकर भूलेश्वर मन्दिरमें लाकर विराजमान कर दिया।

—धनशाली जैनसमाज लाखों रुपया प्रतिवर्ष मन्दिरोंमें, साधुओं व संस्थाओंके अर्थ दान देता है किन्तु खेद है कि उनका उचित उपयोग न होनेके कारण समाजका कोई विशेष लाभ नहीं होता। लाखों रुपया सोना चाँदी व जवाहिरातके रूपमें मंदिरोंमें पड़ा हुआ है परन्तु उनकी रक्षाका कोई उचित प्रबन्ध नहीं है और आये दिन मन्दिरोंमें चोरियाँ होती रहती हैं, यहाँतक कि प्रतिमाएँ तक चुराई जाने लगी हैं। अनेक रुपया पंच चौधरियोंके यहाँ जमा कराया जाता है लेकिन वे उसका कोई हिसाब नहीं देते, उलटे उस सार्वजनिक रुपयेके बल पर पंचायती पर अपनी सत्ता जमाते हैं। पंचायतियोंमें जबकभी फूट पड़ जाती है और दो दल हो जाते हैं तब निर्माल्य द्रव्य धर्मरक्षाके नामपर मनमाने रूपमें खर्च किया जाता है—उससे गार्डनपार्टियाँ दी जाती हैं, गोठें होती हैं, सैर सपाटे किये जाते हैं। और निवाली धर्मके ठेकेदार एक सेठजीके विषयमें तो एक बड़ी विचित्र बात सुनी गई है। अपनी लड़कियोंके विवाह में वरपक्षकी ओरसे मन्दिरमें जो उपकरण चढ़ाया जाता है, वह आप अपने घर मन्दिरमें ले लेते हैं तथा बादमें मौका देखकर अपने लड़कोंके विवाहमें उन्हीं उपकरणोंको दूसरी जगह चढ़ा देते हैं, मानो वह उनकी निजी सम्पत्ति ही हो। संस्थाओंके द्रव्य का भी प्रायः यही हाल है। साधारण तौरपर रुपया समाजके धनीमानी सेठ साहूकारोंके यहाँ व्याजके तौरपर जमा कराया जाता है, परन्तु व्याज मिलना तो दूर, कभी कभी असल रुपया ही मारा जाता है या ऐसा जा फँसता है कि वापिस मिलना मुश्किल हो जाता है। अजमेरकी विभिन्न जैन संस्थाओं—औषधालय, पाठशाला, विद्यालय भंडार, आदिका करीब चालीस हजार रुपया श्रीमान रायबहादुर सेठ भागचन्दजीके यहाँ जमा है परन्तु सेठ साहबने अकारणही रुपया रोक रखा है—न व्याज देते हैं और न असल रकम लौटाते हैं—और इस कारण अनेक संस्थाएँ मृतप्राय होरही हैं। जयपुरकी जैन महापाठशालाका रुपया भी इन्हीं सेठजीने रोकरक्खा है जिसके कारण रियासतकी ओरसे उसेजो सहायता मिलरही थी वह भी बन्द होगई है। तात्पर्य यह है कि समाजकी ओरसे यथेष्ट दान होते रहने पर भी कोई उपयोगी कार्य नहीं होपाता। आवश्यकता इस बातकी है कि हम लोग दान करनेके साथ यह भी देखनेका कष्ट करें कि उस द्रव्यका सदुपयोग होता है या नहीं, तथा सार्वजनिक द्रव्य हड़प करने वालोंके खिलाफ उचित कार्यवाही कर रुपया निकलवावें तथा उसका उचित उपयोग करें। तबही हमारा दान सफल हो सकता है।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

"SATYASANDESH" Ajmer. Reg: No. N. 611.

ता० १६ मई सन् १९३५

वर्ष १० अंक १२

स्वतन्त्र पाक्षिक पत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र। एक प्रतिका मूल्य दो आने।

卐 सत्यसन्देश 卐

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

सम्पादक—प्रो० द० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फूलचंद सेठी, अजमेर।

विषय—सूची।

सर्वज्ञता विषयक चर्चा—गत ता० १२ मईको अजमेरमें श्रीमान पं० वंशीधरजी (प्रकाशक जैन-गजट शोलापुर) व पं० दरबारीलालजीके परस्पर सर्वज्ञताके विषयमें मौखिक व लिखित चर्चा हुई थी। उसका पूर्णविवरण इसी अंकमें, खास तौरपर पृष्ठ संख्या बढ़ाकर, आगे दिया गया है। ता० १३ व १४ मईको दिगम्बरत्व व मुक्तिके विषयमें भी चर्चा हुई थी। खेद है कि स्थानाभावसे उनका विवरण इस अंकमें नहीं दिया जासका। पाठक आगामी अंक तकके लिये धैर्य रखें। —प्रकाशक।

वरकी आवश्यकता।

१४ वर्षीया, पढ़ी लिखी, गृहकार्यमें दक्ष, सुन्दर, स्वस्थ कन्याके लिये सुशिक्षित स्वस्थ वरकी आवश्यकता है। वर किसी भी दिगम्बर जैनजातिका हो। उम्र २४–२५ वर्षसे अधिक नहीं होना चाहिये। उच्च शिक्षा प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले वरको विवाह के पश्चात् उचित सहायता भी दी जा सकती है। शिक्षित, सुधारक, स्वस्थ सज्जन ही पत्रव्यवहार करें।
—बी० सी० कोठल, इनकमटैक्स वकील
कटरा बाजार, सागर।

मुनिवेषी नमिसागरजी की विचित्र लीलाऐं—

जैनजगत वर्ष १० अंक १० में प्रकट किया गया था कि मुनिवेषी नमिसागरजी राजमहल (रियासत जयपुर) में हैं तथा सुजाकसे पीड़ित हैं। विशेष अनुसंधान करनेपर मालूम हुआ है कि वे सुजाकसे बुरी तरह सड़ रहे हैं, यहाँ तक कि पेशाब करते समय पेशाबके साथ कीड़े निकलते हैं। देवलीके एक डॉक्टर उनका इलाज कर रहे हैं। जयपुरके सुप्रसिद्ध मुनिभक्त महाशयने कुछ दिन पहिले उनके इलाज के लिये सात सेर नींबू भेजे थे। इनकी लीलाओंका विस्तृत विवरण हमें प्राप्त हुआ है, किन्तु स्थानाभाव से उसका संक्षिप्त सार ही यहाँ दिया जाता है।

ता० ७ मार्चको नमिसागरजी आदि दूनोत पहुँचे। इनके साथमें श्यामाबाई नामकी पचीस वर्षीया युवती रहती है, जो अपने आपको आर्यिका बताती है। इनके आपसमें इतनी घनिष्ठता है कि ये दोनों प्रायः एक ही मकानमें सोते हैं। ता० ८ मार्च को मुनिजीने पहिले मट्ठा पीनेका त्याग कर दिया था, परन्तु श्यामाबाईने सब लोगोंके समक्ष इतना अधिक आग्रह किया—यहाँ तक कि अंतमें प्रेमपूर्ण धमकी दी कि अगर आप मट्ठा न लेंगे तो मैं आज से तीन रोजके उपवास कर जाऊँगी—तो मुनिजी विचलित हो गये और उन्हें प्रतिज्ञा भंगकर मट्ठा पीना पड़ा। आहारके पश्चात् मुनिजीने श्यामाबाईसे कहा—भली आदमन, तेरे आग्रह व उपवास की धमकी ने मुझे मजबूर कर दिया और तेरी खातिर मुझे प्रतिज्ञा भंग करके भी मट्ठा लेना ही पड़ा। उपस्थित लोग इस लीलाको देखकर चकित रह गये। शूद्र कहे जानेवाले जाट अहीर आदि भी हँसी उड़ाने लगे। मुनिजी भी झेंप गये और दूनोतमें पाँच दिन तक ठहरनेकी प्रतिज्ञामें बद्ध होने पर भी दूसरे ही दिन निराहार वहाँसे खिसक गये।

आगे चलकर देवगाँवमें उनके लिये भोजन बनाया गया था किंतु एकाएक वहाँके जमींदारके पुत्र व दामादका मृत्युके समाचार आनेसे गाँव भरमें कुहराम मच गया। लोकनिंदाके खयालसे मुनिजी ने वहाँ आहार नहीं लिया। इस पर श्यामाबाईने जमींदारके घरवालोंसे भी बढ़कर धाड़ें मार मारकर रोना व श्रावकोंको कोसना शुरू कर दिया।

मंडली आगे बघेराके लिये रवाना हुई। दूनोत के श्रावक अबतक इनके साथ थे और इन लोगोंका सामान ढो रहे थे। एकाएक एक श्रावकके हाथसे एक कटोरदान—जिसे श्यामाबाईने अपना बनाया—गिर गया और उसमें से लड्डू बिखर गये। मुनिजी क्रोधावेशमें पहिले ही लाल पीले हो रहे थे, अब इस घटनासे उनका पारा और भी चढ़ गया। मुनिजी लगे श्रावकोंको गालियाँ देने व बुरी तरह फटकारने। श्रावक भयसे थरथर काँपते थे और डर रहे थे कि दुर्वासा ऋषि न जाने क्या शाप दे दें! इधर सूर्पनखा भी भयंकर चीत्कार कर रही थी। ये लोग आगे चलते जाते थे, और पीछे फिर फिर कर श्रावकों पर पिच्छी उठाकर उन्हें कोसते जाते थे। इस गड़बड़झालेमें एकाएक मुनिजीका पैर फिसल गया, वे गिर पड़े और उनका कूल्हा उतर गया। दूनोतके श्रावक डरके मारे इनसे दूर ही चल रहे थे। इन्हें पड़े देखकर इस डरसे कि शायद ये मारनेके लिये बैठ गये हैं वे भी इनसे दूर ही बैठ गये और मुनिजी के पास न गये। आध घंटे तक इंतजारीके बाद जब श्यामाने चिल्लाकर कहा कि—अरे मुओ, महाराज तो बुरी तरह रिपट पड़े हैं जिससे उनका कूल्हा उतर गया है और तुम बैठे बैठे तमाशा देख रहे हो—तो वे पासमें गये और कंधोंके सहारे उन्हें गाँवमें ले गये।

जैनजगत् ने कई मुनिवेषियोंका इतना जबर्दस्त भंडाफोड़ किया है कि आजतक किसीको भी किसी एक भी घटनाका प्रतिवाद करनेका साहस नहीं हुवा है। जैनसमाजके नेता कहे जानेवाले स्वार्थसेवी अवश्य ही जैनजगतको केवल मुनिनिंदक बताकर समाजको धोखेमें डालनेका निष्फल प्रयास करते रहते हैं। जिन धर्मप्रेमी महानुभावोंको अब भी जैनजगतकी सच्चाईमें कुछ भी सन्देह हो वे कृपया स्वयं नमिसागरजीके पास हो आवें और अपने आप सत्यका निर्णय करलें। —प्रकाशक।

अंक १२

वैशाख शुक्ला १३
वीर संवत् २४६१

ता० १६ मई
सन् १९३५ ई०

भगवती अहिंसा ।

माता करदे जग पर छाया ।
तेरे बिना न कभी किसीने थोड़ा भी सुख पाया ॥
माता करदे जग पर छाया ॥
जब पशुसे था अधिक न मानव,
सब मनुष्य थे राक्षस दानव ।
'जिसकी लाठी, भैंस उसीकी' एक यही था न्याय ।
यत्र तत्र सर्वत्र भरी थी बस गरीब की हाय ॥
करती तेरा मूकाह्वान,
तेरा नाम न था था ध्यान ।
तूने ही उस घोर निशामें निज प्रकाश फैलाया ।
माता करदे जग पर छाया ॥१॥

माता करदे जग पर छाया ।
हिंसा दुष्ट डाँकिनी अपनी फैलाती है माया ।माता०
अपना नाना रूप बनाकर,
मंदिरमें मसजिदमें जाकर ।
नंगा तांडव दिखलाती है अट्टहास्यके साथ ।
धर्म नाम लेकर धर्मों पर फेर रही है हाथ ॥
करदे उससे पूर्ण विरक्ति ।
दिखला उसको अपनी शक्ति ॥
करदे क्रूर राक्षसी हिंसाका सब तरह सफ़ाया ।
माता करदे जग पर छाया ॥२॥

माता करदे जग पर छाया ।
निर्दयताने नग्न नाचने कैसा रूप बनाया ।माता०।
वैभवकी बिजली चमका कर ।
चढ़कर स्वार्थभावके रथ पर ॥
नचा रही है और विश्वका करती है आखेट ।
पीठ न कुचली जाती जितना कुचला जाता पेट ॥
रक्खा पूर्ण सभ्यता वेष ।
पर प्राणोंको किया अशेष ॥
रखकर देवीवेष राक्षसीने क्या प्रलय मचाया ।
माता करदे जग पर छाया ॥३॥

माता करदे जग पर छाया ।
वैर स्वार्थ संकुचित वासनाओंने जगत् सताया ।माता।
कहीं सम्प्रदायों को लेकर ।
कहीं जातिकी दुहाइ देकर ॥
कहीं रंग पर कहीं राष्ट्र पर मरता मानव आज ।
कृत्रिम स्वार्थोंके चक्करसे है चकचूर समाज ॥
सुरगति नरक बनी है हाय ।
यदि तू किसी तरह आजाय ॥
तो फिर नरक स्वर्ग बन जावे बदले सारी काया ।
माता करदे जग पर छाया ॥४॥

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

सूक्ष्म ।

पढ़ी पुस्तकें बहुत मगर,
मिल सका न मुझको सम्यग्ज्ञान ।
नाना आसन लगा लगाकर,
ध्यान किया पर लगा न ध्यान ॥
दुनियाँ भरके मंत्र जपे,
पर हुई नहीं दुःखों की हानि ।
जपता यदि निःपक्ष हृदयसे,
सत्यदेव, मिलती सुख खानि ॥

—सत्यभक्त ।

जैनधर्मका मर्म ।

(६२)

गृहस्थों के मूलगुण ।

महात्मा महावीर ने जब जैनधर्मकी पुनर्घटना की और एक नयी संस्थाको जन्म दिया, तब उनने आचारके जो नियम बनाये थे वे साधुओंको लक्ष्यमें लेकर थे; क्योंकि साधुसंस्था ही प्रारम्भमें व्यवस्थित संस्था थी। पीछे गृहस्थोंके लिये भी कुछ नियम बने। परन्तु ज्यों ज्यों समय निकलता गया त्यों त्यों गृहस्थोंके लिये अनेक तरहके विधिविधानोंकी आवश्यकता होती गई। जिस प्रकार मुनियोंके मूलगुण थे उसी प्रकार चारित्रकी दृष्टिसे श्रावकोंके मूलगुण की भी जरूरत हुई। परन्तु मुनियोंके समान श्रावकों को एकरूप बनाना असंभव था, इसलिये श्रावकोंके लिये अनेक तरहके मूलगुण मिलते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें गृहस्थोंके मूलगुणोंका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, इससे भी मालूम होता है कि इन मूलगुणोंका निर्माण दिगम्बर-श्वेताम्बर भेद हो जानेके बाद हुआ था। इसलिये देशकालके अनुसार इनका वर्णन भी जुदा जुदा मिलता है यहाँ सबका जुदा जुदा वर्णन क्रमशः दिया जाता है।

१—१-५ पाँच अणुव्रत, ६ मद्यत्याग, ७ मांसत्याग ८ मधुत्याग। —समन्तभद्र *

२—१-५ पाँच अणुव्रत, ६ मद्यत्याग, ७ मांसत्याग ८ द्यूतत्याग। —जिनसेन †

३—१-८ मद्य, मांस, मधु, ऊँबर, कठूम्बर, बड़फल, पीपरफल, पाकरफल, इन आठका त्याग। —सोमदेव §

४—१ मद्यत्याग, २ मांसत्याग ३ मधुत्याग, ४ रात्रिभोजनत्याग, ५ ऊँबर आदि पाँचफलोंका त्याग ६ अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुको नमस्कार, ७ जीवदया, ८ पानी छानकर पीना। —आशाधर ‡

कालक्रमसे इन मतोंका उल्लेख यहाँ किया गया है। अन्य आचार्यों ने भी इन मतोंका उल्लेख किया है, तथा और भी इस विषयमें मत होंगे।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि चारित्रके नियम द्रव्य-क्षेत्र कालभावके अनुसार होते हैं। हरएक धर्मके नियम इस बातकी साक्षी देते हैं। जैनधर्ममें भी यह बात पाई जाती है। मूलगुणोंकी विविधता भी इस बातका एक प्रमाण है। अपने अपने समयके अनुसार बननेवाले चार नियम ऊपर बताये गये हैं, परन्तु आजके लिये वे सब पुराने हैं इसलिये वर्तमान देशकालके अनुसार नये मूलगुण बनाना चाहिये।

मूलगुणोंके विषयमें इतना और समझना चाहिये कि ये व्रती होनेकी कमसे कम शर्तके रूपमें हैं। ये जैनत्वकी शर्त नहीं हैं; क्योंकि अष्टमूलगुणोंका पालन किये बिना भी कोई जैनी बनसकता है, जिसे कि अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। हाँ, मूलगुणोंमें से कुछ ऐसी बातें चुनीं जासकती हैं, जो जैनत्वकी शर्त के रूपमें रक्खी जासकें। खैर, आजकल मूलगुण निम्नलिखित होना चाहिये—

१ सर्वधर्मसमभाव, २ सर्वजातिसमभाव, ३ सुधारकता (विवेक), ४ प्रार्थना, ५ शील, ६ दान, ७ मांसत्याग, ८ मद्यत्याग।

१—सर्वधर्मसमभावका दूसरा नाम स्याद्वादिता है। किसी धर्मसे द्वेष न करना, उसमें जो जो भलाइयाँ हों उनको सादर ग्रहण करना, विधर्मी होनेसे

* मद्यमांसमधु त्यागैः सहाणुव्रतपंचकम्।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमाः।

† हिंसासत्यस्तेयादब्रह्मपरिग्रहाच्च बादरभेदात्।
द्यूतान्मांसान्मद्याद्विरतिर्गृहिणो ऽष्ट सन्त्यमी मूलगुणाः॥

§ मद्यमांसमधुत्यागैः सहोदुम्बरपंचकैः।
अष्टावेते गृहस्थानामुक्ता मूलगुणाः श्रुते।

‡ मद्यपलमधु निशाशन पंचफली विरतिपंचकाप्तनुती।
जीवदया जलगालन मिति च क्वचिदष्ट मूलगुणाः।

प्राणी हैं। इसी तरहसे और भी विचार करना चाहिये। ऐसे देशोंके लिये इस मूलगुणका नाम मांस-मर्यादा होगा।

८—मद्यत्याग भी आवश्यक है, क्योंकि मद्यपायीका जीवन अनुत्तरदायी तथा पागलके समान हो जाता है। हाँ, औषधके लिये मद्यबिन्दुका सेवन करना पड़े तो इससे मूलगुणका भंग नहीं होता। तथा जिन शीतप्रधान देशोंमें दूध और चा की तरह मद्यपान किया जाता है, वहाँ अगर इसका त्याग न हो सके तो भी मर्यादा बना लेना चाहिये और इतनी शराब कभी न पीना चाहिये जिससे मनुष्य भान भूलकर पागल सरीखा हो जावे। ऐसे देशोंके लिये इस मूलगुणका नाम मद्यत्यागके स्थान पर मद्य-मर्यादा होगा।

मूलगुणोंमें जिन जिन नियमोंमें अपवाद बताया गया है या छूट दी गई है, वहाँ पर यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि वह छूट या अपवाद व्यसनका रूप न पकड़ ले। जीवनके लिये जो कार्य आवश्यक नहीं है, फिर भी जो पाप कार्य इस प्रकार आदतका रूप पकड़ लेते हैं कि जिसके बिना बेचैनीका अनुभव होने लगता है, उसे व्यसन कहते हैं। इस प्रकारके दुर्व्यसनोंका मूलगुणीको त्यागी होना चाहिये।

जैनशास्त्रोंमें जुआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी, परस्त्रीके विषयको लेकर सात व्यसन बताये गये हैं। व्यसनोंकी संख्या कितनी भी हो, उसका सार वही है जो ऊपर कहा जा चुका है। स्पष्टताके लिये सातकी गणना कर दी गई, यह ठीक है। मूलगुणीको इनका त्यागी होना चाहिये। हाँ, जुआ शब्दके स्पष्टीकरणमें यह कह देना उचित मालूम होता है कि हार जीतकी कल्पनासे ही जुआ नहीं हो जाता, किन्तु जब जुआ धन पैसेसे खेला जाता है तब जुआ कहलाता है। अन्यथा स्वास्थ्य, शिक्षा आदि विषयोंकी अच्छी प्रतियोगिताएँ भी जुआ कहलाने लगेंगी; अथवा मनोविनोदके लिये कोई खेल भी जुआ कहलाने लगेगा। जुआ शब्दका इतना व्यापक अर्थ करना ठीक नहीं है, क्योंकि जुआ की जो विशेष हानियाँ हैं वे उपर्युक्त प्रतियोगिताओं या खेलोंमें नहीं पाई जातीं।

वर्तमान परिस्थितिके अनुसार ये आठ मूलगुण बताये गये हैं। देशकालपात्रके भेदसे इनमें न्यूनाधिकता तथा नामोंमें परिवर्तन किया जासकता है।

जैनत्व।

मैं पहिले कहचुका हूँ कि मूलगुण व्रती होनेकी पहिली शर्त है; परन्तु व्रती हुए बिना जैन बनसकता है। जैनसम्प्रदायमें जन्म लेनेसे जैनमें गिनती हो सकती है, परन्तु वास्तवमें वह सच्चा जैन नहीं बन सकता। सच्चा जैन होनेके लिये उसमें अमुक गुण होना चाहिये। व्रतादि उसमें हों या न हों, परन्तु अमुक तरहकी भावना तो होना ही चाहिये जिससे वह जैन कहा जा सके।

ऊपर जो मूलगुण बताये गये हैं उनमेंसे प्रारम्भ के तीन मूलगुण जैनत्वकी शर्तके रूपमें पेश किये जा सकते हैं।

१—सर्वधर्मसमभाव, २—सर्वजातिसमभाव, ३—सुधारकता (विवेक)

आवश्यकता तो इस बातकी है कि प्रत्येक जैन आठ मूलगुणोंका पालन करे परन्तु अगर किसी कारणवश न कर सकता हो तो जैनत्वकी लाज रखनेके लिये कमसे कम इन तीन गुणोंका पालन तो अवश्य करे। और जहाँ तक बनसके प्रार्थनामें शामिल अवश्य होवे। प्रतिदिन न होसके तो सप्ताहमें एक दिन अवश्य होवे।

नित्य कृत्य।

प्रत्येक धर्मसंस्थाके सदस्योंके लिये कुछ ऐसे साधारण नित्यकृत्य नियत किये जाते हैं जिनसे उस संस्थाकी संघटना बनी रहती है और उसके आश्रित रहकर उसके सदस्य आत्मोन्नति तथा परोन्नति करते रहते हैं। ऐसे कृत्य संस्थाके साथ ही पैदा नहीं हो जाते किन्तु धीरे धीरे पैदा होते हैं, और कभी

कभी तो वे पूर्ण रूपमें प्रचलित भी नहीं हो पाते।

जैनशास्त्रोंमें, खासकर दिगम्बर जैनशास्त्रोंमें, इस प्रकारके छः दैनिक कृत्योंका वर्णन मिलता है। १-देवपूजा, २-गुरूपास्ति, ३-स्वाध्याय, ४-संयम, ५-तप, ६-दान।

इनमेंसे स्वाध्याय, संयम, तप और दान—इन चारका वर्णन पहिले अच्छी तरह किया जा चुका है इसलिये यहाँ इनके विवेचनकी जरूरत नहीं है। रही देवपूजा और गुरूपास्ति; इनमेंसे भी गुरूपास्ति की आज जरूरत नहीं है जिनमें वास्तवमें गुरुत्व है उनको हर तरह सहायता पहुँचाना प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है; परन्तु यह तो पात्रदानमें आजाता है इसलिये अलग उल्लेख करना अनावश्यक है। इससे अधिक गुरूपास्ति आवश्यक नहीं है। कमसे कम वह नित्यकृत्यमें नहीं रक्खी जासकती।

अब रही देवपूजा, सो देव कहीं मिलता तो है नहीं, भूत कालके गुरु या महागुरु ही देवके रूपमें माने जाने लगते हैं। महात्मा महावीर आदि महागुरु ही आज देवके रूपमें माने जाते हैं और देव-पूजाके नामपर उनकी मूर्तियोंकी पूजा की जाती है। हम ऐसे महागुरुओंकी तथा जिन गुणोंके कारण वे महागुरु बने उन गुणोंको देवके स्थान पर पूजें तो अनुचित नहीं है। परन्तु इसके विषयमें तीन तरहके सुधारोंकी आवश्यकता है १-देवपूजाके वर्तमानरूपको बदल देना चाहिये। २ पूजाके विषय में अधिकार अनधिकारका जो प्रश्न है, उसके विषय में प्रतिबन्ध उठा लेना चाहिये। ३ देवपूजाका अर्थ व्यापक करना चाहिये। इन तीनोंका संक्षेपमें स्पष्टीकरण इस प्रकार है।

१—देवपूजाका वर्तमान रूप विकृत है। अभिषेक, आँगी, पकान्न चढ़ाना आदि उसमें समयके प्रवाहके कारण मिलगये हैं। जैनधर्ममें महावीर आदि की, यद्यपि एक महात्मा या तीर्थंकरके रूपमें ही मान्यता है तथापि लोगोंके हृदयमें ऐश्वर्यकी जो अमिट छाप है उसके कारण वे अगर महात्माओंकी उपासना भी करते हैं तो वे उन्हें ईश्वर बनाकर छोड़ते हैं। उनके बाह्य वैभवों और अतिशयोंकी कल्पना करके वे उन्हें मनुष्यकी श्रेणीसे निकालकर बाहर कर देते हैं। उनके जीवनकी अद्भुत कहानियाँ गढ़ डालते हैं और फिर उनके स्मरणमें नाना तरह की क्रियाएँ रचते हैं।

मूर्तियोंके अभिषेक आदि ऐसी ही अवैज्ञानिक सी हीन भक्तिकल्प्य घटनाओंके स्मारक हैं। उनकी आज जरूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त मूर्तियोंका श्रृङ्गार पूजाका अंग न बनाना चाहिये। रंगमंचके ऊपर नेपथ्यका काम करना जैसे कलाहीन और भद्दा है उसीप्रकार पूजामें मूर्तियोंका सजाना भी अनुचित है। जो कुछ करना हो पूजाके पहिले ही एकान्तमें कर लेना चाहिये। साथ ही उसके अनुरूप ही सजावट करना चाहिये। महात्मा महावीर, महात्मा बुद्ध आदिकी मूर्तियों पर मुकुट आदि लगाना उनके श्रमण-जीवनकी हँसी करना है। हाँ महात्मा राम, महात्मा कृष्ण आदिकी मूर्तियोंपर यह सजावटकी जाय तो किसी तरह क्षन्तव्य है, परन्तु उनपर भी राजोचित श्रृङ्गार विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम होता। म० रामचन्द्रकी महत्ता उनके वनवासी जीवनमें है और म० कृष्णकी महत्ता महाभारतके सारथी-जीवन में है; इसलिये उस समयके अनुरूप ही उनका श्रृङ्गार होना चाहिये। जैनमूर्तियोंमें म० महावीरकी मूर्ति तो नग्न ही बनाना चाहिये। अगर मूर्ति खड़ी हो तो उसपर लँगोटीका चिन्ह बनाया जाय। म० पार्श्वनाथकी मूर्ति म० बुद्धकी तरह सवस्त्र बनाना चाहिये; तथा यह नियम रक्खा जाय कि श्रमण महात्माओं की मूर्तियों पर अलङ्कार नाम मात्रको भी न हो।

द्रव्यपूजाके नामपर भोजनकी सामग्री चढ़ाने तथा पुजारी या माली आदिको देनेका रिवाज है, वह कमसे कम जैनसमाजमें से तो दूर होना चाहिये। पुराने जमानेके लोगोंने मन्दिरका प्रबन्ध करने के लिये यह चतुरतापूर्ण योजना की थी। परन्तु आज इसमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है।

पहिले जमानेमें सिक्केका रिवाज नहीं के बराबर था। ग्रामोंमें तो सिक्केको लोग बहुत कम जानते थे सिक्केका काम अनाजसे लिया जाता था इसलिये मन्दिरके प्रबन्धके लिये भी लोगोंसे अनाज लिया जाने लगा। इसलिये नानारूपमें भोजनसामग्री चढ़ने लगी। परन्तु इससे बहुत गंदगी फैलती है तथा खर्च तो बहुत किया जाता है और मिलने वालेको मिलता थोड़ा है, इसलिये आजकल तो गोलकका रिवाज ही अच्छा है। भारतवर्षमें तो पाई या आधे पैसेका भी सिक्का चलता है और इतना दान तो हर एक आदमी दे सकता है इसलिये इसीका रिवाज डालना चाहिये। मुट्ठी मुट्ठी अनाजका तथा पकान्न के चढ़ानेका रिवाज बन्द कर देना चाहिये।

मन्दिरकी सफाईके लिये जो नौकर रक्खा जाय उसे वेतन दिया जाय और उसके लिये गोलकके पैसेका उपयोग किया जाय या चन्दा लिया जाय। इस प्रकार द्रव्यपूजाके इस रूपमें परिवर्तन करनेकी आवश्यकता है।

२—पूजा तो ब्राह्मण या उपाध्याय ही कर सकता है, या पुरुष ही कर सकता है—इस प्रकारके प्रतिबन्ध उठा देना चाहिये। यद्यपि देवपूजाके विषयमें पहिला सुधार कर देनेसे इस प्रतिबन्धके रखने या उठाने की जरूरत न रह जायगी, फिर भी सैद्धान्तिक रूप में यह घोषित कर देना चाहिये कि पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या शूद्र अमीर हो या ग़रीब, सबको देवपूजाका समान अधिकार है।

बहुतसे स्थानोंपर स्त्रियोंको पूजा नहीं करने दी जाती अथवा मूर्तिको नहीं छूने दिया जाता। यह अन्याय है और यह बात जैनशास्त्रोंके भी प्रतिकूल है। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें तो स्त्रियोंको तीर्थंकर तक माना है, सैकड़ों स्त्रियोंके मुक्त होनेका उल्लेख है, इसलिये देवपूजाका निषेध किया जाय, यह तो हो ही नहीं सकता। *दिगम्बर सम्प्रदायमें यद्यपि दिगम्बरत्वके कट्टर आग्रहसे तथा समयके प्रवाहसे स्त्रीमुक्तिका* निषेध किया गया तथापि स्त्रियोंके द्वारा देवपूजाके बहुतसे उल्लेख मिलते हैं—पद्मपुराणमें रावणकी पत्नियाँ, अञ्जनासती, चन्द्रनखा विशल्या आदि; आदिपुराणमें सुलोचना आदि; हरिवंशपुराणमें गन्धर्वसेना, सुभद्रा, जिनदत्ता, अर्हद्दास सेठकी पत्नी आदि; शान्तिपुराणमें स्वयंप्रभा आदि।

इनमें से कुछने अकेले पूजा की है, कुछने पति के साथ। कुछके विषयमें तो उनके द्वारा मूर्तिस्थापन तथा अभिषेक होनेका स्पष्ट उल्लेख है।

ये सब उदारतापूर्ण बातें शास्त्रोंमें मिलती हैं। अगर कदाचित् न मिलतीं होतीं तो भी न्यायकी रक्षाके लिये इनका रखना आवश्यक था। समताका विघातक अनुचित प्रतिबन्ध कदापि न होना चाहिये। इसी प्रकार शूद्रोंके बारेमे भी समझना चाहिये। जब उन्हें मोक्ष जाने, संयम पालने, व्रत लेनेका अधिकार है तब पूजाका अधिकार कौनसा बड़ा अधिकार है?

३—देवपूजाके लिये मूर्तिका अवलम्बन मानकर उसका उपयोग किया जाय यह अच्छा है, परन्तु यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि मूर्ति आदिके अवलम्बनके बिना भी पूजा हो सकती है। जहाँ तक सम्भव हो सामाजिकताको बढ़ानेके लिये, वात्सल्यकी स्थिरताके लिये, सामूहिक प्रार्थना करना चाहिये। अगर यह सम्भव न हो तो प्रार्थनाके लिये सार्वजनिक स्थान, मन्दिर, स्थानक, आदिमें जाना चाहिये। अगर इतना भी न हो तो कहीं भी प्रार्थना करना चाहिये। इस प्रकारकी प्रार्थनाएँ वास्तवमें देवपूजा ही हैं।

श्रावकोंके इन छः कृत्योंमें से गुरूपास्तिकी तो जरूरत ही नहीं है अथवा उसे दानमें शामिल कर सकते हैं। संयम कोई खास दैनिककृत्य नहीं है, वह तो मूलगुणादिकके रूपमें सदा रहता है। तपको भी दैनिक कृत्य बनानेकी आवश्यकता नहीं है। किसी की इच्छा हो तो वह भले ही करे। इसप्रकार नित्य-*कृत्योंकी संख्या तीन रह जाती है—प्रार्थना, स्वाध्याय और दान। प्रार्थनाका सम्बन्ध सम्यग्दर्शनसे है, स्वाध्यायका सम्बन्ध ज्ञानसे है और दानका सम्बन्ध*

सम्यक्चारित्रसे है। इस प्रकार ये तीन दैनिककृत्य उपयोगी भी हैं, सरल भी हैं। जीवनके किसी कार्यमें विशेष बाधा डाले बिना इनका अच्छी तरहसे पालन किया जा सकता है, इसलिये इनका पालन अवश्य करना चाहिये।

विरोधी मित्रोंसे।

(२९)

आक्षेप (१०५)-क्षायोपशमिक लब्धियोंमें तो इच्छा रहती है, इसलिये उपयोग बदलता है; परन्तु केवलज्ञानीके इच्छा नहीं होती इसलिये उपयोग कैसे बदल सकता है? दानादि लब्धियाँ बिना उपयोगके भी रहती हैं, इसका कारण यह है कि उनके लिये अन्य बातोंकी भी आवश्यकता है।

समाधान—केवलियोंके इच्छा होती है कि नहीं? बिना इच्छाके भी क्या कोई कुछ काम कर सकता है? इच्छा और कषायमें क्या अन्तर है? आदि बातें स्वतन्त्र विचारके विषय हैं। यहाँ तो यही कहना है कि उपयोगहीन होनेसे ही कोई शक्ति नष्ट नहीं कहलाती। जैसे उपयोगहीन होने पर भी क्षायोपशमिक लब्धियोंका सद्भाव रहता है, उसी प्रकार केवलज्ञानका भी सद्भाव रहेगा।

परनिमित्तके बिना ज्ञान नहीं हो सकता, यह बात मैंने सयुक्तिक सिद्ध की है; इसलिये दानादि लब्धियोंके समान केवलज्ञानको भी परनिमित्तकी आवश्यकता होगी।

आक्षेप (१०६)—सहवादकी मान्यता अतिप्राचीन है, यह बात आचार्य कुन्दकुन्दके नियमसार गाथासे स्पष्ट करचुके हैं। युक्तियाँ भी इसका समर्थन करती हैं। ज्ञान और दर्शन, ये दो स्वतंत्रगुण नहीं, किन्तु चेतना गुणकी पर्याय हैं। जिससमय चेतनागुण स्वातिरिक्त अन्य ज्ञेयोंसे असम्बन्धित होकर केवल अपना ही प्रकाश करता है, उस समय उसको दर्शन कहते हैं। जब यही अपने प्रकाशके साथ ही साथ अन्य ज्ञेयोंका भी प्रकाश करता है उससमय इसीको ज्ञान कहते हैं।

समाधान—सहवादकी मान्यता भले ही प्राचीन हो, परन्तु क्रमवादकी मान्यता कम प्राचीन नहीं है। श्री सिद्धसेन दिवाकरने इसका उल्लेख किया है और आगमका मत कहकर उल्लेख किया है। खैर, यहाँ तो आपके वक्तव्यका आपके ही वक्तव्यसे खंडन होता है। दर्शन और ज्ञान जब कि पर्याय हैं तब उनका सहवाद कैसे बन सकता है? क्योंकि एक समयमें एक गुणकी दो पर्यायें नहीं होतीं। अन्यथा उनकी पर्यायता ही नष्ट हो जायगी।

जैनशास्त्रोंमें दर्शन और ज्ञानकी परिभाषाएँ दो तरहकी हैं। पहिलीके अनुसार सामान्यग्रहण दर्शन, विशेषग्रहण ज्ञान है। दूसरीके अनुसार आत्मग्रहण दर्शन, और परग्रहण ज्ञान है। इन दोनों ही परिभाषाओंके अनुसार सहोपयोग नहीं बन सकता। मेरे दिये हुए दोषोंसे बचनेके लिये ही पं० राजेन्द्रकुमारजीने दर्शनज्ञानकी परिभाषामें संशोधन किया है। खैर, मेरा उत्तर देनेके लिये ही अगर कोई जैनशास्त्रोंमें संशोधन करता है तो भी मैं स्वागत करता हूँ। यदि पं० राजेन्द्रकुमारजी अपनी परिभाषाको जैनशास्त्रोंकी परिभाषा समझते हैं तो उन्हें वह परिभाषा किसी शास्त्रसे उद्धृत करके बतलाना चाहिये। खैर, यहाँ मैं उनकी परिभाषा मानकर ही उत्तर देता हूँ।

आपकी परिभाषाके अनुसार भी केवलज्ञानके समय केवलदर्शन नहीं हो सकता, क्योंकि आपके मतानुसार ही केवली त्रिकालत्रिलोकको प्रतिसमय विषय करता है इसलिये स्वातिरिक्त अन्य पदार्थोंसे असम्बन्धित होकर केवल अपना ही प्रकाश वह कैसे कर सकता है? वह आत्मप्रकाशके साथ परप्रकाश अवश्य करेगा और दर्शनमें तो परप्रकाशरहित आत्मप्रकाश होना चाहिये जोकि केवलीके नहीं मिल सकता। इसलिये केवलदर्शनके उपयोग

का उसमें अभाव ही रहा। इसलिये सहोपयोगवाद भी न बन सका तथा उपयोगरहित लब्धिके सद्भाव को सिद्ध करने वाला एक जबर्दस्त प्रमाण और मिल गया।

आक्षेप (१०७)—घातिया कर्मोंका नाश होते समय आत्माकी अवस्था ध्यानावस्था होती है। तथा ध्यानावस्थामें चैतन्य गुणका परिणमन ज्ञानस्वरूप ही रहता है, इसलिये अगाड़ी भी इसकी अवस्था ज्ञानस्वरूप ही रहती है।

समाधान—आपने यह बात इस शंकाके समाधानमें कही है कि "घातिया कर्मोंके नाशके समय चैतन्यगुणका जैसा परिणमन होता है वैसा ही सदैव रहता है; यदि यह बात है तो उससमयके चैतन्य गुणके परिणमनको ज्ञानस्वरूप ही क्यों मानाजाय?"

इसके उत्तरमें आपने जो उपर्युक्त वक्तव्य (आक्षेप १०७) उपस्थित किया है उससे सिद्ध है कि अर्हन्त सिद्धके उपयोगको आप ज्ञानस्वरूप ही मानते हैं। यह 'ही' ही सहोपयोगवादके निषेधके लिये पर्याप्त है। परन्तु यहाँ तो आपने एक और आपत्ति खड़ी कर ली है। प्रश्न यह है कि घातिकर्म नाशके समय एकत्व वितर्क शुक्लध्यानकी अवस्थाका ज्ञानोपयोग नष्ट होता है कि नहीं? यदि नहीं होता, तब तो त्रिकाल-त्रिलोकका प्रतिभास हो ही नहीं सकता क्योंकि एकत्व वितर्क शुक्लध्यानमें तो किसी एक पदार्थपर ही ध्यान स्थिर होता है इसलिये घातिकर्म नाश होनेपर उसी पर अनन्तकाल तक स्थिर रहना चाहिये। यदि वह ज्ञानोपयोग नष्ट हो जाता है तब उसके बाद ज्ञानोपयोग ही क्यों होता है? दर्शनोपयोग क्यों नहीं? —यह शंका खड़ी ही रह जाती है।

सच पूछा जाय तो पं० राजेन्द्रकुमारजीके मतानुसार एकत्व वितर्क शुक्लध्यानकी ध्यानावस्था अनंतकाल तक स्थिर रहना चाहिये, जिस प्रकार कि प्रदेशोंकी अवस्था स्थिर रहती है। प्रदेशोंकी अवस्था का वर्णन पं० राजेन्द्रकुमारजी के शब्दों में ही रखता हूँ—

"आत्मामें प्रदेश गुण है जिसके कारण इसका कुछ न कुछ आकार अवश्य रहता है तथा रहेगा। जबतक यह आत्मा शरीरमें रहता है तबतक शरीर के छोटे बड़ेपनसे इसके आकारमें भी विभिन्नता आती रहती है। जिस समय यह शरीर-बन्धनको दूर कर देता है और मुक्त हो जाता है उस समय इसका जैसा आकार होता है वैसा ही अनन्तकाल रहता है।"

प्रदेश गुणकी यही बात ज्ञानके विषयमें भी लगाना चाहिए। ज्ञानावरणका बन्धन चले जानेपर ज्ञानको भी उसी अवस्थामें रह जाना चाहिये जिस अवस्थामें वह ज्ञानावरण नाशके समय अर्थात् ध्यानावस्थामें था। इस प्रकार आक्षेपकका उदाहरण और उनका तर्क उनके ही वक्तव्यमें बड़ी भारी बाधा उपस्थित करता है।

पुरुषार्थ।

जब मुझसे हो सका न कुछ भी
देने लगा दैव को दोष।
मैं कायर कर सका न कुछ भी
किया जगत् पर निष्फल रोष॥
यदि करता पुरुषार्थ, दैव को
नाकों चने चबवाता आज।
पुरुषार्थी के लिये दैव भी
सज्जित रखता सारे साज॥

—सत्यभक्त

"वैद्य" के फ़ाइल बिलकुल मुफ्त—"सत्यसंदेश" के ग्राहकोंको "वैद्य" के ९, १०, ११, १२, १३ और १४ वें वर्ष के फाइलोंमेंसे कोई सा भी एक फाइल (जिसकी पृष्ठ संख्या साढ़े तीनसौसे अधिक है) केवल डाकखर्च केलिये सवा छः आनेके टिकिट भेजने पर बिलकुल मुफ्त भेज दिया जावेगा।
—व्यवस्थापक वैद्य, मुरादाबाद।

उत्तराध्ययनसूत्र व पाली वैधिक-ग्रन्थों पर एक तुलनात्मक दृष्टि ।

(लेखक- -श्रीमान् प्रोफ़ेसर पी० वी० बापट, M.A.)

महावीर (वर्द्धमान), जिनको बौद्धग्रन्थोंमें प्रायः 'निगन्थ नातपुत्त' कहा गया है, गौतमबुद्धके समकालीन थे—इसमें अब किसीको भी सन्देह नहीं रहा है। बौद्धोंके पाली साहित्यमें हमें यथार्थ रूपमें गौतम के समकालीन जिन छह दार्शनिक आचार्योंका उल्लेख मिलता[1] है, निगन्थ नातपुत्त उनहीं में से एक हैं। अतः उन पर एक दूसरेके दार्शनिक विचारों, धार्मिक तत्त्वों, चारित्र सम्बन्धी आदर्शों, तथा शब्द-रचनाकी भिन्न भिन्न रीतियों व आचारोंका अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। हम इस संक्षिप्त लेख द्वारा जैनियोंके मूलसूत्र उत्तराध्ययन, व बौद्धोंके प्राकृत ग्रंथों की आचार व विचार विषयक कुछ समानताओं पर प्रकाश डालेंगे।

हम उन समानताओं पर दो दृष्टियोंसे विचार करेंगे—एक तो विषय (Matter) की दृष्टिसे, दूसरे आचार व रीति (Manner) की दृष्टिसे।

(१) विषय (Matter) की दृष्टिसे हमें मुनि-चारित्र, स्त्रियोंके प्रति मुनिकी वृत्ति, ब्राह्मणत्वकी कल्पना, आत्मनिग्रहका महत्त्व तथा अन्य कई महत्वपूर्ण विचारोंके विषयमें आश्चर्यजनक समानताएँ मिलती हैं जिनको क्रमसे नीचे लिखा जाता है:—

(क) मुनिका स्थूल चारित्र।

भले ही कोई मुनिके प्रति कर्कश व कठोर शब्द मुखसे निकाले, परन्तु मुनिको अश्लील व कटु शब्दों का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये; उसे चाहिये कि वह सदैव सहिष्णुता सहनशीलता द्वारा ही दुर्वचनोंसे अपनी रक्षा करे—

अक्कोसिज्ज परो भिक्खुं न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होई बालाणं तम्हा भिक्खू न संजले॥
(उत्तरा० II, 24)

सोच्चाणं फरुसा भासा दारुणा गामकंटया।
तुसिणीओ, उवेहेज्जा न ताओ मणसीकरे॥
(Ibid II, 25)

हओ न संजले भिक्खु मणं पि न पओसए।
तितिक्खं परमं नच्चा भिक्खुधम्मं विचिंतए॥
समणं संजयं दन्तं हणेज्जा को वि कत्थइ।
नत्थि जीवस्स नासोत्ति एवं पेहिज्ज संजए॥
(Ibid II,26-27)

निम्नलिखित पद भी यहां भाव दर्शाते हैं—

पठवीसमो नो विरुज्झति इन्दखीलूपमो तादि सुब्बतो।
रहदो व अपेतकद्दमो संसारा न भवन्ति तादिनो॥
(धम्मपद ९५)

खंती परमं तपो तितिक्खा निब्बाणं परमं वदन्ति बुद्धा।
न हि पब्बजितो परूपघाती समणो होति परं विहेठयन्तो॥
(ध १८४)

सुत्वा रुसितो बहुं वाचं समणानं पुथुवचनानं।
फरुसेन ने न पटिवज्जा न हि सन्तो पटिसेनिकरोन्ति॥
(सु० नि० ९३२)

न ब्राह्मणस्स पहरेय्य नास्स मुञ्चेथ ब्राह्मणो।
धी ब्राह्मणस्स हन्तारं ततो धी यस्स मुञ्चति॥
(ध० ३८९)

इस श्लोकमें 'ब्राह्मण' शब्दका प्रयोग उस व्यक्तिके लिये नहीं किया गया है जो मात्र जन्मसे ही ब्राह्मण हो, वरन यहाँ सर्वोत्तम व सर्वप्रतिष्ठित व्यक्तिके लिये इसका प्रयोग हुआ है।

कहा है कि मुनिको आदर व प्रतिष्ठाकी तनिक भी इच्छा न रखनी चाहिये।

णो सक्किअमिच्छई न पूअं (उत्तरा० XV 5)
अच्चणं रयणं चेव वंदणं पूअणं तहा।
इड्ढीसक्कार सम्माणं मणसा विन पत्थए॥
(उ० XXXV, 18)

असतं भावन मिच्छेय्य पुरक्खारं च भिक्खुसु।
आवासेसु च इस्सरियं पूजा परकुलेसु च॥

---

[1] देखो Digh 2, 29-30.

ममेव कतमञ्जन्तु गिही पब्बजिता उभो ।
ममेव अतिवसा अस्सु किच्चाकिच्चेसु किस्मिच ॥
इति बालस्स संकप्पो इच्छा मानो च वड्ढति
(ध० ७३-७४)

मुनिको अपने मार्गमें अपनी किसी भी वस्तु (जो उसके अधिकारमें हो) के कारण कोई बाधा नहीं आने देना चाहिये; वरन् उसको एक पक्षीकी भाँति स्वतन्त्र रहना चाहिये ।

पक्खी पत्तं समादाय निरविक्खो परिव्वए
(उ० VI, 16)

सेय्यथा पि महाराजपक्खी सकुणो येन येनेव डेति सपत्तभारो व डेति, एवमेव खो महाराज भिक्खु सन्तुट्ठो होनिकायपरिहारकेन चीवरेन कुच्छिपरिहारकेन पिण्डपातेन, सो येन येनेव पक्कमति समादायेव पक्कमति । (Digh II, 66)

मुनिको कभी भी वैद्यक व सामुद्रिक विद्याका प्रयोग न करना चाहिये और न उसे कभी किसी प्रेम-कलाद्वारा अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करना चाहिये। उसे स्वप्नादि तथा पक्षियों व पशुओंके विरावादिके आस्वादन करनेकी भी आज्ञा नहीं है ।

ते गिच्छं नाभिणं द्विज्जा (उत्तरा०, II, 33)
जे लक्खणं च सुविणं च अंगविज्जं च पउंजंति ।
न हु ते समणा वुच्चन्ति एवं आयरि एहिं अक्खायं ॥
(उ० VIII, 13)

छिन्नं सरं भोममन्त लिक्खं सुविणं लक्खणदण्ड वत्थु विज्जं ।
अंगविआरं सरस्स विजयं जो विज्जाहिं न जीवइ स भिक्खु ॥
(उ० XV, 17)

जो लक्खणं सुविण पउंजपाणे निमित्तकोऊहलसंपगाढे ।
कुहेडविज्जासवदारजीवी न गच्छई सरणं तम्मि काले ॥
(उ० XX45)

अथब्बणं सुपिनं लक्खणं नो विदहे अथो पि नक्खत्तं।
विरुतं च गब्भकरणं । तिकिच्छं मामको न सेवेय्य ॥
(सु०नि०927)

यथा वा पनेके भोन्तो समणब्राह्मणा.. तिरच्छानविज्जाय मिच्छार्जीवेन जीविकं कप्पेन्ति सेय्यथीदं ...एवं विपाको चन्दग्गाहो भविस्सति, एवं विपाको सुरियग्गाहो भविस्सति...एवं विपाको उक्कापातो भविस्सति, एवं विपाको दिसादाहो भविस्सति, एवं विपाको भुमिचालो भविस्सति...सुभिक्खं भविस्सति, दुब्भिक्खं भविस्सति ।

अथवा ऐसे—आवाहनं, विवाहनं,.. सुभगकरणं,दुब्भगकरणं,विरुद्धगब्भकरणं,जिह्वानित्थद्धनं... आदासपञ्हं,कुमारीपञ्हं,सन्तिकम्मं.. वत्थुकम्मं...।
(Digh II,59-62)

भोजन मिले या न मिले, मुनिको सदैव संतोष रखना चाहिये—

लद्धे पिण्डे अलद्धे वा नाणुतप्पिज्ज संजये(उ०II,30)
अलत्थं यदिदं साधु नालत्थं कुसलामिति ।
उभये नेव सोताहि रुक्खंऽव उपनिवत्तति ॥
(सु०नि०712)

मुनिको खाद्यद्रव्य संचय करनेकी आज्ञा नहीं है—
सन्निहिं च न कुविज्जा लेवमायाइ संजए(उ० VI,16)

यथा वा पनेके भोन्तो समणब्राह्मणा.. सन्निधिकारपरिभोगं अनुयुत्ता विहरन्ति—सेय्यथीदं अन्नसन्निधिं पानसन्निधिं...आमिससन्निधि इतिवा.इति एवरूपा सन्निधिकारपरिभोगापटिविरतो होति,इदं पिस्स होति सीलस्मिं ।

मुनिको (बस्तीकेनिकट)बनकी बाहरी सीमाओं मे ही प्रायः विहार करना चाहिये ।

पंतं सयणासणं भइना । (उ० XV, 4)
पन्तं च सयनासनं...एतं बुद्धानसासनं।(ध०185)
(क्रमशः)

मुफ्त मँगालें—समस्त रोगों की १४० दवाएँ (२४ सेर वजन की) अपने उपयोगके लिये या मुफ्त बाँटनेकेलिये, शाखा खोलकर मुफ्त मँगालें । सेवन विधि, अनुपान, पथ्य आदिकी पुस्तक साथ है । उत्तर केलिये तीन पैसे के टिकिट भेजें ।
—ब्रांच नं० १५ सी ऐल जैन वैद्य,
करेली (होशंगाबाद)

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

ढालकी दूसरी बाजू।

सामाजिक क्षेत्रकी चर्चामेंसे अगर नारीके उत्थान की चर्चा हटा दी जाय तो शेष फलके रूपमें जो कुछ बचेगा वह शून्यके बराबर होगा। इस प्रश्नपर नाना तरहसे विचार होरहा है। यद्यपि एक बड़ा भारी दल ऐसा भी है जो इस प्रश्नको छूना भी नहीं चाहता परन्तु समाजके मस्तक-समान शिक्षित लोगोंमें इस प्रश्नपर खासी ऊहापोह मची हुई है। और उनमेंसे अधिकांश लोगोंकी पूर्ण सहानुभूति महिलाओंके साथ है।

पुरुषोंने स्त्रियोंको दबानेकी कितनी कोशिश की है, वह कहाँ तक ठीक है—इस प्रश्नका उत्तर अनेक तरहका है; परन्तु इतनी बात तो सच है कि पुरुषोंके अधिकार स्त्रियोंसे अधिक हैं, इसलिये साधारणतः यही समझा जाता है कि पुरुषोंने स्त्रियों पर अत्याचार अधिक किये हैं; और एक प्रकारसे यह बात सच भी है, फिर भले ही इसका प्रारम्भ किसी दूषित मनोवृत्तिसे न हुआ हो।

परन्तु आजका पुरुष अपने इस पापका प्रायश्चित्त करना चाहता है। स्त्रियोंको अधिकार देनेके जितने आन्दोलन हैं उनके चलानेवाले पुरुष ही हैं। स्त्रियाँ तो अभी कलसे बोलने लगी हैं। धार्मिक समानता, आर्थिक समानता आदि जितनी समानताएँ हैं वे सब स्त्रियोंको देदेनेकी आवाज पुरुषोंकी तरफ से आरही है। इसका कारण यह है कि पुरुष और स्त्रीमें शारीरिक भेद होने पर भी जातिभेद नहीं है। अगर कोई दो व्यक्ति-जिनमें एक स्त्री हो और दूसरा पुरुष-आपसमें लड़ रहे हों तो तीसरा व्यक्ति अगर पुरुष है तो उसके मनमें यह भाव कभी न आयगा कि पक्ष किसीका कैसा भी हो, मुझे पुरुषका ही पक्ष लेना चाहिये। इसी प्रकार स्त्री भी स्त्रीका ही पक्ष न लेगी। ऐसी हालतमें आजका शिक्षित युवक अगर स्त्रियोंके अधिकारोंका रक्षण चाहता है, उन्हें हर तरह स्वतन्त्रता देना चाहता है तो उसका मुख्य कारण यही है कि यह उसके अन्तःकरणकी आवाज है, जिसने इस बातको भुला दिया है कि स्त्रियों को अधिकार देनेसे पुरुषके अधिकारोंको क्षति पहुँचेगी या नहीं! वह तो न्यायकी विजय चाहता है।

स्त्रियोंकी वकालत करनेवाले तथा उनके साथ सहानुभूति रखनेवाले पुरुषोंको कुछ लोग स्वार्थी आदि कहते हैं परन्तु उनकी यह भूल है तथा अपनी ही स्वार्थिताको छुपानेका ढंग है। सम्भव है कि स्त्रियोंके अधिकारोंकी वकालत करनेवालोंमें कोई स्वार्थी भी हो परन्तु ऐसे लोग एक फी सदी ही निकलेंगे। बाकी अधिकांश पुरुष तो स्त्रियोंके साथ सहानुभूति रखनेके कारण पुरुषोंके अत्याचारोंका दिग्दर्शन कराते हैं, स्त्रियोंकी दुरवस्थाके चित्र खींचते हैं और अपने अधिकारोंको तिलांजलि देनेकी तत्परता बताते हैं।

पुरुष लोग पुरुषोंके दोष बताते हैं और वास्तवमें समाजकी अधिकांश बागडोर उन्हींके हाथमें होनेसे उनका दोष है भी अधिक, परन्तु आजकल की शिक्षिता किन्तु अनुभवहीना और अविनीत नारी भी उसीके रागमें राग मिलावे, इससे नारी जातिकी प्रगतिमें बाधा है। परन्तु ज्यों ज्यों स्त्री समाजमें शिक्षाका प्रचार बढ़ता जाता है और उसकी अनुभवशीलतामें भी तरक्की होती जाती है त्यों त्यों वह इस तथ्यको समझती जाती है कि स्त्रीसमाज के उद्धारके लिये पुरुषोंको औंधीसीधी सुना देनेसे ही काम नहीं चल सकता। पुरुष जैसे अपने दोषों को देख रहे हैं उसी प्रकार स्त्रियोंको भी आत्मनिरीक्षण करना चाहिये।

एक भारतीय विदुषी देवीने स्त्रियोंको लक्ष्यमें लेकर जो उद्गार निकाले हैं वे स्त्रियोंको ध्यान देने योग्य तो हैं ही, परन्तु पुरुषोंको भी इसलिये ध्यान देने योग्य हैं कि वे स्त्रियोंके उन दोषोंको दूर करने की कोशिश करें जो उनकी वास्तविक प्रगतिमें बाधा डाल रहे हैं। खैर, उक्त महिलाके शब्द ये हैं—

"एक ज़मानेसे स्त्रीसमाज पुरुषोंपर यह अभियोग लगाता आरहा है कि उसका व्यवहार स्त्रियोंके प्रति उचित नहीं, स्त्रियाँ पैरकी धूल समझी जाती हैं और उन्हें केवल स्वार्थपूर्तिका साधन बनाया जाता है। लेकिन स्त्रियाँ इस बातको क्यों भूल जाती हैं कि पुरुषोंके निर्माणमें उनका बहुत ज़बरदस्त हाथ है, इसलिये अपनी सारी अधोगतिका उत्तरदायित्व पुरुषोंके गलेमें मढ़ देना ठीक नहीं। स्त्री ही पुरुषको जीवनका सर्वप्रथम सन्देश देती है। माताके रूपमें पुरुष स्त्रीकी पूजा करना सीखता है, सहोदराके रूपमें वह उसके साथ पवित्र और प्रगाढ़तम प्रेममें आबद्ध होता है और पत्नीके रूपमें वह स्त्रीसे एकात्मलाभ करना सीखता है। पुत्रीके रूपमें स्त्रीजातिकी पवित्रतम विभूतिके प्रति वात्सल्यकी सरस धारा उसके हृदयको परिप्लावित करती है। इस प्रकार स्त्री ही पुरुषके समस्त बन्धनोंका उत्तरदायित्व अपने ही ऊपर लेती है और उसकी सफलता और विफलताके लिये ज़िम्मेदार रहती है। फिर भी यदि स्त्रीसमाज नरककी अधोगतिमें पड़ा रहे तो यह किसका दोष? स्त्रियोंका अन्धकार उन्हें पतनके गर्तमें ढकेलता जा रहा है। फिर वे पुरुषोंपर त्योरियाँ क्यों चढ़ाती हैं।"

"यदि पुरुष हमें दासी समझते हैं तो हमारी कमज़ोरियोंके कारण। स्त्रियोंका लालच उन्हें ले डूबा है। उनका मिथ्याभिमान और आडम्बर उनके सारे स्वाभिमानका संहार करनेको तुला हुआ है। इस प्रकारकी हेय मनोवृत्तिकी स्त्रियाँ स्वयं अपनेको अपने पतिके हाथों बेच देती हैं और इस बातका भी रोना रोती हैं कि पुरुष स्त्रियोंको दासी समझते हैं, पैरोंसे ठुकराते हैं। जब हममें स्वावलम्बन नहीं है तब स्वाभिमान भी नहीं रह सकता और स्वाभिमानके बिना दासता करना ही पड़ेगी। ऐसी दशामें स्त्रियाँ सन्मानकी भीख क्यों माँगती हैं? सन्मान क्या भीख माँगनेसे मिलता है?"

"अशिक्षित स्त्रियोंकी मूर्खता तथा पढ़ी लिखी स्त्रियोंकी फ़िज़ूलख़र्चीसे किसे न चिढ़ हो जायगी?"

"जिस स्त्रीसमाजमें माताएं अपनी पुत्रियोंको कलंक समझती हैं, सासें अपनी बधुओंको पैरकी जूतीसे भी बदतर और ननदें अपने सहोदर भाइयोंकी पत्नियोंको जानी दुश्मन समझती हों और उन्हींके कारण घरमें कलहकी नरकाग्नि धधकती हो, वह स्त्रीसमाज सन्मानकी भीख माँगनेसे भी क्या पायगा?"

एक विदुषी महिलाके ये उद्गार प्रशंसनीय हैं। यद्यपि अमुक अंशमें इनका उत्तर भी दिया जासकता है, परन्तु इन उद्गारोंका जो प्राण है उसमें सत्यका बहुत बड़ा भाग है। यह ढालकी दूसरी बाज़ू है।

पुरुष पुरुषोंके दोष देखें और स्त्रियाँ स्त्रियोंके दोष देखें और सुधार करें—इसीमें शोभा है, इसीमें सद्भाव है, और इसीमें उन्नति है। पुरुष पुरुषोंके दोष देखते हैं इसलिये स्त्रियाँ अपनेको निर्दोष समझने लगें, और स्त्रियां स्त्रियोंके दोष कहती हैं इसलिये पुरुष अपनेको निर्दोष कहने लगें— यह अनुचित है। हमें अपने अपने दोषोंको देखते हुए दोनों बाज़ू सम्हालना चाहिये। स्त्रीपुरुषोंमें जातिभेदकी दुर्वासना पैदा न होवे, दोनों एक दूसरेके लिये त्याग करते हुए आगे बढ़ें, इसीमें सबका कल्याण है।

नारियोंका अपहरण।

कुछ दिन पहले जयकरने अपने भाषणमें कहा था कि "मेरे पास जितने आँकड़े हैं उन्हें देखकर मैं कह सकता हूँ कि प्रायः ३० हिन्दू स्त्रियाँ प्रतिदिन इस्लामधर्ममें परिवर्तित होती हैं। अकेले बम्बईमें १५ दिनके भीतर ११ हिन्दू स्त्रियाँ भगाई गईं। जब बम्बईकी यह हालत है तब अन्य प्रांतोंका तो कहना ही क्या, जहाँ मुसलमानोंका ज़ोर अधिक है।"

आज हम इस गिनतीको पढ़कर चौंक उठते हैं परन्तु हमारी आँखोंके सामने इस प्रकारके काण्ड होते ही रहते हैं। अगर यह काम विचार परिवर्तनका फल होता तो यह इतना आपत्तिजनक न

होता। परन्तु वे स्त्रियाँ इस्लामकी किसी खूबीसे आकर्षित होकर मुसलमान नहीं बनतीं। किन्तु या तो वे भगाई जाती हैं अथवा हमारे यहाँकी जिन्दगी से पीड़ित होकर भाग जाती हैं। दोनों बातें ही हमारे लिये लज्जाजनक हैं। अगर वे भगाई जाती हैं और हम इस बातका प्रतिकार नहीं करते तो यह हमारी नपुंसकताका परिचायक है। यदि वे स्वयं चली जाती हैं तो यह हमारी मूढ़ता और अत्याचारीपनका चिन्ह है। इससे यह बात स्पष्ट होजाती कि हमारे समाजरचनामें एक प्रकारका घुनसा लग गया है जिससे कि हमारा समाज प्रतिदिन क्षीण होता चला जाता है। हम अपनी अदूरदर्शिताके कारण अपने इस क्षयरोगको भले ही न देखें परन्तु उसका जो भयंकर फल हुआ है वह हमारे सामने है कि आज भारतवर्ष दो भागोंमें बँटकर अपनी शक्तियोंको बर्बाद कर रहा है। हिन्दुस्तान मुस्लिम स्थान बन रहा है। इससे जो राष्ट्रीय शक्तिका ह्रास होरहा है वह तो अत्यन्त असह्य है।

मुसलमान समाजकी तरफ़से हिन्दू स्त्रियोंके अपहरणके लिये जो चालें चली जाती हैं और जो जो उपाय काममें लाये जाते हैं वे निन्दनीय तो हैं ही, परन्तु इससे भी अधिक निन्दनीय हमारी मूढ़ता है। परन्तु इस मूढ़ता और निन्दनीयतामें ही इस पापकी समाप्ति नहीं होजाती, किन्तु इससे भी अधिक निन्दनीय यह है कि बहुतसे हिन्दू इस प्रकार नीच धन्धा करते हैं और पुरुष ही नहीं करते किन्तु स्त्रियाँ भी करती हैं।

हमारे देशमें पेशेवर गुंडोंका जाल सर्वत्र फैल गया है जिसमें हिन्दू पुरुष ही नहीं किन्तु हिन्दू स्त्रियाँ भी हैं। ये लोग इस ताक़में रहते हैं कि किसी हिन्दू परिवारमें अगर कोई स्त्री—भले ही वह सधवा हो, विधवा हो या कुमारी—असन्तुष्ट मालूम हुई कि इन लोगोंने बहकाना शुरू कर दिया। हमारे घरोंमें स्त्रियोंके असन्तुष्ट रहनेके कारण कुछ कम नहीं हैं; फिर विधवाओंकी तो दुर्दशा ही समझिये। ये अपने अनन्त कष्टोंसे घबराकर बहुत ही जल्दी बहकानेमें आ जाती हैं। घर छोड़नेके बाद इनके कष्ट और भी बढ़ जाते हैं, परन्तु फिर तो ये वापिस आ ही नहीं सकती। पथभ्रष्ट स्त्रियोंको पथपर ले आनेका अथवा वे स्वयं पथ पर आ रही हों तो उनको पथ पर आने देनेका काम तो हमने सीखा नहीं है अथवा हमारी दृष्टिसे यह एक बड़ा भारी पाप है। खैर, हमारा कहना यह है कि दुनियाँ से अनजान इन भोली स्त्रियोंको फँसानेका काम गुण्डे करते हैं और दुर्भाग्य यह है कि ये हिन्दू भी होते हैं। यह नीच व्यापार तो यहाँतक बढ़ा है कि कुछ लोग रुई और पाटकी दलाली छोड़कर स्त्रियोंको बेचनेकी दलाली करने लगे हैं। कुछ दिन पहले बम्बईकी ही बात है कि इसी प्रकारकी दलालीके अपराधमें एक मारवाड़ी और उसकी स्त्री गिरफ्तार हुई थी। जब हमारी बहिनें भी इसप्रकार स्त्रियोंको भ्रष्ट करनेका धन्धा करती हों, तब दूसरोंको क्या कहा जाय? परन्तु अब तो यह प्रश्न यह है कि क्या इस प्रकारकी नीचताओंको रोकनेका कोई इलाज नहीं है? उपाय तो है परन्तु उसके लिये हममें उदारता विवेक और सहृदयताकी जरूरत है।

दुनियाँ मे गुण्डे लोग कैसे कैसे जाल बिछाये हुए हैं, इन बातोंसे अगर हम स्त्रीसमाजको परिचित करते रहें, स्त्रियोंको इतने कष्ट न दें कि वे ऊबकर भागनेको भी तैयार होजावें, उनकी आकांक्षाओं और मनुष्योचित अधिकारोंको इतना न दबावें कि उनमें प्रतिक्रियाकी भावना पैदा होने लगे, विधवाओंके अधिकार और सन्मानका अगर हम पूरा ख़याल रक्खें, किसी कारणसे अगर कोई स्त्री पथभ्रष्ट हो जावे तो उसे नाममात्रके प्रायश्चित्तसे अपनेमें शामिल करें, इतना ही नहीं किन्तु उसे पथ पर लानेकी कोशिश करें, तो नारीअपहरणकी समस्या हल हो सकती है। अगर हम इस समस्याको हल नहीं कर सकते तो हम शक्तिशाली बनना तो दूर किन्तु टिक भी नहीं सकते। हमें सजग होकर

परिस्थिति पर गम्भीर विचार करना चाहिये और जैसे भी बने वैसे इस समस्या को हल करके अपनी और समाजकी रक्षा करना चाहिए।

धर्म।
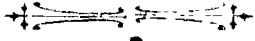
(लेखक— श्रीयुत वसन्त आगरा)

धर्म एक विज्ञान है। पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, प्राणिविज्ञान तथा वनस्पतिविज्ञान हमें प्राकृतिक शक्तियों, पदार्थों, प्राणियों तथा पेड़ पौधोंके वास्तविक गुणोंसे परिचित कराते हैं। धर्म विज्ञान हमारे सामने सुखका वास्तविक स्वरूप खोलकर रख देता है। संसारमें अपने जीवनको किस प्रकार सुखी बनाना तथा किस प्रकार विकासकी सर्वोत्कृष्ट दशाको प्राप्त करना आदिको बतलाने वाला धर्म–विज्ञान ही है। धर्मकी व्याख्या बड़ी विशद और विशाल है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्रके पारस्परिक कर्तव्य–अकर्तव्य का निर्णय करनेवाला धर्म ही है।

धर्म केवल मन्दिर, मसजिद अथवा चर्चकी वस्तु नहीं है। धर्मका पालन केवल पूजापाठ, सिजदा अथवा Prayer करनेसे नहीं होता। धर्म प्राणी मात्रको सुखी बनानेका साधन है। उसका आधार दार्शनिक तथा वैज्ञानिक है।

जिन बाह्य क्रियाकाण्डों और आडम्बरोंमें हम धर्मकी कल्पना किया करते हैं, वह वास्तविक धर्म नहीं है। धर्मकी वास्तविकताको न समझकर हमने भयंकर भूलें की हैं और कर रहे हैं। धर्मके नामपर विश्वमें जिन अत्याचारोंका सृजन हुआ है उनकी कल्पना करते हुये हृदय रोमांचित होता है। यूरोपके इतिहासको पलटकर देखिये—धर्मके नामपर किस प्रकार खूनकी नदियाँ बहाई गईं ! किसप्रकार निर्दोष व्यक्ति अग्निकी भेंट किये गये ! भारतवर्षकी पवित्र भूमिमें भी धर्मके नामपर अनेक लीलाएँ हुईं और होरही हैं। धर्मके नामपर अनेकों अमानुषिक कार्य किये जाते हैं। सत्य तो यह है कि आज हमने धर्म को कलंकित कर रखा है। यही कारण है कि संसार आज धर्मके नामको सुनकर घबड़ाता है। बड़े बड़े पंडों पोपों और धर्मके ठेकेदार कहलानेवाले व्यक्तियों की करतूतें संसारके वातावरणको विषमय बनारही हैं।

मैं रंक हूँ, वह राजा है मैं शूद्र हूँ, वह ब्राह्मण है, ऐसे सारहीन वाक्योंका धर्मके क्षेत्रमें स्थान नहीं। धर्म कल्याणका मार्ग है, वह सत्य शिव सुन्दरकी अनुभूतिका साधन है। इसलिये संसारका प्रत्येक प्राणी उसका पालन करसकता है। जो धर्म किसी व्यक्ति-समुदाय तकही सीमित है वह धर्म नहीं है। धर्म विश्वके प्रत्येक प्राणीकी अमूल्य सम्पत्तिहै।

यदि संसारके समस्त धर्मोंका गंभीर तथा निष्पक्ष दृष्टिसे अध्ययन किया जाय तो सबके मूल-सिद्धान्तोंमें समानता मिलेगी। कोई धर्म ऐसा नहीं है जो सत्य बोलनेको बुरा कहता हो, अथवा अहिंसा पालनको घृणाकी दृष्टिसे देखता हो। सद्विचार, सत्कार्य तथा सत्य वचनका प्रत्येक धर्म हामी है।

धार्मिक विभिन्नताका कारण केवल बाह्यक्रियाकांडों के अन्तर तथा दार्शनिक सिद्धान्तोंमें मतभेद है।

भिन्न भिन्न धर्मानुयायी भिन्न भिन्न नियमोंका पालन करते हैं। एक इसलाम धर्मका अनुयायी एक दूसरी तरहसे खुदाकी उपासना करता है, जब कि एक हिन्दू संध्या तथा पूजापाठ करता है। इसके अतिरिक्त एक धर्म ईश्वरके अस्तित्वको मानता है जब कि दूसरा उससे इन्कार करता है। एक धर्म पुनर्जन्मके सिद्धान्तका हामी है जब कि दूसरा उसे नहीं मानता। इसी प्रकारके दार्शनिक तथा क्रियात्मक भेदोंने धर्मोंमें इतनी विभिन्नता पैदा की। यही कारण है कि आज एक हिन्दू, जैन धर्मको घृणाकी दृष्टिसे देखता है तथा एक जैन हिन्दूधर्मको गलत सिद्धान्तोंका प्रचार करने वाला बतलाता है। एक जैनग्रन्थ चाहे वह जगन्मान्य सत्योंका ही प्रदर्शित करता हो, एक हिन्दू अथवा इसलाम धर्मके अनुयायीके लिये आदरणीय नहीं है। इसी प्रकार कुरान अथवा गीता, चाहे कितनेही उपयोगी सिद्धान्तोंका

प्रतिपादन करते हों, एक जैनकी निगाहमें तुच्छ हैं। इस प्रकारके धार्मिक मतभेदने हमारी मनोवृत्तियोंको कलुषित करदिया है। प्रत्येक धर्मका अनुयायी अपने धर्मको सत्य तथा दूसरे धर्मोंको झूठा बतलाता है।

प्राचीन कालसे ही धार्मिक वादविवाद होते चले आये हैं, किन्तु सत्यको निष्पक्ष दृष्टिसे ढूँढ निकालने की कभी चेष्टा नहीं की गई। वादीकी विजयका महत्व केवल प्रतिवादीकी जुबान बन्दकर देनेमें माना गया। सब धर्मवालोंका यह विश्वास है कि हमारा धर्म ईश्वरीय वाणी है। बस, लोगोंके इस विश्वासने उनको सत्यसे और भी अधिक परान्मुख रक्खा।

यह बात जानने योग्य है कि भिन्न भिन्न धर्मों के सिद्धान्त भिन्न भिन्न विचारकोंके वस्तु निरीक्षण तथा उसपर मननका परिणाम हैं। ऐसी दशामें यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक सिद्धान्त सत्य ही हो। मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। यह नहीं कि मनुष्य निरीक्षण तथा अनुमानमें गलती नहीं करता। जो बात आज सत्य मानी जाती है, सम्भव है १०० वर्ष बाद गलत सिद्ध करदी जावे। न्यूटनके जगन्मान्य गुरुत्वाकर्षण शक्तिके सिद्धान्त (Law of gravitation) पर भी आज प्रसिद्ध गणितज्ञ आइन्स्टाइनको आपत्ति है। यदि विज्ञानके विषयमें भी लोगों की धर्मके समान ही मनोवृत्ति होती तो विज्ञान आज कदापि इतनी उन्नति नहीं करपाता। क्या ही अच्छा होता यदि धार्मिक सिद्धान्तोंमें भी वैज्ञानिक मनोवृत्तिका अनुकरण किया जाता!

किसी नये धार्मिक विचारका स्वागत तथा उस पर विचार करनेके स्थानमें लोगोंने उसका हरप्रकार से बहिष्कार करनेकी चेष्टा की। आजभी अधिकतम व्यक्तियोंको नये धार्मिक विचार एक प्रकारके हौआ मालूम पड़ते हैं। यही नहीं, नये विचारकोंका मस्तिष्क भी पक्षपातकी बूसे खाली नहीं था। उनने भी अपने विरोधियोंके साथ गम्भीरतासे विचार करनेका प्रयत्न नहीं किया। फल वही हुआ जो होना था। लोगोंमें सत्यके स्थानमें अन्धविश्वास ने घर कर लिया और उनकी मनोवृत्तियाँ कलुषित होगयीं।

लोगोंको हमेशासे यह डर लगा रहता है कोई उनके धार्मिक सिद्धान्तोंको गलत सिद्ध न करदे। ऐसा होनेमें वे अपने धर्मकी प्रतिष्ठा नष्ट हुई समझते हैं। किन्तु यह विचार ठीक नहीं। यदि आज एरिस्टॉटल, प्लेटो, काण्टआदि दार्शनिकोंके सिद्धान्त सत्यकी कसौटी पर ठीक नहीं उतरते तो क्या इन महापुरुषोंका महत्व घट जायगा? कदापि नहीं।

भिन्नभिन्न धार्मिकसिद्धान्तोंमें सामंजस्य कराने की बहुत कम चेष्टा की गई। धार्मिक जगतमें जैनधर्मने अनेकान्तवाद तथा स्याद्वादका प्रचार करके भिन्नभिन्न विचारधाराओंमें समानता पैदा करनेका प्रयत्न किया, परन्तु लोगोंने उसे समझा ही नहीं, उसे खंडनमंडनका एक शास्त्र बना लिया। लोगोंने धर्मके सिद्धान्तोंको सत्यके जिज्ञासुकी भाँति स्वीकार या अस्वीकार नहीं किया, किन्तु अन्धविश्वास तथा मानसिक पक्षपातने उन्हें एक विशेष धर्मका अनुयायी बननेकी प्रेरणा की।

यदि धर्मके विषयमें भी लोगोंकी वैज्ञानिक मनोवृत्ति होती, तो धर्मके नामपर इस प्रकार अत्याचार न होते। कलुषित धार्मिक मनोवृत्तिके ही कारण भारतवर्ष अपने ध्येय—स्वराज्यकी प्राप्त करनेमें अनेकों कठिनाइयोंका सामना कर रहा है।

धर्म वास्तवमें एक महत्वपूर्ण वस्तु है। विश्व-शान्तिकी स्थापना धर्मद्वारा ही होसकती है। इने गिने बाह्य क्रियाकाण्डोंमें धर्मकी कल्पना करलेना ठीक नहीं है। जिस धर्मका हम मंदिरमें पालन कर सकते हैं, उसीधर्मका जीवनके प्रत्येक भाग तथा प्रत्येक क्रियामें सोते बैठते चलते पालन हो सकता है। मन्दिरमें बैठकर धर्मके पालनका स्वप्न देखना तथा व्यावहारिक जीवनमें अमानुषिक कार्य करके संसार में अशान्ति पैदा करना धर्म नहीं है। ऐसे व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकते।

धर्म कल्याण-मार्गका प्रदर्शक तथा जीवनतत्व की शक्तियोंके पूर्णतम विकासका मार्ग है।

पृथ्वीकी गति और उसका प्रभाव।

(लेखक—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा।)

[नोट—"पृथ्वीका आकार" शीर्षक लेखमें मैंने अनेक सबल व स्पष्ट युक्तियों द्वारा यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी (Earth) चपटी नहीं, बल्कि नारंगीके समान गोलाकार (Globular) है जिसके दोनों सिरे—उत्तरी व दक्षिणी ध्रुव (North and South poles) कुछ चपटे हैं। इस स्थलपर मैं पृथ्वीकी गति व उसके प्रभाव पर संक्षेपमें लिखूंगा। आशा है कि विचारशील पाठक निष्पक्ष होकर मेरे इस लेखपर विचार करेंगे। यहाँ मात्र मोटी मोटी बातें ही लिखकर संतोष करूँगा। यदि आवश्यकता हुई तो फिर कभी इस सम्बन्धमें गहरा व विस्तृत विवेचन किया जायगा। —लेखक]

प्राचीन मतानुसार पृथ्वी स्थिर है, घूमती नहीं; सूर्य घूमता है। भारतवर्षही नहीं, यूरोपादि प्रायः समस्त देशोंमें यही मत प्रचलित था। जिस यूरोपियन विद्वानने सर्वप्रथम यह सिद्ध किया था कि पृथ्वी सूर्यके गिर्द घूमती है, उस नररत्नको अन्धश्रद्धालु मूर्ख जनसमुदायने जीवित अग्निमें जला डाला। इसके पश्चात् गैलीलियो (Galileo) आदि अनेक विद्वानोंने इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की, इस सम्बन्धमें नए नए आविष्कार किये। अन्ततः आज यही सिद्धान्त अधिकांश (प्रायः समस्त) जगत को मान्य है। वास्तवमें भारतीय विज्ञ ज्योतिषियों का तो पहिलेसे ही यही मत रहा है।

आधुनिक सिद्धान्तानुसार पृथ्वी अपनी कीली (axle) पर उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवोंको मिलानेवाली रेखासे २३ ½ डिगरी झुकी हुई स्थिर * सूर्यके चारों ओर ३६५ दिन ५ घन्टे ४८ मिनटमें अपना पूरा चक्कर घूम लेती है। यह भ्रमण-पथ ठीक वृत्ताकार (Circular) न होकर वृत्ताभास है जिसे अँगरेजी में (Ellipse) कहते हैं। केपलार साहबने सर्व प्रथम यह सिद्ध किया था कि यह पथ वृत्ताभास क्षेत्राकार है। इस वृत्ताभास क्षेत्राकार पथको क्रान्ति मंडल कहते हैं। वृत्ताकार (Circular) पथ मानने से यह अवश्य मानना पड़ेगा कि सूर्य पृथ्वीसे सदैव बराबर दूरी पर रहता है, अतः ऋतु-परिवर्तन, दिन-रातका बड़ा छोटा होना इत्यादि अनेक प्रत्यक्ष बातें असंभव होजायँगी। इस पथको वृत्ताभास (Ellipse) माननेसे समस्त छोटी मोटी समस्याएँ हल होजाती हैं। इस पथपर घूमनेसे सूर्य सालभर पृथ्वीसे बराबर दूरी पर नहीं रहता। कभी अधिक दूरी पर

* सूर्य अपने स्थानसे नहीं हिलता, किन्तु वहीं अपनी कीली (Axle) पर चक्कर लगाता रहता है। अरस्तू (Aristotle) व उसके चेले सूर्यमें धब्बे नहीं मानते थे। गैलीलिओ (Galileo) पहिला व्यक्ति था जिसने दूरबीन (Telescope) का आविष्कार करके यह दिखला दिया कि सूर्यमें भी धब्बे हैं। गैलीलिओके विरोधियोंने प्रयत्न किया कि किसी प्रकार उसे गलत सिद्ध करदें। किसीने कहा कि यह गैलीलियोकी आँखका धोखा है, ये धब्बे उसकी दूरबीनमें हैं, सूर्यमें नहीं इत्यादि। परन्तु गैलीलियो अपने आविष्कार पर अचल रहा और फलतः अन्तमें उसने वैज्ञानिकोंको यह माननेके लिए विवश कर दिया कि सूर्यमें भी अन्य सितारों व ग्रहों-उपग्रहोंकी भाँति धब्बे हैं। इस आविष्कारका आगे चल कर यह परिणाम हुआ कि वैज्ञानिकोंने यह मत स्थिर किया कि सूर्य भी पृथ्वी व अन्य ग्रहों आदिकी भाँति अपनी कीलीपर घूमता रहता है। इस भ्रमणको सूर्यका अक्ष-भ्रमण (Rotation) कहते हैं। इसको यूँ समझना चाहिए कि सूर्य २५ दिनमें अपनी कीली पर पूरा चक्कर लगा लेता है। लेकिन चूँकि पृथ्वी भी सूर्यके गिर्द चक्कर लगाती है इसलिए तीन दिन भूभ्रमणके कारण और बढ़ जाते हैं, फलतः हमको वही दाग़ २८ दिन पश्चात फिर सूर्यमें दिखाई देता है। वह दाग़ घूमकर २५ दिनमें ही उसी स्थान पर आजाता है परन्तु हमें २८ दिन पश्चात् दीखता है। वह तीन दिनका अन्तर भू-भ्रमणके कारण पड़ जाता है।

हो जाता है और धीरे धीरे चलता दिखाई देता है, और कभी निकट आजाता है और जल्दी जल्दी चलता दिखाई देता है। सूर्य जाड़ेके दिनों (दक्षिणायण) में पृथ्वीके निकट आजाता है और जल्दी जल्दी चलता दिखाई देता है। परन्तु गर्मियों (उत्तरायण) में सूर्य दूर रहता है और शनैः शनैः चलता हुआ मालूम पड़ता है। इसीलिए उत्तरायणमें सूर्य १८७ दिन और दक्षिणायनमें १७८ दिन रहता है।

पहिले संकेत कर चुका हूँ कि पृथ्वी अपनी कीली पर उत्तरी व दक्षिणी ध्रुवोंको मिलानेवाली Imaginary रेखासे २३ डिग्री झुकी हुई है। इस झुकावका ऋतु-परिवर्तन व दिनरातके छोटे बड़े होने से बहुत सम्बन्ध है। † जब पृथ्वीका उत्तरायण (Northern Hemisphere) सूर्यकी ओर झुका होता है, पृथ्वीका दक्षिणायण (Southern Hemisphere) सूर्यसे हटा हुआ होता है। फलतः उत्तरायणका अधिक भाग अधिक समयतक सूर्यके प्रकाशमें रहता है और दक्षिणायणका अल्प भाग अल्प समयतक सूर्यकी रोशनीमें रहता है—अधिक भाग अधिक समय तक सूर्यसे हटा होता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस समय उत्तरायणमें गर्मीकी ऋतु और दक्षिणायणमें सर्दीकी ऋतु होती है, तथा उत्तरायणमें दिन बड़े, रातें छोटी, व दक्षिणायणमें दिन छोटे, रातें बड़ी होती हैं। ठीक छह मास पश्चात् अवस्था विपरीत हो जाती है। ‡ उस समय सूर्यकी ओर दक्षिणायण होता है, उत्तरायण सूर्यसे हटा होता है, फलतः उत्तरायणमें सर्दी (दिन छोटे, रातें बड़ी) और दक्षिणायणमें गर्मी (दिन बड़े, रातें छोटी) होती है।

पृथ्वीकी उपरोक्त दोनों अवस्थाएँ उस समय होती हैं जब पृथ्वी अपने क्रांतिमंडल Ellipse के दोनों सिरों पर बारी बारीसे होती है। Ellipse के निकटतम बीचके दोनों विरोधी स्थानों * (Positions) पर जब पृथ्वी होती है तो क्रमशः बसन्त ऋतु (Spring Season) व पतझड़का मौसम (Autumn Season) होते हैं। ये दोनों हालतें पहिली दोनों हालतोंके बीच बीच की हैं।

उपरोक्त विवेचनसे छह छह महीनेके दिन रात वाली समस्या भी सहज ही हल होजाती है। जब पृथ्वीका उत्तरायण सूर्यकी ओर झुका होता है, दक्षिणी ध्रुव (South Pole) अन्धकारमें और उत्तरी ध्रुव प्रकाशमें होता है। ठीक ६ महीने पश्चात् उत्तरायण सूर्यसे दूसरी ओर को हट जाता है और दक्षिणायण सूर्यके प्रकाशमें आजाता है। फलतः उत्तरध्रुवका ६ मासका दिन और दक्षिणीध्रुवकी ६ मासकी रात्रि समाप्त हो जाती है। इसके पश्चात फिर ६ महीनेतक उत्तरीध्रुवमें रात और दक्षिणी ध्रुवमें दिनही रहता है। यही क्रम सदैव चलता रहता है। ज्यों ज्यों हम ध्रुवों (Poles) से विषुवत् रेखा (Equator) की ओर चलते जाते हैं त्यों त्यों दिनरातके समयों की लम्बाई कम होती चली जाती है तथा उनका अन्तर भी घटता जाता है।

उपरोक्त वर्णित गतिके अतिरिक्त पृथ्वीमें एक गति और भी है, जिसका पहले संकेत किया जा चुका है। इस गतिको अक्ष भ्रमण (Rotation) कहते हैं। अक्षपर भ्रमण करनेके कारण रातदिन होते हैं। रातदिनका छोटा बड़ा होने, ऋतुओंमें परिवर्तन होने, आदि विपर्यासे इस भ्रमणका कोई सम्बन्ध नहीं है। इससे तो मात्र रात दिनही होते हैं।

पृथ्वी सूर्यके गिर्द (जैसा कि पहिले लिखचुका हूँ) पूरे ३६५ दिन ५ घन्टे ४९ मिनटमें अपना

† यह Position २२ जूनको होती है।

‡ यह Position २२ दिसम्बरको होती है।

* इन Positions में २१ मार्च और २३ सितम्बरकी तारीखें क्रमशः पड़ती हैं। इन दोनों तारीखोंको पृथ्वी पर सूर्यकी किरणें सीधी पड़ती हैं, जिसके फलस्वरूप दिनरात बराबर होते हैं।

चक्कर पूरा करती है, और अपने अक्ष पर २३ घंटे ५६ मिनटमें घूम आती है, परन्तु वार्षिकगतिके कारण उसे २४ घन्टे लग जाते हैं, जैसे कि चन्द्रमा (पृथ्वीका उपग्रह–Satellite) को २७$\frac{1}{3}$ दिनके स्थान पर २९$\frac{1}{2}$ दिन लग जाते हैं। इसी प्रकार पृथ्वी ३६५ दिनमें ३६६ चक्कर अपने अक्ष पर लगा जाती है।

पृथ्वीकी इन दोनों गतियोंके समझनेके लिए घूमते हुए लट्टू अथवा भँवरेका उदाहरण बहुत उपयुक्त है। जैसे लट्टू घूमता हुआ एक वृत्तपर चक्कर लगाता है, उसी प्रकार पृथ्वी अपने अक्षपर घूमती हुई ३६५$\frac{1}{4}$ * दिनमें सूर्यकी परिक्रमा कर लेती है।

अब हम वर्षको चार भागोंमे विभक्त कर सकते हैं।

विषुवत् रेखा से—

(१) २१ मार्च से २२ जूनतक–उत्तरी ध्रुवकी ओर रात्रिसे दिन बढ़ता जाता है और दक्षिणी ध्रुवकी ओर दिनसे रात बढ़ती जाती है।

(२) २२ जून से २२ सितम्बर तक—उत्तरीध्रुवकी ओर दिन घटता जाता है, दक्षिणी ध्रुव की ओर रात घटने लगती है।

(३) २३ सितम्बरसे २२ दिसम्बर तक–उत्तरी ध्रुवकी ओर दिनसे रात बढ़ने लग जाती है। दक्षिणी ध्रुवकी ओर रातसे दिन बड़ा होता जाता है।

(४) २३ दिसम्बर से २० मार्च तक—उत्तरीध्रुवकी ओर रात घटती जाती है। दक्षिणी ध्रुवकी ओर दिन छोटा होता जाता है।

ज्योतिषियों (Astronomers) ने क्रान्तिमंडल को १२ भागोंमें विभक्त कर दिया है। प्रत्येक अंश (भाग) का भिन्न ऐसा नाम रक्खा है जो नभमंडल में उनके सामनेके तारागणोंके आकारसे प्रतिबिम्बित होता है। आश्चर्य व प्रसन्नताका विषय है कि इन बारह राशियोंके नाम समस्त देशोंमें समानार्थी हैं। जैसे—

संस्कृत	अङ्गरेजी
१ मेष	Ram
२ वृष	Bull
३ मिथुन	Twins
४ कर्क	Crab
५ सिंह	Lion
६ कन्या	Virgin
७ तुला	Balance
८ वृश्चिक	Scorpion
९ धनु	Archer
१० मकर	Goat
११ कुम्भ	Water-bearer
१२ मीन	Fishes

हिन्दी व अङ्गरेजीमें इन्हीं महीनोंका नाम क्रमशः चैत, वैशाखादि व अप्रेल, मई, जून इत्यादि हैं।

कोई कोई कहेंगे कि जब हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि सूर्य पूर्वसे पश्चिमकी ओर घूमता है तो कैसे वि-

* जिस प्रकार पृथ्वीके गिर्द चन्द्रमाके परिक्रमा करनेके समयको चन्द्रमास कहते हैं, उसी प्रकार सूर्यकी परिक्रमा की अवधिको सौर्य–वर्ष कहते हैं। सत्तावन करोड़से कुछ अधिक मीलका भ्रमण पृथ्वीको ३६५ दिन ५ घन्टे ४८$\frac{3}{4}$ मिनटमें पूरा करना पड़ता है। इसी समयको हरकोई वर्ष मानता है। सुविधाके लिए मनुष्योंने वर्षके पूरे ३६५ दिन मान लिए हैं। परन्तु ५ घन्टे ४८$\frac{3}{4}$ मिनट इस हिसाबसे हरवर्ष बच रहते हैं। इसलिए हर चौथे वर्ष वर्ष ३६६ दिनका माना जाता है (जो सन् ईस्वी ४ पर भाग देनेसे पूरी पूरी बट जाय उसके फरवरी मासके दिनों की संख्या बजाय २८ के २९ होती है)। चूँकि ५ घन्टे ४८ मिनटके हिसाबसे चार वर्षमें केवल २३ घन्टे १२ मिनटकी ही भूल दूर होती है, ४८ मिनट फिरभी बच रहते हैं, इस भूलको दूर करनेके लिए प्रत्येक शताब्दीके फरवरीको २९ दिनका नहीं मानते। परन्तु यह हिसाब भी बहुत ठीक नहीं है। फिर भी हर ३८६६ वर्षमें एक दिनकी गड़बड़ी हो ही जावेगी।

श्वास करें कि पृथ्वी घूमती है और सूर्य स्थिर रहता है ? इसका सरल उत्तर यह है कि पृथ्वी पश्चिमसे पूर्वकी ओर घूमती है, सूर्य स्थिर रहता है इसलिए हमको वह पूर्वसे पश्चिमकी ओर घूमता हुवा मालूम देता है, परन्तु वास्तवमें घूमती पृथ्वी ही है; ठीक जिस प्रकार कि चलती रेलगाड़ीमें बैठे हुए यात्रीको रेलगाड़ी वाली दिशासे विपरीत दिशाकी ओर वृक्षादि चलते हुए दीखते हैं, परन्तु वास्तवमें वृक्षादि सब स्थिर होते हैं, रेलगाड़ी चलती होती है।

कोई कोई कहेंगे कि पृथ्वीको अपनी कीली पर २३॥ डिगरी झुकाही मानलें परंतु स्थिर मानें और सूर्यको पृथ्वीके चारों ओर Ellipse पर घूमता हुआ मानें तो क्या आपत्ति है ? निस्संदेह दोनों सिद्धांतों से एक हदतक समान फल ही निकलेगा, परन्तु वास्तवमें ऋतु–परिवर्तन आदिकी सूक्ष्म समस्याएं हल न हो सकेंगी। यदि हल भी होजाँय फिर भी हम सूर्यको ही स्थिर मानेंगे, पृथ्वीको घूमताही मानेंगे। इसका कारण श्री रुद्रनारायणजीके शब्दोंमें नीचे दिया जाता है—

(१) यदि एक ऐसा छोटासा हिंडोला बनावें कि उसके खम्भे एक पटरीमें जुड़े हों और धन्नी भी उसमें टिकी हो, अब हिंडोलेकी रस्सीको पेंग देदें तो वह बराबर हिलती रहेगी और यदि पटरीको चलाने लगें या उसकी दिशा बदल भी दें तो भी रस्सी पटरीकी उसी दिशापर ज्योंकी त्यों घूमा करेगी।

(२) दूसरी परीक्षा यह की गई है कि एक ऊँचे मकानकी छतसे भारी लोहेका गोला कोई २०० फुट लम्बे तारसे लटकाया गया। इस गोलेके बीच एक मेज रखदी गई। जब गोला स्थिर था तो वह ठीक मेजके केन्द्र (Centre) के ऊपर था। मेजके धरातल (Surface) पर कुछ रेखाएं मेज के केन्द्रीय बिन्दु (Central point) पर एक दूसरेको काटती हुई खेंच दीं। गोलेको एक ओर लेजाकर धीरेसे छोड़ दिया, गोला हिलने लगा। पहले गोलेकी गतिकी सीधमें मेज पर चिन्ह कर दिया गया। थोड़ी देर पीछे गोला दूसरी ओर हिलने लगा।

पहिली परीक्षासे फल निकला था कि हिलने वाला गोला अपनी दिशा नहीं बदलता, परन्तु दूसरी परीक्षामें गोलेकी दिशा और मेजकी दिशा बदल गई, और उसके सङ्ग सब घरकी दिशा पलट गई और यह तबही संभव है जबकि पृथ्वी घूमती हो, अन्यथा नहीं।

मैंने इस लेखमें कुछ बहुत मोटी मोटी बातें रख कर ही पृथ्वीकी गति व उसके प्रभाव पर संक्षेपमें प्रकाश डाला है। यदि पाठकोंकी इच्छा हुई और होसका तो सौरजगत् (Solar System) का सविस्तर वर्णन किसी दूसरे लेख द्वारा पाठकोंके सन्मुख रखूँगा। मुझे आशा है कि पाठकगण मेरे प्रयत्नको सफलीभूत बनायेंगे।

साम्प्रदायिकताका दिग्दर्शन।

लेखक–श्रीमान् पं० सुखलालजी।

(अनुवादक–पं० जगदीशचन्द्रजी ऐम० ए०)

(१८)

परिशिष्ट नम्बर १।

भरत चक्रवर्तीका मरीचि नामका पुत्र अपने पितामह ऋषभदेव भगवानके पास दीक्षा लेकर उनके साथ विचरने लगा। मरीचि श्रुतधर था। एकबार ग्रीष्मकी सख्त गर्मीमें वह बहुत घबरा गया। मरीचि को एक ओर साधुके कठिन मार्गको छोड़कर पीछे घर जानेका विचार हुआ, और दूसरी ओर अपने कुलीनपनेके विचारसे उसे दीक्षाके त्याग करनेमें बहुत ही शर्म मालूम हुई। अन्तमें उसने इस दुविधामें से एक बीचका मार्ग निकाला। मरीचिने अपनी बुद्धि से एक ऐसे नये आचारकी रचना की, जिससे कि त्यागमार्ग भी बना रहे और जैन आचारकी कठिनता भी कम हो जाय। अपना वेष और आचार

बदलते समय मरीचिने इस तरह विचार किया— भगवानके ये साधु मन दंड, वचनदंड, और कायदंड के जीतनेवाले हैं और मुझे मनदंड आदिने जीतलिया है, इसलिये मैं त्रिदंडी होऊँगा। ये श्रमण केशलोच और इन्द्रिय जय करके मुंड होकर रहते हैं और मैं छुरेसे मुंडन कराके शिखाधारी बनूंगा। ये लोग स्थूल और सूक्ष्म प्राणियोंके वध आदिसे विरत हैं, और मैं केवल स्थूल प्राणियोंके वध करनेसे विरत होऊँगा। ये मुनि अकिंचन होकर रहते हैं, और मैं सुवर्णमुद्रा आदि रक्खूँगा। ये ऋषि लोग जूतेका त्याग करते हैं, और मैं जूते धारण करूँगा। इनका शरीर अठारह हजार शीलयुक्त ब्रह्मचर्यसे अतिसुगंधित है और शीलरहित होनेके कारण मैं दुर्गन्ध वाला हूँ, इसलिये मैं चन्दन आदिको ग्रहण करूँगा। ये श्रमण मोहसे रहित है, और मैं मोहसे आवृत हूँ इसलिये मोहके चिन्हरूप छत्रको मस्तकके ऊपर धारण करूँगा। ये लोग निष्कषाय होनेसे श्वेतवस्त्र धारण करते हैं और मैं कषायसे कलुष होनेके कारण इसकी स्मृतिके लिये कषाय रंगके वस्त्र धारण करूँगा। ये मुनि पापसे भयभीत होकर बहुत जीव वाले सचित जलका त्याग करते हैं, परन्तु मैं परिमित जलसे स्नान और परिमित जलका पान करूँगा इस प्रकार अपनी बुद्धिसे अपने लिंगकी कल्पना करके नये वेषको धारणकर मरीचि ऋषभदेव स्वामीके साथ विहार करने लगा।

नये वेषकी कल्पना करके और त्रिदंडी परिव्राजक होकर यह मरीचि भगवान ऋषभदेवके साथ ही विचरता था। मरीचिका नया रूप देखकर बहुतसे लोग कौतुकसे मरीचिके पास आते थे। मरीचि जैन आचारका ही उपदेश देता था। यदि कोई प्रश्न करता था कि यदि तुम जैन आचारको श्रेष्ठ मानते हो तो फिर तुमने यह नया शिथिलाचार क्यों धारण किया है ? तो मरीचि अपनी निर्बलताको कबूल करताथा और त्यागके उम्मीदवारोंको भगवान ऋषभदेवके पास ही भेजताथा। एकबार मरीचि बहुत बीमार हुआ, परन्तु उसकी कोई सेवा करनेवाला नहीं था। जो मरीचिके सहचारी साधु थे वे सर्वथा त्यागी होनेसे इस शिथिलाचारीकी सेवा नहीं कर सकतेथे, तथा स्वयं मरीचि भी उन उत्कट त्यागियोंसे अपनी सेवा नहीं कराना चाहताथा। धीरे धीरे मरीचि अच्छा होगया।

एक बार कपिल नामका एक राजपुत्र आया। उसने भगवानका उपदेश सुना, परन्तु दुर्भव्यताके कारण उसे उपदेश पसंद नहीं आया। कपिल मरीचिके पास आया और वह उसकी ओर झुकता हुआ मालूम दिया। मरीचिको पहली बीमारीका अनुभव होचुका था, उसने कपिलको अपने योग्य समझकर अपना शिष्य बनालिया। शास्त्रके तात्त्विक अर्थज्ञानसे शून्य यह कपिल मरीचिके कहे हुए क्रियामार्गमें रत होकर विचरने लगा। मरीचिने आसुरी और दूसरे शिष्य बनाये और मरीचि अपने शिष्य और शास्त्रके अनुरागके कारण मरनेके बाद ब्रह्मलोकमें उत्पन्न हुआ। मरीचिने ब्रह्मलोकमें उत्पन्न होतेही विशिष्ट ज्ञानसे अपने पूर्वभव जानकर विचार किया कि मेरे शिष्य कुछ नहीं जानते इसलिये मुझे उन्हें तत्त्वों का उपदेश करना चाहिये। यह सोचकर मरीचिने आकाशमें छिपे रहकर 'अव्यक्त (प्रधान) से व्यक्त (बुद्धितत्त्व) प्रगट होता है' इत्यादि उपदेश दिया, और उससे षष्ठितन्त्र(सांख्यशास्त्र)की रचना हुई।

आवश्यक वृ० निर्युक्ति गा० ३५० से ४३५, पृष्ठ १५३ से १७१।

परिशिष्ट नम्बर २।

श्री पार्श्वनाथ* स्वामीके शासनके समय सरयु

*भगवान महावीर जैनोंके चौबीसवें, और भगवान पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थंकर माने जाते हैं। इन दोनोंके बीचमें २५० वर्षका अंतर माना जाता है, इसलिये पार्श्वनाथ तीर्थंकरका समय विक्रम संवतके पहले आठवीं सदी आता है।

नदीके किनारे पलाश नामक नगरमें पिहिताश्रव साधुका शिष्य बुद्धकीर्ति हुआ। यह बुद्धकीर्ति बहुशास्त्रज्ञ था।

बुद्धकीर्ति मछलियोंका आहार करनेसे दीक्षासे भ्रष्ट हुआ और उसने लाल कपड़े धारण करके एकांत (मिथ्या) मत चलाया।

जिस तरह फल, दूध, दही, शक्करमें जीव जन्तु नहीं होते, उसी तरह मांसमें भी जीव नहीं होते। इसलिये मांसकी इच्छा करने अथवा उसके भक्षण करनेमें पाप नहीं है।

जिसप्रकार पानी पतला अर्थात् बहनेवाली वस्तु है उसी तरह शराब भी बहनेवाली है इसलिये शराब त्याज्य नहीं है। इसप्रकारकी घोषणा करके बुद्धकीर्ति ने संसारमें सम्पूर्ण पाप कर्मोंकी परंपरा चलाई।

एक आदमी पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है। इस प्रकारके सिद्धान्तोंकी कल्पना से लोगोंको वशमें करके बुद्धकीर्ति मरकर नरकमें गया। —दर्शनसार गा० ६ से १०।

परिशिष्ट नम्बर ३।

गोशालकका पिता मंखली चित्रपटजीवी था। गोशालक कलहप्रिय और उद्धत होनेपर भी विचक्षण था। एक बार गोशालक अपने माता पितासे लड़कर अलग हो गया और चित्रपटसे आजीविका चलाने लगा। गोशालक राजगृही नगरमें, जहाँ भगवान महावीर थे, एक मकानमें एक तरफ आ पहुँचा। भगवान एक महीनेके उपवासके बाद पारणा करने को भिक्षाके वास्ते निकले। भगवानको विजय सेठ ने भिक्षा दी। देवोंने सेठके घर पाँच‡ दिव्योंकी वृष्टि की। भगवान पारणा करनेके बाद उसी मकानमें वापिस आकर ध्यान करने लगे। भगवानके पारणा के प्रभावसे होने वाली दिव्यवृष्टिकी बात सुनकर गोशालक भगवानकी तरफ आकर्षित हुआ। गोशालकने भगवानसे उसे अपना शिष्य बनानेकी विनय की। भगवानका मौन देखकर गोशालक स्वयं ही भगवानका शिष्य होकर भगवानके साथ विचरने लगा, और भिक्षासे अपना निर्वाह करने लगा। कुछ समय बाद गोशालकके मनमें भगवानके ज्ञानीपनेके निश्चय की इच्छा हुई गोशालकने भगवानसे पूछा कि हे भगवान, आज मुझे भिक्षामें क्या मिलेगा? भगवान ध्यानस्थ होकर मौन रहे, परन्तु भगवान के अधिष्ठायक सिद्धार्थ नामके देवने भगवानके शरीरमें प्रवेश करके गोशालकको उत्तर दिया कि "तुझे खाटा कोदों आदि अन्न तथा दक्षिणामें खोटा रुपया मिलेगा"। इस उत्तरको गलती सिद्ध करने के लिये गोशालकने सारे दिन मेहनत की, परन्तु अच्छा भोजन न मिलनेसे अन्तमें संध्याके समय क्षुधाके कारण किसी सेवकके घरसे अन्न ग्रहण किया। सिद्धार्थके कहनेके अनुसार यह अन्न खाटा ही था। इसी तरह दक्षिणामें मिला हुआ रुपया भी खोटा निकला। इससे गोशालके मनमें नियतिवाद का बीज जमा और उसने अपना सिद्धांत बनाया कि "जो होने वाला है, वह अवश्य होता है"।

नालंदापाड़ामें दूसरा चौमासा व्यतीत करके भगवान ने दूसरी जगह विहार किया। गोशालक भी पीछेसे आकर भगवानसे मिलगया और स्वयं ही सिर मुँडाकर निर्वस्त्र होकर भगवानसे अपने आपको शिष्य बनानेकी विनती की। भगवानने यह विनती स्वीकार की और वे गोशालक को साथ लेकर दूसरी जगह चले गये। रास्तेमें गोवालियोंको खीर पकाते देखकर गोशालक ने भगवानसे खीर लेनेके लिये कहा। भगवानकी देहमें अन्तर्हित सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि "खीर बनेगी ही नहीं"। इस वचनको झूठा करनेके लिये गोशाल ने गोवालों

‡ वस्त्र, सुगंधितजल, दुंदुभिनाद, 'अहो दानं अहो दानं' इस प्रकारका शब्द और धनवृष्टि ये पाँच दिव्य कहे जाते हैं। ये देवताओंके द्वारा किये जाते हैं, इसलिये इन्हें दिव्य कहते हैं। जैन मान्यता है कि ये दिव्य किसी असाधारण तपस्वीके पारणाके समय दानके प्रसंगपर प्रकट होते हैं। देखो कल्पसूत्रसुबोधिका व्याख्यान ५ पृ० १५७ प्र०।

को चेताया। गोवालियोंने भी हंडीको सम्भालनेका यत्न किया, किन्तु अधबीचमें ही हंडी फूट गई और गोशालकको कुछ नहीं मिला। इस बातसे गोशालक का नियतिवाद–अवश्यंभाविवाद और भी पक्का हो गया।

एक बार ब्राह्मण नामके एक गाँवमें एक बड़े घर भिक्षा लेने पर बासी अन्न मिलनेसे और साथ ही दासीसे तिरस्कृत होनेपर गोशालकने उस घरके जलनेका शाप दिया। शाप देते हुए गोशालकने कहा कि—"यदि मेरे गुरुका तप तेज हो, तो यह घर जल जाय"। भगवानके नामसे दिया हुआ शाप झूठा नहीं होना चाहिये, यह सोचकर निकटवर्ती देवोंने दाताके घरको घासकी तरह जला डाला।

भगवान चम्पानगरीमें तीसरा चौमासा पूर्ण करके कोलाक गाँवमें गये, और वहाँ शून्य घरमें ध्यानस्थ होकर बैठ गये। गोशालक बन्दरकी तरह चपल बनकर दरवाजेके पास बैठगया। उस समय वहाँ एक जार पुरुष आया। जार ने पूछा "यहाँ कोई है"? कोई उत्तर न मिलने पर जार पुरुष अपनी रक्षित दासीके साथ विलास करनेके लिये उस शून्य घरमें प्रविष्ट हुआ। भगवान ध्यानस्थ बैठे थे। वापिस आते हुए दासीने गोशालकके हाथ का स्पर्श किया। जार पुरुषको यह मालूम होगया और उसने गोशालकको खूब पीटा। गोशालकने फ़रियादकी। अधिष्ठायक सिद्धार्थ ने भगवानकी देहमेंसे फ़रियादका उत्तर दिया—"तू हमारी तरह शील क्यों नहीं रखता? चपलता क्यों करता है? तुझे मार न पड़े तो और क्या हो?"

चौथे चौमासेको पृष्ठचम्पामें व्यतीत करके भगवान कृतमंगल गाँवमें पधारे और एक देवालय में आकर ध्यानस्थ होगये। उस समय रातमें वहाँ बहुतसे कुल देवताके भक्त नाचगान करते थे। इनमें मद्यपान करने वाली बहुतसी स्त्रियाँ भी शामिल थीं। एक दिन गोशालकने भगवानसे कहा–'मध्यान्ह होगया है. आहार लेने चलिये'। भगवान मौन थे। सिद्धार्थने जवाब दिया "आज मेरा उपवास है"। गोशालकने पूछा "आज मुझे क्या भोजन मिलेगा?" सिद्धार्थने कहा "मांसयुक्त खीर"। इसे झूठा बनानेके लिये गोशालकने बहुत प्रयत्न किये, परन्तु अंत में उसे मांसयुक्त खीर ही मिली। गोशालकने इस खीरको निर्मांस समझकर खाली, परन्तु बादमें वमन होनेसे गोशालकको खीरमें मांस होनेका विश्वास होगया और उसने चिढ़कर गुरुके तपके नाम से दाताके घर जलनेका शाप दिया। भगवानकी महत्ता सच्ची रखनेके लिये देव लोगोंने उस प्रदेशको जलाडाला। आगे जाकर गोशालकने एक जगह खेलते हुए बालकोंको डराया; यह देखकर बालकोंके मा–बापने गोशालकको पीटा।

भद्दिलपुरमें पाँचवाँ चौमासा करके भगवान एक गाँवमें गये। वहाँ एक अन्नसत्रमें खूब अधिक खानेके कारण वहाँके लोग गोशालकके ऊपर चिढ़ गये और गोशालकके सिर पर थाल मारा। एक बार भगवान विशालानगरीकी ओर गये। आगे चल कर दो रास्ते आये। गोशालकने भगवानसे कहा "आप जाइये मैं आपकी साथ नहीं आता, कारण कि जब कोई मुझे मारता है, आप मौन रहते हैं। जब आपको कोई परिषह आती है तो मुझे भी परिषह सहन करना पड़ता है। कोई आपको मारने आता है तो पहले मुझे मारता है। अच्छा भोजन होता है तो आप लेने नहीं आते। आप सब जगह समशील रहते हैं, इसलिये मैं अलग होऊँगा"। अंतर्हित सिद्धार्थने जवाब दिया "तुम्हारी जैसी इच्छा। हमतो अपनी रीतिको नहीं छोड़सकते"। यह सुनकर गोशालकने राजगृहका मार्ग पकड़ा। परन्तु रास्तेमें चोरोंने गोशालकको खूब मारा। गोशालक फिरसे भगवानसे मिलने चला। गोशालक भद्रिकापुरीके छठे चौमासेमें भगवानसे मिला। आलंभिका नगरीके सातवें चौमासेके बाद कुंडक गाँवमें वसुदेव के मंदिरमें भगवान ध्यानस्थ बैठे थे। निर्लज्ज गोशालकने वसुदेवकी मूर्तिके मुखके सामने पुरुष चिन्ह

धारण किया। यह बात जानकर गाँवके लोगोंने गोशालक को खूब पीटा। राजगृहमें आठवाँ और म्लेच्छ भूमिमें नौवा चौमासा करके भगवान सिद्धार्थ-पुरमें आये। वहाँसे कूर्मगामकी तरफ़ जाते हुए रास्ते में तिलका एक पौदा देखकर गोशालकने भगवानसे पूछा "यह पौदा फलेगा या नहीं"? भवितव्यतावश प्रभुने स्वयं कहा "यह पौदा फलेगा और दूसरे पौदे के पुष्पोंमें रहनेवाले सात जीव इस पौदेमें जन्म लेंगे"। इस वचनको खोटा सिद्ध करनेके लिये गोशालकने इस पौदेको उखाड़कर फेंक दिया। परन्तु भगवानके भक्त देवोंकी वृष्टिके कारण भगवानके कहे अनुसार वह पौदा फला।

एकबार किसी वैशिकायन तापसको खिजानेपर गोशालक उस तापसकी तेजोलेश्याका ‡ शिकार हुआ। परन्तु भगवान ने जलते हुए गोशालकको अपनी शीतलेश्या * से बचा लिया। गोशालकने भगवानसे तेजोलेश्या प्राप्त करनेकी विधि पूछी। भगवानने कहा—नियमधारी होकर छट्ठ $ के पारणे के दिन एक मुट्ठी उड़द और अंजलिभर पानी लेने से छह महीनेके अन्तमें तेजोलेश्या उत्पन्न होती है। कूर्म ग्रामसे सिद्धार्थपुर जाते हुए रास्तेमें तिलके पौदेका स्थान आने पर गोशालक ने कहा "प्रभो, वह पौदा उगा नहीं है"। प्रभु ने कहा "उगा है"। मालूम करने पर गोशालकको भगवानके वचनोंका विश्वास हुआ। इसलिये गोशालकने सिद्धांत बनाया कि शरीरका परिवर्तन करके जीव बादमें वहाँका वहीं पैदा होता है। उसके बाद भगवानके कहनेके अनुसार तेजोलेश्याकी सिद्धि करनेके लिये गोशालक भगवानको छोड़कर श्रावस्ती नगरीमें गये। वहाँ गोशालकने एक कुंभारकी शालामें रह कर नियमपूर्वक तप करके छह महीनेमें तेजोलेश्या सिद्ध की, और तेजोलेश्याकी परीक्षा करनेके लिये गोशालकने कुवेके किनारे किसी दासीके घड़ेके ऊपर कँकरी फेंकी। दासीने गाली दी और गोशालकने गुस्से होकर तुरंत ही दासीको तेजोलेश्यासे जला दिया। इसके पश्चात् गोशालकने श्री पार्श्वनाथकी परंपराके अष्टांग ※ निमित्तज्ञ छह साधुओंसे भेंट की। उनके पाससे गोशालकने अष्टांग निमित्तविद्या सीखी। इस प्रकार तेजोलेश्या और निमित्तविद्यासे संपन्न होकर गोशालक अपनेको जिनेश्वर कहता हुआ गर्वके साथ पृथिवी पर विचरने लगा।

(पर्व १० सर्ग ३-४, पृ० ५२से७५)

भगवानसे अलग होने के बाद एक ओर गोशालक अपने संप्रदायको बढ़ानेका प्रयत्न करता था

‡ तपोजन्य एक प्रकारकी शक्ति जिससे शापकी तरह किसीको जलाया जासकता है।

* दाह शमन करने वाली तपोजन्य शक्ति।

$ छह बार आहारके त्याग करनेको छट्ठ कहते हैं अर्थात् अगले दिन एक बार खाना और बीचमें लगातार चार दिन तक नहीं खाना तथा अन्तिमदिन एक ही बार खाना।

※ निमित्तके आठ अंगोंके नाम—

(१) जिसके द्वारा दाहिनी, बाँयी आँख वगैरह अवयवोंके स्फुरणका शुभाशुभफल कथन हो सके, वह अंग विद्या है।

(२) स्वप्नमें शुभाशुभ फल बताने वालीको स्वप्न विद्या कहते हैं।

(३) विविध पक्षी आदिके स्वरोंके ऊपरसे भावीकी सूचना करने वालीको स्वर विद्या कहते हैं।

(४) भूमिकम्प सम्बन्धी विद्याको भौम विद्या कहते हैं।

(५) तिल, मसा वगैरहको देखकर फल बतानेको व्यंजन विद्या कहते हैं।

(६) हाथकी रेखा देखकर फल बतानेको लक्षण विद्या कहते हैं।

(७) उल्कापात वगैरह आकस्मिक घटनाओंसे संबंध रखने वाली विद्याको उत्पातविद्या कहते हैं।

(८) ग्रहोंके अस्त और उदयसे लोकस्थितिके संबंधमें भविष्यवाणी करनेको अंतरिक्ष विद्या कहते हैं।

अष्टांग विद्याओंके नामका संग्रह श्लोक—

"अंगं स्वप्नं स्वरं चैव भौमं व्यंजन लक्षणे।
उत्पातमन्तरिक्षं च निमित्तं स्मृतमष्टधा॥"

और दूसरी ओर भगवान सर्वज्ञ होनेके बाद अपने शासनको चला रहे थे। इस तरह बहुतसा समय व्यतीत होगया। गोशालकके आजीवक सम्प्रदायमें सद्दाल नामका एक कुँभार और इस कुँभारकी अग्निमित्रा नामकी पत्नी थी। इन दोनो गोशालकके भक्त दम्पतिने भी भगवानके सत्संगसे गोशालकका मत छोड़ दिया। यह जानकर गोशालक उस कुंभारको फिरसे अपने मतमें लानेके लिये अपने बहुतसे साम्प्रदायिक लोगोंके साथ कुभारके घर आया। परन्तु सद्दाल कुम्भारने गोशालककी तरफ देखा भी नही। गोशालक निराश होकर वहाँसे वापिस चला आया।

एक बार श्रावस्ती नगरीमें भगवान और गोशालक दोनोका आना हुआ गोशालक हालाहला नामकी कुंभारीके घर उतरा था। गोशालकके 'अरिहंत' होनेकी ख्यातिको सुनकर भोले लोग गोशालकके पास आते थे। भगवानके मुख्य शिष्य गौतम ने गाँवमें गोशालकके सर्वज्ञ होनेकी ख्याति सुनकर अपने गुरु वीर भगवानसे इस विषयमें पूछा। भगवानने कहा—"गोशालक सर्वज्ञ नहीं है, मैंने ही गोशालकको शिक्षा दी है वह असर्वज्ञ होकर भी छलसे अपने आपको सर्वज्ञ और जिन कहता है।" भगवानकी यह बात शहरमे चारों तरफ फैलती हुई गोशालकके कानों तक भी पहुँची। गोशालक इससे बहुत गुस्से हुआ। इस बीचमें गोशालक को भगवानका आनन्द नामक एक शिष्य दिखायी दिया। गोशालकने उससे कहा--आनन्द, तेरा गुरु हमारी निन्दा करता है। वह मेरी शक्ति नही जानता। मैं उसे सपरिवार जला डालूँगा। केवल तुझे जीवित छोड़ूँगा। इसके ऊपर एक दृष्टान्त कहता हूँ, सुन—

व्यापारके लिये परदेश जाते हुए पाँच बनियों को प्यास लगी। पानीकी खोज करने पर उन्हें पाँच शिखर वाली एक वमी मिली। उसे फोड़ने पर उसमेसे क्रमसे पानी, ताँबेके सिक्के, चाँदीके सिक्के और सोनेके सिक्के, ये चार वस्तुयें चार शिखरोंमें निकलीं। उन व्यापारियों ने लोभसे पाँचवाँ शिखर भी फोड़ डाला। उस शिखरमेंसे एक उग्र सर्प निकला जिसने इन पाँच बनियोंमे पहले संतोषी बनियेको छोड़कर बाक़ीके चार लोभी बनियोंको विषकी ज्वालासे भस्म कर दिया। हे आनन्द, इसी तरह तुझे जीवित छोड़कर मैं तेरे गुरुको परिवार सहित भस्म कर दूँगा। इस बातको आनन्द ने भगवान से कहा। भगवान ने गोशालककी शक्तिके संबंधमें सब मुनियोंको सचेत करके उनसे मौन रहनेके लिये कहा। इस बीचमे वहाँ गोशालक आया और भगवानसे यद्वा तद्वा बकने लगा। गोशालक ने कहा-"हे काश्यप, तू मुझे मखलिपुत्त और अपना शिष्य कहता है, परन्तु मैं वह नहीं हूँ। तेरा शिष्य गोशालक स्वर्गवासी होगया है। मैं केवल उस मृत गोशालकके दृढ शरीरमे वास करता हूँ और मेरा नाम उदायमुनि है"। भगवानने कहा-"गोशालक, जिस प्रकार तिनकेसे पहाड़ नहीं ढका जा..., इसी तरह तू मेरे सामने अपनी जातिको झूठ बोलकर नहीं छिपा सकता है। तू ही मखलिपुत्र गोशालक है"। यह विवाद चलरहा था। इतनेमें भगवानके सर्वानुभूति और सुनक्षत्र नामके दो शिष्य गोशालक को समझानेके लिये आये। गोशालक ने उन्हें तेजोलेश्यासे जला डाला। गोशालकने भगवानके ऊपरभी तेजोलेश्याका प्रयोग किया, परन्तु गोशालक भगवान का कुछ नहीं करसका, बल्कि उल्टा स्वयं गोशालक ही जलने लगा। भगवान ने गोशालकसे कहा "तू केवल सात दिन जीने वाला है, इस लेश्या-ज्वरसे ही तेरी मृत्यु होगी, और मैं अभी सोलह वर्ष तक जीवित रहूँगा"। यह सुनकर गोशालक लेश्याके दाहसे पीड़ित होकर हालाहला कुंभारीके घर आया और वहाँ सन्निपातग्रस्तकी तरह उन्मत्त होकर अनेक प्रकारकी चेष्टा करने लगा। पहले तो गोशालक ने अपने शिष्योंसे अपने मरनेके पीछे उसके शरीरको खूब धूमधामसे फिराकर 'यह चौबीसवाँ तीर्थंकर मोक्ष गया है' यह घोषणा करके अग्निसंस्कार करने को कहा। परन्तु मरनेके अन्तिम दिन उसे कुछ

अमरोहामें विद्वानोंकी चर्चा।

श्रीमान पं० दरबारीलालजी (सत्यभक्त) के युक्तप्रान्त-भ्रमणके समाचार पढ़कर स्थानीय जैन सभा की तरफसे आपको अमरोहा पधारनेका निमंत्रण दिया गया था। साथही सभाकी यह भी इच्छा थी कि उक्त अवसर पर आपके साथ शान्त चर्चा के लिए अन्य विद्वानोंको भी बुलाया जाय। परन्तु यह सोचकर कि पं० दरबारीलालजीके आनेकी बात कहनेसे अन्य पण्डित लोग उत्तर ही नहीं देते, या न आनेके कारण पेश कर देते हैं—यह उचित समझा गया कि प्रथम यह मालूम कर लिया जाय कि कौन कौनसे पण्डित उस समय पधार सकते हैं। तदनुसार पं० वंशीधरजी शोलापुरकी स्वीकारता मिल गई। इसके पश्चात उक्त पण्डितजी महोदयको दूसरा पत्र दूसरे आशयका भेजा गया, परन्तु पण्डितजी पत्र पहुंचनेसे पहिलेही इन्दौर अजमेर आदिके लिये चलपड़े थे। इस कारण आपको यह ज्ञात न हो सका कि पं० दरबारीलालजी अमरोहा पधारे हैं।

पं० दरबारीलालजी ता० ८ मई को अमरोहा पधारे और चार दिनतक आपने सफलतापूर्वक शंका-समाधान तथा व्याख्यानका कार्य किया। इस समय फिर एकबार कोशिश की गई कि कोई विद्वान आ जाय यहाँतक कि लेनेके लिये एक सज्जनको भी भेजा गया, परन्तु कोई न आ सका। पं० राजेन्द्रकुमारजीको मुजफ्फरनगरके पते पर पत्र भेजा गया परन्तु उसका उत्तर भी न मिला। ता० १२ को पंडितजी विदा होनेवाले थे कि उसी दिन पं० वंशीधरजी (सोलापुर) अजमेरसे यहाँ पधारे। इसके लिए स्थानीय जैन महानुभावोंकी तरफसे पं० दरबारीलालजीसे रुकनेकी प्रार्थना की गई जोकि उन्होंने सहर्ष स्वीकार की। चर्चाके लिए दुपहरको दो बजेका समय रक्खा गया।

चर्चा, जिज्ञासुभावसे निष्पक्षताके साथ हो—इस बातका खास विचार था; परन्तु चर्चाके प्रारम्भमें जोरदार शब्दोंमें पं० वंशीधरजीने यह घोषित किया कि सर्वज्ञ सिद्ध हो, चाहे न हो, परन्तु हमारा तो उस पर पूर्ण विश्वास है, उस विश्वासको हम किसी भी हालतमें बदल नहीं सकते। आपकी इस घोषणासे सिद्ध होगया कि यहाँ निःपक्षता नहीं रह सकती। दो विद्वान किसी विषय पर चर्चा करें और उनमेंसे कोई यह कहे कि विरोधीकी बात सिद्ध हो जाय तो भी मैं न मानूँगा, तब तो हद होगई।

पं० दरबारीलालजीने यह कहा कि सर्वज्ञताके विषयमें विचार तो मेरे भी निश्चित है, परन्तु सत्यके खोजीकी हैसियतसे मैं इतनी प्रतिज्ञा अवश्य करता हूँ कि यदि मेरे विचारोंका खण्डन करदिया जायगा तो मैं उन्हें छोड़े बिना न रहूँगा। इस प्रकार दोनों विद्वानोंमें विचारोंके साथ मनोवृत्तियोंमें भी बड़ा

सुधि आयी। गोशालकको पश्चात्ताप हुआ। उसने फिर शिष्योंसे कहा—"मैं कोई सर्वज्ञ अथवा जिन नहीं हूं, मैं मंखलिपुत्र और भगवान महावीरका शिष्य ही हूँ। मैंने लोगोंको विरुद्ध मार्गसे चलाया है। इसलिये मरनेके बाद मेरे शरीरको पैरमें रस्सी बाँधकर बुरी तरह गाँवमें घसीटना और मेरे दंभकी सच्ची हकीकत जाहिर करनेके साथ मेरे शरीरका तिरस्कार करना"। यह कहकर गोशालक मर गया और नरकमें गया। पीछेसे शिष्योंने गुरुकी आज्ञा पालनेके वास्ते एक मकान बंद करके श्रावस्तीका चित्र खेंचकर उसमें गोशालकके शवको गोशालकके कहे अनुसार फेरकर प्रतिज्ञाका पालन किया और बादमें भक्त लोगोंने महोत्सवपूर्वक गोशालकका अग्निसंस्कार किया।

(पर्व १० वाँ सर्ग ८ गुजराती अनुवाद पृ० १८४ से १९४)

अन्तर था। पं० दरबारीलालजीकी निष्पक्षता स्पष्ट मालूम होती थी।

पं० वंशीधरजीका पक्ष था कि—"सर्वज्ञको त्रिकाल त्रिलोकको समस्त द्रव्यगुण पर्यायोंका युगपत् प्रत्यक्ष होता है।"

पं० दरबारीलालजीका पक्ष था कि—"ऐसा सर्वज्ञ असंभव है। आप अपना सर्वज्ञ सिद्ध कर दीजिए, मैं उसका खण्डन कर दूँगा।"

पं० वंशीधरजीने कहाकि आत्माके साथ आवरण लगे हुए हैं। उन आवरणोंकी न्यूनाधिकतासे ज्ञानमें तरतमता होती है। जहाँ तरतमता है, वहाँ कहीं न कहीं अनन्तता अवश्य है।

पं० दरबारीलालजीने कहा—तरतमताका अनंतताके साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। हम लोगोंके शरीरकी अवगाहनामें तरतमता है, परन्तु इसीलिए सर्वव्यापक शरीर सिद्ध नहीं होता। जहाँ तरतमता है वहाँ कोई सबसे बड़ा हो सकता है, परन्तु वह अनन्त ही हो, यह बात किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकती।

पं० वंशीधरजी—ज्ञानका अर्थ जानना है, इसलिए वह अनन्तको ही जानेगा। जाननेके साथ न जानना संभव नहीं है।

पं० दरबारीलालजी—ज्ञानका अर्थ जानना है, न कि अनन्तको जानना। जाननेसे ही अनन्तको जानना सिद्ध नहीं हो सकता। जाननेका न जानने के साथ विरोध तभी हो सकता है, जब वे एकही अपेक्षासे कहे जाँय। एकको जाने, दूसरेको न जाने, इसमें क्या विरोध? अन्यथा सिद्ध आदिकी अवगाहना भी अनन्त मानना पड़ेगी क्योंकि अवगाहना के साथ अनवगाहना नहीं रह सकती है।

पं० वंशीधरजी—अवगाहनाकी बात दूसरी है। यह द्रव्य है। ज्ञान शक्ति है। शक्ति और द्रव्यमें विषमता है। शक्ति अनन्त होती है, पर द्रव्य अनन्त नहीं होता।

यहाँपर पं० दरबारीलालजीने मुझसे कहा कि भाई, पण्डितजीकी यह बात नोट करलो कि द्रव्य अनन्त नहीं होता। तब वंशीधरजीने कहा कि, आप नोट करेंगे तो मैं भी नोट करूँगा। द्रव्य अनन्त नहीं होता, यह बात मैं अपनी तरफसे नहीं कहता परन्तु आपकी तरफसे कहता हूँ।

पंडित दरबारीलालजीने जिस बातका जरा भी उल्लेख नहीं किया था, उसके विषयमें पं० वंशीधरजी का ऐसा कहना बड़ा हास्यास्पद रहा।

पं० दरबारीलालजी—द्रव्यको अनन्त मान लेने भी मेरा अवगाहनावाला दृष्टान्त बिल्कुल ठीक रहा। दूसरे, अवगाहना भी तो प्रदेशत्व गुणकी पर्याय है, इसलिये द्रव्य और शक्तिका भेद बतलाना भी व्यर्थ है। फिर शक्तिको अनन्त कहना भी ठीक नहीं।

पं० वन्शीधरजी—जैन शास्त्रोंमें प्रत्येक शक्तिको अनन्त माना है।

पं०दरबारीलालजी—मानी तो बहुतसी चीजें है, परन्तु उन्हें अनन्त सिद्ध कीजिये।

पं० वन्शीधरजी—कैसे सिद्ध करूँ? क्या इसे ठोंक दूँ?

पं० दरबारीलालजी—जब आप उसे सिद्ध नहीं कर सकते तब दृष्टान्तके रूपमें क्यों लाते हैं? दृष्टान्त तो सिद्ध होना चाहिये, दृष्टान्त असिद्ध नहीं होता।

पं०वन्शीधरजी दर्पणके ऊपर जब तक मैल लगा रहता है, तब तक उसमें पूरा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, किन्तु शुद्ध हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी सीमा नहीं रहती। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा में भी अनन्त पदार्थ झलकते है।

पं० दरबारीलालजी—शुद्ध होने पर भी दर्पण में अनन्त पदार्थ नहीं झलक सकते। एकएक प्रदेशमें अगर एकएक पदार्थ भी झलके तो असंख्यात पदार्थ ही झलक सकेंगे, अनन्त नहीं।

पं० वन्शीधरजी—वाह! आप मूर्तिक और अमूर्तिकको एक क्यों बना रहे हैं? दोनोंमें एकता सम्भव नहीं। ज्ञान पदार्थके पास नहीं जाता क्योंकि वह अमूर्तिक है, दर्पण मूर्तिक है।

पं० दरबारीलालजी—दृष्टान्तमें और विषमताएँ भले ही रहें परन्तु उसमें साध्य-धर्म सम्बन्धी विषमता न रहना चाहिये। यहाँ अनन्तत्व साध्य है, और जब दर्पणके दृष्टान्तसे वह सिद्ध नहीं होता तब दर्पणका उदाहरण देना व्यर्थ है। आप अनन्त सिद्ध कीजिए और दृष्टान्त भी वैसा ही दीजिए।

पं० वन्शीधरजी—ज्ञानका अर्थ है, जानना। इससे ही वह अनन्त सिद्ध होजाता है, क्योंकि जब पदार्थ अनन्त हैं तब ज्ञान भी अनन्त होगा। यह कैसे हो सकता है कि पदार्थ तो अनन्त हों, परन्तु ज्ञान अनन्त न हो?

पं० दरबारीलालजी—ज्ञानका शब्दार्थ तो जानना है न कि अनन्त जानना। अनन्त आप ऊपरसे क्यों मिला देते हैं? उसे सिद्ध करनेके लिए तो युक्ति दीजिए। पदार्थके अनन्त होनेसे पदार्थ अनन्त हुआ, ज्ञान अनन्त कैसे होगया?

पं० वन्शीधरजी—सब पदार्थ ज्ञेय हैं, इसलिए ज्ञान सबको जानता है।

पं० दरबारीलालजी—सब पदार्थ किसी एक ज्ञानके विषय हैं, यह तो यहाँ सिद्ध करना है। उसको आप हेतु क्यों बनाते हैं? साध्य हेतु नहीं बनता।

पं० वन्शीधरजी—आप ज्ञानको परिमित सिद्ध कीजिए। परिमित सिद्ध न होगा तो अपरिमित सिद्ध हो जायगा।

पं० दरबारीलालजी—इस तरह तो अपरिमित सिद्ध न होनेसे परिमित सिद्ध हो गया। खैर, मैं परिमित सिद्ध कर दूँगा, परन्तु यह तभी जब आप कहें कि अपरिमितता सिद्ध नहीं होती।

पं० वन्शीधरजी—मैं ऐसा क्यों कहूँ? आप परिमित तो सिद्ध कीजिए।

पं० दरबारीलालजी—आपने सर्वज्ञ सिद्ध करनेकी प्रतिज्ञा की है, इसलिये अपरिमितत्व सिद्ध करना आपका कर्तव्य है। मेरा कार्य तो सिर्फ उसका खंडन करना है।

पं० वंशीधरजी—मैंने तो ज्ञानका अर्थ करके ही उसे अनन्त सिद्ध कर दिया है।

पं० दरबारीलालजी—उससे तो सिर्फ जानना सिद्ध हुआ, न कि अनन्तका जानना।

पं० वंशीधरजी—आप वस्तुको अनन्त मानते हैं, इससे सिद्ध है कि आपने अनन्तको जान लिया। इससे ज्ञानमें अनन्तता सिद्ध होगई।

पं० दरबारीलालजी—यह तो अनन्तत्व या नित्यत्व नामक एक धर्मका जानना हुआ। यदि यह अनन्तज्ञता है तब तो हम आप इसी समय सर्वज्ञ हैं। सर्वज्ञताकी आप जो परिभाषा मानते हैं, उसकी तो इससे सिद्धि नहीं हुई।

पं० वंशीधरजी—अनन्तत्व नामक गुणको जान लेनेका अर्थ है—अनन्त पर्यायोंका सामान्य प्रतिभास कर लेना। यही जब प्रत्यक्ष हो जाता है तो इसीको सर्वज्ञ कहते हैं।

पं० दरबारीलालजी—सामान्य प्रतिभास तो सिर्फ एक धर्मके जान लेनेसे हो जाता है। इसीलिये मतिश्रुतज्ञानका विषय बन सकता है। अगर सामान्य प्रतिभास भी अनन्तका प्रतिभास होता तो मतिश्रुत ज्ञानका विषय नहीं हो सकता था। मतिश्रुतका विषय होनेसे मालूम होता है कि अनन्तत्वको जानना अनन्त पर्यायोंका जानना नहीं है। इसप्रकार अनन्तका ज्ञान सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार आप अनन्तका ज्ञान सिद्ध नहीं कर रहे हैं। इसलिये अब मैं परिमित विषयता सिद्ध करनेके लिये अपरिमित विषयताके विरोधमें एक बात रख देता हूँ। अगर ज्ञान भविष्यकी समस्त पर्यायोंका प्रत्यक्ष करले तो उन पर्यायोंमें कोई ऐसी पर्याय अवश्य झलकेगी जिसके बाद कोई दूसरी पर्याय न होगी। अगर कोई पर्याय है तो ज्ञान अनन्त न हुआ। अगर कोई पर्याय नहीं है तो वस्तु पर्यायरहित होगई [illegible] उसका नाश होगया। वस्तु कभी सान्त [illegible] सकती, इसलिये ज्ञानको ही सान्त मानना पड़ेगा।

पं० वंशीधरजी—हमारा जो ज्ञान है वह अ[illegible] पूर्ण है, इसलिए एक ही तरफको होता है। केवलीका

ज्ञान पूर्ण है इसलिए वह चारों तरफको होता है। हम अपने ज्ञानसे केवलज्ञानके विषयमें क्या कह सकते हैं? अपने ही मापसे केवलीको मापना ठीक नहीं। उनका उपयोग अनन्त तरफको होता है।

पं० दरबारीलालजी—जब आप सर्वज्ञ सिद्ध करने बैठे हैं तब अपने तुच्छ ज्ञानकी दुहाई देना व्यर्थ है। कमसे कम, वस्तुके सान्त होनेकी जो बाधा उपस्थित हुई है उसे हटाना चाहिए। केवली युगपत जाने तो भी वह बाधा ज्योंकी त्यों है। तथा युगपत्की बात भी असिद्ध है। ज्ञानकी तरतमताके साथ उपयोगकी तरतमताकी व्याप्ति होती तभी यह बात कही जा सकती थी।

पं० वंशीधरजी – आप एक ढेरको जानते हैं, केवली ढेरकी एक एक बातको जानता है। आपके उपयोग और केवलीके उपयोगमें यह बड़ा भारी अन्तर है।

पं० दरबारीलालजी – इस हेतुशून्य प्रतिज्ञा-वाक्यसे न तो केवलीका उपयोग युगपत् सिद्ध हुआ, न वस्तुकी सान्तताका दोष दूर हुआ।

इसके बाद इसी तरहकी बातें बार बार कही गईं। समय हो चुका था, इसलिए चर्चा बन्द करदी गई और रात्रिको आठसे दस बजे तकका समय निश्चित हुआ।

दोनों विद्वानोंकी शैली भिन्न भिन्न थी। पं० वंशीधरजी जरा गर्जन तर्जनके साथ बोलते थे और बुद्धिको सन्तुष्ट करनेकी अपेक्षा हृदयको उत्तेजित करनेकी चेष्टा करते थे। बातको इधर उधर इतना फैला देते थे कि असली बातका पता लगना बड़ा कठिन हो जाता था। कभी आप बिगड़ भी पड़ते थे। जैसे–एक बार पं० दरबारीलालजी कह रहे थे कि जैनधर्ममें मानी हुई सर्वज्ञता सिद्ध कीजिए, जो कि हो नहीं सकती। तब आप बोले कि–मैं जैनधर्मका अपमान नहीं सह सकता। आप जैनधर्मका नाम लेकर जैनधर्मका अपमान न करिए। विपक्षी अपने पक्षकी बात कहे, यह भी आपको अपमान-जनक मालूम हुआ। पं० दरबारीलालजी कोमल स्वरमें और थोड़ेसे थोड़े समयमें अपनी बात रखते थे। दोनोंका शैली–भेद स्पष्ट था। चर्चामें कोई अपशब्द नहीं निकले।

निश्चयानुसार शामको मंदिरमें फिर चर्चा शुरू हुई। पं० दरबारीलालजीने कहा कि दुपहरको जहाँ चर्चा छूटी थी वहींसे फिर आगे बढ़ना चाहिये। दुपहरको दो बातें खड़ी थीं—एक तो यह कि समस्त द्रव्यगुणपर्यायोंका युगपत् प्रत्यक्ष माननेसे वस्तु सान्त हो जायगी, दूसरी यह कि एक समयमें अनेक तरफ उपयोग नहीं जासकता।

पं० वंशीधरजी ने कहा आप एक ही बात कहिए। दो दो बातें साथ नहीं चल सकतीं।

पं० दरबारीलालजी—मैं कोई नई बात नहीं रख रहा हूँ। दुपहरको जो बात अधूरी रहगई थी, उसीका उल्लेख किया है। अब इन दोनों बातोंमें से जो बात आप चुनना चाहें, चुनलें।

पं० वंशीधरजी—मैं पहिली बातको लेता हूँ। जैसे आप मकान बनावें और चूना ईंट वगैरह परिमित हों तो मकान भी परिमित होगा। यदि चूना ईंट अनन्त हों तो मकान भी अनन्त होगा। दोष आवरणसे हमारे ज्ञानकी मर्यादा रहती है। उनके हटनेसे ज्ञान अनन्त होजाता है। वस्तु ज्ञेय है और अनन्त है, इसलिये ज्ञान भी अनन्त होना चाहिये। इससे सर्वज्ञ सिद्धि होगई। हमारा ज्ञान तो बहुत थोड़ा है। उससे हम अनन्त तक कैसे पहुँच सकते हैं? हम पर्यायोंकी गिनती नहीं दिखा सकते हैं, किन्तु सर्वज्ञ दिखा सकता है।

पं० दरबारीलालजी—आप दुपहरकी बातोंको व्यर्थ क्यों दुहरा रहे हैं? ईंट चूनाके परिमित अपरिमित आदिकी बात तो मूल्य नहीं रखती। दोषावरण वाली बातका खन्डन दुपहरकी चर्चामें कर चुका हूँ। दो बातोंमेंसे जो बात आपने चुनी है उसका उत्तर दीजिए। ज्ञानको अनन्त माननेसे वस्तु सान्त होजायगी, जो कि असम्भव है। इस प्रश्नका

आपके पास क्या उत्तर है ? यही बतलाइये।

पं०वन्शीधरजी—आप कहते हैं कि ज्ञान अनन्त तक नहीं जासकता सो आने जाने की यहाँ बात ही नहीं है।

पं० दरबारीलालजी—मैं जाना नहीं, जानना कहता हूँ। दूसरे, ज्ञानके प्रकरणमें जानेका अर्थ भी जानना ही होता है क्योंकि गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक होती हैं। आप इन व्याकरण की बातोंको छोड़ कर असली बातका उत्तर दीजिए। ज्ञान को अनन्त माननेसे वस्तु को सान्त मानना पड़ेगा। इस दोषका निराकरण आप क्यों नहीं करते ?

इस जगह गाड़ी अड़ गई। पं० वन्शीधरजी कभी दोषावरण वाली, कभी 'हम छद्मस्थ हैं' आदि बेकार बातोंका बार बार उल्लेख करने लगे। तब विवश होकर पं० दरबारीलालजीने उनके उत्तरोंको दुहराते हुए कहाकि अगर चर्चा इस प्रकार दुहराई व तिहराई जाया करेगी तब तो उसका फल कुछ भी न होगा, व्यर्थ समय जायगा। इससे अच्छा हो कि चर्चा लिखित रहे, जिसमें एक ही बातको व्यर्थ बार बार दुहराना न पड़े।

वस्तुकी सान्तताका दोष आप हटाते नहीं हैं बल्कि उसे छूते तक नहीं हैं। मैं कहता हूँ कि उस दोषका निराकरण आपको अवश्य करना चाहिए।

फलतः पं० दरबारीलालजी व वन्शीधरजीमें इस प्रकार लिखित चर्चा हुई:—

पं० दरबारीलालजी। (१)

वस्तुमें पर्यायें अनन्त हैं और क्रमवर्ती हैं। अगर उन सबको जान लिया जाय तो उनमेंसे एक ऐसी पर्याय भी जानी जायगी जिसके बाद कोई पर्याय नहीं है। बादमें पर्याय न होनेसे वस्तु सान्त हो जायगी। परन्तु वस्तु सान्त हो नहीं सकती, इसलिये ज्ञानको सान्त मानना चाहिये।

पं० वंशीधरजी। (१)

क्रमवर्ती पर्याय अनन्त हों परन्तु जाननेवाला ज्ञान सबको युगपत् जानता है, इसलिये जाननेसे किसी पर्यायका छूटना नहीं हो सकता। सबको जानना है और वह सब अनंतप्रमाण हो तो वहाँ दिक्कत नहीं आवेगी, जबकि ज्ञानको युगपत् माना जाय। अल्पज्ञ ज्ञानमें ही क्रमवर्तीपना है। वह दोष है। वह दोष आवरणके नाश हो जानेपर नष्ट होजाता है। युगपत् ज्ञानसे किसी वस्तुका छूट आवश्यक नहीं है।

पं० दरबारीलालजी। (२)

ऊपर जो मैंने कहा है वह युगपत्‌को मान कर ही कहा है। तब भी वह दोष रहता ही है क्योंकि क्रमवर्ती पर्यायोंके एक साथ जान लेनेपरभी उनमेंसे कोई पर्याय ऐसी अवश्य मानलेना पड़ेगी जिसके बाद कोई पर्याय नहीं है। इसलिये ऊपरका दोष ज्योंका त्यों रहा।

पं० वंशीधरजी। (२)

जानलेनेके बाद कोई पर्याय ऐसी भी होगी जिसके बादका दूसरा पर्याय बिना जाना रहजाय, यह प्रश्नका भाव है। परन्तु यह बात क्रमसे जाननेमें ही होगी। युगपत् अगर जाना जाता है तो जैसे एक पर्यायको जानेगा, वैसे दूसरे तीसरेको भी, अर्थात् सभीको भी जानेगा। छूटनेका या बादके पर्याय माननेका कारण नहीं माना जा सकता। बाद और पेशतरका ऐसा व्यवहार युगपत् जाननेसे मानना जरूरी नहीं है।

पं० दरबारीलालजी। (३)

हमें ज्ञानकी मर्यादा बताना है कि वह अनन्त को विषय कर सकता है कि नहीं। जैसे एकको जाने वैसे दूसरेको जाने, इससे अनन्त सिद्ध नहीं होजाता है। यह बाततो तभी कही जा सकती है जब पहिले अनन्तको जानना सिद्ध होजाय। अभी यह असिद्ध ही है। छूटनेका कारण यही है कि वस्तु सान्त सिद्ध होजाती है, जो असम्भव है।

पं० वंशीधरजी। (३)

सांतता जो ज्ञानमें देखी जाती है वह उसी वक्त तक जब तककि ज्ञानके साथ दोष और कर्म लगे

हुए हैं दोषका अर्थ रागद्वेष है। रागद्वेषका अभाव होनेसे ज्ञानमें युगपत् अनेक पर्यायोंका जानना शुरू होता है और आवरण कर्मके अभाव होजानेसे सब को जाननेका सामर्थ्य होजाता है। ज्ञानमें जब कोई रुकावट नहीं तो उसमें अनन्त जाननेकी शक्ति मानने में उज्र न होना चाहिये। वस्तु अनन्त हैं, उन सबको ज्ञान इसीलिये जानता है कि वह दोष आवरण-रहित हो गया है। वस्तुको अनन्त माना जाता है तो साथ ही उस अनन्तताका ज्ञान होना भी प्रमाणित हो जाता है।

पं० दरबारीलालजी। (४)

दोषावरणके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता या निर्दोषता आ सकती है, न कि अनन्तता। जब ज्ञानमें अनन्त को जाननेकी शक्ति सिद्ध होजाय तभी आप यह कह सकते हैं कि वह उसके अभावसे अनन्तको विषय करता है। परन्तु पूर्ण वस्तुको केवलज्ञानका विषय माननेमें सान्तताका दोष है, इसलिये ज्ञानकी शक्ति अनन्त न रही।

वस्तु अनन्त है, यह बात हम मतिश्रुत ज्ञानसे भी जान सकते हैं, परन्तु वह अनन्तको विषय करने वाला नहीं माना जाता। इससे मालूम होता है कि वस्तुके अनन्तत्वका ज्ञान होना एक धर्मका ज्ञान होना है न कि अनन्त पर्यायोंका। यहाँ अनन्त पर्यायोंको विषय करने वाले ज्ञानको सिद्ध करनेकी जरूरत है।

पं० वंशीधरजी। (४)

दोषके अभावसे ज्ञानमें पूर्णता याने निर्दोषता आसकती है, यह बात तो आपने मानी है। जब हम दोषको देखते हैं तो अल्पज्ञता और क्रमवर्तीपना, ज्ञानके ये दो दोष ठहरते हैं। इसलिये दोषका हटना ही युगपत्पना और सर्वज्ञता ये गुण सिद्ध होजाते हैं। अल्पज्ञता और क्रमवर्तीपना ये ही दोष हैं। वे आवरण तथा रागद्वेषके अभावसे नष्ट हुए मानने पड़ते हैं। इसलिये वस्तुके जाननेमें कहीं और कभी रुकावट होनेका कारण नहीं है। अतएव ज्ञान युगपद्वर्ती और सर्व विषयवर्ती मानना सिद्ध होता है।

पं० दरबारीलालजी। (५)

अल्प यह सापेक्ष शब्द है। ज्ञानकी जितनी शक्ति सिद्ध हो, उससे कमको विषय करना अल्पज्ञता है। जब ज्ञानमें अनन्तको जाननेकी शक्ति वस्तुके सान्त होनेकी बाधासे बनही नहीं सकती तब पूर्णज्ञान भी सीमित ही होगा, और उसकी अपेक्षा न्यून या विकृतज्ञान अल्प कहलायगा। अल्पज्ञता के हट जानेसे अनन्तता नहीं आती है, परन्तु बहुज्ञता या सत्यता आती है। क्रमवर्तीपना, यह ज्ञान का स्वभाव है, न कि दोष। इसीलिए हम लोगोंमें ज्ञानकी वृद्धि होनेपर भी क्रमवर्तीपनेमें कुछ कमी नहीं होती है। एक छोटासा छोटा प्राणी जिस प्रकार एक समयमें एक ही तरफ उपयोग लगा सकता है, उसी प्रकार गणधरादि विद्वान भी एक ही तरफ उपयोग लगा सकते हैं। इसलिये क्रमवर्तीपना स्वभाव सिद्ध होता है, न कि दोष। उसको दोष सिद्ध करनेका कोई प्रमाण नहीं।

पं० वंशीधरजी। (५)

अल्पज्ञताके हटने पर बहुज्ञता सिद्ध होना तो आपने मान लिया। उस बहुतका [illegible] से बड़ा स्वरूप अपरिमित ही होगा। क्रमवर्तीपना यह भी हट जाय तो युगपत् ग्रहणकी शक्ति जरूर प्रकट होगी। अल्पज्ञता हटनेपर ज्ञान परिमित नहीं रह सकता। उसको सब वस्तुओंको ग्रहण करनेसे रोकेगा कौन? कोई भी रोकनेवाला फिर नहीं है। अल्पज्ञता या क्रमवर्तीपना स्वभाव नहीं हो सकते। यदि ये दोष सिद्ध हो जायँ तो दोषावरणकी हानि निःशेष होने पर लाभ क्या हुआ? जो बहुज्ञताका लाभ बताया वह क्षयोपशमका फल है। क्षयोपशमके होते भी कुछ उदय भी शेष रहता है और गणधरका उदाहरण क्षयोपशमवाले ज्ञानमें आता है। दोष क्षय होने पर जो ज्ञान होता है वह गणधरके ज्ञानसे बिलकुल जुदा है, इसलिए कर्मके क्षय होनेपर ज्ञानमें अपरिमितपना आना सिद्ध हो जाता है।

पं० वन्शीधरजीका उत्तर आनेपर लोगोंने कहा कि अब इस प्रश्नको बन्द करना चाहिए। तब पं० दरबारीलालजीने कहा कि अभी मुझे उत्तर देना है। तब एक सज्जनने कहा कि अंतिम उत्तर पं० वन्शीधरजी का रहेगा क्योंकि पक्ष आप की तरफ से था। तब पं०दरबारीलालजी ने कहा कि सर्वज्ञता की चर्चा पं०वन्शीधरजी ने रक्खी थी इसलिए पूर्व-पक्ष उन्हींका हुआ। तब उन सज्जन ने कहा कि अभी तो प्रश्न आपका था। तब पं०दरबारीलालजी ने कहा कि अगर इस प्रकार प्रश्न का विचार किया जाय तब एक प्रश्न मेरा हुआ जिसका अंतिम उत्तर पं०वन्शीधरजी का रहा। अब एक प्रश्न पं०वन्शीधरजी की तरफसे आवे जिसका अंतिम उत्तर मेरी तरफका रहे। लोगों ने कहा कि ठीक है, इस क्रम से चर्चा होना ही ठीक है। इसपर उस प्रश्नकी चर्चा समाप्त होगई और पं०दरबारीलालजी ने पं० वन्शीधरजीसे कहा कि जिस प्रकार मैंने एक प्रश्न उपस्थित किया था उसी प्रकार अब आप भी एक प्रश्न उपस्थित कीजिये। परन्तु पं०वन्शीधरजीने साफ कहा कि अब मैं कोई प्रश्न उपस्थित नहीं करना चाहता।

पं० दरबारीलालजी ने प्रश्न उपस्थित करने पर बहुत जोर दिया परन्तु पं० वन्शीधरजी टालते ही रहे और कोई प्रश्न रखनेके लिए राजी न हुए। इस प्रकार सर्वज्ञताकी चर्चा असमयमें ही समाप्त होगई।

दूसरे दिन दूसरे विषयों पर चर्चा करानेके सम्बन्धमें स्थानीय भाइयोंकी बैटक रात्रिके १२॥ बजे तक हुई। कलके लिए 'मुक्ति' और दिगम्बरत्व इन दो विषयोंको चुनागया।

—रघुवीरशरण जैन अमरोहा
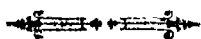
विविध वृत्त।

—रशियाकी बोलशेविक सरकार रशियावासियोंका ज्ञान बढ़ानेके लिए कितना प्रयत्न करती है, इसका अनुमान उस देशके पुस्तकालयोंसे किया जा सकता है।

'लेनिनग्रेड' नामक शहरमें ४०० पुस्तकालय हैं। रशियामें एक भी गाँव ऐसा न होगा जिसमें पुस्तकालय न हो। अबतक रशियामें ९००० पुस्तकालय थे। इस साल रशियाकी सरकारने १८ करोड़ रूबल खर्च करके १५०० नये पुस्तकालय स्थापित किये हैं।

—दुनियाँमें ऐसा आदमी भी है जो काचको चबा कर खाजाता है, और उसे कोई नुकसान नहीं पहुँचता।

—सेंडरलेण्डकी खानमें एक आदमी काम करता था। उसका नाम सेम्युअल वेसफोर्ड है। इस साल उसकी नौकरी जाती रही। उसमें प्रचंड शक्ति है। इसका उपयोग करके लोगोंने इससे एक जनसमूह के सामने उसकी शक्तिके प्रयोग कराये —

१—वह इलेक्ट्रिक लाइटके ग्लोब ककड़ीकी तरह चबा गया।

२—उसके सिरपर ईंट रक्खी गई और वह चार पाउंड वजनके हथोड़ेसे तुड़वाई गई।

३—एक साँकल तोड़ दी।

इस शक्तिप्रदर्शनसे उसकी अच्छी कमाई हुई। अब भविष्यमें वह यही काम करना चाहता है।

—युरोपमें मिडवोहा नामकी एक स्त्री है। वह संसारमें सबसे मोटी मानी जाती है। इसकी उम्र ३५ वर्ष की है। उसका वजन ५६० पाउण्ड यानी सात मन पक्का है।

—रूसमें मास्को नामका शहर है। उसमें पेट्रिका मॅकगिरी नामकी लड़की रहती है। वह १५ फरवरी सन १९३३ को गिर्जाघर जारही थी। रास्तेमें जाते हुए अचानक वह बीमार होगई। घर पहुँचनेपर वह सोई और उसे नींद आ गई। ६००० घंटे यानी ८ महिने और १० दिन तक वह सोती रही। उसके नथुनों द्वारा, डॉक्टर लोग दूध और नींबूका रस पेटमें पहुँचाते थे। इसीसे वह जिन्दा रह सकी।

—जर्मनीमें एक विज्ञानके पंडितने एक अजीब पत्थरकी शोध की है। इस पत्थर को चाहे जितनी

ऊँचाई पर ले जाकर छोड़ दो, वह वहीं रहेगा— जमीन पर नहीं गिरेगा। तेज हवा भी उसे नहीं गिरा सकेगी। इसकी परीक्षा की गई थी। विमान में दो मीलकी ऊँचाईपर लेजाकर यह पत्थर छोड़ा गया, मगर नीचे नहीं गिरा।

—कृष्णलाल वर्मा।
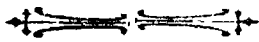
समाचार-संग्रह।

—आकोलामें सनातन जैन विधवा रक्षा विभाग नामकी एक संस्था है। इस संस्थाका मुख्य कार्य विधवाविवाह कराना है। इसके संस्थापक और शायद मुख्य संचालक भी ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी हैं।

इस संस्थाके कार्यकर्ता श्री कस्तूरचंद जैन हैं। इन्होंने कई विधवाविवाह कराये हैं। इनको आकोलाके मजिस्ट्रेटने इण्डियन पिनलकोडकी ४९४ धाराके अनुसार आठ महीनेके सख्त कैदकी सजा दी है। मुकद्दमा इस तरह क़ायम हुआ था—

श्री कस्तूरचंद जैनने एक विवाहिता स्त्रीको पुनः जान बूझकर मारुती सखारामके साथ ब्याह दिया स्त्रीके पहले पति को जब यह बात मालूम हुई तब उसने अदालतमें फर्याद की। जाँच करने पर मजिस्ट्रेटने कस्तूरचंद को अपराधी पाया और उपरोक्त सजा दी।

—बड़ौदेमें नटवरलाल शाह नामके एक नागर बनिये हैं। उनकी पुत्रीका नाम शांतागौरी है। इस युवतीने इसी साल महिला-विद्यापीठ पूनाकी जी० ए० की परीक्षा दी है।

श्रीमती शांतागौरीने, हाँसोटके रहने वाले और वर्त्तमानमें अहमदाबादकी अशोक इन्श्युरेंस कम्पनीमें कलर्कका काम करनेवाले श्रीयुत बलवंतरायके साथ ता० १८-४-३५ के दिन महाराष्ट्र मुकाम पर विधिवत शादी की है। ये भाई जातिके सुनार हैं।

—मद्रास प्रांतमें सीरमपलायम नामक एक गाँव है। उसमें एक किसान था। उसके घरमें उसकी पत्नी, एक लड़की और दो पुत्र ऐसे पाँच प्राणी थे। बेकारीके कारण गुजारा चलाना मुश्किल था। पाँचों प्राणी भूख की आगसे जलते थे, तड़पते थे और शून्य आकाश की ओर देखते थे।

किसानका नाम 'बेलप्प गौंडन' था। उसने ६मईको चारों प्राणियों को बुलाकर कहा—"इस जगत् में हमारे लिये सुख नहीं है; हमारे लिए सिर्फ भूख से तड़प तड़पकर मरना है। मैं समझता हूँ कि भूख की आगसे तिल तिल मरने की अपेक्षा एक दम जलकर मरना ज्यादा अच्छा है।" सभी उससे सहमत होगये।

खेतमें एक सूखा कुआ था। उसमें उन्होंने जंगलसे सूखी लकड़ियाँ जमा कर उनका ढेर लगा दिया। घरमें घासलेट था, वह उन पर उँडेल दिया और उसमें आग लगा दी। जब आग खूब जल गई तब सबने, घरमें जो नये कपड़े थे उन्हें पहना और कुए पर गये। पहले किसान कूदा, फिर उसकी स्त्री गिरी। लड़के लड़कियोंने निर्भीकतासे माता पिताका अनुकरण किया। सब जलकर खाक होगये। छोटा लड़का डरता झिझकता जब आग बुझ रही थी तब गिरा और उसी समय लोगोंके आजानेसे वह बचा लिया गया। वह भी काफी झुलस गया है।

न मालूम हिन्दुस्थानमें कितने करोड़ प्राणी भूखकी आगसे झुलसते होंगे और तड़पते होंगे!

—गुजरात प्रांतके म्हेसाणा तालुकेमें पाँचोट नामका एक गाँव है। उसमें एक आदमीने अपनी औरत को घासलेट डालकर जला दिया। औरत मर गई। कहा जाता है कि गाँवके मुखियाको इसकी खबर हुई, मगर उसने कुछ ध्यान नहीं दिया। स्त्रीके सम्बन्धियोंने पुलिस को खबर दी है। पुलिस जाँच कर रही है।

—बम्बईमें ता०९-५-३५ को साउथ ट्रीट और लॉकलीट्रीटके नाके पर कचरे की पेटीमेंसे एक तरत

के जन्मे हुए बच्चेका शव मिला। बच्चेके गलेमें नाखून के निशान थे। ऐसा जान पड़ता है कि बालक गला घोंटकर मार डाला गया था। —कृष्णलाल वर्मा।

भट्टारक चन्द्रकीर्तिजी महाराजकी लीला—

श्री महावीर अतिशयक्षेत्रके भट्टारक श्री चन्द्रकीर्तिजी महाराजकी कीर्तिका कहाँतक वर्णन करें! उनकी लीलाओंको प्रकट करते लज्जा आती है।

श्रीमानके पास माधोपुर निवासिनी एक स्त्री, जिसको आप अपने भतीजेकी पत्नी बतलाते हैं, अकसर आया जाया करती है और वह आपके मकानमें ही ठहरा करती है। अबकी बार वह मेलेपर अपने साथ एक औरत तथा एक लड़कीको भी लाई। भट्टारकजी महाराजके कस्तूरचन्द वज नामका एक भतीजा ३०–३५ वर्षका है। आपने अनायास ही ता० ११ मईको अपने उस भतीजेका विवाह उक्त लड़की के साथ, जो अभी केवल ७–८ वर्षकी है, करानेका पुण्यसम्पादन कर डाला। धन्य हैं ऐसे महापुरुषको!

निवेदक—दिगम्बर जैनपंचायत महावीर।

—सुजानगढ़ (बीकानेर) की दिगम्बर जैन खंडेलवाल पंचायतने निश्चय किया है कि वहाँ जाने वाली बारातको खातिरदारीके तौरपर दूध, चाय, ठंडाई आदि न पिलाई जाय। अगर व्यर्थव्यय रोकनेकी मंशासे पंचायत ने यह निश्चय किया है तो उसे अन्य अनेक अनावश्यक रस्मों यथा चार दिन तक बारातका ठहरना, कई दावतें जिमाना आदिमें कमी करना उचित था, जिससे कुछ वास्तविक किफायत होती तथा वर व कन्या पक्षवालोंको कुछ आराम मिलता और परेशानी कम होती। अथवा पंचायतको कमसे कम इतना तो अवश्य ही निश्चय करना चाहिये था कि सुजानगढ़से बारात कहीं बाहर जावेगी तो वह दूध, चाय, ठंडाई आदि न पीवेगी। —संवाददाता।

स्थानीय समाचार—गत सप्ताहमें यहाँ पट्टाभिषेक, वेदी प्रतिष्ठा आदि [illegible] चहल पहल रही। श्रीमान पंडित हरखचंदजी "श्रीमान पूज्य भट्टारकजी श्री १०८ हर्षकीर्तिजी महाराज" बन गये। दीक्षा–संस्कारसे पहिले हाथी पर बैठाकर खूब धूमधामसे उनकी बिंदोरियाँ निकाली गई थीं। समाजका हजारों रुपया व्यय कराकर अब भट्टारकजी महाराज धर्म व समाज की क्या अनुपम सेवा करेंगे, यह विवेकसम्पन्न लोगों को पहिले ही मालूम था, परन्तु भोलेभाले भाइयों को जरा आंख [illegible] पर मालूम होजावेगा। भट्टारक–संस्था इस जमानेमें कितनी उपयोगी है—खासकर जबकि उस पर कोई [illegible] व्यक्ति प्रतिष्ठित कर दिया जाय—[illegible] सब जानते हैं। स्वर्गीय [illegible] [illegible] लोगोंमें ही कुछ विशेष उत्साह नजर नहीं [illegible]। पं० वंशीधरजी प्रभृति लोग इसके समर्थन में [illegible] जिसने पृष्ठ काले करें, आपसगढ़ें, किन्तु यह [illegible] है कि कोई शास्त्रीय प्रमाण [illegible] हो और हो [illegible] के विषयमें किसी समझदार व्यक्ति को सशंकित नहीं कर सकता। भट्टारकजी अगर यह आशा करें कि [illegible] वस्त्र धारण करलेने मात्रसे ही अब सर्व [illegible] उनमें श्रद्धा–भक्ति रखने लगेंगे तो [illegible] धोखा खावेंगे। वे पंचों की उपेक्षा कर [illegible] भट्टारक बनबैठे, परन्तु उनमें भट्टारकोचित [illegible] रखना न रखना आपकी ही इच्छा पर [illegible] है। पक्षपाती दमन अथवा भट्टारकीय प्रपंच [illegible] भक्ति जबरन पैदा नहीं की जा सकती।

[illegible] वेदीकी नसियाँमें मुख्य वेदीका एक ओर श्रीमान पन्नालालजी बड़जात्या ने एक नूतन वेदी बनवा कर उसकी प्रतिष्ठा करवाई। श्रीमान सेठ मोतीलालजी रांवाशाकी इच्छा हुई कि मुख्यवेदी की दूसरी ओर दूसरी वेदी बनवा कर मैं भी प्रतिष्ठा कराऊँ। मगर वेदी तैयार न थी, इसकारण दूसरी तरफ एक ताककी ही प्रतिष्ठा कराकर उसमें प्रतिमा विराजमान करदी गई। लेकिन कुछ ही

[illegible]

मंदिरमें मुसलमान सिलावटोंको बुलाकर तोड़फोड़ शुरू करदी गई। रातों रात काम लगा परन्तु आकस्मिक आपत्ति आजानेके कारण सेठ मोहरीलालजी की यह इच्छा कि—मेला समाप्त होनेसे पहिले ही दूसरी वेदी खड़ी करदूँ—पूरी नहीं हो सकी। जैसाकि हर जैन मेलेमें होता है, सुना है कि इस मेलेमें भी भट्टारकजी को खर्च की अपेक्षा आमदनी अधिक हुई है। अतः सम्भव है भट्टारकजी कुछ समय बाद वेदी तैयार होजाने पर फिर उत्सव करा देंगे। इसमें उनका लाभ ही है। —स्पष्टवक्ता।

—लखनेरा (जिला कटनी) में एक कोने पचास की एक दस वर्षकी बालिकाको अपने घरमें बुलाकर केवल १२) के जेवरके लोभसे उसको पत्थरसे मारकर उसकी लाशको खेतमें डाल दीया।

—फिरोजपुर झिरकामें कुछ गुंडों ने मिलकर एक ब्राह्मण युवकको घेर लिया तथा उसके कानोंमें से सोनेकी मुरकियाँ, गलेके सोनेके बटन तथा ७५) नकद छीनकर उसे कत्ल कर डाला और लाशको जंगलमें डाल दिया।

—एक हिन्दू महाशयने लोभवश अपनी विवाहिता लड़कीका जेवर कहीं गिरवी रख दिया। लड़कीके ससुरालवालोंको जब यह हाल मालूम हुआ तो उन्होंने उसके पास नकद रुपये भेज दिये, किन्तु उसने फिर भी जेवर नहीं छुड़ाया। इसपर ससुराल वालों ने वधूको अपने घरसे निकाल दिया। वह अपने पीहर गई तो उस लोभी पिताने भी उसे अपने घरमें आश्रय न दिया। इस पर विवश होकर बेचारी अबला ने अपने डेढ़ वर्षके बालकको मारकर अपने कपड़ों में मिट्टीका तेल छिड़ककर आग लगाली।

—बम्बईकी भजेश्वरीदेवीको प्रसन्न करनेके लिये ता० १ मईको सतरह हजार बकरोंकी बलि चढ़ाई गई।

—ता० ५ मईको वृंदावनमें श्रीमती ललिता देवी अग्रवालका पुनर्विवाह मथुराके श्रीमान प्यारेलालजी अग्रवालके साथ बड़ी धूमधामसे हुआ। बारातमें मथुरा के ६० से अधिक प्रमुख अग्रवाल सम्मिलित हुए थे।

—कोचीनमें पंडोंको कुछ यात्री स्त्रियोंसे सीधी तरह इच्छित दक्षिणा न मिली तो वे उन्हें अपमानित करने तक पर उतारू होगये। आखिर उन्हें इसप्रकार तंगकर स्नान-दक्षिणामें उनके जेवर उतरा लिये।

—इन्दौरके हिंदीविश्वविद्यालयके संचालनके लिये श्री० रावराजा सरसेठ हुकमचंदजीकी अध्यक्षतामें एक कमेटी नियुक्त हुई है।

—नागपुरके श्रीमान रतनसावजी परवारका गत ता० २७ अप्रेलको स्वर्गवास हुआ। परवार समाज में किसी व्यक्तिके मरनेके १२वें रोज उसका मोसर (नुकता) करनेका आम रिवाज है। तदनुसार स्थितिपालक दल वालोंने उक्त साहुजीकी विधवापत्नी श्रीमती इन्द्रानी देवीको अपने पतिका मोसर करने लिये बहुत दबाया। इधर सुधारक दलकी ओरसे श्री० सेठ पूनमचंदजी घाँका तथा पन्नालालजी परवार आदिने उन्हें मोसरप्रथाकी अप्रानुषिकता तथा उससे होनेवाली हानियोंके विषयमें भले प्रकार समझाया। हर्ष है कि सद्बुद्धिसे प्रेरित होकर श्रीमती इन्द्रानी देवीने अपने पतिका मोसर करनेसे इनकार करदिया और इस तरह परवार समाजके सम्मुख एक मार्ग प्रदर्शकका काम किया जिसके लिये परवार समाज को उनका हृदयसे आभार मानना चाहिये।

—मलाबार जिलेके एक गाँवमें एक शख्सने अपने सम्बन्धियों व मेहमानोंको ज्यौनारके लिये आमंत्रित किया। भोजनके पश्चात ही एकाएक कई आदमियोंको दस्त होने लगे और उनमेंसे ९ व्यक्ति उसी समय मरगये।

—जबलपुरमें मुसम्मात छोटी नामक हिंदू विधवा युवतीको पुलिस ने गिरफ्तार कर उस पर यह आरोप लगाया है कि उसने अपने बच्चेको पैदा होते ही गला घोंट कर मार डाला था।

—सहनगंज किशनगढ़की जैनपंचायत ने सुन्दरबाई नामकी दिगम्बर जैन खंडेलवाल विधवाको दुश्चरित्रता व गर्भपात आदिके कारण बहुत अर्सेसे जातिसे अलग कर रखा था। अब उसे प्रायश्चित देकर उक्त पंचायत ने पुनः शामिल करलिया है।

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

कि सभाने न किसी प्रकारका इस सम्बन्धमें निर्णय ही किया है (निर्णय तो क्या, विचार तक भी नहीं किया है) और न मैंने ही सभापतिकी हैसियतसे इस सम्बन्धमें कुछ कहा है। वह रिपोर्ट न तो सभा का ही निर्णय है और न वह मेरे द्वारा स्वीकृत ही हुई है अतः मैं स्पष्ट शब्दोंमें उस रिपोर्टको नाजायज करार देता हूं और रिपोर्टर महोदयकी हरकत पर दुःख व आश्चर्य प्रगट करता हूं। सहृदय व विवेकी पाठकों से निवेदन है कि वे उस रिपोर्टके आधारपर यहाँकी सभा व पंचायतके सम्बन्धमें किसी प्रकारका विचार न बनाएँ व उस रिपोर्टको गैरकानूनी समझकर कुछ महत्व न दें।

"रिपोर्टमें श्रीमान पं० दरबारीलालजीके पक्षको कमजोर व पं० वंशीधरजीके पक्षको मजबूत बतलाया गया है। मैं सभापतिकी हैसियतसे या सभा की ओरसे इस सम्बन्धमें कोई फैसला देना उचित नहीं समझता, परन्तु मात्र इतना ही कहना काफी समझता हूँ कि सभा इस विषयमें मौन है। उक्त रिपोर्ट सभाकी ओरसे नहीं बल्कि भाई भोलानाथकी ओर से है और वे अपनी व्यक्तिगत रिपोर्टमें मनचाहा लिख सकते हैं; इसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

"चर्चामें कोई निर्णय देनेका अधिकारी मध्यस्थ नहीं था, दोनों विद्वानोंके विचारोंको सुनकर वस्तुस्थितिका निर्णय करनेके पवित्र उद्देश्यसे चर्चाका आयोजन किया गया था, न कि उसे शास्त्रार्थका रूप देकर हार जीतका निर्णय देनेके लिये समस्त जैन भाइयोंने दोनों विद्वानोंके विचारोंको प्रेमपूर्वक सुना, बस यहीं उस चर्चाके उद्देश्यकी इतिश्री हो जाती है। अध्यक्ष महोदयका चुनाव तो केवल इसी उद्देश्यसे किया गया था कि चर्चा सानन्द व शांतिपूर्वक समाप्त हो। अध्यक्ष महोदयको समाजने किसी प्रकारका रिमार्क लिखने या निर्णय देनेका अधिकार नहीं दिया था। उन्हें मात्र इतना हक था कि समय देख देखकर निर्णयानुसार प्रश्न-उत्तर करवाएँ व अशांति उत्पत्तिका निराकरण करके चर्चाको सानन्द व शांतिपूर्वक समाप्त करा दें; न कि यह कि वे अध्यक्षकी हैसियतसे चर्चाके विषय में टीका टिप्पणी करें। रिमार्कमें जो विचार प्रकट किए गए हैं वे रिमार्कर महोदयके व्यक्तिगत विचार समझे जायं। सभा या समाजका उनमें किसी प्रकार का सम्बन्ध न समझा जाय।

"अन्तमें मैं संक्षेपमें यही घोषणा करना चाहता हूँ कि उस रिपोर्ट व उसके अंगस्वरूप रिमार्कका जैन सभा अमरोहासे किसी प्रकारका सम्बन्ध न समझा जाय, उन्हें व्यक्तिगत माना जाय।"

—रघुनन्दनप्रसाद जैन
सभापति-जैन सभा अमरोहा।

दमोह(सी पी)में सनातन जैनसमाजका सातवाँ वार्षिकोत्सव—श्रीमान ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी द्वारा संस्थापित सनातन जैनसमाजका सातवाँ वार्षिकोत्सव दमोह(सी.पी.)में ता० १३ व १४ जून को होना निश्चित हुवा है। उत्सव को सफल बनानेके लिये खूब तैयारियाँ की जा रही हैं। सुयोग्य सभापतिके निर्वाचनके लिये प्रयत्न किया जा रहा है। जैनसमाजकी उन्नतिके इच्छुक बंधुओंको उत्सव पर पधार कर उसमें पूर्ण योग देनेके लिये अभीसे तैयारी कर लेना चाहिये। —मंत्री।

—कोटपूतलीके एक महाशय अपने पुत्रका—उसकी वधूकी मौजूदगीमें—दूसरा विवाह करनेका आयोजन कर रहे हैं। लड़का समझदार नौजवान है। उसका पहिला विवाह तीन साल पहिले कलकत्तामें हुवा था, जिसपर शारदा एक्टके अनुसार केस भी चला था। दूसरा विवाह करनेका कारण यह बताया जाता है कि प्रथम वधू के पैरमें कुछ लंगड़ापन है।

ज्येष्ठ कृष्णा ३०
वीर संवत् २४६१

अंक १३
ता० १ जून
सन् १९३५ ई०

जैनधर्मका मर्म ।

(६३)

सल्लेखना ।

जैनधर्ममें व्रतोंके प्रकरणमें सल्लेखनाका भी उल्लेख किया जाता है। यह मृत्युसमयकी क्रिया है तथा मुनि और श्रावक, कोई भी इसे कर सकता है इसलिये इस व्रतका अलग विधान किया गया है। यद्यपि किसी ने इसे शिक्षाव्रतोंमें भी गिना है—जैसा कि पहिले कहा जा चुका है—परन्तु अधिकांश लेखकोंने इसे अलग ही रक्खा है।

जिस समय मृत्युका निश्चय हो जाय अथवा कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होजाय कि मृत्युको स्वीकार किये बिना कर्तव्यभ्रष्टतासे बचनेका दूसरा कोई उपाय न हो, उस समय अपने कर्तव्यकी रक्षा करते हुए जीवनका उत्सर्ग कर देना सल्लेखना है।

बहुतसे धर्मोंमें इस प्रकारके जीवनोत्सर्गका विधान पाया जाता है। कहीं जलमें डूबने, कहीं पर्वत से गिरने अथवा किसी दूसरे रूपसे प्राणोंके उत्सर्ग करनेका विधान है। परन्तु आजकल वैसे विधानों का कोई मूल्य नहीं है, क्योंकि एक तो उनकी नींव अन्धश्रद्धा पर खड़ी हुई है, दूसरे उसकी कोई उपयोगिता सिद्ध नहीं होती है। किसी देवताको खुश करनेके लिहाजसे मरजाना अन्धश्रद्धाका भयंकर परिणाम है, क्योंकि न तो कोई ऐसा देवता है और न उसे इस प्रकारसे खुश करने की जरूरत है। हाँ, कर्तव्यकी वेदीपर बलिदान करना ही सच्चा बलिदान है। समाजकी रक्षाके लिये जान लड़ा देना, दूसरोंकी सेवामें शरीर देना पड़े तो देना आदि ही सच्चा बलिदान है। अमुक जगह मरनेसे या अमुक का नाम लेकर मरनेसे स्वर्ग या मोक्ष मिल जायगा, इस प्रकारकी अन्धवासनासे प्राण देनेका कोई फल नहीं है। वह एक प्रकारकी आत्महत्या ही है।

अपनी और जगत्की भलाईकी दृष्टिसे जब प्राणोत्सर्ग करना अधिक कल्याणकारी मालूम हो तभी प्राणोत्सर्ग करना चाहिये। पुराने समयकी प्राणोत्सर्ग क्रिया इतनी विकृत और दुर्वासनापूर्ण थी कि वह एक प्रकारसे नामशेष ही होगई या अन्धश्रद्धालुओंके लिये बच रही। धार्मिक उपयोगिता की दृष्टिसे उसका कुछ मूल्य न रहा। किन्तु जैनधर्मने उसका इतना अधिक संशोधन किया है कि वह शोधे हुए विषकी तरह औषधका रूप धारण कर गई है। आज उसमें थोड़े बहुत संशोधनकी आवश्यकता और होगई है; उस संशोधनके बाद वह आज भी उपयोगी है।

जैनधर्मने जो इस विषयमें संशोधन किया है उसमें सबसे बड़ा संशोधन यह है कि उपवासको छोड़कर मृत्युके अन्य सब उपायोंकी मनाई करदी गई है। जब कोई ऐसी असाध्य बीमारी हो जाय कि उसके कष्टोंका सहन करना कठिन हो, उसके मारे हम दूसरों की सेवा भी न करसकते हों, बल्कि दूसरोंसे अधिक सेवा लेनी पड़ती हो, उस समय उप-

वास करके शरीर छोड़ना चाहिये। जलमें डूबने आदि उपायोंकी सख्त मनाई है। और उपवासका विधान भी एकदम नहीं है; किन्तु प्रारम्भमें नीरस भोजन करना चाहिये, बादमें अन्न त्याग करना चाहिये, बादमें छाछ वगैरह किसी पेय वस्तुके आधार पर रहना चाहिये, इसके बाद शुद्ध जलके आधार पर रहना चाहिये, इसके बाद पूर्ण उपवासका विधान है या सिर्फ जलके आधार पर रह सकता है। इस प्रक्रियासे दिनों महीनों और वर्षोंका समय लग जाता है। एकदम प्राण त्याग करनेमें जो संक्लेश अपनेको और दूसरोंको होता है, वह इस प्रक्रियामें नहीं होता। इसके अतिरिक्त यह प्रक्रिया मरणकी ही नहीं, जीवनका भी उपाय है। इस प्रकारका भोजन-त्याग कभी कभी असाध्य बीमारियों तकको दूर कर देता है। अगर भोजनत्यागसे बीमारी शांत होजावे और जिन कारणोंसे सल्लेखना की थी वे कारण हट जावें तो सल्लेखना बन्दकर देना चाहिये। इस प्रकार के संशोधनसे सल्लेखना की उपयोगिता और भी अधिक बढ़ जायगी।

आत्महत्या और सल्लेखनामें जमीन आसमान से भी अधिक अन्तर है। आत्महत्या किसी कषाय के आवेगका परिणाम है, जब कि सल्लेखना त्याग और दयाका परिणाम है। जहाँ अपने जीवनकी कुछ भी उपयोगिता न रह गई हो, और दूसरोंको व्यर्थ कष्ट उठाना पड़ता हो, वहाँ शरीर-त्यागमें दूसरों पर दया है।

प्रश्न—जिन रोगोंको बड़े बड़े वैद्य असाध्य कहदेते हैं, उनसे भी मनुष्यकी रक्षा होजाती है। क्षणभर बाद क्या होनेवाला है, इसको पूर्ण निश्चय के साथ कौन कह सकता है? इसलिये मृत्युका भी पूर्ण निश्चय कैसे होगा? और पूर्ण निश्चयके बिना सल्लेखना लेना उचित नहीं कहा जासकता। वह तो आत्मवध हो जायगी।

उत्तर—मनुष्यके पास निश्चय करनेके जितने साधन हैं उन सबका उपयोग करनेपर जो निर्णय हो, उसीके आधार पर काम करना चाहिये। अन्यथा मनुष्यको बिलकुल अकर्मण्य होजाना पड़ेगा। जीवनके वह सारे काम अपने ज्ञानसे करता है। यह काम भी उसे इसी तरह करना चाहिये। हाँ, उसके भीतर किसी प्रकारका कषायावेश न हो, शुद्ध बुद्धिसे विचार करे। इस प्रकारका तथा निम्नलिखित चार बातोंका विचार करके सल्लेखना स्वीकार करे। लोक-लज्जा आदिसे सल्लेखना न ले और न किसी को जबर्दस्ती सल्लेखना दे।

क—रोग अथवा और कोई आपत्ति असाध्य हो
ख—सबने रोगीके जीवन की आशा छोड़दी हो
ग—प्राणी स्वयं प्राणत्याग करने को तैयार हो।
घ—जीवनकी अपेक्षा जीवनका त्याग ही उसके लिये श्रेयस्कर सिद्ध होता हो।

इसके अतिरिक्त और बातें भी विचारणीय होसकती हैं। जैसे उसकी परिचर्या करना अशक्य हो और परिचर्या करने पर भी उसकी असह्य वेदनामें कमी न की जासकती हो, आदि। यह बात पहिले ही कही जाचुकी है कि सल्लेखना करनेसे अगर किसीका स्वास्थ्य सुधर जाय तो सल्लेखना बन्द कर देना चाहिये।

प्रश्न—यदि स्वास्थ्य सुधरने पर सल्लेखना बन्द करदी जाय तो सल्लेखना एक प्रकारकी चिकित्सा (उपवास-चिकित्सा) कहलाई। तब व्रतोंके प्रकरणमें उसके विधान की क्या आवश्यकता है? उसे तो चिकित्साशास्त्रमें शामिलकरना चाहिये।

उत्तर—उपवास-चिकित्सा और सल्लेखनामें अन्तर है। चिकित्सामें जीवन की पूरी आशा और चेष्टा रहती है, सल्लेखना उस समय की जाती है जबकि जीवनकी न तो कोई आशा रहती है, न उसके लिये कोई चेष्टा की जाती है। अकस्मात् कोई

ऐसी परिस्थिति पैदा होजाय कि उपवास वगैरहसे निराशामें आशाका उदय होकर उसमें सफलता हो जाय तो जबर्दस्ती प्राणत्याग करनेकी जरूरत नहीं है; क्योंकि सल्लेखना आत्महत्या नहीं है, किन्तु आई हुई मौतके सामने वीरतासे आत्मसमर्पण करना है। इससे मनुष्य शांति और आनन्दसे प्राणत्याग करता है। मृत्युके पहिले जो उसे करना चाहिये वह कर जाता है। मौत अगर टल जाय तो उसे जबर्दस्ती न बुलाना चाहिये।

सल्लेखनाका मुख्य कारण रोग अथवा और ऐसी ही कोई शारीरिक विकृति है। परन्तु अन्य कारणोंका भी उल्लेख किया जाता है। जैसे उपसर्ग, दुर्भिक्ष, वृद्धता आदि। ये कारण पुराने समयकी मुनिसंस्था को लक्ष्यमें लेकर बताये गये हैं। पुरानी मुनिसंस्थाके नियमानुसार उपसर्ग आने पर मुनिको भागना न चाहिये, न बचाव करना चाहिये, इसलिये सल्लेखना ही अनिवार्य है। इसी प्रकार दुर्भिक्षमें मुनिके योग्य निर्दोष आहार नहीं मिल सकता, इसलिये भी उसे प्राणत्याग करना चाहिये। इसी प्रकार अतिवृद्ध हो जाने पर मनुष्य मुनियोंके आचारका पूरी तरह पालन नहीं कर सकता इसलिये आचारहीन होनेकी उपेक्षा प्राणत्याग श्रेष्ठ है।

पुरानी मुनि-संस्थाके ये नियम आज बदलदिये गये हैं, इसलिये सल्लेखनाके ये कारण भी आवश्यक नहीं कहे जासकते। परन्तु इनके भीतर जो दृष्टि है वह आज भी उपयोगी है। पुराने समयके उपसर्ग, दुर्भिक्ष आदिको हम सल्लेखनाके लिये पर्याप्त कारण मानें या न मानें परन्तु इसमें एक बात अवश्य है कि जब मनुष्य दुनियाँके लिये भारभूत हो जावे तो स्वेच्छासे सात्त्विक रीतिसे मृत्यु स्वीकार करे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं है। मनुष्यको भारभूत होने की कोशिश न करना चाहिये, किन्तु जब उसके ऊपर प्राकृतिक या परप्रायिकृत ऐसी विपत्तियाँ आजाँय कि वह न तो अपना ही कल्याण कर सके, न जगत्का कल्याण कर सके तो समाधिमरण उचित है। यह आत्महत्या नहीं है।

समाधिमरण आत्महत्या नहीं है, इसके विषयमें जैनाचार्योंने एक सुन्दर उपमा दी है। वे कहते हैं* कि जैसे कोई व्यापारी घरका नाश नहीं चाहता, अगर घरमें आग लगजाती है तो उसके बुझानेकी चेष्टा करता है, परन्तु जब देखता है कि इसका बुझाना कठिन है, तब वह घरकी पर्वाह न करके धन की रक्षा करता है; इसी तरह कोई आदमी शरीरका नाश नहीं चाहता परन्तु जब उसका नाश निश्चित हो जाता है तब वह शरीरको तो नष्ट होने देता है किन्तु धर्मकी रक्षा करता है; इसलिये यह आत्मवध नहीं कहा जा सकता।

यह आत्मवध नहीं है; किन्तु इसका दुरुपयोग न होने लगे, इसकेलिये सतर्कता रखना चाहिये।

अतिचार।

श्रावकोंके लिये जो बारह व्रत बताये गये हैं उनका वर्णन होचुका, परन्तु व्रतोंकी रक्षाके लिये उनके दोषोंका जानना आवश्यक है। अतिचार व्रत का दोष माना जाता है। अनाचार व्रतका नाश माना जाता है। अतिचारमें भी व्रतका नाश होता है, परन्तु कुछ अंशमें उसकी रक्षा रहती है। इसलिये आंशिक भंगको अतिचार और पूर्णभंगको अनाचार कहते हैं।

---

* यथा वणिजः विविध पण्यदानादान संचयपरस्य गृहविनाशोऽनिष्टः तद्विनाश कारणे चोपस्थिते यथाशक्ति परिहरति। दुष्परिहारे च पण्याविनाशो यथा भवति तथा यतते। एवं गृहस्थोऽपि व्रतशीलपुण्यसंचय प्रवर्तमानः तदाश्रयस्य शरीरस्य न पातमभिवाञ्छति। तदुपप्लवकारणे चोपस्थिते स्वगुणाविरोधेनपरिहरति दुष्परिहारे च यथा स्वगुणविनाशो न भवति यथा प्रयतति कथमात्मवधो भवेत्। —त० राजवार्तिक ७-२२-८

दोष या अतिचार सैकड़ों हो सकते हैं, परन्तु उनमेंसे मुख्य मुख्य पाँच पाँच दोष चुनकर गिनाये गये हैं। यहाँ उनका संक्षेपमें विवेचन किया जाता या नामावलि दी जाति है। जो अतिचार वर्तमान कालकी दृष्टिसे अनाचार रूप है अथवा जो दोष-रूप ही नहीं है, उसका स्पष्टीकरण उस जगह कर दिया जायगा।

अहिंसाणुव्रत—१ पशुओंको इस तरह जकड़ कर बाँधना जिससे उनको हिलना डुलना भी मुश्किल होजाय (बन्ध), २ उनको निर्दयतासे पीटना (वध), ३ कान नाक वगैरह छेदना ४ उनपर ज्यादः बोझा लादना, ५ खानेपीनेमें कमी करना। अगर ये काम दुर्भावसे न किये गये हों तो अतिचार नहीं हैं।

सत्याणुव्रत—१ झूठा उपदेश देना। इस अतिचारका साधारणतः जो अर्थ किया जाता है, वह ठीक नहीं है। जान बूझकर अगर झूठी बातका उपदेश दिया जाय तब तो वह अनाचार है। अगर किसी विषयमें हमारा विश्वास ही ऐसा हो और तदनुसार ही हमने उपदेश दिया हो तो वह व्रतकी दृष्टिसे अतिचार नहीं है। वास्तवमें इस अतिचारका अर्थ लापर्वाहीसे बोलना या दुराग्रह करना है। २-स्त्री पुरुष आदिकी चेष्टाओंको प्रगट करना। ३-दूसरेके कहनेसे झूठी बातें लिखना या नकली हस्ताक्षर * बना देना आदि। यह अतिचार नहीं वास्तवमें अनाचार है। ४-कोई मनुष्य अपने यहाँ कोई चीज रखगया हो और भूलसे कम माँगे तो जानते हुए भी उसका अनुमोदन करना। ५-चुगली खाना।

अचौर्याणुव्रत—१ किसीको चोरीके लिये प्रेरित करना। वास्तवमें यह अनाचार ही है। २—चोरीका सामान लेना। ३ मापने तौलनेके साधन न्यूनाधिक रखना। यह भी अनाचार है। ४ अधिक मूल्यकी वस्तुमें हीन मूल्यकी वस्तु मिलाकर बेचना। घीमें चर्बी मिलाना, पूछने पर झूठ बोलना आदि अवस्थामें यह अनाचार ही है। ५ सामान पर टैक्स वगैरह न देना। सत्याग्रहमें चोरीकी वासना न होने से वह अतिचार नहीं है।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—१ दूसरेकी सन्ततिका विवाह कराना। इसको अतिचार मानना निवृत्ति मार्ग का अतिरेक है। जिसकारणसे अपनी सन्तानके विवाहका आयोजन करना उचित है, उसी कारणसे दूसरेकी सन्तानका विवाह करना भी उचित है। पीछेके लेखकोंको इसकी अतिचारता खटकी भी है इसलिये उनने इसका दूसरा अर्थ किया है कि एक पत्नीके रहने पर अपनी दूसरी शादी करना परविवाह करण अतिचार है। ‡ इस अर्थकी दृष्टिसे बहुपत्नीत्वके रिवाज वाले देशमें यह अतिचार माना जा सकता है। जहाँ बहुपत्नीत्वकी प्रथा नहीं है, वहाँ तो यह भी अनाचार है। जहाँ तलाकका रिवाज हो वहाँ पर तलाक देना अतिचार मानना चाहिये, या तलाक देकर दूसरा विवाह करना अतिचार है। अथवा दूसरा विवाह करनेकी इच्छासे तलाक देना अतिचार है। २ दूसरेके द्वारा परिगृहीत वेश्याके पास जाना। ३ अथवा अपरिगृहीत वेश्याके पास जाना। पहिले समयमें इस विषयमें नैतिकताके बन्धन बहुत शिथिल थे, इसलिये वेश्यासेवन भी अतिचार ही था, न कि अनाचार। परन्तु स्त्रियोंके साथ यह अत्याचार है। वास्तवमें वेश्यागमन भी

* अन्येनानुक्तमननुष्ठितं च यत्किञ्चित्तस्य पर प्रयोगवशादेव तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तम् लेखनम्। अन्यसरूपाक्षर करणमित्यन्ये। सागारधर्मामृत ४—४५।

‡ यदा तु स्वदार सन्तुष्टो विशिष्टसंतोषाभावात् अन्यत्कलत्रं परिणयति तदाप्यस्यायमतिचारः स्यात्। परस्य कलत्रान्तरस्य विवाह करणमात्मना विवाहनम्। सागारधर्मामृत ४—५८।

अनाचार है । हाँ, अविवाहित पुरुषकी दृष्टिसे इसे अतिचार कह सकते हैं, परन्तु विवाहितके लिये तो अनाचार ही है। दो पुरुषोंमें होने वाला कामसेवन भी वेश्यासेवनके समान दोष है। ४ कामसेवनके सिवाय भिन्न अंगोंसे कामसेवन करना । ५ कामोत्तेजना अधिक होना या इसके लिये कामोत्तेजक पदार्थोंका उपयोग करना ।

आचार्य समन्तभद्र ने परिगृहीत और अपरिगृहीत, इसप्रकार वेश्याके दो भेद नहीं रक्खे हैं। उनने दोनोंके स्थान पर एक ही अतिचार माना है और पाँचकी संख्या पूरी करनेके लिये विटत्व—भण्डपनसे भरी हुई वचन और मनकी चेष्टाएँ को अतिचार माना है। यह मतभेद साधारण है।

परिग्रह परिमाण—धनधान्यादि परिग्रहकी मर्यादा का उल्लंघन करना अतिचार ‡ है। मर्यादाका उल्लंघन करनेसे तो अनाचार ही हो जायगा। इसलिये उल्लंघन करनेमें भी मर्यादाकी अपेक्षा रखना चाहिये। जैसे गायके गर्भवती होने पर संख्या बढ़ जाती है, परन्तु उसे गिनतीमें शामिल न करना। आभूषणों की संख्या बढ़ रही हो तो दो आभूषणोंको मिलाकर एक कर देना आदि।

आचार्य समन्तभद्रने इस व्रतके अतिचारोंके नाम दूसरे ही दिये हैं †। १—पशु जितनी दूरतक चल सकते हैं उससे अधिक दूरतक चलाना। २—आवश्यकतासे अधिक संग्रह करना। ३—लाभके आवेशसे बहुत आश्चर्य करना। ४—बहुत लोभ—कंजूसी—करना। ५—लोभसे पशुओंपर बहुत भार लादना।

दिग्व्रत और देशविरतिकी आज आवश्यकता ही नहीं है, इसलिये उनके अतिचार नहीं बताये जाते।

सामायिक—मन वचन कायकी चञ्चलता, अनादरसे सामायिक करना या भूल जाना। ये बातें प्रतिक्रमण प्रार्थना आदिमें भी लगाना चाहिये। प्रतिक्रमणमें एक बड़ा भारी अतिचार यह गिनना चाहिये कि जिससे क्षमायाचना करना चाहिये उससे न करके दुनियाँ भरके जीवोंसे क्षमायाचना करना।

स्वाध्याय—पहिले यह बारह व्रतोंमें नहीं गिना जाता था इसलिये इसके अतिचार नहीं बनाये गये। अब इसके अतिचार यों समझना चाहिये।

१—मनकी असंलग्नता, २—वचनकी विसंलग्नता, (मौनमें वचनकी असंलग्नता रहती है, परन्तु मौनमें भी स्वाध्याय अच्छी तरह होता है, इसलिये वचन की असंलग्नता अतिचार नहीं है किन्तु विसंलग्नता अर्थात् स्वाध्यायके समय विचार किसी और बातका करना और बोलना कुछ और, अतिचार है। हाँ, कोई आवश्यक सूचना करना पड़े तो यह अतिचार नहीं है)। ३—अनादरसे पढ़ना सुनना आदि ४—भूल जाना। ५—पक्षपात. इससे सच्चे ज्ञानकी प्राप्तिमें बाधा पड़ती है, इसलिये यह बड़ा भारी अतिचार है।

कायकी असंलग्नता या विसंलग्नताको अतिचार नहीं कहा, इसका कारण यह है कि चलते फिरते या लेटे हुए भी स्वाध्याय हो सकता है, इसलिये वह दोष नहीं है।

अतिथिसेवा—मुनियोंको भोजन देनेकी दृष्टिसे पुराने समयमें अतिचार बताये गये थे। इसलिये सचित्त वस्तुसे ढक देना, उसमें रखना, देय वस्तु दूसरेकी बता देना, अनादरसे देना, कालका उल्लंघन करना अतिचार थे। सचित्तका अर्थ अभक्ष्य करने पर आज भी ये अतिचार कहे जा सकते हैं। परन्तु अतिथिसेवामें सिर्फ भोजन कराना ही न समझ लेना

---

‡ क्षेत्रवास्तु हिरण्य सुवर्ण धनधान्य दासीदास कुप्य प्रमाणातिक्रमाः। —तत्त्वार्थ ७-२९।

† अतिवाहनातिसंग्रह विस्मय लोभाति भार वहनानि।
परिमित परिग्रहस्य च विक्षेपाः पञ्च लक्ष्यन्ते॥
—रत्न क० श्रा० ३-१६।

चाहिये; अन्य प्रकारकी सेवाका भी यथायोग्य समावेश करना चाहिये।

दान—इसको एक अलग व्रतके रूपमें रक्खा गया है। इसके मुख्य अतिचार निम्नलिखित मानना चाहिये—१-निरुपयोगी कार्योंमें देना, २-अहङ्कार करना, ३-यशकी वासनाको मुख्यता देना, ४-बदले की वासना रखना, ५-अनादर या अनिच्छासे देना आदि।

भोगोपभोग परिसंख्यान—इसके अतिचार दो तरहके * मिलते हैं—

पुरानी मान्यता यह है—१-सचित्ताहार, २-सचित्तसे सम्बद्ध वस्तुका आहार, ३-सचित्तसे मिश्रित वस्तुका आहार, ४-मादक आदि वस्तुओंका आहार, ५-अधपकी वस्तुका आहार। ये पाँचों अतिचार सिर्फ भोजनके विषयमें हैं जब कि भोगोपभोग परिसंख्यानका क्षेत्र विशाल है, इसलिये अतिचारोंका यह पाठ बहुत अपूर्ण है। इसलिये आचार्य समन्तभद्रने जो संशोधन किया है या जो पाठ दिया है वह अधिक उपयुक्त है। १-विषयोंमें आदर रखना, २-बार बार विचार करना, ३-अत्यधिक लालुपना रखना अर्थात् प्रतिकार होजानेपर भी इच्छा रखना, ४-भविष्यके भोगोंमें तन्मय होना, ५-अत्यधिक तल्लीन होना। और भी अतिचार बनाये जासकते हैं।

अनर्थ दंडविरति—१-असभ्य परिहास करना, २-असभ्य चेष्टा करना, ३-व्यर्थ बकवाद करना, ४-बिना विचारे प्रवृत्ति करना, ५-अनावश्यक संग्रह करना।

प्रोषध—१-२-३-बिना देखे शोधे वस्तुओंका उठाना रखना और बिछाना, ४-५-धार्मिक क्रियाओं में अनादर रखना और भूल जाना।

प्रोषध इसलिये है कि भोजनकी तरफसे निराकुल रहकर मनुष्य अधिक सेवा स्वाध्याय आदि कर सके तथा स्वास्थ्य भी ठीक रख सके। इन उद्देश्योंको धक्का पहुँचानेसे अतिचार हो जाता है।

सल्लेखना—१-जीवनकी इच्छा रखना, २-मरने की इच्छा रखना, (उस समय मनुष्यको मृत्यु और जीवनमें समदर्शी होना चाहिये) ३-मित्रोंका स्मरण कर करके दुखी होना, ४-पुराने भोगोंका स्मरण करना, ५-भविष्यके लिये भोगोंकी लालसा रखना।

अतिचार अनेक हैं। यहाँ तो नमूनेके तौर पर मुख्य मुख्य गिनाये गये हैं। जैनाचार्योंमें इस विषय में भी अनेक मतभेद हैं, जिससे तात्त्विक हानि तो नहीं है, परन्तु उससे इतना तो सिद्ध होता है कि ये आचार्य अरहन्तके नामकी दुहाई देकर देशकाल के अनुसार स्वेच्छासे नये नये विधान बनाया करते थे। उनका यह प्रयत्न लोगोंको समझानेके लिये उचित ही था।
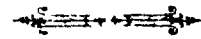
विधवा-जीवन।

विधवा गृह-जीवन में धर्म कैसे पाल सकें।
धंधिन में लगी जो बँदोड़सी रहत हैं॥
भजन कहाँ ते बने भोजन के लाले रहें।
वस्त्र बिना उष्ण-शीत वेदना सहत हैं॥
आश्रमन की धर्मशून्य घटनाएं जानें सभी।
लाज हमें आवत है, कछु जो कहत हैं॥
सुखमयी जीवन हमारो यदि चाहो "नाथ"
तीसरो उपाय वही, हम जो चहत हैं॥

—सुखवाँ।

---

* सचित्तसम्बन्ध संमिश्राभिषव दुःपक्वाहाराः।
—तत्त्वार्थ ७-३५।

विषयविषतोऽनुपेक्षाऽनुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ।
भोगोपभोग परिमा व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते॥
—रत्न० श्रा० ३-४४।

अमरोहामें विद्वानोंकी चर्चा ।

(२)

ता० १२ मईकी रात्रिको ही सब पंचोंने बैठकर ता० १३ के लिये प्रोग्राम बना लिया था, जिसमें यह निश्चय किया गया था कि ता० १३ के दुपहरमें पं० वंशीधरजी शोलापुर प्रश्न करेंगे और पं० दरबारीलालजी उत्तर देंगे और अंतिम उत्तर भी उन्हींका होगा; तथा शामको इसीतरह पं० दरबारीलालजी प्रश्न करेंगे और पं० वंशीधरजी उत्तर देंगे और अंतिम उत्तर भी उन्हींका होगा। तदनुसार दुपहर को सब लोग जुड़े और पं० वंशीधरजीसे प्रश्न करने के लिये कहा गया इसपर पं० वंशीधरजी ने बड़े जोरदार शब्दोंमें कहाकि मैं कभी प्रश्न नहीं करसकता, मेरा उत्तर सदा अन्तमें रहेगा पं० दरबारीलालजी का कहना था कि "मैं अपने विचारोंके प्रचारके लिए निकला हूँ, किसीसे प्रश्न पूछनेके लिए नहीं। इसलिये मेरे विचारोंके विषयमें जिसको शंका हो वह पूछे या विरोध करे; मैं उसका परिहार करूँगा। इतना होने पर भी कल मैंने पं० वंशीधरजीका अंतिम उत्तर पक्ष रहना स्वीकार कर लिया, वह सिर्फ इसीलिये जिससे यह चर्चा बन्द न होजाय। एक तो कल उनने चर्चाको अधूरी छोड़कर आगे बढ़नेसे इन्कार कर दिया और आज भी ऐसा ही कर रहे हैं।"

पं० वंशीधरजी गर्जन्त भाषामें यही बात कहते रहे कि हमारा तो जैनधर्म प्राचीन है, उसके मानने वाले यहाँ भी बहुत हैं, आपका यहाँ कौन है, आप के तो विचार नये हैं आदि—

पं० दरबारीलालजी ने सभ्य व नम्र शब्दोंमें कहा कि-मेरा कोई है कि नहीं इस बातसे सत्यासत्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। मुझे कोई जरूरत नहीं कि मैं फौजफाँटा या अनुयायीवर्ग लेकर चलूँ। मेरे पास तो सत्यका बल है, जिसका जी चाहे सामना करले। यदि आप पक्षाभिमानका परिचय देते हैं, तब मैं कमसे कम न्यायोचित व्यवहार अवश्य चाहूँगा। चर्चा समान उत्तर पक्षोंमें होगी जो कि होना चाहिये।

पं० दरबारीलालजीका कहना इतना उचित था कि यहाँका अधिकांश समाज—जो कि पं० दरबारीलालजीके विचारोंके विरुद्ध थी—उसे भी उनका कहना उचित मालूम हुआ। तब उनने पं० वंशीधरजीको अलग लेजा कर बहुत समझाया; परन्तु पण्डितजी कब मानने वाले थे ? वे तो पक्षाभिमान के नशेमें इतने मस्त थे कि उन्होंने "चिकने घड़े पर पानी" वाली कहावत चरितार्थ कर ही डाली। फिर कुछ लोगों ने पं० दरबारीलालजीको अलग लेजाकर प्रार्थना की कि किसी तरह आपही प्रश्न कीजिये, पं० वंशीधरजी तो मानतेही नहीं। तब पं० दरबारीलालजीने कहा कि जब प्रश्न रखना तौहीनीकी बात समझी जा रही है तब मेरा कर्तव्य है कि मैं अंतिम उत्तर पक्षोंको समान भागोंमें बँटवाऊँ। यह बात न्याय और रिवाज दोनोंके अनुसार ठीक है।

एक सज्जनने कहा—तो आप अभी एक पूर्वपक्ष और रख दीजिये; फिर आगेके प्रोग्रामोंमें दोबार पूर्वपक्ष उनसे रखवाया जायगा और इसप्रकार अंतिम उत्तर पक्ष दोनोंको बराबर मिल जायगा।

पं० दरबारीलालजी ने कहा—अभी आप एक उत्तर पक्ष दिलवा नहीं सकते, फिर आगे दो उत्तर पक्ष क्या दिलवा सकेंगे ? एक बार उत्तर पक्ष दिलवानेमें जो बाधा अभी है और उसको आप हटा नहीं सकते तो फिर उससे दूनी बाधाको कैसे हटा सकेंगे ?

अब पं० दरबारीलालजी [illegible]

देकर आये तो उस समय पं० वंशीधरजी ने उनके सामने ही मुझसे कहा कि—"रघुवीरशरणजी, देखो, हमारे हृदयमें पं० दरबारीलालजीके प्रति आपसे ज्यादह आदर व सम्मान है क्योंकि उन्होंने जैन सिद्धान्तोंकी तहोंमें पहुँचकर जो जैनधर्मका मथन किया है और मथन करके आगे पैर बढ़ाया है, वह एक असाधारण बात है, जिसकी प्रशंसा किये बिना हम भी नहीं रह सकते-भले ही हमारे विचार विरुद्ध हों" । इससे मुझे प्रसन्नता तो हुई ही, साथ ही आश्चर्य भी हुआ।

पं० दरबारीलालजीको न्यायोचित सुविधाएँ भी न मिलपावें, ऐसी इच्छा कुछ लोगोंकी मालूम होती थी परन्तु यहाँ पं० वंशीधरजीका अन्यायपूर्ण आग्रह इतना स्पष्ट व नग्न था कि वे अपनी अन्याययुक्त बात पर जोर नहीं दे सकते थे। उधर पं० वंशीधरजी प्रश्न करनेको तैयार न थे इससे दुपहरकी चर्चा बन्द रखनी पड़ी और इसका श्रेय पं० वंशीधरजीको मिला। फलतः सबको लौट जाना पड़ा। इस घटनासे पं० वंशीधरजीके विषयमें लोगोंका खयाल बहुत नीचा होगया। पं० वंशीधरजीको लोगोंने अपना पक्ष समर्थनके लिये बुलाया था, परन्तु इसमें उन्हें बहुत निराशा हुई। हाँ, पक्षप्रेमके कारण वे विशेष कुछ कह न सके।

अन्तमें सब पंचोंकी फिर बैठक हुई और उसमें यह तय हुआ कि पूर्वपक्ष उत्तरपक्षका निर्णय पंचोंके हाथमें रहे और वे न्यायोचित ढंग पर इसका निबटारा करें। इस विषयमें और भी चर्चा हुई और शामको आठ बजेसे दिगम्बरत्वके विषयमें चर्चाका प्रोग्राम रक्खा गया।

तदनुसार रात्रिको मौखिक चर्चा हुई। अन्तिम उत्तरपक्ष पं० दरबारीलालजीका ही रहा और पं० वंशीधरजीको मानना पड़ा। वह चर्चा इसप्रकार है—

पं० वंशीधरजी (१)

दिगम्बरत्वके विषयमें मेरा कहना यह है कि जो सन्यासी होता है वह समस्त परिग्रहोंका त्यागी होता है। वह सिर्फ उन्हीं चीजोंको रखता है जो संयमके लिये या प्राणरक्षाके लिये अनिवार्य हैं। कपड़ा वग़ैरह चीजें ऐसी नहीं हैं, इसलिये सन्यासी या मुनि होनेके लिये उसका त्याग अवश्य करना चाहिये। उसके बिना कोई मुनि कैसे होसकता है?

पं० दरबारीलालजी (१)

कपड़ा शरीररक्षाका साधन भी है और कहीं कहीं वह दयाका उपकरण भी हो जाता है। शीतप्रधान देशोंमें, जहाँ कपड़ेके बिना शीतसे मर जाने या स्वास्थ्य बिगड़ जानेकी अधिकसे अधिक सम्भावना है, वहाँ भोजनादि ग्रहणके समान वस्त्र ग्रहण भी किया जा सकता है। और अगर कभी नगरमें जाना पड़े और वहाँकी स्त्रियोंको नग्न आदमी को देखकर कष्ट हो, जैसा कि होता है, तो वस्त्रधारण से उनका यह कष्ट बचजाता है, इसलिये वह दयाका उपकरण भी बन जाता है।

पं० वंशीधरजी (२)

वस्त्र, भोजनके समान आवश्यक नहीं है। भोजनके बिना मनुष्य जीवित रह नहीं सकता, जबकि वस्त्रके बिना रह सकता है। इसलिये वस्त्रको भोजनके समान नहीं माना जा सकता है। दूसरोंकी पर्वाह हमें क्यों करना चाहिये? दूसरोंके लिये क्या धर्म नष्ट करदें? स्त्रियोंको इससे कामातुरता नहीं, घृणा तिरस्कार पैदा होता है। यों तो कामातुरता भी आप संयमका कारण मान लेंगे।

पं० दरबारीलालजी (२)

आवश्यकताकी तर-तमता तो कई बातोंमें होती है। हवा जितनी आवश्यक है, उतना अन्नजल नहीं, किन्तु इसीलिये यह नहीं कहा जासकता कि "हवा के समान अन्नजल नहीं है, इसलिये अन्नजल ग्रहण करने वाला मुनि नहीं हो सकता। सभी चीजें

समान आवश्यक हों तभी वे अपरिग्रह कहलावें, यह नहीं कहा जा सकता। आप हवा, अन्न और जलको आवश्यक मानते हैं। मैं वस्त्रादि भी मानता हूँ जैसा कि देश कालके अनुसार होता है।

धर्मके लिये दूसरोंकी पर्वाह करना चाहिए कि नहीं, या कितनी करना चाहिए, यह तो अलग चर्चा का विषय है. परन्तु इतना तो कहा जासकता है कि कपड़ा रक्खा जा सकता है, क्योंकि कपड़ेसे धर्मका नाश नहीं होता। जबतक यह चर्चाका विषय है, तबतक इसे धर्मनाशक मानकर कोई बात नहीं कही जासकती। स्त्रियोंके मनमें घृणा आदि कोई भी भाव पैदा हो, वह है तो खराब व दुखप्रद ही। तब उससे उन्हें बचानेके लिये कपड़ा रक्खा तो वह परिग्रह न कहलाया। जब वह परिग्रह न कहलाया तो वह धर्मनाशक कैसा?

कामातुरता स्वयं असंयम रूप है, इसलिये इसको कपड़े आदिकी तरह नहीं कह सकते। कपड़े आदिके विषयमें तो यह विचार करना पड़ता है कि इससे परिणामोंमें विकार होगा या नहीं? परन्तु कामातुरता स्वयं विकाररूप होनेसे उसके विषयमें ऐसा सन्देह नहीं हो सकता।

पं० वंशीधरजी (३)

आप हवासे भोजनमें अन्तर बताते हैं सो ठीक है। वास्तवमें भोजन भी असंयम है, इसीलिये एक ध्यानस्थ मुनि भोजन नहीं करता। परन्तु कपड़ा उससे भी बड़ा असंयम है, जिससे वह सन्यासी नहीं हो सकता। हाँ, वह क्षुल्लक हो सकता है। जब कपड़ेका त्याग नहीं होता तब संयमी बननेकी बात क्यों कहना चाहिए? भले ही आप उसे मुनि कहें, परन्तु है तो वह परिग्रही ही। जहाँ कपड़े बिना गुजर नहीं हो सकती, वहाँ असंयमी रहें; वे संयमी बननेका विचार क्यों करते हैं?

पं० दरबारीलालजी (३)

जब भोजन भी असंयम है और तब भी भोजन करनेवाला मुनि कहलाता है, इसी तरह कपड़ा भी अगर असंयम रहे फिर भी उसे रखने वाला मुनि क्यों नहीं कहला सकता है? ध्यानस्थ अवस्थामें मुनि न तो भोजन करता है, न कपड़े पहिनता है हाँ, पहिले पहिने हुए कपड़े शरीर पर पड़े रहते हैं जैसे पहिले खाया हुआ भोजन पेटमें पड़ा रहता है। ध्यानस्थ अवस्थामें उसकी तरफ लक्ष्य, ध्यान, हो नहीं जाता इसलिए वस्त्र रहने पर भी छट्ठा गुणस्थान होनेमें कोई बाधा नहीं। गुणस्थान परिणामोंपर निर्भर हैं। ममत्व न होनेसे वस्त्र होने पर भी निःपरिग्रहता हो सकती है; अन्यथा निःपरिग्रहताके लिए वस्त्रत्यागके समान शरीरत्यागकी बात भी आ जायगी, जो कि अनुचित है।

दूसरे देश वाले असंयमी क्यों रहें? क्या वे दया नहीं रख सकते? कषायकी वासना नहीं जीत सकते? परिणामोंकी निर्मलता वे भी रख सकते हैं।

पं० वंशीधरजी (४)

महत्व तो छोड़ देनेका ही है। जैसे एक सामायिक करता हुआ गृहस्थ है और एक भोजन करता हुआ मुनि है, तो भी सामायिक करते हुए गृहस्थसे भोजन करता हुआ मुनि अधिक संयमी है, क्योंकि उसने संकल्पपूर्वक त्याग कर दिया है। जब किसीने कपड़ेका संकल्पपूर्वक त्याग नहीं किया है तब वह गृहस्थके समान ही है। भोजनकी बात दूसरी है। वह भोग है, जब कि कपड़ा उपभोग है। वह बार बार भोगा जाता है इसलिए मलिनता पैदा करता है। इस लिये उसके संयम कदापि नहीं माना जासकता। भले ही कोई उसे संयमके नामसे पुकारता रहे, परन्तु वास्तवमें उसे छट्ठा गुणस्थान नहीं हो सकता।

पं० दरबारीलालजी (४)

आपने जो अभी गृहस्थ और मुनिका उदाहरण

दिया है, वह बहुत ठीक है। उसका सार यह है कि मुनि भोजन करता हुआ भी अपरिग्रही है क्योंकि उसमें ममत्व नहीं है, सङ्कल्प नहीं है, जब कि गृहस्थ में वे बातें होनेसे परिग्रह है। इससे सिद्ध हुआ कि संयम असंयम बाहरी ढंगपर नहीं, किन्तु परिणामों पर निर्भर है। इसलिये कपड़ेको रखने वाला अगर उसमें ममत्व न रक्खे तो वह परिग्रही नहीं कहलायगा। कपड़ा होनेसे उसे परिग्रही नहीं कह सकते। रही भोग और उपभोगकी बात, सो दोनों ही परिग्रह हैं। भोगमें अनेक चीज़ अनेक बार भोगी जाती हैं और उपभोगमें एक ही चीजें बार बार भोगी जाती है, इसलिये परिग्रहकी दृष्टिसे उनमें कोई अन्तर नहीं है। निर्ममत्व ही अन्तर कर सकता है, जो कि दोनोंमें हो सकता है।

पं० वंशीधरजी (५)।

आप तरतमताका दुरुपयोग करते हैं। वास्तवमें वस्त्र, भोजनकी तरह अपरिहार्य नहीं है। दिगम्बरत्व संयमका साधन है और साधनोंके मिलानेकी परम आवश्यकता है। जब कोई कहता है कि मेरा नहीं है तो हम पूछते हैं कि उसने छोड़ा क्यों नहीं? उसे छोड़ना चाहिए, गाँठ तोड़ना चाहिए, तभी उसका निर्ममत्व भाव मालूम होगा। वह उपभोग करता है, फिर भी कहता है—"ममत्व नहीं है"। यह कैसे हो सकता है? यह व्यवहार मार्ग है: व्यवहार मार्गके बिना काम नहीं चल सकता। भले ही कोई क्षमा आदिकी दुहाई दे, परन्तु ऊँचे दर्जेकी क्षमा नहीं हो सकती। यों तो गृहस्थोंको भी क्षमा होती है।

पं० दरबारीलाल जी (५)

तरमताका उत्तर मैं देचुका हूँ। उसीमें अपरिहार्य की बात भी आगई है। साधनोंका मैं निषेध नहीं करता, परन्तु किसी एक साधनका एकान्त न पकड़ना चाहिए। साधन होनेसे ही अविनाभाव सिद्ध नहीं होजाता। पशु आदि दिगम्बर होनेपर भी मुनि नहीं हैं और समभावी घरमें रहते हुए केवली भी होता है। हमें वेष नहीं देखना चाहिए। हमें तो परिणामोंकी निर्मलता—समभाव—देखना चाहिए। वस्त्रधारण करनेसे क्या हम ऊँचीसे ऊँची क्षमा नहीं करसकते? क्या शान्त नहीं रह सकते? हम क्या नहीं कर सकते? 'उपभोग करूँगा'—सिर्फ इतना ही परिग्रहके लिए काफी नहीं है, अन्यथा 'भोग करूँगा'—यह भी परिग्रह कहलायगा, और खाना बन्द करना पड़ेगा। वैयक्तिक स्वार्थोंको गौण करने वाला सच्चा मुनि है, चाहे वह दिगम्बर वेषमें रहे, चाहे कपड़ेवाले वेषमें रहे, या वह गृहस्थ वेषमें ही क्यों न हो।

व्यवहार मार्ग तो कपड़ेमें भी चल सकता है। कोई भी वेष बना लिया जाय, उससे मुनित्वका स्मरण हो सकता है। व्यवहार मार्गमें कोई बाधा नहीं है। यों भी आप देखिए कि प्रत्याख्यानावरण कषायके चले जानेसे संयम होजाता है। उससे कषाय की वासना अन्तर्मुहूर्तसे ज्यादह नहीं जाती। कोई यह नहीं कह सकता कि कपड़ा रखनेसे कषाय वासनाको लम्बी होजाना पड़ेगा। संयमकी वास्तविक परिभाषा यही है, जिसका कपड़ेसे कोई सम्बन्ध नहीं।

पं० वन्शीधर जी (६)

आपने मेरी तीन चार बातोंका उत्तर ही नहीं दिया। मैं पहिले कह चुका हूँ कि वस्त्र भोजन की तरह अपरिहार्य कारण नहीं है। वस्त्र साधारण कारण है, जब कि भोजन असाधारण कारण है।

कोई हमारे ग्रन्थों को माने या न माने, किन्तु उनकी आज्ञा है कि जो थोड़ा भी वस्त्र रखेगा वह मुनि नहीं होसकता। वह क्षुल्लक होगा। जब वह मुनि होता है तो वस्त्रत्याग की सौगन्ध लेता है। सौगन्ध लेकर वह जहाँ चाहे दौड़ता फिरे, यह नहीं हो सकता।

घरमें रहते हुए भी अगर मुनि होने लगे तो गृहस्थ और मुनिमें भेद ही क्या रहे ? मुनि की आवश्यकता ही क्या रहे ? संकल्प छोड़ा नहीं और मुनि बनगया ! यह कैसे सम्भव होसकता है ?

परिणामोंकी उज्ज्वलता कैसे मालूम हो ? उसका व्यवहार कैसे निश्चित किया जाय ?

नग्नता ब्रह्मचर्यमें साधक है और वस्त्र ब्रह्मचर्य में बाधक है । बाधक कारण रहनेसे संयममें कुछ न कुछ न्यूनता जरूर आ जायगी । कौपीन शब्दका अर्थ भी ऐसा ही है—जिससे उसके मनोविकार साबित होता है ।

आकिंचन्य भी एक धर्म है । अगर वह कुछ रखता है तो आकिंचन्य कहाँ रहा ?

इसके अतिरिक्त दिगम्बर वेषमें ठगिया मनुष्य कम होंगे । कपड़े वगैरह धारण करने वालोंमें ठग ज्यादह होते हैं । इसलिये दिगम्बरत्व हर तरह उचित और अनिवार्य है ।

पं० दरबारीलालजी (६)

परिस्थिति विशेषमें वस्त्र भी असाधारण या अपरिहार्य हो जाता है । कड़ाकेकी शीत पड़ रही हो, उस समय वस्त्र अपरिहार्य कारण होजाता है क्योंकि उसके बिना जीवित रहना अत्यन्त कठिन होजाता है । उस समय जीवनरक्षाका असाधारण कारण होने से वस्त्र परिग्रह नहीं होजाता । उसे पयालका उपयोग करने, तम्बुओंका उपयोग करने, बन्द मकानोंका उपयोग करनेकी अपेक्षा वस्त्रधारण उत्तम है । इससे अच्छा उपायान्तर न होनेसे कपड़ेको असाधारण कारण कह सकते हैं । यों तो आप भोजनको भी असाधारण कारण क्यों मानते हैं ? भोजनके बिना भी मनुष्यका काम कुछ दिन तक चल सकता है, और मोक्षके लिये तो अन्तर्मुहूर्त काफी है ।

आपके ग्रन्थोंमें कुछ भी लिखा हो परन्तु उस से भिन्न भी ग्रन्थ हैं जिनमें कुछ और लिखा होता है । श्वेताम्बर ग्रन्थोंके अनुसार कूर्मापुत्रादि केवली होते हुए भी गृहस्थवेषमें घरमें ही रहे । आप उनके ग्रन्थ न मानिए, वे आपके न मानेंगे । आपके सम्प्रदायमें वस्त्रत्यागकी सौगंध लेनेका रिवाज है, परन्तु यह सौगंध लेना जरूरी नहीं है । तब दौड़ने आदि की बात व्यर्थ है ।

गृहस्थ और मुनिमें जो फर्क है वह परिणामों की निर्मलताका फर्क है, न कि वेषका । मुनिपद उपयोगी है, परन्तु अनिवार्य नहीं । शिक्षा आदिके लिए स्कूल और कालेजोंकी उपयोगिता है, परन्तु उनके बिना भी मनुष्य शिक्षित बन सकता है । अकबर और शिवाजी कालेजोंमें पढ़े बिना भी राजनीति के पण्डित थे; इसीप्रकार मुनिपदके बिना भी मुनित्व होता है । फिर मुनिपद भी अनेक वेषमें होता है । जिसने गृहत्याग कर दिया और किसी साधुसंस्थामें पहुँच गया, वह मुनिपदमें पहुँच सकता है संकल्प तो घरमें छूट सकता है और वनमें भी; दिगम्बरवेष में भी छूट सकता है, और वस्त्रवाले वेषमें भी ।

परिणामोंकी उज्ज्वलता मालूम करनेका उपाय नग्नता नहीं है । नग्नता रहनेपर भी मिथ्यादृष्टि और असंयमी होते हैं; ११ अंग ९ पूर्व तक पढ़ जाते हैं, फिर भी मिथ्यात्वी रहते हैं । नग्नतासे कुछ परिणामों की पहिचान नहीं होजाती !

वस्त्र किसी को ब्रह्मचर्यमें बाधक होगा, परन्तु सब को नहीं । यों तो पुष्टिकर स्वादिष्ट भोजन भी ब्रह्मचर्यमें बाधक होता है, परन्तु इसीलिए भिक्षामें स्वादिष्ट भोजन करनेसे मुनित्वका नाश नहीं माना जाता है । शर्त यह है कि स्वादमें लोलुपता न आना चाहिए, इसी प्रकार वस्त्रमें ममत्व न आना चाहिए ।

आकिञ्चन्य एक धर्म जरूर है, परन्तु उसका अर्थ 'कुछ न रखना' नहीं है, किन्तु 'अपना कुछ न समझना' है । बहुत कुछ रखते हुए भी अगर वह ममत्व नहीं रखता [illegible]

उपयोग करता है तो वह परिग्रही नहीं है, जिससे कि आकिंचन्यका नाश माना जाय।

दिगम्बर वेषमें ठगियोंकी बात कम भी हो तो क्या? यहाँ अगर १०० में ५० ठगियाँ हैं तो ५० मुनि कहलाए। वहाँ अगर ७५ ठगियाँ है तो ७५ मुनि कहलाए। मुनि तो दोनो तरफ कहलाए। फिर ठगियोंका यह अनुपात भी तो मिथ्या है। दिगम्बर वेषमें आ जानेसे साधारण दर्शक—भोली समाज-उसे साधु समझ लेते है, भले ही वह कैसा ही हो। तब वह ज्यादह धोका देता है। जो इस वेषमें नहीं है उसे ज़रा चिन्ता रहती है कि मेरा वेष इतना प्रभावक नहीं है इस लिए मुझे जीवन को पवित्र बनाकर प्रभाव डालना चाहिए। इस प्रकार दिगम्बर वेषमें ठगिया ज्यादह होते हैं।

पं० वन्शीधरजी (७)

ठगिया का यह मतलब नहीं है जो आप समझ रहे हैं। मेरा तात्पर्य यह है कि नग्न आदमीमें मनोविकार हो तो तुरन्त मालूम हो जाता है।

जबतक वह छोड़ेगा नहीं तबतक अनादिकालसे लगी हुई चार संज्ञाएँ कैसे जायँगी और कैसे वह साधु कहलायगा? अगर वह वस्त्र नहीं छोड़ सकता तो वह साधु न बने। और हाँ, पहिले आपने कहा था कि शीतप्रधान देशमें क्या करें? परन्तु हम कहते है कि वहाँ जावे ही नहीं, क्योंकि वहाँ संयमका पालन नहीं होसकता। यदि आप वस्त्रको स्वीकार कर लेते है तब आप और चीजें भी स्वीकार कीजिए। तब सभी चीजोंको रखते हुए जो चाहे अपनेको मुनि कहेगा। मुनित्वकी मर्यादा क्या रहेगी? आप मानिए या न मानिए, परन्तु बात यही है।

श्वेताम्बर साधु दिनमें तीन तीन बार खाते हैं, और भी साधु पौज करते हैं।

पसीना आनेसे सम्मूर्छन जीव पैदा होते हैं, इसलिये हिंसा होती है।

इसलिये दिगम्बरत्वके सिवाय संयम होसकता है, इस बातको स्वीकार करनेके लिये समाज कभी तैयार नहीं है। मुनिका कपड़े पहिनना असंयम ही नहीं है किन्तु मिथ्यात्व है, घोर पाप है।

पं० दरबारीलालजी (७)।

ठगियाका अर्थ आप जो चाहे रखिये, परन्तु हर हालतमें उससे दिगम्बरत्वका समर्थन नहीं होता है। दिगम्बरवेषी भी रातमें तथा एकान्तमें सब कुछ कर सकता है और कसर पूरी हो जाती है।

संज्ञाओंकी बात आपने बड़ी सुन्दर कही। जिस प्रकार आहारके होनेपर भी संयममें बाधा नहीं, उसी प्रकार परिग्रहके होनेपर भी नहीं है। सिर्फ निर्ममत्व चाहिये। शीतप्रधान देशोंकी बात भी मेरे मनकी है। वह भले ही वहाँ न जाय, परन्तु अगर पहिलेसे पहुँच गया हो या वहीं पैदा हुआ हो तो क्या वह अपने परिणामोंको निर्मल न बनावे? कषायोंपर विजय न करे? इसमें उसका क्या अपराध है? क्या शीतप्रधान देशोंमें पैदा होना ही पाप हो गया कि परिणामोंकी निर्मलता रखते हुए भी वह साधु न कहलावे, या उसमें साधुता न मानी जावे? हम उष्णप्रधान देशोंमें रहते हैं इसलिये यहाँ नग्नतासे भी निर्वाह हो जाय, परन्तु सदा सर्वत्र सब पर नग्नता लादी नहीं जा सकती। सब चीजोंके रखने पर भी संयम हो सकता है, बशर्ते कि उनमें स्वामित्व बुद्धि न होना चाहिये—परसेवाकी बुद्धि होना चाहिये। साधुका समाजसेवासे कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कहना साधुताको निरर्थक बना डालना है। दूसरेका कार्य साधे उसे ही साधु कहते हैं। अगर वह सेवा नहीं करता तो उसकी जरूरत नहीं है। पुराने समय में ग्रन्थ लेखन आदि करनेवाले सेवक ही थे। लाल-

ग्रह नहीं थे। इसी प्रकार चिकित्सा आदिसे जो पर-सेवा करे तो उसके उपकरण भी परिग्रह नहीं होंगे। इससे जो चाहे अपनेको मुनि कहने लगेगा, सो यह प्रश्न तो दिगम्बर वेषमें भी है। वेष लेकर जो चाहे अपनेको मुनि कहने लगता है। दुनियाँकी आँखोंमें धूल तो हर वेषसे झोंकी जाती है, परन्तु वास्तविक संयमका इससे कुछ नहीं बिगड़ता।

मुनित्वकी मर्यादा परिणामोंमें है, सो रहेगी।

श्वेताम्बर साधु कैसे रहते हैं और दूसरे साधु कैसे रहते हैं इससे उस संस्थाको सदोष नहीं कहा जा सकता। यह तो उन संस्थाओंमें घुसनेवाले बद-माशोंका दोष है। श्वेताम्बर मुनिसंस्थामें जैसे बद-माश ऐयाश लोग घुस गये हैं, उसी प्रकार दिगम्बर मुनिसंस्थामें भी बदमाश लुच्चे और ऐयाश घुस गये हैं। इससे किसी सम्प्रदाय पर दोषारोप करना ठीक नहीं है। घर घर मिट्टीके चूल्हे हैं। मैं किसी सम्प्र-दायका पक्ष नहीं लेता। मेरे लिये तो जैसे दिगम्बर वैसे श्वेताम्बर। परन्तु सम्प्रदायमें घुसे हुए दुराचा-रियोंके दोषको सम्प्रदायका दोष नहीं कहना चाहिये।

शरीरमें पसीना और सम्मूर्छनकी बात बिलकुल व्यर्थ है। यों तो दतौन न करनेसे दाँतोंमें कीड़े प-ड़ते हैं। और भी अनेक प्रकारसे शरीरमें कीड़े पड़ते हैं। इससे अगर हिंसा मानी जाने लगे तब कोई अ-हिंसक हो ही न सके। यह शरीर तो कीड़ोंका घर है।

एक समाज दिगम्बरत्वके सिवाय मुनित्व मा-ननेके लिये भले ही तैयार न हो, परन्तु दूसरे सैकड़ों समाज इसे मानते हैं—भले ही कुछ लोग न मानें। ऊपर मुनित्वकी वास्तविक व्याख्या कर दी गई है, वह सत्य है, इसलिये उसे मिथ्यात्व नहीं कह सकते। अमिथ्यात्वको मिथ्यात्व बताना ही मिथ्यात्व है।

(३)

ता० १४ मई १९३५ को पूर्व निश्चयानुसार ढाईबजे [illegible] वन्शीधरजी ने लिखित चर्चा [illegible] की इच्छा प्रकट की, जो कि पं० दरबारीलालजीने तथा अन्य सज्जनों ने सहर्ष स्वीकार की और उत्तर पक्ष पं० वन्शीधरजी का रक्खा गया। वह लिखित चर्चा इस प्रकार है—

पं० दरबारीलालजी (१)

जैन मान्यता है कि जीव संसारमेंसे मोक्ष जाते रहते हैं और [illegible] वहांसे लौटकर नहीं आते। इस विषयमें प्रश्न यह है कि अगर [illegible] जाते [illegible] [illegible] तो संसारमें एक भी [illegible] न रहता या मोक्ष [illegible] सदाके लिए बन्द हो गया [illegible], क्योंकि जीवराशि की अपेक्षा समयराशि अनन्तगुणी है। अगर जीवराशिमें असंख्य समयोंका (एक जीवके मोक्ष जानेके समय) गुणा किया जाय तो उतने समयोंमें जीव खलास हो जायेंगे, फिर भी अनन्त समय बाकी ही रहेगा। जीवराशि कितनी भी बड़ी क्यों न मानी जाय, परन्तु जब समयराशि उससे अनन्तगुणी है, तब उसमें उसके सामने जीवराशिका संसारमें रहना नहीं बन सकता। जीवकी उस राशि को अनन्त शब्दसे कहो या किसी दूसरेसे कहो, प-रन्तु वह कालके अनंतवाँ भाग है, इसलिए उसका अन्त अवश्य हो जायगा। अनन्त तो वह कहने मात्र के लिए रहेगा। वास्तवमें जीव अनन्त सिद्ध नहीं किये जा सकते, न वे अनन्त हैं। परिमित विश्वमें कोई वस्तु गणनामें अपरिमित या अनन्त नहीं हो सकती, इसलिये मोक्ष माननेमें संसारमें जीवके क्षय का बड़ा भारी दोष आ जाता है। इसलिये मोक्ष-विषयक मान्यता ठीक नहीं है।

पं० वन्शीधरजी (१)

काल आज तक भी जो बीता है, वह अनन्त बीत चुका इसलिए यदि जीवराशि खतम हो सकती होती तो आज तक खतम हो गई होती। महावीर तीर्थङ्करको हुए थोड़े ही दिन हुए हैं। वे मुक्त हुए ऐसा आप मानते हैं या अमुक्त ? मुक्त हुए

पड़ेगा। यदि मुक्त महावीरको न माना जाय तो मोक्ष की कल्पना और उसका स्वरूप किस प्रमाणसे लिये गये यह बताना आपका काम है। दूसरी बात यह है कि जीवराशिको हम अक्षय अनन्त या बेहद अनन्त मानते हैं। उसका बेहद अनन्त मानना असंभव नहीं है। कालकी अपेक्षा जीव कम हों तो भी मुक्तिको जानेमें कालखर्च जीवोंकी अपेक्षा ज्यादह होता है। परन्तु जीवराशि अक्षयानन्त माननेसे मोक्षमार्ग आज भी चालू रह सकता है और आगे हमेशा भी चालू रहेगा, इसमें कोई आपत्ति नहीं है।

पं० दरबारीलालजी (२)

काल अनन्त बीत गया है, इससे यह बात तो सिद्ध हो गई कि अनन्तका भी अन्त होता है। इसलिए जीवराशि अगर अनन्त भी होगी तो भी भूतकालकी तरह उसके अन्त माननेमें बाधा न रहेगी। जब मैं मुक्ति ही नहीं मानता तब महावीर आदिका मुक्तिगमन भी कैसे मान सकता हूँ? और उस मोक्षका मार्ग भी कैसे मान सकता हूँ? मोक्षकी कल्पना तो मनुष्य मनसे कर सकता है। असत्यकी कल्पना करनेमें प्रमाणकी जरूरत नहीं है। जब कि मुक्ति उपर्युक्त वक्तव्यसे बाधित है, तब उसकी कल्पना ही हुई है, यह स्वयंसिद्ध है।

जीवराशि को अक्षय अनन्त मानना तो मानना है, उसे सिद्ध करना तो बाक़ी है। मैं कह चुका हूँ कि परिमित संसारमें अपरिमित जीव या कोई भी द्रव्य अपरिमित नहीं आ सकता।

जीवोंके मुक्त होनेमें काल अधिक खर्च होता है अवश्य, परन्तु जितना खर्च होता है वह उससे भी अनन्त गुणा है। छः महीने आठ समयके समयोंको अगर हम जीवराशिसे गुणा कर दें तो समयराशि जीवसे असंख्यात गुणी ही खर्च होगी, जब कि वह अनन्त गुणी है।

आज मोक्षमार्ग बन्द क्यों नहीं हो गया? जीवराशि समाप्त क्यों नहीं हो गई? यह प्रश्न बहुत ठीक है। वास्तवमें अनन्तकाल व्यतीत हो चुका है, इसलिए उतने समयमें जीवराशिका अन्त अवश्य आजाना चाहिए था, परन्तु वह अन्त नहीं आया—इसका कारण यही है कि जीव मुक्त नहीं होते।

पं० बंशीधरजी (२)

जीव मुक्त ही नहीं होते ऐसा आपने सिद्धान्त ठहराया; इसीका उत्तर प्रथम देते हैं। संसारमें जीव हैं, वे मूलस्वरूप सहित नहीं हैं, किन्तु दूसरी चीजसे मिश्रित हैं और अतएव दुखी दीख पड़ते हैं। दुःखका कारण बन्धन होता है और बन्धनके छूटनेसे अर्थात जीव सुखी हो सकता है। बन्धन तोड़ा जा सकता है क्योंकि वह दूसरी चीजका मेल है—मेल हटाना सम्भव है। मेल या बन्धन टूटे तो उसी अवस्थाको मुक्त कहा जायगा। बद्ध है, उसका छूटना न्याय्य है।

पं० दरबारीलालजी (३)

मुक्ति न्याय्य है या अन्याय्य, जरूरी है या बेजरूरी—इसकी यहाँ चर्चा नहीं है। मेरे प्रश्नका आशय यह है कि इसप्रकारकी मुक्ति मानने पर जीवराशि का अन्त आजायगा या आगया होता। आप मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिये और मेरी उपस्थित की हुई बाधाका परिहार कीजिये। जब बाधा दूर होजायगी तब मुक्तिकी प्रक्रिया पर विचार करना उचित होगा।

बहुतसे जीव ऐसे हैं जो बन्धनमें बँधे हुए हैं और सदा बँधे रहेंगे। नहीं तो संसार जीवशून्य मानना पड़ेगा। अगर मुक्तिके विषयमें उपर्युक्त बाधा बनी रही तो उन जीवोंके समान सभी जीवोंको संसारमें भ्रमणशील मानना पड़ेगा। खैर! पहिले उस बाधाको दूर करनेकी जरूरत है जो कि मेरे प्रश्नकी वस्तु है।

पं० बंशीधरजी (३)

आपने परचे दूसरेमें 'मुक्ति ही नहीं मानता' ऐसा वाक्य लिखा है। इसलिये उसीका विचार होना

प्रथम जरूरी है क्योंकि जब आप अपना सिद्धान्त मानते हैं कि मुक्ति नहीं है तो यह तो प्रश्नका मूल-भाग होगया। इसलिये हमने नं० २ के पर्चेमें मुक्ति को सिद्ध किया है। उसका खंडन करना आपका पहिला काम है; या मुक्तिको स्वीकार करें।

पं० दरबारीलालजी (४)

मैंने मुक्ति नहीं मानी है इसका कारण जीवराशि के समाप्त हो जाने की बाधा है। वह बाधा ज्योंकी त्यों खड़ी है, यहाँतक कि आप उसका परिहार करना भी स्वीकार नहीं करते। तब मैं मुक्ति नहीं मानता यह ठीक है। आप पहिले वह बाधा दूर कर दीजिये, तब मेरी आपकी आगामी मान्यतामें कोई अन्तर न रह जायगा। मेरा जो पहिला पत्र है उसमें यही बाधा उपस्थित की गई है और इसी लिये मुक्तिका अभाव माना गया है। इससमय मैं प्रश्न कर रहा हूँ, उसका उत्तर आपको देना चाहिये और मूल प्रश्नको इस प्रकार उड़ा देना अनुचित है। जिस बाधाके कारण मैंने मुक्ति नहीं मानी, वही बाधा आप दूर कीजिये।

पं० वंशीधरजी (४)

पर्चे ४ में आप मुक्तिके विषयमें अपनेको सशंक ठहरा रहे हैं अर्थात् आपका कोई सिद्धान्त निश्चित नहीं है। जिसका सिद्धान्त निश्चित नहीं उस पर विचार करना अशक्य है। यदि आपको विचार करना है तो मुक्ति स्वीकार कीजिये।

पं० दरबारीलालजी (५)

मुक्तिके विषयमें मैं अपना निश्चित मत आपको बता चुका हूँ, और वह किस आधार पर है यह भी बता चुका हूँ, तथा वह प्रश्न रूपमें आपके सामने रख भी चुका हूँ।

अगर आप उस बाधाका खंडन करदें तो मैं मुक्ति मान लूँगा। यह मेरी शंका नहीं, किंतु निःपक्षता है। जब हम यहाँ चर्चाके लिये बैठे हैं, तब यह कहना कि अगर आपकी बात सिद्ध होजाय तो मैं मान-लूँगा—यह शंकाका सूचक नहीं है। इस प्रकारकी उदार मनोवृत्तिके बिना चर्चा करनेका कोई फल न होगा। आप मुझे शंकित न समझें। मैं जैसा हूँ वैसा हूँ। आपके सामने तो मैंने निश्चित मत दिया है उसका आप खंडन कीजिये।

पं० वंशीधरजी (५)

आप अभीतक यह नहीं बताते कि मुक्तिको आप ने माना या नहीं? पहिले पर्चेका जो हमने वाक्य उद्धृत किया है, उसका अर्थ मुक्तिका न मानना होता है। बादके पर्चेमें आप लिखते हैं कि मुक्ति सिद्ध हो जायगी तो मान लूँगा। परन्तु हमारे सिद्ध करनेसे पेश्तर आपने मुक्तिको स्वीकार कर रक्खा है या क्या, इसका खुलासा आपको करना चाहिये। आप उदारता रखते हैं, सो क्या अपने सिद्धान्तोंमें सशंक हैं या उदारताका दूसरा कोई अर्थ करे? मुक्तिके सद्भाव या अभावका सिद्धान्त आपको जाहिर करना आपका कर्तव्य है। आपकी उदारताका तभी उपयोग होगा। वास्तवमें हमने पर्चा नं० २ में मुक्ति सिद्ध की है इसलिये आपकी तरफसे मुक्तिका मानना न मानना यह प्रथम तय होना जरूरी है।

इसके पश्चात सभाने निर्णय किया कि जब पं० वंशीधरजी, पं० दरबारीलालजीके प्रश्नका उत्तर देना नहीं चाहते, तो आगे चर्चा चलानेसे कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार समयसे पहिले ही चर्चा बन्द करदी गई। —रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।
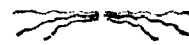
साम्प्रदायिकताका दिग्दर्शन।

लेखक—श्रीमान् पं० सुखलालजी।

(अनुवादक—पं० जगदीशचन्द्रजी ऐम० ए०)

(१९)

परिशिष्ट नं० ४।

श्रीगुप्त नामका एक जैनाचार्य अपने रोहगुप्त शिष्यके साथ अंतरंजिका नगरीमें ठहरा हुआ था। इस बीचमें वहाँ एक परिव्राजक आया। परिव्राजक

ने पेटके ऊपर पत्थर बाँध कर हाथमें जामुनके वृक्ष की डाली ले रक्खी थी। वह परिव्राजक कहता था कि मेरे पेटमें ज्ञान नहीं समाता, इसलिये मैंने यह पत्थर बाँधा है, और जम्बूद्वीपमें कोई मेरी बराबरी करने वाला नहीं है इसलिये मैंने जम्बूवृक्षकी शाखा हाथमें ली है। इस परिव्राजक ने गाँव भरमें घोषित किया था कि सम्पूर्ण दर्शन शून्य है, और जैसा मेरा दर्शन है वैसा कोई दूसरा दर्शन नहीं है। इस कारण यह परिव्राजक पेट बाँधने और हाथमें डाली रखनेके कारण 'पोट्टशाल' नामसे प्रसिद्ध हुआ।

रोहगुप्तने नगरमें प्रवेश करने पर यह घोषणा सुनी और गुरुसे बिना पूछे पोट्टशालके साथ वादोत्तरका निश्चय करके भागाधिपतिको वहीं रोक दिया। गुरुको जब यह मालूम हुआ, तो उसने रोहगुप्तसे कहा कि तूने यह योग्य नहीं किया। कारण कि अगर यह वादी हार जायगा, तो पीछे तेरे सामने आवेगा। यह परिव्राजक बिच्छू, साँप, चूहा, मृगी, वराही, काक और शकुनिका वगैरह विद्याओंमें कुशल है। रोहगुप्त ने कहा कि अब कहाँ भाग जायँ ? जो होना था सो होगया। गुरु ने कहा कि मेरे पास सिद्ध की हुई दूसरी सात विद्यायें हैं। ये सात विद्यायें वादीकी उक्त सात विद्याओंकी विरोधिनी हैं। उन विद्याओंको मैं तुझे देता हूँ, तू ग्रहण कर। यह कहकर गुरु ने रोहगुप्तको परिव्राजककी उक्त सात विद्याओंको क्रमसे बाधित करने वाली *मयूरी, नकुली, बिडाली, व्याघ्री, सिंही, उलूकी, और उलावकी ये सात विद्यायें प्रदान कीं।* इसके बाद गुरु ने रोहगुप्तको अभिमन्त्रित रजोहरण * देकर कहा कि यदि यह वादी दूसरा कोई उपद्रव करे तो रजोहरण उसके सिर पर फेरना। इससे तेरी जय होगी।

रोहगुप्तने राजसभामें जाकर उस वादीको यथेष्ट पूर्वपक्ष करनेके लिये ललकारा। वादीने विचार किया कि ये साधु लोग कुशल होते हैं, इसलिये मुझे ऐसा पूर्वपक्ष स्थापित करना चाहिये जो इस साधुको मान्य हो, और जिससे यह जैनाचार्य उसका खण्डन न कर सके। यह विचार कर उस चालाक वादी ने अपना पक्ष उपस्थित किया कि जीव और अजीव ये दो राशि हैं, क्योंकि ऐसा ही प्रतीत होता है। यह पक्ष सुनकर इस पक्षके सर्वथा इष्ट होने पर भी वादीके पराभव करनेके लिये चालाक शिरोमणि रोहगुप्त ने वादीके सामने विरोधी पक्ष रक्खा। रोहगुप्त ने कहा कि जिसप्रकार उत्तम मध्यम और अधम ये तीन विभाग हैं, उसी तरह पशु वगैरह जीव, परमाणु वगैरह अजीव और छिपकलीकी तत्काल कटी हुई पूँछ वगैरह नोजीव (जीवाजीव अथवा ईषत् जीव) ये तीन राशि होती हैं। वादी रोहगुप्तकी इस कल्पनासे निरुत्तर होकर क्रोधमें भर गया और उसने अपनी सात विद्याओंका प्रयोग किया। रोहगुप्तने क्रमसे बिच्छूको मोरसे और साँपको नौलेसे रोककर अपनी सम्पूर्ण बाधक विद्याओंका प्रयोग किया। अन्तमें वादी ने गर्दभी बनायी। रोहगुप्त ने रजोहरण फेरा और उस गर्दभी ने उल्टी अपने प्रेरक वादीकी ओर बढ़ कर उसके ऊपर मलमूत्र कर दिया। अन्तमें वादी तिरस्कृत होकर चला गया।

रोहगुप्त ने गुरुसे सब बातें कहीं। गुरु वादीको हरानेके कारण खुश तो हुआ, परन्तु उसने रोहगुप्त की एक बातका विरोध किया। गुरुने कहा कि जैनशास्त्रमें जीव और अजीव दो राशियोंका ही सिद्धान्त है। नोजीव राशिका सिद्धान्त अपसिद्धान्त है। अतएव वादीको पराजित करनेके बाद तुझे यह बात सभामें प्रगट करनी चाहिये थी। तू अब भी इस भूल को क़बूल करले। रोहगुप्त ने तर्क और हठके बलसे

* यह जैन साधुओंका एक धार्मिक उपकरण है। यह जंतुओंकी रक्षापूर्वक रज आदि दूर करनेके लिये होता है।

अपने नोजीव पक्षको मजबूत तरहसे गुरुके सामने जैनसिद्धान्त कहकर स्थापित करनेका प्रयत्न किया और उसने गुरुके निषेधको किसी भी तरह स्वीकार नहीं किया। यह देखकर गुरुने रोहगुप्तको प्रकट रूपसे अप्रामाणिक ठहरानेके लिये राज सभामें रोहगुप्तके साथ चर्चा आरम्भ की। छह महीनेकी लम्बी चर्चाके बाद श्रोता लोगोंको बहुत ऊब गये हुए देखकर गुरुने चर्चाका अन्त करनेके लिये एक व्यवहारु युक्ति सोची। गुरुने कहा कि—यदि नोजीव कोई अलग वस्तु है, तो जिस दुकानपर जगत् भरकी सब चीजें मिलती हैं, वहाँ नोजीव वस्तु भी मिलनी चाहिये। यदि नोजीव कोई वस्तु नहीं है, तो दुकानदार उसे नहीं देगा, और इससे समझना चाहिये कि नोजीव कोई अलग वस्तु नहीं है। दुकानपर जानेसे नोजीव वस्तु किसी दुकानपर नहीं मिली और रोहगुप्तका कथन मिथ्या और उसके गुरु श्रीगुप्तका कथन सत्य सिद्ध हुआ। अन्तमें गुरुका राजा और सभाने सत्कार किया और इससे जैनशास्त्रकी प्रशंसा हुई। परन्तु इससे रोहगुप्तका अपमान हुआ। रोहगुप्तने आग्रहवश वैशेषिक दर्शनको चलाया। वैशेषिक दर्शनमें *द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष* और समवाय इन छह पदार्थोंकी प्ररूपणा की गई है। रोहगुप्त उलूक गोत्रका था। उसने छह पदार्थोंका प्ररूपण किया इसलिये उसका दूसरा नाम षडुलूक पड़ा। रोहगुप्तने वैशेषिक दर्शन और अपनी शिष्य परम्परासे आगे जाकर बहुत ख्याति प्राप्त की।

विशेषावश्यक भाष्य गा० २४५२से आगे (पृ०९८१)

(समाप्त)

उत्तराध्ययनसूत्र व पाली वैधिक-ग्रन्थों पर एक तुलनात्मक दृष्टि।

(लेखक—श्रीमान् प्रोफ़ेसर पी० वी० बापट, M. A.)

(अनुवादक—श्रीमान रघुवीरशरणजी जैन)

(२)

(ख) स्त्रियोंके प्रति मुनिकी वृत्ति—

मुनि, स्त्रियोंकी सङ्गतिको हानिकारक व विषम समझकर सदा उनसे बचता है।

सङ्गो एस मणुस्साणं जाओ लोगंमि इत्थीओ।
जस्स एआ परिण्णाया सुकडं तस्स सामण्णं॥

(उ० II, 16)

एअमादाय मेहावी पङ्कभूआउ इत्थीओ।
नो ताहि विणिहण्णेज्जा चरेज्जत्तगवेसए॥

(उ० II, 17)

जब गौतम बुद्ध मृत्युशय्या पर अपनी मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहे थे, उस समय उनके परमप्रिय शिष्य आनन्दने उनसे पूछा था कि हम मुनियोंको स्त्रियोंके प्रति कैसा आचरण रखना चाहिये। उत्तरमें गौतमने कहा था कि—"तुम्हें उनकी दृष्टिसे सदैव बचे रहना चाहिये", और यदि यह सम्भव न हो तो "तुम्हें अपनी ओर ही दृष्टि रखनी चाहिये"।

"कथं मयं भन्ते मातुगामे पटिपज्जामाति। अदस्सनं आनन्दाति॥ दस्सने भगवा सति कथं पटिपज्जितब्बं। अनालापो आनन्दाति॥ आलपन्तेन भन्ते कथं पटिपज्जितब्बन्ति। सति आनन्द उपट्ठापेतब्बाति॥ (Digh 16, 5-9)

हमें निम्नलिखित उल्लेख भी मिलते हैं—

नो निग्गंथे इत्थीणं कुड्डंतरं वा दूसन्तरंसि वा भित्तिंतरंसि वा कुइअसद्दं वा, रुइअसद्दं वा, गीअसद्दं वा, हसिअसद्दं वा, थणिअसद्दं वा, कंदिअसद्दं वा, विलविअसद्दं वा, सुणित्ता हवई से निग्गंथे। तं कहा मिति चे? आयरिआह—निग्गंथस्स खलु इत्थीणं कुड्डंतरंसि वा जाव विलविअसद्दं वा सुणमाणस्स बंभयारिस्स। बंभचेरे संका वा करवा वा ...जाव...केवलि पण्णत्ताओ वा धम्माओ भंसिज्जा तम्हा खलु निग्गंथे नो इत्थीणं कुड्डंतरंसि...जाव सुणमाणो विहरेज्जा। (उ० XVI ०)

अपि च खो मातुगामस्स सद्दं सुणाति, तिरोकुड्डा वा तिरोपाकारा वा हसन्तिया वा भणन्तिया वा गायन्तिया वा रोदन्तिया वा · सो तदस्सादेति तन्निकामेति तेन च वित्तिं आपज्जति, इदं पि खो ब्राह्मण ब्रह्मचरियस्स खण्डं पि छिद्दं पि वा सबलं पि कम्मासं पि; अयं वुच्चति ब्राह्मणो अपरिसुद्धं ब्रह्मचरियं चरति संयुत्तो मेथुनेन संयोगेन न परिमुच्चति जातियाजरामरणेन सोकेहि परिदेवेहि दुक्खेहि··· न परिमुच्चति दुक्खस्माति वदामि।

(Ang. VII, 5th Vagga)

(ग) 'ब्राह्मण' कर्मोंसे ही बना जा सकता है, मात्र जन्मसे ही कोई ब्राह्मण नहीं बन जाता—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥
(उ० XXV 32.)

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मना वसलो होति कम्मना होति ब्राह्मणो॥
(सु० नि० 136 cf. 650-651)

न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि योनिजं मत्तिसम्भवं। (ध०396)

यदि कोई व्यक्ति जन्मसे ब्राह्मण हो, परन्तु उसमें मानसिक दूषण हो, अथवा उसका चारित्र दुर्बल व अशुद्ध हो, तो वह कदापि 'ब्राह्मण' कहाने के योग्य नहीं, क्योंकि उसमें ब्राह्मणत्व ही नहीं है। उसका 'जन्मसे ब्राह्मण होना' उसे विनाश व अधःपतनसे नहीं बचा सकता।

कोहो अ माणो अ वहो अजेसिं,
मोसं अदत्तं च परिग्गहो अ।
ते माहणा जातिविज्जाविहिणा,
ताइं तु खित्ताइं सुपावगाइं॥ (उ० XII, 14)

तेच पापेसु कम्मेसु अभिग्गहमुपदिस्सरे।
दिट्ठेऽव धम्मे गारय्हा संपरायं च दुग्गतिं।
न तं जाति निवारेति दुग्गच्चा गरहाय वा॥
(सु० नि० १४१)

यदि वह विकार, लालसा तथा कामानलसे बचा हुआ है, तभी वह वास्तवमें ब्राह्मण है, अन्यथा नहीं—

जहा पउमं जले जायं नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं तं वयं बूम माहणं॥
(उ० XV, 26)

वारि पोक्खर पत्तेव आरग्गेरिवसासपो।
यो न लिप्पति कामेसु तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं॥ (ध० १४१)

(घ) आत्मनिग्रहका महत्व।

अपनेको वशमें करना दूसरोंपर विजय पानेसे कहीं अधिक उत्तम व लाभदायक है। मनुष्यके कर्म ही मनुष्य को बनाते हैं, अतः मनुष्य को चाहिये कि वह अत्यन्त सावधानता व सतर्कतापूर्वक संयम पालनेका भरसक प्रयत्न करे, क्योंकि आत्म-निग्रह कोई सहल कार्य नहीं है।

जो सहस्सं सहस्सेण संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं एस मे परमो जओ॥
(उ०IX,34)

यो सहस्सं सहस्सेन संगामे मानुसे जिने।
एकं च जेय्य मत्तानं स वे संगामजुत्तमो॥
(ध० 103)

अप्पा चेव दमे अव्वो अप्पा हि खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होइ अस्सिं लोए परम्हि च॥
(उ० I,15)

अप्पणा अणाहो सन्तो कहं मे नाहो भविस्ससि।
(उ० XX,12)

अत्तानं चे तथा कयिरा यथञ्ञमनुसासति।
सुदन्तो वत दम्मेथ अत्ता हि किर दुद्दमो॥
अत्ताहि अत्तनो नाथो कोहि नाथो परो सिया।
अत्तनाऽव सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥
(ध० 159-160)

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठि अ सुपट्ठियो॥
(उ० XX,37)

न तं अरी कंठछित्ता करोति जं सेकरे अप्पणिआ दुरप्पा ।　　(उ० XX,48)

यही भाव नीचे दर्शाया गया है—

दिसो दिसं यं तं कयिरा वेरी वा पन वेरिनं ।
मिच्छा पणि हितं चित्तं पापियोनं ततोकरे ॥
न तं माता पिता कयिरा अञ्ञे वापि चञातका।
सम्मा पणिहितं चित्तं सेय्यसो नं ततो करे ॥
(ध० 42-43)

अत्ताहि अत्तनो नाथो अत्ताहि अत्तनो गति ।
(ध० 380) (क्रमशः)
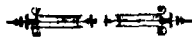
शाबाश ! डटे रहना !

ता० १० अप्रेल सन् १९३५ ई० के 'जैनगजट'में श्रीमान पं० मक्खनलालजी शास्त्री मोरेनाने 'पं० दरबारीलालजी और जैनसमाज' शीर्षक लेख द्वारा जैनसमाजके सन्मुख अपनी कूपमंडूकता, असभ्यता व अकर्मण्यताका नग्न परिचय देनेकी कृपा की है, तथा साथ ही अपना दब्बूपन भी खूब दर्शाया है। मंगलाचरण (श्री आचार्यवर्य शांतिसागर स्वामिने नमः) के विपरीत पण्डितजी उस गंदी लेखनालीमें आदिसे अन्त तक अशान्त दिखाई पड़ते हैं । भले ही आँखोंके अन्धोंको पं० मक्खनलालजीकी बन्दर घुड़कियोंमें सात्विकताकी छाया मिले, परन्तु विचारशील सहृदय व्यक्ति तो यही निर्णय करेंगे कि उपरोक्त पण्डितजी अव्वल दर्जेके चालाक व टल्ली आदमी हैं तथा अन्धभक्त जैनसमाजके सौभाग्य (?) से एक दुःसाहसी दिग्गज विद्वान हैं ।

आपने अपनी शक्तिके अनुसार खूब पैतरे बदल-बदल कर पं० दरबारीलालजी व उनके 'जैनजगत्' पर गालियोंकी वर्षाकी है, व अपनी बन्दर—घुड़कियों द्वारा जैनसमाज पर झूठा असर डालने व निष्पक्ष सत्यखोजी भाइयोंको डराने धमकानेकी निंद्य चेष्टा भी की है। आप अपनी कमजोरीका नाच दिखाते हुए लिखते हैं, कि "पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ अपने मन्तव्य जैनजगत्में प्रकाशित करते हैं, मैं उस पत्रको न तो मँगाता हूँ और न कभी पढ़ता ही हूँ··· ।" इन शब्दोंसे पण्डित मक्खनलालजीकी बहादुरीका पता लगता है। अपने उपर्युक्त शब्दोंकी वकालत करते हुए आप लिखते हैं कि-"मेरी सम्मति तो यह है कि दरबारीलालजीके लेख किसी भी भाईको न पढ़ने चाहिये और न किसी विद्वानको उन लेखोंके खण्डनमें ही समय और शक्ति लगानी चाहिए। बहुत विचार करके मैंने यही निश्चित राय क़ायम की है कि ऐसे मिथ्या प्रलापियोंका उत्तर देनाभी समाजकी क्षतिका हेतु है।" वाहवाह पण्डितजी ! आपकी बुद्धिकी बलिहारी ! आपके मस्तिष्कमें अभी यह बात भी नहीं घुसी कि "विरोधियोंका विरोध करनेसे अपना मंडन होता है।" इतनी साधारण बात तो एक गँवार भी जानता है ! दुःख है कि आप गँवारोंसे भी गए बीते निकले। खैर, आपके उपरोक्त शब्दोंका उत्तर पं० दरबारीलालजीके शब्दोंके आधार पर ही इसप्रकार देता हूँ कि-"मक्खनलालजी 'जैनजगत्' नहीं पढ़ते, यह उनकी दूरभव्यता या अभव्यताका सूचक तो है ही, साथ ही बड़ी भारी विश्वासघातकताका भी सूचक है। वे अंधश्रद्धालु व कूपमंडूक एक दिगम्बर जैन पार्टीके एक विद्वान नेता हैं तथा आप जैसोंके बूते पर ही महासभा अभी तक उछल कूद मचाए जा रही है, अतः पण्डितजीका कर्तव्य है कि वे विरोधी पक्षके आक्रमणसे अपनी श्रद्धालु पार्टीकी रक्षा करें। परन्तु यह उस पार्टी (दल) का दुर्भाग्य है कि जिसको उसने अपना सेनापति बनाया वह विश्वासघात करके कहता है कि 'मैं शत्रुका मुख भी नहीं देखता !' शत्रु चारों तरफ़से आक्रमण कर रहा है, इसलिये उनका दल चिल्लाता भी है, कराहता भी है, परन्तु सेनापति महाशय घूँघटमेंसे बोलते हैं कि 'मैं तो शत्रुका मुँह भी नहीं

देखता ! ' कैसा बढ़िया सेनापतित्व है ! ऐसे सेनापति से तो कहना चाहिए कि—महाशयाजी ! आप किसी अन्तःपुर की शोभा बढ़ाइये। इस पदको न लजाइये।"

इसके अतिरिक्त पं० मक्खनलालजीने पं० दरबारीलालजी पर एक दुष्ट व घृणित आक्षेप यह भी किया है कि "दरबारीलालजी वीतराग कथाकी बात केवल शब्दोंमें समाजको अपना सौजन्य दिखाने मात्रके लिये कह रहे हैं, वास्तवमें वे वीतरागताके न तो अधिकारी हैं और न पात्र हैं।" यहाँ धृष्टताकी हद होगई! खेद है कि एक विद्वान ऐसे गन्दे शब्दों को लिखते हुए तनिक भी नहीं लजाता ! मैं तो ऐसे व्यक्तिके सम्बन्धमें यही कहूँगा कि वह असभ्यता व धृष्टताकी चरम सीमापर बैठा हुआ है । एक निष्पक्ष, सत्यवक्ता, उदार, विद्वान, विचारक तो वीतरागताका अधिकारी व पात्र नहीं, परन्तु पक्षपाती, अहंकारी, हठधर्मी, वीतरागताके अधिकारी व पात्र हैं ! इस अन्धेरका भी कुछ ठिकाना है ! ऐसे लोगोंके दम्भ पर क्रोध तो आता ही है, साथ ही दया भी आती है। खैर, मैंने यहाँ पं० दरबारीलालजी पर बरसाए हुये खुटले वाक्बाणोंके दो एक नमूने ही पेश किये हैं। उपरोक्त पंडितजी पर उस लेखमें एक दो नहीं, बीसों भद्दे आक्षेप किये गए हैं, परन्तु उन सबका उत्तर न देते हुए अन्तमें मैं एक बातपर ही जोर देना चाहता हूँ, और वह है पं० मक्खनलालजी की शास्त्रार्थ सम्बंधी दूसरी शर्त ! आपने उस शर्तमें ५१ महानुभावोंके नाम लिखकर शास्त्रार्थ की सारी बागडोर उनके हाथोंमें देनेको लिखा है। वास्तवमें पं० मक्खनलालजी भलीभाँति जानते हैं कि दरबारीलालजी के सामने उनका डटना टेढ़ी खीर है, और उस शेरदिल पर विजय पाना तो सर्वथा असम्भव ही है। इसी भयसे वे बेचारे सामने नहीं आते, कोई न कोई बहाना बनाकर छुट्टी पालेते हैं। यह शर्त भी एक बहाना है। आपने अपने समर्थकोंको शास्त्रार्थकी बागडोर देना चाहते हैं, ताकि हारनेपर भी समाजमें आप विजेता कहलाए जाँय। वाह वाह ! पंडितजी, क्या इसी मुँहसे आप यह कहते हैं कि मैंने शास्त्रार्थ का चैलेञ्ज स्वीकार कर लिया है। पाठक देखें कि—'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी' की कहावत यहाँ कितनी अच्छी तरह चरितार्थ होती है ! यदि पण्डितजी ऐसे महानुभावोंके नाम रखते जो दोनों ओरसे मध्यस्थ हैं तब तो निःसन्देह मैं पं० मक्खनलालजीको शेर कहे बिना नहीं रहता परन्तु अब तो मुखसे कुछ और ही शब्द निकलता है जिसका लिखना उचित होते हुए भी अनुचित है। मैं कहाँ तक ठीक व ग़लत हूँ, पाठक स्वयं निष्पक्ष होकर विचार करलें। अन्तमें मैं पं० मक्खनलालजीसे यह कहे बिना नहीं रह सकता कि "शाबाश ! पण्डित जी, डटे रहना !" —रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

सम्पादकीय नोट—पं० मक्खनलालजी शास्त्रार्थ की बातसे इतने पीछे हटेंगे और हटकरके भी ऐसी नक़ली बहादुरीका ऐसा प्रदर्शन करेंगे, इसकी आशा नहीं थी। अगर वे तैयार होते तो ऐसी बातें न बनाते जिससे शास्त्रार्थ असम्भव होजावे। जब मक्खनलाल जी अपनी तरफ़से पचपन आदमी उपस्थित करते हैं, तब मेरा भी कर्तव्य होजाता है कि मैं भी पचपन आदमी उपस्थित करूँ। इसप्रकार ११० आदमियोंसे पत्रव्यवहार करना और उनकी बहुसम्मतिसे काम करना भी एक महाभारत है। फिर स्थानका झगड़ा, समयका झगड़ा, मध्यस्थका झगड़ा भी है। इन सब बहानोंका मतलब यह है कि आप शास्त्रार्थ तो करना ही नहीं चाहते, सिर्फ बन्दर-घुड़की बताते हैं।

मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि मेरे साथ शास्त्रार्थ की बात आते ही शास्त्रार्थपर शास्त्रार्थ होने लगता है और मेरी शक्ति बर्बाद की जाती है। न तो लोग इसके लिये तैयार हैं, न उनमें निःपक्षता या सद्भाव है। ऐसी हालतमें फिजूलके पत्रव्यवहार

तथा उत्तर-प्रत्युत्तरमें मेरा समय बर्बाद न किया जाय।

हाँ, जो लोग मेरे विचारोंमें युक्ति-असंगतता देखते हैं उनको उत्तर देनेके लिये मैं कभी भी तैयार हूँ। लिखित या मौखिक किसी भी तरह पूछा जाय मैं उत्तर दूँगा। भले ही इसे कोई शास्त्रार्थ समझे या तत्वचर्चा समझे। मैं सत्यसमाजका संस्थापक हूँ इसलिये जब ये लोग वास्तवमें जिज्ञासुतापूर्ण चर्चा नहीं करना चाहते हैं, तब मुझेही कोई गरज नहीं है जिसको जो कुछ पूछना हो, वह पूछे; इसके लिये मेरा निमन्त्रण है। फिर भले ही पूछनेवाला पचपन आदमियों की सेना लेकर आवे या पचपन सौ आदमियों का।
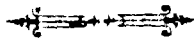
सत्यसमाज प्रगति।

ग्रीष्मप्रवासमें अनेक स्थानों पर सदस्य बने हैं तथा अनेक स्थानोंपर सदस्य बनानेका काम समयाभावसे नहीं किया जा सका, किन्तु यह कार्य किसी स्थानीय सज्जनके ऊपर छोड़ा है। जितने मेम्बरों के फॉर्म मुझे मिल सके उनकी लिस्ट प्रकाशित की जाती है। बाक़ीकी पीछे आती रहेगी।

७७—बाबूरामजी, पिताका नाम—ला० बन्शीधरजी, उम्र ३१ वर्ष। जन्मसे दिगम्बर जैन पद्मावती पोरवाल। जैन पाक्षिक। पता—सदर खजाना एटा।

७८—बन्शीधरजी, पिताका नाम—परशादीलाल जी, उम्र ४२ वर्ष। जन्मसे जैसवाल जैन। जैन पाक्षिक। पता—C/o हरीकृष्णप्रसाद ऐडवोकेट एटा।

७९—मुन्नीलालजी, पिताका नाम—बताशीलालजी उम्र ४७ वर्ष, जन्मसे दिगम्बर जैन पद्मावती पोरवाल। जैन पाक्षिक। पता—मुन्नीलाल जैन सर्राफ़ एटा।

८०—राधामोहनजी विशारद, पिताका नाम—हरप्रसादजी, उम्र २१॥। जन्मसे अग्रवाल। वैष्णव पाक्षिक। पता—राधामोहन अग्रवाल विशारद एटा।

८१—श्यामलालजी, पिताका नाम—नेकरामजी उम्र ३४ वर्ष। जन्मसे तुर, वैदिक पाक्षिक। पता—पुराना बाजार एटा।

८२—वीरेन्द्रसिंहजी पमार, पिताका नाम—शालिगरामजी, उम्र २५ वर्ष। जन्मसे क्षत्रिय पमार। आर्य पाक्षिक। पता—गोट फार्म एटा।

८३—व्रजभूषणजी शर्मा गौड़, पिताका नाम—नारायणदासजी, उम्र २५। जन्मसे ब्राह्मण। नैष्ठिक। पता—उझानी (बदायूँ U. P.)

८४—चमेलीदेवी गौड़, पतिका नाम—व्रजभूषणजी शर्मा, उम्र २० वर्ष, जन्मसे ब्राह्मण। नैष्ठिक। पता—C/o व्रजभूषणजी शर्मा उझानी (बदायूँ)

८५—सुलतानसिंहजी दोमी, पिताका नाम—भूधरदासजी जैन, उम्र ३३ वर्ष। जन्मसे पद्मावती पोरवाल। जैन पाक्षिक। पता—पुरानी मुंसफी एटा।

८६—सुदर्शनलालजी जैन, सम्पादक सुदर्शन, पिताका नाम—नन्नूमलजी; उम्र २३, जन्मसे दिगम्बर जैन जैसवाल। जैन पाक्षिक। एटा।

इस प्रकार एटामें सत्यसमाजकी शाखा होगई है।

८७—मोतीलालजी पहाड्या, पिताका नाम—ला० गणेशलालजी, उम्र ३७ वर्ष। जन्मसे खण्डेलवाल दिगम्बर जैन। जैन पाक्षिक। पता—कुनाड़ी कोटा।

८८—ज्ञानचन्द्रजी, पिताका नाम—गणेशलालजी उम्र ३५, जन्मसे दिगम्बर जैन खण्डेलवाल। जैन पाक्षिक। पता—स्टेट इञ्जीनियर ऑफिस कोटा।

८९—मगनलालजी जैन बी० ऐस सी०, पिताका नाम—छोगमलजी उम्र २६ वर्ष, जन्मसे ओसवाल श्वेताम्बर जैन। जैन पाक्षिक। पता—मोहन न्यूज एजेन्सी कोटा।

९०—गोपाललालजी कोटिया बूँदीवाला। पिताका नाम—केशरीलालजी कोटिया। उम्र ४४। नैष्ठिक। पता—मोरीका हनुमानजी कोटा।

कोटामें और भी सदस्य बनने वाले थे, परन्तु अभी उनके नाम प्राप्त नहीं हुए हैं। एक नाम और आजाने पर वहाँ शाखा हो जायगी।

बारों, बिलसी, कासगंज आदिमें भी कुछ मेम्बर बनने वाले थे परन्तु शीघ्रतावश उनसे फॉर्म नहीं भरवाये जा सके है। आशा है शीघ्र ही उनके नाम आजायँगे।

श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी कोटचा बार्शीवालोंके शुभ प्रयत्नसे निम्नलिखित पाँच सदस्य और बने हैं। सेठजीका प्रयत्न आश्चर्यजनक है।

९१—ओंकार प्रसादजी शर्मा। उम्र २२ वर्ष। जन्मसे ब्राह्मण। नैष्ठिक। पता—सदरबाजार जालना।

९२—केशरीमलजी सुराणा। पिताका नाम हीरालालजी, उम्र ३४, जन्मसे स्थानकवासी जैन ओसवाल। जैन पाक्षिक। पता—सदर बाजार मेन रोड जालना।

९३—सरूपचन्दजी. पिताका नाम चुन्नीलालजी उम्र ३९। जन्मसे स्थानकवासी जैन ओसवाल। पता—फूल बाजार मु० जालना।

९४—रूपचन्दजी संकला उपदेशक, पिताका नाम जीतमलजी, उम्र ३५, जन्मसे स्थानकवासी जैन ओसवाल। पाक्षिक जैन। पता—C/O भीकचंद चुन्नीलालजी बार्शी (सोलापुर)

९५—एन० एम० गनपते बी० ए० एलएल बी०, पिताका नाम महादेवजी, उम्र २५ वर्ष, जन्मसे ब्राह्मण। वैदिक पाक्षिक। बार्शी।

अमरोहामें निम्नलिखित दो सज्जन अनुमोदक बने हैं—

९६—नारायणदासजी गुप्त, कोट, अमरोहा (मुरादाबाद)

९७—रामकृष्णजी। कोट, अमरोहा।
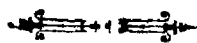
असभ्यताका नमूना।

श्रीमान् सा० र० पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ निमंत्रणानुसार यहाँ ता० ८ मई सन् १९३५ ई०को पधारे थे। यहाँकी उदार समाजने आपके विचारोंको अत्यन्त सहिष्णुता व सहनशीलताके साथ श्रवण किया। ता० १२ मईको, जिस दिन कि पं० दरबारीलालजी विदा होनेवाले थे, पं० वंशीधरजी (शोलापुर) पधारे। यह जानकर कि पं० दरबारीलालजी भी यहाँ पधारे हुए हैं, आप घबराए, परन्तु बेचारे कर क्या सकते थे? स्थानीय भाइयोंने निश्चित किया कि उपरोक्त दोनों विद्वानोंका प्रेमपूर्वक वार्तालाप कराया जाय। तदनुसार समाजके आग्रह पर पं० दरबारीलालजीको चर्चाके लिए रुकना पड़ा। तीन दिन तक विविध विषयोंपर चर्चा हुई, जिसका विस्तृत विवरण पाठकोंके सन्मुख रख ही चुका हूँ। पाठक उससे भली भाँति निर्णयकर सकेंगे कि पं० वन्शीधरजीको कितनी बुरी तरह मुँहकी खानी पड़ी। खैर, पं० दरबारीलालजी तो १५ मईको दुपहरकी गाड़ीसे देहली चले गए पं० वन्शीधरजी रुके रहे। उनसे लाभ उठानेके उद्देश्यसे मैं उसी दिन ४ बजे पं० वन्शीधरजीके पास गया। वहाँ श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी जैनजगतके आधार पर आपसे कुछ प्रश्न पूछ रहे थे। चूँकि मैं पहिलेसे ही पं० वंशीधरजीकी आँखोंमें काँटेकी तरह खटक रहा था, इसलिए ज्यों ही मुझे पंडितजीने देखा, उनकी त्योंरियों मे बल आ गया। परन्तु मैंने कुछ पर्वाह न करके वहाँ चर्चा करना शुरू कर दिया। पण्डितजी जैनजगत् वर्ष ८ अंक ९ के मानने पृष्ठका खण्डन (?) कर रहे थे। आप मूल बातको साफ उड़ाकर अपना पिंड छुटाना चाहते थे, परन्तु मैंने ऐसा न होने दिया। मैंने पूछा कि क्षायिक लब्धियाँ उपयोगरहित भी रह सकती हैं या नहीं? इस पर आप बोले कि—नहीं। मैंने पूछा कि अन्तराय कर्मके क्षय होनेपर जो सिद्धों के दानादि पाँच लब्धियाँ होती हैं, क्या वे सदा उपयोगसहित होती हैं? उत्तर मिला कि—दान लाभ भोग और उपभोग ये चार लब्धियाँ वीर्यरूपमें परिणत होजाती हैं। मैंने पूछा कि तब तो अनन्तवीर्य में वृद्धि हो जाती होगी? पण्डितजी बोले कि जो

चीज़ अनन्त है, उसमें वृद्धि कैसी ? इस पर मैंने प्रश्न किया कि यदि अनन्तवीर्यमें कुछ भी वृद्धि नहीं होने पाती तो उन चार लब्धियोंका वीर्यरूपमें परिणत होना क्या मतलब रखता है ? इसपर पण्डितजी बोले कि वे लब्धियाँ वीर्यरूपमें परिणत तो होजाती हैं, मगर मूल वीर्यलब्धि जो उपयोगसहित है, उसमें मिलने नहीं पातीं; ये लब्धियाँ कुछ काम नहीं करतीं, ऊपर ही ऊपर झलकती रहती हैं। इसपर मैंने कहा कि बस सिद्ध हो गया कि क्षायिकलब्धि उपयोग रहित भी होसकती है। पण्डितजी यह सुनकर चौंके और बचावकी कोई तरकीब न देख कर चिल्लाने लगे कि "आप लोग अर्थका अनर्थ करना जानते हैं, बात समझना नहीं जानते। जैसे दरबारीलालजी हैं, वैसे ही उनके चेले हैं।" इस भयसे कि जिस प्रकार दानादि चार लब्धियाँ वीर्य रूपमें परिणत होजाती हैं, ठीक उसी प्रकार कहीं पण्डितजी का क्रोध पागलपनमें परिणत न होजाय, मैंने चर्चा की दिशा ही बदल दी और फ़ौरन सर्वज्ञताकी पहिली बाधा "असत्का प्रत्यक्ष" पर आगया। मैंने पूछा कि वस्तुकी जिस पर्यायका अस्तित्व ही नहीं है उसका प्रत्यक्ष सम्भव है या असंभव ? अकड़ी हुई भाषामें उत्तर मिला, "सम्भव"। मैंने पूछा-क्योंकर ? उत्तरमें मैंने सर्वज्ञता की प्रचलित परिभाषा सुनी। मैंने कहा कि-पण्डितजी ! यही तो साध्य है। आप उसे हेतु क्यों बना रहे हैं ?" इसपर पण्डितजी चौंके और पूछने लगे कि आप सर्वज्ञतासे क्या मतलब समझते हैं ? मैंने कहा कि यह प्रश्न जुदा है, पहिले मेरे प्रश्नका उत्तर दीजिए, मूल बातको टालनेका प्रयत्न न कीजिए। मैंने जो बाधा उपस्थित की है पहिले आप उसका परिहार कीजिए, फिर इस प्रश्नको पूछिए; मैं उत्तर दूँगा। बस, फिर क्या था। पण्डितजीका पारा फ़ौरन चढ़ गया और क्रोधावेशमें आकर बोले कि "मैं तुमसे चर्चा करना नहीं चाहता, मैं तो चर्चा उससे करता हूँ जो मेरी बातोंको माने" इत्यादि। मैंने कहा कि हाँ, अगर आपकी बात तर्ककसौटीपर ठीक उतरेगी तो मैं अवश्य मान लूँगा; यदि ठीक न उतरी तो हरगिज़ नहीं मानूँगा। इसपर तो पण्डितजी आपेसे बाहर होगए और लगे गालियों व अपशब्दोंकी बौछार करने। उनने जो गालियाँ दीं उन्हें लिखकर मैं अपनी लेखनीको अपवित्र नहीं करना चाहता। हाँ, इतना संकेत अवश्य करे देता हूँ कि उस समय तो उन्होंने अपढ़ कर्मानोंको भी मात कर दिया। मैंने उत्तरमें केवल इतना ही कहा कि—"पण्डितजी मुखसे ऐसे गंदे शब्द निकालना एक पंडितके लिये बड़ी शरम की बात है। आप उत्तर न दे सकें या न देना चाहें, न दें; परन्तु असभ्यता व निर्लज्जता पर उतारू होकर 'पण्डित' शब्दका अपमान न करें।" इतना कहकर मैं साहु रघुनन्दनप्रसादजी के साथ बाहर चला आया। साहुजी आदिसे अन्त तक पंडितजी का अभिनय देख रहे थे। एक पंडितको गुंडाशाही पर उतरा हुआ देखकर मुझे महान् आश्चर्य व दुख हुआ। मैंने ऐसे व्यक्तियोंके सम्बन्धमें जो कुछ सुना व पढ़ा, उसे मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। निस्संदेह ये लोग घृणा व क्रोधके नहीं, वरन दया व कृपाके पात्र हैं। खेद है कि एक विद्वान भी इतना असभ्य व अशिष्ट होकर निर्लज्जतापर उतारू होनेमें तनिक भी भय नहीं खाता ! खैर, जिस समय मैं वहाँ से उठकर बाहर चलने लगा, पण्डितजी अपनेको विजयी समझकर ऐसे अकड़ गए जैसे········।

इस प्रकार चर्चाका अन्त हुआ।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।
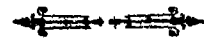
जैनेन्द्रजीका पत्र।

(२)

पंडितजी !

मैं प्रवासमें रहा, इससे 'जैनजगत्' ठीक समय पर नहीं देख सका। (इस बीच वह सत्य-संदेश होगया है)। उसमें आपने पत्र पर आपका उत्तर पढ़ा।

पत्र लिखते समय मुझे भय था कि उससे आपके मनमें दलीलें ही कहीं उठकर न रह जावें। वही सामने आया दीखता है।

भावुकताका अतिरेक तो मुझे अपने पत्रमें नहीं पाता है। फिर भी जितनी भावना उसमें है, यदि उतनी भी आप हाथमें दलीलकी तलवार लेकर अपने पास नहीं फटकने देना चाहते हैं तो मैं नहीं समझता कि यह बधाईकी बात है।

वास्तवमें आपके कथनमें जो मुझे खटकता है उसको इस रूपमें भी प्रगट किया जा सकता है कि आपका कथन विचारकी अतिशयतासे रूखा हो-होजाता है। कुछ स्नेहके योगकी उसमें आवश्यकता है। भावनासे रीता अपने कथनको बनानेकी हठ, मिथ्या समझनी चाहिए।

आप मानते दीखते हैं कि प्रस्तुत विषयके सम्बन्धमें आपकी स्थिति मेरी स्थितिसे भिन्न नहीं है। ऐसा हो तो मुझे खुशी हो। किन्तु मेरी स्थितिका आधार स्वीकार करनेसे दो परिणामोंसे नहीं बचा जा सकता। वे इतने अनिवार्य (Logical) हैं।

पहिला, परिणाम यह है कि व्यक्तिके आचरण का पहिला धर्म अहिंसा है; अहिंसापूर्वक ही सत्यकी साधना होगी। अर्थात् सत्यका साधक कड़वे, विषैले, धारदार शब्द नहीं कह पायगा। सत्यके सम्बन्धमें अहंकारी नहीं बना जा सकता। सत्यका दावेदार नहीं बनना होगा, उसका विनम्र साधक ही बना जा सकता है। अहिंसापूर्वक सत्योपलब्धिका प्रयासी न होनेसे मनुष्यमें दृढ़तासे अधिक हठता आती है, नर्मीसे अधिक उग्रता आती है। मेरी स्थिति स्वीकार करनेसे अहिंसाका पक्ष सत्यान्वेषीके लिए तनिक भी गौण हो, इसकी सम्भावना नहीं रहती। मेरी दृष्टिसे सत्य मात्र बुद्धिसे नहीं, सम्पूर्ण व्यक्तित्वके योगसे साधने योग्य ध्येय है। मुझे कहना है कि आपके शब्दोंमें सत्यका इतना 'वाद' है कि उसे विवाद कह सकते हैं। इससे भी आगे बढ़नेपर वह अपवाद भी हो सकता है। अहिंसाकी रक्षाकी वहाँ उतनी चिन्ता नहीं रखी गई है।

दूसरा परिणाम जो पहिलेसे सर्वथा भिन्न नहीं है, यह है कि वैसी अवस्था में 'सत्यसमाज' को 'सत्यसमाज' नहीं होना चाहिए-उसे प्रेमसंघ अथवा सेवा मण्डल आदि जैसी कोई संस्था हो जानी चाहिए। सामाजिक कर्त्तव्य आपके निकट सब अहिंसा शब्दमें समा जाता है, सही; फिर भी चूँकि दुहाई सत्य शब्दकी दी जाती है, इससे आप समाजके साथ सत्य शब्दको जोड़ लेना चाहते हैं। यहीं माया है, यहीं मोह है,। मैं कहता हूँ दुनियाँ में ठीक इसी सत्यकी सस्ती दुहाईके कारण उस शब्दके प्रयोगसे समाज संघटनके मामलेमें बिल्कुल बचना होगा। सत्यका झंडा उठाकर उसके नीचे लड़ना, आप इतिहासमें देखें कि वर्तमानमें देखें, सदा सबसे सुविधाजनक रहा है। आज क्या आप यह प्रवृत्ति लोगोंमें भड़काना चाहते हैं कि वे विवाद के लिए उतारू हों? ललकारते हुए निर्णय करने अखाड़ेमें आवें कि क्या अंतिम सत्य है? आज यही तो हो रहा है। क्या आप नहीं चाहते कि उस सत्यको पानेकी चेष्टा तो व्यक्तिके अन्दर अन्तर्मुखी हो जानी चाहिए? सत्यकी चिल्लाहटमें आप भी योग दें, क्या वह वान स्थितिमें सरलता पैदा करेगी? मैं देखता हूँ कि सत्यार्थी होने पर तो एकाएक सत्यकी दुहाई मुँहसे फूटना असम्भव हो जाता है। सत्य तीर्थका यात्री ही तो व्यक्ति हो सकता है। उसको तो उस राह पर चलते ही चलना है। मंजिल सख्त है, दुर्गम है, अपार है। फिर उस यात्रामें सत्यका झंडा उठाकर कोलाहल मचाने का अवकाश उस तीर्थयात्रीको कहाँ है?

पूछा जा सकता है, तो क्या सत्यासत्यका निर्णय न करें? अपनी प्रकृतिमें फिर विवेक किस लिए है? वह तो करें और उस दृष्टिसे सत्यके तत्वज्ञानमें जो कुछ शोध आपने की है, उस सबको स्थान है। किन्तु

उसके प्रचार का झगड़ा उठाकर दिग्विजयके लिए चलनेकी जैसी बात मुझे कुछ योग्य नहीं मालूम पड़ती। जिज्ञासुके निकट मुमुक्षुके लिए उस सत्यासत्यके निर्णयको स्थान है। वहाँ वह उचित है। उससे आगे जाने पर वह सब वस्तु वृथा हो रहती है। मात्र प्रदर्शन रह जाती है।

ऊपरकी बात मैंने इसलिए लिखी कि आप और मैं भ्रमवश यह समझ कर चित्तमें सन्तुष्ट न हो लें कि हम एक दूसरेसे सहमत हैं। यद्यपि असहमति सूक्ष्म है, फिर भी वह अत्यन्त गहरी है। और मैं चाहता हूँ आप उसे आँखसे ओझल बनाकर मेरे इस कर्तव्यको न छीन लें कि मैं चाहूँ कि आप उस सूक्ष्म व्यवधानको लाँघकर मेरे मनकी ओर आ जावें। आपका—जैनेन्द्रकुमार।

सम्पादकीय नोट— जैनेन्द्रजी मेरी सब बातोंसे सहमत होते हुए भी सत्यसमाज नामको पसन्द नहीं करते। वे शायद अहिंसा-समाज प्रेमसमाज आदि ऐसा ही कुछ नाम पसन्द करते हैं। परन्तु इस नामपरिवर्तनसे भी कुछ अन्तर न होगा। सत्य वही है जो अहिंसाका रक्षक हो। इससे सत्यका दुरुपयोग होनेसे बचेगा। यों तो प्रत्येक शब्दका दुरुपयोग हो सकता है। इस विषयमें अधिक खुलासा करनेकी जरूरत नहीं मालूम होती। भविष्य ही इसका ठीक खुलासा करेगा।

विविध वृत्त।

—रशियामें एक आदमीके हाथकी अँगुली टूट गई थी। वहाँके डॉक्टरोंने उसके पैरका अँगूठा काट कर उस टूटी हुई अँगुलीकी जगह लगा देने में सफलता प्राप्तकी है।

—लन्दनके एम्बैंकमेंटमें, एक पचास बरसकी प्रौढ़ा स्त्री बरसमें चार बार अमुक दिनोंके लिए रात को नौसे बारहतक नियमित आती है और निराधार और गरीब मनुष्योंको अन्न वस्त्र और नक़द दान देती है। दान देनेके पहले वह सबको जमा करती है और उनके सामने हृदयको रुला देनेवाला गायन गाती है। जब आँसू उसके कलेजेको शीतल करते हैं तब वह सबको दान देती है। इस तरह बरसमें पाँच सौसे एक हजार पाउंड तक दान देती है। वह कहाँ रहती है? इतना धन उसे कहाँसे मिलता है? और उसने अपनी युवावस्था कैसे बिताई थी? यह कोई नहीं जानता। ऐसा जान पड़ता है कि उसके जीवनमें कोई ऐसी करुण घटना घटित हुई है कि जिसने उसके जीवनक्रमको बदल दिया है।

—बेलवेडर नामक प्रदेशमें एक अनोखा आदमी रहता है। वह स्थानिक होटलोंमें रातको आठ नौ बजेके बीच प्रायः जाता है वहाँ बैठे हुए अनजान आदमियोंके साथ बातें करने लगता है और उनके लिये भी भोजनका ऑर्डर देता है। जब सब अपनी क्षुधा शांत कर लेते हैं तब वह जेबमेंसे एक नक्शा निकाल कर खोलता है, उसमेंसे कुछ सबको बताता है और फिर उपदेश देता है। उसके उपदेश का सार यह होता है—

“दुनियाके सभी पैग़म्बरों और अवतारोंका धर्मोपदेश एक ही तरहके सिद्धान्तोंको लक्ष्यमें रखकर हुआ है। बाहरसे हमें सबके धर्म जुदाजुदा लगते हैं, परन्तु वस्तुतः तो हरेक धर्मके सिद्धान्त एक ही तरहके हैं। हरेक पैग़म्बर या अवतारका दृष्टिबिन्दु एक ही था। इसलिये जुदाजुदा धर्म पालनेकी जगह सबको एक ही धर्मका पालन क्यों न करना चाहिए?”

फिर नक्शा समेट कर जेबमें रखता है। हँसते हुए सबसे हाथ मिलाता है। सबके भोजनके बिलके रुपये चुकाता है और चुपचाप चला जाता है। इस अजीब व्यवहारका कारण आज तक कोई न जान सका। मनुष्य पागल भी नहीं है।

—चिल्जामें एक मनुष्य रहता है। उसके पास

-यन है। ब्याजकी आमदनी भी अच्छी है। तो भी आलू और बटाणा बेचनेका उसे शौक है। सवेरा होते ही टोकरामें ताजा बटाणा और आलू भरता है और बाजारमें जा खड़ा होता है। आलू लो, बटाणा लो, की आवाज लगाता है। उसका शाक बहुत जल्दी बिक जाता है। उसमें जो आमदनी होती है उसे वह गरीबोंमें बांट कर चला जाता है। ये दोनों मनुष्य विचित्ररूपकी उदारता बतलाते हैं। कोई मानसशास्त्री इसका भेद बतायगा ?

—नार्विच (चीन) में एक प्रौढ़ाको ठगाई करनेके अपराधमें सजा हुई। इसके पास पाली हुई तीन बिल्लियां थीं। ये बिल्लियों भी उस प्रौढ़ाके साथ जेलमें जाने लगी। जेलके अधिकारियोंने उनको भगानेकी बहुत कोशिश की, परन्तु वे न भागी। प्रौढ़ाने अधिकारीको कहा— इन्हें मेरे साथ आने दीजिए। ये मेरे सुख दुःखकी साथिन हैं। ये मेरे और मैं इनके बगैर नहीं रह सकते।" अधिकारीने कहा—"इनको सजा नहीं हुई फिर मैं इनको जेलमें कैसे रख सकता हूं। ये भी गुनाह करें और न्यायाधीश इनको सजा दे तो मैं इनको जेलमें रख सकता हूं।" बिल्लियोंने अधिकारीकी दलील नहीं सुनी। उन्होंने जबर्दस्ती [illegible] की कोशिश करनेवाले अधिकारीको [illegible] [illegible]। अधिकारी बिल्लियोंको लेकर न्यायाधीशके पास [illegible]। न्यायाधीशने जेलके अधिकारी पर [illegible] [illegible] अपराधमें तीनों बिल्लियोंको दंड दिया। [illegible] आसामसे चारोंतरफ फिरती और [illegible] [illegible] यात्रीके लिए कुछ न कुछ खाने पीनेको [illegible] [illegible]।

—[illegible] एक प्रतिष्ठित जैनके पुत्र श्री सर्वोत्तम [illegible] [illegible] अहमदाबाद म्युनि- [illegible] [illegible] मि० शेटकी पुत्री [illegible] [illegible] होनेवाला है। इस चर्चाने [illegible] [illegible] हलचल मचा रक्खी [illegible] [illegible] इस्तियोंमें अभूतपूर्व जागृति की है।

—कुन्दनलाल वर्मा।

—भारतीय जैनविधवा रक्षाविभाग अकोला के मंत्री श्रीमान कस्तूरचन्द जी जैन को, एक स्त्री को उसके पतिके रहते हुए दूसरा विवाह करनेके अभियोगमें आठ महीने की सजा दी गई थी। अपील करनेमें सैशन जज अकोला ने अभियुक्त को निर्दोष पाकर ता० २ मई को बरी करदिया।

—शेगांवमें हालहीमें स्व० नथमलजी डोंगरा की पत्नीका स्वर्गवास होगया। वे अपने पीछे ११ वर्ष का एक पुत्र व ५ वर्ष की एक कन्या छोड़ गई हैं। प्रचलित रूढ़िके अनुसार डोंगरा परिवारके श्री शालिगरामजी ने पंचों को इकट्ठाकर नुकता करने के लिये परवानगी मांगी, परन्तु हर्ष है कि पंचों ने अपनी जिम्मेवारीका ख्याल कर परवानगी नहीं दी।

—मूर्तिजापुरके श्री० माधवराव काले ने, जो अभी बम्बईमें कानून पढ़ रहे हैं, अपना विवाह इतनी सादगीके साथ किया कि उसमें केवल पांच रुपये खर्च हुए।

[illegible] की रहने वाली पार्वती नामका [illegible] यह प्रतिज्ञा की है कि जुबिली की खुशीमें अपनी पत्नियों को ३ महिने तक कोई भी शारीरिक दंड न देंगे और न कभी मारेंगे।

—त्रावणकोर स्टेटमें दस हजार हिंदू प्रतिवर्ष ईसाई बनते हैं।

—कोटा रियासतके सिपाही ने पाटनपोल नगरी [illegible] एक नौजवान हिंदू विधवा को उसके नवजात शिशुके साथ गिरफ्तार किया। कहा जाता है कि विधवा बूंदी राज्य की है और वह बालक को इधर उधर करना चाहती थी,

—देहलीके पासके एक गाँवमें एक ब्राह्मण विधवाका एक स्त्रीके साथ अनुचित सम्बन्ध था। विधवाके बालक को यह नागवार मालूम हुआ और उसके लिए उसने अपनी माँ को उलहना दिया। माने मौका देखकर अपने यारसे अपने पुत्रकी हत्या करवाकर उसकी लाशके टुकड़े टुकड़े कराडाले और घड़ेमें भरकर छिपा दिया। बादमें रहस्य प्रकट हो जानेपर दोनों व्यक्ति गिरफ्तार किये गये हैं।

"SATYASANDESH" Ajmer   Reg: No. N. 611

वर्ष १०   ता० १६ जून   सन् १९३५   अंक १४

स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

सत्यसन्देश

एक प्रति का मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेज़ी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीर, न बुद्धे न हरे हरौ।
सर्वतीर्थकृताम्नाय, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—सा०र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।   प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर।

प्राप्ति स्वीकार।

सत्यसन्देशके सञ्चालनके लिये श्री० सेठ ताराचंदजी नवलचन्दजी जवेरी बम्बईने १०) प्रदान किये हैं।

कोटानिवासी श्री० सेठ भंवरलालजी धजने अपने सुपुत्रके विवाहके उपलक्षमें ११) प्रदान किये हैं।

उपरोक्त महानुभावोंको इस उदारताके लिये अनेक धन्यवाद। —प्रकाशक।

आवश्यक घोषणा।

अमरोहा पंचायतने कोई निर्णय नहीं किया।

२२ मईके जैनगजटमें पृष्ठ ५ व ६ परके लेखों द्वारा यह दर्शाया गया है कि ता० १२, १३ व १४ मईको श्री अमरोहामें श्री० पं० दरबारीलालजी व श्री० पं० बंसीधरजी (शोलापुर)में परस्पर चर्चा हुई थी, उस पर अमरोहा पञ्चायतने कोई निर्णय किया है। परन्तु, यह बात बिल्कुल गलत है। हम समस्त जैनसमाज को यह सूचना देना चाहते हैं कि अमरोहा पञ्चायतने इस सम्बन्धमें किसी प्रकारका कोई निर्णय नहीं किया है। "अमरोहा पञ्चायतका महत्त्वपूर्ण निर्णय" शीर्षकमें कोई सार नहीं है ... महोदयकी स्वकीय कल्पना है। अमरोहा पञ्चायत ने किसी व्यक्तिको रिमार्क लिखने या निर्णय देनेका अधिकार नहीं दिया था। हाँ, समय देख देखकर चर्चा कराने व शान्ति कायम रखनेके उद्देश्यसे एक महोदयको अध्यक्ष रूपमें चुन लिया गया था। अतः पृष्ठ ६ परके रिमार्कका कोई मूल्य नहीं है। रिपोर्ट व रिमार्क दोनों व्यक्तिगत हैं, समाज। उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः उन सब लेखोंको हम नाजायज व गैरकानूनी करार देते हुए हम यह घोषणा करते हैं कि अमरोहा पञ्चायतका उन लेखोंसे कोई सम्बन्ध नहीं माना जाय।

१—चाँदबिहारीलाल जैन, २—नन्दकिशोर जैन,
३—बाँकेलाल जैन, ४—वैद्य रघुनन्दनप्रसाद जैन,
५—कुञ्जबिहारीलाल जैन, ६—नेमिचन्द जैन,
७—रघुवीरशरण जैन, ८—छेदालाल जैन,
९—रामचरणलाल जैन, १०—सिपाहीलाल जैन,
११—बाँकेलाल जैन, १२—श्यामशरण जैन,
१३—बुद्धसेन जैन, १४—मुकुटबिहारीलाल जैन,
१५—चाँदबिहारीलाल जैन, १६—बाबूराम जैन,
१७—दुर्गादास जैन, १८—रामरतन जैन,

स्थानीय चर्चा ।

अपने कुछ भक्तों व अन्य भोले भाले श्रावकों को किसी प्रकार दम दिलासा देकर पण्डितम्मन्य श्रीमान् हरकचन्दजी भट्टारक हर्षकीर्तिजी बन बैठे। भट्टारक बननेसे पहिले वे बड़े धड़ेके पंचोंसे कहते थे—"श्रावकां, मैं थांको हूं और थे म्हारा हो। मैं कठै भागूं हूं ? आप कहशो जदीं ही हिसाब बता देशूं। आप जिस्यान कहशो जिस्यान पं० गिरधीचन्दजीका क० में भोजनशाला बनवा देशूं। आप की बातको वहम मत करो और ओ काम (पट्टाभिषेक) हो जावो।" किन्तु भट्टारक बने आपको अभी एक महीना भी नहीं हुआ कि आप तमक कर कहने लगे हैं— "जावो, नहीं बताऊं हिसाब; न भोजनशाला बनवाऊं, थांकी मर्जी आवै सो करल्यो"। वे ही नहीं उनके चेले चांटे तक हौसला यहां तक बढ़ गये हैं कि वे उन्हीं भक्तोंको कहते हैं—"थे हिसाब पूछ वाला हो कुण ?"

भट्टारकजी महाराज कितने गुणसम्पन्न हैं, इस पर पहिले काफी प्रकाश डाला जा चुका है। लेकिन आप चाहते हैं कि सभी पूजा प्रतिष्ठा प्राचीन भट्टारकोंसे भी बढ़कर बरकरार कर हो। आप चाहते हैं कि बड़े धड़ेका प्रत्येक मनुष्य उन्हें "भेंवर" दे, उसके घरकी स्त्रियां उन्हें निमन्त्रण देनेके लिये उनके स्थान [illegible] जावें और वहां उनके "नवाङ्गी" लें—उनका [illegible] आदर सत्कार करें—आहारदाता गृहस्थ [illegible] अपने हाथमें लेकर उनके साथ साथ [illegible] उनके चरणकमल पर केशर चर्ची जाय और [illegible] दूधसे उनका प्रक्षालन किया जाय, उन्हें और [illegible] साथी पण्डित, चेले, चौंटे आदि सबको जिमा [illegible] दी जाय। खैर, जो लोग अपने आपको [illegible] भट्टारकजीका "चोटीकट" अथवा सात पीढ़ी [illegible] गुलाम समझते हों वे चाहे उनकी इससे [illegible] प्रतिष्ठा करें और उनकी इच्छानुसार [illegible] क्रियाओं सहित प्रवर्तन करें, उनको कौन [illegible] सकता है ? लेकिन साथही इसके अगर कोई विवेकशील व स्वाभिमानी व्यक्ति उपरोक्त क्रियाओंके करनेसे इनकार करे तो उसे इसके लिये कदापि मजबूर नहीं किया जासकता। बीसपंथ आम्नायको मानना एक बात है, और किसी अनधिकारीको शाल वस्त्र धारण कर लेने मात्रसे भट्टारक मानकर उसकी इच्छानुसार नाच नाचना बिलकुल दूसरी बात।

भट्टारकजी भ्रमवश अपने आपको बड़े धड़ेके मंदिरका ही नहीं वरन् पंचायतका भी स्वामी व कर्ताधर्ता विधाता समझने लगे हैं। गत ता० १४ जूनको उन्होंने अकारण ही बड़े धड़ेके एक सदस्य श्री० बालचन्दजी सेठीका नाम बिना पंचायतको बुलाये, अथवा उन्हें किसी प्रकारकी सूचना दिये बिना ही स्वयं पृथक् कर दिया। इस घटनासे यहाँ काफी सनसनी फैली हुई है। सम्भव है इस मामले को लेकर [illegible] धड़ा पंचायतमें मुकदमेबाजीका सूत्रपात हो। हर्षकीर्तिजीको समझ रखना चाहिये कि भूतपूर्व भट्टारक श्री ललितकीर्तिजी महाराजको अन्तिम वसीयतके अनुसार वे मंदिरकी सम्पत्तिके प्रबन्धक मात्र हैं—मालिक नहीं; तथा उनकी पद-प्रतिष्ठा तभी तक कायम रह सकती है जबतक कि वे ईमानदारीके साथ तथा पंचोंकी अनुमतिपूर्वक प्रवर्तन करें। उच्छृंखलताके कारण श्री सोनागिर तीर्थक्षेत्र व महावीर तीर्थक्षेत्रके भट्टारकोंकी जो दशा हुई, उससे उन्हें सबक लेना चाहिये।

धर्मके ठेकेदार कहानेवालोंमें कुछ ऐसी लत पड़ गई है कि जहाँ किसी पंचायतमें सुधारकी कुछ चर्चा चली कि वे भोलेभाले लोगोंको भड़काकर परस्पर फूट करानेके लिये नारदविद्या फैलाने लगते हैं। भले आदमी अपने गिरेबानोंको देखते नहीं ! उनकी खुदकी पंचायतोंमें कैसे कैसे दुराचारी पंचायतकी नाक बने बैठे हैं, उनके खिलाफ उनकी आवाज खुलती नहीं ! अपने घरका कूड़ाकचरा साफ करनेके लिये तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतने ११ व्यक्तियोंकी एक सबकमेटी नियत कर रखी है किंतु आजतक उसे झाड़ू हाथमें लेने तकका साहस नहीं हुआ है। स्वयं कांचके घर में रहते हुए ये लोग नमालूम किस प्रकार दूसरोंपर पत्थर फेंकनेकी हिमाकत करते हैं। —[illegible]

वर्ष १०

अंक १४

ज्येष्ठ शुक्ला १५

वीर संवत् २४६१

ता० १६ जून

सन् १९३५ ई०

सत्यसंदेश

सत्य-समाज संगीत।

सर्व-धर्म-समभाव दिखावें,
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥ध्रुव॥

हिन्दू, मुसलमान, ईसाई,
जैनी, बौद्ध, हमारे भाई।
सबने सत्य-महत्ता गाई,
सबको अपने गले लगावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥१॥

राम, कृष्ण, जिन, बुद्ध हमारे,
यीशु, मुहम्मद, धर्म-दुलारे।
सत्य-पिताके सब हीं प्यारे,
आओ, सबको शीश नमावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥२॥

जब जब जैसे कष्ट पड़े थे,
अत्याचार असंख्य बढ़े थे।
जो उन पापों से झगड़े थे,
उनको श्रद्धांजलि पहुँचावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥३॥

नरनारी गोरा या काला,
उच्च-नीच बालक या बाला।
गूथें इन पुष्पों की माला,
सबको सम अधिकार दिलावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥४॥

शास्त्र-रूढ़ि-मय युग तत्व हो,
जग भी न निमग्न महत्व हो।
मात्र दुराग्रह-युत कुसत्व हो;
उसको हम प्रतिशोध करावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥५॥

"सत्य-भक्त" स्वामी 'दरबारी',
यहीं सत्य महिमा विस्तारी।
धन्य धन्य जिनकी महतारी;
उनके प्रति यों विनय सुनावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥६॥

वेद, पुरान, कुरान पढ़ाओ,
सब धर्मों का मर्म बताओ।
उनमें प्रभु-दर्शन करवाओ,
तुम पर तन मन धन बिसरावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥७॥

सत्य दया का नाद गुँजावें,
विश्व-प्रेम का राग सुनावें।
पक्षपात को दूर भगावें,
"सूर्यभानु" निर्मल सुख पावें।
सत्य-समाजी हम कहलावें ॥८॥

—सूर्यभानु जैन "भास्कर"।

जैनधर्मका मर्म ।

(६४)

प्रतिमा शब्दका अर्थ यहाँ कक्षा या श्रेणी है। गृहस्थोंके आचारको धीरे धीरे समुन्नत बनाकर पूर्ण-संयमी बनने के लिये ये श्रेणियाँ हैं। मुनिसंस्थामें प्रवेश करनेके पहिले इन श्रेणियोंका अभ्यास कर लेना उचित है। महात्मा महावीरके पहिले वर्णाश्रमव्यवस्था का जोर था। उसमें कुछ विकार आ जानेसे महात्मा महावीरने उसे ढीला तो किया परन्तु किसी न किसी रूपमें इसका रखना उचित और आवश्यक था। वर्णव्यवस्था जन्मसे न रहकर कर्मसे रही। इसीप्रकार आश्रम-व्यवस्था भी उम्रके हिसाबसे न रही, किन्तु संयमके हिसाबसे रही। म० महावीरकी भी इच्छा थी कि गृहस्थ और सन्यासके बीचमें कोई एक आश्रम अवश्य हो जिसमें मनुष्य संयमका अभ्यास करे। म० महावीरकी उसी इच्छाका फल प्रतिमाओं का यह विधान है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस विधानको जैसी चाहिये वैसी सफलता न मिली।

चारित्रके जब अन्य नियम देशकालके अनुसार बदलते रहे हैं, तब प्रतिमाओंका बदलते रहना आवश्यक था; क्योंकि प्रतिमाएँ चारित्र-नियमरूप नहीं हैं किन्तु नियमोंके पालनका एक क्रम हैं। बहुतसे नियमोंमें कोई किसी नियमका पहिले अभ्यास करता है और कोई पीछे, इसलिये प्रतिमाओंमें अदला बदली होना स्वाभाविक था। फिर भी इनमें जितना परिवर्तन होना चाहिये था उतना नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि इनका यथेष्ट प्रचार न होसका। जैनशास्त्रोंमें प्रतिमाओंके सिर्फ तीन पाठ मुझे मिले हैं। सम्भव है, और भी हों। इनमें एक तो श्वेताम्बर सम्प्रदायका है और दो दिगम्बर सम्प्रदायके। पाठकोंकी सुविधाके लिये मैं तीनों पाठ एक साथ दे रहा हूँ।

प्रथमपाठ	द्वितीयपाठ	तृतीयपाठ
१ दर्शन	दर्शन	मूलव्रत
२ व्रत	व्रत	व्रत
३ सामायिक	सामायिक	अर्चा
४ पोषध	प्रोषधोपवास	पर्वकर्म
५ पडिमापडिमा	सचित्तत्याग	अकृषिक्रिया
६ अब्रह्मवर्जन	रात्रिभुक्तित्याग	दिवाब्रह्म
७ सचित्ताहारवर्जन	ब्रह्मचर्य	नवविधब्रह्म
८ स्वयमारम्भवर्जन	आरम्भत्याग	सचित्तवर्जन
९ प्रेष्यारम्भवर्जन	परिग्रहत्याग	परिग्रहत्याग
१० उद्दिष्टभक्तवर्जन	अनुमतित्याग	भोजनमात्रानुमोदन
११ श्रमणभूतप्रतिमा	उद्दिष्टत्याग	अनुमतित्याग

पहिला पाठ श्वेताम्बर सम्प्रदायमें सर्वमान्य है। दूसरा पाठ दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित है। तीसरा पाठ भी दिगम्बर सम्प्रदायका है, परन्तु न तो प्रचलित है और न प्रसिद्ध ही है। इसका विधान सोमदेवसूरिने अपने यशस्तिलक १ में किया है।

इसके अतिरिक्त छट्ठी प्रतिमाके विषयमें एक चौथा पाठ भी है। समन्तभद्र आदि आचार्योंने इस प्रतिमाका नाम रात्रिभुक्तित्याग † अर्थात् रात्रि

१ मूलव्रतं व्रताम्यर्चा पर्वकर्माकृषिक्रिया ।
दिवानवविधं ब्रह्म सचित्तस्य विवर्जनम् ॥
परिग्रह परित्यागो भुक्तिमात्रानुमान्यता ।
तद्धानौ च वदन्त्येतान्येकादश यथाक्रमम् ॥
अवधिव्रतमारोहेत्पूर्वं पूर्वव्रतस्थितः ।
सर्वत्रापि समाः प्रोक्ता ज्ञान दर्शनभावनाः ॥
षडत्र गृहिणो ज्ञेया त्रयः स्यु ब्रह्मचारिणः ।
भिक्षुकौ द्वौ तु निर्दिष्टौ ततः स्यात्सर्वतो यतिः ॥

† अन्न पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्याम् ।
स च रात्रिभुक्ति विरतः सत्त्वेष्वनु कम्पमानमनाः ।

में चारों प्रकारके आहारका त्याग, रक्खा है; जब कि सोमदेव आशाधर आदिने इसका नाम रात्रि-भक्तव्रत दिवामैथुनविरति रक्खा है। और इसका अर्थ किया है दिनमें मैथुन नहीं करना। इस मत-भेदके मिलानेसे प्रतिमाओंके चार पाठ होजाते हैं।

पहिले पाठका—जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रचलित है—अन्यपाठोंसे एक विशेष मतभेद और है और वह यह कि श्वेताम्बर पाठके अनुसार प्रतिमाएँ परिमित समयके लिये हैं, जब कि दिगम्बर मतानुसार प्रतिमाएँ जीवनभरके लिये ली जासकती हैं। श्वेताम्बर मतानुसार पहिली प्रतिमा एक महीनेके लिये है, दूसरी दो महीनेके लिये, तीसरी तीन महीनेके लिये, इसप्रकार ग्यारहवीं ग्यारह महीनेके लिये। इस तरह सब प्रतिमाओंके अभ्यासमें साढ़े पाँच वर्ष लगजाते हैं। साथ ही यह नियम भी है कि ऊँची प्रतिमा धारण करने पर नीची प्रतिमाका धारण किये रहना अनिवार्य है, इसप्रकार ग्यारहवीं प्रतिमाके समय बाकी दश प्रतिमाओंका धारण करना अनिवार्य है। इस प्रकार पहिली प्रतिमा सब प्रतिमाओंके साथ रहनेसे साढ़े पाँच वर्ष तक रहेगी, दूसरी पाँचवर्ष पाँचमाह, तीसरी पाँच वर्ष तीनमाह, चौथी पाँचवर्ष इत्यादि। ऊँची प्रतिमाओंके धारण करने पर नीची प्रतिमाओंका धारण करना दिगम्बर सम्प्रदायमें भी अनिवार्य है।

महात्मा महावीरने आश्रमव्यवस्थाका विरोध करके भी उसके तत्त्वको स्वीकार किया था। कोई मनुष्य जिम्मेदारियोंको छोड़कर न भागे, मुनिसंस्थामें आकरके उसके नियमोंका भंग न करे, आदि बातोंका उनने खूब ध्यान रक्खा था। इसलिये ऐसा मालूम होता है कि ये प्रतिमाएँ मुनिसंस्थाके उम्मेद[illegible] [illegible] नाई गई थीं, परन्तु पीछेसे सर्वसाधा[illegible] उपयोगी होनेसे वे सभीके लिये हो गई—[illegible] भले ही वह मुनिसंस्थाका उम्मेदवार हो या न हो। इसीरूपमें इन प्रतिमाओंका प्रचार हो पाया। मुनि—संस्थाके उम्मेदवारोंने तो इनका बहुत कम उपयोग किया है। खैर, अब मैं इन प्रतिमाओंका सामान्य परिचय देकर वर्तमान युगके अनुकूल संशोधन करूँगा।

दर्शन—शंकादि दोषरहित सम्यग्दर्शनका पालन करना।

यह अर्थ श्वेताम्बर * और दिगम्बर † दोनोंको मान्य है। परन्तु किसी किसी दिगम्बर लेखकने इसमें निरतिचार मूलगुणोंके § पालनका भी विधान किया है।

व्रत—निरतिचार पाँच अणुव्रतोंका पालन करना। दिगम्बर सम्प्रदायमें पाँच अणुव्रतोंके साथ सात शीलव्रतोंके पालनका भी विधान [illegible] है। [illegible] शीलव्रतोंमें अतिचार [illegible] की जरूरत नहीं है

सामायिक—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सन्ध्यासमय निरतिचार सामायिक करना।

---

* [illegible] उत्तो अम्मु [illegible]
[illegible] पढमा उ।

† [illegible] निर्निरुपणः।
पञ्चगुरु चरण शरणो दर्शनिक[illegible]पथगृह्यः।
५—१३ र० क०

§ [illegible] विशुद्धदृक्।
भवाङ्गभोग निर्विण्णः [illegible] ३ ७ ॥
निर्मूलयन्मलान्मूलगुणेष्वग्रगुणोत्सुकः।
न्याय्यां वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन् दर्शनिको मतः॥ ३-८॥

‡ दंसण [illegible] पालेसं [illegible] निरइयारे।
अणु[illegible]गुण [illegible] होइ वय पडिया॥

\$ निरतिक्रमणमणुव्रत पञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि।

* [illegible] यतिमन्यैकचित्तः [illegible]।
[illegible]भजेद्यो रात्रि[illegible] व्रतम्[illegible]मः।

प्रोपध—अष्टमी चतुर्दशी अमावस और पूर्णिमाको उपवास करना। दिगम्बर सम्प्रदायमें सिर्फ अष्टमी चतुर्दशीका विधान है।

पडिमापडिमा—अष्टमी और चतुर्दशीको रात्रि में कायोत्सर्ग करना स्नान नहीं करना; दिनमें ही भोजन लेना; कांछ नहीं लगाना; दिनमें सदा ब्रह्मचर्य रखना और पर्व दिनोंमें रात्रिमें भी ब्रह्मचर्य रखना, शेष दिनोंमें भी परिमित ब्रह्मचर्य रखना, कायोत्सर्ग में जिनेन्द्रका ध्यान करना और अपने दोष देखना।

अब्रह्मवर्जन—पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करना।

सचित्ताहार वर्जन—वनस्पति तथा कच्चे पानी आदिका त्याग करना।

स्वयमारम्भ वर्जन—व्यापार धन्धेका काम अपने हाथसे नहीं करना, सिर्फ नौकरोंसे कराना।

प्रेष्यारम्भवर्जन—नौकरोंसे भी ये काम न कराना।

उद्दिष्टभक्त वर्जन†—अपने उद्देशसे बनाया हुआ भोजन भी न करना, सिर मुँडाना या सिर्फ चोटी रखना।

श्रमणभूत प्रतिमा‡—सिर मुँडाना या लौंच करना, रजोहरण ओघा ग्रहण करना।

दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रतिमाओंके जो पाठ प्रचलित हैं उनका अर्थ भी इनमेंसे होजाता है। जो कुछ विशेषता है, वह साधारण शब्दार्थसे समझी जासकती है।

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही पहिली प्रतिमाका नाम दर्शन प्रतिमा रखते हैं। उसमें सम्यग्दर्शन धारण करनेका उपदेश है, चारित्रकी कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु सम्यग्दर्शनका धारण करने वाला तो साधारण जैन भी होता है, फिर इस प्रतिमाधारीमें उससे क्या विशेषता आई? दूसरे शब्दोंमें यों पूछा जा सकता है कि चौथे गुणस्थानमें ही क्षायिक सम्यक्त्व तक होसकता है, जो कि पूर्ण निर्मल सम्यक्त्व है; फिर दर्शनप्रतिमाधारी जो कि पाँचवें गुणस्थान वाला है—उसमें क्या विशेषता है? यह प्रश्न बहुतसे जैन लेखकोंके सामने रहा है, परन्तु इस विषयमें उन्हें कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं मिला, इसलिये उनने दर्शन प्रतिमाके भीतर मूलगुणोंका भी विधान बना डाला, जैसा मैं पहिले पं० आशाधरजीका उद्धरण देकर कह आया हूँ। और किसी किसीने तो इस प्रतिमाका नाम ही बदलकर 'मूलव्रत' कर दिया है, जैसा कि ऊपर सोमदेवजीके पाठमें बतलाया गया है।

यह परिवर्तन उचित होने पर भी यह प्रश्न रहता है कि पहिलेसे ही इस प्रतिमाका नाम और अर्थ इस प्रकार चारित्रहीन क्यों रक्खा गया? मुनि बननेके लिये व्रतोंका अभ्यास तो ठीक, किन्तु सम्यग्दर्शनके अभ्यास करानेकी क्या जरूरत थी? इसका एक ही कारण ध्यानमें आता है। वह यह कि जब महात्मा महावीर या पीछेके अन्य किसी आचार्यके पास कोई ऐसा व्यक्ति—जिसने जैनधर्म धारण नहीं किया है—आता था और उनके उपदेशसे प्रभावित होकर एकदम मुनि बन जाना चाहता था, तब उसको सम्यग्दर्शनका अभ्यास करानेकी भी आवश्यकता होती थी। और प्रारम्भमें तो इसी प्रकारके उम्मेदवारोंकी [illegible]

* सम्ममणुव्वय गुणवय सिक्खा वय वं थिरो य नाणीय।
अट्ठमि चउद्दसीसु पडिम ठाणगाईसं॥
असिणाण वियडभोई मउलिकडो दिवस बम्भचारी य।
राई परिमाणकडो पडिमा वज्जेसु दियहेसु॥
झायइ पडिमाइठिओ तिलोए पुज्जे जिणे जिय कसाए।
नियदोस पच्चणीय अन्नं वा पंच जा मासा॥

† उद्दिट्ठ कड भत्त पि वज्जए किमुय सेसमारम्भं।
सो होइ उ खुरमुंडो सिहलिं वा धारए कोवि॥

‡ खुरमुण्डो लोएण व रयहरण ओग्गहं च घेत्तूणं।
समणब्भूओ विहरइ धम्मं काएण फासन्तो॥

रण विधान बना दिया गया। जब जैनसमाजकी संख्या बढ़ गई, मुनि बननेके लिये अधिकांश उम्मेदवार जैनसमाजमें से ही आने लगे, तब सम्यग्दर्शनके अभ्यासकी जरूरत न रही और पहिली प्रतिमामें कुछ व्रतोंका समावेश किया गया।

मैं पहिले कह चुका हूँ कि प्रतिमा चारित्र नहीं, किन्तु चारित्रका अभ्यासक्रम है। जैसे शिक्षा संस्थाओंमें पठनक्रम बनाया जाता है, उसी प्रकार यह अभ्यासक्रम है। पठनक्रममें कभी और कहीं कोई पुस्तक नीची कक्षामें रहती है और अन्यत्र वही ऊँची कक्षामें भी पहुँच जाती है। चारित्रके अभ्यास क्रममें भी यही बात है। आचारका एक नियम कोई पाँचवीं प्रतिमामें रखता है तो कोई नववीं में या आठवींमें। इस प्रकार पाठ्यक्रमके समान अभ्यासक्रम भी बदलता रहता है और उसे बदलते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई विद्यापीठ अपनी पढ़ाई ग्यारह भागोंमें विभक्त करता है, कोई तीन या चार भागोंमें इसलिये कोई ग्यारह परीक्षाएँ लेता है कोई तीन चार परीक्षाएँ लेता है। इसी प्रकार अभ्यासक्रममें भी बात । वैदिकधर्मने गृहस्थ और वानप्रस्थ या एक वान प्रस्थाश्रममें जो पाठ पढ़ाया वही जैनियोंने ग्यारह भागोंमें विभक्त किया। आज कोई चार पाँच आदि भागोंमें विभक्त कर सकता है। अभ्यासक्रममें परिवर्तन करनेसे या न्यूनाधिक भागोंमें विभक्त करनेसे कुछ भी हानि नहीं है। असली बात तो यह है कि मनुष्यको पूर्णसमभावी निस्वार्थ अर्थात् महाव्रती बनाया जाय, भले ही वह बाह्यदृष्टिसे निवृत्तिप्रधान हो या प्रवृत्तिप्रधान।

समय समय पर प्रतिमाओंके नये नये विधानोंकी जरूरत तो रहेगी ही, परन्तु देशकालके अनुसार कुछ प्रतिमाओंका विधान बनाना चाहिये, जिससे अगर कोई कक्षाके अनुसार अपने जीवनका

ध्यानमें रखना चाहिये कि अगर कोई इन कक्षाओंमें नाम न लिखावे तो उसको प्रमाणपत्र न मिलेगा परन्तु इसीसे वह असंयमी न कहलायगा। जिस प्रकार उक्त शिक्षणसंस्थाओंका उपयोग किये बिना भी कोई उच्च विद्वान् हो सकता है;—हाँ, उसे उपाधि या प्रमाणपत्र न मिलेगा—उसी प्रकार इन प्रतिमाओंकी कक्षाके बाहर रहकर भी कोई संयमी रह सकता है। यह तो सिलसिलेवार संयमका अभ्यास करनेके लिये सुलभ मार्ग है। मतलब यह कि ज्ञान-शिक्षाके समान इस चारित्रशिक्षाकी भी उपयोगिता समझना चाहिये। अस्तु। ग्यारह प्रतिमाएँ ये हैं—

(१) मूलव्रत—सर्वधर्म समभाव, सर्वजातिसमभाव, सुधारकता (विवेक), प्रार्थना, शील, दान, मांसत्याग, मद्यत्यागका पालन करना।

(२) अहिंसकता—पहिले जो अहिंसाकी व्याख्या की है उसके अनुसार उसका पालन करना। प्रतिमाएँ अभ्यासके लिये होनेसे अहिंसा सत्य आदिको जुदा जुदा कर दिया है।

(३) सत्यवादिता—पहिले जो सत्यकी और अचौर्यकी व्याख्या की गई है तदनुसार उनका पालन करना। झूठ बोले बिना या झूठका व्यवहार किये बिना चोरी नहीं हो सकती, इसलिये दोनोंका त्याग एक साथ होना चाहिये। साधारण गृहस्थ स्थूल असत्य और चोरीका त्याग कर सकता है, इसलिये वही यहाँ अभीष्ट है।

(४) कामसन्तोष—पुरुषका स्वपत्नी सन्तुष्ट होना तथा स्त्रीका स्वपतिसन्तुष्टा होना।

(५) परिग्रह परिमाण—अपरिग्रहके विवेचनमें अपरिग्रहकी जो छः श्रेणियाँ बताई गई हैं उनमें से पिछली तीन श्रेणियोंमें से किसी एक श्रेणीमें रहना।

(६) अनर्थ दंड विरति—[illegible]

(७) भोगोपभोग परिसंख्यान—इसका भी विवेचन अभी हो चुका है।

(८) शिक्षाव्रत-पहिले जो सात शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं उन सबका पालन करना।

(९) निरतिचारिता—पहिले जो अहिंसादि पाँच व्रतोंके अतिचार बतलाये गये हैं, उनका त्याग करना।

(१०) इन्द्रियजय—इसका वर्णन महाव्रती के ग्यारह मूलगुणोंमें हुआ है।

(११) अपरिग्रहता—अपरिग्रह की जो छः श्रेणियाँ बतलाई गई हैं उनमेंसे पहिली तीन श्रेणियों में से किसी एक श्रेणीमें रहना।

प्रतिमाओंके विवेचनके साथ चारित्रके विषयमें मुख्य मुख्य बातोंका संक्षिप्त विवेचन समाप्त होता है। परन्तु आत्मिक विकासके पूर्वक्रम को समझने के लिये गुणस्थानके विवेचन पर एक नजर डाल लेना जरूरी है। इस प्रकार अन्तमें गुणस्थानोंका भी संक्षेपमें विवेचन करदिया जाता है।

गुणस्थान।

यहाँ पर गुण शब्दका अर्थ आत्मविकासका अंश है। आत्मविकासके अंश ज्यों ज्यों बढ़ते जाते हैं, त्यों त्यों गुणस्थानोंकी वृद्धि मानी जाती है। गुणस्थानों को चौदह भागोंमें विभक्त किया गया है। यह वर्णन करने की सुविधाके लिये है, अन्यथा गुणस्थान तो असंख्यात हैं। इस विषयमें आत्मा की जितनी परिणतियाँ हैं उतने गुणस्थान हैं। उनको हम कल्पनामें सङ्कलित करके अमुक भागोंमें रख सकते हैं। जिस प्रकार नदीके एक प्रवाहको हम कोस आदिके कल्पित मापोंमें विभक्त कर सकते हैं परन्तु इसमें उस प्रवाहमें कोई अमिट रेखाएँ नहीं बन जातीं न वह प्रवाह ही टूटता है जिससे एक भागसे दूसरा भाग बिलकुल अलग मालूम पड़े, इसी प्रकार गुणस्थानों की बात है। एक गुणस्थान से दूसरे गुणस्थानकी सीमा इस प्रकार भिड़ी हुई है कि वह एक प्रवाह सा बनगया है।

गुणस्थानोंका क्रम दर्शन और चारित्रका क्रम है। इन दोनोंके भले बुरे रूपों की विविधतासे यह गुणस्थानका प्रवाह या मार्ग बना है। ज्ञानके विकास से गुणस्थानका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पदार्थोंके जानने न जाननेसे गुणस्थान बढ़ते घटते नहीं हैं। नीचे गुणस्थानवाला भी अधिक ज्ञानी होसकता है और ऊँचे गुणस्थानवाला भी कम ज्ञानी होसकता है।

तेरहवें गुणस्थानमें जो ज्ञानकी पूर्णता बतलाई जाती है, वह सत्यता की दृष्टिसे है, बाह्य पदार्थों की दृष्टिसे नहीं है।

सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको विभक्त करना भी बड़ा कठिन है। वे एक दूसरेमें इस प्रकार अनुप्रविष्ट हैं कि उनमें शाब्दिक अन्तर बतलाना भलेही सरल हो, परन्तु गम्भीर विचार करने पर वह अन्तर मिटसा जाता है। अथवा वे एक ही मार्ग के पूर्वापर भाग की तरह मालूम होने लगते हैं। इन दोनोंके अभेदका निर्देश करने के लिये जैन शास्त्रोंकी दो बातें अच्छी विचार-सामग्री देती हैं। एक तो यह कि सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र का घात एक ही कर्मके द्वारा होता है जिसे कि मोहनीय कर्म कहते हैं। जब कि जुदे जुदे गुणोंका घात करने लिये जुदे जुदे कर्म हैं तो सिर्फ सम्यग्दर्शन और सम्यक चारित्रके घातके लिये ही एक कर्म क्यों रक्खागया? इसका कारण दोनोंकी अभिन्नता है। दूसरी बात यह कि सम्यग्दर्शनके साथ स्वरूपाचरण चारित्र अवश्य होता है। स्वरूपाचरण एक ऐसा चारित्र है कि जिसको बाह्याचार के रूपमें परिणत करना कठिन है, या बाह्याचारके रूप बतला सकना अशक्य है। जैसे देशविरति

महाव्रत और यथाख्यात चारित्र (पूर्णसमभाव) भी स्वरूपाचरण अर्थात् आत्माके भीतरका आचरण हैं परन्तु इसका बाह्यरूप भी दिखलाई देता है इसलिये उनके नाम दूसरे रखदिये गये हैं। सम्यग्दर्शन के साथ स्वरूपाचरणका अविनाभाव बतलाना भी दोनोंके अभेदका सूचक है। सच तो यह है कि सम्यग्दर्शनके रूपमें हम जिस बातका विवेचन करते हैं वह तो स्वरूपाचरण चारित्रसे परिष्कृत किया हुआ ज्ञान है। उसीका साहचर्य स्वरूपाचरणसे बतलाया जाता है। सम्यग्दर्शन चारित्र की एक अनिवर्चनीय प्रारम्भिक अवस्था है। इसलिये पहिले चार गुणस्थान सम्यग्दर्शनसे सम्बन्ध रखते हैं, और पिछले सम्यक्चारित्रसे, यह कहना भी एक धाराके कल्पित भेद करने के समान है खैर, गुणस्थानके विवेचनके लिये यहाँ इनमें भेद मानना आवश्यक है।

चारित्रके विस्तृत विवेचनके बाद और गुणस्थान का संक्षेपमें मर्म बतला देनेके बाद अब यह कहने की जरूरत नहीं रहती कि गुणस्थानोंके भेद न्यूनाधिक करदिये जाँय तो कुछ हानि नहीं है। एक मार्गके बीस कोसके बीस भाग कल्पित करने की अपेक्षा अगर कोई पाँच पाँच योजनके चार भाग करे या चालीस मीलके चालीस भाग करे तो इससे मार्ग छोटा बड़ा नहीं होने वाला है। व्यवहार की सुविधा देखना चाहिये। यहाँ बात गुणस्थानों की है। आजकल गुणस्थान चौदह माने जाते हैं। यहाँ इनका संक्षेपमें परिचय दिया जाता है।

(१) मिथ्यात्व—जब प्राणीमें सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र बिलकुल नहीं होता, तब वह इस श्रेणीमें रहता है। छोटे छोटे कीड़ोंसे लगाकर बड़े बड़े पण्डित तपस्वी राजा आदि तक इस श्रेणी में रहते हैं, क्योंकि वास्तविक आत्मदर्शनके बिना उनकी अन्य उन्नतिका कुछ मूल्य नहीं है।

(२) सासादन—मिथ्यात्व गुणस्थानमें जो अनन्तानुबन्धी कषाय होती है—कषाय वासनाके प्रकरणमें जिसका विवेचन पहिले किया गया है—वह यहाँ भी होती है, इसलिये इस गुणस्थान वाले की गिनती भी मिथ्यात्वियोंमें की जाती है। इसीलिये मिथ्यात्वीके समान इस गुणस्थानके जीव को भी अज्ञानी कहा जाता है। परन्तु इसके मिथ्यात्व नहीं होता, इसलिये मिथ्यात्व गुणस्थानसे यह उच्चश्रेणीका गुणस्थान है।

परन्तु जब अनन्तानुबन्धी कषाय आ गई तब मिथ्यात्व आनेमें देर नहीं लगती। इसलिये इस गुणस्थान वाला शीघ्र ही मिथ्यात्व गुणस्थानमें पहुँचजाता है। सासादनका समय एक सैकिण्डसे भी थोड़ा है। जब कोई सम्यक्त्वी सम्यक्त्वसे भ्रष्ट होता है तब बीचमें एकाध सैकिण्डके लिये यह अवस्था प्राप्तकरता है। सासादन वाले को मिथ्यात्व गुणस्थानमें जानेके सिवाय दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है।

(३) मिश्र—इस गुणस्थानमें अनन्तानुबन्धी कषाय नहीं होती इसलिये यह उपर्युक्त दोनों श्रेणियोंमें से ऊँची श्रेणीका गुणस्थान है। परन्तु इसमें पूर्ण विवेक प्राप्त नहीं होता; सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका मिश्रण होता है इसलिये इस गुणस्थान को मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

जिस समय किसी जीव को सत्यका दर्शन होता है, तब वह आश्चर्यचकित सा होजाता है। उसके पुराने संस्कार उसको पीछे की ओर खींचते हैं और सत्यका दर्शन उसे आगे की ओर खींचता है। यह चकित अवस्था थोड़े समयके लिये होती है। इसके बाद या तो वह मिथ्यात्वमें ही गिर पड़ता है या सत्य को प्राप्त करता है। इसलिये इस गुणस्थानका काल अधिकसे अधिक पौन घंटेके करीब बताया गया है।

यह अवस्था एक तरहसे संशयमिथ्यात्वी कैसी अवस्था है। फिर भी इसमें अन्तर है। संशय मिथ्यात्वीकी सांशयिक मनोवृत्ति स्थायी रूप धारण कर गई है। उसमें चकितता नहीं है; जब कि इसमें है। दूसरी बात यह है कि इस गुणस्थानमें 'ईहा' कैसी अवस्था रहती है। ईहामें जिस प्रकार संशय निर्बल या नष्ट होजाता है, किन्तु पूर्ण निश्चय नहीं होता, ऐसी ही अवस्था मिश्र गुणस्थानवर्तीकी है।

(४) अविरत सम्यक्त्व—इसमें जीव सम्यग्दृष्टि होजाता है। सम्यक्त्वका वर्णन पहिले कर चुके है। सम्यक्त्वके साथ स्वरूपाचरण चारित्र भी होता है, यह बात भी पहिले कही जा चुकी है। फिर भी इसे अविरत कहा है; इसका कारण यही है कि इसका संयम इतना हलका रहता है कि उसका मानसिक वाचनिक और कायिक प्रभाव स्पष्ट नहीं होपाता, अथवा साधारण गृहस्थकी अपेक्षा भी कम प्रगट होता है। हाँ, यह सम्यग्दृष्टि अवश्य बन जाता है।

इस प्रकारके सम्यग्दृष्टि तीन तरहके होते हैं—वेदक, औपशमिक और क्षायिक।

वेदक सम्यक्त्व उसे कहते हैं कि जिसमें सत्यका दर्शन तो होजाता है, उस पर दृढ़ विश्वास भी हो जाता है, परन्तु नामका मोह रह जाता है। जैन शास्त्रों में इसका सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। यद्यपि उसमें कुछ संशोधनकी जरूरत है परन्तु वह दिशा-निर्देश अच्छी तरहसे करता है। वे कहते हैं कि यदि किसीने मूर्ति बनवाई हो और वह यह कहे कि यह मेरा* देव है तो वह उसका इस प्रकार मूर्तियोमें मेरे तेरेका भाव आजाना सम्यक्त्वका एक दूषण है। यद्यपि इससे सम्यक्त्व नष्ट तो नहीं होता फिरभी कुछ मलिन जरूर हो जाता है; इसी प्रकार तीर्थंकरोमें समानता होनेपर भी किसी विशेषका थोड़ा पक्षपात होना भी एक दोष है, इससे सम्यक्त्व मलिन होता है, यद्यपि वह नष्ट नहीं होता क्योंकि दूसरे तीर्थंकरों की उसमें अवहेलना निंदा आदि नहीं होती।*

इन उदाहरणोंसे इतना तो स्पष्ट होता है कि नामादिके पक्षपातसे समभावमें थोड़ासा मैल लगाने से सम्यक्त्व कुछ अशुद्ध होजाता है। ऐसे जीवको वेदक सम्यक्त्वी कहते है, क्योंकि इसमें मोहका कुछ वेदन—अनुभव होता रहता है। औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्वमें यह मैल नहीं रहता, इसलिये विशुद्धिकी दृष्टिसे ये वेदककी अपेक्षा कुछ उच्च हैं। औपशमिक सम्यक्त्व बहुत थोड़े समयके लिये होता है और क्षायिक सदाके लिये होता है। यही इन दोनोंमें अन्तर है।

सत्यसमाजके उदाहरणसे इस विषयको कुछ स्पष्ट किया जासकता है। सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्यको औपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वी कहना चाहिये और पाक्षिक सदस्यको वेदक सम्यग्दृष्टि। यद्यपि दोनों ही सर्वधर्मसमभावी हैं, परन्तु पाक्षिकको कुछ पुराने नामका मोह है। पाक्षिक और नैष्ठिकका यह अन्तर स्वरूपकी दृष्टिसे बतलाया गया है, न कि सामाजिक व्यवस्थाकी दृष्टिसे। क्योंकि कोई व्यक्ति अमुक परिस्थितिके कारण पाक्षिक सदस्य बना हो, या सदस्य ही न बना हो तो भी वह नैष्ठिक होसकता है। और परिस्थितिवश नैष्ठिक बननेवाला भी पाक्षिक या अनुमोदक होसकता है। इसलिये सदस्यों में तरतम भाव न रखकर सिर्फ उसके वास्तविक स्वरूपमें तरतमता समझना चाहिये। तथा यह बात भी ध्यानमें रखना चाहिये कि सत्यसमाजका सदस्य

* स्वकारिते ऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयमेऽन्यकारिते।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते।
—गोम्मटसार कर्मकाण्ड २५ टीका।

* समेऽप्यनन्त शक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयं।
देवोऽस्मैप्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि।
—गो० जी० टीका २५।

न होनेपर भी कोई व्यक्ति सम्यग्दृष्टि, महात्मा, पूर्ण समभावी बन सकता है। सत्यसमाजकी सदस्यता तो सिर्फ इसलिये है कि सुविधापूर्वक संगठित होकर सत्यका प्रचार किया जा सके और उसे जीवनमें उतारा जा सके।

(५) देशविरति– सम्यग्दर्शनके साथ इसमें देश संयम भी होता है। ग्यारह प्रतिमाओंके रूपमें देश विरतिका विवेचन किया गया है।

(६) प्रमत्तविरति—इसमें अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंका पालन होता है, या साधु-संस्थाके ग्यारह मूल गुणोंका पालन होता है। परन्तु यहाँ प्रमाद रहता है। कभी कभी कर्तव्य कार्यके साम्हने रहने पर भी आलस्यादिके वशमें जो अनादर बुद्धि पैदा होजाती है, उसे प्रमाद कहते हैं। विकथा, कषाय, इन्द्रियविषय, निद्रा और प्रणय ये प्रमादके भेद हैं। यहाँ यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि इनके होनेसे ही प्रमाद नहीं हो जाता; किन्तु जब इनकी तीव्रता इतनी होती है कि कर्तव्य कार्यमें भी अनादर बुद्धि पैदा करदे तभी इन्हें प्रमाद रूप कह सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिये किसी को सोते देखकर यह न समझना चाहिये कि यह प्रमादी है, किन्तु असमयमें सोते देखकर, अधिक समय तक सोते देखकर उसे प्रमादी कह सकते हैं। इसी प्रकार कषाय की बात है। यों तो कषाय सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक रहती है, परन्तु वहाँ प्रमाद नहीं माना जाता। शारीरिक आवश्यकतावश केवली भी सोता है, परन्तु वह प्रमादी नहीं है।

(७) अप्रमत्त विरति—प्रमादके न रहनेपर अप्रमत्त गुणस्थान होता है। संयमी मनुष्य सैकड़ों बार प्रमत्त और अप्रमत्त अवस्थामें परिवर्तन करता रहता है। कर्तव्यमें उत्साहका बना रहना अप्रमत्त अवस्था है। वह अवस्था सदा नहीं रहती, इसलिये थोड़े ही समयमें फिर प्रमत्तता आजाती है।

(८-९) अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण— इन दोनों गुणस्थानों की आवश्यकता नहीं मालूम होती है। वास्तवमें इन्हें सातवें गुणस्थानमें ही शामिल रखना चाहिये। अपूर्वकरण अर्थात् समभावके ऐसे अपूर्व परिणाम, जो उसे पहिले कभी नहीं मिले थे। किसी भी प्रकारका आत्मिक उत्थान होते समय परिणामोंमें ऐसी निर्मलता आती है, जो इकदम नई मालूम होती है। उसीका नाम अपूर्वकरण है। जब जीव मिथ्यात्वीसे सम्यक्त्वी बनता है, तब भी ऐसे ही नये परिणाम होते हैं। हाँ, वे सम्यक्त्वके अनुरूप होते हैं, इसलिये यहाँ की अपेक्षा छोटी श्रेणीके होते हैं परन्तु हैं वे अपूर्वकरण। जब उनको वहाँ नया गुणस्थान नहीं बनाया, तब इनको यहाँ नया गुणस्थान बनाने की जरूरत नहीं है।

यही बात अनिवृत्तिकरणके विषयमें है। यह परिणामोंकी वह अवस्था है जब इस श्रेणीके अन्य प्राणियोंके परिणामोंमें उसके परिणामोंका भेद नहीं रहता। इन अवस्थाओंमें इतना कम अन्तर है कि इनके लिये स्वतंत्र गुणस्थान बनानेकी जरूरत नहीं मालूम होती। विकारोंको दूर करनेकी तरतम अवस्थाओंको विस्तारसे समझानेके लिये इन्हें अलग गुणस्थान बनाया गया है। आजकल उस विस्तारको समझाना कठिन है। वह तो जम्बूस्वामीके साथही चला गया। आजकल भी वह अवस्था प्राप्त होती है, परन्तु उसका श्रेणीविभाग दूसरे ही ढंगका होगा। खैर, यहाँ कहना इतना ही है कि जिसप्रकार सम्यक्त्वोत्पत्तिके अपूर्वकरण अनिवृत्तिको प्रथम गुणस्थानमें शामिल रक्खा, उसी प्रकार पूर्णसंयमकी उत्पत्तिके अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणको अप्रमत्तविरतिमें शामिल रखना चाहिये।

(१०) सूक्ष्मसांपराय—यह अवस्था यथा-

ख्यात संयमके अति निकटकी है। इसमें किसीसे द्वेष तो रहता ही नहीं है, परन्तु थोड़ासा राग रहजाता है, जोकि पूर्ण विश्वप्रेममें या पूर्ण समभावमें कमी करता है।

(११) उपशांत मोह } ये दोनों पूर्णसमभाव
(१२) क्षीणमोह } के गुणस्थान हैं। इन

में अन्तर इतना ही है कि उपशांत मोहीका समभाव स्थायी नहीं होता, जब कि क्षीणमोहीका स्थायी रहता है।

(१३) सयोग केवली—क्षीणमोह होने पर [illegible] की प्राप्ति होती है। बिल्कुल अकषाय [illegible] सत्यकी खोज करता है, तब उसे [illegible] दर्शन होते हैं। यही आत्माका परम [illegible] अवस्थामें वह केवली, अर्हन्त, [illegible] स्थितप्रज्ञ आदि कहलाता है। उपशांतमोही इस अवस्थाको प्राप्त नहीं कर पाता, क्योंकि इस अवस्थाको प्राप्त होने पर फिर किसीका पतन नहीं होता।

(१४) अयोग केवली—मृत्युके समय केवली करीब एक सैकण्डके लिये पूर्ण निश्चल होजाता है। वही निश्चलावस्था अयोगकेवलीकी अवस्था है। निवृत्तिप्रधान होनेसे वर्तमान जैन मान्यताके अनुसार १४ वें गुणस्थानमें रत्नत्रय (सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र) की पूर्णता मानी जाती है। परन्तु वास्तव में वह तेरहवेंमें ही हो जाती है। इस प्रकार आत्मा के क्रम-विकासको बतलाने वाले १४ गुणस्थान हैं। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको अप्रमत्तविरति में शामिल करनेसे १२ ही कहे जा सकते हैं।

उपसंहार।

चारित्रका विस्तृत विवेचन कर दिया गया है। सामयिक परिस्थितिके कारण जैन शास्त्रोंमें चारित्र का वर्णन निवृत्तिप्रधान कहा गया है। वह भी ठीक है, परन्तु मैंने यहाँ उसके दोनों पहलुओंको समतौल रखनेकी कोशिश की है। भविष्यमें जब किसी एक तरफ अधिक जोर पड़जाय तो दूसरी तरफ भी जोर डालकर उसे समतौल कर देना चाहिये।

इस वर्णनमें एक बात बहुतसे जैन बन्धुओंको खटक सकती है कि मुनिसंस्थामें गृहस्थसंस्थासे बहुत कम भेद रक्खा गया है, इसलिये भविष्यमें इसका शीघ्र दुरुपयोग होगा।

इसके उत्तरमें मेरा कहना है कि मुनिसंस्थाका जो आज दुरुपयोग होरहा है, वह कुछ कम नहीं है। बाहरसे अपरिग्रहताका जो दंभ जाल फैला हुआ है, उसके कारण उसका सुधार भी कठिन हो रहा है। तथा समाजके ऊपर उसका ऐसा बोझ है कि अगर समाज उसे न उठावे तो समाजकी नाक कट जानेका डर है। मैंने इस दुःपरिस्थितिसे बचाव किया है। अगर शीघ्र दुरुपयोग भी होगा तो भी उसका सुधार भी शीघ्र होगा, क्योंकि ऐसे साधुओं का निर्वाह करनेके लिये समाज कुछ बँधी हुई नहीं है। उन्हें अपने पेटके लिये मजूरी करना पड़ेगी और इतने पर भी उनके मरनेके बाद उनकी सम्पत्ति पर समाजका अधिकार होगा। यह एक ऐसा नियम है कि इससे साधुसंस्थाके दुरुपयोगमें कठिनाई होगी तथा सुधारमें सरलता होगी। इसके अतिरिक्त वर्तमान युगमें उनको सेवा करनेके जो अधिक मौके मिलेंगे, वे अलग।

नियम कैसे भी बनाये जाँय, परन्तु सब जगह विवेककी आवश्यकता तो रहती ही है। जब तक विवेक रहेगा तभी तक नियम काम करेंगे। बादमें उनमें संशोधन करना होगा। इसलिये साधुसंस्थाके परिवर्तित रूपसे घबरानेकी जरूरत नहीं है। चारित्र का मर्म समझनेके लिये तथा वर्तमान समयमें साधुसंस्थामें कर्मण्यता तथा सेवाका पाठ भरनेके लिये यह उचित परिवर्तन किया गया है।

[छट्ठा अध्याय समाप्त]

उत्तराध्ययनसूत्र व पाली वैधिक-ग्रन्थों पर एक तुलनात्मक दृष्टि।

(लेखक—श्रीमान प्रोफ़ेसर पी० वी० बापट, M. A.)

(अनुवादक—श्रीमान रघुवीरशरणजी जैन)

[३]

(ङ) विविध समानताएँ—

उपरोक्त आश्चर्यजनक समानताओंके अतिरिक्त हमें अन्य कई विविध समानताएँ मिलती हैं—

माणुस्सं खु सुदुल्लहं (उ० XX, 11)

किच्छो मनुस्स पटिलाभो (ध० 182)

अरइरइसहो पहीणसंथवे विरए आयहिए पहाणवं।
परमट्ठपएहिं चिट्ठई छिन्नसोए अममे अकिंचणे॥
(उ० XXI, 21)

नारती सहती धीरं नारति धीर संहति।
धीरो च अरतिं सहति धीरो हि अरतिं सहो॥
(Ang IV, 1.3)

मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुअक्खाअधम्मस्स कलं अग्घति सोलसिं॥
(उ० IX, 44)

मासे मासे कुसग्गेन बालो भुञ्जेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं॥
(ध० 70)

फेणबुब्बुअसन्निभे [सरीरंमि] (उ० IX, 13)

फेणूपमं कायमिमं विदित्वा मरीचिधम्मं अभिसंबुधानो। (ध० 46)

लाभा लाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदा पसंसासु समो माणावमाणओ॥
(उ० XIX, 90)

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निंदा पसंसासु न समिञ्जन्ति पण्डिता॥ (ध०81)

सब्बत्थ वे सप्पुरिसा वजन्ति न कामकामा—लपयन्ति सन्तो।
सुखेन फुट्ठा अथवा दुखेन उच्चावचं पण्डिता—दस्सयन्त। (ध० 83)

(च) पशुओंके प्रति करुणा व अनुकम्पा—

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दण्डं मणसा वयसा कायसा चेव॥
(उ० VIII, 10)

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बे भायन्ति मच्चुनो।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥ (ध० 109)

मेत्ताय फसे तस थावरानि (सु० नि० 967)

सब्बेसु भूतेसु निधाय दण्डं (ध० 142)

(छ) शब्दरचना (Expression) के आचार व रीति (Manner) की दृष्टिसे भी हमको कई असाधारण समानताएँ मिलती हैं जो इसप्रकार हैं-

(क) प्राय: प्रत्येक पाली बौद्ध-सूत्रके आरम्भमें 'एवं मे सुतं' आता है, और इसीसे मिलता जुलता 'सुयं मे आउसं' जैनसूत्रोंमें भी कहीं कहीं मिलता है।

(ख) पाली साहित्यके सदृश जैन साहित्यमें भी भिन्न भिन्न निश्चित अंकों सहित अनेक पारिभाषिक शब्द मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

जैनसाहित्यमें:— ८ मदा, ९ बंभगुत्ति, २२ परीसहा इत्यादि

बौद्ध साहित्यमें:—६ आयतन, ४ संहति (Knots) ३८ बोधिपक्ख धम्मा इत्यादि। तत्कालीन स्थितिमें स्मरणशक्तिकी सहायतार्थ ऐसी बहुस्वामिक रचना सम्भवनीय ही नहीं, वरन आवश्यक थी।

(ग) अनेक स्थलोंपर अनुस्वार गिरा हुआ मिलता है, उदाहरणार्थ:—एआणंके स्थानमें एआण, बुद्धानंके स्थानमें बुद्धान।

(घ) मिलते जुलते शब्दों, पदसमष्टियों (Phrases) समासों, तथा उपमाओं व दृष्टान्तोंसे प्राय: वही भाव प्रगट होता है—

1. शब्द—अप्पकुक्कुए-अपकुक्कुच; उक्कुकुओ-उक्कुटिको; लूह-लूख; परीसहा-परिस्सया; मिलक्खुआ-मिलक्खुका; मायण्णे-मत्तञ्ञु; अइ-

च्छति-अतिच्छति (अतिच्छय भन्ते); अच्छहिं-अच्छन्ति. सहेह सहेत्थ;—तसेसु थावरेसु च.

II. पदसमष्टि व समास—धमणि संतए-धमणिसंधत:

जहाकरेणुपरिकिण्णे कुंजरे सट्ठिहायणे (उ० XI;18)
सेय्याथाऽपि नाम कुंजरो सट्ठिहायनो गंभीरं पोक्खरणिं ओगाहेत्वा (म० नि० 35. 3.)
घोरव्वसील (ध० 308) घोरव्वसीला (उ०XIV,35)
नाइदूरमणासन्ने – नातिदूरं न अच्चासन्ने ।

III. उपमा व दृष्टान्त –

भासच्छन्ना इवग्गिणो (उ० XXV, 18)
भस्मच्छन्नो व पावको (ध० 71)
मेरुव्व वाएण अकंपमाणो (उ० XXI 19)
सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति (ध० 81)
वुच्छिन्द सिणेहमप्पणो कुमुदं सारदिअं व पाणिअं (उ० X, 28)
उच्छिन्द सिनेहमत्तनो कुमुदं सारदिकं व पाणिना (ध० 285)

(नोट—बौद्ध-पाठ कहता है कि "तुमको शरदृऋतुके कोमल कमलकी भाँति अपने हृदयसे प्रेम व ममतारूपी कमलको शीघ्रतापूर्वक उखाड़ डालना चाहिये ।" परन्तु जैन-पाठके अनुसार हमको यह उपदेश मिलता है कि "जिसप्रकार शरदृऋतुमें कमल जलके बहिर्भागमें ऊपर होकर जलको सर्वथा छोड़ देता है, ठीक उसीप्रकार तुम भी *ममताको छोड़ दो ।" इन दोनोंमेंसे कौनसा पाठ मौलिक व आदिम है, यह बात परखने योग्य है)*

धुत्ते वा कलिणा जिए (उ० V, 16)
अक्खो पन छादेति कलिं वा कितवो सठो (ध० 252)

यदि हम कहें कि बौद्धों व जैनियोंकी समानताओंकी उपरोक्त आवलि क्षणिकर व पूर्ण न होकर बहुत अल्प व अपूर्ण है तो कुछ अत्युक्ति न होगी। हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि जैन प्राकृत ग्रन्थोंका, मुख्यतया अंगों व उपांगोंका, ध्यानपूर्वक सूक्ष्मदृष्टिसे अध्ययन किया जाय तो हमें ऐसी बहुतसी आश्चर्यजनक असाधारण समानताएं मिलेंगी, जिनको देख कर स्वत: हमें यह जाननेकी प्रबल इच्छा व लगन होजायगी कि किन किन कारणोंसे और कैसे, जैनियों व बौद्धोंके आचार विचारादिमें इतनी सादृश्यता होगई थी।

यहाँ हम बम्बई यूनिवर्सिटी (Bombay University) को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते, जिसकी कृपासे बी० ए० तकके विद्यार्थियोंको जैनियों व बौद्धोंके प्राकृत साहित्यका तुलनात्मक व सापेक्ष अध्ययन संभव होगया है। हम आशा करते हैं कि जैन विद्यार्थी इस स्वर्णावसरको हाथसे न जानेदेंगे और अवश्य बी० ए० में पाली व मागधी भाषा लेकर इसका भरसक सदुपयोग करेंगे।

परन्तु धनिकोंको उन जैन विद्यार्थियोंकी सहायतार्थ, जो बिना प्रोत्साहन व आर्थिक सहायताके अपने पवित्र साहित्यका अध्ययन नहीं कर सकते, आगे आना चाहिये। क्या हम धनिक जैन व्यापारियोंसे आशा करें कि वे शीघ्र इस महत्त्वपूर्ण कार्यमें प्रशंसनीय उद्योग करके पूना, बम्बई, अहमदाबाद तथा सूरत आदि स्थानोंमें पवित्र जैनसाहित्यका अध्ययन सुलभ व संभवनीय बनाकर एक बड़ी भारी कमीको पूरा करेंगे ?

नोट—अत्यन्त दुःखका विषय है कि जैनसमाज व्यर्थकी वाहवाहीमें अपना बहुमूल्य समय व द्रव्य गँवानेमें अपना गौरव समझता है, परन्तु ऐसी महत्वपूर्ण ठोस बातोंकी ओर किंचित् भी ध्यान नहीं देता।

[समाप्त]
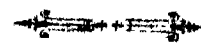
प्रेमीजी के अनुभव ।

[लम्बी बीमारीसे छुटकारा पानेके पश्चात श्रद्धेय श्री० पं० नाथूरामजी प्रेमी गतवर्ष क़रीब छः महीने भ्रमणमें रहे थे । उस समय नवयुवक-दल व स्त्री समाजके विषयमें आपको जो अनुभव हुआ वह पाठकोंके लाभार्थ आगे प्रकाशित किया जाता है । —प्रकाशक ।]

१—नवयुवक दल ।

प्रायः प्रत्येक शहरमें नवयुवकोंके दल देखनेमें आये । कहीं कहीं इनकी सभायें, समितियाँ, क्लब आदि स्थापित हैं, और कहीं कहीं संयोजकोंके अभावमें यों ही बिखरे हुए हैं । परन्तु इनकी संख्या सभी जगह काफ़ी है । यदि ये चाहें और प्रत्येक स्थानमें इन्हें एक एक दो दो अच्छे प्रभावशाली मार्गदर्शक और सञ्चालक मिल जायँ तो इनके द्वारा समाजसुधारकार्यमें बहुत अधिक सहायता मिल सकती है । अभी तो ये प्रायः स्वेच्छाचार या उच्छृंखलताको ही सुधार या देशसेवा समझते हैं । बड़े बूढ़े या पुराने विचारके लोग इनके कार्योंको अच्छा नहीं समझते, अप्रसन्न भी रहते हैं, परन्तु उनका इनपर कोई अंकुश नहीं; क्योंकि इनमें उन्हींके लड़कों, भतीजों, नातों, पोतोंकी संख्या अधिक है, जो धनीमानी और प्रतिष्ठित मुखिया कहे जाते हैं, और इसलिये इनके लिये उनका पञ्चायती दंड भोंथला पड़ गया है । ये अपनी पार्टियाँ करते हैं, उनमें विविध जातियोंके लड़कोंके साथ खाते पीते हैं, चा, सोडावाटर, लैमोनेड, रॉसबेरी आदिका पान करते हैं, बिस्किट केक आदि खाते हैं, रात्रिभोजन तो एक मामूली बात हो गई है, अन्नके पदार्थ खानेका भी परहेज अब नहीं रहा है । वे देखते हैं कि पञ्चायती दंड अब विशेष डरनेकी चीज नहीं रही है और साथ ही सोचते हैं—क्योंकि सोचने-विचारने की शक्तिका उनमें कुछ न कुछ विकास हो ही गया है—कि उनके बड़े बूढ़े भ्रूण-हत्या, गर्भपात, स्त्रियों पर अत्याचार, बेईमानी, दगा-फरेब, झूठ, असत्य-भाषण आदि महापापोंको रोज ही दबाते पचाते और पोंछते-पोंछते रहते हैं, तब उनके सामने तो ये बिलकुल मामूली ही बातें हैं, इसलिए पूर्वोक्त स्वेच्छाचार की प्रवृत्तिमें उनके पैर बढ़तेही जाते हैं । यदि कोई पुराने खयालोंका आदमी उनपर कोई टीका टिप्पणी करता है, तो वे उसे उनके और उनकी पंचायतोंके कारनामें सुनाकर हतप्रभ कर देते हैं । स्वाधीन आचार विचारोंका विरोध नहीं किया जा सकता; परन्तु साथ ही स्वेच्छाचार और असंयमका पोषण भी तो नहीं हो सकता । स्वाधीनता और स्वेच्छाचारमें बहुत अन्तर है । हम चाहते हैं कि युवकदल अपने आचरणको विवेकपूर्वक संयममें रक्खे और उस संयम से बल प्राप्त करे । यह कोई दलील नहीं है कि बड़े बूढ़े वास्तविक आचरणसे भ्रष्ट हैं, तो युवकोंको स्वेच्छाचारी होजाना चाहिए । हाँ, जो दरअसल दुराचार नहीं हैं, जो केवल लोकरूढ़िके कारण दुराचार या शिथिलाचार कहे जाते हैं, उनकी परवा अवश्य नहीं करनी चाहिए, बल्कि ऐसी रूढ़ियोंका खुले तौर से उल्लंघन करना ही युवकोंका धर्म है । यदि युवकदल इस धर्मका पालन करे और अपने विचारोंके अनुसार निर्भय होकर आचार करे, 'मनः पूतं समाचरेत्' का सूत्र याद रक्खे, तो उसके चरित्रकी सचाई पर लोगोंका ध्यान आकर्षित हो, साथ ही समाजमें से दंभ, और पाखंडकी मात्रा कम होने लगे ।

एक नगरके स्वयंसेवकोंके समक्ष भाषण करते हुए मैंने सच्चे नवयुवककी व्याख्या इस प्रकार की थी—

"जातिकी और देशकी आशाका केन्द्र, कालके थपेड़ोंसे भूमिसात हुई स्वाधीनताको पुनः स्थापित करनेका सहारा, पराधीनताकी बेड़ियोंको काटनेवाला धारदार हथियार, जीता-जागता संयम, अनुशासन (डिसिप्लिन) और संगठन, पुरानी रूढ़ियोंके क़िलेको धराशायी करनेवाला डिनामाइट, समाजकी जड़को खोखली करनेवाली रूढ़ियोंके वनको जलानेवाला दावानल, सजीव साहस, [illegible]

कुछ कर दिखानेकी आकांक्षाका स्तूपीकृतरूप, खौलता हुआ खून, उबलता हुआ जोश, भड़कता हुआ बल, चमकता हुआ चाञ्चल्य, प्रज्वलित पुरुषार्थ, त्याग और सेवा-भावका पुजारी" आदि । इस समय ऐसेही नवयुवकोंकी आवश्यकता है ।

इसके विरुद्ध जो स्वतंत्रता नहीं, किन्तु स्वेच्छाचारके उपासक, विलासिताके कीचड़में फँसे हुए कीड़े, आलस्यके अवतार, इन्द्रियोंके गुलाम, प्राचीन और नवीन सभी प्रकारके पापोंके पोषक, स्वार्थ और सुखके पुजारी, जरूरतोंके बढ़ानेवाले, फिजूलखर्च, बातमें तेज और काममें चोर, सदाचारकी रीढ़से रहित गन्दे सरीसृप, केवल अपना सुख-सुभीता देखने वाले और ऐन मौके पर खिसक जाने वाले, निर्बल और साहसहीन हैं, उन्हें तो 'मनुष्य रूपेण मृगाः' ही समझना चाहिए ।

जैनसमाजमें ऐसे युवक कहलाने वालोंकी अधिकता देखकर मेरा तो कुछ ऐसा विश्वास सा होगया है कि शायद जैनसमाजमें नवयुवक होते ही नहीं, वे तो शायद बूढ़े होकर ही जनमते हैं और सदा बूढ़े ही बने रहते हैं। हाँ, एक खास समय तक उनमें भोगलालसा अत्यधिक प्रबल रहती है और यही उनकी विशेषता है । यदि ऐसा न होता तो क्या जैनसमाज सुधारके मार्गमें इस तरह 'सब दिन चले अढ़ाई कोस' की कहावतको चरितार्थ करता ?

युवकोंमें सबसे बड़ी कमी मुझे यह नजर आई कि उनका ज्ञान बहुत ही अधूरा है और उनमें जिज्ञासाकी कमी है । अध्ययनका उन्हें शौक नहीं और इसलिये संसारकी महानसे महान धार्मिक सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियोंसे वे अपरिचित हैं । कई जगह नवयुवकों ने अपने क्लब भी स्थापित किये हैं; परन्तु उनमें भी स्वाध्याय या पठनपाठन की ओर कोई दिलचस्पी नहीं देखी गई, जब कि इसकी ओर खेल-कूदकी अपेक्षा बहुत अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये ।

नवयुवकोंके सामने कामका ढेर पड़ा हुआ है । लोगोंको स्वच्छता और सफाईसे रहना सिखाना, रात्रिशालायें खोलकर और दूसरे उपायोंसे सर्व-साधारणकी निरक्षरता दूर करना, अज्ञानतिमिर-व्याप्तिको जैसे बने तैसे हटाना, तरह तरहके वहमों और मिथ्या विश्वासोंको—देवगुरुशास्त्रमूढ़ताको—दूर करना, हर एक प्रकारके अन्यायों और अत्याचारोंके विरुद्ध लड़ाई छेड़ना, जनसाधारणके अधिकसे अधिक काममें आनेका प्रयत्न करना, साम्प्रदायिकता और कट्टरतासे दूर रहकर सर्वधर्म समभावको बढ़ाना, स्त्रियोंकी गुंडों बदमाशों और पंचायती अत्याचारोंसे रक्षा करना, शारदा-क़ानून तोड़ने वालोंके विरुद्ध मुकद्दमे दायर करना, बेजोड़ विवाह रोकना, विजातीय विवाह और विधवाविवाह करनेवालोंको सब तरहसे सहायता देकर उनका साथ देना, स्त्रियोंमें शिक्षाका प्रचार करना आदि अगणित काम हैं, जिनके करनेकी उनसे आशा की जाती है । आन्दोलन प्रायः सभी विषयोंके होचुके हैं; अब तो उनको कार्यमें परिणत करनेकी जरूरत है और इसकी आशा नवयुवकोंसे ही की जा सकती है ।

२—स्त्रीसमाज ।

स्त्रियोंमें शिक्षाका प्रचार बढ़ रहा है । प्रायः प्रत्येक शहरमें जैन कन्याशालाएँ और महिलापाठशालायें स्थापित हैं । जहाँ नहीं हैं, वहाँ लड़कियाँ सरकारी पाठशालाओंमें शिक्षा लेती हैं और अधिक नहीं तो चार कक्षायें पास कर लेती हैं । इस तरह स्त्रीसमाजमें से निरक्षरता तो धीरे धीरे दूर हो रही है; परन्तु वे जितना और जो कुछ पढ़ती हैं, उससे उनकी बुद्धिका विकास इतना नहीं हो पाता कि वे स्वयं कुछ सोचने विचारनेके योग्य हो जायँ और अपने गार्हस्थ्य जीवनके प्रश्नोंको ही सुलझा सकें—समाज और देशकी समस्याओं पर विचार करना तो बहुत दूरकी बात है । यही कारण है कि सुधार

के प्रत्येक कार्यमें सबसे अधिक बाधायें स्त्रियोंकी ओरसे होती हैं और पुरुष गृहकलह और अशान्ति के भयसे रहीसे रही सड़ी गली रूढ़ियों और हानिकर रीति-रिवाजोंसे समाजको मुक्त नहीं कर सकते।

हमारे समाजकी रचना और हमारी जीवन-प्रणाली ही कुछ ऐसी है कि हमारी स्त्रियाँ हमसे प्रायः जुदा रहती हैं। हमारा उनके साथ विचार-विनिमय नहीं होता। हम क्या करते हैं, कहाँ जाते हैं, क्या पढ़ते लिखते और सोचते विचारते हैं, इससे वे सर्वथा अपरिचित रहती हैं। हमारा संसार जुदा है और उनका जुदा। हम उन्हें इस योग्य ही नहीं समझते कि उनसे किसी विषय पर चर्चा करें, उन्हें समझावें बुझावें और उनके विचारोंको विकसित करें। और जब तक यह नहीं होता तब तक स्त्रियोंसे किसी तरहकी आशा नहीं की जाती।

हमारी अधिकांश जनता अब यह तो चाहने लगी है कि स्त्रियों को शिक्षा मिले, परन्तु शिक्षा का अर्थ वह धर्मशिक्षा तक ही परिमित समझती है। स्त्रीजातिसे उसे इतना अधिक अविश्वास और भय है कि वह उन्हें धर्मके बन्धनसे बाँधकर सदाचारिणी रखना चाहती है। उसकी दृष्टिमें यही एक उपाय है जिससे स्त्रियाँ अपने पतियों, देवरों, जेठों और पड़ौसियोंके घोर दुराचारी रहने पर भी, बुरीसे बुरी परिस्थितियोंमें रहकर भी, सती साध्वी बनी रहसकती हैं। संस्कार, संगति, अवस्था, मानसिक और शारीरिक दुर्बलताओंको वह कुछ नहीं गिनती। परन्तु वास्तवमें यह भ्रम है। धर्म शिक्षा अवश्य ही मनुष्यको सच्चरित्र बननेमें एक सहायक है; परन्तु सहायक ही है, इससे अधिक और कुछ नहीं। हमें यह न भूल जाना चाहिए कि शिक्षा स्वयं सदाचार या सच्चरित्र नहीं है।

और हमारी पाठशालाओंमें धर्मशिक्षा ही क्या दीजाती है? बालबोध-जैनधर्म, छहढाला, विनती, सामायिक पाठ, बारहभावना, रत्नकरंड, द्रव्य-संग्रह आदि रटा देना ही क्या धर्मशिक्षा है? यह तो तोते की रटन्त है। रात दिन सीता-राम, राम राम रटता हुआ भी तोता राम की सुन्दर मूर्ति को सामने पाकर उसमें अपनी चोंच चुभाने की ही कोशिश करता है। इस बाहरी शिक्षासे उनका हृदय नहीं भीगता—संस्कृत नहीं होता। और बड़ी कठिनाई यह है कि जैनधर्मका वर्तमान साहित्य जो कि उन्हें पढ़ने दिया जाता है, इतना दार्शनिक और तात्विक है कि इस उम्रमें और अविकसित बुद्धिमें उसका हार्द समझने की उनमें योग्यता और पात्रता ही नहीं होती है। अतएव वह एक शोभा की ही चीज बन जाती है। यह कैसे परिहास का विषय है कि जो लड़की अभी अभी संसारमें आई है, जो अभी जीना भी नहीं जानती, उसे 'समाधिमरण'का—मरनेका—पाठ पढ़ाया जाता है! बारहभावनायें सिखाई जाती हैं! संसारको अभी जिसने जाना-समझा-अवधारण ही नहीं किया, उससे आशा की जाती है कि वह उसको त्याग भी करदे! क्या इससे यह अच्छा न होगा कि पहले उनका भाषाज्ञान बढ़ाया जाय, उनके समझने योग्य साधारण पाठों और कथाओंके द्वारा सदाचार की शिक्षा दी जाय, गृहस्थाश्रमको सुन्दर सुखप्रद और स्पृहणीय बनाने के लिए गृहप्रबन्ध, शिशुपालन, स्वास्थ्यरक्षा, सीना पिरोना, संगीत, साहित्य आदि सिखाया जाय और फिर बुद्धि विकसित हो जाने पर तत्त्वज्ञानमें प्रवेश कराया जाय?

धर्मशिक्षा पाई हुई स्त्रियोंके जीवनमें मैंने और कोई विशेषता नहीं देखी, सिवाय इसके कि उन्हें सब जगह छूत ही छूत नजर आती है। यदि किसीसे उनकी धोतीका पल्ला छू गया तो उनकी भौंहें चढ़ गईं, नाक सिकुड़ गई, किसी बच्चेने उनके चौकेमें अनधिकार प्रवेश करनेका दुस्साहस किया तो उसकी शामत आगई और उन्होंने आसमान सिर पर उठा लिया। उनका सारा धर्म चौका-चूल्हेमें, हरी सूखी सचित्त अचित्त चीजोंके खाने न खानेकी

विवेचनामें, व्रत-उपवासोंके बाहरी आडम्बरोंमें और बनावटी त्यागमें परिमित होगया है। बाहरी आचार ही उनकी नजरमें सब कुछ है। कषायोंके मन्द होने के बजाय उनमें इनकी प्रबलता ही देखी जाती है।

क्या हमें धर्मशिक्षा पाई हुई स्त्रियोंसे यह आशा न करनी चाहिये कि उनका परिवार आदर्श परिवार हो, उनके परिवारके बच्चे शिष्ट, शान्त, शिक्षित हों, पति, देवर, जेठ, सास, ननदें आदि सब उनसे सुखी और सन्तुष्ट हों? उनका घर आनन्दप्रद हो?

वियोग *
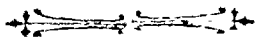
कब तक देखूँ बाट बतादो कैसे तुम्हें बुलाऊँ।
यदि मैं आऊं पास तुम्हारे तो किस पथमें आऊँ॥
कब तक तुमसे दूर बतादो होगा मुझको रहना।
निर्बल कंधों पर अनन्त कष्टों का बोझा सहना॥
भरा हुआ यह हृदय तुम्हारे बिना सदा है सूना।
जब जब याद तुम्हारी आती होता है दुख दूना॥
रूखा सूखा अंग हुआ है फीका पड़ा वदन है।
कूड़ा कर्कट भरा हुआ है गँदला हुआ सदन है॥
तुम ही हो सौन्दर्य जगत्के अबलोंके अवलम्बन।
मन-मन्दिरके देव तुम्हीं हो दुखियाके जीवनधन॥
जीवन-रजनीके विधु तुम हो तुम बिन जीवन फीका।
तुम बिन काल कटेगा कैसे प्रियवर इस रजनीका॥
तुम घटके अन्तर्यामी हो तुम्हें ज्ञात सब बातें।
किस प्रकार दुःखोंसे कटती हैं दुखिया की रातें॥
फिर भी मुझको नहीं बताते कैसे तुमको पाऊँ।
इस अनन्त दुखमय दोजख को कैसे स्वर्ग बनाऊँ॥
दिखती मुझको मूर्ति तुम्हारी है कोने कोने में।
फिर भी हाथ न आते, क्या फल है छलिया होनेमें॥
सुनते और देखते हो सब फिर मैं क्या क्या रोऊँ।
सिसक सिसककर इन अँसुओंसे कबतक आँखें धोऊँ॥
देव तुम्हारे बिना आज सर्वस्व लुटा है मेरा।
बुद्धि हुई दुर्बुद्धि हृदयमें है अशान्तिका डेरा॥
धन, तन, बल, भोगोपभोग सन्तुष्ट नहीं करते हैं।
करते हैं अशान्तिका वर्द्धन ममता सुख हरते हैं॥
ये सब प्राणवान होंगे यदि तुम को मैं पाजाऊँ।
बिगड़ी सभी बनेगी, पथ पर अगर तुम्हारे आऊँ॥
सब कुछ ले लो किन्तु हृदय के ईश्वर मेरे आओ।
अथवा बन्धनमुक्त बनाकर अपना पथ दिखलाओ॥

— दरबारीलाल (सत्यभक्त)

* वियोगिनी प्रियतमके वियोगमें जैसे उद्गार निकालती है उसी प्रकार के भाव और भाषामें एक भक्तके सत्य-भगवानके प्रति उद्गार हैं। सारी कवितामें ऐसे शब्दों और क्रियापदोंका प्रयोग किया गया है जो स्त्री और पुरुष दोनोंके मुखसे निकल सकते हैं।
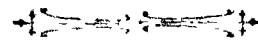
अमरोहामें क्या हुआ ?

श्री० पं० दरबारीलालजी व पं० वंशीधरजी (शोलापुर) का शुभागमन।

ता० ८ मईसे ता० १८ मई तकका कार्य विवरण।

ता० ८ मई:—श्रीमान सा० र० पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ सम्पादक सत्यसंदेश (जैनजगत्) सपत्नीक सायंकाल को ५ बजे की ट्रेनसे निमंत्रण पर अमरोहा पधारे। आपको जैन धर्मशाला मुहल्ला कोटमें सादर ठहराया गया। रात्रि को जैन मंदिरमें शास्त्र सभा की गई जिसमें पंडितजीने पद्मपुराणको बाँचते हुए अनुयोग पर बड़े सुन्दर व सुसज्जित शब्दोंमें नवीन व मौलिक प्रकाश डाला। आपने बतलाया कि धर्मशास्त्र और इतिहासमें बहुत अन्तर है। धर्मशास्त्र इतिहास हो भी सकता है और नहीं भी। भले ही कोई धर्मशास्त्र अनैतिहासिक सिद्ध होजाय, फिर भी हम उसे धर्मकी दृष्टिसे अमान्य नहीं ठहरा सकते। धर्मशास्त्र तो कल्याणमार्गका

प्रदर्शक होनेसे धार्मिक जगत् को मान्य ही रहेगा; चाहे ऐतिहासिक दृष्टिसे वह असत्य हो किंतु धर्म की दृष्टिसे हम उसे सत्य ही कहेंगे। इसीप्रकार वह इतिहास जो मनुष्यको कल्याणमार्गकी ओर अग्रसर न करे, वल्कि उसका विरोध करे, धर्मकी दृष्टिसे वह असत्य ही कहा जायगा। मतलब यह है कि धर्मशास्त्र वह शास्त्र है जो मनुष्यको कल्याणपथ का अनुगामी बननेमें सहायता दे, चाहे वह ऐतिहासिक हो या अनैतिहासिक। पद्मपुराण एक धर्मशास्त्र है, इतिहास नहीं। इससे हमें यह उत्तम शिक्षा मिलती है कि परस्त्रीहरण एक महा भयंकर पाप है और जो इस पापका भागी बनता है, उसका सर्वनाश अवश्यम्भावी है, इत्यादि इत्यादि। यह शिक्षा हमें कल्याणमार्ग पर चलनेमें बहुत सहायता देती है, अत. यदि पद्मपुराण अनैतिहासिक भी सिद्ध हो जाय, फिर भी इसका महत्व जैसेका तैसा ही बना रहेगा। यह तो एक धर्मशास्त्र है, अत. अनैतिहासिकता इसका कुछ नहीं बिगाड़ सकती। यह ऐतिहासिक दृष्टिसे असत्य होते हुए भी धार्मिक दृष्टिसे सत्य ही कहा जायगा। आदि।

शास्त्रसभामें लगभग सभी स्थानीय जैन बन्धु उपस्थित थे। स्त्रियाँ भी काफी संख्यामें थीं। कई महानुभावोंने अनुयोगसम्बन्धी प्रश्न किए जिनका पण्डितजीने योग्यतापूर्वक उत्तर दिया। दस बजे शास्त्र-सभा समाप्त हुई। समाप्ति पर लाला सिपाहीलालजीने एक मनोहर आध्यात्मिक भजन सुनाया।

शास्त्रसभाके पश्चात १२ बजे तक शंकासमाधान हुआ जिसमें सर्वज्ञता व मुक्ति सम्बन्धी अनेक प्रश्न पण्डितजीके सन्मुख रखे गए जिनका पंडितजीने बड़ी योग्यतासे उत्तर दिया और स्थानीय भाइयोंको यह भली भाँति मालूम हो गया कि पण्डितजीके सिद्धान्त निराधार व निर्मूल नहीं हैं।

ता०९ मई:—जैन मन्दिरमें दुपहरको १ बजेसे स्त्री सभा की गई जिसमें पण्डितजीका भाषण हुआ। आपने स्त्रियोपयोगी कई बातों पर सरलतापूर्वक प्रकाश डाला, तथा स्त्री-शिक्षा पर जोर दिया।

रात्रि को ८ बजेसे मन्दिरमें पण्डितजीने अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) पर एक मौलिक भाषण दिया और आपने बतलाया कि हम किस प्रकार इस वाद को अपने जीवनमें घटित कर सकते हैं। आपने कहा कि अनेकान्तवादी धर्ममें सम्प्रदायोंका होना असम्भव है। जिस धर्ममें सम्प्रदायोंका अस्तित्व हो, वह धर्म अनेकान्तवादी कहलानेका अधिकारी नहीं है। निःसंदेह जैनधर्मकी नींव अनेकान्तवाद पर ही रखी हुई है, परन्तु द्रव्य क्षेत्र काल भावके दूषित प्रभावसे आज उसमें अनेक सम्प्रदाय पाये जाते हैं। अनेक सम्प्रदायोंका होना इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि आज जैनधर्म भगवान महावीरके समयके जैनधर्मके समान अनेकान्त वादी नहीं रहा है और उसमें विकारका समावेश होगया है। यदि हमें जैनधर्मसे सच्चा स्नेह है तो हमारा सर्वोत्तम व सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि हम उसके विकारको दूर करदें और उसे फिर पूर्ववत् एक वैज्ञानिक व अनेकान्तवादी धर्म बना कर विश्वको विश्वास दिलादें कि जैनधर्म ही विश्वधर्म कहलानेका अधिकारी है यदि हम अन्धश्रद्धा व मिथ्या पक्षपातके वशीभूत होकर इस ओर अपना ध्यान न देंगे तो यह हमारा जैनधर्मके प्रति अन्याय व विश्वासघात होगा। हमें चाहिये कि हम निर्भीक होकर जैनधर्म रूपी महलमेंसे अवैज्ञानिकताका कूड़ा निकाल बाहर करें। इससे उस महल की सफाई होगी, न कि नाश। अतः आज धर्मसंशोधनका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है। जैनधर्मका संशोधन करके हम जैनधर्मका तो कल्याण करेंगे ही, साथ ही अपना भी कल्याण कर सकेंगे। यदि हम अन्धश्रद्धालु बनकर विकारको न निकालेंगे अर्थात उसे विकृत ही बनाए रखेंगे तो हम सत्यकी प्राप्ति नहीं कर सकते। आज अने-

कान्तवाद जैन शास्त्रोंकी ही सामग्री रह गया है, और वह भी विकृत अवस्थामें, परन्तु जैनसमाज में तो उसका सर्वथा अभाव ही है। आज यदि जैनी अपने जीवनमें अपने अनेकान्तवाद को घटालें तो मैं निश्चयपूर्वक कहसकता हूँ कि शीघ्र ही जैनधर्मके सम्प्रदायोंका समन्वय होजायगा और हमें फिर उसी जैनधर्मके दर्शन होसकेंगे जो कि भगवान महावीर के समयमें प्रचलित था।

इसके पश्चात पण्डितजीने सप्तभंगीका बड़ा अच्छा विवेचन किया और उसकी उपयोगिता पर नवीन प्रकाश डाला।

तत्पश्चात १२॥ बजे तक शंकासमाधान हुआ जिसमें पण्डितजी ने दर्जनों शंकाओंका बड़ी योग्यतासे निराकरण किया।

१० मई—रात्रिको ८ बजे जैनमंदिरमें यहाँ के सुप्रतिष्ठित अजैन बा० रामकृष्णजी बी०ए०बी०एल० वकील पण्डितजीसे धार्मिक चर्चा करनेके उद्देश्यसे आये और उन्होंने धर्मका स्वरूप पूछते हुए प्रश्न किया कि ईश्वर सृष्टिकर्ता है या नहीं ? इस पर पं० दरबारीलालजीने कहा कि आपके प्रश्नका धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है, यह तो दर्शन (Philosophy) का विषय है । यद्यपि धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्रसे बहुत सहायता लेता है , किन्तु दर्शनशास्त्र को धर्मशास्त्रमें सम्मिलित नहीं किया जासकता। धर्मशास्त्र तो उस शास्त्र को कहते हैं जो मनुष्य को कल्याणमार्ग की ओर अग्रसर करे। इस पर वकील महोदय ने पूछा कि धर्मका क्या स्वरूप है ? पण्डितजी ने उत्तर दिया कि सार्वत्रिक व सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंका अधिकतम सुख(Greatest good of the greatest number) वाली नीतिका नाम ही धर्म है । फिर वकील. साहब ने कहा कि मैं आपका भाव समझ गया हूँ, अब आप सृष्टिकर्तृत्व वाले प्रश्नका उत्तर दर्शन की दृष्टिसे ही देने की कृपा करें। इसके उत्तरमें पण्डितजी ने बड़ी योग्यतासे सृष्टिकर्तृत्व खंडन किया जिसका वकील महोदय पर आशातीत प्रभाव पड़ा। लाला नारायणप्रसाद जी रईस (अजैन) भी इस चर्चाका आनन्द ले रहे थे। उन्होंने पण्डितजीसे कई प्रश्न किए जिनका यथोचित उत्तर पण्डितजी ने दिया। इसके बाद वकील साहबने सत्यसमाज सम्बन्धी प्रश्न किए जिनके उत्तरमें पण्डितजीने सत्यसमाज पर संक्षेपमें अच्छा प्रकाश डाला और उसकी सर्वोपयोगिता बतलाते हुए उन्हें "सत्यसमाज संघटना व नियमावली" दी। फलस्वरूप पण्डितजीके कहे बिना ही उन्होंने स्वयं अनुमोदक बनने की इच्छा प्रगट की। लाला नारायणदासजी ने भी उनका अनुकरण किया और इस प्रकार स्थानीय दो प्रतिष्ठित अजैन भाई सत्यसमाजके अनुमोदक बने।

८॥ बजेसे पण्डितजी ने "सर्वज्ञता" पर एक संक्षिप्त भाषण दिया जिसमें उन्होंने जैनशास्त्रों की सहायतासे ही प्रचलित मान्यताका खंडन किया। आपने कहा कि सर्वज्ञता विषयक प्रचलित मान्यता अवैज्ञानिक तो है ही, साथ ही हानिकारक भी है। इससे हमारे विकास-मार्गमें बाधा पड़ती है, इत्यादि।

तत्पश्चात १२ बजे तक शंकासमाधान हुआ और उसमें पण्डितजीने अत्यन्त नम्रतापूर्वक प्रश्नोंके युक्तिपूर्वक उत्तर दिए।

११ मई:—रात्रि को ८॥ बजे जैन मन्दिरमें विश्वधर्म (सर्वधर्मसमभावी धर्म) पर आम व्याख्यान सभा हुई जिसमें पण्डितजीने सत्यसमाज की आवश्यकताको बतलाते हुए कहा कि सत्यसमाज सर्वधर्मसमभाव व सर्वजातिसमभाव की नींव पर खड़ा हुआ है। उसमें सभी धर्मोंका समन्वय किया गया है। आजकल जितने भी धर्म प्रचलित हैं वे सब दुःखों को दूर करनेके लिए इस विश्वमें जन्मे थे और अपने अपने समयमें हर धर्मने इस उद्देश्यमें सफलता भी पाई। हम जो धर्मोंमें परस्पर भिन्नता देखते हैं वह तात्विक भिन्नता नहीं है किन्तु उनके व्यावहारिक रूपों की भिन्नता है।

इतना ही नहीं वरन् वह व्यावहारिक रूपोंके बाह्य कारणोंकी भिन्नता है। दुनियामें अनेक धर्म हैं—जैन, बौद्ध, वैदिक, ईसाई, इस्लाम आदि। परन्तु जिस प्रकार इन धर्मोंके सम्प्रदाय हैं उसप्रकार अहिंसा-धर्म, सत्य-धर्म, अक्रोधधर्म, विनयधर्म आदिके सम्प्रदाय नहीं हैं। मैं जैन हूँ, तू बौद्ध है, इस प्रकार के धर्माभिमानसे लोग लड़े हैं, परन्तु मैं अहिंसाधर्मी हूँ, तू सत्यधर्मी है, इस प्रकारके धर्माभिमानसे कोई नहीं लड़ा। इससे पता लगता है कि अहिंसा सत्य आदि असली धर्म हैं और इनमें विरोध नहीं है। विरोध है उसके विविध रूपोंमें अर्थात् सम्प्रदायोंमें। जुदे जुदे धर्मोंमें जो हमें परस्पर विरोध मालूम होता है वह अनेकान्त अर्थात् स्याद्वाद दृष्टिके न प्राप्त करनेका फल है।

इसके पश्चात् सृष्टिकर्तृत्व, वर्णव्यवस्था, द्वैताद्वैतवाद आदि कई विषयों पर अनेकान्त दृष्टिसे महत्वपूर्ण प्रकाश डाला और समझाया कि इनमें भेद होते हुए भी धर्म अभेद रूप ही रहता है।

भाषणके पश्चात सत्यसमाजविषयक अनेक शंकाएँ पंडितजीके समक्ष रक्खी गई, जिनका पंडितजी ने बड़ी योग्यतापूर्वक समाधान किया। रात्रि १२ के बजे शंकासमाधान सानंद समाप्त हुआ।

१२ मई—सुबहकी ट्रेनसे पं० वंशीधरजी निमंत्रणपर अमरोहा पधारे। आपको उसी धर्मशालामें नीचे ठहराया गया। ऊपर श्री० पं० दरबारीलालजी ठहरे हुए थे। इस प्रकार दोनों विद्वानोंका एक ही जगह ठहरना बड़ा प्यारा लगा।

पंडितजी आज ही १२॥ बजे (दुपहर) की गाड़ी से बिदा होनेवाले थे, किन्तु समाजने दोनों विद्वानों में परस्पर चर्चा करानेके उद्देश्यसे उन्हें आग्रहपूर्वक रोक लिया। दुपहरको २ बजेसे ४ बजेतक 'सर्वज्ञता' पर मौखिक चर्चा हुई और रात्रिको उसी विषयपर मौखिक व लिखित दोनों प्रकारकी चर्चा हुई जिसका विस्तृत विवरण १६ मई १९३५ के 'सत्यसन्देश' में मैं पाठकोंके सन्मुख रख चुका हूँ।

१३ मई व १४ मईः—इन दोनों दिनोंमें 'दिगम्बरत्व' व 'मुक्ति" पर क्रमशः मौखिक व लिखित दो चर्चाएँ हुई जिनका विस्तृत विवरण १ जूनके सत्यसन्देशमें प्रकाशित हुवा है।

१४ मईकी रात्रिको ९ बजे जैनमंदिरमें पं० वंशीधरजीसे 'धर्मकी आवश्यकता और उसका स्वरूप' पर व्याख्यान देनेकी प्रार्थना की गई, तदनुसार पंडितजी ने लगभग एक घंटे तक लम्बा व्याख्यान दिया। उसमें आपने बतलाया कि हमारे जैनशास्त्रोंमें कई विषय ऐसे हैं जो अनुभवगम्य हैं, और उनकी परीक्षा तर्क की कसौटीपर नहीं की जासकती। उदाहरणार्थ सर्वज्ञताका ही विषय ले लीजिए। हम अल्पज्ञ भला सर्वज्ञताका स्वरूप किस प्रकार समझ सकते हैं? यहाँ युक्तियोंका प्रयोग करना निरर्थक है। हमें तो आज्ञाप्रधानी बनकर सर्वज्ञताके प्रतिपादित स्वरूप पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए और यदि कोई युक्तियोंसे उनका खंडन भी करदे जिसका कि परिहार हमसे न होसके, फिर भी हमें अपनी श्रद्धाको दृढ़ ही बनाए रखना चाहिए हमारा जैनधर्म मोक्षमार्गका प्रदर्शक है। उस मोक्षमार्ग पर चलना हमारा परम कर्तव्य है। हमें जैनशास्त्रों पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए और किसी भी हालतमें उनका विरोध न करना चाहिए क्योंकि यदि ऐसा किया जायगा तो सम्यग्दर्शन दूषित हो जायगा और हम मिथ्यात्वी बन जायँगे। फलतः हमें मोक्षपदकी प्राप्ति ही न हो सकेगी। हमें उत्साही बनकर मोक्षमार्ग पर चलना चाहिए। हम पुरुष हैं, नपुंसक या स्त्री नहीं स्त्रियों व नपुंसकोंमें उत्साह नहीं होता, उत्साह तो पुरुषमें ही होता है। स्त्रियाँ तो कायरताकी सजीव मूर्तियाँ हैं, उन्हें मोक्षपद प्राप्त करना असंभव है। अतः हम पुरुषोंको अपना श्रद्धान दृढ़ बनाना चाहिए और आज्ञाप्रधानी बनकर अपने सम्यक्त्वकी रक्षा करना चाहिए।

पं० वंशीधरजीके ऐसे अत्यन्त महत्वपूर्ण व प्रभावशाली भाषणके पश्चात यहाँके सुप्रसिद्ध श्रीमान

साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापति जैनसभा अमरोहा ने दोनों विद्वानों व स्थानीय जैनसमाजको सादर धन्यवाद दिया। इस पर पं० वंशीधरजी ने उत्साहपूर्वक खड़े होकर गम्भीरतापूर्वक कहा कि हम जिन पं० दरबारीलालजीकी असाधारण विद्वत्ताकी प्रशंसा सुना करते थे, यहाँ हमें उनसे चर्चा करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, अतः मैं पं० दरबारीलालजीको अपनी ओरसे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इसके पश्चात् पं० दरबारीलालजी यह कह कर कि अब मुझे धन्यवादोंका बोझ अपने सिर परसे उतार देना चाहिए, उठे और अत्यन्त नम्र व चित्ताकर्षक शब्दोंमें आपने कहा कि अमरोहा जैनसमाज की मैं प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। वास्तवमें यहाँकी समाजने मेरे विचारोंका बहुत धैर्य व सहिष्णुताके साथ श्रवण किया। उसकी इस उदारताने मेरे हृदयमें बहुत स्थान कर लिया है। यहाँके सभी सज्जनोंने मेरा आदर सत्कार किया, उसके लिये मैं सबका कृतज्ञ हूँ। मेरे विचार जैसे भी हैं, समाजको मालूम हैं मैं समाजको बतला देना चाहता हूँ कि मेरे विचारोंमें बेईमानी जरा भी नहीं है, न मुझे हठ व पक्षपात है। यदि मुझे अपने विचारोंकी असत्यता सुझा दी जाय तो मैं आज ही उन्हें छोड़ देनेको तैयार हूँ।

इस प्रकार १२। बजे व्याख्यान सभा प्रेमपूर्वक समाप्त हुई।

१५ मई–दुपहरके ११॥ बजे श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी ने पं० दरबारीलालजीका सादर व सप्रेम माङ्गलीक टीका किया। तत्पश्चात् १२॥ बजेकी ट्रेनसे पंडितजीको सादर बिदा करानेके उद्देश्यसे जैनसभा के सभापति श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी, मंत्री ला० भोलानाथजी, सहमंत्री ला० मंगलसेनजी तथा अन्य कई सज्जन स्टेशन तक गए। कई सहृदय व उदार भाइयोंको वियोगका दुःख देते हुए पंडितजी सपत्नीक देहलीको प्रस्थान कर गए।

पं० दरबारीलालजीको अमरोहामें बड़ा परिश्रम करना पड़ा। सुबहसे सोते समय तक आप प्रायः शंकासमाधान करते थे। रात्रिको कठिनतासे ४ घंटे नींद ले पाते थे। पण्डितजीके स्वभावकी कोमलता इतनी प्रशंसनीय है कि विरोधी मित्र भी उसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाते। आप अत्यन्त शांत स्वभाव व उदार विचारोंके एक असाधारण विद्वान हैं, यह हर कोई जानता है। आपकी वाणीमें कठोरता नाम मात्रको भी नहीं। वास्तवमें आपमें वे गुण हैं, जो कि एक महात्मामें होने चाहिये। हर कोई आपके गुणों पर मुग्ध है।

पं० दरबारीलालजीकी बिदाईके समय जिस प्रेमभावसे पं० वंशीधरजी ने दो बार पं० दरबारीलालजीको "जयजिनेन्द्र" की, उसे मैं नहीं भूल सकता। पं० दरबारीलालजीके नम्रतापूर्ण उत्तरमें भी प्रेम हिलोरे खाता हुआ स्पष्ट दीखता था। वास्तवमें उस समय पं० वंशीधरजीकी उदारता प्रशंसनीय थी। पं० वंशीधरजीका पं० दरबारीलालजी के प्रति शुरूसे ही प्रेमपूर्ण व्यवहार रहा। सायंकालको एक दिन दोनों विद्वान महोदय मेरे साथ टहलनेको गए। मार्गमें किसी बात पर पं० दरबारीलालजी ने कहा कि दिगम्बर जैन महासभाने मेरा बहिष्कार देरमें किया। इसपर मैंने कहा कि महासभा ने अच्छा नहीं किया, बहिष्कार-नीतिसे कोई लाभ नहीं। पं० वंशीधरजी बोले कि यह तो एक प्रकारकी घोषणा है। जब किसीके विचार किसी सभाके प्रतिकूल हो जायँ तो सभाका इस प्रतिकूलता की घोषणा करना बुरा नहीं है। मैंने कहा कि इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि सभा यह घोषणा कर रही है कि अमुक व्यक्तिने मेरा बहिष्कार कर दिया है। पं० दरबारीलालजी बोले कि "महासभाने जो किया वह अच्छा किया, मगर उसका करना निरर्थक रहा क्योंकि मैं वहाँ पहुँच गया जहाँ महासभाकी पहुँच नहीं हो सकती। अब तो मेरे ऊपर प्रहार करना ऐसा ही है जैसा कि साँपके निकल जाने पर उसके द्वारा बने हुए निशानों पर प्रहार करना।" आदि।

इसप्रकार बहुत ही प्रेमपूर्वक बातें होती रहीं और बड़ी उदारताके साथ पं० वंशीधरजी ने पं० दरबारीलालजीकी मीठी मीठी चुटकियोंको सहन किया।

शामको चार बजे मैं पं० वंशीधरजीके पास चर्चा करनेके लिये गया। वहाँ साहु रघुनन्दनप्रसादजी "जैनधर्मका मर्म" का चौथा अध्याय (सर्वज्ञचर्चा) पण्डितजीके सामने पढ़ रहे थे। मैंने भी प्रश्न पूछे जिनका फल कुछ कटु हुआ। इस चर्चाका हाल सत्यसंदेशमें स्वतन्त्र लेखद्वारा दिया जा चुका है। पाठक उसे अवश्य पढ़ें।

१६ मई — आज रात्रिको पं० वंशीधरजीका धर्मशालामें संक्षिप्त भाषण हुआ। उपस्थिति कम थी आपने जो कुछ कहा वह आपके पहिले दिये हुए अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यानमें आजाता है इसलिये उसे यहाँ लिखना पिष्टपेषण करना ही है।

१७ मई:— आज सुबहसे शाम तक स्थानीय तीन चार बन्धुओं ने उनके निवासस्थान पर चर्चा आदि की व कुछ लिखनेका कार्य भी हुआ। क्या हुआ।— यह बतलानेमें मैं असमर्थ हूँ।

रात्रिको ८॥ बजेसे धर्मशालामें चर्चा हुई। पण्डितजीसे कई प्रश्न किये गए जिनका उन्होंने यथाशक्ति उत्तर दिया। एक सज्जन ने प्रश्न किया कि पूजन किस विधिसे करना चाहिये—तेरहपंथानुसार या बीसपंथानुसार? उत्तर मिला कि पूजन किसी भी विधिसे किया जा सकता है और एक ही वेदी पर दोनों पंथोंके अनुसार पूजन होनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है। आदि।

१८ मई:—सुबहके समय श्रीमान् साहु रघु—नन्दनप्रसादजी ने पण्डितजीका सादर मांगलीक टीका किया। ८॥ बजेकी ट्रेनसे पण्डितजी मुरादाबादकी ओर तशरीफ लेगए। आपको विदा कराने के लिए सभापति साहु रघुनन्दनप्रसादजी व मंत्री भोलानाथजी ये दो महानुभाव स्टेशन तक गए।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

श्री बा. जमनाप्रशादजी सबजजका पत्र

भाई जैनेन्द्रकुमारजी देहलीने विचारमाला प्रारंभ कर भारी उपकार किया है। इससे समाजसुधार प्रेमी व समाजसेवियोंके विचार व कार्योंको उत्तेजना मिलेगी। हरएक सज्जनसे प्रार्थना है कि वे इस विषय पर लिखकर समाजसुधार सरीखे महत्वशाली विषय पर प्रकाश डालें।

मेरी रायमें विवाद-ग्रस्त प्रश्न छोड़ने पर भी कई इतने समाजसुधारके निर्विवाद मसले रह जाते हैं कि संगठनात्मक कार्य करने की इच्छा रखने वाला जीवन भर कार्य कर सकता है। मैं यह नहीं कहता हूँ कि विधवाविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, पुराणों की प्रामाणिकता, मुनिचर्चा आदि विषय छेड़े ही न जावें—वे भी छेड़े जावें पर यदि किसी स्थान विशेष पर लोग उनसे भड़कते हैं तो उस विषयको छूनेकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विधवा विवाह और अन्तर्जातीय विवाह किसीके कहनेसे कोई नहीं करेगा। जबतक कि लोगोंको उसकी जरूरत महसूस नहीं होगी और जबतक कि समाजके कुछ नेता अगुआ न हो जायँगे तबतक यह चल नहीं सकता है। समाजके मुखियोंको तो बहुतसे जाति वाले ही योग्य वर कन्या मिल सकते हैं और मिल जाते हैं, सो वे करते नहीं हैं; ग़रीब लोग करते हैं तो कहा जाता है कि—नंगा था, कोई चारा नहीं था इसलिये लाचारीसे कर लिया। इसलिये यह कार्य तो व्यक्तिगत स्वार्थत्यागी मुखियोंके लिये छोड़ दिया जावे।

आगे मैं ऐसी स्कीम(Scheme)बताना चाहता हूँ कि जिसको अनुसरण करनेसे विरोध की सम्भावना नहीं होना चाहिये—हालाँकि मेरा कटु अनुभव यह है कि कार्य करने वालेके ऊपर सब कोई टूटते हैं और हँसते हैं, और हँसने वाले स्वयं कुछ भी करने को तैयार नहीं हैं। समाजमें बहुत तंगदिली है। परस्परमें सहिष्णुता नहीं है. इसलिये

लोगोंको थोड़ा उदारताका बर्ताव करना चाहिये। जब तक ऐसा न होगा तबतक कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होसकता है।

जहाँ जहाँ संस्थायें चालू हैं, उनको अच्छी तरहसे चलानेका प्रबन्ध किया जावे। अगर एक जगह एक किस्म की दो संस्थाएँ हों तो दोनोंको मिलाने की कोशिश की जावे। अपने यहाँ लोग नामके लिये फिरते हैं तो दोनों तीनोंका नाम क़ायम रखनेका सुगम रास्ता निकाला जावे। संस्थाओंके पैसेका बाक़ायदा हिसाब रखवाने व जँचवानेका प्रबन्ध किया जावे। पैसा वसूल करवाना चाहिये और जहाँतक हो सुरक्षित बैंकमें रखानेका प्रयत्न कराना चाहिये। अपनी समाजमें एक प्रवृत्ति यह है कि छोटी छोटी बहुतसी निरर्थक संस्थाएँ मनुष्य अपने अपने नामके पीछे खोलते हैं जिससे शक्ति व पैसेका बहुत अपव्यय होता है। लोगों को समझाने का प्रयत्न करना चाहिये कि उदार दृष्टि रखकर अपने गाँव, तहसील ज़िला या प्रान्त का ख़याल न रखकर संस्था विशेषकी उपयोगिता मात्रका ख़याल कर दान करना चाहिये।

दानका रास्ता (Channel) बदले जाने की आवश्यकता है—विशेषतः बुन्देलखण्डमें। बहुतसी बेवायें व बूढ़ियें मरती हैं या दान करती हैं तो उनका द्रव्य अक्सर वेदी जड़वानेमें या चौखट लगानेमें या मन्दिर बनवानेमें ख़र्च होता है। समझा बुझाकर यह द्रव्य विद्यार्थियों की छात्रवृत्तिमें ख़र्च कराना चाहिये।

जैनसमाजमें आजकल जैन कॉलेजकी आवाज़ बहुत ज़ोरोंसे उठाई जारही है। मेरे विचारसे तो वह बिल्कुल अपव्ययबहार्य है। उससे कहीं उपयोगी जैन स्कालर्शिप फण्ड क़ायम करने की आवश्यकता है। अगर मुझमें शक्ति होती तो ब्रह्माण्डमें जितने ज़ोरसे चिल्ला सकता उतने ज़ोरसे स्कालर्शिप फंड स्कालर्शिप फंड ही चिल्लाता। अगर अपने पास कालेज ही होगया तो किसी एक जगह पर्याप्त जैन विद्यार्थी इकट्ठे नहीं हो सकते—कोई विशेष कोर्स (Course) नहीं पढ़ सकते। अजैन विद्यार्थियों को जैनधर्म पढ़ाकर उनको जैन बनाने की आशा रखना व्यर्थ है—मूर्खता है। एक तो वह बनेंगे नहीं, दूसरे हम में पचाने की शक्ति नहीं है। ईसाई मिशन कालेजों के उदाहरण मौजूद हैं। जैन कालेजमें सब आवश्यक विषय नहीं पढ़ाये जासकते हैं। मामूली बी.ए. (...) बनाकर जैनधर्म व देश की दुर्दशा करना है। और यदि अपने पास स्कालर्शिप फण्ड है तो न सिर्फ एक प्रान्तके व एक देशके बल्कि सब दुनियाँ की संस्था अपनी संस्था हैं और जिस विद्यार्थीके उपयुक्त जो कार्य हो व जिस तरफ़ जिसकी प्रवृत्ति हो उसकी जाँच करके वह विद्यार्थी भेजा जा सकता है। उसी तरह जैन हाईस्कूल खोलना भी मैं अनावश्यक समझता हूँ।

उसी तरह विवाहमें कमख़र्चे की स्कीम (Scheme) सोच कर अमल करने की आवश्यकता है। उस पर फिर विशेष रूपसे लिखूँगा।

नुक्ता भी बन्द करने की परमावश्यकता है।

१-६-३५ —जमनाप्रशाद जैन सबजज-बैरिस्टर, हरदा।
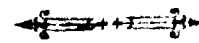
ग्रीष्म-प्रवास।

इस वर्ष सत्यसमाजका प्रचार करनेके लिये युक्तप्रान्त चुना था और १२ अप्रेल को कोटाके लिये रवाना होनेवाला था, परन्तु ता० १२ के सुबह ही इन्फ्लुएँज़ासे बीमार होगया। इसलिये आठ दिन रुकना पड़ा। थोड़ी शक्ति आते ही मैं ता० २० को कोटाके लिये रवाना हुआ। कोटामें मोतीलालजी पहाड़्या, ज्ञानचन्द्रजी, मगनलालजी आदि अनेक उत्साही सज्जनोंका अच्छा समुदाय है। आप लोग पूर्णसुधारक और समभावी सज्जन हैं। आप लोगों के प्रयत्नसे कोटामें ही नहीं किन्तु इस प्रान्तमें सत्य-समाज सुप्रतिष्ठित होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

ता० २१ की रात्रिको कोटा पहुँचा। ता० २२ के सुबह और दुपहर को आत्माके अस्तित्व पर काफी चर्चा हुई और समाजमें किस ढंगसे काम करना चाहिये इस पर बहुत विचार हुआ।

ता० २२ को यहाँकी धर्मशालामें 'सत्यधर्म' पर व्याख्यान हुआ जिसमें स्याद्वादकी व्यापक व्याख्या करते हुए समभाव और समाजसुधारकी बातें कहीं। आजके अध्यक्ष श्रीयुत गुलाबचन्दजी सोगानी-कोऑपरेटिव बेंकके मैनेजर-थे।

ता०२३ को यहाँके विशाल टाउनहॉलमें 'विश्व-धर्म'पर आम व्याख्यान हुआ। यहाँके शिक्षाविभाग के डाइरेक्टर और हर्बर्ट कॉलिजके प्रिंसिपल श्रीयुत दयाकृष्णजी ऐम.ए ऐलऐल. बी. अध्यक्ष थे। व्याख्यान करीब पौने दो घंटे तक चला, जिसमें सर्व-धर्म समभाव आदि सत्यसमाजसे सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर काफी प्रकाश डाला गया। बहुतसे सज्जनोंका कहना था कि यह व्याख्यान अपने ढंगका निराला था जैसा कि कोटामें आज तक नहीं सुनागया।

ता० २४ का दिन शंकासमाधान तथा मेम्बर बनाने आदिमें गया और २५ को मैं बारों पहुँचा। बारों में श्रीयुत बिरदीलालजी सेठीने "जैनधर्मका मर्म" का अच्छा अभ्यास किया है। आपने मुझसे पूछनेके लिये एक प्रश्नावली तैयार कर रक्खी थी। दुपहरको आपकी शंकाओंका समाधान किया। और भी एक दो सज्जन वहाँ आगये थे। शामको मंडीमें आमसभा हुई जिसमें मैंने सर्वधर्म समभाव आदि पर व्याख्यान दिया। अध्यक्ष यहाँके एक प्रसिद्ध डॉक्टर साहिब थे जिनका नाम मुझे याद नहीं रहा।

ता० २६ को भी दिनमें चर्चा होती रही। शाम को कल की तरह फिर सभा हुई जिसमें समाज सुधार की बातोंके साथ सत्यसमाज की स्कीम की व्याख्या की। सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव आदि पर बहुत जोर दिया। दोनों दिनके व्याख्यान जन साधारणके लिये भी बहुत रोचक हुए। खास कर मुसलमान सज्जन तो बहुत प्रसन्न हुए। इसलिये पहिले दिन की अपेक्षा दूसरे दिन मुसलमान श्रोताओं की संख्या अधिक थी। यहाँ कुछ मेम्बर भी बने तथा श्रीयुत बिरदीलालजी सेठीने मेम्बरों की संख्या बढ़ाने तथा सत्यसमाजके प्रचारका वचन दिया जिसे वे पूरा कर रहे हैं। आप अच्छे उत्साही कार्यकर्ता हैं।

ता० २७ को बारों से रवाना हुआ। ट्रेनमें कुछ मुसलमान सज्जन मिलगये जो कल व्याख्यानमें भी उपस्थित थे। उनने गद्गद होकर मेरे विचारों की प्रशंसा की और जब कोटा जंकशनपर गाड़ी बदलते समय कोटाका मित्रवर्ग मिलने आया तब उनके सामने भी उन मुसलमान भाइयों ने बहुत प्रशंसा की। इससे इस बातका एक प्रमाण और मिला कि साधारण जनता धर्मके नाम पर नहीं लड़ना चाहती परन्तु कुछ स्वार्थी धर्मगुरु और राजनैतिक गुंडे अपने स्वार्थके लिये लोगों को लड़ाया करते हैं। जनतामें कुछ भोलापन और कुछ साम्प्रदायिक कट्टरता है, उसीका ये लोग बुरासे बुरा दुरुपयोग करते हैं। अगर जनता साम्प्रदायिक कट्टरताका त्याग करदे तो इन गुंडों और स्वार्थियोंके प्रयत्न अवश्य ही निष्फल होजायँ।

कोटासे जब मैं आगरा जारहा था तब ट्रेनमें एक मुसलमान मिला, जिसके हाथमें दो मचले (पान रखने की डिब्बियाँ) थे। वह दूसरे यात्रियोंसे कहरहा था कि इनकी क़ीमत सिर्फ दो आना है, परन्तु मुझे १७॥) खर्च करना पड़े हैं बात यह थी कोई फ़कीर उसका गुरु है। गुरु को पान खानेका बड़ा शौक है। उसके लिये उसे खासकी डिब्बियोंकी जरूरत मालूम हुई और यह भी मालूम हुआ कि वे डिब्बियाँ कोटामें बनती है। बस, उसने अपने भक्त को हुक्म दिया कि तुरन्त ही वे डिब्बियाँ मँगाई जाँय। बेचारे ने इसके लिये अपने मित्रों को

लिखा परन्तु किसीने इस बातको इतना महत्व-पूर्ण न समझा जितना वह समझता था। उधर उन गुरुजीका मजा किरकरा होरहा था। पान तो वे बराबर खाते थे परन्तु डिब्बीमें नहीं रक्खा जाता था। इस घोर वेदनाके मारे बेचारे बड़े परेशान थे! इसलिये उनने अपने भक्त को हुक्म दिया कि डिब्बियाँ तुरन्त आना चाहिये। बेचारा भक्त सब काम छोड़कर डिब्बी खरीदनेके लिये सैकड़ों मील की यात्रा करने को विवश हुआ।

हिन्दू हों या मुसलमान, सबमें अन्धभक्तोंकी कमी नहीं है और सभी जगह गुरुडमका भयंकर तांडव होरहा है। लोगोंका भोलापन और मूर्खता उनको परेशान करनेके साथ गुरु नामधारिओंका भी अधःपतन करनेमें सहायक होरही है! अगर ये लोग अपनी शक्तिका थोड़ासा भी सदुपयोग करें तो भारतका उत्थान बहुत शीघ्रतासे हो। परन्तु ये लोग उत्थान करनेके बदले उत्थानके मार्गमें सबसे बड़े बाधक बनरहे हैं। इस गुरुडमका नाश हुए बिना जनताका आगे बढ़ना असम्भव है। जनताकी मूर्खता ही इन लोगोंके आतंकका कारण है। उस मुसलमानको यह भय था कि गुरुजी अगर नाराज हो जाँयगे तो कोई बददुआ देदेंगे जिससे मेरा नाश हो जायगा। इस प्रकारका मूढ़तापूर्ण भय प्रायः सब समाजोंमें है, जिससे मनुष्यताके स्थानमें पशुताने जड़ जमा ली है।

ता० २८ के सुबह आगरा पहुँचा। आगरा कॉलेज के प्रोफेसर डा० निहालकरणजी सेठी डी. एससी. के यहाँ ठहरा। इसी समय सत्यसंदेशके प्रकाशकजी भी वहाँ आगये थे, तथा ब्र० चैतन्यजी आ पहुँचे थे। कुछ विचार-विनिमयके लिये यह आयोजन हुआ था। दुपहरको बहुतसी चर्चा हुई।

शामको यहाँके सुप्रसिद्ध श्रीमान् और नेता सेठ अचलसिंहजीसे भेंट हुई और आपके साथ भी विचार-विनिमय हुआ। इन दिनों आगराका वातावरण बहुत अशान्त था। फीरोजाबाद कांडसे हिन्दुओंके दिल बहुत क्षुब्ध थे। किसी भी समय हिन्दू-मुसलिम दंगा हो जानेकी सम्भावना रहती थी। जगह जगह पुलिसका पहरा था और समय समय पर कोई न कोई बुरी अफवाह कानोंसे टकराती थी। रातमें लोग बहुत कम निकलते थे। सत्यसमाजके प्रचारके लिये यह वातावरण बहुत प्रतिकूल था। फिर भी सेठ अचलसिंहजी और दयालचंदजीके उद्योगसे आमसभाका आयोजन किया गया। यहाँके वयोवृद्ध और पुराने कांग्रेस कार्यकर्ता बाबू चाँदमलजी बी० ए० एल एल० बी० अध्यक्ष थे। यहाँके सुप्रसिद्ध कांग्रेस नेता श्री श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल एम०ए०, एम०एल०ए० भी सभामें पधारे थे। मैंने सर्वधर्मसमभाव और समाजसुधार पर व्याख्यान दिया था जिसे सुनकर पालीवालजी ने भी खूब प्रसन्नता प्रगट की और यहाँ तक कहा कि जो लोग आजके व्याख्यानमें उपस्थित नहीं हुए और जिनने ऐसा व्याख्यान नहीं सुना उनका दुर्भाग्य है। अध्यक्ष महोदय ने भी व्याख्यानका समर्थन किया था।

ता० ३० को दयालबाग देखा। राधास्वामी सम्प्रदायकी इस संस्थाके विषयमें मैंने बहुत दिनसे सुन रक्खा था और इसे देखनेकी बहुत दिनसे इच्छा थी। यद्यपि जैसा चाहिये वैसा निरीक्षण तो नहीं होसका, फिर भी काफी देखा, और सफेद और काली दोनों बाजुएँ देखनेमें आईं। इस संस्थामें कुछ ऐसे दोष नजरमें आये जिसकी मैंने कभी आशा नहीं की थी। उनमें मुख्य है इस संस्थाकी अराष्ट्रीयता। माना कि ऐसी संस्थाएँ वर्तमानके राजनैतिक आन्दोलनमें भाग नहीं लेसकतीं। सो न लें, परन्तु आर्थिक दृष्टिसे तो राष्ट्रीयताका खयाल रखना चाहिये। यहाँका प्रकाशित साहित्य आकर्षणहीन और मँहगा है। और भी कुछ छोटी मोटी बातें हैं। फिरभी दयालबाग अपने ढंगकी एक ही संस्था है।

इस संस्थामें करीब पचास लाख रुपया लगा है, और अनेक कारखाने इसके भीतर हैं। सबसे पहिले यहाँ सिर्फ एक शिक्षणसंस्था थी। उसीसे बढ़ता बढ़ता एक अच्छे उपनगरके रूपमें आगया है। इन कारखानोंके कारण एक तो संस्था यों ही स्वाश्रयी है, दूसरे हजारों रुपया मासिक अब भी समाजसे मिलता है। यहाँ कई हजार आदमी रहते हैं। धर्मादाके द्रव्यका यह सुन्दरसे सुन्दर सदुपयोग है।

जो लोग भारतमें धार्मिक क्रान्ति और सामाजिक क्रान्ति आवश्यक समझते हैं, वे अगर आर्थिक दृष्टिसे इसी ढंगकी संस्थाको जन्म दें तो थोड़े ही दिनोंमें हजारों शिक्षितोंका एक सुसंगठित दल बनाया जासकता है, और राष्ट्रसेवा भी की जा सकती है। सत्याश्रमका जो रूप मेरे मनमें है, उसका आर्थिक पहलू कुछ इसी ढंगका है, यद्यपि उसमें कुछ और विशेषताएँ रहेंगी।

प्रारम्भमें इसका जो रूप था और आज जो इसका रूप है, उसमें जमीन आसमानका अन्तर है। छोटेसे पाये पर खड़ा किया गया काम कितना विशाल रूप धारण करसकता है, इसका यह सुन्दर से सुन्दर उदाहरण है। सत्याश्रमका स्वप्न भी किसी दिन ऐसा ही नमूना बनसकता है। पाँच सात स्वार्थत्यागी कार्यकर्ता, एक स्वतन्त्र स्थान और सिर्फ १००) रु० महीनेके प्रबन्धसे अगर सत्याश्रम खड़ा किया जाय तो दस वर्षमें ही उसका सुफल देखनेमें मिलने लगेगा। और साधारण लाभ तो तुरन्त ही मालूम होगा। अन्य अनेक रूपोंसे जो पैसा खर्च किया जाता है, उनकी अपेक्षा यह रूप बड़ा सुन्दर और फलप्रद है।

ता० १ मईको कासगञ्जके लिये रवाना हुआ। यहाँ प्लेग और सिरतोड़ बुखार फैला था। फिर भी साहस करके एक दिन ठहरनेका विचार किया। बा० श्यौनारायणजी बी० ए० ऐल ऐल० बी० वकीलके यहाँ ठहरा। आप एक उत्साही और विचारशील नवयुवक हैं। बहुत सेवाप्रिय हैं। स्वाश्रयी भी हैं। एक दिन आप अच्छे समाजसेवक बनेंगे ऐसी आशा है। जिस दिन मैं पहुँचा उस दिन समयाभावसे सभा का ठीक प्रबन्ध नहीं होसका। फिर भी धर्मशालामें कुछ लोग एकत्रित हुए और मेरे विचारोंसे सम्बन्ध रखनेवाले विषयोंपर शङ्कासमाधान हुआ।

ता०२ मईको भी डेरेपर कुछ शंकासमाधान होता रहा। शामको आमसभा हुई। इसमें सभी सम्प्रदायोंका शिक्षित वर्ग काफ़ी संख्यामें आया था। व्याख्यानका अच्छा प्रभाव रहा, और शिक्षित वर्ग तो बहुत ही सन्तुष्ट हुआ। पीछेसे चर्चा भी हुई।

मेरे व्याख्यानों और चर्चाओंका फल यह होता है कि लोगोंके कानों तक एक नई आवाज पहुँच जाती है जिस पर वे विचार करने लगते हैं। अब अगर इस वातावरणका उपयोग करने वाला कोई सुशिक्षित और उत्साही स्थानीय कार्यकर्ता मिलजाता है, तो वहाँ शाखा बन जाती है और कार्य आगे को बढ़ने लगता है। यहाँ पर भी श्रीयुत श्यौनारायणजी इसी प्रकारके कार्यकर्ता मिल गये हैं। इनके प्रयत्नसे कासगंजमें शीघ्र ही सत्यसमाजकी प्रतिष्ठा हो जावेगी। यहाँ से तीन मील बिलराममें मेरे परमबन्धु पं० कुँवरलालजी न्यायतीर्थ रहते हैं। वहाँ प्लेग होनेसे मैं वहाँ न जासका, और वे भी वहाँ नहीं थे इसलिये मिलना न हो सका। परन्तु सत्यसमाजके प्रचारके लिये और इस प्रान्तमें उसका नेतृत्व लेनेके लिये वे हर तरह प्रयत्न करेंगे, ऐसी आशा है। बा० श्यौनारायणजी कासगंजमें सत्यसमाजके मेम्बर बनाने का तथा प्रचारका काम कर रहे हैं।

ता० ३ के सुबह एटाके लिये मोटरसे रवाना हुआ। रास्तेमें दो जगह मोटर बिगड़ी, इसलिये बड़ी परेशानी हुई। किसी तरह १ बजे ठिकाने लगा। उस समय तक खास खास लोग ऑफिसोंमें चले गये थे इसलिये उस दिन सभाका आयोजन न होसका। मैं बाबू सुदर्शनलालजीके यहाँ ठहरा था। शामको वहाँ अनेक सज्जन मिले ...

चर्चा हुई। भोजनके बाद महता पार्कमें छोटीसी गोष्ठी हुई जिसमें सर्वज्ञता, मुक्ति, समभाव आदिपर बड़ी रात तक प्रश्नोत्तर होते रहे। यहाँ श्रीयुत बाबूरामजी ने जैनधर्मके मर्मका अच्छा अध्ययन किया है। आप यहाँ सत्यसमाजके लिये अच्छा काम करेंगे। और भी यहाँ अनेक उत्साही युवक हैं।

कुछ लोगोंकी इच्छा थी कि जैनमन्दिरमें सभा की जाय, परन्तु इस सालके ग्रीष्मप्रवासमें मैं इस बातका विरोधी रहा हूँ। जैनस्थानमें सभा करनेसे जैनेतर सज्जन बहुत कम आते हैं, इसलिये जब कोई दूसरा स्थान नहीं मिलता तभी जैनस्थानका चुनाव करना पड़ता है। एटामें महता पार्क बड़ा सुन्दर स्थान था। यहाँकी सार्वजनिक सभाएँ भी यहीं हुआ करतीं थीं, इसलिये मुझे यह स्थान बहुत पसन्द आया और ता० ४ मईके लिये यहींपर सभा करना निश्चित हुआ।

ता० ४ को भी दिनमें प्रश्नोत्तर होते रहे। शामको सभा हुई। बा० भगवतीप्रसादजी बी० ए० अध्यक्ष थे। आपने व्याख्यानकी बहुत प्रशंसा की। सभास्थल में ही कुछ सत्यसमाजके मेम्बर बन गये। मेम्बर बनानेका बाकी काम कल सुबह पर छोड़ा गया।

ता० ५ के सुबह ही उत्साही युवक आने लगे और उनमें से बहुतसे मेम्बर बने। अधिकांश जैन-समाजमें से थे। अन्य स्थानोंकी अपेक्षा एटामें कुछ अधिक सफलता हुई। परन्तु इधर २९ मईके जैन गजटमें एटाके विषयमें बड़ा विचित्र समाचार छापा गया है। वह यह है।

"–एटामें पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ गये थे वहाँ उन्होंने अपने ढेडापंथ (सत्यसमाज) का जैनोंमें प्रचार करना चाहा था परन्तु वहाँके जैनोंने बड़ी बुरी दृष्टिसे देखा और वहाँसे उन्हें एक रात्रि ही बसकर भागना पड़ा। जैनियोंमें एक भी व्याख्यान न हुआ"।

आज जब कि मैं सिर्फ जैनियोंके ही लिये कोई प्रचार नहीं करना चाहता, मेरा उद्देश्य सत्यसमाज का प्रचार है, इसलिये जहाँ तक बनता है मैं जैन स्थानोंकी सभाको स्वयं अस्वीकार कर देता हूँ, तब उस समाचारका क्या मूल्य है? एटाके जैनबन्धुओं ने और सब विरोधियों ने भी मेरे व्याख्यानमें खूब भाग लिया, प्रेमसे घंटों चर्चाकी और यहींपर सत्य-समाजके सबसे अधिक सदस्य बने, जिसमें आठ सो जैन हैं। उपरोक्त समाचार भेजनेवालेका हृदय सत्य-समाजकी इस सफलतासे अवश्य जलभुन गया है इसलिये उसने दिलके फफोले फोड़े हैं। वहाँ से भोजन करके मैं बिलसीके लिये रवाना हुआ।

सत्यसमाज प्रगति।

श्रीयुत चिरंजीलालजी सेठीके प्रयत्नसे बारांमें शाखायोग्य मेम्बर होगये हैं। आप वहाँ उत्साहसे कार्य कर रहे हैं। सदस्यों की नामावली निम्न लिखित है। कुछ मेम्बर मेरे साम्हने ही बनगये थे परन्तु उनके नाम अब प्रकाशित किये जारहे हैं।

(९८) नन्दकिशोरजी वकील। पिताका नाम–अमीचन्दजी। उम्र ३६। पता–बारां (कोटास्टेट)। वैदिक पाक्षिक।

(९९) लक्ष्मीनारायणजी शर्मा। पिता का नाम–मोतीलालजी। उम्र ३३। पता–बारां (कोटास्टेट)। नैष्ठिक।

(१००) चिरंजीलालजी सेठी। पिताका नाम मन्नालालजी। उम्र ३१। पता–बारां (कोटास्टेट)। जैन पाक्षिक।

(१०१) घनश्यामलालजी शर्मा। पिताका नाम मंत्रलालजी। उम्र २१। बारां (कोटास्टेट)। वैदिक-पाक्षिक।

(१०२) गिरधर लालजी शर्मा। पिताका नाम मंत्रलालजी। उम्र ३१। बारां। वैदिक पाक्षिक।

(१०३) रघुबीरसिंहजी। पिताका नाम–भूपसिंहजी। उम्र १७। पता–बालौनी (कोटा स्टेट)। सनातनी पाक्षिक।

निम्न लिखित दो सज्जन अनुमोदक बने हैं।

(१०४) [illegible] बारां (कोटा)

(१०५) भँवरलालजी जैन बारां (कोटा)

सागरमें निम्नलिखित महानुभाव, जो कि हिन्दीके सुकवि हैं, सदस्य बने हैं।

(१०६) भगवन्त गणपति गोयलीय। पिताका नाम गणपति रतनचन्द्रजी। उम्र २७। जन्मसे परवार दिगम्बर जैन। नैष्ठिक श्रेणी। पता–गोयल-खादी भण्डार, कटरा, सागर।

श्रीमान मोतीलालजी पहाड्याने निम्नलिखित सज्जन को सदस्य बनाया है—

(१०७) फूलचन्दजी सोनी। पिताका नाम रामचन्द्रजी सोनी। उम्र २०। जन्मसे खण्डेलवाल दिगम्बर जैन। जैन पाक्षिक। पता—मनोहरथाना (कोटा स्टेट)

श्रीयुत पं॰सूर्यभानुजी डाँगीके प्रयत्नसे निम्न-लिखित सज्जन ने अपनी सम्मतिके साथ सदस्य बनने की स्वीकारता दी है।

(१०८) "आपकी सत्यसमाज संघटना और गीतावली नामक पुस्तकसे आपके भावोंका मेरे दिल पर गहरा असर पड़ा है। पं॰ सूर्यभानुजीसे शंका-समाधान पूर्वक सम्पूर्ण नियम समझ लिये हैं। यथाशक्ति सहायता करनेका प्रयत्न करूँगा। मुझे भी आप आर्य पाक्षिक श्रेणीमें लिखनेकी कृपा करें।" नाम–पं॰ जमुनाप्रसादजी गौड़। पिताका नाम—फूलचन्दजी। उम्र २२। वर्तमान पता–राउबभवन बल्दूँदा (मारवाड़)

क्षोभ-निराकरण।

अमरोहा-चर्चाके सम्बन्धमें मैंने जो नग्न सत्य लिखा है व लिख रहा हूँ तथा जो लिखूँगा, उससे स्थानीय कुछ विरोधी मित्रोंमें क्षोभ होजाना स्वाभाविक ही है; परन्तु मैं उस क्षोभकी रंच मात्र भी परवाह नहीं करता। हाँ, २ जूनके "सत्यसंदेश"में जो "असभ्यताका नमूना" शीर्षक लेख द्वारा मैंने एक अत्यन्त कठोर सत्यका नग्न व स्पष्ट चित्रण किया है, उसके द्वारा उत्पन्न हुए क्षोभके निराकरणार्थ मैं श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी व अन्य कई सहयोगी महानुभावोंके सदाग्रहानुसार कुछ लिख देना आवश्यक समझता हूँ।

जिस जगह जल गहरा (Deep) होता है वहाँ यदि ढेला फेंका जाय तो छींटें नहींके बराबर ही आती हैं और जितनी कुछ आती भी हैं वे शुद्ध व निर्मल होती हैं, परन्तु इसके विपरीत उथले(Shallow) स्थानपर ढेला फेंकनेसे बहुत अधिक संख्यामें छींटे आती हैं और वे सब गदली व गंदी ही होती हैं—यह सत्य सर्वमान्य है। बस, यही दर्शानेके लिए कि उथली जगह तर्कका भारी ढेला फेंकनेसे मुझ पर गंदी छींटोंकी किस प्रकार वर्षा हुई, मैंने उक्त लेख लिखा था। मैंने क्षोभ या उत्तेजना फैलानेके कुटिल उद्देश्यसे वह लेख नहीं लिखा था। मुझे विवश होकर उस लेखमें कटु शब्दोंका प्रयोग करना पड़ा, क्योंकि पं॰ बन्शीधरजी की दुर्जनों गुणी कटुताके पुरस्कारके बदलेमें मुझे कुछ न कुछ पुरस्कार अवश्य देना चाहिये था। पं॰ बन्शीधरजी ने जिन गालियों व अपशब्दों द्वारा मुझे सम्मानित किया था, उनको लिखना मेरी शक्तिसे बाह्य है, परन्तु साधारणतः मैं उन पर संकेतों द्वारा प्रकाश डाल सकता हूँ, जैसा कि मैंने किया भी। मैं विरोधी मित्रोंकी मनोवेदनाको समझता हूँ। परन्तु, क्या ही अच्छा होता यदि वे पं॰ बन्शीधरजी की बातों पर दुःख प्रकाशित करके अपने सत्साहसका परिचय देते और तब मेरा विरोध करते। इससे पंडितजी को तो लाभ होता ही, साथ ही मुझे भी संतोष होता। खैर यदि उन्हें यह इष्ट नहीं, न सही। मैं नहीं चाहता कि अमरोहा चर्चासे सम्बन्ध न रखने वाले किसी मेरे लेखसे व्यर्थ ही किसी प्रकारका क्षोभ हो, अतः मैं स्पष्ट शब्दोंमें विरोधी मित्रोंसे कह देना चाहता हूँ कि मुझे उक्त क्षोभ–उत्पत्ति पर हार्दिक दुःख है। यदि पंडितजीके अनुयायी बन्धु पंडितजीके व्यवहार पर दुःख प्रकाशित करनेका सत्साहस दिखलाएँ तो मुझे अपना लेख वापिस लेनेमें भी कोई ऐतराज न होगा। —रघुवीरशरण जैन।

इन्दौरमें मुनिवेषी पद्मसागरजी—ता० २६-५-३५ को इन्दौरमें मुनिवेषी पद्मसागरजी उर्फ प्यारेलालजीका आगमन हुवा। इन्दौर शहरमें दिगम्बर मुनियोंके विहारके सम्बन्धमें जो प्रतिबन्ध लगाया गया था, उसके दूर होनेके पश्चात् सर्वप्रथम आपका आगमन होनेसे जैनियों ने अत्यधिक उत्साह प्रदर्शित किया। आप पहिले यहाँ कई वर्षों तक एक सेठजी के गुमाश्ता रह चुके हैं, इससे यहाँके लोगोंसे काफी परिचय है। पढ़नेका अभ्यास बहुत ही कम होनेके कारण आप हिन्दी भाषाके ग्रन्थ भी शुद्ध नहीं पढ़ सकते। धार्मिक उपदेश देनेके बजाय आप परिचित व्यक्तियोंसे उनके व परिवार वालोंके कुशल समाचार पूछनेमें ही अपना समय व्यतीत किया करते हैं। आप शूद्र जलत्यागके कायल नहीं हैं, किन्तु जनेऊके बड़े हिमायती हैं। आपकी सम्मति में जनेऊ नहीं पहिनने वाला मुसलमान है। एकबार इनके एक परिचित पंडितजी इनके दर्शनोंके लिये गये। कुशल प्रश्न आदिके पश्चात् पंडितजीने कहा—"महाराज, इन्दौरका अहोभाग्य है कि आपका आगमन होसका। आपने बड़ा अच्छा रास्ता ग्रहण कर लिया है। इस पदका तो राजा-महाराजा, सेठ साहुकार, सम्राट्-चक्रवर्ती आदि कोई भी मुकाबिला नहीं कर सकता है।" इस पर मुनिजी बोले-"क्या करें भैया! हम तो कमा खा नहीं सके थे।" यदि समाजके धनी मानी सज्जन ऐसे लोगोंके लिये अन्नक्षेत्र खुलवादें तो मुनिधर्मकी हँसी तो न हो।

—संवाददाता

लाडनूँ (मारवाड़) में मुनिवेषी चन्द्रसागरजी की लीलाएँ—मुनिवेषी चन्द्रसागरजीके जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—लोहड़साजन भाइयोंको नीचा दिखाना और इसके लिये वे लोगोंको लोहड़साजनों से खानपान आदि किसी प्रकारका सम्बन्ध न रखने की प्रतिज्ञाएं दिलाया करते हैं। लाडनूँमें इसके लिये उन्होंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु इनेगिने लोगोंको छोड़कर कोई भी इनके चक्करमें नहीं फँसा। आखिर प्रतिज्ञा दिलवानेके लिये इन्होंने कई हथकंडे काम काममें लिये—स्त्रियों पकड़वाई लोगोंके घरोंमें घुमवाये और फिर वापिस आकर सब लोगोंके समक्ष उन्हें कामा, कहा—इन लोगोंका दिवाला निकल जावेगा आदि। स्त्रियोंसे कहा कि—तुम्हारे पति भ्रष्ट हो गये हैं, तुम रूठ कर बैठ जावो और उन्हें लोहड़साजनों के बहिष्कारकी प्रतिज्ञा दिलवाओ। अगर वे इतने पर भी तुम्हारी बात न मानें तो ऐसे पतिको छोड़ दो और विधवा स्त्रीकी तरह अपना जीवन-निर्वाह करो! आदि लेकिन अभी तक इन्हें अपने इस घृणित कार्यमें विशेष सफलता नहीं मिली है।

आप विधवा स्त्रियोंसे अपने पोंवोंकी कड़ियें उतार देनेके लिये जिद करते हैं। एक स्त्रीने इनकार किया तो आप कहने लगे—क्या अभी तू दो चार खसम और करेगी?

आप अष्टमी व चतुर्दशीको पर्वदिवस माननेका निषेध करते हैं और कहते हैं कि अष्टमी चतुर्दशी आदि को हरित वस्तु खानेका त्याग करना मिथ्यात्व है।

आप प्रायः दिन भर अपने गुरु आचार्य शांतिसागरजीव आचार्य सूर्यसागरजी आदिकी खुल्लम-खुल्ला निंदा करते रहते हैं। —संवाददाता।

—गत सप्ताह यहाँ कोटानिवासी रतनलालजी बज के सुपुत्रका विवाह श्री० गुलाबचन्दजी छाबड़ाकी सुपुत्रीके साथ हुआ। तोरण व फेरे एक ही दिन हुए तथा और भी कई अनावश्यक रस्में हटा दी गई। सुधारकी प्रगति धीमी अवश्य है किंतु है वह निश्चित। पाँच वर्ष पहिले इस क्षेत्रमें शामिल होनेवालोंका बहिष्कार किया गया था किंतु आज ऐसे विवाहोंके सम्बन्धमें थोड़ी बहुत चर्चा होकर रह जाती है और अत्यधिक जनता सहर्ष उनमें भाग लेती है। वीर स्वार्थत्यागियोंका बलिदान कभी निष्फल नहीं जाता। जो लोग एक समय उनका बहिष्कार करते हैं, उन्हें गालियाँ देते हैं, उचित समय आने पर वे ही उन्हें आशीर्वाद देंगे और उनके निर्दिष्ट मार्गोंसे प्रसन्नतापूर्वक लाभ उठावेंगे। — [illegible]

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

जलील किया जाता है, पञ्चायती बहिष्कार किया जाता है और अपनी गुट्टवालोंके भीषणसे भीषण पापोंको चुपचाप दबा दिया जाता है, यह सर्वप्रकट है। अमुक व्यक्ति अमुक विधवाको घरमें डाले हुए है; अमुक व्यक्ति अमुक गैरजातिकी विधवाको अपनी स्वजातीया विवाहिता स्त्रीके समान रखे हुए है, अमुक व्यक्ति अपने भतीजेकी बहूको हड़पे हुए है, फलाँ मन्त्रीजी फलाँ अहिलकर्जीका एकत्रित किया हुआ रुपया हजम कर गये, फलाँ शख्स स्वदेशीक जातिकी स्त्रीके साथ अपना मुँह काला करते हुए पकड़ा गया; फलाँ लड़का शराबके नशेमें उत्पात करते हुए पुलिस द्वारा पकड़ा गया, आदि बातें यहाँ प्रायः हरेकको जबान पर हैं। परन्तु तेरहपंथी धड़ेवालोंको इनके विषयमें कुछ भी नहीं मालूम, कारण वे सब कुछ जानते हुए भी इस सम्बन्धमें बिलकुल अनजान बने रहना चाहते हैं। कहा जाता है कि करीब पन्द्रह दिन पहिले उपरोक्त गुट्टके एक मुख्य सदस्य श्रीमान बाजमलजी चाँदीवालके सुपुत्र भँवरलालजी तथा श्रीमान फूलचन्दजी कामलीवाल के सुपौत्र हीराचन्दजी नरैनामें दस्सोंके यहाँ जीम आये। इस विषयमें तेरहपंथी धड़ेके ही कतिपय व्यक्तियोंने सब-कमेटीके सदस्यों, गुट्टवालो तथा अन्य कई पंचोंके पास स्वयं जाकर इस घटनाका वर्णन किया तथा अन्तमें समस्त पञ्चोंके नाम 'खुली चिट्ठी' लिखकर उन्हें इस सम्बन्धमें उचित न्याय करनेके लिये आग्रहपूर्वक निवेदन किया तथा चेतावनी दी, परन्तु अभी तक पञ्चोंकी निद्रा भंग नहीं हुई है। यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि इसी पञ्चायतने करीब तीन मास पहिले श्री० आनन्दीलालजी संगाणीके सुपुत्र सुन्दरलालजी को इसी अभियोग पर, श्रीमान रायबहादुर सेठ भागचन्दजी साहबके फैसलेको ठुकरा कर, पञ्चायती दण्ड देकर प्रायश्चित्त स्वरूप श्री महावीरजीकी यात्राको भेजा था और श्रीमान आनन्दीलालजीकी स्त्रीको पञ्चायती गोठमें से बिना जीमे वापिस लौटाया था! इससे बढ़कर स्पष्ट पक्षपात और क्या हो सकता है?

तेरहपंथी धड़ेकी पंचायतने करीब तीन मास पहिले श्रीमान गुलाबचन्दजी सोगाणीके बहिष्कार का प्रस्ताव पास किया था। विश्वस्त रूपसे मालूम हुआ है कि आज सायंकाल इस धड़ेके कई व्यक्ति श्रीमान गुलाबचन्दजीके साथ एक ज्यौनारमें जीम आये। क्या तेरहपंथी धड़ेकी पंचायत उन लोगोंके खिलाफ कार्यवाही करना तो दूर उनके विषयमें जाँच करनेका भी साहस करेगी?

तेरहपंथी धड़ेवाले निरधिकार दूसरे धड़ेवालोंके मामलेमें टाँग अड़ाया करते हैं और धर्मरक्षाके नाम पर भोलेभाले लोगोंको बहका कर उनमें फूट कराने में अपना गौरव समझते हैं। लेकिन जब कोई मामला अपने ऊपर आकर पड़ता है तो चुप्पी साध लेते हैं। आशा है उपरोक्त घटनाओंसे भोले भाइयों की आँखें खुलेंगी और वे इन धर्मके ठेकेदारोंके आन्तरिक अभिप्रायको समझकर आगेके लिये ऐसे लोगोंसे सावधान रहेंगे। —स्पष्टवक्ता।

श्री भट्टारक हर्षकीर्तिजीने बड़े धड़ेके प्रत्येक सदस्यसे अनिवार्य रूपसे "भँवर" लेनेकी जो हठ पकड़ रखी थी तथा जिसके कारण उक्त धड़ेमें फूट पड़नेकी सम्भावना थी, हर्ष है कि सद्बुद्धिसे प्रेरित होकर भट्टारकजीने अपनी उक्त हठ छोड़दी और पारस्परिक वैमनस्यका एक कारण पंचों द्वारा आपस में ही निपटा लिया गया। जहाँ तक मालूम हुआ है, पंचायती हिसाबके विषयमें पंचोंमें आपसमें कोई मतभेद नहीं है—सब यही चाहते हैं कि पंचायती द्रव्यकी उत्तम व्यवस्था हो। पंचोंको चाहिये कि सब एकमत होकर भट्टारकजीको समझावें और इस मामलेको भी शांतिपूर्वक निपटालें। सुना है कि श्रीमान बालचन्दजी सेठीका मामला अदालतमें पहुँच गया है। क्या ही अच्छा होता यदि यह मामला भी घरमें ही निपटा लिया जाता। —एक जानकार

श्रीमान डॉ० निहालकरणजी सेठी डी० एस सी० की द्वितीय पुत्री सुभद्राकुमारीने इस वर्ष देहली मेडिकल कालिजकी द्वितीय वर्ष, तृतीय पुत्री कमला कुमारीने यू० पी० बोर्डकी इंटर तथा चतुर्थ पुत्री विमलाकुमारी ने मैट्रिक की परीक्षायें पास की हैं। बधाई। —प्रकाशक।

अंक १५

आषाढ़ शुक्ला १ — वीर संवत् २४६१

ता० १ जुलाई — सन् १९३५ ई०

स्वागत ।

आ सन्देश ! तुझे प्रेम से
मैं अपना जीवन दे दूँ ।
हृदय खोलकर स्वागत कर ॥

गूँथ रहा हूँ मैं अनन्त में,
नूतन भावों की माला ।
सत्य पवनमय जिसका सौरभ,
करता शान्त जगत् ज्वाला ॥
आज कंठ में पहना तेरे,
अभिलाषा पूरी कर दूँ ।
बना तुझे सुन्दर सत्वर ॥

मिथ्याका कर तिरस्कार,
अरिदलमें नित जागृत रहकर ।
माया मोह तोड़ स्वप्नों का,
घूम घूम कर सत्पथ पर ॥
संचित अरमानों को अपने,
लिख लिखकर प्रगटित कर दूँ ॥
सत्य-सुधा सादर पीकर ॥

—के० जैन ।

सत्यके प्रति ।

तेरे मिलने पर मिलता है,
विश्व विभव साम्राज्य ।
होकर तुझमें लीन जगत भी,
दिखलाता है त्याज्य ।

तू अलभ्य अनमोल लाल है,
तू जीवन आदित्य ।
तू गौरव अन्तरका वासी,
आदि निधन हित सत्य ॥

तू अजेय तेरा क्या वैभव,
क्या समझे संसार ।
तेरे वैभवका पा सकता,
कोइ न अन्तिम पार ॥

तू निर्झर करुणाका मंजुल,
विमल प्रेमका सरल निकेत ।
परमोदार्य प्रदाता जगमें,
तू आशाका उज्ज्वल सेतु ॥

—के० जैन ।

ग्रीष्म-प्रवास।

(२)

ता० ५ मईकी शामको बिलसी आया। यहाँपर श्रीयुत किशोरीलालजी आदि अनेक युवक उत्साही है। यद्यपि मैं यहाँ बिलकुल शामको आया था, फिर भी सभाका आयोजन होगया और मैंने १। घंटेतक सर्वधर्मसमभाव पर व्याख्यान दिया, जिसका अच्छा प्रभाव रहा।

ता०६ को किशोरीलालजीके साथ सत्यसमाजके विषयमें बहुतसा वार्तालाप हुआ और शामको फिर आम सभा की गई जिसमें मैंने पौने दो घंटे तक सत्यसमाजके हर एक पहलू पर प्रकाश डाला। पीछे थोड़ासा शंकासमाधान भी हुआ। यहाँ पर सत्यसमाजके प्रचारके लिये श्रीयुत किशोरीलालजी सोनी प्रयत्नशील है। आशा है यहाँके अन्य युवक भी इस कार्यमे योग देंगे।

ता० ७ के सुबह मै बिलसीसे रवाना हुआ, और शामको [illegible] आया। यहाँ मेरा प्रोग्राम नहीं था, किन्तु [illegible] जानेके लिये गाड़ी बदलना थी। सा० रघुनन्दन प्रसादजी और भाई रघुवीरशरणजी [illegible] मुझे लेनेके लिये मुरादाबाद आने वाले थे, इसलिये रात भरके लिये मैं स्टेशनके पास की धर्मशालामे ठहर गया। शामको पं० मूलचन्द्रजी वत्सल और स्व० वैद्य श्री शङ्करलालजीके सुपुत्र—जिनका नाम मैं भूल गया हूँ—के साथ बातचीत हुई। वैद्यजीके सुपुत्र नवयुवक हैं, उत्साही हैं, विचारशील हैं। प्रयत्न करने पर ये अच्छी समाजसेवा कर सकते है। आप लोगोंके साथ रात्रिको भी बहुत देरतक बातचीत होती रहा तथा दूसरे दिन सुबह भी बातचीत हुई, जिसमे सत्यसमाजके अनेक अंगोपर प्रकाश डालागया।

ता०८ के सुबह दोनों सज्जन अमरोहासे आगये थे। उनके साथ मैं अमरोहा आया।

अमरोहाका जैनसमाज शास्त्रीय विषयोंमें खूब रस लेनेवाला समाज है, और विचारोंमें खूब कट्टर है। हाँ, व्यवहारमें कुछ उदार है। आजसे कुछ वर्ष पहिले यहाँ पर मेरे विचारोंका समर्थक एक भी न था। भाई रघुवीरशरणजी ने मेरे विरोधमें लेख भी लिखा था। भाई रघुवीरशरणजी एक उत्साही शिक्षित और समझदार व्यक्ति हैं। जैनजगत्‌के लेखों को पढ़कर आपके विचारोंमे क्रान्ति हुई और मेरे बिना किसी विशेष प्रयत्नके आप सत्यसमाजी बन गये। परन्तु इनके अतिरिक्त एक भी व्यक्ति मेरा समर्थक न था। यहाँकी समाज ने जैनजगत्‌का बहिष्कार कर रक्खा था।

यहाँपर साहु रघुनन्दनप्रसादजी रहते हैं। आप श्रीमन्त भी हैं, विचारशील भी हैं, जिज्ञासु भी हैं। बीस बाईस वर्ष पहिले आप जैन बने थे और करीब पन्द्रह वर्षसे आप यहाँकी जैनसभाके सभापति हैं। आप कट्टर दिगम्बर थे, और जैनगजटके कट्टर भक्त थे। जैनजगत्‌के तो आप पूरे विरोधी थे। आप उसे पढ़ते भी न थे। आठ दस माह पहिले न मालूम किस कारणसे आपने जैनजगत पढ़ा। दो अंक पढ़ने पर आपकी जिज्ञासा बढ़ी और फिर तो आपने स्वाध्याय ही कर डाला। इससे मेरे विषयमे या मेरे वि[illegible]के विषयमें आपका जो विरो[illegible]भाव था, वह उड़ गया; और आप एक [illegible] हो गये। अमरोहा समाजको इससे [illegible] हुई और उसने इस बातकी चेष्टा [illegible] साहु साहिबका समाधान [illegible] साहु साहिबको भी इससे कोई विरोध [illegible] जिज्ञासु थे। इसलिये ग्रीष्मप्रवासके [illegible] आनेके लिये मुझे निमंत्रण दिया गया, तथा मेरे [illegible] अन्य विद्वानों को भी निमंत्रण दिया गया। परन्तु [illegible] मैं किसीने आनेकी स्वीकारता नहीं दी। खैर।

ता० ८ की शामको मैंने मन्दिरमे शास्त्र पढ़ा, और बादमें १० । बजे तक चर्चा भी हुई, जिसमें मुक्ति भूगोल, आत्मा, परलोक आदिपर मैंने अपने विचारोंका स्पष्टीकरण किया।

ता० ९ को भी सुबह और दुपहर को चर्चा हुई, और शामको शास्त्र पढ़ा जिसमें बताया कि जैन कथासाहित्यमें बहुतसा भाग कल्पित है, फिर भी वह उपयोगी है। उसको ऐतिहासिक सत्य नहीं, किन्तु धार्मिक सत्य मानना चाहिये। इसके लिये चक्रवर्ती और तीर्थंकरका भेद, सर्वज्ञता की चर्चा मुक्ति की चर्चा आदिपर भी विवेचन हुआ।

ता०१० को सुबह चर्चा हुई और दुपहर को १२॥से ४॥। बजे तक खूब ही प्रश्नोत्तर हुए जिसमें अनेक बातोंका स्पष्टीकरण किया गया।

रात्रिमें मन्दिरमें श्रीयुत रामकृष्णजी वकील ने ईश्वरके जगत्कर्तृत्व पर और आत्माके अस्तित्व पर प्रश्न किये जिनका मैंने हृदयग्राही उत्तर दिया। वे सत्यसमाजके अनुमोदक बने। फिर मैंने बैठकर व्याख्यानके रूपमें अपना वक्तव्य शुरू किया जिसमें साधुताकी आलोचना करते हुए चारित्रका वर्णन किया और ज्ञान और चारित्रकी मीमांसा तथा सत्यासत्यकी मीमांसा करते हुए बतलाया कि बाह्यपदार्थों का मिथ्या ज्ञान होने पर भी आत्मा सम्यग्ज्ञानी होता है, और बाह्य पदार्थोंका अज्ञान होने पर भी सर्वज्ञ होता है; सर्वज्ञताकी वर्तमान परिभाषा जैन शास्त्रोंसे भी विरोध रखती है। बादमें धर्मका स्वरूप, पुण्यपापकी कसौटीका विवेचन किया। ११ बजे तक चर्चा रही।

ता० ११ को दुपहर [illegible] प्रश्नोत्तर हुए। शामको मन्दिरमें ही [illegible] पर व्याख्यान रक्खा गया। मैंने १॥ घंटे सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव तथा सत्यसमाजसे सम्बन्ध रखने वाली अन्यबातोंपर भी विवेचन किया। बादमें एक घंटे तक प्रश्नोंका उत्तर दिया।

ता० १२ को भोजनके बाद मैं दिल्लीके लिये प्रस्थान करने वाला था कि सुबह ही सोलापुर वाले पं० वंशीधरजी आगये। यहाँकी समाजने मुझसे रुकनेका आग्रह किया और मैं रुक गया। हम दोनों के बीचमें जो चर्चा हुई उसका पूरा विवरण सत्य-संदेशके गत १२ वें तथा १३ वें अंकोंमें प्रकाशित हो चुका है। यहाँ मैं कुछ खासखास बातों पर प्रकाश डालना उचित समझता हूँ।

१ पं० वंशीधरजीने चर्चाके पहिले ही घोषित किया कि 'सर्वज्ञ सिद्ध हो चाहे न हो, परन्तु हमारा तो पूर्ण विश्वास है उस विश्वासको हम किसी भी हालतमें बदल नहीं सकते'। पंडित वंशीधरजीके ये शब्द चर्चाके उद्देश्य पर ही कुठाराघात करनेवाले थे। ऐसी हालतमें चर्चासे क्या लाभ था ? और इस चर्चाको वीतराग चर्चा कहना तो हास्यास्पद ही था।

२—पं० वंशीधरजीका कहना था कि इस चर्चा में जैनशास्त्रोंके उद्धरण न दिये जाँय क्योंकि आप जैनशास्त्र नहीं मानते मैंने इस बातको इसलिये मंजूर कर लिया कि जिससे चर्चा रुक न जाय। परन्तु एक कट्टर जैनके लिये यह लज्जाकी बात है। मैं तो सत्यसमाजी हूँ और जैनशास्त्रोंकी स्वतंत्र आलोचना करता हूँ इसलिये जैनशास्त्रोंको प्रमाण रूपमें स्वीकार न करूँ, यह स्वाभाविक है, परन्तु आप तो जैन थे, आपको तो जैनशास्त्र प्रमाण होना चाहिये थे। परन्तु ऐसा बचाव करके आपने जैनशास्त्रोंकी कमजोरी ही सिद्ध करदी।

३—अमरोहा जैनसमाजने यद्यपि जिज्ञासुता की दुहाई देकर चर्चाका प्रबन्ध किया था, परन्तु बिना निष्पक्षताके जिज्ञासुताका कुछ मूल्य नहीं है, न वह रह सकती है। अमरोहा जैनसमाजमें जिज्ञासुता नहीं थी, न निष्पक्षता। फल यह होता था कि वह पं० वंशीधरजीको अधिक सुविधाएँ देती थी और उनकी त्रुटियों पर ध्यान नहीं देती थी मेरे मार्गमें अड़चनें भी पेश की जाती थीं। जैसे, जब मैं उत्तर लिखता था तब लोग बातें करने लगते थे जिससे मेरे चित्तमें अस्थिरता आजाय और जब पं० वंशीधरजी लिखते थे तब सब शान्त हो जाते थे। यह बात दूसरी है कि मैं लापर्वाहीसे सब सहता था। सर्वज्ञताकी चर्चामें जब वंशीधरजीकी गाड़ी अड़ गई और वे लौटकर फिर पुरानी बातें दुहराने लगे,

और मैंने इस बात पर जोर दिया कि जिस बातका मैं खंडन कर चुका हूँ उसको बार बार न दुहराइये, किन्तु मेरे खंडनका खंडन कीजिये, तब भी किसीने यह न कहा कि "हाँ भाई, बात आगे अवश्य बढ़ना चाहिये"। और भी ऐसी बातें हैं जिससे समाजका पक्षपात स्पष्ट होता है अगर मुझमें ऐसी बात हुई होती तो समाजने अट्टहास्य करके मुझे जलील किया होता।

४—मैं प्रवासमें सत्यसमाजका प्रचार कर रहा था। मैं किसीसे कुछ पूछने नहीं आया था। मेरा कर्तव्य सिर्फ इतना था कि जो कोई मुझसे प्रश्न करे उसका मैं उत्तर दूँ। जैसे कि चार दिन तक अमरोहे में उत्तर देरहा था। समाजके लोगों ने पं० वंशीधरजीको अपनी वकालत करनेके लिये बुलाया था, इसलिये उनका काम था कि वे वंशीधरजीसे प्रश्न कराते। परन्तु पं० वन्शीधरजी ने प्रश्न करनेसे ही इनकार कर दिया। यह उनका पराजय था। खैर, चर्चा रुक न जाय, इसलिये इस शर्त पर मैं प्रश्नकर्ता बन गया कि मेरे प्रश्नके उत्तरके बाद पं० वन्शीधरजी के प्रश्नका उत्तर मैं दूँगा। परन्तु इस प्रतिज्ञाका पालन ही नहीं किया गया। पहिले तो वन्शीधरजी कहते थे कि आठ दिन दस दिन चर्चा करेंगे, परन्तु पहिले ही दिन आपने आगे बढ़नेसे इनकार कर दिया। फिर समझमें नहीं आया कि समाजने क्यों सन्तोष किया? इससे अच्छी चर्चा तो समाजके लोग ही पहिले कर चुके थे। इस आयोजनका समाजको क्या उपयोग था?

५—जब एक ही विषयसे सम्बन्ध रखने वाले दो प्रश्न सामने आजाते थे, तब वन्शीधरजी कहते थे कि एक एक बात की चर्चा होने दीजिये। उधर एक प्रश्नके बाद आप प्रश्न करनेके लिये तैयार नहीं होते थे। मेरी इच्छा थी कि एक प्रश्न मैं रक्खूँगा और एक प्रश्न वन्शीधरजी रक्खेंगे। इसप्रकार सब प्रश्नों पर विचार होजायगा। सभा ने इसे मंजूर भी किया, परन्तु इसका पालन नहीं कराया। इससे सर्वज्ञताकी चर्चा अधूरी रही। इतने पर भी पं० वंशीधरजी और उनके अनुयायी विजयके गीत गावें तो इससे बढ़कर असत्यता और क्या होगी?

६—पहिले दिन कोई मध्यस्थ और सभापति नहीं था परन्तु दूसरे दिनसे बनाया गया। परन्तु कितने आश्चर्यकी बात है कि मुझे इसकी बिलकुल सूचना न मिली। वादी और प्रतिवादीकी अनुमति के बिना सभापति या मध्यस्थ नहीं बनाया जासकता-इस मोटे नियमका भी पालन नहीं किया गया। शास्त्रार्थ समाप्त होने पर जब फिर दूसरी सभा हुई, उसमें उनको धन्यवाद दिया गया, तब मुझे उस रहस्य का पता लगा। सभापतिका यह चुनाव बिलकुल नाजायज था। हाँ, प्रबन्धके लिये कोई आदमी चुपचाप नियुक्त कर लिया गया तो उसे प्रबन्धक कहना चाहिये न कि मध्यस्थ। वह प्रबन्धकोंके लिये सभापति होगा, न कि वादी प्रतिवादीके लिये। और ऐसे प्रबन्धक सभापतिकी सूचना भी तो मुझे देनी चाहिये थी। भोलानाथजी ने जो रिपोर्ट प्रकाशित कराई है और उसमें लिखा है कि 'दोनों विद्वानोंकी सहमतिसे बाबू मूलचन्द्रजीको अध्यक्ष बना दिया गया'—इससे बढ़कर झूठ हो नहीं सकता। सहमति की तो बात ही दूर है, बल्कि मुझे तो शास्त्रार्थके अन्त तक इसकी सूचना भी नहीं मिली।

७—बाबू मूलचन्द्रजी श्रीमान् और बुद्धिमान सज्जन हैं, परन्तु हैं कट्टर दिगम्बर। इसीलिये आप की शक्तिका उचित उपयोग नहीं हो पाता। ता० २२ मईके जैन गजटमें उनने लिखा है—

"जैनशास्त्रोंमें सूक्ष्म और परोक्ष विषयोंके जो अंश हैं, वह अनुभव और केवलज्ञानके गम्य होने के कारण केवल युक्तियों पर ही अवलम्बित नहीं हैं। मेरे विचारमें पं० दरबारीलालजीने इस रहस्यको अच्छी तरह नहीं समझा है और इसी कारण उनकी मान्यताएँ जैनसिद्धान्तोंसे इतनी विरुद्ध जारही हैं।"

आपके इस वक्तव्यसे दो बातें सिद्ध होती हैं। पहिली यह कि जो कुछ चर्चा हुई उससे आप पर यह

प्रभाव पड़ा कि युक्तियाँ मेरे पक्षमें हैं, इसलिये आप उनकी दुहाई तो नहीं दे सकते किन्तु केवलज्ञानकी दुहाई देते हैं। यदि यही बात थी तो चर्चाकी क्या आवश्यकता थी? क्योंकि चर्चा तो युक्तियोंसे ही हो सकती थी न कि केवलज्ञानसे! आपने जो जैनधर्म अंगीकार किया था वह भी किसी युक्तिको देखकर, न कि केवलज्ञानके द्वारा! सर्वज्ञ, ईश्वर आदि की दुहाई देकर तो कोई भी मजहब अपनेको सत्य कह सकता है, युक्ति-विरुद्ध बातोंके गीत गा सकता है। तब जैनधर्ममें ही ऐसी क्या विशेषता रह जाती है जिससे कोई अपने कुलका धर्म छोड़कर उसे अंगीकार करे? इसीसे दूसरी बात यह सिद्ध होती है कि आपका हृदय अभी निःपक्ष नहीं है, नहीं तो आप तत्त्वातत्त्व के निर्णयमें अन्धश्रद्धागम्य बातोंकी दुहाई न देते।

फिर भी मैं आपके विषयमें निराश नहीं हूँ। आप जब जैनधर्मका मर्म पढ़ेंगे, और समझेंगे कि—जैनधर्म एक वैज्ञानिक धर्म है, और धर्मका विज्ञान से विरोध नहीं होता, अन्धश्रद्धामें निर्णय करना धोखा खाना और धोखा देना है तब आपके जीवन में भी परिवर्तन होगा। जबतक पक्षपात है, तबतक अन्धश्रद्धाके आधारपर आप इकतर्फी वकालत करें, यह स्वाभाविक है।

८—जैनगजटने समाचारोंको इस ढंगसे छापा है कि मानो उसकी विजय हुई हो, और उसमें हेतु यह दिया है कि समाजकी धर्म पर दृढ़ श्रद्धा है। सो यह दृढ़ श्रद्धा तो मेरे आनेके बाद और पं० वन्शीधरजीके आनेसे पहिले भी थी। पं० वन्शी-धरजी के आने पर ऐसी कौनसी विशेषता पैदा हुई जिसे महत्त्व दिया जा सके? समाज तो पहलेसे ही दृढ़ थी. उसे कुछ सुनना समझना नहीं था। वह तो सिर्फ साहु रघुनन्दनप्रसादजी और रघुवीरशरणजी को दृढ़ श्रद्धालु बनाना चाहती थी, इसीलिये उसने यह आयोजन किया था। परन्तु इसमें उसे कोई सफलता नहीं मिली। बल्कि दोनों महाशय मेरे कुछ अधिक अनुयायी होगये, इसलिये उसे घाटा ही रहा। और अभी तो मेरे विचारोंका बीज पड़ा है; समय निकलने पर उसका फल मालूम होगा।

९—सौभाग्यसे, जो चर्चा हुई थी वह ज्योंकी त्यों पाठकोंके साम्हने आ चुकी है। उसमें सत्या-सत्यका निर्णय हो सकता है। तीसरे दिन तो पं० वन्शीधरजीका असाधारण पराजय हुआ था। पाँच पाँच बार प्रश्नोत्तर चलने पर भी पं० वन्शीधरजी यही पूछते रहे कि-आप मुक्ति मानते हैं या नहीं!! और सभा को यह निर्णय करना पड़ा कि पं० वन्शी-धरजी उत्तर नहीं देते, इसलिये चर्चा बन्द कीजाय। यह निर्णय ही पं० वन्शीधरजीके पराजय की स्पष्ट घोषणा थी। और इस बात को पं० वन्शीधरजी, लाला मुन्नाचन्द्रजी तथा अन्य श्रोताओंने भी अनुभव किया था। फिर भी आज अपनी विजयके गीत गाये जाते हैं! यह असत्य पक्षपातका नंगा नाच नहीं है तो क्या है?

पं० मक्खनलालजी आदि जब शास्त्रार्थके लिये ऐसे स्थानोंकी माँग करते हैं, जहाँ उनके अनुयायी अधिक संख्यामें हों तो इसका कारण सिर्फ यही है कि हार जानेपर भी उनके गीत गाने वाले मिलें। सत्य और निःपक्षताका बल तो इनके पास होता नहीं है, सिर्फ यही धींगाधींगी और असत्यवादन ही इनका बल है, जिसके बलपर ये कूदते हैं। सो कूदा करें। इनके अनुयायी इनके गीत गाया करें। इ-सकी मुझे चिन्ता नहीं है। समाज को जो विचार मैं देरहा हूँ, उनकी सचाई आज नहीं तो कल अव-श्य चमकेगी। जो आज गाली देरहे हैं, उन्हींकी सन्तान कल उन विचारों की पूजा करेगी।

फिर भी मैं अमरोहा जैनसमाज को धन्यवाद दूँगा, क्योंकि उसने किसी भी उद्देश्यसे यह आयो-जन क्यों न किया हो, परन्तु उससे मुझे लाभ ही हुआ है, और इससे अमरोहामें मेरे प्रचारका सूत्र-पात होगया है। अमरोहाके सज्जन मेरे कट्टर विरोधी थे, फिरभी उनने व्यवहारमें आदरका प्रदर्शन किया तथा आवश्यक व्यवस्था भी की, इसके लिये भी

धन्यवाद है यह दूसरी बात है कि जन्मभरके संस्कारों पर विजय प्राप्त करके सत्यकी पूजा करना उनके लिये कठिन है। इसके लिये जिस त्यागकी आवश्यकता है, वह भी कुछ कम कठिन नहीं है। और यह सब काम भी एक दिनका नहीं है। इसके लिये भी समय चाहिये। खैर, अभी वे चाहे जैसे गीत गावें, इसकी चिन्ता नहीं है। भविष्य उज्ज्वल है।

अमरोहाके सफल प्रचारके बाद मैं ता० १५ मईको दिल्ली आया। दरियागंजमें जैनेन्द्रजीके यहाँ ठहरा। म० भगवानदीनजी भी यहाँ ठहरे हुए थे। आपसे खूब विचार विनिमय हुआ। शहरके अनेक सज्जन बराबर आते रहे और शङ्का–समाधानका अच्छा आनन्द रहा।

ता० १७ मईको जैनधर्मशाला पहाड़ीधीरजपर मेरा आम व्याख्यान हुआ। पहिले जैनेन्द्रजीने कुछ शब्द कहे, बादमें मेरा सत्यसमाजसे सम्बन्ध रखने वाले विषयोंपर करीब १॥ घंटे तक व्याख्यान हुआ।

यहाँ पर यू० पी०का प्रोग्राम समाप्त होगया।

कुछ समय बचा था इसलिये घरकी तरफ चला गया। वहाँ भी चर्चा आदिमें प्रचार करता रहा। सागर और दमोहमें मेरे पब्लिक लैक्चर भी हुए।

ता० २५–५–३५ को सागरमें बाबू बालचन्द्रजी कोछलके प्रयत्नसे चकराघाट पर पब्लिक लैक्चर हुआ। सभापति थे बा० भैयालालजी सर्राफ बी० ए० ऐलऐल० बी० वकील। आप यहाँके अच्छे वकील हैं तथा धार्मिक विषयोंका अध्ययन करते रहते हैं। जैनधर्मका मर्म भी आपने पढ़ा है। आप एक निःपक्ष विचारक हैं।

ता० ३१–५–३५ को दमोहमें भाई रघुवरप्रसादजी मोदीके प्रयत्नसे टाउनहॉलके मैदानमें आमसभा हुई। अध्यक्ष थे, पं० प्रेमशंकरजी धगट ऐम० ए० ऐल ऐल० बी०।

दमोह और सागरके ये दोनों व्याख्यान भी बहुत प्रभावशाली हुए। अनेक ईसाई भाइयों ने भी बहुत प्रसन्नता जाहिर की।

सत्यसमाजकी आवाजमें बहुत कुछ नूतनता तथा कुछ अद्भुतता भी है। चौंकने वाले चौंकते हैं, परन्तु सर्वसाधारणको इससे जो प्रसन्नता होती है, और जिस तरह वे स्वागत करते हैं वह बहुत आशाप्रद है। इस थोड़ेसे ही प्रचारसे तथा थोड़ेसे ही समयमें जो सफलता मिली है, उसका एक प्रबल प्रमाण यह भी है कि जैन समाचारपत्र अब इसकी निंदामें काफ़ी शक्ति लगाने लगे हैं। प्रवासमें काफ़ी सफलता मिली है, और जो उत्साही कार्यकर्ता अभी तक निश्चेष्ट थे, वे कार्योन्मुख हो गये हैं। आशा है निकट भविष्यमें वे सत्यसमाजको अजर अमर बना कर समाजकी सर्वाङ्गीण उन्नति करेंगे।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

१—नर-नारी समानता।

किसी गताङ्कमें मैं बाली द्वीपका उदाहरण देकर नर–नारीकी व्यावहारिक समानतापर काफ़ी प्रकाश डाल चुका हूँ। किन्तु दुनियाँके अधिकांश देशोंमें कई कारणोंसे स्त्रीका कार्यक्षेत्र जुदा होनेसे नीचा गिना जाता है, साथ ही उनमें योग्यता भी कम मान ली गई है। इससे एक तरहसे हम उन्हें हताश कर देते हैं। स्त्रियाँ स्वयं सोचने लगती हैं कि "हम क्या कर सकती हैं? हम स्त्रियां हैं, मूढ़ हैं, बुद्धिहीन हैं! आदि।" इन विचारोंका जीवनपर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ता है। अगर कोई सचमुच बुद्धिहीन हो, फिर भी उसे अपनेको बुद्धिहीन अनुभव नहीं करना चाहिये; क्योंकि इससे उसके जीवनका विकास रुक जाता है, और कर्तृत्व नष्ट हो जाता है। वह अपने दोषोंको इसलिये क्षन्तव्य समझने लगता है कि आखिर मैं मूर्ख हूँ। इस प्रकार अपनेको पतित समझने लगना अपने लिये ही अहितकर नहीं है, किन्तु दूसरोंके लिये भी अहितकर है।

हमारे यहाँकी नारी जहाँ एक तरफ थोड़ी बहुत

शिक्षा पाकर अभिमानके शिखर पर चढ़ जाती है, वहाँ दूसरी तरफ अधिकांश नारियोंने अपनेको इतना दीन हीन समझ लिया है कि वे अपनी भूलों, मूर्खताओं और कायरताओंका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेनेको तैयार ही नहीं हैं। इसलिये उनके मनमें से यह दुर्वासना निकाल देनेकी खास जरूरत है कि वे लैंगिक कारणसे—स्त्री होनेसे—मूढ़ और बुद्धिहीन हैं।

पशुबलमें जो विषमता है वह भी कृत्रिम है, परिस्थितिके वशमें पैदा हुई है। अगर कदाचित थोड़ी देर को यह विषमता मान ली जाय तो भी इससे अपने को हीन दीन माननेकी जरूरत नहीं है। क्षत्रियकी अपेक्षा ब्राह्मणमें पशुबल कम होता है, शूद्रकी अपेक्षा वैश्यमें पशुबल कम होता है, परन्तु इससे उनका स्थान नीचा नहीं हो जाता। इतना ही नहीं, किन्तु सिंह, व्याघ्र, हाथी, घोड़ा, महिष आदिकी अपेक्षा मनुष्यका स्थान नीचा नहीं कहा जा सकता। पशुबल भी आवश्यक है, परन्तु आत्मिक क्षेत्रमें उसका स्थान ऐसा नहीं है कि उसकी न्यूनतासे आत्मिक न्यूनता समझी जाय। इस विषयमें विचारणीय बात है बुद्धि और चारित्र-बल की। ये दोनों बातें ऐसी हैं कि इसमें स्त्री और पुरुष समान हैं।

पिछले दिनोंमें कुछ लोगोंने एक भ्रम पैदा कर दिया था कि स्त्रियोंके शरीरमें मस्तिष्कका वजन पुरुषोंकी अपेक्षा बहुत थोड़ा होता है, इसलिये उनमें पुरुषोंके समान बुद्धिमत्ता नहीं होसकती। एक तरफ उन्हें बुद्धिमें न्यून बतलाया जाता था; दूसरी तरफ उन्हें मायाचारमें अधिक बतलाया जाता था। पुराने ख्यालके लोग अभी भी ऐसा समझते हैं और उनमें अच्छे अच्छे पढ़े [illegible] भी शामिल हैं, वे बड़ी शानके साथ पढ़ा करते हैं कि—'स्त्रियश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं, देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' अर्थात् स्त्रियोंका चरित्र और पुरुषका भाग्य देव भी नहीं जान सकता, फिर मनुष्यकी तो बात ही क्या है?

स्त्री अगर सचमुच इस प्रकार मायामूर्ति है तो उसमें बुद्धिकी कमी कदापि नहीं होसकती, क्योंकि बुद्धिबलके बिना मायाचार कदापि नहीं किया जा सकता। मायाचार जितना अधिक तीव्र होगा, उसके लिये बुद्धिकी अधिकता उतनी ही अधिक आवश्यक होगी। इसलिये स्त्रियोंमें मायाचारका प्रकर्ष बतलाने वाले उनमें बुद्धिकी हीनता कभी नहीं कह सकते।

पिछले महायुद्धमें स्त्री-जासूसोंने जो गजब ढाया था उसकी वार्ताएँ आज भी सुननेवालोंके दिल दहला देती हैं, और उनके साहस और बुद्धिमत्ताके आगे दाँतों तले अङ्गुली दबा लेना पड़ती है। इन सब बातों को देखकरके स्त्रीको बुद्धिहीन कभी नहीं कहा जा सकता।

अब रह गई मस्तिष्ककी बात, सो यह एक प्रकारका भ्रम है। मस्तिष्कके अधिक वजनसे बुद्धिमत्ताका कोई सम्बन्ध नहीं है। अब यह बात अनेक परीक्षाओंमें प्रमाणित होचुकी है कि विशेष प्रतिभाशाली मनुष्योंके मस्तिष्कका वजन साधारण जनके मस्तिष्कके वजनकी अपेक्षा बहुत कम होता है। फ्रांस के सुप्रसिद्ध साहित्यसेवी और प्रतिभाशाली लेखक अनातोलके मस्तिष्कका वजन सिर्फ १०१७ ग्राम था, जब कि साधारण मनुष्यके मस्तिष्कका वजन १७९० ग्राम होता है। बाइरन, डेनियल आदि विख्यात पुरुषोंके मस्तिष्कका वजन साधारण लोगों सरीखा ही था। पुराने कङ्कालोंके निरीक्षणसे भी इसी बात का समर्थन होता है कि मस्तिष्कका वजन अधिक होनेसे कोई बुद्धिमान नहीं हो जाता है। साथ ही यह भी प्रमाणित हुआ है कि मस्तिष्कका वजन शरीरके अनुपातके अनुसार नहीं होता।

इसलिये मस्तिष्कके वजनसे बुद्धिका माप करना ठीक नहीं। इसके लिये मस्तिष्ककी रचना देखना चाहिये। मस्तिष्कमें तीन बातें ऐसी हैं कि उनसे अधिक बुद्धिका अन्दाज लगाया जा सकता है:—

१—मस्तिष्कके संयोजक तंतुओंकी बहुसंख्यकता।

२—मस्तिष्कके स्तरोंकी बहुलता और गंभीरता।

३—धूसर रङ्गके प्रकोष्ठोंकी अधिकता।

मस्तिष्कका वजन कम हो परन्तु रचनामें उपर्युक्त विशेषताएँ हों तो बुद्धि अधिक होती है। अगर उपर्युक्त विशेषताएँ न हों और वजन अधिक हो तो भी बुद्धि कम होती है। इसलिये मस्तिष्कके वजनकी न्यूनतासे बुद्धिमत्ता कम न समझना चाहिये। इसलिये स्त्रियोंमें बुद्धिमत्ताकी कमी न समझना चाहिये।

जब स्त्री पुरुषोंमें बौद्धिक समानता है, त्याग और संयमकी समानता है, तब उन्हें अपनेको दीन हीन कदापि न समझना चाहिये और इसीलिये अपने उत्तरदायित्वको न भूलना चाहिये।

दोनोंकी उन्नतिसे समाजकी उन्नति है। जीवन के कार्यक्षेत्रमें विभाग करके भी वे लैंगिक विषमताको शक्तिकी विषमता न समझें तो समाज और राष्ट्रकी उन्नतिके साथ पूर्ण आत्मकल्याण हो सकता है।

२—सत्यसमाज पर वर्षा।

इनेगिने दिनोंमें ही सत्यसमाजकी इतनी प्रगति हुई है कि विरोधीदल उसकी तरफ उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देख सकता। दिगम्बर जैन सम्प्रदायके अधिकांश पत्र सत्यसमाजके ऊपर अनेक तरहसे वाग्बाणो की वर्षा कर रहे हैं। कोई उसकी पोल बता रहा है, कोई उसे मांसभक्षी संस्था सिद्ध करनेकी धुनमें है, कोई उसके क़ानूनकी माँग पेश करता है परन्तु पेश किये क़ानूनों पर नज़र नहीं डालता। कोई मनमानी बातें गढ़ कर उसके सिद्धान्तोंका सूक्ष्म परिचय देरहा है। दूसरी तरफ उसके सदस्य बढ़ रहे हैं और उसकी प्रगतिके लिये प्रयत्नशील हैं। इसप्रकार सत्यसमाज के विषयमें यह कहावत चरितार्थ होरही है कि—

जाके हृदय भावना जैसी। प्रभुमूरति देखी तिन तैसी॥

इसप्रकारका क्षोभ होना स्वाभाविक ही नहीं है, किन्तु प्रगतिसूचक होनेसे सुखद भी है। मुझे विश्वास है कि जिसके लिये आज लोग गाली देते हैं, कल वे नहीं तो उनकी सन्तान उसीके लिये अर्घ चढ़ायगी। अथवा गाली देते रहने पर भी उस सत्यको वे किसी न किसी रूपमें अपना लेंगे। और यह भी कुछ कम प्रसन्नताकी बात न होगी।

ग्रीष्मप्रवासके समयमें विरोधी मित्रोंने सत्यसमाज पर बहुतसे आक्षेप किये हैं। प्रवासमें वे लेख मुझे देखनेको न मिले, इसलिये उनका उत्तर मैं न दे पाया। कुछ बन्धुओंने मेरे उस मौनका भी दुरुपयोग किया है, और जो नहीं कर पाये हैं वे अब करेंगे। इसलिये उनका संक्षेपमें उत्तर देदेना आवश्यक मालूम होता है।

परन्तु एक बातके स्पष्टीकरणका अब समय आगया है। अभी तक मेरी यह नीति रही है कि जहाँ तक बने विरोधी मित्रोंके सभी आक्षेपोंका उत्तर अवश्य दिया जाय। इसलिये मैं प्रायः सभीका उत्तर देता आया हूं। हाँ, कोई छोटा मोटा आक्षेप नजरके बाहर चले जानेसे रह गया हो तो नहीं कह सकता। परन्तु मैंने प्रत्येक प्रश्नका पीस पीस कर उत्तर दिया है। मैंने विरोधी बन्धुको अगर कभी छुट्टी दी भी है तो तभी जब कि उसका लिखना समाजकी दृष्टिमें भी कोरा बकवाद समझने लायक़ बनगया है। आज जो सत्यसमाजका विरोध होरहा है, उसमें इस प्रकारकी निःसार बातें बहुत आरही हैं जो केवल निंदात्मक हैं अथवा वे केवल इसीलिये लिखी गई हैं कि जिससे लोग समझें कि हाँ, कुछ लिखा है। ऐसी पिष्टपेषणरूप या निंदात्मक बातों पर लिखनेके लिये अब न तो समय है न उनकी कुछ उपयोगिता है। हाँ जिस आक्षेपमें थोड़ासा भी प्राण है, अथवा जिसकी तरफ पाठकोंका ध्यान कुछ विशेष रूपमें आकर्षित हो सकता है, उसका उत्तर अवश्य दिया जायगा।

सत्यसमाजका स्वरूप यद्यपि समन्वयात्मक है, फिर भी उसे किसी न किसीका विरोध करना ही पड़ता है। अनेकान्त या स्याद्वादमें सबका समन्वय करके भी एकान्तवादका खंडन करना पड़ता है। उसीप्रकार आज सत्यसमाजकी अवस्था है। सत्यसमाज मतभेदको सहन करता है, परन्तु मतभेदको

सहन न करना ही जिसका मत हो और इसी मत को लेकर जो आक्रमण कर रहा हो, उसे सहन नहीं कर सकता। वह बचावके रूपमें तैयार होगा। वह हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, ईसाई आदि सम्प्रदायों और समाजोंमें प्रेम बढ़ाना है, परन्तु जो इस प्रेमको ही पाप समझता हो और इसी बातको लेकर आक्रमण करता हो उसका विरोध करना ही पड़ता है और करना चाहिये।

सत्यसमाजकी यह शैशवावस्था है। शिशुकी माँ या धाय दूध पिलानेका काम तो मिनिटोंमें कर लेती है परन्तु बच्चे पर जब मक्खियाँ बैठने लगती हैं तो उनको हाँकनेका काम घंटों करती है। भोला जीव कह सकता है कि इससे बच्चेका पोषण क्या हुआ, परन्तु समझनेवाले समझते हैं। सत्यसमाज पर इस शैशवावस्थामें जो मक्खियोंका दल टूट रहा है उससे रक्षा करना परमावश्यक है। और परमावश्यक होने पर भी यह इसका स्वरूप नहीं है।

सत्यसमाजपर यह बाणोंकी वर्षा हो, या मक्खियों की, उसका परिहार किया जारहा है। सत्यसमाजके मर्मको जो पाना चाहे उसे सर्वधर्मसमभावी, सर्वजातिसमभावी और समाजसुधारक बनना चाहिये।

२—सिद्धान्तोंका असत्य परिचय।

ग्रीष्मप्रवासमें प्राय: सभी स्थानों पर मुझे घंटों शङ्कासमाधान करना पड़ा था। इसमें अनेक नमूनेके सज्जनोंका दर्शन हुआ। जो जिज्ञासु थे, उनने तो पूरा लाभ उठाया। जो पक्षान्ध थे, उनने निरुत्तर होकर मुँह बनाया या हँसकर व्यंग्य रूप में मेरी बातोंका समर्थन किया। प्रवासके वर्णनमें मैंने प्राय: उन प्रश्नोत्तरोंका उल्लेख नहीं किया, इसका कारण यह है कि वे सब उत्तर मैं विस्तारसे विविध प्रसंगों पर लिख चुका हूँ।

मेरी मान्यताओंका कोई कहीं उल्लेख करे, तो इससे मुझे प्रसन्नता ही होगी, भलेही कोई उनका उल्लेख निन्दाके लिये ही क्यों न करे। मैं स्वयं अपनी मान्यताओंको गुप्त नहीं रखता, बल्कि उनका प्रचार तो मैंने प्रवासमें भी किया था। परन्तु इतना मैं अवश्य चाहता हूँ कि जो मेरी मान्यताएँ नहीं हैं, वे मेरे मत्थे न मढ़ी जाँय। मेरी मान्यताओंकी कठोर से कठोर आलोचना की जाय, इससे मैं डरता नहीं हूँ, बल्कि स्वागत करता हूँ परन्तु मान्यताओंका असत्य परिचय देना धोखा खाना और धोखा देना है।

अमरोहाके एक भाईने जेष्ठ शुक्ला १२ के जैनमित्र में "पं० दरबारीलालकी नई मिशन—सत्यसमाजके सिद्धान्तोंका सूक्ष्म परिचय" शीर्षक एक छोटासा लेख लिखा है, जिसमें सत्यसन्देशकी निन्दा की गई है। नई बातें सुनकर और अपनी अन्धश्रद्धा पर आघात होते देखकर एक साधारण भाईको इस प्रकार रोष हो और वह निन्दा पर उतारू हो जाय, यह स्वाभाविक है। परन्तु मेरे विचारोंका असत्य परिचय न देना चाहिये। उस भाईने कुछ बातें तो असत्य ही लिख डाली हैं, और कुछ सत्य लिखकर उनका निष्कर्ष असत्य निकाला है और सच्ची बात को दबा दिया है। यहाँ मैं उनकी सचाई बता देना चाहता हूँ।

१—"महावीर कोई विशेष व्यक्ति नहीं हुए, कृष्ण, मोहम्मद, ईसामसीह की तरह होगये हैं।"

यहाँ निष्कर्ष असत्य है। कृष्ण, मुहम्मद, ईसामसीहके सामहने आज दुनियाँके बड़े बड़े सम्राट और करोड़ों आदमी सिर झुकाते हैं। फिर भी उन को विशेष व्यक्ति न माना जाय तो विशेष व्यक्ति किसे माना जायगा? एक कट्टर जैन, कृष्ण मुहम्मद को विशेष व्यक्ति न माने तो एक जैनेतर महावीर को विशेष व्यक्ति न मानेगा। यही तो पक्षाधता है, दुरभिमान है। आप इसे रखें, परन्तु सत्य समाजी नहीं रखसकता।

२—'ब्रह्मचर्य कोई व्रत नहीं और व्यभिचार नामका कोई पाप नहीं'—मेरे सिद्धान्तोंका यह भी असत्य परिचय है। जैनधर्मके मर्ममें मैंने ब्रह्मचर्य का खूब विवेचन किया है। उसीका सार मैंने वहाँ

कहा था कि—ब्रह्मचर्य कोई स्वतन्त्र व्रत नहीं है, वह अहिंसा सत्य अचौर्य और अपरिग्रहमें शामिल है, और व्यभिचार कोई स्वतन्त्र पाप नहीं है, वह हिंसा असत्य चौर्य परिग्रहमें शामिल है।

किसी पापको पाप न मानना, और उसको श्रेणी-विभागकी दृष्टिसे किसी दूसरेमें शामिल करना, इन दोनोंमें कितना भेद है, इस बातको न समझकर उस भाईने कैसा धोखा खाया है, यह पाठक अच्छी तरह से समझ सकते हैं।

३—"सत्यसमाजके मन्दिर अलग बनेंगे उनमें मूर्ति किसी व्यक्तिविशेषकी न होगी। उन मूर्तियोंका आकार मैं सोच रहा हूँ कि कैसा बनाया जावे। कुछ दिनों बाद महावीर आदिकी तरह मैं भी तीर्थंकर कहलाने लगूँगा। मेरे पश्चात् शायद सत्यसमाजके मन्दिरमें मेरी ही मूर्ति स्थापित होने लगेगी।"

मेरे तीर्थंकर कहलाने और मूर्ति स्थापित होनेकी बात तो बिलकुल कल्पित है। ऐसे शब्द मेरे मुँहसे न तो निकल सकते थे, न निकले थे। मुझे अहंकारी साबित करनेके लिये इस असत्य आक्षेपकी रचना की गई है। हाँ, एक भाईने ऐसा कहा था जरूर, परन्तु मैंने साफ शब्दोंमें मना किया था। बात यह है कि जब कुछ लोग मेरे वक्तव्यसे निरुत्तर होजाते थे, तब आपसमें ही व्यंग्य रूपमें कुछ घुसघुस फुसफुस चर्चा करने लगते थे। कोई कहता था—"हाँ साहिब, नये तीर्थंकर हैं', 'अब तो मन्दिरोंमें इन्हींकी मूर्ति रहेगी' 'समवशरण आया है' 'गणधर तो नहीं हैं' 'हैं तो, या बन जायेंगे' नये तीर्थंकरमें कुछ नवीनता तो रहेगी'—इस प्रकारके व्यंग्य वाक्य कुछ कुछ अस्पष्ट रूपमें मेरे कानोंतक आये हैं। यहाँतक तो किसी तरह क्षन्तव्य कहा जा सकता है, परन्तु अपने इन व्यंग्य वाक्योंको मेरे वाक्य बना देना अक्षन्तव्य है।

व्यंग्यसे या हँसीसे या गालियोंसे मैं घबराता नहीं हूं, न इससे मेरे उत्साहमें या कर्तृत्वमें अन्तर पड़ता है। मेरे विरोधी मित्र चाहें तो इस दिशामें और भी शक्ति आजमा सकते हैं।

सत्यसमाज मंदिरकी बात तो मैं खूब स्पष्ट कर चुका हूँ। अहिंसा और सत्यका रूपक चित्र कैसा हो, इस विषयमें मैं विचार कर रहा हूँ। कोई चतुर चित्रकार मिलेगा तो मैं अपनी भावना उसे बताऊँगा और चित्र बनवाऊँगा, यही बात मैंने वहाँ कही थी।

४—"मांस शराब आदि छोड़ना आवश्यक नहीं।"

मांसभक्षण और मद्यपानका मैं विरोधी हूँ, और मूलगुणोंमें ही मैंने इनका त्याग बतलाया है। परन्तु यह व्रतकी ही प्रारम्भिक शर्त बन सकता है, न कि किसी सम्प्रदायमें प्रवेश करनेकी। फिर सत्यसमाज तो सर्वसम्प्रदायरूप है, उसमें यह शर्त कैसे आ सकती है? जैनधर्ममें भी मूलगुणमें इनका त्याग है, परन्तु जैनत्वकी यह अनिवार्य शर्त नहीं है।

५—"स्वर्ग नर्क नहीं है।"

मैंने यह नहीं कहा था किन्तु यह कहा था कि "आत्मा नित्य होनेसे परलोक है, और परलोक अच्छा और बुरा दोनों तरहका होनेसे स्वर्ग नर्क भी हैं; परन्तु वे कैसे हैं इसको हम नहीं जानते। यह खोजका विषय है, इसलिये इसे खोजते रहना चाहिये। परलोकके रेखाचित्रमें कल्पनासे रंग भर लेना ठीक नहीं।"

६—"जैनशास्त्रोंमें लिखी हुई सारी कथाएँ कल्पित और झूँठी हैं।"

यह भी मेरा वक्तव्य नहीं है। प्रथमानुयोगके वर्णनमें मेरे वक्तव्यका स्पष्टीकरण हुआ है, और वहाँ भी किया था कि—जैनशास्त्रोंकी कथाएँ इतिहासका नहीं, धर्मशास्त्रका अंग हैं। ऐतिहासिक दृष्टिसे वे सत्य भी हैं और असत्य भी। परन्तु धर्मशास्त्रको घटनाकी सत्यता असत्यताकी कुछ पर्वाह नहीं होती। कथाओंसे हमें जो शिक्षा मिलती है, वह शिक्षा अगर ठीक है तो घटना असत्य होकरके भी धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे सत्य है। अगर ठीक शिक्षा नहीं मिलती तो घटना सत्य हो करके भी धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे असत्य है। अनेक उदाहरणोंसे भी मैंने इस वक्तव्यका स्पष्टीकरण किया था। मेरे इस वक्तव्यमें

से उपर्युक्त सार निकालने वाले भाईके भोलेपन पर मुझे दया आती है।

इसके बाद उस भाईने ब्रह्मचर्य विषयक प्रश्नोत्तरका वर्णन किया है। उस विषयमें भी उस भाईकी बुद्धिने बड़ा धोखा खाया है। उसका खुलासा करने बैठूँ तो ब्रह्मचर्य शीर्षक सारा लेख मुझे उद्धृत करना पड़े जो भाई समझना चाहें, वे "जैनधर्मका मर्म" शीर्षक लेखमालाका ब्रह्मचर्य शीर्षक लेख पढ़ जावें।

सत्यसमाजकी सदस्यताके विषयमें स्टेशनपर कुछ भाइयोंमें आपसमें बातचीत हुई होगी, परन्तु मुझे उसका पता नहीं। जिस प्रकार बेशर्मीकी बातें उस बातचीतमें बताई गई हैं वे अगर सत्य हैं तो वह सत्य-समाजके लिये नहीं किन्तु जैनसमाजके लिये शर्मकी बात है। सत्यसमाजमें स्त्री, पुरुषकी सम्पत्ति नहीं है कि कोई मित्र अपनी स्त्री चाहे जिसको दे दे। यह प्रश्न वहाँ उपस्थित होता है जहाँ स्त्री भी सम्पत्ति है खैर, ऐसी घृणित बातें भी लोग करते हैं और इसे चर्चाका विषय बनाते हैं, यह लज्जास्पद बात है।

सत्यसमाज को बदनाम करनेके लिये कितना झूठ बोला जायगा, कितनी निर्लज्जता से काम लिया जायगा, इसका परिमाण [illegible] कठिन है। परन्तु सत्यसमाज इससे कलंकित न होगा, उसका सच्चा रूप दुनियाँके सामने आयगा और बहुत सम्भव है कि उसकी निन्दाके लिये किया जाने वाला प्रयत्न उसकी प्रशंसामें सहायक हो।

अग्निको ढँकनेके लिये उसपर ईंधन डाला जाय तो वह बढ़ती ही है। रावणका दुष्कृत्य और सीताको लगाया गया अपवाद सीताको जगजाहिर करनेमें सहायक ही हुआ। इसीतरह सत्यसमाजकी निन्दा सत्यसमाजको जगजाहिर बनायगी तथा समाजसेवाके लिये उसे और भी अधिक योग्य कर देगी निंदा करनेवालोंको चाहिये कि वे अपनी करतूतमें कसर न रक्खें। यह मौका बार बार न मिलेगा।

बाहुबली।

(लेखक—श्रीमान जैनेन्द्रकुमारजी देहली)

बहुत पहलेकी बात कहते हैं। तब दो युगोंका संधि काल था। भोग युगके अन्तमें से कर्म-युग फूट रहा था। भोग-कालमें जीवन मात्र भोग था। पाप-पुण्यकी रेखाका उदय न हुआ था। कुछ निषिद्ध न था न विहित। अतः पाप असंभव था, पुण्य अनावश्यक। जीवन सम रहता था। मनुष्य इतर प्रकृतिके प्रति अपने आपमें स्वत्वका अनुभव नहीं करने लगा था और प्रकृति भी उसके प्रति [illegible] वदान्य थी। वृक्ष कल्पवृक्ष थे पुरुष तन ढाँकनेको वल्कल उनसे पा लेता, पेट भरनेको फल। उसकी हर बात प्रकृति ओढ़ लेती। विवाह न था और परस्पर सम्बन्धोंमें नातोंका आरोप न हुआ था। स्त्री माता, बहन, पत्नी, पुत्री न थी वह मात्र मादा थी। और पुरुष नर। अनेक थलचर प्राणियोंमें मनुष्य भी एक था और उन्हींकी भाँति जीता था।

उस युगके तिरोभावमें से नवीन युगका आविर्भाव हो रहा था प्रकृति अपने दाक्षिण्यमें मानो कृपण होती लगती थी। उस समय विवाह ढूँढा गया। परिवार बनने लगे, और परिवारोंसे समाज। नियम-क़ानून भी उठे 'चाहिए' का प्रादुर्भाव हुआ और मनुष्यको ज्ञात हुआ कि जीना रहना नहीं है, जीना करना है। भोगसे अधिक जीवन कर्म है और प्रकृतिको ज्योंका त्यों लेकर बैठनेसे नहीं चलेगा। कुछ उसपर संशोधन, परिवर्धन, कुछ उसपर अपनी इच्छाका आरोप भी आवश्यक है। बीज उगाना होगा, कपड़े बनाने होंगे, जीवन-संचालनके लिये नियम स्थिर करने होंगे और जीवन-संवृद्धिके निमित्त उपादानोंका भी निर्माण और संग्रह कर लेना होगा।

अकेला व्यक्ति अपूर्ण है, अक्षम है, असत्य है। सहयोग स्थापित करके परिवार, नगर, समाज बनाकर पूर्णता, क्षमता और सत्यताको पाना होगा।

ठीक जबकी बात कहते हैं तब व्यक्ति व्यष्टि-सत्तासे समष्टि-सिद्धिकी ओर बढ़ चला था। राजा जैसी वस्तुकी आवश्यकता हो चली थी। पर राजा जो राजत्वकी संस्थापर न खड़ा हो, प्रजाकी मान्यता पर खड़ा हो। यह तो पीछेसे हुआ कि राजत्व संस्था बनी और शिक्षा और न्याय, विभाग रूपमे, शासन से पृथक हुए। नगर बन चले थे और जीवन-यापन नितान्त स्वाभाविक कर्म न रह गया था। उसके लिए उद्यमकी आवश्यकता थी।

× × ×

इस भाँति प्रथम राज्य बना और प्रथम राजा हुए श्री आदिनाथ। उनके दो पुत्र थे, दो पुत्रियाँ। पुत्र भरत और बाहुबली, पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी।

अवस्थाके चतुर्थ खण्डमे ज्येष्ठ पुत्रको बुलाकर श्रीआदिनाथने कहा—पुत्र, अब तुम यह पद लो। मुझे अब दीक्षा लेनी चाहिये।

भरतने कहा—महाराज—

आदिनाथने कहा—तुमको पहला चक्रवर्ती होना है। इस राज्यसे बाहर भी बहुतसे प्रान्त है, जिनको व्यवस्थित शासन तुम्हें देना है। मैं तो लोगोंके मान लेनेसे उनका मुखिया होगया था। उनको मुझे राजा कहनेमें सुख मिला मैंने कहा, अच्छा। लेकिन तुमको साम्राज्य बनाना है। अपने लिए नहीं, लोगों मे एकत्रता लानेके लिए। तुमको विजय-प्रसारका कर्तव्य भी करना होगा।

भरतने कहा—महाराज, आप दीक्षा क्यों लें? मैं विजयध्वज फहरा न आऊँ और अपनेको समर्थ न समझ लूँ तब तक आप अपना आशीर्वाद मुझपरसे न उठावें।

आदिनाथने कहा—पुत्र, अब समय आता जाता है कि राजा शासक अधिक हो, प्रजाका हमजोली उतना न हो। राजैश्वर्यसे युक्त राजाको देखकर प्रजा समझती है कि उसने कुछ पाया है। तब तक उसका चित्त तुष्ट नही होता। मैं तो प्रजाके नित्रातिनिम्न जनसे अपना हमजोलीपन नहीं तज सकता। किन्तु तुम्हारे लिए यह अनिवार्य नही है। तुम राजपुत्र हो मैं तो साधारण पिताका पुत्र हूँ और जिस पदसे शासनकी आशा है उसके सर्वथा अयोग्य बन जाना चाहता हूँ। मुझे लोगोंके दुःखमें जाना चाहिए और मुझे उस मार्गमें से चलकर अपना कैवल्य पा लेना चाहिए।

भरतने निरुत्तर होकर सिर झुका लिया।

अगले दिन आदिनाथने दीक्षा ले ली। समस्त वस्त्राभरण और नगर त्यागकर वे निर्ग्रन्थ विहार कर गये। और भरत, चुप मन, जय-यात्रापर चल दिये।

पृथिवीके छहों खण्डों पर विजय स्थापित कर और बहुभाँतिके मणि-मुक्ता, हय-गज और कन्या-सुन्दरियोंकी भेंटसे युक्त भरत धूमधामके साथ नगर को लौट कर आये।

किन्तु जब भरत नगरमें प्रवेश करने लगे तब विचित्र घटना हुई। चक्रवर्तीका शासन-चक्र नगर के भीतर प्रविष्ट नहीं होता था। प्रत्येक द्वारसे नगर मे प्रवेश करनेके यत्न किये गये, किन्तु शासन-चक्र ने साथ न दिया। इसपर लोगोंको बहुत अचरज हुआ। तब राजगुरुकी शरणमे जाकर इसके कारण के विषयमें उन्होंने जिज्ञासा की। गुरुने बताया कि इस नगरमें एक व्यक्ति है जो अविजित है। उसपर जब तक विजय न पा ली जाय तब तक चक्रवर्तित्व अखण्ड नहीं होता। और उस समय तक यह शासन-चक्र नगरमें प्रवेश न करेगा। राजगुरुने यह भी बताया कि अभी तक जिन पर किसीने विजय नहीं पाई है ऐसे व्यक्ति राजकुमार बाहुबली हैं।

भरतने पूछा— गुरुदेव, तब क्या बाहुबलीसे मुझे युद्ध करना होगा?

राजगुरुने कहा—राजन्, तब तक चक्रवर्तित्व असिद्ध है

भरतने कहा—किन्तु मैं चक्रवर्ती नहीं होना चाहता।

राजगुरुने कहा—राजर्षि, यह आपकी व्यक्तिगत इच्छा-अनिच्छाका प्रश्न नहीं है। यह राजकारण का प्रश्न है।

भरतने कहा—गुरुदेव, क्या भाईसे भाईको लड़ना होगा?

गुरुदेवने कहा—राजन, राजकारण गहन है। राजकारण धर्मीका कौन भाई है? कौन भाई नहीं है?

भरत नतमस्तक हुए।

× × ×

पाँच युद्धों-द्वारा शक्ति-परीक्षणका निश्चय हुआ। दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध आदि, और अन्तमें मल्लयुद्ध।

आरम्भके चारों युद्धोंमें बिना प्रयास बाहुबली ही जयी हुए। बाहुबली इस विजयसे विशेष उल्लसित नहीं दिखाई देते थे, न भरत विशेष उदास। मल्लयुद्ध अन्तिम युद्ध था और उसके समय प्रजाकी उत्सुकता इस भाई-भाईके द्वेषहीन युद्धमें बहुत बढ़ गई थी।

मल्लयुद्धमें कुछ देरके बाद बाहुबलीने भरतको दोनों हाथोंपर ऊपर उठा लिया। इस समय दर्शकोंके प्राण कण्ठमें आ बसे थे। वे प्रतिपल आशंका करने लगे कि चक्रवर्ती भरत अब धरतीपर चित आ पड़ते हैं। किन्तु बाहुबलीने धीमे धीमे अपने हाथोंको नीचे किया और भरत पृथिवीपर सावधान खड़े दिखाई दिये। तदनन्तर नतशिर होकर बाहुबलीने दोनों हाथोंसे अपने बड़े भाईके चरण छुए।

भरतने भी बाहुबलीको अपनी छातीसे लगा लिया, कहा—बाहुबली, विजयी होओ। मुझे तुमपर गर्व है और मैं तुम्हारी विजयपर हर्षित हूँ। तुम सामर्थ्यशाली बनो।

बाहुबलीने कहा—यह आप क्या कहते हैं? आप ज्येष्ठ हैं, योग्य हैं और मैं एक क्षणके लिए भी राज्य नहीं चाहता।

भरतने कहा—भाई बाहुबली, वह तुम्हारा है। तुम उसके विजेता हो, उसके पात्र हो। और मैं अपना हृदय दिखा सकूँ तो तुम जानो, मैं कितना प्रसन्न हूँ। तुम राजा बनो, मुझे अमात्य बनाओ, सेनापति बनाओ, अथवा जो चाहो सेवा लो।

बाहुबलीने हाथ जोड़कर कहा—भाई, मुझे राज्यकी इच्छा नहीं है। इस विषयमें आप राज्य-पालनका कर्तव्य मुझ पर न डालें। मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ। मुझे राज्य आदि नहीं चाहिए।

भरतने कहा। परन्तु बाहुबली दीक्षा लेकर वनकी ओर चले गये। भरत चुपचाप राज्य-रक्षा और राजत्व-पालनमें लग गये।

× × ×

बाहुबलीने घोर तपश्चरण किया—अति दुर्द्धर्ष, अति कठोर, अति निर्मम। वर्षों वे एक पैरसे खड़े रहे। महीनों निराहार यापन किये। सुदीर्घ काल तक अखण्ड मौन साधे रक्खा। बरसों बाहरकी ओर आँख खोलकर देखा तक नहीं।

उनकी इस तपस्याकी कीर्ति दिग्दिगंतमें फैल गई। देश देशसे लोग उनके दर्शनको आने लगे। भक्तोंकी संख्या न थी। उनकी महिमा और पूजाका परिमाण न था।

किन्तु बाहुबली भक्तों और उनकी पूजासे विमुख होकर घोरसे घोरतर निर्जन दुष्प्राप्य एकान्तमें चले जाते थे। एक स्थानपर एक बार अडिग, एकस्थ, एकाकी इतने काल तक खड़े रहे कि उनके सहारे वल्मीक जम गये, बेलें उठकर शरीरको लपटने लगीं। उन वल्मीकोंमें कीड़े-मकोड़ोंने घर बना लिये।

इस कामदेवोपम सर्वाङ्ग-सुन्दर बलिष्ठ पुरुषने निदारुण कायक्लेशमें वर्षके वर्ष बिता डाले। लोग देखकर हा-हा खाते थे और निस्तब्ध रह जाते थे। उसकी स्पृहणीय काया मिट्टी बनी जा रही थी। स्त्रियाँ उस निमीलित-नेत्र, मग्न मौन, शिलाकी भाँति खड़े हुए पुरुष-पुंगवके चरणोंको धो-धोकर वह पानी आँखों लगाती थीं। उसके चरणोंके पासकी मिट्टी औषधि समझी जाती थी। पर वह सब ओरसे वि

लग अनपेक्ष, बन्द आँख, बन्द-मुख, मलिन देह, कृश-गात, तपस्यामें लीन था।

यह था, पर कैवल्य उसे नहीं प्राप्त हुआ, नहीं हुआ। ज्ञानी लोग इसपर किं-विमूढ थे।

× × ×

जीवन्मुक्त भगवान् आदिनाथसे लोगोंने पूछा—भगवन्, दीर्घकालसे कुमार बाहुबली अतिशय कठोर तपश्चर्या कर रहे हैं। आपको ज्ञात तो है?

भगवान् बोले—हाँ ज्ञात है।

"उससे हमारा हृदय काँपता है। आप उन्हें इससे विरक्त करेंगे?"

भगवान्ने कहा—नहीं। एकनिष्ठाके साथ जो किया जाता है उससे किसीका [illegible] नहीं होता

लोगोंने पूछा—किन्तु भगवन्, कुमार बाहुबली को अब तक कैवल्य-सिद्धि क्या [illegible]?

भगवान्ने कहा यह तुम पीछे जानोगे।

× × ×

भरत राज्यशासन चला रहे थे [illegible] चक्रवर्ती भरतके ऐश्वर्यका पार न था। मणि माणिक मुक्ताकी दीप्तिसे उनका परिच्छद जगमग रहता था उनके नामका आतङ्क दिग्दिगन्तमें छाया था। सब प्रकारके सुख विलास और आमोदप्रमोदके साधन उनके संकेतपर प्रस्तुत थे। और वे अपने अखण्ड निष्कण्टक चक्रवर्तित्वका उपभोग कर रहे थे।

इसको भी वर्षके वर्ष हो गये।

एक दिन भगवान् आदिनाथके पास पहुँचकर भरतने कहा—भगवन्, भाई बाहुबलीको यह अधिकार मिला कि वह मुझको छोड़कर और राज्यको छोड़कर स्वाधीन रहे और सत्यको पाएँ। जो मेरे अधिकारमें नहीं आता था, वो बाहुबलीका हो गया था, उस राज्यको लेनेको मैं रह गया। मेरे लिए अस्वीकार करनेको तनिक भी अवकाश नहीं छोड़ा गया। मुझे शिकायत नहीं है। लेकिन मैं आपसे पूछता हूँ, क्या मैं अब दीक्षा नहीं ले सकता?

भगवान्ने कहा—ले सकते हो। अगर आपकी खोज और सत्यकी उपलब्धि राजत्वके द्वारा तुम्हारे निकट अगम्य बन गई है, तो तुम उसे अवश्य तज सकते हो। और मैं कह सकता हूँ—अगम्य बन जाना भी चाहिए। तुम पचास वर्षसे तो ऊपरके हुए न?

भरत संतुष्टचित्त महलोंको लौट आये। और दो दिन बाद घोषणा हो गई कि चक्रवर्ती अब दीक्षा लेंगे।

नगरवासियोंमें विकलता छा गई साम्राज्यके प्रान्त-प्रान्तसे विरोधमें अनुनय-प्रार्थनायें आईं। किन्तु भरतने एक प्रतिनिधि सभाको अपना उत्तराधिकार देकर दीक्षा ले ली।

और, राज्याभरण उतारते उतारते मुहूर्तके [illegible] उन्हें निर्मल कैवल्यकी उपलब्धि हो गई।

× ×

[illegible] भावसे भगवान् आदिनाथकी [illegible] कहा—भगवन्, यह क्या बात है? [illegible] कितना घोर कायोत्सर्ग झेला, [illegible] किया, आरम्भसे ही उन्होंने [illegible] विसर्जन किया, किन्तु उनको कैवल्य प्राप्त नहीं हुआ। और चक्रवर्ती भरतने जीवनके अधिक भागमें ऐश्वर्य ही भोगा, प्राचुर्य ही देखा, विलास ही पाया। उनको राज चिन्ह उतारते उतारते परम ज्ञानकी प्राप्ति हो गई! भगवन्, बताइए, यह कैसे हुआ? हमारा चित्त भ्रान्त है।

भगवान्ने सदय भावसे कहा—बाहुबली अविजित है, यह वह बेचारा नहीं भूल सका है।

लोगोंको अनाश्वस्त पाकर खिन्न स्मितके साथ भगवान्ने फिर कहा बाहुबलीके मनमेंसे एक फाँस नहीं निकली है। वहीं एक शल्य उसकी मुक्तिमें काँटा है। उसके चित्तमें यह खटक बनी हुई है कि जिस भूमिपर वह खड़ा है वह भरतके राज्यान्तर्गत है।

× × ×

बाहुबलीके कानोंमें जब यह बात पहुँची, उनका

काँटा एक-दम निकल गया। जैसे एक साथ ही वे स्वच्छ हो गये। आँखें खुल गईं, मौन मुख मुस्करा उठा। उस मुस्कराहटमें मनकी अवशिष्ट ग्रन्थि खुलकर बिखर गई और मन मुकुलित हो गया।

उनके चहुँओर वनमें उस समय असंख्य भक्त नर-नारियोंका मेला सा लगा था। उन सबको अब उन्होंने अस्वीकार नहीं किया, उनका आवाहन किया। अपने आराध्यकी यह प्रसन्न-वदन मुद्रा देखकर लोगों के हर्षका पारावार न था। बाहुबलीने अपनेको उनके निकट हर तरहसे सुगम बना लिया। कहा—भाइयो, तुमने इस बाहुबलीको आराध्य माना। उसकी आराध्यता समाप्त होती है। तपस्या बंद होती है। तुमने शायद मेरे काय क्लेशकी पूजा की [illegible] वह तुम मुझमें नहीं पाओगे। इसलिए [illegible] है कि तुम मुझे पूजा देना छोड़ दोगे [illegible] अप्राप्यताका तुम आदर करते थे, [illegible] पाओगे। मैं सबके प्रति सदा सुप्राप्य [illegible] में ही अब रहूँगा।

बाहुबलीने निर्मल कैवल्य पाया था। [illegible] सब खुल गई थीं। अब उन्हें किसकी ओरसे बन्द रहनेकी आवश्यकता थी? वे चहुँ ओर खुले. सब के प्रति सुगम रहने लगे।

यह देख धीरे धीरे भक्तोंकी भीड़ उजड़ने लगी और परम योगी बाहुबलीकी शरणमें अब शान्ति के लिए विरले ज्ञानी और जिज्ञासु लोग ही आते थे।
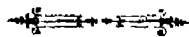
विरोधियों की लीलाएँ।

ता० १३ जूनके "जैनमित्र" में प्रकाशित "जैन सभा अमरोहाके कल्पित सभापति रघुनन्दनप्रसाद जी की अनधिकार चेष्टा" शीर्षक लेख-द्वारा जो विज्ञ पाठकोंको भ्रममें डालनेका असफल प्रयत्न किया गया है, उसके लिए मैं विरोधी मित्रों को 'शाबाशी' दिए बिना नहीं रह सकता। वास्तवमें ऐसा साहस हर कोई नहीं कर सकता। उस लेखमें सत्यखोजी श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापति जैनसभा अमरोहाको असभ्यता पूर्ण अपशब्दोंसे पुरस्कृत करते हुए मुझ "रघुवीरशरण महाशय" पर भी कुछ कृपा की गई है, जिसके लिये मैं विरोधियोंका बहुत कृतज्ञ हूँ और उनके द्रवित हृदयोंसे निकले हुए सभ्य शब्दोंका हृदयसे स्वागत करता हूँ क्योंकि मैंने लेखनी द्वारा अमरोहा-चर्चाका स्पष्ट व नग्न चित्र खींचकर साम्प्रदायिकताके भक्त हृदयोंको करारी ठेस पहुँचाई है, अतः जल भुनकर विरोधी मित्र मेरे विषयमें जो कुछ भी लिखें, वह क्षन्तव्य है। विरोधी मित्र मेरी इस बातको अच्छी तरह हृदयंगम करलें कि मेरी सत्यप्रियता उन जैसे मुट्ठी भरे व्यक्तियोंकी तो क्या, विशाल जनसमूहकी भी [illegible]वाह करनेके लिए कदापि तय्यार नहीं है।

"[illegible]देश" के प्रकाशक महोदय की टिप्पणी [illegible] देनेकी प्रबल इच्छासे विरोधियोंमेंसे जिस [illegible] महोदयके अजीबोगरीब मस्तिष्कमें श्रीमान् साहु [illegible]घुनन्दनप्रसादजीको कल्पित सभापति कहने का मौलिक विचार आया होगा, मैं उस महाशक्तिशाली मस्तिष्कके स्वामीजीको जानना चाहता हूँ। क्याही अच्छा हो यदि विरोधी समुदाय उनका नाम प्रकट करदें!

वास्तवमें प्रकाशक महोदयकी टिप्पणी बिल्कुल उचित थी। 'निर्णय देनेका अधिकारी मध्यस्थ' एक कल्पित मध्यस्थ नहीं तो और क्या है? ऐसे मध्यस्थकी कल्पना अपने मुँह मियाँमिट्ठू बननेके लिये की गई है, और इस कल्पनाके गहरे नशेमें विरोधी मित्रोंको सारी ही दुनियाँ कल्पित ही कल्पित दीखने लगी है। तभी तो वे साहुजीको भी कल्पित सभापति कहनेका साहस कर बैठे हैं! सभापति महोदय तो कल्पित हरगिज़ नहीं थे और न हैं, परन्तु "निर्णय देनेका अधिकारी मध्यस्थ" का क-

ल्पित होना बिल्कुल स्पष्ट है, क्योंकि सभाने किसी को निर्णय देनेका अधिकारी मध्यस्थ निर्वाचित नहीं किया था किन्तु विरोधी दोस्तोंने ऐसे कल्पित मध्यस्थको असली समझकर जो उनके सारहीन रिमार्कका समर्थन करनेकी चेष्टा की है, इससे इस विशेषण को उन्होंने उल्टा छपाकर इस विशेषण की शोभाको खूब बढ़ा दिया है। खेद है कि विरोधी मित्रोंने झूठी कल्पना करनेसे पहिले यह नहीं सोचा कि कल्पित मध्यस्थ जैसे व्यक्तिको मध्यस्थ मानकर विरोधी समुदायके सन्मुख पं० दरबारीलालजी शास्त्रार्थ करनेकी भूल कर बैठेंगे—इस बात पर कोई भी विवेकी मनुष्य विश्वास नहीं ला सकता।

व्यक्तिगत द्वेषसे प्रेरित होकर जो कुछ विरोधियोंने श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापति पर अनुचित ढंगसे गालियोंकी बौछार करनेका प्रयास किया है, उस पर आश्चर्य व दुःख प्रगट किए बिना नहीं रहा जाता। खेद है कि जो व्यक्ति अपने स्वभावकी कोमलता, नम्रता तथा सज्जनताके लिये प्रसिद्ध है, उस पर भी निर्मूल गालियों व अपशब्दों की बौछारका घृणास्पद दृश्य आज इन हतभाग्य नेत्रोंको देखना पड़ रहा है। मनुष्यत्वका दावा करने वाले विरोधी बतलाएँ कि क्या मनुष्यत्व इसी को कहते हैं? पाठकोंको विदित हो कि साहुजी द्वारा दीर्घकालसे स्थानीय जैन सभाका सभापति-पद सुशोभित होरहा है। आपने अपने सभापतित्वमें *अब तक जिस उत्तम ढंगसे न्यायका पालन किया* है तथा जिस लगन व साहससे आप अपने सफल नेतृत्व द्वारा स्थानीय जैन समाजको उन्नत बनाने का प्रयत्न करते रहे हैं, वह अनुकरणीय है। जहाँ *तक मुझे मालूम है, साहुजी २२–२३ वर्षसे (जबसे कि आप जैन धर्ममें नियमानुकूल दीक्षित हुए हैं) गत भादों मास तक कट्टर दिगम्बर आम्नायी थे। अपनी कट्टरताके अंतिम दो तीन वर्ष नित्य प्रति* दिन आपने बड़ी भक्ति भावसे बीसपंथाम्नायानुसार पूजन भी किया था, परन्तु भादोंके पश्चात विचारकी एक करवट व निष्पक्ष दृष्टिकोणने आप के जीवनको पलट डाला। फलतः सत्यने आपको साम्प्रदायिक कट्टरता व अंधविश्वासके भयंकर गढ़े से निकालकर उदारता व पक्षपात रहित विचारकता के शिखर पर चढ़ा दिया। अब आपकी उदारता व सत्यप्रियताकी यह दशा है कि अब जब आपको अपनी कट्टरताके दीर्घकालका स्मरण होजाता है, तो आपका हृदय रोने लगता है और आत्मा कम्पित होजाती है। अब आपकी दृष्टिमें श्वेताम्बर व दिगम्बर समान हैं, और आप अपनेको मात्र जैन ही कहना पसंद करते हैं। आज कल आप दिगम्बर साहित्यका व श्वेताम्बर साहित्यका, विशेषतः सूत्र साहित्यका, तुलनात्मक अध्ययन कर रहे हैं। इस असाधारण परिवर्तनका श्रेय श्रीमान् पं० दरबारीलालजी (सत्यभक्त) की प्रसिद्ध लेखमाला "जैन धर्मका मर्म" को प्राप्त है। साहुजीके इस परिवर्तन से स्थानीय कट्टर साम्प्रदायिक व्यक्ति आपसे चिढ़ गए परन्तु साहुजीकी सत्यप्रेमी बलिष्ठ आत्माने उन की रंच मात्र भी परवाह नहीं की। फलतः मतभेद और शत्रुताके अंतरको न समझने वाले विरोधी अपने उक्त लेखमें साहुजीको उनके उचित व न्याययुक्त वक्तव्यका कुछ भी उत्तर न देकर वैयक्तिक आक्रमण करनेमें भी नहीं हिचके! खेद है ऐसी हरकत पर!

बात यह है कि जब मनुष्य वाद-विवादके क्षेत्र में परास्त हो जाता है और किसी प्रकार भी अपने पक्षके विरोधका परिहार नहीं कर पाता है, तब वह *गालियाँ दे दे कर अपने कलेजेको ठंडा किया करता है। ऐसा आदमी डींगें मार मार कर, गालियाँ दे दे कर अपने दिलके फफोले फोड़ सकता है, परन्तु* विचार-चतुर जनसमुदायकी आँखोंमें वह धूल नहीं

झोंक सकता-नहीं झोंक सकता। परन्तु फिर भी वह अनुचित प्रयत्न करनेसे बाज़ नहीं आता। यही बात अमरोहा चर्चाके सम्बन्धमें हुई है।

'अमरोहामें विद्वानोंकी चर्चा' शीर्षक लेख-द्वारा मैंने चर्चाका विस्तृत विवरण 'सत्यसंदेश' (वर्ष १० अंक १२ व १३) में प्रकाशित कराया है। उसका विरोध करनेका साहस तो विरोधियोंसे हो नहीं पाता, हाँ, गालियाँ दे देकर दिलका गुबार निकालना अवश्य आता है। मैं "अमरोहामें विद्वानोंकी चर्चा" शीर्षक लेखका सयुक्तिक खंडन करनेके लिए विरोधियोंको सप्रेम निमंत्रित करता हूँ। यदि उनमें साहस और बल है तो आएँ और अपनी शक्ति आज़माएँ। यदि वे स्वयं ऐसा न कर सकें तो अपने माननीय पं० वंशीधरजी या अन्य किसी विद्वानसे ही ऐसा कराएँ। निराधार डींगें मार मार कर समाजको अपनी कमज़ोरी दर्शानेकी भयंकर भूल करनेका साहस न करें।

अमरोहामें जिस तरह पं० वंशीधरजीको निरुत्तर होना पड़ा, उसका दिग्दर्शन मैं जनताको करा ही चुका हूँ। लिखित चर्चा इसका अति सबल व स्पष्ट प्रमाण है। पहिले दिन मौखिक व लिखित चर्चासे ही विरोधियोंको यह जँच गया था कि यदि चर्चा चालू रहेगी तो इससे हमारे पक्षका अपमान अवश्यम्भावी है, तदनुसार उन्होंने यह प्रयत्न किया कि चर्चा बन्द कर दी जाय। मगर उनकी कुछ न चली। चर्चा हुई और बड़े ज़ोर शोरसे हुई और फल भी वही हुआ जिसका उन्हें भय था। चर्चाको रोकनेके लिए एक विरोधी महाशय तो यहाँ तक कह बैठे कि पं० वंशीधरजी को हमने चर्चाके लिये नहीं बुलाया है परन्तु स्थानीय भाइयोंकी शंकाओंका समाधान करानेके लिए बुलाया है। परन्तु वस्तुस्थिति इसके सर्वथा विपरीत थी। समाजने पं० वंशीधरजी को पं० दरबारीलालजी से चर्चा करानेके उद्देश्यसे ही निमंत्रित किया था।

ता० १३ मईकी दुपहरको पं० वंशीधरजी ने अपना पूर्वपक्ष न रखकर स्थानीय समाजके उचित व न्याययुक्त निर्णयको निर्दयतापूर्वक ठुकरानेका जो सफल प्रयास किया था, उसका वर्णन मैं अपने लेख में कर ही चुका हूँ। क्या विरोधी मित्र उस घटना पर प्रकाश डालनेका साहस कर सकते हैं?

ता० १४ मईकी दुपहरको जब मुक्तिविषयक लिखित चर्चा हो रही थी, उस समय ख़ास ख़ास विरोधियोंके मुँह फीके पड़ गए थे, क्योंकि वे स्पष्ट देख रहे थे कि पं० दरबारीलालजीके बार बार ज़ोर देने पर भी पं० वंशीधरजी उनकी गणित सम्बन्धी बाधा को छूते तक भी नहीं हैं और उसको साफ़ उड़ाजाना चाहते हैं; जब कि पं० दरबारीलालजी ऐसा होने नहीं देते। परिणामके भयसे व्याकुल होकर मेरे एक ख़ास विरोधीने पं० वंशीधरजीको इस असहाय अवस्थामें सहायता पहुँचानेके उद्देश्यसे एक पर्चा दिया, जो इस समय मेरे अधिकारमें है। पाठकोंके विनोदके लिए मैं उसकी हूबहू नक़ल करे देता हूँ:-

"चूँकि कर्म जीवात्मा से परवस्तु है, इसलिए उसका अलग होना सम्भव है, और कर्मोंके फिर जीवके साथ मिलनेका कोई कारण नहीं रह जाता इसलिए मुक्ति है और फिर संसारमें आना नहीं। जीवकी राशीकी संख्या इतनी है कि वह अनन्तकालमें भी समाप्त नहीं होसकती, क्योंकि अनन्तकाल बीत जाने पर भी समाप्त नहीं हुई है"।

इस महत्वपूर्ण (?) सहायक पर्चेको पढ़कर भी पं० वंशीधरजी को रास्ता न मिला तब वे गर्जन्त भाषा में बोले कि—"यहाँ यह विषय ही नहीं है; विषय दूसरा है। और वह यह कि पं० दरबारीलालजीका मुक्तिके सम्बन्धमें कोई निश्चित मत नहीं है क्योंकि एक ओर तो आप कहते हैं कि मैं मुक्ति नहीं मानता और दूसरी ओर आप कहते हैं कि यदि मुक्ति सिद्ध होगई तो मान लूँगा,......इत्यादि।"

विश्वस्त सूत्रसे ज्ञात हुआ है कि ता० १३ मई की सुबहको पं० वंशीधरजीने अपने सहयोगियोंसे कहा कि–"मेरी इच्छा है कि यहाँकी समाज अपनी ओरसे शोलापुरको इस आशयका तार भेजदे कि अमरोहामें पं० वंशीधरजी और पं० दरबारीलालजी में परस्पर शास्त्रार्थ हो रहा है, प्रबन्ध और नतीजा अच्छा है।" इसपर सम्भवतः एक विरोधीने उन्हें सलाह दी कि आप स्वयं साहु रघुनन्दनप्रसादजी के घर जाकर उनसे यह अनुरोध करें; बिना उनकी सम्मतिके ऐसा होना दुर्लभ है। तदनुसार पंडितजी उसी समय स्वयं साहु साहबके घर गये, परन्तु फल कुछ न निकला। पण्डितजीकी इच्छा पूरी न हुई और निराश होकर आपको अपनी ओरसे ही तार देना पड़ा। इसप्रकार पं० वंशीधरजीकी अन्यायपूर्ण इच्छाको विवेकियोंने पूरा न किया।

ता० १७ मईको श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापति जैनसभा अमरोहा कार्यवश बाहर गए हुए थे। उनके पीछे उसी दिन पं० वंशीधरजी साहबने अपने अनुयायियोंसे कहा कि–"क्या ही अच्छा हो, यदि आप लोग अमरोहा जैनसभाके नामसे एक रिपोर्ट और चर्चाके अध्यक्ष (जैनधर्मकी तहोंमें पहुँचने वाले अच्छे मर्मज्ञ विद्वान) के नामसे एक रिमार्क प्रकाशित करादें, जिनमें मेरी जीत और पं० दरबारीलालजीकी हारका स्पष्ट वर्णन हो।" मालूम हुआ है कि प्रारम्भमें इसका रिमार्कर महोदयने बहुत विरोध किया परन्तु पण्डितजी व अपने एक दोस्त के आग्रहवश आपको झुकना पड़ा। फलतः आपने अपने मित्रद्वारा लिखित रिमार्क पर हस्ताक्षर करने का साहस कर ही डाला। अफ़सोस ! साथ ही साथ पं० वंशीधरजी साहब ने उक्त महोदयको इस बात पर भी बहुत जोर दिया कि लिखित चर्चामें पं० दरबारीलालजीसे जो भाषा-सम्बन्धी एक ग़लती (पता नहीं, कौनसी) हो गई है, अपने रिमार्कमें उसका भी संकेत कर दें। परन्तु उनने ऐसा नहीं किया। खेद है कि एक विद्वान, जो बिना ग़लती किये हिंदीकी एक लाइन भी नहीं लिख सकता, ऐसी बातके लिए भी आग्रह कर सकता है।

विरोधी लेखमें जो यह दर्शाया गया है कि चर्चाके दिनोंमें साहु रघुनन्दनप्रसादजी जैनसभा अमरोहाके सभापति नहीं थे, यहाँ उनका झूठ दिगम्बर बनकर खड़ा होगया है। मैं विरोधी मित्रोंसे सानुरोध पूछूँगा कि उनकी प्रामाणिक रिपोर्ट (?)में जो यह लिखा गया है कि "अन्तमें सभापति जी महोदयने सबको धन्यवाद देते हुए पण्डित साहबों के यहाँ पधारने और शान्तिपूर्वक तत्त्वनिर्णय करने की प्रशंसा की—"इसका क्या आशय है ? किस महोदयके लिए यहाँ 'सभापति' शब्दका प्रयोग किया गया है ? स्पष्ट है कि साहु रघुनन्दनप्रसाद जी ने ही पण्डित साहबानको धन्यवाद दिया था, अतः उक्त शब्द उनके ही लिए प्रयोग किया गया है। यदि विरोधियोंमें साहस है तो बतलाएँ कि उनके पास इस बातका क्या उत्तर है ? बात यह है कि सच्ची बातको कितना ही क्यों न छिपाया जाय, वह प्रकट हो ही जाती है। मैं विरोधी मित्रोंसे यह भी पूछूँगा कि १५ ता० की बैठकमें श्रीमान साहु रघुनन्दनप्रसादजीके सभापतित्वमें जो सभाकी कार्यवाही हुई थी, क्या वह नाजायज थी ? यदि नहीं तो कहना पड़ेगा कि साहुजी उस समय सभापति थे, और इसका विरोध करना सत्यका गला घोटना है। मैं विरोधियोंसे सप्रेम यह कह देना चाहता हूँ कि उन्हें जिस झूठको सत्य सिद्ध करनेके लिये अनेक झूठोंका सहारा लेना पड़ता है, उस मूल झूठ का ही नाश करदें, और अपनी भूलको सखेद स्वीकार करके नैतिक बलका परिचय दें।

विरोधियोंका यह लिखना कि, अमरोहा सभा के मंत्रीको किसी भी प्रकारकी रिपोर्टादि प्रकाशनार्थ भेजनेका अधिकार है, और उसमें सभा या सभापतिकी अनुमतिकी आवश्यकता नहीं है, उन की योग्यताका सूचक है। यदि क़ानूनकी दृष्टिसे

देखा जाय तो बिना सभापति या सभाकी अनुमति के जितनी भी रिपोर्टें आज तक प्रकाशित कराई गई हैं (यद्यपि ऐसा कभी हुआ नहीं होगा) वे सभी नाजायज़ हैं। दूसरे ऐसे विवादग्रस्त विषयकी रिपोर्ट कुछ विशेषता रखती है क्योंकि समाजके सदस्योंमें चर्चा सम्बन्धी दो दल थे और हैं। इसके अतिरिक्त मंत्री महोदयने जो रिपोर्ट (?) प्रकाशित कराई है, वह रिपोर्ट नहीं वरन आलोचना है। क्या अमरोहा सभाके मंत्री ऐसे होगए कि वे मंत्रीकी हैसियतसे आलोचना भी कर सकते हैं? रिमार्क को तो विरोधियोंने व्यक्तिगत स्वीकार कर ही लिया है, अतः वह रिमार्क अध्यक्षका रिमार्क नहीं वरन मूलचन्द जी महाशयका व्यक्तिगत रिमार्क है। खैर, मंत्रीकी रिपोर्ट (?) कानूनी हो या गैर क़ानूनी, यह तो स्पष्ट ही है कि वह रिपोर्ट मंत्री तथा उनके दो तीन मित्रोंके मस्तिष्कों की ही उपज है। मैं तो कहूँगा कि यदि अमरोहा समाज भी कोई निर्णय दे देती, तब भी विचारकोंकी दृष्टिमें वह निःसार ही होता क्योंकि सम्भवतः यह समाज भी प्रायः अन्य समाजोंकी तरह कट्टर साम्प्रदायिक होनेके कारण कट्टर साम्प्रदायिकताका समर्थन करनेसे नहीं हिचकचा सकती। दूसरे उक्त समाजमें कुछको छोड़कर बाक़ी सब महानुभाव ऐसे हैं जो चर्चाको समझ भी नहीं सके हैं, और न समझ ही सकते हैं अतः उसका निर्णय भी महत्वपूर्ण न होनेसे व्यर्थ ही जाता, विचारक्षेत्र में वह ठुकराया ही जाता। यहाँ यह कहना भी अनुपयुक्त न होगा कि उपस्थित विरोधियोंमेंसे पाँच महानुभाव सभाके सदस्य नहीं हैं। उन्हें सभाके अधिकारी बतलाना कोरी जालसाज़ी नहीं तो और क्या है? बहुतसे विरोधियोंसे तो हस्ताक्षर करा लिए गए हैं परन्तु उन्हें ज़रा भी पता नहीं है कि दस्तावेज़में क्या था। मैं विरोधियोंसे फिर कहूँगा कि यदि आप लोग चर्चाका सांगोपांग वर्णन जनताके सन्मुख रखते और फिर डींगें मारते तब तो कुछ ठीक था। इस समय डींगे मारना तो अपनी कमज़ोरी दिखलाना ही है।

शायद विरोधियोंको यह मालूम नहीं कि लेख वही प्रभावक होता है जिसकी नींव सत्य पर अवलम्बित होती है, भले ही वह केवल एक व्यक्तिकी ओर से ही क्यों न हो। कोई लेख चौबीस ही क्या, चौबीस हज़ार व्यक्तियों की ओरसे क्यों न हो, परन्तु यदि उसमें झूठोंकी भरमार है तो उसका कौड़ी बराबर भी मूल्य नहीं हो सकता। लेखका मूल्य तथा उसका प्रभाव उसके सत्यतत्त्व पर निर्भर है, न कि लेखकोंकी संख्या पर। अतः विरोधी लेख असत्य व झूठा होनेके कारण बिल्कुल निःसार व पोच है।

पाठकोंको यह भी मालूम होना चाहिए कि ता० १२ मई की रात्रिको जब पं० दरबारीलालजीके आग्रहानुसार मौखिक चर्चाकी जगह लिखित चर्चा होने लगी, तब विरोधी दल बहुत चौंका और वहीं पर एक विरोधी महाशयने रेंग रेंग कर लिखित चर्चाका विरोध कराना शुरू कर दिया। फलतः ये आवाजें आने लगीं कि "चर्चा मौखिक होनी चाहिए, लिखित नहीं, लिखित चर्चामें हमें आनन्द ही नहीं आता और न इससे कुछ लाभ है, यह चर्चा है न कि शास्त्रार्थ।" इत्यादि। परन्तु चर्चा लिखित ही रही। आश्चर्य तो इस बातका है कि लिखित चर्चासे पं० वन्शीधरजीका पक्ष कमज़ोर सिद्ध होते हुए भी ये लोग तथा पण्डितजी महाराज स्वयं डींगें मारनेका साहस कर रहे हैं! भले ही ये लोग "हम जीते, हम जीते" चिल्लाते रहें, परन्तु लिखित चर्चा से पाठकों की दृष्टिमें उनका चिल्लाना मात्र जिह्वा को थकाना ही है। मैं विरोधी मित्रोंको तथा पं० वन्शीधरजी को चैलेञ्ज देता हूँ कि वे लिखित चर्चाके आधार पर यह सिद्ध करनेका साहस करें कि किस प्रकार पं० दरबारीलालजीका पक्ष हलका था! आशा है कि यदि उनकी दृष्टिमें अपनी डींगोंका कुछ भी सम्मान है तो वे मेरे उक्त चैलेञ्ज (Challenge)को स्वीकार करेंगे, अन्यथा कहना पड़ेगा

कि ये लोग झूठी डींगें मारनेमें ही सिद्धहस्त हैं।

मैं विरोधी मित्रोंसे यह कहे बिना नहीं रह सकता कि आप लोग विवेकी बनिए, धर्मडूबा धर्मडूबाकी आवाज लगा लगाकर अपनी कमजोरीका परिचय न दीजिए। धर्म न तो रूढ़ियोंमें है, न कोरी 'अहा—हूहू' में, न धर्म डूबामें। वह आत्मा में है। धर्म ही सत्य है और सत्यही धर्म है, बनावटी बातोंसे सचाईको छिपानेका निंदनीय प्रयत्न न कीजिए। याद रहे कि "सचाई छिप नहीं सकती बनावटके उसूलोंसे।"

प्रिय मित्रों! यदि आप जैनधर्मके सच्चे उपासक हैं तो अपनी मान्यताओंके लिए सत्यका गला न घोंटिए वरन् सत्यके लिए अपनी मान्यताओंका गला घोंट डालिए।

अन्तमें मैं विरोधी मित्रोंको यह बतला देना चाहता हूँ कि फिजूलके उत्तर-प्रत्युत्तरमें बर्बाद करनेके लिए मेरे पास फालतू समय नहीं है, और न मुझे गालियों, अपशब्दों व सफेद झूठोंका उत्तर देनेका साहस है। अतः आप लोग मेरे विरोधमें जो कुछ भी लिखें, गंभीरतापूर्वक विचार करनेके पश्चात लिखें। यदि मेरे लेखोंका सयुक्तिक खंडन न करके गालियों द्वारा कलेजेको ठण्डा कियागया तो खेदके साथ कहना पड़ता है कि आपका "रघुवीरशरण महाशय" उत्तर न दे सकेगा। यदि सयुक्तिक विरोध कियागया तो अवश्य उत्तर दिया जायगा। गालियों से भरे हुए लेखद्वारा जो पाठकोंको भ्रममें डालने व अपने दिलोंका गुबार निकालनेकी चेष्टा की गई थी, इस लेखद्वारा उसका प्रतिवाद कर दिया गया है। यदि फिर इसी प्रकारका विरोध किया गया तो उस पर उपेक्षा ही की जायगी, परन्तु उनके लेखोंमें जो बात उत्तर पाने योग्य होगी, उसका उत्तर अवश्य दिया जायगा। —रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

नोट—भाई रघुवीरशरणजीने अमरोहाके विषयमें वास्तविक समाचार दिये हैं। विरोधीदल की घबराहट आश्चर्यजनक है। अन्यथा वे लोग इतने अस्तव्यस्त समाचार न छपाते। श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजीको कल्पित सभापति लिखकर तो आश्चर्यजनक दुःसाहस किया है। साहुजी करीब पन्द्रह वर्षसे वहाँके सभापति हैं और अभी भी हैं। भविष्यमें रहें या न रहें, यह बात दूसरी है। इससे साहुजीके व्यक्तित्वको धक्का नहीं लग सकता। वे अत्यन्त विनीत और सच्चे जिज्ञासु हैं। अमरोहा जैन समाजके हृदय पर उनके व्यक्तित्वकी काफी छाप है; आज पक्षपातवश लोग भलेही उनकी निंदा करें। इस विषयका स्पष्टीकरण इसी अंकमें अन्यत्र कियागया है। —सम्पादक।
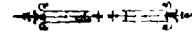
जयपुर दिगम्बर जैनसमाजकी वर्षोंकी अशांति दूर हो गई।

श्री १०८ श्री आचार्य सूर्यसागरजीके तपोबलका प्रभाव।

श्री शान्तिसागर संघके जयपुरमें चातुर्मासके समयसे यानी करीब ३ वर्षसे यहाँकी जैनसमाजमें एक प्रकारकी कलहाग्नि सी धधक रही थी। कुछ सुधारकोंके प्रति यह मनगढ़न्त आरोप लगाया गया था कि ये लोग रामनिवास बागमें होनेवाले अछूत सहभोजमें शामिल हुए और इसी झूठी बातके आधारपर समाजको भड़कानेका प्रयत्न किया गया था। मिती आसोज सुदि ११ संवत् १९८९ को दारोगा मोतीलालजी साहिबकी हवेलीपर पंचायत हुई और इस मामलेकी तहकीकात होनेपर पता चला कि जिन ११ सज्जनोंके बारेमें यह आरोप लगाया गया है, उनमें से १० के प्रति तो आरोप बिल्कुल झूठा और निराधार है तथा एक भाई विद्याप्रकाशजी काला एम० ए० एल० टी० उक्त सहभोजमें गये अलबत्ता थे, मगर न तो वे वहाँपर इरादतन गये थे और न उन्होंने वहाँपर खाया पीया ही था; अतः उक्त पंचायतमें तै होगया कि इस मामलेमें किसी किस्मकी कार्रवाई

की जरूरत नहीं है। इसपर उपर्युक्त मुनिसंघके साधुओंने ग्यारह आदमियोंका बहिष्कार करनेकी प्रतिज्ञायें लिवाना शुरू किया और संघके साधुओंके लिये चौका बनानेवालोंके लिये इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करना और प्रतिग्रहके समय उच्चारण करना अनिवार्य कर दिया। फलतः क़रीब चालीस पचास भक्तोंने इस प्रकारकी प्रतिज्ञायें ले लीं। मुनिसंघके जानेके बाद भी यह कलह थोड़े बहुत रूपमें बनी ही रही क्योंकि उक्त प्रतिज्ञा लेनेवालोंका भी एक छोटासा दल बन गया था और वे मान अपमानकी कुछ भी परवाह न कर शादी आदि तक़रीबोंके अवसर पर जगह जगह गुपचुप तरीक़ेपर इस तरहके प्रयत्न करने लगे कि ११ घरवालोंको निमंत्रित न किया जाय।

यद्यपि अधिकांश समाज इन लोगोंकी बातोंपर कोई ध्यान न देता था तथापि कभी कभी कोई भोले भाई इन लोगोंकी "धर्म डूबा" की पुकारके चक्करमें आजाते थे। जयपुर समाजका सारा शिक्षित व प्रतिष्ठितवर्ग तथा एक दो सज्जनोंको छोड़कर सारा धनी वर्ग खुल्लमखुल्ला कट्टर रूपसे सुधारकोंके पक्षमें रहा। विरोधियोंमें या तो वे लोग थे कि जो मुनियोंके सामने की हुई प्रतिज्ञामें बँधे हुए थे अथवा ऐसे लोग थे कि जो अशिक्षित अथवा अर्धशिक्षित हैं और 'जैनधर्म खतरेमें है' इस आवाजसे भयभीत होकर अपनी बुद्धिको सहजमें खो बैठते हैं। ज्योंज्यों झूठका परदा हटता गया त्योंत्यों विरोधी दलके लोग भी धीरे धीरे पहिले दलमें मिलते गये। इसी बीचमें श्रीयुत विद्याप्रकाशजी कालाकी (जिनके मामलेको लेकर यह झगड़ा खड़ा हुआ था) धर्मपत्नीका स्वर्गवास हो गया और जयपुर ही के एक बहुत प्रतिष्ठित कुल की कन्याके साथ दूसरी शादीका आयोजन हुआ। सुधार-विरोधीदलके लोगोंने हरतरहसे कोशिश की कि इस विवाहमें लोग शामिल न होने पावें किन्तु समाजके बहुत बड़े भागने श्री० विद्याप्रकाशजीका साथ देना ही उचित समझा। इस शादीके बाद बहिष्कार-नीतिके समर्थकोंके छक्के छूटसे गये थे और उन्हें अपनी कमज़ोरी साफ़ नज़र आने लगी थी और उनमें से प्रायः सभी लोग यह सोचने लगे थे कि किसी प्रकार कोई समझौता होजाय तो इसीमें सार है, वरना अब इस पक्षके इनेगिने लोग भी साथ न रहेंगे। मामला योंही चलरहा था कि अभी हालमें मुंशी सूर्यनारायणजी सेठी वकीलके सुपुत्रके साथ सेठ बनजीलालजी साहिब ठोलिया जौहरीके सुपुत्र सेठ गोपीचंदजीकी पौत्रीकी शादी हुई और सेठ केसरलालजी पंसारीके सुपुत्रकी शादी लाला किस्तूरचंदजी दारोगा इमारत डिपार्टमेंटकी सुपुत्रीके साथ हुई। ये दोनों ही शादियाँ काफ़ी ज़ोरदार हुईं और इनमें बहिष्कार नीतिके समर्थकोंका कोई लिहाज़ नहीं किया गया और स्वयं विद्याप्रकाशजीके शामिल होनेपर भी, अब तक बहिष्कार-समर्थकोंका साथ देने वाले बहुतसे व्यक्ति इन शादियोंकी ज्यौनारोंमें जीम गये। अब तो यह साफ़ ज़ाहिर होगया कि बहिष्कार-नीतिके समर्थक अँगुलियों पर गिने जाने लायक़ रहगये हैं और दलबंदी क़रीब क़रीब ख़तम सी होगई है।

इसी अवसर पर समाजके पुण्योदयसे जयपुर में आचार्य श्री १०८ श्री सूर्यसागरजी महाराज का पधारना होगया और आपके चरण-कमलोंके प्रसाद से,जो कुछ थोड़ा बहुत वैमनस्य रहगया था वह भी साफ़ होगया और बहिष्कार-नीतिके समर्थकोंको भी ऐसा मौका मिलगया कि जिससे वे सम्मानपूर्वक अपने क़दम पीछे हटा सकें और समाजके बहुभाग में मिलसकें। वैसेतो आचार्य महाराज जयपुर पधारे तभीसे आप इस प्रयत्नमें थे कि किसी तरह यह आपसी वैमनस्य मिट जाय, परन्तु ता०१९-५-३५ को यह मौका अनायास ही मिलगया। इस दिन शूद्रजलत्याग आदि कुछ शास्त्रीय प्रश्नों पर विचार करनेके लिए स्थानीय ३१ विद्वज्जनों की एक कमेटी आचार्य महाराजके सामने पाटोदीके मंदिरमें बुलाई गई थी, किंतु पं० नानुलालजी शास्त्री व पं०इन्द्रलालजीने यह बात उठाई कि अब तक हिन्दुस्तान

इकट्ठे न हो और काशीसे किसी ब्राह्मण विद्वान् को बुलाकर मध्यस्थ न बनाया जाय तब तक शास्त्रीय विषयों पर कोई दलील अथवा निर्णय नहीं हो सकता। मन्दिरमें उस समय ४०० – ५०० स्त्री पुरुष एकत्रित हो गये थे और दलील तकरीर होते होते स्थिति इस हद तक पहुँच गई कि लोगोंमें आपसमें कषायें बढ़ने की और झगड़ा फसाद तक हो जाने की सूरत नजर आने लगी। किन्तु दैव को कुछ दूसरी ही बात मंजूर थी और इस कषायरंजित वातावरणमेंसे भी शांति की वह ठण्डी धारा निकली कि जिसने सारे संतप्त हृदयों को शीतल और शांत कर दिया और वर्षों की बैठी हुई कषायोंको बाहिर निकाल फेंका।

लोगोंको अशांत देखकर आचार्य महाराजने बड़े मधुर शब्दोंमें सम्बोधित करते हुये फरमाया कि—"भाई, जरा यह बतलाओ कि आप लोगोंमेंसे कौन कौन लोग इस बातकी रजिस्टरी करा कर आये हैं कि वे तो हमेशा यहाँ ही रहेंगे। जब सब लोग यह जानते हो कि एक न एक दिन यहाँसे कूँच करना है तो फिर किस लिए ये कषायें बढ़ा रखी हैं? जिस समाजमें प्रेम तथा एकता नहीं होती उसमें कुशल क्षेम कभी नहीं रह सकता। अतः मेरा यही कहना है कि यदि वास्तवमें आप लोग मुझे अपना गुरु मानते हो तो सबसे पहिले इस समाजमें फैली हुई इस अशांतिको दूर करो। मैं मुनि होता हुआ भी आज तुम सब लोगोंसे यह भिक्षा माँगता हूँ कि अपने अपने हृदयमें बैठी हुई इन कषायोंको निकाल कर मुझे देदो।" सच्चे हृदयसे निकले हुये महाराजके इन उद्गारोंका ऐसा असर हुआ कि दो एक सज्जनों को छोड़ कर सारी उपस्थित जनता गद्गद् हो गई और मुंशी गेंदीलालजी साहने कि जो स्थितिपालक दलके एक खास व्यक्ति हैं, खड़े होकर सबसे यह प्रार्थना की कि ऐसा मौका फिर नहीं आयगा और जैसे भी हो यह झगड़ा आज महाराजके सामने ही मिटा डालना चाहिये। उनकी बातका बाबू दुलीचंदजीसाह बी०ए०ने समर्थन किया। इसके बाद श्री० रामचन्द्रजी खिंदूकाने इस झगड़ेका शुरूसे आखिर तकका सिंहावलोकन करते हुये दारोगा मोतीलालजी साहिबकी हवेली पर तय हुये पंचायती फैसलेका हाल सुनाया। इसपर मुंशी गैंदीलालजी साह वकील ने कहा कि जो बात दारोगाजीकी हवेली पर हुई थी वही यदि किसी मन्दिरमें आम जनताके समक्ष हो जाती तो अब तक यह झगड़ा ही नहीं चलता। अब यदि दारोगाजीके मकानकी बातको श्री विद्याप्रकाशजी अपने मुँहसे यहाँ दोहरादें तो सब झगड़ा मिट जाय। इस पर आचार्य महाराज बोले कि पहिले मुझे यह बतलाओ कि विद्याप्रकाशजीके कहने के बाद तो फिर कोई झगड़ा नहीं रहेगा? और जिन लोगों ने ११ घरोंके बहिष्कारकी प्रतिज्ञायें ले रखी हैं सो तो वे छोड़ देंगे? इसकी स्वीकारता मिल जाने पर श्री विद्याप्रकाशजीसे कहा गया कि वे दारोगाजीके मकानपर जो बातें हुई थीं उन्हें दोहरावें; मगर उन्होंने इससे इन्कार कर दिया और कहा कि जिन लोगोंने दूसरे १० भाइयोंके बारेमें झूठी बातें गढ़ा कर उन्हें बदनाम करनेकी कोशिश की है, उन्हें जब तक कोई दंड नहीं दिया जायगा तब तक मैं कुछ न कहूँगा और वे उठकर मन्दिरसे बाहिर चले गये। किसी तरह समझा बुझा कर उन्हें वापिस मन्दिरमें लाया गया तो महाराजसे भी उन्होंने यही बात कही। इस तरहसे बातें हो ही रही थीं कि मुंशी गेंदीलालजी साह तथा लाला फूलचन्दजी लोंग्या वाले, जो कि अब तक श्री विद्याप्रकाशजीकी विरोधी पार्टीमें अग्रगण्य थे, आगे बढ़े और उन्हें नम्रतापूर्वक समझाने लगे। मुंशी गेंदीलालजीकी कषायें तो यहाँ तक शांत हुईं कि उन्होंने अपने सिर की टोपी उतारकर श्री विद्याप्रकाशजीके पैरोंके आगे रखदी। इसका काफी असर हुआ और श्री विद्याप्रकाशजी खड़े हो कर बोले कि दारोगाजी साहिब के मकान पर हुई कार्रवाईको श्री रामचन्द्रजी साहिब ने आप लोगोंके सामने प्रगट की है, उससे मैं सह-

मन हूँ। इसके बाद ही मुंशी गैंदीलालजी साहने अपने दलके भाइयोंकी इजाजत लेकर प्रगट किया कि अब विरादरीमें आपसमें कोई झगड़ा नहीं है। तत्पश्चात् आचार्य महाराजकी जयके गगनभेदी नारोंके साथ लोग मन्दिरसे विदा हुए और तपस्वी के तपके प्रभावसे वर्षोंकी अशांति बातकी बातमें दूर हो गई। इसी खुशीमें अगले शुक्रवारको बाल सहेली (शुक्रवारकी भजन मण्डली) की तर्फसे पुराने घाट में पुरुषवर्गकी आम गोठ हुई जिसमें समाजके प्रायः सभी भाई शामिल हुये। यह गोठ भी लोगों को याद रहेगी कि जिसमें लोग आपसमें एक दूसरे से गले मिलकर अपने कहे सुनेकी परस्पर क्षमा करा रहे थे। लोग कहते थे कि यह गोठ नहीं, क्षमावणी का त्योहार है। इस गोठका श्रेय श्रीयुत मुंशी गैंदीलालजी भोमा, मंत्री बाल सहेली व लाला किस्तूरचन्दजी कालाको है कि जिन्होंने मौसम आदि अनुकूल न होते हुए भी दो ही दिनमें इतनी बड़ी गोठ के कामको सफलता-पूर्वक संपादन कर दिया।

आचार्यश्रीके सामने सब बात शांतिपूर्वक निमट जानेपर भी कुछ कलहप्रिय व्यक्तियोंने एक पीला पर्चा निकाल कर पुनः समाजमें वैमनस्य फैलानेकी चेष्टा की थी, पर समाजके शुभोदयसे किसीने इनकी बात पर ध्यान न दिया।

आचार्य महाराजके ज़रियेसे इधर अच्छी धर्मप्रभावना हो रही है। यह भी एक दैवी घटना है कि एक मुनिसंघके कारण पैदा हुआ वैमनस्य दूसरे संघका निमित्त पाकर इस सुन्दरताके साथ दूर हो गया। —संवाददाता।
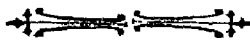
भूल सुधार।

गतांकके मुखपृष्ठपर प्रकाशित "आवश्यक घोषणा"के नीचे चौथा हस्ताक्षर "वैद्य रघुनन्दनप्रसाद जैन"का छपा है। इसके स्थानपर "वैद्य रघुनाथप्रसाद जैन" होना चाहिये। पाठक कृपया सुधार कर पढ़ें। —प्रकाशक

अनन्त विश्वमें मनुष्यका स्थान।

(प्रो० श्यामाचरणजी ऐम० ए० ऐम० ऐस सी० आगरा कॉलेजके Man, whence and whither नामके निबन्धके आधार पर।)

मनुष्य सदैवसे अपने को प्रकृतिकी प्रयोगशाला का सर्वोत्कृष्ट आविष्कार समझता रहा है—विश्वकी प्रत्येक शक्ति उसीपर केन्द्रित है, ऐसा उसका विश्वास रहता आया है। ज्ञान-मदमें मत्त होकर वह कभी अपनेको सर्वज्ञ होनेकी घोषणा करता है, तो कभी तनिकसे ऐश्वर्य पानेपर अपनेको सम्राट कहलानेकी धृष्टता। संसारमें अत्याचार और अनाचारका अस्तित्व मनुष्यके इसी अहंकारका परिणाम है। किन्तु वास्तवमें वह है क्या? दार्शनिकके शब्दोंमें मात्र मिट्टीका पुतला और वैज्ञानिकके शब्दोंमें विद्युत्-कणसे भी छोटी वस्तु।

प्रस्तुत लेखमें मनुष्यकी इस लघुताका वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार किया जायगा।

पृथ्वी जिसपर हम निवास करते हैं एक गोला है—यह गोला नारंगीके समान ध्रुवों पर चपटा है। पृथ्वीका व्यास (Diameter) लगभग ८००० मील है। सूर्यसे पृथ्वीकी दूरी ९,२८७०००० मील है। चन्द्रमा, जो कि आकाशमें हमारा निकटतम पड़ौसी है, हमसे केवल २४०००० मील है। प्रकाश(Light) के लिये प्रति सैकिण्ड १८६००० मीलकी गतिसे इतनी दूरी तै करनेमें एक सैकिण्डसे कुछ ही अधिक समय लगता है।

आधुनिक ज्योतिषवेत्ताओंने गणितके बलपर ऐसे नक्षत्रोंका अनुमान लगा लिया है जिनसे हम तक प्रकाश आनेमें १०००००००० वर्ष लगते हैं। इतनी बड़ी संख्याओंने वैज्ञानिकोंको एक नवीन दूरीकी इकाई (Unit of distance) मानने को विवश किया। इसे प्रकाश-वर्ष कहते हैं। एक वर्षमें प्रकाश १८६००० मील प्रति सैकिण्डकी गति से जितनी दूरी तै करता है वह प्रकाश-वर्ष (Light-year) कहलाता है। इस इकाईके अनुसार ...

हमसे केवल ८ मिनटकी दूरी पर है। एक प्रकाश वर्ष ५८८०००००००००० मीलके बराबर होता है।

केवल पृथ्वी और चन्द्रमा ही सूर्यके चारों ओर नहीं घूमते। सहस्रोंकी संख्यामें अन्य ग्रह (Planets भी सूर्यकी परिक्रमा लगाते हैं। इन ग्रहोंका पारस्परिक अन्तर असंख्यात मीलें हैं, जिनका अनुमान लगाना कठिन है।

तुलनात्मक दृष्टिसे सौर-जगत् (Solar-System) का ज्ञान प्राप्त करनेके लिये हमें एक नयी इकाई माननी पड़ती है, जिसके अनुसार पृथ्वीको एक इंच व्यासवाले गोलेसे प्रदर्शित किया जाता है। इस इकाई (Unit) के अनुसार सूर्य मात्र ९ फीट व्यासवाला गोला रह जाता है और उसकी दूरी पृथ्वीसे केवल ३२३ गज है। चन्द्रमा तो पृथ्वीसे केवल ढाई फीटकी दूरी पर मटरके बराबर छोटीसी वस्तु ही रह जाती है—Mercury और Venus ग्रहोंकी दूरी सूर्यसे केवल १२५ और २५० गज है। इस इकाईके अनुसार Jupiter १ मील Saturn दो मील तथा Uranus और Neptune क्रमशः ५ और ६ मीलकी दूरी पर हैं। नवीन आविष्कृत ग्रह Pluto ८ मीलकी दूरी पर है। सबसे निकटतम सितारा Proxima-centaieri इसप्रकार ४०००० मीलकी दूरीपर है। वास्तविक दृष्टिसे तो इस तारेकी दूरी ४००००× ८००० × १७६० × १२ × ३ मील अथवा २०२७५२-००० ००० ०० मील है।

उक्त उदाहरण आकाशकी अनन्तता पर भली प्रकार प्रकाश डालते हैं।

विश्वके पदार्थोंकी पारस्परिक दूरीका अनुमान कभी कभी प्रकाश-वर्षों (Light-years) में भी लगाना कठिन पड़ जाता है, अतः वैज्ञानिकोंको और भी छोटे स्केलो (Scales) की शरण लेनी पड़ती है।

यदि सारे सौर--जगतको एक इंच व्यासवाले वृत्त (Circle) के अन्दर सीमित मानलें तो पृथ्वी का अक्ष केवल ५¹⁄₀₀ इंच व्यासका एक वृत्त रहजाता है। सूर्य मात्र एक छोटासा धब्बा मालूम पड़ने लगता है और पृथ्वी सूक्ष्म वीक्षण यंत्रकी शक्तिसे परे (Ultra microscopic) १०००⁄००० इंचके व्यास वाला एक अणु। इस स्केलके अनुसार Proxima centaieri केवल ७५ गजकी दूरीपर ही रह जाता है। अब तक आविष्कृत अधिकतम दूरीपर स्थित पदार्थ इस स्केलके अनुसार १०००००० मीलकी दूरी पर है।

इस स्केलके अनुसार विश्वका व्यास लाखों मील है। सूर्य तो मात्र धूलका एक कण ही रह जाता है और पृथ्वी इस कणके लाखवें भागसे भी कम।

सारा विश्व द्वीप-विश्वों (Island universes) में विभक्त किया जा सकता है। ये द्वीप-विश्व अनन्त आकाशमें लाखो करोड़ोंकी संख्यामें जैलो मछलीके समान घूमते हैं।

प्रायः यह सिद्धान्त माना जाता है कि मनुष्यके रहनेका स्थान विश्वके मध्यमें है। आज तो यह मात्र एक भ्रम ही सिद्ध होता है।

विश्वके आकारका ठीक ठीक अनुमान लगाने के लिये हमें पुनः एक नवीन मॉडल (Model) के निर्माण करनेकी आवश्यकता पड़ जाती है।

यदि विश्वको १ मील व्यास वाले गोलेसे प्रदर्शित किया जाय और उसे २'५ टन बिस्कुटोंसे इस प्रकार भर दिया जाय कि उनमें प्रत्येकका पारस्परिक अन्तर २५ गजका हो तो प्रत्येक बिस्कुट १३००० प्रकाश-वर्ष व्यासवाले द्वीपविश्वको Represent करेगा।

इस स्केलके अनुसार हमारी पृथ्वीका आकार तो कल्पनामें भी नहीं आ सकता। वह मात्र एक विद्युत्कण (Electron) से कुछ ही बड़ी वस्तु रह जाती है।

इसप्रकार विश्वकी अनन्ततामें क्षुद्र मनुष्यका स्थान ही क्या है? हम अपने आपको सृष्टिका स्वामी माननेकी धृष्टता किया करते हैं, किन्तु विश्वकी स्कीम में मनुष्यका स्थान एक विद्युत्कणके बराबर भी नहीं ठहरता।

त्रिकाल त्रिलोकके पदार्थोंकी पर्यायोंको युगपत् जाननेकी कल्पना मात्र भ्रान्ति ही सिद्ध होती है।

जिस प्रकार हमारे विश्वसे परे अनन्त विश्व हैं, उसी प्रकार उसके अन्दर भी असंख्यात विश्व हैं। पुद्गल-अणु (Atoms) भी एक प्रकारके सौरजगतको प्रदर्शित करते हैं—अणु-सौरजगत Atomic Solar System में Protons को सूर्य और Electrons को ग्रहोंका स्थान है। विद्युतकणों Electrons के अन्दर भी इस प्रकारके विश्व होसकते हैं। इसप्रकार अनन्त Infinitum तक इन विश्वोंका क्रम चला जाता है।

रसायन शास्त्रके अनुसार पुद्गलका लघुतम—अविभाज्य कण अणु (Atom) है। पदार्थ विज्ञानने एक क़दम और भी आगे बढ़ाया; उसने अणुओं (Atoms) को विद्युत कणों (Protons and Electrons) में विच्छिन्न कर दिया। Protons and Electrons हैं क्या? मात्र धनात्मक और ऋणात्मक विद्युत् युक्त शक्तिके गतिमान कण।

पुद्गल (Matter) और शक्ति (Energy) अबतक माने गये विश्वके मूलतत्त्व वास्तवमें एकही तत्वकी भिन्न भिन्न पर्यायें हैं। संसारका प्रत्येक पदार्थ शक्तिकणों Particles of energy द्वारा निर्मित है। पाश्चात्य गणितज्ञ आइन्स्टाइनके अनुसारतो काल और आकाश एकही तत्वकी दो भिन्नभिन्न पर्यायें हैं।

इसप्रकार गति (Motion), पुद्गल (Matter) आकाश (Space), और काल (Time) एकही तत्वकी भिन्न भिन्न पर्यायोंका प्रदर्शन हैं। वह तत्व क्या है, इसे हम नहीं जानते; यहीं पर वैज्ञानिकोंकी गति रुक जाती है।

कालकी दृष्टिसे भी मनुष्यका स्थान नहीं के बराबर है।

आधुनिक पदार्थ और ज्योतिष-विज्ञान भिन्न भिन्न सितारोंके विकास-क्रमका इतिहास जाननेके लिये अधूरे ही हैं।

वैज्ञानिकोंका अनुमान है कि सृष्टिके प्रारम्भमें प्रत्येक वस्तु विच्छिन्न रूप (Chaos) में थी; धीरे धीरे ये विच्छिन्न पदार्थ क्रमशः गैसीय-तरल और संघात द्रव्यके रूपमें संघटित हुये—विकासकी अनेक श्रेणियोंसे गुजरनेके बाद कहीं जाकर मनुष्यका आविर्भाव हुआ।

Chaos से गैसीय द्रव्यके रूपमें संघटित होनेका समय ६ × १०^{११} अथवा ६०००,०००,००० ००० ०००० वर्ष हैं। इतनी बड़ी संख्याओंका अनुमान लगाना प्रायः कठिनसा ही मालूम पड़ता है, ऐसी दशामें पहलेकी भाँति १०^{१२} अथवा १००००,००० ०००,००० वर्षोंको एक वर्षके बराबर मान लेनेमें सुविधा पड़ती है। इस स्केलके अनुसार मनुष्यका जीवनकाल [illegible] सैकण्ड रह जाता है।

विच्छिन्न दशा (Chaos) से अविच्छिन्न (Cosmos) और अविच्छिन्नसे विच्छिन्नमें परिवर्तित होने अथवा सृष्टि और प्रलयका क्रम अनंतकालसे जारी है।

उक्त विवेचनसे मनुष्यका स्थान नहीं के बराबर ही सिद्ध होता है। पुद्गल (Matter) गतिमान अणुओं और विद्युत कणोंके रूपमें एक प्रकारके ताण्डव नृत्यमें संलग्न है। इस नृत्यका प्रारम्भ कब हुआ और अन्त कब होगा—यह कहना असम्भव है। विश्व उत्पाद (Creation) और व्यय (Dissolution) की एक अनन्त कहानी है। इस अनन्ततामें बेचारे मनुष्यका क्या स्थान?

बाह्यजगतमें अपनी आकांक्षाओंको स्थान खोजनेकी चेष्टा निरर्थक सी ही है। मनुष्यजीवनकी सच्ची महत्ता अन्तर्मुखी बननेमें है। 'Man know thyself' वाले सिद्धान्तका प्रतिपादन भिन्नभिन्न देशोंके दार्शनिकोंने भिन्नभिन्न रूपमें किया। उन्होंने विश्वकी अनन्तताको देखा और मानवजीवनकी क्षणभंगुरताको समझा।

स्वयं मनुष्यके अन्दर एक ऐसा तत्व है जिसमें त्रिलोक और त्रिकालके समस्त पदार्थ समाजाते हैं। इसको जाननेपर मनुष्यको और कुछ जानने योग्य नहीं रहता। यही कैवल्य है, जीवनकी साधनाका

यहीं अन्त है। यहाँ आकर वैज्ञानिकोंकी प्रयोगवृत्ति फेल हो जाती है। सारे व्यक्तित्वके योगसे साधना करने पर इस तत्वके दर्शन होते हैं। यहींसे मनुष्य सीम और सान्तके बन्धनोंसे मुक्त होकर अनन्त और असीममें प्रवेश करता है। यही परमात्मतत्व है। खुदाई नूर (Divine light) इसीका नाम है।

—बसन्तकुमार, आगरा-कॉलिज, आगरा।

एक जैन बालाका साहस।

—कराँचीमें रंभा नामकी एक जैन बालाकी शादी किसी ऐसे आदमीके साथ स्थिर हुई, जो टूँटा है, रोगग्रस्त है और लड़कीसे उम्रमें बहुत अधिक बड़ा है। लड़कीका विरोध होते हुए भी उसके भाईने लोभवश यह शादी स्थिर कर डाली।

ता० २१-१-२७ की रातको कराँचीके जैनयुवक संघके पास एक पत्र आया। उसमें लिखा था—

जैनयुवक संघ! एक जैन बालाके शुभाशिष। विशेष—मेरी सगाई सेजकपरके शाह अमर्जीवनके लड़के हंसराजके साथ की गई थी। सगाई होनेके बाद हंसराजको सर्पने काटा और उसका दाहिना हाथ कन्धेमेंसे काट डालागया, तब उसके प्राण बचे। इस बातको सात बरस बीत गये। मेरा भाई धनके लोभमें आकर मेरी शादी उसके साथ करना चाहता है, मगर मैं उसके साथ ब्याह करनेको राजी नहीं हूँ, तो भी वह जबर्दस्ती मुझे ब्याहना चाहता है। इसलिये मैं तुमसे मदद माँगती हूँ। यहाँ ऐसा कोई नहीं है जो मेरी मदद करे। क्या आप कसाईके हाथसे गऊको छुड़ायेंगे? यदि आप मदद न करेंगे तो आत्महत्याके सिवा मेरे लिए कोई दूसरा मार्ग न रहेगा। मेरे भाई भोजाई मुझको बहुत सताते हैं। इन लोगोंने पहले मुझे मार डालनेकी धमकी देकर उससे एक पत्र लिखवा लिया। पत्रका मजमून यह था—

'मैं खुशीसे हंसराजके साथ शादी करना चाहती हूँ।'

यह पत्र सेजकपर भेजागया है। इसमें चार पांच दिनमें सेजकपर वाले यहाँ आवेंगे, और गुपचुप जबर्दस्तीसे, हंसराजके साथ मेरे भाई भाभी ब्याह देंगे। इसलिए जैसे होसके वैसे मेरी मदद जल्दी करना। थोड़े लिखेको बहुत समझना।

—लि०—रम्भाबाई मूलजीके शुभाशिष।

युवकसंघ बालाको बचानेकी तरकीबें सोचने लगा। सवेरे ही पता चला कि लड़कीका ब्याह बैठ गया है और उसकी हृदयविदारक चिल्लाहटको ब्याहके गीतोंमें दबा देनेका प्रयत्न होरहा है। इस समाचारको सुनकर युवकमंडलके दस सभ्य लड़कीके भाई पोपटलालके घर गये। बाहर उन्होंने घरमें बगैर इजाजत प्रवेश नहीं करनेका पाटिया लटकता देखा। उन्होंने देखा कि शादीकी तैयारी होरही है, मंगल विधि कराने वाला पुरोहित पोटली बाँध कर घरसे निकला है। युवकोंने पिकेटिंग करना स्थिर किया। उसी समय पोपटलालके पड़ौसीने इन लोगोंको बुलाया और सादर बिठाकर कहा—लड़की ब्याह करनेको राजी है।

युवकोंने लड़कीकी जबानी यह बात सुननी चाही। पड़ौसीने लड़की और उसके भाईको बुलाया। लड़कीने साफ शब्दोंमें कह दिया—"मैं शादी करना नहीं चाहती।"

भाईको अपनी इज्जत मिट्टीमें मिलती दिखाई दी। उसने एक कमरेमें लेजाकर लड़कीको बहुत समझाया। शब्दोंके उलटफेरसे उसे यह धमकी दी कि अगर वह न मानेगी तो उसे (पोपटलालको) आत्महत्या करनी पड़ेगी। मगर पोपटलालका समझाना निष्फल गया। लड़कीने गलेमेंसे शादीके लिए जो माला पहनाई गई थी वह निकालकर फेंकदी।

युवक संघवालोंने लड़की को सलामतीके लिए उसे किसी सद्गृहस्थके घरमें रख देनेके वास्ते भाई को समझाया। मगर भाई न माना। तब युवकसंघने अदालतका आश्रय लिया। पुलिस इन्स्पेक्टरने भाई बहनके बयान लिए, और तब लड़की युवकसंघको सौंपी गई। संघने लड़कीको कराँचीके एक प्रतिष्ठित गृहस्थके घरमें रखा।

कहाजाता है कि लड़की पर, हंसराजके साथ शादीकरनेकेलिये, बहुत दबाव डालागया। हंसराज और पोपटलालके एक रिश्तेदारने तो लड़कीको यहाँ तक धमकी दी कि यदि तू किसी दूसरेके साथ शादी करेगी तो मैं तुम दोनोंकी जान लूँगा।

युवकसंघके प्रयत्नने (और लड़कीके साहसने) एक अबलाको बलिदान होनेसे बचालिया।—कृष्णलाल वर्मा

"SATYASANDESH" Ajmer   Reg: No. N. 611

वर्ष १०   ता० १६ जुलाई   सन् १९३५   अंक १६

स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

सत्यसन्देश

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न बुद्धे न हरे हरौ।
सर्वतीर्थकृताम्मान्यम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—मा० द० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई।   प्रकाशक—फूलहचंद सेठी, अजमेर।

विषय सूची।

प्राप्ति स्वीकार।

'सत्य-सन्देश' के संचालनार्थ निम्नप्रकार सहायता प्राप्त हुई है:—

५) जैनमित्रमण्डल एटा।
श्री० साहू रघुनन्दनप्रसादजी अमरोहा।
श्रीमती भोलीबाई बम्बई।
श्रीमान सुखलालजी कोटेका चोढ़।

उपरोक्त महानुभावोंको इस उदारताके लिये धन्यवाद।

—प्रकाशक।

समाचार-संग्रह।

—काशीपुर निवासी श्री० रामप्रसादजी शारदाकी सुपुत्रीका पुनर्विवाह कलकत्ताके सुप्रसिद्ध सुवालकाप्रतिष्ठित श्री० रामकुमारजी सुवालकाके साथ हुआ। वर महाशय अग्रवाल तथा कन्या माहेश्वरी जाति की है। अतः यह पुनर्विवाह होनेके साथ साथ विजातीय विवाह भी है। श्री सुवालकाजी ने इस अवसर पर ६५०० सार्वजनिक संस्थाओंको दान दिया। सारा कार्य अत्यन्त सफलता तथा समारोहपूर्वक हुआ।

—कामठीमें एक लड़की एक विजातीय युवक के साथ शादी करना चाहती है परन्तु उसके माता-पिता इसमें बाधा डाल रहे हैं।

—श्री सनातन जैनसमाजके सातवें वार्षिकोत्सवके अवसरपर दमोहमें दिल्ली निवासिनी श्रीमती सुर्जीबाई परवारका पुनर्विवाह जैनसमाजके सुप्रसि-

चित कवि श्री भगवन्तगणपति गोयलीय (परवार) के साथ समारोहपूर्वक हुआ।

—तुर्की सरकारने मुल्लाओं व धर्मगुरुओंकी पोशाक पर जो पाबन्दियाँ लगाई थीं उनपर सख्ती से अमल करना शुरू कर दिया गया है। काजियों को पुरानी पोशाकके बदले इङ्गलिश सूट और टोप पहिननेकी आज्ञा हुई है। उनकी दाढ़ी मूछें मुँड़वा दी गई हैं और उनके बाल छँटवानेकी आज्ञा दी गई है।

—देहलीके सुप्रसिद्ध व्यापारी श्रीमान सेठ बद्रीदासजी गोयनकाने शारदा कानूनका भंग कर अपने पुत्रका विवाह किया था। इसपर देहलीकी शारदाएक्ट डिफेन्स कमेटी की ओरसे दावा दायर किये जाने पर उन्हें १५०) जुर्मानेकी सज़ा हुई।

—एक विवाहित लड़की अपने पति को छोड़ कर दूसरे युवकके साथ चली गई। इसका मामला कलकत्तेकी अदालतमें चल रहा है। लड़की का कहना है कि विवाहके पहिलेही से इस युवकसे प्रेम करती थी। मेरा विवाह दूसरे व्यक्तिके साथ मेरी इच्छाके विरुद्ध करदिया गया, इसके लिये मैं जिम्मेदार नहीं हूँ।

—इन्दौर उदासीनाश्रमके अधिष्ठाता श्रीमान पन्नालालजी गोधा बहुत समयसे अस्वस्थ थे। ता० १५ जुलाई को उन्होंने दिगम्बर मुनि दीक्षा ली तथा तदनुकूल आचरण किया। ता० १६ जुलाई को उनका समाधिमरणपूर्वक देहावसान हुवा।

—इटावा जिले की घटना है कि विवाहके बाद वधू पालकीमें बैठकर ससुराल जारही थी। पर्देके कारण पालकी चारों तरफसे बन्द थी, इसलिये हवा न मिलनेसे वधू रास्तेही में मरगई। ससुराल पहुँचने पर जब वधूको उतारनेके लिये प्रयत्न किया गया तो उसकी लाश मिली।

—कोंचि से एक बारात आशापुरा (जयपुर) पहुँची। वरका पिता धनसम्पन्न व्यक्ति था और चाहता था कि अपनी हैसियतके अनुकूल दहेज मिले। कन्याका पिता साधारण स्थितिका होनेके कारण उसकी इच्छानुसार दहेज देनेमें असमर्थ था। इसी बातको लेकर समधियोंमें बहुत कहासुनी होगई। कन्याके पिताने अपमान व तिरस्कार से दुःखी हो अफीम खाकर प्राण त्याग दिये। दहेजकी इस राक्षसी-प्रथाने न जाने कितने जीवन नष्ट करदिये!

—नवाई से बारात अमरसर (जयपुर) गई थी। बारातको वहाँ धर्मशालामें ठहराया गया। धर्मशालाके सामनेके मकानमें एक सुंदरी युवती रहती है। मनचले बाराती मचल पड़े और धर्मकर्म तथा लोकलज्जाको तिलांजलि देकर उसके घरमें घुस पड़े और उससे छेड़छाड़ करने लगे। युवतीने उन्हें बुरी तरह फटकारा। कोलाहल सुनकर और लोग वहाँ आ पहुँचे और उक्त बारातियोंकी जूतोंसे ख्वातिरदारी की गई!

—पंच लोग अपने आपको साक्षात् सर्वशक्तिमान परमात्मा समझ कर सत्ताके मदमें आकर अक्सर घोर अन्याय कर डालते हैं। व्यक्तिगत द्वेष चरितार्थ करने तथा अपना बदला लेनेके लिये मामूलीसा बहाना लेकर वे लोगोंको जाति-बहिष्कृत कर देते हैं। वे समझे हुए हैं कि उनके काममें कोई दस्तंदाजी नहीं कर सकता—सरकार भी पंचायतमें दखल नहीं दे सकती। लेकिन यह उनका केवल भ्रम है। अभी हालही से जोधपुरकी एक अदालत ने एक युवकको जाति-बहिष्कृत करनेके अपराधमें दो पंचों पर १०१) रु० तथा ५१) जुर्माना किया है। पञ्चायतके नाम पर मनमानी करनेवालों को इससे सबक लेना चाहिये।

—कुस्तुन्तुनियामें अली नामक एक लँगड़ा भिखारी रहताथा। किसी कारणसे उसे जेलकी सजा हुई। कुछ समय पहिले जेलमें उसकी मृत्यु होगई। उसकी मृत्युके बाद उसके सामानके बँटवारेके लिये उसके रिश्तेदारोंमें झगड़ा होने लगा। प्रत्येक रिश्तेदार किसी प्रकार उसकी बगलमें रखनेकी घोड़ी प्राप्त करना चाहताथा। इससे अधिकारियोंको शक हुवा। उन्होंने घोड़ीको तोड़ा तो उसमेंसे १६० पौंड अर्थात् २०८०) रु० की क़ीमतका सोना निकला।

भगवती अहिंसा ।

माता! तूने उपजाये थे 'राम' 'कृष्ण' से पूत सपूत ।
सत्यदेव की धर्म-सहचरी! भेजे 'वीर' 'बुद्ध' से दूत ॥

दानवता का मारा जब माँ! जनसमाज अकुलाया था ।
ईसु मुहम्मद दयानन्द से सब संकट बिसराया था ॥

सब तीर्थंकर सब पैगम्बर तेरे दास कहाते हैं ।
सब पुरुषोत्तम सभी सुधारक तेरा स्रोत बहाते हैं ॥

जब अत्याचारों से जग को त्रस्त हुआ तूने देखा ।
तब खेंची हम सब के उर में सुखद शान्ति की स्मित रेखा ॥

सत्यदेव से भी न जगत् का कुछ भी कभी सुधारा हो ।
करुणाशीले! अगर न उनको तेरा पूर्ण सहारा हो ॥

सत्यदेव के साथ अम्बिके निज दर्शन देते रहना ।
सब विरोधियों के प्रहार को सीख जायँगे हम सहना ॥

अन्यायों के मर्दन में जो सूक्ष्म रूप रहता तेरा ।
उसे सदा समझाते रहना कायरता न करे डेरा ॥

तेरा वेष बना करके जब कायरता छलने आवे ।
तब तू असली रूप बताना राक्षसी न ठगने पावे ॥

धर्म धर्म चिल्लाकर जो ठग स्वार्थ—साधना करते हैं ।
दीनोंकी अबलाओंकी आहों से ज़रा न डरते हैं ॥

उनको सच्चा मार्ग सुझाने 'सत्यभक्त' में शक्ति भरो ।
'सूर्यभानु' बस यही विनय है त्रिभुवन में घर घर विहरो ॥

—सूर्यभानु डाँगी ।

धर्मशास्त्रका स्थान।

दर्शन, गणित, भाषा, ज्योतिष, इतिहास, काव्य आदि शास्त्रोंके समान धर्मशास्त्र भी एक शास्त्र है, जिसका काम यह बताना है कि मनुष्य अपने जीवन को किस प्रकार सुधारे जिससे वह अधिकसे अधिक सुखी हो सके। सदाचारके भीतरी और बाहिरी नियमोंका विवेचन करना इस शास्त्रका काम है।

ये सब शास्त्र अपने कार्यमें एक दूसरेकी सहायता लेते हैं, फिर भी उनका स्वतन्त्र स्थान है। जैसे दर्शनशास्त्र अपने कार्यमें गणित, भाषा, ज्योतिष, इतिहास आदिकी सहायता लेगा; फिर भी दर्शनका क्षेत्र जुदा है। विश्व एक तत्त्वका बना है या दो तत्त्वों का—दर्शनशास्त्रकी इस विवेचनामें गणितशास्त्रकी एक दो, आदि संख्याओंका उपयोग होगा, बोलने के लिये भाषाका भी विचार करना पड़ेगा, किसी विषयको समझानेके लिये ज्योतिष आदिकी किसी बातको उदाहरणके रूपमें पेश भी किया जायगा। यह सब होने पर भी दर्शनशास्त्रका स्थान जुदा है। अन्य शास्त्र इस काममें सहायक होनेसे वे दर्शनशास्त्र न बन जायँगे। इसी प्रकार अन्य किसी भी शास्त्रको आप उठाइये, वह दूसरे शास्त्रसे सहायता लेगा, फिर भी उसका स्वतन्त्र स्थान है।

इसी प्रकार धर्मशास्त्र भी एक शास्त्र है। सदाचार आदिका विषय समझानेके लिये उसमें दर्शन, गणित, भूगोल, खगोल, इतिहास आदि विभिन्न शास्त्रोंका उपयोग होता है, परन्तु इसीसे वे सब धर्मशास्त्र नहीं बन जाते। अगर इन शास्त्रोंमें कोई परिवर्तन हो तो इससे धर्मशास्त्रकी कुछ हानि न होगी। परन्तु धर्मशास्त्रके विषयमें लोगोंका कुछ ऐसा ही खयाल है। अगर बाइबिलमें कहीं भौगोलिक वर्णन आ गया है और वह ठीक नहीं है तो वे ईसाईधर्म को ही झूठा कहने लगते हैं। अगर जैनशास्त्रोंमें वर्णित स्वर्ग-नरक बुद्धिग्राह्य नहीं है, तो वे जैनधर्म को झूठा समझते हैं। इस प्रकार धर्मशास्त्रमें किसी भी रूपमें वर्णित किये गये अन्य शास्त्रके विवेचन को लोग धर्मशास्त्र मान लेते हैं, और फिर उसकी सत्यता-असत्यतासे धर्मशास्त्रकी सत्यता-असत्यता साबित करते हैं। यह धर्मशास्त्रके साथ अन्याय है। इससे हम शास्त्रोंकी दुर्दशा करते हैं, उनके विकास में बाधक होते हैं तथा अपना नुकसान भी करते हैं। इसलिये धर्मशास्त्रके भीतर सब शास्त्रोंको ठूँसना अनुचित है।

अगर कोई हमसे पूछे कि हिन्दूधर्मके अनुसार दो और दो कितने होते हैं? और इसलामके अनुसार कितने? तो इस प्रश्नको सुनकर हम हँसेंगे और कहेंगे कि—इस प्रश्नका धर्मशास्त्रसे क्या सम्बन्ध? यह तो गणितका प्रश्न है। इसीप्रकार अगर कोई पूछे कि जैनधर्मके अनुसार बम्बईसे कलकत्ता कितनी दूर है? और बौद्धधर्मके अनुसार कितनी दूर? तो भी हमारी यही दशा होगी। परन्तु जब कोई पूछता है कि हिन्दूधर्मके अनुसार विश्व कैसा है? और इसलाम, जैनधर्म आदिके अनुसार कैसा? तब हम नहीं हँसते और यह नहीं कहते कि—यह खगोलका विषय है, इसे धर्मके साथ क्यों जोड़ते हो?

सूर्य, चन्द्र क्या हैं, वे कितनी दूर हैं, पृथ्वी कैसी है, जगत्में कितने द्रव्य हैं, कालचक्र कैसा घूमता है, प्राणी कितने तरहके होते हैं, आदि हरएक शास्त्रकी बातें हम धर्मशास्त्रसे ही समझना चाहते हैं। और धर्मशास्त्रमें इस विषयमें जो कुछ लिख गया है उसे हम धर्मकी तरह श्रद्धेय समझते हैं। धर्मशास्त्रके विषयमें हमारा यह अज्ञान, धर्म और

धर्मशास्त्रको बदनाम कर रहा है। धर्म, विज्ञानका विरोधी माना जाने लगा है जब कि विज्ञान, धर्मका परम सहायक है।

धर्मशास्त्रमें इन विषयोंका उल्लेख होता है अवश्य, परन्तु इसके दो कारण हैं। पहिला तो यह कि पुराने समयमें जुदे जुदे विषयोंको सामान्य रूपमें समझनेके लिये जुदे जुदे गुरुओं और शास्त्रोंके इतने साधन नहीं थे जितने कि आज हैं। एक ही गुरुसे और एक ही शास्त्र पढ़कर लोग हरएक विषयका कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहते थे। धर्मगुरुओंका स्थान सर्वोच्च होनेसे उन्हींसे यह काम निकाला जाता था। परन्तु एक ही व्यक्तिके ऊपर इतना अधिक बोझ पड़नेका फल यह होता था कि वह अन्य विषयोंका जैसा तैसा विवेचन कर दिया करता था। उस समयकी प्रचलित मान्यताओंको ज्योंका त्यों या कुछ रद्दोबदल करके वह लोगोंको बताता था।

धर्मके नियम तो ऐसे हैं कि कोई भी चतुर और त्यागी आदमी समाजका अनुभव करके उनका निर्माण कर सकता है। और उनकी सत्यताकी परीक्षा करनेके लिये यह जान सकता है कि इनसे समाजमें शान्ति हुई कि नहीं? परन्तु अन्य विषयोंका निर्णय करना इतना सरल नहीं है। वह तो हजारों वर्षोंके कठिन परिश्रमसे भी दुःसाध्य है। इसलिये धर्मके विषयमें जो सच्चे थे, वे अन्य विषयोंमें सच्चे न रह सके। इसमें उनका जरा भी अपराध नहीं है—जनताकी माँगका ही यह अपराध है।

धर्मशास्त्रमें दूसरे विषयोंकी चर्चा आनेका दूसरा कारण है—मूढ़ लोगोंको धर्म पर श्रद्धा कराना—जिससे वे सदाचारी बनें और समाजमें शान्ति हो। जो लोग समझदार थे उनको तो धर्मका मर्म समझा देना ही बस था। अहिंसा सत्य आदिके पालनमें, इनकी वेदीपर स्वार्थका बलिदान करनेमें अपना और समाजका किस प्रकार कल्याण है, बाह्य सुख अगर तुरन्त न भी दिखलाई दे तो भी उसमें आत्मसन्तोषका कितना सुख है, और अन्तमें वह किस प्रकार सुखद है, ये सब बातें समझदारोंको समझाना सरल था। परन्तु एक साधारण आदमीको इतनेसे ही सन्तुष्टि नहीं होती। वह उसका नक़द परिचय ही चाहता है।

साधारण आदमी देखता है कि एक आदमी सत्य और अहिंसामय जीवन बिता रहा है, फिर भी वह दुखी है, ग़रीब है; और दूसरा इससे उल्टा जीवन बिताने पर भी श्रीमान है, सुखी है। तब धर्म सुखका कारण कैसे? वह धर्मगुरुके सामने यह प्रश्न रखता है। एक समझदारको इस प्रश्नका उत्तर जिस ढंगसे देना चाहिये उससे उस शिष्यको संतोष नहीं होता, इसलिये गुरुको दूसरे ही ढंगसे उत्तर देना पड़ता है। उसमें निम्नलिखित आशयका वार्तालाप होने लगता है:—

गुरु—धर्म तो सुखका ही देने वाला है, परन्तु फलके लिये कुछ न कुछ समय तो लगता है। इस समय जो धर्म किया जा रहा है उसका फल इसी समय मिल जाय, यह कैसे होगा? भोजन भी शरीरमें जाकर कुछ देरमें पचेगा, तभी शरीरका पोषण करेगा, जाते ही पोषण न करेगा। इस समय जो धर्मात्मा दुःख उठा रहा है, उसका कारण यह है कि उसने पाप किया था इसलिये वह उसका फल भोग रहा है। अब धर्म करता है तो उसका फल फिर मिलेगा।

शिष्य—परन्तु ऐसे सैकड़ों मनुष्य हैं जो अपने धर्मका फल जीवन भर नहीं पाते। उनका धर्म तो व्यर्थ ही गया।

गुरु—उनका धर्म व्यर्थ क्यों गया? उसका फल अगर यहाँ नहीं मिल पाया तो परलोकमें मिलेगा।

शिष्य—क्या मरनेके बाद भी आत्मा रहता है?

गुरु—जरूर! हममें से बहुतसे आदमी जन्मसे ही श्रीमान् धीमान् आदि होते हैं, और कोई मूर्ख ग़रीब आदि। यदि इसका कारण पहिले जन्मका

पुण्य-पाप नहीं है तो क्या है ? जब पहिले जन्मका फल हम इस जन्ममें भोग रहे हैं, तब इस जन्मका फल हम आगे जन्ममें क्यों न भोगेंगे ?

शिष्य—परन्तु मर जाने पर तो हम यहीं जला दिये जाते हैं। अगला जन्म होगा किसका ?

गुरु—अरे भाई ! मरने पर तो शरीर जलाया जाता है। आत्मा तो अमर है। उसे कौन जला सकता है ?

शिष्य—आत्मा क्या शरीरसे जुदा है ?

गुरु—जब उसके गुणधर्म शरीरसे जुदे हैं, तब वह क्यों न जुदा होगा ? आत्माका गुण चैतन्य है, जो कि जड़ शरीरमें नहीं है। इसलिये चैतन्य गुणवाली कोई स्वतन्त्र वस्तु अवश्य सिद्ध हुई। किसी वस्तुका नाश कभी नहीं होता, उसका सिर्फ रूपान्तर होता है इसलिये वह वस्तु नित्य भी कहलाई। जब नित्य है, तब इस शरीरके बाद भी किसी न किसी रूपमें वह रहेगी, वही परलोक कहलाया।

शिष्य—परन्तु इस जीवनमें हम किसीको भी पूर्ण सुखी नहीं देखते। तब जो लोग अपना सर्वस्व धर्मके नामपर लगा देते हैं, उनको पूरा फल कैसे मिलेगा ? जितना हम इस जीवनमें त्याग करते हैं, उतना ही अगर परलोकमें मिला तो उससे क्या फायदा ? खेतमें एक मन अनाज बोनेका फल अगर एक मन अनाज ही है तो ऐसी खेती कौन करेगा ?

गुरु—क्या तुम यह समझते हो कि जगत् इतना ही है जितना तुम देखते हो ? नहीं, जगत् बहुत बड़ा है। ऊपर स्वर्ग है जहाँ देव रहते हैं। वहाँ छोटेसे छोटे देवको इतना सुख है जितना यहाँ सम्राटोंको भी नहीं मिल सकता। वहाँ बीमारी नहीं है, बुढ़ापा नहीं है, अकालमरण नहीं है, हजारों लाखों वर्षोंकी आयु है। नीचे पाताल है, जहाँ नरक है। वहाँ इतना कष्ट है जिसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। इस प्रकार पुण्य-पापका फल उतना ही नहीं, किन्तु लाखों और करोड़ों गुणा मिलता है। इस जन्ममें हमारे पास है ही क्या जिसके लिये कोई पाप करे ?

शिष्य—महाराज, स्वर्ग अगर ऊँचे है तो कहाँ हैं ? सूर्य चन्द्र तक तो स्वर्ग दिखलाई नहीं देता।

गुरु—स्वर्ग सूर्य चन्द्रसे भी ऊँचे पर है और वह बहुत दूर है।

शिष्य—क्या स्वर्ग सूर्य चन्द्रमें नहीं है ?

गुरु—ये भी देवोंके निवासस्थान हैं, परन्तु स्वर्ग इनसे भी अच्छा है। वहाँके देव इन देवोंसे भी अच्छे होते हैं।

शिष्य—क्या देवोंमें भी भेद है ?

गुरु—हाँ, क्यों नहीं ? भूत, पिशाच, यक्ष आदि भी देव है जो कि नीची श्रेणीके हैं। सूर्य, चन्द्र आदि भी देव हैं, स्वर्गमें भी देव हैं।

शिष्य—सब देव कहाँ रहते हैं ?

गुरु—कोई स्वर्गमें, कोई चन्द्र सूर्य तारोंमें, कोई इसी मध्यलोकमें।

शिष्य—आप जो बातें कहते हैं वे बड़ी अच्छी हैं। परन्तु इनका ज्ञान आपको कैसे हुआ ? क्या आदमी इन सब चीजोंको देख सकता है ?

गुरु—क्यों नहीं ? सर्वज्ञ योगी सब बातोंको देख सकते हैं। उनके ज्ञानके बाहर कोई चीज़ नहीं है। वे स्वर्ग, नरक, मध्य और भूत, भविष्य, वर्तमानकी सब बातें जानते हैं। वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान होते हैं।

शिष्य—तो जगत् कबसे है, कैसे है, बड़े बड़े पूर्व पुरुष कब हुए थे, मर कर कहाँ गये, आदि सब बातें सर्वज्ञ बता सकते हैं ?

गुरु—अवश्य !

शिष्य—बड़े आश्चर्यकी बात है। जिस आत्माको हम देख भी नहीं सकते, उसमें इतनी ताकत है।

गुरु—आत्माकी ताक़तका क्या कहना ? वह ब्रह्मांडको नचा सकता है, अग्निको ठंडी कर सकता

है, विषको अमृत बना सकता है। तुम धर्म तो करो; फिर जो चाहोगे उससे ज्यादा मिलेगा।

यह वार्तालाप और भी लम्बा जा सकता है, जिसमें सृष्टिरचना, युगप्रवृत्तियाँ, मुक्ति आदिके विषयमें गुरुको कुछ न कुछ बोलना पड़ेगा। उसका लक्ष्य सिर्फ इतना ही है कि सदाचार वगैरहके नियमोंपर शिष्य विश्वास करे, और तुरन्त ही उसका फल मिलता नजर न आवे या उस मार्गमें कुछ कठिनाइयाँ नजर आवें तो भी वह सदाचारको न छोड़े। इस छोटीसी किन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण बहुमूल्य वस्तुको समझानेके लिये ही नहीं, किन्तु इतना दृढ़ विश्वास करानेके लिए जिससे वह उसे जीवनमें उतारने लगे, इतनी लम्बी चर्चा करना पड़ती है। उसमें दर्शन, भूगोल, इतिहास आदि अनेक विषय आजाते हैं। इसलिये साधारण लोगोंको दर्शन, भूगोल आदिको भी धर्मशास्त्र समझनेका भ्रम पैदा हो जाता है।

कहा जा सकता है कि इन सब विषयोंको धर्म समझनेसे अगर साधारण मनुष्यको धर्मपर श्रद्धा होती है तो क्या हानि है? अगर जनसमाजको इससे लाभ है तो वह असत्य भी सत्य है।

अगर सचमुच इतनी ही बात होती तो यहाँ कुछ कहनेकी जरूरत ही नहीं थी। असत्य भी कभी लाभ पहुँचा सकता है, परन्तु यह तभी जब कि वह सत्यके रूपमें अपनेको दिखला सकता हो। भंडाफोड़ हो जाने पर भी अगर उसे अपनाये रहनेकी चेष्टा की जाय तो वह अपने साथ अन्य सत्यको भी ले डूबता है। दूसरी बात यह कि असत्यका सहारा वहीं लेना चाहिये जहाँ सत्यका सहारा न मिल सकता हो। हो सकता है कि प्राचीन युगमें मनुष्यके भोलेपनके कारण ये उपाय उस समय कारगर आगये हों, परन्तु वे आज भी इसमें समर्थ हैं—यह नहीं कहा जा सकता। अब तो उनसे लाभके बदले हानियाँ ही अधिक होती हैं, जैसे कि—

१—धर्मोंमें जो भिन्नता दिखाई देती है उसका कारण सदाचार या आत्मशुद्धिका भेद उतना नहीं जितना कि दर्शन, इतिहास, भूगोल आदिका भेद है। इसके नामपर ही झगड़े होते हैं तथा अहंकार की पूजा होती है। धर्मशास्त्रसे अगर इनको अलग कर दिया जाय तो धर्मके नामपर झगड़ा होना कठिन हो जाय।

२—धर्मशास्त्र पर विश्वास रखनेवाला आदमी किसी भी विषयमें सुधार या संशोधनका कार्य नहीं कर सकता। धर्मशास्त्र कहता है कि अमुक प्राणी सम्मूर्छन है (बिना मा बापके पैदा होता है), किन्तु खोजने पर पता लगा कि उनमें भी नर मादा होते हैं; तो धर्मशास्त्रका विश्वासी इस खोजमें हाथ न लगा सका, अथवा उसे धर्मपर विश्वास छोड़ देना पड़ेगा। इसप्रकार या तो धर्म-हानि होगी या प्रगतिका नाश होगा। यही बात अन्य विषयों पर भी समझना चाहिये।

३—इतिहास, भूगोल आदिके विषयमें बहुतसी खोज हुई है, इससे धर्मशास्त्रोंमें लिखी हुई प्राचीन मान्यताएँ पूरी तरह खंडित हो गई हैं। यहाँ तक कि हमारे जीवनके व्यवहार, गमनागमन आदि भी नई मान्यताओंके आधारपर बन गये हैं। इसलिये हम इनकी तरफसे आँख बन्द नहीं कर सकते। यदि इतिहास-भूगोल आदिको भी धर्मशास्त्रका अंग समझ लिया जाय तो इसका परिणाम यह होगा कि इतिहास-भूगोलके असत्य सिद्ध होनेसे धर्मशास्त्र भी असत्य मान लिया जायगा। आज यह हो भी रहा है। अधिकांश नवशिक्षितवर्ग धर्मशास्त्रोंकी इन्हीं असंगत बातोंको पढ़कर धर्म पर ही अविश्वासी हो गया है।

धर्मशास्त्रोंमें अन्य विषय ठूँसनेसे झगड़े, प्रगति-निरोध, धर्मसे घृणा आदिका ही विस्तार हुआ है; और असली धर्मसे लोग वञ्चित ही रह गये हैं। इसलिये यह अत्यावश्यक है कि धर्मशास्त्रको अन्य शास्त्रोंके बोझसे मुक्त किया जाय, अर्थात् अन्य शास्त्रोंको धर्मशास्त्रके बन्धनसे छुड़ाया जाय। धर्मशास्त्र शुद्ध धर्मशास्त्र रहे और अपने स्थानपर रहे।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

१—शिक्षितोंका अधःपतन।

इस क्रान्तियुगमें किसी देशके शिक्षित युवकसे जितनी आशा की जा सकती है, उसका चतुर्थांश भी इस देशके शिक्षित युवकसे नहीं की जासकती। युवकोंकी उद्दंडता, असभ्यता आदिके समाचार जितने मिला करते हैं, उतने समाजोन्नतिके लिये उनकी त्यागशीलताके नहीं मिलते। सामाजिक कुरूढ़ियाँ—जो कि युवकोंके लिये चुटकीसे पीस देनेकी चीज़े हैं—इसप्रकार फली फूली न रहती, यदि हमारे देशके युवक उनका साम्हना करनेके लिये थोड़ी भी तत्परता दिखलाते।

हमारा सामाजिक जीवन अनेक प्रकारसे सड़-गल गया है। हमारी अनेक रूढ़ियाँ अनेक कष्टों और अत्याचारोंको जन्म दे चुकी हैं। उनसे नारी तो पिस ही रही है, परन्तु नारीके पिसनेमें नरके दुःख भी बढ़ रहे हैं और बहुत जगह उसे भी पिसना पड़ता है। इस तरह सारा समाज त्रस्त हो रहा है।

अगर समाजमें एक तरफ कन्याविक्रय है तो दूसरी तरफ दहेजका ताडव हो रहा है। दोनों ही कुप्रथाएँ समाजका दम घोंट रही हैं। कन्याविक्रय की कुप्रथाका अपराध तो उन बूढ़ोंके सिरपर है जो जवानीके निकल जानेपर भी कामकीट बने रहते हैं। परन्तु दहेजकी कुप्रथाका अपराध तो उन्हीं युवकों पर है जिनसे देशके उज्ज्वल भविष्यकी आशा की जाती है।

पिता, पुत्री-प्रेमके वशमें होकर अपनी पुत्रीको कुछ दे तो यह बात दूसरी है। परन्तु उस स्त्रीधन पर अपनी नियत डालना, अथवा कन्याके पिताके साथ कुछ ठहरावनी करना, पुरुषोंके लिये—खासकर शिक्षित युवकके लिये—लज्जाकी बात है। इसप्रकार स्त्रीके या ससुरालके धनपर गुजर करनेवाले युवकों को युवक कहना तो दूर उन्हें पुरुष कहनेमें ही सङ्कोच होता है।

भारतवर्षके अनेक प्रांतों और जातियोंमें यह कुप्रथा है। साथही इतना दुर्भाग्य और है कि शिक्षितोंके कारण इस कुप्रथाका ताण्डव और भयंकर हो गया है। बंगाल, युक्तप्रान्त, महाराष्ट्र आदि प्रान्तोंमें इस कुप्रथाके कारण कन्याके मातापिताओंकी जो दुर्दशा है, वह भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। एक तो कन्या यों ही लोगोंकी नजरसे गिरी रहती है, क्योंकि उसका पालन पोषण करके उसे एक ऐसी जगह भेज देना पड़ती है जहाँ माता पिताका कुछ अधिकार नहीं होता। वे उसे सुखी नहीं कर सकते हैं, किन्तु उसके दुखकी वेदनासे दुखी होते रहते हैं। भेजते समय विवाहके लिये सैकड़ों हजारोंका खर्च करना, योग्य वर हूँढ़नेके लिये परेशानी उठाना आदि बातें ही कन्याको हलका कर देनेके लिये कुछ कम नहीं हैं। फिर दहेजकी ठहरावनी तो जलेपर नमक छिड़कनेसे भी भयंकर है। जहाँ पर यह कुप्रथा है वहाँ कन्याओंको जीवनभर कुमारी रहने तककी नौबत आ जाती है, अथवा अपात्रसे अपात्रके साथ बँध जाना पड़ता है।

आशा तो यह थी कि यह कुप्रथा शिक्षाप्रचार से कम होगी, परन्तु खेदके साथ कहना पड़ता है कि शिक्षितोंमें यह रोग और भयंकर होता जा रहा है। और जहाँपर नहीं है वहाँपर यह फैल रहा है। अभी मुझे ग्रीष्मप्रवासमें सागर, दमोह (सी० पी०) तरफ जाना पड़ा तो मुझे वहाँ इस बातकी शिकायत बहुत सुनाई पड़ी। जबलपुरकी तरफ परवार जाति में यह बीमारी फैल रही है। अभी तक यह जाति इस कुप्रथासे मुक्त थी, परन्तु शिक्षाका नाम लजाने वाले शिक्षितोंके द्वारा यह बीमारी फैल रही है। इस प्रकारके कुछ विवाह हो चुके हैं और होनेके प्रयत्न में हैं। निःसन्देह इन समाचारोंसे मर्मभेदी वेदना होती है।

हम इन स्वार्थी युवकोंसे तो क्या कहें, परन्तु कन्याओंके अभिभावकोंसे कह देना चाहते हैं कि इस प्रकारके कायर युवकोंके साथ अपनी पुत्रियोंका

सम्बन्ध करके आप अपनी कन्याओंको सुखी नहीं बना सकते। ऐसे स्वार्थी कायरोंसे किसीको सुख नहीं मिल सकता। इसलिये आप कहीं भी शादी कीजिये, किसी भी जातिमें शादी कीजिये; परन्तु ऐसे कायरोंके साथ सम्बन्ध न जोड़िये। विपत्तिके अवसरपर कन्याके काम आवे, इस आशयसे आप कुछ देना चाहें तो उसकी सुव्यवस्था कीजिये, परन्तु इन युवकोंके हाथमें फूटी कौड़ी न जाने दीजिये। यदि जातिमें यह कुप्रथा व्याप्त होगई है और इसके बिना जातिमें सम्बन्ध नहीं होसकता तो ऐसी जाति में सम्बन्ध कीजिये जहाँ यह कुप्रथा न हो। अन्यथा ये स्वार्थी युवक इस पापके जितने भागी हैं उतने ही भागी आप हैं।

अभी सिंधमें नारीसभाकी ओरसे युवती महिलाओंकी एक सभा हुई थी जिसमें २५ बालिकाओंने यह लिखकर प्रतिज्ञा की थी कि ऐसे युवकोंसे हम किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रक्खेंगी जो बालिकाओंके मातापितासे किसी प्रकारका दहेज मांगेंगे।

हम चाहते हैं कि ये बालिकाएँ अपने त्याग व हिम्मतसे उन स्वार्थी युवकोंको लज्जित करें, समाज को जाग्रत करें और इन अधःपतित शिक्षितोंको वास्तविक शिक्षित बनावें। नारीसमाज इस कुप्रथा के नाशके लिये तैयार हुई है, यह शुभ चिन्ह है।

२—सच बोलना होगा।

जिस दिन संसारमें ऐसी शक्ति आविर्भूत होकर घर घर पहुँच जायगी जो प्रत्येक आदमीसे अमोघ रूपमें यह कह सके कि तुम्हें सच बोलना होगा, वह दिन मनुष्यसमाजका स्वर्णयुग होगा। उस दिन सचमुच सतयुगके दर्शन होंगे। यदि मनुष्य झूठ न बोल सके तो मनुष्यसमाजमें से १०० मेंसे ९९ पाप निकल जायँ। सारे आविष्कारोंने मिलकर मनुष्यको जितना सुख दिया है, उनसे कई गुणा सुख सिर्फ इस सच बुलानेके आविष्कारसे हो सकता है।

मनुष्य मनुष्यको जितना दुःख देता है, उतनी और कोई चीज नहीं देती। फिर भी इसका सफल उपाय नहीं हो पाता, इसका कारण यही है कि मनुष्य झूठ बोल सकता है, इसलिये वह समाजकी आँखोंमें धूल झोंकता है। अपराध, पाप भीतर ही भीतर पनपता है, छिपकर नाच करता है।

झूठका भंडाफोड़ करनेके लिये पुराने समयसे ही कुछ न कुछ उपाय होता आरहा है। परन्तु जो बुद्धि झूठको पकड़नेका उपाय सोचती है, वही उस उपाय को व्यर्थ करनेका उपाय भी सोचती है। इसलिये जब तक कोई ऐसा आविष्कार नहीं होता जोकि मनुष्य के मानस जगत्‌का—जो कि शैतानका सबसे बड़ा अड्डा है—नंगा चित्र खींचकर दिखा दे, तबतक शैतानियतका नाश नहीं हो सकता।

बहुत दिनोंसे अमेरिकामें इस बातका प्रयत्न हो रहा है कि कोई ऐसा आविष्कार किया जाय जिससे मनुष्य झूठ न बोल सके। मुझे खयाल है कि बहुत दिन पहिले वहाँ एक ऐसा आविष्कार हुआ था, जिसके प्रयोगसे मनुष्य आधा बेहोश सा हो जाता था। झूठ बोलनेके लिये जो मनही मन विचार करना पड़ता है, वह विचारशक्ति उसकी दब जाती थी और वह ज्योंका त्यों उत्तर देता था। एक प्रकारसे उसका मन तो जाग्रत रहता था और बुद्धि सो जाती थी। उसका वहाँ अनेक जगह प्रयोग हुआ था, परन्तु भारतमें उसके आनेका समाचार नहीं सुना।

अब इस विषयमें एक और सन्तोषप्रद समाचार मिला है कि वहाँके एक वैज्ञानिकने एक यंत्र ऐसा बनाया है जिसके लगानेसे पता लग जाता है कि मनुष्य झूठ बोल रहा है या सच। हजारों मनुष्यों पर इसका प्रयोग हो चुका है और इसमें पूर्ण सफलता मिली है। वहाँके अनेक कॉलेजोंकी प्रयोगशालाओंमें यह यंत्र है। अनेक अपराधियोंकी गवाही लेते समय इस यंत्रका उपयोग किया गया, जिसमें पूर्ण सफलता हुई। ऐसे ३५०० अपराधियों पर इसका उपयोग किया गया है।

अब वहाँ के न्यायाधीश भी इस यंत्रपर विश्वास करने लगे हैं और तदनुसार दंड भी देने लगे हैं। वहाँ के बैङ्क भी इस यंत्रके द्वारा आदमीकी परीक्षा लेकर उसे नौकर रखते हैं। अभागे भारतवर्षमें न जाने कब ऐसे यंत्रोंका प्रयोग होगा! जिस दिन ऐसे सफल यंत्र सब जगह घर घरमें पहुँच जायँगे और मनुष्यमें झूठ बोलनेकी आदत न रहने देंगे, वह दिन धन्य होगा। उस दिन भगवान सत्य और भगवती अहिंसाका सफल साम्राज्य स्थापित होगा।

३—पर्दा और पंजाबी।

एक सुशिक्षित मुसलिम महिलाने—जिनका नाम असगरी है—पर्दाके विषयमें एक पत्र ट्रिब्यूनमें छपवाया था, जो विश्वमित्रमें भी छपा है। उसका उद्धरण यहाँ दिया जाता है:—

"पर्दा बहुत बुरी चीज है। हम सभी इस बात को महसूस कररही हैं। हम सभी इससे पिंड छुड़ा लेना चाहती है, फिर भी पिंड नहीं छूटता। क्यों? क्या मैं सचमुच लिख दूँ? मेरी रायमें पंजाबी और खासकर मेरे सम्प्रदायके लोगही इसके लिये दोषी हैं; और इसके दो प्रधान कारण हैं। पहिली वजह तो यह है कि वे बहुत कामलोलुप होते हैं, और दूसरा कारण यह है कि उनमें नागरिकता तथा कानून और सुव्यवस्थाका कुछ भी ज्ञान नहीं होता। और कुछ तो ऐसे हैं जिनमें तौर तरीकेकी जराभी तमीज नहीं है। वे अर्द्धसभ्य पशु हैं। हमारा मजहब किस कामका, अगर वह हमें मातृभाव और भगिनीभाव का आदर करना न सिखाये? प्रत्येक नागरिकको यह साधारण अधिकार है कि वह सार्वजनिक स्थानों पर स्वच्छतापूर्वक घूम फिर सके। हम स्वाधीनता और राजनैतिक अधिकारोंके लिये चिल्ला रहे हैं, लेकिन पुरुषो! तुम्हें क्या अपनी बहिनोंसे यह अधिकार हड़प लेनेमें जराभी शर्म नहीं आती?"

"एक वजह और भी है। पुरुष दुष्टात्मा होते हैं। पर्देकी ओटमें वे परिचिता रमणियोंके पास जाते और उन्हें लुभा फुसलाकर उनका अपहरण करते हैं, और इस प्रकार उनका सर्वनाश कर डालते हैं। मैं अपनी बहिनोंसे प्रार्थना करूँगी कि वे इस बुराईकी ओर दृष्टिपात करें और मैं सभी हिंदू और मुसलमान भाइयोंसे अपील करती हूँ कि वे पंजाबी भाइयोंके दृष्टिकोणमें परिवर्तन लानेके लिये प्रयत्न करें।"

पर्दाप्रथा रूपी राक्षसीका जो विशाल रूप है, उसके एक अंगपर बहिन असगरीने अच्छा प्रकाश डाला है। उनके शब्दोंमें वे उद्गार हैं जो एक पीड़ित हृदयसे निकल सकते हैं। उनके शब्दोंमें इसलामके ऊपर भी कुछ रोष प्रगट हुआ है, जो कि स्वाभाविक है, क्योंकि धर्मका महत्त्व तो धार्मिकोंपर निर्भर है। परन्तु यह निश्चित है कि मुसलमानोंकी इस बर्बरताका इसलामसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलाममें तो स्त्रियोंके सम्बन्धमें बहुत उच्चताके विचार हैं। जिस समय और जहाँ इसलाम पैदा हुआ था वहाँ उस समय उसने स्त्रियोंको समुन्नत बनाया है। परन्तु आजका मुसलमान समाज—खास कर भारतवर्षका मुसलमान समाज—अपनी बर्बरता से इसलामको लजारहा है, इसमें संदेह नहीं है।

इस बर्बरताके नाशके लिये पुरुष और स्त्री दोनों मिलकरके प्रयत्न करें, तभी सफलता मिल सकती है। जिन स्त्रियोंने इसे भूषण समझ रक्खा है, वे इसे दूषण समझने लगें; और जहाँ किसी बात का भय नहीं है वहाँ पर्दा करना छोड़दें, इसके विनाशके लिये संगठन करें, सामूहिक प्रदर्शन करें, तो बर्बर पुरुषोंकी बर्बरता दिखलाना कठिन हो जायगा।

परन्तु बहिन असगरीने जो पुरुषोंको लक्ष्यमें लेकर कहा है उसमें एक अक्षर भी मिथ्या नहीं है जिससे उसकी उपेक्षा की जा सके। पुरुषोंकी इस बर्बरता का तांडव पंजाबमें ही नहीं किन्तु अन्य अनेक प्रान्तोंमें भी पाया जाता है। और इसका उपाय यही है कि ऐसे बर्बर पुरुषोंकी छोटीसे छोटी हरकतों पर

उनकी मरम्मत कीजाय। और यह काम पुरुषोंका है। इसमें न हिन्दूका विचार किया जाय, न मुसलमानका। जब स्त्रियोंके दिलमें यह दृढ़ विश्वास हो जायगा कि जितने पुरुष हैं वे सब मेरी इज्जतकी रक्षा करनेवाले हैं, तब उनका भय भी निकल जायगा और नर्वोंकी बर्बरता भी हवा होजायगी। जहाँ इस प्रारम्भिक कठिनाईपर विजय हुई कि आगेका काम बिना किसी प्रयत्नके वायुवेगसे होने लगेगा।

४—व्यापारके नामपर।

एक जमाना था कि उत्पादनकी अपेक्षा व्यापार का काम बहुत कठिन था। उसमें जोखिम भी अधिक थी और व्यापारकी आवश्यकता तो अधिक थी ही। इसलिये व्यापारीको अधिक लाभ होना उचित ही था। पुराने समयमें एक जगहकी वस्तुको दूसरी जगह ले जानेमें जान जोखिम तक थी और लूट जाना तो मामूली बात थी। आज व्यापारका काम इतना कठिन नहीं रहगया है आज तो घरबैठे लाखों का माल मँगाइये और भेजिये, सबमें काम होगा।

पहिलेकी अपेक्षा व्यापारका काम आज सरल होनेपर भी उसके लाभका ढंग ज्योंका त्यों बना हुआ है। खैर, यहाँतक सब ठीक है। व्यापारको महत्त्व प्राप्त हो, यह भी उचित है क्योंकि व्यापार भी उत्पादनके समान देशको आवश्यक है।

एकही जगहपर जीवनकी सभी आवश्यक वस्तुओंका पैदा नहीं होसकता और न एकही आदमी उनको तैयार कर सकता है। इसलिये सामाजिक जीवनके प्रारम्भमें ही व्यापारको मुख्य स्थान प्राप्त होगया है एक किसान सिर्फ अनाज पैदा करता है, परन्तु आवश्यक अनाज बचाकर बाकी अनाज देकर वह जीवनोपयोगी अन्य वस्तुएँ लेलेता है। इसी प्रकार शिल्पी अपने शिल्पसे, विद्वान अपनी विद्या से, कलाकार अपनी कलासे जीवनोपयोगी वस्तुओं का परिवर्तन करता है। यही परिवर्तन व्यापारका बीज है।

परन्तु इस प्रकार परिवर्तन करनेमें भी प्रत्येक को कठिनाई है। जो चीज़ मेरे पास है, वह किसीको ज़रूरी होसकती है और किसीको ज़रूरी नहीं भी होसकती है। इसीलिये एक ऐसा वर्ग बनाया गया या बनगया जो सिक्का आदि ऐसी चीज़ देकर हमसे चीज खरीद लेता है, जिसके द्वारा हम कोई भी चीज़ खरीद सकते हैं। इस प्रकार व्यापारी और व्यापार समाजके लिये बड़ी लाभप्रद वस्तु बनगई है। यह उत्पादनके समान हमारे जीवनके लिये उपयोगी है।

परन्तु अगर कोई कार्य व्यापारके नामपर हो रहा हो, लेकिन वह हमारी आवश्यकताओंकी पूर्ति न करता हो तो उसे व्यापार नहीं कहसकते। वह तो केवल जूआ है। उसको कानून जूआ कहसके या या न कहसके परन्तु वह जूआ है, हरामा है।

व्यापारके नामपर आज जो सट्टा चलरहा है, वह भी जूआ है। जूआकी सारी विशेषताएँ इसमें पाई जाती हैं। जूआमें ये विशेषताएँ हैं,—

१—बिना किसी वस्तुके पैसेका लेना देना होता है।
२—किसीकी आवश्यकताकी पूर्ति नहीं होती।
३—राष्ट्रको या समाजको कोई लाभ नहीं होता।
४—चित्त अत्यधिक चिन्तातुर रहता है।
५—पुरुषार्थकी गति रुक जाती है।
६—क्षणमें गरीब और क्षणमें अमीर होता है।
७—दूसरोंको गरीब बनाकरके ही हम अमीर बन सकते हैं।

इत्यादि बहुतसी विशेषताएं हैं जो सट्टेमें भी पाई जाती हैं। बल्कि सट्टेबाजकी मानसिक अशान्ति तो जुआरीसे भी बढ़ जाती है। जुआरी तो अमुक समयही जूआ खेलता है अमुक समय तक ही दाँव लगा रहता है, इसलिये तभीतक चिन्ता रहती है; परन्तु सट्टेबाजका दाँव तो दिनरात लगा रहता है और महीनों तक लगा रहता है। उसका जीवन आकुलतामय होजाता है। इसके अतिरिक्त ऊपरके अन्य दोषभी इसमें काफी मात्रामें पाये जाते हैं।

माना कि सट्टा अनेक तरहका होता है और

कोई कोई सट्टा व्यापारोपयोगी भी माना जाता है। परन्तु सब तरहके सट्टे अगर उठा दिये जायँ तो उस से जितनी हानि होगी, लाभ उससे सौगुना होगा।

फिर अंक लगानेका सट्टा तो अत्यन्त भयङ्कर है। इसने गरीबसे लेकर अमीर तक सबको तबाह करदिया है। दो आने रोज कमानेवाला मजूर भी अपनी कमाई इस सट्टेकी बलिवेदी पर स्वाहा कर आता है।

अच्छे अच्छे सुशिक्षित भी अपनी वचनको इस वेदी पर स्वाहा करदेते हैं तथा ऋणग्रस्त होकर परेशान होते हैं। सट्टेबाजकी हालत नशेबाज़ सरीखी होती है। उसके घरकी शान्ति नष्ट होजाती है।

सट्टेबाजकी मनोवृत्ति आखिर हरामखोरीकी ही तो मनोवृत्ति है। काम कुछ न करना पड़े और माल मिल जाय। ऐसी मनोवृत्ति अपने और दूसरे को नुकसान पहुँचानेके सिवाय और क्या कर सकती है?

अभी तक यह बीमारी बड़े बड़े शहरोंमें ही थी, परन्तु अब तो छोटे शहरोंसे लेकर गाँवों तक जा पहुँची है, और उसने गरीब घरोंकी सूखी रोटी छीननेके साथ साथ वहाँकी शान्तिको भी बर्बाद कर दिया है। इसलिये आवश्यक है कि यह बीमारी जल्दीसे जल्दी नष्ट कर दीजाय। व्यापारके नाम पर यह अनर्थक पाप चल रहा है।

अभी महात्मा गाँधीजीने भी इसके विषयमें अपने जो उद्गार निकाले हैं उससे उनके हृदयकी वेदना अभिव्यक्त होती है। वे कहते हैं,—

"हवावाली रातमें जब आग घासकी गंजीमें लगती है तब वह जिस प्रकार बढ़ती है उसी प्रकार यह अंकोंका जुआ फैल रहा है। हरएक मनुष्यको बिना किसी परिश्रमके पैसेवाला बननेकी धुन सवार हुई है, और वह इस जुएमें गिरता है। फल यह होता है कि एक समयके सुखी घरोंमें से शान्तिका नाश होता जाता है।"

"यह व्यसन महामारी और भूकम्पसे भी बुरा है, क्योंकि यह तो आत्माका नाश करता है। इस जुआरीसे यह जूआ छुड़ाना शराबीसे शराब छुड़ाने के समान है।'

"मुम्बईमें तो यह बहुत प्रचलित है, यह दुःख की बात है, परन्तु गाँवोंमें इसका आक्रमण हुआ है, यह भयकी निशानी है। इसकी तरफ किसीभी देशप्रेमीको दुर्लक्ष्य न करना चाहिये।"

साहित्य परिचय।

जिनागम कथा-संग्रह—सम्पादक, अध्यापक बेचरदासजी दोशी। प्रकाशक, जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, अहमदाबाद। मूल्य १) जैनस हायमें से प्राकृतकी कथाओंका यह सुन्दर संग्रह किया गया है, जो प्राकृत भाषाके अभ्यासियोंके लिये बहुत उपयोगी है। पीछे शब्दकोष तथा टिप्पणियाँ देकर प्रायः सभी बातोंका खुलासा कर दिया गया है। प्रारम्भमें प्राकृत भाषाका सामान्य परिचय तथा व्याकरण देनेसे पुस्तककी उपयोगिता और बढ़गई है। व्याकरण, कोष, टिप्पणियाँ आदि हिंदी भाषामें होनेसे हिन्दीभाषियोंके कामकी चीज होगई है। यह संग्रह पाठ्यक्रममें रखने लायक है। छपाई सफाई आदि बहुत सुन्दर है।

निरयावली आओ—सम्पादक, श्री. ए. एस. गोपानी एम. ए. और श्री. वी. जे. चोकसी बी.ए. (Hons) । प्रकाशक, श्री शम्भुभाई जगशी शाह गुर्जर ग्रन्थरत्नकार्यालय गाँधी रोड, अहमदाबाद। मूल्य ३)

प्राकृतके इस ग्रन्थकी गणना उपांगोंमें की जाती है। मुम्बई यूनिवर्सिटीके पाठ्यक्रममें यह रक्खा गया था, उसीको लक्ष्यमें लेकर इसको संपादित किया गया है। सम्पादन सर्वाङ्गपूर्ण हुआ है। Introduction, मूलपाठ, वर्णकादि विस्तार, नोट, पूरा अंग्रेजी अनुवाद, और पीछे शब्दकोष भी दियागया

है। इस प्रकार विद्यार्थियोंके लिये सभी सुभीता कर दिया गया है।

रेवतीदान समालोचना—लेखक पं० शतावधानी मुनिश्री रत्नचन्द्रजी। हिन्दी अनुवादक पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल न्यायतीर्थ।

भ. महावीर एक बार बीमार हुए थे, उस समय रेवती बाईके यहाँसे आया हुआ भोजन लेनेसे उनका रोग शान्त हुआ था—श्वे० शास्त्रोंके इस वक्तव्य के विषयमें बहुत चर्चा चली थी। कुछ दिगम्बर पंडितों ने श्वेताम्बरोंको बदनाम करनेके लिये उन वाक्योंका ऐसा अर्थ किया था जिससे म० महावीर मांसभक्षी सिद्ध होते थे। इसके उत्तरमें यह पुस्तक लिखी गई है। लेखक महोदयने यह पुस्तक संस्कृत श्लोकोंमें टीकासहित लिखी थी। वह अनुवादसहित प्रकाशित हुई है। पीछेसे इस विषयकी प्रत्यालोचना रूप में लेखकका एक लेख और भी है छपाई, सफाई, अनुवाद आदि उत्तम है। मुनिश्रीने परिश्रम और विद्वत्तासे लेख लिखा है। इस विषयमें दिलचस्पी रखने वालोंको =)।के टिकट भेजकर श्वे० स्था० जैनवीर मंडल केकड़ी (प्रकाशक) से मँगा लेना चाहिये।

सत्यका बोलबाला—प्रकाशक, दुलीचन्द परवार जवाहिर प्रेस १६१.१ हरीसनरोड कलकत्ता। कलकत्तेकी दि० जैनसमाजमें एक सफल अन्तर्जातीय विवाह हुआ था। स्थितिपालकोंने इस धर्मानुकूल कार्यका भी विरोध किया और दोनों तरफ से पर्चाबाजी शुरू हुई। जब इस तरह पार न पड़ा तो स्थितिपालकोंने न्यायालयका द्वार खटखटाया और वहाँभी मामला हाईकोर्ट तक पहुँचा, जिसमें सुधारक पक्षवालोंकी विजय हुई। इस पुस्तकमें इसी बातका पूर्ण विवरण है। पढ़नेसे मालूम होता है कि मामला न्यायालयमें जाने लायक न था। इससे व्यर्थही दोनों तरफकी शक्ति बर्बाद हुई खैर, जो हुआ सो हुआ। अब दोनों दलोंको चाहिये कि प्रेम-व्यवहार चालू रक्खें, तथा जो लोग अन्तर्जातीय विवाहको धर्मानुकूल नहीं मानते वे प्रेमपूर्वक अपनी भूल सुधार लें।

जैनधर्म-प्रकाश—जैनधर्मप्रसारक सभा भावनगरका यह मुखपत्र है। इसके पचास वर्ष पूर्ण होगये हैं। ५१वें वर्षका यह पहिला अंक है जो कि सुवर्णमहोत्सव विशेषांकके रूपमें निकाला गया है। इस पचास वर्षकी उमरमें भी पत्रमें जवानी है, उत्साह है। इसीलिये तो यह इतना सुन्दर सचित्र स्वच्छ रूप दिखा सका है। इसके लेख भी विविध विषयके हैं और उनमेंसे अनेक पठनीय हैं। पत्रकी नीति प्रारम्भसे ही विचारक रही है। फिरभी यह पत्र इतनी उमर तक जिन्दा है, यह इस पत्र सञ्चालकोंकी महत्ताकी सूचक है। इसे इस पत्रका सौभाग्य कहना चाहिये। गुजराती जाननेवाले पाठकों को इससे लाभ उठाना चाहिये। इस शुभ अवसर पर हम इस वृद्ध वयके युवक पत्रको बधाई देते हैं।

पत्र-पेटी।

पूज्य पंडितजी! सविनय वंदे।

यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो 'अनेकान्त'की द्वितीय किरणमें श्रद्धेय नाथूरामजी प्रेमीका 'जैनधर्मका प्रसार कैसे हो' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ था, उक्त लेखमें श्री प्रेमीजीने जैनधर्मका प्रसार करनेके लिये ऐसे विद्वानोंकी आवश्यकता बतलाई, जो:

१—पूर्ण चारित्रवान हों, जिन्होंने धर्मको जीवनमें उतारनेकी चेष्टा की हो।

२—जिन्होंने भिन्न भिन्न धर्मोंका तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन किया हो—जो प्रत्येक धर्मके इतिहाससे पूर्ण जानकारी रखते हों।

३—जिन्होंने जैन धर्मके मर्मको समझा हो—जैनधर्मकी प्रत्येक शाखा और उसके मूल सिद्धान्तों पर खूब मनन किया हो।

४—विज्ञानकी आधुनिक मान्यताओंका जिन्हे काफी ज्ञान हो, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र से जिन्हें जानकारी हो तथा प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओंका जिन्होंने गंभीर अध्ययन किया हो।

५—जो अविश्रान्त परिश्रमी हो, वक्तृत्व और लेखनकलामे जो निष्णात हो।

प्रेमीजीके उक्त लेखने उस समय मेरे बालक हृदयमें एक अद्भुत कल्पनाको जन्म दिया था। उस समय ऐसा होना मेरे लिये एक प्रकारका स्वप्न अथवा सुदूर भविष्यमें घटनेवाली एक सन्देहात्मक घटना ही प्रतीत होती थी। आजतो मै आपके महान व्यक्तित्वके रूपमें अपनी इस कल्पनाको प्रत्यक्ष ही देखता हूँ। मुझे इसका हर्ष है, प्रसन्नता है।

आपकी, जैनधर्मको साम्प्रदायिकताके संकीर्ण क्षेत्रसे निकालकर व्यापक बनानेकी चेष्टा स्तुत्य है, प्रशंसनीय है, सराहनीय है। धर्मके मर्मको आपने खूब समझा है। आज हम साम्प्रदायिकतासे तंग आगये हैं। आपकी लेखमाला वर्तमान युगकी एक माँग है।

जिस निर्भीकता और निष्पक्षताका आप प्रदर्शन कर रहे हैं, वह तो अंधश्रद्धालु समाजके लिये एक असाधारण बात है। तर्क और श्रद्धाका अद्भुत समन्वय आपकी लेखमालामे एक महान वस्तु है।

आप द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक सिद्धान्त सत्य ही हो, यह तो मै नहीं कहता; न आप ही इसे माननेको तैयार होंगे, किन्तु आपकी लेखमालाका जो प्राण है वह तो धर्मका प्राण है। उसके बिना धर्म ज़िन्दा ही नहीं रह सकता। मुझे तो उसमे महान् सौन्दर्य और पवित्रताके दर्शन होते हैं।

—बसन्तकुमार जैन आगरा कॉलिज, आगरा।
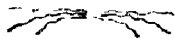
अमरोहा शास्त्रार्थ और मैं।

(ले०—श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी जैन, सभापति जैनसभा अमरोहा।)

अमरोहा शास्त्रार्थका आयोजन जैनसभा अमरोहाकी ओरसे इस मंशासे किया गया था कि जिज्ञासा भावसे उससे लाभ उठाया जाय जयपराजयका कोई विचार न रक्खा जाय। इसलिये इसका नाम शास्त्रार्थ नहीं, चर्चा रक्खा गया था। श्री० पं० दरबारीलालजी को निमन्त्रण दिया गया जिसकी स्वीकारता मिल गई। साथ ही पं० माणिकचन्दजी, पं० जुगलकिशोर जी पं० राजेन्द्रकुमारजी आदि कई विद्वानोंको भी निमन्त्रण दिया गया। खैर, चर्चा हुई और उसने कुछ शास्त्रार्थका रूप भी धारण किया। उसकी चर्चा प्रगट होचुकी है। उसमे यद्यपि पं० वंशीधरजीका पूर्णरूपसे पराजय हुआ तथापि पूर्व निर्णयानुसार सभाने इस विषयमें कोई घोषणा करना उचित न समझा। परन्तु कुछ भाइयोंके हृदय पं० वंशीधरजी की घोर पराजयसे इतने दुखित हुए कि दिल ठंडा करनेके लिये उनने मनघडंत रिपोर्ट प्रकाशित कराई और मंत्रीको हथियार बनाया। जब मुझे मालूम हुआ तो इस नाजायज़ कार्यवाहीका वक्तव्य द्वारा विरोध किया। वास्तवमे यह कार्यवाही नाजायज़ ही नहीं थी, बल्कि अन्यायपूर्ण भी थी। इसमें जीतको हार और हारको जीत बताया गया था। परन्तु मेरा न्यायोचित वक्तव्य उनको अच्छा न लगा और इस लिये मेरे ऊपर यह आरोप किया गया कि मै कल्पित सभापति हूँ! परन्तु इन सज्जनोंने बहुत कुछ अटशंट लिखकर भी यह न बताया कि आख़िर वास्तविक सभापति कौन है! उन्होंने दस्तखतोंमें उपसभापति, मंत्री उपमन्त्री आदि तो लिखे परन्तु सभापतिका नाम नदारद रहा। इतनाही नहीं उन लोगोंने उसी लेखमें मुझे कल्पित सभापति लिखनेके साथ यह भी लिखा कि "जिस समाजके आप सभापति हों जो समाज आपकी अबतक प्रतिष्ठा करती रही हो, उसीके सिद्धान्तोंको आप पददलित

करनेकी चेष्टा करें, इससे अधिक घोर विश्वासघात और क्या हो सकता है।" आपकेही इन शब्दोंसे मालूम होता है कि मैं समाजका सभापति भी हूँ, और समाज मेरी प्रतिष्ठा भी करता है। क्या यही मेरा कल्पित सभापतित्व है?

मै पिछले १५ वर्षोंसे यहाँकी सभाका सभापति हूँ। कई बार मैंने सभापति बननेसे इनकार भी किया और कहा कि अब किसी दूसरे सज्जनको मौका देना चाहिए। परन्तु सभाने मेरी एक न सुनी और मुझे ही प्रेम और आदरके दबावसे सभापति बनाये रखा। यहाँतक कि जब कुछ भाइयोंने यह एतराज उठाया कि पं० दरबारीलालजीको दिया गया निमंत्रण सभा की ओरसे न समझा जाय, तब मैंने ६ अप्रेलको अपने पदसे इस्तीफा दे दिया, जिसमें यह लिखा था कि इससे सभापतिका अपमान हुआ और सभापति का अधिकार छिनता है। बादमें ७ मईकी बैठकमें सभाने मेरे इस्तीफे पर विचार किया। उसमें मेरा अधिकार स्वीकार करते हुए इस्तीफा वापिस लेलेनेकी प्रेरणा की और अनिच्छापूर्वक मुझे सभापति बना रहना पड़ा। इसके बाद शास्त्रार्थके लिये आगत विद्वानोंकी सेवा सुश्रुषा, प्रबन्ध आदि मैंने सभापतिकी हैसियतसे किया। शास्त्रार्थके अंतमें सभापतिकी हैसियतसे मैंने ही सबको धन्यवाद दिया। इस बातको मेरे विरोधियोंने भी स्वीकार किया है। यह तो हुआ मेरा कल्पित सभापतित्व।

अब मध्यस्थताकी बात लीजिये। यह तो विरोधी स्वीकार करते ही हैं कि पहिले दिन कोई सभापति नहीं था, बाकी दो दिनके लिये बा० मूलचन्दजी सभापति बनाये गये थे। परन्तु उनको सिर्फ यही काम सौंपा गया था कि वे पाँच पाँच मिनिटके पश्चात् घंटी बजायेंगे। यह बात स्वयं मूलचन्दजी ने एक पर्चेमें (जो इस समय मेरे अधिकारमें है) नोट की है, जिसकी प्रतिलिपि इस प्रकार है:—

"12th May 1935.

Proceedings of informal Committee Jain Sabha, Jain temple. 11 P.m.

Mool Chand to act as President on both days 4 times, 13th & 14th May to ring bell every 5 minutes."

अनुवाद—

"१२ मई सन १९३५

जैनसभा जैनमन्दिरकी साधारण कमेटीकी कार्यवाही ११ बजे रात। दोनों दिन १३ व १४ मईको चार बार, हरपाँच मिनिट पश्चात घंटी बजानेके लिये मूलचन्द अध्यक्षका काम करे।"

मध्यस्थका काम निर्णय देना होता है, सो यहाँ तो कोई मध्यस्थ बनाया नहीं गया। अगर किसी को मध्यस्थ बनाया होता तब तो दोनों पक्षोंसे स्वीकृति उनकी आवश्यकता पड़ती, क्योंकि जब तक वादी प्रतिवादी किसीको मध्यस्थ स्वीकार न करलें तबतक कोई मध्यस्थ कैसे बन सकता है? पं० दरबारीलालजीको न इसकी कोई सूचना दी गई, न शास्त्रार्थके अवसरपर कोई चुनाव वगैरह किया गया। पं० दरबारीलालजीको तो तीनो दिन यह पता न था कि यहाँ कोई मध्यस्थ या सभापति भी है। इतने पर भी ये कल्पित मध्यस्थ नहीं हैं तो और क्या है?

अब मंत्रीके अधिकारकी बात लीजिये। साधारण रिवाज और न्याय यह है कि मंत्री सभापतिकी रायसे काम करे। अभीतक यहाँ भी यही होता आया है। मेरी आज्ञाके विरुद्ध मंत्रीने कभी कोई रिपोर्ट नहीं भेजी; परन्तु यहाँ यही किया गया, और वह भी अधिकारके बाहर। मंत्री, शास्त्रार्थका मंत्री था या सभाका मंत्री था? क्या शास्त्रार्थके लिये मंत्रीका चुनाव हुआ था। यदि नहीं, तो उसे शास्त्रार्थका मंत्री बननेकी क्या जरूरत थी? अन्यथा, फिर सभा का सभापति भी शास्त्रार्थका सभापति बना रहेगा। दूसरी बात यह है कि शास्त्रार्थके लिये सभापति, मंत्री आदि कितने ही पदाधिकारियोंका चुनाव क्यों न किया जाता, परन्तु उन सबका काम सिर्फ यही था कि वे शास्त्रार्थकी रिपोर्ट जैनसभाके ऑफिसमें उप-

स्थित करते, फिर सभा उसपर विचार करके कार्यवाही करती। परन्तु यहाँ तो मंत्री, शास्त्रार्थ और जैनसभाका डिक्टेटर बनकर काम कररहा है, और वह भी अन्यायपूर्ण। तीसरी बात यह है कि शास्त्रार्थकी रिपोर्ट भेजना चाहिये थी, जिसमें प्रबन्धका और शास्त्रार्थका विवरण होता, हार जीतका निर्णय नहीं। और वह निर्णय भी सर्वथा असत्य न देना चाहिये था। खैर, पाठक समझ गये होंगे कि इस विषयमें कुछ लोगोंने दिलके फफोले फोड़े हैं; सभाका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। विरोधी मित्रों का कहना है कि "सभा मौन है या अमौन, इस विषयका सभाने कोई निर्णय ही नहीं किया।" परन्तु मित्रो! यही तो सभाका मौन है। शास्त्रार्थका निश्चय तो मौन और अमौनके निश्चयके बाद ही होगा। जब मौन अमौनका ही निश्चय नहीं, तब तो यह महामौन कहलाया।

रहा हल्के और भारी पल्लेकी बात। इस विषय में मैं अभी तक इसलिए चुप रहा कि "हाथ कङ्कण को आरसी क्या है?" शास्त्रार्थ सारा छपा हुआ है। वही हल्के और भारी पल्लेकी कसौटी है। जिनने शास्त्रार्थ सुना है और देखा है, उनकी छातीपर हाथ रखकर पता लगाओ तो सब मालूम हो जायगा। मुझे खेदपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि पं० वंशीधरजीके इस प्रकार भयंकर पराजयकी किसीको स्वप्नमें भी आशा नहीं थी। जो प्रश्नका उत्तर देना तो दूर, परन्तु उसे छूते भी डरे और प्रश्नसे दूर भागता फिरे, वह विजयके योग्य तो क्या, शास्त्रार्थके योग्य भी नहीं है। जरा बा० मूलचन्दजी कहें कि जब अन्तिम दिन मुक्तिके विषयमें पं० दरबारीलालजीने अपना प्रश्न रक्खा था उस समय पं० वंशीधरजी 'आप मुक्ति मानते हैं कि नहीं' आदि बातोंके सिवाय और क्या कह पाये थे? और आपको स्वयं मंजूर करना पड़ा था कि—जब पं० वंशीधरजी उत्तर ही नहीं देते तब चर्चासे क्या फ़ायदा? जब पं० दरबारीलालजी प्रश्न पूछनेवाले थे और आपके ही शब्दोंमें पं० वंशीधरजी उत्तर नहीं दे रहे थे, तब पल्ला किस का भारी रहा?

इतनी साफ बात होने पर भी पक्षपातवश उल्टे गीत गाए जाते हैं, यह शर्म और विश्वासघातकी बात तो जरूर है, परन्तु इससे विरोधियोंको लाभ कुछ नहीं है। राजा वसुने नारदके पक्षको असत्य कह दिया, इससे नारदका पक्ष असत्य तो न हुआ, परन्तु वसुको फिर झूठ बोलनेका भी मौका न मिला। जीवनमें ऐसे मौके बार बार नहीं आते, और इस मौकेपर मनुष्य जैसा परिचय देता है उसीके अनुसार वह अजर अमर होता है। मैं मानता हूँ कि पं० दरबारीलालजीके क्रान्तिकारी विचार हरएक आदमी जल्दी नहीं पचा सकता—जन्मके संस्कार उसमें बाधा डालते हैं, अभिमान व अहङ्कारको भी क्षति पहुँचती है। इससे उनके विचारोंको न अपनाएँ तो भले ही न अपनाएँ, परन्तु—तर्कके क्षेत्रमें उनके विचारोंकी विजय हुई—इस अप्रिय सत्यको हमें ईमान के खातिर स्वीकार करना ही चाहिए। इसीलिए पं० वंशीधरजी भी पहिले और जाते समयतक अनेक बार यही कहते रहे कि भले ही सर्वज्ञता आदि को हम युक्ति आदिसे सिद्ध न कर सकें, परन्तु हमें पूर्ववत दृढ़ बने रहना चाहिए। सो उनकी सलाहके अनुसार दृढ़ रहिए, परन्तु—पं० दरबारीलालजीके विचार तर्कसिद्ध हैं—इस स्पष्ट और निर्विवाद बात को अस्वीकृत क्यों करते हो? सत्य और न्यायका गला दबानेकी चेष्टा क्यों करते हो?

अब रह गई मेरे सभापति रहनेकी बात, सो मैं कई बार स्तीफा देचुका हूँ। १५ वर्षसे सभापतित्व का स्वाद चखते चखते अब मुझे उसमें कोई स्वाद नहीं आ रहा है। जो उस पदके भूखे हों वे जरूर उसका स्वाद लें। मैं तो धन्यवादपूर्वक उस पदका त्याग कर दूँगा। परन्तु यह कहना कि मैं विश्वासघात करता हूँ, भूल है। सभापतित्व मैंने समाजकी सेवाके लिए लिया था, न कि गुलामीके लिए। इस-

प्रेमीजीके अनुभव।

[श्रद्धेय श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमीके प्रवासके अनुभव, १–नवयुवक दल; २–स्त्रीसमाज शीर्षकसे इसी वर्षके १४वें अङ्कमें प्रकाशित हुए हैं। पाठकोंके लिये इन्हें विशेष उपयोगी जानकर प्रेमीजीको अपने अनुभवोंका विशद विवरण लिखनेके लिये अनुरोध किया गया था। हर्ष है कि उन्होंने अनुरोध स्वीकार कर इस अङ्कके लिये निम्नलिखित अंश भिजवाया है। —प्रकाशक।]

लिए मैं समाजको वही दूँगा जिसे सत्य और कल्याणकारी समझूँगा। अगर किसी परम्पराकी गुलामी करनी होती तो जन्मगत सम्प्रदायको ही क्यों त्याग करता? जैनधर्म क्यों अपनाता? जैनधर्मको मैंने २१ वर्ष पहिले वैज्ञानिक सत्यधर्म समझ करके ही अपनाया और मैंने इसीलिए कट्टरतासे उसका पालन किया। उसकी रक्षाके लिए मैंने तन मन धन सब कुछ लगाया। पं० दरबारीलालजीके विरोधके लिए भी अभी कलतक मैं प्रयत्न करता रहा हूँ। उनके विरोधके लिए 'जैनदर्शन'के प्रकाशनके लिये मैंने खतौलीमें जोर दिया था, शक्त्यनुसार १००) की सहायता भी दी थी। तब मैं पं० दरबारीलालजीके साथ पक्षपात करूँ और समाजके साथ विश्वासघात करूँ, यह नहीं होसकता। फिर भी अगर विरोधी मुझे पं० दरबारीलालजीका पंथानुगामी समझते हैं तो वे दूसरे ढंगसे पं० दरबारीलालजीकी विजयका डङ्का बजाते हैं।

अन्तमें मैं कहना चाहता हूँ कि विरोधी मित्र कैसे ही विचार रखें, वे स्वतन्त्र हैं, परन्तु अमरोहा समाजने जो उदारतापूर्ण निष्पक्ष आयोजन किया था और उसमें वह सफल भी हुआ तो उसके नाम झूठी बातें लिखकर अमरोहा समाजके यशको बर्बाद न करें, उसके नामको कलङ्कित न करें।

नोट—ता० ११ जुलाई को साहुजीने सभापति पदसे त्यागपत्र दे दिया था किंतु सभाने उसे स्वीकार न किया। सदस्योंके विशेष आग्रह व अनुनय विनय करनेपर उन्हें अपना त्यागपत्र वापिस लेना पड़ा।

—प्रकाशक।

३—बदनाम जैनसमाज।

गुजरातमें जैनसमाज और जैनधर्मके प्रति जो सम्मानकी भावना है उससे ठीक उलटी भावना सागर, जबलपुर, दमोह आदिके अपने इस भ्रमणमें मैंने देखी। यहाँके सर्वसाधारण लोगोंकी दृष्टिमें, जैनधर्मके माननेवाले अत्यन्त स्वार्थसाधु और दूसरेके किसी काममें न आनेवाले प्राणी हैं। वे मन्दिर बनवाते हैं—चाहे उनकी जरूरत हो या न हो—अपने लिये, प्रतिष्ठायें करवाते हैं—अपना नाम करने और अपने भाइयोंको भोजन करानेके लिये, पाठशालायें खोलते हैं—अपने बच्चोंको पढ़ानेके लिए, धर्मशालायें बनवाते हैं—जैनोंके ठहरनेके लिए, पत्र निकालते हैं—जैनसमाजके लिए, और बिना औलाद मर जाते हैं—जैनमन्दिरोंकी जायदाद बढ़ानेके लिए। वे धन कमाते हैं सर्वसाधारणसे, अपनी जरूरतें पूरी करते हैं सर्वसाधारणसे, और जीते मरते हैं केवल अपने लिए और अपनी जातिके लिए। उनकी नजरमें उन्हें छोड़कर सारा संसार मिथ्याती—काफिर है और इसलिए उसके लिए कुछ करना एक तरहसे मिथ्यात्वका पोषण करना है। ऐसी दशामें यदि लोगोंकी उपर्युक्त भावना बन जावे, तो यह बिलकुल स्वाभाविक है।

अभी तक इस देशमें ब्राह्मणोंका प्रभाव काफ़ी है, चाहे वे कितने ही स्वार्थसाधु और पतित हों। उन्हें जैनसमाजसे बिलकुल प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि वे अपने जन्म-सगाई-विवाह-मृत्यु आदि संस्कारोंमें उन्हें नहीं बुलाते—नहीं पूछते। किसी भी अवसर पर उन्हें दक्षिणा नहीं मिलती। ऐसी दशामें यदि

वे जैनधर्म और जैनोंके विरोधी हों, और जिन लोगों पर उनका प्रभाव है, उन्हें भी विरोधी बना दें, तो कोई आश्चर्य नहीं। इससे भी उक्त प्रदेशमें जैन-समाज बदनाम हो गया है।

अन्य प्रान्तोंमें जैनोंका अजैनोंके साथ भी भोजन-पानका सम्बन्ध है और इसलिए वहाँ परस्पर के सम्बन्ध कुछ विशेष घनिष्ट हैं, एक दूसरेके प्रति सहानुभूति भी है। परन्तु इधरके जैन दूसरोंसे सर्वथा अलग हैं—वे किसीके भी साथ नहीं खाते पीते। खान-पानके सम्बन्धमें उनकी कट्टरता इतनी बढ़ी हुई है कि अजैन तो क्या, अपने ही धर्मके माननेवाले बिनैका या दस्सा भाइयोंके साथ खाने-पीनेमें भी उनका धर्म चला जाता है। श्वेताम्बर भाइयोंके साथ भी वे नहीं खाते पीते।

अन्य प्रान्तोंमें ब्राह्मणोंके हाथकी बनाई हुई कच्ची-पक्की रसोई चलती है; परन्तु इधर वह भी निषिद्ध है। ब्राह्मणोंको यहाँ बिलकुल 'अर्द्धचन्द्र' मिला हुआ है, और इसलिए ये 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः' और उनके अनुयायी इधरके जैनोंको यदि फूटी आँख न देख सकें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

सागर ज़िलेमें टंड़ा एक मामूलीसा गाँव है। वहाँ जैनोंके लगभग ४० घर हैं और ६ विशाल मन्दिर हैं। वहाँ पानीका बड़ा कष्ट था। गर्मियोंके दिनोंमें स्त्रियाँ आधी रातको उठ उठकर कुओंसे पानी लाती थीं, फिर भी वह यथेष्ट नहीं मिलता था। अधिकांश लोगोंको नदीके अस्वास्थ्यकर पानीसे गुज़र करनी पड़ती थी। गाँव पठारपर बसा हुआ है, थोड़ी ही जमीन खोदनेपर पत्थर निकल आते हैं, इसलिये मामूली खर्च और परिश्रमसे वहाँ कुएँ नहीं बन सकते। फिर भी जिन लोगोंने छह छह मन्दिर बनवाये, हजारों लाखों खर्च करके प्रतिष्ठायें करवाईं, उनके लिए एक अच्छा कुआँ या बावड़ी बनवाना एक बिलकुल मामूली बात थी। परन्तु कुएँ-बावड़ी बनवानेमें उनकी समझके अनुसार कोई धर्म ही नहीं—बल्कि आरम्भजनित अधर्म है! तब वे इस ओर क्यों ध्यान देने लगे? भला हो, सेठ वंसीलाल अबीरचन्दजीका—जिनकी कि वहाँ कोठी है—पिछले वर्ष लगभग डेढ़ दो हजार रुपया लगाकर उन्होंने एक अच्छी बावड़ी बनवा दी है, जो बस्तीके बिलकुल समीप है, और जिसमें सदा जल बना रहता है। बावड़ीके आसपास वे एक अच्छा बगीचा भी बनवा रहे हैं जिससे उसकी शोभा और भी बढ़ जायगी। मैंने वहाँके कुछ जैनभाइयोंके सम्मुख जब कहा कि इन छह मन्दिरोंकी जगह एक ही मन्दिर होता और आप लोग शेष पाँचके बदले एक ऐसी बावड़ी बनवा देते, तो आपके समाजकी और आपके धर्मकी प्रभावना दूसरोंकी नज़रमें अनेकगुनी हो जाती, तो उन्हें कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ—यद्यपि वे कुछ उत्तर न दे सके।

इस अर्थ-प्रधान ज़मानेमें धनके अनुपातमें लोगोंकी प्रतिष्ठा कम ज्यादा होती है; परन्तु इस प्रान्तके जैनसमाज पर शायद यह नियम लागू नहीं होता। शहरोंके रहने वाले कुछ लोगोंको छोड़कर यहाँके अधिकांश धनियोंकी जनसाधारणमें कोई इज्ज़त नहीं—वे बनियाँ बक्काल कहलाते हैं। उनका रहन-सहन, वेष-भूषा और व्यवहार इतना थर्ड-क्लास है, कंजूसी इतनी बढ़ी चढ़ी है, आत्मसम्मान का इतना अभाव है, मान-अपमान उनकी नज़रमें इतनी छोटी चीज़ है कि एक मामूलीसे मामूली आदमी उनको धकिया देता है, दस रुपयेका चपरासी उन्हें सीधी गालियाँ सुना देता है।

यहाँकी ज़िलों और तहसीलोंकी कचहरियोंमें आप जाइए, अधिकांश मुकद्दमे जैनोंके मिलेंगे। झूठी दस्तावेजें बनाना, झूठी गवाहियाँ देना-दिलाना, गरीब किसानोंका अन्तिम रक्तबिन्दु तक चूस लेना, उनके घरद्वार बिकवा लेना, ये सब इनके नित्यके काम हैं; और ऐसी दशामें हम सोच सकते हैं कि इनके प्रति सर्वसाधारणके कैसे भाव होंगे।

यहाँके धनियोंकी खर्चकी जितनी मदें हैं, उनमें सबसे बड़ी मद मुकद्दमेबाज़ी की है; और यह उनकी

एक आदतमें दाखिल होगई है। केवल लेन-देनके ही नहीं, दूसरे आपसी वैर-विरोधके, जाति-बिरादरीके, मार-पीटके, दायभागके, अनाचार, भ्रूणहत्या, गर्भपात आदिके मुकद्दमे भी उन्हें तबाह करते रहते हैं और शायद इसीलिए उन्हे अन्य कामोंमें खर्च करनेकी गुञ्जाइश ही नहीं रहती है।

एक धनीको मैं जानता हूँ जिन्होंने एक बार काममें आये हुए एक आनेके रेविन्यू-स्टाम्पको निकालकर दूसरे हैंडनोटमें उपयोग कर डाला। फल यह हुआ कि पुलिसने उनपर मुक़द्दमा चला दिया और लगभग एक हज़ार खर्च करने पर वे अपनी इज्ज़त बचा सके। एक और सज्जनने एक जाली दस्तावेज बनाई और उसपर उन्हे दो तीन हज़ार रुपये न्योछावर कर देने पड़े। एक बलात्कारके मामलेमें एक धनीका लड़का फँस गया, जिसे हज़ारों रुपये खर्च करनेपर भी कई महीने जेलकी हवा खानी पड़ी। एक ज़मींदारने कुछ वर्ष पहले अपने एक आसामीसे रुपये वसूल करनेके लिए उसे गर्म-शिला पर खड़ा करके बहुत तङ्ग किया था। रुपये तो वसूल नहीं हुए, हाँ, पुलिसके चक्करमें आकर सिंघईजीने उससे और दूसरोंसे खाये हुए हज़ारों उगल दिये! यह कह देना और आवश्यक है कि ये सब जैनसमाजमें सम्मानित धर्मात्मा हैं, इनके बनवाये हुए मन्दिर हैं, ये दर्शन-पूजन बिला नागा करते हैं और भक्ष्याभक्ष्यके विवेकमें किसीसे एक क़दम भी पीछे नहीं!

जनसाधारणकी सहानुभूतिसे ये लोग अपने मामलोंके कारण इतने वंचित हैं कि ऐसे झगड़ोंमें फँसजाने पर जहाँ दूसरे लोग पचास रुपयोंमें उद्धार पालेते हैं, वहाँ इन्हें पाँचसौ खर्च करने पड़ते है! लोग ताकतेही रहते हैं कि ये कब दावमें आते हैं।

मन्दिर-प्रतिष्ठाओंसे हटकर अभी अभी कुछ शहरोंके जैन भाइयोंका ध्यान सार्वजनिक कामोंमें धन लगानेकी ओर गया है, जिसके फलस्वरूप कुछ शहरोंमें जैन औषधालय स्थापित हुए हैं, जिनके द्वारा जनसाधारणको मुफ्त दवाइयाँ मिलती हैं। इसका प्रभाव भी अच्छा पड़ा है। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। जिन्हे जैनसमाजकी पूर्वोक्त अप्रतिष्ठा-बदनामी खलती है, जो उसे आदर्श और सम्माननीय समाजके रूपमें देखना चाहते हैं, उन्हें चाहिये कि वे इस ओर ध्यान दें और केवल जैन समाजके लियेही नहीं, जनसाधारणके लिये भी अपने भाइयोंको उदार बननेके लिये प्रेरित करें। हम जनसाधारणसे जुदा नहीं हैं, जब हम उनमें रहते हैं, उनके सुख दुख हमारे सुख दुखोंसे भिन्न नहीं हैं, उनसे लेन-देन करते है, उनसे हिलते मिलते हैं, तब यह हो नहीं सकता कि हम उनसे सब कुछ लेतेही रहें, देवें कुछ नहीं। हम क्यों न सर्वसाधारणके लाभके लिये सार्वजनिक पुस्तकालय, वाचनालय, व्यायामशालायें, रात्रिशालायें खोलें, सेवा-समितियाँ स्थापित करें, धर्मशालायें बनवायें, जहाँ जल-कष्ट हो वहाँ कुएँ बावड़ी बनवायें, प्याऊ लगवायें, ग़रीबोंको मदद दें, रोज़ी दें, अनाथ विधवाओंकी रक्षा करें? इस प्रकारके और भी अनेक काम हैं जिनमें धनका सदुपयोग होसकता है। क्या समाज-सेवा या जनसाधारणकी सेवा कोई धर्म नहीं है? और यदि ये काम धर्म नहीं हैं, तो जैन समाजको क्या हक है कि वह लोगोंसे किसी प्रकारके सम्मानकी या सहानुभूतिकी आशा करे? फिर उसे अपने ही लोगोंकी वाहवाही और नामवरीसे सन्तुष्ट रहना चाहिये।
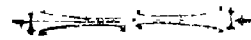
आवश्यकता।

अन्तर्जातीय विवाहके लिये एक सुयोग्य कन्या की आवश्यकता है। वर महाशयकी उमर ३४ वर्ष की है। वे प्रतिष्ठित विद्वान् है, स्वस्थ हैं, विधुर हैं, निःसन्तान हैं २००) मासिककी आमदनी है। पत्र-व्यवहार पूर्ण विवरण-सहित इस पतेपर किया जाय।

—सम्पादक सत्यसन्देश
जुबिलीबाग तारदेव बम्बई।

जैनसभा अमरोहाका निर्णय।

ता० ११ जुलाई सन् १९३५ ई० (वृहस्पतिवार) को श्री जैनमन्दिर मुहल्ला कोटमें श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजीके सभापतित्वमें जैनसभा अमरोहा की स्पेशल मीटिंग हुई जिसमे लगभग समस्त सदस्य उपस्थित थे। अन्य कई जैन महानुभाव भी (जो सभाके सदस्य नहीं थे) कार्यवाही देखनेके लिये आये थे। मंगलाचरणके पश्चात् रात्रिके ९॥ बजे सभाका कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ सदस्योंने यह प्रयत्न किया कि कुछ भी कार्यवाही न होसके; वे प्रस्तावों व तजवीजों पर राय लेनेमें भी अड़चनें पेश करते थे, परन्तु वे सफल न होसके। कुछ गड़बड़ी भी की गई।

मंगलाचरणके पश्चात सभापति महोदयने मंत्रीवर्गको अपना आसन ग्रहण करनेके लिये कहा। तदनुसार ला० भोलानाथजी जैनने मंत्रीका स्थान ग्रहण किया भी, मगर आप कोई भी रजिस्टर आदि नहीं लाए थे। इसपर सभापति महोदयने कहा कि-रजिस्टर आदि कहाँ हैं ? पहिले आप उन्हें लाइये। इस पर उन्होंने उत्तर दिया कि मैं नहीं ला सकता। सभापति महोदयने पूछा कि–आप क्यों नहीं ला सकते ? इसपर वे बोले कि–मैं इस समय इस प्रश्नका उत्तर नहीं देसकता। सहमंत्रीसे जब रजिस्टरआदि लानेको कहा गया तो उन्होंने कहा कि वे सब मंत्री महोदय के अधिकारमें हैं। तत्पश्चात् सभापतिजीने उनसे कार्यवाही न लिखाकर स्वयं ही लिखी। जब प्रस्ताव नं० (१) पर सम्मतियाँ ली जाने लगी तो बीचमें एक गैरसभासद महोदयकी सम्मति न ली जानेपर ला० भोलानाथजी जैनने कहा कि-ता० २० मईको मेरी स्वीकृतिसे ६ महानुभाव सभाके सदस्य बने हैं, जिनमें एक ये भी हैं, अतः इनकी राय अवश्य ली जानी चाहिये। इस पर सभाने वादविवादके पश्चात बहुसम्मतिसे यह निर्णय किया कि वे सदस्य नाजायज होनेसे सभाको मान्य नहीं हैं, अतः उनकी राय नहीं मानी जा सकती।

इसपर वे महानुभाव जो इस निर्णयके विरोधी थे, सभासे उठकर चले गए। सभा बराबर होती रही और वादविवादके पश्चात क्रमशः निम्नलिखित प्रस्ताव बहुसम्मतिसे स्वीकृत हुए:—

प्रस्ताव—

(१) अभी जो सभापति महोदयने ता० ९ व १० जूनको मंत्रीजीको दियेगए पत्र पढ़कर सुनाए हैं, तथा ता० १९ जूनको जो सभाके कार्यालयका उसी दिन निरीक्षण करनेके लिये सूचित किया था, उन सबके सम्बन्धमें सभापतिजीका यह कहना कि मन्त्रीवर्गने कोई कार्यवाही नहीं की, सभाको यह पास करनेके लिये विवश करता है कि जबतक वे इन सब बातोंका संतोषजनक स्पष्टीकरण सभाके सन्मुख न रखदें, तबतक सेठ रामरतनलालजीको मन्त्री पदका उत्तरदायित्व सौंपा जाय और इस बीचमें वे मन्त्रीवर्ग (ला० भोलानाथजी व ला० मंगलसेनजी) जो कार्यवाही करें, उसका सभासे कोई सम्बन्ध न समझा जाय।

प्रस्तावक—लाला बाँकेलालजी जैन

अनुमोदक–१–लाला कुंजबिहारीलालजी जैन, २–बा० रघुवीरशरणजी जैन।

प्रस्ताव (२)—यह जैनसभा अमरोहा प्रस्ताव करती है कि ता० २२ मईके 'जैनगजट' में जो ला० भोलानाथजीकी रिपोर्ट तथा बा० मूलचन्दजीका रिमार्क प्रकाशित हुए हैं, वे सभासे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अतः सभा उनको व्यक्तिगत क़रार देकर घोषणा करती है कि वे अमरोहा जैनसभाकी ओर से न समझे जावें।

प्रस्तावक—ला० चाँदबिहारीलालजी जैन।

अनुमोदक—ला० सिपाहीलालजी जैन, ला० कुँजबिहारीलालजी जैन, सेठ रामरतनलालजी जैन।

प्रस्ताव (३)—यह जैनसभा अमरोहा प्रस्ताव करती है कि 'जैनमित्र' व 'जैनगजट' में सभापति

रहस्योद्घाटन ।

पं० वंशीधरजी और जैनसमाज अमरोहा ।

२६ जूनके 'जैनगजट' में श्री० पं० वंशीधरजी (शोलापुर) ने श्री० साहु रघुनंदनप्रसादजी सभापति जैनसभा अमरोहाके सम्बन्धमे अंटसंट लिखनेका कष्ट उठाया है जो कि उनके लिए स्वाभाविक ही है। लीपापोतीके जोशमें आकर एक स्थल पर आपने भोलेपनसे निम्नलिखित वाक्य भी लिख डाले हैं:—

"जिस समय गजटमें प्रकाशनार्थ वहाँकी घटना लिखी गई, उस समय बा० मूलचन्दजी साहब अध्यक्ष शास्त्रार्थ और बा० भोलानाथजी सैक्रेटरी एकत्र जमा थे और रिपोर्ट लिखी गई थी। आप श्री० (साहु साहब) उस दिन (ता० १७ मई १९३५ ई० शुक्रवार) अमरोहामें उपस्थित नहीं थे और गजटमें प्रकाशनार्थ रिपोर्ट भेजनेमें उस दिन देरी की जाती तो ठीक आगामी अंकमें (२२ मईके अङ्कमें) रिपोर्ट प्रकाशित न होपाती। बस, इसीलिए आपकी अनुपस्थितिमें रिपोर्ट छपने चली गई। फिरभी बा० भूषणशरणजी जो कि बड़े समझदार और निष्पक्ष महाशय हैं, वे वहाँ मौजूद थे। और भी एक दो भाई थे।"

पण्डितजीकी उपरोक्त बातसे स्पष्टतः सिद्ध है कि—

(१) रिपोर्ट पण्डित वंशीधरजीके सामने ही

महोदयके खिलाफ चन्द व्यक्तियोंने जो लेख प्रकाशित कराए हैं, वे गैरक़ानूनी व नाजायज़ तो हैं ही, साथही निर्मूल व मिथ्या आक्षेपोंसे भरे हुए हैं। उन व्यक्तियोंने द्वेषवश सभापति महोदयपर झूठा लांछन लगानेका जो प्रयास किया है, उसको सभा अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती है और उन लेखोंको झूठा व नाजायज़ क़रार देती है। साथही, सभापति महोदय में अपना पूर्ण विश्वास प्रकट करती है।

प्रस्तावक—सेठ रामरतनलालजी जैन।

अनुमोदक—लाला चाँदबिहारीलालजी जैन, लाला सिपाहीलालजी जैन।

प्रस्ताव(४)—यह जैनसभा अमरोहा प्रस्ताव करती है कि ता० १२ जूनके 'जैनमित्र' व ता० १९ जूनके 'जैनगजट' में जो २४ हस्ताक्षरों सहित 'जैनसभा अमरोहाके कल्पित सभापति रघुनन्दनप्रसादजीकी अनधिकार चेष्टा' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, वह मिथ्या, निर्मूल व भद्दे आक्षेपोंसे भरा हुआ है; साथ ही वह गैरक़ायदे भी है। सभा उस लेखको अत्यन्त घृणाकी दृष्टिसे देखती हुई यह घोषणा करती है कि उस लेखको बिल्कुल झूठा समझा जाय। साथही सभा उन महानुभावोंसे अनुरोध करती है कि वे सभापति महोदयसे क्षमा माँगते हुए उस लेखको वापिस लें।

प्रस्तावक—सेठ दुर्गादासजी जैन।

अनुमोदक—ला० नेमिचन्दजी जैन, ला० रामरतनलाल जैन, ला० बाँकेलालजी जैन।

प्रस्ताव (५)—यह जैनसभा अमरोहा प्रस्ताव करती है कि जबतक सभाकी परिस्थिति ठीक न होजाय तब तक सभापति महोदयकी अनुपस्थितिमें तथा उनकी अनुमतिके बिना कोई भी मीटिंग न की जाय।

प्रस्तावक—ला० सिपाहीलालजी जैन।

अनुमोदक—ला० चाँदबिहारीलालजी जैन, ला० कुंजबिहारीलाल जैन।

प्रेषक०—रामरतनलाल जैन मंत्री जैनसभा अमरोहा।

लिखी गई थी ।

(२) रिपोर्ट लिखे जानेके समय स्थानीय तीन चार व्यक्ति ही उपस्थित थे ।

(३) जैनगजटके ठीक आगामी अंकमें प्रकाशनार्थ पण्डित वंशीधरजीने ता० १७ मईकी रिपोर्ट भेजी या भिजवाई ।

बात यह है कि सचाई कितनीही क्यो न छिपाई जाय, कभी न कभी वह प्रकट हो ही जाती है । यहाँ तो वह दिगम्बर बनकर खड़ी होगई है । पण्डित वंशीधरजीने अमरोहामें जो रिपोर्ट लिखानेकी गुप्तरूपेण कारस्तानी की थी, उसका रहस्य १ जुलाईके "सत्यसंदेश" में "विरोधियोंकी लीलाएं" शीर्षक लेखमें मैं विस्तारसे खोलचुका हूँ । सौभाग्यसे पंडितजीने स्वयं उस रहस्यको खोलनेकी बहादुरी दिखलाई है जिसके लिए मैं पंडितजीका बहुत कृतज्ञ हूँ ।

पाठकोंको विदित होगया होगा कि ता० १७ मई को श्रीमान साहु रघुनन्दनप्रसादजीकी अनुपस्थितिमें पंडित वंशीधरजीने अपने ठहरनेके स्थान पर लाला भोलानाथजी (रिपोर्टर महोदय) बाबू मूलचन्दजी (रिमार्कर महोदय) व लाला भूषणशरणजी (कुछ नहीं) द्वारा यह सारी कारस्तानी कराई थी । कर्त्ताधर्त्ता व लेखक महाशय लाला भूषणशरणजी थे, जो कि पं० वंशीधरजीके खुशामदाना स्वभावके अनुसार 'एक बड़े समझदार व निष्पक्ष महाशय' हैं । आप जैसे समझदार व निष्पक्ष हैं, यह तो उन्हें जाननेवाले खूब जानते हैं, मगर यहाँ तो मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि उनकी उपस्थिति समाजकी दृष्टिमें एक साधारणसे साधारण व्यक्तिकी उपस्थिति से अधिक महत्त्व नहीं रखती है । पंडित वंशीधरजी केवल इन तीन महानुभावोंके निर्णयस्वरूप रिपोर्ट को जानबूझकर अपनेको महत्त्वशाली दर्शानेके लिए 'अमरोहा सभा व समाजका निर्णय' कहते हैं, जो कि कोरा सफेद झूठ है । पंडितजीको विदित हो कि जिस समय उनके अपटूडेट (?) जैनगजटमें प्रकाशित रिपोर्ट व रिमार्क स्थानीय कुछ भाइयोंने पढ़े तो उन्हें बड़ा दुःख व आश्चर्य हुआ, जिसके फलस्वरूप ८-१० महानुभावोंने प्रस्ताव द्वारा सभापति महोदयसे प्रार्थना की कि उसका आवश्यक प्रतिवाद किया जाय । तदनुसार सभापति महोदयने अपना वक्तव्य पत्रोंमें प्रकाशनार्थ भेजा । पंडितजी देखें कि उधर तीन और इधर ८-१० की संख्याएँ कितनी मजेदार हैं ।

अमरोहा सभा व समाजका एक सदस्य होनेके नाते मैं पंडित वंशीधरजीसे कहूँगा कि आप अपने दो तीन अनुयायियोंके निश्चयको सारी पंचायतका निश्चय कहकर उसे अपमानित करनेका दुःसाहस न करें तथा अपनी ओरसे अमरोहा पंचायतके सम्बन्ध में मनमानी अंटसंट समालोचना करनेका कष्ट भी न उठाएँ । आपने जो यह लिखा है कि पंडित दरबारीलालजीको अमरोहा सभाने निमंत्रित नहीं किया था, वह आपने किस आधारसे और किस अधिकार से लिखा है ? आपने दो तीन धर्मात्मा बन्धुओंके कहनेके अनुसारही आप अमरोहा सभा पर टिप्पणी करने लगजाते हैं, जो कि सर्वथा असह्य है ।

पंडितजीको मालूम होना चाहिए कि पं० दरबारीलालजीको जैनसभा अमरोहाने निमंत्रित किया था, और आपको सभाने निमंत्रित नहीं किया था । अबतक तो मैं साधारणतः यही लिखता रहा कि आप निमंत्रण पर पधारे, क्योंकि मैं आपको अपमानित नहीं करना चाहता था, परन्तु अब चूँकि आपने अपने स्वभावानुसार पं० दरबारीलालजीको अपमानित करनेकी पूरी चेष्टा की है, अतः मैं सच्ची बातें खोलकर आपकी आँखोंके आगे रख देना चाहता हूँ ।

श्रीमान् पं० दरबारीलालजीके यू०पी० भ्रमणके समाचार जानकर श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापति जैनसभाने पंडितजीको अपने अधिकारसे सभाकी ओरसे निमंत्रित किया । पं० वंशीधरजीके द्वारा 'धर्मात्मा' की पदवीप्राप्त कुछ लोगोंने धर्मका भय दिखाकर, पं० दरबारीलालजीको एक भयङ्कर धर्मशत्रु बतलाया, और उनका कल्पित फोटो खींचकर

सभाको डराया धमकाया। अतः सभाने उनके गलत व झूठे प्रभावमें आकर इसका विरोध किया, जिस पर उदार सभापति महोदयने सभापति-पदसे इस्तीफा देदिया। अन्तमें सभाने सभापति महोदयका इस्तीफा अस्वीकार करते हुए उनके अधिकारका सर्वसम्मति से अनुमोदन किया। अतः स्पष्ट है कि पं० दरबारीलालजी सभा द्वारा निमंत्रित किए गये थे। साथही सभाने ता० १४ अप्रेलकी बैठकमें यह भी निश्चित किया कि श्री० पं० दरबारीलालजी के शुभागमनके अवसर पर उनसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करनेके लिए निम्नलिखित विद्वानों को निमंत्रित किया जाय—

(१) पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्य।

(२) पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार।

(३) स्या० वा० पं० वंशीधरजी न्यायालङ्कार (इन्दौर)

(४) वंशीधरजी शास्त्री (शोलापुर)

(५) पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ।

(६) पं० गणेशप्रसादजी वर्णी।

सभाने विद्वानोंसे पत्रव्यवहार करनेका कार्य मन्त्री महोदय लाला भोलानाथजीके सुपुर्द न करके (मैं नहीं कह सकता कि सभाने मंत्रीमहोदयमें अविश्वास किया या सभाने उन्हें इस कार्यके लिए अयोग्य समझा) मेरे सुपुर्द किया। साथही मुझे सभा की यह आज्ञा भी मिली कि निमंत्रणपत्रोंमें पं० दरबारीलालजीके आनेकी सूचना न हो, क्योंकि उनके आगमनकी बात जानकर कोई भी विद्वान् आनेका साहस न करेगा! तदनुसार मैंने उक्त विद्वानोंको निमंत्रण पत्र भेजे। उत्तरमें पं० वंशीधरजी शोलापुर व पं० राजेन्द्रकुमारजीकी अर्द्धस्वीकारता मिली। पं० राजेन्द्रकुमारजीने कुछ प्रश्न भी मुझसे पूछे। सभाने ता० २ मईकी बैठकमें इन उत्तरों पर विचार करके यह निश्चय किया कि पं० दरबारीलालजीसे वार्तालाप करनेके लिये केवल पं० माणिकचन्दजी न्यायाचार्यको ही बुलाया जाय और उनके बुलानेके लिए श्रीयुत् भाई चाँदविहारीलालजी जैनको सहारनपुर भेजा जाय; तथा पं० वंशीधरजीको सभ्य ढंगसे न आनेके लिये लिख दिया जाय और पं० राजेन्द्र कुमारजीके प्रश्नोंका उत्तर न दिया जाय, क्योंकि सभाने पं० वंशीधरजी और पं० राजेन्द्रकुमारजीको मन्त्रीमहोदयके कहनेके अनुसार अयोग्य समझा और पं० माणिकचन्दजीको योग्य समझा। तदनुसार मैंने पण्डित वन्शीधरजीको न आनेके लिए लिख दिया और पण्डित राजेन्द्रकुमारजीको उत्तर नहीं दिया। इसपर भी पं० वंशीधरजी साहब अचानक तशरीफ ले आए, क्योंकि उन्हें खयाल था कि वहाँ कोई धार्मिक उत्सव है और उत्सवके समाचार भी उनने गजटमें छाप दियेथे। खैर, इसमें कहना पड़ता है कि सभा पण्डित बन्शीधरजीको अपना मेहमान बनाना नहीं चाहती थी, परन्तु पण्डितजी स्वयं आकर उसके महमान बनगए, जबकि पण्डित दरबारीलालजी निमन्त्रण पर आकर उसके मेहमान बने।

पं० बन्शीधरजीका यह कहना कि सभाने पं० दरबारीलालजीकी रवानगीका भार नहीं उठाया, बिल्कुल झूठ है, क्योंकि पं० दरबारीलालजीने सभापति महोदयके पूछने पर स्पष्ट कह दिया था कि मैं मार्गव्ययादि नहीं लूँगा क्योंकि मैं अपने ही खर्चेसे भ्रमण करता हूँ।

पं० वंशीधरजी अपनी नासमझीसे यह समझ बैठे हैं कि वे अपनेको पं० दरबारीलालजीकी अपेक्षा अमरोहा पंचायत द्वारा अधिक सम्मानित व पुरस्कृत कहकर, अपनी बातोंको उसके लिये सन्तोषजनक बतलाकर अपने मिथ्या पक्षको सत्य सिद्ध कर देंगे। पंडितजीको भलीभाँति विदित हो कि वे ऐसी निरर्थक व निःसार बातोंसे विज्ञ जनताकी आँखोंमें धूल नहीं झोंक सकते। प्रथम तो उनकी ये बातें ही झूठ हैं, और यदि वे सत्य भी होतीं तो भी उनकी ओलटमें पं० दरबारीलालजीके पक्षको कमजोर सिद्ध नहीं किया जा सकता था।

२४ हस्ताक्षरोंवाले "जैनसभा अमरोहाके कल्पित सभापति रघुनन्दनप्रसादजी की अनधिकार चेष्टा" शीर्षक लेखको देखकर जो पंडितजी महाराजने साहुजीको सम्बोधित करते हुए लिखा है कि "आपकी पंचायत और सभा आपके निषेधका विरोध कर रही है। आपकी सभा आपके खिलाफ़ है। सारे पंचों ने गतांकमें आपका विरोध कर सैक्रेटरी व सभापति शास्त्रार्थ जन्माको सही क़रार दिया है," इससे पंडितजी की अक्लका परिचय भले प्रकार मिल जाता है। दुःखके साथ दुहराना पड़ता है कि बिना सोचे समझे, बिना परिस्थितिका अध्ययन किए, पंडितजी के जो मनमें आता है, घसीट डालते हैं। आपकी बुद्धि थोड़ेसे ही पंचोंको सारे पंच समझ बैठी है। ख़ैर, मैं उन २४ हस्ताक्षरोंका रहस्य ता० १ जुलाईके "सत्यसंदेश" में "विरोधियोंकी लीलाएँ" शीर्षक लेख द्वारा प्रकट कर चुका हूँ, परन्तु यहाँ मैं दूसरी दृष्टिसे विचार करता हूँ। आशा है कि पंडितजी अपनी विलक्षण बुद्धिको क़ाबूमें करके इस ओर ध्यान देंगे।

यह निश्चित ही है कि उन चौबीस हस्ताक्षरोंमें से ६ हस्ताक्षर उन महानुभावोंके हैं जो सभाके सदस्य नहीं हैं। इस प्रकार सभापति महोदयके खिलाफ़[1] १८ रायें हुईं। दूसरी ओर १६ जूनके सत्य-संदेश में प्रकाशित 'आवश्यक घोषणा' में १९ महानुभावों में से १८ महानुभाव सभाके सदस्य हैं। सभापति की रायें मिलाकर इस ओर २० रायें हुईं। इस प्रकार सभापति महोदयका सभा समर्थन ही कर रही है। ता० ११ जुलाईकी मीटिंगमें सभाने यह प्रत्यक्ष कर दिखाया है। पं० बन्शीधरजी सभाके निर्णयको देखें और अपनी आँखें खोलें।

अमरोहा पंचायतने पं० बंशीधरजीको विजयी घोषित नहीं किया है, और न पं० दरबारीलालजी ही को विजयी घोषित किया है। यदि वह किसीको विजयी घोषित कर भी दे तो विचारक जनताकी दृष्टिमें उसका कोई मूल्य नहीं हो सकता। दोनों विद्वानोंकी चर्चा द्वारा ही, विशेषतः सर्वज्ञता व मुक्तिविषयक लिखित चर्चा द्वारा ही, सत्यासत्य-विजयपराजयका प्रामाणिक निर्णय किया जा सकता है; किसी अन्य उपायसे नहीं। लिखित चर्चाने प्रत्यक्ष करके दिखला दिया है कि पं० बशीधरजी पैंतरे बदल बदलकर भाग रहे हैं और पं० दरबारीलालजी आवाज दे रहे हैं कि 'पंडितजी, पहिले मेरी बातोंका उत्तर दे जाओ, फिर भागना।" इस प्रत्यक्ष बातको उलटनेके लिए कोई कितना ही उपाय करे, सब व्यर्थ है।

पं० बंशीधरजीका यह लिखना कि 'पं० दरबारीलालजीने अधिक चर्चा या शास्त्रार्थ करना नहीं चाहा; इसीलिए वे हमसे पेश्तरही वहाँ से चले गए थे' बड़ाही आश्चर्यजनक है। खेद है कि पण्डितजी ऐसा सफ़ेद झूठ लिखनेमें भी न लजाए। पण्डितजी को मालूम होगा कि ता० १४ मईकी दुपहरको जब मुक्तिविषयक लिखित चर्चामें उन्होंने पं० दरबारीलालजी द्वारा उपस्थित की गई गणित-सम्बन्धी बाधाको स्पर्श तक भी नहीं किया, तो आपके अनुयायी धर्मात्माओंने अपने पक्षका अपमान जानकर चर्चा को समाप्त करा दिया, और रात्रिको व्याख्यान-सभा की, जिसमें धन्यवादादिका अन्तिम कर्त्तव्यभी पूरा कर दिया गया। चूँकि पं० दरबारीलालजीको समाज ने केवल चर्चा करनेके उद्देश्यसे ही रोक लियाथा, इसलिये ता० १४ मई को चर्चा समाप्त हो जाने पर १५ ता० को दुपहरकी गाड़ीसे वे देहली चले गये। वे तो चर्चाके लिये कितने भी समय तक रुकनेके लिये तैयार थे, बल्कि आप श्रीमान् ही चर्चाके लिये तैयार न थे। आपतो ता० १२ मईकी चर्चासे इतने घबरा गयेथे कि १३ मईको समाजके बहुत आग्रह करने परभी आपने पूर्वपक्ष रखना स्वी-

[1] पाठक यह न समझलें कि सभापति महोदयके ख़िलाफ़ १८ रायें वास्तवमें हैं। इसमें भी रहस्य है। असलियत में तो विरोधी कतिपय ही हैं।

कार नहीं किया और आपने इस तरकीबसे चर्चा बन्द करनी चाही; मगर समाजने आपकी यह बात पसन्द नहीं की, और आपको फिर अपना पूर्व-पक्ष रखकर चर्चा करनी पड़ी। अतः आपकी उक्त बात बिलकुल झूठ व ग़लत है। यह देखकर बहुत दुःख होता है कि आप झूठ बोलनेमें इतने सिद्धहस्त हैं।

पण्डितजीने अपने 'धर्मात्मा' भाइयोंकी वकालत करते हुए जो यह लिखा है कि शास्त्रार्थका सूत्र जैनसभाके सभापति महोदयके हाथमें नहींथा, और उसका सम्बन्ध सभासे क़तई नहीं था, बिल्कुल निराधार है। मालूम होता है कि पण्डितजी सभा सोसाइटियोंके नियमोंसे अच्छी तरह परिचित नहीं हैं। चर्चाका आयोजन व प्रबन्धादि जैनसभाने ही किया था तथा पण्डितजीकी रवानगीका भार भी सभाने ही उठायाथा। सभापति महोदयने ही बाबू मूलचन्दजी को ता० १२ मईकी रात्रिकी बैठकमें ५, ५ मिनटके पश्चात् घण्टी बजानेका काम सुपुर्द किया था। सारी बातें सभाके आधीन ही थीं। सभापति महोदयने ही चर्चा व व्याख्यानकी सानन्द समाप्ति पर ता० १४ मईकी रात्रिको सभाकी ओरसे विद्वानों को तथा बाबू मूलचन्दजीको धन्यवाद दियाथा, न कि बाबू मूलचन्दजीने। अतः स्पष्ट है कि चर्चाकी प्रबन्धक-सभा जैनसभा ही थी, तथा उसकी बागडोर साहु रघुनन्दनप्रसादजी सभापतिके हाथमें ही थी, बाबू मूलचन्दजी तो केवल घंटाध्यक्ष थे। अतः वे अपने सब अधिकारसे बाबू मूलचन्दजीकी निरधिकार चेष्टाको असफल कर सकते हैं। इसे नाजायज़ कन्ट्रोल कहना न्यायका ख़ून करना है।

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकी सनातन जैनसभा के सदस्य बाबू मूलचन्दजीको 'धर्मात्मा' व 'जैनधर्म की तहोंमें पहुँचनेवाले अच्छे मर्मज्ञ विद्वान्' कहने की जो पं० वंशीधरजीने उदारता दिखलाई है, वह प्रशंसनीय है। क्या मैं आशा करूँ कि अन्य पंडित साहबान भी पं० वंशीधरजीकी इस उदारताका अनुकरण करके विधवाविवाहको जैनधर्मकी एक तह बतलानेका साहस करेंगे?

अन्तमें मैं वंशीधरजीसे अनुरोध करता हूँ कि अब व्यर्थकी बातें लिखकर और अधिक हास्यास्पद बननेकी चेष्टा न कीजिये, तथा भोलेभाले लोगोंको और अधिक भ्रममें न डालिये।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।
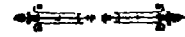
विविध विषय।

मुनिवेषियोंकी लीलाएँ।

(१) मुनिवेषी ज्ञानसागरजी, मल्लिसागरजी आदि क़रीब ७-८ महीनेसे जयपुरमें पड़ाव डाले हुए हैं। पुष्टिकर मिष्टान्न खानेको मिलता है; आहारके पश्चात् स्त्रियाँ बदन पोंछती हैं; दिनभर प्रायः स्त्रियोंसे घिरे रहते हैं और उनसे गपशप लगाते रहते हैं। कुछ पढ़े लिखे हैं नहीं; हिन्दी भाषाके शास्त्र भी कठिनाईसे पढ़ पाते हैं; अतः बेचारे धर्मचर्चा करें भी तो क्या? प्रायः आपसमें ही लड़ते रहते हैं, और अपने अपने भक्तों व भक्तिनोंके सामने एक दूसरेकी निंदा करते रहते हैं। बेचारे अहिलक पार्श्वकीर्तिजीकी मिट्टी पलीत है। वे श्रुतसागरजी व मल्लिसागरजी द्वारा फुटबॉलकी तरह इधरसे उधर ठुकराये जाते हैं। ता० ४ जुलाईको जयपुर शहरसे बाहिर खानियामें मल्लिसागरजी व पार्श्वकीर्तिजीके आपसमें किसी बातपर खटपट होगई। इसपर मल्लिसागरजीने क्रोधके आवेशमें श्रुतसागरजीसे कहा—तुम पार्श्वकीर्तिको रख लो या मुझे ही रख लो; मैं पार्श्वकीर्तिका मुँह भी नहीं देखना चाहता। अगर तुम उसे रखोगे तो मैं शहर में चला जाऊँगा या और कहीं चला जाऊँगा, लेकिन इस अहिलकके साथ तुम्हारे पास हरगिज़ नहीं रहूँगा। भक्तलोग चाहते थे कि मल्लिसागर किसी प्रकार वहीं रहे—अगर श्रुतसागरजी व पार्श्वकीर्तिजी से उसकी नहीं बनती तो वह उनसे अलग रहे, किंतु

शहरमे न जावे । इसकी एक खास वजह थी । मल्लिसागरजे यह बहाना लेकर कि मेरे गुप्त भागके बालो मे जूएँ पड़ गई हैं, वहाँ के बालोंको उस्तुरेसे या साबुनसे बिलकुल साफ कर दिया था । इस आशङ्कासे कि शहरमे जानेसे बाल मूँडनेकी बात सब जगह फैल जावेगी और बड़ी बदनामी होगी, भक्तमण्डली ने मल्लिसागरजीको मनानेके लिये उनकी बहुत खुशामद की, उन्हे समझाया बुझाया, पार्श्वकीर्तिजी को समझाकर उन्हे मल्लिसागरजीके पास माफी माँगनेके लिये भेजा, परन्तु उत्तमक्षमाधारी मुनिजीका क्रोध शान्त नहीं हुआ सो नहीं हुआ ।

ज्ञानसागरजीने जब यह घटना सुनी तो वे अपनी भक्तिनोंसे बोले—तुमने सुना कि नहीं कि मल्लिसागरने फलाँ जगहके बाल मूँड लिये हैं ? भक्तिनो ने कहा—महाराज, हमको मालूम नहीं । इस पर मुनिजी बोले—अब उनको आहार दो तब देख लेना !

कुछ दिन पहिले जब मुनिवेषी महेन्द्रसागरजी जयपुरमे आये तो ज्ञानसागरजीने फतवा निकाला कि जो कोई महेन्द्रसागरको आहार देगा, उसके यहाँ मैं आहार नहीं लेऊँगा । इसी प्रकार सूर्यसागरजी के विरुद्ध मल्लिसागरजीने फतवा निकाला । लेकिन सूर्यसागरजीके प्रतापके आगे इनकी कुछ न चली और इन्हे मुँह छिपाकर कुछ दिनके लिये जयपुर छोड़कर बाहिर भागना पड़ा ।

साँगानेरमें जब ये हजरत थे तो वहाँ अपने भक्तो से कहकर छिड़काव कराया करते थे । एक रोज आप मन्दिरके बहरेमे सामायिकके लिये गये । पानी की एक बड़ी चरी भराकर आपने पहिले ही से वहाँ रखवा दी थी । सामायिकसे लौटनेके पश्चात् चरी खाली मिली । न मालूम सामायिकका यह कौनसा रूप था !

मल्लिसागरजीके विषयमें एक और बड़ी लज्जाजनक घटना सुनी है । साँगानेरसे लौटकर आप शहरसे बाहिर भट्टारकजीकी नसियाँमें ठहरे थे । नसियाँकी एक नौकरनी रातको वहीं सो रही थी । रातको करीब ११॥ बजे मुनिजी उसके पास पहुँचे और कुकर्म करना चाहा । नौकरनी अपनी आबरू बचानेके लिये किसी प्रकार उनके चङ्गुलसे निकल दीवारके पीछे छिप गई । मुनिजी लालटैन लेकर आये और उसे ढूँढते फिरे । वह इस बीचमें मौक़ा देखकर नसियाँके बाहिर होगई थी ।

आश्चर्य है कि ऐसी घटनाएँ होनेपर भी समाज की आँखें नहीं खुलती और ऐसे पाखण्डियोंकी अक्ल ठिकाने लानेके लिये कोई उचित कार्यवाही नहीं की जाती ! —[illegible], जयपुर ।

(२) मुनिवेषी चन्द्रसागरजी करीब डेढ दो महीने लाडनूँमें रहे । इस अवधिमे उन्होंने लोहड़साजनोंके खिलाफ खूब प्रोपैगैण्डा किया, श्रावकोंपर हर तरहके दबाव डाले, पुरुषों पर वश न चला तो स्त्रियोंको अपने पतियोंके विरुद्ध विद्रोह करनेके लिये भड़काया, लेकिन उन्हे मुँहकी खानी पड़ी और आखिर विवश होकर चातुर्मास करनेके लिये सुजानगढ़ जाना पड़ा । लोहड़साजनोंसे इनका द्वेष इतना तीव्र होगया है कि ये उनको नीचा दिखानेके लिये मुनिपदके सर्वथा विरुद्ध हेयसे हेय क्रियाएँ करते नहीं हिचकिचाते । अभी कुछ दिन पहिले श्रीमान जेठमलजी मच्छीने अपने पुत्रके विवाहके अवसर पर समस्त जातिकी ज्योनार करनी चाही । पञ्चायत ने यह कहकर कि जबतक लाडनूँ जैनसमाजमे शांति न हो जाय तबतक पञ्चायती ज्योनार न की जाय, उन्हें इसके लिये मना कर दिया । किन्तु कतिपय चन्द्रसागर-भक्तोंने पञ्चायती आज्ञाके विरुद्ध मच्छीजीसे ज्योनार करा ही डाली । फल यह हुआ कि बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी केवल चतुर्थांश व्यक्ति ही ज्योनारमें शरीक हुए । चन्द्रसागरजी व उनके भक्त इससे बुरी तरह झेंपे । चन्द्रसागरजी खिसियाकर कहने लगे—जो लोग मच्छीजीकी ज्योनारमें नहीं गये उनका जीमन तो छूट ही गया, किन्तु अब उनका मोक्ष भी छूट गया ! मुनिवेषी महाशयको इसीसे सन्तोष नहीं हुआ । वे मच्छीजी के पक्षका

समर्थन करनेके लिये बहुत नीचे उतर आये। श्री० पृथ्वीराजजी गँगवाल उनके एक मुख्य भक्त थे, किंतु वे उक्त ज्यौनारमें नहीं गये थे। उनके यहाँ चन्द्रसागरजी पहिले कई मर्तबा आहार ले चुके थे। लेकिन उपरोक्त घटनाके पश्चात् उन्होंने पृथ्वीराजजी का बहिष्कार कर दिया। पृथ्वीराजजीके पूछने पर वे बोले—"तुम मायाचारी व मिथ्यात्वी हो; गुरुओं को ठगने वाले हो। तुम लोहड़समाजनोंके पक्षपाती हो। यह बात मुझे मालूम नहीं थी इसीलिये तुम्हारे यहाँ मेरा आहार होता था। अब तुम जातिच्युत हो; अगर तुम मुझे आहार देना चाहते हो तो तुम खुद जेठमलजी मच्छीके घर जाकर उनके यहाँ से ज्यौनारका काँसा ले आवो।" पृथ्वीराजजी ने वैसा ही किया; लेकिन फिर भी बहिष्कारका फतवा वापिस नहीं लिया गया। अब चन्द्रसागरजी ने नई शर्तें लगाई कि—(१) तुम लोहड़समाजनोंका पक्ष छोड़कर उन ४०-४५ व्यक्तियोंसे, जो मच्छीजीकी ज्यौनारमें गये थे, माफी माँगो, (२) उन्हें तुम्हारी माताका जीवित मोसर करके जिमाओ, तथा (३) तुम अपने भाई तोलारामजी नथमलजी गँगवालका साथ छोड़ दो। पृथ्वीराजजीने कहा—महाराज, यह कैसे होसकता है कि मैं अपने भाइयोंको छोड़ दूँ? आप छोगमलजी बगड़ा व अन्य व्यक्तियोंके यहाँ, जो उनसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं, क्यों आहार लेते हैं? उन लोगोंपर भी आप ऐसा ही दबाव क्यों नहीं डालते? इसपर चन्द्रसागरजी एकदम उत्तेजित होकर मनमाना बकने लगे और पृथ्वीराजजीके गिड़गिड़ाने पर भी शांत नहीं हुए।

विधवा स्त्रियों के पाँवोंका जेवर—कड़ियें—उतरवानेके लिये आप इस प्रकारके अपशब्द बोलते हैं कि सुननेवालों को लज्जा मालूम होती है। एक महिलाने पहिले इनके लिहाज व दबावसे अपने पाँवोंकी कड़ियें उतरवादीं, परन्तु बादमें वापिस पहिनलीं; इसपर मुनिजीने बीच सभामें कहा—मालूम होता है यह भी कड़ियें पहिनकर अभी तीन-चार खसम और करना चाहती है! बेचारी अभागिनी विधवाको अनेक मर्द कहानेवालोंके समक्ष यह तिरस्कार चुपचाप सहना पड़ा!

मुनिजीने एक बिलकुल विचित्र उपदेश देना शुरू किया है। आपका फरमाना है कि—पुरुषको अपनी स्त्रीके हाथका बना भोजन नहीं खाना चाहिये, क्योंकि स्त्रीकी धारणा यही रहती है कि यदि मैं पति को खूब खिलाऊँगी तो रातको यह मस्त होकर मेरे साथ विषय भोग करेगा! विकृत-मस्तिष्कसे इसके अतिरिक्त क्या आशा की जा सकती है?

अष्टमी व चतुर्दशी को पर्व-दिवस न मानने तथा उनमें हरित वस्तुएँ खानेका आप उपदेश देते हैं। कई लोगोंने अष्टमी चतुर्दशीको हरित वस्तुएँ न खानेकी प्रतिज्ञाऐं भंग करा चुके हैं।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार, मोक्षमार्ग प्रकाशक, विद्वज्जनबोधक, ज्ञानानंद-श्रावकाचार, आदि ग्रन्थों को आप अप्रामाणिक बताते हैं तथा चर्चासागर, त्रिवर्णाचार, सूर्यप्रकाश आदि को प्रामाणिक! इसके साथही गोम्मटसार, त्रिलोकसार, समयसार आदि ग्रन्थोंके पठनपाठन करनेवालोंकी आप निंदा करते रहते हैं! श्रीमान् रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर, सेठ गोपीचन्दजी ठोलिया जयपुर आदि की भी आप निंदा करते रहते हैं।

उसदिन श्रीमान् पं० कन्हैयालालजी शास्त्री यहाँ आयेथे और उन्होंने अपने भाषणमें समाजमें ऐक्यता स्थापित करने पर जोर दियाथा। आपने इसका भी विरोध किया। भला मुनिजी को ऐक्यता कैसे पसंद हो सकती है? समाजमें यदि दलबन्दी तथा पारस्परिक वैमनस्य न होता, ऐक्यता होती, तो ये मुनिवेषी पाखंडी इस तरह समाजकी छाती पर मूँग दलते न दिखाई देते। —संवाददाता।

कुचामण जैनसमाजकी विवेकशीलता—

कुछ दिन पहिले यहाँ एक अहिलकजी आयेथे। उन्होंने अपना नाम महेन्द्रसागर बतलाया। आप रेलगाड़ीमें सफर करते हैं। [illegible]

कि आप अहिंसक पदधारी होते हुए रेलगाड़ीमें क्यों बैठते हैं, तो आपने कहाकि मैं बादमें इसका प्रायश्चित्त लेलूँगा। आपने श्रावकोंसे अनुरोध किया कि मेरा चातुर्मास यहाँ कुचामणमें करादो; परन्तु श्रावकोंने साफ कहदिया कि पहिले प्रायश्चित्त लेलो या अपनी क्रियाओंके अनुकूल क्षुल्लकवेष धारण करलो तो चातुर्मास यहाँ कराया जा सकता है, अन्यथा नहीं। अहिंसकजी इस पर राजी नहीं हुए और इसलिये उन्हें कुचामणसे बैरंग लौटजाना पड़ा। इसबार कुचामण जैनसमाजने जो विवेकशीलता दिखलाई, इसकेलिये उसे बधाई है। यदि गत चातुर्मासके समय भी उसने इसी प्रकार साहस व विवेक प्रदर्शित किया होता तो जैनसमाजका—खासकर खण्डेलवाल जैनसमाजका—वातावरण आज इतना दूषित न होता। —संवाददाता।

स्थानीय चर्चा—बीसपन्थ आम्नायके मन्दिरों में पण्डित बनानेका तरीका बिलकुल विचित्र है। ढूँढ ढाँढ़कर देहातके किसी गरीब परिवारका बालक किसी तरह प्राप्त करलिया जाता है। दो चार किताब पढ़कर पूजा पाठ करना सीखा कि बस "पण्डितजी" बनगये। अच्छा खाने पहिननेको मिलता है। इसके एवजमें काम उनसे प्रायः कुछ नहीं लिया जाता। उनपर किसी प्रकारका नियन्त्रण नहीं रक्खा जाता। वे चाहे जितना और चाहे जिस प्रकार खर्च करें, कोई हिसाब पूछनेवाला नहीं। ऐसी परिस्थितिमें उनकी प्रवृत्तियाँ किस ओर जाती है, यह सहजही अनुमान किया जा सकता है। परन्तु 'पण्डित' कहलाने मात्रसे श्रावक लोग उन्हें सच्चारित्र व पूर्णतः निष्कलङ्क समझने लगते हैं। ऐसेही पण्डितोंमें से बादमें किसीको भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है। आजकल संस्कृत व हिन्दी भाषाके अच्छे से अच्छे विद्वान आसानीसे मिल सकते हैं। अगर किसी वास्तविक पण्डितको इन पदों पर प्रतिष्ठित किया जाय तो धर्म व समाजके लिये बहुत उपयोगी कार्य कमखर्चमें हो सकता है।

बड़ाधड़ेके पण्डित चिम्मनलालजी ऐसेही पण्डितोंमें से हैं। यदि बड़ाधड़ेके मन्दिरमें उन्हें स्थान न मिलता तो शायद वे भी अपने भाई की तरह आज 'मोदक कहारों' के रूपमें पानी भरते नजर आते। आप बिलकुल विक्षिप्त से हैं। उसदिन आप 'छतरियों' गये और वहाँ कीचड़में नहाकर कच्चे रंगकी पगड़ीको भिगोकर अपने सिरपर रख लिया जिसके रंगसे उनका सारा शरीर रंग गया; तथा केवल अँगोछा लपेट कर नसियाँ चले आये और सीधे कुएँकी तरफ जाने लगे। अच्छा हुवा जो एक नौकर ने उन्हें रोक दिया वरना आप न जाने क्या करते। बादमें वहाँ रहनेवाले एक गृहस्थने उन्हें अपने कपड़े पहिनाकर मन्दिर भेजा। आप पहिले भी कईबार ऐसीही हरकतें कर चुके हैं।

भट्टारक हर्षकीर्तिजीने चातुर्मासके लिये अपने आधीन ग्रामोंसे निमन्त्रण मँगवानेके लिये बहुत प्रयत्न किया, अपने आदमी भेजकर पंचोंको आग्रहपूर्वक कहलाया, किन्तु किसीने इन्हें निमंत्रण नहीं भेजा। अतः विवश होकर आप इस चातुर्माससे अजमेरकी ही शोभा बढ़ा रहे हैं।

बीसपंथ आम्नायके अनुसार भट्टारकोंसे यह आशा की जाती है कि वे दिनमें केवल एकबार आहार लें तथा उसी समय पानी पीवें। विश्वस्त-सूत्र से मालूम हुवा है कि आप इसके अतिरिक्त भी पानी पिया करते हैं।

जिन पञ्चोंकी सहायतासे आप भट्टारक बनेथे उनके समक्ष आपने पञ्चायती हिसाब बतानेकी प्रतिज्ञा की थी। लेकिन इतना समय बीत जानेपर भी आप हिसाब बतानेका नाम तक नहीं लेते। इससे उनकी भक्त-मण्डलीमें असन्तोष फैल रहा है।

श्रीमती पुष्पावती देवी (धर्मपत्नी मा० प्यारेलालजी बी० ए० सैकेण्ड-मास्टर ओसवाल जैन-हाईस्कूल अजमेर) पंजाब यूनिवर्सिटी की 'हिंदी-प्रभाकर' परीक्षामें प्रथम तथा 'हिंदी ऐडवांस्ड' परीक्षामें द्वितीय नम्बर आई हैं। बधाई। —प्र०

Printed by Pt. Radhaballabh Sharma, at the Ajmer Printing Works, Ajmer

"SATYASANDESH" Ajmer   Reg: No. N. 611

ता० १, १६ अगस्त सन् १९३५

वर्ष १०   अं० १७-१८

स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र।

वार्षिक मूल्य ३) रुपया मात्र।

सत्यसन्देश

एक प्रतिका मूल्य दो आने।

(प्रत्येक अंग्रेजी महीने की पहली और सोलहवीं तारीखको प्रकाशित होता है)

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषो न हरे हरौ।
सर्वतीर्थकृतामस्माकम्, शिवं सत्यमयं वचः॥

सम्पादक—सा० र० दरबारीलाल न्यायतीर्थ, जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई। प्रकाशक—फतहचंद सेठी, अजमेर

समाचार—संग्रह।

—मुम्बईमें एक एम० बी० बी० एस०का विद्यार्थी जिसका नाम गजराज था उसने तथा एक व्यापारी के कारकूनकी पुत्री सरोजने विष पीकर आत्मघात कर लिया। ये दोनों आपसमें विवाह करना चाहते थे, परन्तु इनके मातापिता इसके विरोधी थे। तब उनने इस आशासे कि इस जन्ममें हमारा विवाह नहीं हो सकता परन्तु परजन्ममें जरूर हो सकेगा, आत्मघात कर लिया।

—जुलाई मासमें जैनविधवाविवाह-संकल पूनाकी अध्यक्षतामें दो पुनर्विवाह हुए। ता० ७ जुलाईको भर्तीके निवासिनी श्रीमती कञ्चन बहिनका पुनर्विवाह विकवडू निवासी श्रीमान् प० जुगलकिशोरजी अग्रवालके साथ हुआ। ता० २० जुलाईको यहींके निवासी श्री० गिरधीचन्दजी लोढ़ाकी सुपुत्री श्रीमती शांताबाईका पुनर्विवाह श्री० धनरूपामजी नंदरामजी देसाईके साथ हुवा। वर व वधू दोनों बीसा ओसवाल हैं। दोनों विवाहोंके अवसरपर प्रतिष्ठित स्त्री–पुरुषोंकी काफी उपस्थिति थी।

—गतवर्ष आगरा जैनवनिताश्रमके सञ्चालक श्री० फूलचन्दजी जैनके खिलाफ वहाँके सिटी मजिस्ट्रेट की अदालतमें मुकदमा चला था जिसमें यह प्रमाणित हो जानेपर कि अभियुक्त उक्त संस्थाकी ओटमें ललनाओंको धोखा देकर रुपया वसूल करता था, तथा विधवाओंको बेचा करता था, उसे ६ महीनेकी सख्त सजाका दंड दिया गया था। फूलचन्दने इसके खिलाफ जिला–जज तथा हाईकोर्टमें भी अपील की परन्तु सजा बहाल रही। आगराके जिन महानुभावोंने अपना समय व द्रव्य व्यय कर इस जाली संस्थाका भंडाफोड किया वे धन्यवादके पात्र हैं।

—बम्बईके एक हिन्दू महाशयने अपनी धर्मपत्नी को केवल इस अपराधपर कि वह उनकी आज्ञाके उपरान्त कुछ अधिक दिन तक अपने पीहर रह गई थी, चिमटेसे गरम कोयले लेकर उसके चहरे पर कई जगह दाग दिया। इतनेपर भी क्रोध शांत नहीं हुआ इसलिये कुछ दिनों बाद फिर गरम लोहेसे दागा।

—हटूर निवासी धम्मा जातिके दो व्यक्तियोंने पासके फरासीसी इलाका कैचपैटमें जाकर अपने बच्चों का विवाह किया। इसमें वर था ६ वर्षका और वधू भी दो वर्षकी। इसी तरहका एक दूसरा विवाह भी वहाँ हुआ जिसमें लड़का १२ वर्षका था (किन्तु यह उसकी दूसरी शादी थी) और लड़की थी ५ वर्षकी। शारदा ऐक्टके अनुसार इनपर केस चलाया गया और वर व वधूके माता पिता पर सौ सौ रुपया

तथा पुरोहित पर पचास रुपया जुर्माना हुआ।

—मुनिवर्य चन्द्रसागरजीके सम्बन्धमें कई संवाददाताओंने समाचार भेजे हैं। स्थानाभावके कारण यहाँ उनका सार मात्र दिया जाता है:—

चन्द्रसागरजीकी उद्दण्डता दिनप्रतिदिन बढ़ती जाती है। जबकि खंडेलवाल महासभा द्वारा नियत सब-कमेटीने, जिसमें सारी समाजके प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित थे, सर्वसम्मतिसे यह स्वीकार किया था कि लोहड़साजन दस्सा नहीं है, उनको पूजन प्रक्षाल व मुनि-आहारदानका बीसोंके समान पूर्ण अधिकार है, चन्द्रसागरजी अभीतक यही रट लगाये हुए हैं कि लोहड़साजन खातीकी संतान है! तारीफ यह है कि आप अपने इस कथनके समर्थनमें कोई प्रमाण नहीं बताते—केवल अपने आपको गुरु बनाकर श्रावकों को आँख मींचकर गुरुवचन माननेके लिये बाध्य करते हैं। अगर ये शब्द किसी गृहस्थके मुँहसे निकले होते तो उसको इसका मजा कभीका चखा दिया गया होता। आप मुनिवेषसे नाजायज फायदा उठाते हुए जो जीमें आता है, बकते फिरते हैं। लोगोंके दिलोंमें "मुनिवेष" का कुछ मोह पड़ा हुआ है, इसलिये वे चुपचाप आपकी उद्दण्डता बर्दाश्त कर रहे हैं। लेकिन आपको याद रखना चाहिये कि गृहस्थोंकी सहनशीलताकी भी कोई हद है।

लाडनूं निवासी श्रीमान रावतमलजी सेठीके बारेमें, जिन्होंने कुछ समय पूर्व लोहड़साजन कन्या से विवाह किया था, एक महाशयने पूछा कि उनके सम्बन्धमें समाजको क्या करना चाहिये? तो मुनि जी बोले—वह अपनी स्त्रीको छोड़दें तो जातिमें शामिल होसकता है। प्रश्नकर्ता महाशयने फिर पूछा-महाराज, तब उस बेचारी स्त्रीका क्या होगा? महाराज बोले—विधवा स्त्रीका क्या होता है? वही उसका होगा। इस पर महाराजको बहुत कुछ कहा जासकता था, परन्तु उनसे कमसे कम इतना तो अवश्य ही पूछा जाना चाहिये था कि—हजरत, समाजके सैकड़ों प्रतिष्ठित घरानोंका विवाह-सम्बन्ध लोहड़साजनोंसे हो चुका है, जिनकी संतानें मौजूद हैं, उनका सम्बन्ध सब समाजसे है। इन सबका क्या करना चाहिये? अकेले रावतमलजी व उनकी स्त्री पर ही इतनी कृपा क्यों है?

एक श्रावकने चन्द्रसागरजीसे पूछा—महाराज, आप आचार्य शांतिसागरजीको गुरु मानते हैं या नहीं? महाराज बोले—समझलो कि मैं गुरु नहीं मानता। निर्मलसागरजी बीच हीमें बोल उठे—महाराज, शांतिसागरजी लोहड़साजनोंके आहार थोड़े ही लेते हैं? इसपर चन्द्रसागरजी क्रोधित होकर बोले—'वह आहार लेता होगा। मैं तो उसका बाप आजावे तो भी आहार नहीं लूँगा। वह भ्रष्ट हो जावे, तो क्या मैं भी भ्रष्ट होजाऊंगा?'

चन्द्रसागरजीने लाडनूंमें भगवान की वेदीके सामने ही तथा नीचेके चैत्यालयमें ही कफ थूक आदिका ढेर लगा दिया था। आप मन्दिरमें ही भक्तों द्वारा बदन दबवाते रहते थे।

श्री० भैरूंदानजी पांड्याकी माने चन्द्रसागरजी के दर्शनमें आकर अपने पांवोंकी कड़ियें उतार दी थीं किन्तु दो तीन दिन बाद वापिस पहिन लीं इस पर चन्द्रसागरजीने भरी सभामें क्रोधित होकर उन्हें कहा—क्या तुम अब नाता करोगी? तुम तो बूढ़ी होगई हो! तुमसे अब नाता कौन करेगा? जवान होतीं तो कोई कर लेता!

चन्द्रसागरजीकी लाडनूंमें चातुर्मास करनेकी बहुत इच्छा थी, एक रोज आप अपने खास भक्तोंसे बोले—'भाई, और लोग तो सैकड़ों कोसोंसे अपने मुनियों को लारहे हैं और तुम लोग यहाँपर बैठे हुए मुनियोंका ही चातुर्मास करानेको तैयार नहीं हो! यह बड़े अफसोसकी बात है।" सुजानगढ़ जाते समय आप अपने भक्तोंको श्री सूर्यसागरजीको नमस्कार न करने की प्रतिज्ञाएं दिलाते हुए बोले—देखो उस ढोंगीको पूजना नहीं। वह मायाचारी है। तुम लोगोंका मस्तक ऐसे साधुओंके चरणोंमें झुकानेको नहीं है। श्री० सेठ तोलारामजी गंगवाल किसी कार्यवश सुजानगढ़ गये थे। चन्द्रसागरजी उनसे बोले—तोलाराम, तुमने मेरे साथ बहुत मायाचारी की है! तुमने मेरे होते हुए सूर्यसागरका चातुर्मास कराया है! याद रख, मैं अब भी लाडनूं आसकता हूँ। अबतक मैंने सुजानगढ़में चातुर्मास स्थापित नहीं किया है।

वर्ष १०

सत्यसंदेश

अंक १७

श्रावण शुक्ला २

वीर संवत् २४६१

ता० १ अगस्त

सन् १९३५ ई०

नाथ।

नाथ कब तक तरसाओगे।

मनुज रूप धर भले न आओ।
अवतारी न छटा दिखलाओ।
पर छोटी सी किरण क्या न मन में पहुंचाओगे। नाथ॥ १

कठिन आपदाएँ आवेंगी।
पर टकराकर मर जावेंगी।
अगर आप निज वरद हस्त हम पर फैलाओगे। नाथ॥ २

पक्षपात का भूत भगेगा।
स्वार्थभाव का विष उतरेगा।
श्वास-पवन से यदि थोड़े भी कण पहुँचाओगे। नाथ। ३

आँसू बन कर मैल बहेगा।
हमें प्रेम का पंथ दिखेगा।
मेरी इन आँखों में पदरज अगर लगाओगे। नाथ॥ ४

तृष्णा अपना अंत करेगी।
युग युग की यह प्यास बुझेगी।
यदि जिह्वा पर थोड़े से सीकर बरसाओगे। नाथ॥ ५

यदि थोड़ा भी दान न दोगे।
तो आकर भी क्या कर लोगे।
सुधा गरल होगी मनका यदि विष न बहाओगे। नाथ॥ ६

करुणा का कण-दान दीजिये।
इस अपूत को पूत कीजिये।
तब छोटे से पावन मनका आसन पाओगे। नाथ॥ ७

—दरबारीलाल (सत्यभक्त)

धर्मशास्त्रका स्थान ।

(२)

धर्म और दर्शन ।

इतिहास, भूगोल आदिके विषयमें तो कुछ लोग जल्दी स्वीकार कर लेंगे कि धर्मशास्त्रसे इनका स्थान जुदा है, परन्तु उन कुछ लोगोंमें से ऐसे लोग मिलना मुश्किल है जो धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रके क्षेत्रको जुदा करदें। वे धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्रका इसप्रकार गठबन्धन कर देना चाहते हैं कि जिससे अमुक धर्म माननेवालेको अमुक दर्शन मानना आवश्यक हो जाय। वे खुदाको न मानने वाले मुसलमानकी कल्पना भी नहीं कर सकते; उनकी दृष्टिमें सर्वज्ञ और मुक्ति न माननेवाला जैन हो ही नहीं सकता। हाँ, सामान्य हिन्दूधर्ममें इस विषयमें कुछ कुछ उदारता है। परन्तु हिन्दूधर्मके विविध सम्प्रदायोंमें दार्शनिक विचारोंका बन्धन अन्य धर्मों सरीखा ही है। इसप्रकार धर्मशास्त्रके साथ दर्शनशास्त्र बुरी तरह चिपका दिया गया है।

मैं यह नहीं कहता कि धर्मशास्त्र दर्शनशास्त्रका उपयोग न करे। वह करे, परन्तु यह न भूल जावे कि दर्शनशास्त्र उसका अङ्ग नहीं किन्तु सहायक है। अगर किसी दर्शनके सिद्धान्त आज खंडित होजावे तो भी धर्मशास्त्र पर इसकी आँच न आना चाहिये। दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त अगर बदल भी जावें तो भी धर्मशास्त्रको बदलनेकी कोई जरूरत नहीं है। दर्शनशास्त्र ईश्वर-अनीश्वर, आत्म-अनात्म आदिके वाद पर विचार करे और वह किसी निर्णय पर भी पहुँचे परन्तु हरएक निर्णय, धर्मके साथ वही सम्बन्ध रख सकता है जो कि उसका विरोधी निर्णय रख सकता है। जैसे कि—

एक आदमी ईश्वरवादी है और दूसरा अनीश्वरवादी। दार्शनिक दृष्टिसे इन दोनोंमें बहुत भेद है, परन्तु धार्मिक दृष्टिसे दोनोंमें अभेद हो सकता है। अगर ईश्वरवादी यह सोचता है कि इस जगतका नियन्ता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान न्यायशील परमेश्वर है, इसलिये अगर मैं हिंसा करूँगा, झूठ बोलूँगा, चोरी करूँगा या और भी कोई पाप करूगा तो वह परमेश्वरसे छुपा नहीं रह सकता, वह मुझे अवश्य दंड देगा; मैं दुनियाकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी कोशिश करूँ और उसमें सफल भी होजाऊँ परन्तु परमेश्वरकी आँखोंमें धूल नहीं झोंक सकता, इसलिये मुझे सदाचारका पालन करना चाहिये, अपने स्वार्थ के लिये दूसरोंके न्यायोचित अधिकार नहीं हड़पना चाहिये। इस प्रकारका ईश्वरवादी परम धर्मात्मा है, और ईश्वरवाद सत्य हो या न हो परन्तु ऐसे ईश्वरवादीका धर्म सच्चा है। इसीप्रकार एक अनीश्वरवादी है जो ईश्वरको नहीं मानता, परन्तु प्राकृतिक दंडप्रणालीके अनुसार कर्म और कर्मफलको मानता है। इससे वह सोचता है कि अगर मैं एकान्तमें जाकर भी पाप करूँगा तो भी उसका फल अवश्य मिलेगा। जैसे, एकान्तमें विष खानेपर भी विष अपना प्रभाव डालता है, उसी प्रकार छुपकर किया गया पाप भी अपना फल देता है। विष खाकर अगर हम उसकी प्रार्थना करें जिससे वह अपना फल न दे, तो वह प्रार्थना निष्फल जायगी—विष हमें माफ न करेगा। इसी तरह किये गये पापका फल हमें भोगना पड़ेगा, कोई माफ नहीं कर सकता। माफ करनेवाला ईश्वर

आदि कोई नहीं है। इस प्रकार ये ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दार्शनिक दृष्टिसे दो वाद होने पर भी धार्मिक दृष्टिसे एक हैं, क्योंकि दोनोंका उद्देश्य कर्म-फल पर विश्वास करके दुष्कर्मसे बचना है। दार्शनिकदृष्टिसे तो दोनोंमें से कोई एक असत्य है परन्तु धार्मिक दृष्टिसे दोनों सत्य हैं।

परन्तु अगर धार्मिक दृष्टिका ठीक ठीक उपयोग न किया जाय तो ये दोनों ही दार्शनिक सिद्धान्त असत्य हो सकते हैं। अगर ईश्वरवादी यह सोचे कि—"विधाता तो ईश्वर है। अगर पाप होता है तो उसीकी मर्जीसे होता है, इसमें मेरा क्या? अथवा मुझसे पाप भी होगा तो मैं उसकी प्रार्थना करके उसे खुश कर लूँगा; वह तो दयालु है, माफ कर देगा। पाप पुण्य तो सब ठीक हो हैं, असली काम तो यह है कि ईश्वरकी पूजा की जाय।" इस प्रकारका ईश्वर-वादी दार्शनिक दृष्टिसे यदि सत्य भी हो तो भी धार्मिक दृष्टिसे असत्य है।

इसी प्रकार कोई अनीश्वरवादी यह सोचे कि—"जगत्में कोई नियन्ता और शासक तो है ही नहीं, इसलिये 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होरही है। तब मैं क्यों स्वार्थत्यागी बनूँ?" ऐसा अनीश्वरवादी दार्शनिक दृष्टिसे यदि सत्य भी हो तो भी वह असत्य है। अधिकांश मनुष्य धार्मिक दृष्टिसे न तो ईश्वरवादी हैं, न अनीश्वरवादी। जो लोग ईश्वरवादके नामपर बड़े बड़े शास्त्रार्थ करते हैं, या और भी उचित अनुचित उपायोंसे लड़ते हैं, उनमें से शायद ही कोई सच्चा ईश्वरवादी होगा। यही बात अनीश्वरवादियों या कर्मवादियोंके विषयमें है। अधिकांश लोग न तो ईश्वरपर विश्वास करते हैं, न कर्म पर। अगर यह विश्वास होता तो यह जगत् स्वर्गसे भी अच्छा होता। सरकार और न्यायालयकी जरूरत ही न होती, ताला और पहरा अनावश्यक होता। युद्ध अज्ञातभूतकी कहानी रह जाता। मनुष्य एक दूसरेकी आँखोंमें धूल झोंकनेकी कभी कोशिश न करता। परन्तु यह होता है, इसका कारण यह है कि ईश्वरवादी भी ईश्वरपर विश्वास नहीं करते; कर्मवादी भी कर्मपर विश्वास नहीं करते। अगर मनुष्यको यह विश्वास हो कि मैं आज दूसरोंको जितना सताता हूँ उसका फल उससे कई गुणा भोगना ही पड़ेगा, तब यह हो नहीं सकता कि वह जान बूझकर किसीको सतावे। हमें यह दृढ़ विश्वास है कि विष खानेसे मृत्यु निश्चित है, इसलिये हम सारी शक्ति लगाकर विषसे बचे रहनेकी कोशिश करते हैं; परन्तु हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रहसे बचे रहनेकी कोशिश नहीं करते। इसका कारण यही है कि हमें इन पापों के फलपर विश्वास नहीं है। तब इन वादोंपर अहङ्कार करना व्यर्थ है।

ईश्वर-अनीश्वरकी चर्चा धार्मिकतासे सम्बन्ध नहीं रखती। इसका यह मतलब नहीं है कि कोई इन बातों पर विचार ही न करे; परन्तु इसे धार्मिकताके साथ न जोड़े। अगर कोई यह समझता है कि 'ईश्वरके बिना जगतका काम नहीं चल सकता, अवश्य ही कोई ईश्वर है' तो उसे ईश्वरवादी बन जाना चाहिये और पापसे डरना चाहिये। इसी प्रकार जिन्हें ईश्वरकी जरूरत नहीं मालूम होती, अथवा जरूरत मालूम होने पर भी ईश्वरका अस्तित्व जिन्हें तर्कविरुद्ध मालूम होता है, वे ईश्वर न मानें, किन्तु कर्मफलके लिये कोई दूसरी व्यवस्था मानकर पापसे बचें। अगर उन्हें कभी अपनी दार्शनिक मान्यता असत्य मालूम होने लगे तो उसे वे छोड़ दें; परन्तु धर्मको छोड़नेकी जरूरत नहीं है।

सर्वज्ञत्व—असर्वज्ञत्वका प्रश्न भी धार्मिक नहीं है। वह दार्शनिक है। अधिकांश सम्प्रदायोंने एक सर्वज्ञकी कल्पना की है, जोकि किसी भी तरह तर्क पर नहीं बैठती। परन्तु अगर किसी आदमीको सर्वज्ञपर विश्वास है तो वह सर्वज्ञको माने, और धर्मके विषयमें निःशंक बने। अगर वह निःशंक बनेगा तो धर्मका पालन भी अवश्य करेगा। अगर वह धर्मका पालन नहीं करता तो समझना चाहिये कि वह सर्वज्ञके वचनों पर विश्वास नहीं करता।

यदि कोई मनुष्य सर्वज्ञ नहीं मानता, वह सर्वज्ञको असम्भव तथा निरुपयोगी समझता है, अथवा उससे कुछ हानि भी समझता है तो भी ठीक है। परन्तु इससे वह अहिंसा सत्य आदिके उत्तर-दायित्वसे नहीं बच सकता। धर्मका स्वरूप अगर सर्वज्ञने नहीं कहा है तो हजारों वर्षके अनुभवसे मनुष्य ने ही उसे खोज निकाला है। इसीलिये उसे मानना चाहिये। अपने देश-कालके अनुसार उसके बाह्य रूपमें परिवर्तन करना पड़े तो अवश्य करना चाहिये और विश्वहितको ध्यानमें रखना चाहिये। विश्व क्या है, आदि समस्याएँ अज्ञात हैं, इसलिये हमें उनको खोजनेकी कोशिश करना चाहिये। अपनी मान्यता का अहंकार न करना चाहिये, न सर्वज्ञोक्त समझकर दुराग्रह करना चाहिये। सर्वज्ञ न माननेका यही फल है। कोई सर्वज्ञ माने या न माने, दोनोंही हालतों में उसे यह मानना आवश्यक है कि हिंसा, झूठ, चोरी, क्रोध,मान आदि पाप हैं; अहिंसा सत्य आदि पुण्य या धर्म हैं। इस हालतमें दोनों ही भले हैं। परन्तु यदि सर्वज्ञवादका यह प्रयोजन है कि—'हमारा धर्मही सत्य कहलाये और सबके धर्म झूठे कहलावें, किसी भी विषयमें नवीन खोज करने को हम बुरा समझें और अन्धश्रद्धाको गुण समझें, तो ऐसा सर्वज्ञवाद पाप है। इसीप्रकार अगर सर्वज्ञ न मानने का यह मतलब लगाया जाय कि—'सर्वज्ञ तो है ही नहीं, इसलिये दया परोपकार आदिका क्या फल है, यह कौन कहसकता है? इसलिये ये सब व्यर्थ हैं'। ऐसा सर्वज्ञाभाव-वाद भी धार्मिक दृष्टिसे मिथ्या है। सर्वज्ञवाद और असर्वज्ञवाद भी शुद्ध दार्शनिक चर्चा है। दार्शनिक दृष्टिसे दोमें से कोई एक असत्य अवश्य है, परन्तु अगर हमारी धार्मिक दृष्टि ठीक हो तो दोनोंही दार्शनिक सिद्धान्त धार्मिक दृष्टिसे सत्य कहे जासकते हैं, और अगर धार्मिक दृष्टि ठीक न हो तो दोनोंही असत्य कहे जासकते हैं। इससे भी मालूम होता है कि धर्मका स्थान दर्शनके स्थानसे जुदा है।

आत्मा है कि नहीं, और है तो कैसा है, यह प्रश्न भी दार्शनिक है। इसमें प्रश्नका दूसरा भाग तो धर्मसे और भी अधिक दूर है। किसीने आत्माको अणुके बराबर माना, किसीने शरीरके बराबर, किसीने व्यापक। इन मतभेदोंसे आत्मवादके विशेष उद्देश को कोई धक्का नहीं लगता, क्योंकि परलोक तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाली पुण्य-पापकी चर्चा तीनों के लिये एक सरीखी है। हाँ, अनात्मवाद और आत्मवादका भेद अवश्य ही कुछ अधिक है और बहुतसे लोगोंको यह भ्रम होजाता है कि इसका धर्मके साथ अवश्य ही अनिवार्य सम्बन्ध है। आत्माको न माननेवाले नास्तिक धर्मात्माकी वे कल्पना भी नहीं कर सकते। परन्तु अन्य प्रश्नोंके समान यह प्रश्न भी विशुद्ध दार्शनिक है।

आत्मा एक नित्य-पदार्थ है कि नहीं, यह तो तर्क का विषय है। परन्तु हमें तो यह देखना चाहिये कि इस विषयका धार्मिक पहलू क्या है। साधारण आत्माका निषेध तो कोई नहीं करता, कोई नहीं कर सकता। विवाद है उसकी नित्यता या स्वतन्त्रता पर। जिन्हें दार्शनिक जगत्का नास्तिक कहा जासकता है, वे जन्मके पहिले और मरणके बाद आत्मा नहीं मानते। जन्मके पहिले और मरणके बाद आत्मा माननेका फल यह है कि मनुष्यको कर्म-फल पर विश्वास हो, इस जन्मके सुख-दुःखको वह आकस्मिक न मानकर सकारणक माने, और इस जन्ममें ऐसे काम करे जो दुःखद न हों। अगर अच्छे कार्य का फल उसे इस जन्ममें न मिले तो परजन्मकी आशासे वह निराश न हो। आत्मवादकी यही उपयोगिता है और यह बड़ी भारी उपयोगिता है।

यद्यपि आत्माके स्वतन्त्र अस्तित्वको सिद्ध करने के लिये बहुतसी युक्तियाँ हैं, फिरभी वे इतनी जबर्दस्त नहीं हैं कि एक भौतिक विज्ञानशास्त्री उनके साम्हने झुक ही जाय। सम्भव है उन युक्तियोंसे वह नित्य आत्माको मानले, और इससे भी ज्यादः सम्भव है कि वह नित्यात्माके विषयमें सन्दिग्ध हो

जाय, परन्तु थोड़ी बहुत सम्भावना यह भी है कि वह नित्यात्माको न माने। और इसका कारण पक्षपात या दुराग्रह नहीं किन्तु युक्तिसे न जँचना ही हो। परन्तु दार्शनिक जगतका यह नास्तिक धार्मिक जगत् का भी नास्तिक हो, यह नहीं कहा जासकता। दार्शनिक नास्तिक होनेपर भी वह धार्मिक आस्तिक हो सकता है।

धर्म तो हमें सदाचारी, परोपकारी, शान्त, सहिष्णु, सुखी बनाना चाहता है। इसलिये एक आदमी अगर आत्माको न माने, किन्तु सदाचार आदिको माने तो वह दार्शनिक नास्तिक हो करके भी धार्मिक आस्तिक है।

गाय, परलोक और आत्माके विषयमें कुछ नहीं जानती और न उसे भविष्यके कुछ स्वार्थका विचार आता है, फिर भी वह बछड़ेसे प्रेम करती है। इसी प्रकार अगर एक नास्तिक परलोकको न मान करके भी दूसरोंसे प्रेम करता, उन्हें सहायता पहुँचाना उचित समझता हो, दूसरोंको सताना बुरा समझता हो, तो वह धर्मात्मा है, आस्तिक है। ऐसे उदाहरण मिलते हैं कि परलोक न माननेवालोंने अपने देशपर प्राणोंका बलिदान कर दिया है। उनको मरते समय इतनाही खेद रहा है कि क्या करें, पुनर्जन्म नहीं है, नहीं तो अगले जन्ममें भी हम इसीप्रकार देशसेवामें प्राण लगाते। इससे मालूम होता है कि आत्माके न माननेपर भी लोग परसेवाके लिये प्राणोत्सर्ग करना उचित समझते हैं और आवश्यकता पड़ने पर करते भी हैं। इसलिये आत्माको न माननेसे ही धर्मसे सम्बन्ध नहीं छूट जाता।

अहिंसामें जो निर्वैरता है, सत्यमें जो हर्ष है, विश्वसनीयता है, अचौर्यमें जो निर्भयता है, व्यावहारिक सुविधा है, ब्रह्मचर्य या कामसन्तोषमें जो स्वास्थ्य रक्षा और कौटुम्बिक शान्ति है, अपरिग्रहमें जो निराकुलता है, यह सब जैसा आत्मवादीके लिये है वैसा अनात्मवादीके लिये भी है। अनात्मवादी परलोक भलेही न माने, परन्तु ऐहिक सुख तो वह चाहताही है और उसके लिये नैतिकताकी तथा नैतिकताका सदा पालन करनेकी आवश्यकता है। धर्मके इस रहस्यको जिसने समझलिया, वह आत्मा माने तो क्या, और आत्मा न माने तो क्या, वह आस्तिक है, और जिसने धर्मके इस मर्मको नहीं समझा वह आत्मा माने या न माने, वह परम नास्तिक है।

आत्मापर विश्वास हो, यह अच्छी बात है; परन्तु यदि आत्मापर विश्वास न हो तो शुद्ध दार्शनिक प्रश्न समझ कर इसपर उपेक्षा करना चाहिये। धार्मिक कर्त्तव्यके उत्तरदायित्वसे अपनेको मुक्त न समझना चाहिये। क्योंकि आत्मा नित्य हो या अनित्य परन्तु वह जबतक है तबतक सुखी रहना चाहता है, उसके लिये धार्मिक नियमोका शुद्ध हृदयसे पालन करना आवश्यक है।

मुक्तिका प्रश्न भी दार्शनिक है। पहिले लोग मुक्ति नहीं मानते थे। पूर्वमीमांसामें न मुक्ति है, न ईश्वर, न सर्वज्ञ। और यह आर्योंका सबसे प्राचीन धर्म है। पीछे मुक्तिकी आवश्यकता मालूम हुई। क्योंकि संसारमें एकान्त सुख असम्भव है, इसलिये मुक्तिकी कल्पना की गई। किसीने वहाँ अनन्त सुख माना, किसीने सुख और दुःख दोनोंका अभाव। अनन्त सुखकी दार्शनिक व्याख्या करना अशक्य है, इसलिये सुख दुःख दोनोंका अभाव ही वहाँ समझा जासकता है, जैसाकि सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदिने माना है। खैर, बात यह है कि अब हरएक आदमी मुक्तिकी दुहाई देने लगा है, और किसी न किसी रूपमें मुक्ति मानी जाने लगी है। मुक्तिकी जो कल्पना है, उसमें स्वर्गकी कल्पनाकी अपेक्षा एक विशेषता है। स्वर्गसे प्रत्येक प्राणीको फिर इसी संसारमें लौट आना पड़ता है, परन्तु मुक्तिसे पुनरागमन नहीं होता। दुःखसे घबराये हुए प्राणियोंके लिये—और दुःखसे तो सभी घबराये हुए हैं—यह कल्पना बड़ी मोहक—आश्वासप्रद—है। जो लोग मुक्तिपर विश्वास रख सकते हैं और उसकी आशासे जीवन

को धर्ममय बनाते हैं, वे भाग्यशाली हैं। परन्तु दुर्भाग्य या सौभाग्यसे जिनकी बुद्धि विशेष जागृत होगई है, वे मुक्तिकी कल्पनाको बाधारहित नहीं समझते। जीव तो नये पैदा नहीं होते और मोक्षसे लौटकर नहीं आते, तब अभी तक ये संसारमें बने क्यों हैं? भूतकाल अनन्त है, इसलिये अभीतक तो सब जीव मोक्ष चले गये होते। ये सब बाधाएँ बड़ी जबर्दस्त हैं, इसलिये आजीवक आदि सम्प्रदायोंमें मुक्तिसे पुनरागमन भी मान लिया गया है।

इन सब बाधाओंको हटते न देखकर अगर कोई मुक्ति न माने तो भी क्या हानि है? क्योंकि यह एक दार्शनिक प्रश्न है। मुक्ति न माननेपर भी कर्म फल माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, और जब कर्म फल मान लिया गया तब अपने कर्मोंको सुधारनेकी आवश्यकता हो ही जाती है। बस, यही धर्म है।

मैं ऊपर कह चुका हूँ कि जो लोग मुक्तिपर विश्वास रख सकते हैं, वे अच्छा करते हैं। सिर्फ उन्हें अपने इस मतका आग्रह न होना चाहिये। और साथ ही उनकी धार्मिकता इतनी कमजोर न होना चाहिये कि अगर उनके सामनेसे मुक्तिका प्रलोभन हटा दिया जाय तो वे धर्मको भी निरर्थक समझने लगें।

मुक्ति न होनेपर भी जगतमें सदाचारकी जरूरत रहेगी ही। यह कहना ठीक नहीं कि "जब सदाचारी भी संसारमें भ्रमण करते रहेंगे और दुराचारी भी भ्रमण करते रहेंगे, इसप्रकार इस भ्रमणका अंत होगा ही नहीं, तब किस लिये धर्म सेवन किया जाय?" इस प्रश्नके भीतर एक तरहसे सटोरिया मनोवृत्ति काम कर रही है। हम चाहते हैं कि हम थोड़ासा धर्म करके अगर अनन्त कालके लिये सुखी होते हैं तब तो ठीक, नहीं तो हमें धर्मकी जरूरत नहीं है। परन्तु इस मनोवृत्तिका हमारे जीवनसे कुछ मेल नहीं मिलता। धर्मका फल मोक्ष न मानकर स्वर्ग या ऐसी ही कोई चीज़ मानी जाय तो यह तो बहुत ज्यादः है, परन्तु हम तो इससे बहुत कमके लिये बहुत अधिक शक्ति लगाते हैं। वैभव और नामके लिये हम जितनी शक्ति खर्च करते हैं, तपस्या करते हैं, मानापमान भूख प्यास आदि सहते हैं, उतना हम धर्मके लिये क्यों नहीं कर सकते हैं? वैभव आदि भी परिमित हैं और स्वर्ग वगैरहसे बहुत थोड़े हैं। जब हम उनके लिये दिनरात कोल्हूके बैलकी तरह जुत सकते हैं, तब धर्मजन्य परिमित सुखके लिये क्यों नहीं जुत सकते? न कुछ रोटियोंके लिये जो सब कुछ सहते हैं, तथा धर्माधर्मकी पर्वाह नहीं करते, वे यदि यह कहें कि मोक्ष नहीं मिलेगा तो हम कुछ न करेंगे, यह हास्यास्पद बहाना है।

जिनने मोक्षका रहस्य समझ लिया है, उन्हें किसी फलकी चिन्ता नहीं है, उन्हें तो धर्ममें ही परमानन्द है। वे तो उस परमानन्दके लिये ही सब कुछ सहनेके लिये तैयार हैं। जिनने उस रहस्यको नहीं समझा, वे संस्कारवश मोक्षका नाम लेते हैं अवश्य, परन्तु वे स्वर्गसे बढ़कर और कुछ नहीं समझते, न चाहते हैं। मुक्ति अगर सम्भव हो तो न वहाँ सुख रह सकता है, न दुःख; क्योंकि सुख और दुःख ये परस्पर सापेक्ष हैं। हाँ, दुःखाभाव मात्र ही अगर सुख कहना हो, तो बात दूसरी है; परन्तु वह दुःखाभाव किस रूप है, यह नहीं कहा जासकता। निराकुलता आदि भी अभावात्मक शब्द हैं, इनका भावरूप बतलाना अशक्य है। इसप्रकार अनन्त ज्ञानकी तरह अनन्त सुखकी कल्पना भी कल्पना ही है। वास्तवमें मुक्तावस्था सुखदुःखरहित ही होगी। और ऐसी अवस्थाका सर्वसाधारणको लोभ नहीं हो सकता।

खैर, जिसको लोभ हो सकता हो, वह करे। परन्तु यह बात ध्यानमें रखना चाहिये कि मुक्ति हो या न हो, मनुष्यको सदाचारी और धर्मात्मा बननेकी आवश्यकता है। जो लोग धर्मकी इस आवश्यकताका अनुभव करते हैं वे मुक्ति मानें या न मानें, इससे उनकी धार्मिकतामें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ।

पेटमें आग।

समाचार पढ़कर पहिले तो हँसी आती है, परन्तु ज्योंही ज़रा गंभीर विचार किया कि आँखोंसे आँसू टपक पड़ते हैं। समाचार यों है—

एक शिक्षित युवकने आग बुझानेवाले बम्बाखाने पर आग लगनेकी खबर कर दी। परन्तु जब बम्बावाले तैयार होकर आये तो कहीं आगका पता न था। उस युवकसे पूछा गया तो उसने अपने पेट की तरफ सङ्केत किया। बम्बावाले कुछ न समझे, तब उसने कहा कि मेरे पेटमें भूखकी आग लगी है, क्या तुम इसे बुझा सकते हो ?

बात समझमें आ गई। उस युवकको गिरफ्तार कर लिया गया। इस हास्यपूर्ण किन्तु सच्चे समाचार में जो तथ्य है, वह हँसीकी चीज़ नहीं है। आज लाखों नहीं करोड़ों पेटोंमें यह आग लगी है, परन्तु इसे बुझानेवाला कोई नहीं है। इस तरहके समाचार जो आये दिन पढ़नेको मिलते हैं वे इतने भयानक होते हैं कि उनको पढ़ते समय हृदय थामना पड़ता है।

अभी बम्बईके एक युवकने बेकारीसे तङ्ग आकर अपनी पत्नीके पेटमें छुरी मारकर अपने पेटको भी फाड़ डाला। शायद पेटकी ज्वाला शान्त करने का उसकी दृष्टिमें यही उपाय रह गया था !

एक कृषक परिवारने खेत पर एक गड्ढा खोदा और अग्नि जलाकर बच्चों और पतिपत्नीसहित जल गया। और कह गया कि अब इस जगत्में ग़रीबों को रहनेके लिये जगह नहीं है ! शायद भूखकी ज्वालाओंकी अपेक्षा उसे अग्निकी ज्वालाएँ शीतल मालूम हुई। एक ज्वालाको शान्त करनेके लिये दूसरी ज्वालाओंका उपयोग करके उसने 'विषस्य विषमौषधम्' वाली कहावत चरितार्थ की।

इसी तरह कोई ट्रेनके नीचे कट गया, कोई पानी में डूबा मरा, किसीने विषपान कर लिया, इसप्रकार के समाचार बराबर आते रहते हैं।

अगर ३० ४० रुपये मासिक वेतनकी कोई जगह खाली होती है, तो उस जगहके लिये दो दो तीन तीन हज़ार अर्ज़ियाँ जा पड़ती हैं और उनमें आधे से अधिक ग्रेज्युएट होते हैं। हमारे देशका शिक्षित वर्ग शिक्षा प्राप्त करनेमें जितना धन व्यय करता है, उसका व्याज भी वह नहीं कमा पाता। यह आजके युगकी विकटसे विकट समस्या है।

जिस समाजमें एक भी मनुष्य बेकार हो, समझना चाहिये कि उस समाजकी रचनामें कोई दोष आ गया है, जिसको निकालनेकी ज़रूरत है। पहिले ज़मानेमें इस समस्याको सुलझानेके लिये वर्णव्यवस्था की गई थी। परन्तु पीछेसे उसने जातिका रूप धारण करके अनेक अनर्थ पैदा करना शुरू कर दिये। रोटी-बेटीव्यवहार विच्छेदसे भी उसका सम्बन्ध होगया। इसके अतिरिक्त आत्मविकासके पवित्र धार्मिकक्षेत्र में भी उसने टाँग अड़ाना शुरू कर दिया। इसलिये वह उखड़ गई। इधर बाहरकी अनेक जातियोंके आक्रमण तथा संघर्षणसे भी वह विच्छिन्न होगई। राजबल न मिलनेसे तो वह और भी अधिक निष्प्राण होगई। अब आज वह व्यवहारमें लाई भी नहीं जा सकती।

दूसरे देशोंके सामने भी यह समस्या है, परन्तु वहाँकी सरकारें जनताकी सरकारें हैं, इसलिये वे इस प्रश्न पर पूरा ध्यान देती हैं। बेकारोंकी संख्या कम करती है। बेकारोंको खाना खर्च भी देती है। इस तरह बेकारोंको हरतरह सहायता पहुँचाती हैं। परन्तु इस देशका यह परम दुर्भाग्य है कि यहाँकी सरकारको इस बातकी उचित चिन्ता नहीं है। यह देशव्यापी समस्या सरकारके विशेष प्रयत्नके बिना हल नहीं हो सकती।

हममें से बहुतसे आदमी इसे भाग्यका दोष समझकर चुप रह जाते हैं। होगा। परन्तु हमें भाग्य का गुलाम क्यों होना चाहिये ? भाग्य अपना काम

करे, परन्तु हमें पुरुषार्थके ऊपर ही विचार और कार्य की नींव डालना चाहिये। जो मनुष्य आलसी हैं, वे भूखों मरें तो भले ही मरें, परन्तु जो काम चाहते हैं, परिश्रम करनेको तैयार हैं, उन्हें भी अगर काम नहीं मिलता तो इसे सिर्फ भाग्यका ही दोष नहीं कहा जा सकता। यह समाजके तन्त्रका भी दोष है।

बेकारीसे जो प्राणघात करते हैं, उन पर दया आना स्वाभाविक है, परन्तु यह प्रशंसनीय कार्य नहीं है। प्रशंसनीय कार्य यह है कि वे इस आर्थिक तन्त्रके विरुद्ध युद्ध छेड़ दें, जिससे यह बेकारी फैली है। इसमें अगर उनके प्राण भी जाँय तो क्या हानि है? आत्महत्यासे तो यह अच्छा ही रहेगा।

जो लोग खुशहाल हैं उनसे तो इस कामकी आशा करना व्यर्थ है। उनको क्या गरज़ है? परन्तु जो बेकार हैं, मरणोन्मुख हैं या जीवन्मृत हैं, उन्हें इस नारकीय जीवनसे इतना प्रेम क्यों है कि वे उसके जोखम पर कुछ भी करनेको तैयार नहीं होते हैं। दूसरे देशोंके बेकार अपनी बेकारी दूर करानेके लिये इतना आन्दोलन करते हैं, इतनी अशान्ति मचाते हैं कि सरकारको उन पर विचार करना ही पड़ता है। यहाँ भी बेकारोंको इस बातपर ध्यान देना चाहिये।

जिस मनुष्यके पास अपने खानेपीने लायक आमदनी है उसका भी परम कर्तव्य है कि वह इस विकट समस्याको सुलझानेके लिये कुछ न कुछ अवश्य करे। सामाजिक संस्थाओंको चाहिये कि वे इस प्रकारके छोटे छोटे काम निकालें जिसमें अधिकसे अधिक बेकार रक्खे जा सकें। उन्हें भोजन-वस्त्र दिया जाय और उनसे कुछ काम लिया जाय। इसके लिये देशव्यापी उग्र आन्दोलन होना चाहिये जिससे सरकार को भी उपेक्षा छोड़ना पड़े और सब मिलकर इस समस्याको सुलझानेका कोई अमोघ यत्न करें।

ग्राम-उद्योग संघ।

महात्मा गाँधीजीके ग्रामउद्योगसंघका नाम पाठकोंके कानोंमें पहुँच ही गया होगा। यह संघ कितने अंशमें सफल हुआ है या होगा, यह जुदा प्रश्न है, परन्तु इसका लक्ष्य क्या है और आधुनिक युगकी किस समस्याको सुलझानेके लिये यह प्रयत्न है, इसका जब हम विचार करते हैं तब हमें इस या ऐसे धंधों की उपयोगिता मालूम होती है।

आज संसारमें बेकारी है। जिन देशोंमें विदेशी सरकारें हैं, वहाँकी दुर्दशाकी तो बात ही क्या है, परन्तु जहाँ राष्ट्रीय सरकारें हैं और बेकारीको हटानेका भरसक प्रयत्न करती है, उनके साम्हने भी यह जटिल समस्या खड़ी है। बेकारोंका भत्ता देकर जो कुछ वे सहायता कररही है, उससे काम नहीं चल सकता, न यह अवस्था चिरकाल तक स्थिर रह सकती है, क्योंकि यह बिलकुल कृत्रिम है।

बेकारीसे जो लोग भूखों मरते हैं या कष्ट उठाते हैं उसका कारण यह नहीं है कि दुनियाँमें आज खाने पीने पहिनने ओढ़नेकी चीजें कम होगई हैं। भोगोपभोग सामग्री तो काफ़ी है परन्तु आज तो दशा यह है कि खरीदारोंके न मिलनेसे एक तरफ़ वे गोदाममें सड़ती हैं और दूसरी तरफ़ उनके न मिलनेसे लोगोंका जीवन बर्बाद होता है। काव्योंमें वर्णित रात्रिके चकवा चकवीकी तरह निकटमें रहने पर भी दोनोंका वियोग रहता है। सब जगह आज यही तबाही है।

सामग्री बहुत है, इसलिये दुनियाँ भरमें वस्तुओं का मूल्य भी कम होता जा रहा है। हमारे यहाँ भी सस्तेका अकाल पड़ रहा है। सस्तेपनके कारण किसान—जो कि यहाँ ७५ फ़ी सदी हैं-मरे जा रहे हैं। इने गिने नौकरी पेशेवाले लोगोंको सुभीता होने पर भी नौकरियोंके न मिलनेके दुःखने उस सुभीतेको निष्प्राण कर दिया है। इससे व्यापारी भी रो रहे हैं। उनकी दशा आज कृषकोंसे अच्छी नहीं है। किसानों पर तो दया भी आती है, परन्तु व्यापारहीन व्यापारी पर तो कोई दया भी नहीं दिखलाता। इसे खाने पीनेकी चिन्ताके साथ इज्जत आबरूकी भी रक्षा करना पड़ती है। इस प्रकार क्या किसान, क्या

मजूर, क्या नौकरीपेशा, क्या व्यापारी, सभी इस विश्वव्यापी आर्थिक संकटके शिकार हो रहे हैं। चीज़ रहने परभी मनुष्य जाति भूखों मरे, यह मनुष्य के लिये, उसकी व्यवस्थापकताके लिये बड़े शर्मकी बात है।

परन्तु शर्मकी बात कह देनेसे ही छुट्टी नहीं हो जाती। इसका कारण और उपाय तो सोचना ही पड़ेगा। कारण तो स्पष्ट है, और वह है मशीनों का तांडव मशीनोंने जहाँ मनुष्यको विविध सुविधाएँ दी हैं, वहाँ उनने अक्षन्तव्य पाप किये हैं। एक पाप तो यह कि वे मनुष्योंका काम खुद करने लगीं, इसलिये मनुष्य बेकार हो गया। सौ आदमियोंका काम अगर एक मशीन करने लगे तो उस मशीनको चलानेवाले सिर्फ एकही आदमीको काम मिल सकेगा, बाकी ९९ आदमियोंको बेकार रहना पड़ेगा। उनको काम देनेकी जबतक सुव्यवस्था नहीं हो जाती, तबतक मशीन सोनेकी कटारकी तरह विघातक ही है।

दूसरा दोष है, उद्योग-धन्धोंका केन्द्रीभूत हो जाना। उद्योग-धन्धोंके केन्द्रीभूत होनेसे गाँव उजड़ते हैं, तथा सम्पत्ति देशव्यापी न होकर एक जगह एकत्रित हो जाती है। मानव-जीवनकी स्वतन्त्रता पर सख्त आघात होता है। किसानके पास जो फालतू समय होता है उसके लिये उसके पास कुछ भी काम नहीं रह जाता और केवल खेतीसे उसकी गुज़र नहीं होती। इसप्रकार ग्राम्यजीवन बिलकुल संकटापन्न हो जाता है।

आज दुनियाँके बड़ेबड़े अर्थशास्त्री इस बातको मानने लगे हैं कि उद्योग-धन्धोंको केन्द्रीभूत न करके छोटे पैमाने पर देशव्यापी करनेसे बेकारी दूर हो सकेगी।

महात्मा गांधीजीके ग्रामउद्योगसंघका यही उद्देश्य है। वे ग्रामोंके उद्योगोंको पुनर्जीवित करना चाहते हैं। इसका यह मतलब नहीं है कि किसी भी तरहकी मशीनका उपयोग न किया जाय। परन्तु इस युगमें यह अवश्य वांछनीय है कि मशीनें इसप्रकार दानवाकार न हों जो हजारों मनुष्योंको गुलामीकी जंजीरसे बाँधे रहें। वे घरकी चीज़ हों। मनुष्य उनके आधीन न हो, किन्तु वे मनुष्यके आधीन हों।

ग्रामउद्योगसंघकी इस योजनाका सिर्फ यही मतलब है। वह मशीनोंको नहीं किन्तु मशीनके ताण्डवको, उनके दानवाकारको नष्ट करना चाहता है, ग्राम-उद्योगोंको देशव्यापी बना देना चाहता है, जिसमें हरएकको काम मिल सके, बेकारी दूर हो।

इसमें सन्देह नहीं कि इस योजनाकी पूरी आवश्यकता है। परन्तु इसके सामने कुछ कम बाधाएँ नहीं हैं। भीतरी दोष, तथा बाहिरी आक्रमणोंसे बचकर इस गाडीको चलाना पड़ेगा और लाखों मनुष्योंको इसके लिये उद्योग करना पड़ेगा। ग्रामों को अपने पैरों पर खड़ा होना पड़ेगा। अगर यह उद्योग सफल हुआ तो इस आर्थिक संकटको पराजित किया जा सकेगा, इसमें संदेह नहीं।

पुस्तकाकार "मर्म"!

'जैनधर्मका मर्म' के छः अध्याय पूर्ण हो चुके हैं। परन्तु यहींपर यह लेखमाला समाप्त कर दीगई है। इस विषयमें और भी कुछ बातें लिखनेको रह गई हैं। वे सब अन्य शीर्षकोंमें प्रकाशित होंगी।

'मर्म' के प्रेमी पाठकोंकी माँग है कि वह पुस्तकाकार पढ़नेको मिलना चाहिये। उसके पुराने अंक मिलते भी नहीं है। इसके पुस्तकाकार प्रकाशित होने की सूचना भी प्रकाशित होचुकी है, परन्तु 'मर्म' का संशोधन-कार्य भी करना था, इसलिये वह तुरन्त ही प्रेसमें नहीं दिया जासका। परन्तु अब वह प्रेसमें दिया जाचुका है। संशोधन भी होरहा है। इसलिये शीघ्रही वह 'जैनधर्ममीमांसा' के नामसे प्रकाशित हो जायगा। अभी उसमें 'मर्म' के तीन अध्याय ही रहेंगे। संशोधन काफी किया गया है।

लेखमालाके पहिले अध्यायमें सामान्य धर्ममीमांसा है। यह किसी सम्प्रदाय विशेषसे सम्बन्ध नहीं रखती। इस अध्यायके पीछे सत्यसमाजकी स्कीम और उसके विषयमें अनेक तरहका शंका समाधान लगा दिया गया है। इसप्रकार क़रीब १०० पेजकी एक पुस्तक और बनगई है। सत्यसमाजके प्रत्येक सदस्यको कमसेकम यह पुस्तक अपने पास अवश्य रखना चाहिये।

पुस्तकको प्रकाशित करनेके लिये श्रीमान् सेठ सुगनचन्दजी लुणावत धामनगाँवसे २५०) और श्रीमान सेठ राजमलजी ललवानी जामनेरसे २५०) मिल गये हैं, इसलिये पुस्तक क़रीब लागत मूल्यपर मिल सकेगी। विना मूल्य देनेसे योग्य मनुष्योंको पुस्तक बहुत कम मिल पाती है और अनधिकारियोंके पास पहुँचकर सड़ती रहती है, इसलिये पुस्तकका कुछ न कुछ मूल्य रक्खा जायगा। बिक्रीसे जो वसूली होगी उससे कुछ और साहित्य प्रकाशित करनेमे सुभीता होगा। धर्ममीमांसाके प्रथम अध्यायका मूल्य करीब ।) चार आना होगा और जैनधर्ममीमांसाके तीन अध्यायका मूल्य करीब १) होगा। सत्यसमाजकी प्रत्येक शाखाको 'धर्ममीमांसा' की कमसे कम पाँच पाँच कापियाँ और जैनधर्म मीमांसा की एक कापी अवश्य मँगाना चाहिये।

पञ्चायतें और बहिष्कार।

हमारे देशमें पंचायत-सत्ता एक वजनदार सत्ता है। समाजमे बहुतसी बातें ऐसी होती हैं, जिनका इलाज सरकार भी नहीं कर सकती। वे काम पंचायतें कर सकती हैं। पहिले जमानेमें ग्राम-पंचायतें किसी सरकारसे कम नहीं थी, परन्तु अब उनकी सत्ता नष्ट होगई है। किन्तु जातीय पंचायतें अब भी हैं। इन पंचायतोंका काम भी ग्राम-पंचायतोंके समान है। हाँ, इनका क्षेत्र ग्राम-पंचायत की अपेक्षा संकुचित है।

कोई भी सत्ता हो-चाहे वह सरकार हो, ग्राम-पंचायत हो, या जातीय पंचायत हो—उसका मुख्य काम सिर्फ यही है कि वह भीतरी और बाहरी आक्रमणोंसे रक्षा करके व्यक्तियों को उन्नत बनावे तथा उन्हें सहायता दे। परन्तु हम देखते हैं कि जातीय पंचायतें इस कार्यकी पूरी उपेक्षा करती हैं। आज वे किसी भी अन्याय-अत्याचारको रोकनेकी कुछ भी कोशिश नहीं करतीं। विधवाओं को क्या कष्ट हैं, कुमारोंकी क्या दशा है, गरीबों पर कैसी बीतती है, इससे उन्हें कुछ मतलब नहीं। किसी पापीको दण्ड देना भी उनके वशकी बात नहीं मालूम होती। कोई आदमी झूठा, धोखेबाज, मक्कार, चोर, कैसा भी हो, ये उसका कुछ नहीं कर सकतीं या नहीं करतीं। ऐसी हालतमे इन पंचायतोंके विषयमें यह प्रश्न स्वभावतः ही उठा करता है कि आखिर ये किस मर्ज की दवा हैं?

परन्तु इतना ही होता तो भी गनीमत थी। ये कुछ न करतीं तो भी ठीक था। परन्तु ये कुछ करती हैं और बहुत बेजिम्मेदारीसे करती हैं। किसी आदमी से चिढ़ होगई तो उस पर पंचायती कहर बरसा। किसी रूढ़िका भंग हुआ कि वह बेचारा बहिष्कृत हुआ। उनने अपना यही कर्तव्य समझा है कि पुरानीसे पुरानी और बुरीसे बुरी रूढ़ियोंका भी रत्ती तोलेसे पालन किया जाय, भले ही उससे जीवनका विकास रुकता हो, उन्नतिका मार्ग रुद्ध होता हो पड़े पड़े दम घुटता हो। परन्तु रूढ़िके आगे पैर बढ़ाना मौतका सामना करना है।

इस विषयमें दूसरा अंधेर भी कम नहीं है। पंचायतोंके पास एक ही दंड है और उसका एक ही तरह से अमल किया जाता है। वह है, बहिष्कार; सदाके लिये बहिष्कार; पुश्त दर पुश्तके लिये बहिष्कार। कोई सरकार मनुष्यहत्याके लिये और कौड़ी की चोरीके लिए अगर एकसा ही दंड रक्खे, तो आप उस सरकार को क्या कहोगे? ऐसी अंधेरनगरीका राज्य कितने दिन चलेगा? परन्तु आज भारतवर्ष और उसका हिंदू, जैन आदि समाज ऐसी ही

अंधेरनगरियोंसे भरा हुआ है। यहाँ यह कहावत अच्छी तरह चरितार्थ होती है कि—

अंधेर नगरी बेवूफ राजा।
टके सेर भाजी टके सेर खाजा॥

माना कि पंचायतोंके हाथमें बहिष्कारके सिवाय और कोई दण्ड नहीं है, परन्तु उस बहिष्कारमें भी मात्राका विचार हो सकता है। अपराधके अनुसार वर्ष, दो वर्ष, चार वर्षके लिये बहिष्कृत करना चाहिये, न कि जन्म भरके लिये, या पुश्त दर पुश्तके लिये। और फिर बहिष्कारकी अवधि समाप्त हो जाने पर उसे अपने आप मिला लेना चाहिये। यह नहीं कि वह पंचों को हाथ जोड़ने के लिये घर घर नाक रगड़ा करे, पंचोंकी जूतियोंकी पोटली बाँध कर सिरपर रखता फिरे, फिर भी उसका बहिष्कारसे पिंड न छूटे। इसप्रकारके अन्यायोंसे लोग या तो विधर्मी और विजातीय बन जाते हैं अथवा जीवित नरकका कष्ट उठाते हैं अथवा आत्मघात तक कर लेते हैं।

अभी उज्जैन की एक घटनाका समाचार मिला है कि एक वैश्यने गंधकका तेजाब पीकर आत्महत्या करली। कारण यही था कि उसने जातिमें सम्मिलित होनेके लिये पंच—परमेश्वरोंकी बहुत खुशामद की, उनने प्रायश्चित्त बतलाया वह भी किया, फिर भी वह जातिसे पतित ही समझा जाता रहा। गत २२ अप्रेलको जब निमंत्रण पाकर वह किसी भोजमें गया था, तब वह पत्तलपर से उठा दिया गया। इस अपमानको वह न सह सका और इस तरह उसने आत्महत्या करली। परन्तु जो लोग आत्महत्या नहीं कर पाते और दुर्भाग्यसे ग़रीब होते हैं, उनका कष्ट आत्महत्याके कष्टसे कम नहीं होता। हिन्दू समाजमें नीचसे नीच व्यक्तिकी अपेक्षा भी जातिबहिष्कृत नीचा समझा जाता है, और कभी कभी उसकी कठिनाइयाँ सीमा पर पहुँच जाती हैं।

इससे समाजका भयंकर नाश होरहा है। पंचायत कोई जीव-विशेष नहीं है जो समाजसे जुदा हो। वह भी व्यक्तियोंका समूह है। जो अपराधीके रूप में आता है वह भी पंचायतका अंग होता है। अगर आज पंचायतके एक अंगपर अत्याचार होता है तो कल दूसरे अंगपर होता है, परसों तीसरे पर; इसप्रकार सारी समाजका नाश होता रहता है। इसका दुष्फल हमारी नज़रोंके साम्हने है। उचित तो यह है कि पंचायतें अपना सुधार करें—वे दण्ड देनेकी अपेक्षा सेवा अधिक करें, अन्यथा उनकी सत्ता की अन्तिम घड़ी बिलकुल नज़दीक है। आज भी जो पैसेवाले हैं वे उनकी पर्वाह नहीं करते, बल्कि पंचायतें अब श्रीमानोंके इशारे पर नाचा करती हैं। रहे ग़रीब, सो जबतक उनमें धर्मप्रेम रहता है तभीतक वे पंचायतोंसे डरते हैं अन्यथा पंचायतको ठोकर मारकर वे विजातीय और विधर्मी बनकर अच्छी तरह बदला लेते हैं।

अगर पंचायतोंने इसपर ध्यान न दिया तो नवयुग उन्हें पीस देगा। और अब तो राजसत्तासे भी इस कामका प्रारम्भ हो गया है। बड़ौदा राज्यमें ऐसा कानून बन गया है जिससे पंचायती सत्ता निकम्मी हो जाय। इधर इन्दौरसे भी यही समाचार आ रहे हैं। इन्दौर राज्यकी व्यवस्थापक सभामें जाति-अत्याचार-निवारक कानून बनानेके लिये एक प्रस्ताव आया था जिसका सार यह था कि अगर कोई पंचायत किसी व्यक्तिको इसलिये जातिमें बहिष्कृत करे कि उसने किसी रीति-रिवाज या रूढिका भंग किया है तो वह बहिष्कृत व्यक्ति फर्स्टक्लास मजिस्ट्रेटके इजलासमें पंचोंके विरुद्ध केस कर सकता है, उसमें सरपंच, पटेल आदिको छः महीने तककी क़ैद और १०००) रु० तक जुरमाना हो सकेगा।

हम चाहते हैं कि पंचायतें स्वयं अपना सुधार करें। परन्तु ऐसे चिन्ह तो दिखलाई नहीं देते, इसलिये राज्यसत्ता हस्तक्षेप करे यह भी अनुचित नहीं है बल्कि आवश्यक मालूम होता है। पञ्चोंको इसका विरोध करनेके लिये जालसाज़ीसे लोगोंसे हस्ताक्षर कराना या बहिष्कारकी धमकी देकर उनसे विरोध कराना उचित नहीं है। उन्हें चाहिये कि

वे पंचायत-संस्थामें आमूल परिवर्तन करें जिससे क़ानूनकी ज़रूरत ही न रह जाय अथवा क़ानून रहे तो भी पंचायतको उसके चंगुलमें फँसनेका मौक़ा ही न आवे।

समाजसेवी मित्रका वियोग।

श्रीमान पं० कुँवरलालजी न्यायतीर्थ—जो कि मेरी छात्रावस्थासे ही मित्र थे और जिनकी मित्रता भ्रातृत्वमें परिणत होजानेसे जिनका मैं बड़ा भाई बन बैठा था, विजातीय-विवाहके आन्दोलनमें जो मेरे हाथ थे और पीछेके हर एक आन्दोलनमें जो मेरे अनुमोदक रहे—उनके स्वर्गवासका समाचार सुनकर हृदयको बड़ाभारी धक्का लगा है। कुँवरलालजी एक अच्छे विद्वान थे और समाजके सेवक होनेके साथ वे समाजसे डरते न थे। अन्तर्जातीय-विवाह की प्रथाको कार्य रूपमें परिणत करनेके लिये उनने अपनी बहिनका अन्तर्जातीय-विवाह किया था। अभी चार महीने पहिले उनकी पत्नीका देहान्त हुआ और सुधारक होनेसे वे अपना विवाह भी दूसरी जातिमें करना चाहते थे। उनके कोई सन्तान न थी और वे स्वस्थ युवक थे, इसलिये मैंने इसके लिये उन्हें अनुमति दी। इतना ही नहीं किन्तु विवाहका आयोजन भी मैंने अपने सिर लिया। इसलिये 'सत्यसंदेश' में सूचना भी निकाली तथा अनेक सज्जनोंसे पत्रव्यवहार भी कर रहा था, परन्तु सब मिट्टी होगया। उनकी पीठपर एक फोड़ा हुआ और वह यमदूत उनके प्राण लेकर ही गया।

पं० कुँवरलालजी एक निस्वार्थ और निर्भीक समाजसेवक थे। एक तो योंही उनने समाजकी सेवा की थी और भविष्यमें वे विशेष रूपसे समाज-सेवाके कार्यमें उतरना चाहते थे; परन्तु यह सब नहीं होना था सो न हुआ। समाजका एक सच्चा सेवक चलागया। अब उनके घरमें उनकी वृद्धा माताके सिवाय और कोई नहीं है। उसका दुःख ऐसा नहीं है जो किसी भी प्रकारके शब्दोंसे शान्त किया जा सके। परन्तु शब्दोंके सिवाय मनुष्यके पास और है ही क्या? इसलिये हम उनकी माताजी, उनकी बहिन, और उनके साले श्री किशोरीलालजीके साथ समवेदना प्रगट करते हैं।

तहसीलदार साहबका वियोग।

श्रीमान बाबू पञ्चमलालजी तहसीलदार, जो कि परवार समाजके एक सुधारक नेता थे, उनके स्वर्गवासके समाचारसे हमारे साथ पाठकोंका चित्त अवश्य क्षुब्ध होगा। आप परवार सभाके अध्यक्ष रहचुके थे सुधारक विचारोंके थे, और अपनी धुन के पक्के थे। आपके वियोगसे परवार समाज की ही नहीं किन्तु दि० जैनसमाजकी बड़ीभारी क्षति हुई है।

हार्दिक उद्गार!

चिन्तातुर हो कविता मेरी,
बिलख बिलख नित रोती है।
मानस-तट पर आज अकेली,
पड़ी पड़ी यह सोती है ॥१॥

चुटकी भरकर जगा रहा हूँ,
पर न खोलती अपने नैन।
केवल आहें भरकर मुँह से,
बोल रही मृदुतम यह बैन ॥२॥

सर्व-धर्म समभाव दिखा दो,
शीघ्र करो जग का उत्थान।
सत्यदेव के बनो पुजारी,
जिससे हो प्रियतम! कल्याण ॥३॥

—"विपिन बिहारी"।

श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजी पर झूठे आक्षेप।

हमारी "जैनसभा" अमरोहाके माननीय सभापति श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी जैनके विरुद्ध कुछ कलहप्रेमी स्थानीय भाइयोंने आन्दोलन सा खड़ा कर दिया है, जिसका आधार द्वेषके अतिरिक्त कुछ नहीं। धर्मका तो बहाना ही बना रखा है। अथसे इति तक वे आक्षेप झूठे है, निराधार हैं। बहुतसे तो केवल कपोलकल्पना की ही उपज हैं। उन सबका मुँहतोड़ उत्तर सभाने ता० ११ जुलाई सन् १९३५ ई० की बैठकमे प्रत्यक्ष दे दिया है, तथा अन्यत्र भी उनकी निःसारताका दर्शन होचुका है। अत मैं यहाँ केवल दो आक्षेपोंके सम्बन्धमे ही कुछ शब्द पाठकोंकी सेवामे रखना चाहता हूँ, क्योंकि मेरा उनसे घनिष्ट सम्बन्ध है। पाठकोंसे अनुरोध है कि वे श्री साहुजीके सम्बन्धमें किसी प्रकार की ग़लतफ़हमीमे न पड़ें।

पहिला आक्षेप स्थानीय भाई मंगलसेनका है। वे कहते हैं कि श्रीमान पं० दरबारीलालजीको विदा करते समय स्टेशनपर साहुजीने एक भाईसे सत्यसमाजका सदस्य होनेके लिए जोर दिया। ग़लत, बिल्कुल ग़लत। एक विदूषक भाई जो हँसी दिल्लगी करनेमे अपनी बड़ी शान समझते हैं, और जो बे-मौके भी भद्दे ढंगसे हास्यास्पद बातें कहनेमें संकोच नही करते हैं, वे दाँत निकाल निकाल कर हँस रहे थे और कह रहे थे कि सत्यसमाजके सदस्यको आसानियाँ बहुत हैं, न रात्रि-भोजन की पाबन्दी है, न पानी छानकर पीनेकी। उससमय घटना-स्थल पर पण्डितजी उपस्थित नही थे, वे कुछ दूरपर साहुजीसे बातें कर रहे थे। मैं जानता था कि यह दिल्लगीबाज भाई पानी छानकर पीनेका भी पाबन्द नहीं है, और न दिन ही दिनमे भोजन करनेके। बन क्यों नहीं जाते सत्यसमाजके मेम्बर"? पाठकों, बस इतनी सी बात है, जिसको आक्षेपकने ख्वामख्वाह साहुजीके सिरपर मँढना चाहा है।

दूसरा आक्षेप है, लाला शिम्भूनाथ वाले पत्रके सम्बन्धमे। उसमें लिखा कि साहुजीने लाला शिम्भूनाथसे धोखेमें दस्तखत करा लिए, जब उन्हें मालूम हुआ तो वे साहुजीके पास जाकर बोले कि मेरे दस्तखत काटदो, साहुजी बोले इस समय मेरे पास वह कागज़ नही है, मैं काटदूंगा। उफ! झूठकी हद हो गई! इससे बढ़कर झूठ हो नहीं सकता! यह आक्षेपभी निरी कल्पना ही की उपज है बात यह है कि जब विरोधियोंका दस्तखती लेख प्रकाशित हुआ, तो मैंने उसे लाला शिम्भूनाथ को पढ़कर सुनाया और उन्हे सारी हकीक़त बताई। जब उन्हें बताया कि उनके भी उस लेखपर दस्तखत हैं, तो वे उन लोगों पर बहुत बिगड़े और कहने लगे कि मुझे तो उन्होंने कुछ बताया ही नहीं, धोखेसे मुझसे दस्तखत करा लिए। इसपर मैंने कहा कि तुम इस आशयका पत्र अखबारोंमे छपने भेजदो वे बोले ज़रूर। तदनुसार उस पत्रको उन्होंने लिखवाकर उसपर दस्तख़त कर दिये। मैंने उनकी आज्ञानुसार रजिस्ट्रीद्वारा पत्रोंमें प्रकाशनार्थ भेजदिया। साहुजीका इस मामलेसे ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। विरोधियोंने साहुजीको अपमानित करनेके लिये यह घोर निन्दनीय कार्यवाही अपनी ओरसे जैनगजट को प्रकाशनार्थ छपने भेजदी है, चूँकि लाला शिम्भूनाथसे मालूम करनेपर ज्ञात हुआ कि उन्होंने विरोधियोंको किसी कागज़ पर फिर दस्तखत नही दिये हैं। महज भोले भाइयों को भुलावेमे डालनेकी इच्छासे ऐसा अनुचित कार्य कर रहे हैं।

भवदीय

ता० २९-७-३५ चाँदबिहारीलाल जैन

मध्यस्थ पुकार।

"पुराना गल गया, घुन गया, सड़ गया, विकृत हो गया, अहितकार होगया, उसे दूर फेंकदो, उसका बहिष्कार करदो, भूलकर भी उसके पास न फटको, हो सके तो उसका अस्तित्व ही मिटा दो। यदि पुरानेको अपनाया तो सत्यसे वंचित रह जाओगे, सदैव दुःख उठाओगे, अपनेको मिथ्यात्वकी दलदल मे फँसाकर अपना सर्वनाश कर डालोगे। नया ताजा है, उसमे जीवन है, शक्ति है, बल है, स्फूर्ति है, कर्मठता है; इसे अपनाओ, इसे गले लगाकर अपना कल्याण करो, इसका सच्चे हृदयसे स्वागत करो। यही सुखका साधन है, मोक्षकी कुंजी है।"

"नया एक भयंकर शत्रु है, यह आत्मघातक है, अधर्म प्रचारक है, धर्म उजाड़क है, शिथिलाचारका हामी है, अतः त्याज्य है, हेय है। उसे नष्ट करदो, उसे फेंकदो, उसे दूर भगादो, खुद उससे दूर भाग जाओ, स्वप्नमे भी उसको न अपनाओ। यदि नयेको अपना लिया तो सत्यशून्य रह जाओगे, स्वर्ग मोक्षादिकी प्राप्ति न कर सकोगे, अधर्म व मिथ्यात्वकी दलदलमें फँस कर अपना सत्यानाश कर डालोगे। पुराना सनातन है, खरा है, पूर्वजोंका सचित अमूल्य धन है, धर्मका ठेकेदार है, मोक्षका सर्टीफिकेट (Certificate) है, स्वर्गका पासपोर्ट (passport) है। इसे अपनाकर धर्मसाधन करो, नयेके चंगुलमें फँसकर उच्छृंखल न बनो, आज्ञाप्रधानी बनो, प्राचीन आचार्यों व विद्वानो को पागल समझकर उनकी दुर्लभ कृतियोका अपमान न करो। यदि ऐसा करोगे तो सदैव यातनाएँ सहोगे, कभी सुख न पा सकोगे।"

ये दो पुकारें हैं, जो प्रतिक्षण कानोंमें पड़ती हैं। नवीनता-उपासक पहिली पुकार लगा लगाकर भोले प्राणियोंको धोखा दे रहे हैं, और प्राचीनता-उपासक दूसरी पुकार लगा लगाकर संसारको अपने भ्रम जालमे फँसा रहे हैं। दोनो झूठे हैं, पथ-भ्रष्ट है, मिथ्यावादी हैं भगवान सत्यके विद्रोही हैं, धर्मके कलंक हैं इनसे दूर भागो। यदि ऐसा न कर-सको तो जाओ, मगर किसी एकके पास नही दोनोंके पास जाओ, दोनोसे मिलो, बचो, तो दोनोसे बचो।

दोनों पुकारो का आशय यही है कि अन्धश्रद्धालु बनो, आँखे मीचे बढ़े चले जाओ। परीक्षाप्रधानी बननेमे समय न गँवाओ। दोनों अन्ध अनुकरण करनेके लिए कहती हैं—पहिली अस्पष्ट व टेढ़ेमेढ़े ढंगसे, दूसरी स्पष्ट व सीधे ढगसे पहिली Passive और Negative शब्दोंमे, दूसरी Active और Positive शब्दोंमे। सच तो यह है कि न तो नया अच्छा ही अच्छा है, न पुराना अच्छा ही अच्छा है। न कोई बुरा ही बुरा है। दोनो अच्छे हैं, दोनो बुरे हैं, दोनो अच्छे बुरे हैं, दोनो बुरे अच्छे हैं। यही मध्यस्थ पुकार है। मध्यस्थ होनेसे यह सत्य भी है, क्योंकि सत्य सदैव मध्यमे बसता है. Truth ever lies between two extremes।

जो सचमुच प्राचीन है, वह हमारे प्राचीनसे भिन्न है, भिन्नही नहीं प्रतिकूल भी है। हमारा प्राचीन वास्तविक प्राचीनका विकृत रूप है। उसमे ऐसे बीज अवश्य है जिनके द्वारा हम वास्तविकताकी खोज कर सकते हैं। "सचमुच प्राचीन" को अस्वाभाविक बेढंगा रूप देकर अहितकर बना दिया है। यदि उस अस्वाभाविकताको दूर कर दिया जाय तो सचमुच प्राचीनके मनोहर व हृदयग्राही दर्शन संभव हैं, अन्यथा नहीं।

हमारे प्राचीनमें मानसिक व शारीरिक दासता है, शिक्षाका ह्रास है, सामाजिक वैमनस्य है, पाखंड है, ढोंग है, अबलाओंपर अत्याचार है, मनुष्यत्वका अभाव है, संकुचितताका नग्न ताण्डव है, उदारताकी इतिश्री है; जबकि वास्तविक प्राचीनमें आनन्द है, सुख है, मनुष्यत्व है, प्रेम है, सत्य है, अहिंसा है, जैनत्व है, बुद्धत्व है, इसलाम है, ईसाइयत है, गुणग्राहकता है, पवित्रता है, समानता है। पुरातनवादी

इस प्राचीनके समर्थक नहीं—यही उनकी भूल है, महा भयंकर भूल है।

नवीनतासे तात्पर्य है—पश्चिमकी भूठन, उसका अन्ध अनुकरण, उसका विलासमय स्वच्छन्द जीवन, उसके धर्मलोपक अनात्मवादका ग्रहण " आदि आदि।

ऐसा नया भी बुरा। इसमें उच्छृङ्खलता है, विचारहीनता है; इसमें गुणग्राहकता नहीं, अवगुणग्राहकता है। इसमें हठ है, कदाग्रह है, पक्षपात है, द्वेष है; अत: यह त्याज्य है, हेय है।

नए-पुरानेका झगड़ा व्यर्थ है। दोनों बुरे हैं, दोनों अच्छे हैं। नया हो चाहे पुराना, आवश्यकता इस बातकी है कि हम अन्धश्रद्धालु न बनें, आँखें खोलकर चलें, बुद्धिसे काम लें, नए-पुरानेके मिश्रण में से अपना मार्ग खोज निकालें, सत्यको अपनाएँ असत्यका त्याग करें। वह नएमें हो, या पुरानेमें, इसकी तनिक भी चिंता न करें। न हम नएसे झिझकें, न पुरानेसे; न पुराने की माया-ममतामें आबद्ध हों, न नए की में। हमें चाहिए कि हम सत्यके दीवाने बनें, यदि नएमें सत्य मिले तो, और पुरानेमें मिले तो, हर दशामें ग्रहण करें। चाहे पुरानेमें असत्य मिले, चाहे नएमें, हमें चाहिए कि हम उसको दूर फेंकदें, उसे भूलकर भी न अपनाएँ।

दो पुकारोंकी एक पुकार—मध्यस्थ पुकार—का आशय यही है कि नवीनता और प्राचीनताका सत्यासत्यसे कोई सम्बन्ध नहीं। नया भी सत्य हो सकता है और पुराना भी। नया और पुराना दोनों असत्य भी हो सकते हैं। दोनों सत्यासत्य और असत्यसत्य भी होसकते हैं, और नहीं भी होसकते। हमारा कर्त्तव्य है कि दूरदर्शिताके साथ बुद्धिका उपयोग करते हुए हम अपना मार्ग स्वयं चुनें, किसी का अंध अनुकरण न करें। इसीमें जीवन है, जीवनकी सफलता है, सुख है, आनन्द है, त्राण है, मुक्ति है।

—सत्यप्रेमी
रघुवीरशरण जैन, अमरोहा।

वितंडावाद।

श्रीमान पं० वंशीधरजी (शोलापुर) ने अमरोहा शास्त्रार्थमें बुरी तरह मुँहकी खानेके पश्चात जो भरसक गर्जन तर्जन करके अपने कलेजेको ठंडा किया है, वह स्वाभाविक ही है। आप वितंडावाद द्वारा हारको जीत और जीतको हार बनाकर असम्भवको सम्भव बनाना चाहते हैं, जो कि क़तई असम्भव है। आपके लेखोंको पढ़कर ऐसा मालूम होता है, मानो कोई बालक बालूकी राशिपर दीवार खड़ी करनेकी चेष्टा कररहा हो।

यद्यपि पंडितजीके लेखोंमें अथसे इतितक रत्ती भर भी ऐसा मसाला नहीं है, जो उत्तर पानेका अधिकारी हो, क्योंकि उनकी प्रत्येक बातका पीस पीसकर खंडन किया जा चुका है, परन्तु इस खयाल से कि कहीं पंडितजी और उनके मनचले भक्त मौन का दुरुपयोग न कर बैठें, पं० वंशीधरजीके पक्षको "गर्जन" और अपने पक्षको "खंडन" शीर्षक देकर यहाँ संक्षेपमें उनके लेखोंका थोथलापन दर्शाया जाता है:—

गर्जन (१)—प्रत्यभिज्ञान ज्ञानमें दो विषयों का मिलान रहता है—यह बात सर्वश्रुत है। ज्ञानको क्रमवर्ती माना जाय तो उन दो विषयोंको एक समय के ज्ञानमें कैसे प्रवेश मिलेगा? इसलिए ज्ञानका क्रमवर्तीपना स्वभाव नहीं माना जासकता।

खंडन—प्रत्यभिज्ञानमें ऐक्य, सादृश्य, वैसादृश्य आदिका प्रतिभास होता है। ऐक्य, सादृश्य आदि एकही विषय हैं। पहिले समयमें क-पदार्थका प्रत्यक्ष होता है, दूसरे समयमें ख-पदार्थका स्मरण होता है, और तीसरे समयमें क-ख में जो ऐक्य सादृश्य आदि है, उस एक तत्त्वका प्रतिभास होता है। इस तीसरे समयका ज्ञानही प्रत्यभिज्ञान है। यदि ऐसा न हो तो प्रत्यभिज्ञानका व्यक्तित्व प्रत्यक्ष और स्मृतिमें अंतर्गत ही माना जायगा, उसे स्व-

तन्त्र न माना जा सकेगा। इसप्रकार ज्ञानका क्रमवर्तीपना नामक स्वभाव स्पष्टतः सिद्ध है।

यदि 'दुर्जनतोपन्याय' से ज्ञानका स्वभाव अक्रमवर्तीपना (युगपतपना) भी मान लिया जाय, तो भी वस्तुके सान्त होनेकी बाधा ज्योंकी त्यों अकाट्य खड़ी रहती है। एक समयमें समस्त पर्यायोंका प्रत्यक्ष होजाय तो अंतिम पर्यायका भी प्रत्यक्ष अवश्य होगा यही वस्तुकी सान्तता है, जो कि हो नहीं सकती। अतः ज्ञानको अक्रमवर्ती मान कर भी सान्त मानना पड़ेगा।

गर्जन (२)—कर्मोंका बन्धन हटनेकी अवस्था में ज्ञानको अपरिमित होनेसे कौन रोकेगा? जब दोष न रहा तो अनन्त वस्तुको वह अनन्त रूपसे क्यों न जानेगा? ज्ञानका विषय सीमित रहे या अपने स्थानसे अन्तरित वस्तुको न जाने सो क्यों?

खंडन—कर्म बन्धन हटनेकी अवस्थामें सदोष विकृत व अपूर्णज्ञान निर्दोष, शुद्ध व पूर्ण होसकता है, परन्तु वह पूर्णज्ञान अपरिमित ही होना चाहिए—यह नियम ही तो असिद्ध है। जब ज्ञानमें अपरिमित होनेकी शक्ति ही नहीं, तब उसे अपरिमित होनेसे रोकने की बात बिल्कुल निरर्थक है। अनन्त वस्तुओंको विशेष रूपमें जाननेकी मान्यतासे वस्तु सान्त सिद्ध होती है, जोकि सम्भव नहीं, अतः स्पष्ट है कि अनन्त वस्तुओंको अनन्त रूपसे जानने की मान्यता एक कपोल कल्पनाके अतिरिक्त कुछ नहीं है। ज्ञान सीमित है क्योंकि उसका अपरिमित होना असिद्ध है। जबतक वस्तुके सान्त होनेकी बाधाका परिहार नहीं किया जायगा, तबतक ऐसे उल्टे प्रश्न रखना केवल एक वितंडावाद है, जिसका कुछ भी मूल्य नहीं हो सकता।

गर्जन (३)—वस्तुके पर्यायोंको पं० दरबारीलालजी अनन्त कहते हैं, सो क्या बिना जाने, या जान कर? यदि बिना जाने वे कहते हैं, तो उनके कहनेकी क्या कदर की जाय? यदि जानकर वे कहते हैं तो अनन्तको उन्होंने भी जाना, यह बात सिद्ध होजाती है। बस, सर्वज्ञ उन्हींको विशेष रूपसे जानता है।

खंडन—वस्तुकी पर्यायोंको अनन्त मानना अनन्तत्व या नित्यत्व नामक एक धर्मका जानना है। यदि यह अनन्तज्ञता है तब तो हम आप सब इसी समय सर्वज्ञ हैं। आपकी सर्वज्ञत्व-विषयक मान्यता तो फिर कोई अर्थ ही नहीं रखती। सामान्य प्रतिभास तो सिर्फ एक धर्मके जान लेनेसे होता है। इसीलिए यह मतिश्रुतज्ञानका विषय बन सकता है। अगर सामान्य प्रतिभास भी अनन्तका प्रतिभास होता तो यह मतिश्रुतज्ञानका विषय नहीं होसकता था। अतः अनन्तत्वको जानना अनन्त पर्यायोंको जानना नहीं है, केवल एक धर्मको जानना है। इसप्रकार अनन्तका ज्ञान सिद्ध नहीं होता।

गर्जन (४)—वस्तुओंको पं० दरबारीलालजी भी अनन्त मानते हैं। सो वे सारी अनन्त वस्तुएं यदि किसीको भी सम्पूर्ण ज्ञान न हो तो उनको अनन्त कहना कैसे बन सकता है? वस्तुमें ज्ञेयत्व धर्म है और ज्ञानमें ज्ञानत्व धर्म है। अर्थात् वस्तु जान लेने योग्य है, अतः वह योग्यता जानने वालेके अस्तित्वको सिद्ध कर देती है। क्योंकि जानने वाला ही यदि कोई सम्भव न हो तो वस्तुमें ज्ञेयत्व या वस्तुको जानने योग्य कौन कह सकेगा?

खंडन—पं० दरबारीलालजी कालकी अपेक्षा से वस्तुको या वस्तुओंको अनन्त कहते हैं। वस्तुकी नित्यताका ज्ञान हमें वस्तुका नाश नहीं हो सकता, इस प्रबल तर्कके आधार पर होता है, इसलिए वस्तु सदा रहेगी, ऐसा कहा जासकता है। यहाँ सर्वज्ञकी क्या आवश्यकता है? वस्तु जान लेने योग्य है और ज्ञान जानने योग्य है—इस निरर्थक बातसे सर्वज्ञत्व-सिद्धि नहीं होती। सब पदार्थ किसी एक ज्ञानकी ही अपेक्षासे जान लेने योग्य हैं, और विशेष रूपमें जानने योग्य हैं, यह तो यहाँ सिद्ध करना है। उसको आप हेतु क्यों बनाते हो? साध्य हेतु नहीं बनता।

गर्जन (५)—ज्ञानके साथ अज्ञानका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। ज्ञानत्व और अज्ञानत्व ये दोनों धर्म परस्पर-विरोधी हैं स्वभाव दशामें जहाँ ज्ञान रहेगा, वहाँ अज्ञान नहीं रहसकता। और ज्ञान का अर्थ जानना ही है इसलिए उस ज्ञानसे किसी भी वस्तुको समझना रुक कैसे सकता है ?

खंडन— यदि जाननेके साथ न जानना नहीं बनसकता तब तो हम सबको सर्वज्ञ ही होना चाहिये। अगर हमारे आत्मामें ज्ञान है और फिर भी हम अल्पज्ञानी है, तो जानने न जाननेका विरोध नहीं माना जासकता। जाननेका न जाननेके साथ विरोध तभी होसकता है, जब वे एक ही अपेक्षासे कहे जाँय। एकको जाने और दूसरेको न जाने, इसमें क्या विरोध ?

गर्जन (६)—जबतक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं बन पाता, तब तक वह अपने ज्ञानको विषयोंकी तरफ झुकाता है। ऐसे ज्ञानमें क्रमवर्तीपना दोष जरूर रहता है। इसीको युंजान ज्ञान उस दर्शनकारने कहा है। दूसरा जो युक्त ज्ञान है वह सर्वज्ञका होता है। उसका लक्षण उस दर्शनकार ने यह बताया है कि "युक्तस्य सर्वदा ज्ञानम्" अर्थात् युक्त उस ज्ञानको कहते हैं जो सर्वदा (बिना जोड़ ही) होता है।

खंडन—पं० दरबारीलालजीने युक्तयोगी और युञ्जानयोगीका जो लेखमालामें वर्णन किया था, उसका तात्पर्य आप समझ नहीं पाए हैं। केवल यह दिखलानेके लिए कि न्यायवैशेषिकोंने इस आपत्तिसे बचनेके लिए कि सार्वकालिक सर्वज्ञ माननेमे योगी लोग उपदेश नहीं देसकते, दूसरी तरफ अगर इस प्रकारके योगी नहीं माने जाँय तो उपयोगके बदलने का कारण क्या कहा जा सकता है, योगियोंकी दो श्रेणियाँ मानी हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि पं० दरबारीलालजीको युक्तयोगीकी मान्यता मान्य है। आप शायद नासमझीसे यही समझ बैठे हैं।

जब तक मनुष्य सर्वज्ञ नहीं बन पाता तब तक वह अपने ज्ञानको विषयोंकी तरफ झुकाता है, ऐसे ज्ञानमें क्रमवर्तीपना दोष जरूर रहता है, आदि-इन हेतुशून्य प्रतिज्ञा-वाक्योंसे सर्वज्ञत्व-सिद्धि नहीं हो सकती। हाँ, अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बननेमें ऐसे वाक्य अवश्य सहायक हैं।

गर्जन (७)—काल को पं० दरबारीलालजी अवश्य अक्षयानन्त मानेंगे क्योंकि कोई ऐसा मौका नहीं आसकता जब कि समय या वक्त न रहे। बस, जब कि यह एक चीज़ अक्षयानन्त ठहर चुकी तो जीवराशि भी अक्षयानन्त हो-इस मान्यतामें ही बाधा क्या है ? कोई बाधा नहीं। इसीको असम्भवद् बाधक प्रमाणता कहते हैं। इस प्रकार जीवराशि अक्षयानन्त सिद्ध होती है।

खंडन—कालको अक्षयानन्त माननेसे कालराशि अक्षयानन्त सिद्ध होती है, न कि जीवराशि। जीवराशिको अक्षयानन्त माननेमें बड़ी प्रबल बाधा है। अपने आप ही "कोई बाधा नहीं" कह कर असम्भवद् प्रमाणताकी दुहाई देना तो बहुत ही हास्यास्पद है। असम्भवद् प्रमाणताका आश्रय तो आप तभी ले सकते हैं, जबकि आप गणित सम्बन्धी बाधाका परिहार करदें या जीवराशिको अक्षयानन्त सिद्ध करदें। परन्तु परिमित विश्वमें जीवराशि अनन्त हो यह किसी प्रकार बन नहीं सकता।

यदि कालकी अक्षयानन्तताके आधारपर आप जीवों को भी अक्षयानन्त कहेंगे, तो उसी आधार पर प्रत्येक जीवमें बँधी हुई कार्माण-वर्गणाओंको मैं अक्षयानन्त कह कर "शठं प्रति शाठ्यं कुर्यात्" की नीतिका अनुसरण करूँगा, जिससे किसी भी जीवका मोक्ष जाना न बन सकेगा, और इस प्रकार आपकी सहायतासे सहज ही मोक्ष-विषयक मान्यता का खंडन होजायगा।

गर्जन (८)—यह कोई नियम नहीं है कि अक्षयानन्त दो राशियोंमें से कोई बड़ी छोटी हो ही नहीं। खर्च करने पर खत्म होजाना परिमित राशिका ही

स्वभाव होगा, अक्षयानन्तका नहीं। इसलिए कालराशि जीवराशिसे कितनी भी बड़ी मानी गई हो, परन्तु जीवराशिका खर्च होते रहनेसे एक दिन खत्म होजानेका आक्षेप निराधार है, युक्तिशून्य है।

खंडन—छोटा-बड़ापन परिमित वस्तुओंमे ही बनसकता है, अपरिमित वस्तुओंमें नहीं। अक्षयानन्त राशियोंको परस्पर एक दूसरेसे छोटा बड़ा मानना अक्षयानन्तताका विरोध करना है, असम्भव को सम्भव कहना है, बुद्धिको धोखा देना है।

आप कालराशिको जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणी मानते हैं। यदि कालराशि जीवराशिसे असंख्यगुणी ही होती, तो भी वह जीवराशिको समाप्त करनेमे समर्थ थी; फिर तो यह अनन्तानन्तगुणी है इसलिए अनन्तानन्त बार जीवराशिको समाप्त कर देगी। यदि कालराशि जीवराशिको समाप्त नहीं कर सकती, तो उसका जीवराशिसे अनन्तानन्तगुणी होना क्या मतलब रखता है? ऐसी स्पष्ट बातोंसे इन्कार करना युक्ति की अवहेलना करना है, युक्तिशून्य है, निराधार है। खर्च करते रहनेपर भी खत्म न होना अक्षयानन्त राशिका ही स्वभाव होसकता है, और जीवराशि अक्षयानन्त हो नहीं सकती, न जीवोंका खत्म होना ही किसी प्रकार बन सकता है, अत: मोक्षविषयक मान्यता युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती।

गर्जन (६)—पं० दरबारीलालजीने एक बात यह कही थी कि यदि किसी राशिको किसीने भी जान लिया हो तो वह राशि अक्षयानन्त न ठहरी, वह तो सान्त या परिमित हो गई। यह उनका कहना ग़लत है। अल्पज्ञान उसी चीजको जानेगा जो परिमित हो। किन्तु अपरिमित को जानने वाला ज्ञान भी अपरिमित ही होता है।

खंडन—यहाँ आप सफ़ेद झूठ लिख रहे हैं। पं० दरबारीलालजीने ऐसा नहीं कहा था। शायद आप वस्तुके सान्त होनेकी बाधा को इस रूपमें समझ बैठे हैं। यदि ऐसा है तो आपकी बुद्धि दया की पात्र है। वस्तुके सान्त होने की बाधामें अनन्त पदार्थोंका, पदार्थकी अनन्त पर्यायोंका जानना है, जबकि यहाँ एक पदार्थका ही जानना है। अक्षयानन्तराशिका जानना अक्षयानन्त वस्तुओंको जानना नहीं है, बल्कि एक वस्तुको जानना है। उदाहरणार्थ कालराशिको जानना एक वस्तुको जानना है। अत: वह बाधा यहाँ लागू नहीं होरही है; परन्तु आप जबरदस्ती उसे यहाँ लागू करके अपना मनोरथ सिद्ध करना चाहते हैं, जो कि असाध्य है। अल्पज्ञान परिमित वस्तुओंको ही जानेगा यह तो ठीक है, लेकिन अल्पज्ञान किसी वस्तुके अपरिमितत्वको नहीं जानसकता, यह ठीक नहीं, क्योंकि किसी अपरिमित वस्तुको जानना अपरिमित वस्तुओंका जानना नहीं है, केवल एक वस्तुका जानना है। अत: अपरिमित वस्तुको जाननेमे अपरिमित ज्ञानकी सिद्धि नहीं होसकती।

मतिश्रुत ज्ञान, कालराशिको जानते हैं तो क्या वे ज्ञान अपरिमित होगए? यदि हाँ, तो आप हम सबका ज्ञान अपरिमित है, क्योंकि हम जानते हैं कि कालराशि अनन्त है और आपकी बुद्धिके अनुसार यह अनन्तका जानना है।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा
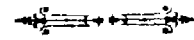
आवश्यकता।

विधवाविवाहके लिये एक सुयोग्य विधवाकी आवश्यकता है। वरकी उम्र २८ वर्षकी है। विधवा की उम्र २० वर्ष तककी होना चाहिये। वरकी आय ३०) मासिक है। स्वस्थ है और दिगम्बर जैन है।

—किशोरीलाल सोनी
बिलसी (बदायूँ) यू०पी०
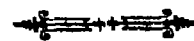
जैन कालिज ।

लेखक—श्रीमान बा० अजितप्रसादजी जैन ऐम०ए०ऐल ऐल० बी० ऐडवोकेट, अजिताश्रम, लखनऊ ।

जैन कालिजकी आवश्यकताके सम्बन्धमें जैन समाजमें पिछले ३०-३५ वर्षसे चर्चा चलरही है, और इने गिने व्यक्तियोंको छोड़कर सारा समाज इस विषयमें तो सहमत रहा है कि कालिज बनना चाहिये ; मतभेद रहा है तो इसमें कि कालिज किस ढंगका हो, कहाँ हो, और रुपया कैसे जमा हो। अगस्त १९२३ में दिल्लीमें यह तो निश्चित होगया था कि दिल्लीमें आर्ट्स कालिज स्थापित किया जाय। ५००००) ध्रौव्यकोषमें देनेका दिल्ली वालोंने इस शर्तपर वादा किया था कि १,५०,०००) अन्य स्थानों से जमा करलिया जाय। प्रबन्धक कमेटीने ५०००) काम प्रारम्भ करनेके लिये माँगे, दिल्ली वालोंने इस से इन्कार कर दिया और बात ठंडी पड़ गई!

अब श्री० बैरिस्टर जमनाप्रसादजी सबजज हरदाने जैनमित्र पृष्ठ ४७२ पर प्रकट किया है—"जैन समाजमें जैन कालिजकी आवाज बहुत जोरों से उठाई जारही है। मेरे विचारसे तो यह बिलकुल अव्यवहार्य है।...... अगर आपने पास कालिज ही होगया तो किसी एक जगह पर्याप्त विद्यार्थी इकट्ठे नहीं होसकते। अजैन विद्यार्थियोंको जैनधर्म पढ़ाकर उनको जैन बनानेकी आशा रखना मूर्खता है। एक तो वह बनेंगे नहीं, दूसरे हममें पचानेकी शक्ति नहीं है। ईसाई मिशन कालिजके उदाहरण मौजूद हैं। जैनकालिजमें सब आवश्यक विषय नहीं पढाए जासकते हैं। मामूली बी०ए० बनाकर जैनधर्म और देशकी दुर्दशा करना है।..........उसी तरह जैन हाईस्कूल खोलना भी अनावश्यक समझता हूँ"।

मैं खुश हूँ कि श्री० जमनाप्रसादजीने उल्लिखित विचार प्रकट करके मुझे यह अवसर दिया कि उन विचारों पर विवेचन किया जाय। संभव है कि ऐसे ही विचार समाजमें अन्य व्यक्तियोंके हों, या अब होगए हों, और वे उनको प्रकट करनेका साहस न करते हुए, चुपके चुपके उनका प्रचार करते हों।

मैं प्रथम ही यह कह देना चाहता हूँ कि श्री० जमनाप्रसादजीके स्कालरशिप-फण्डकी तजवीजसे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। उनकी आयोजना, उनका प्रस्ताव, जैन कालिजके प्रस्तावका समर्थक है—विरोधी नहीं।

श्री० जमनाप्रसादजी ने जो कुछ लिखा है, वह सम्भवतः जैनसमाजकी आधुनिक परस्थितिको ध्यानमें रखते हुए लिखा है। उन्होंने देखा है कि पिछले २०-२५ वर्षमें समाजको नए मन्दिरोंके बनवाने, सजाने, नई मूर्तियोंका निर्माण कराने, प्रतिष्ठा का मेला लगाने, रथ निकलवाने, तीर्थयात्राके नाम से शहरोंकी सैर करने, मिठाई खाने खिलाने, नाटक देखने दिखानेका शौक बढगया है, और शिक्षाप्रचार धर्माध्ययन, सादा जीवन, उच्च विचार, कम होरहा है। जैन कालिजकी आयोजनाको अत्यन्त कठिन, दुस्साध्य समझकर उन्होंने स्कालरशिप-फंडकी आवश्यकता जोरदार वाक्योंमें दिखलाई है। यह तो ठीक ही है। किन्तु जैन कालिजको, जैन हाईस्कूल को, अनावश्यक कहना भ्रम है।

मैं मानता हूँ कि आधुनिक जैन समाजकी परिस्थिति हतोत्साह करने वाली है, किन्तु समय जादूका असर रखता है। जरासी देरमें समाजका विचार परिवर्तन होता है। काललब्धि बड़ी चीज है। श्री० जमनाप्रसादजी इस सिद्धान्तको भूलकर यह समझते हैं कि जैनकालिजकी व्यवस्था अव्यवहार्य है।

जैन विद्यार्थी काफी तादादमें इधर उधर भटकते फिरते हैं और वैदिक कालिज, सनातन धर्म कालिज, कान्यकुब्ज कालिज, मुसलिम कालिज, क्रिश्चियन कालिज, क्षत्रिय कालिज, खालसा कालिज, आदिमें उनको जगह नहीं मिलती; और जगह मिली भी तो व्यवहारमें जिस सम्प्रदायका कालिज होता है

उस सम्प्रदायके लड़कोंके मुकाबिलेमें उन्हे अनुचित कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। सरकारी कालिजोंमें भी अब अधिकारी वर्गके बच्चोंको अनुचित सुविधा और अन्यको अनुचित कठिनाईका व्यवहार चल पड़ा है।

श्री० जमनाप्रसादजीका यह कहना कि "अजैन विद्यार्थीको जैन बनानेकी आशा रखना मूर्खता है," केवल भ्रम है। मुझे इस बातका स्वयं अनुभव है कि हस्तिनापुर ब्रह्मचर्याश्रममें महात्मा भगवानदीनजीकी शिक्षा और दैनिकचर्या और व्यवहारका कैसा प्रभाव अजैन विद्यार्थी, शिक्षक, और अन्य काम करनेवालोंपर पड़ता था। अभीतक जैनसमाजने यह प्रयत्न ही नहीं किया कि जैनधर्मकी शिक्षा उचित रीतिसे दी जाय। जैन पाठशालाओं, विद्यालयों, महाविद्यालयों, आदिमें स्वेच्छापूर्वक अनुचित ढंगपर शिक्षा दी जारही है। विशेष करके शिक्षक, और कार्यकर्ता स्वयं अर्द्धशिक्षित, असभ्य, और सदाचारशून्य हैं। जैन होस्टलोंमें भी अभी तक उचित प्रबन्ध नहीं किया गया है।

जैनधर्मकी पचानेकी शक्तिका मुकाबिला तो कोई अन्य धर्म कर ही नहीं सकता। यहाँ तो चाण्डाल और पशु-पक्षीको भी रत्नत्रयका अधिकार प्राप्त है। यह दूसरी बात है कि अभीतक समाज सीधे रास्ते पर नहीं आया है।

जैन कालिजमें सभी आवश्यक विषय पढ़ाये जा सकते हैं। केवल संकल्पी हिंसा न होगी। और वह आवश्यक कहीं भी नहीं है। जहाँ की जाती है, वह भूलसे, अज्ञानसे, बुरे संस्कारसे।

जैन कालिज "मामूली" बी०ए० बनाने के लिये नहीं, किन्तु अपूर्व विद्वान, सदाचारी, देशभक्त, धर्मभक्त, समाज-नेता तय्यार करनेके लिये बनाया जायगा।

जैन हाई स्कूलका भी उद्देश्य वही है जो जैन कालिजका है। यह ठीक है कि जो जैन हाईस्कूल अबतक क़ायम हुए हैं उनसे अभीष्ट लाभ नहीं हुआ है। उसका कारण समाजकी बेपरवाही, अनुत्साह, द्रव्यकी कमी, और प्रबन्धकी अयोग्यता है।

मैं यह दृढ़ विश्वाससे कहता हूँ कि यदि दस बरस तक बिम्ब-प्रतिष्ठा, मन्दिर-प्रतिष्ठा, वेदी-प्रतिष्ठा, मेले, रथोत्सव, मन्दिरों की बेजा सजावट आदि बन्द करके, समाजका वह रुपया जो इन कामोंमें खर्च होता, जैन शिक्षाके लिये दिया जाता रहे, तो जैनधर्मकी प्रभावना दिगन्तव्यापी होजाय और जैनसमाज उन्नतिके शिखर पर पहुँच जाय।

और इसके होनेमें देर नहीं लगती। समय बलवान है, काल लब्धि जाने कब आजाय, जाने कब समाजको सुमति प्राप्त होजाय, और जाने कब समाज ठीक रास्ते पर आजाय। उच्च और सच्चे उद्देश्यका प्रचार करना, उसकी पूर्तिमें सतत प्रयत्न करना हमारा धर्म है। और ऐसे उद्देश्यसे विमुख करना, नितान्त भूल है।

और यदि जितना रुपया जैन समाज मेले-प्रतिष्ठा आदिमें हर साल लगाता है उतना ही शिक्षा प्रचारमें लगाना शुरू करदे तो मेले प्रतिष्ठा भी बन्द न हों, जारी रहें। किन्तु मेरा पिछले २५ वर्षका अनुभव यह है कि समाजमें धर्मके नाम पर रुपया खर्च करने वाले जितने हैं, उनमें वृद्धि होना मुश्किल है। सम्भव यह है कि उनके विचार बदल जावें। वे समझलें कि धर्म-प्रभावना किस प्रकार हो सकती है—दुनियामें संसारमें भारतमें, अन्य देशोंमें, अजैन और जैन सबके हृदयमें जैनधर्मका गौरव, जैन समाजका महत्व किस प्रकार जगह कर सकता है? यह किस तरह होसकता है कि जैनीके नामसे ही लोग समझलें कि यह सच्चा, निःस्पृही, निःस्वार्थी, दयावान, बलवान, धार्मिक, सरल, देशभक्त, धर्मभक्त, सुशील, सदाचारी है। इसही को धर्म प्रभावना कहते हैं; और यह केवल सुशिक्षण और सदाचारसे ही सम्भव है।

ता०२६-७-३५ ई०

विरोधियोंकी हायवैला ।

ता० २४ 'जुलै' सन १९३५ ई० के 'जैनगजट' में लाला भोलानाथ जैन भूतपूर्व मंत्री 'जैनसभा' अमरोहाके नामसे विरोधियोंका साहू रघुनन्दन-प्रसादजीकी मनमानी कार्यवाही' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, और साथही एक भाईकी द्वेषपूर्ण कुत्सित चित्तवृत्ति व आत्मीय अदूरदर्शिताके फल-स्वरूप हलके व तुच्छे आक्षेपोंसे परिपूर्ण एक प्रस्ताव भी उस लेखकी पूँछसे लटका हुआ है। लेखकी पोच व निकम्मी पूँछमें कुछ दम न होने के कारण पण्डित वंशीधरजी शोलापुरीने इस भयसे कि कहीं यह प्रस्ताव लेखकी पूँछ उखाड़ कर उसे अपाहज न करदे और स्वयं पूँछ सहित भस्मीभूत न हो जाय, उन्होंने 'अमरोहा शास्त्रार्थ' शीर्षक लेख द्वारा उसे हथेली लगानेका सौजन्य (?) दर्शाया है। खैर।

जब मनुष्यका सम्बन्ध अन्ध-विश्वाससे हो जाता है, तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह पाता, वह एक मनुष्यत्वहीन मनुष्याकार जन्तु बन जाता है। धर्मान्धता, अहंकारकी मित्र और अन्ध-विश्वासकी जननी है और अन्ध-विश्वास साम्प्रदायिकता का पिता है। जब मनुष्यके हृदयपटल पर इन सबका एक साथ प्रभाव जम जाता है, और ऊपरसे उसके सिरपर द्वेष व शत्रुताका भयंकर भूत सवार हो जाता है, उस समय उसकी दशा ठीक एक सन्निपात-रोग-ग्रसित रोगीकी सी हो जाती है, उसका मस्तिष्क बिगड़ जाता है। उसे यह नहीं सूझता कि मैं क्या कर रहा हूँ, क्या कह रहा हूँ। ऐसा व्यक्ति क्रोध व घृणा का नहीं, क्षमा व दयाका पात्र है। हमारे नादान विरोधी ऐसेही दयनीय प्राणी हैं, अतः हम उनके मदोन्मत्त प्रलापका कुछ बुरा नहीं मानते, हमें तो उनकी बेतुकी बुद्धि पर तरस आता है।

इन सब लेखोंकी विशेषता यह है कि वे अथसे इति तक सफेद झूठों, बेहूदा व निकम्मे आक्षेपों, अपशब्दों और गालियोंसे लदालद हैं। धन्य है विरोधियोंके और उनके वकीलाभास पण्डित वंशीधरजीके साहसको, जो उनने बेसिर-पैरकी झूठी बातें लिख मारनेमें जरा भी संकोच नहीं किया। ऐसी रद्दी बातोंका प्रतिवाद करते भी संकोच होता है, मगर इस भयसे कि कहीं ये नादान लोग मौन का दुरुपयोग न कर बैठें, संक्षेपमें उनकी आलोचना की जाती है। आशा है कि विज्ञपाठकगण सच्चाईको हाथसे न जाने देंगे।

ता० ११ जुलाई को सभापति महोदय श्रीमान् साहू रघुनन्दनप्रसादजीने जो अपने सभ्य अधिकार से 'जैनसभा' अमरोहाकी स्पेशल मीटिंग की थी, उसको नाजायज सिद्ध करनेके लिए विरोधियोंने निम्नलिखित चार आक्षेप किए हैं—

(१) सभाके नियमानुसार हर सूचना मन्त्री द्वारा सभासदोंमें घुमाई जाती है। आप (सभापति महोदय) ने इस नियमकी परवा न करके अपने आपही उपरोक्त सूचनाको घुमा दिया।

(२) सारे मेम्बरोंके नाम भी उस पर्चे पर नहीं लिखे—इस समय सभाके ४२ मेम्बर हैं जिसमें करीब ३५ के नाम सूचना निकाली।

(३) सभाकी सूचना कमसे कम २४ घण्टे पेश्तर दी जाती है, किन्तु आप (सभापति महोदय) ने इस परचेको सभासदोंके पास मीटिंग बैठने से केवल ४ या ५ घण्टे पेश्तर भेजा।

(४) पर्चेमें कोई ऐसा विषय जाहिर नहीं किया गया था, जिसके लिए स्पेशल मीटिंग की आवश्यकता हो। उस पर्चेके साथ किसी एजन्डे व किसी प्रस्ताव आदि की सूचना नहीं थी।

उपरोक्त आक्षेप कितने निःसार व निराधार हैं, इसका दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है। आशा है

कि विरोधीगण अपनी भूल समझ जायँगे—स्वीकार तो वे क्या ही करेंगे ?

(१) सभाकी सूचना मंत्री द्वारा घुमाई जाती है, यह तो ठीक है, मगर मंत्री द्वारा ही घुमाई जाती है, सभापति अपनी ओरसे सभाकी सूचना नहीं घुमा सकता—यह कहना अपनेको सभा-सोसाइटियोंके साधारणसे साधारण नियमोंसे अपरिचित प्रकट करना है। यदि मंत्रीके सम्बन्धमें कोई अविश्वास-सूचक प्रस्ताव भेजे, तो विरोधियोंकी विलक्षण ऊट-पटाँग बुद्धिके अनुसार, यदि मन्त्री चाहे तो, कभी भी वह प्रस्ताव सभाकी जायज़ मीटिंग में पेश नहीं होसकता, क्योंकि वह सूचनाही नहीं घुमाएगा, और सभापति या उपसभापतिकी सूचनासे जो मीटिंग होगी, वह नाजायज़ ठहरी ! वाह ! वाह !! कैसी अनोखी धाँधली है। सभापति कईबार मन्त्रीको मीटिंग कॉल करनेकी आज्ञा दे और मन्त्री आज्ञाका पालन तो क्या, उसका उत्तर तक भी न दे-खासकर ऐसी हालतमें सभापतिको पूरा पूरा अधिकार है कि वह अपनी ओरसे स्पेशल मीटिंग कॉल करे।

(२) सूचना-पत्र पर समस्त सभासदोंके नाम थे हाँ, नाजायज़ तरीक़ेसे अपना पक्ष विजयी करनेके उद्देश्यसे दुबकाचोरी जिन छः व्यक्तियोंके नाम विरोधियों द्वारा सभासदोंकी लिस्टमें सम्मिलित कर लिए गए थे, वे सूचना-पत्रमें नहीं लिखे गये और न लिखे जाने चाहिए ही थे। खुद सभाने अपनी मीटिंगमें उन्हें बहुसम्मतिसे नाजायज़ सदस्य कहकर अस्वीकृत कर दिया है। जब सभाही इस आक्षेपका विरोध कररही है, तब इसका मूल्य क्या रहजाता है, यह विरोधी-मित्र बतलाएँ।

(३) सभाकी सूचना २४ घण्टे पेश्तर दी जाती है, यह सभाका नियम नहीं है। यह विरोधियों की कपोल कल्पना है। दूसरे स्पेशल मीटिंगमें तो यह पाबन्दी किसी प्रकार लागू हो ही नहीं सकती। मैंने अनेकबार देखा है कि सभाकी सूचना केवल दो तीन घण्टे पेश्तर ही दीगई है। मुझे तो एक दिन केवल १॥ घण्टे पेश्तरही सूचना मिली थी।

(४) सूचना-पत्रमें मीटिंगका विषय स्पष्टतः लिखा हुआ है। सभापति महोदयके पास प्रस्ताव नहीं आए थे, जिन्हें वे एजन्डा रूपमें घुमवाते। उन्होंने तो 'सभाकी मौजूदा नाजुक परिस्थितिके कारणोंके संशोधनार्थ व निराकरणार्थ' सभा बिठाई थी। सभा जैसा समझती वैसा करती, जो उचित समझती पास करती सारी बातें स्पष्ट होने पर जो प्रस्ताव आते, या तो उन्हें अगली मीटिंगके लिए स्थगित करती या उसी समय उनपर विचार करती। यह तो सब सभाका काम था, जो सभाने किया भी। अतः विरोधियोंका यह आक्षेप तो बिलकुल ही निराधार व हास्यास्पद है।

सभाकी मीटिंगके आरम्भमें हमारे परम विरोधी मित्र लाला भूषणशरणने अनापसनाप यह कह डाला कि "सभापतिका अधिकार है या बला है ?" इसपर सभापति महोदयने उन्हें डाटा और उन्हें आज्ञादी कि फ़ौरन इन शब्दोंको वापिस लो। तद्-नुसार उनने कहा कि "मैं अपने इन शब्दोंको वापिस लेता हूँ"। उस समय विरोधियोंके काटो तो खून नहीं। बादको पहिली बात बदलकर उनने यह कहा कि सभापति पर अविश्वासका प्रस्ताव आ चुका है, अतः पहिले उसपर विचार होना चाहिए। इसपर सभापति महोदयने कहा कि "तुम्हें यह कहनेका बिल्कुल अधिकार नहीं, चुप रहो। ऐसी बात मंत्री जरूर कहसकता है, न कि तुम। क्या प्रस्ताव तुम्हारे पास आया है जो ऐसा कहते हो ? दूसरे, क्यों नहीं रखते उस प्रस्तावको ? यदि साहस है तो अभी उसे रखो, पहिले उस परही विचार होगा"। मगर उनने तो ऐसा केवल इस उद्देश्यसे कहा था कि इसी सड़ेसे बहानेसे आज सभाकी मीटिंग न होने पावे। उनको चुप रहना पड़ा। आखिर करते भी क्या ?

इसके पश्चात सभाके भूतपूर्व सहमंत्री लाला मंगलसेनने यह आक्षेप किया कि मुझे सभाकी सूचना ही नहीं मिली। इसपर सूचनापत्र घुमाने वाले लाला

बाँकेलाल व लाला चाँदबिहारीलालने यह कहा कि हमने सूचना पत्र इन्हें दिया था और उसपर दस्तखत करनेके लिए भी कहा था, लेकिन इन्होंने यह कहकर कि मैं साहूजीको सभापति नहीं मानता, इसलिए मैं दस्तखत नहीं करूँगा, दस्तखत करनेसे इन्कार कर दिया। आक्षेपकने कहा कि मैंने ये शब्द नहीं कहे थे। इसपर लाला बाँकेलालने आक्षेपकसे कहा कि "तुम्हें मंदिरमें झूठ बोलते हुए शर्म नहीं आती! तुम शपथपूर्वक कहदो कि मैंने ऐसा नहीं कहा था। मैं अपने बेटेकी कसम खाकर कहता हूँ कि तुमने यही कहा था"। इस पर तो वे खेल गये और उन्हें सारी समाजके सामने बहुत लज्जित होना पड़ा। इस मौके पर विरोधियोंको बहुत नीचा देखना पड़ा। उक्त आक्षेपकने "पं० दरबारीलालकी मिशन" शीर्षक लेखमें भी साहूजी पर एक आक्षेप किया है, सो सरासर झूठ है। खेद है कि विरोधी मित्र झूठ बोलनेमें जरा भी नहीं लजाते।

पाठकोंको याद होगा कि कुछ दिन हुए, विरोधियोंने "जैनमित्र" व "जैनगजट" में "जैन सभा अमरोहाके कल्पित सभापति रघुनन्दनप्रसादजीकी अनधिकार चेष्टा" शीर्षक लेख छपाया था, जिसमें उनने साहूजीको 'कल्पित सभापति' कहनेका दुःसाहस किया था, जैसा कि शीर्षकसे प्रकट है। परन्तु विरोधियोंके मौजूदा लेख और ता० ११ की सभाकी कार्रवाईसे बिल्कुल स्पष्ट है कि साहूजी कल्पित सभापति नहीं, असली सभापति हैं। समस्त विरोधीगण सभामें उपस्थित थे और सभा साहूजीके सभापतित्वमें हुई। "सभापति पर आये हुए अविश्वासके प्रस्ताव की नक़ल" से भी बिल्कुल साफ़ है कि अभी अविश्वासका प्रस्ताव आया ही है, पास नहीं हुआ है। जब तक वह पास न हो जाए और फिर सभापति जी पदसे त्यागपत्र न देदें, यदि वे न दें तो जब तक सभा दूसरी बार उसको पास न कर दे, तबतक उन्हें कल्पित सभापति कहना जनताकी आँखोंमें दिनदहाड़े धूल झोंकना है। विरोधी मित्र सभा सोसाइटियोंके नियमोंसे अपरिचित होनेके कारण ऐसी हास्यास्पद बातें लिखकर अपनी भद्द कराते हैं। सभापतिपर हुए अविश्वासके प्रस्तावमें साहूजी से शत्रुता रखने वाले, उन्हें येनकेन प्रकारेण नीचा दिखानेकी धुनमें रहने वाले प्रस्तावकने यह लिखकर तो गजब ही किया है कि 'आप (सभापति महोदय) ने अपने आपको सभापति पदके अधिकारी न रहते हुए भी सभापति प्रगट कर उस रिपोर्टको असत्य साबित करनेके लिए अखबारोंमें अपना वक्तव्य प्रकाशित कराया"। पाठकगण! देखा, अविश्वास के प्रस्तावमें ही लिख दिया कि आप सभापति-पद के अधिकारी नहीं हैं। फिर अविश्वासका क्या मतलब है? प्रस्ताव पेश तक नहीं हुआ, और सभापति महोदय पदसे पृथक् होगए! वाह! वाह!! कैसी विलक्षण बात है कि अविश्वासका प्रस्ताव आने मात्रसे कोई व्यक्ति अपने पदसे पृथक होजाता है! आगे चलकर उनने लिखा है कि "सभा आपको सभापति पदसे विरुद्ध (पृथक) करती है"। स्पष्ट है कि प्रस्ताव पास होनेके समय तक वे सभापति-पदके अधिकारी हैं। यह पूर्वापर विरोध कैसा? ऐसा ही एक पूर्वापरविरोध विरोधियोंके सामूहिक दस्तखती लेखमें है, जिसपर सभापति महोदयने "अमरोहा शास्त्रार्थ और मैं" शीर्षक लेखद्वारा प्रकाश डाला है।

विरोधियोंने ता० ११ जुलाई की मीटिंगमें जिस बुरी तरह मुँहकी खाई, उसकी हमें आशा भी नहीं थी। वे लोग खूब जानते थे कि बहुमत हमारे विरुद्ध है, अतः यदि रायें लीगईं तो हमारी हार अवश्यम्भावी है। इसलिये उनने यह प्रयत्न किया कि रायें ही न ली जाएँ। उनने बहुत कुछ शोर गुल किया, जिसके फलस्वरूप कुछ देर तक अशान्ति भी रही। उत्पातियोंको उनके विरोधियोंने आड़े हाथों लिया और उन्हें अच्छीतरह बेजवाब किया। मुझे तो उस समयका जुबानी युद्ध देखकर वाक् चित्रपट का आनन्द आरहा था। उत्पातियोंका ऐक्टिंग बड़े

गजबका था, मगर उनके विरोधियोंने भी उन्हे खूब ही मजा चखाया। बाबू मूलचन्दजी को भी खरी खोटी सुननी पड़ी। आखिर जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल कभी न कभी अवश्य मिलता ही है। गला पकड़नेकी बात जो विरोधियोंने लिखी है, उसे पढ़कर इन लोगोंकी अनुचित हरकतो पर दया आये विना नही रहती। क्या कोई आशा कर सकता है कि एक सरलपरिणामी वृद्ध श्वसुर अपने दामादका गला पकड़ सकता है? क्या कोई आशा करसकता है कि एक वयोवृद्ध दुर्बल व्यक्ति एक हट्टेकट्टे जवानका गला पकड़नेका साहस कर सकता है? वास्तवमें गला पकड़नेकी बात बिल्कुल झूठ है। मै घटनास्थलपर उपस्थित था, इसलिये मैं बेधड़क कह सकता हूँ कि किसी व्यक्तिने उस बन्धुका गला नही पकड़ा। चूँकि विरोधी लोग मुँह की खाकर जारहे थे, इसलिये उनने अपने विरोधियोंको बदनाम करनेके लिये यह झूठा मायाजाल रचा और रोना शुरू किया कि "हाय, मेरा गला घोट डाला, मुझे मारडाला, मैं अभी जाकर थानेमे रपट (रिपोर्ट) लिखाऊँगा" इत्यादि इत्यादि। हा! कितना अनुचित कृत्य है। सब बातो की एक बात यह है कि विरोधियोंने उस दिन ऐसा नंगा नाच नाचा जिसे देखकर निर्लज्जताको भी लाज आने लगे।

लाला भूषणशरणके प्रस्तावमें साहुजी पर जो आक्षेप किए गए हैं, उनका उत्तर साहुजी दें, यही ज्यादह अच्छा मालूम होता है। इसलिए उसके सम्बन्धमें मुझे केवल यही कहना है कि प्रस्तावक महोदयको पं० इन्द्रजीतके त्यागपत्रवाली बात पर, अपनी भतीजीकी शादीके मौक़ेपर व अन्य कई मौक़ों पर अपने अन्याययुक्त पक्षके कारण न्यायवान साहुजी द्वारा बहुत नीचा देखना पड़ा है, जिसका बदला निकालने की धुनमे आप रात दिन लगे रहते हैं। रुपयोंवाली बात लिखकर तो उनने अपनी मनोवृत्तिका अच्छा परिचय दिया है। यह आक्षेप झूठोंका सरदार है। सभाको जिस व्यक्तिने सैकड़ो रुपयोंकी सहायता दी हो, जो अपनी ईमानदारी व सज्जनताके लिए नामी हो, जिसने धर्म कार्योंमे सैकड़ो रुपयोंका दान दिया हो, उसके ऊपर ऐसा आक्षेप करना आक्षेपककी द्वेषपूर्ण चित्तवृत्तिका द्योतक नहीं तो और क्या है?

प० वंशीधरजीने जो अपने अनुयायियों की वकालत की है, वह इतनी पोच और निःसार है कि उसका उत्तर देते भी सकोच होता है। लेखका सारा कलेवर बेहूदा और ऊटपटाँग बातोंसे भरा हुआ है। पंडितजीमे यह आदत है कि जिस समय आप लिखने बैठते है, उस समय आप अंटशंट लिखेही चले जाते हैं, आपकी बेलगाम लेखनी दौड़ती ही चली जाती है; न तो आपको उचितानुचित, सत्यासत्यका ध्यान रहता है और न अपने उत्तरदायित्व ही का। मुझे भय है कि कहीं बेचारे पण्डित जी को न्यायालयके दर्शन न करने पड़जांय। आपने पुरानी सड़ीगली बातें लिखकर व्यर्थ लेख का कलेवर बढ़ा दिया है। उन बातोंका अच्छी तरह खण्डन किया जा चुका है। उस खण्डनका खण्डन करनेका तो उनमे साहस नहीं, हां, पुरानो रट लगानेमे आप जरूर तेज है। आप कभी कभी अनापसनाप लिखकर अपनी पोल भी खोल बैठते हैं। यह उनकी अयोग्यता व नासमझीका परिचायक है। "रहस्योद्घाटन" शीर्षक लेखद्वारा मैं उनकी इस खूबीका परिचय देचुका हूँ। आप लिखते हैं कि "वे महाशय सभाको छोड़कर उठगए, लिखा है, परन्तु वे छोड़कर नहीं उठगए किन्तु उस सभाको तोड़कर उठगए।" पाठकजन, देखा पण्डितजी की वकालत को। मीटिंगमे उस समय सभापतिजी को छोड़कर ३१ सभासद उपस्थितथे, जिनमेंसे १५ सभासद उठकर चलेगए क्योंकि वे सभाके निर्णय से, सभाके बहुमतके निर्णयसे, असहमत थे। यदि बहुमत उठ जाता, तब तो यह कहा जासकता था कि वे सभाको तोड़कर चले गए, मगर थोड़ेसे आद-

मियोंके उठजानेसे सभा कैसे टूट सकती है ? फिर तो एक सभासदके उठ जानेमें भी सभाका टूटना माना जायगा, जो कतई हास्यास्पद है। "अगर सभा बेकायदा नहीं थी तो मंत्री महोदय हरगिज सभा के हुक्मको नहीं तोड़ते"—पण्डितजीका यह लिखना बिल्कुल पक्षपातपूर्ण और अन्यायपोषक है। इसका तात्पर्य तो यह हुआ कि मंत्री बेकायदा कार्रवाई नहीं करसकता। क्या अच्छा निष्पक्ष निष्कर्ष है? उत्तरमें हम कैसे कह सकते हैं कि सभापति बेकायदा कार्रवाई नहीं कर सकता। मगर ऐसी बातोंसे क्या लाभ ? हम तो पण्डितजीसे कहेंगे कि आप जो कुछ लिखा करें, सोच समझकर लिखा करें। यदि आप सोच समझ नहीं सकते तो खामोश रहा करें व्यर्थ टाँग न अड़ाया करें, क्योंकि इससे आपको ही मुँह के बल गिरना पड़ता है। पंडितजीका साहुजीपर यह आक्षेप कि 'आपकी पक्षपातपूर्ण कृतिके कारण ही सभामें ये दो टुकड़े होरहे हैं"—"चोरी और सीना जोरी" की कहावतको चरितार्थ करता है। अपनी करतूतको साहुजीके सिर मँढ़ना अत्यन्त निंदनीय है।

कहाँतक लिखा जाय पण्डितजीका समूचा लेख झूठोंसे भरा हुआ है। अधिकांशका खंडन पहिले किया जाचुका है, बाकीपर संक्षेपमें ऊपर प्रकाश डालदिया है। वास्तवमें मुझे उनके रद्दी लेख पर उपेक्षा करनी चाहिए थी, क्योंकि उसका कोई मूल्य नहीं है। विज्ञ जनताकी दृष्टिमें तो वह हास्यास्पद ही होसकता है। परन्तु मेरा युवक हृदय सहनशीलताका कम अभ्यासी है, इसलिये मैंने उसके सम्बन्धमें कुछ लिख दिया है। खेद है कि मैं सत्यका अपवाद सहन नहीं कर सकता।

—रघुवीरशरण जैन, अमरोहा
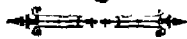
आवश्यकता ।

'गाँधी' छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेंटोंकी जरूरत है। एजेंसी की इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।

तिनकेका सहारा

समुद्रमें डूबते हुए लोगों को अगर कोई बचा सकता है तो वह जहाज है, जो इस पारसे उस पार तक जानेकी ताकत रखता है। परन्तु जब कोई मनुष्य जहाज को दानव समझकर पार होनेके लिए तिनकेका सहारा लेता है, तब उसकी बुद्धि पर जितनी हँसी आती है उससे भी अधिक दया आती है। अमरोहा शास्त्रार्थके विषयमें कुछ लोगों की ऐसी ही दुर्दशा होरही है। सत्यके जहाजका आश्रय लेनेके बजाय आप असत्यरूपी घास फूसका सहारा लेना चाहते हैं। अमरोहा शास्त्रार्थमें पं० वंशीधरजीका पराजय हुआ तो उनसे यह न हुआ कि सत्यका आश्रय लेते, परन्तु असत्यका घास फूस पकड़कर आप ऐसी डुबकियाँ लगाते हैं कि उसका नजारा देखते ही बनता है।

अभी २४ जुलाईके जैन गजटमें पं० वंशीधरजीने "अमरोहा शास्त्रार्थ" शीर्षक लेख लिखा है। आपने प्रदर्शन तो यह किया है कि मेरा भेजा हुआ मैटर आपने छापा है (हालाँकि मेरी ओरसे वह नहीं भेजा गया) परन्तु सभाके पाँच प्रस्तावोंमेंसे चारको आपने साफ उड़ादिया है,सिर्फ पाँचवाँ प्रस्ताव छापकर लिखा है कि सभाको इस प्रस्तावको पास करनेका क्या अधिकार है और क्या आवश्यकता है ? सो सभासे उसके अधिकारकी बात कहना तो छोटे मुँह बड़ी बात है और हास्यास्पद है। हाँ, आवश्यकता जरूर है और वह यह कि जो थोड़े आदमी लघुमत होनेसे सभामें मनमानी नहीं कर सकते वे सभापतिकी अनुपस्थितिमें चुपचाप कोई नाटक न कर डालें। इस प्रस्तावसे न तो सभापतिको मनमाने अधिकार मिले हैं,न मीटिंग होनेकी मनाई है। बात इतनी ही हुई है कि मीटिंग नियमानुसार की जाय, चोरीचुपकेसे कोई काम नहीं किया जाय। कुछ लोगोंने ऐसी हरकतोंका परिचय दिया था,

मन्त्रीने मेरी आज्ञा नहीं मानी, इसलिए मन्त्री ईमानदार हैं, और लघुमतने बहुमतके आगे सिर नहीं झुकाया, इसलिए बहुमत पक्षपाती है—यह बड़ा विचित्र न्याय है। मन्त्री ने सभापतिकी आज्ञा नहीं मानी, और आज्ञा भी कोई विशेष नहीं थी, केवल कागजात वगैरह लाने तथा नियमानुकूल कार्यवाही करनेकी थी—जब मन्त्री ने यह बात भी नहीं मानी तब सभा ने मन्त्रीको अलग करके दूसरा मन्त्री बनाया। कुछ लोग सभासे उठगये,इससे सभा नाजायज़ नहीं होसकती। उनके उठ जानेसे यह तो मालूम होताहै कि बहुमत उनकी तरफ नहींथा.अन्यथा वे जाते ही क्यों? वे अपनी वकालत करते, बहुमत को अपनी तरफ खींचते, और अगर उठना ही था तो इतनी संख्यामें उठते कि सभाका कोरम न रहता। तब उनकी सच्चाई मालूम होती। जब तक कोरम मौजूद है तब तक सभा अपने कामसे कैसे रुक सकती है? दिल्लीमें जब आपकी महासभामें से सुधारक दल उठकर चला गया था तब क्या आपने महासभा का काम बन्द कर दिया था? खैर, यह बात स्पष्ट है कि उस समय विरोधियोंके उठ जाने पर भी सभा को स्थगित कर देनेका कोई कारण नहीं था।

इस प्रकार लोग उठ उठकरके धमकियाँ देने लगें व होहल्ला मचाकर काम बन्द करना चाहें तब तो किसी भी सभाका काम चल ही नहीं सकता। तब तो सभाओंको एक एक व्यक्तिके इशारोंपर चलना होगा। ऐसी हालतमें तो सभाका जीवित रहना भी मरनेसे बदतर होगा। इसलिए कोई सभा ऐसा नहीं करती,न करना चाहिए। हाँ,प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि बहुमतको अपनी तरफ खींचे। परन्तु आपके पोषकोंमें इतना बल कहाँ था? और बल होता भी कहाँसे? सब बलोंका बल तो न्याय या सत्य है। जब उसके आगे सिर नहीं झुकासकते तब उनके पास बच्चों की तरह रूठने और हाय हाय करनेके सिवाय और क्या उपाय था?

आपका यह लिखना कि "पं० दरबारीलालजी सत्यसमाजसे घबरा उठे, इसलिए उनने अपने पत्र का नाम सत्यसंदेश कर दिया है" बड़ा विचित्र है। आपकी यह 'नासमझी' अजायबघरकी चीज़ है। सत्यसंदेश नाम इसलिए रक्खा गया है कि सत्य-समाज खड़ा हुआ है, और बढ़ रहा है। सत्यसमाज की स्कीमके बाद ही उनने नाम बदलनेका आन्दोलन उठा दिया था और अनेक लोगोंकी सलाह आने पर नाम बदला। साम्प्रदायिक नामका हट जाना सत्य-समाजकी उन्नति और स्थिरताका सूचक है, जिसे आप अवनति समझ रहे हैं। सत्यसमाज शुक्ल पक्ष के चन्द्रमाकी तरह बढ़ता जाता है,गाँव गाँवमें उस की शाखाएँ खुल रही हैं, सदस्य बन रहे हैं, उसका साहित्य प्रकाशित होना शुरू होगया है.जैन समाज के लोग उसकी प्रगति रोकनेके लिए चारों ओरसे चिल्लाने लगे हैं, इस उन्नति को क्या आप नहीं देख सकते हैं?

रही मेरी बात, सो मैंने अभी तो कोई सहायता दी नहीं है। अभी सत्यसमाजका मेम्बर भी नहीं हूँ। मेरे करने न करनेसे सत्यसमाजका क्या होता है? सत्यकी पूजा अपने आप ही होती जाती है। मैं अभी सत्यसमाजका सदस्य नहीं हूँ,परन्तु अगर बनभी जाऊँ तो भी इससे मैं जैनी न मिट जाऊँगा। सत्यसमाजी बननेके लिये किसी धर्मको छोड़ना जरूरी नहीं है, किन्तु सच्चा बन जाना है। सत्य-समाजी होनेपर मैं सच्चा जैन बनूँगा, न कि अजैन। सत्यसमाज जैनधर्म या किसी धर्मका विरोध नहीं करती।

अमरोहा समाजके दो टुकड़े हो रहे हैं। बात ठीक है,परन्तु इस फूटको दूर करनेका उपाय तो आप हीके हाथमें है। आप झूठ बोलना छोड़ दीजिये,झूठ का समर्थन न कीजिये। आप पं० दरबारीलालजीके मतको भले ही न मानिये, परन्तु आपका जो पराजय हुआ है, ईमानके खातिर उसे तो स्वीकार कीजिये। हाँ, आप हताश न हो फिर तैयारी करें, बड़े पण्डितों का सहारा लें, फिर लड़े इसप्रकार ईमानदारीसे काम

करें। देखिये! यहाँ की फूट मिट जाती है।

अमरोहा पंचायत मेरी कृतियोंके विरुद्ध होती तो आपके दल को ११ जुलाई की मीटिंगमें से भागना न पड़ता। आपके कथनानुसार जब सारे पदाधिकारी मेरे विरुद्ध थे और बहुमत मेरे विरुद्धथा, तब वे भागे क्यों? क्या आपकी अक़लमे इतनी साफ़ बात नहीं आती? रही भाई मूलचन्दजीके रिमार्क की बात, सो मुझे उस रिमार्कसे कोई मतलब नहीं। वे स्वतन्त्र हैं। एक नहीं हजार रिमार्क छपावें, परन्तु सभाका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि समाजने उनको घंटी बजानेके सिवाय और कुछ काम नहीं सौंपा था। अगर उन्हें कुछ करना था तो वह बाक़ायदा सभाके पास आना चाहिये था क्योंकि उनका स्थान सभाके नीचे था। आपने और कभी शास्त्रार्थ देखे होते तो समझते। आर्यसमाजियों और जैनियोंमे आजकल भी शास्त्रार्थ होते हैं, सभापति भी बनते हैं,परन्तु वे घंटी बजाने के सिवाय और कुछ नहीं कर सकते, जैसा अभी झाँसीके शास्त्रार्थमे हुआ। यह तो उन सभापतियोंकी बात है जो दोनों दलोंकी सहायतासे बनाये जाते हैं। फिर यहाँ तो मूलचन्दजीकी अध्यक्षताकी स्वीकृति तो क्या, सूचनासे भी पं० दरबारीलालजीका कोई सम्बन्ध नहीं था। पंडिताई तो दूरकी बात है, परन्तु आपको इन साधारण बातोंके सीखनेकी भी जरूरत मालूम होती है। मै तो सभाका अध्यक्ष था। सारी कार्यवाही मेरे हाथसे होरही थी। फिर मैं ही अगर शास्त्रार्थका सभापति बनता तो मैं अपनी रिपोर्ट अपने पास भेजता। इस निरर्थक सी बातसे बचने के लिए मैंने ही भाई मूलचन्दजीको घंटाध्यक्षका काम सौंप दिया और यह बिल्कुल मामूली बात होनेसे पं० दरबारीलालजीको भी उसकी सूचना नहीं दी। पंडितजीको किसने बुलाया था, यह बात स्पष्ट हो चुकी है। हाँ, शास्त्रार्थ होजाने पर उनको बिदा करदिया और सन्मानसे विदा कर दिया। शास्त्रार्थकी समाप्ति समाजकी रायसे हुई थी, और उस का कारण यह था कि जब आपके प्रश्नकी बारी आती थी तब आप प्रश्न नहीं करते थे, जैसा कि सर्वज्ञके शास्त्रार्थमें आपने किया; और जब उत्तर देनेकी बारी आती थी तो आप उत्तर नहीं देते थे, जैसा कि मुक्तिके शास्त्रार्थमे किया। तब समाज किस मुँहसे शास्त्रार्थको लम्बाती? फ़िजूलमें फ़जीहत कब तक कराती? जब समाजने देखा कि यह शेरका शेर से नहीं किन्तु बकरीसे सम्बन्ध होरहा है, और आप असाधारण कायरताके साथ बकरीका पार्ट अदा कर रहे हैं, तब समाजको मजा न आया। इसलिए पं० दरबारीलालजीकी सादर सन्मानपूर्ण बिदा करके आपकी किसी तरह रक्षा की। अब आप इस के लिए समाजका अहसान माननेके बदले कृतघ्नता का परिचय दे रहे हैं!

खैर, आपके पास जो मैटर गया वह नक़ल थी; असली कागजात पर मेरे हस्ताक्षर हैं। क्या ऐसे घासके तिनकेके सहारे आप डूबनेसे बचना चाहते हैं?

आपका मेरे बाजार (सो बाजारका थाल ठीक वहीं धर्मशालामे हुआ) टीका हुआ, इसलिये आप जीते—ऐसा निष्कर्ष निकाल कर तो आप तुच्छताकी सीमा पर पहुँच गये हैं। समाजने पंडितोका अपमान करनेके लिए उन्हें नहीं बुलाया था। वे कैसे भी हों, परन्तु उनके साथ शिष्टता, शिष्टाचारका पालन करना समाजका कर्तव्य था। ऐसा शिष्टाचार पं० दरबारीलालजीका भी हुआ और आपका भी। उनका भी मांगलिक टीका हुआ था। बल्कि उनको पहुँचाने के लिए स्टेशन तक बहुतसे आदमी गये थे, और आपको सिर्फ़ दो ही गये थे, जिसमें एक तो मैं ही था। अगर शिष्टाचारसे ही माप तौल की जाय तबभी आपका पराजय सिद्ध होता है। रही मार्ग-व्यय आदि की बात सो पं० दरबारीलालजीसे कई बार अनुरोध किया गया था, परन्तु उनने दृढ़तासे कहा कि मैं मार्गव्यय, भेंट आदि नहीं लेता किन्तु सारा खर्च अपने घरसे ही खर्च करता हूँ। कहाँ तो पं० दरबारीलालजी जो गर्मीके दिनोंमें अपने खर्चसे प्रचा-

रार्थ गाँव गाँव घूमते हैं, और कहाँ आप जो पोस्ट-कार्डका खर्चा भी घरसे नहीं करना चाहते ! आप में थोड़ी भी मनुष्यता होती तो आप पंडितजीकी इस उदारता और त्यागके सामने कुछ लज्जित होते, परन्तु आपका उथलापन इतना अधिक है कि उसे देखकर दूसरोंको लज्जा होती है । अभी क्या हुआ, अभी तो आप यह भी कहेंगे कि आपको भोजन कराया गया इसलिए आप जीते, आपको 'पंडितजी' कहा इसलिए आप जीते, आपके साथ लोग बातचीत करते थे, इसलिए आप जीते । जब पं० दरबारीलालजी बड़ेसेबड़े आदर और सन्मानकी कोई पर्वाह नहीं करते, आप ऐसी छोटी छोटी बातोंको ऐसा पकड़कर बैठे हैं, जैसे कंगाल कौड़ीको पकड़ कर बैठता है । देखिये, पंडितजीमे और आपमें कितना अन्तर है ।

आपको मैंने यह पता नहीं लगने दिया कि यहाँ शास्त्रार्थ होने वाला है, इसका आपको दुःख है । परन्तु मैं क्या करूँ ? सभाने यही निर्णय किया और इसलिए किया कि आप सरीखे बहादुर, पं० दरबारीलालजीका नाम सुनते ही न आयँगे । खैर, जैनगजटमें आपने पहिले छापा था कि आपको मालूम था, परन्तु अब असली बात आपके मुँहसे ही खुल गई, इसके लिए धन्यवाद । मेरे ऊपर आये प्रस्ताव की नक़ल प्रकाशित हुई है, परन्तु उसमें जान थी तो प्रस्तावक कहलाने वालेने उसे सभामें रक्खा क्यों नहीं ? उसके पास होनेकी तो बात ही दूर है, परन्तु जब उसके रखनेकी भी किसीकी हिम्मत न हुई तब उसका मूल्य क्या रहता है ? उसको प्रस्ताव कहना भी भूल है । इधर मैं सभाको अपना त्यागपत्र दे चुका था, परन्तु सभा मंजूर ही नहीं करती । अब मैं क्या करूँ ? आप लोग अपनी ताक़त लगाइये, बहुमतको अपनी तरफ लाइये । मुझे कोई उज्र नहीं है ।

अन्तमें मैं विरोधी बन्धुओंसे कह देता हूँ कि आप लोग कितनी ही चालाकी क्यों न करें, सत्यका गला दबाने की कितनी ही कोशिश क्यों न करें, परन्तु उससे आप डूबनेसे नहीं बच सकते । तिनकेका सहारा हास्यास्पद है । आप लोग मिशनके झूठे लेख लिखिये या अपना नाम छिपाकर दूसरोंके नामसे लिखाइये, शिष्टाचारका दुरुपयोग कीजिये, और भी अनेक तरह की असभ्यतासे पेश आइये, परन्तु इन सब तिनकों से आपका उद्धार होने वाला नहीं है । इसके लिए आपको सत्यके आगे ही सिर झुकाना चाहिये ।

—रघुनन्दनप्रसाद जैन, सभापति
जैनसभा अमरोहा ।

सत्यसमाज-प्रगति ।

श्री० सेठ चुन्नीलालजी कोटेचा आर्वीके प्रयत्नसे निम्नलिखित चार सदस्य बने हैं ।

(१०९) भगवानजी शर्मा, पिताका नाम—भगतरामजी, उम्र २३, जन्मसे गौड़ ब्राह्मण । वैष्णव पाक्षिक । सदरबाजार मोंढा जालना ।

(११०) रामचन्द्रजी, पिताका नाम—लाहनुजी, उम्र २५ वर्ष, जन्मसे मराठा । नैष्ठिक । कावड़पुरा, सदरबाजार जालना ।

(१११) बाबूलालजी, पिताका नाम—रामदेवजी उम्र २५ वर्ष, जन्मसे अग्रवाल वैष्णव । सदरबाजार मेनरोड़ जालना ।

जालना (निज़ाम स्टेट) में पहिले भी तीन मेम्बर हो गये हैं । इस प्रकार यहाँ शाखा होगई है । कार्यकर्त्ताओंका चुनाव अभी नहीं हुआ है । श्रीयुत केशरीचन्द हीरालालजी सुराणा काफ़ी प्रयत्न कर रहे हैं । आशा है यहाँकी शाखा शीघ्र ही विशालरूप धारण कर लेगी ।

(११२) रतनचन्दजी, पिताका नाम—राजमलजी छाजेड, उम्र १९ वर्ष, जन्मसे श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन ओसवाल । जैन पाक्षिक । कुडुंघाड़ी ।

चौधरी धन्नालालजी भेलसाके प्रयत्नसे निम्नलिखित दो सदस्य और बने हैं । चौधरीजी बहुत प्रयत्नशील हैं ।

(११३) मक्खनलालजी वैद्य, पिताका नाम—लोचनलालजी, उम्र ५१ वर्ष, जन्मसे दिगम्बर जैन पद्मावती पोरवाल । नैष्ठिक । माधोगञ्ज, भेलसा

(ग्वालियर)

(११४) पन्नालालजी वैद्य, पिताका नाम-हजारीलालजी, उम्र २८ वर्ष, जन्मसे दिगम्बर जैन गोलालारे। नैष्ठिक। नगदा नागोद पो० बासौदा।

(११५) किशोरीलालजी सोनी। पिताका नाम टीकारामजी। उम्र २२, जन्मसे दिगम्बरजैन लमेचू। नैष्ठिक। सोनीभवन बिलसी (बदायूं)। आप उत्साही युवक हैं। सत्यसमाजकी उन्नतिके लिये बिलसीमे काफी प्रयत्न करते हैं। आपहीके प्रयत्नसे निम्नलिखित सज्जनने अनुमोदन-पत्र भरकर भेजा है।

(११६) रोशनलालजी, द्वादशश्रेणी सिंगर सुईंग कम्पनी बिलसी।

(११७) चैनसुखदासजी बाकलीवाल। पिताका नाम-पाँचूलालजी, उम्र ४१. जन्मसे दिगम्बरजैन खंडेलवाल। ओंकारजी मान्धाता (निमाड़)।

नोट—हरएक सदस्यको धर्ममीमांसा प्रथम भाग अपने पास अवश्य रखना चाहिये और एक बार पढ़नेसे तो नहीं ही चूकना चाहिये।

सत्यसमाजी से—

प्रियवर! सावधान हो जाओ, सहने होंगे कष्ट बड़े।
चलो साहसी, कर्मठ बनकर, देखो! पैर न फिसल पड़े॥
सत्य-मार्ग-अनुगामी बनना खेल नहीं, भारी तप है।
जहाँ देखिये कदम कदमपर दुःखों हीका जमघट है॥
ध्येय-प्राप्तिके बिना तुम्हे विश्राम नहीं लेना होगा।
घोर परिश्रम संग सखे! सर्वस्व तुम्हे देना होगा॥
सत्य-विरोधी तुम्हें सदा बहकायेंगे, फुसलायेंगे।
बहिष्कार आदिक अगणितभय दिखलाकर धमकायेंगे॥
लेकिन ज़रा न विचलित होना, तुमको आगे जाना है।
सहनशीलता, समताको अपनी सहचरी बनाना है॥
सत्यसमाजीका ये कायर क्या कर सकते—कहो सखे!
सत्यभक्त भी कभी किसीसे क्या डर सकते—कहो सखे॥
आओ! आओ!! हम मिलकर भगवान सत्यका ध्यान करे
सात अहिंसाकी उपासना-द्वारा निज कल्याण करें॥

—रघुवीरशरण जैन (सत्यसमाजी)

पत्र-पेटी।

[१] [जैनसमाजके सुप्रसिद्ध कवि और समाजसेवक श्रीमान् ज्योतिप्रसादजी का पत्र]

श्री० धर्मबन्धु पं० दरबारीलालजी, सप्रेम जयजिनेन्द्र,

बहुत दिनोंकी बात है कि आप दशलाक्षणी पर्वके बाद सहारनपुरसे लौट रहे थे तब देवबन्दके स्टेशनपर आपसे अकस्मात् भेंट होगई थी। उसके पश्चात् फिर कोई अवसर मिलनेका नहीं मिला। सम्भव है किसी समय मिल जाय।

आज कुछ शब्द लिखने पर विवश होना पड़ा है। मैं आपके लेखोको बहुतही ध्यानसे पढ़ता हूँ, आपके विचारोंपर सूक्ष्म-दृष्टि डालता हूँ, आपके विज्ञानका मनन करता हूँ, और आपको अपने विरोधी मित्रोंसे लेखनीद्वारा टक्कर लेते हुए भी देखता हूँ। इन सब बातोंके लिये आपके सत्साहसकी प्रशंसा किये ही बनता है। यद्यपि मैं आपके तमाम विचारों से सहमत नहीं हूँ, काफी मतभेद रखता हूँ, परन्तु आपकी विद्वत्ता पर मुग्ध हूँ। जिन बातोंको आप अपने बुद्धि-बलसे प्रकाशमें लाकर खड़ा कर रहे हैं, और साथही यह भी लिख रहे हैं कि "यदि तर्क-द्वारा मेरे विचारोंका कोई निष्पक्ष भावसे खण्डन करदे अर्थात् मेरी युक्तियोंको गलत साबित करदे तो मैं अपनी बातका पक्ष छोड़कर सचाईके आगे स्वयंको झुका दूँगा" बड़ा ही प्रबल साहस और गंभीरता है।

मैं यह तमाशा देखकर हैरान हूँ कि नामधारी विद्वानों और धर्मके ठेकेदारोंने सचाईके हथियार डाल दिये हैं, और सरायकी भटियारिनोंका रवैया अख्तियार कर लिया है। वैसे तो सचाईके हथियारों का अभाव पहिलेसे ही हो चुका था, जबकि सुधार-

कोंके लिये विधवा-जीवन सुधार, जातिपाँति लोप, अछूतोद्धार आदि शब्दोंका बुरी तरहसे उपयोग किया जाने लगा था, परन्तु अब जबकि उपरोक्त शब्द भी जनता अपनाने लगी है, तब विरोधी मित्रोंने असभ्यता, उद्दण्डता, आदि गुंडेपनके हथियार सँभाले हैं, और सरासर झूँठ बोलनेका आश्रय ले लिया है। मुझे याद है कि जब एक आर्यसमाजी छोकरेने अपनी माँसे बहस करनेकी आज्ञा माँगी तो माँने कहा कि बेटा, थोड़ी उम्रमे क्या खाक बहस करोगे? बेटेने कहा कि मैं प्रश्न करूँगा कि एक और एक कितने होते हैं? तब माँ ने कहा कि इसका उत्तर तो कोई भी देदेगा कि दो होते हैं। बेटाराम बोले कि वाह, कोई कुछ भी उत्तर क्यो न दे, जब मैं मानूँगा तभी ना? मैं सबको ग़लत कह जाऊँगा। ठीक यही बातें देखनेमे आरही हैं। मैंने अमरोहा-चर्चाके विषयमें जो कुछ पढ़ा है और उससे जो कुछ नतीजा निकाला है, वह यह है कि विद्वत्ता और सचाईकी देवियें, पंडित कहलाने वाले जैनधर्मके ठेकेदारोंका साथ छोड़कर भाग खड़ी हुई हैं। अबतो उनके दिलोंमें पक्षपात और कषायके भूतोंने अपना डेरा डाल दिया है। मुझे तो ऐसे भाइयोंकी दशापर बजाय बुरा माननेके दया आती है, और भावना करता हूँ कि उनके हृदयोंमें सद्‌बुद्धि उत्पन्न हो।

मुझे यह अवश्य कहना पड़ता है कि आपकी विचारशैली, मेरा मतभेद होते हुए भी, अवश्य मनन करने योग्य है. और ज्योंज्यों इसके ऊपर विरोधी मित्रोंके कटुक कटाक्ष और दुराग्रहपूर्वक गन्दे हमले किये जाते हैं, त्योंत्यों और भी मनन करनेकी प्रेरणा होती है।

सम्भव है कि किसी समय (बहुत कुछ आगे चलने पर) आपके विचारोंसे मतभेद रखने वालों को भी आपसे सहमत होना पड़े, और विरोधी मित्र भी स्वागतके लिये आगे बढ़ें, परन्तु यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता। हाँ, आपके बुद्धिबल, दृढ़ता, सत्साहस, धैर्य और इस युद्ध-कलामें निपुण होनेकी प्रशंसा हृदयसे करनी पड़ती है। आप वास्तव मे विद्वान हैं। विद्वानके जो लक्षण हैं, वे सब आपमें दिखाई दे रहे हैं।

आप बड़ी दृढ़ताके साथ अपने विचारोंका विकास मे लारहे है, अतः धन्यवाद किसी समय मुझे भी वार्तालाप करके अपने मतभेदका परिचय देना होगा। देखिये, ऐसा अवसर कब मिलता है?

योग्य सेवा। भवदीय—ज्योतिप्रसाद जैन, देवबंद।

२—मेरा नम्र खुलासा।

Study every one's temper, that you may understand, and make allowance for them—Lord Avel ury.

मैं वर्तमान विविध सुधारणाओंका पक्षपाती हूँ। औसर-मौसर आदि समाज-विघातक कार्योंमें भाग नहीं लेता, प्रत्युत आवश्यकतानुसार उसके विरुद्ध शान्तिमय आन्दोलनोंमें यथाशक्ति, यथावकाश भाग ले लिया करता हूँ। दूसरा अन्तर्जातीय-विवाह, विधवा-विवाह आदि समाज-सुधारोंको मैं समाजोन्नतिकी दृष्टिसे अपनाता हूँ। कर्तव्यके रूपमें उनमें मेरे खुदके लिये शामिल होना भी मै आपत्तिजनक नही मानता।

मेरा सम्बन्ध एक संस्थासे है। इसलिये कोई भाई अथवा बहिन यह मानले कि संस्था ऐसे कार्यों की पोषक है तो उनका मानना ठीक नही है। संस्था के प्रतिनिधित्वके रूपमें उन कार्योंमे न तो मैंने आज तक भाग लिया, न आगे लिया जावेगा, न लेनेकी इच्छा है, न संस्थाके संचालकोंका वैसा अभिप्राय है।

ये तो मेरे व्यक्तिगत विचार हैं। इसलिये सभी बहन भाइयोंसे मेरी नम्र विनंति है कि मेरा खुदका कार्य संस्थाका कार्य न समझें। संस्था संस्था है और मैं मैं हूँ।

संस्थासे मेरा सम्बन्ध होनेसे कोई कोई बन्धुओं को यदि ऐसी शंका आगई हो कि संस्थाका भी ध्येय इस रूपका है, तो वे अपनी शंकाका इस मेरे कथनसे समाधान करलें। वैसा वे न मानें। वैसा

उनका मानना सत्य रूप नहीं है। और यही मेरा नम्र खुलासा है।

—ऊमचन्द हीराचन्द भनमाली
प्रमुख-श्री फतेचन्द जैनविद्यालय चिंचवड़ जि०पूना

२—दि: जैनसमाजके प्रति नम्र निवेदन।

मुनि चन्द्रसागरजीके विषयके जितने विज्ञापन एवं जैनपत्रोंमे जो समाचार प्रकाशित होते हैं, उनको पढ़नेसे यही ज्ञात होता है कि उक्त मुनि महाराजका आचरण हमारे जैनशास्त्रोंके विपरीत है। वे खंडेलवाल जैनसमाजमें लोहड़साजन—बड़साजनका विषय लेकर जगह जगह भयंकर कलह अग्नि फैला रहे हैं। आप जिस ग्राममें जाते हैं, उस जगहकी जैन एवं अजैन जनता आपके मुखसे सिर्फ लोहड़साजन-बड़साजन विषयका यद्वातद्वा व्याख्यान सुनकर एवं आपकी हठग्राहिता, क्रोधमय मुख देख कर मुनिधर्मकी और जैनधर्मकी पूर्णतया हँसी करती है। इसलिये मेरा दि० जैनसमाजके प्रति नम्र निवेदन है कि मुनि चन्द्रसागरजीको सुमार्गपर लानेका भरसक प्रयत्न करें और उनको अपने जैन शास्त्रोंमें जैसा मुनिधर्म पालन करनेका विधान है, वह बतलावें। इसपर भी यदि आप अपनी आदत नहीं छोड़ें और हठग्राहिता रखें तो धर्म एवं जैन समाजकी और मुनियोंकी जो निन्दा होरही है उस को अवश्य दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये।

मुनि चन्द्रसागरजीके उक्त आचरण एवं व्याख्यान शैलीपर किसी भाईको संदेह हो तो स्वयं उनके पास जाकर अपने कानोसे एवं आँखोंसे सुन देख लेवें। —निवेदक

शिखरलाल सेठी, लाडनूँ (मारवाड़)।
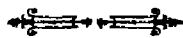
—महिलाश्रम देहली की १५ वर्षीया छात्रा शकुन्तला कुमारी ने पंजाब यूनिवर्सिटी की प्रभाकर परीक्षा ३५८ नम्बरोंमें पास की है। इसने पहिले भूषणकी परीक्षाभी अच्छे नम्बरोंमें पास की थी।

विविध विषय।

१.—जैनमित्रकी नीति।

"जैनमित्र" जैनसमाजका प्रसिद्ध पत्र है। वह अपने को सुधारक (विवेकी) भी समझता है और सुधारक होनेके नाते उदार होनेका दावा भी करता है, मगर दुःखके साथ कहना पड़ता है कि उसकी अनुदार व संकीर्ण नीति उसके दावेका विरोध कर रही है। उस नीतिसे तो यही पता लगता है कि "जैनमित्र"का दावा सचाई पर अवलम्बित नहीं है।

अभी हालमे ता० २२ मईके "जैनगजट"में अमरोहा सभाके नामसे जो रिपोर्ट व रिमार्क प्रकाशित हुए थे वे सत्य हों या असत्य,लेकिन नाजायज अवश्य थे, यह बात खूब स्पष्ट हो चुकी है। मैं मानता हूँ कि "जैनमित्र" उन्हें असत्य नहीं कह सकता क्योंकि इससे पं० दरबारीलालजीके सिद्धान्तोंसे सहानुभूति प्रकट होती है, और वह उनका विरोधी, विरोधी ही नहीं बल्कि कट्टर विरोधी है। लेकिन वह उन्हें जायज या नाजायज जरूर कह सकता है क्योंकि जायज नाजायजका सत्यासत्यमे कोई सम्बन्ध नहीं है। वह उन्हें नाजायज कहते हुए भी सत्य कह सकता है। कुछ नहीं, तो मौन तो रह ही सकता है।

श्री० साहु रघुनन्दनप्रसादजीने अमरोहा जैन सभाके सभापति की हैसियतसे उन्हें नाजायज (असत्य नहीं) घोषित करनेके लिए अपना एक वक्तव्य "जैनमित्र"में प्रकाशनार्थ भेजा, जिसमें पं० दरबारीलालजीका समर्थन ज़रा भी नहीं था। वह तो केवल एक नैतिक चीज थी, धार्मिक नहीं। मगर "जैनमित्र"ने उसे नहीं छापा। हमने समझा कि "जैनमित्र" अमरोहा समाजके पारस्परिक झगड़ोंके सम्बन्धमें बिलकुल मौन रहना चाहता है, वह रिपोर्ट व रिमार्क को जायज या नाजायज कुछ नहीं कहना चाहता है। हमने दिलही दिलमें "जैनमित्र" की इस नीतिकी सराहना की। मगर कुछ दिनों

बाद हमारा अनुमान ग़लत निकला। जैनमित्रने साहुजीके खिलाफ एक सामूहिक दस्तखती लेखको प्रकाशित करदिया, जिसमे साहुजीके व्यक्तित्व पर अनेक आक्षेप लगाए गए थे। इस बातका साहुजी हमें तथा अन्य भाइयोंको बहुत मलाल हुआ। खैर इसके पश्चात् अमरोहानिवासी भाइयोंने एक सामूहिक दस्तखती वक्तव्य छपने भेजा। उस वक्तव्यमे न कोई अपशब्द था, न किसीके व्यक्तित्व पर कोई आक्षेप था, वह तो केवल साहुजी तथा अमरोहा सभाकी पोजीशनका स्पष्टीकरण था। वह पूर्ण नैतिक था, उसमें पं० दरबारीलालजीका जरा भी समर्थन व अनुमोदन नहीं था, मगर "जैनमित्र"ने उसे भी स्थान नहीं दिया। जब उससे साहुजीके वक्तव्य तथा संयुक्त वक्तव्य को न छापने का कारण पूछा तब उसने यह जवाब दिया कि उन्हें छापना उचित नहीं समझा। पाठकजन! देखा, साहुजीके खिलाफ व्यक्तिगत आक्षेपोंसे परिपूर्ण गंदे व झूठे लेखोंको छपाकर साहुजीकी निर्मल व प्रतिष्ठित पोजीशनको बिगाड़ना तो "जैनमित्र" ने उचित समझा, मगर सब दोषोंसे रहित, साहुजीकी पोजीशनका स्पष्टीकरण करने वाले सभ्य लेखोंको छापना उसने अनुचित समझा। यदि इन लेखोंमें पं० दरबारीलालजीकी प्रशंसा होती या उनके मिशनका अनुमोदन होता, और "जैनमित्र" उन्हें न छापता तो कोई हर्ज की बात नहीं थी, मगर दुःख व आश्चर्य तो इस बातका है कि वे लेख शुद्ध नैतिक होते हुए भी प्रकाशित नहीं किए गए। एक प्रतिष्ठित व्यक्ति व किसी सभाकी पोजीशनको बिगाड़ना कहाँ तक उचित है, यह "जैनमित्र" बतलाए?

"जैनमित्र" की इसी नीतिके विरोधमें जैनसभा अमरोहा की ता० ११ जुलाई की मीटिंगमें एक प्रस्ताव रखा जाने वाला था, मगर साहुजी (सभापति) ने उसे रोक दिया। जैनमित्र! इसे कहते हैं उदारता! यदि तुम उन्नति चाहते हो तो इस घटनासे सबक लो, और अपनी नीतिको संकीर्णताके गड्ढेसे निकाल कर उदार बनाओ! —रघुवीरशरण जैन।

२-अमरोहा शास्त्रार्थ पर एक दृष्टि।

श्रीमान पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ तथा पं० वन्शीधरजी (शोलापुर) के परस्पर अमरोहामें जो शास्त्रार्थ हुवा उसका पूर्ण वृत्तान्त सत्यसंदेश अंक १२ तथा १३ मे प्रकाशित होचुका है। उसके प्रतिवादमें आजतक किसीने कुछ भी नहीं कहा है, इसलिये यह समझा जाना चाहिये कि उक्त विवरण प्रश्नोत्तर रूपमे जिसप्रकार प्रकट हुवा है, वह सब को मान्य है। विद्वानोंका कर्तव्य था कि वे उक्त विवरण पर निष्पक्ष रूपसे विचार कर सूचित करते कि किसका पक्ष प्रबल रहा। करीब बाईस वर्ष पहिले स्वर्गीय श्री स्याद्वादवारिधि पं० गोपालदासजी बरैया तथा स्वर्गीय श्री स्वामी दर्शनानन्दजीके परस्पर 'ईश्वर-कर्तृत्व" पर लिखित शास्त्रार्थ हुवा था। उसके सम्बन्धमें सरस्वतीके तत्कालीन सम्पादक पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी ने स्पष्ट घोषित किया था कि यद्यपि मै ईश्वर को सृष्टिका कर्ता मानता हूँ, किन्तु इस शास्त्रार्थमें पं० गोपालदासजीका पक्ष प्रबल रहा। अफसोस है कि जैन विद्वानोंमे से कोई भी इस प्रकार की निष्पक्षता व साहस नहीं दिखला सका और प्रायः सबने चुप्पी साधे रहनेमें ही अपने कर्तव्यकी इतिश्री समझी। खैर। लेकिन विद्वानों की इस चुप्पीसे श्रीमान पं० वन्शीधरजी (शोलापुर) के हौसले बढ़ रहे हैं और वे कल्पित मध्यस्थ श्रीमान ला० मूलचन्दजीके वक्तव्य को लेकर अपनी विजय-दुंदुभि बजा रहे हैं तथा जनताको यह विश्वास करादेना चाहते हैं कि जिन दरबारीलालजी के साथ शास्त्रार्थ करनेको कोई विद्वान साहस कर आगे नहीं आता था, उनको मैंने योंही चुटकियों में उड़ा दिया।

यह साफ तौरपर प्रमाणित होचुका है कि लाला मूलचन्दजी शास्त्रार्थके लिये मध्यस्थ नहीं बनाये गये थे, मध्यस्थ की कल्पना बादमें की गई है तथा अमरोहा जैनसभाके सभापति श्रीमान साहु रघुनन्दनप्रसादजी की अनुपस्थितिका नाजायज फ़ायदा

उठाकर तथा ला० मूलचन्दजी को फुसलाकर व उनपर अनुचित दबाव देकर उनसे उक्त वक्तव्य दिलवाया गया है।

पं० वंशीधरजीके लिये ऐसा करना बिल्कुल आवश्यक होगया था। शास्त्रार्थमें उन्हें बुरी तरह झेंपना पड़ा था। उस झेंप को मिटानेके लिये कोई ऐसी कार्रवाई करना, जिससे वे जनताके सामने अपना मुँह दिखा सकें, बिल्कुल जरूरी था। साधारण जनता तर्क की बारीकियों को नहीं समझती—वह तो स्थूल परिणामसे ही अन्दाज लगा सकती है। इसलिये पं० वंशीधरजी ने यह चाल चली। शास्त्रार्थोंमें ऐसी चालबाजियाँ करना कोई नयी बात नहीं है। आजकल शास्त्रार्थ 'तत्त्वबोध' के लिये या सत्यकी खोजके लिये नहीं किये जाते। भला जो व्यक्ति 'सर्वज्ञत्व समीक्षा' शास्त्रार्थके प्रारम्भमें ही घोषित करदे कि—"सर्वज्ञ सिद्ध हो चाहे न हो परन्तु हमारा तो उसपर पूर्ण विश्वास है; उस विश्वासको हम किसी भी हालतमें बदल नहीं सकते," क्या उसे जिज्ञासु या सत्यका खोजी कहा जासकता है? ऐसा व्यक्ति केवल अपने दुराग्रहकी रक्षाके लिये ही शास्त्रार्थ करता है; और इसके लिये वह उचित अनुचित सभी उपायों से काममें लेता है।

पं० वंशीधरजी की यह चालबाजी मुझे करीब २०-२५ वर्ष पहिले की एक ऐसी ही घटनाकी याद दिलाती है, जब स्थानीय जैन कुमार सभाके वार्षिकोत्सवपर यहां स्व० पं० गोपालदासजी व स्व० स्वामी दर्शनानन्दजी के परस्पर ईश्वर-कर्तृत्व पर मौखिक शास्त्रार्थ हुआ था। जैनियोंके अलावा सभी धर्मावलम्बी ईश्वरको सृष्टिकर्ता मानते हैं इसलिये सभी हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदिकी सहानुभूति आर्यसमाजियोंके साथ थी। वे लोग किसी प्रकार अपनी हार मानने को तैयार न थे। इस पर आर्यसमाजियों ने एक बड़ी जबर्दस्त चाल चली। शास्त्रार्थ से कुछ महिने पहिले ही पं० दुर्गादत्त शर्मा नामक एक व्यक्ति आर्यसमाज छोड़कर जैनी बना था। आर्यसमाजियोंको लज्जित करनेके उद्देश्यसे ही उसे इस अवसरपर यहाँ खास तौर पर बुलाया गया था, परन्तु उसका बुलाया जाना जैनियोंके लिये ही घातक सिद्ध हुआ। शास्त्रार्थके दूसरे ही दिन उक्त पं० दुर्गादत्तके नामसे "जैनधर्म परित्याग" शीर्षक एक विज्ञापन निकला जिसका आशय यह था कि—कलके शास्त्रार्थमें जैनियों की हार हुई इसलिये मैं जैनधर्मको छोड़कर पुनः वैदिक धर्म की शरणमें जाता हूँ। आर्यसमाजियोंकी चाल चल गई। शास्त्रार्थमें किसने क्या युक्तियाँ दीं, किसकी युक्तियाँ प्रबल रहीं, इसकी तरफ किसीने लक्ष्य नहीं दिया किन्तु एक साधारणसी चालाकीने सर्वसाधारणमें यह बात फैला दी थी कि जैनी हार गये। करीब हफ्ते भर तक आर्यसमाजियोंने दुर्गादत्तको छिपाये रक्खा—जैनियोंने उसे खूब ढूँढा, परन्तु उसका कहीं पता न लगा। बादमें [illegible] जैनियोंने उससे दूसरा नोटिस "[illegible] मेरी भूल" शीर्षक निकलवाया जिसमें लिखा था कि—शास्त्रार्थमें स्वामी दर्शनानन्दजी बुरी तरह हारे थे; मैं जब उनसे मिलने गया तो वे रोने लगे, मैं उनका शिष्य होनेके कारण उनका रुदन बर्दाश्त न कर सका और इसलिये उनको सांत्वना देनेके लिये मैंने "जैनधर्म परित्याग" शीर्षक पर्चे पर हस्ताक्षर कर दिये, वास्तवमें मैं जैनी ही हूँ। ये महाशय फिर कुछ गड़बड़ न कर बैठें इसलिये जैनियोंने करीब वर्ष भरके लिये उसके गुजारेका प्रबन्ध करके उसे मोरेना भिजवा दिया। लेकिन हजरतको धर्म-परिवर्तनका ऐसा चसका लगा कि बादमें उसने यह पेशा ही अख्तियार कर लिया, और गिरगट की तरह कई रंग बदले—कभी आर्यसमाजी बना, कभी सनातनी, कभी दिगम्बर जैन कभी स्थानकवासी जैन आदि।

आजकी परिस्थिति प्राय वैसी ही है। रूढ़िग्रस्त समाज 'सत्यसमाज'के नामसे वैसेही चौंका हुआ है। जबकि बड़े बड़े सुधारक कहानेवाले व्यक्ति भी श्रीमान पं० दरबारीलालजीके मन्तव्यों पर शान्तिपूर्वक विचार करनेके बदले उनको मनमाना रूप देकर समाजको अधिकाधिक भड़काने में ही

अपनी सुधारकता व विद्वत्ता समझते हैं, तब साधारण जनतासे तो न्याय व निष्पक्षताकी आशा रखना व्यर्थ ही है। ऐसी परिस्थितिमें यदि पं० वन्शीधरजीने मध्यस्थके नामपर ला० मूलचन्दजीको "दुर्गादत्त" बनाने की चेष्टा की तो यह क्षम्य ही है। हर्ष है कि इसका कार्फी भंडाफोड़ हो चुका है।

ला० मूलचन्दजी पं० वन्शीधरजीके हाथकी कठपुतली बनकर व्यर्थ जलील हुए, इसकेलिये उनके प्रति समवेदना है। —प्रकाशक

३—प्रत्यक्षदर्शी महाशय की अनभिज्ञता।

श्री क्षुल्लक आदिसागरजीके अन्तिम समय स्थानीय कतिपय अंधभक्तोंने जो लीलाएं रचीं, जिस प्रकार उन्हें जबर्दस्ती मुनि बनाकर यहाँ पाखण्ड फैलाया, उसका पूर्ण विवरण सत्यसंदेश अंक ११ (ता० १ मई १९५७)में प्रकाशित हो चुका है। उसके प्रतिवादमें अपने आपको प्रत्यक्षदर्शी बताने वाले श्री० विमलप्रसादजी जैनका एक नोट ता० १८ जुलाईके जैनमित्रमें प्रकाशित हुआ है। श्रीमान विमलप्रसादजीके व्यक्तिगत तथा अप्रासंगिक आक्षेपोंका उत्तर देना हम आवश्यक नहीं समझते; न उसके लिये हमारे पास फालतू समय व स्थान है। आलोचक महाशय दो चार बार क्षुल्लकजीके पास गये होंगे, लेकिन उनके व अंधश्रद्धालु मंडलीके अतिरिक्त अनेक महानुभावोंने घण्टों क्षुल्लकजीके पास रहकर केवल परोपकार भावसे उनकी सेवा-सुश्रूषा की है। आप लिखते हैं कि—"सायंकाल पौने दस बजे आपने (क्षुल्लकजीने) अपना शरीर छोड़दिया"। क्या आप बतलावेंगे कि "सायंकाल पौनेदस बजेका" समय कौनसा होता है? बात असलमें यह थी कि, क्षुल्लकजीका देहान्त सायंकाल साढ़ेचार बजेके करीब ही होगया था और धार्मिक नियमानुसार उनका शव संस्कार उसी दिन होजाना चाहिये था। लेकिन अगर धार्मिक नियमोंका पालन किया जाता तो अंधभक्तोंको पाखण्ड फैलानेका मौका कैसे मिलता? इसलिये ये लोग जानबूझकर रात होजाने तक शव को हाथ पैर आदि मुसते रहे और बादमें देहान्त होना प्रकट किया। विमलप्रसादजीने असली बात छिपानेकी बहुत कोशिश की, परन्तु वह छिप न सकी और इसलिये रात्रिके "पौनेदस" बजेका समय "सायंकाल" रूपमें प्रकट होगया।

आप लिखते हैं कि—"उन्होंने (क्षुल्लकजीने) उस समय बड़े शांत परिणाम सहित मुनिव्रत धारण करके अपने वस्त्र हटा दिये। किन्तु श्रावकोंने भविष्य की ओर ध्यान देते हुए उन्हें केवल अगले दिवस सुबह आठ बजे तकका ही नियम दिलाया था। किन्तु दैवयोगसे अगले दिन आप सावधानीमें आगये इसलिये श्रावकोंने उन्हें ऐलकके व्रत धारण कराकर वस्त्र पहना दिया"। हमें निश्चित रूपसे मालूम है कि क्षुल्लकजीको उनकी बेहोशीकी हालतमें अंधभक्तोंने नगा कर दिया था, और होशमें आते ही उन्होंने अपनी चद्दर आदि मांगी थी और वह उन्हें दीगई थी। लेकिन आलोचक महाशयका कथन ही ठीक माना जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि—मुनिव्रत जीवनभरके लिये होता है या कुछ घंटोंके लिये, जो निश्चित समयके पश्चात् मुनिव्रत छूट जाय और एक समयका मुनिव्रती वापिस कपड़े पहिनले? अगर आलोचक महाशय अथवा उनके आश्रयदाता पाटनीजी इतनी मोटी बात भी न समझे हों तो वे किसी शास्त्रज्ञ न्यायतीर्थ या शास्त्रीजीसे धर्मशास्त्रानुसार इसकी व्यवस्था लें।

शवका जुलूस निकालनेवालोंसे और श्रीमान रा० ब० सेठ भागचन्दजी साहबसे कितना मतभेद था जिसके फलस्वरूप सेठ साहबने प्रारम्भमें असहयोग तक किया, सेठ साहबका नाम लेकर जुलूस के लिये बाजारसे वस्तुएं ले लीं गईं लेकिन उनके दाम अभीतक नहीं चुकाये गये सेठ साहब बादमें क्यों झुके, किस प्रकार औरतोंको बुलाकर उन्हें शवको छूने तथा भेंट चढ़ानेको मजबूर किया गया, आदि बातें स्थानीय समाजको भली भाँति मालूम हैं। इनको प्रकट न करना ही अच्छा है। —प्र०

… at the Ajmer Printing Works, Ajmer.

"SATYASANDESH" Ajmer   Reg. No. N. 611

ता० १ सितम्बर सन १९३४

धर्म-मीमांसा—छपकर तैयार होगई है। पृष्ठ संख्या १००, प्रचारके लिये मूल्य लागत से भी कम, केवल चार आने रक्खा गया है। पुस्तक सत्य-सन्देश ऑफिस अजमेर, हिन्दी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग बम्बई तथा सम्पादक महोदयसे प्राप्त हो सकती है। एक प्रति मंगवाने के लिये सवा पाँच आने के टिकिट भेजना चाहिये। —प्रकाशक।

चन्द्रसागर लीला—मुनिवेषी चंद्रसागर-जी की उद्दंडता घटनेके बजाय अधिकाधिक बढ़ती जारही है। आप विधवा स्त्रियोंको सिर मुंडानेके लिये तथा हाथ पाँव व गले के जेवर उतारनेके लिये बाध्य करते हैं। आहार लेनेसे पूर्व आप आध-आध घंटे तक इशारोंसे कहते रहते हैं कि अमुक जेवर उतारो तो आहार लेऊँ; वरना वापिस जाता हूँ। स्त्रियोंके साफ मना कर देने पर इनके साथी मुनि-वेषी निर्मलसागरजीको एक दो जगहोंसे बिना आ-हार लिये वापिस लौटना पड़ा। इसपर आप खि-सियाकर व्याख्यान-सभामें उन स्त्रियोंका नाम लेकर तथा उनके लिये 'नकटी' 'रांड' आदि असभ्य शब्दों का प्रयोग करते हुए बोले—वहतो बेशर्म होगई है। अब वह किस की मानेगी?

बहुत कुछ प्रयत्न करनेपर भी शूद्रजलत्याग तथा लोहड़साजनोंके साथ खानपान-त्याग कर मुनिजी के लिये भोजन बनाने वालोंकी संख्या जब १०-१२ से अधिक न हुई तो उन्होंने एक चाल खेली। उन्होंने घोषित किया कि इन व्यक्तियोंके अलावा कोई व्यक्ति लोहड़साजन—सम्बन्धी प्रतिज्ञा लेकर नया चौका बनावे तो आहार लेऊंगा। इससे दो-चार व्यक्ति और चक्करमें फंसे, लेकिन फिर गाड़ी अड़ गई। मुनिजीको इस कारण दो तीन दिन तक उपवास भी करना पड़ा। आखिर यह देखकर कि उपवासोंकी धमकीसे भी आहारदाताओंकी संख्या नहीं बढ़ती, मुनिजीने यह घोषित कर दिया कि मेरा आग्रह पर्युषण पर्व के लिये ही ऐसी प्रतिज्ञा थी, और वापिस उसी ढर्रे पर आगये।

जो लोग मुनिजीके आदेशानुसार लोहड़सा-जनोंके बहिष्कारकी प्रतिज्ञा नहीं लेते, उनको मुनिजी प्रायः हर समय कोसते रहते हैं, तथा भरी सभामें उनकी मनमाने रूपसे निन्दा करते रहते हैं। इसी

बचने के लिये कई उच्छृङ्खल, दुराचारी व पतित स्त्री पुरुषों ने शूद्रजल-त्याग व लोहड़साजन-बहिष्कार की प्रतिज्ञाएँ लेली हैं और इस कारण वे अब बड़े धर्मात्माओं में गिने जाने लगे हैं। उपरोलिखित प्रतिज्ञाओंके प्रतापसे बारबार गर्भपात करने वाली तथा अपने भाईसे व्यभिचार करने वाली स्त्रियोंकी भी शुद्ध हो सकती है और मुनिजी बेखटके उनके हाथसे आहार ले सकते हैं! स्थितिपालक पत्र उपरोक्त प्रतिज्ञाएँ लेने वाले व्यक्तियोंकी, चाहे वैसे वे कितने ही शिथिलाचारी क्यों न हों, खूब प्रशंसा करते हैं और उन्हें स्वामस्व|ह सुधारकोंका लीडर बताकर मुनिजीकी महत्ता प्रदर्शित कर रहे हैं। ऐसे ही एक व्यक्तिने, जिसने पहले मथुरामें जनेऊ लेकर बादमें उसे निकाल फेंको थी, जब अभी फिर जनेऊ तथा उक्त प्रतिज्ञाएँ लेलीं तो उसके मित्रोंने इसका कारण पूछा। वह बोला-अभीतो जैसा मुनि महाराज कहेंगे वैसा करूँगा, बादमें पालना तो मेरे हाथमें है। मैंने मुनि महाराज का कहना मान लिया, इससे अब वे सभामें मेरी मिट्टी पलीत नहीं करेंगे। मुझे मेरी निन्दा सुननेका तो मौक़ा नहीं मिलेगा। वरना, जिस प्रकार वे जयचन्दजी पाँड्या व कालाजीको रोज फटकारते हैं व भला बुरा कहते हैं, वही हालत आज मेरी भी होगी। ऐसी हालतमें मैंने सूतका धागा गलेमें डाल लेना ही ठीक समझा।

चन्द्रसागरजी व उनके शिष्य निर्मलसागरजीने शायद कोकशास्त्रका खूब अभ्यास किया है। आप अकसर स्त्री पुरुष व बालक बालिकाओं के समक्ष निःसंकोच कामशास्त्रका उपदेश देते रहते हैं। किस तिथिमें विषय सेवन करनेसे पुत्र उत्पन्न होता है, सम और विषम रात्रि किसे कहते हैं, किस प्रकार विषय सेवन करना चाहिये, रतिके समय स्त्री को क्या क्रीड़ाएँ करनी चाहिए, आदि बातोंका विवेचन नग्नवेषियोंके मुँहसे सुनकर सुननेवालोंको भी लज्जा मालूम होने लगती है!

लाडनूँ व सुजानगढ़की समाजोंमें परस्पर वैमनस्य है। आप इस परिस्थितिसे फ़ायदा उठानेकी नीयतसे खण्डेलवाल महासभाका अधिवेशन सुजानगढ़में करानेका प्रयत्न कर रहे हैं। महासभा के संचालकों से पत्रव्यवहार चल रहा है।

—सम्वाददाता।

कार्तिककेवर्षी पन्नालालजी—के सम्बंध में हमारे पास विस्तृत समाचार आये हुए हैं। स्थानाभाव से इस अङ्कमें उन्हें प्रकाशित नहीं किया जा सका। पाठक आगामी अङ्क के लिये प्रतिक्षा करें।

—प्रकाशक।

स्फुट प्रसंग।

एक समय जो लोग मुनीन्द्रसागर जैसे पाखंडियों व दुराचारियों के पापोंको छिपाने के लिये उपगूहन अङ्गकी दुहाई देते थे, ऐसे धूर्तोंसे समाज को सावधान करने के प्रयत्नको "मुनिनिन्दा" बताकर जैनजगतको न पढ़ने तथा यदि वह भूलसे भी छू जाय तो मिट्टीसे हाथ धोनेकी प्रतिज्ञाएँ दिलाते थे,-मुनि कोई कैसा भी हो, वह हमसे तो अच्छा ही है, अतः पूज्य है-यह कहकर तथा अपनेको "मुनिवेषपूजक" बताकर प्रत्येक मुनिवेषीको श्रद्धापूर्वक पूजनेका उपदेश देते थे, आज वे ही श्री सूर्यसागरजी सुधर्मसागर आदिकी खुल्लमखुल्ला निन्दा करने पर उतारू हो रहे हैं। स्थानीय सहयोगी "चन्द्रप्रकाश" तो श्री शान्तिसागरजी में भी श्रद्धा भक्ति रखता नहीं मालूम होता। जिस कारणसे इन लोगोंकी मनोवृत्तिमें यह परिवर्तन हुआ है, उसको देखते हुये यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वह दिन दूर नहीं है जब वे श्री शान्तिसागरजीकी भी खुल्लमखुल्ला निंदा करने लगेंगे और यही नहीं बल्कि यह भी घोषित कर देंगे कि चन्द्रसागरजी के अलावा और जितने मुनि हैं वे सब भ्रष्ट हैं, मिथ्याभाषी हैं, अपनी बात पर क़ायम नहीं रहने वाले हैं, अतः अपूज्य हैं।

मैं इन बन्धुओंसे केवल यह पूछना चाहता हूँ कि आप गुणपूजक हैं या वेषपूजक? यदि गुणपूजक हैं तथा किसी मुनिमें गुण न होने से आप उसके विरोधी हैं तो कृपया बतावें कि आपने जैनजगतका बहिष्कार क्यों किया था? जैनजगतका भी

(आगेके लिये देखिये पृष्ठ ४०६ कालम १)

वर्ष १०
भाद्रपद शुक्ला ३
वीर सं० २४६१

सत्यसन्देश

अंक १९
ता० १ सितम्बर
सन १९३- ई०

महात्मा ईसा।

ईसा ! तू भगवान-सत्य का अनुपम पुत्र दुलारा था।
जगत-मात भगवती अहिंसा की आँखों का तारा था॥
तू वीरों का वीर, साहसी, कर्मवीर, जग-नेता था।
ऐक्य, प्रेम, संगठन, अहिंसाका आदर्श प्रणेता था॥
सत्य-हेतु मर मिटने वाला तू अविचल वैरागी था।
जनसमाज का सच्चा सेवक, महा तपस्वी त्यागी था॥
तेरे उज्ज्वल जीवन से हम रोमाञ्चित हो उठते हैं।
सुन तेरी बलिदान कथा हम व्याकुल हो, रो पड़ते हैं॥
तेरा पूत चरित्र हमें हँसते मरना सिखलाता है।
गिरि समान दुःखों को सहने का शुभ पाठ पढ़ाता है॥

× × + ×

यही भावना है बस मेरी, क्या पूरी होगी भगवान ?
सत्य-हेतु ईसा-समान मैं होजाऊँ हँसकर बलिदान॥

—रघुवीरशरण जैन
(सत्यसमाजी)

धर्मशास्त्रका स्थान

(३)

द्वैत और अद्वैतका दार्शनिक प्रश्न भी धर्मशास्त्रसे सम्बन्ध नहीं रखता। बहुतसे लोग तो इसका अर्थ भी नहीं समझते और अद्वैत का गीत गाने लगते हैं। और उनमें एक तरहकी बेजिम्मेदारी व अनुचित अस्थिरता आजाती है। 'ब्रह्म सत्य है, और जगत मिथ्या है' इस दार्शनिक वाक्यका वे मनचाहा अर्थ करलेते हैं कि "यह संसार सब झूठा है; पुण्य-पाप, सत्य-असत्य, प्रमाण-अप्रमाण सब मिथ्या है"। वे बात करेंगे, परन्तु जब बात न टिकेगी तब कहने लगेंगे-यह तो सब मिथ्या है; बात करना भी मिथ्या है। वे यह नहीं समझते कि ऐसी हालत में मिथ्या कहना भी मिथ्या हो जायगा। और अद्वैतका यह मत ठीक नहीं है। इस दार्शनिक वाक्य में मिथ्या शब्दका अर्थ असत् नहीं किन्तु अनित्य है। जो कुछ हमको नानारूपात्मक जगत मालूम होता है, वह सब अनित्य है। नित्य और मूल तत्त्व कोई एक है। जड़-चेतनका भेद भी मौलिक भेद नहीं है। सांख्य, न्याय, वैशेषिक, जैन आदि दर्शन जड़-चेतनके भेदको मौलिक मानते हैं और वेदान्त वगैरह यह भेद नहीं मानते। जगतका मूल तत्त्व एक जाति का है या दो जाति का, यही द्वैत-अद्वैत मतभेदका तत्त्व है।

यहां मुझे द्वैत और अद्वैतकी दार्शनिक आलोचना नहीं करना है, किन्तु उसके धार्मिक पहलूपर विचार करना है। अद्वैत माननेवालेको अगर तमाचा मारा जाय तो उसे भी दुःख होगा और वह इसे पसन्द न करेगा। इसीप्रकार झूठ, चोरी आदि से भी उसे कष्ट होगा और वह इसे भी पसन्द न करेगा। इसलिये जगत्का मूल तत्त्व एक होने पर भी दुःखको दूर करनेका प्रयत्न तो आवश्यक रहता ही है।

अद्वैत का धार्मिक पहलू है विश्वप्रेम, और द्वैत का धार्मिक पहलू है भेद विज्ञान। इसीप्रकार अद्वैत का अधार्मिक पहलू है [illegible] और द्वैत का अधार्मिक पहलू है स्वार्थपरता। इस प्रकार द्वैत और अद्वैत दोनों ही धार्मिक हो सकते हैं, और दोनों ही अधार्मिक हो सकते हैं-यद्यपि दार्शनिक दृष्टिसे उनमें कोई एक सत्य और कोई एक मिथ्या है।

ममकार और अहंकार ही तो सभी पापों, अन्यायों, अत्याचारोंकी जड़ है। विश्वके एक छोटे से पिंडको तो 'मैं' और बाकीको कहा 'तू'। एक मैं दूसरेको तू बनाया। इस प्रकार सब 'मैं' हैं परन्तु सब 'तू' बन गये। सब एक हैं पर अनेक होगये, और इसमें द्वन्द्व खड़ा होगया। अद्वैतका धार्मिक पहलू इसी द्वन्द्वको दूर करना चाहता है। वह कहता है कि जब हम सब एक हैं तो इसमें अपना-परायाकी कल्पना क्यों? पानीके बिन्दु देखने में अनेक हैं परन्तु मिलनेपर एक ही पिंड हो जायेंगे। फिर उनमें 'मैं' और 'तू' कहाँ रहेगा? शरीरका एक हाथ अपनेको 'मैं' और दूसरे हाथ

को 'तू' नहीं कह सकता। अगर शरीरके अवयवोंमें 'मैं' और 'तू' का भेद होजाय तो शरीरकी क्षणभरमें दुर्दशा होजाय। इसीप्रकार विश्वका प्रत्येक व्यक्ति अंगी नहीं, अंग है। उसे परस्पर में 'मैं' और 'तू' की कल्पना न करना चाहिये; नहीं तो सबकी दुर्दशा हो जायगी। इस प्रकार की अद्वैत भावना से पापकी जड़ ही कट जाती है। अगर किसी ने अद्वैत का ऐसा ही अर्थ समझकर उसे जीवनमें उतारने की कोशिश की है तो वह धन्य है। दार्शनिक दृष्टि से अद्वैतका सिद्धान्त कैसा भी हो—वह धर्मशास्त्र का विषय नहीं है—किन्तु धार्मिक दृष्टि से—क्योंकि धर्मशास्त्रको इसी दृष्टिसे मतलब है—यह सत्य है।

परन्तु कोई आदमी अद्वैतका अगर ऐसा उपयोग करे कि दूसरोंकी पत्नियोंमें मेरी पत्नी में भेद नहीं है इसलिए सभी स्त्रियाँ मेरे लिये पत्नियाँ हैं, तो ऐसा अद्वैत पाप है, असत्य है और दंभ भी है। उसे सोचना चाहिए कि अद्वैत स्त्री—स्त्रीके भेदको ही नहीं तोड़ता, किन्तु स्त्री-पुरुषके भी भेदको तोड़ता है, मनुष्य और पशुके भेदको भी तोड़ता है, जड़—चेतनके भेदको भी तोड़ता है। ऐसी हालतमें स्त्रियाँ पत्नियाँ ही नहीं हैं, किन्तु वे स्त्रियाँ भी नहीं हैं, तू पुरुषभी नहीं है, पति भी नहीं है, तब सबकी चाह क्यों?

इसीप्रकार जो लोग अद्वैतके नामपर दूसरे का धन अपना ही समझकर हड़पलें, उनको चाहिये कि अपना धन भी दूसरोंको हड़पने दें, अपना पेट भरनेकी जगह दूसरोंके पेट भरें, क्योंकि पेट पेट तो एक हैं। तब उनकी अद्वैतवादिताका पता लगेगा। मतलब यह कि अद्वैतवादके नामपर स्वार्थ-परता, अनुत्तरदायिता आदि का परिचय न देना चाहिये। यदि ऐसा होगा तो अद्वैतवाद दार्शनिक दृष्टि से अगर सत्य भी सिद्ध होगा तो भी धार्मिक दृष्टि से असत्य होगा।

दार्शनिक दृष्टिसे द्वैतवाद अद्वैतवादका विरोधी है। अद्वैतवादमें जगतका मौलिक तत्त्व एक माना जाता है और द्वैतवाद में अनेक, विशेषतः जड़ और चेतन। दार्शनिक दृष्टिसे यह वाद सत्य हो या असत्य, परन्तु धार्मिक दृष्टिसे यह सत्य भी है और असत्य भी। अगर हम आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न समझें तो शरीरकी तृप्तिके लिये आत्माकी हत्या कभी न करेंगे। इन्द्रियोंको तृप्त करनेके लिये ही तो संग्रह है और संग्रह के लिये ही हिंसा, झूठ, चोरी है। जब शरीर भिन्न है, तब इन्द्रियाँ भिन्न हैं, उनके लिये आत्माका पतन क्यों? द्वैतवाद का यह धार्मिक पहलू है, इसलिये द्वैतवाद भी सत्य है।

परन्तु द्वैतवाद का अधार्मिक पहलू भी है, और वह है स्वार्थपरता का। मैं तो सब से भिन्न हूँ, इसलिये दुनिया सड़े, जहन्नुम में जाय, मुझे किसीसे क्या लेना देना, इस दुर्भावनासे स्वार्थी होजाना, निर्दय होजाना आदि द्वैतवादका अधार्मिक पहलू है।

इससे मालूम होता है कि द्वैत-अद्वैतसे धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं। दोनोंही वादोंसे मनुष्य धर्मात्मा होसकता है, और दोनों से ही पापी। द्वैत या अद्वैतकी मान्यतासे ही कोई नास्तिक, मिथ्यादृष्टि, आदि नहीं होता, किन्तु द्वैत-अद्वैतके दार्शनिक विचारोंका उपयोग जिस दृष्टिसे किया जायगा उसी पर उसकी नास्तिकता-आस्तिकता निर्भर है।

इसी तरहका एक विचार द्रव्यभेद या तत्त्वभेद के सम्बन्धमें है। चार्वाकके चार या पाँच भूत, जैन-दर्शनके छः द्रव्य, वैशेषिक के नव द्रव्य और सात

या छः पदार्थ, सांख्य के पच्चीस तत्त्व, इत्यादि विचार तो धर्मशास्त्रसे और भी अधिक दूर है। पृथ्वी और जल दो जुदे जुदे द्रव्य हों या एक, परन्तु यह निश्चित है कि इनसे हिंसा, असत्य आदि धर्म न होजायगा। ये पदार्थ विज्ञानकी बातें हमारे आचार-विचारसे कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं, इसलिये जो लोग इस विषयके शौकीन हों उन्हें चाहिये कि वे स्वतंत्र खोज करें, जाँच करें और जैसी बात सिद्ध होती जाय, मानते जाँय। इसमें धर्माधर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है।

नित्यवाद और अनित्यवाद भी दार्शनिक प्रश्न हैं। कोई सब पदार्थोंको नित्य मानते हैं; कोई सबको अनित्य मानते हैं, कोई कुछको नित्य कुछ को अनित्य, कोई सभी को नित्यानित्य। इन वादों की दार्शनिक आलोचना का यह स्थल नहीं है, परन्तु इन दोनों वादोंके धार्मिक और अधार्मिक दोनों पहलू हैं। नित्यवादका फल है आत्माकी अमरता में विश्वास। जिसप्रकार एक कोट्याधीश कौड़ीकी तरफ तुच्छता की दृष्टि से देखता है, उसी प्रकार आत्माको अमर मानने वाला इस छोटेसे जीवनके स्वार्थोंको तुच्छता की दृष्टि से देखता है। इस जीवनकी तुच्छ सफलताओं से न वह अभिमानी होता है और न असफलताओंसे निराश होता है। वह अपना कर्तव्य किये जाता है। भविष्यका अनन्त जीवन उसे निराश नहीं होने देता। अगर कर्तव्य-मार्गमें उसे मौतका सामना करना पड़े तो वह उससे नहीं डरता, क्योंकि मौतको तो वह वस्त्र-परिवर्तन ही समझता है। नित्यवाद का यह सदु-पयोग है, धार्मिक पहलू है।

परन्तु अगर कोई सबको नित्य समझकर हत्या करता फिरे और कहता फिरे कि आत्मा तो अमर है इसलिये मेरे मारने से कोई नहीं मरा, तो यह नित्यवाद का दुरुपयोग है, अधार्मिक पहलू है। और इसका छोटा सा प्रमाण यही है कि वह खूनी भी नहीं चाहता कि कोई हमारी हत्या करे। इस प्रकार नित्यवादी बनकर मनुष्य धर्मात्मा भी बन सकता है, और अधर्मात्मा भी बन सकता है।

अनित्यवादके भी दोनों पहलू हैं। संसारको अनित्य समझकर जो सांसारिक वैभवका अभिमान नहीं करते, उसके चलेजाने पर यही सोचते हैं कि-आखिर अनित्य तो था ही, चला गया तो क्या हुआ? वह तो जानेवाला ही था—ये स्वार्थवृत्तियोंको सीमित करके सामाजिक वस्तुओं के लिये न्याय की, संयम की अवहेलना नहीं करते उनको यह अनित्यभावना धर्मशील बनाती है। इसलिये अनित्य-वाद भी धर्म्य है।

परन्तु जो अनित्यवादसे उत्तरदायित्व का त्याग करे, किसी से कुछ उधार लिया और देनेके लिये कहदिया कि जिसने लिया था वह अनित्य होने से नष्ट होगया, जिसने दिया था वह नष्ट होगया, इस-लिये लेन देन का अब क्या काम? तो वह अनित्य-वाद को अधर्म्य बनाता है। यह उसका दुरुपयोग है। इससे अन्धाधुंधी मच जायगी, सारा व्यवहार नष्ट होजायगा। इससे समाजके कष्ट कईगुणे बढ़ जाँयगे।

मतलब यह कि नित्यवाद—अनित्यवादमें से कोई भी वाद सच्चा हो, परन्तु जो वाद सच्चा होगा उसको अपनाने से कोई धर्मात्मा नहीं बनजायगा, और अगर कोई उसे न अपना सकेगा तो वह अधर्मात्मा न बन जायगा। धर्मका सम्बन्ध निःस्वार्थता, निःकषायता आदि से है, घड़े आदिकी नित्यता अनित्यता से नहीं। घड़ा प्रति समय नष्ट होता रहे तो भी हम उसमें पानी भरेंगे; और नित्य माने जानेपर

भी छोटा सा छिद्र होनेसे हम पानी न भरेंगे। नित्यता-अनित्यता किनारे बैठी रहेगी, परन्तु व्यवहार चलता रहेगा, धर्म बना रहेगा।

यहाँ यह पूछा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र का धर्मशास्त्रसे क्या कोई सम्बन्ध नहीं है? मैं कहता हूँ--है, परन्तु उनसे सम्बन्ध है, न कि अभेद। और ऐसा ही सम्बन्ध है जैसा दूसरे शास्त्रोंसे है। यहाँ मेरा यह कहना भी नहीं है कि दर्शनशास्त्र धर्मशास्त्र नहीं है इसलिये वह किसी कामका नहीं है। सभी शास्त्र उपयोगी हैं परन्तु वे अपने अपने स्थान पर हैं। एककी भूलको दूसरेकी भूल न समझना चाहिये; और न उनके नामपर धार्मिक दलबन्दी करना चाहिये।

जीवनके लिये क़ानूनका ज्ञान भी उपयोगी है, और वैद्यकका ज्ञान भी उपयोगी है। अब एक वकील वैद्यक नहीं जानता, इसलिये उस विषय में वह अज्ञानी कहा जासकता है; परन्तु इसीलिये वह क़ानून के विषयमें भी अज्ञानी है, यह नहीं कहा जासकता। हम उसको क़ानूनके विषयमें अज्ञानी नहीं कहते, इसका यह मतलब नहीं है कि वैद्यकका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, या उसका हमें खयाल न रखना चाहिये। उसका हम खयाल रक्खेंगे, परन्तु राजनीति या कानून समझकर नहीं, किन्तु वैद्यक समझकर। इसीप्रकार हमें दर्शनका भी खयाल रखना चाहिये परन्तु दर्शन समझ कर, न कि धर्म समझ कर।

एक मनुष्यकी आँखें ख़राब हैं; वह वस्तुको ठीक ठीक नहीं देखपाता, इसलिये कभी वह कुछका कुछ देखता है, या कभी देखता ही नहीं है। निःसन्देह यह उसकी त्रुटि है, परन्तु इसीसे हम उसे अज्ञानी, मूर्ख, अधर्मी, पथभ्रष्ट नहीं कहते। जीवनके लिये इन्द्रियपटुत्वकी बड़ी आवश्यकता है। फिरभी उसका धर्म-अधर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

कहा जा सकता है कि यह तो व्यावहारिक ज्ञान है इसलिये इसका परमार्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। बस, यही बात दर्शन आदिके बारे मे है। वह भी व्यावहारिक ज्ञान है, पारमार्थिक नहीं है। जो धर्म और अधर्मके निर्णयमें सहायक सहकारी है, वही पारमार्थिक ज्ञान है। सदाचार-दुराचारका विवेक ही पारमार्थिक है, बाकी ज्ञान व्यावहारिक है।

धर्मशास्त्रमें अनेक विषयोंका समावेश हुआ है, परन्तु इसके कारण मैं पहिले बता चुका हूं। यहां तो यही समझना चाहिये कि धर्मशास्त्रमें आनेपर भी वे धर्मके अंग नहीं हैं। अगर किसी धर्मशास्त्र में किसी रोगके लिये किसी औषधका वर्णन मिले तो ऐसा नियम नहीं बनाया जासकता कि अमुक धर्मवाले अमुक रोगपर अमुक औषध मानते हैं; अगर वे दूसरी औषधका उपयोग करेंगे तो अपने धर्मके विरुद्ध कार्य करेंगे। जैनियोंके दृष्टिवाद अंग मे नाचने गानेका भी विस्तृत वर्णन था, परन्तु अगर कोई जैन उन नियमोंके अनुसार न नाचे या न गावे तो उसे जैनधर्मसे च्युत न कहा जायगा। किसी धर्मको मानने का यह अर्थ नहीं है कि हम उस धर्मके शास्त्रोंमें आये हुए दर्शन, न्याय, गणित, भूगोल, खगोल, अर्थशास्त्र, शिल्प, वाणिज्य, नृत्य, गायन आदि सभी बातों को मानें। बहुत से बहुत इतना ही कहा जासकता है कि हमें उस धर्म के अनुसार आचार-शुद्धि करना चाहिये।

धर्मशास्त्रके वास्तविक स्थानको न समझकर हमने धर्मशास्त्रके सिर पर अनावश्यक बोझ डाल दिया है तथा दूसरे शास्त्रोंको पंगु बना दिया है। इससे दर्शन आदि विषयोंमें हमारी स्वतंत्र विचारशक्ति नष्ट होगई है, तथा धर्मके नामपर लड़नेके या परस्पर के असहयोग के सैकड़ों कारण एकत्रित

कर लियेगये हैं। इससे हमारा बड़ा अकल्याण हुआ है। हमें दर्शन आदि विषयोंका यथार्थ निर्णय करना चाहिये परन्तु उनकी यथार्थता-अयथार्थतासे धर्मशास्त्र की यथार्थता-अयथार्थताका सम्बन्ध नहीं है। धर्मशास्त्र का स्थान उनसे जुदा है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१—सत्यसमाज और मांसभोजी

जब मनुष्य किसी वस्तुका, अशक्त होनेसे या और किसी कारणसे पालन नहीं कर सकता या उसे स्वीकार नहीं कर सकता, किन्तु उसके विरोधके लिये कोई ऐसा कारण पेश नहीं कर सकता जिससे उससे घृणा कर सके या करासके, तब उसके मनकी बड़ी विचित्र दशा होती है। वह स्पष्ट बातको न समझने की कोशिश भी करने लगता है। सत्य उसके साम्हने आता है, पर वह मुँह फेर लेता है।

सत्यसमाजके विषयमें कुछ लोगोंकी ऐसी ही मनोवृत्ति होगई है। वे कोई ऐसा दोष नहीं निकाल पाते हैं जिससे सत्यसमाज से घृणा प्रकट की जासके; परन्तु उनको इस बातकी बहुत जरूरत है। तब वे सत्यसमाजको एक मांसभोजी संस्था कहकर अनीतिकी राहपर खड़ी बतलाना चाहते हैं। वे समझकर के भी नहीं समझना चाहते।

अगर कोई पूछे कि कांग्रेसमें मांसभक्षी शामिल होसकते हैं कि नहीं, तो इसका उत्तर यही दिया जायगा कि—हाँ, होसकते हैं। इसीप्रकार अन्य अनेक संस्थाओं की बात है। परन्तु इसके उत्तरमें कहा जाय कि तब तो कांग्रेस मांसप्रचारक संस्था है; इसी ढंगका आक्षेप सत्यसमाज का है। सत्यसमाज का उद्देश्य मनुष्य जातिके जाति, सम्प्रदाय आदिके नामपर बनेहुए टुकड़ोंको जोड़ना है, और अन्धश्रद्धाको दूर करके विचारशीलताको जन्म देना है। ये सब बातें जैसे मांसभोजियोंके लिये जरूरी हैं उसी प्रकार शाकभोजियों के लिये भी जरूरी हैं। इसलिये सत्यसमाजमें मांसभोजियोंके लिये भी स्थान है, और शाकभोजियोंके लिये भी। हाँ, मांसभोजियों को निरामिषभोजी बनाने का वह प्रयत्न जरूर करेगा।

कोई भी धर्म हो, जो विश्वधर्म बननेका दावा कर सकता हो, वह अपनेमें प्रवेश करनेकी प्रारम्भिक शर्त मांसत्याग नहीं रखता। जैन धर्म-जिसने अहिंसाको सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया है, मांसत्याग कराने के लिये जितनी बड़ीभारी शक्ति लगाई है—वहभी यह नहीं कहता कि मांसत्याग बिना कोई जैन नहीं होसकता। अरे, वह तो मांसभक्षीको सम्यग्दृष्टि तक मानता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्म मांसप्रचारक है। इसीप्रकार सत्यसमाजके कार्यक्रममें प्रत्येक मनुष्य यथाशक्ति भाग लेसकता है। मनुष्य कमजोरियोंका पिंड है। उसकी कमजोरियाँ हमें दूर करना चाहिये, परन्तु उसके पीछे हम उसे किसी भले कार्य में—जिसे वह कर सकता हो और करना चाहता हो—शामिल न करें तो यह अनुचित है।

अभी श्रावण सुदी २ के जैनमित्रमें एक बन्धु ने सत्यसमाजके विषयमें निम्नलिखित आक्षेप किया है। उनने अपने लेखका शीर्षक दिया है, 'सत्य-समाज अनीतिकी राहपर' और लिखा है—

"मांसभक्षी और मद्यपायी व्यक्तियोंके साथ रोटी-बेटी व्यवहार करने वाले व्यक्ति ही सत्य-समाजके नैष्ठिक और पाक्षिक सदस्य बन सकते हैं"।

"आश्चर्य है कि सत्य-समाजके संस्थापक मांस-

भक्षण और मद्यपान के विरोधी होकर भी मांस-भक्षक और मद्यपायी जैसे अधिकाधिक अशुभाचरणी व्यक्तियोंको उच्चातिउच्च (नैष्ठिक जैसे व्रतियों की) श्रेणीमें बिठानेका विधान दे रहे हैं।"

"सत्य-समाज संघटना में न तो मूलगुणोंका जिक्र है और न नैष्ठिक, पाक्षिक, अनुमोदक इनमें से कौन व्रती है, कौन प्रवेशक है, इसका ही खुलासा है"।

यहाँ मुझे थोड़ासा खेद इस बातका होता है कि ये भाई जान बूझकर असत्य परिचय दे रहे हैं। 'मांसभक्षी आदिके साथ रोटी-बेटी व्यवहार करने वाले ही सत्य-समाजी बन सकते हैं'—यहाँ पर 'ही' शब्द आपने अपने मनसे लगाकर असत्य भूल कर डाली है; और यह बतलानेकी चेष्टा की है कि मांसभक्षियोंसे सम्बन्ध न रखने वाले सत्य-समाजी नहीं बन सकते। परन्तु सत्य-समाज के साहित्य में ऐसा एक भी वाक्य नहीं है, जिसमें इस अर्थकी परछाईं भी हो।

उसमें तो सिर्फ इतनी ही बात है कि जातिभेद की दुहाई देकर कोई रोटी-बेटी-व्यवहारका विरोध न करे। इसका मतलब साफ है कि अगर कोई मांसभक्षी है तो आप मांसभक्षी समझकर उसके साथ रोटी-बेटी-व्यवहार न करें तो कोई हानि नहीं। आप इसमें जितने चाहे कारण पेश कर सकते हैं, सिर्फ-जाति भेदका कारण पेश न करना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि इस जाति-भेदकी प्रथा को नष्ट करनेके सिवाय इस नियमका कोई दूसरा ध्येय नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु ग्यारहवें नियम में तो यह बात और भी स्पष्ट होगई है। वहाँ तो यहाँतक कह दिया गया है कि मांसभक्षण आदि के कारण अगर कोई किसीके साथ सहभोज भी न करे तो भी उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता। ग्यारहवाँ नियम यह है—

"सत्य-समाजीको जातिपाँति के नामपर सह-भोजका विरोध कहीं भी न करना चाहिये। भोजन की अत्यधिक विषमता से सहभोज न करे तो बात दूसरी है।"

एक शाकभोजी है, दूसरा मांसभोजी, इस कारण अगर कोई साथमें बैठकर खाना भी नहीं खावे— फिर बेटीव्यवहारकी तो बात ही दूर है— तब भी उससे नियममें बाधा नहीं आती। कोई भी उदार समाज इससे बढ़कर नियन्त्रण और क्या कर सकता है?

सत्यसमाजसंघटना समाजकी संघटना है, आचार-शास्त्र की संहिता नहीं कि उसमें व्रतोंका वर्णन हो। इसके लिये आपको "जैनधर्म का मर्म" का छट्ठा अध्याय देखना चाहिये। उसमें मैंने मूल-गुणों का वर्णन किया है और मद्यत्याग और मांस त्यागको मूलगुणों में गिनाया है। संघटना में तो समाजरचनाका सामान्य परिचय और प्रवेश की शर्तें हैं।

सत्य-समाजके नैष्ठिक, पाक्षिक, अनुमोदक भेद व्रतकी दृष्टिसे नहीं हैं, किन्तु सामाजिक संस्थाके साथ सम्बन्ध रखनेकी दृष्टिसे हैं। यों तो तीनों ही असंयमीसे लेकर महाव्रती तक हो सकते हैं। नैष्ठिक का अर्थ व्रती नहीं है, किन्तु सत्य-समाजके सम्पर्कमें पूर्ण रूपमें आजाना है। यह बात सत्य-समाज संघटना के दूसरे नियम में खूब स्पष्ट कर दी गई है। संयमकी दृष्टिसे इन तीनोंमें कोई तरतमता नहीं है। न मालूम आपने नैष्ठिकको संयमकी दृष्टि से उच्चातिउच्च श्रेणी क्यों समझ लिया, जब कि नै-ष्ठिककी परिभाषा साफ करदी गई है?

सत्य-समाजको मांसप्रचारक या अनीति की राह पर कहना उतना ही असत्य है जितना कि कोई जैन, जैनधर्म को मांसप्रचारक और अनीति की राहपर कहे।

जिन बन्धुने यह आक्षेप किया है, उनको मैं जानता हूँ। मैं उनसे विरोधकी आशा तो कर सकता था, परन्तु ऐसे बेबुनियाद विरोध की नहीं; और वञ्चनाकी आशा तो बिलकुल नहीं। परन्तु इस विरोधमें अथसे इतिक वञ्चना ही भरी पड़ी है, इससे मुझे आश्चर्य करना पड़ता है। करना पड़ता है इसलिये कि वास्तवमें इसमें आश्चर्य की बात है नहीं। जो सुधारक एकदिन जिस उदारता और ईमानदारीकी दुहाई देते थे, मतभेद होजाने पर उसी की हत्या करते मैंने देखा है। जैन-समाज के अधिकांश सुधारकों की आज यही दशा होरही है। उसमें एककी संख्या और बढ़ी, इसमें आश्चर्य क्या है?

खैर, इससे वे आत्मवञ्चना ही कर सकते हैं, परन्तु जिनको निष्पक्षतासे काम लेना है वे सत्य-समाजको मांस-प्रचारक या अनीति की राह पर कभी नहीं कह सकते।

२—धर्म-प्रधानता।

'भारत एक धर्म-प्रधान देश है' इस बात को हम बड़े गौरव के साथ कहते हैं। परन्तु यह कहते समय हमें धर्म और ईमानका इतना खयाल नहीं आता जितना कि गौरव और अभिमानका। अब हमारी धर्म-प्रधानता सिर्फ इतनी रह गई है कि धर्मके नाम पर चलनेवाले सम्प्रदायों के नामपर हम लड़ सकते हैं, दूसरोंकी निन्दा कर सकते हैं और जरूरत बेजरूरत उनको गालियाँ दे सकते हैं! धर्म के नामपर यहाँ दंगे होते हैं, खून-खराबियाँ होती हैं, धर्मस्थान नष्ट किये जाते हैं! इनके सिवाय और कोई बात धर्मप्रधानता की नजर नहीं आती। अगर इसीका नाम धर्म हो तो भारत अवश्य धर्मप्रधान देश है।

परन्तु यह निश्चित है कि धर्मका ऐसी बातोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। किसी देश, समाज या व्यक्ति के धर्मात्मापन का परिचय अगर करना हो तो उसकी ईमानदारी से करना चाहिये। परन्तु वह हममें सबसे कम नहीं तो किसी से अधिक तो नहीं है, जिससे इस बात को लेकर हम अपने गीत गा सकें। बल्कि खेद इस बातका है कि इस दशा में हमारा पतन ही होता जा रहा है। हम यह नहीं कहते कि पुराने समय में बेईमानी थी ही नहीं, और आज ही यह आसमान से आ टपकी है। इसी तरह हमारा यह कहना भी नहीं है कि दूसरे देशों में चोर बदमाश आदि नहीं हैं। वहाँ तो डकैती करने के नये नये तरीके निकला करते हैं, वैज्ञानिक उपायों से काम लिया जाता है। और आजकल तो यूरोपीय तथा अन्य शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को हड़पकर सामूहिक रूपमें डकैती कर रहे हैं। फिर भी हमें अपने देशमें असंतोषका एक विशेष कारण दिखलाई देता है। वह है व्यक्तियों के साधारण जीवन में ईमानदारी का अभाव।

जो लोग चोरी और डकैतीको अपना धंधा बना बैठते हैं उनको अभी किनारे रखिये। ऐसे लोग हर समय और हर जगह होते रहते हैं। नगरों में जैसे कचरा-घर होते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी हैं। इन परसे किसी समाज का स्वरूप नहीं समझा जा सकता।

शिकायत है हमें साधारण जनता की। वहाँ

हमें अवश्य ही इस विषयमें बड़ी निराशा होती है। आप किसी लाइब्रेरी में जाइये, वहाँ आप यह शिकायत अवश्य सुनेंगे कि अमुक पेपर कोई उड़ा ले गया, और अमुक पुस्तकका पता नहीं है। लाइब्रेरी तो ज्ञानोपार्जनका पवित्र मंदिर है और वहाँ प्रायः शिक्षित जनता ही जाती है; फिर भी वहाँ हमारी ईमानदारीका दिवाला निकला हुआ है। यूरोपमें बहुतसी बड़ी बड़ी लाइब्रेरियाँ ऐसी हैं कि वहाँ पुस्तकें खुली पड़ी रहती हैं। प्रबन्धक तो हैं, परन्तु अगर कोई चाहे तो बड़ी सरलतासे पुस्तकें उड़ा सकता है। परन्तु वहाँ कभी कोई पुस्तक गुम नहीं होती।

जापानकी एक प्रधान लाइब्रेरीके द्वारपर यह बोर्ड लगा है कि 'भारतीयोंको यहाँ आनेकी मनाई है'। यह ठीक है कि जापानियोंको भारतीयोंके विषयमें मान नहीं है, परन्तु लाइब्रेरीके द्वारपर लगे हुए बोर्डका यह कारण नहीं है। इसका कारण है—हममें ईमानदारीका अभाव। हमारे कुछ भाइयोंने वहाँकी लाइब्रेरीमें जाकर कोई पुस्तक ली, उसका कोई चित्र ही उड़ा दिया, कोई पत्र ही फाड़कर पाकिटस्थ कर लिया! इन हरकतोंका जब भंडाफोड़ हुआ तब हमारे लिये लाइब्रेरीका द्वार ही बन्द कर दिया गया। यह बात जितनी अप्रिय है, उतनी ही स्वाभाविक भी है।

केवल एक लाइब्रेरीकी ही बात नहीं है, किन्तु जीवनके अन्य क्षेत्रोंमें भी यही बात है। हमारे यहाँ अच्छी चीजोंमें बुरी चीज मिलाकर बेंचनेका जितना रिवाज है उतना दूसरे किसी देशमें नहीं है।

यहाँ किसी की कोई चीज गिरजाय, फिर उसका मिलना असंभव समझिये। अगर हम बड़े ईमानदार हुए तो इतना करेंगे कि किसी छोटी मोटी चीज पर नजर न डालेंगे। परन्तु योरोपका यह तरीका नहीं है। वहाँ ऐसी चीजें लोग पुलिसके हाथमें दे देते हैं और जिसकी होती हैं उसको पुलिस स्टेशन पर मिल जाती हैं।

अभीकी एक बात है कि एक प्रवासी भारतीयका यूरोपके एक शहरमें घूमते हुए पाकिटसे नोटकेस गिर गया। उसमें दो हजार रुपयेके नोट और कुछ क़ीमती कागज थे। बेचारे सिर पीट कर रह गये। परन्तु जिसके यहाँ ठहरे थे उसने कहा कि यहाँ के लोग ऐसी छोटी छोटी चोरी नहीं करते, वे नोटकेस रिस्टवाच आदि तो खास कर नहीं चुराते। आप पुलिसमें खबर कर दीजिये। फ़ोनद्वारा पुलिसको खबर कर दी गई। बीस मिनिट बाद पुलिस कर्मचारी विशेष विवरण लिख ले गया, और पाँच दिन बाद उक्त भारतीय सज्जनको पुलिसकी तरफ़ से एक पार्सल मिला, जिसमें नोटकेस मय रुपयों और कागजोंके ज्योंका त्यों सुरक्षित था।

इसका यह मतलब नहीं कि वहाँ पाकिटमार नहीं हैं। हैं, और एकसे एक बढ़कर हैं, परन्तु सर्वसाधारणके विषयमें जो बात है वह इस घटनासे समझी जा सकती है।

हमारे यहाँ ऐसी बातोंकी तरफ़ ध्यान ही नहीं है। और ऐसी ईमानदारीका धर्मसे कोई सम्बन्ध ही नहीं समझा जाता है। न हम यहाँकी पुलिस से ही ऐसी कुछ आशा कर सकते हैं। इसका कुछ कारण हमारी पराधीनता तथा ग़रीबी भी है। परन्तु कारणका दिग्दर्शन कर देने से ही कोई बुराई उपेक्षणीय नहीं हो जाती। हमारा उस तरफ़ ध्यान नहीं है। कमसे कम यह तो हमारा पाप है ही। यदि हमारे जीवनमें ऐसी साधारणसी ईमानदारी का इतना अभाव है, तब धर्म-प्रधानताके गीतोंका क्या मूल्य है?

सत्यसमाज प्रगति।

इस पक्षमें सत्यसमाजके निम्नलिखित मेम्बर बने हैं। श्रीमान सेठ सुशीलालजी कोटेचा बार्शीने पं० जुगलकिशोरजीको सदस्य बनाया और पं० जुगलकिशोरजीने एक सदस्य और एक अनुमोदक बनाया। इसीप्रकार प्रत्येक सदस्यको चाहिये कि वे अधिक से अधिक सदस्य बनाने की कोशिश करें। सदस्य बनाने के पहले धर्ममीमांसाका प्रथमभाग पढ़ादेना चाहिये, और कार्यक्षेत्रमें साथ देनेमें पूरी दृढ़ता का वचन लेलेना चाहिये। और थोड़ाभी कमजोरी मालूम हो तो अनुमोदक-श्रेणीमें आनेकी प्रेरणा करना चाहिये। नैष्ठिक श्रेणीमें आनेवालोंको तो और भी अधिक दृढ़ताका परिचय देना चाहिये। पुरानी समाजोंसे नैष्ठिक सदस्यका सम्बन्ध नहीं रहता है, यह बात विशेष रूपमें ध्यानमें रखना चाहिये। जहाँ जहाँ सात्वयोग्य सदस्य बनगये हैं, वहाँ अध्यक्ष और मंत्री का चुनाव अवश्य करलेना चाहिये, और स्थायी या अस्थायी सत्यसमाजका आफिस बनालेना चाहिये, तथा प्रतिसप्ताह मिलकर इस बातका विचार करना चाहिये कि सत्यसमाजका अधिक से अधिक प्रचार किस तरह हो, उसके उद्देश समाजके जीवनमें किस तरह उतरें। सत्यसमाजके इस प्रारम्भिक कालमें प्रत्येक सदस्यको उत्साहकी मूर्त्ति बना रहना चाहिये, और जितना बनसके उतना त्याग करने के लिये तैयार रहना चाहिये।

(११८) पं०जुगलकिशोजी जैन, पिता का नाम–नथमलजी, उम्र ३२, जन्मसे स्थानकवासी अग्रवाल जैन। जैनपाक्षिक। चिचवड़ (पूना)

(११९) अवधूत अनन्तसिद्ध पाठकी। पिताका नाम–अनन्तरावजी, उम्र२६, जन्मसे यजुर्वेदी ब्राह्मण। वैदिकपाक्षिक। पता–फतहचंद जैनविद्यालय, चिचवड़ (पूना)

(१२०) महीपतिरामजी तापकीर। पिता का नाम–यशवन्तरावजी, उम्र२१, जन्मसे हिन्दूमराठा। अनुमोदक। चिचवड़ (पूना)

विविध विषय

१–अविश्वासका प्रस्ताव।

२४ जुलाई के "जैनगजट" में भाई भूषणशरणजी ने एक अविश्वासका प्रस्ताव प्रकाशित कराया है जो कि यहाँकी जैनसभाके अध्यक्ष साहु रघुनन्दन-

श्रीयुत सज्जनराजजी मूथा बलूँदाके एक दानी श्रीमान हैं। आप प्रायः मद्रासमें रहते हैं। आपने यह पत्र लिखा है—

मान्यवर पंडित जी साहब,

पं० सूर्यभानुजी द्वारा मैंने आपके वचनोंको सुना और "धर्ममीमांसा" नामक पुस्तक भी पढ़ी। नवयुवकोंका संगठन ही साम्प्रदायिक विद्वेषको और उसके द्वारा पैदा होनेवाली अशान्ति को नष्ट कर सकता है। इसी प्रकारका बीड़ा आपने उठाया है, यह श्रेयस्कर है। आपकी धार्मिक विद्वत्ता तथा पुरातत्वका अन्वेषण आपकी प्रगाढ़ गंभीरता का परिचायक है। आपकी विशाल लेखनशैली और धर्मकी तहमें पहुँच कर उसका वास्तविक मर्म बताने की शक्ति प्रशंसनीय है। सत्यसमाजकी सदस्यताके विषयमें और धर्ममीमांसाके अंग्रेजी अनुवादके प्रकाशन विषयमें मेरे जो कुछ विचार हैं–आपके समक्ष प्रत्यक्षमें निवेदन करूँगा।

प्रमादजीके विरोधमें है। गजटमें ही हमें उसके दर्शन हुए; न तो उसे किसीने सभामें रक्खा, न सभापतिको मिला, फिर स्वीकृत होनेकी तो बात दूर है। विरोधी दोस्तोंकी जब उसे सभामें रखनेकी भी हिम्मत नहीं थी, तब उसे प्रस्ताव क्यों कहा, यह वे ही जानें। अगर सभामें रक्खा जाता तो उसकी सारी पोल वहीं खुल जाती। परन्तु यहां तो सभाको कुछ पताही नहीं, उधर वह पेपर में प्रकाशित किया जाता है। इससे बढ़कर असत्य और क्या होगा?

भूषणशरणजीकी प्रस्ताव नामक चिट्ठीमें दो दो वर्ष पुरानी बातें हैं। और वे भी असत्य। इस अरसे में कई बार सभा हुई, सभापतिजीने इस्तीफा दिया; तब आपसे कुछ न बन पड़ा, अब उसको अविश्वास का कारण बतलाते हैं। पं० इन्द्रजीतजीके मामलेमें सभापतिजीने इस्तीफा दिया था, परन्तु सभाने साहु साहिब से माफी मांगते हुए यह पत्र भेजा था:—

श्रीमान् साहुजी साहब,

१३ जुलाई १९३३ की साधारण सभामें निम्न-लिखित सूचना आप के पास भेजना निश्चित हुआ है।

आपकी चिट्ठी प्राप्त हुई। आपने जो कुछ लिखा सो ठीक है। **सभा अपनी सब ग़लतियोंको पूरी तरह तसलीम करती है।** आपने इस्तीफेमें जो कुछ लिखा है वह अक्षरशः ठीक है। उसके सम्बन्ध में अधिक न कहकर **हम सब सभासद् आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करते हैं** कि हम सबको अपनी महती कृपा द्वारा उन सब अपराधोंकी क्षमा प्रदान करें। आइन्दा हम उन त्रुटियोंको दूर करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करेंगे। आशा है आप हमारे इस नम्र निवेदनपर ध्यान देकर सभाके कार्यको सुचारु लेकर सभाको कृतार्थ करेंगे। भवदीय

१८ जुलाई ३३। मूलचन्द, मन्त्री।

उस समय बाबू मूलचन्दजी मन्त्री थे, जिनको आपने इस समय अपने दलका गुरु घंटाल बना रक्खा है। सभापति सा० साहुजीने जब इस परभी ध्यान नहीं दिया तब १०-१२ सदस्य सभाकी आज्ञासे उनके घर माफी माँगने तथा उन्हें सभाकी मीटिंगमें लाने के लिए गए थे। उस समय आपभी मीटिंग में उपस्थित थे। बड़े बहादुर थे तो उस समय मुँह खोलते। इसमें अगर सभाकी तौहीन हुई होती तो यह तभी सोचना था, इसमें साहुजी क्या करते? उन्होंने तौहीन कराने के लिए सभाको निमंत्रण तो दिया नहीं था। असली बात तो यह है कि उनका पक्ष सत्य था, इसलिए सभा झुकी। सत्यके आगे झुकनेमें तो तीर्थङ्कर और चक्रवर्तियोंकी तौहीन नहीं होती, फिर यह तो सभा ही थी।

रुपयोंवाली बातमें घोर कृतघ्नताका परिचय दिया गया है। जिन्होंने सैकड़ों रुपयोंसे सभाकी मदद की, और आधी रात को रुपयोंकी ज़रूरत पड़ी तो जिन्होंने थैलीका मुँह खोलदिया, उनके सम्बन्धमें यह कहना कि उन्होंने ४००) बिना ब्याजके तीन महीने तक घर रक्खे, अत्यन्त तुच्छता और कृतघ्नता तो है ही, साथही असत्य भी है। साहु साहबने तो ऐसा नहीं किया। दूसरे खातोंका भी रुपया उनके नामसे जमा होता था और ज़रूरत पड़ने पर उन्हें वह निकालना पड़ता था। समझमें नहीं आया कि इसमें बुराई क्या होगई? हां, कोई यह बता दे कि साहु साहब ने सभाका एक पैसाभी दबाया है, तब उस मर्द समझा जा सकता है। जो आदमी सैकड़ों रुपयोंकी सहायता दे, वह ब्याजके दो तीन रुपयों पर गोलमाल करे—यह कहना धृष्टताकी पराकाष्ठा है। साहुजीकी उदारताके बदले में आपसे कृतज्ञताके शब्द नहीं निकलते थे तो चुप रहते। कृतघ्नता दिखा कर उदारताका मार्ग क्यों बन्द करते हैं?

रही सात आदमियोंके प्रस्तावकी बात, सो उस का प्रस्तावक मैं ही था। न मुझे विरोध है, न समर्थकों और अनुमोदकोंको। वह प्रस्ताव आप लोगोंकी करतूतोंके विरोधमें था। सभापतिजी ने बखेड़ा न बढ़े, इसलिए उसे रोक दिया और हमेंभी इसमें कोई विरोध न रहा। तब इसमें सभापति साहिबका क्या दोष रहा? शर्मकी बाततो यह है कि मन्त्रीतो सभाकी और सभापतिकी बिना किसी अनुमतिके पत्रोंमें नंगा नाच करे परन्तु आप कुछ न कहें, किन्तु सभापति सिर्फ इतनाही खुलासा करे कि यह नंगा नाच सभाकी तरफ़से नहीं है, तो सभापति अपराधी होजाय! क्या खूब?

यह आक्षेप बेहूदा और अज्ञतासूचक है कि सभापति सभाको दिगम्बरजैनधर्मके विरुद्ध बना देना चाहते हैं। अभीतक सभापतिने कोई धर्म-विरुद्ध कार्य नहीं किया है। हाँ, सभासदोंमें मतभेद होना स्वाभाविक है। ऐसी हालतमें सभापतिका भी कोई मत हो सकता है। सभामें तो सभी विचारोंके और सभी दलोंके लोग हैं। इसमें सुधारक भी हैं, स्थितिपालक भी हैं। आपकी कठपुतली बा० मूलचन्दजी सरीखे सनातन-जैनसमाजी भी हैं, और आपके "महाशय" बाबू रघुवीरशरणजी सरीखे उग्र विचारोंवाले सत्यसमाजी भी। सभाका नाम जैन सभा है, न कि दिगम्बर जैन सभा। साहुजी आखिर एक व्यक्ति हैं; उनके विचारोंका प्रभाव सभा पर पड़ता है तो इसमें उनका क्या अपराध है? आप अपना प्रभाव जमाइये, खूब प्रचार कीजिये; आपको कौन रोकता है? यदि सभासद साहुजीका कहना मानते हैं तो इसके लिये आप रोना क्यों रोते हैं? आप भी उन सरीखी योग्यता पैदा कीजिये, समाज के लिये कुछ त्याग कीजिये, दस की सेवा कीजिये, और सत्यकी पूजा कीजिये। देखिये, आपकी भी चलने लगेगी।

आप दुरंगी चाल छोड़िये। कभी तो आप विधवाविवाह के समर्थक बनकर बाबू रघुवीरशरणजी के ट्रेक्ट (विधवा-विवाह प्रकाश) के लिए विधवा-सहायक सभा देहली को यथाशक्ति कुछ आनोंकी सहायता देते हैं, और कभी आप विधवा-विवाहके विरुद्ध घसीट डालते हैं। पंडित दरबारीलालजी के मुँह पर आप उनकी चापलूसी करते हैं, और पीठ पीछे निन्दा करते हैं। एकको आप मित्र बनाते हैं और जब वह आपको किसी बेईमानीके कार्यमें सहायता नहीं देता है तो उसके शत्रु बनकर आप उसे समाजमें गिरा देना चाहते हैं। साहुजी से आपका द्वेष इसीलिए है। परन्तु "सत्यसन्देश" जैसा अमूल्य पत्र इन घरू झगड़ोंके लिये नहीं है, नहीं तो आपका सारा पुराण खोल दिया जाता। तब आपको अपना सौन्दर्य (?) दिखता, और आप समझते कि आप कहाँ हैं और साहुजी कहां हैं!

साहुजीने जो यहाँके जैनसमाजकी २२ वर्ष से सेवा की है, जो त्याग किया है, आप सरीखों को भी जो आदमी सरीखा बनानेमें उनका हाथ है, वह भुलाया नहीं जा सकता। व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे आप लोगोंका इतना गिर जाना, इसप्रकार कृतघ्नता दिखाना, शुरू से आखिर तक झूठ ही झूठ बोलना बेशरमीको भी शरमिन्दा करने वाला है। साहुजी से हम प्रार्थना करेंगे कि आप ऐसे कृतघ्न और असत्यवादियोंकी परवाह न करके हम लोगों का नेतृत्व लिये रहें। दुर्जन अगर अपनी दुर्जनता नहीं छोड़ते तो आप अपनी सज्जनता क्यों छोड़ेंगे?

—चाँदबिहारीलाल जैन अमरोहा।

२-पं० वंशीधरजी की डींग।

ता० २४ जुलाई सन् १९३५ ई० के "जैन-गजट" में पृष्ठ २ पर "शीतलप्रसादजीकी घृणास्पद नीति" शीर्षक लेखमें शोलापुरी पं० वंशीधरजीने अपनी रीत्यानुसार ब्र० शीतलप्रसादजीकी बुराई करते हुए यह भी लिखा है कि "रही (पं० दरबारीलालजी से) शास्त्रार्थ फिर से करने की बात, सो हजार बार हम शास्त्रार्थ करेंगे, परन्तु पंचायतें जहाँ बुलाकर चाहेंगी, वहाँ हम पहुँचने को तय्यार हैं।" इससे स्पष्ट है कि पंडितजीके पास सत्यका बल तो जरा भी नहीं है; हाँ, धींगाधींगी और भोले अन्ध श्रद्धालुओंकी हाँ में हाँ का बल जरूर उनके पास है।

यदि इनके पास सत्यका बल होता तो वे इस प्रकार अपना दब्बूपन नहीं दर्शाते, बल्कि साफ कहते कि हम हरतरह हरसमय हरजगह पं० दरबारीलालजीसे शास्त्रार्थ करनेको तय्यार हैं। बात यह है कि सत्यके लिए आलोचना और परीक्षाकी कोई चिन्ता नहीं होती। जिसके पास शुद्ध और खालिस सुवर्ण है वह इस बात से नहीं घबराता कि उसके सुवर्णको कोई घिसकर, छेदकर, अथवा तपाकर देखता है। प्रत्युत् इसके, जिसके पास खोटा माल है अथवा जाली सिक्का है, वह सदा सशंकित रहता है, और कभी उसे खुली परीक्षाके लिए नहीं देना चाहता। पंडितजी खूब जानते हैं कि उनका पक्ष पं० दरबारीलालजीके युक्तिवादके आगे जरा भी नहीं ठहर सकता, इसलिये वे खुल्लमखुल्ला शास्त्रार्थ करनेकी तो हिम्मत करते नहीं, हाँ, अपनी अनुयायी पंचायतोंके बीचमें जरूर जबानजोरी करनेका हौसला करते हैं। देखने को तो यह उनका हौसला है, मगर वास्तवमें यह उनकी महान अकर्मण्यता और कायरता है।

अमरोहानिवासी लाला मूलचन्दजीके रिमार्क पर आप बहुत उछल कूद मचा रहे हैं। सो ऐसे रिमार्क आपको सैंकड़ों मिल सकते हैं। श्रीमान् पं० दरबारीलालजी का मिशन एक क्रान्तिकारी मिशन है। बड़े बड़े विद्वान कहलाने वाले तो अभीतक उसे समझ भी नहीं पाये हैं, अथवा सिर्फ इतना समझे हैं कि वह भयङ्कर है, अन्धश्रद्धा पर कुठाराघात है। समझें या न समझें परन्तु उसका विरोध करने के लिये साधारण समाज मुँह बाये बैठा है। ऐसी अवस्थामें ऐसे रिमार्क आपको सैंकड़ों मिल सकते हैं, परन्तु उनका मूल्य कुछ नहीं है। हाँ, अगर समाजमें से एक भी आदमी ऐसा निकल आता है जो पं० दरबारीलालजीके विचारोंका समर्थन करता है तो यह उनकी विजय है। अपने सैंकड़ों आदमियोंकी प्रशंसाकी अपेक्षा एकाध विरोधीकी प्रशंसाका अधिक मूल्य है। अभी कुछदिन पहले सारा अमरोहा-जैन-समाज पं० दरबारीलालजीके विचारों का घोर विरोधी था। परन्तु अब आप देख रहे हैं कि क्या है! आज वहाँ पर उनके अनेक समर्थक हैं और जो लोग उनके विचारोंसे सहमत नहीं हो पाये हैं, वे भी शास्त्रार्थ में उनके पक्षकी विजयके कारण आपकी चालबाजियोंका विरोध कर रहे हैं। इस प्रकार इस अमरोहा जैन-सभाका दस आना भाग पं० दरबारीलालजीको विजयी कह रहा है। हम यह नहीं कहते कि सब पं० दरबारीलालजीके अनुयायी हैं। यह बात ही दूसरी है। पं० दरबारीलालजी के पक्षका समर्थक न होने पर भी ईमानदार आदमी उनके विजयका समर्थक हो सकता है। इस प्रकार कहाँ तो विरोधियों के भी हृदयको मोहित कर लेने वाले पं० दरबारीलालजी और कहाँ आप, जो अपनी करतूतसे अपनेही पक्ष

के आधे से अधिक आदमियोंको खो चुके और अब एकाध आदमीके रिमार्कका पुछल्ला पकड़कर विजय सागरको पार करना चाहते हैं !

एक जगह आप निग्रहस्थान शब्दका प्रयोग कर गये हैं। आप निग्रहस्थान शब्दका अर्थ भी समझते हैं कि नहीं ? शास्त्रार्थके नियमोंका आपको थोड़ा बहुत ज्ञान भी है कि नहीं ? मोदकके शास्त्रार्थ में आपका पक्ष था उत्तर–पक्ष, और सभाने निर्णय किया कि पं० वन्शीधरजी उत्तर नहीं देते इसलिये आगे चर्चा चलाने से कोई फायदा नहीं। आपका उत्तर–पक्ष होने हुए भी आप उत्तर नहीं देते थे–यह पंडितजी का निग्रह है या आपका ?

इसीप्रकार सर्वज्ञकी चर्चामें यह तय हुआ था कि एक बार पंडितजी पूछेंगे और आप उत्तर देंगे, फिर आप पूछेंगे और पंडितजी उत्तर देंगे; इस प्रकार क्रमसे चर्चा होती रहेगी। परन्तु ज्योंही आप के पूछनेकी बारी आई कि आप चुप होगये। आपकी इतनी हिम्मत नहीं हुई कि जिस प्रकार पंडितजी ने उछलकर आपको लिया था, तब आप भी एकबार उछलकर बता देते। अपनी बारी आजाने पर भी आप दुम दबाकर भागे, और फिर भी कहते हैं कि पंडितजी निग्रहस्थान में पड़ गये ! निग्रहस्थान किस चिड़िया का नाम है, अभी तो इसके समझने के लिये भी आपको बहुत कुछ सीखना है।

खैर, सौभाग्यसे कुछ शास्त्रार्थ लिखित भी होगया है, जिसको पढ़कर सब समझदार जैन विद्वान दिल ही दिल में कुढ़रहे हैं और पं० बंशीधरजी की हारपर उनके अन्धश्रद्धालु हृदय रोरहे हैं। बाकई पं०वंशीधरजीने अमरोहामें अपने पक्षकी जिस बुरी तरह मिट्टी पलीद की है, उसका अन्दाजा लगाना बहुत कठिन है। उस कलंकके टीकेको मिटाना तो नितांत असम्भव है। ब्र०शीतलप्रसादजी ने इसी खयालसे कि किसी प्रकार यह कलंक का टीका मिट जाय, "जैनमित्र" में लिखा है कि शास्त्रिपरिषद्को पं० दरबारीलालजीसे शास्त्रार्थ करना चाहिए। वे जानते हैं कि अमरोहामें पंडित वंशीधरजीको बुरी तरह मुँहकी खानी पड़ी है, तब भला वे किस मुँह से उनकी प्रशंसा करते? पं० वंशीधरजी इसी बात से खिसियागए हैं, और इसका कारण दलबन्दी बताकर ब्रह्मचारीजीपर धर्म-प्रेम-अभावका दोषारोपण कररहे हैं। मगर उन्हें मालूम होना चाहिये कि जिस धर्म–प्रेमसे उनका तात्पर्य है, वह ब्रह्मचारीजी में आपसे बहुत अधिक है। अगर आप अमरोहा में पं०दरबारीलालजीको हरादेते, तो आपकी प्रशंसासे ब्रह्मचारीजी तो "जैनमित्र" के दर्जनों अंक भर डालते। मगर अब कैसे भरें ? मालूम होता है कि आप ब्रह्मचारीजी को अपनी तरह नासमझ और भोला समझ बैठे हैं।

भले ही पं० वन्शीधरजीके कतिपय अनुयायी व मित्र भाटोंकी तरह उनको विजयी लिखकर उनकी प्रशंसा करें, मगर समझदार जनता तो उनपर हँस ही सकती है। गाल बजाने और हाथ पैर पीटने से जीतको हार और हार को जीत बनाने का प्रयत्न करना फूँक से पहाड़ गिराने का प्रयत्न करना है। पं० वंशीधरजीको चाहिये कि डींगें मारना तो बन्द करें और पं० दरबारीलालजीकी लेखमालाका सयुक्तिक खंडन करें। आप श्रीमान् साहु रघुनन्दनप्रसादजी से "जैनजगत्" की फाइल भी इस प्रतिज्ञा पर ले गये हैं कि मैं उनकी लेखमालाका लिखित खण्डन करूँगा। परन्तु अभीतक वह खण्डन नदारद है। क्या पंडितजी अपनी प्रतिज्ञा भूल गये ? मैं पंडितजीसे अनुरोध करता हूँ कि यदि उनमें साहस है तो अपनी प्रतिज्ञा का पालन करें।

—रघुवीरशरण जैन।

३-ब्रह्मचारीजीका अद्भुत न्याय

ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी ने ता० १ अगस्त सन १९३५ ई० के "जैनमित्र में" "अमरोह में व्यर्थ की फूट" शीर्षक नोट प्रकाशित कराया है। आप अमरोहाकी फूटका बहुत कुछ श्रेय श्रीमान साहु रघुनन्दनप्रसादजी को देते प्रतीत होते है। यह आपकी अद्भुत न्यायशीलताका नमूना है। खैर।

अभी हाल ही मे ब्रह्मचारीजीने साहु रघुनन्दनप्रसादजी से अमरोहा-शास्त्रार्थ पर सम्मति मांगते हुए लिखा था कि-"आप कष्ट करके अपनी सम्मति भेजें, जो प० दरबारीलाल और पं० वंशीधरके मध्य वार्तालाप से आपको निर्माण हुई है। मै जैनमित्रमें जैनधर्मके लाभ-हेतु छपवाना चाहता है। यदि वह प्राचीन ऋषिप्रणीत सिद्धान्तके अनुकूल पुष्ट मे हो तो आप अवश्य भेजे। यदि पं० दरबारीलालके अनुकूल हो तो भेजने की जरूरत नही है।" इसका उत्तर साहुजीने इस प्रकार दिया था कि-" आपकी आज्ञाके अनुसार मै अवश्य अपनी सम्मति भेजता, परन्तु आपका यह अनुचित प्रतिबन्ध कि अगर सम्मति पं दरबारीलालजीके अनुकूल हो तो उसे भेजने की जरूरत नहीं है, मेरे स्वाभिमानको धक्का पहुँचारहा है, जिसके कारण मैं अपनी सम्मति भेजनेमें पूर्णतः असमर्थ हैं। आपको चाहिए था कि आप कोई प्रतिबन्ध लगाये बिना मुझे सम्मति भेजने की आज्ञा देते और जब मेरी सम्मति आप को मिल जाती, तो उसे छपाते या न छपाते; परन्तु ऐसा प्रतिबन्ध लगाकर सम्मति मांगनेकी स्वाभिमान-घातक आज्ञा आपको नहीं देनी चाहिये थी। आशा है, भविष्य में ऐसा अपमानजनक प्रतिबन्ध लगाकर आप किसीको कुछ लिखनेका कष्ट न उठावेंगे।" शायद ब्रह्मचारीजी ने साहुजी के इस उत्तर से क्रुद्ध होकर उनपर यह दोष रोपण किया है, जो ठीक नहीं है। ब्रह्मचारीजीका कर्त्तव्य था कि वे अमरोहाकी फूट के सम्बन्धमें निष्पक्षता पूर्वक फैसला देते। कमसेकम न्यायकी खातिर यह तो लिख ही देते कि "साहुजी के व्यक्तित्वपर जो आक्षेप किये गये हैं वे झूठे व अनुचित हैं। साहुजी पर उनके विरोधियों को ऐसे आक्षेप नही करने चाहिए।"

ब्रह्मचारीजीको विदित हो कि साहुजी अमरोहा जैन समाजकी एकताको नष्ट नहीं करते हैं, और न वे बलात्कार किसीको अपने विचारोंका अनुयायी बनाते है। वे प्रतिक्षण एकता-स्थापनके साधन जुटाने में लगे रहते हैं, मगर अशान्ति-उत्पादनके इच्छुक व्यक्तियोंके कारण कुछ नहीं हो पाता। मजबूर होकर साहुजीको अन्यायके विरुद्ध खड़ा होना पड़ता है। वे किसीको बलात्कार अपने विचारोंका अनुयायी न तो बनाते ही हैं, और न बना ही सकते है। आजकल प्रत्येक व्यक्ति अपने विचारोंमे स्वतन्त्र है। आपने तो लिखा भी है कि "विचार स्वातन्त्र्य हरएक प्राणीको प्राप्त है।" फिर समझमें नहीं आता कि आप ऐसा क्यों लिख बैठे ?

आपने लिखा कि हम भूपणशरणजीके लेखको छपाना ठीक नहीं समझते। यह लिखकर आपने अपनी नीतिको निष्पक्ष व निर्मल सिद्ध करना चाहा है। पहिले तो आपने साहुजीके खिलाफ भद्दे वैयक्तिक आक्षेपोंसे परिपूर्ण लेखोंको छपाकर उनकी पोजीशन को गिराने का प्रयत्न कर डाला, और उन की पोजीशन स्पष्टीकरण-कर्त्ता लेखोंको न छापा, और अब आप चले अपनी उदारता दिखलाने !

आपने साहुजी के "अमरोहा शास्त्रार्थ और मैं" का यह भाव कि पंडित वंशीधरजीका शास्त्रार्थमें घोर पराजय हुआ, कुछ भ्रमजनक शब्दोंमें दर्शाया

है। मालूम होता है कि भ्रमसे आप ऐसा समझ बैठे हैं कि वंशीधरजीके घोर पराजय का अर्थ है—दि० जैनधर्मकी मान्यताओंका घोर पराजय। इसीसे आप वंशीधरजीकी पराजयको समझते हुए भी कह नहीं सकते। मगर यह आपकी भारी भूल है। मैं आपसे अनुरोध करूँगा कि आप निष्पक्ष होकर अमरोहा शास्त्रार्थपर विचार करें और बतलाएँ कि पराजय किसका हुआ? मैं यह नहीं जानना चाहता कि आप किसके पक्षको सत्य या असत्य समझते हैं। मैं तो केवल यह जाननेका इच्छुक हूँ कि तर्कके क्षेत्रमें कौन जीता? अभिप्राय है व्यक्ति-विशेष की हारजीत से। व्यक्ति विशेष की हार-जीत से पक्षकी सत्यता—असत्यता का मतलब नहीं है। आप ईमानकी खातिर सकारणक बतला दीजिये कि पं० वंशीधरजीका पराजय हुआ या पं० दरबारीलालजीका? स्मरण रहे कि पं० वंशीधरजीकी पराजय स्वीकार करते हुए भी आप यह घोषित कर सकते हैं कि हमारी रायमें पक्ष (सिद्धान्त) वंशीधरजीका ही सत्य है, लेकिन वे उसे सिद्ध नहीं कर सके। आशा है आप अपनी सम्मति शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करके अपनी निर्भीकता, निःपक्षता व न्यायशीलता का परिचय देंगे।—रघुवीरशरण जैन।

४-'जैनगज़ट' के सहसंपादक का भ्रम।

ता० ३१ जुलाई सन १९३५ ई० के "जैनगज़ट" में सहसम्पादकका "अमरोहा शास्त्रार्थ पर एक दृष्टि" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने अमरोहा जैनसमाजकी तटस्थ वृत्तिपर आक्षेप करते हुए अज्ञानतावश कई भ्रमात्मक बातें भी लिखी हैं। उनमें से अधिकांश का उत्तर भलीभाँति दिया जाचुका है। अब व्यर्थ पिष्टपेषण करना ठीक नहीं। कुछ पर संक्षेप में आगे प्रकाश डाला जाता है:—

सहसम्पादकजी अमरोहा जैनसमाज की जिस तटस्थ वृत्तिको उनके धर्मका घातक समझते हैं, वास्तव में वह उस धर्मकी रक्षक है। समाजने उस तटस्थ वृत्ति द्वारा अपनी धर्मप्रियताका परिचय दिया है, जिसके लिए श्रद्धालु धार्मिक समाजको उसका आभारी होना चाहिए। समाजने जब देखा कि पं० वंशीधरजी का घोर पराजय होरहा है तो उसने शास्त्रार्थ को बन्द करनेमें ही अपनी मान्यताओंकी रक्षा समझी। फलतः उसने बीचही में शास्त्रार्थ बन्द कर दिया। उसने अन्य बड़े बड़े विद्वानोंको भी बुलाया मगर कोई नहीं आया। वंशीधरजी भी उत्सव समझ कर चले आए थे। पं० दरबारीलालजी तो नियमानुकूल कार्रवाई चाहते थे, मगर पं० वंशीधरजी ऐसा करते डरते थे। वे अपना पूर्वपक्ष रखना स्वीकार ही नहीं करते थे। क्या यही नियमानुकूलता है? समाज ने शास्त्रार्थके पश्चात् तटस्थ वृत्ति प्रगट करना धर्मरक्षा के खयालसे उचित समझा। उसने यह सोचकर कि यदि पं० वंशीधरजीका पराजय घोषित किया गया तो धर्मरक्षाके खयालसे तथा अपनी मान्यताओं की इज्जत के खयालसे सर्वथा अनुचित होगा, और यदि पं० दरबारीलालजीका पराजय घोषित किया गया तो यह महाझूठ और अन्याय, तथा ईमान का घातक होगा। ऐसी डाँवाडोल स्थिति में समाज क्या करती? एक ओर उसकी मान्यताएँ थीं, दूसरी ओर सत्य और न्याय। जिसको भी अपनाती, आफ़त थी। इसलिए उसने तटस्थ रहना ही पसन्द किया। मेरी रायमें समाजने यह अच्छा किया कि उसने सत्य और न्याय का विरोध नहीं किया। यद्यपि उसे चाहिए तो यह था कि वह निर्भीकतापूर्वक पं० दरबारीलालजीको विजयी घोषित करती। मगर खैर; उसका इतना त्याग भी बहुत कुछ

है। आशा है कि वह भविष्यमें सत्यको अधिकाधिक महत्व देती रहेगी।

सहसम्पादकजीने साहुजीको सभापति लिखते हुए भी 'निरधिकारी' लिखा, यह अजीब न्याय है। विदित हो कि यदि साहु साहब अपना लेख नहीं छपाते तो सत्य और न्याय का खून हो जाता। उन्हें पं० दरबारीलालजी का भय नहीं था, भय था सत्य और न्याय का। यह भाव मिर्जापुरी लोटे की तरह नहीं है, यह मेरुके समान अचल है, दृढ़ है, प्रशंसनीय है।

—रघुवीरशरण जैन।

५—विश्राम।

अमरोहा-शास्त्रार्थ हुआ, फिर शास्त्रार्थ सम्बन्धी अमरोहा-युद्ध भी खूब हुआ। जैनगजटमें प्रकाशित रिपोर्ट तथा लाला मूलचन्दजी घंटाध्यक्षका रिमार्क दोनों गलत व नाजायज थे, पं० वंशीधरजीका घोर पराजय हुआ, साहु रघुनन्दनप्रसादजीकी पोजीशन पूर्णत निर्मल है, पं० वंशीधरजीने किस प्रकार अपनी कारस्तानियोंसे अमरोहामें फूटकी आग लगादी, इन सब बातों पर बहुत प्रकाश डाला जा चुका है।

आज अमरोहा-समाजको दो थोकोंमे बँटा देख कर हृदयको बड़ी वेदना होती है। मैं इस दलबन्दी को बहुत घृणाकी दृष्टि से देखता हूँ, और भावना करता हूँ कि शीघ्र उक्त समाजपर पूर्ववत ऐक्य और संगठनकी देवियाँ आकर बेखटके शासन करें। विरोधी मित्रोंने जो अनुचित कारवाइयाँ की हैं, जब तक उनपर वे पश्चात्ताप नहीं करेंगे, अपनी भूलोंको सखेद स्वीकार नहीं करेंगे, अपने हृदयोंको उदार व सहनशील नहीं बना लेंगे, अपने दिलोंसे द्वेष और शत्रुताका बहिष्कार न कर देंगे, तबतक मिलन बहुत कुछ असम्भव है। यही नहीं, जबतक दूसरा दल भी द्वेष और शत्रुताको अपने हृदयसे निकालकर प्रेम भावनासे आचरण नहीं करेगा, और अपने विरोधी दलकी पिछली भूलोंको भूलकर उनमें विश्वास नहीं रक्खेगा, तबतक भी समझौता एक कठिन समस्या है। दोनों दलोंको अहंकार तजना होगा, संगठन देवीकी उपासना करनी होगी, प्रेमभावसे अपने बिछुड़ेहुए भाइयोंको गले लगाना होगा, अन्यथा उनका संगठन तो विधाता भी नहीं कर सकता। मै दोनों थोकों से हाथजोड़ कर प्रार्थना करूँगा कि आप कर्त्तव्यवेदी पर कुछ त्याग करिए और फिर अमरोहा समाजको 'एक' बनाकर अपना मुख उज्ज्वल कीजिये। इसीमें उनका हित है, मेरी प्रसन्नता है, और धर्म का कल्याण है।

श्रीमान पं० दरबारीलालजी (सत्यभक्त) अमरोहा पधारे, और पं० वंशीधरजी भी। उनका परस्पर शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें पंडित वंशीधरजीको जो असाधारण पराजय हुई, उसका अनुमान लगाना कठिन है। उस शास्त्रार्थका पूर्ण सांगोपांग विवरण मै सत्यसंदेश के १२ वें व १३ वें अंकों में पाठकोंके समक्ष रख चुका हूँ। प्राय: समाजके सभी श्रीमान धीमान विद्वान उसके सम्बन्ध में मौन हैं। जिन्होंने उसके विरोधमें कुछ लिखा है, उसका प्रतिवाद कर ही रहा हूँ। तथा अन्य जो कोई भी विद्वान उसके विरोधमें लिखेंगे, उनको अवश्य उत्तर दूँगा। शास्त्रार्थ विचारों और मन्तव्योंसे सम्बन्ध रखता है, और मैं मन्तव्योंको बहुत महत्व देता हूँ। सामाजिक झगड़े तो गौण हैं, मुख्य चीज है सिद्धान्त। सिद्धान्तोंकी रक्षामें अगर प्राणोंकी भी आहुति देनी पड़े तो कोई चिन्ता नहीं। इसी दृढ़भावको लेकर मैंने अबतक अमरोहा-युद्धमें सत्य और न्याय की अमोघ शक्तिसे उत्साहित होकर एक पैदल सिपाहीकी हैसियतसे भाग लिया है, और जहांतक

मैं समझता हूं, मुझे उसमें आशातीत सफलता भी मिली है। मैंने अपने पूज्य मन्तव्योंको सुरक्षित रखने के उद्देश्यसे ही दिन रात अटूट परिश्रम किया है, अन्यथा मुझे क्या आवश्यकता थी कि मैं व्यर्थ सामाजिक झगड़ोंमें पड़ता? मेरी परिस्थिति भी स्वयं मुझे झगड़ों में पड़ने की आज्ञा नहीं देती। दूसरे, मेरे पास न इतना समय है, न इतनी शक्ति कि मै निरर्थक बातोंमें गंवाऊँ। मुझे उन्नति करनी है। मेरे सामने एक विशाल कर्त्तव्य है। मुझे जीवनकी कठिन परीक्षाओं के लिए परिपक्व होना है। इसलिए अब मैं यह उचित समझता हूं कि झगड़ोंमें न पड़कर अपने समय और शक्तिको ठोस कार्योंकी ओर लगाऊँ। अमरोहा-युद्धमें अबतक जो भाग लिया है, यद्यपि वह स्वयं ठोस कार्य नहीं था, मगर वह ठोस बातकी रक्षाका एक साधन था। उस साधन द्वारा मैंने अपने मन्तव्योंकी रक्षा की है। श्रीमान पं० दरबारीलालजीकी शानको सच्चे रूपमें दर्शाया है, और भ्रमात्मक बातोंका निराकरण करके अमरोहा समाजकी पोजीशनका भी यथाशक्ति स्पष्टीकरण किया है। मगर अब मैं देखता हूं कि अमरोहा युद्धका मन्तव्यों व सिद्धान्तोंसे जरा भी सम्बंध नहीं रहा है; अब उसका प्राण है द्वेष, अहंकार और शत्रुता; और अपने को इन बातों से क्या मतलब? अब तो यह भावना सारे हृदयोंपर साम्राज्य कर रही है कि किसीप्रकार उसे नीचा दिखाया जाय, किसी प्रकार उसे अपमानित और बदनाम किया जाय। यह भावना हर ओर है। मै इस भावना को ठुकराता हूँ, इससे घृणा करता हूँ। इसमें मुझे सत्यका दर्शन नहीं, बल्कि असत्य का दर्शन होता है, अन्याय का दर्शन होता है, जो मुझे अप्रिय है। मुझे तो सत्यके दर्शन चाहिए। अतएव मैं स्पष्ट घोषित करता हूँ कि अमरोहामें फैली हुई इस दुर्भावनासे मेरा जरा भी सम्बन्ध नहीं है, मेरा किसी दलसे भी संबंध नहीं है, मैं प्रत्येक अमरोहा-निवासीको अपना बन्धु समझता हूं। मुझे किसीसे द्वेष नहीं है; और मै तो यहाँ तक कह सकता हूं कि जो मुझ से व्यक्तिगत द्वेष रखते हैं, उनके प्रति भी मेरे हृदयमें द्वेष नहीं है। मैं मतभेद तो रखता हूं लेकिन शत्रुता नहीं। मेरा हृदय प्रत्येक व्यक्ति की ओरसे साफ है। अब तक मैंने जो लेखनी चलाई है, वह केवल इस उद्देश्य से कि मेरे माननीय सिद्धान्तोंकी अविनय न हो। अगर मैंने किसी व्यक्तिके विरोधमें कुछ लिखा है तो उसका भी आधार यही है। मुझे अपने सिद्धान्तों के विरोधसे विरोध है, न कि किसी व्यक्ति से।

अब मैं अमरोहा-युद्ध (अमरोहा-शास्त्रार्थ नहीं) के सम्बन्धमें अपनी लेखनीको विश्राम देना चाहता हूं। यदि अमरोहा-युद्धकी नींव पूर्ववत ही रहती, उसका आधार सिद्धान्त ही रहता, तो मै हरगिज अभी इससे अपना सम्बन्ध विच्छेद न करता। अपना जो कुछ उद्देश्य था, वह पूर्ण हो चुका है। अबतक युद्धमे जो भाग लिया है, उससे मुझे लाभ ही पहुँचा है। मैं विरोधी बन्धुओंसे अनुरोध करूँगा कि अबतककी घटनाओंके सम्बन्धमें व्यर्थ लीपापोती न करें, क्योंकि यदि ऐसा किया गया तो मुझे भी उसके प्रतिवादमें कुछ लिखना पड़ जायगा और व्यर्थ उन्हें हानि उठानी पड़ेगी, और अबतक उन्हें ही हानि उठानी पड़ी है। भविष्यमें वे कुछ करें मुझे उससे कुछ सम्बन्ध न होगा, लेकिन अगर पं० दरबारीलालजीकी शानमें कुछ लिखा गया तथा यदि मेरे मन्तव्योंके सम्बन्धमें कोई अनुचित कार्रवाई की गई तो मुझे मजबूरन लेखनी चलानी पड़ जायगी। मैं सत्य और न्यायका अपवाद सहन नहीं कर सकता। आप सयुक्तिक विरोध करें, मुझे कोई आपत्ति न होगी, बल्कि मुझे हर्ष ही होगा। आशा है कि बन्धुगण मेरी बात पर ध्यान देंगे।

—रघुबीरशरण जैन।

उसके प्रति—

(श्रीमान् स्व० पं० कुँवरलालजी के वियोग में)

हे गगन ! न तुम मिट जाना,
रो रो कर पानी होकर ।
वे जग न सकेंगे फिर अब,
उस अमर नींद में सोकर ॥

हे सूर्य, न मुख दिखलाओ,
शोकान्वित नित हो होकर ।
तुम पा न सकोगे ऐसा,
धन 'कुँवरलाल' सा खोकर ॥

रोलें घन तारक रोलें,
हम तुम, जी भरकर रोलें ।
उस पुण्य आत्मा के पग,
अपने आंसू से धोलें ।

अपनी कुछ उससे कहदें,
यह दशा नित्य रोने की ।
कुछ पूछें भी उससे तो,
असमय में यूँ सोने की ॥

बस हमें रुलाओगे अब,
जीवन से निवृत्त होकर ।
देखो आओ पूँछो तो,
माता के आँसू सत्वर ॥

रो रो कर पगली होती,
चाची जिसको कहते थे ।
जिसके सुख दुख में अपना,
जीवन अर्पित करते थे ॥

यह कौन खड़ा रोता है,
देवेन्द्र; अरे मामाजी ।
लो आजाओ यह सुनकर,
कहदो अति सत्वर हाँजी ॥

मोती माला "दादा" कह,
रो तुम्हें याद करती है ।
अपना अंचल आँसू से,
हा नित्य भिगो भरती है ॥

श्रद्धेय जिनेश्वरजी का,
क्यों स्वागत करना छोड़ा ?
क्यों राजाराम महोदय,
का वात्सल्य भी तोड़ा ?

दरबारीलाल महोदय,
का पत्र अरे है आया ।
क्यों उत्तर आज न लिखते ?
बस, इतना प्रेम निभाया !

ये वेही बिलसी वाले,
हैं आज किशोरी सोनी ।
अपने विवाह की बातें,
करलो जो कुछ थी करनी ॥

क्यों नहीं बोलते हो अब,
सब तुम्हें याद करते हैं ।
अपने दृगजल से देखो,
अपना ही मुख धोते हैं ॥

क्या नहीं दिखाई दोगे ?
कब से सीखा छुप जाना ?
अपने स्वजन परिजन का,
दिल वर्षों तलक दुखाना ॥

बोलो ! है किधर बनाया ?
नूतन घर, हमें बतादो ।
बस एकबार उस घरकी,
सीमा तक ही पहुँचादो ॥

क्या गये वहाँ कुछ लेने ?
या अन्य किसी मतलब से ?
अब एकबार ही कहदो,
अपने मृदुवाणी मुख से ॥

क्या वहाँ प्रकाश मिला है ?
या जयकुमार ही केवल ।
पत्नी भी तो पहुँची है,
करना अन्वेषण उज्ज्वल ॥

हा, हमें भूल मत जाना
अपने ही पास बुलाना ।
अरमानों की मिट्टी कर
दुनियाँ का चलन सिखाना ॥

—वियोगार्त, कुमरेश ।

पत्र पेटी

सत्यसमाज की आवश्यकता।

मुझे सत्य-संदेश पाक्षिक पत्र पढ़कर अत्यन्त आनंद प्राप्त हुआ। यह पत्र प्रत्येक मनुष्यको पढ़ना चाहिये, क्योंकि यह पत्र यथानाम तथा गुणवाली कहावतको चरितार्थ करने वाला है। यदि मनुष्यको आत्मकल्याण करनेकी इच्छा हो तो उसको अवश्य सत्य-समाजका मेंबर बनना चाहिये। मैं अपने स्वयं के अनुभवसे कहता हूँ कि प्रत्येक धर्म अपनी प्रशंसा करता है और दूसरे धर्म की निंदा। जैनी लोग कहते हैं कि हमारा धर्म अनादि अनंत है, परन्तु भाइयो, धर्मको अनादि कहनेसे और केवल जैनीनाम धराने से कभी भी मनुष्य उन्नतिके शिखर पर नहीं चढ़ सकता है। वर्तमानमें जैनी लोगोंकी नीतिको देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये लोग सिर्फ मुँह से स्वप्रशंसा करके ही आनंद मानते हैं। भला, जिस समाजमें पुरुषोंको ४—५ शादी करनेकी आज्ञा है, और बिचारी अबला स्त्री को दूसरा पति करने का निषेध है अर्थात् पुनर्विवाह करनेकी मनाई है, उस समाज को हम कैसे न्यायी कह सकते हैं ?

वर्तमानमें सैकड़ों उदाहरण हमारे दृष्टिगोचर होते हैं। कितनी स्त्रियाँ तो भ्रूण हत्या करती हैं, कितनीक आत्मघात करके अपने प्राण न्योछावर कर डालती हैं, कितनीक विधर्मियों के जालमें फँस जाती हैं। ये सर्व घटनाएँ जैनी लोग प्रत्यक्षमें जानते हुवेभी उसके लिये कोई प्रबन्धही नहीं करते हैं, और न करनेकी इच्छा ही दर्शाते हैं। यदि कोई करनेको उद्यत होता है तो उसकी निंदा करनेको तत्पर होजाते हैं। उपरोक्त बातोंसे पाठक भलीभाँति समझ सकते हैं कि इतनी निर्दयी जैन समाज को हम कैसे श्रेष्ठ मान सकते हैं ? फिरभी मुँहसे मिथ्या डींगें मारते हैं कि हमारे पूर्वज ऐसेथे, हमारे जैनशास्त्रोंमें ऐसा लिखा है, हम ऐसे हैं, आदि। परन्तु भाइयो, पुरानी बातें छोड़कर आप अपने कर्तव्य और आचारको तो देखिये—आपमें अहिंसा और सत्यका कितना पालन होता है ? आपने विधवाओं का क्या प्रबंध किया है ? कुँवारों की पुकार पर कितना ध्यान दिया है ? इत्यादि। प्रभु महावीरने आचारांगादि में फरमाया है कि "दव्व खेत्त कालभाव नाणे"—साधु और श्रावकको द्रव्य क्षेत्रकाल भाव देखकर कार्यमें परिवर्तन करना चाहिये; परन्तु आपतो लकीरके फकीर बने हुवे बैठे हैं; आपतो सुधारका नाम लेते ही एकदम चौंकते हैं और मिथ्यात्वी कह कर आप सम्यक्त्वी बन जाते हैं। सज्जनों, क्या महावीर प्रभुका ऐसाही फरमान है ? ऊपरकी बातें मैंने निंदा रूपसे नहीं लिखी हैं, केवल जाननेके लिये ही दर्शायी हैं। और भी मेरे स्वयं अनुभवमें आई हुई अनेक बातें हैं; अवसर हुआ तो फिर लिखूँगा। उपरोक्त बातोंके देखनेसे मालूम होता है कि सत्यसमाज सत्यको ग्रहण करके सर्वधर्मसमभावका प्रचार कररही है। जिस समाजकी जमानेको पूर्ण आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थने करदी है। सो सत्यान्वेषी भाई और बहनोंको शीघ्र सत्यसमाज की छत्रछायामें आना अतिउत्तम होगा। आर्यसमाज के मुसलमान भाई कट्टर शत्रु हैं। प्रत्येक धर्म के विरोधी जगतमें मौजूद हैं, परन्तु अत्यंत हर्षके साथ लिखना पड़ता है कि सत्यसमाजका शत्रु जगतमें एकभी सम्प्रदाय न रहेगा क्योंकि सत्यसमाज सत्यान्वेषी है। इसलिये सत्यसमाजकी बहुत आवश्यकता है। मुझेपूर्ण विश्वास है कि प्रत्येक सज्जन मेरे लेखको निष्पक्षपात और मननपूर्वक पढ़कर लाभ उठावेंगे।

—जुगलकिशोर जैन चिंचवड़।

विरोधी मित्रोंसे

(३०)

(१२ वें अंकसे आगे)

[संदेशका सम्पादन, सत्यसमाजके प्रचारका बढ़ा हुआ पत्रव्यवहार, जैनधर्ममीमांसाको पुस्तकाकार छपाने के लिये संशोधन, आदि कार्योंसे समय इतना कम मिलता है कि मेरे अन्य उपयोगी कार्यभी रहजाते हैं। इसलिये यह लेखमाला भी रुक जाया करती है। इसके लिये मैं पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ।]

सर्वज्ञकी चर्चामें मैंने एक बात यह कही थी कि एक समयमें जब हम बहुतसी वस्तुओंको देखते हैं तब उनकी वैयक्तिक विशेषता हमारे उपयोगके बाहर होजाती है और उन सबमें जो समानता है वही उपयोगका विषय रहजाता है। दार्शनिक विद्वानोंको तो इस बातको समझानेकी जरूरत ही नहीं। साधारण आदमी इस बातको जानता है। परन्तु इससे सर्वज्ञकी अमुक मान्यताका खंडन होता है, इसलिये आक्षेपक इस निर्विवाद बातकोभी स्वीकार नहीं करना चाहते, और अनावश्यक विस्तार करके न्याय-शास्त्र न समझने वाले या कम समझनेवाले लोगोंको भुलावा देना चाहते हैं। आपका कथन यह है:—

आक्षेप (१०८) — जिसप्रकार घटके प्रतिभासमें उसके सामान्य और विशेष धर्मोंका प्रतिभास होता है, उसी प्रकार उन भिन्नभिन्न अवयवियों के प्रतिभासमें उनके सामान्य और विशेष धर्मोंका भी। दर्पण आँख आदिमें एकही साथ अनेक पदार्थों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, और उनकी विशेषताओं सहित पड़ता है; तब भावेन्द्रिय उन सामान्य विशेषों का एक साथ प्रतिभास क्यों न करेगी? इसीप्रकार सेनामें भी सामान्य विशेषका एक साथ भान होता है। विशेषाकारोंके बिना सामान्याकार का भान असम्भव है।

समाधान— एक आदमी एक समयमें केशवको देखरहा है, दूसरे समयमें माधवको, तीसरे समय मे दोनोंको। यहाँ पहिले समयमें केशवका ज्ञान जितना स्पष्ट अर्थात् सविशेष है, उतना तीसरे समयमें नहीं है। इसीप्रकार दूसरे समयमें माधवका ज्ञान जितना स्पष्ट है उतना तीसरे समयमें नहीं है। इस अनुभवजन्य और दार्शनिकोंके द्वारा मान्य नियम के आधारपर मैंने ऊपरकी बात कही थी, जिसे आक्षेपक दर्पण आँख आदिके उदाहरण से काटना चाहते हैं।

दर्पण आदिमें आकार क्यों मालूम होता है, इसकी वैज्ञानिक आलोचना जुदीही चीज है। प्रकाश किरणें किसी पदार्थपर पड़कर जब लौटकर हमारी आँखों पर पड़ती हैं, तब हमें पदार्थ दिखलाई देता है। अगर वे ही किरणें पदार्थसे लौटकर दर्पण पर पड़ती हैं और वहाँ से लौटकर आँखपर पड़ती हैं तो वह पदार्थ हमें दर्पणमें दिखलाई पड़ने लगता है। दर्पणमें कोई आकृति नहीं बनती। यही कारण है कि जब हम दर्पणके सामने खड़े होकर ज्यों ज्यों बाईं ओर हटते हैं त्यों त्यों दाहिनी तरफ़का दृश्य दिखलाई देता है, और ज्यों ज्यों दाहिनी ओर हटते हैं त्यों त्यों बाईं ओरका दृश्य दिखलाई देता है। किरण सरीखी सूक्ष्म वस्तुएँ दर्पणमें सैकड़ों हजारों की संख्यामें पड़कर एक दर्पणमें सैकड़ों हजारों वस्तुओंका प्रतिभास करा देती हैं। परन्तु एकही दर्पणमें एकपदार्थका प्रतिबिम्ब जितना स्पष्ट मालूम होता है उतना दसका नहीं होसकता। स्पष्टताकी कमीका अर्थ है विशेषताकी कमी, अर्थात् सामान्य

की वृद्धि। ज्यों ज्यों पदार्थ बहुत होते जायगे त्यों त्यों विशेषता घटती जायगी। इसप्रकार अगर कोई दर्पण ऐसा हो जिसमें समग्र पदार्थोंका प्रतिभास पड़सके तो उसमें विशेषता बिलकुल न रहेगी। इस प्रकार यह दर्पणका दृष्टान्तभी युगपत् सकल विशेष प्रत्यक्षका बाधक ही है।

परन्तु इससेभी बढ़कर बाधा तो एक दूसरीही है। आक्षेपकका मत है कि आँखमें जब बहुतसे पदार्थोंका एकसाथ प्रतिबिम्ब पड़सकता है तब भावेन्द्रिय उन्हें क्यों न जानेगी? यहां आक्षेपककी बड़ी भारी भूल हुई है, क्योंकि द्रव्येन्द्रियमें कितने ही पदार्थ प्रतिबिम्बित क्यों न हों परन्तु भावेन्द्रिय उन सबको जाने यह नियम नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु यहाँ तक होसकता है कि भावेन्द्रिय बिलकुल न जाने। मेरे सामने पदार्थ आजानेपर उसका प्रतिबिम्ब आँख पर पड़ेगा परन्तु अगर मैं किसी विचार में मग्न हूँ तो वह पदार्थ आँखमें प्रतिबिम्बित होजाने परभी उसे उसका ज्ञान न होगा। जिस समय एक आदमी केशव पर नज़र डाले उससमय उसके पीछे ज़मीन आदि बहुतसी चीज़ें हैं और वे आँखमें प्रतिबिम्बित भी हैं परन्तु उससमय केशवही दिखाई देता है। अगर मैंने केशवके मुँहपर नज़र जमाली है तो बाक़ी अंगभी मेरे ज्ञानके अविषय होजायँगे। हाँ, यह ठीक है कि विशेषाकारोंके बिना सामान्याकारका भान नहीं होसकता, परन्तु इससे सामान्य और विशेष आकार एकही ज्ञानके विषय नहीं बनजाते। विशेषाकारों के ज्ञान जुदे हैं और सामान्याकार का ज्ञान जुदा है। यों तो प्रत्यक्ष के बिना परोक्षज्ञान नहीं होता परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि परोक्ष, प्रत्यक्षका काम करसकता है। उसीप्रकार विशेषाकारों के जुदे जुदे ज्ञानोंके बाद जो सामान्य ज्ञान होता है, वह उन विशेषाकारोंके ज्ञानोंका काम नहीं करसकता है। एक आदमीने सेनाके प्रत्येक सैनिकका पृथक् पृथक् निरीक्षण किया और दूसरेने एक नज़रमें सबको देखलिया; तो एक नज़र में सबको देखनेवाला ज्ञान पृथक् पृथक् निरीक्षणकी सारी विशेषताओंको नहीं जान सकता। उसी प्रकार अगर केवली एकही समयमें सकल पदार्थोंका प्रत्यक्ष करेगा तो उसके ज्ञानमें एक एक पदार्थको प्रत्यक्ष करनेकी विशेषताएँ कभी नहीं झलक सकतीं। इसप्रकार दर्पण नेत्र फलसेना आदि के समग्र दृष्टान्त युगपत् सकलविशेष प्रत्यक्षके विरोधी हैं।

मेरे इस मतका समर्थन विशेषावश्यक भाष्य की कुछ गाथाओं से होता है, जिन्हें मैंने टिप्पणीमें उद्धृत किया था। उसमें यह बात कही गई थी एक साथ दो विशेषताओंका भान नहीं होता। अगर हमें एक साथ शीतवेदना और उष्णवेदना हो तो हमें दोनों का सामान्य उपयोग अर्थात् वेदना मात्रका का भान होगा, शीतता और उष्णताका नहीं।

उपर्युक्त जैनाचार्यके इस मतका आक्षेपक ने विरोध करते हुए कहा है कि 'अगर शीत बलवान होगा तो उष्ण मर जायगा और उष्ण बलवान होगा तो शीत मरजायगा। दोनों बलवान होंगे तो दोनों मर जायँगे। अगर एक बालूके ढेर पर ७० डिग्री गर्मी और ५० डिग्री ठंडका प्रभाव हो तो २० डिग्री गर्मी मालूम होगी।'

यहाँ आक्षेपकने भाष्यकार का वक्तव्य ही नहीं समझा। आप वेदनाके द्वैविध्यको वस्तुमें समझ गये हैं। यहाँ एकही पदार्थकी शीतोष्णता नहीं लेना है, किन्तु जुदे-जुदे दो पदार्थोंका एक साथ स्पर्शन इन्द्रियसे संयोग करके दो वेदनाओंके उपयोगकी

बात है। जैसे कोई आदमी अपना एक हाथ बर्फ-पर और दूसरा अग्निपर रखले तो उस समय अगर वह दोनों का एकसाथ उपयोग करे तो उसे सामान्य स्पर्शन वेदनका उपयोग होगा, अथवा शीतता और उष्णता में क्रम बन जायगा। जिस समय शीतताकी तरफ उपयोग जायगा, उस समय उष्णता का भान न होगा; जब उष्णताकी तरफ उपयोग जायगा तब शीतता का भान न होगा। मतलब यह कि एक साथ दो विशेषों का प्रत्यक्ष नहीं होसकता।

पराणवरणा सूत्रमें केवलियोंके विषयमें एक प्रश्नोत्तर है; उससे यह सिद्ध होता है कि रत्नप्रभा शर्कराप्रभा आदिका प्रत्यक्ष जुदेजुदे समयमें होता है। इसके विषयमें आक्षेपकका कहना है:-

आक्षेप (१०९)-रत्नप्रभा पृथ्वी एक है परन्तु उसके भेदोपभेद भी तो हैं। रत्नप्रभाके प्रत्यक्ष के समय उसके भेदोपभेदोंका प्रत्यक्ष तो होगा ही। इससे मालूम हुआ कि एकही समयमें अनेक भेदोपभेदोंका प्रत्यक्ष होगा।

समाधान-यहाँ आक्षेपकने मनसे ही कल्पना करके मेरा मत बना डाला है। मैंने यह कहीं नहीं कहा कि रत्नप्रभा पृथ्वीके प्रत्यक्षके समय उसके विशेषों का प्रत्यक्ष होता है। रत्नप्रभा पृथ्वी, पृथ्वी सामान्यकी दृष्टि से विशेष है, इसलिये उसको विशेषोपयोग कहा जाता है। परन्तु वह अपने भेदों की अपेक्षा सामान्य है। इसलिये जिस समय सामान्य रत्नप्रभाका भान हो रहा है, उस समय उसके भेदप्रभेदों का नहीं। सामान्य विशेष शब्दका व्यवहार हमें सापेक्ष दृष्टिसे करना पड़ता है। इसी प्रकार सकल साक्षात्कारके प्रकरणमें रत्नप्रभाका साक्षात्कार विशेषका साक्षात्कार कहा गया है। अंतिम विशेषका तो प्रत्यक्ष हो ही नहीं सकता।

रत्नप्रभा तो दूरकी बात है। पराणवरणाका वह उद्धरण तो इस बातको लेकर है ही नहीं; उसका मुख्य उद्देश तो यह है कि रत्नप्रभा शर्कराप्रभाका प्रत्यक्ष अगर जुदेजुदे समयमें होता है तो त्रिकाल-त्रिलोक का युगपत् ज्ञान न रहा। सामान्य विशेषकी चर्चा के लिये तो घट पट आदि सुपरिचित वस्तुओंके प्रत्यक्ष पर आक्षेप किया जा सकता था। जिस समय माधवका प्रत्यक्ष होता है उस समय उसके हाथपैर आदि विशेषावयवोंका होता है या नहीं? आक्षेपक ऐसा आधा आक्षेप करता; रत्नप्रभातक दौड़ लगाने का जरूरत ही न थी। खैर, इसका भी उत्तर यही है कि जिस समय हम माधवका प्रत्यक्ष कर रहे हैं उस समय उसके अवयवोंका विशेष प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। माधवको देखकर हमें उसके हाथका वैसा ज्ञान न होगा जैसा कि उसके हाथका हम अलग से निरीक्षण करें तब होगा। इससे सिद्ध है कि ज्ञानका विषय जितना बढ़ता जायगा, उसमें विशेषता लुप्त होती जायगी। त्रिकाल त्रिलोक के युगपत् प्रत्यक्षके समय किसीभी विशेषका प्रत्यक्ष नहीं होता, एक महासत्ता का ही भान होसकता है। इसलिये युगपत् सकल विशेषोंका प्रत्यक्ष एक असंभव और मिथ्या कल्पना है।

समाचार-संग्रह।

—गाजियाबादके एक क़स्साबकी चारवर्ष की लड़की जेवर पहिने गलीमें जारही थी कि एकाएक गायब होगई। दो दिनतक तलाश करनेके बाद वह लड़की शाहदरेकी एक मस्जिदमें मिली, लड़कीके तमाम जेवर उतारे हुए थे। ख़याल है कि कोई फ़कीर मुहल्ले से लड़की को ले गया और जेवर उतारकर [illegible]

—सतारा के एक लखपती सेठकी लड़की मोटर-ड्राइवर के साथ भाग गई है। साथमें ११ हजार रुपये का माल भी लेगई है।

—चाँदा जिले के कुछ व्यक्तियोंने फसलके लगातार खराब होनेसे तंग आकर देवता को प्रसन्न करने के लिये एक वृद्ध पुरुषकी बलि चढ़ादी। इसपर वर्धा के सैशनजजने दो व्यक्तियोंको फांसी की तथा तीन को आजीवन कारावास की सजा दी।

—दिल्लीकी बिड़ला मिलके सैक्रेटरी श्री० ज्वालाप्रसाद जी मंडेलिया का २३ जुलाईको स्वर्गवास हो गया। मृत्युके समय आपने ५००००) की वसीयतकी है। इसमेंसे लगभग ३५०००) रुपये राजस्थानी विधवाओंको पुनर्विवाह करनेमें सहायता के लिये, तथा पिलानीके हरिजन-आश्रम और शिक्षाके लिए प्रदान किया है। शेष रकमका व्याज अपनी वृद्ध माता के लिये छोड़ा है। माताकी मृत्युके बाद वह रकम हरिजन-आश्रमको देनेका उल्लेख है। पुनर्विवाह के लिये रक्खी गई रकममें से, प्रत्येक विधवा को पुनर्विवाह के समय एकएक हजार रुपये का दहेज दिया जायगा।

—पटनामें घरू अनबन के कारण एक युवक ने अपनी पत्नी को खानेमें जहर दे दिया। पतिपर हत्याका अभियोग चलाया गया है।

—कानपुरमें एक स्त्री जब अपने पतिकी इच्छा के विरुद्ध मायके जाने लगी तो पतिने गँडासे से उसका सिर काट लिया और फरार होगया।

—मैनचेस्टर (इङ्गलेंड) में पुलिसकोर्टने फ्रेड विल्सन नामक व्यक्ति को एक मासकी सजा इस लिए दी कि उसने एक बिल्लीको एक कमरेमें बन्द रखकर अनावश्यक कष्ट पहुँचाया।

—चीनमें भीषण बाढ़ से एकलाख आदमी मरगये और अनेक घर-विहीन होगये। सर्वत्र त्राहि त्राहि मची है।

—तारामंगलम ग्रामके एक हरिजनने वैयापुरी नामक एक गौंडनजातीय व्यक्तिको उसका नाम लेकर पुकारा। यह वैयापुरी महाशयको सहन न हुआ और उसने इसमें अपनी उच्चजातीयताका अपमान समझा। आपने इसपर उक्त हरिजनको थप्पड़ मारा और यही नहीं बल्कि हरिजनके बारबार घुटने टेककर माफी मांगते रहने परभी उसको छुरा भौंककर मार डाला। केस चलने पर उच्चजात्याभिमानी महाशयको फाँसीकी सजा दी गई।

—एक मराठा महाशय अपनी ग्यारह वर्षीया पुत्रीका विवाह एक पचास वर्ष के बूढ़े से करना चाहते थे। बालिकाने ऐसे जीवनसे मरना अच्छा समझकर कुएँ में गिरकर आत्महत्या करली।

—भूखसे व्याकुल १५० ग्रामीण स्त्री-पुरुष व बालक उसदिन बर्दवानकी कचहरीमें पहुँचे। उनके हाड़पिंजरको देखकर लोगोंको दया आई और उन्होंने चन्दाकर ढाई मन चाँवल उनको बाँट दिये। भूखसे तड़फते गरीब ग्रामीण उन कच्चे चाँवलों को उसी समय खागये।

—अश्लील चित्र व साहित्य बेचने के अपराध में बम्बई की "महाराज अग्रसेन ऐण्ड कम्पनी" के मालिकको एक दिनकी सादी कैद व ४००) जुर्माने की सजा दीगई।

—इन्दौरमें एक व्यक्तिने अपनी स्त्री को व्यभिचारके सन्देहमें, नङ्गा करके खूब पीटा तथा उसका मुँह काला करके उसे पीटते हुए मुहल्ले भरमें नङ्गी घुमाई। पुलिसने उसका चालान किया है।

—अहमदाबाद के श्वेताम्बर जैन सेठ श्री माकुभाई ने जब पालीताना-संघ निकाला था, तब श्वेताम्बर जैन साधु श्री लब्धिविजयसूरिजीने एक

विधवा बाई से सीहोर से जूनागढ़ तकका संघ निकलवाया था। उस समय उन्होंने अपने आपको विशेष रूपसे प्रसिद्ध करने के लिये सूरतकी तरफ के किसी अनजान आदमीको बहुत धूमधामके साथ दीक्षा दी थी तथा दीक्षामहोत्सवके नामपर बहुत रुपया भी खर्च कराया था। सीहोरवालोंने इस दीक्षाका विरोध किया था परन्तु आपने एक नहीं सुनी। विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि श्री लब्धि-विजय सूरिजी के उक्त नूतन शिष्य महाशय पीले कपड़े फेंक फाँककर पुनः गृहस्थ बनगये हैं।

—विधवाओं, कुमारी बालिकाओं आदिको फुसलाकर उनसे अपनी काम लालसा तृप्त करना, बादमें सन्तान पैदा हो जानेपर अपनी जिम्मेवारी से मुँह छिपाकर उन असहाय अबलाओं व बच्चों को निराधार छोड़देना तथा अपने आप क़ानून व पंचायत की दृष्टिमें बिलकुल निर्दोष व दूध के धोये बने रहना, ये यहाँकी साधारण बातें हैं। लेकिन विलायतमें ऐसे पापी पुरुष इतनी आसानी से नहीं छूट जाते। अभी ब्रेडफोर्डकी कोर्टमें ऐसा एक मुक़द्दमा चला था, जिसमें एक युवतीने अविवाहित अवस्थामें बालक प्रसवकर एक युवकको उसका पिता बताया था। युवकने इससे बिलकुल इनकार कर दिया। इसपर खूनकी जाँचके विशेषज्ञ द्वारा युवती, युवक तथा बालक के खूनकी जाँच कराई गई और यह निर्णय होगया कि उक्त युवक ही उस बालकका पिता है। अदालतने उक्त युवकको उस बालकके भरण-पोषण के लिये बाध्य किया।

—कुमारी मनमोहिनी जुत्शी ऐम० ए० बिहार महिला विद्यापीठकी प्रिन्सिपल नियुक्त हुई हैं।

—सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्रीयुत के० पी० जायसवाल की सुपुत्री श्रीमती धर्मशीला लाल पटनामें बैरिस्टरी करेंगी तथा साथही इतिहास-संशोधनका कार्य भी करेंगी।

—सहारनपुर जिले में एक बारात एक गाँवसे दूसरे गाँव जा रही थी। रास्तेमें एक स्थानपर रसोई बनाई गई। दैवयोगसे दालमें सर्प गिरगया। उस दालको खाकर सभी बाराती, जिनकी संख्या क़रीब ५० थी, वहीं मर गये।

—पन्द्रहवर्षीया एक मुस्लिम युवतीने चीफ मेडिकल ऑफिसर देहलीके समक्ष बयान किया है कि उसके पति व ससुर उसके माता पितासे रुपया ऐंठना चाहते थे और इच्छित रुपया न मिलने पर उन्होंने उसे बुरी तरह सताया यहाँ तककि उसके बदन को कई जगह दाग़ दिया।

—रतलामकी पोरवाड़ जैन युवती श्रीमती कंचन-बाईने अपने पिताकी इच्छा के विरुद्ध, जो उसका विवाह किसी वृद्धके साथ कर उसके बदलेमें अपना विवाह किसी बालिकाके साथ करना चाहता था, स्वेच्छासे अपनीही जातिके एक युवक श्री शैतान-मलके साथ कर लिया था, और जिस मामलेको लेकर रतलाममें अर्सेसे मुकद्दमेबाज़ी चल रही थी, हर्ष है कि उसमें अन्तमें सत्यकी विजय हुई। ता० १६ अगस्तको सैशनकोर्टने श्री शैतानमलको निर्दोष मानकर रिहा कर दिया तथा श्रीमती कंचनबाई के साथ उनके विवाहको भी जायज़ स्वीकार करलिया। श्रीमती कंचनबाईने जिस साहस व दृढ़ता के साथ अनेक अत्याचारोंको सहन किया किन्तु अपने प्रण से न डिगीं, इसके लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

—६८ वर्षकी उम्रके एक मुसलमान फ़क़ीरको एक पन्द्रह वर्षकी लड़कीको भगाकर ले जाने के अपराधमें चारवर्ष सख़्त क़ैदकी सज़ा हुई है।

—एक नाईने अपनी स्त्रीको, भोजन अच्छा न बनाने पर दूसरा भोजन बनानेके लिये कहा। स्त्री के इनकार करने पर उसने क्रोधित होकर उसे लकड़ी से मारा जिससे वह थोड़ी देर बाद मरगई। जातिपंचायत वालोंने उसे दोषी बताकर उसपर ५०) दण्ड किया और उस रकमको आपसमें बाँट लिया। बाद में पञ्चायतने लाशको गाड़नेकी आज्ञा दे दी। पंचों में से दो व्यक्तियोंने, जिन्हें उपरोक्त दण्डकी रकममें से प्राप्त हिस्से से संतोष नहीं हुआ, पुलिसको इस घटना की सूचना करदी। पुलिसने लाशको वापिस निकाल कर तथा उसकी डाक्टरी जांच कराकर उक्त नाई को गिरफ्तार कर लिया है।

—भा० दिगम्बर जैन परिषदके जलसा अधिवेशनके समय श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्दजी की माता व धर्मपत्नीने महिलाश्रम खोलने के लिये दसहजार रुपये प्रदान किये थे। जलसामें महिलाश्रमकी विशेष आवश्यकता न समझकर उक्त रकम छात्रवृत्तिफंड के लिये देदी गई है। इस फंडकी रजिस्ट्री होनेवाली है। इसमें अमरावतीके श्रीमान सेठ केसरीमलजी ने ८०००) की लागतकी ५० एकड़ जमीन प्रदानकी है। १५००) के करीब और फुटकर चन्दा भी हुआ है।

(पृष्ठ ४८८ कालम २ से आगे)

तो यही कहना था कि हर मुनिवेषीको केवल उस का वेष देखकर मत पूजो, उसकी भले प्रकार जांच करो, तथा यदि वह वास्तवमें मुनिके योग्य गुणोंसे सम्पन्न हो उसमें श्रद्धा—भक्ति रखकर उसकी उपासना करो। किन्तु यदि आप वेषपूजक हैं, जैसाकि आप पहिले कहते थे, तो कृपया बतावें कि आप श्री सूर्यसागरजी सुधर्मसागरजी आदिकी निन्दा क्यों करते हैं? कमसे कम वे मुनिवेषी तो हैं ही। मुनिनिन्दाके पापका भीषण फल बताकर आप सुधारकोंको नर्क में भी होनेका फतवा देते थे, उसका अब अपने लिये क्यों नहीं प्रयोग करते?

बात दरअसल यह है कि ये लोग न तो गुणपूजक हैं, न वेषपूजक। ये लोग निरे स्वार्थसेवी हैं। मुनियोंमें साधारण जनताकी अटूट श्रद्धा भक्ति देखकर इन्होंने उन्हें अपना हथियार बनाकर उनके जरिये अपने मनमाने मंतव्योंका प्रचार कराया, तथा उनका प्रभाव बढ़ाने के लिये उनकी मनमानी प्रशंसा कर उन्हें समाजमें खूब पुजाया। जिनसे इनको उक्त स्वार्थ—सिद्धि नहीं होती, उनकी ये लोग निन्दा करते हैं। आश्चर्य तो यह है कि श्री सुधर्मसागरजी आदिकी, जिनकी कलतक ये लोग खूब प्रशंसा करते थे, आज मतभेद होनेपर निन्दा करने लगे हैं।

'चन्द्रप्रकाश' के प्रकाशक किन्तु वास्तवमें उसके सर्वेसर्वा श्रीयुत गुलाबचन्दजी पाटणी का मतव्य है कि "जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।" इसके निष्कर्ष रूपमें आपने यह ईजादकी है कि "श्रीमान स्वर्गीय रा० ब० सेठ मूलचन्दजी साहबके न्यायोपार्जित धनसे से वेतन पानेवाले के परिणामों में शुद्धता होना स्वाभाविक ही है।" और इस तरह आपने स्वयं अपने ही हाथों अपने लिये भी शुद्ध परिणामी होनेका सर्टीफिकेट ले लिया है, क्योंकि उक्त परिवार के न्यायोपार्जित धनका स्रोत आपकी तरफ भी है। खैर, उक्त निष्कर्षको सत्य मानकर यह भी मान जाना चाहिये कि पाटणीजीके घर तथा प्रेसके सब कर्मचारी भी स्वाभाविक रूपसे शुद्ध परिणामी हैं, अन्यथा इसमें सन्देह करना पाटणीजीके धनके न्यायोपार्जित होनेमें संदेह करना होगा।

—एक स्पष्टवक्ता।

Printed by Badu Durga Prasad, at the Durga Printing Press, Ajmer

विषय-सूची।

प्राप्ति स्वीकार—ता० ३१ अगस्तको श्रीमान डाक्टर श्रीनरमलजी सोगाणी डी० ऐससी० (प्रोफेसर बनारस हिन्दूयुनिवर्सिटी) की माताजी का देहान्त होगया। आप एक धर्मपरायण महिला थीं तथा जिनका अधिकांश भाग धर्मचर्चा में ही [illegible] करती थीं। बहुत दिनोंसे आप बीमार थीं, पर आपने असाधारण धैर्य व शांतिके साथ शारीरिक [illegible] सहन किया। अन्त समय तक आपको बराबर होश बना रहा और आप चैतन्यपूर्वक [illegible] पाठ सुनती रहीं। आपने स्वेच्छासे ६०१) दान किया, जिनमेंसे ५१) सत्यसन्देशकी सहायतार्थ प्राप्त हुआ है।

एक महानुभावने, जो अपना नाम प्रकट होना पसंद नहीं करते हैं, सत्यसन्देशकी सहायतार्थ २५) प्रदान किये हैं।

उपरोक्त दानियोंको अनेक धन्यवाद। —प्रकाशक

धर्म-मीमांसा (प्रथम भाग)—छपकर तैयार होगई है। सुन्दर छपाई; पृष्ठ संख्या १००। प्रचारके लिये मूल्य लागतसे भी कम, केवल चार आने रक्खा गया है। पांच प्रतियोंसे कमकी वी० पी० नहीं भेजी जाती; एक प्रति मंगवानेके लिये सवा पांच आनेके टिकिट भेजना चाहिये। पुस्तकें—सत्यसंदेश ऑफिस अजमेर, हिंदीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग बम्बई, तथा सम्पादक महोदयके पाससे मिल सकती हैं।

—प्रकाशक।

वर्ष १०

सत्यसन्देश

अंक २०

आश्विन कृष्णा ४

वीर सं० २४६१

ता० १६ सितम्बर

सन १९३५ ई०

आदर्श-पुरुष।

(रचयिता—श्री "विपिन विहारी" जयपुर।)

(१)

मानस के अशान्त सागर में
जब कुछ भाव उमड़ आते।
गा-देते हैं विश्व वेदना,
मंजु मल्हार सुना जाते॥

(२)

जीवन जिनका विश्वप्रेम है,
शान्ति-सदन है कारागार।
श्री चरणों में पड़ी बेड़ियाँ,
सुना रही भूषण-झंकार॥

(३)

शान्ति-प्रिया के अनुपम प्यारे
देश-प्रेमके हैं अवतार।
अभिनव-क्रान्ति जगाते जग में,
कभी न सहते अत्याचार॥

(४)

विश्व-विभूति तुच्छ है उनके,
त्याग, धैर्य आदर्श महान।
स्वतन्त्रता के साधनमें, जो,
चढ़ा रहे जीवन बलिदान॥

(५)

कर्मवीर बन अखिल विश्व में;
विजय-वरा वर लाते हैं।
सुरभित करके विश्व-भवनको,
जीवन अमर बनाते हैं॥

क्षमा

यदि दोषको, न कि दोषियों को, नष्ट करना इष्ट है—
तो क्रोध सत्-साधन नहीं, साधन क्षमा उत्कृष्ट है।
है स्खलनशील मनुष्य, क्या निर्दोष रह सकता कहीं?
हक़ दूसरोंके न्याय करने का हमें रहता नहीं॥

—दौलतराम जैन इंदौर।

विश्व-व्यापक अशान्ति।

जो पराधीन हैं, वे गुलामीके अत्याचारोंसे पिस रहे हैं। जो स्वाधीन हैं किन्तु निर्बल हैं, वे बलवानोंकी घुड़कियाँ खाते खाते तथा आत्मरक्षाके लिये प्रयत्न करते करते मरे जारहे हैं। जो बलवान हैं, वे एक दूसरे पर दाँत पीसते पीसते तथा निर्बलोंको कुचलनेके लिये दिनरात तैयारी करते करते मरे जाते हैं। जिनके सिरपर बोझ है, वे बोझके मारे कराह रहे हैं; जो दूसरेके सिरके बोझ बने हुए हैं, वे गिरनेके डरसे घबरा रहे हैं। इसप्रकार हर एकदेश या वर्ग असाधारण अशान्तिका घर बना हुआ है। उपर्युक्त कष्ट अगर प्राकृतिक होते, तब चिन्ता नहीं थी; क्योंकि इससे हम कुछ मिलकर प्रयत्न करते और समान दुःखी होनेसे आपसमें सहानुभूति रखते, जिससे हमारा दुःख अगर नष्ट न होता तो भी आधा तो हो ही जाता। परन्तु वर्तमानके कष्ट परस्पर सहानुभूतिके नहीं किन्तु वैर, घृणा आदिके कारण हैं। इस प्रकार एक तरफ़तो हमारे दुःखोंकी मात्रा बढ़रही है, और दूसरी तरफ़ सहानुभूति आदिके अभावसे वे और भी असह्य होरहे हैं। और जब हम यह सोचते हैं कि इन दुःखोंके विधाता हमही हैं तब हमारी वेदनाके साथ जो अपनी मूर्खताका संवेदन होता है, वह हमें नर्कवासी समझने के लिये बाध्य करता है।

यह सब क्यों? जापान चीनको हड़पता है, मंचूरियाको तड़पता है। इटली एबीसीनिया पर दाँत अड़ाए हुए है। यह सब हड़पा-हड़पी क्यों? कहा जाता है कि इन देशोंमें जनसंख्या बढ़रही है और उसके बसनेके लिये स्थान चाहिये। अगर इतना प्रश्न होता तो यह समस्या बड़ी सरलतासे सुलझ गई होती, क्योंकि अभी भी पृथ्वीपर इतनी जगह अवश्य है जहाँ यह संख्या बसाई जासकती है। सच पूछा जाय तो संख्याका तो बहाना है; इस उन्मादका तो कारण दूसरा ही है। इसका कारण है; जातिमद।

चिरकालसे इस जातिमदके कारण मनुष्यजातिका संहार होरहा है। पुराने समयमें जातिकी सीमा छोटी थी, इसलिये छोटी छोटी टुकड़ियोंमें मनुष्य-जाति लड़ा करती थी। पुराने समयमें छोटे छोटे सरदारोंकी लड़ाइयोंकी कहानियाँ पढ़कर हम हँसा करते हैं, परन्तु हमारी दशा अभी भी ऐसी है कि हमारे ऊपर हँसा जाय। आज यहाँ छोटी छोटी लड़ाइयाँ नहीं होतीं, परन्तु हिन्दू मुसलमान आदिकी मूर्खतापूर्ण लड़ाइयाँ होती हैं। जो लोग इस क्षुद्रताका त्याग कर चुके हैं, वे आज राष्ट्रीयताके नामपर उसी मूर्खताका परिचय देरहे हैं।

पिछले महायुद्धके समयपर यह कहाजाता था कि इस युद्धसे सदाके लिये युद्ध बन्द होजायगा। इसलिये युद्धके बाद स्थायी शान्तिके लिये बड़ाभारी प्रयत्न या प्रयत्नका ढोंग किया गया। इसके लिये एक राष्ट्र-संघकी व्यवस्था की गई, और इसके सदस्य जितने राष्ट्र बनायेगये उनके विषयमें यह नियम बनाया गया कि जो शान्तिसम्बन्धी धाराओंको भंग करे, उसे दंड दिया जाय। परन्तु राष्ट्र-संघ का यह निर्णय किसी मर्ज़की दवा न बनसका। जापान और

चीन दोनों ही राष्ट्रसंघके सदस्य थे। जब जापानने चीनको दबाया, तब राष्ट्रसंघ कुछ न करसका। जापानने राष्ट्रसंघको धता बता दी, परन्तु राष्ट्रसंघ चूँ भी न करसका। इसीप्रकार हेगके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयकी दुर्दशा हुई। इकतालीस राष्ट्रोंने उस कोर्ट को मान्यता दी थी, परन्तु न तो उसमें न्याय करने की ताक़त है, और न उसके न्यायका कुछ वज़न है।

सन् १९२४ में जेनेवा प्रोटोकोलकी बात चली थी, जिसमें नियम बनाया जानेवाला था कि जो आक्रमणकारी हो, उसका बहिष्कार कियाजाय, दंड दियाजाय। परन्तु यह गर्भमें ही विलीन होगया। सन १९२७ मे एक प्रस्ताव द्वारा युद्धका बहिष्कार किया गया; परन्तु सब के सब राष्ट्र युद्ध की तैयारी कर रहे हैं, और एक दूसरेको पीस डालनेके लिये घुड़कियाँ देरहे हैं। सन् १९३०-३१ में भी कुछ प्रयत्न हुए जिसमें यह निर्णय हुआ था कि पीड़ितको आर्थिक सहायता दी जाय, परन्तु कागजपर लिखनेके सिवाय इसका कुछभी काम न हुआ। इसप्रकार इतने प्रयत्न हुए, अभीभी होरहे हैं, परन्तु इनसे कुछभी सफलता नहीं होती। इसका कारण क्या है?

इसका जो सबसे भयंकर कारण बतलाया जाता है, वह है मौतके व्यवसायियोंका स्वार्थ। संसारमें कुछ ऐसी कम्पनियां हैं जो युद्ध-सामग्री बनानेका धंधा करती हैं। इनकी पूँजी अर्बों रुपयोंकी है। इनका भला तभी है जब एक राष्ट्र दूसरेसे लड़ता रहे और उनमें परस्पर अविश्वास बना रहे, जिससे युद्ध सामग्री बिकती रहे। इन कम्पनियोंके भागीदारोंमें ऐसे लोग भी हैं जो अपने अपने राष्ट्रोंमें काफ़ी प्रभाव रखते हैं। इसके अतिरिक्त ये कम्पनियाँ करोड़ों रुपये प्रभावशाली समाचारपत्रों और प्रभावशाली नेताओंको दिया करती हैं, जिससे वे राष्ट्रीयता के गीत गागाकर जनतामें लड़ायक मनोवृत्ति पैदा किया करते हैं। दूसरे राष्ट्रने कैसी तैयारी करली है, वह किस तरह आक्रमण करना चाहता है, इसके झूठे सच्चे समाचार बच्चे बच्चे के कानों में पहुँचते हैं। इसप्रकार राष्ट्रीयताका पागलपन सबपर सवार हो जाता है। आज जो विश्वके राष्ट्रीय क्षेत्रमें अशांति फैली हुई है, उसका एक बड़ा भारी कारण यह है।

परन्तु यहतो एक निमित्त है। इसका भंडाफोड़ होगया है, होता रहता है। फिरभी ये कम्पनियाँ अपने प्रयत्नमें सफल क्यों होती हैं? जनता इनके नशेके प्रवाहमें क्यों बह जाती है? इसका कारण है मनुष्यका जाति-मद। मनुष्यकी इसी कमज़ोरीका उपयोग तो ये कम्पनियाँ किया करती हैं। यदि जनता को असली रहस्य समझमें आजाय तो प्रयत्न करने पर भी उसे बहकाना कठिन हो जाय। भारतवर्षमें बेचारे ग़रीब हिन्दू-मुसलमानोंको धर्मके नामपर लड़ा देना बहुत सहज है, क्योंकि धर्मके विषयमें जनता मूढ़ है। परन्तु आज यूरोपमें धर्मके नामपर बहकानेका प्रयत्न करना हास्यास्पद है। भारतवर्ष में कुलमद, जातिमद, धर्ममद अपना ताण्डव दिखला रहा है तो यूरोपमें यह काम राष्ट्रमद कर रहा है। इन सब मदोंको हम जातिमदके नामसे भी कह सकते हैं, क्योंकि सबने राष्ट्रके नामपर या धर्म के नामपर एक समूह बना लिया है और उसीमें वह अपनी सारी आवश्यकताएं पूरी करना चाहता है, उसके बाहरके लोगोंको वह अपना शत्रु समझता है।

जातिभेद—चाहे वह राष्ट्रके नामपर हो या सम्प्रदाय के नामपर—वह जबतक रहेगा, तबतक मनुष्य जातिका संहार करता रहेगा। जबतक मनुष्य मात्रको एक जाति मानकर प्रयत्न न किया जायगा,

तबतक ये सारे प्रयत्न निष्फल ही जाँयगे। कुटुम्ब और मनुष्यके बीचमें और किसीभी तरहका जातिभेद न होना चाहिये। तभी जगत्‌में शान्ति होगी। उस समय जापानको यह जरूरत न होगी कि वह चीनको हड़पनेकी कोशिश करे, अथवा अगर कोई एक जापानी उसे हड़पना चाहता है तो दूसरा उसमें मदद दे। यदि जापानके पास जगह कम और संख्या ज्यादः है तो जिनकी वहाँ गुजर नहीं होती वे चीनमें जाकर बस जाँयगे। वहाँ जाकर वे चीनकी वेषभूषा, भाषा, सभ्यताको अपनाकर उनमें मिल जायँगे और उधर जापान संतति-नियमनका आंदोलन करके अपनी संख्याको देशके अनुरूप बनानेकी कोशिश करेगा। इसमें अशान्तिकी क्या बात है?

व्यवहारमें देखा जाय और मानव-हृदयको टटोला जाय तो उसमें विजातियोंके प्रति द्वेषका जरा भी पता न लगेगा। मनुष्य मनुष्यको सब एक ही जाति के हैं, और उनमें मौलिक जातिभेद है ही नहीं, परन्तु मनुष्यतो अधिक से अधिक विजातियोंके साथ हिलमिलकर रहना चाहता है, रहता है। कुत्ते, बिल्ली, तोता, तीतर, बन्दर आदि पशु-पक्षियोंको पालकर मनुष्य जिस सहृदयताका परिचय देता है उसे देखते हुए यह समझना कठिन होजाता है कि मनुष्य मनुष्यको ही विजातीय समझकर उससे घृणा क्यों करता है? इसे जातिमदके मिथ्या और मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारके सिवाय और क्या कह सकते हैं?

यदि सब लोग दूसरेके धार्मिक सम्प्रदायोंसे घृणा करना छोड़ दें, मनुष्यमात्रको सजातीय मानलें और जाति-पाँतकी दुहाई देकर बेटी-व्यवहारका निषेध न करें; इसप्रकार साम्प्रदायिकताकी तथा राष्ट्रीयताकी दीवालें तोड़दी जाँय, तो व्यक्तिगत स्वार्थोंका तांडव होते हुए भी मनुष्यजाति आजकी अपेक्षा कहीं आगे बढ़ सकती है, और वर्तमान अशान्ति नामशेष हो सकती है।

यदि आज गरीबी हो तो मनुष्यको चाहिये कि उसे हटानेका वह मिलकर प्रयत्न करे। एक दूसरेको लूटकर गरीबीके हटानेका प्रयत्न करना तो ऐसा ही है जैसा कि जूआ खोलकर देशकी समृद्धिको बढ़ाना। यह लुटाई बन्द होना चाहिये, और कमसेकम एक देश दूसरेको लूटे, एक जाति दूसरी जातिको लूटे, यह तो कदापि न होना चाहिये।

पुराने युगके छोटे छोटे दल परस्पर लड़नेमें जिस मूर्खताका परिचय देते थे, उसके विषयमें आज हम कहा करते हैं कि वे अपना सर्वनाश करते थे, परन्तु आज हम वही सर्वनाश कुछ बड़े पाये पर कर रहे हैं। मनोवृत्ति तो तबके समान अबभी है। युद्धमें विजय पराजयके बराबर होती है, और पराजय मृत्युके बराबर। फिर आज एक जीतता है, कल दूसरा जीतता है। इस प्रकार इस परम्पराका अन्त नहीं आता। हमारी जो शक्ति प्राकृतिक कष्टोंको दूर करने और परस्पर सहानुभूति और सहायतामें खर्च होना चाहिये, वह इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, असहयोग और संहारमें खर्च हो, इससे बढ़कर मूर्खता और क्या हो सकती है? मनुष्य, सभ्यताभिमानी मनुष्य स्वर्गके बदले नर्ककी सृष्टि करके किस सभ्यताका परिचय दे रहा है!

वह कुत्तों और बिल्लियोंसे प्रेम कर सकता है, परन्तु मनुष्य से प्रेम नहीं कर सकता—यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है! उसका प्रेम मनुष्य-जातिके बन्धनको तोड़कर दूर सुदूर पशु, पक्षी, वनस्पतिपर जा सकता है, परन्तु मनुष्यपर नहीं जा सकता। वह राष्ट्रीयता, जातीयता, साम्प्रदायिकताके बन्धनको नहीं तोड़ सकता! यह कैसी विचित्र बात है!

साधारण मानवमें यह मनोवृत्ति नहीं देखी जाती। यदि मेरे घरपर कोई अंग्रेज, जर्मन, चीनी, जापानी आदि आजाय तो मुझे उससे घृणा न होगी, कुछ कुतूहल भले ही हो। इसीप्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे अच्छी तरह मिलता है। बल्कि अगर हम विद्वान हैं तो हम अपनी प्रकृतिके अनुकूल दूसरे किसी भी देशके विद्वानसे प्रेम कर सकते हैं, जबकि अपनेही देशके, जातिके, सम्प्रदायके जड़बुद्धि आचारहीन व्यक्तिका सम्पर्क हमें असह्य होता है। इससे मालूम होता है कि मनुष्य आकृति या रंगकी समानता नहीं चाहता; वह गुण और हृदयकी समानता चाहता है। इसीमें उसे सुविधा है, शान्ति है, आनन्द है। परन्तु क्या कोई ऐसी गुणादिकृत समानता बताई जा सकती है जो कि किसी जातिविशेष, सम्प्रदायविशेष या देशविशेष से ही सम्बन्ध रखती हो। अमेरिकामें बैठा हुआ एक दार्शनिक भारतीय दार्शनिकके अधिक निकट है। उनमें अधिक बन्धुत्व हो सकता है। वे अपने ही देशके विरुद्ध-स्वभाव पड़ौसीकी अपेक्षा अधिक निकट हो सकते हैं।

हम देखते हैं कि जो हमारे निकट के कहलाते हैं, वे हमारे साथ भयङ्करसे भयङ्कर विश्वासघात करते हैं और दूरके कहलाने वाले सहायता पहुँचाते हैं। तब हम ऐसे समूह क्यों बनावें जो कल्पित जाति, रङ्ग या राष्ट्रके नामपर बने हों? हमें प्रकृति-प्रदत्त कष्टोंके साथ लड़ना है, और पापके साथ लड़ना है। बस, हमारा संगठन उसीके लिये होना चाहिये। एक दूसरेके सामने खड़े होनेके लिये सङ्गठन करना अपने पैरोंपर आप कुल्हाड़ी मारना है।

कहा जा सकता है कि जो लोग पराधीन हैं, पिछड़े हुए हैं, वे छोटा छोटा संगठन करके आगे आवें तो क्या बुराई है? बात ठीक है। परन्तु वहीं तक जहाँतक वह आक्रमणका रूप धारण न करे। जो लोग इतने संकुचित हैं कि वे मनुष्यता तो क्या, राष्ट्रीयता तकको नहीं देख सकते, वे राष्ट्र को आदर्श बनावें तो ठीक है। क्योंकि उस समय तक उनकी राष्ट्रीयता आक्रमणका रूप धारण न करेगी, जबतक वे स्वाधीन या बराबरीके दर्जेपर न आ जाँयगे, परन्तु अन्तमें उनका ध्येय भी इससे कहीं आगे होना चाहिये, जिससे राष्ट्रीयता की कक्षापर पहुँचतेही वे मनुष्यताकी पूजा करने लगें। मतलब यह कि हमारी मनोवृत्ति विभाजक नहीं, संयोजक होना चाहिये। एक ऐसे देशको, जो भीतर ही भीतर लड़कर अपना सर्वनाश कर रहा है, उसे देशव्यापी एकताके लिये राष्ट्रीयता उपयोगी है, क्योंकि वह यहां संयोजक है। परन्तु जहाँ राष्ट्रीयता विभाजक बन रही है, वहां तो वह पाप है।

मनुष्योंके छोटे छोटे समूह बनें भी तो सिर्फ शासनकी सुविधाकी दृष्टिसे, नकि पारस्परिक असहयोगकी दृष्टिसे। वे छोटे छोटे समूह अपने समूहका मद न करें, दूसरोंको घृणाकी दृष्टिसे न देखें, उन्हें कुचलनेकी चेष्टा न करें और आवश्यकतानुसार एक दूसरेकी निस्वार्थ सेवा भी करें। इस प्रकार मनुष्यजाति एक ऐसा समूह बनजाय जिसमें एक भागकी पीड़ाका दूसरा भाग अनुभव करे।

अगर हममें से यह अनेक तरहका जातिमद निकल जाय तो संसारमेंसे यह युद्ध सदाके लिये विदा हो जायगा, गुलाम राष्ट्रोंका खटका न रहेगा और किसी देशको किसी आपत्तिका भय भी न रहेगा क्योंकि आपत्ति आनेपर सभी देश उसकी मदद करेंगे। आजजो प्रत्येकदेश दूसरे देशोंपर निर्यात (Export) के गोले फेंकता है, फिरभी

बेकारीके मारे तबाह होता है, तथा दूसरोंको भी तबाह करता है, यह सब कुछ न होगा। मनुष्य एक दूसरेको नीचा दिखानेकी भावनासे जो कुछ कर रहा है, वह उसे क्षणभर भी चैनसे नहीं बैठने देता। दुनियाँके इनेगिने स्वार्थियोंकी दाल गलती है और बाकी विपत्तियोंकी चक्कीमें पिसते जाते हैं। छोटी छोटीसी घटनाएँ उसे बुरी तरह नचाती हैं और बिना समझे बूझे वह भयङ्कर से भयङ्कर विपत्तिमें-सर्वनाशके मार्गमें-कूद पड़ता है। जबतक उसमें जातिमद रहेगा, तबतक उसकी यही दशा रहेगी और तबतक इस विश्वव्यापक अशान्तिका अन्त न होगा।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१-भारतके विरुद्ध प्रचार।

जो लोग छोटी छोटी उपजातियों और सम्प्रदायों के बन्धनसे मुक्त हैं, वे लोगभी राष्ट्रीयतके नामपर जैसा भयंकर जातिभेद मानते है, और उसके लिये जैसी क्षुद्रताका परिचय देते हैं, उसके नमूने आज कल पश्चिममें बहुत पाये जाते हैं। आज वहां काले और गोरोंका जातिभेद बड़े जोर का नाच कररहा है। गौर-वर्ण जातियाँ अगौर-वर्ण जातियोंसे भयंकर घृणा करती हैं, और अपने इस पापको जायज सिद्ध करने के लिये वे काली जातियोंका ऐसा चित्रण करती हैं कि मानों वे सचमुच घृणा करने योग्य हों। इसी काले-गोरेके भेद-भावके कारण भारतको बहुत बुरी तरह बदनाम किया जाता है। मिस मेयो सरीखे प्रयत्न होते ही रहते हैं। परन्तु अब इस विरुद्ध-प्रचार का एक नया तरीका निकाला गया है, और वह है फिल्मोंमें भारतीयोंका बहुत बुरी तरहसे चित्रण। इनमें भारतीयोंका ऐसा चित्रण किया जाता है कि जिससे देखनेवालोंपर ऐसा प्रभाव पड़े कि भारतीय बिलकुल असभ्य और जंगली हैं, उनमें नैतिकता नहीं होती, वे कायर होते हैं, आदि।

ये फिल्में भारतके बाहर खूब दिखलाई जाती हैं। वे यहाँ या तो भेजी ही नहीं जाती अथवा अगर भेजी जाती हैं तो उनके एजेंट वह भाग काटकर अलग कर देते हैं। असेम्बली में इस विषयमें चर्चा होचुकी है, इससे मालूम होता है कि भारत सरकार को इस विषयमें बहुत कुछ पता है। परन्तु इसको रोकनेके लिये इस विषयमें कोई प्रयत्न नहीं किया गया है।

कुछ दिन पहिले चीनके विरुद्धभी इसी प्रकारकी नीचताका परिचय कुछ विदेशी फिल्म-कम्पनियाँ दियाकरती थीं। और जब चीन में वे फिल्में पहुँचती थीं तो उनके चीनविरोधी अंश अलगकर दिये जाते थे। तब चीनसरकारने यह आज्ञा निकाली कि कोई भी फिल्म, फिल्म-एजेन्ट को मिलने के पहिले सेंसर के पास पहुँचे, जिससे चीन-विरोधी अंश छुपाया न जासके। दूसरी बात चीन-सरकार ने यह की कि जिन कम्पनियोंने चीनविरोधी फिल्म बनाये थे-फिर वे फिल्म चीनमें दिखायेगये हों या बाहर-उन कम्पनियों की सब फिल्मोंका बहिष्कार कर दिया; वे कम्पनियाँ चीनमें कोई भी फिल्म नहीं भेजसकीं, चाहे वह चीन-विरोधी हो या न हो। बहिष्कारका फल यह हुआ कि विदेशी फिल्मकम्पनियोंके होश ठिकाने आगये। भारतसरकार अगर विदेशी सरकारोंपर दबाव डालकर ऐसी फिल्में नहीं रुकवा सकती तो चीन सरीखी बहिष्कार-नीति से अवश्य ही वह यह विरुद्ध-प्रचार रोक सकती है।

मैं यह नहीं कहता कि भारतमें कोई दोष नहीं है, या वह आजकल थोड़ा बहुत पिछड़ा नहीं है। परन्तु

दोष किसमें नहीं है? सभ्य कहलानेवाले देशों में भी ऐसी असभ्यता है, जिसके नामसे मनुष्यता और सभ्यताका दिवाला निकलासा मालूम होता है। जैसे दूसरे देश कुछ बातोंमें पिछड़े हैं और कुछमें आगे हैं, उसी प्रकार भारत भी कुछ बातों में पीछे है और कुछमें आगे है। उसकी इस प्रकार बदनामी करना अन्याय है।

परन्तु मेरा यह विरोध भारतीयताके नाते नहीं है, किन्तु मनुष्यता के नाते है। कोई देश कैसा भी हो, परन्तु उसको जातिमदकी भावनासे बदनाम करके मनुष्य मनुष्यमे, दो राष्ट्रोंके बीचमें आवश्यक भ्रातृत्वका नाश करना एक बड़ासे बड़ा पाप है। अगर हमें कहीं त्रुटियाँ नजर आती हैं, और निःस्वार्थ भावसे हम उनका संशोधन करना चाहते हैं तो हमें अच्छे आदर्श उसके सामने रखना चाहिये। उसी राष्ट्रके पात्रोंको हमें अच्छे और बुरे रूपमें चित्रित करना चाहिये, जिससे बुराई व्यक्तियोंकी कहलाय, न कि राष्ट्रकी। अगर हम किसी भारतीयको देशप्रेम का पाठ पढ़ाना चाहें, नारीसम्मान सिखाना चाहें, तो इसका यह मार्ग नहीं है कि हम भारतीयोंको देशद्रोही और नारियोंका अपमान करनेवाला चित्रित करें। उसके लिये देशप्रेमी और देशद्रोही दोनों तरह के पात्र भारतीयही रखना चाहिये। मतलब यह कि जो कुछ किया जाय वह स्वजातिमद और पर-जाति निन्दाकी दृष्टिसे न किया जाय।

मनुष्यजाति इतिहासातीत कालसे किसीन किसी तरहके जातिभेदके नामपर कुत्तोंसे भी बुरी तरह लड़रही है और इस तरह उसने अपनी शक्ति बर्बाद करनेके साथ इतनी अशान्तिकी सृष्टिकी है। आजभी इतने वैज्ञानिक आविष्कारोंकी सुविधा होजानेपरभी हम नरकका जीवन बिता रहे हैं। जो लोग इस दिशा में प्रयत्न करके मनुष्यके नारकीपनको बढ़ाते हैं, वे मनुष्य जातिके बड़ेसे बड़े शत्रु हैं। उनको हर प्रकार से ठिकाने लानेकी आवश्यकता है।

२-एक दिगम्बर भाई।

कुछ दिन हुए एकभाईने सत्यसमाजको बदनाम करनेके लिये एक दूसरे भाईके नाम से एक लेख छपाया था। उसका खुलासा मैंने सन्देशमें किया था। अब उनने अपनेही नामसे उसका उत्तर दिया है, जिसमें मेरे ऊपर कुछ विचित्र तर्कसे आक्षेप किया है :

मैंने सत्यकी व्याख्यामें यह कहा था कि असत्य भी सत्य होता है, और सत्य भी असत्य आप अगर एक राजनैतिक व्यक्ति हैं और उसमें कुछ रहस्य छुपाना उचित है, परन्तु आपसे कोई किसीबात का भंडाफोड़ कराना चाहता है और उस रहस्यको आप छुपाते हैं तो मिथ्यावादी नहीं हैं आदि। मेरी इस बातको लेकर उक्त भाई कहते हैं कि इसीलिये आप झूठ लिखनेको भी सत्य समझते हैं, आदि।

यह आक्षेप ऐसा ही है कि जैसे कोई अमृतचंद्र सूरिसे कहे कि सूरिजी! आप कहते हैं कि हिंसा भी अहिंसा होती है और अहिंसा भी हिंसा, इसलिये आप हत्या कीजिये और कहिये कि यह अहिंसा है; कसाई वगैरहको भी अहिंसक कहिये!

अमृतचंद्रसूरिपर यह आक्षेप करना जैसा मिथ्या और दुष्टतापूर्ण है, वैसाही मेरे ऊपर कियागया वह आक्षेप है।

म० महावीरके व्यक्तित्वके विषयमें लिखते हुए आपने म० ईसा, म० मुहम्मद आदिकी काफी निंदा कर डाली है। सो भाई, आपका जैनधर्म म० ईसा, म० बुद्ध, म० मुहम्मद आदिको पापप्रचारक मानता

हो तो भले ही माने, परन्तु मेरा जैनधर्म नहीं मानता। आपके जैनधर्मकी दृष्टिमें म० मुहम्मद आदिका जो व्यक्तित्व है, वही तो मेरी दृष्टिमें नहीं है। मैं म० बुद्ध आदिको आपके समान पापी समझता और कहता कि म० महावीर भी उसी तरहके थे—तबतो आप कह सकते थे कि इसमें म० महावीरका अपमान हुआ। परन्तु जब मैं उनको एक असाधारण म० पुरुष, महान और निःस्वार्थ समाजसेवक और विश्वहितैषी समझता हूँ और फिर उसी श्रेणीमें म० महावीरको रखता हूँ तब म० महावीर मेरी दृष्टिमें साधारण पुरुष नहीं, किन्तु असाधारण महात्मा सिद्ध होते हैं। वर्तमानके जैनधर्मकी दृष्टिमें म० बुद्ध, म० ईसा म० कृष्ण आदिका जो स्थान है, वही स्थान मेरी दृष्टिमें म० महावीरका है—ऐसा कहकर आप समाज को धोखा देते हैं।

भाईने ब्रह्मचर्यसम्बन्धी लेखका कुछ भाग उद्धृत कियाहै, जिसमें मैंने यह बतलाया था कि लैङ्गिक सम्बन्ध के विषयमें जुदेजुदे देशों और जुदेजुदे समयोंमें लोगों की भावनाएँ जुदी जुदी रही हैं। यह सब सामग्री मैंने इसलिये उपस्थित की थी कि स्त्री—पुनर्विवाह के विषयमें लोगोंके जो अन्ध संस्कार हैं वे दूर होजायँ। कोई उसे झूठी पत्तल समझते हैं, कोई और किसी तरहसे भोग्य वस्तुके समान समझते हैं। सुधारकों की बातको सुनकर कोई कह बैठते हैं कि दुनियाँ में ऐसा कहाँ होता भी है ? इन अन्धश्रद्धालुओंकी आँखें खोलनेके लिये मुझे वह सब मसाला प्रकाशमें लानापड़ा। और वह भी सत्यसमाजकी कोई खास वस्तु नहीं है, किन्तु 'जैनधर्म और विधवाविवाह' शीर्षक लेखमालामें पाँच छः वर्ष पहिलेही मैंने वे सब बातें लिखी थीं। ब्रह्मचर्यके विषयमें वर्तमानके जैनशास्त्रों की अपेक्षा सत्यसमाजकी नीति कुछ अधिक पवित्र है। जैनशास्त्रोंमें तो वेश्यासेवीको भी अणुव्रती मान लिया है, और कहीं कहीं मूलगुणोंमें भी शील को स्थान नहीं है; बहुविवाह तो आमतौरपर जायज है। जबकि सत्यसमाजमें वेश्यासेवनमें अमुक प्रतिबन्ध है, शीलको मूलगुणोंमें ही शामिल किया गया है, बहुविवाह निन्दनीय है। ऐसी हालतमें जबतक दि० भाई सत्यसमाजको व्यभिचारपोषक बताता है तब ऐसा मालूम होता है कि कौआ कबूतर को काला कहकर घृणा कर रहा हो !

यहाँ मैं जैनशास्त्रोंकी निन्दा नहीं करना चाहता। जैनशास्त्रोंका भी मैं उग्र प्रशंसक हूँ। जैनशास्त्रोंमें जो ब्रह्मचर्य—विषयमें शिथिलता पाई जाती है, वह प्राचीन द्रव्यक्षेत्रकालभावकी दृष्टि से उचित है। अगर उस समय नियमोंमें इतनी शिथिलता न लाई गई होती तो ब्रह्मचर्याणुव्रतका प्रचार ही नहीं हो सकता। इस लिये पूर्वाचार्योंने जो किया अच्छा किया। परन्तु उन के मर्मको न समझकर, किन्तु उन्हींकी दुहाई देकर सत्यसमाजकी जो निन्दा करते हैं, उनका भोलापन दयनीय है।

मेरे कुछ प्रशंसक भी हैं; और यहभी मेरा एक अपराध है ! भविष्यमें मेरे व्यक्तित्वके विषयमें लोगोंका क्या विचार होगा, इस विषयमें अभीसे क्या कहा जा सकता है ? और मैं तो कुछ कह भी कैसे सकता हूँ ? और मेरे हाथमें इसका उपाय भी क्या है ? अगर लोग मेरी प्रशंसा करते हैं तो इसमें मेरा क्या दोष है ? आश्चर्य तो यह है कि मेरी प्रशंसा भी निन्दाका कारण समझी जाती है। ऐसे निंदकों के लिये सब जगह कारण हैं। समाजमें कुछ ऐसे लोग हैं जो कि मतभेद या ईर्षासे हर हालतमें मेरी निन्दा करना चाहते हैं। यदि लोग मेरी प्रशंसा करते हैं, तो ये कहते हैं कि—'बस तुम इसी प्रशंसाके

प्रेमीजी के अनुभव।

श्रद्धेय श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमीके प्रवासके अनुभव १– नवयुवकदल, २– स्त्री-समाज, ३– बदनाम जैनसमाज शीर्षकसे पहिले प्रकाशित होचुकेहैं।
—प्रकाशक

मरणोत्तर क्रिया–कांड।

इस तरफ, खास तौरसे देहातके जैनोंमें, मरणके उपरान्त जो क्रियाकर्म किये जाते हैं वे लगभग वैदिक रिवाजोंके अनुसार ही होते हैं। मरनेवाला जितना ही धनी मानी होता है, उसके उपलक्ष्यमें ये क्रियायें उतनेही ठाठसे की जाती हैं। प्रायः तीसरे दिन अस्थिशेष, जिसे कि यहाँ 'खारी' कहते हैं, उठानेके लिए कुछ लोग चिता पर जाते हैं और उसे बटोरकर आमतौरसे किसी पासके जलाशयमें छोड़ आते हैं; परन्तु जो लोग समर्थ होते हैं वे पवित्र गंगाजल में छोड़नेके लिए ले जाते हैं, और प्रयाग पहुँचकर पंडोंको दान–दक्षिणा भी यथाशक्ति देते हैं। शाम को घीका दीपक लेजाकर चिताभूमिपर जला आते हैं। यह प्रतिदिन तब तक जलाया जाता है, जब तक कि दिन–तेरहीं नहीं हो जाती है। स्मशान–भूमि के निर्जन अन्धकारमें मृतव्यक्तिके लिए प्रकाशकी व्यवस्था कर देना ही शायद इसका उद्देश्य है। 'खारी' उठ चुकनेपर जितने कुटुम्ब–परिवारके लोग होते हैं उन्हें भोजन कराया जाता है। इसके बाद तेरहवें दिन मृतश्राद्ध किया जाता है, जो सर्व परिचित है और जिसमें जातिके पचोंके सिवाय दूसरी जातिके उन व्यक्तियोंका भी खूब खर्चीला भोज दिया जाता है, जो दाह–क्रियामें 'लकड़ी' देने जाते हैं। यह तो इतना आवश्यक है कि गरीब से गरीब अनाथ विधवायें भी इस खर्चसे छुटकारा नहीं पा सकतीं—कर्ज काढ़कर भी उन्हें यह करना पड़ता है। इसके बाद छमसी (पाण्मासिकश्राद्ध) और बरसी (वार्षिकश्राद्ध) भी की जाती हैं; परन्तु ये सर्वसाधारणके लिए आवश्यक नहीं है, धनी मानी ही इन्हें करते हैं। फिरभी नामवरीके लोभसे दूसरोंके द्वारा पानी चढ़ाये जानेपर असमर्थ भी बहुधा कर डाला करते हैं। स्व० मेरे सालेकी मृत्यु पर, जो बहुतही गरीब थे, उनकी पत्नीने तीनों श्राद्ध करके अपना जन्म सार्थक किया है। इन तीनों श्राद्धोंसे तो मैं परिचित था, परन्तु अबकी बार यह भी पता लगा कि बहुतसे धनी तीन वर्षके बाद पितरोंमें भी मिलाये जाते हैं! अर्थात् तीसरी मृत्यु–तिथिको भोज हो जानेके बाद वे पितृजनोंकी पंक्तिमें शामिल कर लिये जाते हैं—वहाँ परलोकमें 'अपांक्तेय' नहीं रहते हैं। मालूम नहीं 'पितरों में मिलाने' का उक्त वास्तविक अर्थ हमारे

लिये मरे जा रहे हो।' यदि मेरी निन्दा करते हैं तो ये कहते हैं–'देखो, दुनियाँ तुम्हारे नामपर थूकती है, फिरभी तुम अपना राग अलापते जाते हो।' अगर लोग मेरे विषयमें मध्यस्थवृत्ति दिखलाते हैं तो ये कहते हैं–'देखो, तुम्हारी बात सुनता ही कौन है? यों ही बकझक लगा रक्खी है!' मतलब यह है कि एक ऐसा वर्ग है जो हर हालतमें मेरी निन्दा ही करना चाहता है। इस प्रकार वह 'चित्त मेरी, पुट्ट मेरी, अंटा मेरे बापका' की कहावत चरितार्थ कर रहा है।

इन निंदकोंसे मेरा यही कहना है कि भाई! सत्यसमाजमें अगर तुम्हें कुछ मिलता है तो ले लो, नहीं तो पड़ा रहने दो। अगर आलोचना ही करना है तो निःपक्षता से करो। यदि निंदा ही करना है तो खुशी से करो। सीताको लगाये हुए झूठे कलङ्क ने ही तो सीताको अमर बनाया है। कौन कह सकता है कि उसकी पुनरावृत्ति फिर न होगी?

जैनी भाई समझते हैं या नहीं; परन्तु वे अपने पुरखों को इस अधिकारपर आरूढ़ जरूर किया करते हैं, यद्यपि पिंड-दान नहीं करते।

इस तरफके जैनों में 'पितृ-पक्ष' भी पाला जाता है। कुँवार बदी के १५ दिनोंमें औरोंके समान ये भी अपने पुरखोंके नामपर पक्वान्न सेवन करने से नहीं चूकते। माता, पिता, पितामह, मातामह आदि की मृत्यु-तिथियोंके दिन जिन्हे 'तिथि' ही कहते हैं, स्त्रियाँ पहले उनके नामपर कुछ पक्वान्न कढ़ाईमें से निकालकर अलग रख देती हैं, जिसे 'अछूता' कहते हैं और तब दूसरोंको देती हैं। यह 'अछूता' पितृ-पिंडका ही पर्यायवाची जान पड़ता है।

इस तरह यह जैननामधारी समाज इस विषयमें वेदानुयायी ही है; फर्क केवल इतना ही है कि इसने पुरखों और अपने बीचके दलालों या आढ़तयों को धता बता दिया है, और अपनी वणिक-बुद्धिसे पुरखोंके साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ लिया है। मालूम नहीं, इस ब्राह्मणविरहित श्राद्धसे उन्हें तृप्ति होती है या नहीं।

हमारा यह सब आचार इस बातका प्रमाण है कि कोई भी समाज हो, वह अपने पड़ोसियोंके आचार-विचारोंसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता, और साधारण जनता तत्व और सिद्धान्तोंकी बारीकियों को उतना नहीं समझती जितना बाहरी आचार-विचारोंको। इसीलिए कहा गया है कि 'गतानुगतिको लोकः न लोकः पारमार्थिकः।'

इस विषय में एक बात और लिखनेसे रहगई। मैं एक देहात में था। वहाँ तड़बन्दी थी। कूटनीतिज्ञ मुखियोंकी कृपासे वहाँके एक ही कुटुम्बके दो घर दो तड़ोंमें विभक्त हो रहे थे। दैवयोगसे एक घर में एक व्यक्तिकी मृत्यु होगई और नियमानुसार उसे तेरहीं करनी पड़ी; परन्तु चूँकि दूसरी तड़वाला घर उस मृत्युभोजमें शामिल न हो सका, अतएव वह शुद्ध न हो सका—उसका सूतक (पातक ?) न उतरा और तब उसे लाचार होकर जुदा मृतक-भोज देना पड़ा! बहुत समझाने पर भी पंच-सरदार न माने। यह बात उनकी समझ में ही न आई कि एक कुल-गोत्रवाला वह दूसरा घर बिना श्राद्ध किये कैसे शुद्ध हो सकता है! सो कहीं कहीं एकके मरनेपर दो दो तीन तीन तक श्राद्ध करने पड़ते हैं। बहुतसे गाँवोंमें यह हाल है कि यदि कोई मृतश्राद्ध न करे, बिरादरीवालों, 'लकड़ी' देनेवालों और कमीनोंको भोजन न दे, तो उसे सार्वजनिक कुओं पर पानी नहीं भरने देते हैं, वह एक तरह से अस्पृश्य हो जाता है!

आमतौरसे यह भी रिवाज है कि जिसके यहाँ मृत्यु होजाती है, उस घरके लोग तेरही होजाने तक मन्दिर नहीं जाते हैं। मृत्युभोजके दिन भोजनोपरान्त घरके मुखियाको पंचजन पगड़ी बँधाकर जिनदर्शनको लिवा जाते हैं, और इसके बाद उसे मन्दिर जानेकी छुट्टी होजाती है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, अन्यत्रके जैनोंमें यह रिवाज नहीं है।

मेरी समझमें मृत्युभोजके विरुद्ध आन्दोलन करनेवाले जब तक जनसाधारणकी उक्त धारणाओंको नहीं बदल देते हैं, तब तक उनके सफल होने में सन्देह ही रहेगा। केवल फिजूल खर्ची और अनावश्यकताकी दलीलोंसे काम नहीं चल सकता; क्योंकि मनुष्यका हृदय एक ऐसी चीज है जो आवश्यक-अनावश्यक और मितव्यय-अपव्ययके विचार को बहुत कम पास आने देता है।

सत्याष्टकम् ।

(रचयिता—मुनिश्री अमरचन्द्रजी, महेन्द्रगढ़)

कीदृशं खलु संसारे, सत्यस्याचरणं महत् ?
लीलया नग्नपादाभ्यां, नग्नखड्गे प्रधावनम् ॥ १ ॥
सत्ये सन्निहिते सत्य, भ्रान्तयो यान्ति नाशताम् ।
लब्धोदये दिनाधीशे, तमस्तिष्ठति किं कदा ॥ २ ॥
कष्टमात्रं क्रियाकाण्डं, सर्वं वै सत्यमन्तरा ।
चेतनारहिते देहे, मण्डनं तु विडम्बनम् ॥ ३ ॥
साम्प्रदायिक दोषेण, दूषितज्ञान लोचनः ।
पुरःस्थमपि सत्याह्वं, भगवन्तं न पश्यति ॥ ४ ॥
सत्यमस्ति हि सर्वत्र, शोधयेद्यदि शोधकः ।
वैज्ञानिकजनैर्लब्धा, विद्युच्छक्तिर्जलादपि ॥ ५ ॥
सत्यं मुख्यस्वरूपेण, सदाऽखण्डं विराजते ।
लभते किन्तु गौणेन, काले काले विवर्तनम् ॥ ६ ॥
ये केऽपि महात्मानः सत्यमार्गप्ररूपकाः ।
सत्यभक्तैर्वन्दनीया, निन्दनीया न जातुचित् ॥ ७ ॥
सत्यभक्तिर्न त्यक्तव्या, प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
दुर्लभा सत्यसंप्राप्तिर्जीवनं तु पुनः पुनः ॥ ८ ॥

भावार्थ—सत्यका आचरण करना, नंगे पैरों से नंगी तलवार पर चलना है ॥ १ ॥ सत्यके पास आनेपर भ्रान्तियाँ नष्ट होजाती हैं। सूर्य के उदय होनेपर अन्धकार कैसे ठहर सकता है ॥ २ ॥ सत्य के बिना सारा क्रियाकाण्ड कष्टमात्र है। जैसे चेतना-रहित शरीरको आभूषण पहिनाना विडम्बना ही है ॥ ३ ॥ कट्टर साम्प्रदायिकताके कारण जिसके ज्ञाननेत्र दूषित होगये हैं, वह साम्हने खड़े हुए सत्य भगवान के दर्शन नहीं करता ॥ ४ ॥ यदि खोजने वाला खोजे तो सत्य सर्वत्र मिलेगा। वैज्ञानिकोंने तो पानी से भी बिजली निकाली है ॥ ५ ॥ सत्य, मुख्य रूपमें सदा अखण्ड है, परन्तु गौणरूपमें समयसमय पर बदलता है ॥ ६ ॥ जो कोई भी महात्मा सत्य मार्गके प्ररूपक हैं, वे सब सत्यभक्तको वन्दनीय हैं ॥ ७ ॥ मरते दमतक सत्यभक्ति न छोड़ना चाहिए। जीवन तो बार बार मिलता है, परन्तु सत्य का पाना दुर्लभ है ॥ ८ ॥

समाजसे दो बातें

(ले० श्री० सेठ ताराचन्द नवलचन्दजी जवेरी बम्बई)

पं० दरबारीलालजी जैनसमाजमें ही नहीं किंतु मनुष्य-समाजमें एक धार्मिक और सामाजिक क्रांति करना चाहते हैं। किन्तु पिछले दिनों जैनसमाजही विशेषरूपमें उनका कार्यक्षेत्र रहा है, इसलिये जैन-समाजमें ही उनके विषयमें बहुत अशान्ति मालूम होती है। एक दिन आपकी समाजसुधारकी बातों से, मुनिवियोंकी आलोचनाओंसे, समाजको क्षोभ हुआ था। परन्तु धीरे धीरे समाजने उन बातोंको पचाया और मुनियोंके विषयमें जो लिखा था वह सब सच सिद्ध हुआ और बादमें कट्टरसे कट्टर विरोधी भी पंडितजीके मार्गपर आगये।

परन्तु पंडितजीने जो धार्मिक क्रान्ति की है, उस से सुधारक कहलानेवाले भी घबरा उठे हैं। जिस समय आपने मोक्ष, सर्वज्ञत्व, दिगम्बरत्व, प्राचीनत्व, आदिके बारेमें अपने स्वतन्त्र किन्तु युक्तियुक्त विचार प्रकट किये, उस समय बैरिस्टर चम्पतरायजी सरीखे विद्वानों को भी डर हुआ कि इससे कहीं उनकी श्रद्धा न चली जाय। इसलिये उनको भी एक साधारण व्यक्ति की तरह जैनजगत को न बाँचनेका नियम लेना पड़ा। इसके बाद ब्र० शीतलप्रसादजीने पंडित-जी के विरोधमें समाजको जगाया। और विरोध करते समय युक्तियाँ आदि न मिलनेसे आपने

गणित और न्यायशास्त्रमें अपनी अनभिज्ञताकी दुहाई देकर बचाव किया। ब्रह्मचारीजी सरीखा घूमने वाला और जैन समाजका अनुभवी दूसरा व्यक्ति न होगा, इसलिये ब्रह्मचारीजी अच्छी तरह और जल्दी समझ गये कि पंडितजीके विचारोंका समाज के ऊपर क्रान्तिकारी प्रभाव पड़ रहा है। इसलिये इस प्रभावको रोकनेके लिये समाजको और विद्वानों को जगानेकी उनने पूरी कोशिश की।

पंडितजीने जो प्रश्न समाजके सामने रक्खे हैं, वे नये नहीं हैं। पहिले भी ऐसी शंकाएँ लोगोंको थीं। परन्तु उनको प्रगट करनेका, या उनको सिद्ध करने के लिये अन्त तक टिकसकनेवाली युक्तियाँ देनेका, और उनको निश्चित दिशामें लेजानेका, साहस और योग्यताका अभाव था। इसलिये वे समस्याएँ भीतर ही भीतर समाजको पोला कर रही थीं। शिक्षित युवक कुछ कह तो नहीं पाते थे, परन्तु अश्रद्धाके मारे वे परेशान अवश्य थे। ऐसे विचार-वानोंका हृदय पंडितजीके लेखोंने खींचा हो, यह स्वाभाविक है बल्कि जरूरी भी है।

यह अच्छी तरह समझ रखना चाहिये कि यह जमाना अन्धश्रद्धाका नहीं है। श्रद्धाकी दुहाई देकर हम अपने धर्मको टिकाना चाहें, तो यह हो तो सकता ही नहीं है, किन्तु इससे एक वैज्ञानिक धर्मका अपमान है। इस प्रकार तो हम अपनेको ही ठगते हैं।

बहुतसे लोग कहते हैं कि यह चर्चा किसी तरह बन्द हो जाय, क्योंकि इससे हँसी होती है, धर्मकी निंदा होती है, श्रद्धा अस्थिर होती है, इस विषयमें उपगूहन अङ्गका पालन करना चाहिये। ऐसा कहने वालोंकी बुद्धिपर हमें हँसी आती है। मुनियोंके विषयमें उपगूहन अङ्ग पालनेका मजा हम चख चुके हैं। विचारके विषयमें भी उपगूहन अङ्ग पालनेका यही दुष्फल होगा। हम अन्धश्रद्धाको लिये बैठे रहेंगे, पर दुनियाँ हमपर हँसेगी और हमारे विचारकोंको, युवकोंको, हमसे छीनकर लेजायगी।

यह कितने आश्चर्य, खेद और लज्जाकी बात है कि हम अपने धर्मको सत्य समझकरके ही मानते हैं, किन्तु जब उसकी कोई बात विचारणीय मालूम होती है या खंडित होती है तो उस बातको दबा देना चाहते हैं। इस प्रकार अपनेको धोखा क्यों देना चाहते हैं, यह बात समझमें नहीं आती। और फिर पं० दरबारीलालजी धर्मसे घृणा करना कहाँ सिखाते हैं? वे किसीको अपना धर्म छोड़देनेकी बात भी नहीं कहते, किन्तु वे तो सभीसे यह कहते हैं कि आपके धर्ममें जो कुछ असत्य और अकल्याणकारी विष आगया है उसे अलग करदो, उसे अभिमानकी चीज न समझो, विचारमें पक्षपात न करो, कोई विचार अपने बापदादोंसे चला आरहा है इसी लिये उसकी सब बातें सत्य न समझो, बुद्धिकी तराजू से तौलो, अगर न तौल सको तो उसके विषयमें सत्यताका घमंड मत रक्खो। इन बातोंको कौन बुरा कह सकता है? और यही तो सत्य-समाज है।

चर्चा खूब हुई है। लिखकर भी हुई है और बोलकर भी हुई है। आगे भी होगी, और होना चाहिये। परन्तु चर्चाको अखाड़ा बनाना ठीक नहीं। निःपक्षता और जिज्ञासाके साथ चर्चा करना चाहिये। अपने पक्षकी जीत करानेके लिये अगर चर्चा कराई और अपने मनकी बात न हुई तो दूर भागदिये, औंधा-सीधा करने लगे, तो इससे कुछ लाभ न होगा, बल्कि धर्मकी पूरी अप्रभावना होगी।

जब कुछ न बना तब कुछ लोग पं० दरबारी-लालजीके व्यक्तित्वके ऊपर आक्रमण कर रहे हैं। परन्तु समाज, पंडितजीको अच्छी तरहसे जानती

है। हमभी उनको पिछले नौ वर्षोंसे खूब पाससे देख रहे हैं। इसलिये यह बात हम अच्छी तरहसे कह सकते हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं और किया है, उसमें उनका कुछभी स्वार्थ नहीं है। वे इससे कुछ लेते नहीं, देते हैं; बल्कि अन्य अनेक ढङ्गसे उन्हें इसके लिये आर्थिक हानि सहना पड़ती है। वे पूर्ण सदाचारी, चर्चामें नम्र और हँसमुख तथा दिन रात घोर परिश्रम करने वाले और विघ्नबाधाओंसे न घबराने वाले हैं। विद्वत्ता और तार्किकता कैसी है, इसके कहने की तो अब जरूरत ही नहीं है। ऐसे व्यक्ति से अगर कोई पार पाना चाहे, तो सीधे रास्ते से ही पार पा सकता है।

सत्यसमाजके नामसे कुछ लोग समाजको भड़काते हैं। जिसने सत्यसमाजपर कुछ पढ़ा है उनको तो कहनेकी कुछ जरूरत नहीं है, परन्तु जिनने नहीं पढ़ा है उनसे हम कह देना चाहते हैं कि सत्य-समाज कोई भयङ्कर या अहितकर नहीं है। उसमें सुधार है; पर निन्दा नहीं है। सभी धर्मोंकी अच्छी अच्छी बातोंकी और उनके नेताओं की उसमें पूजा की जाती है, जिससे हमारे जीवनमें हमें सब तरह के उपयोगी तत्त्व मिल सकें, तथा सबसे प्रेम कर सकें; धर्मके नामपर जो हम अहङ्कारकी पूजा कर रहे हैं वह छूट जाय। आजतक हमने एक दूसरेको नीच, म्लेच्छ, असभ्य, नास्तिक, मिथ्यावादी, काफिर आदि कहकर अपना खूब सर्वनाश किया है, धर्मके नामपर देशकी दुर्दशा की है, धर्मस्थानोंको अपवित्र किया है, भाइयोंका खून बहाया है, माताओंका अपमान किया है! ऐसा कौनसा पाप है, जो हमने धर्म और जातिके नामपर, अहङ्कारकी पूजा करके, रूढ़ियोंकी गुलामी करके, नहीं किया है? इन सब पापोंको, पापके कारणोंको धो डालने के लिये सत्य-समाज है। निंदा करनेकी अपेक्षा इससे कुछ लाभ उठाना चाहिये, और इसके सदस्य बनकर इस पवित्र और कल्याणकारी कामको आगे बढ़ाना चाहिये।

साहित्य परिचय

उत्तराध्ययनसूत्र—अनुवादक लघुशतावधानी मुनि सौभाग्यचन्दजी। प्रकाशक बुधाभाई महासुखभाई शाह, महावीरसाहित्यप्रकाशन मंदिर साबरमती (गुजरात) मूल्य ।=)

उत्तराध्ययनका यह गुजराती अनुवाद है। अनुवादकने बीच बीचमें जो टिप्पणियें लगादी हैं, उससे अनुवादका मूल्य और बढ़गया है। प्रस्तावना और अनुक्रमणिका भी है। सस्तेपनका तो क्या पूछना? चारसौ पृष्ठकी पुस्तकका मूल्य ।=) बहुत ही सस्ता है। इस प्रकाशन-मंदिरसे सस्तेमें जैन साहित्य का अच्छा प्रचार होरहा है, और उपयोगी साहित्य निकल रहा है।

दशवैकालिक—अनुवादक, प्रकाशक उपर्युक्त। मूल्य ।) यह गुजराती अनुवाद भी ऊपर के अनुवादकी तरह उत्तम, उपयोगी और सस्ता है।

मँगनी के मियाँ—लेखक रामचन्द्रजी वर्मा। प्रकाशक हिन्दीग्रंथरत्नाकर कार्यालय बम्बई। मूल्य ।।।) यह लेरी ई० जॉन्सनकृत Her step-husband का स्वतंत्र अनुवाद है। हास्यरसकी यह बड़ी गम्भीर पुस्तक है। इसका कोई वाक्य हास्यजनक

नहीं है, परन्तु दस पाँच पृष्ठ पढ़नेके बादजो हास्यरस का परिपाक होता है वह अन्त तक चला जाता है। इस हास्यमें न तो बीभत्सता है, न यह 'दन्तनिपोर' है। इसका कथानक ही ऐसा है कि पाठक अन्ततक हँसता रहता है और अंतमे कुछ शिक्षाभी पाता है। अनुवाद इतना सुन्दर और स्वतन्त्र है कि निवेदन में दी हुई सूचना के बिना पता ही नहीं लगता कि यह अनुवाद है। घटना पश्चिमकी है, परन्तु पात्रों और स्थानोंके नाम तथा वर्णन हर तरह भारतीय बना दिये गये हैं। पुस्तक पठनीय है।

एकरात— लेखक जैनेन्द्रकुमारजी। प्रकाशक उपर्युक्त। मूल्य १।) लेखककी १६ कहानियोंका यह संग्रह है। बहुतसी कहानियाँ पत्रोंमे भी प्रकाशित होचुकी हैं। लेखककी लेखनशैली सुन्दर है, इसमें तो कहना ही क्या है? परन्तु कुछ कहानियोंको छोड़कर यह लेखनशैली ही कहानियोंकी सबसे बड़ी पूँजी मालूम होती है। और उसमें भी दुरूहता आ-गई है। कहानियों के उद्देशके विषयमें लेखकका मत भिन्न है। वे कहानीका अर्थहीन होना भी पसन्द करते हैं। इसलिये प्रस्तावनामें उनने कहा है—"रस लेकर वे मुझसे अधिक माँगनेही क्यों हैं? समझ लें कि मेरे पास अर्थ बाँटनेके लिये है ही नहीं।" परन्तु अर्थरहित रस प्राणरहित शरीर है। मोटरकार की गुदगुदी गादीपर बैठनेमें ही उसके कर्त्तव्यकी इति-श्री नहीं होजाती। कहीं पहुँचाना उसका मुख्य काम है। खैर, इस विषयमें अगर कोई सुधार करना उन्हें पसन्द नहीं है तो उनकी इच्छा। हाँ, बहुतसी कहानियाँ सार्थ भी हैं और कुछ तो सर्वाङ्गसुन्दर हैं।

प्राकृतसुभाषित संग्रह—संग्राहक बी० ऐम० शाह ऐम० ए० प्रोफेसर ऐम० टी० बी० कॉ-लेज सूरत। मूल्य १॥)

प्राकृत साहित्यके पाँचसौ सुभाषितोंका यह छोटासा सुन्दर संग्रह है। सुभाषितोंको अकारादि-क्रमसे अनुक्रमणिका भी है। बादमें अंग्रेजी अनुवाद भी है। Introduction में प्राकृतभाषाकी उत्पत्तिके विषयमें भी संक्षिप्त विवेचन है। यह पुस्तक मुंबई यूनिवर्सिटी के F. Y. के कोर्समें रखने के लिये सर्वथा योग्य है। हाँ, महिलाओंके विषय में जिन सुभाषितोंका संग्रह है, उन्हें अगर सुभाषित कहा जाय तो दुर्भाषित किसे कहेंगे? इस युगमें महिलाओंकी निन्दाका ऐसा संग्रह करना अक्षन्तव्य है। महिलाओंकी प्रशंसाके पद्यभी ढूँढ़े जा सकते थे; और नहीं मिलतेथे तो इस विषयमें चुप्पी साधी जासकती थी। यह पुस्तक कोर्समें रक्खी जाय तो यह प्रकरण अलग रखना चाहिये। आशा है दूसरे संस्करणमें यह भाग अलग करदिया जायगा।

Ardhamagadhi Grammar—लेखक उपर्युक्त। मूल्य १) प्राकृत भाषाका यह अंग्रेजीमें छोटासा व्याकरण है। प्राकृत पढ़नेका प्रारम्भ करने के लिये यह बहुत उपयोगी है। ऐसे अन्य व्याक-रणोंकी अपेक्षा कुछ सरल भी है। पुराने व्याकरणोंकी अपेक्षा विषयक्रममें जो परिवर्तन किया गया है, वहभी उचित हुआ है। F. Y. के विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है।

उपर्युक्त दोनों पुस्तकोंकी क़ीमत क्रमसे १) और ॥=) से अधिक न होना चाहिये।

जैनदर्शन— लेखक मुनिश्री न्यायविजयजी न्यायतीर्थ। प्रकाशक जैनसाहित्यमंदिर नं ६४१ मीठगंज पूना २। मूल्य ॥=) गुजराती में जैनदर्शनका संक्षिप्त परिचय है। प्रारम्भिक जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी है।

जैनबन्धु—सम्पादक पं० चैनसुखदासजी

विरोधी मित्रोंसे

(३१)
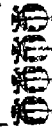
दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोगके स्वरूपके विषय में जैनाचार्योंमें बहुत मतभेद है, इस बात को मैंने विस्तार से समझाया था और इस विषयमें एक ऐसा मत रक्खा था जो कि अधिक युक्तियुक्त और सुसङ्गत था। आक्षेपकने मेरे लक्षणका विरोध किया है; जैनाचार्योंमें जो मतभेद पाया जाता है उसका समन्वय नहीं किया है। मेरा कहना यह है कि आत्मग्रहण दर्शन और परग्रहण ज्ञान है। आपने मेरे इस वक्तव्यमें निम्नलिखित दोष बतलाये हैं—

आक्षेप (११०) (क)—एक जगह आपने आत्मग्रहण दर्शन कहा है, दूसरी जगह आत्माद्वारा ग्रहण लिखा है। यह क्या परस्पर विरोध नहीं है ? (ख) इन्द्रियोंपर पड़ने वाला प्रभाव क्या वस्तु है ? वह सम्बन्धादि रूप हो नहीं सकता, क्योंकि इससे तो वह परवस्तु हो जायगा, तब ज्ञान बन जायगा। (ग) स्पर्शनादि अन्य इन्द्रियोंमें तो इस प्रकारके प्रभावकी और भी मिट्टी पलीत हो जायगी। (घ) मनमें तो प्रभावकी बात असम्भव ही समझिये। (ङ) प्रभावको इन्द्रियोंकी सहायता से जानो तो वह परज्ञान कहलाया; अगर विना सहायता के जानो तो भी पर तो है ही। (च) इसप्रकार प्रभावका अस्तित्व ही अनिश्चित है। (छ) आत्मग्रहणमें आत्माका अर्थ आत्म-द्रव्य नहीं किन्तु चेतना है। (ज) स्वग्रहणमें स्व शब्दका उपयोग दर्शनके लिये हुआ है। (झ) दर्शनके द्वारा आत्माका जैसा ग्रहण होता है, वैसा ही आत्मा है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। (ञ) घटादिको जानते समय आत्मग्रहण नहीं होता तब ज्ञान स्वपर-व्यवसायात्मक कैसे कहलायगा ? (ट) चेतनागुण जिस समय केवल अपना प्रकाश करता है यह अवस्था दर्शन है, इसीलिये ब्रह्मदेवने कहा है कि जिस समय हमारा उपयोग एक विषयसे हट जाता है किन्तु दूसरे पर लगता नहीं है, उस समय जो चेतना—गुणकी अवस्था होती है उसका नाम दर्शन है।

समाधान (क)–मेरे लेखमें आत्मग्रहण तो है, परन्तु आत्माद्वारा ग्रहण नहीं है। नहीं मालूम आक्षेपकने यह कैसे लिख डाला है ? अगर होता भी तो भी इसमें विरोध नहीं था, क्योंकि उसका मतलब इतना ही था कि आत्मा अपनेको अपने द्वारा जानता है अर्थात् अपने को जाननेमें उसे इन्द्रियों को कारण बनानेकी जरूरत नहीं होती। इसमें विरोधकी क्या बात है ?

(ख-ग-घ-च)— इन्द्रियोंपरपड़ने वाला प्रभाव इन्द्रियकी एक अवस्था—विशेष है। जैसे-शब्दका प्रभाव कानपर पड़ता है तो कानके पर्देमें कम्पन होता है। इस कम्पनको हम प्रभाव कहते हैं। इसीप्रकार हरएक इन्द्रियपर विषयका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है। अगर इन्द्रियपर कुछ प्रभाव न पड़े तो वह विषयको ग्रहण करते समय और विषयको ग्रहण न करते समय एक सरीखी

न्यायतीर्थ। प्रकाशक तनसुखलालजी पाँड्या १३ दरमाहट्टा स्ट्रीट कलकत्ता। वार्षिक मूल्य २)

यह एक पाक्षिकपत्र है। सम्पादक सुयोग्य हैं। छपाई सफाई भी सुन्दर है। अभी दो अंक निकले हैं। नीति मध्यस्थ मालूम होती है। आशा है यह निःपक्ष और विचारपूर्ण दृष्टिसे समाजकी सेवा करेगा।

होगी। इसलिये उसके द्वारा या तो सदा ग्रहण होगा या कभी ग्रहण न होगा। शब्दको ग्रहण न करते समय कान जैसा था, वैसा ही शब्दको ग्रहण करते समय रहे तब कान की जरूरत ही क्या रहेगी? अथवा शब्दके बिना भी कान शब्दको सुनने लगेगा, जो कि असम्भव है। इसप्रकार हरएक इन्द्रिय पर विषयका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता है, तभी इन्द्रियों के द्वारा वस्तुका ग्रहण होता है। यही बात मनकी है। आक्षेपकका प्रभावके अस्तित्वको अनिश्चित कहना अति साहस है। इससे तो इन्द्रियाँ व्यर्थ हो जायगी और उनका अस्तित्व ही अनिश्चित हो जायगा।

(ङ)-यह कहना ठीक नहीं कि उस प्रभाव का संवेदन परका संवेदन होनेसे ज्ञान होजायगा। प्रभाव इन्द्रियकी अवस्था-विशेष है और इन्द्रिय तथा आत्मामें वन्ध होनेसे इन्द्रिय प्रभाव का संवेदन भी आत्म-संवेदन है। मैंने जो 'पर' शब्दका प्रयोग किया है, वह आत्मासे भिन्न किसीभी वस्तु के लिये नहीं, किन्तु उस ज्ञानका विषय कहलाने वाले घटपटादि किसी भिन्न पदार्थके लिये कहा है। मेरे इन शब्दोंपर आक्षेपकको ध्यान देना चाहिये था कि "चक्षु अपने शरीरका एक अवयव है जिसके साथ कि आत्मा बँधा हुआ है, इसलिये आत्मा चक्षुके ऊपर पड़े हुए प्रभावोंका अनुभव करता है, यही दर्शन है।...... इस दर्शनके बाद हमें जो परपदार्थों की कल्पना होती है, उसे ज्ञान कहते हैं।" इससे साफ़ मालूम होता है कि पर शब्द के अर्थमें इन्द्रियोंका समावेश यहाँ नहीं है किन्तु उनके विषय रूपमें प्रसिद्ध घटपटादि हैं।

(छ-ज-ट)-स्वग्रहणका अर्थ चेतनाग्रहण लिया जाय और उसे दर्शन कहा जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि दर्शनको ग्रहण करने वाला दर्शन है। क्योंकि दर्शनोपयोगके समयमें ज्ञान चेतना तो है ही नहीं जिससे दर्शन, ज्ञानको ग्रहण कर सके। इसलिये दर्शनको ग्रहण करनेवाला दर्शन कहलाया। आक्षेपकने इसे स्वीकार भी किया है, जैसाकि आक्षेप (ज) से मालूम होता है। आक्षेपकी इस परिभाषा में निम्नलिखित दो महान् दोष हैं:-

पहिला तो यह कि दर्शनका लक्षण नहीं बन सकेगा; क्योंकि जब हमसे कोई पूछेगा कि दर्शन किसे कहते हैं और उसका उत्तर दिया जायगा कि जो दर्शन को जाने, तो दर्शनको समझनेके लिये ही तो परिभाषा पूँछी थी परन्तु जब परिभाषा के भीतर ही फिर दर्शन शब्द आगया तो हम अब परिभाषा के भीतर आये हुए दर्शन शब्दको कैसे समझें? उसके लिये दूसरी परिभाषा बनायें तो उसमें भी दर्शन शब्द आयगा, इस प्रकार अनवस्था दोष आजायगा।

दूसरा दोष यह है कि दर्शनको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण न रह जायगा, क्योंकि दर्शन के सिवाय वह दूसरे पदार्थका प्रतिभास तो करता नहीं है जिससे किसीको साधन बनाकर उसका अस्तित्व अनुमानसे सिद्ध कर दिया जाय; और दर्शनके समयमें प्रत्यक्ष ज्ञानतो है ही नहीं जो उसे जान सके।

हाँ, इस दोषके परिहारके लिये एक ही बात कही जा सकती है, जो कि आक्षेपकने आगे चल कर कही भी है, कि एक उपयोगसे हटकर दूसरा उपयोग होने के पहिले चेतना गुणकी जो अवस्था-विशेष है उसीका नाम दर्शन है। आक्षेपकके इस

वक्तव्यका उद्धरण मैंने ऊपर (ट) में किया है। ऐसा कहने पर भी पहिला दोष तो रहता ही है। हाँ, दूसरा दोष किसी तरह जाता है परन्तु अपने से कईगुणा जबर्दस्त अनेक दोषोंको रख जाता है।

पहिला दोष तो यह है कि जैनशास्त्रोंमें दर्शन की उत्पत्ति विषयविषयि सन्निपातके होनेपर बताई जाती है। (विषयविषयि सन्निपाते दर्शनं भवति तदनंतरमर्थस्य ग्रहणमवग्रहः–तत्त्वार्थ राज–वार्तिक १–१५–१) उपयोगहीन अवस्थाके लिए विषयविषयि सन्निपातकी क्या आवश्यकता है ?

दूसरा दोष यह है कि उपयोगहीन अवस्थामें दर्शनका भेद कैसे होगा ? चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शनमेंसे कौनसा दर्शन उस समय माना जायगा। इस भेदका कारण क्या होगा ? एक ही समयमें दो दो तीन तीन दर्शन मानना पड़ेंगे, परन्तु एक समयमें दो उपयोग हो नहीं सकते।

इसीप्रकार अपर्याप्त अवस्थामें चक्षु अचक्षु न होने पर भी चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शनका सद्भाव मानना पड़ेगा, लब्धिउपयोग अवस्थाका भेद न मालूम होगा, आदि दोष भी हैं। इसप्रकार आक्षेपकने मेरी दर्शन—परिभाषाका खण्डन करनेके लिये जैन शास्त्रोंका विरोध करनेके साथ बिलकुल विचार-शून्य बातें लिखमारी हैं।

(झ)—दर्शनके द्वारा आत्मग्रहण होनेका यह मतलब नहीं है कि वह आत्माकी लम्बाई चौड़ाई नित्यत्व अनित्यत्व आदिको जाने। अंग्रेजीमें जिसे हम Self (स्व) कहते हैं उसीको यहाँ आत्मा शब्दसे कहा जाता है। इसप्रकारके आत्म-शब्दका व्यवहार आत्मद्रव्यको न मानने वाले नास्तिक भी मानते हैं। दूसरे इस तरह तो किसीको स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी न हो सकेगा क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्षमें आत्माका जैसा ग्रहण होता है वैसा आत्मा है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इसप्रकार स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अस्तित्व ही उड़ जायगा। खैर, आत्मग्रहणका मतलब मैं ऊपर कह आया हूँ कि आत्मद्रव्यको जाने या करण–इन्द्रिय या करणरूप इन्द्रियपर पड़े हुए प्रभावको जाने, वह सब आत्म-ग्रहण है।

(ञ) मैंने ज्ञानको स्वपरव्यवसायात्मक नहीं कहा किन्तु दर्शनको स्वग्राहक और ज्ञानको परग्राहक कहा है। खैर, यहाँ असली बात तो यह है–स्वपर-व्यवसायमें जो 'स्व' शब्द है और स्वग्राहकदर्शन में जो 'स्व' शब्द है इन दोनोंमें क्या भेद है, इस बात पर ध्यान न देनेसे आक्षेपकसे अनेक भूलें हुई हैं। ज्ञानका जो स्वव्यवसाय है, वह सिर्फ उसी करण ज्ञानको बतलाने वाला है। इसलिये जिस समय परव्यवसाय है उसीसमय स्वव्यवसाय भी है। इसप्रकार स्वपरव्यवसायका एक ही समय है; जबकि दर्शन ज्ञानके [illegible]की एक जुदी ही अवस्था है। उन दोनोंमें विषयभेद है। दर्शनका विषय और ज्ञानका वि[illegible] जुदा है। आक्षेपक को यह भ्रम होगया है कि "दर्शनके विषयको ज्ञान भी ग्रहण कर लेता है अर्थात् ज्ञानके विषयका एक [illegible] ग्रहण करने वाला दर्शन है।" जबकि वास्तविक बात यह है कि दर्शन और ज्ञान ये जुदे जुदे उपयोग हैं, उनका विषय भी भिन्न है। उनमें अंश-अंशीभाव नहीं है। यदि ऐसा होता तो दो स्व[illegible], कर्मोंकी और उपयोगोंकी मान्यता जैनशास्त्रोंमें न होती। इस प्रकार आक्षेपकने जो दर्शनकी परिभाषा की है वह परस्परविरुद्ध है, युक्तिविरुद्ध है, जैन दर्शनकी मान्यता से विरुद्ध है। एकतो जैनशास्त्रों में इस विषयमें यों भी बहुत गड़बड़ी है, फिर आक्षेपकने उसे और भी बढ़ा दिया है।

खुलासा ।

श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचन्दजीने जो१००००)छात्रवृत्ति के लिये दान दियाहै, वह रकम अलगसे नहीं दी है; परन्तु उसके विषयमें बात यहहै कि भेलसा-परिषद के समय उनकी पूज्यमाता व सहगामिनीने महिला-श्रम खोलनेकेलिये जो १००००) की रकम प्रदान की थी, उसीको छात्रवृत्ति फंडमें परिणत करदिया है। श्रीयुत धन्नालालजी वकील झाँसीके लेखसे यदि किसी भाईको कुछ भ्रम होगया हो तो उसका निवारण होजाय, इसलिये यह लिखा गया है। यह सब निश्चय मेरे सामने हरदामें ही हुआ था, इसलिये मैं प्रामाणिक रीतिसे यह सब कह सकता हूँ। मैंने एक छात्र-वृत्ति फंड क़ायम किया है। उसकी रजिस्ट्री एक या दो हफ्तेमें होने वाली है। १००००) श्रीमंत लक्ष्मीचंद्र-जी का है, ४० एकड़ जमीन अमरावतीकी है और १५००) के करीब औरभी इकट्ठा होगया है। सबसे विनय है कि जो कुछभी देना चाहें वह मेरे पतेसे सूचित करें।

हर एक मंदिर व धर्मादाखातेमें ऐसी कई रकमें पड़ी हैं जो इस फण्डमें शामिल की जा सकती हैं। इस फण्डमें एक विशेषता है कि बहुतसे फंडों का एकीकरण व समीकरण हो सकता है। कार्य-संचालन स्थानीयफंड देनेवालोंकी इच्छानुसार कार्यकारिणी समिति करेगी। एक मिसाल देता हूँ। श्रीमंत लक्ष्मीचन्द्रजीने १००००) का दान दिया है व सेठ केशरीमलजी अमरावतीवालोंने ४० एकड़ जमीन ८०००) की क़ीमतकी दी है। इसी तरह यदि अमुक सज्जन २०००) से ऊपर कोई रक़म देवें तो हरएक फण्ड का स्थानीय अमुक विशेष नाम रख दिया जा सकेगा। और हर एक ऐसे ब्रांचफण्डको यह अख्तियार रहेगा कि वह विद्यार्थी—विशेषकी मदद कर सकता है। इस फण्डमें एक सहूलियत और है कि हरसाल मेम्बर बढ़ाये या घटाये जा सकते हैं, रक़म अपने अपने गाँव में ही अपनी दृष्टि के सामने रख सकते हैं, व खर्च कर सकते हैं, व नाम भी क़ायम रह सकता है। कोई सन्तान हीन सज्जन या विधवा मृत्युदान करती हो तो हर एक सज्जन का कर्तव्य है कि वह प्रेरणा व उत्साह दिला-कर व कोशिश करके इस फण्डको रुपया दिलावें। मन्दिरोंसे छात्रवृत्तियाँ दी जाने की व्यवस्था होनी चाहिये। मेरा यह कहना नहीं है कि आप इसी फंड में दें। दें तो अच्छा है, पर न भी देवें तो अपने स्थानीय विद्यार्थियोंको छात्रवृत्ति देकर पढ़ाना चा-हिये। लोग कहेंगे कि पढ़े लिखोंकी बेकारीतो बहुत बढ़ रही है; पर हरएक समाजकी स्थिति भिन्न होती है। अपने समाजमें पढ़े लिखों की कमी अवभी है। और वगैर पढ़े लिखे बेकार मज़दूर या दुकानदार से पढ़ा लिखा बेकार कहीं अच्छा होगा। हाँ, एक बात और है। जैनियोंकी बहुतसी मिलें (कपड़े वगैरहके कारखाने) हैं। इन मिलमालिकोंसे व विशेपकर सर सेठ हुकमचन्दजी, भाई साहब राय बहादुर हीरालालजी, श्रीमान् विनोदीरामजी बाल-चन्दजी, श्रीमान गेंदालालजी सूरजमलजी व अहम-दाबाद व बम्बईकी मिलोंके मालिकोंसे विशेष अनुरोध है कि जैनियोंको सिखानेकी व उनको नौकरीमें रखनेकी सुविधा विशेष देना चाहिये, जैसाकि रायबहादुर सेठ टीकमचन्दजी भागचन्दजी सोनी ने किया है इनका उदाहरण अनुकरणीय है।

माननीय बाबू अजितप्रसादजीने मेरे नाम एक खुली चिट्ठीसी लिखी है। मैंने उसको बहुत अच्छी तरह से पढ़ी है, और मनन किया है। उनकी दीललों

में मुझे अब भी कुछ तथ्य नहीं दीख पड़ता है। मुमकिन है कि मेरी ग़लती हो। पाठकगण खुद पढ़कर निर्णय करलें कि कालेजकी पहिले आवश्यकता है या छात्रवृति फंडकी? कालेज न होनेसे कौनसी बात अड़ी है? क्या बाबू अजितप्रसादजी ऐसे किसी भी जैन विद्यार्थीका नाम बता सकेंगे जिसे कॉलेज में भर्ती न किया गया हो, सिर्फ इसलिये कि वह जैन था? और अगर वह नालायक होनेकी वजहसे भर्ती नहीं किया गया है तो कुछ बात ही नहीं है। दो चार दस ऐसे विद्यार्थियोंके भर्ती न होने के कारण लाखों रुपया उस वक्त खर्च करना, जबकि उससे आधे पैसोंसे चौगुना अच्छा काम होता है, मैं ठीक नहीं समझता हूं। फिर जैनकॉलेजके प्रोफेसर जैनी रहेंगे या अजैन? अगर अजैन रहेंगे तो आपकी क्या महत्ता और कौनसा विशेष फायदा? और जैन ऐसे लब्धप्रतिष्ठित प्रोफेसर तो मुझे नजरमें नहीं आते हैं जो अपनी बड़ी बड़ी नौकरी छोड़कर आने को तैयार हो जावें। प्रो० डा० लक्ष्मीचन्द, प्रोफेसर डा० निहालकरन सेठी, प्रोफेसर डा० छीतरमल सोगाणी, प्रोफेसर हीरालालजी, प्रो० घासीरामजी, प्रोफेसर डा० कोठारी; प्रो० डा० बेनीप्रसादजी इन्हींके नाम अँगुलियोंपर गिन सकते हैं। इनमें से बतावें कौन आनेको तैयार हैं? और आवें क्या? निश्चितको छोड़कर अनिश्चितको पकड़ना बुद्धिमानी भी तो नहीं है। फिर जैन कॉलेज स्थायी रहेगा, इसकी क्या गारंटी है? क्या बाबू अजितप्रसादजी मुझे बतावेंगे कि देहलीमें वे कितने जैन विद्यार्थियोंकी आशा करते हैं? क्या उनमें ऐसे विद्यार्थी ज्यादातर नहीं रहेंगे जो ग़रीब होंगे और जिन्हें छात्रवृत्ति देकर रखना पड़ेगा? इसलिये पहिले छात्रवृत्तिकी मजबूती कर लीजिये। प्रोफेसरों का निर्णय कर लीजिये और स्थायी-फण्ड क़ायम कर लीजिये, तब फिर कॉलेज क़ायम कीजिये। मुझे तो बड़ा अभिमान होगा और हर्ष होगा, यदि न सिर्फ जैन कॉलेज होवे पर जैन युनिवरसिटी होवे। पर मैं यह नहीं चाहता हूँ कि जल्दीमें सोडावाटर रूपी उत्साहका उफान आये और फिर बन्द करना पड़े। मेरा एक क्रियात्मक निवेदन Practical Suggestion है कि जैन-कालेज स्थापित होने से ही यदि जैन जाति व जैनधर्मकी उन्नति होती हो और इसका पूर्ण विश्वास होगया हो तो फिलहाल इन्दौर के जैनहाईस्कूलको पहिले इन्टरमीडियेट कॉलेज किया जावे। इन्दौरमें जैन बोर्डिङ्ग होनेसे व भारी स्थायी फण्ड होनेसे व जैनधर्मकुबेर होनेसे यह सुसाध्य है। और एक विस्तृत छात्रवृत्तिफण्ड क़ायम करके कुछ सुयोग्य नवयुवकोंको प्रोफेसरीके लिये तैयार किया जावे; उन्हें विलायत भेजकर या भारत में ही उच्चसे उच्च शिक्षा व अन्वेषणका कार्य सिखाया जावे और उनसे शर्त कराली जावे कि उन्हें जैन कॉलेजमें कम तनख्वाहपर काम करना पड़ेगा। इसके दरमियान फंडका काम जारी रहे। काफी फण्ड होने पर व काफी मसाला होने पर जैन कॉलेज खोला जावे। अगर कोई भूखा मर रहा हो और उसे एक पैसा मिलजावे तो उसकी मिठाई खरीदकर खाने की अपेक्षा फुटान खा लेना मैं ज्यादा श्रेयस्कर समझता हूं।

—जमनाप्रसाद जैन
बार-ऐट-लॉ हरदा।

सेवा-आश्रम !

समाज-सेवाके लिये लगनवाले, सच्चे, त्यागी तथा तपस्वी सेवक एवं कार्यकर्ता तय्यार करनेके

लिये नवम्बर मासमें सरसावा, जिला सहारनपुरमें 'सेवा-आश्रम' नामसे एक संस्थाकी स्थापना की जा-रही है। संस्थाका शिक्षा-क्रम दो वर्षका होगा और शिक्षाके बाद शिक्षार्थीको कम से कम पांच वर्षसमाज सेवाके लिये देने होंगे। शिक्षा-काल और सेवा-कालका कुछभी बोझा विद्यार्थी या कार्यकर्ता पर नहीं पड़ेगा। नियमित संख्यामे ही विद्यार्थी लिये जावेंगे

दो वर्षके शिक्षा-कालमें निम्नलिखित विषयोंकी शिक्षा दी जावेगी :-

(१) जैन दर्शन और कर्मसिद्धान्तके साथ साथ अन्य धर्मोंका आवश्यक ज्ञान।

(२) संगठन और शासनकला तथा अन्य उपयोगी और आवश्यक साधारण ज्ञान।

(३) लेखन, सम्पादन और वक्तृत्वकलाका अभ्यास।

(४) हाथकी कोई एक कारीगरी।

स्त्री-पुरुष, विवाहित-अविवाहित, विधवा-सधवा, और दम्पति, सभीको संस्थामें लिया जासकेगा, किन्तु उनके रहन-सहनका प्रबन्ध अलग अलग रहेगा। पर, उनमें ऊपरके विषयोंको समझनेकी योग्यता का होना आवश्यक है।

धनाढ्य घरानोंके विद्यार्थी यदि खर्च देकर संस्थासे लाभ उठाना चाहेंगे, तो उनसे सहर्ष खर्चले-लिया जायगा। पर, उनमें तथा अन्य विद्यार्थियोंमें रहन-सहन और खानपान आदिमें किसीभी तरहका कोई भेद न रखा जायगा।

सितम्बरके अन्त तक नीचेके पतेपर प्रार्थनापत्र, आयु, योग्यता, तथा वर्तमान शिक्षाका उल्लेख करते हुये भेजे जासकते हैं।

मैनेजर— 'सेवा-आश्रम'(जैन-मन्दिर)
डा० खा० राजपुर,
जिला देहरादून (यू०पी०)

प्रवासका एक सप्ताह

मुझे अपने एक घरू कामसे सागर जाना था। सोचाकि दो तीन दिन पहिले चलकर अगर रास्तेमें कुछ प्रचार करलूँ तो ठीक होगा। इसलिये ३० अगस्त की शामको मैं रवाना हुआ। बम्बई स्टेशनपर ही श्री सज्जनसिंहजी भोपाल मिल गये। बैठनेके बाद कुछ चर्चा शुरू हुई। चर्चा हिन्दू-मुसलमानोंको लेकर भी जिसमें घरू झगड़ोंसे लेकर अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितिपर भी विचार था। सज्जनसिंहजी हिन्दू-संगठनके विचारके हैं, इसलिये उनके बहुतसे प्रश्न इसी बातको लेकर थे। मैंने कहा कि हिन्दू-संगठन क्या, कोईभी संगठन उचित कहा जासकता है। वर्तमानमें हिन्दुओंको बलवान बननेकी जरूरत भी है। मुसलमानोंमें जो विशेष बात है, वह अमुक अंशमें हिन्दुओंमें भी आना चाहिये। परन्तु इनके साथ यह भी निश्चित है कि यह सब काम हिन्दू-मुसलमानोंमें प्रेम पैदा करनेकी दृष्टिसे होना चाहिये। जब तक हिन्दू-मुसलमानोंमें सामूहिक वैर और प्रतिद्वन्दता बनी रहेगी तब तक दोनोंकी उन्नति रुकी रहेगी। वे निर्बल, अशान्त और दुःखी बने रहेंगे। अगर मुसलमानों ने कहीं ज्यादती कर रक्खी है तो हिन्दू उसका विरोध करें, यह ठीक है। परन्तु मुसलमानोंका विरोध करते हुए भी इसलामकी खूबियोंसे प्रेम किया जासकता है। उसके साथ समभाव रक्खा जासकता है। इसलामके साथ समभाव रखते हुए और उसकी प्रशंसा करते हुए अगर मुसलमानोंकी ज्यादतियोंका विरोध किया जाय तो उसमें सफलता अधिक होसकती है और चिरस्थाई एकताका मार्ग निकल सकता है। आखिर हम सबको किसी न किसी दिन एकतो बनना ही पड़ेगा और बनना चाहिये।

सज्जनसिंहजीके और भी बहुतसे प्रश्न थे जिनका मैं उत्तर देरहा था। साम्हनेकी बेंचपर दो मुसलमान सज्जन बैठे हुए थे। मैं उनको मुसलमान ही समझ रहा था क्योंकि उनकी पोशाक मुसलमानों–सरीखी थी। एक ही कपड़ेपर रखकर वे अपनी अपनी रोटियाँ खा रहे थे। परन्तु पीछे मेरा यह भ्रम निकला। चर्चाके बाद मालूम हुआ कि उनमें एक भाई मुसलमान था और एक हिन्दू था। हाँ, दोनों में खूब मित्रता थी। मुसलमान भाई प्लेटफार्मपर से रोटियाँ खरीद कर लाया था और एक ही कपड़ेपर अलग अलग रखकर उन दोनोंने रोटियाँ खाई थीं। खैर, सज्जनसिंहजीके प्रश्नोंके उत्तरोंने उन दोनोंका ध्यान आकर्षित किया। इसलिये वे खातेखाते कान लगाकर मेरी बातें सुनने लगे और भोजनके बादतो वे हमारे बिलकुल पास आ बैठे। उनमेंसे जो हिन्दू युवक था, जो कि बड़ा जिज्ञासु था, उसने प्रश्नपर प्रश्न पूछना शुरू किया। वह धर्म और दर्शनको एक समझकर दर्शनकी भिन्नताको धर्मकी भिन्नता समझरहा था। सत्यसंदेशमें इस विषयमें मैंने अभीही लेख लिखे थे। मैंने उसे वे सब बातें समझाईं। और भी अनेक तरहसे धार्मिक और जातीय समभावका विवेचन किया। इस चर्चाका उसपर काफ़ी प्रभाव पड़ा और इससे उसे उसट्रेन में सफ़र करना, उसी डिब्बे में बैठना, यह सब अपना सौभाग्य मालूम होनेलगा, जिसका उसने बार बार उल्लेख किया। इसप्रकार यह चर्चा चार घंटे तक चली। पंजाबमेलकी घरघराहट के साम्हने चार घंटेतक बोलनेसे मैं थकगया। उस भाईकी मंशा थी कि मैं तब तक बोलूँ जबतक गाड़ीसे उतरनेका समय न आजाय। परन्तु यह सब मेरी शक्तिके बाहर था, इसलिये सोगया।

सुबह खँडवा स्टेशनपर उतरा। यहाँ कुछ सज्जनों से बात करनी थी। पहिले दिन बहुतसे सज्जन स्टेशनपर आचुके थे, परन्तु उस गाड़ीसे मैं न निकल सका और आजकी भी पक्की सूचना नहीं थी, फिर भी मुझे खँडवा उतरना था क्योंकि पंजाबमेल हरदा खड़ा नहीं होता था। मैं उतरा। थोड़ी देर बाद एक सज्जन आए, मुझे शहर में लेगये। ३१ ता० के शामको हरदामें मेरा व्याख्यान होने वाला था। मैं वहाँ शामको पहुँचने वाला था, इसलिये व्याख्यान का प्रबन्ध करनेकी सूचना तारद्वारा पहिलेही देदी गई। इधर खँडवामें श्रीयुत हजारीलालजीके यहाँ ठहरा। अमोलकचंदजी आदि अनेक सज्जन मिले। सत्यसमाजके विषयमें कुछ लोगोंमें ग़लतफ़हमी थी। चर्चा द्वारा उसे दूर किया। भोजन करके शामको हरदा आगया।

श्री० बाबू जमनाप्रसादजी सब-जजने पहिलेसे ही खूब प्रचार कर दिया था। शामको टाउनहॉलमें व्याख्यान रक्खा गया, जिसमें बहुतसे वकील, तहसीलदार वगैरह अफ़सर, अध्यापक तथा नगरके बहुतसे श्रीमान आदि थे। भीतर बाहर स्थान भरगया था। सर्वधर्म-समभाव, धर्मका मर्म, युवकोंका कर्तव्य, समाजसुधार आदि बातोंका विवेचन किया। पीछेसे कुछ शंका–समाधान भी हुवा। मिश्रजी अध्यक्ष थे, जो कि इस नगरके सबसे अधिक प्रतिष्ठित महानुभाव हैं। आपने व्याख्यानकी काफ़ी प्रशंसा की।

ता० १ के शामको बाबू जमनाप्रसादजी ने अपने बॅंगले पर मेरे साथ शङ्कासमाधान करनेके लिये मुख्यमुख्य अफ़सरों, वकीलों तथा अन्य श्रीमानोंको निमन्त्रित किया था। चर्चाके बाद सहभोजका प्रोग्राम था। साढ़ेचार बजेसे ६ बजे तक अच्छी दिलचस्प चर्चा हुई। सार्वत्रिक और सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंके अधिकतम सुखके

मार्गको धर्म कहते हैं—मेरी इस परिभाषापर खूब चर्चा हुई। और भी अनेक प्रश्नोत्तर हुए। इससे लोगों को संतोषके साथ विचारकी खूब सामग्री मिली। फिर सहभोज हुआ। इसमें अनेक जातियोंके और सम्प्रदायोंके लोग सम्मिलित थे। मिठाई और पूड़ी के साथ दालभात भी था। भोजन करनेवालोंमें युवक भी थे, वृद्ध भी थे। मेरे बगलमें किस जाति या सम्प्रदायका आदमी बैठा है, इसकी किसीको पर्वाह नहीं थी। इसप्रकार सत्यसमाजके एक नियमको क्रियात्मक देखकर मेरा प्रसन्न होना स्वाभाविक था। और इसका पूरा श्रेय बाबू जमनाप्रसादजी सब-जज को था।

सहभोजके कुछ समय बाद गणपति-उत्सवमें मेरा एक छोटासा भाषण हुआ, जहां मैंने सर्व-देवसमभाव पर अपना दृष्टिबिन्दु बतलाया।

ता० २ सितम्बरके सबेरे जैनपाठशालामें मेरा एक भाषण हुआ, जहां मैंने स्याद्वादका रहस्य समझाकर सामाजिक कार्योंमें स्याद्वादकी उपयोगिता बतलाई, और करीब डेढ़घंटे तक रूढ़ित्याग तथा विवेक आदि का स्पष्टीकरण किया। ये सब प्रोग्राम बाबू जमनाप्रसादजीके उत्साह के फल थे। इन सबका हरदाके सभी सम्प्रदायके शिक्षितोंपर एक स्थायी सा प्रभाव पड़ा, और सत्यसमाजके प्रचारके लिये भूमिशुद्धि हुई। श्रीयुत पटालेजी यहाँ सत्यसमाज के सदस्य हैं। आशा है, वे प्रयत्न करेंगे। पं० उदयचंदजी मेरे बालमित्र हैं। उनने हर एक कार्यमें पूरी सहायता दी।

ता० २ की रात्रिको सागर आया। तीन और चारका दिनतो घरू काममें गया। ४ की रात्रिको सराफा बाजार में आमसभाकी गई। आशासे अधिक उपस्थिति हुई। अध्यक्ष थे बाबू भैयालालजी सर्राफ बी. ए. एल्.एल. बी. वकील। मैंने धार्मिक और जातीय झगड़ोंकी निस्सारता बतलाते हुए स्याद्वाद पर एक घंटा भाषण दिया। अध्यक्ष वकील साहिब ने व्याख्यानकी खूब प्रशंसा की। यहाँ तक कहा कि "मैंने अनेक जैन पंडितोंके मुखसे स्याद्वादका स्वरूप सुना है, परन्तु मुझे कुछभी संतोषजनक ज्ञान न हुआ। आजमुझे स्याद्वादकी यह व्यावहारिक उपयोगिता और उसका स्वरूप समझमें आया है और इससे मुझे खूब प्रसन्नता हुई है।" युवक-समाजने भी मेरे और मेरे विचारोंके विषयमें उनने बहुतकुछ कहा। मुझे १०बजे की गाड़ीसे जाना था, इसलिये ९॥ बजे सभाका कार्य पूरा कर दिया गया।

ता० ५के सुबह मैं शाहपुर आया। यहाँ मुझे कुछ घंटे ठहरना था। स्नानादि करके मंदिर गया। मेरे आनेका समाचार जल्दीही सब जगह फैल गया था। पर्युषणमें प्रतिदिन ११ बजे शास्त्र बँचताथा, परन्तु १२ बजेकी गाड़ीसे तो मुझे लौटना ही था, इसलिये ९ बजेही लोग जुड़गये। मुनि और श्रावकके पूर्ण और अपूर्ण रत्नत्रयका वर्णन किया। वास्तविक सम्यक्त्व और चारित्र क्या है? तत्वका अर्थ क्या है? वह धर्मके लिये सारभूत वस्तुओंका श्रद्धानहै, न कि छः द्रव्यों और नव पदार्थोंका। ये सब भौतिक विषय हैं। सम्यग्दर्शनतो कर्मयोगी बननेमें है। इस विषयको अनेक विनोदपूर्ण उदाहरणोंके साथ कहा, तथा धार्मिक कट्टरताको दूर करके समभाव बढ़ानेका उपदेश दिया।

दूसरा शास्त्र तत्त्वार्थसूत्र था। आज चौथा अध्याय पढ़ा जाने वाला था। समयाभावसे यह कार्य तो मैंने दूसरे भाई के ऊपर छोड़ा। सिर्फ देवगतिके विवेचनमें कहा कि दिव्यता क्या है? और स्वर्ग-नरकके वर्णन धर्मशास्त्रोंमें क्यों आते है? धर्मशास्त्रका स्थान क्या है? वगैरह बातोंको खूब उदा-

हरणोंसे समझाया। इसप्रकार १॥ घंटे तक विवेचन करके मैं चला आया। १२ बजेकी गाड़ीसे बम्बईको रवाना होगया।

श्रीमान सेठ पन्नालालजी अमरावती ऐम०एल० सी. खुरई आये हुये थे। उनको किसी तरह पता लगगया कि दुपहरकी गाड़ीसे मैं बम्बई जारहाहूँ, इसलिये दो तीन सज्जनोंके साथ वे स्टेशनपर पधारे। कुछ समय तो मुझे ढूंढनेमें निकलगया, क्योंकि यहाँ किसीके मिलनेकी मुझे आशा तो थी ही नहीं। बातचीत के लिये कुछ मिनिट मिले। आपकी चतुर्मुखी उदारता तो प्रसिद्ध ही है। मतभेद होते हुए भी आपके हृदय में काफी प्रेम है। इन मिनिटोंमें घर बाहरकी जितनी बातें हो सकती थीं, होगईं।

ट्रेनमें एक गुजराती भाई-जो कि सागरमें रहने लगे हैं-मिलगये। उनको मेरी बातें बहुत पसन्द आईं। इसप्रकार इस छोटेसे प्रवासमें काफी प्रचार होगया। मैं ६ तारीख के दुपहरको सकुशल बम्बई आगया।

अमरोहा-चर्चा।

इस चर्चाने सत्यसंदेशका ही नहीं, किन्तु अनेक पत्रोंका बहुतसा स्थान घेरा है। समाजको जो जरूरी बातें बताई जा सकती थीं, वे बताई जा चुकी हैं, परन्तु अभीतक इसका अन्त नहीं आया। पहिले चर्चा प्रकाशित हुई, फिर हार-जीत, सत्यासत्य पर लिखा पढ़ी चली। फिर अमरोहाकी दलबन्दीपर चर्चा हुई और अब सुलहकी असफलताका अध्याय शुरू करने का मसाला साम्हने आया है। परन्तु अब यह सब निःसार है। सुलहकी चर्चाके विषयमें मेरे पास जो लेख आयाहै, उसमें इस बातपर जोर दिया गया है कि इस विषयमें अब पत्रोंमें न लिखा जाय। परन्तु सुलहवाला लेख भी इकतरफा है और उसके प्रकाशित करनेपर चर्चाको आगे बढ़ाना अनिवार्य हो जायगा। इसलिये यह लेख मैं प्रकाशित नहीं करता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सत्यसंदेश में इस विषयकी लिखापढ़ी न चले तो अच्छा। यथाशक्ति मैं ऐसी कोशिश भी करूँगा।

समाचार-संग्रह।

—मुसम्मात मेहरी नामक हिंदू विधवाने अपने देवरसे अनुचित सम्बंधसे उत्पन्न बालकको गाँवके बाहर कुंडेमें डाल दिया था। इस अपराधमें उसे दो माहकी सजा हुई है।

—जबलपुरमें २१वर्षकी अवस्थाके एक मद्रासी खानसामाको इस अभियोगमें गिरफ्तार किया गया है कि उसने ४॥ वर्षकी एक यूरोपियन बालिकाके साथ, जबकि उसके मातापिता बाजार गयेहुए थे, नृशंसतापूर्वक दुराचार किया।

—ता० १२ अगस्तको भोगाँवनिवासी श्रीमान् ला० बल्देव प्रसादजी खरौआ जैनकी पुत्रीका पुनर्विवाह भिंडनिवासी श्रीमान् रतनचन्दजी गोलसिंगारा जैनके साथ लड़कीके मातापिताकी सहमतिसे अत्यन्त समारोह व विधिपूर्वक हुआ। विवाहमें भिंड, सकीट, इटावा, कुरावलीके अनेक सज्जन तथा भोगाँवके प्रायः सभी जैन सम्मिलित हुए थे

— एक ओसवाल अनाथ विधवा, जिसका मैके व ससुराल में कोई सगा सम्बंधी नहीं था, एक गुंडे के फंदेमें फँसगई थी। महावीर जैन मंडल बीकानेर ने उसकी रक्षाकी तथा जैपुर निवासी एक खंडेलवाल युवकके साथ उसका पुनर्विवाह करादिया।

— खाचरौद (ग्वालियर) के एक जैन महाशय अपनी लड़कीका सौदा ३०००) में एक बुड्ढे के साथ कर रहे थे। कन्याने इसका तीव्र विरोध किया;

तथा वहाँकी अनमेलविवाहनिषेधक सभाने अदालती कार्यवाही कर यह अनर्थ रुकवा दिया। बारात को वापिस लौटना पड़ा।

— श्रीमती रुक्मणी बाई पानाचंद जवेरीका, जिन्होंने बम्बईके जैन श्राविकाश्रमकेलिये तीसहजार रुपये प्रदान किये थे, ता० २३ अगस्तको देहान्त होगया। अंतिम समय आपने ५०००) का दान किया।

— नागपुरके श्रीयुत मूलचंद रूपचंदजी परवार पर वहांकी दिगम्बर जैन परवार पंचायतने यह आरोप लगाकर-कि वे ब्राह्मणके हाथमें भोजन करते हैं, उन्हें जाति बहिष्कृत करदिया! यहभी ध्यानमें रहे कि न्यायका यह अभिनय उस समय कियागया जबकि मूलचंदजी नागपुरमें मौजूद न थे।

—अहमदाबाद जिलेके कुछ गाँवों में उच्चजात्यभिमानी हिन्दुओंने हरिजनोंके इस अपराध पर कि वे अपने बालकोंको स्कूल में पढ़नेके लिये भेजतेथे, उनका सामाजिक बहिष्कार कर दियाथा। हरिजन लोग उन गाँवोंको छोड़कर अन्यत्र जानेका इरादा कर रहे थे। इसीबीचमें सरकारकी ओर से यह कहे जाने पर कि अगर हरिजन बालकोंको स्कूलों में न पढ़ने दिया जायगा तो सरकार स्कूलकी ग्राट बंद कर देगी, जातिमदोन्मत्तोंने अपनी हठ छोड़ दी। अब हरिजन बालक पूर्ववत् स्कूलोंमे जाने लगे हैं।

—नासिक जिलेके कुछ गाँवोंमें हैजा फैला हुआ है। जातिमदोन्मत्त लोगोंको यह बहम होगया कि हरिजनोंके जादू-टोना करदेनेसे यह बीमारी फैली है, अतः वे जत्था बाँधकर उनके मंदिरोंमें घुसगये, देवताओंकी मूर्तियों को बाहिर फेंक दिया तथा हरिजनोंको खूब मारा पीटा।

—देहलीके पुराने सदरस्टेशनके पास एक नवजात शिशुकी लाश पाई गई। पुलिस उसकी माँकी तलाश कररही है।

—अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के ऐम. ऐससी. क्लासके एक विद्यार्थीको नमाज न पढ़नेपर निकाल दिया गया!

—अखिल भारतवर्षीय महिलासम्मेलनने एक बालविवाह—समितिकी स्थापना की है जिसके उद्देश हैं—(१) बालविवाहके विरुद्ध देशव्यापी आंदोलन करना, (२) बालविवाहनिषेधक क़ानून के भंग करनेवालोंपर मुक़द्दमे चलवाना, (३) उक्त क़ानूनमें उचित संशोधन कराना। जो महाशय अपने इलाकेमें उक्त उद्देश्यसे नई समितियाँ संगठित करनेको उत्सुक हों, वे श्रीमती लक्ष्मी ऐन मैनन बादशाह-बाग लखनऊसे पत्रव्यवहार करें।

—लाहौरके पास दयालपुरा गांवमें कुछ सिक्खोंने एक मुसलमान गुंडेको एक सिक्ख युवतीके साथ बलात्कार करते देखलिया। इसपर उन्होंने उस गुंडेको फौरनही आगमें झोंक दिया। गांववालों ने आकर उसे आगमें से निकाला, लेकिन तब तक वह बहुत कुछ झुलस चुका था।

—कृष्णय्या नामक एक विधुरने अपना विवाह करनेके लिये, अपनी पहिली स्त्रीके ८ वर्षके बालकको कुएँमें फेंकदिया। सौभाग्यसे कुएँपर लगीहुई जंजीर लड़केके हाथमें आगई और वह बचगया। पुलिस ने उक्त क्रूर पिताको गिरफ्तार करलिया है।

—जोधपुरमें एक ११ वर्षीया दूध बेचने वाली ने ससुरालवालोंकी यातनाओंसे तंग आकर बावड़ी में गिरकर आत्महत्या करली।

—अजमेर में एक युवतीने अपनी सासके नृशंसतापूर्ण अत्याचारोंसे दुखीहोकर अपने कपड़ोंपर घासलेट तेल छिड़ककर आग लगाली।

—मेरठके डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने शारदा कानून भंगकरने के अपराधमें वधू के पिता तथा पुरोहित प्रत्येक पर ५०) तथा वरके पिता पर १०) जुर्माना किया।

—इंदौर रियासतमें सरकारी शिक्षा-संस्थाओं में हरिजन विद्यार्थियोंके लिये फीस माफ कर दी गई है।

—पटियालामें एक बुढ़िया भिखारिनके मरने पर पुलिसने उसके घरमें से लगभग पचास हजार रुपयों की सम्पत्ति बरामद की।

—कलकत्ताके बंकिमचंद्र दे को चीफ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेटने अपनी पत्नीके साथ दुर्व्यवहार करने के अपराधमें एक सप्ताहकी सख्त कैदकी सजा दी। अभियुक्तकी माताने अपनी पतोहूके कथनका समर्थन किया था।

—इंदौर की जैन पंचायतने सर्वसम्मतिसे बीसा जैनियोंके समान दस्सा जैनियोंको भी समस्त धार्मिक अधिकार यथा श्री जिनप्रतिमाकी पूजन व प्रक्षाल के लिये स्वीकारता दे दी है।

—जैनसमाज के सुपरिचित विद्वान श्रीमान पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने सरसावामें अपनी ओर से दस हजार रुपये लगाकर सेवा-आश्रम के लिये विशाल भवन बनवाया है। श्री ऋषभब्रह्मचर्याश्रम के संस्थापक महात्मा भगवानदीनजीने राजनैतिक क्षेत्रसे विश्राम लेकर जैनसमाजकी सेवाके लिये उक्त आश्रममें योग देनेका निश्चय किया है।

—लखनऊके एक श्वेताम्बर जैन महाशयने अपनी लड़कीकी सगाई तीन हजार रुपये लेकर सांगानेरके एक युवक से की थी। बादमें एक बुड्ढे महाशय आठ हजारकी थैली लेकर पहुँचे। पिताजीका मन ललचाया और उनने फौरन नया सौदा पक्का कर लिया। लेकिन एकाएक लड़कीका ही देहांत होगया और बेचारे पिताजी हाथ मलते रह गये।

—अजमेरके बा० बनारसीदासजी टाँक (ओसवाल जैन) के सुपुत्र बा० ज्वालाप्रसादजी एम. बी. बी. एस. आंख, कान, नाक आदि अवयवों की चिकित्सामें विशेष अध्ययन करनेके लिये विलायत गये हैं।

(पृष्ठ ५०८ कॉलम २ से आगे)

देते हैं। आपको हरित आलू, बैंगन आदिके शाकों के खानेका बहुत शौक है, यहां तक कि अष्टमी, चतुर्दशी आदिको भी अगर ये शाक न परोसे जायं तो आप चौके तक जाकर भी वापिस लौट आते हैं और फिर दूसरे घर आहारके लिये चले जाते हैं। आपको नित्य बढ़ियाभोजन मिला करे, इसलिये आप यह उपदेश दिया करते हैं कि-जो गुरुको अच्छा भोजन देता है वह अच्छा पाता है; जो मामूली देता है वह दरिद्री होता है। अगर कहीं पर मामूली भोजन मिला, शाकमें घी कम मिला, तो [illegible] गृहिणी को कड़ककर कहते हैं—तू तो फूहड़ी (फूहड़) रांड है! थोड़ासा साग (शाक) बनाती है! घी नहीं डालती! तेरे मांटी (पति) को भी क्या ऐसे ही [illegible] खिलाती है? इतना घी डालाकर, इस [illegible] (शाक) बनाया कर, आदि। मच्छरों [illegible] के लिये आप रातको तेलकी मालिश कराते हैं, [illegible] नहीं बल्कि उन्हें मारने के लिये अपने कमरेमें कभी कभी गूगलकी धूनी भी दिलाते हैं। आप क्रियाकोष, सुदृष्टितरंगिणी, मोक्षमार्गप्रकाश, रत्नकरंड श्रावकाचार वचनिका आदि ग्रन्थोंको अप्रामाणिक बताते हैं तथा उनके लेखकों के लिये गालियोंकी बौछार करते रहते हैं।

आप अपनी नवधा भक्ति कराते हैं; यदि कोई अर्घ नहीं चढ़ाते तथा चरणोदक नहीं लेते तो वापिस लौट जाते हैं। यदि कोई साष्टांग नमस्कार नहीं करे तो चिल्लाकर कहते हैं—नमस्कार ठीक तरह से नहीं किया! क्या तेरी कमर टूटगई है?

जो व्यक्ति इनमें श्रद्धाभक्ति नहीं रखते तथा इनकी मनमानी हरकतों का विरोध करते हैं उनको आप दुर्वचन, अश्लील गालियां देते हैं तथा उन्हें प्रातः हर समय कोसते रहते हैं। आपके उद्गारों का कुछ नमूना यह है—"फलां आदमी दोगला है, गोलीका (दासीपुत्र-जात) है, गू खाने वाला है। उसका काला मुँह कर गधेपर चढ़ाकर गांव बाहिर निकाल दो! मुझे ४५ वर्ष होगये। इतने बरस [illegible] कंगलों (भिखमंगों) के घर थोड़े ही रोटी खाता

विषय—सूची

प्राप्ति स्वीकार।

एक महानुभावने, जो अपना नाम प्रकट कराना नहीं चाहते, सत्यसंदेशकी सहायतार्थ २५) रु० प्रदान किये हैं। १०) अजमेरनिवासी श्रीमान बा० [illegible]चंदजी [illegible] से प्राप्त हुए हैं। दोनों महानुभावों को इस उदारताके लिये अनेक धन्यवाद।

—प्रकाशक।

"धर्ममीमांसा" पर लोकमत।

१—मराठीका सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र "नवा काल" बम्बई ता० ५-६-३४—

"पंडित दरबारीलालजी, जैन समाज धार्मिक [illegible] दूर करके उन्नत बने, इसके लिये प्रयत्न करने वाले विद्वान लेखक हैं। उनके लिये वे अपने समाज [illegible] अप्रिय भी समझे जाने लगे हैं। परन्तु उनका उद्योग वर्षोंसे चालू है—यह उद्योग जरा भी नहीं रुका है। अपने सम्प्रदायका आधिक प्रेम और अन्य सम्प्रदायोंके द्रोह को छोड़कर सब धर्मोंके मूलरूप सत्य की उपासना करने के लिये पंडितजीने सत्यसमाज नाम की संस्था स्थापित की है, और उसके उद्देश समझाने के लिये धर्ममीमांसा नामक पुस्तक प्रसिद्ध की

है। इस छोटीसी पुस्तकमें धर्मका स्वरूप, उद्देश, त्रिविधदुःख, परसुखमें निजसुख, जगत्कल्याणकी कसौटी, धर्ममीमांसाका उपाय, इस विषय में ऊह पोह करके सत्यसमाजकी समझावट दी है। बाह्याचारके मूल तत्त्व एक होने परभी बाह्याचारमें अन्तर कैसे होता है, और उससे धर्मोंमें भिन्नता कैसे आजाती है, इसका खुलासा पंडितजीने इतने अच्छे ढंगसे किया है कि सभी लोग उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं। धर्मके ऊपर इस समय चारों तरफसे आक्रमण हो रहा है, परन्तु धर्म वास्तव में क्या है, जो यह समझना चाहते हों उनके लिये यह पुस्तक सहायक हुए बिना न रहेगी। पंडितजीके विचारोंके अनुसार धर्माचारके मूलको समझकर अगर लोग विचार करने लगें तो अभी जो धर्म-कलह अनुभवमें आ रहा है, वह कभी न आवे।"

२—"अंकुश" खंडवा ता० १६ सितम्बर १९३४—

"पं० दरबारीलालजी जैन-दर्शनके एक उद्भट विद्वान और स्वतंत्र विचारक हैं। जैनधर्मके विषयमें आपके उग्र और क्रांतिकारक विचार होनेकी वजह से जैन समाजमें एक तहलका सा मच गया है। इस समय आप किसी खास धर्म, रूढ़ि या समाजके बंधन में न हो सर्व-धर्म-समभावकी अभिलाषा रखते हैं, क्योंकि सब धर्मों का ध्येय, मानव जाति को दुःखोंसे छुटाकर सुखोंकी प्राप्ति करा देना—यह एक ही है। इसीलिए आपस में यह छोटा यह बड़ा, यह अच्छा यह बुरा, यह योग्य यह अयोग्य, का घोटाला नहीं होना चाहिए—यही आपकी मिशन है। इसी मिशनकी पूर्तिके लिए आपने 'सत्य समाज' नामकी एक संस्था खोली है। उस संस्थाके नियम सिद्धान्त और विस्तृत विचारोंके प्रचारार्थ आपने एक ग्रंथमाला शुरू की है। आलोच्य पुस्तक इसी ग्रंथमालाका पहला पुष्प है। इसमें धर्मका स्वरूप, धर्मका उद्देश्य, त्रिविध दुःख, पर-सुखमें निज सुख, जगतकल्याणकी कसौटी, सुखी बननेकी कला, धर्म और समाज, शंका समाधान आदि शीर्षकों के अंतर्गत उनके विचार और मनके पोषक विषय बहुत सुंदर व रोचकताके साथ वर्णित हैं। पुस्तक पठनीय है। मूल्य भी अधिक नहीं है।"

प्रचार के लिये मूल्य लागत से भी कम केवल चार आने रखा गया है। पाँच प्रतियोंसे कमकी वी पी नहीं की जाती। एकप्रति मंगवाने के लिये सवा पाँच आने के टिकट भेजें। पुस्तकें सम्पादक महोदय, हिंदीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग बम्बई, सत्यसंदेश ऑफिस अजमेर, श्री कनकमलजी मुनोत लक्ष्मीरोड पूना आदि कहीं से भी उपलब्ध हो सकती है।

अमरोहा ज्ञानवर्द्धक जैन पाठशालाका पुनर्निर्माण

अमरोहाकी कुछ समयको ऐसी ही परिस्थितिके कारण ज्ञानवर्द्धक जैनपाठशालाका कार्य स्थगित था। श्रीमान साहु रघुनंदनप्रसादजी सभापति व श्रीमान सेठ रामरतनलालजी मंत्री जैनसभाके असीम उद्योग एवं अनवरत प्रयत्नसे पाठशालीय कार्य आश्विन शुक्ला द्वितीया वीर नि० सं० २४६१ रविवार से प्रारंभ होगया है। अध्यापन-कार्य श्रीयुत छोटेलालजी जैन 'भास्कर' सुयोग्यतया संपादन कर रहे हैं। —चौधरी[illegible]लाल जैन

मंत्री ज्ञानवर्द्धक जैनपाठशाला अमरोहा।

—ता० १७-९-३४ को आकोलाके भारतीय जैन विधवा रक्षाविभाग के प्रयत्न से श्रीमती संतोक बाई जैनका पुनर्विवाह बड़गांव (पूना) निवासी श्रीमान सेठ गुलाबचंदजी रामचंदजी दिगम्बर जैन के साथ हुआ।

—इन्दौर नरेशने अपनी सालगिरहके अवसर पर श्रीमान् रावराजा राज्यभूषण सर सेठ हुकमचंदजी को "राज्यरत्न" तथा श्रीमान् मुंतजिम बहादुर रा० जौहरीलालजी मित्तल ऐम. ए. ऐलऐल. बी. लीगल रिमेम्बरेन्सरको मुंतजिमेखासबहादुरकी उपाधि से विभूषित किया।

म० महावीर ।

महावीर ! तू महावीर था, धर्मवीर तीर्थङ्कर था ।
जगत्पूज्य भगवान सत्यका अद्वितीय पैगम्बर था ॥
मानेश्वरी अहिंसाका तू अनुपम आज्ञाकारी था ।
कायरताको ठुकराने वाला अविचल बलधारी था ॥
धर्मजगत्का तू सर्वोत्तम सर्व शिरोमणि शासक था ।
सत्याचौर्याहिंसा आदिकका सर्वोच्च उपासक था ॥
दया, क्षमा, अनुकम्पा, करुणाका तू प्रबल प्रचारक था ।
विश्वप्रेमका पाठ सिखानेवाला सफल सुधारक था ॥

तू समभावी, सहनशील, निष्पक्ष, उदार, तपस्वी था ।
था अद्भुत प्रतिभाशाली, तू रविसमान तेजस्वी था ॥
तेरा नसनसमें दुखियोंका करुणास्रोत प्रवाहित था ।
पतितोंके, अधमोंके, पशुओंके, हितमें तेरा हित था ॥
तूने जबदेखा धर्म-पतन तब अपना कधा अड़ादिया ।
मरमिटा धर्मकी सेवाको तूने अधर्मका नाश किया ॥
धनवैभव, भोग-विलास आदि सुखकासारा सामान तज ।
तूने हिंसाकी हिंसा की, सर्वत्र सत्यजय-नाद बजा ॥

नारी समाजके दुःखोंका तूने अस्तित्व मिटा डाला ।
उन्नतिपथमें बाधक प्रतिबन्धोंको सर्वत्र हटा डाला ॥
दुख झेले अगणित कष्टसहे, नित घूँट पिए अपमानोंके
पर चलित न हुआ, छुड़ाए छक्के बड़ेबड़े बलवानोंके ॥
समभावरूप तू अनेकान्तका अद्वितीय प्रतिपादक था ।
यह अनेकान्तही तो तेरा सारे धर्मोंका शासक था ॥

जब तूने धर्मसमान तत्त्वका दुरुपयोग होते देखा ।
विद्वानोंको भी लड़करके सत्प्रेम शक्ति खोते देखा ॥
तब तूने सबको एक बनाया, अनेकान्त-मत बतलाया ।
सारे धर्मोंमें छिपे सत्य का तूने दर्शन दिखलाया ॥

अब फिर आज विनष्ट हुआहै फैला है कट्टर एकांत ।
तुझे भूल बैठा है स्वामी, करदो अब उसको अभ्रांत ॥
अनेकांतकी नींव जमाकर, फैलाओ शुभ सम्यक्ज्ञान ।
सबधर्मोंका करो समन्वय, आओ! करो जगत्-उत्थान ॥

मुझको भी कुछ काम बतादो बैठा हूँ खाली बेकार ।
तू तू मैं मैं से बच जाऊँ करजाऊँ अपना उद्धार ॥

—रघुवीरशरण जैन ।
(सत्यसमाजी)

भीतर और बाहर।

भीतरका अर्थ है व्यक्तिका गुणसमूह और बाहरका अर्थ है परिस्थिति। दूसरे शब्दोंमें कहूँ तो भीतरका अर्थ है आध्यात्मिकता और बाहरका अर्थ है आधिभौतिकता। दोनोंका सम्मिलित रूप है जीवन। जीवनकी समस्याओंको हल करनेके लिये किसीने भीतर सुधार किया है, और किसीने बाहर सुधार किया है। महावीर, बुद्ध तथा अन्य आर्य ऋषियोंने भीतरके सुधारपर अधिक जोर दिया है। पश्चिम में भी ईसा आदि इसी ढंगके सुधारक हुए हैं। भारत के बृहस्पति, चार्वाक आदि ऋषि बाहरका सुधार करने वाले थे, और आज पश्चिमके बहुतसे ऋषि इसी ढंगके हैं। उनमें आजकल साम्यवादके प्रणेताओंका खास स्थान है।

धर्म, जीवनका चिकित्सा-शास्त्र है। अगर उसे पूरा चिकित्सा-शास्त्र बनाना हो तो उसे भीतर भी चिकित्सा करनी पड़ेगी और बाहर भी। परन्तु आज धर्मके नामपर जो संस्थाएँ चल रही हैं उनमें भीतरी चिकित्साने इतना भाग घेरलिया है कि उनमें बाहरी चिकित्साका अंश मालूमही नहीं होता। और श्रमणसम्प्रदायके धर्मोंमे तो खासकर यह बात और भी अधिक है।

इन धर्मोंके प्रणेताओंका विचार इतना ऐकान्तिक नहीं था, जितना कि पीछे होगया। इसलिये इनमें आत्मशुद्धि या मनःशुद्धि ही धर्मका एक मात्र स्वरूप रह गया। अथवा बाहिरकी क्रियाओंको धर्मका स्वरूप मिला भी तो सिर्फ इसी कारणसे कि वे आत्मशुद्धिके कारण हैं। इसलिये इन लोगोंके अनुसार आदर्श हुआ मोक्ष, जहाँ भौतिकतासे कोई सम्बंध नहीं है। इस प्रकार इनका आदर्श समाजकी 'सुव्यवस्था' नहीं, 'शून्य' बना। आत्मशुद्धि बुरी नहीं है, आवश्यक है; परन्तु उसके एकान्तने आत्मा को बाह्य परिस्थितियोंसे इतना अलग कर दिया कि मानों प्रकृतिकी सारी शक्तियाँ मिलकर भी योगियों, अर्हतों, बुद्धों और जिनोंको चलित न कर सकती हों। मनुष्यका आदर्श इनने ऐसा बनाया कि जिसपर भूख, प्यास, रोग, उपद्रव, शस्त्राघात, विष, भोजन, शीत, उष्ण आदिका कोई असर न पड़सके। इसप्रकार समाजके भीतर होने वाले अन्याय, अत्याचार, भूखप्यास आदिके कष्ट सब इनके साम्हने गौण चीज बनगये। इसीलिये मायावाद, शून्यवाद, आदि वाद भी पैदा हुए।

परन्तु दुनियाँको अनात्मीय, माया, शून्य आदि कहने से हमें छुट्टी नहीं मिलसकती थी; न मिली। न दुनियाँको मिली, न योगियोंको। इतना ही हुआकि दुनियाँने ऐसी बातोंके आगे सिर झुकालिया, आश्चर्यसे चकित और विस्फारित नेत्रोंसे देखलिया, और अन्तमें ऐसी बातें कहनेवालोंको पूज डाला। किन्तु एक मिनिटके लिये भी उसने रोटी-दाल की, बाल-बच्चों की, घर-द्वार की और शरीरकी चिन्ताको न छोड़ा। सारे जगत्को शून्य कह करके भी उसने रोटीको शून्य नहीं कहा। और कहा भी तो तोते की तरह रटकर कहा, बिना समझे कहा।

परन्तु इसमें दुनियाँका क्या अपराध ? योगियों, अर्हन्तों और बुद्धोंकी भी तो यही दशा थी। बुद्ध जब तपस्या करते करते बेहोश होगये, तब उनने मध्यम मार्ग निकाला। म० महावीर जब पेचिशसे परेशान होगये तब—सिंह अनगारके अनुरोधसे ही सही—रेवतीरानीके यहाँसे औषधरूप भोजन मँगाया। गोशालक तो अन्त समयमें पागल ही होगये। ऋषि विश्वामित्रने चांडालके घरसे कुत्तेका मांस तक चुराडाला। सत्यवादी युधिष्ठिरने परिस्थितिवश झूठ तक बोला। आदि जगन्मान्य महात्माओं, महापुरुषोंको भी प्रकृतिके आगे नतमस्तक होना पड़ा। ऐसी हालतमें केवल आध्यात्मिकताके ऊपर खड़ा होने वाला धर्म दुनियाके ऊपर प्रतिष्ठित कैसे हो सकता था ?

दूसरी तरफ थे बाहिरी अथवा भौतिक चिकित्सक। इनका सिद्धान्त था कि मनुष्य भी एक कीड़ा है। प्रकृतिके अगणित कणोंमें से यह भी एक कण है। इनकी दृष्टिमें आत्मा एक कल्पना थी, परलोक एक विभीषिका मात्र था, और मोक्ष था एक बेहूदा असत्य। इनकी दृष्टिमें धर्म यही था कि मनुष्यके साम्हने खूब सुखके साधन एकत्रित किये जाँय, समाज भोगोंके साधनोंसे पाट दिया जाय। इनका धर्म, अर्थ और काम था; या अर्थ और कामके लिये था। यह मीठा था, इकदम मीठा, ऊँटनीके दूधकी तरह मीठा कि देखते देखतेही कीड़े पड़जाँय और उसका स्वाद मारा जाय। भौतिक चिकित्साको जिस प्रकार छोड़ना असम्भव था, उसीप्रकार उनने से सुखी हो जाना कुछ कम असम्भव न था। आत्माको एक नित्य-पदार्थ न माना जाय तो किसी तरह काम चल सकता है, परन्तु आध्यात्मिकताका बहिष्कार किया जाय, इससे काम नहीं चलसकता। समाजमें अगर भोगसामग्रीकी प्रचुरता होगई तो उसका समविभाग कौन करेगा ? समविभाग करनेके लिये जिस समभाव, निःपक्षता, त्याग, सहिष्णुताकी आवश्यकता है, वही तो आध्यात्मिकता है। यही कारण है कि आधिभौतिक धर्मोंके प्रवर्तक, नेता आदि आध्यात्मिक पुरुष हुए हैं। उनने कठोरसे कठोर यंत्रणाओंमें भी मुसकराया है, बड़ेसे बड़े प्रलोभनोंको भी ठुकराया है। यह आधिभौतिकताकी उपेक्षा और आध्यात्मिकताकी पूजा नहीं तो क्या है ?

एक बात और है। मानलो सब सुव्यवस्था होगई, सबको सुख-सामग्री मिलगई। परन्तु इतनेसे ही तो हम सुखी नहीं होजाते। अगर पूर्ण साम्यवाद अर्थात् कम्यूनिज्म प्रचलित होगया तो उसके लिये भी हमें आध्यात्मिकताकी आवश्यकता है। अन्यथा असन्तोष हमें जला डालेगा, आलस्य हमें निकम्मा बना देगा। मतलबयह कि दया, प्रेम, निःस्वार्थता, समता, संतोष आदिकी उस समय भी आवश्यकता रहेगी और आजकी अपेक्षा अधिक रहेगी। इस आध्यात्मिकता के बिना वह तंत्र ही नष्ट हो जायगा। इसका सार यह हुआ कि समाजकी पूरी चिकित्सा करनेके लिये भीतर भी चिकित्सा करनेकी आवश्यकता है, और बाहर भी चिकित्सा करनेकी आवश्यकता है। कष्टसहिष्णुता आदि गुणोंके बिना हमारा काम नहीं चलसकता; न कष्टसहिष्णुतासे ही हमारी गुजर होसकती है।

तब प्रश्न यह है कि पुराने लोगोंने ऐकान्तिक चिकित्सा क्यों की ? क्या यह उनकी भूलथी ? वास्तव में इसमें उनकी भूल नहीं थी। इसका कारण है परिस्थिति। जब समाजमें बाहरी बिगाड़ अधिक होता है, तब उस समयके सुधारक चिकित्सक भीतरी बातों को गौण करके बाहिरी बातोंपर अधिक जोर देते हैं क्योंकि लोगोंकी माग-बेचैनी इसी बातको लेकर

होती है। परन्तु जब लोगोंके साम्हने बाहिरी चिन्ता नहीं होती या थोड़ी होती है और भीतरी अशान्तिसे लोग घबराते हैं, तब सुधारक लोग भीतरी चिकित्सा करते हैं। कोई कितनाही बड़ा महात्मा हो, उसे परिस्थितियोंको ध्यानमें रखकर ही अपना कार्यक्षेत्र बनाना पड़ता है।

म० रामके युगकी समस्या थी आर्य और अनार्यों का द्वन्द, नैतिकताका पतन। सीताको रावण लेभागा; सुग्रीवकी स्त्रीको वालीने छीनलिया आदि। म० राम ने नारियोंकी प्रतिष्ठा की; आर्यों और अनार्यों-सुग्रीव, हनूमान विभीषण आदि-में प्रेम बढ़ाया। म० कृष्ण ने अत्याचारी मदान्धोंको दंड दिया, अर्जुन सरीखे वीर क्षत्रियोंको कर्तव्यका भान कराया, कर्मयोगकी शिक्षा दी, योग और भोगका समन्वय किया। म० महावीर और म० बुद्धने शूद्रों और स्त्रियोंको आगे बढ़ाया, ऊँचे उठाया, वेदों और शास्त्रोंकी गुलामीसे छुड़ाकर विवेकका राज्य फैलाया, मूर्खतापूर्ण निष्फल क्रियाकांडोंको हटाकर दयाका प्रचार किया। इसी प्रकार म० ईसाने मन्दिरोंके दुराचार दूर किये, लोगों को सेवाधर्मका पाठ पढ़ाया। म० मुहम्मदने बलिदानको सीमित किया, नर-बलिको हटाया, बलिके स्थानोंको नष्ट किया, स्त्रियोंके अधिकार बढ़ाये, असंयमको कम किया। इसप्रकार प्रत्येक सुधारकने अपनी परिस्थितिके अनुसार समाजकी समस्याओं को हल किया है। जिस युगमें आध्यात्मिक समस्याएँ ज़ोर पर थीं, उस ज़मानेमे आध्यात्मिक सुधारक हुए, जिसमें भौतिक समस्याएं ज़ोरपर थीं, उस ज़माने में भौतिक सुधारक हुए। किसी एक अंगका अतिरेक होनेपर दूसरे अंगपर ज़ोर डाला गया। यही कारण है कि धर्म-संस्थाओंमें भिन्नता नज़र आती है। उनकी यह भिन्नता मौलिक नहीं, किन्तु परिस्थितियोंका फल है। इसीप्रकार उन धर्मसंस्थाओंके नायकोंकी विभिन्नता भी मौलिक नहीं, परिस्थितियों का फल है।

भोले मनुष्य यह सोचते हैं कि उनकी धर्मसंस्था अनादि है, अनन्त है, उसपर परिस्थितियोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि वे जानते हैं कि पिछले हज़ार दो हज़ार वर्षोंमें ही उनकी धर्मसंस्था मतभेदों का तथा अनेक उपसम्प्रदायोंका अजायबघर बनगई है, फिरभी उनकी अन्धश्रद्धा अनादिसे अनन्त काल तककी एकरूपतापर विश्वास करनेमें उन्हें लज्जित नहीं करती। वे जानते हैं कि उनके आद्यगुरु को ही परिस्थितिको देखकर अपने जीवनमें ही अनेक बार नियमोंको बदलना पड़ा था, फिर भी वे समझते हैं कि उनकी धर्मसंस्था और धर्मसंस्थापक पर देश-काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। फल यह होता है कि जब वे दूसरे देशकालकी धर्मसंस्थाको देखते हैं, तो वे उसको अधर्म समझते हैं; उसकी निंदा करते हैं। इसके अतिरिक्त, देशकाल के बदलजाने पर भी—उनकी धर्मसंस्था देशकालविरुद्ध हो जानेपर भी—वे उसमें कोई संशोधन नहीं करना चाहते। फल यह होता है कि धर्मसंस्थाएं सेवा, सुधार, उन्नति के बदले झगड़ा, ईर्ष्या और निन्दाका कारण बन जाती हैं। इसप्रकार वे औषधके बदले अपथ्य होजाती हैं।

इसका यह मतलब नहीं है कि धर्मसंस्थापकों और सुधारकोंका कोई व्यक्तित्व नहीं होता। होता है, परन्तु वह भी किसी सुदूरकी अज्ञात, अल्पज्ञात परिस्थितिका फल होता है। महर्षि कपिलने इसकी बड़ी सुन्दर दार्शनिक व्याख्या की है। उनने इन बातोंको आत्माका नहीं, प्रकृतिका धर्म बतलाया है। उनकी दृष्टिमें ज्ञान भी प्रकृतिका ही विकार है,

आत्माका गुण नहीं। सांख्यदर्शनकी अन्य सब बातों से हमें कोई मतलब नहीं, किन्तु उसकी इस बातमें एक नग्न सत्य छिपा हुआ है कि हमारे सुखदुःख, विद्वत्ता मूर्खता, तीर्थंकरत्व सर्वज्ञत्व सब प्रकृतिकी लीला है। इसलिये इस विषयमें हमें उसके साथ समझौता करना ही चाहिये। हमें भीतर और बाहर का मेल करना ही पड़ेगा।

इसलिये कोरे निवृत्तिवादका जीवनमें कोई मूल्य नहीं। वह एक कल्पना है, वञ्चना है। और इसी प्रकार अन्धाधुन्ध प्रवृत्तिका भी कोई अर्थ नहीं। वह आत्मवध है। दोनोंका समन्वय करके हमें चिकित्सा करना चाहिये।

बहुत से लोग बाहिरी चिकित्साको धर्म नहीं कहते, अथवा विवेकहीन निष्प्राण क्रियाकांडको ही धर्म कहते हैं। समाधिकी ऊँची ऊँची बातें करनेमें ही उनके धर्मकी समाप्ति होजाती है। ईमानदारीसे पैसा पैदा करनेकी अपेक्षा वे भीख माँगनेको अधिक धर्म समझते हैं। अन्यायसे किसीने धन एकत्रित कियाहो, उसके यहाँ भिक्षा लेना भी वे उचित समझेंगे, परन्तु समाजमें कोई अन्याय से पैसा पैदा न कर पावे, इसके लिये प्रयत्न करना वे धर्म नहीं समझते। न्यायकी दृष्टिसे मर मिटनेवाला उनकी दृष्टिमें नेता तो है, धर्मात्मा नहीं। परन्तु वास्तवमें धर्म इतना संकुचित नहीं है। उसका साम्राज्य भीतरसे भीतर और बाहरसे बाहर है।

अन्यत्र मैं ने कहा है कि सुखी होनेके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है-सुखी होनेकी कला और सुखसाधनोंकी वृद्धि। इनमेंसे किसी एककी उपेक्षा करनेसे काम नहीं चल सकता। सुखी रहनेकी कला में तो हम बहुत कुछ स्वतन्त्र हैं और इसमें दूसरे विरोध भी नहीं करते; परन्तु सुखसाधनोंकी वृद्धि, जिसमें उनकी व्यवस्था भी, शामिल है, वही क्रान्तिका मुख्य कारण है। किसीकी हिंसा मत करो, झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, व्यभिचार मत करो, अपरिग्रही बनो-यह सब इसलिये है कि सुखके साधन बढ़ें और उनकी सुव्यवस्था हो। इनका भीतरी रूप भी बाहिर की सुव्यवस्थाके लिये आवश्यक है। बाहिरकी बात का निर्णय किये बिना इनके स्वरूपका भी निर्णय नहीं किया जासकता। जिससे दूसरोंको सुख हो, वही कार्य अहिंसा कहलायगा। अगर दुःखहो तो हिंसा कहलायगा। शीत ऋतुमें किसीको खुली जगहमें छोड़ना हिंसा होसकता है और उष्ण ऋतुमें अहिंसा हो सकता है। यह तो एक छोटासा उदाहरण है। परन्तु जीवनके विशाल क्षेत्रमें सभी बातोंमें इसी प्रकारका विरोध दिखाई देता है, और परिस्थिति ही उसका निर्णय कराती है। इसलिये परिस्थिति कभी उपेक्षणीय नहीं है।

कहा जासकता है कि परिस्थितिका प्रश्न साधारण लोगोंके लिये है, महापुरुषोंके लिये नहीं। उनके लिये तो यही कहा जाता है कि—

जमाना देखके चलते हैं लोग दुनियाँ के।
मर्द वो हैं जो जमानेको बदल देते हैं॥

यह ठीक है। परन्तु जमानेको बदलना भी परिस्थितिके ऊपर निर्भर है। वह आकस्मिक नहीं है। जमानेको बदलदेने वाले म० महावीर और म० बुद्ध जैसा काम भारतमें कर सके, वैसा ही अरबमें, आफ्रिकाके जंगलों में नहीं कर सकते थे। हाँ, साधारण लोगोंसे उनमें विशेषता होती है—और उस विशेषतामें भी केवल आत्मा का नहीं, प्रकृतिका भी हाथ होता है—कि साधारण जन उतनाभी सुधार नहीं कर पाता जितना कि परिस्थितिके अनुसार होसकता है, जबकि वे कर सकते हैं। यही तो उनका महात्मापन है।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१—क्या यह बन्धन है ?

सत्यसमाजके दो कार्यकर्ता सदस्योंमें समाजोन्नतिको लेकर पत्रव्यवहार चला। कार्यवश वह पत्रव्यवहार नजरसानीके लिये मेरे पास आया। उसमें एक जगह लिखा था—

"यहाँ हमारे मतके अनुयायी क़रीब १५००—२००० आदमी हैं और यह संख्या दिनों दिन बढ़ती जारही है। लेकिन जब इनसे समाजके सदस्य बननेकी बात कही जाती है तब ये लोग कहते हैं—'हम मानते हैं कि धर्म और जातिका भेदभाव न होना चाहिये। इन तत्त्वोंका हम प्रचार भी करतेहैं। लेकिन किसी भी संस्थाका बन्धन हम पसन्द नहीं करते।' अब इन लोगोंसे क्या कहाजाय ? ये लोग अच्छे पढ़ेलिखे हैं, सुधारक हैं। इनका बर्ताव भी नैष्ठिक सत्यसमाजीके मुआफ़िक है, लेकिन बन्धन के विरोधी हैं।"

आज ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो अपने लिये किसीभी धर्म या जातिका नहीं कहते और वे किसी भी बन्धनके नाम से चौंकते हैं। ये लोग चार श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं।

प्रत्येक मनुष्य, परिस्थितिके भीतर अमुक अंश में ही स्वतंत्र है। बाक़ी परिस्थितिका पूरा प्रभाव उसपर, उसके प्रयत्नोंपर पड़ता है। इसीलिये किसी विचारको, नियमको, संस्थाको अनादि अनंतके लिये नहीं समझना चाहिये, और न उसमें परिस्थिति की उपेक्षा करनी चाहिये। इसप्रकार भीतर और बाहर दोनों तरफ़ दृष्टि रखने से और प्रयत्न करने से हम कल्याणके वास्तविक मार्गपर चल सकते हैं।

एक तो वे लोग हैं जिनने कौटुम्बिक बन्धनोंका त्याग करदिया है, साधुवेषमें न रहते हुए भी पूर्ण स्वावलम्बी और विमुक्त हैं। ऐसे लोगोंको सचमुच किसी सामाजिक बन्धनकी आवश्यकता नहीं है। जिनको विवाह-शादी आदिसे कोई सम्बन्ध नहीं है, पंचायतोंकी पर्वाह नहीं है, सन्तानकी चिन्ता नहीं है, उनके लिये समाज निरर्थक हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु ऐसे लोग बहुत थोड़े—हजारोंमें एकाध हैं। इनसे कुछ कहना व्यर्थ है।

इस विचारके लोगोंकी एक दूसरी श्रेणी है, जो स्वतंत्रताके पुजारीकी अपेक्षा दंभी अधिक हैं। वे बातें बड़ी बड़ी करेंगे परन्तु अमलमें लाते समय अपनी सूरत भी न दिखायँगे। वे कर्म नहीं, कर्मफल चाहते हैं। कर्म न करना पड़े और नीचा भी न देखना पड़े, इसकेलिये वे उन संगठित प्रयोगोंके लिये भी बन्धन कहने लगते हैं जो दुर्बन्धनोंको नष्ट करने के लिये किये जाते हैं। इसप्रकार एक तरफ़ तो सुधारकोंसे प्रशंसा पानेकी चेष्टा करते रहते हैं, इतना ही नहीं किन्तु उनकी सेवाको भी क्षुद्र कह कर अपने अहंकारका परिचय देते हैं; और दूसरी तरफ़ रूढ़िभक्त समाजका साम्हना करनेकी कठिनाईसे भी बच जाते हैं। इसप्रकार ये दोनों हाथ लड्डू लूटना चाहते हैं। अगर कोई व्यक्ति समाजके अत्याचारों के साथ भिड़ना चाहे तो ये बहादुर उसकी कौड़ीभर भी सहायता नहीं करेंगे। इतनाही नहीं, जरूरत पड़ने पर ये कट्टर साम्प्रदायिकता तथा कट्टर जातीयता का परिचय देंगे। ऐसे लोग इतनी अधिक संख्यामें हैं कि सुधारक नामधारियोंपर विश्वास करके कोई काम करना कठिन होगया है। इनमें स्वाधीनताकी भावना या उदारता नहीं है, किन्तु स्वार्थपरता, कायरता और दंभ है। सत्यसमाजकी स्थापनामें ऐसे

लोगोंका कटुक अनुभव भी कारण हुआ है। सत्य-समाज इसलिये है कि ऐसे लोगोंका संगठन हो, जो कोरी बड़ी बड़ी बातें न बनाकर संगठित होकर रूढ़ियों और संकुचितताओंका सामना करें।

तीसरी श्रेणी उन लोगोंकी है जो वास्तवमें सुधारक हैं, पर जरा बड़े आदमी कहलाते हैं। वे समझते हैं कि "हमारा व्यक्तित्व बहुत बढ़ा चढ़ा है। आर्थिक दृष्टिसे हम समर्थ हैं। हमारे पास जितने चाहे सहायक हैं। समाज हमारा कुछ नहीं कर सकता। हमें किसी बन्धनकी या उत्तरदायित्वकी जरूरत नहीं है। हम बड़े हैं, समर्थ हैं" आदि। ऐसे लोग सुधारक तो पूरे हैं, परन्तु अभिमानवश उसका पूरा उपयोग नहीं करपाते। वे दूसरोंसे कुछ लेना तो चाहते हैं, पर देना नहीं चाहते। इसीलिये किसी बन्धनमें पड़ना उन्हें पसंद नहीं है। इनका अभिमान इनकी शक्तियोंको व्यर्थ नष्ट कररहा है।

चौथी श्रेणी उन लोगों की है, जो सचमुच सुधारक हैं, अपनेको बड़ाभी नहीं समझते, नम्र भी हैं किन्तु जिनका जीवन प्रतिक्रियाके युगमें से गुजर रहा है। समाजके अत्याचारों और मूढ़ताओंके नामसे वे इतने दुःखी और क्रुद्ध होगये हैं कि अच्छा या बुरा किसी भी तरहका बन्धन वे पसंद नहीं करते। उनके ये विचार भूलसे भरे हुए हैं, उनमें अनुभव और विचारकताकी कमी है, परन्तु उनमें नीचता नहीं है, दंभ नहीं है। ये ही लोग हैं जिनसे कुछ कहने को जी चाहता है।

अगर किसी आदमीको एक ऐसी कोठरीमें बन्द कर दिया जाय जहाँ प्रकाश और हवा दुर्लभ हो, चलना फिरना कठिन हो, तो छूटतेही उसे जङ्गलकी या मैदानकी खुली हवा सब से अच्छी मालूम होगी। वह समझेगा कि स्वर्ग है तो यही है। मकानोंको वह बन्धन समझने लगेगा। परन्तु उसका यह समझना भूलसे भरा हुआ होगा। खुले स्थानमें रहना थोड़े समयके लिये सुखप्रद हो सकता है, परन्तु सदाके लिये नहीं। वर्षामें, या ज्येष्ठकी धूपमें, या माघकी रात्रिमें उसे घरकी आवश्यकता मालूम होगी ही। सामाजिक क्षेत्रमेंभी इस सामाजिक प्राणी–मनुष्य—की यही दशा है। यह समाजके कठोर और अन्याय्य बन्धनोंसे घबरा कर मौक़ा पाकर भाग खड़ा होता है, और चिल्लाने लगता है कि हमको समाज नहीं चाहिये, कभी नहीं चाहिये। परन्तु इस प्रकार न तो वह टिक सकता है, न दूसरोंको कुछ अवलम्बन देसकता है। जिस दुर्दशामें वह पड़ा हुआ था, उस दुर्दशामें पड़े हुओंका वह उद्धार भी नहीं कर सकता।

जो लोग यह कहते हैं कि हमें बन्धन नहीं चाहिये, वे यह तो अवश्य चाहते हैं कि अगर वे बीमार पड़े तो कोई उनकी सहायता करे। अगर उनके यहाँ कोई मर जाय तो उसकी अंतिम–क्रियामें कोई उन्हें सहायता दे। परन्तु यह सहायता क्या उन्हें योंही मिलजायगी? क्या इसके बदलेमें उन्हें भी ऐसी ही सहायता दूसरोंको न देनी पड़ेगी? इस प्रकार यह मित्रताका बन्धन सिरपर आ ही पड़ेगा। और जब यह मित्रताका बन्धन विशालरूप धारण करेगा — और करेगा अवश्य क्योंकि विवाह-शादी, सहभोज आदि तंतु चारों तरफ फैलकर एक जालसा बिछा ही देंगे–तब यही मित्रमंडल समाज कहलायगा। मानव–जीवन बिना किसी समाजके रह नहीं सकता। समाज बदला जासकता है, नया बनाया जासकता है, परन्तु समाज चाहिये अवश्य।

एक ही उद्देशको लेकर काम करनेवाले मनुष्य अगर संगठित होकर काम न करें तो वे कुछ नहीं

कर सकते। अपने भावावेगका कोई स्थायी प्रभाव वे समाजपर, यहाँ तक कि अपनी सन्तान परम्परा पर भी, नहीं डाल सकते। वर्तमान समाजतंत्रसे अगर आपका दिल बिलकुल उखड़ गया है, परन्तु आप बिगड़े-दिल बन कर ही सन्तुष्ट होकर रहजाते हैं तो ऐसे लाखों बिगड़े-दिल भी क्या कर सकेंगे? आप एक तरफ जायँगे, आपके कुटम्बी दूसरी तरफ जायँगे। आपकी युक्तियां असर करनेवाली होने परभी असर न करेंगी, क्योंकि आप समाजहीन बनकर रह-सकते हैं, परन्तु आपकी पत्नी नहीं रह सकती। कदाचित अपवाद रूपमे वह भी रहजाय तो यह परम्परा बहुत दूर न जायगी। फिर आप जहां के तहां पहुँच जॉयगे।

ऐसा कौनसा समाज है, कौनसी जाति है, कौनसा नगर वा गाँव है, जहाँ ऐसे बिगड़े-दिल न हों? इतने लोगोंने अगर संगठित होकर कोई काम किया होता तो पंचायतोंके गढ़ कभीके धराशायी होगये होते। परन्तु सब अकेले अकेले हैं, लाखों होकर के भी अकेले हैं और अपने अपने स्थानोंपर रूढ़िभक्तोंके द्वारा पिसरहे हैं। ये लाखों आदमी अगर एक संगठन बनाकर एक बार चिल्ला भी दे तो रूढ़िभक्तों-अन्धविश्वासुओं-के दिल दहल जाँयगे, और वे आपका रास्ता छोड़देंगे।

दुनियाँमें ऐसा कौनसा कार्य है जो संगठनके बन्धनमें बँधे बिना होगया है? चाहे महावीर, बुद्ध ईसा, मुहम्मद, दयानन्द की क्रांति हो, चाहे वाशिंगटन लेनिन, गांधी और कमालपाशाकी क्रांति हो, चाहे हिटलर और मुसोलिनीकी क्रांति हो, सबके भीतर संगठनके बंधनमें बँधेहुये एक अनुशासनपूर्ण उत्तरदायी समूहकी आवश्यकता थी, है और रहेगी।

उपर्युक्त शहरमें अगर १५००-२००० आदमी ऐसे हैं जो सत्यसमाजके नैष्ठिक सदस्यके समान हैं, तो वे देखें कि उनने पुरानी समाजके बन्धनोंसे अपनेको और अपने कुटम्बियोंको कितना बंधन-मुक्त बनाया है? समाज-सुधारके कोई भी कार्य करते समय उन्हें बाहिरी बल कितना मिलता है। और वे समाजके साम्हने कितने खड़े हो सके हैं? और अगर ये १५०० आदमी एक समूह बनकर कामकरें तो क्या न कर सकेंगे? आज गाँव गाँवमें, गली गलीमें ऐसी विधवाएँ हैं जो समाजका बल न मिलनेसे अपना विवाह नहीं कर पातीं। वे व्यभिचार करती हैं। भ्रूणहत्या करती हैं? ऐसे सुशिक्षित युवक हैं जो समाजिक बलके अभावमें आवश्यक होने पर भी दूसरी जातिमे शादी नहीं कर सकते। हॉ, वे अनमेल-विवाह करते हैं, आत्महत्या करते हैं, व्यभिचार करते हैं। अनेक गृहस्थी ऐसे हैं जो सहयोगियोंका बल न मिलनेसे कुरूढ़ियोंको भंग नहीं कर सकते। वे निराश होकर उनके साम्हने सिर झुका देते हैं। आप लोग शायद उन्हें बल देनेका दम भरेंगे, परन्तु वे आपको कहाँ ढूँढ़ें? और मिलनेपर भी विश्वास कैसे करें? क्योंकि आपके सरीखी बातें करनेवाले तो औरभी हैं जो मौके पर साफ निकलकर भाग जाँयगे। आपमें और उनमें क्या अन्तर है, यह वे कैसे समझें? फिर आपको समझना ही तो उनके जीवन का एकमात्र काम नहीं है, इसलिये आपको समझने के लिये अधिक समय कहाँसे लावें? अगर आपपर विश्वास भी करलिया तो आप सरीखे दो चार ही तो खोजे जासकेंगे। आप सरीखे सब लोगोंको खोजना कोई छोटा काम नहीं है कि हर एक कर ले और जल्दी कर ले। यह तो तभी होसकता है कि जब आपका एक संगठित समुदाय हो। और वही तो समाज

है। इतिहासके प्रारम्भसे बिना संगठनके कुछ काम नहीं हुआ, फिर इस संगठनके युगमें आप एक संगठनको बन्धन कहें, इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात क्या होगी ?

जहाँ कुछ कार्य करना है, वहाँ जिम्मेदारीका भान और कर्तव्यकी विवशता तो होनाही चाहिये, अन्यथा कुछ कार्य हो ही नहीं सकता। आप विजय प्राप्त करना चाहें परन्तु सैनिकताके अनुशासनका जरा भी पालन न करना चाहें तो आपने सर्वनाशके सिवाय और क्या कर सकेंगे ? हाँ, यह अवश्य देखना चाहिये कि अनुशासन अनुचित और अनावश्यक तो नहीं है। सो सत्यसमाजमें ऐसा कोई अनुचित अनुशासन नहीं है। साम्प्रदायिक कट्टरता, जातिपाँतिका विरोध और समाज-सुधारकता का ही अनुशासन है। अगर आप इतनेसे अनुशासन को बन्धन कहें, तब आप क्या कर सकेंगे ? जब आप इतनीसी जिम्मेदारी लेनेको तैयार न होंगे तो आप-पर कौन भरोसा करेगा ? और आपकी बातोंका क्या मूल्य होगा ?

आपको बन्धनके नामसे जो घृणा होगई है, उसपर आप गम्भीरता से विचार करें। आप अपनी शक्तियोंको असंगठित दशामें रखकर उनको निरर्थक न बनावें। यदि आप एकही शहरमें १५०० हैं तो थोड़ेही प्रयत्नसे १५ हजार और लाख हो सकते हैं। और यह संघठित संघ जिस कामको हाथमें उठा लेगा, फिर उसकी मजाल है कि वह पूरा न हो ! आज आप पानीके कणोंकी तरह बिखरे हुए हैं, इससे आप कुछ ठंडक पैदा कर सकें यह सम्भव है। परन्तु समाजमें लगी हुई आगको नहीं बुझा सकते। इसके लिए तो संगठित होकर मूसलधारसे बरसनेकी आवश्यकता है। इसके लिए सत्यसमाज बहुत कुछ उपयोगी हो सकता है। इसलिये आप अच्छी तरह से विचार करें कि क्या यह बन्धन है ?

२–

पं० रामचंद्र जी शर्मा का अनशन।

भारतवर्ष सरीखे अहिंसा प्रधान देशमें धर्मके नामपर पशुबलि हो, यह जितना आश्चर्य जनक है, उतना ही मर्मभेदी है। जिन देशोंमें फीसदी ९९ आदमी मांसभक्षी हैं और जिनने सभ्यताका पाठ अभी अभी सीखा है, उन देशोंने भी कमसेकम पशुवधको धर्म समझना छोड़ दिया है। पापको पाप समझकर करना एकबात है; पापको पाप न समझना, यह दूसरी। परन्तु पापको धर्म समझना यह तो असह्य है, अक्षन्तव्य है। परन्तु लज्जाकी बात है कि भारतवर्षमें यह होरहा है। और यह लज्जा तब और बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि विद्वान, पंडित और शास्त्री कहलानेवाले इसके समर्थक हैं। अभी दक्षिणमें ऐसेही एक भाईने यज्ञ रचाया था और इस डूबी हुई कुप्रथाका पुनरुद्धार करनेका असफल और पापमय प्रयत्न किया था। देशमें अभी भी ऐसे स्थान हैं जहाँ आज निरीह पशुओंकी बलि दी जाती है। उसमें कलकत्तेके कालीघाटका काली-मंदिर बहुत प्रसिद्ध है। भारतवर्षका यह कलंक बंगाल सरीखे सुशिक्षित प्रांतका महाकलंक है। आज इस बातके समझानेकी जरूरत नहीं है कि पशुबलि महापाप है, निरर्थक है, बर्बरता है। इस बातको प्रायः सभी समझते हैं, परन्तु स्थितिपालकता उनसे यह पाप कराती है। किसीभी पुराने रीति रिवाज को अनादि कहनेका अज्ञान और मिथ्यात्व लोगोंसे ऐसे ऐसे पाप कराते हैं। स्थितिपालक मनोवृत्तिको नष्ट कर देनाही इसका एक मात्र उपायहै।

इसके लिये श्रीयुत् पं० रामचंद्रजी शर्मा एक नया शस्त्र काममें लारहेहैं। पं० रामचन्द्रजी इस विषयमें प्रसिद्ध होचुके हैं। माँगरोलके-गोवध प्रकरणमें उनने आमरण उपवासका सत्याग्रह किया था, जिसमें वे सफल हुये थे। यह उपाय वे कलकत्तेमें भी काममें ला रहे हैं, और उनने कालीमाताके आगे पशुबलिके विरोधमें आमरण उपवासका निश्चय किया है, और उनके उपवास शुरू भी होगये हैं। इस विषयमें देशके बड़े बड़े नेताओंका भी ध्यान आकर्षित हुआ है। कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस कार्यकी बड़ी प्रशंसा की है। अन्य नेताओं ने भी प्रशंसा की है। भला ऐसे स्तुत्य कामकी, और ऐसी वीरताकी कौन प्रशंसा न करेगा? फिर भी इस विषयमें कुछ विचार करना आवश्यक मालूम होता है।

म० गाँधी और राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्रप्रसादजी ने अभी ऐसे उपवास न करनेकी सलाह दी है। यह सलाह उपेक्षणीय नहीं है। खासकर म० गाँधीजी तो इस शस्त्रके निर्माता ही हैं, और हर प्रकार के सत्याग्रहके अङ्ग, प्रत्यङ्गोंसे अच्छी तरहसे परिचित हैं, इसलिये उनकी बात अवश्य मानी जाना चाहिये।

माँगरोलके सत्याग्रह और इस सत्याग्रहमें फर्क है। वहाँ पर गोवधकी कुप्रथा नई खड़ी की जारही थी, और वह एक स्टेटका मामला था जिसके विरोधमें प्रायः सारी प्रजा थी और जो एक तरह से शीघ्रही राजनैतिक आन्दोलन धारण कर लेता। परन्तु यहाँ ये सब बातें नहीं हैं। यहाँ मूढ़वर्गमें चिरपुरातन अन्ध-विश्वास है और समझदार वर्ग में है रोटियोंकी चिन्ता। इन दोनों बाधाओंको दूर करनेके लिए कुछ तैयारी करनेकी जरूरत है, और इसके लिये कुछ समय चाहिये।

पं० रामचन्द्र सरीखे वीर जहाँ चाहे तो मिल नहीं जाते। इसलिये अगर उनके प्राणोंका बलिदान भी किया जाय तो इतने सस्ते में नहीं होना चाहिये। इसका फल एक क्षणिक उत्तेजना या विरोधियोंके नकटापनका थोड़े समयके लिये प्रदर्शन ही न होना चाहिये। अथवा ऐसा न हो कि विरोधियोंके दोनों हाथोंमें लड्डू रहें। ऐसे अवसरोंपर प्रायः ऐसा होता है कि प्राणरक्षा करना आवश्यक हो जाता है। त्यागी के लिये नहीं, किन्तु उसके समर्थकोंके लिये महात्मा गाँधीजी जब उपवास करते थे, तब उनको इतनी चिन्ता न होती थी जितनी कि उनके अनुयायियोंको। इसका फल यह होता है कि किसी भी प्रकारसे समझौते का प्रयत्न होने लगता है। और इसमें विरोधी लोग अपनी मुट्ठी काफी गरम कर लेते हैं तथा और अनेक तरहसे स्वार्थसिद्धि कर लेते हैं और समझौता कुछ ऐसा ढचरा पचरा होता है कि उसका कोई स्थायी प्रभाव नहीं होता।

इन सब बातोंका विचार करके यह उचित मालूम होता है कि यह सत्याग्रह दो एक वर्षके लिये स्थगित कर दिया जाय। और फिर सारे बंगालमें इसके लिये प्रयत्न किया जाय, बाधाएँ हटाई जाँय। और जब अच्छी तैयारी हो जाय, तब यह सत्याग्रह किया जाय। अभी जल्दी जल्दीमें प्रयत्नकी दिशा ठीक न रह सकेगी। खैर, जबतक ये वाक्य पाठकों के पास पहुँचेंगे, तबतक इस विषयमें न मालूम क्या होगया होगा। परन्तु इस मामलेमें पं० रामचन्द्रजीको पूर्ण सफलता मिले, यह हमारी पूर्ण इच्छा है।

३—विविध विरोध।

पिछले दस बारह वर्षोंमें मेरे विचारोंका तथा

इसीलिये मेरे व्यक्तित्वका विरोध कुछ कम नहीं हुआ है । इतना होनेपर भी विचारोंका प्रवाह रुका नहीं, किन्तु वह समाजके मनपर छाप मारता ही गया तथा अपना क्षेत्र भी बढ़ाता गया । आज जब कि उन विचारोंने सत्यसमाजके नामसे एक मूर्तिमान रूप धारण किया, तब विरोधका अनेक दृष्टियोंसे बढ़ना स्वाभाविक था । विरोधकी पर्वाह न मैंने कभी की है, न आज कर रहा हूँ । सिर्फ पाठकोंको इस विषयकी थोड़ीसी जानकारी करा देना आवश्यक है, जिससे वे अपने कर्तव्यमें और अग्रसर हो सकें, तथा विरोधियोंकी गति-विधिका भी ध्यान रख सकें ।

कुछ विरोधी तो नक़ली और भाड़ेतू हैं । वे टका-दास हैं । आज हमारी तरफ़से उन्हें पैसा मिलने लगे तो हमारी बजाने लगेंगे; अगर हमारे विरोधियोंकी तरफ़से पैसा मिलता है तो सत्यसमाजके विषयमें बिना कुछ पढ़े वे हमें गाली देते हैं । ऐसे भाड़ेतू लोगोंकी तो न यहाँ क़ीमत है, न वहाँ ।

कुछ विरोधी लोग ऐसे हैं जो बदनाम करने के लिये सत्यसमाजपर अनैतिकताका दोषारोपण करते हैं । कोई कहते हैं कि सत्यसमाज मांसभक्षियोंकी संस्था है; कोई कहते हैं कि सत्यसमाजियोंको पाप नामकी चिड़ियाका पता भी न होगा । कोई उसमें व्यभिचारकी छूट बताते हैं । इसप्रकार विरोधी लोग जितना झूठ बोल सकते हैं, बोलते हैं ।

सत्यसमाजका मेरु-दंड ही नैतिकता है । उसने अपने सिरपर से दार्शनिक आदि विविध विषयोंका बोझ उतार करके नैतिकताको ही अपनाया है । क्रियाकाण्डको गौण बनाकर अहिंसा, सत्य आदिको ही मुख्यता दी है । इस प्रकार सत्यसमाज जिस बातको मुख्यता दे रहा है, उसी बातका सर्वथा अभाव बतलानेकी कुचेष्टा विरोधी लोग किया करते हैं ! स्त्रियोंकी इज्जत, मानमर्यादा आदिको बढ़ानेके लिये अधिकसे अधिक उदारता का परिचय देने वाला सत्यसमाज है । उसके विषयमें कहा जाता है कि सत्यसमाज स्त्रियों को व्यभिचारिणी बनाता है ! सत्यको तो सत्यसमाजमें परमेश्वर सरीखा स्थान दिया गया है । परन्तु कहा जाता है कि सत्यसमाजमें झूठ बोलना धर्म कहा गया है ! इस प्रकार सत्यसमाजके उद्देश और नियमोंसे विरुद्ध बातें कही जाती हैं । इसके विषयमें कहीं कहीं एक चालाकी यह की जाती है कि अपवादको उत्सर्ग बना दिया जाता है । अहिंसा, सत्य आदिकी व्याख्यामें मैंने लिखा है कि ऐसे भी अवसर आते हैं, जब हिंसा अहिंसा और अहिंसा हिंसा हो जाती है; सत्य असत्य और असत्य सत्य हो जाता है । सभी धर्मशास्त्रोंमें यह बात स्वीकार की गई है । विरोधी भाई—जो कि जैनधर्मके पालन करने वाले हैं—भी इस बातको मानते हैं क्योंकि जैनशास्त्रोंमें इस प्रकारके विवेचन स्पष्ट रूपमें अनेक जगह पाये जाते हैं । परन्तु ये भाई जब सत्यसमाजमें भी यही बात देखते हैं तब आपेसे बाहिर हो जाते हैं और कहने लगते हैं कि सत्यसमाजका क्या, वहाँ तो झूठ बोलना भी सत्य कहा गया है ! यद्यपि सत्यसमाजमें इस विषयमें अधिक दृढ़ता और स्पष्टता है, फिर भी इन भाइयोंको उसमें अनाचारके स्वप्न आते हैं ।

यह सैद्धान्तिक विरोध व्यक्तिगत रूप भी पकड़ रहा है और उसके कई कारण हैं । जिन संस्थाओंसे अभी मेरा आर्थिक सम्बन्ध है, उनके विरोधियोंका ये खासा उपयोग कर रहे हैं । पिछले पाँच छः वर्षसे मैं महावीर विद्यालयमें प्राकृत और न्यायका शिक्षण देता हूँ । इस [illegible]

विरोधी दल है, जो विद्यालयको बदनाम करने के लिये १०-१५ वर्षसे प्रयत्न कर रहा है। और ऐसा कोई भी प्रसङ्ग ये लोग खाली नहीं जाने देना चाहते जिससे विद्यालयकी बदनामीहो सकती हो। मेरे विषय की चर्चा जब बहुत फैली तो कुछ दिगम्बर बन्धुओंने इस विरोधी दलका उपयोग किया और सत्यसमाज के विषयमें जितने झूठे और बेबुनियाद लेख लिखे गये थे, वे सब इन लोगोंके पास भेजे और इन लोगों ने इस सामग्रीका उपयोग करके विद्यालयको बदनाम करनेकी पूरी चेष्टा की। इसप्रकार विद्यालयके साथ जो इनकी चिरपुरातन शत्रुता थी, उसका प्रदर्शन इनने मेरा विरोध करके किया। इसीप्रकार पिछले नव वर्षोंसे जैनप्रकाशसे भी मेरा सम्बन्ध है। मैं उसमें प्रति सप्ताह अग्रलेख लिखा करता हूँ। स्थानकवासी समाजमें जैनप्रकाश और कान्फरेंसका विरोधी एक दल है और उसमें कुछ मुनियोंका भी समूह है। ये सब जैनप्रकाश और कान्फरेंसकी निन्दाके लिये कुछ न कुछ करते ही रहते हैं। खासकर अजमेर साधुसम्मेलनके बाद से यह झगड़ा कुछ और बढ़ गया है। बादरायण सम्बन्धसे यहाँ भी मुझे घसीटा गया, और जैनप्रकाशकी निन्दा करनेके लिये मेरी निन्दा करडाली गई। विरोधकी यह नई दिशा है, जो पिछले कुछ महीनोंसे विरोधियोंने स्वीकार की है। यद्यपि विरोधियोंको इसमें सफलता नहीं मिली है, उनकी लाख चेष्टा करने पर भी मेरा सम्बन्ध उन संस्थाओंसे बना रहा है, फिर भी यहाँ मैं इतना कहदेना उचित समझता हूं कि आर्थिक दबाव का असर न मेरे ऊपर कभी पड़ा है, न पड़ सकता है। आजसे नव वर्ष पहिले जब इन्दौरमें मेरे साम्हने यह परिस्थिति आई थी, उस समय आर्थिक दृष्टिसे मेरा भविष्यअंधकारमय होनेपर भी मैं जरा भी न झुका था। मैंने अपने विचारस्वातन्त्र्य की रक्षाके लिये आजीविकाको ठुकरा दिया। अब मैं और मेरे विरोधी अच्छी तरह स्वीकार करते हैं कि यह सब मेरे हक़में अच्छा हुआ और विरोधियोंके हक़में बुरा। खैर, जब मैं उस समय नहीं झुका तो आज तो झुक ही कैसे सकता हूँ? बल्कि आज तो मुझे इन साम्प्रदायिक संस्थाओंका सम्बन्ध बोझ मालूम होता है। जो काम मैंने हाथमें लिया है, वह जितना महान है, और उसके लिये जिस स्वतन्त्रता की आवश्यकता है उसके खयालसे तो इन संस्थाओंके सम्बन्धका कुछ मेलही नहीं बैठता। इन संस्थाओंको थोड़ा बहुत असंतोषका कारण हो या न हो, परन्तु मुझे तो है ही। फिर भी अगर मैं इस बंधन में पड़ा हूँ तो सिर्फ इसलिये कि सत्यसमाज जबतक पालनेमें झूलरहा है, तबतक इसके लिये कुछ दूध पानीका इन्तजाम कर सकूँ। मुझे कोई सम्पत्तिकी आवश्यकता नहीं है। मुझे तो सादा भोजन और सादा वस्त्रके सिवाय कुछ नहीं चाहिये। सो इसके लिये ग़रीबी गुजर लायक मैंने इन्तजाम करही लिया है। और उसमें से भी जो कुछ बचेगा, वह सब सत्यसमाजके लिये है। सत्याश्रमके लिये अनुकूल स्थान न खोज पानेसे तथा उसके लिये स्थान वगैरह के प्रारम्भिक साधन न मिलनेसे मैं इन बन्धनोंको अपनाये हुए हूँ। अन्यथा मैं तो आज ही स्वतन्त्र हो जाना चाहता हूँ। मैं अपने इन विचारोंमें चतुरता और कायरता दोनों देखता हूँ। चतुरता इस लिये कि इस तरह मेरी गुजर होती है, समाजके कार्योंमें—प्रवास वगैरह में—कुछ आर्थिक सहायता ले लेता हूँ, तथा भविष्यके लिये कुछ बचा भी लेता हूँ जो कि सत्यसमाजके काम आयगा। यह चतुरता तो है ही। कायरता इसलिये कि इसप्रकार

के बनियाई हिसाबसे क्रान्ति रुकती है। एकबार निर्भय होकर कूद पड़े तो रास्ता आपसे ही निकल आता है। इस दृष्टिसे यह मेरी "कायरता ही है। अगर विरोधी बन्धु अपने प्रयत्नमें सफल हो जायँ तो यह कायरता आपसे ही छूट जाय; और "मैं बड़ा त्यागी हूँ"—इस प्रकारकी प्रशंसा मुफ्तमें ही लूट लूँ, सो यह मुनाफ़ा अलग।

सच पूछा जाय तो परिश्रम करनेके सिवाय और कोई विशेष कष्ट मैंने सहा नहीं है। एक प्रकार से यह खाना खाली सा ही पड़ा है। अगर इसी तरह कुछ भर जाय तो ठीक ही है।

यह है विविध विरोधोंका वह ढङ्ग, जिसका बतला देना मैंने उचित समझा है। मैं अपना काम करनेकी पूरी कोशिश करूँगा। विरोधियोंका विरोध भी उड़ जायगा। उनमें से ही न मालूम कितने सत्यसमाजकी वेदीपर मस्तक झुकाने आयँगे। सत्यसमाजकी उपयोगिता अभी बहुत थोड़े लोगोंको समझमें आई है। भविष्यमें यह संस्था क्या करना चाहती है और क्या करेगी, इसकी तो अभी कल्पना भी नहीं की जा सकती, या की जा सकती है तो छोटे मुँह बड़ी बातके डरसे कही नहीं जा सकती। परन्तु जिनने इसकी उपयोगिताको समझा है उनकी ज़िम्मेदारी बड़ी है। सत्यसमाजकी नींवको दृढ़ बनानेके लिये जो जो आवश्यक कार्य हैं उनके लिये सारी शक्ति लगाकर सर्वतोमुख प्रयत्न करना उनका कर्तव्य है। विविध विरोधोंका शाब्दिक उत्तर देनेकी अपेक्षा यह उत्तर असंख्यगुणा प्रभावशाली होगा।

आवश्यकता है।

गाँधी छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्रीके लिये हरजगह जैन एजेंटों की जरूरत है। एजेंसी की इच्छा रखने वाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स सन्तनगर लाहौर।

सौरजगत

(SOLAR SYSTEM)

(ले०—श्री० बा० रघुवीरशरणजी)

सौर जगत् की रचना विचित्र है। सूर्यदेव केन्द्र में विराजमान होकर तेजस्वी राजाकी तरह अन्य ग्रहरूप पदाधिकारियों व उनके आधीन उपग्रहरूप साधारण प्रजाको अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। वे अपने उत्तम शासनद्वारा कभी किसीको उसके स्वकीय धर्मसे विच्छिन्न नहीं होने देते। अर्थात् सूर्य की आकर्षणशक्तिके वशीभूत होनेके कारण कोई ग्रह तथा उपग्रह अपनी कक्षासे बाहर भ्रमण नहीं कर सकता।

सूर्यको घेरकर बुध, शुक्र, पृथ्वी, मङ्गल, बृहस्पति, शनैश्चर, युरेनस और नैपच्यून* ये आठ ग्रह (Planets) तथा बहुतसे उपग्रह (Satellites) अपने अपने निर्दिष्ट पथपर भ्रमण कर रहे हैं। इन में से जो बड़े बड़े ग्रह हैं, उनके भी कई कई उपग्रह हैं जो उनकी परिक्रमा करते रहते हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों धूमकेतु तथा उल्कापुंज सूर्यके चारों ओर घूमते रहते हैं। इन ग्रह, उपग्रह, धूमकेतु तथा उल्कापुंजसे वेष्टित सूर्यद्वारा विश्वका जो भाग अधिकृत है, उतने भागको सौर जगत् (Solar System) कहते हैं।

सूर्यके सबसे अधिक समीप बुध है। वह अन्यान्य सभी ग्रहोंसे छोटा है। सूर्यके चारों ओर उसका परिभ्रमणकाल ८८ दिनका है, अर्थात् बुध—लोकमें ८८ दिनका वर्ष होता है। बुध

*इन दोनों ग्रहोंके नाम प्राचीन आर्य ग्रन्थोंमें नहीं हैं, इसलिये मजबूरन उनके अंगरेजी नाम ही लिखे जा सकते हैं।

के बाद शुक्र है। यह बुधसे बड़ा है, और इसका परिभ्रमणकाल २२५ दिनका है अतएव शुक्रलोकमें २२५ दिनका ही वर्ष होता है। शुक्रके बाद पृथ्वी है, जिसपर हम रहते हैं। यह शुक्रसे बड़ी है और यह ३६५ ¼ दिनमें सूर्यकी परिक्रमा करती है। शुक्र से पृथ्वी कुछही बड़ी है। बुध और शुक्रकी कक्षाएँ पृथ्वी से छोटी हैं और वे पृथ्वी ही की कक्षाके अन्तर्गत हैं।

पृथ्वीके बाद मंगल ग्रह सूर्यके चारों ओर घूमता है। यद्यपि यह पृथ्वी और शुक्र से छोटा है, लेकिन इसकी कक्षा बड़ी होने के कारण इसका वर्ष परिमाण ६८७ दिनों के बराबर है। इसके आगे वृहस्पति है। सूर्यके अतिरिक्त वृहस्पति सौर जगतके अन्य सभी ग्रहोंसे बड़ा है। उसे सूर्यकी परिक्रमा करने में ४३३७ दिन लगते हैं। वृहस्पतिकी कक्षा के बाहर शनैश्चरकी कक्षा है, जिसका परिभ्रमण काल १०७५९ दिनोंका होता है। शनैश्चरके बाद यूरेनस जो शनैश्चरसे छोटा है, अपनी बड़ी कक्षा के कारण ३०६८७ दिनोंमें पूरा चक्कर लगा पाता है। अन्तिम ग्रह नैपच्यून है। उसके वर्षका परिमाण ६०१२७ दिनका है।

सारे सौर जगत् में एकही चन्द्रमा नहीं, प्रत्येक ग्रहसे सम्बन्ध रखने वाले भिन्न भिन्न अनेक चन्द्रमा हैं। इसी कारण चन्द्रमाकी गणना ग्रहोंमें नहीं है, उसे उपग्रह माना जाता है। कोई भी चन्द्रमा स्वयं प्रकाशमान नहीं, उसे सूर्य ही से प्रकाश मिलता है। शनैश्चरग्रहके एक चन्द्रमाको छोड़कर और कोई चन्द्रमा हमारी पृथ्वीके चन्द्रमासे बड़ा नहीं है। कोई उसके बराबर हैं, कोई छोटे।

हमारी पृथ्वी केवल एक चन्द्रमा रखती है। अन्य ग्रह अधिक भी रखते हैं। जो ग्रह (बुध-और शुक्र) पृथ्वीकी कक्षाके अन्तर्गत हैं, वे एकभी चन्द्रमा नहीं रखते। मंगल और यूरेनस दो दो चन्द्रमाओंसे सेव्यमान हैं। मंगलके चन्द्र अत्यन्त छोटे हैं। वृहस्पतिके चार चन्द्रमा हैं, और शनैश्चरकी भूमिको आठ चन्द्र प्रकाशित करते हैं। नैपच्यून केवल एक चन्द्रमा रखता है।

छोटे छोटे ग्रह सूर्यके समीप और बड़ेबड़े उस से दूर हैं। छोटेछोटे ग्रहोंकी गति मंद और बड़े बड़े ग्रहोंकी गति वेगपूर्ण है। छोटे ग्रह बुद्ध, शुक्र, पृथ्वी और मङ्गल अपनी धुरीपर घूमनेमें कोई २४ घन्टे लेते हैं, पर सबसे बड़ा वृहस्पति केवल १० घन्टेमें अपनी धुरीपर पूरा घूम जाता है।

मध्याकर्षणके नियमानुसार ग्रहादि निर्दिष्ट पथ पर भ्रमण कर रहे हैं। उनकी गति सर्वतोभावसे इस नियमके आधीन है। परन्तु सौर-जगत् की बनावटमें कुछ ऐसी विचित्रता है, जिसका मध्याकर्षणके नियमसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। ये ग्रह उपग्रहादि आकाशमें इधर उधर बिखरे हुए नहीं हैं, किन्तु इनका पथ प्राय: एकही समतल पर है। हाँ, छोटे छोटे ग्रहोंके पथमें कुछ भेदभाव अवश्य है, जो विशेष ध्यान देने योग्य नहीं।

सूर्य अपनी धुरीपर पश्चिमसे पूर्वकी ओर घूमता है, और इसी प्रकार ग्रहभी पश्चिमसे पूर्वकी ओर अपनी कीली पर घूमते हैं। यही नहीं, वे सूर्यके चारों ओर भी पश्चिमसे पूर्वकी ओर ही घूमते हैं। परन्तु यूरेनस व नैपच्यून ऐसा नहीं करते। ग्रहोंके समान उपग्रहभी उसी समतल पर अवस्थित हैं और उसी प्रकार उसी दिशामें घूम रहे हैं, केवल यूरेनसके उपग्रह इस नियमसे बाहर हैं।

ऐसे ऐसे सौरजगत् न जाने कितने हैं! हमें रात्रिके सामने जो तारे दिखाई देते हैं उनमें से हमारे सौरजगत् के ग्रहों व उपग्रहों आदिके अति-

योगेश्वर ।

(लेखक—श्रीयुत भैयालालजी सराफ बी. ए. एलएल. बी. एम. आर. ए. एस. वकील सागर)

उससमय मानव-समाजही क्यों, पशुपक्षियोंका समाजभी दानवी हृदयहीनताके नीचे पड़ा पड़ा कराह रहा था। कंसने उल्टी गंगा बहानेका सूत्रपात करही दिया था। उग्रसेनका कारागृहमें तपही शायद नटवर द्वारा मामाके अंतिम संस्कारका कारण हुआ। मानवी-समाजके साथ खिलवाड़ कर शिवजीको प्रसन्न करनेके लिये जरासंध भी पीछे नहीं था। सौ सौ राजाओंकी आहुति लेकर वह भी प्रसन्न होने वाला ही था। कालियके साथी, मनुष्य तथा पशुवर्ग को संत्रस्त करने वाले पूतना, बक, हय, अरिष्ट आदि भी अपनेको अमर समझनेकी धृष्टतासे खाली नहीं थे, चाहे वे पशुपक्षी रहे हों चाहे नर-पशु। नरकासुर अपनेको प्राग्ज्योतिषपुरके अन्तःपुरमें मदन मैत्री में संलग्न दिखता हुआ अबलाओंके सतीत्वको भोगलिप्सा-शमनकी बाजारू सामग्री समझ रहा था। ज्ञानकी जिज्ञासाकी वृद्धिने मानव-बुद्धिको विभ्रममें डाल दिया था। मार्ग चाहे निकृष्ट ही क्यों न हो, जटा रखाकर समाजको ऊजड़ बनाने वाले भी स्वर्गीय साम्राज्यकी खोजमें बावले थे। समाज इस द्रुतगति से अकर्मण्यता तथा संशयवादकी ओर कदम बढ़ा रहा था कि समन्वयकी प्रतिभावाला ही कुछ प्रकाश अपने तेज द्वारा वहां फेंक सकता था। आवश्यकता को लाँघ जाने वाले नर-संहार तथा पशु-संहारने अहिंसात्मक हिंसाकी ओर भी जुगुप्सा पैदा करदी थी। ऐसी अवस्थामें सर्वतोभद्र प्रतिभाशाली शक्ति का दर्शन भारतको हुआ। उसका नाम था 'कृष्ण'। कृष्णकी क्रियाशीलता विश्वके इतिहासमें एक नवीन सम्पत्ति है। सिद्धान्तोंके साथ जीवनका समीकरण उनकी शक्तिमें था और असाधारण था।

ऐसी महानशक्ति के सम्बन्धमें भी ऐतिहासिकता की खोज सहसा उनके अस्तित्वमें विश्वास करनेकी सम्मति नहीं देती। मेगैस्थनीजके शूरसैन बिहारीदेव चाहे दूसरे न हों; पाणिनी भी "कृष्णार्जुनाभ्यांवुन" की पुकार लगावें, चाहे छांदोग्य "कृष्णाय देवकी पुत्राय" कहें, चाहे अमरसिंह जैसे विश्रुत कोषकार "विष्णुर्नारायणः कृष्णः" कहदें, ब्रह्मवैवर्त, भागवत, हरिवंश, महाभारत, वायु, ब्रह्म, विष्णु, पद्म, वामन, कर्मपुराण, गर्ग संहिता, ललित विस्तर, तथा जैन ग्रन्थोंमें भी कहीं अंशतः कहीं पूर्णतः विराजने पर भी उनके अस्तित्वमें शंका, हमारे ज्ञानका तथा मनोवृत्तिका वैचित्र्य ही है।

किन्तु विश्वधर्मका शंखनाद वे अपने पाँच जन्य से कर सके थे। थोरो, इमरसन, रसखान, दाराशिकोह तथा अनवरशाह जैसोंको तुम्हारी मुरलीधारिणी गीता विश्राविणी मूर्तिने वशंवद बनाया तो क्या आश्चर्य? हर एक आचार्य अपने अपने सिद्धान्तके पोषणको गीताकी ओर ही हाथ फैलाते हों तो इससे बढ़कर तुम्हारी गरिमाकी साक्षी खोजनेकी क्या आवश्यकता? अद्वैतवादी, आचार्य शंकर, विशिष्ट अद्वैतवादी रामानुज, शुद्धाद्वैतवादी वल्लभाचार्य, द्वैता-

---

रिक्त अन्य सौरजगतोंके सूर्य, ग्रह, उपग्रह आदि भी हैं। दूरीके कारण उनके सूर्य तकभी हमें तारे समान ही दीखते हैं। हमारा सूर्य भी अन्य सौरजगत् वालोंको तारारूपमें ही दीखता होगा।

निकटस्थ तारोंमें हमारे सौरजगत् का सबसे बड़ा ग्रह बृहस्पति है। जिस पृथ्वीपर हम रह रहे हैं, वह भी अन्य ग्रहवालों के लिए एक तारा रूपमें ही दिखाई देता होगा।

द्वैतव दी निम्बार्क, द्वैतवादी माधव आदि सब इस ओर ही टकटकी लगाये हैं।

धर्मके लिये युद्धोंकी असारता प्रमाणित करते हुए भी और कौन धर्मपर सब कुछ न्योछावर करनेको तैयार होसकता है ? ईसाकी दया, बुद्धकी क्षमा, तथा महावीरकी शांति-खोजमें क्रियात्मक चिरता पैदा करनेका श्रेय किसे प्राप्त हो ? विचारशील बुद्ध तथा महावीरको राजनीतिकुशल तथा क्रियात्मक कृष्णके रूपमें महाभारतके विस्तृत रणाङ्गणमें भी तुम्हें अहिंसाके व्यतिरेककी शिक्षा देते इन महर्षियों के जन्मके शताब्दियों पूर्व देखा। हिंसाके विरोधी ! तुमने कैसी अजीब हिंसाका पाठ पढ़ाया, जिसे जैन तथा बौद्ध धर्मभी तिरस्कृत कर सहसा ठुकरा नहीं सकते ! जैन तथा बौद्ध धर्मकी अहिंसाके समकक्ष होकर सीमित हिंसाके आसनकी प्राणप्रतिष्ठा करा देनेकी तुममें अद्भुत शक्ति थी। इस परिस्थितिको लानेका प्रयत्न जैन तथा बौद्ध धर्मके विस्तारके बहुत पूर्व तुम्हारे सिवा किसने किया ? सेवाका क्रियात्मक अर्थ स्वत: राजसूयमें सेवक बनकर भी चरितार्थ करने वाले "सर्वभूतहिते रत:" तुम्हारी कृतियोंको क्यों राष्ट्रीय ही नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय सम्पत्ति न कहा जाय ? फल-वांछाके पीछे गिर गिर कर दौड़ लगाने वाले लिप्सा-अभिभूतजन हर कदमपर कार्यमें बाधा ही खड़ी देखते। क्रियाशीलताको वैराग्य धारण के सिवा कोई मार्ग ही नहीं था, यदि निष्काम कर्मका उद्घाटन तुम्हारे द्वारा न होता। फल में अनासक्तिके कारण अनुचित कार्य होना असम्भव प्रायही होगया।

साम्यवादके आदिगुरु ! तुम्हारी उटोपियामें सामाजिक अव्यवस्था तथा अकर्मण्यताको स्थान नहीं। व्यापारियों, स्त्रियों और हरिजनोंकी करुणकथा न जाने कितने दिन और राष्ट्रीयताके साथ बाजी लगा-ती, यदि तुम "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा तेपि यान्ति परांगतिम्" की स्फूर्ति हिन्दूसमाजमें न भर देते ! परमत तथा कर्मअसहिष्णुता अपने रूपको कब छोड़ती यदि "स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह:" तुम्हारे मुखारविंद से नि:सृत न होता !

श्रीकृष्ण के उद्देश्योंमें दुष्टोंका नाश और शिष्टोंका रक्षण था। नाश तथा सुधार करनेका मार्ग एकही तो होता नहीं। तरीकोंकी विविधता पर से उनके जीवन पर कोई लांछन नहीं आता, पर हमारी थोड़ीसी बुद्धिमें जबतक कार्य-कारणका पूरा पूरा अस्थिपंजर साफ़ साफ़ अलग अलग न रख दिया जावे तबतक चरित्र की पवित्रता तथा रुचिरता बढ़ती ही नहीं।

कात्यायनी व्रत धारण करनेवालोंके हृदयमें जलकी ओर इतना तिरस्कार तथा अपमान, साथही समाजकी दृष्टिमें असमीचीन प्रतीत होनेवाला कामोद्दीपक तथा नग्नस्नान, कौन गर्ह्य नहीं कहेगा ? इन धारणाओंसे वेदान्तवादिनी किन्तु आडम्बराच्छन्न और अव्यवहारकुशल गोपियाँ मुक्त कैसे होतीं, यदि कृष्ण इस अवसरका लाभ उठा उन्हें अनुशासित शिक्षा न देते ?

बाल-शौर्य में रँगे किन्तु अपरिपक्व-वीर्य कृष्ण को रासके इन्द्रियविलाससे क्या मतलब ? ये असम्भाव्य बातें पुराणोंके प्रणेताओंकी काव्य-प्रतिभा के अनूठे विकास मात्रका फल हैं। इन्हें कवित्वको और कोई क्षेत्र खाली नहीं मिला। "एकादश समा:" के व्रजविहारीके समान-वय बालक बालिकाओंका यह विशुद्ध खेल कामुकताकी गंध देने योग्य भी समझ लिया गया। पतियोंको देव समझ उनकी सेवा करो, उन्हें छोड़ कर जाना महान पातक है—इस उपदेशको देनेवाला विमोहन कामुक होगा, यह विचारकी परिधि के बिलकुल बाहिर मालूम

होता है। कामुकताका छोटा वर अनमेल होने से कामुकताके विस्तारको तो अवसर ही प्रदान नहीं करता। किन्तु बालकोंकी सहज सौन्दर्य तथा मोहकतासे ओतप्रोत शरीरपर कौन प्रेमाभिभूत हो अपना सर्वस्व वार देनेको तैयार न हो जावेगा? वह गृहस्थ हृदयहीन कहाजाना चाहिये जो इस पुनीत दैवी विभूतिके दर्शनपर मुग्ध नहीं हो सकता। पर, गोपियोंकी दृष्टिमें असर्य्यादित किन्तु विशुद्ध प्रेम था, जो उन्हें कृष्णमें ही सब कुछ देखनेको कहता था। अच्छीसे अच्छी प्रियसे प्रिय वस्तुकी बराबरी कृष्ण करते थे, पर वहाँ कामुकताको कहाँ गुंजायश? धर्म-संस्थापनकी दम भरनेवाला कामुक न कोई युगान्तर-कारी दावा कर सकता है, न उसे निभा ही सकता है। चरित्रभ्रष्ट व्यक्ति प्रायः अलहदगी पसंद करते हैं, तथा उपदेश देना अपनी बुद्धि तथा ज्ञानके खिलाफ समझते हैं। यदि उनके हृदयमें कभी ऐसी इच्छा भी हो तो उनके सार्वजनिक उपदेशमें कोई शक्ति ही नहीं रहती। जब पतिमें विराजने वाली आत्मा उस ब्रह्मात्माका अंश मात्र है तो विश्वात्मा या उसकी उत्कृष्ट विभूतिका पतिके द्वारा या पतिके रूपमें ही पूजन क्यों अश्रेयस्कर होसकता है? फिर कामुकता भी इतनी निःसीमित कि सहस्रों गोपियाँ आपसे काम भिक्षा रोज माँगें!

तुम्हारेमें कामुकताका मिथ्या न्यास ही है। वास्तविकता समझने वाले तो योगीके अर्थमात्रको ही तुम्हारे चरित्रकी गुरुता समझानेको पर्य्याप्त मानते हैं। मल्लयुद्धमें कुशल तथा तल्लीन युवाओंको कामबाण-वेधन स्वप्न जैसा है। १२ वर्षकी अवस्था में वीर्यमें चंचलता और अस्थैर्यका स्वप्न प्रकृतिके विरुद्ध है। चरित्रभ्रष्टता कब दोष नहीं माना गया? इस सम्भावित महान आत्माके रूपमें यदि यह लांछन कालिमा लगाने योग्य गुंजायश होती तो शिशुपाल जैसे आल्हाका पठारा गाने वाले चारणसे तो यह भूल अशक्य और अक्षम्य प्रतीत होती है। फिर द्रौपदीकी "गोविन्द द्वारिकावासिन कृष्ण गोपीजनप्रियः" गर्वोक्ति क्या उस भद्र सभामें सबके समक्ष कहे जाने योग्य थी? या उनका नाम लेना मात्र लज्जास्पद था? संकटके समय दुर्बलेन्द्रिय लम्पटका ध्यान अनैसर्गिक है। किन्तु तुमने यदि भौमासुरकी असहाय पर-भुक्त सेविकाओंको शरण देकर स्त्री जातिके प्रति तथा उनके दुर्बल मातापिताओंके प्रति उपकार किया और सम्मानास्पद बनाकर स्त्रीजाति पर लगाई गई कालिमाको चरित्रभ्रष्टताके गर्तसे निकालकर बाहिर किया तो वहाँ कामुकताको कहाँ स्थान? खैर।

तुम्हारे राजनीतिक विधानोंके झगड़ेमें पड़कर न्यायकी तराजूपरसे व्यवहारको तौलनेवाले कितनी बार घबराये और कहनेभी लगे कि इनके कार्यमें अन्याय छुपा हुआ है। पर आखिर यह हमारी समझमें नहीं आता कि अपने आत्मीयोंको भी वज्र-प्रहारसे बचानेका प्रयत्न न करने वाला निर्मोही कैसे अन्यायी कहा जा सकता है? तुमने यदि तरफदारी की होती तो वृष्णि तथा अन्धक आदि कुलोंका जो आज अन्त भी खोजने पर नहीं मिल रहा है या कष्टप्राप्य हो रहा है, क्या यह सम्भव होता? किन्तु अन्यायीके अन्यायका दण्ड उसे अवश्य हो, इस सिद्धान्तके साथ बिना विचारके युद्ध करने वालों के प्रति, भले ही वे आत्मीय रहें, तुम्हारी असहानुभूति तुम्हारी न्यायप्रियताका विशुद्ध प्रमाण है। अपनी प्रिय नारायणी सेनाके दुश्मन तुम ही हो सकते हो।

द्रोणबधके परोक्ष कारण तथा 'अश्वत्थामा हतो

नरो वा कुंजरो वा' के मन्त्रदाता यदि तुम रहे भी हो तो भी द्रोणसे तुम्हारा क्या द्रोह ? न्यायके पक्षके असमर्थकको कब बलशाली बननेका अवसर तुम दे सकते थे ? अन्यायके बलिष्ठ पोषकको कबतक धृष्टद्युम्नके रूपमें खड्गधारिणी दुर्गासे दूर रख सकते थे ? धर्मके संस्थापन तथा दुष्टोंके दमनमें राजनीतिक अस्त्रोंके उपयोग होनेकी बाधा कहाँ विहित है ?

कर्ण जैसा दानी शक्तिशाली किन्तु अविचारक, आततायियोंका साथी, अन्याय-सम्पादनका समर्थक किस मुँहसे युद्धनीति बतानेका अधिकारी होसकता है ? पहियाके सुधारनेमें ही उसकी ऐहिक लीला अनायास ही समाप्त की जानेमें क्या अन्याय ? तभी घटोत्कचको अर्जुनके पराजय-मार्गका कंटकरूप बन अपना समर्पण करदेना पड़ा।

भीष्म जैसे अमर आदर्शपर शिखंडी जैसे कायरका वार आँखोंमें आँसू तथा हृदयमें दुःख-कम्पन अवश्य कर देता है। पर अन्याय-समर्थक पर क्या दृष्टि होना चाहिए, इसका इससे बढ़कर और कौन उत्कृष्ट उदाहरण हो सकता है ? तबही तो चक्र लेकर प्रतिज्ञाभङ्ग करते हुए भी तुमने अर्जुनमें बिजली फूँक ही दी। किन्तु पितामहके परलोकगमन में कृष्ण परोक्षमें भी बहुत कम सम्बन्ध रखते थे; उन्हें कलङ्कित भले ही कर दिया जाय।

जरासंधने अवश्य तुम्हारी जातिवालोंके दाँत खट्टे किये। तुम्हेंतो इन्हींने द्वारका भी भगाया, पर द्वारका पहुँचनेके बाद फिर इसी दुश्मनीको ताजी करनेकी क्या आवश्यकता थी ? तुमतो द्वारकामें अधिक सुरक्षित थे। पर ८६ सुभट किन्तु असहाय नरनाथोंकी निश्वास तुम्हारी न्यायप्रियता कैसे निष्फल होने दे सकती थी? फिर इस एकछत्र सम्राट्को जीते बगैर न्यायसम्मत तथा न्यायप्राप्त राज्यके अधिकारीका राजसूय हो ही कैसे सकता था ? इस प्रतापीके दुराग्रहका फल कितने निर्दोषोंकी जानपर पड़नेवाला था, यदि इसका अंत १४ दिन चलने वाले युद्धद्वारा ही न हुआ होता। अकारण हिंसासे तुम्हें कब मोह रहा ? स्नातक वेष मौनधारण तथा रात्रिमिलनमें क्या प्रपंच, जब युद्धके पूर्वही एक दूसरेकी मनोवृत्तिको अच्छीतरह समझ गये थे ?

शिशुपालके युद्धके आह्वानका अक्षत्रियोचित उत्तर कैसे दिया जा सकता था ? जब शिष्टता तथा वचन-बद्धताकी हदको निःसीमित करनेके प्रयत्नमें वह संलग्न होगया था ? यहतो आत्मीय भी था, पर दण्डका विधान इन सब विचारोंसे परे है, जिसका अनुशीलन भी तुममें ही ज्यादा मात्रामें विराजमान है।

सिन्धु सौ वीर के कामुक अन्यायप्रिय युवराज के सिरका निपात उसके पिताकी गोदमें भी यदि हुआ और पिताको घातक भी हुआ, सूर्य-किरणों का निष्कर्षण भी यदि इसके वधार्थ करना पड़ा, तो क्या आश्चर्य ? अन्यायके दमन करने वाले प्रबल अस्त्रकी शपथ का सम्मान न किया जाय तो धर्मसंस्थापनका कार्य अपनी पराकाष्ठाको किसको निमित्तीभूत बना कर हो ? फिर महारथियोंने किस निर्दोष नीति का सहारा लेकर उत्तराके बाल-जीवनकी चिता पर हृदय हिलानेवाले अश्रुओंकी वर्षा करादी थी ? पर, इस सबमें तुम्हारा क्या स्वार्थ, तुम्हें क्या मोह और तुम्हें क्या व्यक्तिगत विरोध ? राजर्षि मचकुन्दके क्रोधद्वारा यदि कालयवन जैसे दुर्धर्ष अन्यायी का अंत हुआ तो उसमें कौनसा अन्याय हुआ ? आखिर पृथ्वीका भार तो उतारना था ही।

साम्राज्यवादकी सर्वग्रासिनी लिप्सासे कोसों

दूर तुम जैसे ही रह सकते हैं, वरना जरासंध, कंस शिशुपाल, भौमासुर आदिकी अन्त्येष्टिके पूर्व ही तुम्हारे भाल-प्रदेशपर राजसी तिलकका दर्शन होता। स्यमन्तकमें भी तुम्हें क्या मोह हुआ? यदि यह होता तो तुम्हारे हृदयसे निष्काम कर्मयोगका प्रवाह कैसे निकलता? "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" को मूर्तिमान कौन करता? भीष्म, द्रोण, कर्ण जैसे महरथियोंके अजस्र शर निपात पांडवोंकी शक्ति को कब तक रसातलसे बचा सकते थे, यदि तुम्हारे कर-कमलोंमें अर्जुनकी बाग-डोर न होती? दुर्योधन जब दुर्बलों तथा असहायोंके प्रति "सूच्यग्रं नैव दास्यामि बिना युद्धेन भारत" गर्वसहित कहता हुआ अपनेको राजनीति-सम्राट मानता था, उस समयकी समाजको अस्त व्यस्त करनेवाली प्रहेली सामने खड़ी करने वालेका सक्रिय प्रनिकार हुए बगैर विनाशमेंसे भारतीय सभ्यता तथा अमर सिद्धान्तोंकी ज्वलन्तज्योति कहाँसे जगमगाती? महाभारत युद्धके द्वारा विनाश तथा अव्यवस्थाके ज़िम्मेवार कृष्णको बनाने वालों ने क्या कभी सोचा कि आर्य जातिको जीवित सुबूत करनेकी शक्ति कहाँ है, वा कहाँसे जन्मी थी? आदर्शोंकी कृतिका क्षेत्र और कहाँ था? विश्व-नाट्य मंचके पटाक्षेपमें यदि अन्यायकी पराजय का अंतिम दृश्य सफलतापूर्वक तुमने दिखलाया तो इससे अधिक किसके लिये चरित्रोंकी विशदताका चित्रण होता है? मृतप्राय होने वाली वीरताके पुनः दर्शनोंके लिये जनसंहार कभी कभी पोषकका कार्य करता है, न कि घातक का। पर क्या कृष्णने भगीरथ प्रयत्न इस युद्धको रोकने का नहीं किया? क्या अपने जीवनको जोखिममें डालकर दुर्योधन सभामें वे नहीं गये? क्या कर्णको भी उन्होंने नहीं समझाया? पर युद्धपर तो कौरव तुले ही हुए थे; उपदेश-द्वारा ही यदि हर जगह उद्धार होना सम्भव होता तो अवतारकी गरिमाका पूरा भान ही न होता।

वेणुद्वारा झंकृत होनेवाली गीताके आदिश्रोत! स्वतः सम्मानित गो-माताके अमृतद्वारा संसारको अमर करने वाली विभूतिके धारक! विमोहमें पड़ी कराहनेवाली जनताके एक आधार! क्रियात्मक सिद्धान्तोंके आविष्कर्ता! प्रवृत्तिमें भी निवृत्तिकी दीक्षा देनेवाले योगेश्वर! अर्जुनके व्यामोह क्लैव्यको वैज्ञानिक समीक्षा-द्वारा युद्धमें नियोजित करनेवाले भयंकर किन्तु हँसमुख कर्मवीर! अन्याय दुर्गको भस्मसात् कर धर्मकी प्रतिष्ठा करनेको जन्म लेनेवाले वटवृक्षशायी बाल गोप! खोखले अर्थवादके भीतर पुनीत सजीवता स्थापित करनेवाले मार्मिक अर्थशास्त्री, कन्दर्प-मद विशीर्ण करनेवाले किन्तु फिरभी हजारोंके पति कहे जानेवाले महीजनक! नामपर ही दो वर्णोंकी पुस्तक पर ही जीवनको भेंट करदेनेवाले युवाओंके जीवनकी लहर! आर्य धर्मको प्रायः हर पहलूसे विश्वधर्म बना देनेवाले महान आर्य! मृत्युशय्यापरसे चेतना खोते खोते तुम्हारी ओरही संकेत करने वाले "बाल के रहस्य" क्यों न तुम्हारे नाममें कल्याणपथ बतलानेकी शक्ति हो?

सत्य-समाजके सिद्धांत।

[ले०—श्री० डाँगी सूर्य्यभानुजी जैन "भास्कर" बड़ी सादड़ी (मेवाड़)]

१ (अ)—जिसप्रकार जलको कोई नहीं बनाता, उसीप्रकार धर्मको भी कोई नहीं बनाता। लोग कुए बावड़ी बनाते हैं उसी प्रकार सुधारक लोग संप्रदाय बनाते हैं। इसलिए जिस प्रकार हम अच्छा पानी

उसीप्रकार अच्छी बात देखकर प्रत्येक संप्रदायसे लाभ उठाना चाहिए।

जिसतरह कालान्तरमें हमारे पूर्वजोंके बनाये हुए जलाशयमें जीर्णता शीर्णता आजाती है, और हम उसको आवश्यकतानुसार सुधार लेते हैं, उसी तरहसे हमको हमारे बापदादाओंकी संप्रदायमें जो विकार आगये हों, उनका सुधार करलेना चाहिये जलाशयके जीर्णोद्धारसे जिसप्रकार जलको हानि नहीं पहुँचती, प्रत्युत रक्षा होती है, उसी प्रकार संप्रदाय के जीर्णोद्धारसे भी धर्मकी रक्षा होती है, धर्म नष्ट नहीं होता।

(ब) जिसतरह धन कमानेका एकही साधन नहीं होता, उसी तरह शांति प्राप्त करनेके लिए एकही संप्रदाय नहीं होता। इसीलिए हमारा ही संप्रदाय श्रेष्ठ है, यह अभिमान नहीं करना चाहिए। अगर कोई व्यापारी यह अभिमान करे कि हमारी ही वृत्ति श्रेष्ठ है और सब वृत्तियाँ निकृष्ट हैं, तो उसे हम मूर्ख समझेंगे। उसीप्रकार जो सम्प्रदायवाला यह अभिमान करे कि मेरी ही संप्रदाय अच्छी है, दूसरोंकी संप्रदायवाले पाखंडी हैं, कायर हैं, मिथ्यात्वी हैं, तो उसे भी हमको मूर्ख समझना चाहिए। हाँ; जो कोई धंधा नहीं करता और प्रमाद ही प्रमादमें अपना जीवन व्यतीत करता है तो उसे हम घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं, उसी प्रकार जो पापसे नहीं बचता पापके फलपर विश्वास नहीं करता, वह मिथ्यात्वी है, नास्तिक है पाखंडी है। जिस तरह हम किसी भी प्रकार से, धन कमाने वालेको पुरुषार्थी, उद्यमी कहते हैं, इसीप्रकार जो किसी भी प्रकारसे शांति प्राप्त करता है, पापोंसे बचता है, पाप के फलपर विश्वास करता है वह धार्मिक है, आस्तिक है, सम्यक्त्वी है।

२—मनुष्य जाति एक है, कर्मोंके भेदसे उसके भेद होगये हैं, परन्तु उनको कुत्ते-बिल्लीके भेदके समान नहीं समझना चाहिये। अस्पृश्यता नामका कोई पाप नहीं है। नहीं छूना, ऐसा विधान कोई धर्म नहीं करता। और इस समय तो यह प्रथा बिलकुल नाजायज है।

३—जब हजारों पत्नी रखने वाले भी अणुव्रती और धार्मिक कहलाते हैं, तो पुनर्विवाह करने वाली स्त्रीको पतिता क्यों समझा जाता है? इसका कोई भी उत्तर नहीं।

४—भोले लोगोंको समझानेके लिए जो कथाएँ गढ़ी गई हैं, उनमें सत्य ढूँढें। उन्हें ऐतिहासिक समझकर नहीं लड़ें। उनको चरितानुयोग समझें—पुराण समझें।

५—अतिशय आदिकी मान्यताएँ भक्ति-कल्प्य हैं। उनसे दुरभिमानकी पुष्टि होती है, अतः आत्मज्ञान और सूक्ष्म-विचारकताको ही अतिशय समझें।

(नोट) "धर्म-मीमांसा" नामक पुस्तिका पढ़ें, जिससे जीवनकी समस्याएँ सुलझें।

सर्वधर्मामृत।

(१)

[समाजोन्नति या आत्मोन्नतिके लिये जो आवश्यक नैतिक तत्त्व हैं, वे प्रायः सभी धर्मोंके शास्त्रोंमें पाये जाते हैं। जो कुछ भेद दिखलाई देता है, वह सामयिक है। इस धर्मको न समझकर एक धर्मवाले दूसरे धर्मवालोंके साथ लड़ा करते हैं, जिन बातोंमें मेल नहीं मालूम होता है उनको आगे करते हैं, और उदारतासे काम नहीं लेते, उनका समन्वय नहीं करते। इस शीर्षकके नीचे मैं सभी धर्मोंके शास्त्रोंकी अच्छी अच्छी बातोंका संकलन करना चाहता हूँ। समयाभावसे यह संकलन विषयक्रमके अनुसार न

होगा। हाँ, सम्भव है कि पीछे अगर पुस्तकाकार छपानेका अवसर आया तो यह संकलन विषयक्रमके अनुसार करदिया जाय। —सम्पादक।

तुझे कर्म करनेका ही अधिकार है, फलका नहीं; इसलिये तू कर्मफलकी लालसासे कर्म मतकर और न अकर्मण्य बननेका आग्रह कर।

भगवद्गीता—२-४७ (वैदिकधर्म)

मतलब यह कि मनुष्यको अपना कर्तव्य समझ कर कर्म करना चाहिये। कर्तव्य करनेमें अगर स्वार्थ को धक्का भी लगता हो तो उसकी पर्वाह न करना चाहिये। फलकी आशा न रखनेका यह मतलब नहीं है कि मनुष्य कर्म ही न करे। इससे तो वह और भी स्वार्थी होजायगा। यह तो फलाशाका उग्र रूप होगा। इसलिये यह कहागया है कि कर्म तो कर, परन्तु फल की आशा मत रख अर्थात् स्वार्थको मुख्यता मत दे।

चार वस्तुएँ बहुत दुर्लभ हैं। मनुष्यत्व, सत्य का सुनना, उसपर दृढ़ विश्वास होना, उसके पालन करने की अर्थात् संयमकी शक्ति होना।

उत्तराध्ययन–३-१ (जैनधर्म)

यद्यपि मनुष्याकार जन्तु होना भी कठिन है परन्तु मनुष्यत्वका अर्थ मनुष्याकार जन्तु होना ही नहीं है, किन्तु सौम्यता, कोमलता, निरभिमानता, दयालुता, विवेकशीलता आदि गुणोंवाला होना है, इसलिये यह दुर्लभ है। इसीप्रकार विश्वासका अर्थ अन्धविश्वास-विवेकहीन विश्वास-नहीं है, किन्तु विवेक और निःपक्षता के साथ जिज्ञासु बनकर सत्यकी खोज करके उसपर दृढ़ होना है।

जो विकारोंको वशमें नहीं रखता और सत्य नहीं बोलता, तृष्णा रूपी कषायरसों से भराहुआ है, वह मनुष्य काषायवस्त्रोंको धारण करनेके अर्थात् साधुवेष धारण करनेके अयोग्य है। जो जितेन्द्रिय हो, सत्यवक्ता हो, आचारविचारवान् हो, उसी सज्जनको काषायवस्त्र धारण करना चाहिये।

धम्मपद–यमकवग्ग–९-१० (बौद्धधर्म)

मनकी पवित्रता सबसे बड़ी नियामत है, सबसे बड़ा सुख है। और यह सुख उसके लिये है जो सबसे अधिक पवित्रताके लिये पवित्र है।

आवस्ता—अषेम् वोहू (पारसीधर्म)

आवस्तामें जो मन्त्रोंके शीर्षक दियेगये हैं, उन से अर्थका भान नहीं होता। वे मन्त्रोंके आद्यशब्दों से बनाये गये हैं। जैसे आदिनाथ-स्तोत्र में पहिले 'भक्तामर' शब्द होनेसे उसका नाम 'भक्तामरस्तोत्र' होगया है, उसी प्रकार ऊपरके मन्त्रमें 'अषेम् वोहू' शब्द पहिले होनेसे इस मन्त्रका नाम 'अषेम् वोहू' होगया है। पूरा मन्त्र इस प्रकार है:—

"अषेम् वोहू वहिश्तेम् अस्ती, उश्ता अस्ती, उश्ता अह्माईह्यन् अषाई वहिश्ताई अषेम्"

धन्य हैं वे जो नम्र हैं क्योंकि वे पृथ्वीके अधिकारी होंगे। धन्य हैं वे जो धर्मके भूखे और प्यासे हैं क्योंकि वे तृप्त किये जायँगे। धन्य हैं वे जो दयावान् हैं क्योंकि उनपर दया की जायगी। धन्य हैं वे जिनके मन शुद्ध हैं, क्योंकि वे ईश्वर का दर्शन करेंगे। धन्य हैं वे जो एकता कराते हैं, क्योंकि वे ईश्वरके पुत्र कहलायँगे। धन्य हैं वे जो धर्मके लिये दुःखी किये जाते हैं, क्योंकि स्वर्गका राज्य उन्हीं का है।

बाइबिल—मत्ती–५ अध्याय (ईसाईधर्म)

जिन लोगोंने अपना धन ईश्वर-प्रेमके लिये

एक भ्रमका निराकरण ।

(सत्यसमाज और पं० दरबारीलालजी)

सत्यसमाज-सम्बन्धी यह भ्रम कि-श्री० पं० दरबारीलालजीके दार्शनिक मन्तव्य सत्यसमाजके मन्तव्य हैं—आजकल साधारणतः कुछ जोर पकड़े हुए दिखाई देता है। विशेषतः जैनसमाजमें तो इस भ्रमके आधारपर सत्यसमाजका अच्छा खासा हौआ बनाया जा रहा है। बात यह है कि विरोधी बन्धुगण अपनी संकीर्ण नीति व कूपमंडूकताके वशीभूत होकर पैंतरे बदल बदलकर निर्मूल प्रतिज्ञा-वाक्यों द्वारा सत्यसमाजपर बेसिरपैरके आक्षेप करते रहते हैं और येनकेन प्रकारेण सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव व सुधारकताकी दृढ़ नींव पर खड़ीहुई सत्यसमाजको बदनाम करनेमें ही अपने कर्तव्यका पालन समझते हैं। मैं नहीं समझता कि उनका यह कृत्य सत्यसमाजके प्रतापवान सौंदर्यपर परदा डालनेमें समर्थ हो सकता है। हो भी जाय तो कुछ चिन्ता नहीं, साधारण भोली जनता उस सौंदर्य के दर्शन करनेसे वञ्चित रहे तो रहे, जानने वाले या परदा हटाकर देखने वाले तो कभी वञ्चित नहीं रह सकते। वे तो उस सौंदर्यको देखेंगे और उसपर मुग्ध होकर अपना जीवन अर्पण करके अपने जीवनको सार्थक बनायँगे। खैर।

सत्यसमाजका किसी धर्मसे विरोध नहीं है। वह तो प्रत्येक धर्मको गले लगाकर, परस्पर भिन्न व विरोधी विचारोंको अपने धर्मकी नींवपर अभिन्न दर्शाकर सारे धर्मोंको प्रेमके सूत्रमें बाँधना चाहता है, और संसारको संकीर्णता, अनुदारता व पक्षपात-पूर्ण धर्मान्धताके भयानक गड्ढेसे निकालकर उदार विवेकशील, तथा ऐक्य, प्रेम, व संगठनका आदर्श पुजारी बनाना चाहता है। वह नहीं चाहता कि धर्मके नामपर अधर्म फलेफूले, धर्मकी ओटमें पापों व दुराचारोंका ताण्डव हो, धर्मके वेशमें शैतान अपना मनोरथ सिद्ध करता फिरे। वहतो धर्मका सदुपयोग सिखाता है, धर्मका महत्त्व दर्शाकर उसे विश्वव्यापी बनाना चाहता है।

सत्यसमाजमें प्रत्येक धर्मके अनुयायीको स्थान है। जैनधर्मका अनुयायी सत्यसमाजी बननेसे अजैन नहीं हो जाता। सर्वज्ञता व मोक्षसम्बन्धी जैन मान्यताओं, या ईश्वर-सृष्टिकर्तृत्व आदि वैदिक मान्यताओं पर विश्वास रखने वाला सत्यसमाजका सदस्य हो सकता है और अपने श्रद्धानको बनाए रख सकता है। सत्यसमाजका सदस्य होनेके लिए उसे यह आवश्यक नहीं है कि वह पं० दरबारीलालजीके उन विचारोंसे सहमत हो। जिसप्रकार वैदिकधर्मका अनुयायी ईश्वरको सृष्टिकर्त्ता, कर्मफलदाता, भाग्यनिर्माता मानते हुए भी सत्यसमाजी हो सकता है, उसीप्रकार सर्वज्ञता मुक्ति आदि जैन मान्यताओंका पुजारी भी सत्यसमाजी बन सकता है। यह समझ लेना कि 'जो जैन सत्यसमाजी है, वह पं०

से.

साथियोंको दिया, अनाथ बालकोंको दिया, दीन ग़रीबोंको दिया, मुसाफ़िरोंको दिया, भिखारियोंको दिया, दासोंको बन्धनमुक्त करनेमें खर्च किया; जो प्रार्थना करते रहे और धर्मका कर देते रहे; जिनने वचन देकर निबाहा अर्थात् विश्वासघात कभी नहीं किया; विपत्तिमें जो सहनशील रहे; वे ही सच्चे मुसलमान हैं।

कुरान २-१७७

दरबारीलालजीकी तरह सर्वज्ञता व मुक्तिमें विश्वास नहीं करता होगा' बड़ी भारी भूल है। उदाहरणार्थ मुझे ही ले लीजिए। मैं सत्यसमाजका जैन पाक्षिक सदस्य हूँ, लेकिन मैं मुक्तिमें विश्वास रखता हूँ। मैं महात्मा महावीरमें महात्मा ईसा, महात्मा बुद्ध आदि विशेष पूज्य महा पुरुषोंसे कुछ अधिक घनिष्टतापूर्ण भक्ति रखता हूँ, मैं उन्हें मुक्त मानकर उनकी उपासना करता हूँ। हाँ; मैं सर्वज्ञताविषयक प्रचलित जैन मान्यतामें विश्वास नहीं करता। मैंने इसपर खूब विचार किया है, वैज्ञानिक आधारपर भी कुछ मौलिक रूपसे इस विषयका चिन्तन किया है, श्री पं० दरबारीलालजीकी तद्विषयक युक्तियोंपर भी विशेष ध्यान दिया है, इसलिए मैं निःसंकोच होकर उस मान्यताको एक अटपटी व बेसिरपैरकी कल्पना कह सकता हूँ। मैं मुक्ति मानता हूँ, इसलिए नहीं कि पं० दरबारीलालजीकी मुक्ति विषयक गणित सम्बन्धी बाधा निर्मूल है या बाधक है, बल्कि इस लिये कि मेरा हृदय–मेरी जैन संस्कारोंसे पली हुई अन्तरात्मा–उस मान्यताको प्यार करती है। युक्तियों के क्षेत्रमें पं० दरबारीलालजीको अभी उत्तर नहीं मिला है, अभीतक उनकी बाधाका परिहार नहीं हुआ है, यह मैं ईमानके ख़ातिर स्वीकार किए बिना नहीं रह सकता; यही नहीं, यदि कोई उनकी इस बाधा का ग़लत ढंगसे विरोध करे तो मुझसे वह भी सहन नहीं होता। मैं न्यायानुरोधवश उस विरोधका विरोध भी कर बैठता हूँ। मैं नहीं चाहता कि असत्य ढङ्गसे अपनी किसी मान्यताका समर्थन किया जाय। हमें ईमानदार होना चाहिए, बेईमानी से अपने पक्षका समर्थन करना एक जघन्य कृत्य है। यह देखते हुए भी कि पं० दरबारीलालजी की गणितसम्बन्धी बाधा अभीतक निश्चल है, उसका परिहार नहीं हो पाया है, मैं मुक्तिमें विश्वास रखता हूँ। इसका कारण है मेरे ऊपर जैन संस्कारोंका प्रभुत्व, मेरे हृदयकी बुद्धिपर विजय, मेरी संस्कृत अन्तरात्माकी पुकार। इसे मेरी कमजोरी कहिये या और कुछ, मगर यह पक्षपात नहीं हो सकता। पक्षपात तो यह उस समय कहा जा सकता था जब कि मैं पंडितजीकी युक्तियोंकी अवहेलना करता, उनकी बाधाका परिहार न करते हुए भी उसकी निराधार निन्दा करता, या ग़लत व भ्रमजनक ढङ्ग से पंडितजीका विरोध करता। मैं तो साफ़ कहरहा हूँ कि मुक्तिविषयक मान्यता गणितसम्बन्धी बाधा की दृष्टिसे युक्तिसंगत न होकर भी मुझे मान्य है। भलेही मुक्ति एक हवाई क़िला हो, एक कपोल कल्पना हो, फिरभी मैं उसका इच्छुक हूँ, मुझे इस इच्छा में ही आनन्द मिलता है। मैं विश्राम करनेके लिए द्वीप चाहता हूँ, ह्वेलमछलीकी द्वीपाकार पीठ नहीं: भलेही मुझे द्वीप मिले या न मिले। दुर्बलतावश मेरा हृदय इतना उद्विग्न है कि यदि मैं मुक्तिमें अविश्वास करने लगूँ तो जीवनका अर्थ मेरी दृष्टिमें कुछ नहीं रह पायगा, मुझे आत्मा भी एक कल्पित द्रव्य दिखाई देने लगेगा। मेरा आत्मामें दृढ़ विश्वास है, मैं उसकी उत्कृष्टताका हामी हूँ, फिर मुक्ति मानने में मैं क्यों संकोच करूँ ? श्री० पं० दरबारीलालजी ने अपनी चिरस्मरणीय लेखमालामें बिलकुल मौलिक ढङ्गसे सम्भवनीय सर्वज्ञताका मंडन किया है, आत्माकी उत्कृष्टतापर अच्छा विवेचन किया है। मैं उसे मानता हूँ। उसको मानना ही मुक्तिका मानना है। उत्कृष्ट आत्मा फिर जघन्य बनकर दुःख उठाये, फिर नीचे गिरे, यह बात हृदयको चोट करने वाली है। ख़ैर; तात्पर्य यह है कि मुक्तिमें विश्वास रखनेवाला भी सत्यसमाजी हो सकता है, और

अविश्वास रखने वाला भी। यही बात सर्वज्ञताके सम्बन्ध में भी है। अन्य खास खास मन्तव्यों के सम्बन्धमें भी यही बात है। सत्यसमाज तो इन सबको दर्शनका विषय बतलाकर धर्मका सहायक सिद्ध करता है, इनके परस्पर विरोधको धर्म-दृष्टिसे दूर करके उनमें परस्पर ऐक्य स्थापित करता है। पं० दरबारीलालजीके दार्शनिक विचार कैसे ही हों, सत्यसमाजीपर उनका क्या बन्धन? पंडितजी स्वयं इस बातको घोषित कर चुके हैं। सत्यसमाज, सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव व सुधारकताकी नींवपर खड़ा हुआ है। उसका धर्म है-सार्वत्रिक व सार्वकालिक दृष्टिसे अधिकतम प्राणियोंका अधिकतम सुखवाली नीति। जो मन्तव्य इस नीतिका विरोध करें, वे बेशक सत्यसमाजीको मान्य नहीं हो सकते। सत्यसमाजी उन्हें धर्मका घातक समझकर त्याग कर देगा। सर्वज्ञता, मुक्ति, सृष्टिकर्तृत्व, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि मान्यताओंका इस नीतिसे कोई विरोध नहीं है। हाँ, उनका दुरुपयोग इस नीतिका विरोधी है, इसलिए वह सत्यसमाजको त्याज्य है। हरएकका सदुपयोग इस नीतिका समर्थक व सहायक ही है, इसलिये विना किसी रोकटोकके ऐसी मन्यताओंके सम्बन्धमें सदुपयोगकी नींवपर अवलम्बित कैसे ही विचारोंका पुजारी एक सच्चा सत्यसमाजी हो सकता है।

एक जैन सत्यसमाजी महात्मा महावीरको मुक्त परमात्मा मान सकता है। वह ईसा, बुद्ध आदिकी अपेक्षा महावीरकी अधिक भक्ति कर सकता है, लेकिन वह ईसा आदिकी निन्दा नहीं कर सकता। वह उन्हें महापुरुष, महात्मा, मानेगा; उनको विशेष व असाधारण व्यक्ति मानकर उन्हें पूजेगा। वह उनके समयकी दशाको ध्यानमें रखकर उनके महत्वपूर्ण कार्योंकी मुक्तकंठसे प्रशंसा करेगा, उनका अनुकरण करेगा। उनकी निन्दा करके वह अपनी आत्माको पतित नहीं बनायगा। महात्मा महावीरको अधिक महत्व देकर भी वह उन महापुरुषोंका आदर करेगा। सत्यसमाज उससे यह नहीं कहता कि तुम महात्मा महावीरकी म० ईसा समान ही भक्ति करो या म० ईसाके समान म० महावीरकी भक्ति करो। जिसको जिससे अधिक घनिष्टता हो वह उसकी अधिक भक्ति कर सकता है। इस लिये वह तो केवल यह मनोहर शिक्षा देता है कि साम्प्रदायिकता व पक्षपातवश दूसरे महापुरुषोंकी अवहेलना मत करो, उन्हें बुरा न कहो, बल्कि उनका आदर करो, उनसे लाभ उठाओ, उनका अनुकरण करो।

सत्यसमाजमें सर्वधर्मसमभावको सर्वप्रथम स्थान है। जैनधर्मके अनेकान्तका भी यही आदेश है कि सर्वधर्मसमभावी बनो, एकान्तकी दलदल में फँसकर अपने सम्यक्त्वको मलिन न करो। सुधारकता और सर्वजातिसमभाव भी तो जैनधर्मके प्राण ही हैं। फिर भला सत्यसमाजका जैनधर्म जैसे उदार धर्मसे कैसे विरोध हो सकता है? हाँ, जैनधर्मके नामपर जो विकार रूपी अधर्म, धर्मका वध कर रहा है, वह अवश्य सत्यसमाजको अमान्य है, और रहेगा। जैनधर्मही नहीं, प्रत्येक धर्मके साथ उसका यही व्यवहार है।

सत्यसमाजी पं० दरबारीलालजी का अनुयायी हो, यह कोई नियम नहीं है। हाँ, उसे सत्यका अनुयायी अवश्य होना चाहिये। मुझे पं० दरबारीलालजीका भक्त व अनुयायी कहा जाता है। मैं नहीं समझता कि यह बात ठीक है। मैं पं० दरबारीलालजीका उग्र प्रशंसक अवश्य हूँ, परन्तु इसलिये नह

॥ अमीर ग़रीब राजा और रंक के लिये सच्ची खुशखबरी ॥

आखिरी सुनहरी मौक़ा।

मौक़े पर चूकने वाले सदा पछताया करते हैं।

१	चिकित्सा चन्द्रोदय ७ भाग	७
२	स्वास्थ्य रक्षा या तन्दुरुस्ती का बीमा	१
३	भर्तृहरि के तीनों शतक	३

उपरोक्त तीनों ग्रन्थरत्न आज अटक से कटक और काश्मीर से कन्या कुमारी तक खूब मशहूर हो चुके हैं। ये ही ग्रन्थ हैं जिनके लिये ग़रीबोंने अपनी प्यारी स्त्रियोंके, उनके जान से भी प्यारे, जेवर गिरवीं रख-रख कर इन्हें खरीदा है। ये ही ग्रन्थ हैं जिनको पढ़कर हजारों बेकार इस दम की नौकरी की भटकनवाले हिन्दी पढ़े-लिखे सैकड़ों रुपये माहवारी कमा रहे हैं। ये ही ग्रन्थ हैं, जिन्होंने जहाँ यह पहुँच गये हैं लाखों प्राणियों की आत्मरक्षा की है। ये ही ग्रन्थ हैं, जिनके एक भाग से राठ (हमीरपुर) के बाबू बिहारीलाल जी सकसेना ने २०० सांपों के डसे हुए मनुष्य मौत से बचा लिये। ये ही ग्रन्थ हैं, जिनकी मदद से अनेकों ने निःशुल्क आयुर्वेद परीक्षा पास करली। यही ग्रन्थ हैं, जिनके लिए ज़िला बस्ती यू० पी० के

वकील व ऑनरेरी मजिस्ट्रेट

बाबू कामताप्रसादजी साहब ने

भारत के रईसों, अमीरों और ज़मीन्दारों से

अपनी रियासतों और ज़मीदारी के गाँवों के एक एक हिन्दी जानने वाले को अपने दानखाते की रक़मों से खरीद खरीद कर मुफ्त देने की—

पुरजोश अपील की है

ग्रन्थ-लेखक के उत्तराधिकारियों के नाराज़ होकर मुख़ालिफ़त करने पर भी, लेखक-बाबू हरिदास जी ने भारत के गाँव-गाँव में इन उपयोगी ग्रन्थों को पहुँचा देने की गरज़ से—
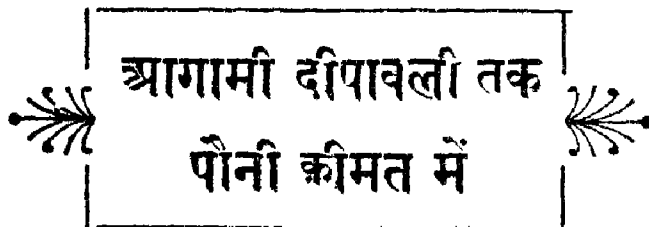
देने का ऐलान किया है। इस बार भी जो चूकेंगे, वे कम-से-कम १५ साल तक इस कम क़ीमत में पाने के लिये पछताते रहेंगे। क्योंकि अब लेखक के एक मात्र उत्तराधिकारी—

कि मुझे उनके सभी दार्शनिक विचार मान्य हैं। मुझे सत्यकी चिन्ता है, पं० दरबारीलालजीकी नहीं। यदि मैं देखूँगा कि पंडितजी कोई कार्य सत्यके विरुद्ध कररहे हैं तो उनका विरोध करनेके लिये मैं अपनी भरसक शक्ति लगानेमें कसर नहीं रखूँगा। मैं जो पंडितजीको अपना गुरु मानता हूँ, वह इसलिये कि उन्होंने अपनी निर्भीकता, असाधारण विद्वत्ता, गंभीर विचारकता, निष्पक्षता, सत्यप्रियता-द्वारा मुझे वह वस्तु दी है जो मेरे जीवनका जीवन है। वह है "पक्षपातरहित दृष्टिकोण।" इस दृष्टिकोणने मेरे नेत्र खोल दिये हैं, मुझे समझदार बना दिया है। इस दृष्टिकोणकी सहायतासे मैं अपना जीवन सफल बना सकता हूँ, अपनी आत्माका उद्धार कर सकता हूँ। अतएव मैं पं० दरबारीलालजीका प्रशंसक हूँ, उनका विशेष आदर करता हूँ। परन्तु मित्रो, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि मैं उनका अन्ध अनुयायी हूँ। इसीप्रकार प्रत्येक सत्यसमाजी पं० दरबारीलालजीका प्रशंसक होते हुए भी पं० दरबारीलालजीका अंध अनुयायी नहीं कहा जा सकता, और न सत्यसमाजपर ही यह दोषारोपण किया जा सकता है। स्पष्ट है कि पं० दरबारीलालजीके दार्शनिक विचार सत्यसमाजके विचार नहीं हैं। हो सकते हैं, यह बात दूसरी है। कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। पं० दरबारीलालजीके सर्वज्ञता आदि विचारों से सहमत न होते हुए भी सत्यसमाज का सदस्य हो सकता है। सत्यसमाज हौआ नहीं है; वह प्रेम और उदारताके चित्ताकर्षक रंगमें रँगी हुई एक अनुपम संस्था है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह उसे अपनाए।

—रघुवीरशरण जैन। (सत्यसमाजी)

सत्यसमाज—प्रगति।

(१२१)—"श्रीयुत पं० सूर्यभानुजी साहबके द्वारा सत्यसमाजके विषयमें पर्याप्त रूपसे जानकारी प्राप्त की। धर्ममीमांसा नामक पुस्तक आद्योपान्त मनन-पूर्वक पढ़ी। सत्य-सन्देश पत्रके लेखभी प्रतिदिन पढ़ता हूँ।

"आपके विचारोंपर ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हुई कि मेरा जीवनही परिवर्तित होगया। मेरे उत्साहको नव शक्ति प्राप्त हुई। दबी हुई क्रान्तिकारी चिनगारी प्रगट हुई। रग-रग मे आपके सत्य-सिद्धान्तोंने घर कर लिया। साम्प्रदायिक विचार जो ठूँस ठूँस कर भरे हुवे थे ऐसे नवदोल हुवे कि अब इच्छा होती है कि अगर मुस्लिम कथावाचक आवें तो उनकीभी कथा सुनूँ और उसमें भी सत्य ढूँढूँ। सत्य किसी के बापका नहीं, वास्तवमें हमें अपनीही सम्प्रदाय पर मोटा साह नहीं करना चाहिये। अधिक क्या लिखूँ? तन मनसे इसके प्रचारकी कोशिश करूंगा।

"मैं चाहता हूँ कि इस सिद्धान्तका जन साधारण में प्रचार हो। इस कामें भाषा भी जन साधारण के समझमें आवे वैसी ही होनी चाहिये। जिज्ञासु बुद्धि से जो प्रश्नावली मैं उपस्थित करूँगा उसका उत्तर देनेकी कृपा करें। आपके चिरऋणी हैं कि धर्मके विषयमें जो हमारी अस्तव्यस्त धारणा थी अब वह दृढ़ होगई और शुद्ध श्रद्धा उत्पन्न हुई।

भवदीय —

कु० रणजीतसिंह पानगड़िया

पो० बड़ी सादड़ी (मेवाड़) बाया.—नीमच पिताका नाम. रूपसिंहजी; उम्र २७। जैन पाक्षिक।

१२२—श्री० पुष्पवती बाई भनसाली, उम्र २८ वर्ष पतिका नाम—रूपचन्दजी भनसाली। जन्मसे स्थानकवासी जैन ओसवाल। जैन पाक्षिक। चिचवड़ (पूना)

समाचार-संग्रह।

—खंडवाकी एक पोरवाड़ जैन महिलाने कन्या-पाठशालाके लिये दस हजार रुपयों की कीमत की जायदाद दान की है।

—श्रीमान् लक्ष्मीनारायणजी गुप्त बी. एमसी. की धर्मपत्नी (श्रीमान् बा० अजितप्रसादजी जैन ऐडवोकेट लखनऊकी दौहित्री) श्रीमती प्रेमलता देवीने इसवर्ष नागपुर युनिवर्सिटी की बी. ए. परीक्षा पास की है। आप हैदराबाद नगरकी महिला नव-जीवन-मंडलकी प्रेसीडेंट हैं।

—मद्रासके श्रीमान सेठ वृद्धिचन्दजी जैनने हाई स्कूल तथा छात्रालयकी स्थापनाके लिये पचास हजार का दान किया।

—गत ता० ८ सितम्बरको शिमलाके जैन सेवक संघके प्रबंधमें दिगम्बर जैन धर्मशाला हाल में सार्वधर्मसम्मेलन हुआ था, जिसमें जैनधर्म आर्यसमाज, सनातनधर्म, सिक्खधर्म, इस्लाम, ईसाईधर्म आदि धर्मोंके प्रतिनिधियोंके रूपमें विविध व्याख्याताओंने भाषण दिये तथा अपने अपने धर्मोंकी खूबियां बतलाईं।

—नीच जातिकी बालिकाओं तथा अपने घर वालोंके व्यवहारसे असंतुष्ट सधवाओं व विधवाओं को फुसला कर भगा लेजाने तथा अन्यत्र उन्हें उच्च जाति की बताकर विवाहके लोलुप व्यक्तियोंके हाथ बेचने का घृणित व्यापार बड़े जोरों से चल रहा है। ऐसा ही एक गिरोह जिसमें २६ व्यक्ति शामिल हैं, अभी हालमें पकड़ा गया है। मुजफ्फरनगरके मजिस्ट्रेटने उसे सेशन सुपुर्द किया है। ऐसे कई विधवाश्रमोंका भंडाफोड़ हुवा है, जिनके संचालक भी प्रायः इसी प्रकार का धंधा करते हैं तथा असहाय विधवाओं का जीवन सुधारने के बजाय उन्हें व्यभिचार की ओर प्रवृत्त कर उनकी कमाई पर गुलछर्रे उड़ाते हैं।

—श्री रोबिन चटर्जी नामक बंगाली युवक इलाहाबाद के म्योर जिमखानामें लगातार ८८ घंटे १२ मिनिट तक तैरता रहा और इस तरह उसने संसार के तैराकी के रैकार्ड को, जो एक अमेरिकन ने ८७ घंटे १० मिनिट तक लगातार तैर कर स्थापित किया था, एक घंटा २ मिनिट अधिक तैरकर तोड़ दिया है।

—स्थानकवासी जैनमुनि श्री गणेशीलालजी महाराज का चातुर्मास सिकंदराबाद में होरहा है। आप खादी पहिनने तथा पर्दा प्रथाको उठा देने के लिये विशेषरूप से उपदेश देते हैं।

—ब्यावरमें महामहोपाध्याय श्री यतीन्द्रविजयजी का चातुर्मास होरहा है। आप जन्मजात अस्पृश्यता-निवारण के लिये प्रयत्नशील हैं। आपका कहना है कि—"जो लोग दुराचारी और दुर्गुणी होते हैं वे अस्पृश्य कहलाते हैं। जो इनसे रहित हैं उन्हें हीन वर्णोंमें जन्म लेनेपर भी स्पृश्य समझना चाहिए। प्रभु महावीरने सुचरित्री शूद्रोंको गले लगाया था और यह जाहिर किया था कि मनुष्य सुसंस्कारों या कुसंस्कारोंके कारण ही उच्च नीच बनता है वर्णसे नहीं।"

—अमेरिकाके एक पादरीके कथनानुसार ईसाइयों की संख्या सन १८११ में ३४ लाख था, पर अब बढ़कर ६८११ लाख होगई है।

मुनिचन्द्रसागरजीका विचित्र उपदेश।

चन्द्रसागरजीके उपदेशसे उनके भक्तगण श्री जिन प्रतिमाके आगे तथा उनके आगे भी मिठाई बनाकर चढ़ाने लगे हैं। इस कारण चींटियोंकी जो हिंसा होती है, उसकी मुनिजीको क्या परवाह! एकदिन मुनिजीने फरमाया कि गायोंको घास डालना तथा कबूतरों आदि पक्षियोंके लिये अनाज डालना पाप है, जो कोई उक्त क्रियायें करते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं, वे नीच गति पावेंगे। इसपर एक श्रावकने शंका का तो आप उसपर बरस पड़े। बोले—तू पहले अपने बेटेको बहू को सम्हाल! वह तो भूखों मरती है! क्या तुझे शर्म नहीं आती? आदि। उक्त श्रावकको गुस्सा तो आया परन्तु वे समयसमझ शमन कर गये। बादमें दूसरे दिन मुनिजीको उन्होंने कहाकि तुमने बिना मालूम किये कैसे कह दिया कि मेरे बेटेकी बहू भूखों मरती है? उसके पास मेरेसे भी ज्यादा संपत्ति है! मुनिजी इसका कुछभी उत्तर न दे सके। मुनिजी रातको बहुत देरतक लालटेन पासमें रखवा कर वैयावृत्य कराते हैं। आप लालटेन स्वयं अपने हाथमें लेकर इधर उधर फिरते भी रहते हैं।

भक्त लोगभी इनसे तंग आरहे हैं। वे इन्हें कभी कभी समझाने का प्रयत्न भी करते हैं परन्तु ये गुस्साकर उन्हें डरा धमका देते हैं और अपने दुराग्रहके आगे किसीकी कोई बात नहीं चलने देते।

—[illegible]।

विषय-सूची।

सत्य-समाज संदेश।

सत्य-समाज सिखाता हमको आपसमें मिलजाना.
टूटी वीणाके तारों से मीठी तान सुनाना।
आओ, सब बिछुड़े भाई अब एक रूप हो जाओ,
राम, कृष्ण, जिन, वीर आदिके साथ साथ गुण गाओ।
बुद्ध, मुहम्मद, दयानंद, नानक, जरथुस्त मसीहा,
सबने समय समय पर की थी सत्य देवकी सेवा।
आज उन्हींके अनुयायी ये भाई भाई लड़ने,
अभिमानी पाखंडी गुरुओंके चक्करमें पड़ते।
सत्य देवको पिता मान लो, दया मान लो माता,
विविध पंथ के अवतारों को पुत्र समझलो भ्राता।
विविध पंथको समझ जलाशय, जलको समझो धर्म,
निर्मल जल सम सत्य ढूँढलो, यही धर्मका मर्म।
छुआछूतको छोड़ो, अबलाओंकी आह मिटाओ,
"सूर्यभानु" श्री सत्यभक्तके ये संदेश सुनाओ।

—सूर्यभानु जैन "भास्कर"

प्राप्ति स्वीकार।

श्रीमान सेठ ताराचन्दजी नवलचन्दजी जवेरी बम्बई सत्यसन्देशके परम सहायक तथा संस्था-

समाचार-संग्रह ।

—श्री० पंडित रामचन्द्रजी शर्माने कलकत्ता के कालीघाट मन्दिरमें पशु-बलिदान बन्द कराने के लिये ४ सितम्बरसे आमरण अनशन प्रारम्भ किया था। ३२ दिवसतक उपवास करनेके पश्चात् श्रीमान पंडित मदनमोहनजी मालवीयके अनुरोधसे उन्होंने ता० ६ अक्टूबर की रात्रिको उपवास स्थगित कर दिया। मालवीयजी, श्री रवीन्द्रनाथ टाकुर तथा कलकत्ताके कई प्रमुख महानुभावोंने पशु-बलिदान बन्द करानेके लिये प्रयत्न करनेका आश्वासन दिया और इसके लिये एक वर्षकी अवधि माँगी। यथेष्ट कार्य न होने पर एक वर्ष पश्चात् वे फिर उपवास आरम्भ करसकेंगे।

—करांचीमें जैन मुनि श्री सुन्दरलालजीने लगातार ६० दिनका उपवास किया। उपवासकी समाप्ति पर करांचीकी जनताने हर्ष प्रकट किया, तथा अनाथों व गरीबोंको मिठाई बांटी।

—जबलपुरके खैरमाईके मन्दिरमें पशुबलि रोकनेके लिये वहाँ के साहसी जैन युवकोंने पिकेटिंग किया था। उनके सत्प्रयत्नसे कई जानवरों की रक्षा हुई।

—श्री प्रो० खूबरामजी जैनके सुपुत्र श्री चंदीमलजी जैन आई० सी० ऐस० की परीक्षा पास करके विलायतसे ता० १ अक्टूबर को लौटे। अभी आगरा में किसी उच्च पदपर आपकी नियुक्ति हुई है।

—कोल्हापुरके श्रीयुत डा० पी० ऐस० पाटील ऐम० बी० बी० ऐस० विशेष अभ्यासके लिये गत माह विलायत गये हैं। ता० ४ सितम्बरको श्री चतुरबाई हॉलमें भट्टारक श्री जिनसेन स्वामी महाराज के सभापतित्वमें इनके सन्मानार्थ सभा हुई थी।

—"जैनमित्र"में प्रकट हुआ है कि स्थितिपालकदलके मुखपत्र "जैनबोधक" के सह-सम्पादक श्रीमान पं० वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्रीजी वकील ने शोलापुरमें पुनर्विवाह किया है।

—उदयपुरमें ६ वर्ष तककी अवस्थाके तेरह बालक व बालिकाओंको जैन साधु व साध्वी दीक्षा देनेका आयोजन किया जा रहा है।

—अफवाह है कि उदयपुरसे एक युवा जैन साधु व एक युवती जैन साध्वी परस्पर प्रेम होजानेके कारण साधु-वेष छोड़कर चलदिये हैं।

—मथुराके सेठ-घरानेके स्वर्गीय श्री मथुरादासजी टोंग्या की बालविधवा श्रीमती अंजनाबाई (सुपुत्री श्रीमान रायबहादुर बा० नांदमलजी) का आगरामें ता० ६ अक्टूबरको स्वर्गवास होगया। आप अपनी निजी सम्पत्ति, जो दो लाखसे ऊपर है, अपने पतिकी स्मृतिमें मथुरामें क्षयरोगका अस्पताल स्थापित करनेके लिये दान कर गई हैं।

—नासिकमें हरिजन-कान्फरेन्समें श्री डॉक्टर अम्बेडकरने हरिजनोंके प्रति कियेगये उच्चजातीय हिन्दुओंके अत्याचारोंका वर्णन करते हुए घोषित किया कि जिसधर्ममें हम लोगोंके साथ समानता का व्यवहार नहीं किया जाता, उस धर्मके अनुयायी बने रहनेमें कोई फायदा नहीं; अतः ऐसे धर्मको छोड़कर समानताके अधिकारको देने वाले धर्मको ग्रहण करना ही श्रेयस्कर है। उक्त कान्फरेन्सने सर्वसम्मतिसे इसी आशयका प्रस्ताव भी पास किया है। इसलाम व सिक्खधर्मके नेताओं ने उक्त अछूतवर्ग को पूर्ण समानता का आश्वासन देते हुए मुसलमान व सिक्ख बनजाने के लिये आमन्त्रित किया है।

—बाबूराम जैन मोतीकटरा आगराके दिगंबर जैन मंदिरकी गोलकमें सेंध से निकालता हुआ पकड़ा गयाथा उसे ६ माहकी सख्त कैदकी सजा हुई है।

—श्री जैन विधवा विवाह मंडल पूनाकी अध्यक्षतामें ता० १० अक्टूबरको श्रीमती शांताबाईका पुनर्विवाह श्रीमान् बाबूभाई कीरचन्दके साथ सम्पन्न हुआ। करीब १५० स्त्री-पुरुषोंने योग देकर वर व वधूको आशीर्वाद दिया।

—दिल्लीमें एक निर्दयी सासने बहूके ऊपर मिट्टी का तेल डालकर आग लगादी।

(आगे देखिये पृष्ठ ५५२)

पकोंमें से हैं। आप समय समयपर सहायता देते रहते हैं। अभी आपने ५०) प्रदान किये हैं। धन्यवाद।

—प्रकाशक।

वर्ष १०

सत्यसन्देश

अंक २२

कार्तिक कृष्णा ५
वीर सं० २४६१

ता० १६ अक्टूबर
सन १९३५ ई०

मनुष्य जातिकी एकता।

हाथी, घोड़ा, सिंह आदि जिसप्रकार एक एक तरहके प्राणी हैं उसीप्रकार मनुष्य भी एक जातिका प्राणी है। मनुष्य, पशुकी तरह अनेक जातिके प्राणियोंका समूह नहीं है, किन्तु स्वयं एक तरहका पशु या प्राणी है। बुद्धिकी विशेषता ही इसे अन्य प्राणियोंसे विभक्त करती है, अन्यथा यह भी एक जातिका पशु है। इसके भीतर जो भेद-प्रभेद हैं वे ऐसे स्थायी नहीं हैं कि उसकी एकजातीयतामें बाधक बन सकें। यों तो अणुओंमें भी समताके साथ कुछ न कुछ विषमता पाई जाती है। थोड़ी बहुत विषमता सर्वत्र है। हम एकजातीयताकी कैसी भी संकुचित व्याख्या क्यों न करें, उसमें विषमता रहेगी ही। एकजातीयताके विचारमें ऐसी विषमता का विचार नहीं करना चाहिये।

किसे सजातीय कहना और किसे विजातीय कहना, इसका निर्णय करनेके लिये दो बातोंका विचार करना चाहिये। एक तो आकृति, दूसरी संतानवृद्धि। मनुष्यमात्रमें आकृतिकी एक ऐसी समानता है, जिससे मनुष्यको एक-जाति मानना पड़ता है। दूसरी बात है सन्तानवृद्धि। मनुष्यकी किसी भी कल्पित जातिके एक पुरुषका किसी भी कल्पित जातिकी स्त्रीसे सम्बन्ध हो तो उसकी वंशपरम्परा चलेगी। इससे मालूम होता है कि उनमें जो जाति-भेदकी कल्पना की गई है वह प्राकृतिक नहीं है।

धर्मशास्त्रका विषय न होनेपर भी प्रायः सभी सम्प्रदायोंके धर्मशास्त्रोंमें इस बातका उल्लेख मिलता है कि मनुष्य-जाति एक है। आज जो इसके भेद-प्रभेद माने जाते हैं, वे मौलिक नहीं हैं। वातावरण आदिके कारण उनमें जो थोड़ा बहुत भेद दिखलाई देता है वह इतना अधिक नहीं है कि वह मनुष्यकी एकजातीयताका नाश कर सके। मौलिक दृष्टिसे तो सभी मनुष्य भाई भाई हैं। वैदिक शास्त्रोंमें सतयुग और मनुओंके वर्णनसे यही बात सिद्ध होती है। जैनशास्त्रोंमें भोगभूमिके वर्णनसे मनुष्यकी एकजातीयता सिद्ध होती है। और बाइबिल तथा कुरानके आदम और हव्वाके वर्णनसे भी यही बात सिद्ध होती है। इससे मनुष्यमात्रको भाई भाई मानना पड़ता है। इस प्रकार प्राकृतिक दृष्टिसे तथा

पुरानी मान्यताओंसे मनुष्य-जाति एक है।

इतना होनेपर भी आज मनुष्यजाति अनेक भागोंमें विभक्त है। इसके कारण कुछभी हों, परन्तु इससे जो अधर्म होरहा है, जो विनाश हो रहा है, दुःख और अशान्तिका जो विस्तार हो रहा है, वह मनुष्य सरीखे बुद्धिमान प्राणीके लिये लज्जाकी बात है। बुद्धि तो पशुओंमें भी होती है, परन्तु मनुष्य की बुद्धि कुछ दूर तककी बात विचार सकती है। परन्तु इस विषयमें उसकी विचारकता व्यर्थ जाती देखकर आश्चर्य और खेद होता है।

मनुष्य भी एक सामाजिक प्राणी है, बल्कि अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा वह बहुत अधिक सामाजिक है। इसलिये सहयोग और प्रेम उसमें कुछ अधिक मात्रामें और विशाल रूपमें होना चाहिये। परन्तु जातिभेदकी कल्पना करके मनुष्यने सहयोग के तत्वका नाश सा कर दिया है; इससे अन्य अनेक अन्यायों और दुःखोंकी सृष्टि करडाली है। जाति की कल्पना से जोकुछ हानियाँ हुई हैं और होती हैं उनमेंसे कुछ ये हैं.—

१—विवाहका क्षेत्र संकुचित होजाता है। इस से योग्य चुनावमें कठिनाई होने लगती है। और अल्पसंख्यक होनेपर जातिका नाश होजाता है।

२—कभीकभी जब युवक-युवतिमें आपसमें प्रेम होजाता है और वह दाम्पत्य-रूप धारण करना चाहता है तब यह जातिभेदकी दीवाल उनके जीवन का नाश कर देती है। या तो उनको आत्महत्या करना पड़ती है अथवा बहिष्कृत जीवन व्यतीत करनेसे अनेक प्रकारकी दुर्दशा भोगना पड़ती है।

३—जातिके नामपर बनेहुए दल लड़झगड़कर एक दूसरेका नाश करते हैं। न खुद चैनसे बैठते हैं, न दूसरोंको चैनसे बैठने देते हैं।

४—जातीय पक्षपातके कारण मनुष्य अपनी जातिके अन्यायका भी पोषण करता है, और दूसरी जातिके न्यायका भी विरोध करता है। अन्त में न्यायके पराजय और अन्यायके विजयका जो फल हो सकता है, वह मनुष्य-जातिको ही भोगना पड़ता है।

५—विवश होकर मनुष्यको कूपमंडूक बनना पड़ता है, क्योंकि वह घरके बाहिर निकलकर सजातीयोंके अभावमें वहां टिक नहीं सकता। जब सारी जातिकी जाति इस विषयमें विशेष उद्योग करती है, तब कहीं थोड़ा बहुत क्षेत्र बढ़ता है। परन्तु इस कार्यमें शताब्दियाँ लगजाती हैं तथा बाहिर निकलनेपर भी कूपमंडूकता दूर नहीं होती।

६—अपना क्षेत्र बढ़ानेके लिये दूसरी जातियों का नाश करना पड़ता है। इससे दोनों तरफके मनुष्योंका नाश, धन-नाश, शांति-नाश होता है तथा चिरकालके लिये बैर बन जाता है।

७—एक ऐसा अहंकार पैदा होता है जिसे मनुष्य पाप नहीं समझता जब कि द्वेषात्मक तथा अनेक पापोंका कारण होनेसे वह महापाप होता है।

८—ईमानदार मनुष्योंमें भी जातिभेदके कारण अविश्वास रहता है। इससे सहयोग नहीं होने पाता। इससे उन्नति रुकती है। लोकोपकारक संस्थाएँ भी पारस्परिक उपेक्षा और बैरके कारण सारहीन तथा अकिञ्चित्कर होजाती हैं।

इस प्रकारकी अनेक हानियाँ हैं। यदि जातिभेदकी दुर्वासनाको नष्ट कर दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्यजातिके कष्टोंका एक बड़ा भारी भाग नष्ट होजाय। हाँ, सुविधाके लिये कुटुम्बी, सम्बन्धी तथा मित्रवर्गकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को होती है, सो उसकी रचना हुआ करे। ये

सब रचनाएँ तो वैयक्तिक जीवनमें समाजाती हैं। इनमें कोई जातिगत बुराई नहीं है। सम्बन्ध तो चाहे जिस मनुष्यके साथ किया जा सकता है और उसे मित्र भी बनाया जासकता है। इसलिये इसमें जन्मगत या उसके समान कट्टरता नहीं है और न इसका क्षेत्र इतना विशाल होसकता है कि समाजको क्षुब्ध करनेवाला बुरा असर डालसके।

जातिभेदकी कल्पना के द्वार अगणित हैं। अहंकारका पुजारी यह मनुष्य-प्राणी न जाने कितने ढंग से जातिमदकी पूजा किया करता है। उन सबका गिनाना तो कठिन है और उनको गिनानेकी इतनी जरूरत भी नहीं है, क्योंकि जातिमदके दूर होजाने से उसके चिथड़े भी दूर होजाते हैं। फिरभी स्पष्टता के लिये उदाहरणके तौरपर उनपर विचार कर लेना उचित है, जिससे यह मालूम होजाय कि किस तरहका जातिभेद किस तरहकी हानि कररहा है, और उसे हटानेके लिये हमें क्या करना चाहिये।

वर्ण भेद— वर्णभेद शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेदोंके लिये प्रसिद्ध है। परन्तु यहां वर्ण शब्दका यह अर्थ नहीं है, उसका सीधा अर्थ रंग है। जिनलोगों के यहां छोटा छोटा जातिभेद नहीं है, उनके यहाँ भी भूरी, पीली, काली, लाल जातियोंका भेद बनाहुआ है। चीन और जापान पीली जातिके लोग माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त एशियाके अन्य दक्षिणी प्रदेशों का बहुभाग तथा आफ्रिकाके मूल-निवासी कालीजाति के माने जाते हैं। अमेरिकामें भी ये लोग बसे हुए हैं। अमेरिकाके मूलनिवासी लाल जाति के (रैड इंडियन) कहलाते हैं जिनकी संख्या अब बहुत थोड़ी है। यूरोपीय लोग, वे यूरोपमें हों या अन्यत्र, भूरी जाति के लोग कहलाते हैं। यह जातिभेद व्यक्त या अव्यक्त रूपमें बहुत जगह फैला हुआ है। भूरी जातिवाले कालोंपर विजय करने के लिये सभी काली जातियोंकी बुराइयाँ और भूरी जातियोंकी भलाइयाँ गाने लगते हैं। भूरी अर्थात् गोरी जातियाँ आपसमें लड़ने पर भी वे रंगके नामपर अमुक अंशमें एक बन जाती हैं। आफ्रिकामें जहाँभी किसी गोरी जातिका राज्य है, वहाँ दूसरे किसी भी देशकी गोरी जातिका आदमी बस सकता है, परन्तु काली जातिका आदमी अपने साम्राज्यका नागरिक होनेपर भी नहीं बस सकता। काली जातिके श्रीमानके घरमें गोरी जातिका व्यक्ति नौकर रहे, यह भी सहन नहीं होता। गोरी स्त्री काले व्यक्ति के साथ शादी करे, यह भी असह्य होता है। अमेरिकाके गोरे नागरिक काले नागरिकों पर जो अत्याचार करते हैं, दिन दहाड़े उन्हें जिसप्रकार जिन्दा जला देते हैं और फिर भी क़ानून उनका कुछ नहीं करपाता, ये सब कांड मनुष्य-जातिको पशुसे भी नीचे गिरा देते हैं। इसप्रकार यह वर्णभेदके नामपर खड़ा हुआ जातिभेद मनुष्यके संकटोंको बढ़ाता हुआ मनुष्यताको लजा रहा है।

यह वर्णभेद मौलिक है, यह बात कोई सिद्ध नहीं कर सकता। जहां हम रहते हैं, वहां के जलवायुका जो प्रभाव हमारे शरीरपर पड़ता है, उसीसे हम काले गोरे आदि बनजाते हैं। वही रंग सन्तान प्रति सन्तानसे आगेकी पीढ़ीको मिलता जाता है परन्तु अगर जलवायु प्रतिकूल हो तो कई पीढ़ियों में वह बिलकुल बदल जाता है। हाँ, इसमें सैकड़ों वर्ष अवश्य लगजाते हैं क्योंकि जलवायुका प्रभाव बाहिरी होता है और माता-पिताके रजवीर्यका प्रभाव भीतरी। परन्तु मौलिक रूपमें यह रंगभेद शीत उष्ण आदि वातावरणके भेदका ही फल है। गोरी जातियाँ अगर गरम देशों में बसजाँय तो कुछ शता-

ब्दियोंके बाद वे काली हो जायगी । और काली जातियाँ अगर ठंडे देशों में बस जॉय तो वे कुछ शताब्दियोंके बाद गोरी होजायगी । इसलिये काले गोरे आदि भेदोंसे मनुष्य-जातिके टुकड़े कर डालना, न्यायकी पर्वाह न करके एक रंगका दूसरे रंगपर अत्याचार करना, मनुष्यताका दिवाला निकाल देना है ।

मनुष्यकी जो मौलिक विशेषताएँ हैं, वे सभी रंगके मनुष्योंमें पाई जाती हैं । गोरे मनुष्य दयालु भी होते हैं और क्रूर भी, ईमानदार भी होते हैं, और बेईमान भी । यही हाल कालों, पीलों आदि का भी है । एक काला आदमी गोरेकी सेवा करे, सहायता दे और दूसरा गोरा आदमी उसे धोखा दे, लूटले, तो उस गोरेको वह काला आदमी अच्छा मालूम होगा और वह गोरा बुरा । मनुष्यताकी, हृदयकी, न्यायकी आवाज़ यही है । मनुष्य पशुओं तकसे मित्रता रखता है । एक गोरा मनुष्य काले घोड़ेसे प्रेम करसकता है, और एक काला आदमी सफेदसे, तब रंगभेदके कारण मनुष्य मनुष्यसे भी प्रेम न कर सके, यह कैसी आश्चर्यजनक मूढ़ता है !

सभीके दिन एकसे नहीं जाते । कभी एक रंगवालों का प्रभुत्व होता है, कभी दूसरे रंगवालोंका । उन्नत अवस्थामें दूसरोंको उन्नत बनाना मनुष्यता है, उनको पीस डालनेकी चेष्टा करना मनुष्यताका नाश है । इससे वंशपरम्पराके लिये वैर ही बढ़ता है, और बारी बारीसे सभीका नाश होता है । और वर्तमानमें भी हम चैनसे नहीं रहने पाते । ईमानदारी प्रेम आदि सद्गुण ही एक दूसरेको सुख देनेवाले हैं । ये जिनमें हों उन्हें ही अपना मित्र, बन्धु और सजातीय समझना चाहिये, फिर भलेही वे किसी भी रंग के हों । जिनमें ये न हों उन्हेंही विजातीय समझना चाहिये, फिर भलेही वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो । इस प्रकारकी निष्पक्षताको अगर हम रखसकें और उसका उदारतासे उपयोग कर सकें तो मनुष्यमें जो पशुत्व है उसका अधिकांश दूर होजाय, ईर्षा, अशान्ति आदि तांडव कम होजाय । अगर ऐसा न होगा तो एक दिन ऐसा आयगा जब दुनियाके मनुष्य रंगोंके नामपर दो दलमें बँटकर राक्षसी-युद्ध करेंगे और जिसकी परम्परा सैकड़ों वर्षों तक जायगी और उस अग्निमें मनुष्यजाति स्वाहा हो जायगी ।

जातिभेदको तोड़नेका उपाय तो हृदयकी उदारता ही है । परन्तु इसका एक मुख्य निमित्त पारस्परिक विवाह सम्बन्ध है । जातिके नामपर मनुष्य मात्रमें वैवाहिक-क्षेत्रकी कैद न होना चाहिये । अगर अधिक परिमाणमें ऐसे विवाह-सम्बन्ध होने लगें तो दोनोंके बीचका अन्तर अवश्यही कम होसकता है । हां, इस काममें विवाह-सम्बन्धी समस्त सुविधाओं का खयाल अवश्य रखना चाहिये ।

कहा जाता है कि काली, गोरी आदि जातियोंके शरीरमें गन्धकी एक ऐसी विशेषता होती है जो एक दूसरेको दुर्गंध मालूम होती है । यह ठीक है । मैं पहिले ही कहचुका हूँ कि यह रंगभेद जलवायु, भोजन आदिके भेदसे सम्बन्ध रखता है । इसलिये वर्णके समान गंधमें भी थोड़ा बहुत भेद हो, यह स्वाभाविक है । परन्तु यह तो व्यक्तिगत बात है । अगर विभिन्न वर्णके दम्पतिमें प्रेम है, शारीरिक मिलनमें भी उन्हें कष्ट नहीं मालूम होता तो इसमें किसी तीसरेको या समाजको कुछ कहनेकी क्या ज़रूरत है ? इसमें दोनोंको ही अपना खयाल कर लेना चाहिये ।

जिनमें यह वर्णाभिमान अच्छी तरह घुसाहुआ

है, किन्तु नैतिक दृष्टिसे जब वे इस जातिमदका सहारा नहीं लेपाते, तब वे इसप्रकारकी छोटी छोटी बातों को अनुचित महत्त्व देने लगते हैं। अगर गंधभेद की यह बात इतनी भयंकर होती तो भारतमें युरेशियन--जो कि अपनेको ऐंग्लो इंडियन कहते हैं--क्यों बनते? अमेरिका आदि देशोंमें इतना विरोध रहनेपर भी ऐसे सम्बन्ध होते ही हैं। भारतीयोंके पूर्वज भी ऐसे सम्बन्ध कर चुके हैं, इसलिये आज भी उनमें काले गोरेका भेद बना हुआ है, और यह भेद छोटीछोटी उपजातियोंमें भी पाया जाता है। फिर जातियोंमें ही क्यों? प्रत्येक व्यक्तिके शरीरकी गन्ध जुदी होती है, परन्तु इसीसे वैवाहिक सम्बन्ध का विस्तार नहीं रुकता। बल्कि वैवाहिक सम्बन्ध के लिये अमुक परिमाणमें शारीरिक विषमता आवश्यक और लाभकर मानी जाती है; इसीलिये बहिन भाईका विवाह शारीरिक दृष्टिसे भी बुरा समझा जाता है। स्त्री-पुरुषके शरीरमें ही रूप, रस, गंध, स्पर्श की विषमता अमुक परिमाणमें पाई जाती है। इसलिये ऐसी विषमताओंकी दुहाई देकर मनुष्यजाति के टुकड़े नहीं करना चाहिये। अगर इस विषयपर कुछ विचार भी करना हो तो यह विचार व्यक्तिपर छोड़ना चाहिये। विवाह करनेवाला व्यक्ति इस बात को विचार ले कि जिसके साथ मैं सम्बन्ध जोड़रहा हूँ उसकी गंध और रंग स्पर्श आदि मुझे सह्य हैं कि नहीं। यदि उसे कोई आपत्ति न हो तो फिर क्या चिन्ता है? एक बात और है कि कोई भी गंध हो, जिसके संसर्गमें हम आते रहते हैं उसकी उग्रता या कटुता चली जाती है। एक शाकभोजी, मछलियोंके बाजारमें वमन करदेगा, परन्तु मछुओं को वहाँ सुगन्ध ही आती है। इसलिये गंधादिकी दुहाई देना व्यर्थ है। हाँ, कोई शारीरिक विकार ऐसा हो जिसका दूसरेके शरीरपर बुरा प्रभाव पड़ता हो तो बात दूसरी है। उसका बचाव अवश्य करना चाहिये। परन्तु ऐसे शारीरिक विकार एक जाति, उपजाति के भीतर भी पाये जासकते हैं और दूर से दूरके जातिभेद में भी नहीं पाये जासकते हैं। इसलिये जातिभेदके नाशपर इन सब बातोंपर ध्यान देनेकी जरूरत नहीं है।

इस जातिभेदनाशपर एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि इस प्रकारके वर्णान्तर विवाहोंसे संतान ठीक नहीं होती। अमुक जगह कुछ गोरोंने हब्शी स्त्रियोंसे शादी की, परन्तु उनकी सन्तान गोरोंके समान वीर, साहसी और बुद्धिमान न निकली। यह आक्षेप भी शताब्दियोंके अंध-संस्कारका फल है। ऐसे आक्षेप करते समय वे उसके असली कारणोंको भूल जाते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस बालकको समाजमें लोग बराबरीकी दृष्टि से नहीं देखते, उसे नीच, पतित और विजातीय समझकर थोड़ी बहुत घृणा रखते हैं, उसमें उस समाजके गुण नहीं उतरते। बच्चेको यदि समाजसे बाहर कर दिया जायतो पशुसे और उसमें कुछ अन्तर न होगा। अभी भी मनुष्यमें जातिमद इतना अधिक है कि वर्णान्तर विवाह होनेपर भी साधारण मनुष्य उससे घृणा ही करता है। फल यह होता है कि ऐसे विवाहकी सन्तानको एक प्रकार हलका असहयोग सहन करना पड़ता है। इसलिये समाजके गुण बालकको अच्छी तरह नहीं मिलते। दूसरा कारण यह है कि सन्तानके ऊपर माता और पिता दोनों का थोड़ा थोड़ा प्रभाव पड़ता है। अब अगर उसमें से एक पक्ष अच्छा हो और दूसरा पक्ष हीन हो तो यह स्वाभाविक है कि संतति मध्यम श्रेणी की हो। इसलिये अपने अनुरूप व्यक्ति से सम्बन्ध जोड़ना चा-

हिये। ऐसी हालतमें संतति अवश्य ही अपने अनुरूप होगी। वीरता, बुद्धिमत्ता सदाचार आदि गुण ऐसे नहीं हैं कि उनका ठेका किसी जातिविशेषने लिया हो। सभी जातियोंमें इन गुणोंका सद्भाव पाया जाता है। अगर कहीं किसी बातकी बहुलता देखी जाती है तो उसका कारण परिस्थिति है, जाति नहीं। परिस्थितिके बदलनेसे बुरीसे बुरी जातिका मनुष्य अच्छासे अच्छा हो जाता है। अफ्रिकाके जो हब्शी अभी जंगली अवस्थामें रहते हैं, सदाचार और सभ्यताका विचार जिनमें बहुत ही कम पाया जाता है, उन्हींमेंसे बहुतसे हब्शी अमेरिकामें बसने पर अमेरिकनों सरीखे सभ्य सुशिक्षित होगये हैं, हालाँकि उनको जैसे चाहिये वैसे साधन नहीं मिले। इससे मालूम होता है कि किसीभी गुणका ठेका किसी जाति विशेष-वर्णविशेष-ने नहीं लिया है।

इसका यह मतलब नहीं है कि एक सुसभ्य नागरिकको अफ्रिकाके जङ्गली लोगोंसे वैवाहिक सम्बन्ध अवश्य स्थापित करना चाहिये। उदारताके नामपर अनमेल विवाह करनेकी कोई जरूरत नहीं है। जरूरत सिर्फ इस बातकी है कि हम जातिभेद के नामपर किसीको वैवाहिक सम्बन्धमें जुदा न समझें। एक जङ्गली व्यक्तिके साथ हम सम्बन्ध नहीं करते इसका कारण यह न होना चाहिये कि उसकी जाति जुदी है, किन्तु यह होना चाहिये कि उसकी शिक्षा, सभ्यता, स्वभाव आदिसे मेल नहीं खाता। जातिके नामपर जब हम किसीके साथ सम्बंध नहीं करते, तब उसका अर्थ यह होता है कि अगर वह सब बातों में हमारे समान और अनुकूल हो जाय तो भी हम उसे जुदा ही समझेंगे। इस प्रकार हमारा भेदभाव सदाके लिये होगा। यही एक बड़ा भारी अनर्थ है। इसलिये जातिमदको दूर करने के लिये हम इस बातका दृढ़ निश्चय करलें कि अगर हमें किसीके साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ना है तो इस के कारण में हजार बातें कहें परन्तु उनमें जातिभेद का नाम न आना चाहिये। सच्चे दिलसे इस बातका पालन करना चाहिये।

यह वर्णभेद कहीं कहीं तो बहुत उग्र रूपमें है, परन्तु जहाँ जातिभेदके अन्य द्वारोंके तीव्र होने के कारण यह उग्र नहीं है, वहाँ यह फैलता जा रहा है। परन्तु जातिभेदके अन्य रूपोंमें जो बुराइयाँ थीं, जो संकुचितता और द्वेष था, वह सब इसमें भी है। जातिमदकी वासना किसीभी रूपमें क्यों न हो, उसमें मनोवृत्तिकी कलुषितता तो एकसी रहती है। जब हम एक रूपमें कलुषित मनोवृत्तिका त्याग करते हैं, तब हमें अन्य सब रूपोंमें भी उसका त्याग करना चाहिये, और प्रेमसे सुसंगठित होकर मनुष्य मात्रकी उन्नति के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१--'पुरखों'की भूल।

मरनेके बाद एकदिन हम भी 'पुरखा' कहलाने लगेंगे। परन्तु इतनेसे ही हम यह कहनेको तैयार नहीं हैं कि हमसे भूल नहीं होती। इसप्रकार भविष्यकाल के 'पुरखा' जो कि आजकल जीवित हैं, उनसे भूल होना जब हम मंजूर करते हैं, तब वर्तमानके 'पुरखा' (पूर्वपुरुष) जो कि मरचुके हैं, उनसेभी भूलें हुई हैं,यह बात सुनतेही हम घबरा उठते हैं। सच पूछा जाय तो विनयके वेषमें छुपा हुआ अहंकार ही इसका कारण है। अन्यथा जैसी भूलें हमसे होती हैं वैसीही हमारे पुरखोंसे भी हुईं, यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

निकटभूतके पुरखोंकी ही भूलका यह परिणाम है कि आज भारतमें हिन्दू मुसलमान नामके दो विशालकाय समूह लड़कर अपनी शक्ति बर्बाद कर रहे हैं। यह उन्हींकी भूलका परिणाम है कि ये दो संस्कृतियाँ शताब्दियोंसे टकरा ही रही हैं, जबकि इनको कभीका मिलजाना चाहिये था। माना कि मुसलमान लोग अपना खास मिशन लेकर घुसे थे, उनमें कट्टरता अधिक थी, परन्तु ऐसे मौके कुछ कम नहीं आये जब दोनों संस्कृतियोंको और जातियों को मिलाकर एक किया जा सकता था। हिन्दूधर्म के तेतीस करोड़ देवताओंमें एकाध देवता और बढ़ जाता तो एकताके लिये यह असह्य नहीं था। प्रारम्भमें इन विदेशियोंसे घृणा हुई हो, यह स्वाभाविक है; परन्तु जब इनके भीतर हिन्दुओंका ही रक्त पहुँचने लगा और बहुभाग उसका होगया तब अगर कुछ चतुरतासे काम लिया गया होता तो हिन्दू मुसलमानोंका भेद आजकल सरीखा न होता।

सिल्यूकसकी पुत्री हेलेनके साथ शादी करके सम्राट् चन्द्रगुप्तने जिस उदारता और बुद्धिमत्ता का परिचय दिया था, शक और हूणोंको पचा डालने में भारतीय जनताने जो कर दिखाया था, वही मनोवृत्ति अगर पीछे भी बनी रहती तो आज यह दुर्दशा न होती। मुसलमान लोग हिन्दुओंसे मिलनेकी परिस्थितिमें आगये थे। मुसलमान सम्राटोंके घरमें हिन्दू सम्राज्ञियाँ होने लगी थी, उनके महलोंमें हिन्दू मन्दिर बनने लगे थे। मुसलमान राजकुमारोंने राखीका महत्व समझ लिया था। हिन्दू कुमारियों को वे बहिन बनाना और राखीके कच्चे सूतका मूल्य चुकाना सीखगये थे। अधिकांश मुसलमान मूल में हिन्दू ही थे। अकबरने राजकुमारियाँ लेने के साथ देने के लिये भी हाथ बढ़ाया था। परन्तु फिर भी ये दो संस्कृतियाँ एक धार न बन सकीं। इसका मुख्य कारण है हमारे पुरखोंकी भूल। उनका त्याग अनुपम था, परन्तु साथही उनकी मूर्खता भी कम अनुपम नहीं थी जिसने अंतमें उनका और देशका सर्वनाश किया, और जिस भूलको हिन्दू जनता आजभी अपनाये हुए है।

महाराणा प्रतापकी वीरता, धीरता, त्याग और कष्टसहिष्णुता के आगे पत्थरके हृदयभी झुकजाते हैं। परन्तु यदि उनमें राजनीतिज्ञता भी होती, उनने सामाजिक क्षेत्रमें अकबरसे सहयोग किया होता तो मुग़ल साम्राज्यकी दिशाही बदली होती। उनके भाइयों को उनके विरोधमें खड़ा न होना पड़ता। हिन्दू विजित होकर के भी विजेता बने होते। परन्तु प्रताप तो अपने समयके हिन्दू समाजके एक प्रतिनिधि थे। यह बीमारी तो हिन्दू समाज भरमें फैली थी। इसके उदाहरण इतिहासके पन्नोंमे बहुत जगह मिलते हैं। उसदिन शेखावत राजपूतोंके वंशके विषयमें एक लेख पढ़ रहा था कि वहाँ भी एक ऐसी ही घटना मिली, और पुरखोंकी भूलपर एक हाय निकलपड़ी। घटना यों है—

राव लवणकरणजी, शेखावतोंके आदिपुरुष श्री शेखाजीके बड़े पुत्र थे जो अमरसरमें राज्य करते थे। उनका एक सुन्दर पुत्र था। मुग़ल साम्राज्यके दिन थे। इसलिये एक बार लवणकरणजी अपने उसी सुन्दर पुत्रको लेकर बादशाहसे मिलने के लिये दिल्ली गये। परन्तु वहाँ एक शाहजादी राजकुमारको देखकर मोहित होगई, इसलिये उसने बादशाहसे अनुरोध किया कि उसकी शादी रावकुमारसे करदी जाय। बादशाहने इस बातको मंजूर कर लिया, इसलिये उनने राव लवणकरणजीसे इस विषयकी चर्चा की। दुर्भाग्यसे लवणकरणजीको

यह बात पसन्द न आई, परन्तु बादशाहके सामने वे 'न' भी न कर सके, और स्वीकारता दे दी। घर आकर उनकी चिंता बढ़ गई। उन्होंने कोई उपाय न देखकर अपने हाथसे अपने प्यारे पुत्रको गोली मार दी। बादशाहको जब यह खबर लगी तो अपमानका बदला लेनेके लिये दिल्लीसे फौज आई। लवणकरणजी अच्छी तरह लड़े, पर हार गये। उनके राज्यका बहुभाग दूसरोंको दे दिया गया, और वे एक राजाकी अपेक्षा एक मामूली ठिकानेदार रहगये।

कैसी मर्मभेदी घटना है यह! इसमें त्याग है, परन्तु मूर्खतापूर्ण। अगर शाहजादीकी शादी होगई होती तो इससे उनकी और उनके राज्यकी, उन्नतिके साथ हिन्दू-मुसलिम एकतामें भी वृद्धि हुई होती। अपने हाथसे अपने प्यारे पुत्रको गोली मार देने वाला व्यक्ति कितना साहसी और कर्तव्यपरायण होना चाहिये, यह समझा जा सकता है, परन्तु अनुदारता और अविवेकने उसका कैसा दुरुपयोग किया, यह उस घटनासे साफ मालूम होता है। हमारे पुरखोंने ऐसी ऐसी न जाने कितनी भूलें की हैं जिनका दुष्फल हम भोग रहे हैं। हम उनके नामपर रोते हैं। अगर हम ऐसी ही भूलें करते जायँगे तो आगामी पीढ़ी हमारे नामपर रोयगी।

२-मिलन-मन्दिर।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह बाघ और शेरोंकी तरह गुफामें अकेले पड़ा पड़ा जीवन नहीं बिता सकता। मनुष्यके पास आनन्द नामकी जितनी सम्पत्ति है, उसका बहुभाग अकेले सम्मिलन का है। एक गृहस्थ अगर बालबच्चोंमें, मित्रोंमें कुछ समयके लिये निराकुलतासे नहीं बैठ सकता, तो वास्तवमें वह मनुष्य नहीं है। या तो वह सिर्फ युद्धक्षेत्रका सिपाही है, अथवा पत्थरका खंभा है जो कि किसी मशीनके सहारे चलता फिरता है।

धर्म और अर्थकी तरह कामका भी जीवनमें स्थान है। और कामका अर्थ अमुक जातिकी पाशव क्रिया ही नहीं है। विनोदपूर्ण वार्तालाप भी कामका अच्छासे अच्छा रूप है। परन्तु हममेंसे अधिकांश व्यक्ति ऐसे हैं जिनके जीवनमें अर्थकी चिन्ता को छोड़कर और कोई वार्तालापको बहुत कम स्थान है। मनोविनोदके लिये उनके पास कुछ समय नहीं है। अर्थकी अधिक चिन्ता करनेसे अधिक अर्थकी प्राप्ति होती हो, यह बात नहीं है। और अर्थ कोई साध्य वस्तु नहीं है, किन्तु साधन है। समाजमें जो अनेक तरहके त्यौहारकी रचना की गई है, वह इसलिये कि एक दिन मनुष्य अपने दुःखोंको भूलकर उन्मुक्त आनन्दानुभव कर सके। परन्तु त्यौहार तो कभी कभी आते हैं, तब तक मनुष्य मनहूस बना हुआ बैठा रहे, यह ठीक नहीं।

हमारी दिनचर्यामें वार्तालापके लिये अमुक समय अवश्य रहना चाहिए, जबकि हम अर्थोपार्जनकी चिंतासे मुक्त रहकर मनुष्यसे मनुष्यकी तरह मिल सके। निःसन्देह मनुष्य-प्रकृतिके भेदसे मनोविनोदके ढंग और उनकी वार्तालापके विषय जुदे जुदे होंगे। सो रहें, सिर्फ इतना खयाल रखना चाहिये कि वार्तालाप परनिंदामें परिणत न होजाय।

जो लोग कुछ भी शिक्षित हैं, उन्हें चाहिये कि वे साहित्यिक चर्चा करें। इसमें धर्म, समाज, काव्य, राजनीति आदि सब विषयोंका समावेश हो सकता है। कभी कभी व्याख्यान और संगीत आदिको भी स्थान मिल सकता है। इससे ज्ञानवृद्धि, आनंदप्राप्ति, पारस्परिक परिचय तथा प्रेम आदि अनेक लाभ हैं।

दुर्भाग्यवश हमारे मंदिरोंका उपयोग एक प्रकार के धार्मिक लोकाचारके सिवाय और किसी काममें नहीं होता। परन्तु मंदिर-संस्थाका उपयोग इससे अधिक होना चाहिये। उनका व्यापक उपयोग नहीं हो रहा है, इसलिए वे संस्थाएँ निर्जीव होगई हैं। मंदिरोंका उपयोग लाइब्रेरी और क्लबके रूपमें भी होना चाहिये। उसका अमुक भाग भलेही मूर्ति और प्रार्थनाके लिए हो, लेकिन उसका बहुभाग वाचनालय तथा विनोदी चर्चाओंके लिये हो, यह उचित है, आवश्यक है। सुबह शाम जिसको जब सुविधा हो वहाँ आवे, भावोंका आदान प्रदान करे, थोड़ी देर निश्चिन्तताका आनन्द लूटे, परिचयका क्षेत्र बढ़ावे तो इससे अनेक दृष्टिसे लाभ हो। इसका सामाजिक और धार्मिक उन्नतिके लिये तो उपयोग होगा ही, साथ ही स्वास्थ्यके लिये भी बहुत होगा।

प्रत्येक नगरमें ऐसे अनेक स्थानोंकी आवश्यकता है जहां लोग कुछ समयके लिये आकर इस प्रकार समय व्यतीत करें—फिर भले ही उस स्थान का नाम मंदिर हो, मसजिद हो, उपाश्रय हो, क्लब हो, कुछ भी हो। हमको इन संस्थाओंकी उपयोगिता यथाशक्ति बदल लेना चाहिये, अथवा इन संस्थाओं के निर्माणमें ऐसी ही गुंजायश रखना चाहिये, अथवा कोई दूसरे स्थान इस ढंगके बनाना चाहिये जहां हम दिनमें एक बार निराकुलतासे मिल सकें और निराकुलतामय आनन्दके साथ भावोंका आदान प्रदान करते उन्नतिके कुछ उपाय भी ढूँढ़ सकें, प्रेम और परिचयके क्षेत्रका विस्तार कर सकें। हमारे यहाँ लाखोंकी संख्यामें मंदिर होने पर भी इस प्रकारके मिलन-मंदिरोंकी आवश्यकता है।

—०—

आलोचना।

(लेखक—श्रीमान् प० लोकमणिजी जैन गोरेगाँव)

धनी।

भगवन्! मैं धनी हूं, मेरेपास काफी पैसा है। जब पैसेकी कमी थी, मैं विचारा करता था कि इतना धन और मेरे पास होजावे तो फिर चैनसे दिन कटेंगे, सब झंझटोंसे अलग होकर परमात्माका भजन करूँगा, तथा दुःखियोंकी मददकर उनकी सेवा करूँगा, जाति और धर्मकी तरक्कीमें खूब पैसा खर्च करूँगा, मित्रोंकी गोष्ठी किया करूँगा, संस्थाओंको दान दूँगा, और फिर पैसा कमानेकी चिन्तासे विमुक्त हो जाऊँगा। पर, आज पैसे की कल्पनासे अधिक प्राप्ति होचुकी है। क्या कारण है कि अभी पैसा कमानेकी नाशकारी चाह ज्योंकी त्यों बनी है? पहिले परिश्रम कर द्रव्य कमानेकी प्रबल इच्छा रहा करती थी, पर अबतो बिना हाथ पैर हिलाये ही पैसेकी प्राप्तिकी सदा इच्छा रहा करती है। प्रभो, मैं अपनेको ज्यों ज्यों धनी देखता हूं उतना ही दुःखका अनुभव करता हूं। मैं समझता था कि धन होनेपर धर्म करूँगा, पर क्या बात है कि मेरे सद्विचार विलीन होते जा रहे हैं! दुखियोंके दुःखसे न तो मुझे वेदना ही होती है, और न पाप करते मुझे क्लेश होता है! मैं ऐसे दीन दुःखी प्राणियोंसे भी द्रव्यकी आशा किया करता हूं, जिनके तन ढाँकनेको काफी वस्त्र और पेट भरनेका काफी अन्न भी नहीं है। मेरी साहूकारी चारों तरफ है, मूल धनसे कई गुणा अधिक उनसे ब्याज ले चुका हूँ, पर एक पैसेकी उन्हें माफी करनेमें मुझे वेदना होती है। मेरे पड़ोसमें दुखियोंकी कमी नहीं

है। कोई रोजगार रहित भूखे मर रहे हैं, कोई रोगी हैं, कोई वृद्ध हैं, कई विधवाएँ हैं जो पेट भरने के लिये सदा पाप करने तक को विवश होजाने को तैयार हैं। उनकी आहें मेरे हृदयमें चुभती नहीं। मै उनकी सेवा और मदद करना तो दूर रहा, उल्टा उन्हें घृणाकी दृष्टिसे देखता हूं। मेरे पास उनका दुःख सुननेका समय नहीं है। कभी कभी उन्हें मै फटकार भी देता हूं। दो एक संस्थाओंकी इसलिये मैं मदद करता हूं कि वे मुझे दानी, दानवीर, परोपकारी, धर्मात्मा आदिका खिताब देनेमें बहुतही उदार हैं, मेरी कीर्तिके पुल बांधती रहती हैं, मेरे गुणगानमें वे ईश्वर-गुणगानका अनुभव करती हैं।

मुझे प्रत्येक कार्यमें धन खर्च करते समय दुःख होता है, पर अदालतके कार्योंमें पैसा खर्च करनेमें मेरी लगाम टूट जाती है। एक चपरासीसे लेकर बड़े बड़े अफसरों तकको मै पैसा देनेमें आगा पीछा नहीं सोचता। मै उतना सुख मंदिरमें परमात्माकी उपासना करनेमें प्राप्त नहीं कर पाता, जितना एक अफसरकी मुसकानसे प्राप्त कर लेता हूं। जब वे मुझे-'आइये सेठजी ' कहिये मिजाज तो अच्छे हैं-ऐसा कहकर हाथ मिलाते हैं और बराबरकी कुर्सी पर बिठलाते हैं, तब तो मेरे नेत्रोंसे आनंदके आंसू टपकने लगते हैं। जी चाहता है कि उनके बूटमय चरणोंमें अपना उन्नत ललाट खूब जोरसे रगड़ दूं और उनकी आरती उतारूं। उस समय मुझे अपने धनपर गर्व होता है और मैं घोरसे घोर पाप करके भी धन कमानेकी प्रबल इच्छाको रोकनेमें असमर्थ होजाता हूं। मैं साहबको खुश कर गरीबोंको सताता हूं, बातकी बातमें डिक्री लेलेता हूं, और कई कर्जदारों को मिट्टीमें मिला देता हूं। उस समय मुझे प्रतीत होने लगता है कि ईश्वरकी सेवामें जितना धन और समय मैं बर्बाद किया करता हूं उतना धन और समय इन साहबोंकी सेवामें लगाऊं तो चाहे जिसका मनचाहा कर सकता हूं। धर्मका फल तो परलोकके लिये धर्मशास्त्रोंमें कहा है, उसका तो मरकर फल मिलेगा। पर, मै तो मरनेकी कल्पनासे ही डरता हूं, मरनेका नाम सुनते ही पैरोंके नीचेसे जमीन खिसकने लगती है। इसलिये जिसका फल-इस हाथ दे उस हाथले-वाला है, आजसे मिलना शुरू होजाता है, उसपर आस्था विशेष होजाती है, और शीघ्रफलदायी साहबसेवाकी वासनाको रोकनेमें असमर्थ होजाता है। प्रभो! आप जगद्बन्धु हैं, मेरी कुवासनाओंकी शृङ्खलाको तोड़नेमें सहयोग दीजिए। धन पानेका जो प्रयोजन है, उसकी पूर्ति करनेके लिये मेरी सद्बुद्धिको जागृत कीजिये, ताकि मैं अब आजसे इस धनके जरिए अपना और अपने सब बंधुओं का कल्याण कर सकूँ। मुझे सद्बुद्धि दीजिए, ताकि मैं दीन दुखियोंकी सेवामें अपना धन खर्च कर आनंद प्राप्त कर सकूँ। मै अपने धनको लोगोंको सदाचारी बनाने और सत्यमार्ग पर चलनेके लिए खर्च कर सकूँ।

पंडित !

दयामय ! मैं पंडित हूं। मै अपनेको बहुत ही जानकार समझता हूं। विद्वान बनकर मुझे वस्तुकी सच्ची परिस्थितियों का ज्ञान करना था, दूसरोंको विद्वान बनाना था और अज्ञानजन्य दुःखों से छुटा कर उन्हें ज्ञानानन्दमें लीन कराना था। मूर्खोंको सप्रेम विद्वान् बनानेका जो सद्विचार मेरे अन्दर होना था, वह न होकर मुझे मूर्खोंसे द्वेष होने लगा है, उनको नीचा दिखाने और उन्हें लज्जित करनेकी आदतसी पड़गई है। मैं अपनेसे अधिक ज्ञानीकी कल्पना से रोष करता हूं। जब कभी इस पल्लवग्राही पांडित्य

से मैं पराजित होता हूँ तो विजयीका सर्वनाश करने तकको उतारू हो जाता है, उसके ज्ञानमें धब्बा लगानेकी दिनरात कोशिश करता हूँ। यदि ज्ञान-विषयक दोषको न लगा सकूँ तो उसको पापी, दुराचारी आदि बतलाकर लोगोंकी दृष्टिमें गिराने की चेष्टा करता रहता हूँ। उससे मुझे ज्ञान सीखना चाहिये था, उसके गुणोंपर मुग्ध होना था, विनयपूर्वक उससे ज्ञानार्जन करना था, पर मैं उसकी निंदा और उससे ईर्षा करने लगता हूं। मैं कभी कभी अपने पंडिताई हथियारोंसे पंडितोंसे लड़ता हूं और बुरी तरह पछाड़ खाता हूं; फिरभी सत्यके सामने सिर झुकानेसे अपना गौरव नष्टसा होता देखता हूं।

प्रभो, मुझे शक्ति दीजिये ताकि मैं विद्याके वास्तविक फलोंसे अपनेको सुखी बना सकूँ। मैं सदा ज्ञानका ग्राहक रहूं, सब कहींसे ज्ञान प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छा बनी रहे। गुणीजनोंसे विनयपूर्वक गुणग्रहण करूँ और सबको विद्यासे विभूषित देखनेकी कामना जागृत हो। मैं विद्या बेचकर धनिकोंकी गुलामीसे बचता हुआ सदाचारी बनकर अपना तथा अपने देश और बन्धुओंकी ऊंचीसे ऊँची सेवा कर सकूँ।

विधुर।

दीनबन्धु! मैं सब बातोंमें सुखी हूँ, चार बालबच्चे भी मेरे हैं, धनधान्य जीवननिर्वाहके लिये पर्याप्त है। पर, थोड़े दिन हुए मैं विधुर होगया हूं, मेरी प्यारी पत्नीका स्वर्गवास होगया है। लोग मुझे समझाते हैं कि—"आप रंज न करें, आपको किस बातकी कमी है? धन पैसे और बाल-बच्चोंसे आप खूब खुश हैं, अवस्था भी ४५ या ५० वर्षकी होगई है, आप सदासे पूजन-प्रभावनामें मन लगाते आये हैं, शास्त्रोंका भी आप स्वाध्याय करते ही रहते हैं, अब परमात्माका भजन कीजिये और ब्रह्मचर्यसे रहकर बालबच्चोंका पालण पोषण कीजिये। आपकी विधवा बहिन भी तो आपके पास रहती है। वह आपकी सबसे छोटी बहिन है। वह तो बेचारी अभी बीस वर्षकी ही है। कैसी पूजा और स्वाध्यायमें तल्लीन रहकर अपना जीवन बिता रही है! आपको वह भोजन बनाकर देगी, और बाल बच्चोंकी सम्हाल भी करेगी। वर्ष दो वर्षमें बड़े बच्चेकी आप शादी कर लीजियेगा, और इस तरह से आप बहूके आजाने से औरभी सुखी होजावेगे, इत्यादि।" पर, प्रभो! आपसे क्या छुपाऊँ? आप तो अन्तर्यामी हैं, साथही भक्तोंके मनोरथ पूर्ण करने वाले भी हैं। इसलिये आपसे हृदयकी सच्ची बात बतलाता हूं।

दयामय! लोग जैसा कहते हैं, परिस्थिति मेरी वैसी ही है, पर मेरी विषय-वासना इतना समय व्यतीत होकर भी बुझी नहीं है। घर मुझे स्मशानसा मालूम होता है। मैं अपने दिलको बहुत सम्हालता हूं, पर दिल विषयोंकी ओरसे मुंह नहीं मोड़ता। मुझे बहिन की बनाई रोटीमें वह आनन्द ही नहीं आता जो पहिले आता था। बात बातमें चिढ़ता हूं, बच्चोंको अकारण खरी खोटी सुनाने लगता हूं। अपने मित्रों को इस प्रकार मैं अपना दुख बतानेकी चेष्टा करता हूं कि वे सहसा मुझे दूसरी शादी करनेके लिये कह उठें। दूसरी शादीकी कल्पनासे मेरे मुँहसे लार टपकने लगती है। प्रभो! मैं विचार करता हूं कि यदि दो चार महीने कहीं दूसरी शादी न हो सकी तो मैं भारी भूल कर बैठूंगा, क्योंकि यहतो अभी से निश्चयसा ही कर लिया कि बहिनकी मददके लिये किसी सुन्दर स्त्रीको नौकर रखलूँ, पर उससे कहाँ तक मैं अपने मनोरथोंकी पूर्ति कर सकूँगा, यह

सन्देहात्मक प्रश्न है। इसलिये मैं अब अनुभव करता हूँ कि मुझे शादी अवश्य करलेनी चाहिये। फिर द्रव्यतो काफी है, कोइ न कोई अपनी लाड़ली बेटीको सोनेके बदले दे ही देगा।

दयामय! मुझे आज अनुभव हुआ कि बेचारी बाल-विधवाओं की कामाग्नि कैसे शमन होती होगी! जिनकी भोग-सामग्री पहिली सीढ़ी चढ़ते ही छिन गई है, जिनकी सारी उमगें अभी भीतर ही भीतर भारी तूफान मचा रहीं हैं, वे कैसे अपना जीवन यापन करती होंगी! प्रभो! उनकी विषयवासना न जाने आप कैसे बुझा देते हो? कैसे उन्हें अपनी सारी जिंदगी व्यतीत करनेके लिए ब्रह्मचर्यके सहारे छोड़ देते हो? मैंने कई विधवाओंको ब्रह्मचर्यका उपदेश दिया है, सादा रहने और सादा खानेका आदेश देकर अपने कर्तव्यका पालन किया है। मैंने कई विधवाओंको गर्भ रहने पर, भ्रूणहत्या करने पर, और किसीसे प्रेमकी बात करने पर दंड दिया है, घृणा की है, और जातिसे अलगकर गुंडों के हवाले कर दिया है। पर, अब अपनी ओर देख कर कुछ दूसरी ही बातें नजर आती हैं और विचार पैदा होता है कि हैं तो वे भी मनुष्य, उन्हें भी हमारी जैसी वेदनाका अनुभव करना पड़ता होगा। बस प्रभो! इससे आगे विचार आते ही मस्तक ठन्नाने लगता है। फिर वही विचार उठने लगता है कि पुरुष स्वर्ण है, स्त्री हड्डी है, चौकेसे बाहर हंडी नहीं जाती, पर स्वर्णकी [illegible] है, इत्यादि।

प्रभो, [illegible] पापियोंके उद्धारक हैं। मुझ पापीके हृदयसे इस कुवासनाको निकालनेमें सहायता कीजिए, मेरे पामर विचार दूर करनेके लिए सद्बुद्धि दीजिए, मुझे वे नेत्र दीजिए जिनके सहारे मैं स्त्री मात्रको माता बहिन और पुत्री समझनेमें सफलीभूत हो सकूँ। मैं ब्रह्मचर्यसे अपना जीवन यापन करता हुआ विधुर और विधवाओं के लिए आदर्श साम्हने रख सकूँ, विधुर और विधवाओंसे मैं सच्चा वात्सल्य करने लगूँ और उनकी पवित्रतम सेवाओं से अपने को धन्य समझने लगूँ। मै प्रत्येक विधुरको विधवा बहिनके समान पवित्र जीवन व्यतीत करनेका संदेश सुना सकूँ और समाजके सड़ते हुए अंगको पुनः सजीव और निर्दोष बना सकूँ।--(अपूर्ण)

एकदम सड़ी हुई काया सुवर्ण-काया करदी।

मेरा नाम लक्ष्मीनारायण है, छपाई का काम करता हूँ, मुहल्ला बैरागपुरा मथुरामें रहता हूँ। मेरी हालत जरा गौरसे पढ़िये—

"जिस खून पर जिन्दगीका दारमदार है, मेरा वही खून बुरी तरहसे बिगड़ गया। सारे शरीरसे खून या राध चूते थे। भीतर चमड़ेपर खराब तहें जम गई थीं। लोग मेरे पास नहीं आते थे। मुझसे दस हाथ दूर खड़े होकर बात करते थे। मेरी अर्द्धाङ्गनी तक मुझे देखकर घबराती थी। अपनी ताकत भर पैसा नाश किया। शहरके नामी-नामी डाक्टर वैद्यों की शरण गही, पर कुछ न हुआ। वैद्योंने कह दिया, तुम्हारा इलाज अगले जन्ममें होगा। मैं जान खोने को तैयार था, पर जिंदगी थी। किसीने बाबू हरिदासजीकी दयालुता का जिक्र कर दिया। मै आपके पास गया। बाबूजीने मुझे धीरज बँधाया और ६ मास दवा सेवन करनेको कहा। मैंने वैसाही किया। नतीजा यह है कि, आज मैं खूबसूरत नौजवान हूँ। अब सब लोग मेरे पास दौड़ दौड़ कर आते हैं और देखकर अचम्भा करते हैं। परमात्मा साक्षी है। बाबू हरिदासजीके समान सुचतुर, अनुभवी और दयालु वैद्य मैंने नहीं देखा। परमात्मा आपको सदा सुखी रक्खे।"

प्राणिमात्र का शुभेच्छु
लक्ष्मीनारायण।

पता— हरिदास ऐण्ड कम्पनी, मथुरा।

सर्वधर्मामृत

[२]

अर्जुन ! आसक्ति छोड़कर, और कर्मकी सिद्धि हो या असिद्धि, दोनोंको समान ही मानकर योगस्थ होकर कर्म कर। कर्मके सिद्ध होने या निष्फल होनेमें रहनेवाली समताकी वृत्तिको योग कहते हैं। २-४८। सुख हो या दुःख, वह अपने समान औरोंको भी होता है। जिसको यह दृष्टि (आत्मौपम्य) प्राप्त होजाती है, वही योगी है। ६-३२। कर्मयोगी मनुष्य तपस्वियोंसे, विद्वानोंसे और कर्मकाण्ड वालोंसे बहुत श्रेष्ठ है।—गीता (वैदिकधर्म)

जो मनुष्य मानी, लोभी, असंयमी और बकवादी है वह अविनीत अज्ञानी कहलाता है। ११-२। जो बारबार क्रोध करता है, दूसरोंकी गुप्त बातें प्रकट करता है, मित्रताका त्याग करता है, शास्त्र पढ़कर अभिमानी होजाता है, भूल करने पर उसे दूर न करनेके बदले छुपाता है, मित्रोंपर भी क्रोध करता है, एकान्तमें मित्रोंकी बुराई करता है, जो बकवादी, द्रोही, अभिमानी, लोभी, असंयमी है, अपने हिस्सेसे अधिक लेलेता है, शत्रुता करता है, वह अविनीत-अपात्र-अज्ञानी कहलाता है। ११-७,८,९,।

—उत्तराध्ययन (जैनधर्म)

पापकरनेवाला मनुष्य इस जन्ममें शोक करता है, दूसरे जन्ममें शोक करता है; इस प्रकार वह दोनों जन्ममें शोक करता है, दुःखी होता है। परन्तु पुण्यात्मा पुरुष दोनों ही जन्मोंमें प्रसन्न रहता है, सद्गति पाता है, सुखी रहता है। १५, १६, १७, १८। जो मनुष्य दूसरेको तो बहुतसा उपदेश देता है किन्तु स्वयं उसका पालन नहीं करता है, वह उस चरवाहेके समान है जो दूसरोंकी गायें चराता और गिनता तो है, परन्तु उनके दूधका स्वाद नहीं पाता। १९। जो थोड़ा भी जानता हो और उपदेश भी करता हो, उसका आचरण भी करता हो, तो वह विद्वान पुरुष राग, द्वेष, मोहको त्यागकर परमोत्तम सुखका भागी होता है। २०।

—धम्मपद—यमक वग्ग। (बौद्ध धर्म)

अच्छे विचारोंकी मैं प्रशंसा करता हूं। अच्छे वचनोंकी मैं प्रशंसा करता हूं। अच्छे कामोंकी मैं प्रशंसा करता हूं। ([illegible]) इस दुनियामें जितने बुरे विचार मैंने मनमें लाया होऊं, जितने खराब वचन मैं बोला होऊं, जितने खराब काम मैंने किये हों, जो मुझसे उत्पन्न हुए हों, जिनका प्रारम्भ मुझसे हुआ हो, वे सब अपराध जो मनसे, वचनसे, कायसे, शरीरसे, दुनियाँ से सम्बन्ध रखते हों, उन सबसे मैं पश्चात्तापपूर्वक दूर होता हूँ। मनसे, वचनसे, कामसे मैं पश्चात्ताप करता हूं। —सरोशबाज। (आवस्ता-पारसीधर्म)

तुमने सुना ही है कि पहिले कहागया था कि खून न करना। जो कोई खून करे वह कचहरीमें दंडके योग्य होगा। पर मैं तो यहांतक कहता हूं कि जो अपने भाईपर क्रोध भी करेगा वह कचहरीमें दंड-योग्य होगा। जो कोई अपने भाईसे कहेगा 'अरे निकम्मा', वह महासभामें दंडयोग्य होगा। जो कोई कहे 'अरे मूर्ख,' वह नरककी आगके दंडयोग्य होगा। इसलिये यदि तू अपनी भेंट वेदीपर लाए वहाँ स्मरण करे कि तेरे भाईके मनमें तेरी ओर कुछ विरोध है तो अपनी भेंट वहीं छोड़कर चला जा। पहिले अपने भाईसे मेलकर, तब आकर अपनी भेंट चढ़ा।

—मत्ती ५ (बाइबिल-ईसाई धर्म)

तुम एक दूसरेका माल बिना कारणके कभी न

खा जाना। और न सरकारी अधिकारियोंपर ऐसा प्रभाव डालना जिससे जानबूझकर दूसरोंका माल पचानेमें तुम्हें सहायता मिले। २-१८८। जो लोग तुम्हारे ऊपर अत्याचार करने आवें, उनसे तुम धर्मरक्षा के लिये लड़ो, परन्तु अत्याचार मतकरो ! क्योंकि परमेश्वर अत्याचार करने वालोंको पसन्द नहीं करता। २-१९०। कुरान-(इस्लाम धर्म)

[कुरानमें सङ्कल्पी हिंसाके त्यागका अच्छी तरह उपदेश दिया गया है, परन्तु विरोधी हिंसाका विधान भी किया गया है। विरोधी हिंसा जीवनके लिये अनिवार्य है, इसलिये यह क्षन्तव्य है। इसे हिंसाका विधान न मानना चाहिये। म० मुहम्मद के विरोधमें विद्वेषियोंने बहुत अत्याचार किये थे, इसलिये आत्मरक्षणके लिये उनको लड़ाइयाँ करनी पड़ीं। वह परिस्थिति ही ऐसी थी। परन्तु निरर्थक छेड़खानी उन्हें पसन्द नहीं थी। इसलिये कुरान में आगे चलकर लिखा है—"जबतक नास्तिक लोग काबाकी माननीय मसजिदके पास आकर तुम्हारे साथ न लड़े तबतक वहाँ तुम उनके साथ मत लड़ो।" २-१९१। इस वाक्यसे साफ मालूम होता है कि म० मुहम्मद हिंसाके विरोधी थे।—सत्यभक्त।]

साहित्य परिचय

स्याद्वाद मंजरी—सम्पादक श्री०जगदीशचन्द्रजी एम. ए। प्रकाशक परमश्रुत प्रभावक मंडल बम्बई। मूल्य ४॥)

सुप्रसिद्ध जैनाचार्य श्री हेमचन्द्रसूरिकी अन्ययोग व्यवच्छेदिका नामक स्तवनकी यह श्री मल्लिषेणसूरि विरचित टीका है। जैन न्यायग्रंथोंमें इसका एक विशेष स्थान है। इस विषयके पठनक्रममें यह पुस्तक अवश्य रक्खी जाती है। इसकी अनेक आवृत्तियाँ होचुकी थीं, परन्तु ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथकी एक सर्वाङ्गपूर्ण आवृत्ति अत्यावश्यक थी। अंग्रेजी में तो प्रो० ध्रुवने एक अच्छी आवृत्ति निकाली थी, परन्तु हिन्दीमें इसकी आवश्यकता बनी हुई थी जिसकी पूर्ति श्रीयुत जगदीशचन्द्रजीने बहुत योग्यता के साथ की है। मूलग्रंथके साथ सुन्दर तथा सरल हिन्दी अनुवाद तो है ही,परन्तु इसके परिशिष्ट अनेक बहुमूल्य सामग्रियों से भरे हुए हैं। परिशिष्टोंमें हेमचन्द्राचार्यकी अयोग व्यवच्छेदिका भी अनुवादसहित दी है। इस के अतिरिक्त जैनपरिशिष्ट, बौद्ध परिशिष्ट, न्याय वैशेषिक परिशिष्ट, सांख्ययोगपरिशिष्ट, मीमांसक परिशिष्ट, वेदान्त परिशिष्ट, स्याद्वादमंजरीमें आये हुए अवतरण, ग्रन्थ, ग्रन्थकार, विशेष शब्द, तथा अनेक तरहकी सूचियाँ दीगई हैं। प्रारम्भमें ग्रंथकारोंका परिचय भी है। इसप्रकार यह आवृत्ति सर्वांग पूर्ण है। इस विषयके जानकारोंके लिये यह ग्रंथ पठनीय और संग्रहणीय है।

श्री विजयानन्दसूरि—लेखक श्रीयुत सुशील। प्रकाशक आत्मानन्द जैनसभा भावनगर (काठियावाड़)

उपर्युक्त सूरिजीका नाम जैनसमाजमें, खासकर श्वेताम्बर समाजमें, बहुत ही प्रसिद्ध है। उन्हींके जीवनसे सम्बन्ध रखने वाली घटनाओंका वर्णन इस पुस्तकमें है। इससे उनकी विद्वत्ता, निर्भयता, विचारकता, वक्तृत्व, समाजहितैषिता आदि गुणोंका प्रभावशाली परिचय मिलता है। छपाई सफाई उत्तम है। पुस्तक गुजरातीमें है और पठनीय है।

रिपोर्ट—श्रीसत्तर्क सुधा तरङ्गिणी दि० जैन पाठशालाकी द्विवार्षिक रिपोर्ट। प्रकाशक, पूर्णचन्द्रजी बजाज मंत्री, सागर।

मध्यप्रान्तमें यह अपने ढंगकी सर्वश्रेष्ठ जैनसंस्था है, जिसने दर्जनों विद्वान तैयार किये हैं और अभी भी कर रही है।

सत्यसमाज–प्रगति

श्रीयुत् पं०सूर्यभानुजी डाँगीने बड़ी सादड़ी (मेवाड़) में सत्यसमाजका आश्चर्यजनक प्रचार किया है। इससमय वे निरन्तर प्रचार करते हैं। प्रचारके फलस्वरूप उनने निम्नलिखित सदस्यों के नाम संक्षिप्त परिचयसहित भिजवाये हैं—

(१२३) मोतीखाजी, फौजदार। पिताका नाम अजीमखाजी, उम्र २५ वर्ष, जन्मसे सुन्नी मुसलमान, इस्लाम पाक्षिक। पता–बड़ी सादड़ी (मेवाड़) वाया नीमच। ये स्याद्वादी मुसलमान हैं; हिन्दू और जैन गुरुओंके पास व्याख्यान सुनने जाया करते हैं।

(१२४) पं० छगनलालजी व्यास, पिताका नाम–मगनीरामजी, उम्र ५० वर्ष, जन्मसे शैव। वैदिक पाक्षिक, पता—ब्रह्मपुरी पोस्ट बड़ी सादड़ी (मेवाड़)। ये राज्य–पंडित हैं, सर्वधर्मसमभावी हैं, सुधारक हैं।

(१२५) मोहनबाईजी, पतिका नाम–जवाहिर-लालजी, उम्र २७ वर्ष, जन्मसे राजपूत वैष्णव। नैष्ठिक। पता—भास्करभवन बड़ी सादड़ी (मेवाड़)। ये महाराणा फतहसिंहजीके यहाँ नौकरी करती हैं। महाराणाने प्रसन्न होकर इनका नाम मनप्रसन्नबाई रक्खा था। इनने अन्तर्जातीय विवाह किया है।

(१२६) माधवसिंहजी डाँगी, पिताका नाम–फूलचन्दजी डाँगी, उम्र १६ वर्ष, जैन पाक्षिक। पं० सूर्यभानुजीके छोटे भाई हैं।

(१२७) वंशीलालजी व्यास, पिताका नाम–दीनानाथजी उम्र ४८ वर्ष, जन्मसे शैव ब्राह्मण। वैदिक पाक्षिक। पता—ब्रह्मपुरी पो० बड़ी सादड़ी (मेवाड़)। अध्यापक हैं, सुधारक हैं। सत्यसमाजके प्रचारमें उत्साहशील हैं।

(१२८) सुजानमलजी मोदी, पिताका नाम–चाननमलजी, उम्र ३७ वर्ष, जन्मसे श्वेताम्बर ओसवाल। जैनपाक्षिक। बड़ी सादड़ी (मेवाड़)। शांति-वाचनालयके मन्त्री हैं।

(१२९) बालमुकुन्दजी, पिताका नाम–नाथूरामजी, उम्र ३३ वर्ष, जन्मसे सनातनी माहेश्वरी। नैष्ठिक। C/o विधवा आश्रम बड़ी सादड़ी (मेवाड़) विधवा–आश्रम के मैनेजर हैं, बहुत ईमानदार और चारित्रवान होनेसे गाँवमें महात्मा कहकर पुकारे जाते हैं। पुराने विचारोंके उग्र विरोधी हैं। क्रिया-त्मक कार्योंमें जान लड़ा देने वाले हैं।

(१३०) नाथूलालजी। पिताका नाम–रोड़-चन्दजी, उम्र २१ वर्ष, जन्मसे जैन ओसवाल। जैनपाक्षिक। बड़ी सादड़ी (मेवाड़) जिज्ञासु नव-युवक हैं।

(१३१) कालूसिंहजी, पिताका नाम–पार्थीराज जी, उम्र २८ वर्ष, जन्मसे सनातनी राजपूत। वैदिक पाक्षिक। बड़ी सादड़ीके पोस्ट मास्टर हैं।

(१३२) मनशालालजी चौधरी, पिताका नाम लक्ष्मीलालजी, जन्मसे स्थानकवासी ओसवाल। उम्र २१ वर्ष। जैनपाक्षिक, पता—डुङ्गला पो० भींडर, वाया नीमच। जिज्ञासु युवक हैं।

इस ज़माने में आपकी कम्पनी ही सच्ची है।

राजवैद्य पं० गजानन्दजी मु० छापड़ा, पो० पिलानी, ज़िला जैपुर से लिखते हैं—

"हम आपकी कम्पनी को ही इस ज़माने में सच्ची समझते हैं। आपके यहाँसे जो-जो दवाइयाँ मँगाई, सभी रामबाण साबित हुईं। आप कृपया वातगजांकुशवटी, अकबरा-चूर्ण, मस्तक–शूल नाशक तेल और भेज दें।" पता:–

मैनेजर हरिदास एण्ड कम्पनी, मथुरा।

ठेकेदार ।

(रचयिता-श्रीमान सेठ रामगोपालजी मोहता)

सुखपूरित भारतको गारत करवा दिया ठेकेदारोंने ।
सब लोगोंको अपना आपा भुलवा दिया ठेकेदारोंने ॥
कई ठेकेदार स्वयं बनके धन धर्म जाति और शासनके ।
जनताके सब अधिकारोंको छिनवा दिया ठेकेदारोंने
रच जात-पातके फांसोंको भक्तिके अन्धविश्वासोंको
जीवनको जकड़ गुलामीमे बँधवा दिया ठेकेदारोंने ॥
सब पुरुषारथका नाश किया बुद्धिबलका भी ह्रास किया
और आतमशक्ति पर परदा डलवा दिया ठेकेदारोंने ॥
स्वार्थकी आग लगी भारी, जल गई प्रेमकी फुलवारी ।
समता सभ्यताका चित्रमंदिर तुड़वा दिया ठेकेदारोंने ॥
भूतों प्रेतों और पागलों शठ शासक महंत अमीरोंको ।
गुरु पंच उठाईगीरोंको पुजवा दिया ठेकेदारोंने ।
औसरके अत्याचारोंसे, बिरादरीके जीमनवारों से ।
मुरदोंके पीछे जिन्दोंको मरवा दिया ठेकेदारोंने ॥
कन्या बिकती, कहींवर बिकते, नारी बिकती, कहीनर बिकते
तूफान कुरीति कुचालोंका चलवा दिया ठेकेदारोंने ॥
ब्याह देते अबोध बालोंको, भारतके लाली लालोंको ।
गुड्डे गुड़ियोंका ब्याह खूब रचवा दिया ठेकेदारोंने ॥
दुधमुँही बच्चीको हत्यारे, बूढ़े बनड़ेके कर लारे ।
दादे-पोतीका गठजोड़ा जुड़वा दिया ठेकेदारोंने ॥
कहीं विधवाएँ आहेंभरतीं, सधवाएँदुखी बेजोड़पति ।
नारी-जीवनको मिट्टीमें मिलवा दिया ठेकेदारोंने ॥
कहीं भ्रूणहत्या, कहीं शिशुहत्या, नारी हत्या कहीं पशुहत्या
इस सत्याघरको हत्याघर बनवा दिया ठेकेदारोंने ॥
'गोपाल'सुमतिदे वीरोंको, तोड़ेंइन विकट जंजीरों को ।
जिनसे इस उत्तमजातिको गिरवा दिया ठेकेदारोंने ॥

—०—

विविध विषय ।

१—अमरोहा जगत् ।

अमरोहाकी चर्चाने इतना क्षोभ पैदा कर दिया है और अमरोहाका नाम इतना व्यापक होगया है कि वह एक जगत् ही बनगया है। मैं नहीं चाहता था कि अब इस विषयमें कुछ और लिखा जाय, परन्तु विरोधी-बन्धु ऐसी कार्यवाही कर रहे हैं, जैसे असत्य आक्षेप पत्रोंमें निकाल रहे हैं, उसके उत्तरके लेखोंका एक पुलिंदा मेरे पास जमा होगया है। उन लेखोंको प्रकाशित करनेके लिये अब स्थान नहीं है। जिन बातोंका उत्तर दिया जा चुका है, वेही बातें विरोधी-बन्धुओंने फिर लिखी हैं।

जैन गजटमें "सत्यसमाजियोंकी लीलाएँ" शीर्षक जो लेख निकला है, उसका उत्तर भाई रघुवीरशरणजीने भेजा है। उनके लेखका शीर्षक है 'विरोधके लिये ही विरोध।' उसका सूत्ररूपमें सार यह है—

१—यह बात बिलकुल गलत है कि मूलचंदजीके मध्यस्थ चुने जानेका इन्द्राज सभाके रजिस्टरोंमें है। उनको सिर्फ पांच पांच मिनिटपर घंटी बजानेका काम सौंपा गया था। उनने बाबू रतनलालजी वकील बिजनौरके सन्मुख अपनेको 'घंटी बजाने वाला चपरासी' स्वीकार भी किया है। मैंने अपने लेखमें कहीं भी उन्हें मध्यस्थ स्वीकार नहीं किया।

२—उनके मध्यस्थ बनानेकी सूचना पं० दरबारी लालजी को दी गई थी—यह बात बिलकुल झूठ है। इससे बढ़कर झूठ और हो ही नहीं सकता।

३– पं० दरबारीलालजी मुक्ति नहीं मानते, यह बात पं० बंशीधरजीको मालूम थी। उसीसमय यह बात उन्हें बारबार कही भी गई थी। इसप्रकार पक्ष-प्रतिपक्ष निश्चित थे। इतनेपर भी पं० बंशीधरजी मुक्ति सिद्ध करनेको तैयार नहीं हुये, और पं० दरबारीलालजीका मत निश्चित नहीं है, आदि कहते रहे।

४– मैंने अपने लेखमें एक पर्चा उद्धृत किया था, जो मुक्तिके शास्त्रार्थके बीचमें एक भाईने पं० बंशीधरजी को दिया था। उसपर लेखक महोदय लिखते हैं कि "एक साहबने पं० बंशीधरजीको एक पर्चेद्वारा यह संकेत किया कि यदि पं० दरबारीलालजी अपने सिद्धान्तका स्पष्टीकरण नहीं करना चाहते तो रहने दीजिये, आप अपने ही सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करके सिद्ध कीजिये"। यहां तो लेखकने धोखा देनेमें कमाल करदिया है। मैंने पर्चेकी नक़ल उद्धृत की थी, उसपर उन्होंने कोई ऐतराज़ नहीं किया, अत: वह उन्हें मान्य है। मान्य क्यों न हो। पर्चा तो मेरे अधिकारमें है। खैर, उस पर्चेसे बिलकुल स्पष्ट है कि वह पर्चा पं० बंशीधरजीको असमर्थ अवस्थामें सहायता पहुँचानेके उद्देश्यसे लिखा गया था, न कि कोई संकेत करनेके लिये। पाठकोंकी सुविधाके लिये मैं फिर उस पर्चेकी नक़ल कियेदेता हूं, जिससे पाठक लेखककी हास्यास्पद वकालतका अन्दाजा लगा सकते हैं और भली भांति समझ सकते हैं कि वह पर्चा किस समय और किस उद्देश्यसे लिखा गया था। पर्चेकी हूबहू नक़ल यह है –

"चूँकि कर्म जीवात्मासे पर वस्तु है, इसलिये उसका अलग होना सम्भव है, और कर्मोंके फिर जीवके साथ मिलनेका कोई कारण नहीं रह जाता इसलिए मुक्ति है और फिर संसारमें आना नहीं। जीवकी रासीकी संख्या इतनी है कि वह अनन्तकाल में भी समाप्त नहीं हो सकती क्योंकि ... बीत जाने पर भी समाप्त नहीं हुई है।"

लेखक महोदय बतलावें कि यहां किन शब्दोंमें वह संकेत छिपा हुआ है जिसका आपने संकेत किया है। स्पष्ट है कि लेखकने दिन दहाड़े जनता की आँखोंमें धूल झोंकना चाहा है। शोक! आश्चर्य! झूठ बोलनेमें लोग कितने अधिक बढ़ सकते हैं इसका यह अच्छासे अच्छा नमूना है।

५–लेखकका यह लिखना कि सभाकी ओरसे शोलापुर को ("जैन गजट"में प्रकाशनार्थ) तार भेजागया था, बिल्कुल ग़लत है। सभाकी ओरसे तार भेजने की इच्छा पं० बंशीधरजीने साहु रघुनन्दनप्रसादजीके घर जाकर प्रकट की थी, यह विरोधियोंको भी मान्य है। इसी बातसे पं० बंशीधरजीकी असलियत का पता लगता है। खैर। इस इच्छाको साहूजीने ठुकरा दिया था, फलत: पं० बंशीधरजीको अपनी ओरसे ही तार भेजना पड़ा था। "जैन गजट"में जो तार-समाचार छपा है, उसमें साफ़ लिखा है कि पं० बंशीधरजीको आरोहासे तार आया है। महान आश्चर्य है कि ऐसी आकाश्यव स्पष्ट बातके विरुद्ध भी लेखकने लीपापोती कर ही डाली।

६—यह लिखना कि 'पं० दरबारीलालजी शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते थे, इसलिये वे पं० बंशीधरजीसे पहिले ही चले गये, झूठोंका सरदार है। शास्त्रार्थ होनेके पहिले जितने दिनका और विषयोंका प्रोग्राम सभाने निश्चित किया था, जब वह पूरा होगया, और रात्रिमें शास्त्रार्थ होनेके बदले व्याख्यान हुए; बादमें एक दूसरेको सबने धन्यवाद दिया; इसके दूसरे दिन पं० दरबारीलालजी अमरोहा छोड़ा था। ये सब बातें लिखी जा चुकी हैं।

'रहस्योद्घाटन' तथा चाँदबिहारीलालजीके लेखों

से और सब बातोंका स्पष्टीकरण होचुका है।

बाबू रघुवीरशरणजीके लेखका अति संक्षेप यहाँ दिया गया है। दूसरे नम्बरकी बात मैं भी लिख चुका हू और दूसरे भी लिखचुके हैं। जब मूलचन्दजीको धन्यवाद दिया गया, तब मुझे मालूम हुआ कि वे सभापति बनाये गये थे। परन्तु एक विरोधी भाईने लिख दिया है कि मैंने उन्हे अनेकबार मध्यस्थ कहा था और मध्यस्थकी बाट भी देखी थी। पहिले दिन तो सभापति वगैरह कोई था ही नहीं, और उसी दिन मूलचन्दजी लेट हुए थे। इसके बादतो मूलचन्दजी समयपर आते रहे। विरोधी लोगोंके मतानुसार जब सभापतिका कोई विचार ही नहीं हुआ था, तब मैं मूलचन्दजीको मध्यस्थ कहता था,यह कल्पना कितनी हास्यास्पद और बेहूदी है। सारे शास्त्रार्थमें मैंने तो क्या, किसीने भी मूलचन्दजीको मध्यस्थ या सभापति तक नहीं कहा। जब वे घंटाध्यक्ष नहीं थे तब जैसा भाग लेते थे, वैसा भाग पीछे भी लेते रहे। हाँ, वे मेरे पास पहिले दिनों आप्तमीमांसा समझने आया करते थे। इसलिये मैं उनको समझदार समझता था। वे भी रुचि-प्रदर्शन करते थे। यह बात पहिले दिन भी थी और दूसरे दिन भी। मध्यस्थका तो उस समय किसीको स्वप्न भी नहीं था। हाँ, एक शास्त्रार्थ होने के बाद उनके लिये प्रबन्धका कुछ काम सौंपा गया होगा, परन्तु उसका जरा भी प्रदर्शन नहीं किया गया, जिससे मुझे पता लगता। विरोधी भाई जिस तरह झूठ बोलते हैं, इससे बड़ा आश्चर्य होता है। आखिर झूठ बोलने की भी कुछ सीमा होना चाहिये।

मेरे पास दूसरा लेख आया है जैन सभा के मन्त्री सेठ रामरतनलालजी का, जिसका शीर्षक है 'अमरोहामें दशलाक्षणीपर्व।' इसका सार यह है कि "विरोधी दलने इस वर्ष असहयोगकी पूरी चेष्टा की, यहाँ तककि हरसालके नियमनुसार पर्युषणमें दूकानें तक बन्द नहीं कीं, पूजन वगैरहमें भी भाग नहीं लिया। परन्तु जब देखा कि प्रबन्ध और वर्षों से भी अच्छा हुआ और खूब आनन्द आया, तब उनने मन्दिरमे इसलिये हुल्लड़ मचाया कि जिससे हुल्लड़में कुछ सामान गड़बड़ हो जाय और प्रबन्धकोंके सिर कलङ्क मढ़दिया जाय। परन्तु इसमें भी वे सफल न हो सके।"

विरोधी लोग अपना तांडव तो दिखलायेंगे ही; फिर भी साहुजीकी पार्टीको चाहिये कि वह दृढ़ता, गम्भीरता और प्रेमसे काम लेती रहे। सम्भव है कुछ समय बाद विरोधियोंको सद्बुद्धि प्राप्त हो।

बाबू रतनलालजी वकीलका जो वक्तव्य 'वीर' में प्रकाशित हुआ है, उसके उत्तरमें भी मेरेपास बहुलसा वक्तव्य आया है। बाबू रतनलालजी का लेख भी मेरे पास छपने आया था, परन्तु इस चर्चाको शान्त करने के लिये २०वें अङ्कमे एक छोटा सा नोट लिखकर मैंने चर्चाका अन्त करना चाहा था। अच्छा होता यदि वह वक्तव्य प्रकाशित न किया गया होता। इससे वातावरण कुछ अधिक ठीक होता। खैर, साहु रघुनन्दनप्रसादजीकी तरफ से छपनेके लिये जो मेरे पास वक्तव्य आया है, उस का सार देनेमें भी बहुत विस्तार होगा। इसलिये मैं खास खास बातोंका ही सार देता हू।

१-जिस नियमावलीकी दुहाई दी जा रही है, वह तीन साल से आफिसमें नहीं थी, न उसके अनुसार काम होता था।

२—उसमें २४ घंटे पहिले सूचना देनेका नियम साधारण बैठक के लिये है, न कि विशेष बैठकके लिये। विशेष बैठकें अनेक बार कुछ घंटे पहिलेकी

सूचनासे हुई हैं; और सूचना एजेन्डा-द्वारा नहीं किन्तु मालिन-द्वारा कहलाकर दीगई हैं।

३—मंत्रीको अनेक बार कहा गया परन्तु मंत्री काम रोकदेने के लिये सभापतिकी आज्ञाओंको टालता रहा। उसने ऐसी कोशिश की कि सभा हो ही न सके। ऐसी विशेष और विकट परिस्थितिमें दूसरा उपाय ही क्या था? और सभा ऐसे मंत्रीको अलग न करती तो क्या करती?

४—मंदिरमें जो श्वेताम्बर मूर्तियां हैं, वे तभी से हैं जबसे मंदिर है। परन्तु कुछ दिनों पहिले किसी पंडितके कहनेसे वे अलग रखदी गई थीं; अब वे फिर वहीं पधरा दी गई हैं। इस में कोई बुराई नहीं है।

साहुजीके वक्तव्यसे परिस्थिति बहुत साफ हो जाती है। जब कि दोनों पार्टीके लोग सभामें उपस्थित थे, कोरम था, पहिले भी कुछ घंटोंकी सूचनाओंसे सभाएं हुई थीं, तब यह घंटोंकी बात कुछ दम नहीं रखती। जब दोनों पार्टियां मौजूद थीं, तब विरोधी पार्टीको बहुमतसे साहुजीकी पार्टीके बहुमतको गिराना चाहिये था। अथवा सूचना नाजायज थी तो नाजायज सूचनाके आधारपर उन्हें सभामें आना न चाहिये था। सूचनाको अप्रामाणिक कहना और उसको मानकर सभामें आना, इन दो बातोंका मेल नहीं बैठता। अपना बहुमत न देखकर भागदेना और कहना कि सभा नाजायज है "अंगूर खट्टे हैं" की कहावत चरितार्थ करना है। खैर, यह खुशीकी बात है कि विरोधी पार्टीने अपनी भूल स्वीकार करके साहुजीकी पार्टीको चार्ज देदिया है। अब उसे चाहिये कि वह निष्फल असहयोग और उद्दंडताकी नीति छोड़कर प्रेमपूर्वक सहयोग करे। सत्यके साम्हने सिर झुकानेमें किसीको लज्जित न होना चाहिये, न सत्यका विजयनाद सुनकर क्रुद्ध होना चाहिये। आशा है अब अमरोहाकी दोनों पार्टियाँ कीचड़ उछालनेका काम छोड़कर विधायक कार्योंकी तरफ ध्यान देंगी। —सम्पादक

२-बम्बईका कसाईखाना।

बम्बईके बाँदरेके कसाईखानेमें दो हजार तीनसौसे लेकर दो हजार चारसौ तक भेड़ और बकरों का, सौ गाय और बैलोंका, पचास भैंसोंका तथा कुछ सूअरोंका प्रतिदिन होम किया जाता है। सात-आठ वर्ष पहले प्रतिदिन काटे जाने वाले भेड़ बकरोंकी संख्या दो हजार आठसौ थी। इस संख्याके घटनेसे ग्यारह हजार पौंड मांसकी खपत में भी कमी हो गई है। बम्बईमें मांसकी खपत घटनेका कारण शाकाहारी समाजकी वृद्धि अथवा ह्युमैनिटेरियन लीग (Humanitarian League) के सिद्धान्तों का प्रचार नहीं है, परन्तु इसका कारण यही है कि लोग द्रव्यके अभावके कारण मांस जैसी क़ीमती खुराकके भोजनको खरीदनेमें असमर्थ हैं।

बाँदरेके कसाईखानेमें आनेवाले छह हिस्सोंमें पाँच हिस्से भेड़ बकरे अजमेर, जयपुर, बीकानेर और कपूरथला से और बाक़ी पूना और शोलापुरसे आते हैं। गायें सब दक्षिणकी ओरसे ही आती हैं, तथा भैंसें जिस समय दूध देना बन्द कर देती हैं, बम्बईके स्थानीय तबेलोंमें से ही भेज दी जाती हैं। राजपूतानेसे आने वाले भेड़ बकरे मङ्गलवार और शनिवारके दिन बाँदरा स्टेशनपर आकर उतरते हैं, और ये बीस बीसके कतारोंमें कसाइयोंको बेच दिये जाते हैं। कसाई जानवरोंको खरीदकर उनके ऊपर एक निशान बना देते हैं, जिससे जानवरोंके खोये जानेका भय नहीं रहता। इसके पश्चात इन जान-

वरोंकी, म्युनिसिपैलिटीके पशु-चिकित्सामें निष्णात डॉक्टर परीक्षा करते हैं। जो जानवर पैर, मुँह, चमड़ीकी बीमारी तथा ज्वर आदिसे पीड़ित होते हैं अथवा अत्यधिक दुबले पतले होते हैं, उन्हें काटे जानेके लिये पास नहीं किया जाता। इस बात में बहुत कड़ाईसे काम लिया जाता है। जो जानवर इस परीक्षामें उत्तीर्ण होजाते हैं, उन्हें कसाईखानेके भीतरके दरवाजेमें भेज दिया जाता है, तथा 'हलाल' करनेके पहले उन्हें फिरसे एकबार देखा जाता है।

मूक पशुओंका यह होमकर्म प्राय: संध्याके चार बजे आरम्भ होता है, और रातके दस बजेतक चलता है। तमाम रात पन्द्रहसौ आदमी अथक परिश्रम करते हैं। कटे हुए जानवर ठीक तरह से पैक करके म्युनिसिपल ऑफिसरोंकी मुहरबन्द होकर मोटरलारियोंमें शहरके भिन्न भिन्न बाजारों में भेजदिये जाते हैं। यह क्रियाकर्म सुबहके पाँच बजे समाप्त हो जाता है, तथा अब बिक्रीका काम आरम्भ होता है। यह बिक्री दिनके साढ़े नौ दस बजेतक चालू रहती है। दस बजेके बाद बचे हुए स्टाकको या तो ठंडे गोदामों (Cold Storage) में भेज दिया जाता है, अथवा छोटे मोटे दुकानदार कसाइयोंको बेच दिया जाता है। ये कसाई इस मांसको कम क़ीमतपर फ़रोख्त कर देते हैं। ठंडे गोदामोंमें भेजा हुआ मांस अगले दिन फिर से ताजे मालके साथ बाजारमें बिकता है, तथा छोटे दुकानदारोंके बचेहुए मालको संध्याके छह बजे म्युनिसिपैलिटीके कर्मचारी दुकानदारोंसे छीन कर उस संक्रामक रोगसे मुक्त करनेवाले पाउडर के साथ मिलाकर कूड़ेके ढेरपर डाल देते हैं।

कसाईखानेमें जानवरोंके कटनेमें बहुतसा खून भी इकट्ठा होता है। इस खूनको उबालकर सूखा हुआ पाउडर बना लेते हैं। बम्बईके कसाईखानेमें तीन दिनमें लगभग एकटन खूनका सूखा हुआ पाउडर इकट्ठा होता है। इसे कुछ अन्य भौतिक पदार्थोंके साथ मिलानेसे यह चायकी खेतीमें सर्वोत्तम खाद का काम देता है। इस पाउडरको आसाम और सीलोन के चायके कृषक खरीद लेते हैं। कभी इसका दाम तीनसौ रुपये टनके हिसाबसे मिलता था, परन्तु आजकल इसकी दर कुल साठ रुपये टन की रहगई है। बांदरेके कसाईखानेमें पन्द्रह हजार भेड़ बकरोंके तथा एक हजार अन्य पशुओंके खड़े होनेकी जगह है। म्युनिसिपैलिटीका विचार बांदरे के कसाईखानेको ट्राम्बेमें लेजानेका हो रहा है। वहां म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे सौ एकड़ जगह भी खरीद की गई है।

(टाइम्स ऑफ इन्डिया)

३-कुत्तोंका बजट।

ग्रेट ब्रिटेनमें लगभग तीसलाख कुत्तोंके मालिक सरकारको दसलाख पौंड सालानाका टैक्स देते हैं। अमेरिकामें लगभग सत्तरलाख कुत्ते पाले जाते हैं। और अकेले न्यूयार्कमें कुत्तोंकी हिफाज़त के लिये तीनलाख सत्तरहज़ार पौंड खर्च किया जाता है। पैरिसमें पैंतालीस हजार कुत्तोंका पालन होता है। गतवर्ष फ्रांसकी सरकारने एक कुत्तेके अस्सी फ्रैंन्कस के हिसाबसे बयालीस हजार पौंड कुत्तोंका टैक्स वसूल किया था।

केवल इङ्गलैंडमें कुत्तोंके छहसौ क्लब और सोसाइटियाँ हैं। ये क्लब प्रत्येकवर्ष एक हजारसे अधिक प्रदर्शनियाँ भरते हैं, जिनमें पचास हजार पौंडका पारितोषिक वितीर्ण किया जाता है। इन कुत्तोंकी देखरेख रखनेवाले स्त्री-पुरुषोंको प्रत्येक

वर्ष चारलाख पौंड वेतन मिलता है। इसके अति-रिक्त कुत्तोंका खाना, खुराक, दवाइयों, कपड़ेलत्ते, चिकित्सा आदिका सालाना खर्च बीस लाख पौंड से भी बढ़ जाता है।

४-रूसके विद्यार्थियोंसे प्रश्न।

मौस्कोके एक स्कूलकी कक्षाके विद्यार्थियोंके लिये जिनकी औसत उमर केवल दस वर्षकी थी, निम्नलिखित प्रश्नपत्र निकाला गया था—

१—संकटके समय इन्डस्ट्रीकी कौनसी शाखा-ओं पर विशेष रूपसे प्रभाव पड़ता है?

२—व्यापारिक संकटके क्या क्या परिणाम होते हैं?

३—विविध देशोंमें संकटपूर्ण परिस्थितियों के मौजूद रहनेमें क्या प्रमाण हैं?

४—हमारे देशके इन्डस्ट्रियल होनेमें कौनसे आंकड़े हैं?

५—हमारे गृहपालित पशुओंकी हानि होनेके क्या कारण हैं?

६—सोवियटरूसमें संस्कृतिजन्य उत्कर्षके नि-श्चय करनेके क्या उपाय हैं?

७—माल बाहर लेजानेसे परस्परके व्यापार पर कैसे प्रभाव पड़ता है?

—जगदीशचन्द्र ऐम० ए०

५-जैन कॉलिज।

मैं श्री० बैरिस्टर जमनाप्रसादजीको धन्यवाद देता हूं कि जैन स्कॉलरशिप फण्ड क़ायम करके उन्होंने जैन जनताका भारी उपकार किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस परम उपकारी दान-मार्गपर चल कर जैन जनता धर्मकी प्रभावना और जातिकी उन्नति करेगी, और इस फण्डकी दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि होती रहेगी।

जैन कालिजके प्रश्नपर भी श्री० जमनाप्रसाद-जीने मेरे लेखका उल्लेख करके कुछ लिखा है।

मैं यह बात मानता हूँ कि जब तक कालिजके लिये काफी रुपया जमा न हो सके, छात्रवृत्ति-कोषकी स्थापना बहुत उपकारी है। किन्तु छात्रवृत्ति और कालिजमें इतनाही अन्तर है जितना अपने बेटेको दूसरेकी दुकानपर काम सीखनेके लिये बिठाने और अपनी घरकी दुकानपर काम करानेमें है। दूसरा आदमी हमारे बेटेसे मात्र मेहनतका काम, नीचा काम लेता रहता है, और व्यापारके गुप्त-रहस्यकी बात छिपाता रहता है. थोड़ीघनी ऊपरकी बातें लड़का बरसोंकी शागिरदी करके सीख पाता है, मगर साधारणतया वह कुशल व्यापारी नहीं बन जाता, और कोई बड़ा या जोखिमका काम खुद करलेनेकी उसकी हिम्मत ही नहीं होती। घरकी दुकानपर काम करनेसे लड़का शीघ्र ही रहस्यकी बातें, सफलताके ढंग जानकर व्यापार-चतुर हो जाता है।

अगस्त मासके अंगरेज़ी जैनगजट पृष्ठ २४६ पर दिखाया गया है कि विदेशोंमें कहींभी परदेशी और विशेषकर हिन्दुस्तानी विद्यार्थीको कारखानेके असली रहस्य नहीं बतलाये जाते, बल्कि छिपाये जाते हैं। विदेशमें क्या, हिन्दुस्तानमें ही हिन्दु-स्तानियोंको हवाईजहाजके, रेलके, बिजलीके, मोटर के, छापे के और अन्य कलाकौशलके असली मंत्र नहीं बतलाये जाते; बल्कि जो जो कारखाने विदेशियोंके संचालनमें हैं, वहाँ हिन्दुस्तानियोंको ऊँचे, केन्द्रके मुख्य भागमें घुसना ही नहीं मिलता।

हिन्दुस्तानमें एकभी स्वतंत्र यूनिवर्सिटी नहीं है। डाक्टर एनी बेसंटने एक स्वतंत्र शिक्षा-संस्था बनारस हिन्दू कालिज क़ायम किया और सरकारी

सहायतासे सदा इन्कार किया। जब हिन्दु कालिज, हिन्दु यूनीवर्सिटीमें मिलगया, तो उसकी स्वतंत्रता जाती रही, और सरकारी सहायताके साथ साथ सरकारी बन्धनोंकी गाँठें कसती गईं। आजकल यूनिवर्सिटी खड़ी करनेका चसका पड़ गया है और परिणाम यह है कि भारतके एक संयुक्त प्रांतमें, अलीगढ़, आगरा, लखनऊ, अलाहाबाद, बनारस पांच यूनिवर्सिटियाँ हैं और अलीगढ़के पासही छठी दिल्ली यूनिवर्सिटी है।

इन यूनिवर्सिटियोंके होनेसे तात्त्विक-ज्ञान, काम की विद्या, कार्यकारी कलामें तो नाम मात्र वृद्धि हुई होगी; हाँ, डिग्रीप्राप्त युवकोंकी संख्या असंख्यात होगई। हर यूनिवर्सिटी एक कारखानेकी प्रकार दूसरी यूनिवर्सिटीसे डिग्री प्रदान करनेमें स्पर्धा करती है, न कि ठोस कार्यकारी विद्याप्रचारमें। अलग अलग विश्वविद्यालय स्थापित करके लोगोंने अपने, और अपने नातेदारों, और मित्रोंके लिये लम्बे वेतन और आरामका प्रबंध कर लिया है। विद्यार्थीभी डिग्री प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य समझते हैं; न कि ठोस ज्ञानकी प्राप्ति। और शिक्षक और शिष्य दोनोंका आशय एक होनेका परिणाम यह होता है कि छल कपटसे डिग्रीप्राप्त विद्यार्थी प्रायः दुनियाँमें निकम्मे और दुःखित रहते हैं। जिनको रिश्तेदारोंकी सहायता मिलजाती है, वे मजे करते हैं, सरकारी अफसरों की हाँ में हाँ मिलाते और उनकी उँगलियोंके इशारे पर नाचते रहते हैं, अपना जीवन विषयसेवनमें व्यतीत करते, और देश और धर्मके पतनमें सहायक बनते रहते हैं।

जीवनका सवाल, देशका सवाल, धर्मका सवाल तबही हल हो सकता हैं, जब जैनकॉलिज बनजावे और प्रारम्भसे अन्त तक युवक वर्गकी दीक्षा-शिक्षा धर्मानुसार हो, उनका दैनिक चारित्र, उनके आचारविचार पवित्र हों, और वे देश, धर्म, समाज का गौरव बढ़ा सकें। छोटी छोटी पाठशालाओंसे और केवल ऐसे नामधारी महाविद्यालयोंसे जहाँ निरी जैन पारिभाषिक शब्दोंकी नामावली रटाई जाती है, और मानसिक संकीर्णता और कषाय-वृद्धिकी शिक्षा दी जाती है, धर्मकी प्रभावनाकी जगह गिरावट हो रही है।

अब श्री० जमनाप्रसादजीकी अन्य छोटी छोटी बातोंके विषयमेंभी लिखे देता हूँ। मैं दिल्ली यूनिवर्सिटीमें रीडर और लखनऊ और बनारस यूनिवर्सिटी में कोर्ट-मेम्बर रहा हूँ; और स्वानुभवसे कह सकता हूँ कि साम्प्रदायिकता और सिफारिशका विद्यार्थियोंकी भरती, स्कॉलरशिप, पारितोषिक पर कितना असर पड़ता है; नाम और पता बतलाना सभ्यताकी सीमा को उल्लंघन करना होगा।

जैन कॉलिजके प्रोफेसर जहाँतक होसकेगा जैन रहेंगे। जैन प्रोफेसर काफी तादादमें मिल सकते हैं। जिनके नाम आपने दिये हैं, वे भी १०००) की नौकरी छोड़कर जैन कॉलिजमें ६००) पर काम करनेको तय्यार हो जावेंगे, यह मुझे पूर्ण विश्वास है।

जैन कॉलिजके स्थायी रहनेमें आपको सन्देह ही क्यों होता है? यदि जैन कॉलिजमें जैन जनता की गाढ़ी श्रद्धा होगई तो जैन कॉलिज ऐसाही स्थायी रहेगा जैसा जैनधर्म।

जैन विद्यार्थियोंकी कमीकी वजहसे कॉलिज खाली नहीं रहेगा, यह मुझे विश्वास है; और आपको मालूम होजायगा। जैन कॉलिज में अमीर घरों के विद्यार्थी आवेंगे, और जैन कॉलिजका स्थान दुनियाँमें वैसा ही होगा जैसा ऑक्सफर्ड और केम्ब्रिजका।

जैन कॉलिजके गत २०-२५ वर्षके आन्दोलन में अबतक कोई ऐसी बात नहीं हुई है कि जिसको 'सोडावाटरका उफान' कहा जा सके, और आगे के लिये भी ऐसा सन्देह करनेके लिये कोई माकूल वजह नहीं है।

यह बात कि किसी चलते हुए इन्टरमीजियट कॉलिजको ही डिगरी-कॉलिज किया जाय, ऐसी है जिसपर उचित समयपर विचार करना होगा।

—अजितप्रसाद जैन ऐडवोकेट।
अजिताश्रम, लखनऊ

प्रेमीजी के अनुभव।

[श्रद्धेय श्रीमान पं० नाथूरामजी प्रेमीके प्रवासके अनुभव १-नवयुवकदल २- स्त्री समाज, ३-बदनाम जैनसमाज, ४-मरणोत्तर क्रिया कांड शीर्षकसे पहिले प्रकाशित होचुके हैं। —प्रकाशक]

५—चमत्कार और मंत्र–जंत्र

जिस समय परम दिगम्बर मुनीन्द्रसागर की अकिञ्चन चटाईमें से नोटोंके बंडल, जेवर और अफीम, कोकिन आदि परिग्रहपिण्ड निकल पड़नेसे श्रावक-श्राविकाओंकी भक्ति-श्रद्धा चकित, विस्मित और स्तंभित होरही थी और मुनिराजोंका डेरा दमोहकी जैन धर्मशालामें से उठकर स्टेशनके पास के मुसाफिरखानेमे पहुँच गया था, लगभग उसी समय उक्त विभूतियोंके दर्शन करनेके लिए मैं पहुँचा। भीतरके कमरेमें आर्च (?) महाराज रुग्णावस्थामें पड़े कराह रहे थे, उनके शिष्य सागर नं० १ पास ही गणधरका काम कर रहे थे और बाहरकी दालान में सागर नं० ३ हिन्दीकी पहली या दूसरी पुस्तक जोर जोर से पढ़कर विद्या-सागर बननेका प्रमाण दे रहे थे। साध्वी श्रीमती माणिकबाई या जिनमती बाई उसी दालानमें एक ओर गुरुवरोंके लिए प्रासुक आहार तैयार कर रही थीं-चूल्हेमें कढ़ाही चढ़ी हुई थी। पासही एक आलेमें जिनप्रतिमा थी और उसके सम्मुख खड़े हुए एक सज्जन गीला अँगोछा पहिने पूजा-पाठ कर रहे थे। इन सज्जनसे मैं परिचित था—जैन शास्त्रोंका निरन्तर स्वाध्याय करनेवाले, शुद्धाम्नायी, विधवा-विवाह विजातीय-विवाह आदिके कट्टर विरोधी और काफी सम्पन्न! मुझे आश्चर्य हुआ कि इनकी मुनिभक्ति अभी तक इनका पीछा क्यों नहीं छोड़ रही है!

सागर नं० १ से मेरी कुछ बातचीत हो पड़ी। मुनिनिन्दकोंका काफी सत्कार पुरस्कार कर चुकनेके बाद उन्होंने अपने गुरुदेवकी और अपनी मंत्र-तंत्र-शक्तिका खूब वाचिक प्रदर्शन किया और उसके द्वारा लोगोंका सत्यानाश कर डालना अपना बाँयें हाथका खेल बतलाया।

दूसरे दिन मुझे मालूम हुआ कि उक्त सज्जनने, जो जिनपूजामें दत्तचित्त थे, अपना एक सोनेका ताबीज मुनिराजों को दे रक्खा है इसलिए कि वे उसमें कोई असाधारण शक्तिसम्पन्न जंत्र या जड़ी-बूटी भर देंगे और उससे उनको लाभ होगा। परन्तु अब चूँकि मुनिराज अपनी लीला संवरण कर रहे थे, इसलिए उन्हें चिन्ता होरही थी कि कहीं वह सोने का तावीज ही हजम न होजाय, इसलिए इस प्रयत्न में थे कि किसी तरह वह हाथ आ जाय। इसलिए अन्य श्रावकोंके सब प्रकार सम्पर्क छोड़ देने पर भी वे पूजा-पाठके बहाने ही मुनिराजों का साथ देरहे थे। आखिर उनका परिश्रम सफल हुआ और सोनेका तावीज वापस मिल गया।

एक दिन जब मन्दिरमें धर्मचर्चा होरही थी, मैं ने उनसे पूछा कि आप तो सम्यग्दृष्टी हैं, वस्तुका स्वरूप समझते हैं, आपको तो इस लोकमूढ़तामें न पड़ना था। बोले, मणि-मंत्रादिकमें अचिन्त्यशक्तियाँ हैं, यह तो जैन शास्त्रोंमें भी कहा है। व्यन्तर देवोंका अस्तित्व भी है, और वे शक्तिशाली भी हैं, इत्यादि लम्बी चौड़ी कैफियत उन्होंने दी। मैंने सोचा, जब सम्यग्ज्ञानके प्रवर्तक जैन शास्त्रोंमें ही इन लोकमूढ़ताओंकी जड़ें गहरी प्रविष्ट होगई हैं, जो साक्षात् सर्वज्ञ भगवानकी वाणी माने जाते हैं, तब तीन मूढ़ताओंके त्यागके उपदेशके दो चार श्लोकोंसे क्या होना-जाना है!

भट्टारक-युगका पिछला साहित्य इन लोकमूढ़ताओंसे लबालब भरा हुआ है, और उसी साहित्य का सबसे अधिक प्रचार रहा है। कट्टर तेरहपंथका आक्रमणभी उसका कुछ अधिक बिगाड़ नहीं कर सका है। जैनगुरुओंके मंत्रबलसे बिना कहारोंकी पालकी चलने लगती है, अमावस्याकी रातको पूर्णिमाका चन्द्रमा आकाशमें उगता हुआ नजर आने लगता है, राजाकी कैदकी बेड़ियाँ तड़ातड़ टूट जाती हैं, साहुका पुत्र सजीवन होजाता है, मक्सी पार्श्वनाथपर लोहेकी छेनी लगनेसे दूधकी धारा

बहने लगती है, सिरपुरमें देव केसरकी वर्षा करते हैं, पार्श्वनाथकी प्रतिमा अधर रहती है, इत्यादि बातोंपर विश्वास करनेके लिए जो साहित्य हमें उत्साहित करता है, उसके पाठक और श्रोता यदि इन मुनि नामधारी धूर्तों से मंत्र-तन्त्रोंकी बातोंसे प्रभावित होकर ठगाये जायँ तो आश्चर्य ही क्या है ?

और देहातकी प्रजा तो अज्ञान अन्धकार तथा गतानुगतिकता में इतनी डूबी हुई है कि धर्मके नाम पर उसे कोई भी ठग सकता है।

केसली (सागर) में मुनीन्द्रसागरने एक भोले सेतवाल भाईको जो वरारके थे, उनकी इच्छाके विरुद्ध मुनि-दीक्षा देनेका ठाठ किया था। इन महाशयने अर्थात् मुनि सद्धान्तसागरने मुझसे स्वयं दमोहमें कहा था कि मैं इतनी जल्दी मुनि-पद ग्रहण नहीं करना चाहता था; परन्तु क्या करूँ लाचार होगया और मुँड गया। उक्त मुनिदीक्षामहोत्सवकी एक बात बड़े मार्केकी है और वह यह कि उस समय हवन भी कियागया था। इस हवनके लिए जो सामग्री श्रावकोंसे तलब की गई थी, उसमें एक तोला अफीम भी थी ! जब मैं दमोहसे घूमते घूमते केसली पहुँचा, और वहाँ यह खबर पहुँची कि मुनीन्द्रसागरकी तलाशीमें नोटों और जेवरोंके साथ अफीम और कोकेनभी निकली थी, तब उस भाईकी आँखें खुलीं, जिसके जिम्मे हवन-सामग्री संग्रह करनेका काम किया गया था। उक्त भाईने, जो कुछ पढ़ा लिखा और काफी होशियार मालूम होता था, मुझसे कहा कि हवनके लिए अफीमकी फरमाइशपर मुझे खुद सन्देह होना चाहिए था; परन्तु मुनि-श्रद्धाके कारण मैं यह सोच भी न सका कि आखिर इस काली नागिनका हवन से क्या सम्बन्ध ? मुझे क्या मालूम था कि मुनिराजको स्वयंही अपने उदरकुंडमें अफीम की आहुति देनी पड़ती है !

मुनीन्द्रसागर शास्त्रोक्त आचार-विचारोंकी बहुत कम परवाह करता था। उसकी पूजाप्रतिष्ठा का सारा रहस्य यह था कि वह अपनेको मंत्रवादी और चमत्कार दिखलानेवाला प्रकट करता था। वह इस बातको अच्छी तरह समझता था कि इस स्वार्थपूर्ण और अन्ध जैन समाजमें बिना चमत्कार के कोई नमस्कार नहीं करता। उसने ऐसे ऐसे लोगोंसे भी सैकड़ों रुपये वसूल किये हैं जो दानके नामसे कभी एक पाईभी न देते थे। एक ग्रामका मन्दिर बरसों से अधूरा पड़ा है, उसके लिए भी वहाँ वाले दो तीन सौ रुपया खर्च नहीं कर सकते थे, परन्तु उसी गाँववालोंने मुनिराज जुदे जुदे महात्म बतलाकर लगभग २००) वसूल कर लेगये।

केसलीसे तीन चार कोसपर टंडा गाँव है, वहाँके प्रायः प्रत्येक जैनगृहस्थको वे एक एक नारियल मंत्रित करके और यह कहकर दे गये थे कि इसे अपनी अपनी तिजोड़ीकी सन्दूकमें रखोगे, तो तुम्हारा सन्दूक कभी खाली न होगा, उसकी वृद्धि ही होती रहेगी। मैंने मजाकमें एक भाई से पूछा कि कहो, नारियलके प्रतापसे कितनी बरकत हुई ? नारियलके लिए जितनी दक्षिणा दी थी, कमसे कम वह दूनी तो हो ही गई होगी ? बेचारे शरमिंदा होकर चुप होरहे।

वहाँ एक कुँएका पानी खारी था। महाराजने एक चुल्लू पानीको मंत्रित करके उसमें डाल दिया और कह दिया कि, बस अब वह मीठा होजायगा। साथके सिद्ध-साधकोंने पानी चखकर गवाही भी दे दी कि हाँ, बेशक मीठा होगया। फिर किसका साहस था कि इसका प्रतिवाद करे ? सब हाँ में हाँ मिलाने लगे और यह कहनेकी तो जरूरत ही नहीं है कि पानी जैसा था वैसा ही अब भी है।

मेरे खयालमें जब तक लोगोंको चमत्कारों पर और अलौकिक शक्तियोंपर विश्वास है, तब तक ऐसा होता ही रहेगा; धूर्तों और पाखंडियोंके द्वारा किसी न किसी रूपमें वे ठगे ही जाते रहेंगे। मुनीन्द्रसागर नहीं है, तो उनकी जगह दूसरे कोई सागर खड़े हो जावेंगे और इससे नहीं तो किसी और ढंग से हाथ साफ करेंगे।

इस रोगकी एकमात्र दवा है, लोगोंके अज्ञान को दूर करना और उनके हृदयमें कारण-कार्यवाद की अखंड सत्यताको जमा देना—उन्हें समझा देना कि सृष्टिमें चमत्कार जैसी कोई वस्तु है ही नहीं—

यौवनका श्रृंगार।

१ निर्मल दर्पण स्वज्ञान (Self-knowledge)

यह अद्भुत दर्पण तुम्हारे दोषोंको तुम्हारे सामने रख देगा, तुम अच्छी तरह जान जाओगी कि तुममें किन किन खराबियों और बुराइयोंने घर कर रक्खा है। यह तुम्हारी अच्छाइयोंको अत्यधिक चमकदार और प्रकाशवान बना देगा।

२ उत्तम रोगन—सचाई (Truth)

इस अमूल्य रोगनको नित्य प्रति दिन अधरोंपर लगानेसे तुम्हारे अधर कान्तिवान व चित्ताकर्षक होजायँगे और सदैव मीठे व हृदयग्राही वचन ही तुम्हारे मुँहसे निकलेंगे।

३ जिव्हाके लिये मिश्रमधर— प्रार्थना (Prayer)

नित्यप्रति दिन इस मिश्रधरको जिव्हापर लगानेसे तुम्हारी जिव्हा शुद्ध व पवित्र रहेगी, तुम्हारी वाणीमें माधुर्य व सौन्दर्यकी वृद्धि होगी और सदैव मीठे मीठे गाने तुम्हारा मनोरंजन किया करेंगे।

४ नेत्राञ्जन— विश्वप्रेम (Universal love)

इस अंजनको लगानेसे तुम्हारे नेत्रोंकी ज्योति व प्रतिभा बढ़ जायगी, तुमको सब चाहने लगेंगे और तुम सबको चाहने लगोगी। तुमसे कोई भी घृणा न कर सकेगा और न तुमही किसीसे घृणा कर सकोगी। तुम अत्यन्त आकर्षक होजाओगी।

५ सौन्दर्यवर्द्धक पाउडर (Powder)—अनुकम्पा (Compassion)

इस पाउडरको मुखपर लगानेसे मुख कान्तिवान होजायगा, उसका सौन्दर्य अनुपम होजायगा, हृदय कोमल और सरल होजायगा, प्रत्येक आपत्तिग्रसित व्यक्ति इस मुखके दर्शन मात्रसे निराकुल या अल्पव्याकुल होजायगा। तुम सर्वप्रिय होजाओगी।

६ कंगन का जोड़ा—साहस और परिश्रम (Courage and Labour)

इनको मजबूत पकड़े रहनेसे तुम भारीसे भारी काम कर सकोगी, कठिन समस्याएँ सुलझा सकोगी, अपने भाइयों व बहनोंका उद्धार कर सकोगी, समाज, धर्म और देशका सुधार कर सकोगी, संसारको अपना प्रशंसक बना सकोगी, और अपने जीवनको पूर्णतः सफल बना सकोगी।

७ सोनेका छल्ला—नियम (Principle)

इसको कभी भी अपनी उँगलियोंसे पृथक् न करो। यह तुमको पापोंसे बचायगा, और शान्तिप्रदान करेगा। तुम्हारे मनको चलायमान होनेसे रोककर तुम्हारा उद्धार करेगा।

८ सच्चे मोतियोंकी माला—धैर्य (Patience)

इस मालाको पहनकर तुम प्रत्येक आपत्तिका सामना कर सकोगी और कभीभी विचलित न होकर दूसरोंको अपने सन्मुख झुकानेमें समर्थ हो सकोगी। सचाई और न्यायकी प्रतिभासे परिपूर्ण मोतियोंके कारण तुम्हारी माला तुम्हारे लिये कवच और तुम्हारे विरोधियोंके लिये खूनी तलवारका काम देगी।

९ सुगन्धित तेल— नम्रता (Politeness)

इस तेलसे तुम्हारे केश सुगन्धित होजायँगे, और वह सुगंध दूर दूर फैलाकर तुम्हें सुप्रसिद्ध बना देगी, तुम्हें सबकी प्रशंसाका पात्र बना देगी। हर कोई तुम्हारा आदर करेगा।

१० शुद्ध साबुन—ब्रह्मचर्य

इस साबुनके प्रयोगसे तुम्हारा शरीर शुद्ध और बलिष्ठ रहेगा, तुम्हारी आत्मामें एक अद्भुत तेज प्रकाशवान होकर तुम्हें समुन्नत बनायगा। उस तेजके सन्मुख पापियों और दुराचारियोंको लज्जित होना पड़ेगा, उन्हें पश्चात्ताप करना पड़ेगा।

११ बहुमूल्य रेशमी साड़ी— संतोष — (Contentment)

जो कुछ होता है वह एक नियमके अनुसार होता है। जो साहित्य इसके विरुद्ध चमत्कारी और अलौकिक घटनाओंपर विश्वास करना सिखलाता है, उससे तो यह [illegible]

समाचार-संग्रह ।

(पृष्ठ ५६६ से आगे)

—अजमेरके श्री ऐल० डी० शर्मानि इलाहाबाद में ८० घन्टेतक लगातार पैदल चलकर नया रेकार्ड स्थापित किया है।

—पं० सुन्दरलालजी जैन वैद्यकी धर्मपत्नीका रावलपिंडीमें स्वर्गवास होगया। आपने भा० दि० जैन परिषद्के प्रस्तावानुसार अपनी धर्मपत्नी का नुकता (तेरहीं) या इस प्रकारकी कोई रस्म अदा नहीं की।

—कलकत्ताकी एक अदालतमें एक मौनधारी साधुपर मुकद्दमा चल रहा है। उसपर यह अभियोग लगाया गया है कि उसने अपनी एक चेलासे पाँव दबाते समय व्यभिचार किया था।

—श्रीमान् राज्यरत्न रायबहादुर सर सेठ हुकमचन्दजीका हीरक-जयन्ती उत्सव इन्दौरमें आगामी अगस्त वदी २ से एक सप्ताह तक मनाया जायगा। गतवर्ष नग्न-विहार-प्रतिबन्धक कानूनके विरोध स्वरूप यह स्थगित करादिया गया था। इसी अवसर पर भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा तथा मालवा-प्रान्तिक दिगम्बर जैन सभाके अधिवेशन कराने की योजना की जा रही है।

——इन्दौरके श्री गोवर्द्धननाथजीके मन्दिर से २५०००) के आभूषण चोरी गये।

——हांसीमें जैन रथयात्रापर कसाइयोंने हमला किया।

——ट्रावनकोर रियासतमें शारदा-कानूनके ढंग पर बालविवाह प्रतिबंधक कानून पेश करनेके लिये स्वीकृति देदी गई है।

——बाँसवाड़ा वाले सेठ वखेचन्द चम्पालालजी जैनने अपने १८ वर्षीया पुत्रीका विवाह सलुम्बर निवासी सेठ कस्तूरचन्द विरधीचन्दजी के१३ वर्षीय पुत्रके साथ किया है ! उस प्रान्तमें ऐसी ही अनेक अनमेल सगाइयाँ और भी हुई हैं। अगर माता पिता अपने कर्तव्यका उचित रूपसे पालन नहीं करते, तथा पंच लोग भी ऐसे अन्यायोंको नहीं रोकते तो वर व कन्याओंको स्वयं साहसपूर्वक इनका विरोध करना चाहिये और मूक पशुओंकी तरह अपनी बलि नहीं होने देना चाहिये।

——लाडनूं में दिगम्बर-जैन मुनि श्री सूर्यसागरजी का चातुर्मास होरहा है। उनके उपदेशोंके प्रभाव से जैन ही नहीं किन्तु अजैन भी प्रभावित होकर अनेक तरहके व्रत नियम आदि लेकर अपना चारित्र सुधारते हैं। अनेक व्यक्तियोंने मद्य, मांस तथा व्यभिचार आदिका त्याग किया। आप अन्य अनेक मुनियोंकी तरह ख्यातिलाभकी इच्छासे केशलोंच आदि क्रियाओं के लिये ढिंढोरा नहीं पिटवाते तथा शान्तिपूर्वक शिक्षा उपदेश व पठनपाठन में ही कालयापन करते हैं। आप सामाजिक पंचायती पचड़ों में नहीं फँसते; प्रत्युत जहाँ कहीं पहिले से परस्पर वैमनस्य हो, उसे दोनों ओरके व्यक्तियोंसे सरलता-पूर्वक समझकर दूर करा देते हैं। जयपुरमें जो पंचायती झगड़ा वर्षोंसे चल रहा था, वह आपके प्रभावसे बड़ी आसानीसे दूर होगया। और भी अनेक स्थलोंपर आपने शान्ति स्थापित की है। आप जाति-मदपोषक अनेक व शूद्रजल त्याग आदि हानिकर बातोंका प्रचार न कर आंतरिक चारित्र को सुधारने पर ही जोर देते हैं। इन सब गुणोंके कारण आपमें जैन तथा अजैन जनताकी भी श्रद्धा व भक्ति बढ़ती आ रही है।

— कैसरगंज बाराबंकी के सुगनचंद जैनको आठ वर्षकी लड़कीके साथ बलात्कार करने के अपराधमें ७वर्षकी सख्त कैदकी सजा हुई।

तुम्हारे हृदयको प्रसन्नताके दर्शन मिल जायेंगे और तुम बहुतसी कठिनाइयोंसे बचकर अपनेको व्याकुल होने से रोक सकोगी।

—रघुवीर शरण जैन।

"SATYASANDESH"
Ajmer
Reg. No N. 611
ता० १ नवम्बर सन ३५
वर्ष १० | * स्वतन्त्र पाक्षिकपत्र * | अङ्क २३
वार्षिक मूल्य ३) ...

सत्यसन्देश

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषो न हरे हरौ । सर्वतीर्थकृतामन्त्यम् शिवं सत्यमयं वचः ।

सम्पादक—दरबारीलाल सत्यभक्त. | प्रकाशक—फतहचन्द सेठी.
जुबिलीबाग तारदेव, बम्बई । | अजमेर ।

विषय-सूची ।

समाचार-संग्रह ।

—कलकत्ता में दिवालीके अवसर पर पटाखे छुड़ानेसे दो आदमियोंके हाथ उड़गये, तथा एक लड़का बुरी तरह झुलस कर मर गया ।

—विमलसागर नामक एक दिगम्बर जैन ब्रह्मचारी की गठरी खोली गई तो उसमेंसे उड्डीशतन्त्र, कौतुकरत्नभाण्डागार, कामतन्त्र, नौटङ्कीका खेल आदि पुस्तकें निकलीं । मालूम होता है ब्रह्मचारीजी पुत्रहीना स्त्रियों को पुत्रप्राप्ति करा देनेका पुण्य सम्पादन करते रहे होंगे ।

—बम्बईमें स्थानकवासी जैन मुनि मिश्रीलालजी ने जैन समाजमें से जातिभेद दूर करानेके लिये २० अक्टूबरसे आमरण अनशन प्रारम्भ किया है । आप केवल थोड़ासा पानी पीते हैं, और अधिक समय मौनही रहते हैं ।

—श्री भारतीय जैन विधवा रक्षा विभाग आकोला के मन्त्री श्री० कस्तूरचन्दजी जैन वैद्य व कतिपय अन्य व्यक्तियोंपर एक सधवा स्त्रीका पुनर्विवाह करा देनेका अभियोग लगाया गया था । उसमें नागपुर हाईकोर्टमें कस्तूरचन्दजी पर दो सौ रुपये और

रुपया जुर्मानेका दंड हुआ है।

—श्री चोरड़िया जैन कन्या–गुरुकुल, छावनी नीमच के लिये मकानात करीब करीब बन चुके हैं। नियमावली तथा पाठविधि भी छपकर तैयार है। गुरुकुलकी स्थापना आगामी माघ शुक्ल ५ (बसंत पंचमी) को की जायगी। जिन जैन तथा हिन्दू सज्जनों को अपनी बालिकाएँ उक्त गुरुकुलमें प्रविष्ट कराना हो वे उसके संस्थापक व संचालक श्रीमान समाज भूषण सेठ नथमलजी चोरड़िया के नाम शीघ्र प्रार्थनापत्र भेजें।

—आगराके सुप्रसिद्ध सेठ श्री० अचलसिंहजी ने अपनी जायदादमेंसे एकलाख रुपये का एक ट्रस्ट ग्रामोद्धार के लिये किया है।

—ता० ३० अक्टूबरको अकोला जैन विधवाश्रम में श्रीमती केसरबाईका पुनर्विवाह बम्बई निवासी श्री मुकनचन्द केवलचन्दजी श्वेताम्बर जैनके साथ सम्पन्न हुवा।

—श्री० राज्यरत्न रावराजा सर सेठ हुकमचन्दजी की हीरक–जयन्तीके अवसर पर दिगम्बर जैन समाज के स्थितिपालकदलकी महासभाका जो अधिवेशन इन्दौरमें ता० १५ व १६ नवम्बर को होने वाला है, उसका प्रमुखपद श्रीमान् राय बहादुर सेठ भागचन्दजी सोनी ऐम० ऐल० ए० ने स्वीकार किया है। इसी अवसर पर कवि–सम्मेलन भी होगा। महोत्सव कमेटीकी ओरसे यह भी घोषणा हुई है कि "जैनसमाजकी बेकारी और उसको दूर करने के उपाय" विषयपर सर्वश्रेष्ठ निबन्ध लिखने वालेको ५१) की लागतका स्वर्णपदक पुरस्कारमें दिया जावेगा। निबन्ध कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा तक मन्त्रीके पास पहुँच जाना चाहिये।

—जयपुरके श्रीमान् सेठ कल्याणमलजीने अपने स्वर्गीय पिताकी स्मृतिमें बारह हजार रुपये दान किये परन्तु पंचों, रिश्तेदारों, मुनीमों आदिके दबाव देने पर भी मृतकभोज नहीं किया। रिश्तेदारों तथा आपकी फर्मके मुनीमोंने बिना आपकी मर्जीके मृतकभोज के लिये सब तैयारियाँ करलीं; किन्तु आपने इसकी कुछ पर्वाह न की और अपने निश्चय पर अटल रहे।

सत्यसमाज प्रगति।

सत्यसमाजके निम्नलिखित सदस्य तथा अनुमोदक और बने हैं।

(१३३) अमोलकचन्दजी काँकरिया। पिताका नाम–पूनमचन्दजी, उम्र १८, जन्मसे स्था० ओसवाल। जैन पाक्षिक। पता C/o खींवराज ताराचन्द, बार्शीटाउन (सोलापुर)

(१३४) मोहनलालजी चोलड़िया। पिताका नाम गम्भीरमलजी, उम्र ३३, जन्मसे स्था० ओसवाल। जैन पाक्षिक। पता—C/o भीकचन्द चुन्नीलालजी कोटेचा बार्शी।

(१३५) वेंकटर वजो। पिताका नाम शेषेरावजी, उम्र २७, जन्मसे ब्राह्मण। वैष्णव पाक्षिक। पता गुलबर्गा (निज़ाम स्टेट)

(१३६) माधवगोपालजी पंडित। उम्र ३०जन्मसे ब्राह्मण। वैष्णव पाक्षिक। मु० पो० चौसाला। ताल्लुका बीड़ (निजाम स्टेट)

(१३७) गुरुनारायणजी शोराबाला। पिताका नाम लाला गिरधारीलालजी, उम्र २४, जन्मसे वैष्णव अग्रवाल। वैष्णव पाक्षिक। पता—कटरा टेकचन्द, पुराना शहर, इटावा यू० पी०।

(१३८) हिराचन्द अमचन्दजी आवळे। कारंजा पुरा; वर्धा सी० पी०। अनुमोदक।

सत्यभक्तों से।

(१)

विश्व-गगनमें एक बार फिर सत्य-सूर्य चमकाने को।
रूढि-राक्षसीको निज बल से नाक चने चबवानेको।।
कार्यक्षेत्रमें आत्मवीर्यसे हल-चल शीघ्र मचानेको।
जन-समाजको कर्मयोगका अविरल पाठ पढानेको।।
सत्यभक्त! जगती में आओ, विजय-वधू अपनायेगी।
नतमस्तक हो जनता तुमको अर्घ्य सदैव चढायेगी।।

(२)

वैज्ञानिक-विश्लेषण द्वारा प्रकृति-तत्व समझानेको।
अन्धभक्त-हृदयों में सहसा धार्मिक क्रान्ति मचानेको।।
भारतीय धर्मों का मौलिक-संशोधन करजाने को।
सम्प्रदायके अविरल झगड़े दे ललकार भगानेको।।
सत्यभक्त! जगतीमें आओ, जनता गले लगायेगी।
सारी मातृ-जाति भी तुमको स्वागत-पुष्प चढायेगी।।

(३)

दीन-पतित-असहाय जनोंमें जीवन-ज्योति जगानेको।
सत्य-दिवाकर की किरणों से जग-जीवन विकसानेको।
सर्व-धर्म-समभाव जगाकर विश्व-धर्म उमड़ाने को।।
मात अहिंसाके चरणोंमें अपना शीस झुकानेको।
सत्यभक्त! जगती में आओ, विजय-ध्वजा फहरायेगी।।
भू-मंडल की सब जनता मिल पदरज-शीस चढायेगी।

—"विपिन-बिहारी" जयपुर।

मनुष्य-जातिकी एकता।

(२)

राष्ट्रके नामपर जातिभेद।

जातिभेदके अन्य रूपोंसे राष्ट्रके नामपर बने हुए जातिभेदमें एक बड़ा भारी भेद है। अन्य जातिभेद राजनीतिसे परम्परा-सम्बन्ध रखते हैं और बहुतसी जगह नहीं रखते हैं; परन्तु राष्ट्रके नामपर बना हुआ जातिभेद राजनीतिके साथ साक्षात् सम्बन्ध रखता है। और इसके नामपर बातकी बातमें तलवारें निकल आती हैं, मनुष्य भाजी-तरकारीकी तरह काटा जाने लगता है! और इसे कहते हैं देश-प्रेम!

राष्ट्र या देश आखिर है क्या वस्तु? गिरि, समुद्र आदि प्राकृतिक सीमासे रुद्ध मनुष्योंका निवासस्थान ही तो है। परन्तु क्या ये सीमाएँ मनुष्योंके हृदयको क़ैद कर सकती हैं? क्या ये मिट्टीके ढेर और पानीकी राशि मनुष्यताके टुकड़े टुकड़े करनेके लिये हैं? इन सीमाओंको तो मनुष्यने इतिहासातीत कालसे पार कर लिया है। न पहाड़ोंके अभ्रङ्कश शिखर उसकी गतिको रोक सके हैं, न अगाध जलराशि। और आज तो मनुष्यजातिने इनपर इतनी अधिक विजय पाई है कि मानो ये सीमाएँ उसके लिये हैं ही नहीं। फिर समझमें नहीं आताकि मनुष्य सीमाओंसे घिरे हुए इन स्थानोंके नामपर क्यों अहंकार करता है? क्यों लड़ता है? क्यों मनुष्यताका नाश करता है?

राष्ट्रीयताका जब यह नशा मनुष्यके सिरपर भूतकी तरह सवार होता है, और जब मनुष्य हुंकार कर दूसरे राष्ट्रको चबा डालना चाहता है, तब नक्कारखानेमें तूतीकी आवाजकी तरह मनुष्यताका यह संदेश उसके कानों में नहीं पहुँचता। परन्तु नशा उतरनेके बाद जब उसके अंग अंग ढीले होजाते हैं, तब वह अपनी मूर्खताका अनुभव करता है। परन्तु शराबी इतने ही अनुभवसे शराब नहीं छोड़ता। यही दशा राष्ट्रीयताके नशेबाजोंकी है। वे नशेके कटु अनुभवको शीघ्र ही भूलकर फिर वही नशा करते हैं। इसप्रकार राष्ट्रीयताके नशेसे चिरकालसे मनुष्यजातिका ध्वंस होता चला आरहा है।

बड़े बड़े साम्राज्य खड़े हुए, जिनने मनुष्यजातिके अस्थि-पञ्जरोंसे अपना सिंहासन बनाया, कराहती हुई मनुष्यताकी छातीपर जिनने रत्नजटित सिंहासन जमाये; पर कुछ समयका उन्मादी-अत्याचारी-जीवन व्यतीत करके अंतमें धराशायी होगये।

साम्राज्यवादकी यह भयंकर प्यास और राष्ट्रीयताका उन्माद प्रायः समस्त स्वतन्त्र राष्ट्रोंको अशान्त और पागल बनाये हुए है। राज्यकी जो शक्तियाँ मनुष्यकी सुख-शान्तिके बढ़ानेमें काम आसकती हैं, उनका अधिकांश मनुष्य के संहारमें लगा हुआ है। राज्यकी आमदनीका बहुभाग सेना और लड़ाईकी तैयारी में खर्च होता है, मशीनें मनुष्यसंहारकी सामग्री तैयार करने में लगी हुई हैं, वैज्ञानिकोंकी अधिकांश शक्तियाँ मनुष्य-संहारके आविष्कारमें डटी हुई हैं, मानो इस पागल मनुष्यजातिने मनुष्य-जातिको नष्ट करना अपना ध्येय बनालिया हो, आ-

रमहत्या या नरककी सृष्टि करना ही इसका उद्देश्य बनगया हो !

यदि ये ही शक्तियाँ प्रकृतिपर विजय पानेमें, उसका रहस्योद्घाटन करने में, उसके स्तनोंसे अमृतोपम दूध पीनेमें, मनुष्यकी मनुष्यता अर्थात् मनुष्योचित गुणोंके विकास करनेमें लगाई जातीं तो सबल और निर्बल सभी राष्ट्र आजकी अपेक्षा बहुत अधिक सुखी होते। जो आज असभ्य, अर्धसभ्य तथा निर्बल हैं, वे सभ्य और सबल बने होते; और जो सबल हैं, सभ्य कहलाते हैं, वे घृणापात्र होनेके बदले आदरपात्र बने होते। इसप्रकार उन्हें भी शान्ति मिली होती, तथा दूसरोंको भी शान्ति मिली होती।

एक न एक दिन मनुष्यको यह बात समझना पड़ेगी। इस राष्ट्रीयताके उन्मादके कारण प्रत्येक राष्ट्रकी प्रजा तबाह हो रही है। जिस प्रकार लुटेरे बड़ी बड़ी लूटें करके भी चैनसे रोटी नहीं खासकते, और आपसमें ही एक दूसरेसे डरते हैं, यही हालत शक्तिशाली किन्तु साम्राज्यवादी लुटेरे राष्ट्रोंकी होरही है। हर एक देशकी प्रजापर लड़ाईके करका बोझ इतना भारी है कि उसकी कमर टूटी जारही है, और भय तथा चिन्ताके मारे चैनसे नींद नहीं आती। मनुष्य आज अपनी ही छायासे डरकर काँपरहा है, मनुष्यजाति अपने ही अंगोंसे अपने अंग तोड़ रही है। प्राचीन युगमें जिसप्रकार छोटे छोटे सरदार दल बाँधकर आपसमें लड़नेमें अपना जीवन लगा देते थे, इसप्रकार कभी दूसरोंको सताते थे, और कभी दूसरोंसे सताये जाते थे, इसी प्रकार आज मनुष्यजाति राष्ट्रीयताके क्षुद्र स्वार्थोंके नाम पर लड़रही है। पुराने सरदारोंकी क्षुद्र मनोवृत्ति पर आजका मनुष्य हँसता है, परन्तु क्या वही मनोवृत्ति कुछ विशालरूप में आजके मनुष्यमें नहीं है ? क्या आज वहभी हँसने लायक़ नहीं है ? क्या मनुष्य किसी दिन अपनी इस मूर्खता और क्षुद्रताको न समझेगा ?

हाँ, कभी कभी मनुष्यमें राष्ट्रीयता पवित्र रूप में भी आती है, वह देवी बनकर दर्शन देती है। वह तब, जबकि वह मनुष्यताकी दासी–पुत्री–अङ्ग बनकर आती है। उस समय वह मनुष्यताका विरोध नहीं करती, सेवा करती है। सिपाही यदि सरकार का सेवक बनकर हमारे पास आवे तो हम उसका आदर करेंगे, परन्तु यदि वह स्वयं सरकार बनकर हमारे सिरपर सवारी गाँठना चाहे तो वह हमारा शत्रु है। इसीप्रकार जब राष्ट्रीयता, मनुष्यताकी दासी बनकर, मनुष्यताके रक्षणके लिये आती है तब वह देवीकी तरह पूज्य है। परन्तु जब वह मनुष्यता का भक्षण करनेके लिये हमारे पास आती है तब वह शत्रुके समान है। मनुष्यताके रक्षणके लिये, जीवनकी शांतिके लिये, हमें उसका परित्याग करना चाहिये।

यदि एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्रके ऊपर आक्रमण करता है, उसे पराधीन बनाता है, या बनाये हुए है, इसलिये पीड़ित राष्ट्र अगर राष्ट्रीयताकी उपासना करता है, तो वह मनुष्यताकी ही उपासना है, क्योंकि इसमें अत्याचार या अत्याचारीका ही विरोध किया जाता है, मनुष्यताका नहीं। जिस प्रकार हिंसा पाप होनेपर भी आत्मरक्षण (अन्याय्य आक्रमणसे अपनेको बचाना) में होने वाली हिंसा पाप नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता पाप होने पर भी आत्मरक्षणके लिये–अत्याचारके विरोधके लिये–राष्ट्रीयताकी उपासना पाप नहीं है। बल्कि जो राष्ट्रसे भी छोटी छोटी दलबन्दियोंके चक्कर

में पड़कर राष्ट्रीयतासे भी अधिक मनुष्यताका नाश कर रहे हैं, उनके लिये राष्ट्रीयता आगेकी मंजिल है। इसलिये वे अभी राष्ट्रीयताकी पूजा करके मनुष्यताकी ही पूजा करेंगे। उनकी राष्ट्रीपासना दूसरोंके कट्टर राष्ट्रीयतारूपी पापको दूर करनेके लिये होगी।

राष्ट्रीयताके ऐसे अपवादोंको छोड़कर अन्य किसी ढंगसे राष्ट्रीयताकी उपासना करना मनुष्य-जातिके टुकड़े करके उसे विनाशके पथपर आगे बढ़ाना है। राष्ट्रको जातिका रूप दे देना तो एक मूर्खता ही है। मनुष्यमे कोई जाति तो है ही नहीं, परन्तु जिनको मनुष्यने जाति समझ रक्खा है, उनका मिश्रण प्रत्येक जातिमें हुआ है। भारतवर्षमें आर्य और द्रविड़ मिलकर बहुत कुछ एक होगये हैं। शक, हूण आदिभी मिलगये हैं। मुसलमानोंके साथ भी रक्त-मिश्रण होगया है। अमेरिका तो अभी कल ही अनेक राष्ट्रोंके लोगोंसे मिलकर एक राष्ट्र बना है। इसीप्रकार दुनियाँके अन्य किसीभी देशके इतिहासको देखो तो पता लगेगा कि उसमें अनेक तरहके लोगोंका मिश्रण हुआ है। इससे मालूम होता है कि राष्ट्र-भेदसे भी जातिभेदका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टिसे भी मनुष्य-जाति एक है।

अहंकारका पुजारी यह मनुष्य कभी कभी पाप की पूजाको भी धर्मपूजाका रूप देता है, शैतानको खुदाके वेषमें सजाता है और स्तुतिके लिये अच्छे शब्दोंकी रचना करता है। वह अहंकारपूर्ण कट्टर राष्ट्रीयताकी पूजाके लिये सभ्यता-संस्कृति आदिकी दुहाई देता है। परन्तु जुदे जुदे देशोंकी सभ्यता-संस्कृति आदि आखिर क्या बला है? और उसकी उपासनाका क्या अर्थ है? वेषभूषा और भाषाको अगर किसी राष्ट्रकी सभ्यता और संस्कृति कहा जाय तबतो उसकी दुहाई देना व्यर्थ है। प्रत्येक देशकी भाषा कुछ शताब्दियोंके बाद बदलती रही है। जो प्राकृत भाषाएँ दो हजार वर्ष पहिले भारतमें प्रायः सर्वत्र बोली जाती थीं और जो अपभ्रंश भाषाएँ हजार वर्ष पहिले ही प्राकृतकी तरह बोली जाती थीं, आज इनेगिने पंडितोंको छोड़कर उन्हें कोई समझता भी नहीं है, फिर बोलनेकी तो बात ही दूर है! अगर भाषाका नाम संस्कृति हो तब तो हम उसका त्याग ही कर चुके हैं। यह बात दूसरी है कि अहंकारकी पूजा करनेके लिये हम उन मृत भाषाओं के नामके गीत गाते हों, परन्तु हमारे जीवन मे उनका कोई व्यावहारिक स्थान नहीं रह गया है। इसलिये वह सभ्यता तो गई। लेटिन, संस्कृत आदि सभी भाषाओंकी यही दशा है।

वेष-भूषा बदलनेके लिये तो शताब्दियाँ नहीं, दशाब्दियाँ ही बहुत हैं। भारतके आर्य जो पोशाक पहिना करते थे, उसका कहीं पता भी नहीं है। उसके आगेकी न जाने कितनी पीढ़ियाँ गुजर गईं? उत्तरीय वस्त्रके पीछे अँगरखा, कुरता, कोट, कमीज आदि पीढ़ियाँ चली आती हैं। यही बात नारियोंकी पोशाकके विषयमें है। वाहन, नगर-रचना आदि सभी बातोंमें विचित्र परिवर्तन होगये हैं। संसारके सभी देशोंकी यह दशा है। पुराने युगके चित्र तो अब अजायबघरों और नाटक-सिनेमाके ऐतिहासिक चित्रणोंमें ही देखने मिलते हैं। परन्तु सभ्यता और संस्कृतिके नामपर उन पुरानी चीजोंको छातीसे चिपटाए रहनेकी क्या जरूरत है? सभ्यता और संस्कृतियोंके नामपर एक भारतवासी अंग्रेज गर्मीके दिनोंमें भी जब अपनी चुस्त पोशाकसे अपने शरीर को बंडलकी तरह कस डालता है, तब उसका यह स

पागलपन अजायबघरकी चीज होता है। परन्तु यह पागलपन सभी देशोंमें पाया जाता है, इसलिये अजायबघरमें कहाँ तक रक्खा जा सकता है? संगमर्मरको भी गोबरसे लीपना, बिजलीके उजेलेमें भी समाई जलाना शायद संस्कृति और सभ्यताका रक्षण है! वास्तवमें इस प्रकारके अंध-अनुकरणोंको संस्कृति और सभ्यताकी रक्षा कहना उन अच्छे शब्दोंकी मिट्टी पलीद करना है।

मनुष्य, जन्मके समय पशुके समान होता है। उसको युगके अनुरूप अच्छासे अच्छा मनुष्य बनानेके लिये जो प्रभावशाली प्रयत्न किया जाता है उसका नाम है संस्कृति, और दूसरेको कष्ट न हो इस प्रकारके व्यवहारका नाम है सभ्यता। इस प्रकारकी सभ्यता और संस्कृतिका रूढ़ियोंके अंध-अनुकरणके साथ कोई सम्बंध नहीं है।

यदि किसी जमानेमें चोर डाकुओंके डरके मारे हम मकानोंमें अधिक खिड़कियाँ नहीं रखते थे, और अब परिस्थिति बदल जानेसे रखते हैं तो इसका अर्थ सभ्यता और संस्कृतिका त्याग नहीं है। समयानुसार स्वपरसुखवर्द्धक परिवर्तन करनेसे संस्कृतिका नाश नहीं होता; बल्कि, संस्कृतिका नाश होता है रूढ़ियोंकी गुलामीसे। क्योंकि रूढ़ियोंकी गुलामीसे बुद्धि-विवेक-की कमी मालूम होती है जोकि मनुष्यत्वकी कमी है, और जड़ताकी वृद्धि मालूम होती है जो कि पशुत्वकी वृद्धि है। संस्कृतिका काम प्राणीको पशुत्वसे मनुष्यत्वकी ओर लेजाना है, न कि मनुष्यत्वसे पशुत्वकी ओर लौटाना। यदि कोई देश अपनी पुरानी अनावश्यक चीजोंसे चिपट रहा है और दूसरोंके अच्छे तत्त्वोंको ग्रहण नहीं कर रहा है या ग्रहण करनेमें अपमान समझ रहा है तो वह संस्कृतिकी रक्षा नहीं, नाश कर रहा है।

भोगोपभोगकी पुरानी चीजोंके रक्षणमें सभ्यता और संस्कृति नहीं रहती। यदि पुराने जमानेमें हमारे पास शंखसे अच्छा बाजा नहीं था तो इसका यह अर्थ नहीं है कि हमारी सभ्यता और संस्कृति शंखमें जा बैठी है। यदि किसी देशमें आम नहीं थे, खजूर थे, तो इसका भी यह मतलब नहीं है कि उसकी सभ्यता खजूर पर लटक रही है। मनुष्य एक समझदार प्राणी है, इसलिये उसका काम है कि उसके वर्तमान युगमें जो जो अच्छी, सुलभ और दूसरोंको हानि न पहुँचाने वाली वस्तुएँ हों उनका उपयोग करे। इसी बुद्धिमत्तामें उसकी संस्कृति और सभ्यता है। पुराने जमानेकी अविकसित वस्तुओंको अपनाये रहनेमें सभ्यता और संस्कृतिकी रक्षा नहीं है।

इसके विरोधमें यह बात अवश्य कही जा सकती है कि –"कोई देश यंत्रोंके द्वारा फैली हुई बेकारीको दूर करनेके लिये चरखा-युग का सहारा ले, दूसरोंके आर्थिक आक्रमणसे बचनेके लिये पुरानी चीजोंके उपयोग करनेकी ही कोशिश करे तो क्या इसको अनुचित कहा जायगा?"

आर्थिक आक्रमणसे बचनेके लिये यह मार्ग कहाँ तक ठीक है, यह बात दूसरी है; परन्तु अगर कोई इसी दृष्टिसे पुरानी चीजोंका उपयोग करना चाहे तो इसमें मुझे बिलकुल विरोध नहीं है। उसकी दृष्टि उपयोगिता, सुविधा, सुखप्रदता, सुव्यवस्था पर होना चाहिये, न कि प्राचीनतापर। इनका प्रचार संस्कृति और सभ्यताके रक्षणके लिये नहीं, किन्तु समाजको रोटी देनेके लिये होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि "जो नवयुवक मौज शौक़में जीवन बिताकर सादगी छोड़कर अपने साहिबी

खर्च से मा बापको परेशान करते हैं, तो क्या उनको न रोकना चाहिये ? इसीप्रकार अपने देशकी वेष-भूषा छोड़कर विदेशी वेषभूषा अपनाकर अपनी एक नई जाति बना लेते हैं, क्या उनका यह उचित कार्य है" ?

निःसन्देह ये कार्य अनुचित हैं; परन्तु इसलिये नहीं कि वे विदेशी सभ्यता और संस्कृतिको अपनाते हैं, किन्तु इसलिये कि उनमें मा-बापको परेशान किया जाता है, अपने को अनुचित रूप में बड़ा या विशेष समझकर अभिमानका परिचय दिया जाता है, दूसरोंका अपमान किया जाता है। उन्हें रोको, परन्तु प्राचीन संस्कृति या सभ्यताकी दुहाई देकर नहीं, किन्तु आर्थिक सुविधाकी दुहाई देकर, विनय और प्रेमकी दुहाई देकर।

इस प्रकार भोगोपभोगकी सामग्रीकी दृष्टिसे सभ्यता का जो रूप बताया जाता है, वह तो बिलकुल व्यर्थ है। अब रहगया सभ्यताका मानसिक और कौटुम्बिक रूप। कहा जाता है कि "प्रत्येक देशकी एक विशेष मनोवृत्ति होती है। इंग्लेडका मनुष्य मात्रा से कुछ अधिक गंभीर होगा, जब कि फ्रान्स का आदमी मात्रासे कुछ अधिक बातूनी। भारतकी वायव्य कोणका मनुष्य या एक पठान स्वभावत. अधिक उग्र और असहिष्णु होगा, जबकि भारतका मनुष्य मात्रासे अधिक शान्त होगा। मनुष्य-स्वभावकी ये विशेषताएँ एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्रको जुदा करती हैं। अगर राष्ट्रीय-भेद न माना जाय तो ये विशेषताएँ नष्ट होजांय। क्या इनका नष्ट करना उचित है ? "

इसके उत्तर में दो बातें कही जासकती हैं। पहिली तो यह कि मनुष्यकी ये विशेषताएँ स्वाभाविक नहीं हैं-वे राजनैतिक, आर्थिक आदि परिस्थितियोंका फल हैं। बीस वर्ष पहिले टर्की और रूसके साधारण जनकी जो मनोवृत्ति थी और आज उसकी जो मनोवृत्ति है, अब्राहमलिकन के पहिले अमेरिकाके हब्शीकी जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, रोमनसाम्राज्य के नीचे कचड़ाते हुए इंग्लैण्डकी जो मनोवृत्ति थी और आज जो मनोवृत्ति है, उनमें जमीन-आसमान से भी अधिक अन्तर है। आर्थिक, राजनैतिक आदि परिस्थितियोंके बदलजाने से मनुष्य के स्वभावमें जो परिवर्तन होजाता है, उसे न राष्ट्रीयता रोक सकती है, न रोकना चाहिये। इसलिये राष्ट्रीयताका इसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

दूसरी बात यह है कि राष्ट्रीय विशेषता होने से ही कोई वस्तु अच्छी नहीं होजाती। अफीम खाना अगर किसी देशकी विशेषता हो, बात बात में उखड़ बैठना, मार बैठना, हत्या कर डालना अगर किसी देशकी विशेषता हो, अथवा स्त्रियोंको पददलित करना अगर किसी देशकी विशेषता हो, तो उसे अपनाये रहना पाप है। ऐसी विशेषताका जितनी जल्दी नाश हो, उतना ही अच्छा है। हमें विशेषताका नहीं किन्तु उन गुणों का पुजारी होना चाहिये जो मानव-जीवनको सुखमय बनाते हैं। इसलिये हमारा यह महान कर्त्तव्य है कि हम राष्ट्रोंकी सब विशेषताओंको मिटादें। जो विशेषताएँ खराब हैं दुःखकर हैं, उनको तो नाश करके मिटा देना चाहिये। परन्तु जो विशेषताएँ सुखकर हैं, अच्छी हैं, उनको बिना नाश किये मिटादेना चाहिये; अर्थात् उनका सभी राष्ट्रोंमें प्रचार करदेना चाहिये जिससे वे विशेषरूप छोड़कर सामान्य रूप धारण करलें।

ऊपर जो बात स्वभावके विषयमें कही गई है, वही बात कौटुम्बिक रीतिनीतिके विषय में कही जा-

सकती है। जिन देशोंकी कौटुम्बिक व्यवस्था खराब है, वे अपनी वह कौटुम्बिक दुर्व्यवस्था छोड़दें और किसी देशकी अच्छी से अच्छी कौटुम्बिक व्यवस्था अपना ले। अगर कोई विशेषता रहे भी तो परिस्थिति की दुहाई देकर रहना चाहिये, राष्ट्रीयताकी दुहाई देकर नहीं।

इस प्रकार किसीभी प्रकारकी सभ्यता या संस्कृति की दुहाई देकर मनुष्य जाति के टुकड़े करने की कोई जरूरत नहीं है, बल्कि ऐसा करना पाप है। सभ्यता और संस्कृति मनुष्यके टुकड़े करनेके लिये नहीं किन्तु उसके प्रेमके क्षेत्रको विशालतम बनानेके लिये हैं, उन्नतिके लिये हैं, पारस्परिक सहयोग के लिये हैं। इसलिये राष्ट्रके नामपर चलता हुआ यह जातिभेद भी नष्ट होना चाहिये।

कोई भाई कहेंगे कि "यदि राष्ट्रीयता नष्ट करदी जायगी तब तो सबल राष्ट्र निर्बल राष्ट्रोंको पीसडालेंगे, लूट डालेंगे और आपका यह वक्तव्य उनके कार्यों को नैतिक बल प्रदान करेगा। निर्बल राष्ट्र अगर सबल राष्ट्रके मालपर इसलिये कर लगायगा कि उसका व्यापार सुरक्षित रहे और उसकी आर्थिक अवस्था खराब न होजाय, बेकारी न बढ़जाय तो आपके शब्दोंमें वह राष्ट्रीयताकी पूजा होनेसे पाप-रूप होगी। इस सिद्धान्तसे तो सबल राष्ट्र सबल होते जायँगे और निर्बल पिसते जायँगे।"

इस प्रश्नका कुछ उत्तर दिया जाचुका है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अगर आर्थिक आक्रमण करता है तो आयातपर प्रतिबंध लगाकर उस आक्रमणको रोकना अनुचित नहीं है। दूसरे राष्ट्र में अगर राष्ट्रीय कट्टरता है और वह किसी राष्ट्रपर आर्थिक आक्रमण करता है तो उसका उसी तरह साम्हना करना चाहिये; इसमें कोई पाप नहीं है। इतनाही नहीं किन्तु प्रत्येक राष्ट्र को—जबकि उसका शासनतंत्र जुदा है—कर्तव्य है कि वह आर्थिक योजनाके रक्षणके लिये आयात-निर्यातपर नियंत्रण रक्खे। इस आर्थिक योजनाका प्रभाव समाजकी सुख-शांतिपर भी निर्भर है। मानलो एक राष्ट्र ऐसा है जो मजूरोंसे दसघंटे काम लेता है और ऐसे यंत्रोंका उपयोग करता है जिस-से थोड़े आदमी बहुत काम कर सकते हैं। इससे बहुतसे आदमी बेकार होजाते हैं अथवा मजूरों को सख्त मजूरी करनी पड़ती है। परन्तु दूसरा राष्ट्र ऐसा है कि वह ऐसे यत्रोंका उपयोग करता है जिससे बेकारी न बढ़े, तथा वह मजूरोंसे सख्त मिहनत भी नहीं लेना चाहता। ऐसी हालतमें उस-का माल मँहगा पड़ेगा। इसलिये आर्थिक दृष्टिसे जीवित रहनेके उसके साम्हने दो ही मार्ग होंगे—या तो वह आयातपर प्रतिबंध लगावे, या मजूरोंसे ज्यादा मिहनत ले। मनुष्यकी सुख शांतिके लिये पहिला मार्ग ही ठीक है। इसलिये आयातपर कर लगाना उचित है। वास्तवमें यह राष्ट्रीयताकी पूजा नहीं, मनुष्यताकी पूजा है। दूसरे देशपर आक्रमण करनेमें कट्टर राष्ट्रीयता है; परन्तु दूसरेके आक्र-मणसे अपनी रक्षा करनेमें, अपनी सुखशांति बढ़ानेमें तो मनुष्यताकी ही पूजा है।

इस विषयमें एक बात यह कही जा सकती है कि "यदि मनुष्यताके नामपर भी आयात निर्यातका प्रतिबंध बनाही रहा, तब राष्ट्रीय कट्टरताका नाश कैसे होगा? प्रत्येक राष्ट्रकी कठिनाइयाँ बढ़ जाँयगी। मानलो कि एक राष्ट्र ऐसा है जिसमें लोहा और कोयला बहुत है, परन्तु कृषिके योग्य स्थान नहीं है; और दूसरा देश ऐसा है कि जो इससे उलटा है। अब यदि दूसरा देश पहिलेके मालपर प्रति-

बंध लगाये तो पहिला देश भूखों मर जायगा। ऐसी अवस्थामें मनुष्यताकी भावना कैसे रह सकती है?"

यदि मनुष्यताकी भावना हो, अहंकार और आक्रमणका दुर्विचार न हो तो यह समस्या कठिन नहीं है। जिस राष्ट्रके पास अनाज नहीं है, वह अनाजके आयातपर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? और जिसके पास लोहा नहीं है वह लोहेके आयातपर प्रतिबन्ध क्यों लगायगा? इस प्रकारका मालतो आपसमें बदल लेना चाहिये। एक मालसे दूसरे मालका बदला स्वेच्छा और सुविधासे करनेमेंकोई आपत्ति नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारमें जो सम्पत्ति का माध्यम हो उसे खींचनेकी कोशिश न करना चाहिये। मानलो कि सोना माध्यम है, या चाँदी माध्यम है तो अपना माल अधिकसे अधिक देनेकी कोशिश करना और बदलेमें माल न लेकर सोना चाँदी लेना आक्रमण है। आक्रमणका विचार छोड़दिया जाय और फिर जो अदला बदली हो उससे दोनों राष्ट्रोंको लाभ होगा। इतने पर भी अगर किसी ऐसे देशकी—जो प्राकृतिक सम्पत्तिसे गरीब है—समस्या हल नहीं होती तो उसका काम है कि वह किसी ऐसे देशसे जुड़ जाय जो प्राकृतिक सम्पत्तिसे अधिक पूर्ण हो। परन्तु दोनोंमें शास्य-शासक भाव न होना चाहिये, क्योंकि दो राष्ट्रोंमें शास्य-शासक भाव होना मनुष्यताकी दिन-दहाड़े हत्या करना है। जिन राष्ट्रोंके पास जीवन-निर्वाहकी पूरी सामग्री नहीं है, वे जनसंख्याका नियन्त्रण करें अथवा बढ़ीहुई जनसंख्याको किसी ऐसी जगह बसानेका प्रयत्न करें जहाँ जनसंख्या कम हो। परन्तु वहाँ जाकर अगर अपनी कोई विशेषताकी रक्षा करनेकी कोशिश की जायगी, उसके लिये कोई विशेष सुविधा माँगी जायगी तो यह नीति सफल न होगी। इसलिये आवश्यक यह है कि जिस राष्ट्रमें हम जाकर बसें वहाँके निवासियोंमें जाकर हम मिलजावें। इसके लिये मनुष्योचित सद्गुणोंको छोड़नेकी या वहाँ के दुर्गुणोंको अपनानेकी जरूरत नहीं है; सिर्फ आत्मीयता प्रकट करनेकी तथा भाषा आदिको अपनालेनेकी, अपनी जातीयताका त्याग करदेनेकी जरूरत है। इस नीतिसे न तो किसी राष्ट्रको भूखों मरना पड़ेगा न किसीको दूसरे राष्ट्रका बोझ उठाना पड़ेगा।

विश्वशान्ति और मनुष्यकी उन्नतिके लिये इस प्रकारकी व्यवस्था आवश्यक है। जबतक मनुष्य राष्ट्रके नामपर जातिभेदकी कल्पनाको लियेरहेगा, तबतक वह एक दूसरेपर अत्याचार करता ही रहेगा। इसलिये एक न एकदिन राष्ट्रके नाम पर फैले हुए जातिभेदको तोड़ना ही पड़ेगा। तभी वह चैनसे बैठ सकेगा। तभी वह पूर्ण निर्भय हो सकेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विवाहपद्धति भी इसके लिये बहुत कुछ उपयोगी हो सकती है। इसलिये उसका भी अधिकसे अधिक प्रचार करना चाहिये। इस विषयमें क़ानून का अन्तर है, परन्तु रूढ़िकी गुलामी दूर कर देनेपर क़ानूनकी वह विषमता दूर हो जायगी और जो कुछ थोड़ी बहुत रह जायगी उसे सहन करलिया जायगा। विवाहपात्रोंको यह बात पहिलेही समझ लेना चाहिये।

आजकल नारी-अपहरणकी घटनाएँ बहुत हो रही हैं। एक राष्ट्रकी युवतियोंको फुसलाकर दूसरे राष्ट्रमें ले जाना और वहाँ उन्हें असहाय पाकर वेश्या बना देना और उनकी शारीरिक शक्तिका क्षय होनेपर उन्हें भिखारिन बनाकर छोड़ देना, ये

सब घटनाएँ दिल दहला देने वाली हैं। परन्तु इस से अन्तर्राष्ट्रीय विवाहोंका विरोध नहीं किया जा सकता। यह पाप आज भी हो रहा है, और एकही देशके भीतर भी हो रहा है। इसका अन्तर्राष्ट्रीय विवाहपद्धतिके प्रचारसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इसके हटाने के लिये सब सरकारोंको मिलकर सम्मिलित प्रयत्न करना चाहिये, तथा इस प्रकार के लोगोंके दमनके लिये विशेष क़ानून और विशेष प्रयत्नकी जरूरत है। यह बात स्वतन्त्र लेखका विषय होनेसे यहाँ उसपर मौन रक्खा जाता है।

राष्ट्रीय संस्कृति की विभिन्नताके कारण दाम्पत्य जीवनके अशान्तिमय होजानेकी बाधा भी बताई जा सकती है। परन्तु इसका उत्तर वर्णभेदके प्रकरण में दे चुका हूँ। यहाँ इतनी बात फिर कही जाती है कि राष्ट्रीय जातिभेद मिटजानेपर एकतो संस्कृतिकी विभिन्नता भी कम हो जायगी। दूसरी बात यह है कि यह सब व्यक्तिगत प्रश्न हैं। दोनोंको पारस्परिक अनुरूपताका विचार करलेना चाहिये, तथा एक दूसरेकी मनोवृत्तिसे परिचित हो जाना चाहिये। इस प्रकार राष्ट्रीयताकी दीवालोंको गिराने के लिये यह वैवाहिक-सम्बन्ध भी अधिक उपयोगी हो सकता है, और इससे मनुष्यजाति एक दूसरे के गुणोंको शीघ्रतासे प्राप्त कर सकती है।

इसप्रकार विश्वकी शान्ति तथा उन्नतिके लिये आवश्यक है कि राष्ट्रीयताके नामपर फैले हुए जातिभेदका नाशकरके मनुष्यजातिकी एकता सिद्ध की जाय और व्यवहारमें लाई जाय।

आवश्यकता।

'गाँधी' छाप पवित्र काश्मीरी केसरकी बिक्री के लिये हर जगह जैन एजेंटोंकी जरूरत है। एजेंसी की इच्छा रखनेवाले शीघ्र पत्रव्यवहार करें।

—काश्मीर स्वदेशी स्टोर्स, सन्तनगर, लाहौर।

(लेखक-श्रीमान् पं० लोकमणिजी जैन गोटेगाँव)

(२)

दिगम्बर मुनि

प्रभो! मैं महर्षि कहलाता हूँ। गृहस्थाश्रममें मैं पूजन करता था, स्वाध्याय करता था, वैराग्यकी कथायें सुना करता था, मुनियोंका माहात्म्य और योगियों की योगलीलाका चित्रपट हृदयमें अंकित किया करता था; इच्छा होती थी कि मैं भी मुनि बनकर सच्चा आत्मज्ञानी और योगी बनूँ। समय आया और मैं मुनि बन गया। हजारों वर्षोंसे लोगोंने साक्षात् मुनि देखे नहीं थे। कल्पना भी नहीं करसकते थे कि इस पंचम कालमें भी मुनि हो सकते हैं। इसलिये मेरे मुनि होते ही दर्शकोंकी भीड़ होने लगी, भक्त लोगों की भक्तिका बाँध फूट पड़ा, भक्तिका तूफान बड़े जोरों से चलने लगा। आहार देनेके लिये घर घर जोर शोरकी तैयारियाँ होने लगीं, घर घर आहार देनेके लिये श्रावक हाथ जोड़े नवधा भक्ति के लिये सपत्नीक मुनिके आनेकी बाट जोहने लगे, बाहरसे अगणित जनता दर्शनों तथा आहार देनेकी अभिलाषासे चक्की चूल्हा ले लेकर जमा होने लगी। कोलाहलसे आकाश गूँजने लगा, मेलाका दृश्य दिखने लगा। गर्मियोंके दिन थे, बाहर गाँवमें मैंने अपना ध्यानासन लगाया। मुझे भी अपूर्व आनंदका अनुभव हुआ। मेरा लूला लँगड़ा उपदेश लोगोंने दिव्यध्वनिवत सुना। थोड़े दिन बाद मुझे अनुभव हुआ कि मैं जिस चीजके लिये साधु हुआ था उससे कोसों दूर भागा जा रहा हूँ। जिस आनंद और शान्तिकी मैंने कल्पना की थी वह कोरी कल्पना ही बन कर रह गई—आत्मज्ञान और आत्मध्यानकी कमी

मुझे पद पद पर क्लेशित करने लगी। मैंने गम्भीरतासे विचार करना शुरू किया तो मेरा मन अब भक्तोंकी भीड़में रमनेको विवश करता है, सुस्वादु भोजनोंके लिये जबरन घसीटने लगता है, भक्तजनोंसे मुझे मोह होता जाता है। उनकी भक्तिके बदले पुरस्कार देनेकी वांछा होने लगी है—उन्हें खुश रखने के लिये मेरे कुछ मायावी भाव और क्रियायें होने लगी हैं। मुझे अपना जयघोष सुनकर अनुपम आनंद और निंदा सुनकर असीम वेदना होने लगी है। मुझे अब यह भी अनुभव होने लगा है कि यह भक्त धनिक है, यह विद्वान है, और यह मूर्ख है और उनके साथ मेरा वर्ताव भी उन्हींको खुश करनेके अनुकूल होता है। मुझे अब अकेला रहना कठिन और दुखःदसा लगने लगा है, इसलिये चोरचार कर चेले बनानेकी प्रबलतम इच्छाको दबाना कठिन होगया है। अच्छा भोजन और भक्तोंकी गगनभेदी जयघोष का लोभ भला किसको लालायित नहीं कर सकता? थोड़ेही समयमें मेरे तीन चार चेले होगये हैं। यद्यपि पहिले ये किसी स्कूलमें अक्षर-ज्ञान नहीं सीख पाये हैं, किसी प्रकारकी शास्त्रीय चर्चा सुननेको उन्हें नहीं मिलसकी है, हम्माली करते रहे हैं, मुनीमी और कपड़ों की फेरी भी करते रहे हैं—पर इस समय तो वे दिगम्बर मुनि होगये हैं। इनकी दीक्षासे ही मैं आचार्य होगया हूँ। इन अक्षरज्ञानहीन चेलोंके बीचमें बैठकर मुझे अपने तपका प्रभाव जगमगाता नजर आने लगता है। वे भी मेरे बतलाये आसनोंको लगाते हैं और लोगों तक मेरी कीर्तिको पहुँचानेमें अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। मेरे चेले पढ़े-लिखे न होनेसे लोगोंको ऊटपटाँग उपदेश देते हैं, पर भक्तलोग तो उसे अमृत जान पान करलेते हैं।

प्रभो! मैं आपसे क्या छुपाऊँ? ये चेले मैंने मूँड तो लिये, पर अब इन्हें संघमें रखनेको जी नहीं चाहता। ये आहारोंके लोलुपी लोगोंसे उत्तमोत्तम आहार प्राप्त करनेको बाध्य करते हैं, आहारोंके उपदेश सिवाय और कुछ जानते ही नहीं—ज्ञान—ध्यानका तो स्वरूप समझें ही क्या? फिर सोचता हूँ कि यदि इन्हें संघसे अलग करता हूँ तो मेरी बदनामी होती है और ये बे-लगाम होते ही मेरी पोलमें न जाने क्या भरने लगेंगे? इसलिये इनके लिये मुझे नौकर चाकर और बहुतसा सामान रखना पड़ता है। जाड़े के दिनोंमें इनको बँगलोंके अन्दर प्यालमें लपेट कर सुलाना पड़ता है। मैं चाहे नीचे ही प्याल बिछाऊँ पर इन्हें तो दशों दिशाओंमें प्याल लपेट कर रखना पड़ता है। क्या कहूँ? बच्चोंकी तरह इनका पालन पोषण और इनकी सेवा करना पड़ती है। इतने पर भी ये चेले कभी कभी रातको भोजन और छुपेलुके उपवासोंमें भी भोजन सामग्री कहींसे मिलाकर उदर-देवके लिये दे दिया करते हैं!

प्रभो! अबतो हमारा जीवन भारस्वरूप होरहा है। हम किसे दोष दें? देश, काल, या किसको?

मैं आज अनुभव करता हूँ कि इसमें दोष न तो देश को है, न कालको। दोष है, मेरी मुनि बनने की हवसको। आज वह पूरी होगई। उसका पालन करना लोहेके चने चबाना है। उसका जीवनमें उतारना तलवारकी धारपर सोना है। आज मुनिके गुरुतम भेदोंको समझा और उसकी गहराईका विश्वास हुआ। यह पद साधारण आदमी का नहीं है। बहुत ही साहसी और विचक्षण व्यक्ति ही इसे ग्रहणकर निबाह सकते हैं।

महात्मन्! मैं हृदयसे चाहता हूँ कि मैं मुनिवेषकी लाज रखूँ, इसकी गहराईको देखकर भय न खाऊँ। मैं अब आपसे शक्ति चाहता हूँ। वह शक्ति

प्राप्त कर मैं आत्मसाधन करूँगा। मेरी समस्त तपस्या दर्शकोंके मनोरंजन और दिखावेके लिये न होगी, वह सब आत्मशुद्धिके लिये होगी। मुझे फिर पूजा की चाह न होगी, आहार भी मेरा सादा, अल्प और आडम्बरहीन होगा, मेरी वृत्तिसे किसीको कोई कष्ट न होगा। मुझे निन्दा-स्तुतिसे कोई मतलब न होगा। स्वावलम्बी बनकर मुमुक्षु लोगोंको स्वावलम्बन का पाठ सिखाऊँगा। मैं मूर्खतासे न घबराऊँगा, न विद्वत्तासे कुतर्कोंकी ओर हाथ बढ़ाऊँगा। जितना ज्ञान मेरे पास होगा उसे ही अपने जीवनमें उतारने का प्रयत्न करूँगा। उतनेको ही अमूल्य समझ उसे चारित्ररूपमें परिणत कर दूँगा। मेरा उद्देश्य सिर्फ आत्मकल्याण होगा, पापमोचन होगा। मैं सत्यके सहारे अगम्य को गम्य और असंभवको संभव बनानेके लिए कटिबद्ध रहूँगा। मेरी सारी तपस्या, सारी क्रियायें निश्छल और निर्लोभ होंगी। तब मुझे परम शांति और अत्यन्त सुखका अनुभव होगा। वीतराग प्रभु! शक्ति दो। बार बार मैं अपने दोषोंका प्रायश्चित्त करता हुआ सच्चा मुनि बननेका इच्छुक हूँ। आजसे मुझे अपने कर्तव्य-पथकी ओर अग्रसर कर दीजिए।

भक्त।

वीतराग देव! मैं आपका बहुतही दुलारा भक्त हूँ। होश सम्भालतेही मैंने आपकी भक्ति की है। नित्य ही पूजा—विधान करता आरहा हूँ। मैं प्रतिदिन देव शास्त्र और गुरु पूजासे लेकर सोलहकारण, पंचमेरु, नंदीश्वर द्वीप आदि पन्द्रह बीस पूजा किया करता हूँ। मेरी पूजाओंकी संख्या देख कर लोग दंग रहजाते हैं तथा मुझे पुजारीजी या भगतजी आदि नामोंसे सम्बोधित करने लगे हैं। जहाँ मैं पूजन करता हूँ, उस वेदीपर प्रतिमाओं की संख्या २०० के लगभग है। मैं बीचमें बड़े भगवान और आसपासमें सँभले सँभले और फिर छोटे भगवानोंको बाक़ायदा बिठाले रहता हूँ। थोड़ी सी जगह वेदीकी खाली रह जाती है। मैं विचार कर रहा हूँ कि यदि घरवालोंकी सम्मति मिलगई तो जयपुर जाकर दस बीस छोटी और दो एक बड़ी प्रतिमायें ख़रीद लाऊँ और बिम्ब प्रतिष्ठा (पंच कल्याणक उत्सव) करा डालूँ। पर मैं यह भी सोच रहा हूँ कि प्रतिमा ख़रीदनेमें कोई साझेदार होजाता तो और भी अच्छा होता; और फिर एकाध प्रतिमा चाँदी या सोनेकी भी गढ़वा लाता। फिरतो वेदी जगमगा उठती।

भक्तोंकी मुराद जल्दी पूरी होती है। प्रतिमा भी आगई, रथोत्सव भी होने लगा, प्रतिष्ठाचार्य भी सपत्नीक आगये। प्रत्येक प्रतिमाको गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणक कराया गया— अगणित दर्शकोंको भोजन कराया गया। हाँ, भोजन अलबत्ता एक महीना पहिले से बनवानेका प्रबंध किया गया था और इसलिये कुछ स्वादहीन होगया था। श्रीजी की कृपासे उसमें कोई जीव पड़े दिखाई नहीं देते थे। सानंद महोत्सव होकर प्रतिष्ठाचार्यको हज़ार रुपयोंसे ऊपर देना पड़ा। उनकी पत्नीको भी उनके योग्य भेंट देनी पड़ी। मेरा लाखों आदमियोंके बीचमें तिलक हुआ और मैं सिंघई पदसे भूषित किया गया।

अब मेरी वेदी जुदी बनगई है; संगमर्मरसे जड़ित, सोने चाँदी और पाषाणकी मूर्तियोंसे ठसाठस भर गई है। अब मैं अपनी निजी वेदीपर ही बड़ी चावसे पूजन किया करता हूँ। श्रीजीने मेरी हवसको बहुत जल्दी पूरा कर दिया है। पर, अब व्यापारका एक ज़बर्दस्त धक्का लगनेसे पैसेकी कमी

होगई, उधर पत्नी भी बीमार रहने लगी है। प्रभो ! सच कहता हूँ, मुझे अब पूजनमें आनन्द नहीं आता। न जाने क्यों ऐसा मानसा होता है कि रथोत्सवके बादतो पुण्य-बन्ध होनेसे अधिक धनी और सुखी होना था, पर वह सब न होकर दुःखित होता जा रहा हूँ। मेरा पूजा करनेका नशा सा उतरता जा रहा है। न जाने मेरे अन्दर कितनी विषय-वासनायें घुसी पड़ी थीं; वे अब निकल निकल कर मुझे पापों की ओर घसीटे लिये जाती हैं। सिंघई होजाने पर भी मुझे लोग कोई आदरकी दृष्टिसे नहीं देखते। क्या करूँ ? दो हजार रुपया मन्दिरका जो मेरे ऊपर रह गया है, वह भी अब देनेको जी नहीं चाहता; यद्यपि यह मैंनेही परिश्रमकर दूसरोंसे मन्दिरमें दिलवाया था। दूसरा भी धर्मका रुपया गुप्तरूपेण मेरे पास है। खैर, उसे न दूँ तो कोई जानता नहीं है। श्रीजी ! मेरी विधवा बहू (छोटे भाईकी पत्नी) बचपनसे पतिहीन होगई है। वह बहुतही सुन्दर और सुशील थी ! उसे बीमारी हुई। सेवामें सारा घर लगा रहा, मैं भी खूब उसकी सेवा करता था। वह मुझसे परदा करती थी। मैंने अभी तक उसका अच्छी तरह मुख भी नहीं देखा था। रात्रिके समय मैं उसे पंखा झलने लगा। मुखमंडल उसका उघड़ा पड़ा था। मेरे पंखाकी पवनसे वह और भी उघड़ गया। उस अनुपम रूपराशिको देखमैं उसे विधवा रखना सहन न कर सका। आखिर उसका मेरे हाथों सर्वनाश होगया, और मुझे अपनी आबरू इज्जत बचाने के लिये भ्रूणहत्या भी करनी पड़ी। श्रीजीकी कृपासे यद्यपि यह बात लोगोंको मालूम न होने पाई, पर कुछ कुछ सबने जानही लिया। प्रभो ! उसदिन से मैंने पूजाको यद्यपि तरक्की करदी है, खूब पूजन भजन करता रहता हूँ, पर पाप-वासनाओंकी वृद्धि दिन दूनी बढ़ती जा रही है। ग़नीमत है कि भक्ति की आड़में वे सब छुपी पड़ी रहती हैं।

अब मैं सदा शंकित रहता हूँ। पाप-फल अब भक्तिका परदा चीरकर बाहर आना चाहते हैं। अब मैं बगुलावृत्तिसे पापोंको रोकनेमें असमर्थ हूँ। इस लिये, श्रीजी ! अब आपका अवलम्बन लेता हूं। अब मैं अपने दोषोंको दूर करनेके लिये आपसे विनय कर शक्ति चाहता हूँ। आप मुझ ढोंगी-भक्तका उद्धार कीजिये, मुझे सद्बुद्धि प्रदानकर मुझे नरक जानेसे बचाइये, मुझे सच्चा गुणग्राही बनाकर सच्चा परमात्म-पुजारी बनाइये। मैं अपने पापोंका घोर प्रायश्चित्त लेना चाहता हूँ और बारबार पश्चात्ताप कर हृदय पवित्र करना चाहता हूं। मुझे अब ऐसा बननेमें सहायता दीजिये कि मैं जो भी पूजन करूँ उसका अर्थ समझूँ, भक्तिका फल भक्तिके अतिरिक्त और कुछ न चाहूँ। मुझे पाषाण और सोने-चाँदीका पुजारी न होकर परमात्माके गुणोंका पुजारी होनेका उत्साह दीजिये, प्रतिमाके जरिये परमात्माके गुणोंकी स्मृति हो और मुझे उस गुणको अपनानेकी शक्ति दीजिये। जहाँ मुझे गुणोंकी पूजनकी सद्बुद्धि जाग्रत हुई कि मैं सब तीर्थङ्करोंको समान दृष्टिसे देखने लगूँगा। फिर व्यक्ति-विशेषका गुलाम न रह, सब जगह और सबके गुणोंपर ही मेरी दृष्टि रहेगी। मेरी भक्ति फिर बाह्य जगत्की दीवालें भेदकर अन्तरतम गुणों की सुन्दर और सुखद गुणावली में होगी और तब ही मैं वास्तविक भक्त और पुजारी कहला सकूँगा।

स्वाध्याय-प्रेमी।

भगवन् ! मैं स्वाध्याय-प्रेमी हूँ। मैंने चारों अनुयोगोंका अध्ययन किया है। मुझे आपकी दयासे थोड़ीसी बुद्धि जागृत होगई है, जिससे मैं हेय और

उपादेयका कुछ कुछ स्वरूप जान सका हूँ। मैं सामाजिक प्राणी हूँ। जिस समाजमें मैं रहता हूँ, वह सद्गुणोंको अपनाती नहीं, रूढ़िकी गुलाम हो रही है। अंधश्रद्धा उसके सर्वनाशके लिये कमर कसे है। उदारता और विवेकसे कोसों दूर है। अज्ञानताने उसे घेर लिया है। नवयुवक विद्याहीन और चरित्रहीन होते जा रहे हैं। विलासिता और भीरुता बढ़ती जा रही है। अकर्मण्यता और दरिद्रताकी वृद्धि हो रही है। वह अपने नाशके साधन स्वयं एकत्रित कर रही है। छोटे बच्चोंकी शादी और बुड्ढोंका विवाह धूमधाम से करती है। नवयुवक बिना विवाह के परघरापेक्षी होते हुए समाजकी संख्या घटा रहे हैं। छोटे बच्चे विवाहित होकर और बुड्ढे कामलिप्सामें गर्त होकर निकम्मी सन्तान पैदा करते हैं, और समाजको कोढ़में खाजका दारुण दुःख देने लगते हैं। पंचायतें नष्टभ्रष्ट होगई हैं, मुखिया मूर्ख, धनी और पक्षपाती होगये हैं। बड़ोंके दोष ढकना और छोटोंको अधिक दंड देना इन्हें अच्छा लगता है। मन्दिरोंका असंख्य द्रव्य इनके जीवनका साथी होरहा है। इनके बड़े बड़े कारबार मंदिर के धनपर चल रहे हैं। ये किसी संस्थाको दान भी देते हैं तो मूलधन अपनी तिजोरीमेंही रख छोड़ते हैं। जहाँ अखबारोंने इन्हें दानी, दानवीरका खिताब दिया, वहाँ मूल धन भी निजी धन होजाता है, और संस्थाएँ विनाश होजाया करती हैं। एक और जबरदस्त दोष समाजमें अड्डा जमाये हुए है। वह क्या ? उदरदेव के लिये नैवेद्य !! अब समाज में बच्चा हुआ तो नैवेद्य, शादी हुई तो नैवेद्य, पापाचार किये तो दंडस्वरूप नैवेद्य, रथोत्सवमें नैवेद्य, बिमानोत्सवमें नैवेद्य, बात बातमें नैवेद्य। उपरोक्त नैवेद्योंकी माँगतो थोड़ी बहुत समझमें आती भी है, पर घरमें मृत्यु हुई तो उसका भी नैवेद्य ! उदर देवके लिये बिना अर्पण किये छुटकारा नहीं ! मृतकभोज शास्त्रविरुद्ध है तथा महानिंद्य है, पर समाजमें खूब सड़ाँद पैदा कर रहा है। इसीतरह बाल और वृद्धविवाहके फलस्वरूप जो विधवाओंकी वृद्धि होरही हैं, उनका संकटमय जीवन आपसे छुपा नहीं है। उनके उत्थानके लिये समाजने कोई सजीव सुसगठित व्यवस्था नहीं की है। दयासागर प्रभो ! मैं अपनी समाजको समुन्नत और सदाचारी देखनेका इच्छुक हूँ। आप सद्बुद्धि-दाता हैं, समाजके प्रत्येक व्यक्ति को सद्बुद्धि दीजिये ताकि वे उपरोक्त दोष समाजसे दूर करनेमें कटिबद्ध हों और फिर सुसंगठित समाजसे अपना और परका कल्याण करें। प्रभो ! मैं बारबार प्रार्थना करता हूँ कि हमारी समाज को धार्मिक कीजिये, उसकी अन्धश्रद्धा नाशकर उसे सत्पथकी ओर अग्रसर कीजिये।

साधारण गृहस्थ।

भगवन ! मैं एक साधारण गृहस्थ हूँ। मुझे साधारण, जो एक मामूली गृहस्थके पास होना चाहिए, प्रायः सबही चीजें उपलब्ध हैं। मेरी प्रकृति कुछ ऐसी पड़गई है कि अकारण ही किसीसे द्वेष, किसी से प्रेम और किसीसे लड़ाई झगड़ा कर बैठता हूँ। दो को लड़ता देख एककी विजय और एककी पराजय का विचार करने लगता हूँ, यद्यपि उन दोनोंसे मेरा कोई सम्बन्ध भी नहीं है। चुगली करना, दो मित्रोंमें परस्पर वैर करा देना, हँसी मजाक करना मेरा दैनिक कृत्य होगया है। झूठी गवाही देना, समझदारोंकी बुराई करना मुझे अच्छा लगता है। किसी को फाँसी होगई, किसीको सजा होगई, किसी ने किसीको मार डाला, किसीका शीलभंग होगया,

इत्यादि बातें मेरी छायाकी तरह पीछे चलने वाली होगई हैं। यही कारण है कि मैं अब हिंसक होता जा रहा हूं। चोरी में सजा तो नहीं पाई, पर चोरों से मेरी सदा मैत्री रहती है। मै उनका माल खूब छिपाता हूं, उन्हें चोरी करनेके अच्छे अच्छे हथकण्डे बतलाता हूं। पुलिससे मिलकर बड़ी बड़ी सेंधें लगवा दिया करता हूँ। मेरी पत्नी सुशील और सुन्दर है, पर उसे तो पैरकी जूती समझ झिड़क दिया करता हूँ, और परस्त्रियों के लिये सदा लार टपकाया करता हूँ। दो चार बार इस चाटके जरिये लातों और जूतोंका भी मुक़ाबला करना पड़ा है, पर उनसे मेरी चाटमें कोई अन्तर नहीं पड़ा। उल्टा और भी उत्साहसे अब उस पथकी ओर आँख मूँद कर चलने लगा हूँ। मुझे लाज–शरमसे अब छुटकारा मिलगया है। इसी तरह मेरी तृष्णा भी बुरी तरहसे बढ़ती जा रही है। असंतोष मेरे साथमें चिपट रहा है। अपना किसीको देना नहीं चाहता; पराया छोड़ना नहीं चाहता। इसलिये मैं पूर्ण दुःखी हो रहा हूँ।

दयामय प्रभो! आप दयाकर मुझे सत्पथकी ओर लगाइए, उपरोक्त दोषोंसे मुक्तकर सत्पथमें मेरे जीवनको लगानेका उत्साह दीजिये। मैं अपने दोषोंपर पूर्ण पश्चात्ताप करता हूँ।

पतितपावन प्रभु! शास्त्रोंमें अनेक पापियों के उद्धार करनेमें आपकी पतितपावनी महिमाका उल्लेख किया गया है। क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि जिन पापियोंने आपके समक्ष अंतःकरणसे अपने दोषोंकी तीव्र आलोचना की है और भविष्यमें पापोंसे बचनेके लिये दृढ़ संकल्प किया है उन्होंको वह शक्ति प्राप्त हुई है कि वे उद्धार पागए हैं? अथवा यों कह सकते हैं कि उनका आपने उद्धार करदिया है?

भगवन्! आपने चोर, भील, चांडाल, आदि का उद्धार किया है। आज हम उनसे घृणा कर रहे हैं! भील चांडाल आदिकी शरीरपर छाया पड़नेसे धर्म डूबनेका स्वांग रचते हैं। उन्हें धर्मात्मा बनानेकी बात तो जाने दीजिये, उनसे मनुष्यकी तरह बात करना हम मानहानि समझते हैं! हमें शक्ति और बुद्धि दीजिये ताकि हम इन अछूतोंका अछूतपन दूर कर सकें, उन्हेंभी धर्म धारण करनेके योग्य समझ सहधर्मी बनावें। मनुष्यको मनुष्य छूनेसे पाप न समझे। हम अपने सजातीय पतित भाइयोंको भी अछूतकी तरह मान बैठे हैं (यद्यपि उसमें हमारा ही दोष है जो हमने अपने भाइयोंको अपनेसे अलग कर दिया है, उन्हें पापोंसे बचनेके लिये उत्साह नहीं दिया है, उन्हें अपनावें और बिछुड़ेहुए अपने भाइयोंको गले लगावें।

शास्त्रोंमें लिखा है कि आपके समवशरण में मनुष्य मात्रके लिये एकही कोठा था, सबही एक कोठेमें बैठकर धर्मोपदेश सुना करते थे। वीतरागी भगवन्! जब ऐसा था तब मनुष्यजातिकी समानता जैसी आपके राज्यमें थी वैसी ही भावना हमारे अन्दर वितरण करनेमें क्यों विलम्ब किया जा रहा है? अभी हमारा रोग साध्य है, चिकित्सा हो सकती है, इसलिये हमें शीघ्र ही सद्बुद्धि प्रदान कीजिये, ताकि मानव–जातिको हम समान समझ उसके वात्सल्यसे अपनेको धन्य समझने लगें।

प्रभो! आपने पूर्वकालमें सती सीताको अतुल्य शक्ति दी थी, जिससे उसने बड़ीसे बड़ी अग्निपरीक्षा भी पानीकी तरह सहन की थी। द्रौपदीकी भी इज्जत आपने भरी सभामें बचाई थी।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१—डा० आँबेडकरकी घोषणा।

नासिकमें हरिजनोंने अमुक घाटपर स्नान करनेकी तथा रथयात्रामें भागलेनेकी बहुत चेष्टा की, परन्तु कट्टरपन्थी हिन्दुओंके तीव्र विरोधके कारण वे उसमें सफल नहीं हुए। हरिजनोंके साथ हिन्दू होनेके नाते जो अत्याचार किये जाते हैं, वे अवश्यही मनुष्यताको लजाने वाले हैं—इसबातको अब समझदार हिन्दू समझने लगा है। म० गाँधीजीके प्रयत्नसे इस दिशामें बहुत काम भी हुआ है। यद्यपि दीवाल गिरी नहीं है किन्तु ईंटें खिसकना शुरू होचुका है। परन्तु आजका जाग्रत हरिजन इस प्रकारकी धीमी गति से सन्तुष्ट नहीं होता। अमुक अंशमें यह स्वाभाविक ही है। इसलिये हरिजनोंके एक दलके नेता डा० आँबेडकरने यह घोषणा की है कि अब मैं हिन्दू धर्मको छोड़कर किसी दूसरे धर्मको स्वीकार करूँगा, जहाँ मनुष्योचित अधिकार मिलेंगे। आज तक हिन्दू बना रहकर जो मैंने भूल की है, उसका प्रायश्चित्त करूँगा। डाक्टर साहिबकी इस घोषणाको नासिककी हरिजन-सभाने अपना लिया है, और कई हजार हरिजनोंने इसका समर्थन किया है। इस समाचार से बड़े बड़े आसन डोल गये हैं। चारों तरफसे डाक्टर आँबेडकर को अपने धर्ममें आनेके निमन्त्रण मिलने लगे हैं। सिक्खोंने सिक्ख बननेको कहा, मुसलमानोंने मुसलमान बननेको, और बौद्धों ने बौद्ध बननेको। एक प्रतिष्ठित सज्जनने मुझसे कहा—आप क्यों नहीं सत्यसमाजकी तरफसे निमन्त्रण भेजदेते ? मैंने कहा—सत्यसमाज पालनेमें झूलरहा है। अभी वह अपने पैरोंपर खड़ा भी नहीं होपाया है। और वहाँ तो विचारकी नहीं, शक्तिकी जरूरत है जो उनके रक्षणके लिये लड़ सके। इसके लिये अभी समय है। हाँ, अगर सत्यसमाज समर्थ होता तो वह निमन्त्रण भेजता। और सत्यसमाजी होनेपर वे चाहते तो हिन्दू बने रहते, न चाहते तो न बने रहते। खैर आज तो ये सब हँसीकी बातें हैं।

अब इस प्रकारके धर्म-परिवर्तनका महात्मा गाँधीजी ने भी विरोध किया है। मैं उसका विरोध तो करता हूँ परन्तु साथमें यह भी मानता हूँ कि उन्हें ऐसा करनेका हक़ है, इतना ही नहीं किन्तु उनका यह कार्य क्षन्तव्यभी है।

यों तो धर्म परिवर्तनसे मनुष्यजातिकी या राष्ट्र की कोई क्षति नहीं है; परन्तु जिस परिस्थितिमें यह

और आजभी आपने महात्मा गाँधीके दुबले शरीर में दीनोंके उद्धार करनेकी अगम्य शक्ति दी है, अहिंसाकी ध्वनि जिनके रोम रोममें आपने ठूँस ठूँस कर भरदी है। आपने जवाहरलाल जैसे युवकको धनकुबेर होते हुए भी ऋषितुल्य परोपकारी जीवन व्यतीत करनेका अदम्य साहस दिया है। और भी अनेक सच्चे वीरोंको देश और धर्म के लिये जीवनको उत्सर्ग करनेकी महान शक्ति दी है। फिर हमही एक ऐसे अनुत्साही क्यों बनकर बैठे हुए हैं कि आपकी महती कृपाका उपभोग न कर सकें ? हमें अपनी सचाईपर विश्वास रखते हुए जैसा हम बनना चाहते हैं, सब कुछ आपके सहारे बन जानेकी उत्कट कामना होना चाहिये। आपके सामने हम अपने दोषोंको कह कर निर्दोष जीवन बनाते हुए स्वावलम्बी बनना चाहते हैं। वीर प्रभु ! शक्ति दो, हम परतन्त्रतासे मुक्तहों, और सच्चे आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करें।

होरहा है, उससे दोनोंकी क्षति है। यह हरिजन-वर्ग जब रुष्ट होकर हिन्दू धर्मका त्याग करेगा, तब वह हिन्दू-समाज और हिन्दू-धर्मका कट्टर शत्रु होगा। मुसलमान समाजमें इसी प्रकारके पुराने हिन्दुओंकी संख्या अधिक है। इससे दोनोंका द्वेष उग्र और चिरस्थायी सा होगया है। देशमें इस प्रकारके विरोधी दल पैदा हों, यह सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। रुचिभेद आदिसे धर्म परिवर्तन होता तो कोई बात नहीं थी, परन्तु आज जिसढंग से यह होरहा है, वह राष्ट्रके लिये, मनुष्यताके लिये अत्यन्त भयंकर है।

बम्बई के तथा अन्यस्थानोंके हरिजनोंने भी इस कार्यका विरोध किया है। बात यह है कि धर्म का सम्बन्ध मन और आत्मासे है। उसमें अगर परिवर्तन न हो और धर्ममें परिवर्तन करना पड़े तो इससे जीवनमें बड़ी अशान्ति फैल जाती है, और इस प्रकारका जीवन जेल सरीखा होजाता है। इस-प्रकारका दुःसाहस बहुत कम लोग करते हैं। दूसरी बात यह है कि हरिजनोंकी इससे समस्या नहीं सुधरती, क्योंकि हिन्दू—समाजकी मनोवृत्ति ज्योंकी त्यों बनी रहती है।

इस मामलेमें एक बात और है जो घोर वेदना पहुँचाती है। नासिकके हिन्दू पंडोंने हरिजनोंके इस निर्णयसे प्रसन्नता प्रकट की है! वह इसलिये कि ये हरिजन जब हिन्दू धर्म छोड़ देंगे तब सत्याग्रह करने वाला कोई न रहेगा! भला इस मूढ़ताका भी कोई ठिकाना है? लाखों आदमी किसी धर्म और समाजको छोड़कर चले जाँय और उस समाज या धर्मवाले इसपर प्रसन्नता प्रकट करें—इस प्रकारका पागलपन युग युगतक अनेक देशोंकी खाक छानने पर भी दिखाई न देगा। आजका हिन्दू समाज ही ऐसा है जो ऐसे ऐसे नमूने रखता है। इन मूर्खोंको मालूम नहीं है कि सत्याग्रह करनेवाले चले जाँयगे परन्तु दुराग्रह करने वाले आजाँयगे। तुम्हारे धर्म-स्थानों पर आकर तब वे सिर न झुकायगे परन्तु वहां थूकेंगे उन्हें तोड़ेंगे। अपनेही खूनको जो विष बनानेको तैयार है, इसमें जो दर्प मानता है, उस समाजकी रक्षा कौन करसकता है! जो भूल शताब्दियोंसे होरही है, शताब्दियों से जिसका परिणाम भोगा जारहा है और जिस परिणाम से त्रस्त होकर हिन्दू समाज त्राहि त्राहि कररहा है, भारतमाताकी गोद टूटी जारही है, उस भूलको आज इस पैशाचिक हर्षके साथ अपनाया जारहा है, यह बड़े खेद की बात है।

नासिकके हरिजन बन्धुओं से तो मैं यही कहूँगा कि आप लोगोंने शताब्दियोंतक हिन्दू—समाज पर दयाकी है। हरिजनोंके ऋणसे भारत हिन्दू समाज कभी अपना सिर नहीं उठा सकता। इसलिये हरिजन बन्धु कुछ वर्षोंकी बाट और देखें। हिन्दुओं के धर्मस्थान-जोकि अधिकांशमें पापके अड्डे बन-रहे हैं—उनमें घुसनेसे न तो कोई लाभ है, न उनकी जरूरत है। आप अपने पवित्र धर्मस्थान स्वयं बना सकते हैं। इतने परभी अगर आप धर्म परिवर्तन करना ही चाहते हों तो इस ढंग से करें जिससे कट्टरता और जातीय द्वेष न बढ़े। अगर मूढ़ लोग अपनी मूढ़ता नहीं छोड़ते तो आप अपना विवेक न छोड़ें।

१--स्त्रीधन और पुनर्विवाह।

कच्छकी एक बहिन-रतनबाई-बाल्यावस्था में विधवा होगई थी। गुप्त पाप करने और शिकारकी बाट देखते बैठी रहने की अपेक्षा उसने यह अच्छा समझा कि अपना विवाह करले। इससे उसका विवाह नानजी रणशी नामक एक सज्जनके साथ

गया। वे पहिले तो बम्बईमें ठहरे; बादमें अपने व्यापार-कार्यके लिये रंगून (बर्मा) चलेगये। उस बाईके पास कुछ गहने थे, जिन्हें वह बम्बई में छोड़ गई।

बाईके पुराने ससुरालवाले लोगोंके उन गहनों पर दांत थे। हिन्दू-समाजमें विधवा ठोकर खाने की ही चीज नहीं है किन्तु लूटनेकी भी चीज है। विवाहके अवसर पर जो गहने उसे स्त्रीधन के रूप में दिये जाते हैं, उसे भी ये सभ्य डाकू कहाँ रहने देना चाहते हैं? पुरुषतो एकके जीतेही दूसरी तीसरी लावे तो भी उसके आर्थिक ही नहीं सभी अधिकार सुरक्षित है, परन्तु स्त्री थोड़ेसे स्त्रीधनकी भी स्वामिनी नहीं है! मानों उसके कोई प्राण ही नहीं है। खैर साहिब, ससुराल वालोंने भुज (कच्छ) की अदालत में नालिश करदी। अदालत के कोई कोई अधिकारी भी सामान्य जीव ही होते हैं, इसलिये उनकी मनोवृत्ति भी साधारण लोगों सरीखी संकुचित होती है, इसलिये नीचेकी अदालतने वह गहना जो मुकद्देमें रक्खा था, जब्त करा लिया। अन्तमें इस की अपील हुई और न्यायकी विजय हुई।

ऊपरी अदालतने साफ कहा कि कोई बाई चाहे पुनर्विवाह करावे या न करावे अपने स्त्रीधनपर उसे अधिकार है। वह बम्बईमें रखगई तो क्या और रंगून लेजाती तो क्या, इसमें ससुराल वाले कुछ नहीं कह सकते।

मालूम नहीं ब्रिटिश अदालतों का इस विषयमें क्या रुख है, परन्तु एक देशी रियासतकी इस न्यायप्रियता से बहुत प्रसन्नता होती है। विवाहके बाद स्त्री दूसरे घरकी होजाती है, परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि पशुकी तरह उसका कोई स्वत्व ही नहीं है। प्रथम विवाहके बाद माबापके घरपर उस [illegible] में जो दिया जाता है वह लड़कीकी ही सम्पत्ति है, और ससुराल वालोंकी तरफसे जो दिया जाता है वह भी उसकी सम्पत्ति है। अब अगर कोई स्त्री विधवा हुई तो इसमें उस बेचारीका तो कोई अपराध है नहीं। ऐसी हालतमें ससुराल वालोंका कर्त्तव्य है कि अगर उस बाईकी इच्छा हो तो सुयोग्य वर देखकर उसकी शादी करदें, और विवाहके अवसरपर कुछ दहेज भी दें। प्रथम विवाहके पहिले जो काम माबाप का था, वह काम अब ससुरालवालों को करना चाहिये। अगर वे अधिक कुछ दे न सकें तो उसके स्त्रीधनमें नाममात्रको भी कुछ और मिलाकर अपनी सहानुभूति प्रगट करना चाहिये, तथा पुनर्विवाहके आयोजनका खर्च उठाना चाहिये। बेचारी स्त्रियोंको इस प्रकार लूटकर अपने पुरुषत्व को नहीं लजाना चाहिये।

२--क्या यह मर्म है?

एक भाईने सत्यसमाजमें चिढ़कर उसे मांसप्रचारक संस्था लिखडाला है, क्योंकि उसमें मांसभोजियोंको भी स्थान है। यह आक्षेप ऐसाही है जैसे कोई अध्यापक कहे कि मेरेपास मांसभक्षी भी पढ़ सकता है, और शाकभोजी भी पढ़ सकता है, और उससे कहा जाय कि तबतो तुम मांसप्रचारक हो! सत्यसमाजका उद्देश्य धार्मिक और जातिगत झगड़ोंको दूर करना, समाज-सुधार करना, विचारशीलताको जन्म देना है। इसकी जरूरत मांसभक्षी और शाकभोजी दोनोंको है। ये बातें कांग्रेसके उदाहरणके साथ मैं लिख चुका हूँ। देशमें हिन्दू मुसलमानोंके जैसे झगड़े हो रहे हैं, सत्यसमाज ऐसे झगड़ोंका अन्त करदेना चाहता है। इसके लिये दोनोंको अपनाना आवश्यक है। परन्तु अगर यह नियम बनाया जाय कि मांसभोजीको इस प्रयत्न

प्रयत्नमें मांसभोजियोंको शामिल करना मांस-प्रचार नहीं है। इस बातको पढ़कर कोई भी कह सकता था कि सत्यसमाज मांसप्रचारक संस्था नहीं है; भले ही वह सत्यसमाजसे असहमत रहता।

आक्षेपक बन्धुका मेरे प्रति जो भाव रहा है और अपने लेखमें जिसप्रकार कटूक्तियों का व्यवहार किया है, उसे देखते हुए यह मालूम होता है कि वे इस समय पूर्णरूपसे क्रुद्ध हैं, और उनने न समझने का निश्चय कर लिया है। सम्भव है उन्हें कभी अपने लेखपर पश्चात्ताप हो, इसलिये उनको समझानेकी दृष्टिसे इससमय मैं विशेष नहीं लिख सकता। मेरे जिस वक्तव्यका उनने उत्तर लिखा है, वह वक्तव्य उनके इस दूसरे लेखका भी उत्तर है। पाठक १७वें अङ्कमें 'सत्यसमाज और मांसभोजी' शीर्षक टिप्पणी देखें। यहाँ तो मैं संक्षिप्त सूचनाएँ देना ही उचित समझता हूँ।

१—'तक' शब्द भूलसे रह गया है, परन्तु उससे आपके वक्तव्यका अर्थ नहीं बदला। परन्तु जो आपने 'ही' शब्द लगाया है उससे बिलकुल अर्थ बदलगया है। लिखते लिखते किसी शब्दका अनिच्छा पूर्वक रह जाना बहुत सम्भव है, परन्तु अनिच्छा पूर्वक किसी नये शब्दका मिलाया जाना इतना सम्भव नहीं है।

२—सत्यसमाजमें यह नियम नहीं है कि एक सत्यसमाजीको दूसरे सत्यसमाजीके साथ ही बेटी-व्यवहार करना चाहिये। वह सत्यसमाजके बाहर भी सम्बन्ध कर सकता है। इसलिये एक शाकभोजी नैष्ठिकको अगर सम्बन्ध के लिये शाकभोजी नैष्ठिक न मिले तो वह शाकीभोजी पाक्षिक या अन्य किसी शाकभोजी के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

३—आप सत्यसमाजको नहीं चाहते इसलिये आपके शब्दोंमें वह किसी खेतकी मूली नहीं है, परन्तु आप जैन हैं इसलिये जैनधर्मको तो किसी खेतकी मूली समझते ही। जैन शास्त्रोंके अनुसार आपके भी मतमें मांसभक्षी भी जैनतो हो ही सकता है। अब यदि कोई आपके ही शब्दोंमें कहे कि शाकभोजियोंमें सम्बन्ध न मिले तो क्या मांसभोजियोंमें करे? इस प्रश्नका आपके यहाँ क्या उत्तर होगा? सत्यसमाजतो इतना फिर भी कहता है कि वह सत्यसमाजसे बाहर सम्बन्ध कर सकता है।

४—सत्यसमाजमें जातिभेद नहीं है। परन्तु अगर कोई शाकभोजी मांसभोजीसे विवाह-सम्बन्ध नहीं करता तो इसमें ढोंग क्या होगया? जैनधर्मके अनुसार भी मनुष्य जाति एक है। अब अगर कोई जैनी मांसभोजी या दुराचारीके साथ सम्बन्ध न करे तो क्या जैनशास्त्रोंका यह वक्तव्य ढोंग होगया?

५—यह आपसे किसने कहा कि मैं खानपान शुद्धिको कर्त्तव्य में शामिल नहीं करता? परन्तु उस का स्थान चारित्राचार में है न कि दर्शनाचारमें। सत्यसमाज संघटना में नियम दर्शनाचारके नियम हैं, चारित्राचारके नहीं।

६—सभासदीका पूर्णरूप प्राप्त होजाना एक बात है और संयमका प्राप्त होजाना दूसरी। क्षायिक सम्यग्दृष्टि पूर्ण सम्यग्दृष्टि है; परन्तु संयममें वह मामूली गृहस्थसे भी कम हो सकता है। इसी प्रकार सत्यसमाजका नैष्ठिक सभासद भी पूर्ण सभासद होकर के भी असंयमी हो, इसमें आपत्ति क्या है? इस दृष्टिसे उसे नीचा ही कहा जायगा। और पाक्षिक सदस्य, अनुमोदक, अथवा सत्यसमाजसे सम्बन्ध न रखने वाला संयमकी दृष्टिसे उससे उच्च हो सकता है। इसप्रकार उसका गुणस्थान नैष्ठिक की अपेक्षा भी ऊँचा है। क्षायिक सम्यक्त्वीको पूर्ण सम्यक्त्वी कह देनेसे क्या उसके सामने संयमका

आकर्षण नहीं रहता ?

७—ऐफ० ए० और बी० ए० का उदाहरण ठीक नहीं। ज्ञानकी योग्यताके क्षेत्रमें दोनोंको उच्च समझने से अवश्य कुछ अंधेर हो सकता है, परन्तु अगर रोगीकी सेवा, शारीरिकश्रम आदि किसी दूसरे क्षेत्रमें ऐफ० ए०, बी० ए० का भेद न करके इन्हीं गुणोंको मुख्यता दीजाय तो इससे बी० ए० का अपमान नहीं है। असंयमी क्षायिक सम्यग्दृष्टि, और संयमी सम्यग्दृष्टिके उदाहरणसे यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है।

८—मांसभोजी और शाकभोजीको आप जुदी जुदी जातियाँ मानते हैं, और इस जातिभेदको स्वाभाविक भी कहते हैं। अगर यह भेद स्वाभाविक होता तबतो कोई मांसभोजी मांसत्यागी कभी न बन पाता। परन्तु ऐसा नहीं है। जातिभेदकी यह नई कल्पना सत्यसमाजके विरोधके लियेही तैयार की गई है।

९—"मुझे रामकृष्ण आदिसे मतलब नहीं किन्तु उनके अनुयायियोंसे मतलब है"। मेरे इस वक्तव्यमें क्या बुराई है ? क्योंकि चिकित्सा राम कृष्ण आदिकी नहीं, उनके अनुयायियों की करना है।

१०—नैष्ठिक पाक्षिक आदिकी व्यवस्था बिलकुल स्पष्ट है। न मुझे उसके विषयमें कोई सन्देह है, न मेरे इस विषयमें ऐसे विचार हैं कि 'अभी तो रहने दो, आदि।

११—मैं जैनसमाजके संगठनको नष्ट कर रहा हूँ, यह बात ठीक नहीं। न मैं धैर्य खो रहा हूँ। मैं तो व्यापक दृष्टिसे कुछ काम करना चाहता हूँ। भिन्न भिन्न समाजोंके झगड़ोंको दूर करने के लिये दृष्टिको व्यापक तो बनाना ही पड़ेगा। कोई दिगम्बर-श्वेताम्बरों का समन्वय करना चाहे, उनमें प्रेम बढ़ाना चाहे तो उसे अपना कार्यक्षेत्र दोनों समाजों को बनाना पड़ेगा। उससे कह कहना कि 'तू समाज की हत्या कर रहा है, उसके संगठन को तोड़ रहा है' अनुचित है। इसी प्रकार मैंने कार्यक्षेत्रको बढ़ाया है तोड़ा नहीं है।

१२—"मैं जिससे बना हूँ, उसीको बिगाड़ने पर तुला हूँ और इतरा रहा हूँ और झूठा हूँ।" इसका उत्तर मैं क्या दूँ ? आपने ही दे लिया है। आपमेरे विषयमें लिखते हैं कि "आपने जबजब बुद्धिका सदुपयोग किया है तब तब उसके द्वारा मैंने खोने लायक ज्ञान खोया भी है और प्राप्तकरने लायक प्राप्त भी किया है" परन्तु दोषतो गुरु के भी कहना चाहिये।" यदि इस कहावत के अनुसार आप दोष कहनेको स्वतन्त्र हैं और आपका यह कार्य इतराना नहीं है, तब अगर मैं भी यही काम करता हूँ तो क्या बुरा करता हूँ ? यदि आपने अपने ज्ञानको खोने लायक समझा जिससे कि आप बने थे, तो मेरे विषयमें यह बुराई क्यों है ? जिसे आप सत्यधर्म समझते हो उसे अगर कोई स्वीकार करे और पुराने सम्प्रदायको छोड़ दे, जैसा कि श्रेणिक राजा आदि ने किया था, तब भी क्या आप कहोगे कि 'जिससे बने हो उसेही बिगाड़नेपर तुले हो ! लिहाज रक्खो, झूठे' आदि ? एक कट्टर स्थितिपालक जो शब्द बोल सकता है, वही शब्द हैं जो आपके मुँहसे निकल रहे हैं ! फिर आपने जो चर्चा उठाई है, उसमें मैंने बिगाड़ा क्या है ?

१३—मैं संख्या बढ़ाना चाहता हूँ, संग्रह करना चाहता हूँ; यह बिलकुल ठीक है। लोक संग्रह कोई बुरी बात नहीं है। परन्तु इसके लिये सत्यसमाजके उद्देश्यकी हत्या नहीं करता। सभी संस्थाएँ संग्रह करती हैं। वैदिक, जैन, बौद्ध, इस्लाम, ईसाई आदि धर्म संस्थाओंने संग्रह किया है। कांग्रेस आदि संस्थाएँ भी संग्रह करती हैं।

बार्शी–प्रवास

अक्टूबरके प्रथम सप्ताहमें मुझे कुछ अवकाश था, इसलिये सोचा कि सत्यसमाजके प्रचारके लिये बार्शी तक चक्कर लगा आऊँ तो अच्छा। बार्शीकी तरफ से ग्रीष्मावकाशके समय निमन्त्रण भी मिला था। श्रीमान सेठ चुन्नीलालजी कोटेचा महाराष्ट्र, में तन, मन, धनसे सत्यसमाजका अच्छा प्रचार करने वाले हैं। मेरी सूचना पाकर उनने आसपासके गाँवों मे भी सूचना भेजदी जिससे उसमानाबाद, सोलापुर आदि से कुछ सज्जन आगये थे। रास्तेमें चिचवड़ और पूना भी पड़ते हैं। यहां पर सत्यसमाजके सदस्य हैं। उनको कुछ सूचनाएँ देने के लिये मैंने मिलनेको लिखा था। चिंचवड़ वालोंसे मालूम हुआ कि अगर मैं कुछ घन्टे ठहरूँ तो व्याख्यान आदिका प्रबन्ध हो सकता है। इसलिये मैं ४ अक्टूबर को सुबह रवाना हुआ। इस तरफ वर्षा बिलकुल बन्द हो चुकी है, परन्तु जब गाड़ी खंडाला लुणावला पहुँची तब हम समुद्रसे करीब तीन हज़ार फुट ऊँचे चढ़ आये थे। इनके ऊपर नीचे और आसपास बादल ही बादल दिखलाई दे रहे थे। जमीन आसमान सब एक था, अदृष्ट था। ऐसा मालूम होता था मानों हम वायुयान में बैठे हैं। बहुतही सुन्दर दृश्य था।

खैर! मै चिंचवड़ उतरा। स्टेशनपर सत्यसमाज के सदस्य पं० जुगलकिशोरजी, पं० अनन्तसिद्ध पाठकी उपस्थित थे। कुछ विद्यार्थी भी थे। रात्रिको मद्रासमेल पकड़ना जरूरी था। और वह चिचवड़ पर खड़ा नहीं होता इसलिये पूना जाना था। इसलिये रात्रिको व्याख्यान नहीं रख सकता था। मेरी इस कठिनाईको जानकर यहांके सज्जनोंने बहुत ही शीघ्र व्याख्यानका प्रबन्ध किया। बातकी बातमें गाँवभरमें खबर पहुँच गई। फतहचन्द जैन विद्यालयके हॉलमें व्याख्यानका आयोजन हुआ। सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव, समाजसुधार आदि पर करीब १। घन्टे तक बोला। आशा तो नहीं थी कि मेरे विचार यहांकी जनताको पसन्द आयेंगे; परन्तु ऐसा मालूम होता था कि कुछ आये अवश्य। विद्यालयका भी मैंने निरीक्षण किया। यहांके विद्यार्थियोंके आसन, प्रयोग देखकर मुझे विशेष प्रसन्नता हुई। विशेष निरीक्षण तो मैं समयाभावसे कर नहीं सका, परन्तु कार्य सन्तोषजनक मालूम हुआ।

पं० जुगलकिशोरजी पहिले इस विद्यालयमे काम करते थे। इसके पहिले उनने विधवाविवाह किया था; फिर भी विद्यालयको इसमे कोई आपत्ति नही थी। परन्तु जब उनकी पत्नीका देहान्त हो गया और उनने दूसरी बार विधवा-विवाह किया, तब विद्यालयने इसी कारणसे उन्हें अलग कर दिया। सञ्चालकोंका कहना यह था कि कोई आदमी विधवा-विवाह करके आवे तो कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु विद्यालयमे नौकरी करते हुये विधवाविवाह न करना चाहिये।

निःसंदेह यह हास्यास्पद बचाव है। आजकल संस्थाओंके सञ्चालकोंकी मनोवृत्ति बड़ी ही विचित्र तथा हास्यास्पद है। समयकी माँग कहिये या सुधारकोंकी तपस्याका फल कहिये, अब लोग विधवा-विवाहका उतना विरोध नहीं करते, न उतना असहयोग करते हैं जितना कि कुछ वर्ष पहिले करते थे। अब उनकी दृष्टिमें कोई विधवाविवाह कर चुका है

आपको मैं जानता हूँ। आप जिन बातोंके सहारेसे सत्यसमाजका विरोध कर रहे हैं, उनका आपके विचारोंसे मेल नहीं खाता है। सत्यसमाज को आप स्वीकार करें या न करें, परन्तु एक न एक दिन आपको भावसे सत्यसमाजी बनना ही पड़ेगा। उस दिन आप अवश्य समझेंगे कि सत्यसमाजका मर्म वह नहीं है जिसे आप आज कह रहे हैं।

यह बुरी बात नहीं है;किन्तु अब करता है यह ठीक नहीं है। परन्तु यह केवल आत्मवञ्चना है।

जिन कार्योंसे समाजसुधारका कोई सम्बन्ध नहीं है,उन कार्योंकी नौकरी करनेमें कोई हानि नहीं हो सकती। परन्तु संस्थाके सञ्चालक तो भी घबराते हैं। अगर वह अपने ही सम्प्रदायका हो तबतो और ज्यादः घबराते हैं। उदाहरणार्थ, किसी जैन संस्थामें ऐसा आदमी काम कर सकता है जो जैन न हो,जैनधर्मका विरोधी ही हो;परन्तु एक जैन काम नहीं कर सकता, अगर उसके विचार जैनशास्त्रोंकी किसी छोटी मोटी मान्यतामें मतभेद रखते हों। इस प्रकार संस्थाओंके सञ्चालकोंकी मनोवृत्ति बिलकुल विवेकशून्य है। इसी दमपर वे भविष्य सन्तानको विवेकी बनाना चाहते है, यह आश्चर्य है!

संस्थाओंके सञ्चालक यह नहीं कहते कि वे इन विचारोंके विरोधी हैं,अथवा असहिष्णु हैं। वे कहते हैं कि पैसा देने वाली जनता विरोध करती है; इससे संस्थाको धक्का पहुँचेगा। वे यह जानते हुए भी कि समाजका यह रुख अच्छा नहीं है,समाज की इच्छाके आगे सिर झुका देते है। इसप्रकार समाजकी सेवा करनेकी अपेक्षा समाजकी इच्छा के अनुसार नाचना वे अधिक पसन्द करते है। जब संस्थाओंके सञ्चालकोंकी यह मनोवृत्ति है, तब उनसे निकलने वाले विद्यार्थियोंकी कैसी होगी? क्या वे कभी समाजके पथप्रदर्शक बन सकेंगे? जब समाजकी इच्छा और रूढ़िके अनुसार नाचने के ही उनके हृदयपर संस्कार पड़े होंगे,तब वे समाज को कुपथसे हटानेका बल कहाँसे पायँगे? संस्थाओं के सञ्चालकोंकी यह मनोवृत्ति आगामी पीढ़ीको कायर और गुलाम बनाने वाली है। कायर और गुलाम शिक्षितोंकी अपेक्षा मूर्ख अच्छे। यदि सत्य की हत्या करके, अपने विचारोंका गला घोंटकर या विचारशक्तिको नपुंसक बनाकर संस्थाओंका संचालन करना पड़ता है तो इसकी अपेक्षा यह अच्छा है कि वे संस्थाएँ तोड़दी जायँ। कोई डॉक्टर पथ्य अपथ्य का विचार न करके अगर रोगीकी इच्छाके अनुसार उसे खाने देता है, इस प्रकार रोगीके इलाज करनेकी पर्वाह न करके उसे खुश रखनेकी पर्वाह करता है तो वह रोगीका गुलाम हो सकता है, परन्तु मित्र या हितैषी नहीं हो सकता;बल्कि वह शत्रु है। समाजके हिताहितकी पर्वाह न करने वाले किन्तु उसकी इच्छाके अनुसार नाचने वाले वास्तवमें डाक्टर नहीं, सेवक नहीं, किन्तु ऐसे ही गुलाम हैं।

अगर थोड़ीसी ही दृढ़ताका परिचय दिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि सञ्चालकोंको इसप्रकार आत्महत्या न करना पड़े। समाज, आज नहीं तो कल, उनकी बातको अवश्य सुने। परन्तु जब संचालक लोग पहिलेसे ही सिर झुका देते हैं, सत्यको समाजके पास पहुँचने ही नहीं देते, समाजको सुपथ पर लानेके लिये थोड़ीसी दृढ़ताका भी प्रदर्शन नहीं करते, तब उसकी मूढ़ता ज्योंकी त्यों बनी रहे तथा तांडव करती रहे, इसमें क्या सन्देह है? खेद है कि आज इनीगिनी संस्थाओंको छोड़कर बाकी सब संस्थाओं की दुर्दशा है।

खैर, शामको सात बजेकी मोटरसे चलकर आठ बजे पूना आया। कनकमलजी मुणोत बी० ए० और बलदोटा वकील मिले। मैं अचानक ही पहुँचा था इसलिये पहिलेसे किसीको सूचना न दी जा सकी। फिर भी कनकमलजीने शीघ्रसे शीघ्र इधर उधर खबर भेजी। एकदो भाई मिले, और आये; चर्चा हुई। पहिले तो सत्यसमाजके विषयमें शंका-समाधान हुआ; पीछे अनेक धार्मिक,सामाजिक प्रश्नों की विवेचना हुई। इस तरह चर्चा रात्रिको १२ बजे तक चली। १ बजेका मेल पकड़ा। ता० ५ के सुबह ७-२० पर बार्शी टाउन आ पहुँचा। स्टेशनपर काफी दल था।

सेठ चुन्नीलालजीके प्रयत्नसे घनी बस्तीके कुछ बाहर खुली हवामें सत्यसमाज बार्शीका एक छोटा सा ऑफिस बनगया है। उसीमें ठहरा। सेठ नेमचन्द बालचन्दजी वकील-जो कि उस्मानाबादके वयोवृद्ध विचारक श्रीमान् हैं, खास तौरसे चर्चाके लिये पधारे थे। आपका मुझसे काफी मतभेद है, फिर भी आप जिज्ञासु और प्रेमी हैं। आपके साथ बहुतसी चर्चा हुई।

दुपहरको जैन पाठशालाकी परीक्षा ली।

शामको औंधकर थियेटरमें 'धर्मका सत्य स्वरूप' इस विषयपर व्याख्यान रक्खा गया। स्त्रियाँ भी उपस्थित थीं। उस्मानाबादके नेमचन्द बालचन्दजी वकील अध्यक्ष बनाये गये। प्रत्येक धर्ममें क्या खूबियाँ हैं, और हमारे जीवनमें प्रत्येक धर्मकी उन खूबियोंका क्या स्थान है, सर्वधर्मसमभाव रखकर हम उनसे क्या क्या लाभ उठा सकते हैं, धर्मशास्त्रका स्थान क्या है, धर्म किस लिये है, उसका समाजसे क्या सम्बन्ध है, जातिपाँति और छूआछूत किस प्रकार हानिकारक हैं-आदि बातोंपर प्रकाश डालते हुए सत्यसमाजकी स्कीम बताई।

अध्यक्ष महोदयको मेरी बहुतसी बातें पसन्द आईं, इसलिये वे बातें उनने दुहराईं भी। परन्तु कुछ बातें उन्हें पसन्द नहीं आईं, इसलिये उनने उनका विरोध भी किया। सर्वधर्मसमभावके विषय में उनने कहा कि—"किसी निश्चित दर्शनको न माननेसे आदमी संशयित रहेगा इसलिये कुछ न कर सकेगा, तथा बहुत से धर्म ऐसे हैं जिनका समन्वय हो ही नहीं सकता। मुसलमानोंके यहाँ हिंसा धर्म है, मारडालना कर्तव्य है। एक मौलवीसे मैंने एक बार एक वाक्यका अर्थ पूछा, परन्तु उसका अर्थ ईश्वर न मानने का था। इसलिये वह बोला कि-'हमारे शास्त्रकी आज्ञा है कि जो कोई ईश्वरपर अविश्वासकी बात करे, उसे जानसे मार डालना चाहिये। मेरी हिम्मत नहीं पड़ती कि आपको जान से मार डालूँ, परन्तु आप किसी दूसरे मुसलमान के पास ऐसी चर्चा न करें'। बतलाइये ऐसे धर्मके साथ कैसे समन्वय किया जा सकता है? रंगीला रसूल देखनेसे पता लगता है कि मुहम्मद कैसे थे!" आदि।

चूँकि सभाका आयोजन मेरे विचारोंके प्रकाश के लिये ही था, इसलिये उनके आक्षेपोंका उत्तर देना मैंने उचित समझा। मैंने कहा—

"धर्मशास्त्रका स्थान दर्शनशास्त्रसे जुदा है, और प्रत्येक दर्शन सत्यधर्मकी प्राप्तिमें उपयोगी हो सकता है-इसका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य किसी भी दर्शनको न माने और सर्वत्र संशयालु होजाय। द्वैतसे हम भेदविज्ञानी बनकर धर्मकी प्राप्ति कर सकते हैं और अद्वैतसे विश्वप्रेमी समभावी बनकर धर्मकी प्राप्ति कर सकते हैं। इसलिये जिसको द्वैत जँच जाय वह द्वैत माने; जिसे अद्वैत जँच जाय वह अद्वैत माने। इसमें संशयको अथवा दोनों ही न मानकर अज्ञानी बननेको स्थान कहाँ है? दर्शनशास्त्र न जँचनेसे हम धर्मही छोड़ बैठें या उसके नामपर लड़ें या उसके विषयमें पक्षपातसे काम लेते रहें, यह उचित नहीं है।

"इसलाम हिंसा-प्रचारक है, यह बात ठीक नहीं। अधिक हिंसा करने वालेको कम हिंसा करनेका विधान बताना-हिंसाका नहीं, अहिंसाका प्रचार है। म० मुहम्मदने नर-बलि बन्द की, हिंसाको सीमित किया, खासखास समयपर हिंसाको बन्द रक्खा, मक्काकी मस्जिदके आसपास तो वनस्पति तोड़ने तक की मनाई है-यह रुख हिंसाकी तरफ नहीं, अहिंसाकी तरफ है। आज धर्मांध मौलवियों और धर्मांध पंडितोंसे किसीभी धर्मका मर्म नहीं समझा जा सकता। मैं नहीं समझता कि उस मौलवीने किस आधारपर इस तरहकी बात कही! वास्तवमें

उसने कुरानको और इसलामको समझा ही नहीं।

"हाँ, विरोधी-हिंसाका विधान अवश्य है और वह सभी धर्मोंमें है। जैनधर्म भी ऐसे विधानों से खाली नहीं है। फिर किसी धर्मसंस्थाका विचार करते समय हमें उसकी उत्पत्तिके समयका-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावका-विचार अवश्य करना चाहिये। ऐसे विचार करने पर ही हम किसी धर्मसंस्थाकी उपयोगिता समझ सकते हैं। 'रंगीला-रसूल' में जिस दृष्टिसे म० मुहम्मदका चरित्र चित्रण किया गया है, उस दृष्टिसे किसीभी महात्माका चरित्र चित्रण किया जाय तो वह काला ही होगा। इस दृष्टिसे कर्मयोगी कृष्ण लुच्चा और बदमाश सिद्ध किया जा सकता है; म० रामकी भी यही दशा हो सकती है। अन्य महात्माओंकी भी यही दशा होगी। मुसलमान अगर खराब हैं तो इससे इसलाम खराब नहीं हो जाता। कोई जैनी कंजूस और व्याजखाऊ हो तो इससे जैनधर्म और म० महावीरकी निष्परिग्रहता पर बट्टा नहीं लगता।" आदि।

अध्यक्ष महोदयको मेरे उत्तरोंसे कोई बुरा नहीं लगा। सभामें, यह घोषणा कर दीगई कि कल सुबह ६ बजेसे ११ बजे तक और दुपहरको २ बजे से ५ बजेतक प्रश्नोंका उत्तर दिया जायगा। छपे हुए पेम्फलेटोंके द्वाराभी ये सूचनाएँ नगरमें फैलादी गई थीं।

दूसरे दिन नियत समय पर चर्चा हुई। चर्चा में कुछ मेम्बर, वकील साहिब तथा बाहरके एक दूसरे सज्जन भी थे। बहुतसी चर्चा जैनधर्मके विषयमें हुई। वकील साहिब उसी दिनकी मोटर से जाने वाले थे और चर्चा तो बहुतसी करनी थी इसलिये भोजनके समय भी चर्चा चालू रही। सोलापुरसे जो सज्जन चर्चाके लिये आये थे, उन्हें सर्वज्ञताके विषयमें मैंने अपना दृष्टिबिन्दु बतलाया। यद्यपि वे इसे जैनधर्मके मूलमें आघात कह रहे थे, फिर भी मेरा वक्तव्य उनके हृदयपर कुछ असर अवश्य कर रहा था। भोजनके बाद भी आत्मा आदि पर चर्चा हुई। उससे मैं यह समझा कि संस्कारोंकी प्रबलता होने पर भी वकील साहिब विचारक अवश्य हैं। मुसलमानोंके प्रति जो उनका विरोध है, उसका कारण परिस्थिति है। एक मुसलमान राज्यमें हिंदुओंपर जो अत्याचार होते हैं, उनको देखते देखते या सहन करते करते एक हिंदूके मनमें रोष पैदा हो, यह स्वाभाविक है।

खैर. शामको चर्चाके समय नगरसे बहुतसे सज्जन आये। उनमेंसे बहुतसे ऐसे थे जो कलके व्याख्यानमें नहीं आसके थे। संख्या भी काफी थी। इसलिये मैंने अपने विचारोंके विषयमें एक छोटा सा व्याख्यान ही दे डाला। बादमें प्रश्न पूछनेको कहा। विचार सुनकर लोग प्रसन्न हुये, परन्तु उनमेंसे बहुतोंको, मुसलमानोंके विषयमें जो मेरा रुख है, वह कुछ कम पसंद आया—इसलिये नहीं कि मेरी बातें उन्हें अच्छी नहीं मालूम होती थीं, किन्तु इसलिये कि बार्शीके चारों तरफ़ निजाम स्टेट होनेसे मुसलमानोंके अत्याचारोंका उन्हें बहुतसा परिचय प्राप्त था। इससे मानसिक प्रतिक्रिया होरही थी। इसलिये उनने जो मुझसे कहा उससे मेरे ऊपर अविश्वास नहीं मालूम होता था, किन्तु उनके दिलका दुःख मालूम होता था। उनकी इस मनोवृत्तिको समझकर मैंने समझावटके तौर पर कहा —

"मुसलमानोंके द्वारा हिन्दू-समाजपर जहाँ कहीं अत्याचार हो रहे हैं, उनका कारण इसलाम नहीं किन्तु अन्य कारण हैं। जैसेकि—

१—मुसलमानोंने पिछले दिनों भारतपर शासन किया है। शासक लोग शासितोंपर कुछ न कुछ ज्यादती और विषमताका व्यवहार किया करते हैं, जो कि धीरे धीरे रिवाजमें परिणत हो जाते हैं।

जैसे मसजिदके आगे बाजा बजानेका प्रश्न है, भारतके बाहर मुसलमानी स्थानोंपर इस बातको कोई नहीं पूछता, परन्तु यहाँ आये दिन इसी पर सिर-फुटौवल हो जाती है। यह मुसलमानोंका अन्याय है, इसलाम का नहीं।

२—आज जो मुसलमान हैं, वे कुछ अरब से नहीं आये हैं। १००में से ६६ मुसलमानोंमें हिन्दू रक्त बह रहा है। हमारे सामाजिक अत्याचारोंने जिन लोगोंको हिन्दूपन छोड़नेके लिये विवश किया है, वे हमारे कट्टर शत्रु हों, इसमें क्या आश्चर्य ? जो मनुष्य जहाँसे तिरस्कृत होकर या असन्तुष्ट होकर भागता है, वह वहाँका बड़ासे बड़ा विरोधी होता है।

३—हिन्दू लोगोंमें से जो लोग मुसलमान बने, उनमें इनेगिने आदमियोंको छोड़कर बाकी सब ऐसे थे जिन्हें संस्कारी नहीं कह सकते। समाजका नीचा भाग ही वहाँ गया है। वह भाग तो हिन्दू समाजमें भी वैसा ही असभ्य है! वह मुसलमान होकर सभ्य कहाँसे बन जाता? आजकलके मुसलमानोंमे ऐसे ही अधिकांश हिन्दू हैं, इसलिये मुसलमान कौम अधिक संस्कारी नहीं है।

४—प्रत्येक समाजकी कुछ विशेषताएँ बनजाती हैं। मुसलमानोंमे भ्रातृप्रेम और संगठन अधिक है। यह एक बड़ीभारी शक्ति है। शक्ति पाकर थोड़ी बहुत ज्यादती लोग करने लगते हैं।

५—हिन्दुओंकी जो कमजोरियाँ हैं, उनके यहाँ स्त्रियोंके बन्धन और बहिष्कारकी प्रथा, पाचनशक्ति का अभाव आदि कुछ ऐसे कारण हैं, जिससे वे लुटते हैं।

६—एक मुख्य कारण यह है कि राजनीतिके दाँवपेंचोंके कारण गरीब हिन्दू मुसलमान लड़ाये जाते हैं, गुंडे उत्तेजित किये जाते हैं। पन्द्रह बीस वर्ष पहिले हिन्दू-मुसलमानोंमें नाममात्रको कहीं कभी झगड़े हुआ करते थे; परन्तु आजकल जहाँ देखो वहाँ भयङ्कर दंगे होजाया करते हैं, और राजनीतिके खिलाड़ी इससे अपनी पाँचों घी में करते हैं।

'खैर, एक बात तो ध्यानमें रखना ही चाहिये कि एक न एक दिन हिन्दू मुसलमानोंको एक होना ही पड़ेगा। एक दूसरेका सन्मान और प्रेम करना ही पड़ेगा। अन्यथा ये दोनों मनुष्यकी तरह कभी खड़े न हो सकेंगे। ऐसी अवस्थामें आत्मरक्षाके सिवाय अधिक वैर न करना पड़े, वह अच्छा। अगर हिन्दू, मुसलमान गुंडोंका दमन करें किन्तु सारी मुसलमान समाजको गाली न दें, न इसलाम की निंदा करें तो कोई हानि न होगी। इसलामकी प्रशंसा करके भी मुसलमानोंकी निन्दा की जा सकती है, उनसे लड़ा जा सकता है। बल्कि उनसे यह क्यों न कहा जाय कि-'तुम लोग ऐसी नीचता दिखाते हो, इसलिये वास्तवमें मुसलमान नहीं हो; क्योंकि इसलाम ऐसी नीचताका पाठ नहीं पढ़ाता' ? मुसलमानोंका इस प्रकारसे विरोध करना, इसलाम की निंदाके साथ किये गये विरोधकी अपेक्षा अधिक असरकारी होगा।

जहाँतक मैं समझ सका, मेरे इन शब्दोंका अच्छा ही असर हुआ, और लोगोंको कुछ बातें जँचने लगीं।

साढ़े चार बजेसे सत्यसमाजके सदस्योंकी बैठक हुई। सत्यसमाजके प्रत्येक सदस्य और शाखाको क्या क्या करना चाहिये, इसपर मैंने कुछ प्रकाश डाला। प्रति पन्द्रहवें दिन बैठक करनेकी प्रेरणा भी की।

कुछ नये सदस्य भी बने। यहाँकी शाखा कुछ कार्य कर दिखायगी, ऐसी आशा है। और बहुत सम्भव है कि सेठ चुन्नीलालजी आदिके प्रयत्नसे प्रांतीय शाखा भी खुल जाय। अभी तो इस प्रांतमें तीन ही शाखाएँ हैं, परन्तु दस शाखाएँ भी जल्दी ही बन सकती हैं

इसीदिन शामकी गाड़ीसे चलकर मैं ७ तारीखके सुबह मुंबई आगया।

जैन कॉलिज।

[लेखक—श्रीमान् डॉक्टर निहालकरणजी सेठी डी० ऐसमी० आगरा।]

गत १६ अक्टूबरके "सत्य-संदेश" में श्रद्धेय अजितप्रसादजीका नोट जैन-कॉलिजके विषयमें पढ़कर मुझे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। यह तो मैं जानता था कि आजसे नहीं, कमसे कम २०-२५ वर्षसे श्री० अजितप्रसादजी तथा अन्य कई महानुभाव जैन कॉलिजकी स्थापनाके स्वप्न देखा करते हैं। किन्तु मैं यह नहीं जानता था कि वे इस स्वप्नके आनन्दमें इतने लीन होगये हैं कि जैन कॉलिज के पक्षमें जिन दलीलोंका प्रयोग वे करते हैं, उन पर थोड़ासा विचार करनेका भी समय उन्हें नहीं मिलता।

उक्त नोटमें जैन कॉलिजका जो लाभ विस्तारपूर्वक बतलाया गया है, वह संक्षेपमें यह है कि घरकी दूकानपर बैठकर लड़का शीघ्रही "रहस्य की बातें और सफलताके ढंग जानकर व्यापार-चतुर हो सकता है"—किन्तु दूसरेकी दूकान पर बैठकर नहीं। बात बिलकुल सच है; किन्तु कॉलिजकी शिक्षापर यह लागू हो सकती है या नहीं, यह विचारनेकी आवश्यकता है। साधारणसे साधारण शिक्षित मनुष्य भी जानता है कि कॉलिजों में किसी प्रकारकी व्यापारिक अथवा औद्योगिक शिक्षा नहीं दी जाती, कि जिसके "रहस्य" छुपा कर रखे जा सकें। जो शिक्षा वहाँ दी जाती है वह साधारण दृष्टिसे लड़कोंकी मानसिक उन्नति मात्रका साधन है, और दूसरी दृष्टिसे सरकारी नौकरियोंके लिये उम्मीदवारोंकी संख्या बढ़ानेके लिये ही प्रचलित है। यही कारण है कि आज समस्त भारतमें कार्यहीन शिक्षित नवयुवकोंकी संख्या अत्यन्त भयानक होगई है। इस शिक्षामें क्या रहस्य छिपे हैं, और जैन कॉलिजमें किस प्रकार ये रहस्य विद्यार्थियों के सामने खोलकर रख दिये जायँगे, यह समझना साधारण बुद्धिका काम नहीं जान पड़ता।

जो बात अंगरेजी जैन-गजटमें दिखाई गई है कि विदेशोंमें और विदेशियों-द्वारा संचालित कारखानोंमें हिंदुस्थानी विद्यार्थीको असली रहस्य नहीं बतलाये जाते, वह बिलकुल ठीक है। और इसका इलाज तबही होसकता है, जब हम अपने ही देशमें, अपनेही देशवासियोंके संचालनमें विविध प्रकारके कारखाने खोलें। इस प्रश्नसे कॉलिजों का कोई सम्बंध नहीं है। किसीभी देशमें औद्योगिक रहस्य कॉलिजोंमें नहीं सिखाये जाते—विशेषकर साधारण आर्ट्स या साइन्स कॉलिजों में। जहाँ तक मेरा अनुमान है, अभीतक किसीने यह प्रस्ताव नहीं किया है कि जैन कॉलिज औद्योगिक कॉलिज होगा। श्री० अजितप्रसादजी आदि का लक्ष्य केवल साधारण आर्ट्स कॉलिज ही है।

दूसरी बात जो जैन-गजटके उक्त उद्धरणमें स्पष्ट है, वह है देश और विदेश का प्रश्न। श्री० अजितप्रसादजीने उसे कैसे जैन और अजैनका प्रश्न समझ लिया, यह अवश्य ही आश्चर्यकी बात है! भारतवर्षमें और अन्य देशोंमें आर्थिक खींचतान का होना स्वाभाविक है। इस समय संसारभरके देश व्यापारिक देश हैं। सब यह चाहते हैं कि उनके देशकी बनी वस्तुएँ विदेशोंमें जाकर अधिकसे अधिक मूल्यपर बिक सकें। इस ही लिये आज संसार भरमें अशान्ति है, और प्रत्येक देश प्रत्येक दूसरे देशसे लड़ने भगड़नेको प्रस्तुत है। पिछली शताब्दीका भारतीय इतिहास भी इसही प्रश्नसे ओतप्रोत है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति हम ऐ

औद्योगिक उत्थानमें बाधक है। मैं समझता हूँ कि भारतका बच्चा बच्चा इस बातको जानता है। किन्तु आज यह पहिली बार ही सुन रहा हूँ कि इस प्रश्नका सम्बंध विदेशियोंसे नहीं, विधर्मियों से भी है। यह सम्भव है कि जब भारत स्वतन्त्रता प्राप्त करले और औद्योगिक उन्नतिके शिखर पर चढ़ जाय, तब एक धर्मके अनुयायी दूसरे धर्मके लोगोंको अपने कारखानों में प्रवेश न करने दें। किन्तु इस समय न तो जैनोंके पास कारखाने हैं, और न अजैनोंके पास। कौन किसका बहिष्कार करेगा? यह तो वही बात हुई कि स्वप्नजगत्‌के राज्य के लिये भाई-भाईमें घमासान युद्ध। पहिले भाई भाई मिलकर राज्य तो प्राप्त करलो। राज्य तो मिला नहीं और बँटवारेके लिये युद्ध प्रारम्भ कर दिया! यह कौनसी अक्लमन्दीकी बात है!

इस सम्बन्धमें मैं यह भी कहदेना चाहता हूँ कि इस समयकी प्रगति ऐसी है कि जब भारतको स्वतन्त्रता मिलेगी तब धार्मिक विरोध रहेगा ही नहीं। सचतो यों है कि धार्मिक और साम्प्रदायिक वैमनस्य ही इस समय भारतकी उन्नतिमें सबसे अधिक बाधक है। अभी यह धार्मिक वैमनस्य केवल हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य ही है; किन्तु हमारे अदूरदर्शी नेता इस प्रश्नको जैन-अजैनका भी रूप देना चाहते हैं। तबही तो जब तब वे जैन और अजैनके पार्थक्य पर [illegible] अधिक ज़ोर देते रहते हैं। धार्मिक दर्शन और आचारमें कुछ पार्थक्य अवश्य है, किंतु सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक बातोंमें पार्थक्य देखनेवालोंकी आँखें अवश्य ही विकृत हैं। राजनैतिक क्षेत्रमें पृथक् निर्वाचन और शिक्षाके कार्यमें भी अपनी और पराई दूकानका प्रश्न सर्वथा कृत्रिम प्रश्न है। न तो सर्वसाधारण जैन जनता इस पार्थक्य को चाहती है, और न अभीतक हिन्दू-समाज ही जैनोंको गैर समझता है। हाँ, यदि इन साम्प्रदायिकता-प्रिय लोगोंके धोखे में जैनसमाज आगया तो अवश्य ही हिन्दू भी हमें गैर समझने लगेंगे, और तब हमारी जो दुर्दशा होगी उसका अंदाजा लगाना कठिन है।

सम्भवतः ये लोग समझते हों कि जिस प्रकार साम्प्रदायिकताकी सहायतासे मुसलमानोंने राजनैतिक क्षेत्रमें अपनी जनसंख्यासे कहीं अधिक अधिकार प्राप्त कर लिये हैं, उसही प्रकार जैनी लोग भी कर लेंगे। यदि ऐसा है तो मुझे कहना पड़ेगा कि वे बड़ी भूल करते हैं। क्या वे समझते हैं कि मुसलमानोंको राजनैतिक स्थान अपनी शक्तिसे मिला है? क्या वे नहीं जानते कि उनको कितनी प्रबल सहायता प्राप्त है? क्या वे भी उस प्रबल सहायताको प्राप्त करने के स्वप्न देखते हैं? क्या वे नहीं जानते कि मुट्ठीभर जैनियोंकी राजनैतिक क्षेत्रमें कोई गिनती नहीं हो सकती? उनकी सहायता अथवा उनके विरोध से किसीका कुछ बनता बिगड़ता नहीं। हाँ, अपने मिथ्या पार्थक्यका ढोल पीटकर वे अन्य समाजों को अपने ऊपर कुपित अवश्य कर सकते हैं।

जैन कॉलिजके प्रश्नपर लिखते समय मैंने साम्प्रदायिकताके विषयमें इतना विस्तारसे यों लिखा है कि वास्तवमें जैन कॉलिजका प्रश्न इस साम्प्रदायिकताके संकीर्ण विचार ही पर निर्भर है। पृथक् कॉलिज खोलनेके पक्षमें केवल एक ही दलील दी गई है। उसका निराकरण मैं ऊपर कर चुका हूँ। इसके बाद बिना किसी दलीलके कहा गया है कि "जीवनका सवाल, देशका सवाल, धर्मका सवाल तब ही हल हो सकता है, जब जैन कॉलिज बन जावे!" क्यों और कैसे यह होगा, इस पर विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं समझी गई। सम्भवतः देशका सवाल केवल १२ लाख जैनोंका सवाल है, जो एक कॉलिजके २०० या ३०० विद्यार्थियों के द्वारा हल हो जायगा! ३५ करोड़ अन्य भारतवासी

सम्भवतः पशु अथवा चींटियोंके समुदाय हैं। उनकी शिक्षा, उनके दैनिक चारित्र और उनके आचार-विचारका असर देशपर पड़ ही क्या सकता है? है तो यह बड़ा सस्ता सौदा। परन्तु खेद यही है कि इन मनुष्योत्तम जैन नेताओंके २५ वर्षके अथक परिश्रमसे भी यह छोटासा कार्य सम्पन्न न हो सका!

कहा जाता है कि "जैन कॉलिजका स्थान दुनियाँमें वैसा ही होगा जैसा कि ऑक्सफ़र्ड और केम्ब्रिजका।" यद्यपि आशावादी होना बहुत अच्छा है, किन्तु वास्तविकताकी ओर आँखें मूँद लेना भी अनुचित है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि इस समय भारतमें कोई भी ऐसी संस्था है जो ऑक्सफ़र्ड या केम्ब्रिजका मुक़ाबिला कर सके? यदि नहीं तो क्यों? क्या किसी संस्थामें इतना रुपया नहीं है जितना कि जैन कॉलिजके लिये जमा हो सकेगा? क्या किसी अन्य समाजमें कोई ऐसे विद्वान् नहीं हैं जैसे जैन समाजमें उपलब्ध हैं? क्या दूसरे समाजोंने कभी इतना उच्च आदर्श ही अपने सामने नहीं रखा? क्या जो विघ्न-बाधायें दूसरी संस्थाओंकी उन्नतिको रोके हुए हैं, वे जैन कॉलिजपर लागू नहीं हैं? क्या जिस क़ानून के मातहत रहकर और संस्थायें काम करती हैं, उनसे जैन कॉलिज मुक्त रहेगा? हाँ, यह हो सकता है कि जैन समाजमें जैसे बुद्धिमान संचालक मौजूद हैं, वैसे शायद और कहीं उपलब्ध न हों। परन्तु यह भूल न जाना चाहिये कि ऑक्सफ़र्ड और केम्ब्रिजका संसारमें आज जो स्थान है, वह ३०० वर्ष के परिश्रमका फल है। भारत तो भारत, यूरोप और अमेरिकाकी अन्य नई यूनिवर्सिटियाँ भी उनका मुक़ाबिला करनेमें असमर्थ रही हैं। और आप तो युनिवर्सिटी भी स्थापित नहीं करना चाहते। आप तो चाहते हैं एक कॉलिज जो किसी अन्य युनिवर्सिटीके मातहत रह कर अपना कार्य करेगा। वह किस प्रकार उक्त युनिवर्सिटी से अधिक गौरव प्राप्त कर लेगा, यह साधारण बुद्धिसे बाहिरकी बात है।

श्री० अजितप्रसादजी ठीक कहते हैं कि "आजकल युनिवर्सिटी खड़ी करनेका चसका पड़ गया है" और यह अच्छी बात नहीं है। सम्भवतः इसहीसे जैन-युनिवर्सिटीका प्रस्ताव उपस्थित नहीं किया गया है। किन्तु क्या जैन-कॉलिज खोलनेका चसका कुछ इससे कम है? आप कहते हैं कि "अलग अलग विश्वविद्यालय स्थापित करके लोगोंने अपने और अपने नातेदारों और मित्रोंके लिये लम्बे वेतन और आरामका प्रबन्ध कर लिया है।" सब संस्थाओं के लिये यह बात कहाँतक ठीक है, यह रहस्य तो शायद आपही को ज्ञात हो। किन्तु भारतवर्षमें एक हिन्दू और एक मुस्लिम युनिवर्सिटीको छोड़कर प्रायः अन्य सब युनिवर्सिटियाँ सार्वजनिक हैं—प्रान्तीय सरकार अथवा देशी रजवाड़ोंके द्वारा ये स्थापित हुई हैं। ये किसी व्यक्ति-विशेषके लाभके लिये स्थापित हुई हों, यह आसानीसे समझमें नहीं आ सकता। और बनारस अथवा अलीगढ़के संस्थापकोंके लिये यह कहना कि उन्होंने "अपने नातेदारों और मित्रोंके लिये लम्बे वेतन और आराम का प्रबन्ध कर लिया है।" श्री अजितप्रसादजी जैसे लब्धप्रतिष्ठ व्यक्तिके लिये भी छोटा मुँह बड़ी बात होगी। इसके अतिरिक्त इस बातकी क्या गर्रंटी है कि जैन कॉलिजमें ऐसा न होगा? मेरा तो पूर्ण विश्वास है कि चाहे अन्य किसी संस्थामें हो या न हो, जैन कॉलिजमें तो अवश्य ही यह दोष आजायगा।

जिस मानसिक संकीर्णता और कषायवृद्धिकी शिकायत आपने जैन-महाविद्यालयोंके विषयमें की है, उससे जैन कॉलिज बच नहीं सकता। इस संकीर्णताको मिटानेका एक मात्र उपाय यह है कि हम दूस-

ों के साथ मिल जुल कर रहें, उनकी बात सुनें और समझें, उनके साथ सहानुभूति रखें। पृथक् कालिजमें भेजने से हमारे जैन विद्यार्थी इस मेल-जोलसे दूर कर दिये जायँगे। उन्हें दूसरोंकी बातें सुननेका अवसर ही नहीं मिलेगा, और इसलिये सहानुभूति उत्पन्न ही न होसकेगी। जिस दोषको मिटानेके लिये आपने महाविद्यालयोंके स्थानमें कालिजकी स्थापनाका प्रस्ताव किया है, वह तो मिट न सकेगा; शायद कुछ बढ़ ही जायगा।

इस सम्बंधमें श्री० जमनाप्रसादजीका कार्य अत्यन्त सराहनीय है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि जैन समाजमें ऊँचे दरजेकी शिक्षाकी अत्यन्त आवश्यकता है। और इस आवश्यकताको पूर्ण करने का जो उपाय श्री० जमनाप्रसादजीने ग्रहण किया है, वह बहुत अच्छा है। साम्प्रदायिकता और संकीर्णता उत्पन्न किये बिनाही वे योग्य विद्यार्थियों को ऊँचीसे ऊँची शिक्षा प्राप्त करनेमें सहायता दे सकेंगे, इसमें कुछभी संदेह नहीं है। किन्तु इस स्कॉलरशिपके वितरणमें खूब उदारतासे काम लेना चाहिये। सबसे योग्य विद्यार्थियों ही को स्कॉलरशिप मिलना चाहिये और उनपर यह शर्त न होना चाहिये कि वे अमुक कॉलिज ही में पढ़ें। जिस विषयकी जहाँ सबसे अच्छी शिक्षा मिल सके वहीं जानेके लिये विद्यार्थियोंको स्वतंत्रता होना चाहिये। मुझे पूर्ण विश्वास है कि श्री जमनाप्रसादजी द्वारा स्थापित स्कॉलरशिप-फंड ऐसा ही करेगा।

एक साधारण अच्छे कॉलिजके चलानेमें कम से कम एक लाख रुपये प्रतिवर्षका खर्च है। कालिजमें शायद २०० या ३०० विद्यार्थीसे अधिक न रहेंगे। उनमें उच्च शिक्षाके विद्यार्थी संभवतः १५-२० से अधिक न होंगे। अतः "नातेदारों और मित्रों" के लाभको छोड़कर यदि विद्यार्थियोंका हिसाब लगाया जाय तो यही कहना होगा कि केवल १५-२० विद्यार्थियों ही का उपकार हुआ। और उनके लिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें सर्वोत्तम शिक्षकोंके पास पढ़नेका अवसर दिया जासकेगा। विपरीत इसके, यदि यह एकलाख रुपया प्रतिवर्ष स्कॉलरशिपमें खर्च हो तो उससे ५०) महीनेकी स्कॉलरशिप १६० से ऊपर विद्यार्थियोंको मिल सकती है। आप चाहें तो कई विद्यार्थियोंको विदेश तक भेजा जा सकता है। स्पष्ट ही है कि इस प्रकार जैन समाजमें उच्च शिक्षा की उन्नति कहीं अधिक हो सकती है।

श्री० अजितप्रसादजीने आधुनिक कॉलिजोंकी शिक्षामें जो दोष बतलाये हैं, उनमेसे अधिकांश दोष वास्तवमें मौजूद हैं। उनके अतिरिक्त और भी अनेक दोष बतलाये जा सकते हैं। इनको दूर करनेका उपाय ढूँढ निकालना इस समय वास्तवमें बड़े महत्वका काम होगा। यदि कोई महानुभाव वह उपाय बता सकें तो अवश्य ही इस देशका भारी उपकार हो। दोष बता देना आसान है, परन्तु जिन परिस्थितियोंके कारण ये दोष उत्पन्न हुए हैं, उनको दूर कर देना उतना आसान नहीं है। संभवतः राजनैतिक प्रश्नके हल हुए बिना शिक्षापद्धतिमें सुधार हो ही नहीं सकता। जो भी हो, किन्तु इन दोषोंको दिखाकर आप अन्य कॉलिजोंके जैसा ही और एक नया कॉलिज खोलनेके प्रस्तावकी पुष्टि नहीं कर सकते। आपका प्रस्ताव तो किसी ऐसी संस्था के खोलने का होना चाहिये कि जिसमें ये दोष न हों। यदि वास्तव में आपने कोई ऐसा स्कीम तैयार किया हो जो इन दोषोंसे मुक्त हो तो उसे जनताके सामने उपस्थित करिये। जैन समाज ही नहीं, समस्त भारत आपको धन्यवाद देगा। यदि आपका स्कीम केवल सैद्धान्तिक नहीं वरन् कार्यमें परिणत करनेके योग्य होगा तो विश्वास रखिये कि देशके समस्त कॉलिज

उसे स्वीकार करेंगे। आधुनिक शिक्षाप्रणालीसे सन्तुष्ट कोई भी नहीं है। बड़ी आतुरतासे उसमें सुधार करनेके उपाय सोचे जा रहे हैं। क्यों नहीं आप अपने स्कीमको प्रगट करके इस शुभ कार्यमें सहायता करते ? किन्तु यदि ऐसा कोई स्कीम आपके पास नहीं है तो फिर व्यर्थ ही एक नया कॉलिज खोलकर इस दोषपूर्ण शिक्षापद्धतिकी पुष्टि क्यों करना चाहते हैं ?

अन्तमें इन पार्थक्य और साम्प्रदायिकतापूर्ण मनोवृत्ति वाले महानुभावोंसे विनीत प्रार्थना है कि ज़रा आँखें खोलकर देशकी वर्तमान दुर्दशाका निरीक्षण करें। उसके दुःखमय इतिहासका थोड़ा शुद्ध मन से अध्ययन करें। उसके पतनकी करुण कहानी अपने दयापूर्ण हृदयको सुनावें। निष्पक्ष होकर देश की हीन दशाके कारणोंकी जाँच करें। तब आप देखेंगे कि आपसकी फूट ने हमारा कितना नुकसान किया है! साम्प्रदायिकताने हमारे जीवनको कैसा खोखला बना दिया है! धार्मिक दंभने हमें कितना अधार्मिक और असहिष्णु बना दिया है! जिन कारणों से भारतका समाज छिन्नभिन्न होगया, क्या उन्हीं कारणोंको हम अब भी पुष्ट करते रहेंगे ? आप समझते हैं कि आपके इन साम्प्रदायिकतापूर्ण कार्यों से जैनधर्मकी पुष्टि होती है। किन्तु याद रखिये कि जैनधर्म द्वेष नहीं सिखाता, स्वार्थकी शिक्षा नहीं देता। वह तो दूसरोंके लिये मर मिटनेका उपदेश देता है। उसही धर्मके नामपर साम्प्रदायिकता, पार्थक्य और देशद्रोहकी बात कहना जैनधर्मपर कलङ्क लगाना है। मिलकर काम न कर सकने का दोषतो हमारी नस नसमें घुसा है। उसके लिये और उपदेशकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है इस बातकी कि, अन्य देशोंकी भाँति हम भी आपसके भेदभावको भुला दें और प्रत्येक धर्म और प्रत्येक जातिके मनुष्य परस्पर भाई भाईका सा बर्ताव रक्खें, एक दूसरेको प्रत्येक कार्यमें सहायता पहुँचावें। यह तबही हो सकेगा जब हममें यह भाव उत्पन्न हो जाय कि सामाजिक और राजनैतिक मामलोंमें न हम हिन्दू हैं न मुसलमान, न जैन हैं, न ईसाई। हम हैं केवल भारतवासी। क्या जैन कॉलिज इस भावकी उत्पत्तिमें सहायता कर सकता है ?

सर्वधर्मामृत।

[३]

अर्जुन! लोकसंग्रहकी इच्छा रखनेवाले ज्ञानी पुरुषको आसक्ति छोड़कर उसीप्रकार काम करना चाहिये जिस प्रकार कि व्यावहारिक कर्ममें आसक्त अज्ञानी पुरुष करते हैं। (अर्थात् दुनियाँके सारे काम तो दोनोंही करेंगे परन्तु उसमें अन्तर आसक्ति-अनासक्तिका रहेगा)। ३-२५ जिसके सारे कार्य कर्तव्यकी दृष्टिसे होते हैं, स्वार्थकी दृष्टिसे नहीं, उसके कर्म ज्ञानाग्निसे दग्ध होजाते हैं। ऐसे ही मनुष्यको विद्वान लोग पंडित कहते हैं। ४-१९। कर्मफलकी आसक्ति छोड़कर जो सदा तृप्त और निराश्रय है (अर्थात् जो पुरुष कर्मफलके साधनकी आश्रयभूत ऐसी बुद्धि नहीं रखता कि अमुक स्वार्थके लिये अमुक काम करता हूँ) कहना चाहिये कि वह कर्म करने पर भी कुछ नहीं करता। ४-२०। फलकी वासना छोड़ने वाला, चित्तका नियमन करने वाला और सर्वसंगसे मुक्त पुरुष, शरीरसे अगर कुछ काम करे तो इसीसे वह कर्मबंध नहीं करता। ४-२१

—गीता (वैदिकधर्म)

जो नम्र, अचपल, सरल, अकुतूहली, अपनी छोटीसे छोटी भूलको भी दूर करने वाला, क्रोध-वर्द्धक बातोंसे अलग रहने वाला, सबके साथ मित्रता रखने वाला, विद्वान् होकर के भी अभिमान न करने वाला, पापकी उपेक्षा न करनेवाला, मित्रों पर क्रोध न करने वाला, एकान्तमें भी अप्रिय मित्रों

की बुराई न करने वाला, झगड़ोंसे रहित, अपने कुल और संयमको न लजाने वाला है, वह विनीत-ज्ञानी-सुपात्र है।

११—१०, ११, १२, १३, उत्तराध्ययन (जैनधर्म)

धर्ममें जागते रहना जीवनका कारण है और आलस्य करना मौतका कारण है। २-१। धर्ममें आलस्य मतकरो, विषय भोगोंमें आसक्त मत बनो। आलस्य छोड़कर धर्ममें तन्मय होनेसे बहुत आनन्द मिलता है। २-७। जैसे मनोहर फूल सुगंध बिना अच्छा नहीं समझा जाता, उसी प्रकार आचरणहीन वचन अच्छे नहीं समझे जाते। ४—८ जिस प्रकार चतुर माली अच्छे अच्छे फूलोंको चुनकर माला बना लेता है, उसी प्रकार मनुष्यको अच्छे अच्छे कार्योंका संग्रह करना चाहिये। ४-१०। चन्दन तथा सुगंधित पुष्पोंकी गन्ध उसी दिशा में बहती है जिस दिशामें हवा बहती है, परन्तु सज्जनों का यश विपरीत दिशामें भी बहता है। ४-११।

—धम्मपद (बौद्धधर्म)

पापके निवारणके लिये धर्मकार्योंका बदला मुझे मिले। धर्मके प्रेमके लिये सभी सुमार्गगामियों को, सभी सज्जनोंको, पृथ्वीकी मुटाईके बराबर, नदीकी लम्बाईके बराबर, सूर्यके तेजके बराबर पवित्रता मिले, सदाचरणी मनुष्य चिरकाल तक जीवित रहे।-केरफेह् मोज्द।

—आवस्ता (पारसीधर्म)

तुमने सुना है कि कहागया था कि व्यभिचार न करना। पर मैं तुमसे कहता हूँ कि जो कोई बुरे मनसे किसी स्त्रीको देखे, वह अपने मनमें उससे व्यभिचार करचुका। इसलिये यदि तेरी दाहिनी आँख तुझसे यह पाप करावे तो तू उसे निकालकर फेंकदे। क्योंकि तेरे लिये यह भला है कि तेरा एक अंग नाश होजाय परन्तु सारा शरीर नरकमें डालनेसे बच जाय। यदि तेरा दाहिना हाथ पाप करावे तो उसे काटकर फेंकदे क्योंकि तेरे लिये यह भला है कि तेरा एक अंग नाश होजाय, किन्तु सारा शरीर नरकमें न जाय।

—मत्ती ५— बाइबल (ईसाई धर्म)

तुम परमेश्वरके मार्गमें खर्च करो! अपने हाथसे अपने को क्षुद्र मत बनाओ। दूसरोंकी भलाई करो! दूसरोंकी भलाई करनेवाले पर परमेश्वर प्रेम रखता है। २—१९५।

हज (मक्काकी यात्रा) के वस्त्र पहिननेके बाद अंत तक विषयभोगकी बात भी न करना चाहिये, न टंटा बखेड़ाकी बात करना चाहिये। किसीसे माँगना नहीं, चोरी करना नहीं। २-१९७। कुरान।

[हज करनेके नियमोंसे भी मालूम होता है कि मुहम्मद साहिब लोगोंको अहिंसा आदिका पाठ व्यवहार्य रूपमें पढ़ाना चाहते थे। मक्का के आसपास चारों तरफ़ क़िलेबन्दी कीगई है। उस हदमें शिकार करने की और वनस्पति तोड़ने तककी मनाई की गई है। इससे मालूम होता है कि म० मुहम्मद मुसलमानोंसे सूक्ष्म अहिंसा का भी पालन कराना चाहते थे। परन्तु अरबके लोगोंसे जीवनभरके लिये उस अहिंसाका पालन कराना अशक्य था, इसलिये ऐसे खास अवसरोंपर ही हिंसाकी मनाई की जा सकी, तथा और भी त्यागका पाठ पढ़ाया जासका। और भी अनेक कामों की मनाई की गई—जैसे सिले हुये कपड़े पहिनना (स्त्रियोंको चोली पहिननेकी आज्ञा थी), सिर ढकना, इत्र लगाना, जूँ मारना, शिकार करना, सिर मुड़ाना, नख या बाल काटना, काम विषयभोग करना, केशरियाँ वस्त्र पहिनना, आदि। इससे मालूम होता है कि मुहम्मद साहिब त्याग-वैराग्य भी आवश्यक समझते थे। हजके समय स्त्रियोंको बुरका ओढ़नेकी मनाई है। इससे मालूम होता है

सत्यसमाज पर आक्षेप।

ले०—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा।

"सनातन जैन" के मई सन् १९३५ ई०के अङ्क में एक "सत्यसमाजकी पोल" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसमें लेखकने सत्यसमाज पर कई आक्षेप किये हैं, और साथ ही उनने "जघन्य वासना", "कूटनीति" आदि सभ्य शब्दों द्वारा उन आक्षेपोंको सुन्दर भी बना दिया है। खैर, इस स्थल पर संक्षेपमें उन आक्षेपोंकी निस्सारताका दिग्दर्शन कराया जाता है:—

लेखकने अपने आक्षेपयुक्त वक्तव्यके समर्थनमें "अनेकान्त" में प्रकाशित श्रीमान् पं० दरबारीलालजीके एक लेखको साक्षीरूपमें उपस्थित किया है। प्रथम तो उस लेखसे लेखक का मनोरथ सिद्ध नहीं होता, और यदि होता भी तो उसका मूल्य 'नहीं' के बराबर ही होता, क्योंकि पंडितजीके सभी पुराने विचार आज प्रामाणिक नहीं हैं। उनके पुराने लेखों की सहायतासे उनके आधुनिक विचारों व कृत्योंका विरोध करना बहुत हास्यास्पद है। खैर, यहाँ यह देखना है कि उस उद्धृत लेखसे आक्षेपकका उद्देश पूरा होता है या नहीं ?

उस लेखमें पंडितजीने लिखा है कि "भगवान *महावीरके जमानेमें जैनधर्मके अनेकान्तका भी ऐसाही* रूप था। वास्तविक जैनधर्म कोई सम्प्रदाय नहीं है, वह तो अनेक सम्प्रदायोंका समन्वयरूप एक महत्तम सम्प्रदाय या धर्म है।" स्पष्ट है कि पंडितजी की रायमें भगवान महावीरके समयमें जैनधर्म एक व्यापक शब्द था, वह अनेक सम्प्रदायोंका समन्वयरूप एक महत्तम सम्प्रदाय या धर्म था। परन्तु दुर्भाग्यसे कुछ काल पश्चात् वह विकृत व दूषित होनेलगा और नित्य प्रतिदिन उसका विकार बढ़ता ही गया। उस विकारकी प्रचुरता व प्राचीनताके कारण आज शुद्ध विशाल व अनेकान्तवादी वास्तविक जैनधर्म विकृत संकीर्ण व एकान्तवादी बन गया है; इतना ही नहीं, वह विकृत होनेके साथ साथ अखंड न रहकर टुकड़े टुकड़े होगया है। फलतः जैन शब्द भी एक संकुचित शब्द बन गया है और अब जैनेतर विशाल जगत्के लिये उसमें कुछ भी आकर्षण नहीं है, जिसके बूतेपर कोई विशाल व सर्वोपयोगी स्कीम कार्यरूपमें परिणत की जा सके। वास्तव में सत्यसमाजकी स्थापना वास्तविक जैनधर्म का पुनरुत्थान ही है क्योंकि वह स्पष्टतः अनेक सम्प्रदायोंका समन्वयरूप एक सम्प्रदाय या धर्म है। हाँ, उसपर "जैनधर्म" शब्दकी छाप न होकर 'सत्यसमाज' शब्दकी छाप है। भगवान महावीरके जमाने में जैन शब्द साम्प्रदायिकताका द्योतक नहीं था। इसलिये वीर प्रभुने उसे अपनाया, अन्यथा वे किसी और शब्दको अपनाते। उन्हें किसी शब्द विशेष से मोह व घृणा नहीं थी, और न उस समय सम्प्रदायातीत शब्दोंका अभाव ही था। आज परिस्थिति परिवर्तित है। द्रव्यक्षेत्रकालभावके दूषित प्रभावसे 'जैन' शब्द साम्प्रदायिकता-द्योतक बन गया है, उसकी सम्प्रदायातीतता नष्ट हो चुकी है, इसलिए हम क्यों न अनेकान्तात्मक सम्प्रदाय या धर्म (वास्तविक जैनधर्म) की बलिवेदी पर इस प्यारे शब्द का बलिदान करदें ? क्यों किसी सर्वोप-

कि मुहम्मद साहिब पर्दा प्रथाके भी विरोधी थे। इसलिये परिस्थितिके अनुसार उनने अमुक समय में उसे दूर रखनेकी आज्ञा दी थी —सत्यभक्त]

योगी सिद्धान्तपर 'जैन' शब्दकी छाप लगाकर उस का गला घोंटा जाय ? किसी सम्प्रदायातीत नामसे क्यों न उसे लोकव्यापी बनानेका प्रयत्न किया जाय ? जैनधर्मके विकारको दूर करनेके लिए तथा वास्तविक जैनधर्मको चमकाने के लिये क्यों न 'जैन' शब्दके मोहको चकनाचूर कर दिया जाय ? केवल नाममात्रके मोहमें पड़कर क्यों भगवान महावीरके प्राणप्यारे जैनधर्मको निष्प्राण रहने दिया जाय ?

"सत्य" शब्द सम्प्रदायातीत होनेसे सर्वप्रिय है, इसलिये उसका अवलम्बन ठीक व उचित है। यदि "जैन" शब्दकी तरह 'सत्य' शब्द साम्प्रदायिकता-सूचक होता तो उससे भी बचाव किया जाता। सत्य शब्द सम्प्रदायातीत है, यही उसकी विशेषता है और इसीलिये उसे अपनाया गया है। यदि कालकी क्रूरतासे भविष्यमे सत्यसमाज कभी विकृत व एकान्तवादी बन जायगा तो उस समय उसका जीर्णोद्धार करनेके हेतु 'सत्य' शब्द का त्याग करना अनिवार्य हो जायगा, क्योंकि उस समय 'सत्य' शब्दमें सम्प्रदायातीतता का आकर्षक गुण न रह जायगा, वह भी जैन, वैष्णव आदि शब्दों की तरह साम्प्रदायिक रंग में रँग जायगा। जिस तरह आज वास्तविक जैनधर्मका जीर्णोद्धार करनेके लिये 'जैन' शब्द जैसा हृदयग्राही शब्द कामका नहीं है, उस समय सत्यसमाज (वास्तविक जैनधर्म) का जीर्णोद्धार करने के लिये 'सत्य' शब्द जैसा प्यारा शब्द भी किसी कामका न रहेगा।

सत्यसमाज और भगवान महावीरके समय के जैनधर्ममें कोई सैद्धान्तिक (तात्त्विक) अंतर व विरोध नहीं है। दोनोंकी नींव एक है, दोनोंका प्राण एक है। बाह्य रूपमें जो अन्तर है उसका कारण है वातावरण और द्रव्यक्षेत्रकालभावकी विषमता, जिसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। निश्चय-नयकी दृष्टिसे दोनों एक हैं, व्यवहार-नय की दृष्टिसे अवश्य अंतर है, और होना चाहिये। इस बाह्य-अंतरमें नामका अंतर भी अंतर्गत है।

जो जैनधर्मके सच्चे प्रेमी हैं, जो भगवान महावीरके सच्चे भक्त हैं, उनके हृदयमें सत्यसमाज के प्रति प्रेम व भक्ति होना स्वाभाविक है। लेकिन यदि कोई सत्यसमाजके स्थानपर जैनत्वकी छाप चाहता है और बिना उस छापके वह उसका स्वागत नहीं करता है तो मैं कहूंगा कि वह जैनधर्मका सच्चा प्रेमी नहीं है, जैनधर्मके मूल तत्त्वका चाहने वाला नहीं है, तद्विषयक परिणामों और भावों के प्रचारका अभिलाषी नहीं है, किन्तु वह नाम की पूजा व ख्याति का इच्छुक है, धर्मके नामपर अहंकार का पुजारी है।

अब, ये आक्षेप उठते हैं कि "सत्यसमाज" नाम क्यों रक्खा गया ? प्रेमसमाज, अहिंसासमाज दया-समाज, या संगठनसमाज आदि नाम क्यों नहीं रक्खा गया ? भगवती अहिंसाकी आराधना के साथ भगवान सत्यकी अर्चनाका झगड़ा क्यों मोल लिया ? अस्तेय प्रभु, अपरिग्रहमहादेव और ब्रह्मचर्य परमेश्वरको आराध्य क्यों न बनाया ? क्या अहिंसामें सत्यका समावेश नहीं होजाता ? इत्यादि इत्यादि। मैं पूछता हूँ कि भगवती अहिंसाके साथ भगवान सत्यको आराध्य माननेसे क्या भगवती अहिंसाका आसन गिर गया ? क्या "सत्य" में कोई असात्विकता है ? क्या अहिंसामें ऐसी कोई सात्विकता है, जिससे सत्य वंचित है ? क्या सत्य इतना व्यापक नहीं है कि उसमें अहिंसाका समावेश होजाय ? यदि व्यापक दृष्टिसे देखा जाय तो सत्य अहिंसामें और अहिंसा सत्यमें पूर्णतया विराजमान है। ब्रह्मचर्याश्रम शब्दका अर्थ है ब्रह्मचर्यका आश्रम; लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि वह सत्य अहिंसा आदिसे बिलकुल सम्बन्धित नहीं है। ब्रह्मचर्य शब्दसे सत्यादिका फौरन संकेत हो जाता है और सबकी एक अखंड मूर्ति ब्रह्मचर्यके रूपमें सामने आजाती है। ठीक इसी प्रकार सत्य

शब्दसे भी अहिंसा आदि का अनुभवात्मक ज्ञान हो जाता है, पृथक् पृथक् नामकी आवश्यकता नहीं रह जाती। एक बात और है। 'अहिंसा' शब्द इतना लोकप्रिय व सर्वसम्मत नहीं है जितना 'सत्य' शब्द है। अहिंसा (Non killing) की अपेक्षा सत्य (Truth) का गुणगान कहीं अधिक हुआ है। बहुतसे तो 'अहिंसा' शब्दको पसन्द ही नहीं करते। कोई कोई तो भूलसे उसे कायरता समझ बैठते हैं, जिसका दोष हम अहिंसावादियों के सिरपर ही है, जिन्होंने अहिंसा तत्त्व का दुरुपयोग करनेमें कोई कसर नहीं उठा रखी है। व्यावहारिक दृष्टिसे भी देखनेपर सत्यको ही महत्त्व देना पड़ता है क्योंकि अहिंसा की अपेक्षा सत्यका पालन कहीं अधिक सम्भव है। फिर क्यों सत्यको अपनानेमें संकोच किया जाय?

मैं अहिंसा का परम प्रेमी हूं। जो सत्यका उपासक है वह अहिंसाका पुजारी न हो—यह हो नहीं सकता। लेकिन अहिंसा शब्दको पकड़कर सत्यके विरोध करनेका मैं विरोधी हूं। जो सत्य शब्दके आधारपर अहिंसाका विरोध करे, मुझे उससे भी विरोध है। सत्य और अहिंसा एक अखण्ड तत्त्वके दो पहलू हैं। दोनोंका मिलन एक दूसरेके गौरवको बढ़ाता है। भगवान् सत्य और भगवती अहिंसा, दोनोंको पूजनेमें किसीकी अवहेलना तथा निरादर नहीं है, बल्कि इसमें दोनों का अधिकसे अधिक सम्मान है, आदर है।

खास बात यह है कि सत्यसमाज सत्यको भगवान सत्यके रूपमें पिता और अहिंसाको भगवती अहिंसाके रूपमें माता मानकर अहिंसाका गौरव बढ़ाता ही है, क्योंकि पितासे माताका आसन उच्च होता है। पुत्र मातासे जितना प्रेम करता है, उतना पितासे नहीं। इसी तरह सत्यसमाज भी सत्य से अहिंसाको अधिक मानता है। लेकिन साधारण व्यवहार यह है कि पिताके नामपर पुत्रका नाम रखा जाता है, इसलिये सत्यसमाजका नाम भी भगवान सत्यके नामपर रखा गया है। इस व्यवहारपालनसे माताके आदर में कमी नहीं आ सकती।

सत्यसमाजका नाम "सत्समाज" न रखकर यदि कुछ और रक्खा जाता तो भी आक्षेप करने वाले आक्षेप करनेसे नहीं चूकते। नाममात्र पर आक्षेप करना कतई निःसार है। यदि जरा देरके लिये 'सत्यसमाज' का नाम 'क' रख लिया जाय तो आक्षेपक महोदय बतलाएँ कि सत्यसमाजका क्या घिस जायगा, और उन्हें तथा अन्य विरोधियोंको क्या मिल जायगा? मैं दावेसे कह सकता हूँ कि सत्यसमाजका नाम कुछ ही क्यों न बदल दिया जाय, सत्यसमाज के विरोधियोंको कुछ लाभ नहीं पहुँच सकता। भाई! यदि आप सत्यसमाजको हानि पहुँचानेका हौसला रखते हो तो नामका विरोध तो छोड़ो और इसके सिद्धान्तोंपर जोर आजमाओ!

अन्तमें आक्षेपकका यह आक्षेप कि "जब सत्यसमाजके पूज्य तथा इष्ट सत्य और अहिंसा हैं, तो हमें कहना पड़ेगा कि इस समाजका आधार केवल चारित्र है, दर्शन और ज्ञान नहीं," बिल्कुल निकम्मा व हास्यास्पद है। जहां चारित्र हो वहां दर्शन और ज्ञानकी उपस्थिति अनिवार्य है। भला दर्शन और ज्ञानके बिना चारित्र कैसा? यदि आक्षेपकने यह आक्षेप किया होता कि सत्यसमाजका आधार केवल दर्शन, ज्ञान, या दर्शनज्ञान है, चारित्र नहीं, तब तो कोई हँसीकी बात न थी, लेकिन यह आक्षेप तो बिल्कुल ही हास्यास्पद है। इससे लेखककी योग्यताका भी पता लगता है। खैर।

अन्तमें मैं आक्षेपक से सप्रेम अनुरोध करूँगा कि आप निष्पक्ष होकर ठंडे दिलसे सत्यसमाज पर विचार करें, आक्षेप करने के लिये ही आक्षेप न करें।

कुछ इधर उधर की।

जबतक ठग एक-समुदायरूप बने रहते हैं, वे नाना तरहके उत्पात मचाते हैं, तथा विविध प्रकार से जनताके धन व शील का अपहरण करते हैं। जो कोई व्यक्ति जनताको इनसे सावधान करता है तथा उसकी रक्षा के लिये प्रयत्न करता है, उसका वह ठग-समुदाय कट्टर शत्रु बन उसका सर्वनाश करने तक पर उतारू हो जाता है। किन्तु समय

पाकर जब इस समुदायमें किसी कारणसे फूट पड़ती है तब वे स्वयं ही एक दूसरेका भंडाफोड़ करने लगते हैं। फलत: धीरे धीरे सब ठग पकड़े जाते हैं और जनताकी उनसे रक्षा होती है।

दिगम्बर जैन समाज आज प्राय: ऐसीही परिस्थितिमें से गुजर रहा है। बेकारीके कारण पेट भरना भी मुश्किल होनेसे कई ऐरे गैरे व्यक्ति नंगे होगये और भोले भाले स्त्री-पुरुषों द्वारा मुनि रूपमें पुजने लगे। दीक्षा देने वाला कोई गुरु नहीं मिला अथवा उनकी अयोग्यता व अपात्रता को देख किसीने दीक्षा देनेसे इनकार कर दिया तो वे किसी दूसरेके पास पहुँचकर नंगे होगये या मन्दिरमें प्रतिमाको ही अपना गुरु मानकर नंगे होगये। इनके साथमें कुछ पंडित लगे और उन्होंने अपना मतलब गांठने के लिये उन्हें आचार्य, कलिकाल सर्वज्ञ आदि बताकर खूब पुजाया। मतलब यह कि सिद्ध-साधकोंने मिलकर समाजको खूब ठगा।

इन लोगोंका यह तांडव "जैनजगत्" को सहन न हुआ और वह अकेले दम उनके मुकाबिलेमें मैदानमें आ डटा। उसने इस ठग-मण्डलीके बड़े बड़े रहस्योंका उद्‌घाटन किया, इनकी व्यभिचार-लीलाओंका भंडाफोड़ किया। ठग-मण्डली भी पूरी शक्ति के साथ उसका दमन करने के लिये तैयार हो गई। जैनजगत् के बहिष्कारका फतवा दिया गया! उसको जैन-पत्र न माननेका घोषणा की गई! उसको पढ़ने तो क्या छूने तककी मनाई की गई! लोगोंसे इसके लिये प्रतिज्ञाएँ तक दिलाई गईं! जैनजगत्‌के संचालकोंपर मुकद्दमे चलाये! उनका सामाजिक बहिष्कार करने तथा उन्हें अनेक प्रकार सताने का प्रयत्न किया! परन्तु अन्तमें जय सत्यकी-जैनजगत् की-ही हुई।

लोहड़ साजन-आंदोलनने समाजको एक बड़ा भारी लाभ यह हुआ है कि इस ठग-मण्डलीमें फूट पड़गई है और एक समय जो लोग मुनिवेषियों की व्यभिचारलीलाओं तकको उपगूहन अंगके नामपर दबा देना चाहते थे, मुनिनिंदा के काल्पनिक पापका भीषण परिणाम बतलाकर सुधारकोंको कोसते थे, वे आज स्वयं अपने पत्रोंमें—अमुक मुनि अंगूर खानेका शौक़ीन है, अमुक मुनि मायाचारी व धूर्त है, अमुक मुनि शिथिलाचारी है,—आदि रंगबिरंगे समाचार प्रकट करने लगे हैं!

इसी सिलसिलेमें एक रहस्य और प्रकट हुवा है। जैनगजट-सम्पादकने स्थानीय सहयोगी "चन्द्रप्रकाश" के आक्षेपोंका उत्तर देते हुए अन्तमें यह लिखा कि—"जहाँ गुरुओंकी निंदा है, वहाँ हमारी निंदा करे तो क्या बात है?" इसके उत्तरमें "चन्द्रप्रकाश" के प्रकाशक व प्रोप्राइटर श्री गुलाबचन्दजी पाटणी लिखते हैं—"पंडितजी महाराज! यह गुरु-निंदा की दुहाई देकर आपने बहुत दिनों समाजको ठगाया। अब यह आपका शस्त्र काम नहीं देगा। आप जरा जवाब दीजिये कि क्या मुनिराजको आहार दिया उस थालके झूठे भोजनको गृहस्थको खाना चाहिये? क्या धरेजे करने वाली जातिमें पैदा हुआ कोई मनुष्य मुनिपद ग्रहण कर सकता है? यदि कर सकते हैं तो कृपया शास्त्रप्रमाण दीजिये।"

पाटणीजी का उपरोक्त आक्षेप दक्षिणी शांतिसागरजीके विषयमें है। जैनजगत् ने जब यह रहस्य प्रकट किया था तो इन्हीं लोगोंने "पाटील" आदि का बहाना बनाया था। खैर। पाटणीजीके लेखसे यह स्पष्ट प्रकट है कि वे इस रहस्यको बहुत पहिले से जानते थे। क्या वे बतलावेंगे कि वे अबतक इस विषयमें क्यों मौन रहे? बात दरअसल यह है कि दक्षिणी शांतिसागरजी व उनका संघ लोहड़साजनों के अनुकूल है, वे उनके यहाँ आहार लेते हैं। पाटणीजी इस समय लोहड़समाज आंदोलनके प्रवर्तक, तथा शांतिसागरजीके विद्रोही शिष्य चंद्रसागरजी के अनुगामी हैं और इसीलिये उनको विशेष महत्व देनेके लिये, एक समयके अपने परमाराध्य शांतिसागरजी का जाति सम्बन्धी रहस्य उन्हें स्वीकार करना पड़ा है। —[illegible]।

Printed by Babu Durga Prasad at the [illegible]

विषय-सूची

शोक समाचार व सूचना।

सम्पादक महोदय श्रीमान पं० दरबारीलालजी की धर्मपत्नी यद्यपि वर्षोंसे अतिक्षय-रोगसे ग्रसित थी, तथापि आवश्यक उपचार आदिके कारण रोग रुका हुवा सा प्रतीत होता था और वे नियमित रूप से गृहस्थीका सब कार्य स्वयं करती थीं। ता० २४ अक्टूबर से रोगने एकाएक भीषण रूप धारण कर लिया। दो हफ्तों तक उससे घोर संग्राम हुवा परन्तु अंत में वही विजयी हुवा और ता० ८ नवम्बर को वह रोगिणीको छीन कर लेही गया। सम्पादक महोदय जब कि अपने कार्यक्रममें उत्साहपूर्वक बढ़ते जा रहे थे, वे कार्यकी सफलताके लिये समाज से सहयोगकी वांछना कर रहे थे, परन्तु दुर्भाग्यवश वे अपनी धर्मपत्नीके सहकारित्वसे भी वंचित होगये! पंडितजीके इस दारुण दुःखमें किसे उनसे सहानुभूति न होगी!

खेद है कि उपरोक्त कारणसे यह अंक अत्य-

प्रतीक्षाजन्य कष्ट उठाना पड़ा होगा, परन्तु इसमें हमारी विवशता थी। वर्षकी समाप्तिपर हम प्रायः दो हफ्तेका विश्राम लिया करते हैं, परन्तु अब अधिक विश्रामकी आवश्यकता न होगी और ११ वें वर्षका प्रथम अंक पाठकोंके हाथोंमें ता० १६ दिसम्बर तक पहुँचानेका प्रयत्न किया जावेगा।

आशाकी जाती है कि पाठकोंका सहयोग हमें आगामी वर्षमें भी प्राप्त होता रहेगा, यही नहीं बल्कि वे "सत्यसंदेश" को अधिकाधिक उन्नत बनाने व उसका प्रचार बढ़ाने में हमारा हाथ बँटावेंगे।

ग्राहकों से प्रार्थना है कि वे कृपया वार्षिक मूल्य मनीऑर्डर द्वारा शीघ्र भिजवा दें। वी. पी. मँगवाने की अपेक्षा मनीऑर्डर द्वारा मूल्य भेजनेमें उन्हें किफायत होगी। —प्रकाशक।

खण्डेलवाल महासभा के लिये गड्ढे की तैयारी।

कई वर्ष हुए जबकुछ लोगोंने स्थानीय जैनकुमार सभाके नामसे खंडेलवाल महासभाको अजमेरमें अपना अधिवेशन करनेके लिये निमंत्रण दिया था किंतु बादमें निमन्त्रण देनेवालों की अयोग्यताके कारण वह अपने आपही रद्द होगया। सुना है कि उन्हींमें से कुछ लोगोंने अबकी बार "दिगम्बर जैन खंडेलवाल जैनधर्म रक्षक मंडल" का कल्पित नाम रखकर निमंत्रण भेजा है। अजमेरमें ६ खंडेलवाल जैन पंचायतियाँ हैं, परन्तु इनमेंसे कोईभी उक्त महासभाको निमंत्रण देना नहीं चाहती। उपरोक्त कल्पित मंडलके मनमाने मंत्री श्रीमान् गुलाबचंदजी पाटणी तेरहपंथी धड़ेके सदस्य हैं, परन्तु वह पंचायत भी महासभा को निमंत्रण देनेके विरुद्ध है। खंडेलवाल महासभाके संचालकोंको चाहिये कि वे श्रीमान् रायबहादुर सेठ भागचंदजी व अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियोंसे इस मंडलकी असलियतका पता लगाकर ही निमंत्रण स्वीकार करें, अन्यथा उन्हें वृथा लांछित होना पड़ेगा।

वैसे ये लोग अपने आपको महासभाका शुभचिंतक बताते हैं, परन्तु वास्तवमें उनका यह कार्य महासभाको छिन्नभिन्न व मटियामेट करनेके लिये हो रहा है। जब ये लोग आगामी चैत्रमें यहाँ महासभाका अधिवेशन कराना चाहते हैं और उसमें लोहड़साजन-सम्बंधी प्रश्नका निबटारा कराना चाहते हैं तो फिर उन्हें अभी अधिवेशन से पूर्वही देहात वालोंकी पंचायतमें लोहड़साजनों व उनके समर्थकोंका बहिष्कार करानेकी क्या आवश्यकता है? अगर उक्त पंचायतें महासभाके आधीन हैं तो उन्हें इस समय अपना अलग निर्णय देने को कोई जरूरत नहीं है। उन्हें महासभा के निर्णयकी प्रतीक्षा करना चाहिये। और अगर वे पंचायतें महासभा के आधीन नहीं हैं तो फिर किस बूते पर यहाँ महासभाको निमंत्रण दिया जा रहा है? बात दर असल यह है कि ये लोग मुनिद्वेषी चंद्रसागरजीके अंध अनुयायी हैं और किसी प्रकार उनकी बात रखना चाहते हैं। ये लोग अपने इस प्रयत्न में महासभाके अस्तित्वको जोखिम में डालते हुए जरा भी नहीं हिचकेंगे, परन्तु महासभा के संचालकों को जरा दूरदेशीसे काम करना चाहिये। खैर।

देहात वाले बंधुओंको भी सावधान रहना चाहिये। शहरवालों के झगड़ों में पड़कर पहिलेवे काफी हानि उठा चुके हैं। पहिले उन्होंने अपनी मूँछें ऊँची रखने के लिये मंदिरोंकी सम्पत्ति फूँकी, गाँवों गाँवों में डोर-लोटा लिये फिरे; परन्तु जब समझौता हुआ तो किसीने उन्हें पूछा तक नहीं। इस बार फिर उन्हींको आगे किया जारहा है। —मै०

वर्ष १०

सत्यसन्देश

अङ्क २४
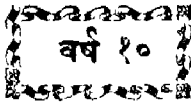
मार्गशीर्ष कृष्णा ६

वीर सं० २४६२
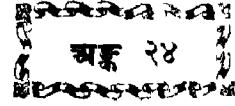
ता० १६ नवम्बर

सन् १९३५ ई०

दक्षिण महाराष्ट्र में एक सप्ताह।

दक्षिणमहाराष्ट्रका एक सप्ताहका भ्रमण कई दृष्टियोंसे स्मरणीय है। यह भ्रमण प्रचारकी दृष्टिसे इतना सफल रहा और इसने आगामी कार्यक्षेत्रका ऐसा दर्शन कराया कि सत्य-समाजकी उन्नति होने पर यह सप्ताह याद रहेगा। दूसरी स्मरणीयताका सम्बंध मेरे दुर्भाग्यसे है। क्योंकि इसी समय मेरी पत्नी बीमार हुई और घर आकर रात्रि दिन ११ दिन तक सेवा करने पर भी उसे मैं न बचा सका। सत्याश्रमकी स्कीममें सहायता पहुँचाने वाली, भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टिसे मेरी रक्षा करने वाली, मेरी एक मात्र सहचरीका जीवनभरके लिये वियोग हो गया। इसलिये भी यह सप्ताह कभी न भूलेगा।

साँगलीके धावते साहिब मूर्तिमान उत्साह हैं। उनका मुझे पत्र मिला कि आप दक्षिण महाराष्ट्रमें सत्यसमाजका प्रचार करनेके लिये आइये। प्रचारके लिये बहुत समय भी नहीं था, इसलिये २२ अक्टूबर की सुबह तारसे सूचना देकर ३॥ बजेकी डाकगाड़ी से मैं साँगलीको रवाना हुआ। २३ तारीखको सुबह साँगली पहुँचा। स्टेशनपर जो सज्जन आये थे, उनसे मालूम हुआ कि श्री० धावते साहिब तो हुबली तरफ गए हुए हैं, इसलिये मैं प्रगति-सम्पादक श्री० बाबगौंडा भुजगौंडा पाटीलके यहाँ ठहरा। श्री० धावते साहिबकी अनुपस्थितिसे आज कुछ कार्य न हो सका। हाँ, कुछ चर्चा अवश्य हुई।

श्रीयुत् तात्या नेमिनाथजी पाँगल मुझसे कई बातोंका खुलासा चाहते थे। आप सुधारक और साहित्यसेवी सज्जन हैं। "सर्वधर्मसमभाव, सर्वज्ञ क्यों नहीं मानना, नित्यमुक्ति न माननेमें जैन मुक्ति क्या है, जैनधर्मके संस्थापक म० महावीरको क्यों मानना चाहिये, पुराण-साहित्यपर दूसरोंकी छाप क्यों और कितनी पड़ी, वर्तमानके मुनि और भट्टारकोंके विषयमें क्या करना चाहिये, आत्मा स्वर्ग नरक आदिका अस्तित्व, धर्म और दर्शनकी भिन्नता, सत्याश्रमकी स्थापना" आदि अनेक विषयों पर खुलकर विस्तारसे चर्चा हुई।

शामको पाटील वकीलके साथभी कुछ चर्चा हुई। अन्य विषयोंकी चर्चाके साथ साँगली स्टेटके विषयमें भी चर्चा हुई। इससे मालूम हुआ कि साँगली स्टेटमें अभी अभी दो उपयोगी क़ानून पास हुए हैं। पहिला तो बालविवाह-प्रतिबंधक क़ानून। इसके अनुसार ११ वर्षसे कम उमरकी लड़कीकी तथा १७ वर्षसे कम उमरके लड़केकी शादी नहीं हो सकती। इस विषयमें सरकार भी मुकद्दमा चला सकती है। दूसरा क़ानून स्त्रियोंके उत्तराधिकारित्वके विषयमें है। इसके अनुसार विधवा स्त्री संयुक्त कुटुम्बमेंसे अपने पतिका हिस्सा अलग कराके ले सकती है। इसके बाद चाहे तो वह पुत्र गोद ले, चाहे न ले। गोद लेनेके बाद भी अगर उस पुत्रसे उसकी न बने तो वह माँकी हैसियतसे आधा हिस्सा ले सकती है। इस क़ानूनके बनानेमें यहाँकी रानी साहिबाका बहुत हाथ है। यहाँके राजा

ता० २४-१०-३५ को सुबह ही कर्मवीर धावते आगये। इसदिन खूब चर्चा रही। यहाँके वयोवृद्धदानी श्रीयुत कर्वेने बड़ी दिलचस्पीके साथ मेरी बातें सुनीं। सत्याश्रम बनानेकी बात भी चली। कर्वे साहिब और धावते साहिबका यही अनुरोध था कि मैं इसी तरफ आश्रम बनाऊँ तो बहुत अच्छा।

शामको श्रीयुत बापू भाईके पार्कमें व्याख्यान रक्खा गया। बीचमें पानीकी बूँदें आने लगीं इसलिये आधी सभा हॉलमें हुई। संक्षेपमें मैंने अपने सारे विचार प्रकट किये। "राम कृष्ण आदि सभी महात्माओंके जीवनसे हम क्या ले सकते हैं, सर्वधर्मसमभाव, सर्वजातिसमभाव, भोजनमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार करना चाहिये न कि जातिपाँतिका, रूढ़ियोंकी गुलामीका त्याग, मुनिवेषियोंकी पूजा न करके गुणकी पूजा करना, सत्यसमाजके सत्यमंदिरका स्वरूप, सदस्योंके नैष्ठिक-पाक्षिक भेद, सत्यसमाजकी आवश्यकता" आदि अनेक बातोंपर प्रकाश डाला। पीछे शंकासमाधानके लिये समय रक्खा था। एक भाईने पूछा—"आपका कहना तो ठीक है, परन्तु अमलमें लाना मुश्किल है। क्या आप अपनी सन्तानका विवाह अन्य जातिमें कर सकते हैं?"

मैंने कहा—अगर मेरे सन्तान होती और उसका विवाह करना मेरे हाथमें होता तो अवश्य ही मैं उसका विजातीय विवाह करता। अबतो मैं इतना ही कर सकता हूँ कि ऐसे विवाहोंमें शामिल होऊँ, खानपान सम्बंध करूँ, और भी जिस तरहसे हो सके साथ दूँ। अमरावतीमें एक विधवाविवाह करनेवाले भाईने मेरा निमंत्रण किया तो वहाँकी पंचायतकी अनिच्छा होने पर भी मैं सपत्नीक उसके यहाँ भोजन करने गया।

प्रश्न—क्या आप एक ईसाईके हाथका भी पवित्र भोजन कर सकते हैं? वह आपके सामने ही छने हुए जलसे दिनमें भोजन तैयार करदे तो क्या खा लेंगे?

उत्तर—अवश्य। बिना किसी संकोचके साथ मैं भोजन करूँगा।

इसके बाद मैंने उन्हें धर्माधर्मका विस्तारसे स्वरूप समझाया। धर्ममें अधिकारका प्रश्न न छेड़ना चाहिये। पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी अपेक्षा अहिंसा, सत्य आदि महान धर्म हैं। जब इन पर किसीका अधिकार नहीं है, तब पूजा-प्रतिष्ठा आदिपर अधिकार—अनधिकारका प्रश्न उठाना बड़ीभारी भूल है, इत्यादि। इस प्रकार सभा सफलताके साथ पूर्ण हुई।

ता० २५ को भोजन करके हम लोग २॥ बजे कोल्हापुर आये। यहां अभी व्याख्यानका आयोजन नहीं हुआ था, शहरमें नोटिस भी नहीं बँटा था। परन्तु इससे धावते साहिब हतोत्साह थोड़े ही होने वाले थे? उनने मुझे प्रो० ए० एन० उपाध्यायके साथ चर्चा करनेके लिये छोड़ा। उस दिन सब प्रेस बंद थे परन्तु धावते साहिबने सत्यवादी प्रेसके मालिकको कम्पोज करनेके लिये विवश किया, और उननेभी प्रसन्नतासे यह सेवा बजाई। पब्लिक लायब्रेरीमें व्याख्यान रखनेके लिये दौड़धूप की और सफलता पाई। अन्तमें शामके सात बजे व्याख्यान रक्खा गया। अध्यक्षका स्थान प्रो० ना. सी. फड़केने स्वीकार किया था। परन्तु जब उन्हें मालूम हुआ कि व्याख्याता अब्राह्मण है, तब उनने अध्यक्ष बननेमें अस्वीकारता प्रकट करदी। इस प्रांतमें ब्राह्मण-अब्राह्मणका प्रश्न बड़ा जबर्दस्त है। इस प्रांतमें जातिके नामपर विचित्र प्रकारकी दलबन्दियाँ देखीं। यह जातिवाद भारतमें किस प्रकार भयंकर स्थान कर गया है और इसके नष्ट करनेकी कितनी जरूरत है, इसका यहाँ खूब अनुभव हुआ।

खैर, सभामें गुजरातके सुप्रसिद्ध कवि वयो-

वृद्ध श्री ललितजी भी पधारे थे । आपने सहर्ष अध्यक्षका स्थान स्वीकार करलिया । यहाँ भी साँगली सरीखा व्याख्यान हुआ, जिससे ललितजीको इतनी अधिक प्रसन्नता हुई कि वे क्षण क्षण पर आशीर्वाद देनेलगे और गद्गद स्वरसे जाते जाते तक प्रशंसा करते रहे । राजाराम कॉलेजके प्रोफेसर श्रीयुत कुन्दनगार तथा अन्य सज्जनोंने सभाके आयोजनके लिये बहुत प्रयत्न किया ।

सभाके बाद श्रीमान् भट्टारक जिनसेनजी से मिलना था । आप वयोवृद्ध हैं और सुधारक विचारों के हैं । मेरी बातोंसे आपको बहुत प्रसन्नता हुई । आपकी इच्छा थी कि मैं रातभर आपके ही यहाँ ठहरूँ, परन्तु धावते साहिबको काम था, इसलिये सांगली आकर ही सोनेका विचार रहा । १२ बजे रात्रिमें हम लोग साँगली आपहुँचे ।

ता० २६ को भोजन करके हमलोग निपाणी के लिये रवाना होगये । कोल्हापुरसे 'सत्यवादी' के सम्पादक श्रीयुत बालासाहिब पाटील भी साथ होगये । और भी सज्जन थे । हम लोग चार बजे निपाणी पहुँचे । नगर में नोटिस तो पहिले ही बँट चुके थे । डोंडी भी पिटगई थी । कई जगह व्याख्यानकी सूचना निम्नलिखित विनोदी शब्दोंमें दीगई थी । "बम्बई के पंडितजी सनातनियोंके किलेपर बम फेंकनेवाले हैं" (मुंबई चे पंडितजी सनातन्यांच्या बालेकिल्यावर बाम्बगोला टाकणार)

खैर, समाजभूषण मारुतराव रावण, दे० भ० कागवाड़े, दे० भ० बलवंतराव आवटी आदिने ठाठ से स्वागत तथा आयोजन किया । मल्लिकार्जुन थियेटरमें व्याख्यानका प्रबन्ध था । यहाँका व्याख्यान अन्य सब जगहके व्याख्यानोंसे सुन्दर हुआ । सात बजे शामको सभा समाप्त हुई । परन्तु ये दो दिन तो भयंकर प्रवासके थे । हम लोग तुरंत रवाना हुए । ६ बजे चिकोड़ी पहुँचे । साथियोंने भोजन किया । मैने भी दूध लिया । यहाँ वालोंने अनुरोध किया तो कहागया कि कल ११ बजे यहाँ व्याख्यान दिया जायगा । आखिर मोटर दौड़ी । १० बजे सदलगा पहुँचे । सभामें लोग हमारी बाट देखे बैठे हुए थे । व्याख्यान हुआ । सत्यवादी सम्पादकभी मराठीमें खूब बोले, जिसमें उनने मेरे व्याख्यानका सार भी मराठीमें कह दिया । बादमें शंका-समाधान हुआ । अच्छी चर्चा हुई । पर्चा में १।। बजगया । यहां वालोंकी इच्छा थी कि हम लोग अब आराम करें । परन्तु आजकी रात्रिका आराम तो भाग्यमें था ही नहीं । शमनेवाड़ीके दो तरुण नेता शाम से ही सदलगा आये हुए थे । उनने कहा कि शमनेवाड़ाकी जनता इस समय भी आपके व्याख्यानकी बाट देखती बैठी है । इस समय आप चलें तो अच्छा । मुझसे पूछा तो मैंने कहा, चलिये । १।। बजे रात्रिको हम लोग रवाना हुए । अमावस्याकी काली रात्रि थी, और उन दिनों वहां खूब वर्षा भी हुईथी । पहिले तो रास्ता भूले, पीछे रास्ता ऐसा विकट आया कि मोटर ड्राइवरने कह दिया कि रास्ता विकट है, मोटर आगे न जायगी । एक जगह गहरे कीचड़में मोटर फँस भी गई थी । किसी तरह वहाँसे निकले तो आगे गाड़ी अड़गई । दो बज चुके थे, आगे भी संकट था और पीछे भी । मैंने पूछा कि अब आगे कितना मार्ग है ? किसीने कहा—दो मील होगा । मैंने कहा कि तब चलो, अपन तीनके पहिले पहुँच जांयगे । अंतमें मोटर वहीं छोड़ी । हम लोग पैदल चले । पाँच मिनिट बादही पता लगा कि रास्ता तय करना टेढ़ी खीर है । रास्ता था ही नहीं । कहीं नालों में से जाते थे, कहीं खेतों में से । सब जगह कीचड़ था । पैर जमाना मुश्किल था । कहीं चौपायोंकी तरह हाथपैरके सहारे चढ़ना उतरना पड़ता था । रास्ता भी दिखता न

था। ऐसे समयमें ऊँची ऊँची घासमें से जाते समय तो आनन्द ही आता था। छः सात आदमियोंके बीचमें उस अमावस्याकी काली रात्रिको चीरने के लिये एक टिमटिमाती हुई लालटेन थी। किसीको कांटा लगा, कोई कीचड़में गिरा। इतने परभी रास्ते का अन्त न आया, क्योंकि वह दो मीलके बदले पाँच मील था। खैर, किसी तरह हम लोग विजयी हुए। सुबह चार बजे शमनेवाड़ी पहुँचहो गये। सीधे मन्दिरमें पहुँचे। इस गाँवमें अस्सी फी सदी जैन हैं। वीर-निर्वाणोत्सवके कारण सब रात्रि-जागरण कर रहे थे। यहाँकी भाषा कनड़ी है। कनड़ीमें कुछ धार्मिक कथा गान होरहाथा। आधघंटे तक हमलोग बैठे। सब लोग थके हुए थे। तब मैंने कहा कि घंटा भर आराम करके व्याख्यान दिया जाय तो ठीक। निदान यही तय रहा। यहां सब कृषकोंकी बस्ती है घंटेभर के लिये हम सब लोग एक लम्बी चौड़ी दरीपर लेट गये। ५॥ बजे उठे, तुरंत मन्दिर गये। व्याख्यान दिया। सत्यवादी—सम्पादकने मराठीमें कहा। धावने साहिब भी बोले। श्रीयुत उपाध्यायने कनड़ीभाषा में अच्छा ओजस्वी भाषण दिया। मराठी तो मैं बहुत कुछ समझने लगा था, परन्तु कनड़ी बिलकुल न समझा। व्याख्याताकी मुखमुद्रासे समझता था कि कुछ जोशीली बातें कही जारही हैं। खैर, यहांका काम पूरा हुआ। प्रोग्राम ऐसा जबर्दस्त था कि मुझे शौच जाने को भी समय न मिला। यहाँ से हम लोग पैदलही बेड़कीहाल आये। तुरंत व्याख्यानकी तैयारी हुई। १। घंटे व्याख्यान हुआ। यहाँ भी लोगोंने मेरे विचारोंका स्वागत किया। परन्तु विश्रामतो दुर्लभ ही था। ११ बजे चिकौड़ी व्याख्यान था। ११ तो यहीं बजगये थे, परन्तु सोचा कि १ घंटा बाद चलकर ही व्याख्यान देंगे। अभीतक मुझे शौच जाने तकका अवसर ही न मिला था। मोटर आनेमें जरा देर लगी, क्योंकि हमारी मोटर तो चिकौड़ी पर पहुँच चुकी थी। खैर, मोटर आनेमें जो देर लगी उस समयका उपयोग मैंने शौचके लिये किया। रामराम करके हमलोग एक बजे चिकौड़ी पहुँचे। यहां व्याख्यानके नोटिस बँट चुके थे, और ११ बजेसे लोग बैठे बैठे १२॥ बजे घर चले गये थे। वहांके सज्जनोंने कहा कि दो घंटेमें फिर से सभाका आयोजन होसकता है। परन्तु इतना समय कहाँ था? चार बजे तो स्तवनिधिपर व्याख्यान था और इस व्याख्यानकी अध्यक्षताके लिये भट्टारक श्री जिनसेन स्वामीको कोल्हापुरसे निमंत्रित किया गया था। इसलिये वहां पहुँचना जरूरी था। और फिर आजही शामको बेलगांवमें भी लेक्चर था। वहाँ पहुंचना और भी जरूरी था। अन्तमें चिकौड़ीका प्रोग्राम बन्द रखना पड़ा। भोजनादिसे निवृत्त होकर हम लोग तीन बजे स्तवनिधिके लिये रवाना हुए।

यहाँ चार बजे व्याख्यान हुआ। यहां भी मैंने अपने विचार प्रकट किये। भट्टारकजीने "फार चाँगला आहे, फार चाँगला आहे"—"बहुत अच्छा है, बहुत अच्छा है" कहकर व्याख्यानका अनुमोदन किया।

यहांका कार्य करके हमलोग तुरंत बेलगाँवके लिये रवाना हुए। ४०–४५ मीलका रास्ता बहुत सपाटेसे पूरा हुआ। शामको ६॥ बजे बेलगाँव पहुँचे। श्री॰यशवन्तरावजी अंकले वकील बाटही देखरहे थे। व्याख्यानके विज्ञापन वगैरह पहिले सेही बँट चुके थे। थोड़ी देर बाद कोल्हापुर राज्यके भूतपूर्व दीवान, दीवानबहादुर ए. बी. लट्ठे भी वहीं आगये। कुछदेर बाद हमलोग सभास्थानपर पहुँचे। स्वागत गान वगैरहका आयोजन ठीक किया गया था। लट्ठे साहिब अध्यक्ष बनाये गये। इस प्रान्तके सार्वजनिक क्षेत्रमें आपकी बहुत प्रतिष्ठा है। समाजसेवाके हर एक क्षेत्रमें आपका भाग है। पानीकी बूँदें आई थीं

परन्तु सभा बढ़तीही गई। पासकी सड़क भी लोगों से भरगई। मैंने अपने विचार खूब विस्तारसे सुनाए। ऐसा मालूम हुआ कि लोगोंको मेरे विचार पसन्द आये हैं। लट्ठेसाहिबने मेरे विचारोंका खूब समर्थन किया। इसप्रकार इस छोटेसे प्रवासका यह अंतिम व्याख्यान पूर्ण हुआ।

रात्रिमें हमलोग लट्ठे साहिबके बँगलेपर ठहरे। आपके अनुरोधसे मैं ता० २८ के दिनको भी ठहरा। दिनमें आपसे बहुतसी वातचीत हुई। किसी किसी जगह तो हमदोनों के विचार आश्चर्यजनक रूपमें मिलजाते थे। धावते साहिबने सत्याश्रमके विषयमें भी आपसे बहुत कुछ कहा था। इसलिये श्रीमान लट्ठे साहिब का अनुरोध था कि मैं साँगली आदि किसी स्थानमें दक्षिणमहाराष्ट्रको ही अपना केन्द्र बनाऊँ। ज़मीन देने का, बँगला देनेका, पाँच सौतसौ थैले अनाज प्रतिवर्ष आश्रमके लिये चन्दा करादेनेका, गाय भैंस वगैरह पशु रखना हो तो उसके लिये घासका इन्तज़ाम करादेने का वचन धावते साहिबने भी दिया। इन सब वातोंसे प्रसन्नता भी हुई, और आशा भी।

इस प्रवास में मैं किसी जगह कुछ घंटोंसे अधिक नहीं ठहर पाया। इसलिये अपने विचारोंका विज्ञापन देनेके सिवाय और कुछ काम न होपाया। परन्तु काम करनेके लिये जगह तैयार होगई।

इस प्रवासमें जो सफलता हुई और इतने थोड़े समयमें जो इतना अधिक प्रचार हुआ, इसका सबसे अधिक श्रेय श्रीमान धावते साहिबको है। आपकी उत्साहशीलता, कष्टसहिष्णुता और उदारता अद्भुत है। इस प्रवासमें मोटर-किराया आदिमें आपका ४५)—५०) रुपया खर्च होगया। दीवालीके दिन भी आप घर न रहे, परन्तु उसकी आपने ज़राभी पर्वाह नहीं की। बेलगाँवसे मैं सीधा बम्बई आया। आते समय मेरे सफर खर्चके लिये दीवानबहादुर लट्ठे साहब की तरफसे २५) मिले, जिन्हें मैं लेना नहीं चाहता था परन्तु अनुरोधवश लेने पड़े। परन्तु मेरा खर्च तो १०)—११) रुपयेसे अधिक नहीं हुआ, इसलिये बाकी १५) सत्यसन्देशके लिये दे दिये जायँगे।

दोनों सज्जनोंका अनुरोध था कि मैं थोड़े समय बाद फिर इस तरफ आऊँ और सब निरीक्षण करके आश्रमकी बुनियाद डालूं। मैंने भी वचन दिया।

मेरे ऊपर वज्रपात।

जिससमय मैं उपर्युक्त सफलतासे तथा आशा से प्रसन्न होरहा था और उसके समाचार पत्रद्वारा अपनी पत्नीको लिखरहा था, उससमय मेरा दुर्भाग्य मुझपर हँसरहा था। उधर मैं प्रचारमें मस्त था, इधर घर पर २४ ता० को मेरी पत्नीको ज्वर आया। ज्वरतो साधारण था, पर था कालज्वर। उसके साथ जो सिर-दर्द था वह असह्य था, असाधारण था। २९ के दिनको जब मैं आया, तब सिरदर्दकी यातनेने मुझे चिन्तित कर दिया। वैद्यको बुलाया, फिर डॉक्टर बुलाये गये, परन्तु रोग किसीकी समझमें न आया। पहिले मुद्दती बुखार तथा मोतीझरा समझा गया, फिर डिफ्थीरिया समझागया। किन्तु मृत्युके पहिले प्रयोगशाला की जाँचसे मालूम हुआ कि उसे डिफ्थीरिया भी नहीं था। वह तो वही पुराना रोग अस्थिक्षय था जोकि कुछ समयसे भीतरकी तरफ जारहाथा और नासूर कुछ अच्छे होते जारहे हैं, ऐसा भ्रम होने लगाथा। परन्तु उस समय किसीका कुछ वश नहीं था। ता० ८ नवम्बरको दिनके १०॥ बजे उसकी ऐहिक लीला समाप्त होगई।

कुछ महीनोंसे हम दोनोंने सत्याश्रमकी स्थापनाकी बात निश्चित करली थी। जब मैंने उससे

कहाकि इस समय तो २००) महीनेकी आमदनी है, इसलिये अपन आराम से रहते हैं, परन्तु आश्रमकी स्थापना करने पर तो जो २५) मासिक बैंकसे ब्याज मिलेगा उसीमें गुजर करना पड़ेगी; साथही तुम्हें आश्रमके कार्यमें कुछ जिम्मेदारी भी लेना पड़ेगी–तब उसने बड़े आनन्द से कहाथा–"मैं तो बम्बईके बाहर २०) महीनेमें घरका काम चलालूँगी। आज-सरीखा खर्च तब थोड़ेही करूँगी। और जो काम तुम बताओगे अवश्य करूँगी। मैं पंडिताई भलेही न बना सकूं, परन्तु तुम्हारे कहनेके अनुसार काम अवश्य कर सकूँगी।" बस, मैं इतना ही तो चाहता था। वह स्वभावतः सुधारक नहीं थी, परन्तु सुधार के प्रत्येक कार्यमें चुपचाप मेरे पीछे चलती थी। इतना ही नहीं, मेरे परोक्षमें मेरे प्रत्येक विचारका हरएकके साम्हने समर्थन भी करती थी। मतलब यहकि मेरे विचार उसे कैसे भी लगें परन्तु उनके लिये वह सबसे लड़ती थी। अगर मेरे विचारोंका कभी विरोध भी हुआ तो वह एकान्तमें ही मुझसे चर्चा करती थी। उसके चले जानेसे एक प्रकारसे मेरा एक हाथ टूट गया है, और मैं किंकर्तव्य विमूढ़सा होगया हूँ।

पाँच साल पुरानी बात है। उसे मैंने कार्लाके सैनेटोरियम में रक्खा था। दिन दिन उसका वजन घटता जाता था। एकदिन डॉक्टरने कहा कि चिकित्सा असम्भव है, रोगी अधिकसे अधिक एक वर्ष तक जीवित रहसकता है। उसेभी यह समाचार मिलही गया। रात्रिमें थोड़ीदेर तकतो हमदोनों रोते रहे, परन्तु पीछेसे मैंने उसे जीवन और मरणका रहस्य समझाना शुरू किया। मालूम नहीं, उसदिन मैंने क्या क्या कहा, परन्तु जो कुछ कहा वह मुँह ने नहीं, हृदयने कहा। सुबहके पाँच बजे तक मेरा यह लेक्चर चालू रहा। इसके बाद मैंने देखाकि उसके हृदयसे मौतका भय बहुत कुछ निकल गया। जबकोई स्त्री उससे कहती कि ऐसा होगा तो मौत आजायगी, तब वह आश्चर्य प्रकट करते हुए कहती कि "क्या तुम मौत से डरती हो? दुःखमय जीवन की अपेक्षा मरना क्या बुरा है?" उसका यह तीव्र मनोभाव अन्त तक रहा।

मरनेके लिये तैयार होकर वह कार्लासे बम्बई आगई। मैंने जल-चिकित्साका अध्ययन किया और चिकित्सा चालू की। सफलता हुई। उसका वजन २२ पौंड बढ़ गया। इसतरह आनन्दसे पाँच वर्ष निकल गये। डॉक्टरकी बात झूँठी निकली। मैंने समझा, रोग निकल गया। चिकित्सामें प्रमाद होने लगा। सत्यसमाजकी स्थापनाके बाद मेरे पास काम इतना बढ़ गया कि आजीविकाका एक काम कम होजानेपर भी मैं उसे पूरा नहीं कर पाता था। इससे जल-चिकित्सा और ढीली होगई। पिछले १३-१४ महीनेमें मैं सूर्यस्नान भी नहीं करा सका। दो महीनेसे छोटे छोटे प्रवासोंकी बहुलताके कारण वाष्पस्नान भी बन्द रहा। रोगने भीतरको मुँह किया। मैं बाहर देखता रहा कि रोग शांत है। अंत तक भी किसीकी समझमें न आया। इस प्रकार कालने धोखा देकर मेरे साथीको छीन लिया।

मुझे सन्तानकी इच्छा नहीं थी। सौन्दर्यकी चाह नहीं थी। अविद्वत्ताको भी निभा सका था। किन्तु उसकी जरूरत थी। क्योंकि उसके रहनेसे मैं स्त्रीसमाजमें निर्भयतासे काम कर सकता था, अधिक विश्वसनीय हो सकता था, असंयमका भी बिलकुल भय न था। इसके अतिरिक्त सुखदुःखमें एक ऐसा साथी भी था जिसने मेरे जीवनके प्रायः सभी जीवित दिन देखे थे। मैं यहतो नहीं मानता कि जो कुछ होता है सब अच्छेके लिये होता है, परन्तु इतना अवश्य

प्रेमीजी के अनुभव ।

६—अविवाहि... समस्या ।

प्राय हर शहर और ग्राममें अविवाहित पुरुषों की संख्या बहुत अधिक देखने में आई। शरीरसे हट्टे कट्टे होते हुएभी अधिकांशमें ये लोग निर्धन हैं, और इस जमानेमें जबकि धनही सब कुछ और योग्यताकी एकमात्र कसौटी है, इन्हें कोई अपनी लड़कियां नहीं देना चाहता। और इसके लिए उन्हें कोई दोष भी नहीं दिया जासकता। जो लोग अपेक्षाकृत कुछ कम निर्धन हैं, वे किसी तरह मर-पचकर कुछ धन इकट्ठा करते हैं और उससे कन्याओंके गरीब

मानता है कि बुरीसे बुरी परिस्थितिमें भी मनुष्य अगर अपने साहस और विवेकको जाग्रत रखता तो कोई अच्छा मार्ग मिल ही जाता है। मैं भी अपने को इसी कसौटीपर चढ़ाना चाहता हूँ और इस महान संकटके आने परभी, जिस मार्गको पकड़ा है उसी पर आगे बढ़ना चाहता हूँ। देखूं, कहाँ तक उत्तीर्णता मिलती है और किस ढंगसे मिलती है।

मैं श्रीमान तो हूँ नहीं कि उसकी स्मृतिके लिये कुछ दान कर सकता। फिरभी उसके स्मरणके बहाने से समाजको कुछ लाभ हो, इसके लिये मैंने निम्नलिखित कार्यों में ७००) लगानेका विचार किया है:—

५०) श्राविकाश्रम बम्बई।

५०) सत्यसंदेश।

१००) सत्यसमाजकी प्रार्थना—पुस्तक छपानेके लिये सत्यसमाज—ग्रन्थमालाको

५००) सत्याश्रम बन जानेपर वहाँ सत्यमंदिर बनवानेमें सहायता।

७००)

माता—पिताओं या अभिभावकोंको फुसलाकर किसी तरह अपना घर बसा लेते हैं। परन्तु सर्वत्र यह नहीं कहा जासकता कि वे सुखी होते हैं। अपना सर्वस्व लगाकर, बल्कि कुछ कर्ज लेकर भी, वे किसी तरह इस मुहीमको सर तो कर लेते हैं, परन्तु आगे जीवन-यात्रामें उन्हें अपना पराजय ही दिखता है—और कठिन जीवन—संग्राममें उन्हें अपनी जिन्दगी पूरी करनी पड़ती है और अपने पीछे अनेक असहाय बच्चे छोड़ जाने पड़ते हैं। मैं एक गांवके एक भाई को जानता हूं जो विवाहके पहले खूब सुखी थे। पांच सात सौ रुपयोंकी पूँजी थी, घोड़ा लादते थे और जो कुछ कमाते थे उससे मजे से जिन्दगी बसर करते थे। घरमें बूढ़ी माको छोड़ कर और कोई न था। ऐसे मस्त रहते थे कि लोग देखकर ईर्षा करते थे। शरीर भी लाल होरहा था। कोई ३० वर्षकी उम्रके बाद उन्हें घर बसानेकी सूझी और तब जो जमा-पूँजी थी, वह लगाकर एक १०—११ वर्षकी लड़कीके साथ शादी करली। इसके बादही उनकी दुर्दशा शुरू होगई। १२ वर्षकी उम्रमें ही उस लड़कीको सन्तान होगई और उसका कच्चा कोमल शरीर नष्ट होगया। वह निरन्तर बीमार रहने लगी। सास—बहूकी प्रकृति मिली नहीं, इससे रात दिन अशान्ति रहने लगी। पूँजी न रहनेसे कमाई कम होगई और खर्च बढ़गया। कुछही अरसेमें बुढ़िया चल बसी और बहूने खाट पकड़ ली। सन्तान भी माताका यथेष्ट दूध पाये बिना कुछ दिन निष्प्राण जीवन धारण करके मरगई। इस अत्यन्त रुग्णावस्थामें भी उस तीस बत्तीस वर्षके भूखे भेड़ियेका पशुत्व मन्द नहीं हुआ और बेचारी फिर गर्भवती होगई। गठियासे उसके हाथ पैर निकम्मे होगये थे, फिर भी उसने एक सन्तानको और जन्म दिया! अब हजरतकी मक्खियाँ भी नहीं उड़ती हैं, ललाई बि-

दा होगई है, गाल बैठ गये हैं और दारिद्र मुह बाये सामने खड़ा है! यह देखकर प्रश्न होता है कि क्या इन निर्धन दरिद्र युवकोंको जैनसमाज की घटती हुई संख्याको बढ़ानेके लिए विवाहकी सम्मति देना या उन्हें इसके लिए उत्तेजित करना उचित है?

जो लोग विधवाविवाहके प्रचारक हैं, वे यह सम्मति देते हैं कि तुम विधवाओंसे शादी करलो। यह सच है कि इन अविवाहित युवकों और जवान विधवाओंके कारण समाजका नैतिक चरित्र बहुतही भ्रष्ट होरहा है, और ये लोग एक तरहसे अनाचार के प्रचारक बन रहे हैं; परन्तु उन्हें विधवाविवाह की सलाह देना भी एक तरहका परिहास ही है। पहले तो निर्धनोंके साथ शादी करनेके लिए विधवायें तैयार ही क्यों होने लगीं? किस सुखकी आशा से वे उनका घर बसायेंगी? निर्धनता तो ऐसी चीज नहीं है कि वह किसीके लिए स्पृहणीय हो। रही वासनाकी परितृप्ति, सो वह तो और उपायोंसे भी होसकती है और विधवाविवाह के कट्टर हिमायती भी मानते हैं कि वह होती है। दूसरे, विधवाविवाह के पक्षमें इतना आन्दोलन होने पर भी लोकमत अत्यन्त प्रतिकूल है, जाति-पंचायतियोंसे वह बहिष्कृत है और उसके करने वाले बहुतही बुरी नजर से देखे जाते हैं। तीसरे, विधवाओं और अविवाहितोंमें नैतिक बलकी इतनी कमी है कि वे उसे अच्छा मानने पर भी करनेका साहस नहीं करसकते, और यदि कोई करते भी हैं, तो निर्धनताके कारण उनकी प्रक्षुब्ध समाज दुर्दशा कर डालता है। अतएव मेरी समझमें गरीबोंको न तो विवाह करनेकी सलाह दी जासकती है, और न विधवाविवाह करने की। उनका हित तो इसीमें है कि वे रोजगार करें, परिश्रम करें, और जैसे बने तैसे पहले धनी बननेका उद्योग करें। उन्हें इस बहुत पुराने परन्तु बीसवीं शताब्दिके लिए बहुतही उपयुक्त बने हुए सूत्रको अच्छी तरह हृदयंगम करलेना चाहिए कि—

धनमर्जय का कुत्स्थ धनमूलमिदं जगत्
अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च

अर्थात् हे भाई, धन कमाओ, क्योंकि यह जगत् धनमूलक है, इसमें धनही सब कुछ है। मैं तो निर्धन और मुर्देमें कोई अन्तर नहीं समझता हूं।

आर्थिक अवस्था अच्छी होनेपर कन्यासे भी विवाह किया जा सकता है, और योग्य विधवा से भी; और दोनों अवस्थाओंमें सुखकी आशा की जा सकती है। गरीबोंके लिए तो यह जमाना पुकार पुकार कर कहता है कि उन्हें जीनेका अधिकार ही नहीं है, वे क्यों जीते हैं? यदि वे धन नहीं कमा सकते तो उन्हें मरजाना चाहिए।

जो लोग दिनपर दिन होनेवाली जैन जनसंख्या की कमीसे चिन्तित हैं, इन गरीबोंकी दुरवस्था देखकर उनसे यह कहनेका जी होता है कि आप लोग इन बेचारोंपर दया करें और इन्हें यह उपदेश दें कि जिस तरह तुम धनजन्य और अनेक सुखोंसे वंचित हो, उसी तरह स्त्री-सुखसे भी यदि वंचित रहते हो, तो इसके लिए इतना अधिक उद्विग्न होने की क्या जरूरत है? केवल स्त्रीके आजाने से ही तो सुख नहीं मिल सकता। यदि तुम्हारे पास धन नहीं है तो सिवाय इसके कि तुम अपने दुखका साथी एक और बढ़ालोगे, पहलेसे और अधिक दुखी होजाओगे और जीवनभर दुख भोगनेके लिए दो चार बच्चे पैदा कर जाओगे, और क्या हो सकता है? और अविवाहित रहनेको तुम इतना बुरा क्यों समझते हो? तुम देखते हो कि यूरोप अमेरिकाके लोग जो यहां हजारों कोससे आते हैं, कितनी अधिक उम्र तक अविवाहित रहते हैं। बहुत अधिक धनसम्पन्न हुए बिना वे शादी करनेका विचारभी नहीं करते हैं और खूब सुखी रहते हैं। फिर तुम्हीं क्यों विवाहके

लिए इतने लालायित हो और समझते हो कि बिना इस काठमें पैर दिये सुख हो ही नहीं सकता ?

और जनसंख्या बढ़ानेका यह अर्थ भी तो नहीं है कि गरीबों, अनाथों तथा बेकारोंकी संख्या बढ़ाई जाय। ऐसे लोगोंकी संख्या बढ़ाने में शोभा ही क्या है ? इस गरीब और पराधीन देशकी जितनी जन-संख्या है उतनीही काफ़ीसे ज्यादा है, उसके ही अधिकांश लोग भरपेट भोजन नहीं पाते। फिर और बढ़ाकर क्या कीजिएगा ? देशके अनेक शुभचिन्तक तो यह सोच रहे हैं कि लोगोंको सन्तति-निरोधकी शिक्षा दी जाय, वे उतनी ही सन्तान उत्पन्न करें जितनी को अच्छी तरह पाल—पोष करके शिक्षित और सुयोग्य बना सकते हैं; परन्तु हमारे समाजके शुभचिन्तकोंपर जनसंख्या बढ़ानेकी धुन सवार है! और वे इस बातको भूलगये हैं कि जैनसमाज भी इस गरीब और गुलाम देशका एक अंग है जिसमें अब गरीबों, दुर्बलोंके बढ़ानेकी गुंजाइश नहीं है।

धनियोंके यहाँ सन्तान कम होती है, बेजोड़ विवाह और वृद्धविवाह भी उनमें अधिक होते हैं, और विधवायें भी उनके यहाँ ज्यादा हैं। यदि जन-संख्या बढ़ानेका प्रश्न उनके द्वारा हल किया जाय, तो वह अभीष्ट होसकता है। विधवाविवाह भी तभी प्रचलित होसकेगा, जब धनी और सम्पन्न लोग उसे अपनावेंगे और दूसरोंके सामने आदर्श उपस्थित करेंगे। गरीबों और साधारण लोगोंके बूते पर तो इसका प्रचार असंभव है। उन्हें तो इससे विपत्ति और लांछना ही भोगनी पड़ेगी।

सुधारकों और जनसंख्याके लिए चिन्तित लोगोंको अविवाहितों और विधवाओंके विवाहकी इस समस्यापर केवल सिद्धान्तकी या उचितानुचित की दृष्टि से ही नहीं, समाजकी वर्तमान अवस्थाको ध्यानमें रखते हुए व्यावहारिक दृष्टिसे भी विचार करना चाहिए, और इसीलिए ये पंक्तियाँ लिखी गई हैं।

—नाथूराम प्रेमी।

सम्पादकीय टिप्पणियाँ

१—अनावश्यक निंदा।

डॉ० मुंजे राष्ट्र के एक कर्मठ सेवक हैं। इसीलिये वे हिन्दू-मुसलिम एकताके भी प्रेमी हैं। परन्तु हिन्दुओंकी कमज़ोरी, असंगठितता उनको खटक रही है। उनकी समझमें इसीलिये हिन्दू-मुसलिम एकता भी नहीं होरही है। इसलिये उनकी सारी शक्ति हिन्दू जातिकी दृढ़ता के लिये लगरही है। इसीके लिये वे सैनिक कॉलेज खोलना चाहते हैं; और भी अनेक काम करते हैं। इन प्रयत्नोंमें उनके कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो क्षोभ उत्पन्न करनेके सिवाय कुछ लाभ नहीं पहुँचाते। उनमें एक है बौद्ध और जैनियोंके साहित्यकी तथा अहिंसाकी निंदा।

उसदिन नागपुरमें महाराष्ट्र-भाषासंवर्धक-मंडलकी सभामें बोलते हुए-साहित्यका मानव हृदय पर क्या प्रभाव पड़ता है-इसपर आपने कुछ कहा। डॉक्टर मुंजेका क्षेत्र साहित्य नहीं, किन्तु समाज तथा साम्प्रदायिक राजनीति है, इसलिये भाषा-संवर्धक-मंडलके व्याख्यानमें भी वे किसी न किसी प्रकार अपने विषयकी बातचीत ले आवें, यह स्वाभाविक है। परन्तु यह काम दूसरों की-ख़ासकर महापुरुषों की—निंदा किये बिना भी होसकता है।

डॉक्टर साहिबने अपनी बात कहनेके लिये बौद्ध साहित्यकी निंदा और वैदिक साहित्यकी प्रशंसा की है। इसलिये उनने दोनों साहित्यका एक एक नमूना पेश किया है। बौद्ध साहित्यके उल्लेख का सार यह है कि—

"एक शिष्य म० बुद्धके पास आता है और एक प्रान्तमें धर्मप्रचार करनेकी आज्ञा मांगता है। बुद्ध के पूछनेपर वह स्वीकार करता है कि 'कोई मेरे प्राण भी लेलेगा तो भी मैं उसे न मारूँगा। न मैं किसीसे यह कहूँगा कि मारो, न यह कहूँगा कि मत-मारो'। इस प्रकारके साहित्यका प्रभाव यह हुआ कि समाज-रक्षण करनेकी जवाबदारी जिन क्षत्रियों पर थी वे हिमालयपर जाकर तपस्या करने लगे। मुहम्मद गोरी और तुर्की गुलाम आदिने बनारस के पंडों और बौद्ध भिक्षुओंकी कतल कर दी"।

वैदिक साहित्यके विषयमें डाक्टर मुंजेका कहना है—"वेदकालीन वाङ्मय कैसा था, इसकी कल्पना एक प्रार्थनासे आजायगी। एक प्रार्थना ऐसी थी कि 'हे परमेश्वर हमारे देशमें ऐसे ब्राह्मण पैदा हों जो आध्यात्मिकता विद्या और बुद्धिमें श्रेष्ठ तथा अन्यायका प्रतीकार करने वाले हों, शूर और रक्षण कर्ता क्षत्रिय हों, हम सौ वर्ष जियें, हमारे नेत्र कान आदि ठीक रहें, हम दीन न बनें'। इस प्रकारके वाङ्मयसे रघुसरीखे वीर पैदा हुए।"

यहां डाक्टर साहिबने वैदिक साहित्यके साथ जितना न्याय किया है, बौद्ध साहित्यके साथ उतना ही अन्याय किया है। और दुःख इस बातका है कि आपने बौद्ध साहित्य और उसके इतिहासपर दृष्टि रखनेकी जराभी कोशिश नहीं की। बौद्ध धर्म पहाड़ोंमें जाकर या एकान्तमें रहकर तप करने का उपदेश ही नहीं देता। इतना ही नहीं, बल्कि वह इसका विरोधी है। तपस्याओंकी बौद्ध साहित्यमें काफी निन्दा है। तब उसे पढ़कर क्षत्रियोंका हिमालय में जा बैठना न तो सम्भव ही था, न ऐसा हुआ। बौद्धधर्मने सदाचारी रहकर समाजसेवा करनेका ही उपदेश दिया था। बल्कि बौद्ध साधु समाजके भीतर यहाँ तक घुसगये थे कि उनकी साधुता ही नष्ट होगई थी। बौद्धोंके विहार सैनिकोंकी छावनी बन गये थे। बौद्ध साधु स्वयं शस्त्र-संचालन करने लगे थे। राजकारणमें वे यहाँ तक भाग लेने लगे थे कि साधारण जनता उनसे त्रस्त और भीत होगई थी। बौद्धधर्मके उखड़नेमें यही प्रधान कारण बना। और यह उस समयकी बात है जब मुसलमानोंकी उत्पत्ति ही नहीं हुई थी। बौद्ध युगमें ही इतने बड़े बड़े सम्राट हुए जो पीछे के हिन्दू युगमें नहीं होसके। इसलिये यह कहना कि बौद्ध साहित्य का प्रभाव कायरताको बढ़ाने वाला हुआ, ठीक नहीं है।

म० बुद्ध और उनके शिष्यका जो वार्तालाप यहां उद्धृत किया गया है उसको समझनेके लिये भी डाक्टर साहिबने कोई चिंता नहीं की। एक धर्म-प्रचारकके मुँहसे आज भी जो शब्द निकलना चाहिये वे ही शब्द म० बुद्धके शिष्यके मुँहसे निकले हैं। धर्मप्रचारके लिये सिर तोड़नेकी आवश्यकता नहीं है, किन्तु सहिष्णुताकी आवश्यकता है। हां, कोई आदमी न्याय-रक्षाके लिये युद्धको जाता होता, और म० बुद्धने कहा होता कि तू चुपचाप वहां शत्रुओंके बाणोंका शिकार होजाना, परन्तु किसीपर हाथ न चलाना, तो अवश्य ही यहां आक्षेपके लिये स्थान था। परन्तु धर्म-प्रचारकको जैसा होना चाहिये वैसाही म० बुद्धका शिष्य साबित हुआ। इसमें बुराईकी क्या बात है? यह उचित ही था। आज भी अपने विचारोंके प्रचारमें जनताके आक्रमणको जो जितना सहन कर सकता है वह उतनी ही अधिक सफलता पा सकता है। कोई आदमी जनताके विरोधमें घूँसा चलाने लगे तो न तो वह जनता पर प्रभाव डाल सकेगा, न अपने प्राण ही बचा सकेगा। म० बुद्धका शिष्य जिस देशमें धर्मप्रचार के लिये गया वहाँ सहिष्णुता धर्म भी था और

नीति (पॉलिसी) भी। कोई उसे मारता और उसके बदलेमें वह भी घूँसा तानता तो धर्मप्रचार का कार्य रक्खा रह जाता और उसकी चटनी बन जाती। धर्म-प्रचारका कार्य करते करते उद्दंड जनताके हाथसे अहिंसात्मक रहकर मरनेमें कमसे कम इतना लाभ तो जरूर था कि मरनेके बाद उसके विचार लोगोंके हृदयमें स्थायी स्थान बनालेते; जैसा कि अनेक धर्म-प्रचारकोंके विषयमें हुआ है।

इसका यह मतलब नहीं है कि जो कार्य धर्म-प्रचारकको करना चाहिये वही राजनैतिक योद्धाको भी करना चाहिये। दोनोंका अपना अपना स्थान है, और अपनी अपनी नीति है।

थोड़ी देरको मानलो कि कोई नीति आजके लिये अनुकूल नहीं है, परन्तु इससे वह निंदनीय नहीं हो जाती। उसकी निंदा करनेके पहिले उस समयपर दृष्टि अवश्य डालना चाहिये। म० बुद्धके समयकी जो समस्या थी और आजकी जो समस्या है, उसमें अंतर है। इसलिये दोनों समयोंकी नीति में भी अंतर हो तो इसमें बुराईकी कोई बात नहीं है। परन्तु इसके लिये दूसरे समयकी नीतिकी निंदा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।

फिर एक बात और है कि आखिर इस निंदाकी आवश्यकता क्या है ? क्या आज लोग बौद्धसाहित्य पढ़ पढ़ कर उदासीन या कायर बन रहे हैं, जिससे उस साहित्यकी निंदा करनी पड़ रही है ? इस समय जो हमारा नाश हो रहा है वह फूट से तथा जाति-पांतिके भेदके कारण हो रहा है, और इस बातके लिये बौद्ध-साहित्य पर जराभी आक्षेप नहीं किया जा सकता। सच पूछा जाय तो यह कहनेमें जरा भी संकोच नहीं होता कि अगर बौद्धधर्म चालू रहा होता तो हिंदू-मुसलमानोंका भेद ही आज दिखाई न देता। बौद्ध-समाजने मुसलमानोंको भी शक और हूणोंकी तरह पचालिया होता, जिसे कि पीछेका वैदिक समाज नहीं पचा-पाया।

मेरा यह कहना नहीं है कि वैदिक धर्म निंदनीय है। वैदिक धर्मकी उदारता और व्यापकताके आगे हर एक विचारशील नतमस्तक हो जायगा। परन्तु वैदिकधर्मके नामपर चलती हुई वर्णव्यवस्था और जातिव्यवस्थाने इस देशका जितना नाश किया है उतना किसी और वस्तुने नहीं किया। एक दिन वह अच्छी थी, परन्तु आज वह सर्वनाशक है। ऐसा सर्वनाश बौद्ध धर्मकी कोई विकृति नहीं कर सकती। खैर, यह बात निश्चित है कि आज भारतवर्षमें न तो बौद्धधर्म का प्रचार है, न उसे पढ़कर लोग कायर बनरहे हैं। तब उसकी निंदा से क्या लाभ है ?

हिन्दू सभामें बौद्ध जैन आदिका भी समावेश किया गया है। उनको एकतामें बाँधने की जरूरत समझी गई है। परन्तु मैं नहीं समझता कि उनके धर्मोंकी और साहित्यकी इस प्रकार मौके बेमौके असत्य और अनावश्यक निंदा करनेसे इस एकताके कार्यमें कहां तक सहायता पहुँच सकती है। डाक्टर साहिब आखिर देशभक्त हैं। इसलिये उन्हें किसी धर्म या साहित्यकी निंदा करने के पहिले खूब सोच समझ लेना चाहिये, और आवश्यक और सत्य होने पर भी जहाँ तक होसके इस प्रकारकी निंदा न करना चाहिये। फिर अनावश्यक और असत्य निंदा करना तो अक्षन्तव्य अपराध है। डॉक्टर साहिब सरीखे नेतासे ऐसी भयंकर भूल कदापि न होना चाहिये। अगर होगई है तो उसे वापिस लेना चाहिये।

२—अविचारी गुरु।

आजका भारतीय समाज अविचारी गुरुओंके मारे त्रस्त होरहा है। उसकी उन्नति रुकी हुई है।

जनतामें एक तो स्वभावसे ही अंधविश्वास और रूढ़िप्रियता होती है, और जब ये गुरु कहलाने वाले सज्जन उसके अंधविश्वास और रूढ़िप्रियताको धर्म का रूप देते हैं, तब वे नाशकारी उन्मादमें परिणत होजाते हैं। आज अगर ये गुरु अपना और जनता का हित नहीं समझते तो लोगोंको स्वयं चाहिये कि वे इनसे पिंड छुड़ाकर विचारशीलतासे काम लें।

अभी अभी डॉ० आँबेडकरकी धर्म-परिवर्तन सम्बंधी घोषणाने देशके सभी दलके नेताओंको क्षुब्ध कर दिया है। अन्य धर्मवालोंने जबकि उन्हें अपने अपने धर्ममें आनेके लिये निमंत्रण दिया, तब हिंदू-धर्मसे सम्बंध रखने वाले बड़े बड़े नेताओंने उन्हें धर्म-परिवर्तनसे रोका। इस प्रकारका धर्म-परिवर्तन हिंदूसमाजके लिये तो घातक है ही, परन्तु देशके लिये भी घातक है। इसलिये जिस तरह भी हो, इस प्रकारका धर्मपरिवर्तन रोकना चाहिये। हरिजनोंकी माँग कुछ ऐसी अटपटी नहीं है कि उसकी पूर्ति न होसके। कमसे कम उस दिशामें प्रयत्न तो होना ही चाहिये।

आज देशका हितैपी वर्ग इस प्रकारके प्रयत्नमें तत्पर है। कुर्तकोटी शंकराचार्य सरीखे विचारक सज्जन तो यहाँ तक कहते हैं कि आवश्यकता होने पर मैं अपना मठ महार-वाड़ामें बनवानेको तैयार हूँ। परन्तु धर्म-गुरुके आसनपर बैठनेवाले ऐसे भी कुछ मनुष्य हैं जिनमें विचारकताका लेश भी नहीं है। अभी ऐसे ही एक धर्मगुरुने कुछ दिन हुये पूना में एक व्याख्यान दिया था, जिसमें आपने अपनी अद्भुत अंधश्रद्धाका परिचय दिया। आपके कहने का सार यह था—

"वैदिक धर्म सर्वश्रेष्ठ है। आज्ञा ही धर्म है। वेदमें अस्पृश्यताका विधान है। यह कलंक नहीं है। जिसे दूसरे धर्ममें जाना हो वह खुशीसे जावे। धर्म का कुछ नीलाम नहीं करना है। जो अस्पृश्य हैं उनने पूर्व जन्ममें अवश्य पाप किया है। धर्माचरण करने के लिये सामर्थ्यकी आवश्यकता है। सामर्थ्यका अर्थ है जाति। ब्राह्मणोंका कार्य करनेकी सामर्थ्य दूसरोंके पास नहीं है। यह उन्हींके पास है" । आदि।

इस वक्तव्यको अगर प्रलाप ही कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अगर आज्ञा ही धर्म है और आज्ञाका निर्णय करनेका ठेका भी आप ही सरीखे सज्जनोंने लिया है, तब धर्मके समान साधारण और हानिकर वस्तु दूसरी कोई नहीं है। ईश्वर, अवतार, पैगम्बर, सर्वज्ञ आदिकी दुहाई तो सभी देते हैं। अगर दुहाई देनेसे ही कोई धर्म सत्य व श्रेष्ठ होजाय तब तो सभी धर्म अच्छे हैं। तब आपके धर्ममें विशेषता ही क्या रही ? किसीका धर्म इसीलिये सर्वश्रेष्ठ कहा जाय क्योंकि उसका बाप उस धर्मको मानता था, तो इससे कोई सर्वश्रेष्ठ नहीं बन सकता। धर्मके विषयमें आज्ञाकी नहीं, विवेककी आवश्यकता है। जहाँ विवेकका—विचारशीलताका—अपमान है, वहाँ धर्म रह ही नहीं सकता।

जो अस्पृश्य हैं, उनने पूर्व जन्ममें अवश्य पाप किया होगा ! परन्तु इसी प्रकार जो कंगाल हैं, बीमार हैं, मूर्ख हैं, दुराचारी हैं, उनने भी पूर्व जन्ममे पाप किया होगा, जिसका वे फल भोग रहे हैं। परन्तु क्या इसीलिये किसी कंगालको श्रीमान् बननेकी कोशिश न करना चाहिये ? क्या इसीलिये बीमारको नीरोग बननेका प्रयत्न न करना चाहिये ? क्या इसीलिये मूर्ख, विद्वान बननेकी कोशिश न करे ? क्या इसीलिये दुराचारी, सदाचारी न बने ? यदि इन बातोंमें हम पुरुषार्थका उपयोग करते हैं, तब क्या अस्पृश्यताके निवारण में न करना चाहिये ? इस तर्कसे तो भारतीयोंको स्वतन्त्र होनेका भी अधिकार न रहेगा, क्योंकि इनकी गुलामी भी पूर्व-जन्मके पाप

का फल है, जो इन्हें भोगना चाहिये। इस प्रकारके बेहूदे तर्काभासको प्रयोग करते समय इन्हें लज्जा का अनुभव नहीं होता, यही बड़ा आश्चर्य है।

फिर एक बात और है। तुम्हारा हिन्दू धर्म या वैदिक धर्म सर्वश्रेष्ठ धर्म है; और उस सर्वश्रेष्ठ धर्मका सहारा लेनेका फल यह है कि बेचारे करोड़ों आदमी अछूत बने हुए हैं—जबकि अगर वे तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ धर्म छोड़दें तो उनकी अछूतता क्षणभर में छूमन्तर होजाय। क्या इसीका नाम सर्वश्रेष्ठता है? जो काम दूसरे साधारण धर्म सरलतासे कर सकते हैं, वह तुम्हारा सर्वश्रेष्ठ धर्म नहीं कर सकता! इससे बढ़कर और लज्जा की बात क्या होगी?

धर्माचरण करनेके लिये सामर्थ्य की आवश्यकता है! परन्तु सामर्थ्यके सिरपर सींग नहीं होते। उसकी परीक्षा तो कार्योंसे ही होसकती है। डॉ० आँबेडकर यदि इतने बड़े प्रोफ़ेसर होगये तो सामर्थ्यका इससे बढ़कर प्रमाण क्या चाहिये? भारतवर्ष में और उसके बाहर जो बड़े बड़े वैज्ञानिक, दार्शनिक, राजनैतिक महापुरुष होगये हैं और हैं, वे सब ब्राह्मण नहीं हैं। हाँ, तुम्हारे सर्वश्रेष्ठ धर्मकी ही यह खूबी हो तो नहीं कह सकते कि जब तक कोई उसका पल्ला पकड़े रहे तब तक उसमें सामर्थ्य ही पैदा न हो; दूसरे धर्मका सहारा लेतेही वह सामर्थ्यवान् होजाय!

ऐसी कौनसी सामर्थ्य है जिसका ठेका किसी जाति-विशेषने लिया हो। सामर्थ्यकी जाँच कराना हो तो काम कराके देखो। अगर उसमें सामर्थ्य नहीं होगी तो वह वह काम कर ही न सकेगा या उसका दुष्फल नजर आयगा, जिससे वह भविष्यके लिये तुरंत ही चेतजायगा। तब आपको वहाँ रोड़े अटकाने की क्या जरूरत है? अछूतोंको मंदिरों में जाने दो। उनमें दर्शन करनेकी सामर्थ्य न होगी तो उन्हें दर्शन होंगे ही नहीं; तब वे आप लौट आयेंगे। दूसरे लोग क्यों बीचमें अपनी टाँग अड़ाते हैं? यह कितने आश्चर्यकी बात है कि जिन लोगोंमें सत्य बोलने की, अहिंसाकी, ब्रह्मचर्यकी, सामर्थ्य तो है, परन्तु देवपूजा सरीखे निम्नश्रेणीके धर्मकी सामर्थ्य नहीं है। इस बेहूदी बातपर कदापि विश्वास नहीं किया जा सकता।

मैं इन धर्मगुरुओंसे कहदेना चाहता हूँ कि गुरुके आसनका दुरुपयोग न करो; कुछ विवेक-बुद्धिसे काम लो। समाजके हिताहित पर भी ध्यान दो। अविचारी गुरु बनकर समाजका, देशका तथा धर्मका नाश मत करो।

सत्यसमाज प्रगति।

श्रीमान् सेठ चुन्नीलालजी कोटेचाके प्रयत्नसे निम्नलिखित सदस्य बने हैं:—

१३९—मोहम्मद हासिम पीर मुहम्मद। उम्र २४। विवाहित। इसलाम पाक्षिक। पता—चौसाला। ता० बीड़। (निजामस्टेट)

१४०-बंशीलाल पूनमचंदजी। उम्र १९ जैनपाक्षिक। C/o फूलचंद जसराज कोटेचा, मु० वाड़वणे पिपलगाँव पो० चौसाला। ता० बीड़ (निजामस्टेट)

सम्मति

श्रीमान भैयालालजी सर्राफ़ वकील बी. ए. एल एल. बी., एम. आर. ए. एस. सागर ने सत्यसमाज और धर्ममीमांसा पर निम्नलिखित विचारपूर्ण सम्मति भेजी है:—

इस छोटी पुस्तकमें सत्यसमाजकी ओर विचार-धारा परिवर्तित कराने वाले विषयोंका पंडितजीने समावेश किया है, साथ ही साथ समाजके नियम और उनके संबंधमें स्वभावतः खड़ी होनेवाली शंकाओंका निराकरण भी किया है। धर्मकी ओरसे

विश्वको अक्षय तथा शाश्वत शांति Inter religionism के बगैर प्राप्त हो नहीं सकती। इस धर्मकी धारणामें सबसे कम विरोध होनेकी संभावना है, वा राजनीतिक स्वार्थोंको छोड़ कर धर्मके नामपर किये जाने वाले अत्याचारों की इतिश्रीका आह्वान है। कुछ हद तक राजनीतिक स्वार्थोंके कारण होने वाली उथल पुथलको भी नियन्त्रित करनेमें यह 'अन्तर्धर्मवाद' सफल होगा।

हमें इस बातका गर्व है कि यह धर्म-समन्वय का कार्य भारतवर्षसे इस रूपमें शुरू हुआ। राष्ट्रीयता कुछ तत्त्वोंकी पोषक है, वा अपेक्षासे उसकी आवश्यकता है; इसी तरह एक दृष्टिकोणसे हर एक धर्म का पोषण होना आवश्यक है। किन्तु विश्वधर्मकी दृष्टिसे तथा धर्मसंघर्ष-निवारण के निमित्त यह आवश्यक है कि सत्यसमाज जैसी संस्थाकी प्राण-प्रतिष्ठा हो, या फिलहाल उसी रूपमें हो जिस रूपमें कि लेखकने अपने निबंध मे ग्रथित किया है।

एक दो नियमोंकी क्रियात्मकताके संबंधमें कुछ भ्रम मुझे भी हुआ था; किन्तु जिस विचार-उदारताको लेकर कि समाज अवतीर्ण हुई है यदि उसकी ओर सतत लक्ष्य रक्खा जावे तो वे अड़चनें ऐसी नहीं कि धीरे धीरे विलीन न हो जावें। जब कि प्राय. हर एक व्यक्तिका सुखदुख परावलम्बी है, तब कोई कारण नहीं कि केवल धार्मिक कट्टरताके कारण ही हम व्यक्तिके सुख-दुःखमे हाथ बँटानेसे हृदय में हिचकिचाहट खड़ी कर दें।

सार्वत्रिक अन्योन्य सम्बंध हमें उदारताकी नीति का अवलम्बन करने को बाध्य करता है। हम कट्टरता के कारण बहुतसी विभूतियोंकी ओर आँख उठाकर देखना पाप समझने लग गये हैं, उनका अनुवर्तन तो कोसों दूरकी वस्तु है।

समाजका हित, जिसका कि हर एक व्यक्ति बहुत उपकृत है, जिस कार्यद्वारा सम्पादित हो, वह कुछ दूर तक स्वार्थकी हदको भी पहुँचे तो भी वह उत्कृष्ट स्वार्थ है। यदि उस उत्कृष्ट स्वार्थ या हित के साधन में कुछ त्याग भी करना पड़े तो वह भी आवश्यक है। वह हर एकको कुछ न कुछ दूर तक करना ही पड़ता है।

इस समाजके गर्भमें सब धर्मोंके वैज्ञानिक संस्कारको धारण भी निहित है, जो कि कल्पित तथा बहुतसी धर्ममें स्थान पाने वाली अन्ध प्रथाओं, रूढ़ियों तथा अत्याचारोंको निकालकर परिष्कृत तथा विशुद्ध धर्मके रूपका दर्शन करावेगा।

सत्यसमाज क्रांतिपथगामी विश्वकी आवश्यकता की पूर्ति है, क्रान्तिकी उग्रताको सीमित करने वाली है। इसके बिना विश्वक्रांति अधूरी है। अपनी विचारस्वतत्रताके कारण समाजको अप्रिय किन्तु विश्वकी जटिल समस्याके हल करनेमें सहायक होने वाली 'समाज' के सूत्रधार तथा उनकी धर्ममीमांसा का मैं हृदयसे स्वागत करता हूं।

—बी. एल. सराफ

लोकमत।

[१] दक्षिण महाराष्ट्र जैनसभाके साप्ताहिक मुखपत्र "प्रगति आणि जिनविजय" के ता० ४ नवम्बरके अंकमें "साहित्यरत्नांचा दौरा" शीर्षक नोट मराठी भाषामें प्रकाशित हुआ है, जिसका हिंदी अनुवाद इस प्रकार है—

साहित्यरत्नजी का दौरा।

"साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी-संस्थापक सत्यसमाजने अपने मतके प्रचारार्थ सांगली, कोल्हापुर आदि स्थानोंपर व्याख्यान दिये थे। उत्कृष्ट भाषाशैली, उत्तम वक्तृत्व, प्रतिपादित विषयका दीर्घ व्यासंग आदि गुणोंके कारण पंडितजीका व्याख्यान सुनने

वाले जरा भी नहीं डरते। पं० दरबारीलाल, माने एक भयंकर सुधारक—इस प्रकारकी मान्यता दूसरोंके समान हमारी भी थी। परन्तु ता० २३-२४ के दो दिनके परिचयसे हमारा खुदका मन बदल गया है, और हमको ऐसा मालूम होनेलगा है कि पंडितजीका मत वास्तवमें विचार करने योग्य है। भाषण अथवा विषय-प्रतिपादनमें अपने मतको प्रस्थापित करनेके लिये जो आप उदाहरण देते हैं उनसे सभी सहमत होजायंगे, यह बात तो नहीं है, और पंडितजीने जो मत स्वीकार किया है उसका असर बहुजनसमाजपर तुरंत ही होगा, यह बात भी नहीं है, फिर भी यह बात भुलाई नहीं जासकती कि उनके विचार अंधधर्माभिमानी लोगोंकी आंखोंमें अंजनके समान हैं और विचारोंको प्रगति देने वाले हैं। अपने विचारके हजारों लाखों आदमी जमा होंगे, ऐसी आशा तो स्वयं पंडितजीको भी नहीं है, फिरभी जिस कार्यका उनने बीड़ा उठाया है, उससे पीछे न हटकर धीरे धीरे अपने मतका प्रचार करते रहना चाहिये। पंडितजीके विषयमें गैरसमझ फैलानेकी अपेक्षा शान्ततासे उनके मतपर विचार करनेकी प्रार्थना है। और हम चाहते हैं कि पंडितजीको स्वीकृत कार्यमें यश मिले।"

[२] कोल्हापुरके "सत्यवादी" पत्रके ता० ६ नवम्बरके अंकमें "सत्यधर्माच्या प्रचाराचा यशस्वी दौरा" शीर्षक एक विस्तृत लेख मराठी भाषामें प्रकाशित हुआ है, जिसमें सत्यसमाजके संस्थापकके प्रवासकी सफलताका हृदयग्राही वर्णन है।

[३] खँडवाके सुप्रसिद्ध साप्ताहिक पत्र "कर्मवीर" के ता० ४ नवम्बरके अंकमें "सत्यसंदेश" की समालोचना प्रकाशित हुई है, जिसका कुछ अंश निम्न प्रकार है :—

"……'सत्यसंदेश' ऐसा ही एक पत्र है, जिसमें जैन संसारका एक छोटासा दायरा नहीं है परन्तु धर्मको 'मानवधर्म' मानलिया गया है। देखिये "सत्यसंदेश" सम्पादकके इस सम्बंधमें कैसे उदात्त विचार हैं! 'संदेश' के सेप्टेम्बर मासके एक अंककी टिप्पणीमें वे लिखते हैं —(एक महाशयने) 'म० महावीरके सम्बंधमें लिखते हुए आपने म० ईसा, म० मुहम्मद आदिकी काफी निंदा कर डाली है। सो आपका जैनधर्म भले हो इन संतोंको पाप-प्रचारक मानता हो, परन्तु मेरा जैनधर्म नहीं मानता।' इसी तरह पत्रमें धार्मिक बातोंके सिवाय अन्यान्य विषयोंका विवेचन भी रहता है। अक्टूबरके द्वितीय पक्षके अंकमें 'बम्बईका कसाईखाना,' 'कुत्तोंका वजट,' 'रूसके विद्यार्थियोंसे प्रश्न, आदि प्रकाशित बातें इसका प्रमाण हैं। छपाई,सफाई आकर्षक है। पत्र विगत दस वर्षोंसे निकल रहा है। धर्मके नामपर पत्थरों पर रुपये कुरबान करने वालोंको हम इस सात्विक पत्रको खरीदने ही नहीं किंतु चिरस्थायी बनानेको प्रेरित करते हैं।"

—जलपाईगुरीके श्रीयुत डी० के० मुकरजी नंगे पाव २० फुट लम्बे तथा ३ फुट चौड़े मार्गपर होकर चले जिसके नीचे १४ इंच मोटी तह जलते हुए अंगारोंकी थी। चलनेसे पहिले उनके पावोंको अच्छीतरह धो दिया गया था, तथा बादमें भी उनके पावोंकी परीक्षा की गई थी।

—काफी दहेज प्राप्त न होनेके कारण देहलीके एक रहीमबख्शने अपनी नवविवाहिता बधू पर बहुत अत्याचार किये तथा उसके माता व पिताने भी इसमें योग दिया। केस चलने पर तीनोंको पाँच पाँच साल सख्त कैदकी सजा हुई।

—अमरोहाके मुहल्ला कोटके जैनमंदिरमें से ता० ६ नवम्बरकी रात्रिको श्वेत पाषाणकी दो जिन-प्रतिमाएँ चोरी गईं।

जैन कॉलिज।

[लेखक — श्रीमान् बा० अजितप्रसादजी जैन एम० ए० एलएल० बी० ऐडवोकेट]

बैरिस्टर व सबजज श्रीमान जमनाप्रसादजीके लेखोंसे जो हर्ष मुझको हुआ था, उससे कईगुणा हर्ष श्रीमान डॉक्टर निहालकरणजी सेठी डी० एससी० का लेख पढ़कर हुआ; और आश्चर्य तो तनिक भी नहीं।

जैन कॉलिजका स्वप्न तो मैं और मेरे कुछ मित्र ३० बरससे देख रहे हैं। और शायद इस स्वप्नके आनन्दमें ही मेरी जीवनलीला समाप्त होजाय, और जैन कॉलिज स्वप्नकी कल्पना ही रहे। किंतु इस स्वप्नमें कोई बात अनहोनी, असम्भव नहीं है; और इस विषयपर जो विचारधारा निरन्तर जारी है, उसमें असंगत युक्ति या पोच दलीलको स्थान नहीं है। कठिनाइयाँ बेशक हैं, लेकिन कठिनाइयोंसे डरना पौरुष-हीनता है।

सेठीजीके लेखकी बुनियाद अनेक कच्ची बातों पर है। उन्होंने यह मान लिया है कि—

१. जैन कॉलिजसे मतलब **साधारण**,
२. आर्ट्स कॉलिज से है,
३. जो किसी युनिवर्सिटीके मातहत रहकर अपना कार्य करेगा,
४. जो अन्य सब शिक्षासंस्थाओंसे अलग रहेगा,
५. जहाँ विचार-संकीर्णता और कषाय-वृद्धि अधिक होगी,
६. जहाँ साम्प्रदायिकता जोर पकड़ेगी,
७. और जो एक चसका है।

जिस जैन कॉलिजका मैं स्वप्न देख रहा हूँ, वह आधुनिक विश्वविद्यालयोंसे कहीं बढ़कर होगा, साम्प्रदायिकता उसके पास भी न फटकेगी, विचार-संकीर्णता और कषायका वहाँ गुजर नहीं होगा, वह किसी युनिवर्सिटीके मातहत न होगा, वह सरकारसे भिक्षा नहीं लेगा; वह स्वावलम्बन और स्वतंत्रताकी ठोस बुनियादपर खड़ा होगा; वह केवल आर्ट्स कॉलिज न होगा, वह सर्व-ज्ञान-मंदिर होगा। उसका बीज हस्तिनापुरमें बोया गया था; बीज फूट कर मुरझा गया, पनपने न पाया। इस ज्ञान-मंदिरमें काम करने वाले उदारचित्त, विश्व-प्रेमपरिपूरित, स्वपरोपकारक, नीच-स्वार्थ-रहित, सदाचारी, साधु-वृत्ति, सेठीजी जैसे प्रौढ़ अनुभवी विद्वान होंगे।

ऐसा कब और किस तरह होगा, यह भविष्य के गर्भमें है। स्कीम तैयार करना मैं व्यर्थ समझता हूँ। मैं काम करनेमें विश्वास रखता हूँ। जब काम चल पड़ेगा, स्कीम बनानेकी आवश्यकता न होगी।

दिल्लीमें जो स्कीम अगस्त १९२३ में बनाई गई थी, उसका अधिक श्रेय मेरे मित्रोंको है। वह उस समयकी परिस्थिति और वातावरणको देखकर रची गई थी, और मैं उससे असहमत नहीं था। किन्तु खेद तो यह है कि वह भी न चली; और न चलने के यह कारण न थे, जो श्रीमान् सेठीजीने प्रदर्शित किये हैं।

यह सच है कि पिछले ३० वर्ष मैंने स्वप्न देखनेमें ही व्यतीत कर दिये, और कुछ काम करके दिखा न सका, और पार्थक्य और साम्प्रदायिकतापूर्ण मनोवृत्ति वाला समझा गया। जैन-कॉलिजका नाम यदि साम्प्रदायिकता-सूचक है, तो मुझे अपनी स्वप्नस्थित संस्थाको ज्ञान-मंदिर नामसे निक्षेपित करनेमें संकोच नहीं है। जैन नाम मुझे इसलिये प्रिय है कि वह विश्व-कल्याणका सूचक है।

प्रत्यालोचना ।

ले०—श्री० रघुवीरशरणजी जैन अमरोहा ।

जून सन १९३५ के "जैन बोधक" में श्रीमान पं० रामप्रसादजी शास्त्री (मुम्बई) का "अमरोहा की शास्त्रीय चर्चा और उसकी तुलनात्मक समालोचना" शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ है। उक्त लेख में समालोचक ने "सत्य संदेश" में प्रकाशित मेरे "अमरोहामें विद्वानोंकी चर्चा" नामक लेख के आधारपर अमरोहा-चर्चा की यथाशक्ति समालोचना करनेका कष्ट उठाया है। उस समालोचना की ही प्रत्यालोचना यहां की जाती है। आशा है कि पंडितजी तथा विज्ञ पाठकगण निष्पक्ष होकर मेरे लेख पर विचार करने का कष्ट उठायेंगे।

श्रीमान पं० वंशीधरजी शास्त्री (शोलापुर) की प्रतिज्ञापर जो मैंने अपनी सम्मति दी थी, उसके उत्तरमें जो पं० रामप्रसादजीने "आगमकी श्रद्धा" तथा "दृढ़ स्वानुभव" वाली बात कही है, वह कोई मूल्य नहीं रखती। यह बात तो हर कोई अपनी मान्यताके सम्बन्धमें कह सकता है। जिस समय सृष्टि-कर्तृत्ववादी ईश्वरको अनुभवगम्य बतला कर सृष्टिकर्तृत्वका गीत गाते हैं, उस समय तो हम जैन लोग तर्ककी दुहाई दे देकर उनका विरोध करने लगते हैं, परन्तु जहां अपनी मान्यता पर कुछ आ बनती है वहीं हम युक्तियोंको निःसार कहकर "अनुभव गम्य," "दृढ़ स्वानुभाव", "आगम की श्रद्धा" आदिकी दुहाई देने लग जाते हैं। यदि विचारशील जगतको ये दुहाइयां मान्य हो जांय, फिर तो कोई किसीका खंडन तो क्या, विरोध भी न कर सकेगा और इस तरह बेरोकटोक कोने कोने में गड़बड़ाध्याय फैल जायगा। यही नहीं, पापों को भी धर्ममें स्थान मिल जायगा। अतः पंडितजीकी प्रतिज्ञा सम्बन्धी मनभावनी समालोचना बिल्कुल व्यर्थ है।

चर्चा-सम्बन्धी समालोचनाकी प्रत्यालोचना निम्न प्रकार है:—

पं० दरबारीलालजी—तरतमता का अनन्तता के साथ अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। इस लोक के शरीरकी अवगाहनामें तरतमता है परन्तु इससे लिए सर्वव्यापक शरीर सिद्ध नहीं होता। जहां तरतमता है वहां कोई सबसे बड़ा हो सकता है, परन्तु वह अनन्त ही हो, यह बात किसी भी तरह सिद्ध नहीं हो सकती।

इसपर पं० रामप्रसादजी की समालोचना —

"तरतमताका अनंतताके साथ अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है, यह पं० दरबारीलालजीका कहना वादमात्र है। आपने तरतमता का अनंतताके साथ अविनाभाव खंडन करनेके लिए जो शरीरकी अवगाहनाका दृष्टान्त देकर खंडन करना चाहा है, वह उनके स्वपक्षका साधक न होकर उलटा परपक्षका अविनाभाव सिद्धिका साधक हो गया है। क्योंकि शरीरकी अवगाहनाकी जहांपर उत्कृष्टता है, वह दृष्टान्त-कोटिमें तरतमता और अनंतताकी अविनाभावकी साधकता है। कारण कि **शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना यद्यपि अनन्तताकी कोटिमें नहीं है, तथापि जो पदार्थ अनन्त हैं,** उनकी तरतमता की अविनाभाविता में तो यह साधक ही है, अतः यह दृष्टान्त परपक्षका घातक न होकर स्वपक्षका घातक ही है। दुनियाँ में ऐसी कोई बात तो है नहीं

कि कोई पदार्थ अनन्त नहीं है, क्योंकि आकाशके घटाकाश पटाकाश आदि तरतमकी क्रमशैलीमें निरावरण समस्त आकाशमें तरतमता की उत्कृष्टता पर अनन्तता स्वयमेव ही है। इसीतरह ज्ञानकी निरावरण तरतम शैलीमें उत्कृष्टता पर अनन्तता स्वयमेव ही समुस्थित है।"

पंडित जीकी उपरोक्त समालोचना पर हँसी आए बिना नहीं रहती। अवगाहना वाले दृष्टान्तसे केवल यही सिद्ध होता है कि जहा तरतमता है वहा कोई सबसे बड़ा अवश्य होगा, परन्तु वह अनन्त ही होना चाहिये, यह नियम नहीं है, क्योंकि शरीरकी अवगाहनामें तरतमता होने पर भी किसीका शरीर अनन्त नहीं है।* इस दृष्टान्त द्वारा पं० दरबारीलालजी यह सिद्ध करना नहीं चाहते कि 'जहा तरतमता है वहाँ अनन्तता हो ही नहीं सकती' —जैसाकि समालोचकने समझ रखा है। वे तो केवल इस युक्त्याभासका खंडन करना चाहते हैं कि 'जहा तरतमता है वहां अनन्तता अवश्य होगी'। बात यह है कि जहाँ तरतमता है वहा अनन्तता हो भी सकती है, और नहीं भी हो सकती है। न तो तरतमताका अनन्तताके साथ ही अविनाभावी सम्बंध है और न सान्तताके साथ। उसका सम्बध तो सर्वोत्कृष्टता के साथहै जो कि संख्यात असंख्यात भी हो सकती है। अगर वह वस्तु अनन्त हो तो सर्वोत्कृष्टता अनंत रूप पड़ सकती है। परन्तु इसके पहिले उस वस्तुको अनंत सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण देना पड़ेगा। पहिले ज्ञान अनंत सिद्ध होजाय, पीछे उसकी तरतमतासे सर्वोत्कृष्टता और सर्वोत्कृष्टतासे अनंतता मानी जायगी। यहां तो यही साध्य है, किंतु यहां उसे हेतु बना दिया गया है। साध्य कदापि हेतु नहीं बन सकता। यदि पं० दरबारीलालजीने यह कहा होता कि जिस प्रकार शरीरकी अवगाहनामें तरतमता होने पर भी सांतता है, ठीक उसी प्रकार ज्ञानमें तरतमता होने पर भी सांतता है क्योंकि शरीरकी तरह ज्ञान सांत है, तब तो पं० रामप्रशादजीकी आकाशवाली बात ठीक थी। लेकिन पं० दरबारीलालजीने साध्यको हेतु बनाने की भूल नहीं की है, अतः पं० रामप्रशादजीकी साध्यको हेतु बनानेकी भूलका स्वागत नहीं किया जा सकता।

आगे चलकर समालोचककी यह कल्पना कि "ज्ञानका अर्थ जानना है इसलिये वह अनन्तको ही जानेगा" तथा "जाननेके साथ न जानना संभव नहीं है" —ये दोनों वाक्य पं० वंशीधरजीके कहे नहीं मालूम होते, बिलकुल गलत है। हुबहू येही वाक्य पं० वंशीधरजीने कहे थे, उनमें मात्रा तक का भी तो अन्तर नहीं है। खैर, इससे इतना तो मालूम होता है कि अगर वंशीधरजीने ये शब्द कहे हों तो पं० रामप्रशादजी उन्हें पं० वंशीधरजी की भूल मानते हैं, इसीलिये उनने अपनी तरफसे संशोधन किया है, परन्तु उससे भी उनके पक्षका समर्थन नहीं होता। "ज्ञानका अर्थ जानना है, इसलिये वह अनन्तको भी जानेगा" —इससे सर्वज्ञत्वसिद्धि नहीं हो सकती। ज्ञानका अर्थ जानना है न कि 'अनन्तको ही जानना' या 'अनंत को भी जानना' अतः 'ज्ञानका अर्थ जानना है इसलिये वह जानेगा' यह तो कहा जा सकता है, लेकिन कितनेको जानेगा यह उस समय तक नहीं कहा जा सकता जबतक कि उसे सिद्ध न कर दिया जाय। ज्ञानके अर्थमात्रसे पं० वंशीधरजी तथा उन के समर्थक पं० रामप्रशादजी ज्ञानकी अनन्त विषयता सिद्ध करना चाहते हैं—यह बड़ीही आश्चर्यजनक व मजेदार बात है।

इसके अतिरिक्त पं० रामप्रशादजी द्वारा पं० वंशीधरजीका दूसरा संशोधित वाक्य, कि "जान-

* जैन शास्त्रोंमें शरीरकी अवगाहना अधिकसे अधिक एक हजार योजन की बतलाई है।

नेके साथ अनंतका न जानना संभव नहीं है, " बिलकुल ही निस्सार है। ऐसा माना जाय तबतो निगोदियासे लेकर अरहंत तक सभी सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे जानते हैं।

अत समालोचकके दोनों संशोधित वाक्य सर्वज्ञत्व सिद्धिके लिये बेकार हैं आगे भी देखिये—

पं० वंशीधरजी— ज्ञानका अर्थ जानना है इस लिये वह अनन्तको ही जानेगा। जाननेके साथ न जानना संभव नहीं है।

पं० दरबारीलालजी —ज्ञानका अर्थ जानना है न कि अनन्तको जानना। जाननेसे ही अनन्तको जानना सिद्ध नहीं हो सकता। जाननेका न जाननेके साथ विरोध तभी हो सकता है, जब वे एकही अपेक्षासे कहे जांय। एकको जाने दूसरेको न जाने, इसमें क्या विरोध ? अन्यथा सिद्ध आदिकी अवगाहना भी अनन्त मानना पड़ेगी क्योंकि अवगाहनाके साथ अनवगाहना नहीं रह सकती है।

पं० बंशीधरजीने—जाननेके साथ न जानना संभव नहीं—इस वाक्यकी सहायतासे सर्वज्ञत्व-सिद्धि करनी चाही, जिसका पं० दरबारीलालजी जीने सयुक्तिक खंडन किया। उस खंडनको अस्वच्छ तथा 'उत्तर पानेके अयोग्य' कहना उत्तर न दे सकनेका बहाना मात्र है।

इसके पश्चात् पं० दरबारीलालजीकी उपरोक्त अवगाहना वाली बातके विरोधमें पं० बंशीधरजी के "अवगाहनाकी बात दूसरी है। वह द्रव्य है। ज्ञान शक्ति है। शक्ति और द्रव्यमें विषमता है। शक्ति अनंत होती है, पर द्रव्य अनंत नहीं होता।" —इन वाक्योंका समालोचक महोदयने बड़ा अजीब संशोधन व समर्थन किया है, जिसको पढ़ कर हंसी आती है। विद्वान समालोचक द्वारा पं० बंशीधरजी का संशोधित उत्तर इस प्रकार है—

" अवगाहनाकी बात दूसरी है। वह द्रव्य है, ज्ञान शक्ति है और द्रव्यमें विषमता है। शक्ति अनंत होती है, पर द्रव्य अनंत नहीं होता"।

स्पष्ट है कि पं० रामप्रशादजी द्वारा पं० बंशीधरजीकी बातका संशोधन तो दरकिनार, वह उलटी अधिक दूषित होगई। "ज्ञान शक्ति है और द्रव्यमें विषमता है" से तो 'ज्ञान शक्ति है, शक्ति और द्रव्यमें विषमता है' ही उत्तम था। खैर।

आगे चलकर समालोचकने डबल संशोधन किया है। आप कहते हैं कि " शक्ति अनन्त होती है, पर द्रव्य अनन्त नहीं होता"—की जगह 'यहाँ पर शक्ति अनन्त होती है, पर द्रव्य अनंत नहीं होता' होना चाहिये"। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि पं० बंशीधरजी ऐसा कहते तो वे यह कदापि न कहते कि 'द्रव्य अनंत नहीं होता, यह बात मैं अपनी तरफसे नहीं कहता परन्तु आपकी तरफसे कहता हैं" बल्कि निर्भीकतापूर्वक यह कहते कि "मैं यह नहीं कहता कि द्रव्य अनन्त नहीं होता, बल्कि यह कहता हूँ कि यहां पर द्रव्य अनन्त नहीं है।" अत बिल्कुल स्पष्ट है कि यहाँ 'यहां पर' जोड़ कर पं० बंशीधरजीकी गलती को छिपाना न्याययुक्त नहीं।

शरीरावगाहनाका दृष्टान्त केवल तरतमता और अनन्तताके अविनाभाव सम्बंधका खंडन करता है, न कि पदार्थके अनन्तत्वका। समझ मे नहीं आता कि समालोचकने इस दृष्टांतसे पदार्थके अनन्तत्वकी अस्वीकारता वाली बेढंगी बात कैसे लिखदी! समालोचक महोदय तथा उनके समर्थनके विषय पं० बंशीधरजीको विदित हो कि पं० दरबारीलालजी अनंत वस्तु (जैसे आकाश) के अनंतत्वको अस्वीकार नहीं करते हैं, बल्कि सांत वस्तु (जैसे ज्ञान) के अनन्तत्वको अवश्य अस्वीकार करते हैं; यही नहीं उसका सफल खंडन भी करते हैं।

आगे चल कर मौखिक-चर्चामें जो विषय प्रतिपादित हुआ है, उसमें उपरोक्त प्रतिपादित चर्चाकी तरह पं० वंशीधरजीका पक्ष एकदम गिरा हुआ है, फिर भी पं०रामप्रशादजीने पं०दरबारीलालजीके पक्ष को गिरा हुआ बतलाने का साहस किया है! मालूम होता है कि समालोचक महोदयमें ऐसे साधारण विषयको समझनेमें भी त्रुटि है, या आपने पक्षपातवश ऐसा लिखा है। ऐसे सरल विषयको 'गहन' बतलाना आपकी विद्वत्ताकी हीनताका परिचायक है। यह देख कर बहुत दुःख होता है कि हमारी जैन समाजके विद्वानोंका standard बहुत ही low है।

पं० रामप्रशादजीने जो यह प्रश्न पूछा है कि मध्यस्थ महोदयने पं० वंशीधरजीके पांडित्यकी महिमा का क्यों उल्लेख किया है सो मध्यस्थ तो वहां कोई था ही नहीं। एक भाईने जो कहा है उसका कारण यह है कि पं० वंशीधरजीने उक्त साधारण भाईको "जैन धर्मकी तहोंमें पहुँचनेवाले अच्छे मर्मज्ञ विद्वान' आदि अलंकार युक्त विशेषणोंसे सम्मानित किया तो उनने भी बदला चुकानेके उद्देश्यसे पं० वंशीधरजीकी प्रशंसामें अलंकारका प्रयोग कर डाला।

पं० दरबारीलालजीके इस वाक्यपर कि "द्रव्यको अनन्त मान लेने पर भी मेरा अनवगाहना वाला दृष्टान्त बिलकुल ठीक रहा," पं० रामप्रशादजीने यह आक्षेप किया है कि 'यह प्रतिज्ञा वाक्य है, इस प्रतिज्ञा वाक्यके समर्थनमें कोई हेतु नहीं है'। इससे मालूम होता है कि आपको यह भी नहीं मालूम कि हेतुका प्रयोग कब किया जाता है। पं० वंशीधरजीका हेतु व्यभिचारी है, इसके लिये पं० दरबारीलालजीने एक व्यभिचार-स्थल बता दिया है। उनको हेतु देनेकी जरूरत नहीं है। खैर, पं० दरबारीलालजी तो पहिले ही कह चुके हैं कि यदि पं० वंशीधरजीके अनुसार "जानने" में "न जानना" न माना जायगा तो जिस प्रकार ज्ञानको अनन्त माना गया है उसी प्रकार अवगाहनाको भी अनन्त मानना पड़ेगा, क्योंकि अवगाहनाके साथ अनवगाहना नहीं रह सकती है, परन्तु पं० वंशीधर जीने इस अभिप्रायको साफ उड़ाना चाहा, जिस पर पं० दरबारीलालजीने यह कहा कि "मेरा अनवगाहना वाला दृष्टान्त बिल्कुल ठीक रहा।" ऐसी स्पष्ट और सरल बातमें हेतुकी कोई आवश्यकता नहीं है। द्रव्य अनन्त माना जाय या सान्त, अनवगाहना वाला दृष्टान्त जैसे का तैसा खड़ा रहता है। पं० दरबारीलालजीने आगे यह कहा था कि "अवगाहना भी तो प्रदेशत्व गुणकी पर्याय है।" इसकी समालोचना करते हुए पं० रामप्रशादजी लिखते हैं कि "आपकी (पं० दरबारीलालजीकी) बुद्धि में प्रदेशत्व गुण और अवगाहना पर्याय सर्वथा एक ही वस्तु है।" समझ में नहीं आता कि उन्होंने ऐसी बेसिरपैरकी बात क्यों लिख डाली! पं०दरबारी लाल जी साफ कह रहे हैं कि "अवगाहना प्रदेशत्व गुण की पर्याय है" न कि यह कि "अवगाहना पर्याय और प्रदेशत्व गुण सर्वथा एक ही वस्तु हैं।" खेद है कि विद्वान समालोचक ऐसी साधारण बात को समझने में भी भूल कर बैठे हैं।

आगे देखिए—

पं० वंशीधर जी—जैन शास्त्रोंमें प्रत्येक शक्ति को अनन्त माना है।

पं० दरबारीलालजी—मानी तो बहुत सी चीजें हैं, परन्तु उन्हें अनन्त सिद्ध कीजिए।

पं० वंशीधर जी—कैसे सिद्ध करूँ? क्या इसे ठोंक दूँ?

पं० वंशीधरजीके उपरोक्त हास्यास्पद वाक्यों की महिमा गाते हुए समालोचक महोदयने अपनी रीत्यानुसार "अनुभव गम्य" तथा "जैन शास्त्रों" की दुहाई दी है, जो विचार-जगत्में कोई मूल्य

नहीं रखती। अतः उस पर उपेक्षा की जाती है। विद्वान समालोचक लिखते हैं कि "मानी तो बहुत सी चीजें हैं परन्तु उन्हें अनन्त सिद्ध कीजिए—यह लिखना आपका (पं० दरबारीलालजीका) ऐसा है कि मानो आप हर एक गुण के अनन्त विकार (पर्याय) को ही नहीं जानते।" आश्चर्य है कि एक विद्वानने ऐसी अनुपयोगी व असम्बद्ध बात क्यों लिखी? यदि अनन्त पर्यायोंसे ही गुणका ऐसा अनंतत्व सिद्ध हो जाय फिर तो सर्वज्ञत्व सिद्धि करना चुटकियोंका खेल है। यही नहीं, फिर तो लोकमें अनंत ही अनंत दिखाई देने लगेगा, यहां तक कि 'सान्त' भी अनंत कहलाया जाने लगेगा। इस प्रकार बेचारे 'अंत' का तो अंत ही हो जायगा। फिर तो मुक्ति-विषयक मान्यता भी स्वतः खंडित हो जायगी। इसप्रकार सर्वज्ञत्व-सिद्धि के साथ मुक्ति-खंडन हो जायगा। स्पष्ट है कि इस पूर्वापर विरोधसे सिवाय गड़बड़ाध्यायके और कुछ सार नहीं निकल सकेगा।

पं० रामप्रशादजीको विदित हो कि वे अनंत विकार (पर्याय) वाली बातसे किसी गुणका काल की अपेक्षासे अनंतत्व सिद्ध कर सकते हैं, मगर शक्तिकी अपेक्षासे अनंतत्व सिद्ध नहीं कर सकते, जैसा कि आपने करना चाहा है।

"कैसे सिद्ध करूँ?" व "क्या इसे ठीक दूँ?"—पं० वंशीधरजीके इन मजेदार निकम्मे वाक्योंका भी पक्षपातवश समालोचक महोदयने समर्थन कर डाला है! आप उन्हें "सर्वथा सयुक्तिक" व "बिल्कुल योग्य" तक कह गए हैं। वाह! वाह!! कैसी योग्य व उत्तम समालोचना [illegible] कि हेतुरहित प्रतिज्ञा वाक्यों द्वारा [illegible] समर्थन करना विद्वान समालोचकजी की दृष्टिमें "सर्वथा सयुक्तिक" है। बवश होकर कहना पड़ता है कि यदि आप लोग "ज्ञान शक्ति है, शक्ति अनंत होती है, इसलिए ज्ञान अनंत है, अतः वह अनंत ज्ञाता हुआ। इसमें सर्वज्ञसिद्धि हो गई"—ऐसे प्रतिज्ञावाक्योंसे सर्वज्ञत्व सिद्ध करना चाहते हैं तो कृपया मौन रहा करें, व्यर्थ समय व शक्ति न खोया करें।

आगे—

पं० वंशीधर जी—दर्पणके ऊपर जबतक मैल लगा रहता है, तब तक उसमें **पूरा प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता,** किंतु शुद्ध हो जानेपर उसमें **प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी सीमा** नहीं रहती। इसी प्रकार आत्मामें भी अनंत पदार्थ झलकते हैं।

पं० दरबारीलालजी—शुद्ध होने पर भी दर्पण में अनंत पदार्थ नहीं झलक सकते। एक एक प्रदेश में अगर एक एक पदार्थ भी झलके तो असंख्यात पदार्थ ही झलक सकेंगे, अनंत नहीं।

स्पष्ट है कि पं० वंशीधरजीने दर्पणके दृष्टान्तसे यह सिद्ध करना चाहा कि आत्मामें भी अनन्त पदार्थ झलक सकते हैं, अतः पं० दरबारीलालजीने भी उसी दृष्टान्तकी सहायतासे इस अनंतत्व का खण्डन कर दिया। अतः पं० रामप्रसादजीका यह कहना कि "पं० दरबारीलालजीका यह कथन दृष्टांत तथा दार्ष्टान्तको एक समझने सरीखा है" बिल्कुल निराधार है। हां, यदि पं० वंशीधरजी दर्पणके दृष्टान्तसे ज्ञानकी शुद्धता व निर्मलता सिद्ध करते और विरोधमें पं० दरबारीलालजी उस दृष्टान्त से ज्ञानके अनंतत्वका खंडन करते, तब यह आक्षेप ठीक था।

आगे चलकर विद्वान समालोचक लिखते हैं कि "इस दृष्टान्तका आशय सिर्फ इतना ही है कि स्वच्छ दर्पणमें जिस प्रकार अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसीप्रकार पूर्ण शुद्ध ज्ञानमें अनन्त पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं।" इसीका व्यर्थ पिष्टपेषण

करते हुए आप फिर लिखते हैं कि—"यहां दृष्टांत का असली आशय यह है कि जिस प्रकार स्वच्छ दर्पणमें अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसी प्रकार स्वच्छ ज्ञानमें अनन्त पदार्थ झलकते हैं। यानी स्वच्छ एक दर्पण अनेक पदार्थ प्रतिबिम्बिता का साधन है, उसीप्रकार एक पूर्ण स्वच्छ ज्ञान अनन्त पदार्थ प्रतिभासमें साधन है।"

उपरोक्त समालोचना पढ़कर समालोचन की निसारतापर दया आये बिना नहीं रहती। "शुद्ध हो जाने पर उसमें प्रतिबिम्बित पदार्थोंकी सीमा नहीं रहती"—इस वाक्य द्वारा पं० वंशीधरजीने यह भाव प्रकट किया है कि दर्पणमें अनन्त पदार्थ झलकते हैं, अतः ज्ञानमें भी अनंत पदार्थ झलकेंगे। इसीप्रकार पं० दरबारीलालजीको यह सिद्ध करना पड़ा कि दर्पणमें अनन्त नहीं, असंख्य पदार्थ झलक सकते हैं। मगर हमारे समालोचक महोदय तो पं० वंशीधरजीको भी चार क़दम पीछे छोड़कर दर्पण में अनेक पदार्थोंके प्रतिबिम्बित होनेसे ही ज्ञानका अनन्तत्व सिद्ध करना चाहते हैं। पंडितजीको ज्ञात हो कि दर्पणमें अनेक पदार्थोंके प्रतिबिम्बित होने से ज्ञानमें अनेक पदार्थोंका प्रतिभास तो सिद्ध होता है, परन्तु अनंत पदार्थोंका प्रतिभास तो हरगिज़ भी सिद्ध नहीं होता, वरन इसका खण्डन ही होता है। इस दृष्टांत द्वारा ज्ञानकी शुद्धता व निर्मलता तो सिद्ध की जा सकती है, अल्पज्ञानी व पूर्णज्ञानी (अनंतज्ञानी नहीं) के ज्ञानोंकी शुद्धताका अंतर समझा जा सकता है, मगर ज्ञानकी विषयता सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि इस ओर प्रयत्न किया गया तो अनंतत्वका खंडन ही होगा। यदि पंडितजी यह कहते कि "इस दृष्टांतका आशय सिर्फ इतना ही है कि स्वच्छ दर्पणमें जिस प्रकार पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, उसीप्रकार पूर्ण शुद्ध ज्ञानमें भी पदार्थ प्रतिबिम्बित होते हैं, या झलकते हैं," तब तो ठीक था। परन्तु समालोचक महोदय दर्पणके साथ 'अनेक पदार्थ' लगाते हुए भी ज्ञानके साथ 'अनंत पदार्थ' लगाने का साहस कर रहे हैं, जो युक्तिसंगत नहीं।

समालोचक महोदय आगे चलकर लिखते हैं कि "पर पदार्थको (शुद्ध अवस्थामें) अपने में प्रतिभासित करना, यह ज्ञानका स्वभाव दर्पणके दृष्टांत में सर्वप्रकार स्पष्ट है।" इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। वास्तवमें इस दृष्टांतसे ज्ञानका स्वभाव सिद्ध है, न कि ज्ञानकी शक्ति।

विद्वान समालोचकका प्रतिज्ञारूपमें यह कहना कि "दर्पण का प्रतिबिम्बित में अनेक पदार्थ साधन हैं इसलिये वह अनेकात्मक है, उसीप्रकार ज्ञानकी प्रतिभासतामें अनंत पदार्थ साधन हैं, इसलिये वह अनंतात्मक है" बड़ा ही अजीब है। क्या पंडितजी यह बतलानेकी कृपा करेंगे कि दर्पणमें अनंत पदार्थ साधन क्यों नहीं? ज्ञानमें दर्पण की तरह अनेक पदार्थ साधन क्यों नहीं? कहना पड़ता है कि "ज्ञानकी प्रतिभासतामें अनंत पदार्थ साधन हैं" को हेतु बनाकर पंडितजी फिर साध्य को हेतु बनाने की भूल कर बैठे हैं।

आगे भी देखिये—

पं० वंशीधरजी—ज्ञानका अर्थ है जानना, इससे वह अनंत सिद्ध हो जाता है, क्योंकि जब पदार्थ अनंत है तब ज्ञान भी अनंत होगा। यह कैसे हो सकता है कि पदार्थ तो अनंत हों, परन्तु ज्ञान अनंत न हो?

पं० दरबारीलालजी—ज्ञानका शब्दार्थ तो जानना है, न कि अनंत को जानना। अनंत आप ऊपर से क्यों मिला देते हैं? उसे सिद्ध करने के लिये तो युक्ति दीजिए। पदार्थ के अनंत होने से पदार्थ अनंत हुआ, ज्ञान अनंत कैसे हो गया?

पं० वंशीधरजी—सब पदार्थ ज्ञेय हैं, इसलिये ज्ञान सबको जानता है।

पं० दरबारीलालजी—सब पदार्थ किसी एक ज्ञानके विषय हैं, यह तो यहाँ सिद्ध करना है। उसको आप हेतु क्यों बनाते हैं ? साध्य हेतु नहीं बनता।

इसपर पं० रामप्रशादजीकी समालोचना—

"असलियतमें देखा जाय तो यहाँ पं० वंशीधरजीके वचनोंमें साध्यको हेतु बनाया ही नहीं है। कारण कि यहां साध्य है—'सर्व पदार्थ कर जानना' और हेतु है 'सब पदार्थ ज्ञेय' अर्थात् सर्व पदार्थ ज्ञेय हेतुसे पं० वंशीधरजीने ज्ञान सबका ज्ञाता है, यह सिद्ध किया है।"

यहां समालोचक महोदयने कमाल कर दिया है। स्पष्टतः इस चर्चा में "सर्वज्ञको त्रिकाल त्रिलोक की समस्त द्रव्यगुणपर्यायोंका युगपत् प्रत्यक्ष होता है"—साध्य है। पं० वंशीधरजीने "सर्व पदार्थ ज्ञेय हैं"—यह वाक्य जो कहा है, वह एक आत्माके ज्ञानकी अपेक्षा से कहा है, क्योंकि सर्वज्ञत्व-सिद्धि के लिये यही पहलू सम्भव है। यदि पं० रामप्रशादजी के अनुसार पं० वंशीधरजीने सब पदार्थोंको एक आत्माके ज्ञानकी अपेक्षासे ज्ञेय नहीं कहा है, तो सर्वज्ञत्वका समर्थन नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वज्ञत्वसिद्धि तो तभी सम्भव है, जब कि सब पदार्थ किसी एकके ज्ञानके विषय हों। पं० दरबारीलालजीको पं० वंशीधरजी की योग्यतासे पूरी आशा थी कि उन्होंने सर्व पदार्थोंको एक आत्माके ज्ञानकी अपेक्षासे ज्ञेय कहा है, इसलिए उन्होंने यह कहा कि 'यही तो साध्य है, आप इसे हेतु क्यों बनाते हैं ?' "सर्व पदार्थ एक आत्मा के ज्ञानके विषय हैं" या "एक आत्मा सब पदार्थोंका ज्ञाता है"—इन दोनों वाक्यों में कोई भी सिद्ध कर दिया जाय तो सर्वज्ञत्व की सिद्धि हो जाती है, परंतु एकको सिद्ध करनेके लिये दूसरेको हेतु नहीं बनाया जासकता, क्योंकि साध्य हेतु नहीं बन सकता।

सर्वधर्मामृत।

(४)

जो मिलजाय उसीसे संतुष्ट, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त, निर्मत्सर और सफलता-असफलता को समबुद्धि रखने वाला पुरुष कर्म करके भी उसके पाप पुण्यसे बद्ध नहीं होता। ४-२२। जो ब्रह्मचारी है, जिसका हृदय शुद्ध है, जिसने मन और इन्द्रियों को जीत लिया है और सब प्राणियोंको जिसने आत्म रूप— अपने समान—समझा है वह मनुष्य सब-कुछ करते हुये भी पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होता। ४-७। कर्मयोगी आत्मशुद्धिके लिये, अनासक्त अहंकार छोड़कर शरीरसे, मनसे, बुद्धिसे और केवल इन्द्रियोंसे भी काम करते हैं। ४-११।

—गीता (**वैदिक धर्म**)

भयंकरसे भयंकर शत्रु जो अनर्थ नहीं कर सकता है, वह कुमार्गगामी आत्मा करता है। परन्तु कुमार्गमें जाते समय उसको यह विचार थोड़ेही आता है ? अंतमें जब वह मृत्यु-मुखमें जाने लगता है, तभी पछताता है। २०-४८। भ्रष्टाचारी साधुका त्याग निष्फल है; उसका पुरुषार्थ उल्टा होजाता है। उसे कभी शांति नहीं मिलती, वह बाहरसे और भीतरसे दुःखी रहता है। २०-४९।

—उत्तराध्ययन (**जैनधर्म**)

चन्दन, तगर, कमल, बेला आदिकी सुगंधसे सज्जनोंकी सदाचाररूपी सुगंध उत्तम है। ४-१२ जिसे रात्रिमें सुख-निद्रा नहीं आती उसे रात्रि बड़ी मालूम होती है। जो थका हुआ है उसे कोसभर चलना कठिन मालूम होता है। इसी प्रकार अज्ञानी प्राणीको संसार-यात्रा बड़ी कठिन मालूम होती है।

पं० रामप्रशादजीका लेख अपूर्ण ही रहा है। पूर्ण होनेकी आशामें देर हुई है।

५–१। जो मनुष्य अपनी मूर्खताको जानता है वही पंडित है। जो मूर्ख होकर भी अपनेको पंडित मानता है, वह महामूर्ख है। ५–४। जैसे अनेक अच्छे व्यञ्जनोंमें पड़ा रहनेपर भी करछुलीको उनका स्वाद नहीं मिलता, उसी प्रकार मूढ़ लोग महात्माओंका सेवन करनेपर भी धर्मका मर्म नहीं पाते ५–५। जैसे जीभ स्पर्शमात्रसे व्यंजनका स्वाद जान लेती है, उसी प्रकार सच्चे विद्वान महात्माओंकी थोड़ी भी संगतिसे धर्मका मर्म जान लेते हैं। ५–६

—धम्मपद (**बौद्धधर्म**)

सब भले पुरुष और सब भली महिलाएं—जो कि पहिले हो चुकी हैं और इस समय मौजूद हैं, उनकी मैं प्रशंसा करता हूं।

—होशबाम (अवस्ता-**पारसीधर्म**)

पहिले यह कहागया था कि जो कोई अपनी पत्नीको त्यागे, वह पहिले उसे त्यागपत्र दे। पर मैं तुमसे कहता हूं कि जो कोई व्यभिचारको छोड़ कर और किसी कारणसे अपनी पत्नीको त्यागे, वह उससे व्यभिचार कराता है, और जो कोई उस त्यागी हुईसे विवाह करे, वह व्यभिचार करता है।

—बाइबल मत्ती ५ (**ईसाईधर्म**)

तुझे शराब और द्यूतके विषयमें पूछा जाय तो तू कह कि इन दोनोंमें बड़ा पाप है। इसमे जितना लाभ है, नुकसान उससे बहुत ज्यादः है।... लोग तुझसे पूछते हैं कि हम कितना खर्च करें तो उनसे कहदे—जितना बाकी बचे वह खर्च करदो। (इस वाक्यमें निःपरिग्रहताका उत्कृष्ट तत्त्व समाया हुआ है) २—२१६। तुझसे अनाथ बालकोंके विषयमें भी लोग पूछते हैं तो कहदे कि जिससे उनकी सुधारणा हो वही उत्तम है। तुम उनके साथ हिलमिल कर रहो तो वे तुम्हारे भाई हैं। २—२२०

—कुरान (**इसलाम धर्म**)

[अनाथ बालकोंके रक्षणके लिये भी म० मुहम्मद ने जोर दिया था। अनाथ बालकों की सम्पत्तिका कौड़ी कौड़ीसे रक्षण होना चाहिये, यह कठोर आदेश था। इसलिये बहुत से लोगोंने अनाथ—मातृपितृहीन—बालकोंका खानपान जुदा कर दिया जिससे भूलचूकसे भी उनकी सम्पत्तिकी एकाध कौड़ी भी अपने काममें न आजाय। परन्तु मुहम्मद साहिब को यह अनावश्यक तथा कष्टप्रद मालूम हुआ, तब उनने ऊपरकी आयतमें इस बातका स्पष्टीकरण किया। जरूरत अनाथों की रक्षा और उन्नति की थी सो वही करना उचित है, खानपानका अलग करनेकी कोई जरूरत नहीं है। इससे मालूम होता है कि मुहम्मद साहिब समाजका सर्वतोमुख विकास करना चाहते थे और विवेकका पाठ पढ़ाना चाहते थे।

—सत्यभक्त]

जैनसभा अमरोहा का वार्षिक अधिवेशन।

जैनसभा अमरोहाका वार्षिक अधिवेशन ता० २९ व ३० अक्टूबरको जैन मंदिर मोहल्ला कोटमें श्रीयुत लाला सिपाहीलालजी जैनकी अध्यक्षता में सफलतापूर्वक मनाया गया, जिसका विवरण अतिसंक्षेपमें इस प्रकार है:—

ता० २९ अक्टूबरको रात्रिके ८ बजे मंगलाचरण के पश्चात उसकी पहली बैठक हुई। सर्वप्रथम मंत्री महोदय सेठ रामरतनलालजी द्वारा पेश की हुई रिपोर्ट को सभाने सर्वसम्मतिसे स्वीकृत किया। उसका आवश्यक अंश इस प्रकार है:—

"........ इस सभाने अपनी उद्देश्य पूर्तिमें अनवरत परिश्रमद्वारा जो अपनी लघु-शक्तिका (२२ वर्ष से) परिचय दिया है, इसीमें इसकी महत्ता है। इसने कई महत्वपूर्ण कार्य कर दिखाये हैं। ......"

"इस वर्ष साधारण सभाकी १० बैठकें हुई। एक बैठक प्रबन्धकारिणी-कमेटीकी हुई। इसने भिन्न भिन्न प्रस्तावों द्वारा धर्म व समाजोत्थानकी दृष्टिसे कई कार्य किये, जिसमें सबसे महत्वपूर्ण श्रीमान साहित्यरत्न पं० दरबारीलालजी न्यायतीर्थ तथा पं० वंशीधरजी शास्त्री शोलापुरका शास्त्रार्थ था। शास्त्रार्थ 'सर्वज्ञता' 'मुक्ति' 'दिगम्बरत्व' विषयों पर हुआ। इसका स्पष्ट विवरण प्रेससे प्रकट है।"

"खेद है कि शास्त्रार्थके महत्वको हम लोगों ने भलीभाँति न समझकर उसका दुरुपयोग किया, जिसके कारण व्यर्थकी तू तू मैं मैं मची, यहाँ तक कि प्रेस तक नौबत भी इस हद्दतक पहुँची कि अमरोहा भी एक अच्छा खासा जगत् बन गया। इसी वैमनस्यके कारण सभा बहुत नाजुक परिस्थितिमें कुछ समय तक रही; मगर हर्ष है कि उसके सच्चे सेवकोंने उसको सुरक्षित कर दिया।"

"ज्ञानवर्द्धक जैन पाठशालाकी पुन: स्थापना हुई व उसका आनंदप्रद उद्घाटन हुआ। इसवर्ष वार्षिक जलयात्रोत्सव गतवर्षोंकी अपेक्षा अधिक समारोहके साथ निर्विघ्न सम्पन्न हुआ।"

तत्पश्चात् कोषाध्यक्ष महोदय द्वारा पेश किया हुवा वीर सं० २४६० का हिसाब सर्वसम्मतिसे स्वीकृत हुवा।

इसके बाद अन्तमें सभाने अपनी नवीन नियमावली स्वीकृत की। उसका महत्वपूर्ण अंग निम्नप्रकार है—

नाम:—इस सभाका नाम 'जैनसभा अमरोहा' होगा।

उद्देश्य—(क) ऐसा सेवा कार्य करना, जिससे जैनधर्मका समीचीन रूप, उसके आचारविचारोंकी महत्ता, उसके अहिंसा, सत्यादिक व्यापक तत्त्वोंका वास्तविक रहस्य, उसकी असीम उदारता तथा उसके अनेकान्तात्मक सिद्धान्तोंकी व्यावहारिक उपयोगिता को सब (विशेषतया जैनसमाज) के हृदय पर अङ्कित करके कार्य परिणत करना।

(ख) जैनसमाजमें जीवन, जाग्रति और एकता स्थापित करके उसका न्यायोचित सुधार करना तथा अन्य समाजोंसे समभावमूलक ऐक्यकी वृद्धि करना।

'जैनधर्मकी जय' के साथ प्रथम बैठककी समाप्ति हुई। ता० २० अक्टूबरको रात्रिके ८ बजेसे दूसरी बैठक हुई जिसमें व्यवस्थासम्बन्धी प्रस्ताव पास हुए तथा पदाधिकारियोंका चुनाव निम्नप्रकार हुवा—

सभापति—श्री० साहू रघुनन्दनप्रसादजी जैन रईस (साहूजीके बहुत मना करने पर भी सभाने उन पर आदर तथा प्रेमका दबाव डाल उन्हें ही सर्वसम्मति से सभापति चुना।)

उपसभापति—लाला बाँकेलालजी जैन।

मन्त्री—सेठ रामरतनलालजी।

सहमन्त्री—ला० श्यामशरणजी जैन।

कोषाध्यक्ष—ला० मुकुटबिहारीलालजी जैन (मुनीम)

अन्तरंग सभाके सदस्य निम्नप्रकार ६ निश्चित हुए। उपरोक्त ५ पदाधिकारी, ६—ला० सिपाहीलालजी। ७—ला० चाँदबिहारीलालजी। ८—ला० बुधसेनजी। ९—ला० छेदालालजी।

जैनमंदिरसमितिके सदस्य ७ निम्नप्रकार निश्चित हुए:—

१—ला० सिपाहीलालजी, २—ला० बाँकेलालजी, ३—ला० चाँदबिहारीलालजी, ४—ला० सुंदरलालजी, ५—से० रामरतनलालजी, ६—ला० छेदालालजी, ७—साहू रघुनंदनप्रसादजी

अंतमें साहू रघुनंदनप्रसादजीने संक्षिप्तरूपमें सभा को उसका उत्तरदायित्व तथा उसका कर्तव्य सुझाया।

'जैनधर्मकी जय' के साथ कार्रवाई निर्विघ्न समाप्त हुई।

प्रेषक—रामरतनलाल जैन
मंत्री जैनसभा अमरोहा यू० पी०

विविध विषय।

१—शूद्रजलत्यागका ढकोसला।

स्थितिपालक दलने महात्मा गाँधीके अस्पृष्यता-निवारण आंदोलनके विरोधमें शूद्रजलत्याग आंदोलन चलाया। उन्होंने कतिपय मुनिवेषियोंको आगे कर उनसे यह घोषणा कराई कि हम केवल उसी व्यक्तिके हाथका आहार लेंगे जो शूद्रद्वारा स्पर्शित जलके पीने या उससे तैयार की गई खाद्य सामग्री के सेवन करनेका आजन्म त्याग करे। कई लोगोंने इस प्रतिज्ञाको बिलकुल अनुचित समझते हुये भी केवल इस आशंकासे कि प्रतिज्ञा न लेनेपर मुनिजी को भूखों रहना पड़ेगा जिससे जैनियोंकी बदनामी होगी, तथा साथ ही मुनिजीको आहारदान देकर पुण्य सम्पादन करनेके लोभसे भी, शूद्रजलत्याग सम्बंधी प्रतिज्ञा ली। किंतु इसमें अधिकांशने मायाचार किया—आजन्म त्यागका दिखावा करके भी उन्होंने उक्त प्रतिज्ञाको मुनिजीके मौजूद रहने तक ही निभाया; मुनिजीके प्रस्थान करते ही उन्होंने उस प्रतिज्ञाको भी धता बता दी। गाँवोंमें ज्यादातर घर की स्त्रियाँ स्वयं ही कुएँसे पानी भरकर लाती हैं, इसलिये उन्हें इससे कोई असुविधा नहीं हुई, किंतु शहर वालोंके लिये इसका पालन करना कठिन था, कारण शहरोंमें ज्यादातर न तो स्त्रियाँ स्वयं पानी भरकर लाती हैं और न सरावगी, ब्राह्मण आदि ही इस कार्य के लिये आसानीसे मिलते हैं। अत: मुनिजीने उनके लिये सुगम मार्ग निकाला और घोषणा की कि शूद्रजलत्यागी नलका पानी पी सकता है! नलका पानी, जाट, गूजर आदि द्वारा लाये हुए कुएँके पानीकी अपेक्षा किस कारणसे शुद्ध माना गया, यह केवल श्रद्धालु भाई ही समझ सकते हैं। खैर।

जातिमदप्रचारक मुनिवेषी चंद्रसागरजी आजकल मारवाड़मे हैं। नलके पानीकी छूटसे वहाँ काम नहीं चल सकता। पानीकी कमीसे मारवाड़में कुओं में बहुत गहराईमें पानी मिलता है। ज्यादातर वहाँ चमड़ेके चरसोंमें पानी भर कर बैलों द्वारा कुओंसे निकाला जाता है और वही पानी पीनेके काममें लिया जाता है। वहाँ मुनिजीने फौरन व्यवस्था देदी कि शूद्रजलत्यागी चमड़ेके चरसका पानी पी सकता है! इसका अर्थ यह हुवा कि मुनिजीकी दृष्टिमें जाट गूजर आदि (जिन्हें वे शूद्र बताते हैं) जीवित मनुष्यों का स्पर्श मरे जानवरोंके चमड़ेके स्पर्शसे भी निकृष्ट है! जातिमदका यह कितना भयंकर रूप है!

स्थितिपालक बंधु कहा करते हैं कि शूद्रजलत्याग की प्रतिज्ञा द्वेषमूलक नहीं है, किंतु केवल आचार-शुद्धि के लिये है। क्या वे बतलावेंगे कि चमड़ेके चरसका पानी पीने वालेके किस प्रकार आचार शुद्धि बनती है?

मनुष्य जानबूझ कर जब कोई भूल करता है तथा बार बार सचेत किये जाने पर भी वह कुटिल स्वार्थवश भूलका संशोधन नहीं करना चाहता तो अपनी एक भूलको छिपाने के लिये वह अनेकों भूलें करता है और अधिकाधिक पतित होता जाता है। यही हाल हमारे इन स्थितिपालक बंधुओं व उनकी कठपुतली मुनिवेषियोंका है। ये लोग "शूद्र" शब्द का लक्षण तक नहीं बता सकते, शूद्र संज्ञावाली जातियोंके नाम तक नहीं गिना सकते, किंतु फिर भी "शूद्रजलत्याग" की हठको पकड़े हुए हैं और उसकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञाओंमें मनमानी छूटें देकर अपनेको हास्यास्पद बना रहे हैं।

शूद्रजलत्यागसे आचार-शुद्धि तो बिलकुल न हुई—हाँ इसके बहाने समाजमें मायाचार खूब फैला। लेकिन इससे भी अधिक भयंकर हानि एक और हुई है। जिन जातिवालोंके हाथकी छुई हुई

वस्तुओंको हम अब तक निःसंकोच खाते पीते थे, अब एकाएक अकारण ही उन्हें शूद्र घोषित कर उनसे परहेज करनेका परिणाम यह हुवा कि इस अपमानसे त्रस्त होकर उन जाति वालोंने भी हम लोगों के साथ "जैसे का तैसा" बर्ताव शुरू कर दिया है। पाडली आदि स्थानोंमें तो समस्त हिंदू जनताने सरावगियों (खंडेलवाल दिगम्बर जैनोंका) बहिष्कार कर दिया है। सुना है कि जाट महासभाके गत अधिवेशनमें एक प्रस्ताव सरावगियोंका बहिष्कार करनेके विषयमें आया था, किंतु हर्ष है कि उसके बुद्धिमान सभापति कैप्टेन श्री सुरेन्द्रपालसिंहजी ने लोगोंको समझा बुझा कर रोक दिया। इस बहिष्कारने स्थितिपालक दलको विचलित कर दिया है, और वे लोग जयपुर महाराजा साहिबके पास डेपूटेशन ले जाने, उक्त गाँवके ठाकुरसाहिब व हिंदू जनता के प्रति क़ानूनी कार्यवाही करने आदि का आयोजन कर रहे हैं। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि वे लोग यह सोचने की आवश्यकता ही नहीं समझते कि आख़िर यह परिस्थिति पैदा क्यों हुई! इन गाँवोंमें सरावगी सैकड़ों बरसोंसे आनंदपूर्वक रह रहे थे; सब लोग आपस में एक वृहत् कुटुम्बकी तरह दुःखसुख में भागी होते थे। फिर एकाएक यह परिवर्तन क्यों हुवा? हमलोगोंको ज़रा अपना हृदय भी तो टटोलना चाहिये। मूक पशु जब हदसे ज्यादा सताया जाता है तो अंत में वहभी उत्तेजित होकर बदला लेनेके लिये तैयार होजाता है। आख़िर शूद्र बताए जाने वाले व्यक्ति भी हमारी ही तरह मनुष्य हैं और उनमें भी हमारी ही तरह स्वाभिमान का भाव जाग्रत हो रहा है। यदि हम चाहते हैं कि हम सुख व शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत करें तो हमें अपने पड़ौसियों से हिलमिल कर ही रहना होगा और अपने आपको उच्च तथा दूसरों को नीच मानने की भावना को छोड़ना पड़ेगा।

२—चन्द्रसागर लीला।

मुनिवेषी चंद्रसागरजीके विषयमें कई बार लिखा जा चुका है। पानीमें आग लगानेकी कला में ये हज़रत बहुत प्रवीण हैं। जिस जगह इनका पदार्पण हो वहाँ कोई नया बखेड़ा पैदा न हो, यह बिलकुल असम्भव है। लोहड़साजन-विरोधी आंदोलनके प्रमुख सूत्रधार होनेके कारण ये शैतानकी तरह प्रख्यात हैं ही। इसी दुराग्रहके कारण इन्होंने अपने गुरु श्री शांतिसागरजी से विद्रोह किया और आज खुल्लमखुल्ला उनका तिरस्कार कररहे हैं। कुचामणमें इन्होंने एक आर्यिकाका बहिष्कार किया तथा बादमें श्री श्रुतसागरजी मल्लिसागरजी आदि मुनिवेषियोंसे लड़झगड़ कर ये उनसे भी अलग हो गये। सुजानगढ़में पहिले विधवा स्त्रियोंके पाँवोंकी कड़ियें उतरवाने तथा उनके केश कटवानेकी ज़िद पकड़ी। पिछले दिनों वहाँ तेरहपंथ—बीसपंथके पुराने झगड़ेका सूत्रपात किया। आपने वहाँ ज़िद कर कर के केवल श्री जिनप्रतिमाके आगे ही नहीं, वरन् स्वयं अपने आगे भी मिठाई व हरित फल आदि चढ़वाये! आपकी उद्दंड प्रकृतिके कारण श्रावक वैसे ही भयभीत रहते हैं; किंतु यदि किसी ने कुछ साहस कर ऐतराज़ किया तो आप फ़रमाते हैं—हरितकाय में कोई भी जीव नहीं रहता, इसलिये इसके चढ़ानेमें कोई पाप नहीं! हरा तो कपड़ा भी होता है। क्या हरा रंग होने से ही कोई वस्तु त्याज्य होगई? आपकी तीव्र इच्छा थी कि सुजानगढ़ में पंचामृत-अभिषेक अवश्य किया जाय। वहाँ के लोगोंको इसके विरुद्ध देख आपने एक तरकीब निकाली। आपने अपने साथके एक ब्रह्मचारीको क्षुल्लक-दीक्षा देनेका आयोजन रचा और लोगोंसे कहा कि मैं कल इसको क्षुल्लक-दीक्षा देना चाहता हूँ; परन्तु इसके यह प्रतिज्ञा है कि मैं पंचामृत-अभिषेक

पूर्वक ही क्षुल्लक-दीक्षा लूँगा; इसलिये यदि तुम लोग यहाँ पंचामृत-अभिषेक न करने दोगे तो यह दीक्षा न ले सकेगा और इस पापके भागी तुम होगे। मुनिजी का यह तीर ठीक निशाने पर बैठा। गाँव वालोंने पापके नामसे घबराकर पंचामृत-अभिषेक के लिये अनुमति देदी। केवल यह कहा कि—यदि आपको पंचामृत-अभिषेक कराना ही है तो खैर करादीजिये, लेकिन यह काम मंदिर में नहीं होना चाहिये; मंदिर के सामने वाले नोहरे में भले ही करा दीजिये। निदान यही हुवा और मंदिरसे श्री जिन-प्रतिमाजी को नोहरेमें ले जाकर वहाँ पंचामृत—अभिषेक, सचित्त-सामग्रीसे पूजा आदि सब क्रियायें कराईगई। यहाँ यह भी बतादेना आवश्यक है कि ये क्रियायें उक्त क्षुल्लकजीके हाथों से कराई गई, जो आँखमें कुछ ऐब होनेके कारण स्थितिपालक—मान्यताके अनुसार इनके अधिकारी नहीं हैं। सुजानगढ़ वाले, जो प्रायः सब तेरहपंथी हैं, मनही मन कुढ़ रहे थे परन्तु विवश थे।

चंद्रसागरजीकी उद्दंडता व असभ्यताके उदाहरण कहाँ तक दिये जावें? वे प्रायः नित्यप्रति ऐसी-हरकतें करते ही रहते हैं। अभी एक महाशय—जिनने शूद्रजलत्याग नहीं किया और और न उनकी माताने पोंवोंकी कड़िये ही खोलीं—व्यापारके लिये प्रस्थान करने वाले थे। मुनिजी ने उनसे कहा—"यहाँ तो तुमने धर्मका दिवाला निकाल दिया है और वहाँ जाकर धनका दिवाला निकालोगे!" कितने हितमित वचन हैं! वीतरागी निष्कषायी मुनि कहलाने वालेके क्या ऐसी ही वचनगुप्ति होती है?

श्री सूर्यसागरजी लोहड़साजनोंके यहाँ आहार लेते हैं, इससे चंद्रसागरजी का उनसे वैर सरीखा होगया है। जबसे उन्होंने यह सुना कि चातुर्मास की समाप्ति पर सूर्यसागरजी सुजानगढ़ आरहे हैं तो उनके उपदेशका विषय सूर्यसागरजीकी निंदा करना ही होगया। आपने सुजानगढ़ वालों पर बहुत दबाव डाला कि वे सूर्यसागरजीको अपने यहाँ न ठहरावें, उनका किसी प्रकार स्वागत न करें, उनको आहार न दें! परन्तु इस अवसरपर सुजानगढ़वालों ने अपने विवेक को न छोड़ा—उन्होंने सूर्यसागरजी का यथोचित आदर सत्कार किया, उन्हें श्रद्धा व भक्तिपूर्वक आहार दिया तथा उनका उपदेश श्रवण किया। इधर चंद्रसागरजी अपने उपदेशों में उनकी निंदा करते थे, लोगों को उन्हें आहार देने आदिपर डाँट फटकार लगाते थे; उधर सूर्यसागरजी केवल धार्मिक उपदेश देते थे। जैन व अजैन जनता एक ही धर्मके मानने वाले दो मुनियोंमें इतनी विषमता देखकर आश्चर्य करती थी और सूर्यसागरजीकी शांतताकी हृदयसे सराहना करती थी।

चंद्रसागरजीके एक शिष्य मुनिवेषी निर्मलसागर जीने मंदिरमें सूर्यसागरजीसे कुछ बातचीत की थी इसपर चंद्रसागरजी उनपर बहुत खफा हुये और उन्हें इसके लिये प्रायश्चित दिया!

चंद्रसागरजी हिंदी-भाषाके ग्रंथोंकी अवहेलना करते हैं, पं० सदासुखजी, टोडरमलजी सरीखे विद्वानों को, जिन्होंने संस्कृत ग्रंथोंका हिंदी भाषामें अनुवाद कर साधारण जनताका असीम उपकार किया है, मूर्ख बताते हैं। कारण स्पष्ट है। संस्कृत-भाषा-अनभिज्ञ जनता हिंदी भाषाके ग्रंथोंको न पढ़ेगी तो अज्ञान बनी रहेगी और इन पाखंडियोंकी मनमानी चलती रहेगी।

स्थानीय सहयोगी 'चंद्रप्रकाश', जिसका जन्म चंद्रसागरजीके मंतव्योंका प्रचार करनेके लियेही हुवा है, चंद्रसागरजीके अलावः सब मुनियोंकी—खासकर लोहड़साजनोंके समर्थक श्री शांतिसागरजी, सूर्यसागरजी आदिकी—तो निंदा करता रहता है, परन्तु आश्चर्य है कि वह चंद्रसागरजी के सम्बंधमें छिपे

गये आक्षेपोंका निराकरण तो क्या, उनपर शांति-पूर्वक विचार करनेका भी कभी कष्ट नहीं उठाता।

३–रावराजा सर सेठ हुकमचंदजी का हीरक-जयंती उत्सव।

इंदौर के धनकुबेर श्रीमान रावराजा सर सेठ हुकमचंदजी सुप्रसिद्ध व्यापारी हैं और अपनी दान-शीलताके कारण भारत भर में प्रख्यात हैं। आप सार्वजनिक कार्योंके लिये अबतक करीब इकतालीस लाख रुपये दान कर चुके हैं। इंदौरमें आपकी ओर से संस्कृत महाविद्यालय, आयुर्वेदिक औषधालय, प्रसूतिगृह, औषधका शफाखाना, बोर्डिङ्ग हाउस, धर्मशाला, विधवासहायक—फंड, श्राविकाश्रम, आदि संस्थाएं अच्छा कार्य कर रही हैं। आपने इन्हें चिरस्थायी बनाने तथा इनके योग्य सञ्चालन के लिये ट्रस्ट नियत कर दिया है। अभी इस उत्सवके अवसर पर आपने श्री० पं० मदनमोहनजी मालवीय के अनुरोध से बनारस हिंदूयूनिवर्सिटीमें दिगम्बर जैन विद्यार्थियोंके लिये होस्टल तथा मंदिर बनवाने के लिये पचास हजार रुपये प्रदान किये हैं। श्रीमान सेठ साहिब ने अपने जीवनके ६० वर्ष पूर्ण किये, इस उपलक्षमें इंदौर जैनसमाजने आपके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने तथा उनकी दीर्घायुकी कामना के लिये हीरक-जयंती उत्सव मनाया जिसमें इंदौर की ही नहीं वरन बाहिरकी भी जैन व अजैन जनताने सहर्ष योग दिया। अपने ऐशो-आराम में लाखों रुपये फूँकनेवाले अनेकों होगये; परन्तु आज उनके नामको कभी कोई भूल कर भी याद नहीं करता। जो महानुभाव जनताके हितके लिये अपना धन लगाते हैं, उनका धन पाना ही सार्थक है। जनता भी चिरकाल तक अपने उपकारीको अंतःकरण से आशीर्वाद देती रहती है।

उत्सव मनानेके उद्देश्यसे सहमत होते हुए भी, खेद है कि, हम जिस ढंगसे यह उत्सव मनाया गया उसकी अनुमोदना नहीं कर सकते। अफसोस है कि इस उत्सवमें अधिकांश रुपया केवल चार दिन की वाहवाहीके लिये, केवल शानशौकत दिखाने के लिये, व्यय किया गया। जैनसमाजमें कई विद्यालय, हाईस्कूल आदि शिक्षासंस्थायें मौजूद हैं, परंतु जहाँतक हमें मालूम है औद्योगिक शिक्षा प्रदान करने वाली कोई संस्था नहीं है। जैनसमाजका बहुभाग व्यापार में लगा हुवा है, परन्तु व्यापारकी दशा शोचनीय होने के कारण बेकारीका सवाल जैन समाजके सामने भी उपस्थित है। खंडेलवाल जातिके ही सैंकड़ों युवक साधारण नौकरी तक के लिये मारे मारे फिर रहे हैं। बेहतर होता यदि इन्दौर जैनसमाज हीरक-जयंतीके स्मारकमें सेठ साहिबके सहयोगसे कोई औद्योगिक संस्था स्थापित करता जिससे जैन समाजका चिरस्थायी लाभ होता।

इस अवसरपर दिगम्बर जैनसमाजके स्थिति-पालक दलकी महासभाका अधिवेशन भी हुआ था। सभापति थे श्रीमान् रायबहादुर सेठ भागचंदजी सोनी एम० एल० ए०। सुधारक वर्गने तो इसकी कार्यप्रणालीसे असंतुष्ट होकर अपना संगठन पहिले से अलग कर रक्खा है। समाज भी इसकी ओरसे उदासीन ही है। उक्त महासभा दिगम्बर जैनसमाज का कितना प्रतिनिधित्व रखती है, इसके लिये अजमेरका उदाहरण ही काफी होगा। यहाँ ६ पंचायतियाँ हैं, परन्तु बहुत प्रयत्न करने तथा उपदेशकों द्वारा दबाव डाले जाने पर भी सभापति श्रीमान् सेठ भागचंदजीकी पंचायतके अलावा किसीने अधिवेशनके लिये अपना कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा। महासभाके संचालक, हीरक-जयंती उत्सवके ठाठ-बाटको देखनेके लिये आसपासके गाँवोंसे आई हुई जनता, तथा हीरक-जयंती-उत्सवके अधिनायक सर सेठ हुकमचंदजी के दामाद श्रीमान् सेठ भाग-

चंदजीके स्वागत-जुलूसके समारोहसे महासभा को लोकप्रिय बतानेका साहस करें, तो यह हास्यास्पद ही समझा जावेगा। ये लोग श्रीमानोंको मनमानी पदवियें प्रदान कर प्रेसके नामपर रुपया भले ही हथिया लें, परन्तु समाजकी सहानुभूति तो इन्हें तब ही प्राप्त हो सकेगी, जब ये सर्वसाधारणके हितका खयाल कर कोई उपयोगी कार्य करेंगे।

सभापतिका भाषण युवकोचित उत्साह, समाज के हीन-अंगके प्रति सहानुभूति, समाजके अनेक पुराने व नये नये रोगोंके निदान, उनकी चिकित्सा, समाजके उत्थानके लिये नूतन योजनाएँ, भविष्य कार्यक्रम आदिसे बिलकुल शून्य था। महासभा के उपदेशक-विभाग, परीक्षालय, पुरातत्व-विभाग, जैनगजट-संचालन आदिके प्रति बहुत ही दबे स्वर में असंतोष प्रकट किया गया था। एक युवकके मुँहसे ऐसा भाषण बिलकुल नहीं फबा। हाँ, दामाद के मुँह से अपने श्वसुर महोदय के "अखंड ब्रह्मचर्य" की प्रशंसा सुनकर लोगों को हँसी अवश्य आई। यदि यह भाषण एक युवक से न पढ़वा कर पं० खूबचन्दजी या किसी अधेड़ पंडित से पढ़वा दिया जाता तो इतना बेमौजूँ न मालूम होता।

सभापतिजीके भाषण की अपेक्षा स्वागताध्यक्ष श्रीमान् सेठ भँवरलालजी सेठी ऐम. ऐल. सी का भाषण विशेष उपयोगी व रोचक था, और उसमें जैन जनसंख्या-ह्रास, सामाजिक कुरीतियों आदि विषयों पर चर्चा कीगई थी तथा स्त्रीशिक्षाका समर्थन करते हुए परदा प्रथाका यथेष्ट विरोध किया गया था।

मदारीके खेल की अच्छाई का अंदाज साधारणतः बटोरे हुए पैसों से लगाया जाता है। इस दृष्टि से उक्त महासभा का अधिवेशन भी सफल कहा जासकता है। प्रेस के नाम पर क़रीब नौ दस हजार रुपये एकत्रित होगये और संचालकोंके बेकार रिश्तेदारोंके लिये आजीविकाका एक साधन मिल गया। जनताको विश्वास दिलाया गया है कि जैन गजट का संचालन अब उत्तम रीति से होगा। साथ ही कट्टर स्थितिपालकोंको आश्वासन दिया गया कि महासभाके प्रेस में शास्त्र नहीं छपाये जावेंगे।

प्रायः सब उन्नत समाजोंमें नेता लोग साधारण जनताकी अपेक्षा प्रगतिशील विचारोंके होते हैं और वे समाज को अपने साथ खींच कर आगे बढ़ाते हैं। किन्तु जैनसमाज की दशा इसके बिलकुल विपरीत है। यहाँ नेता लोग समाज का मुँह जोहा करते हैं। छपे हुए शास्त्रों का प्रायः सर्वत्र प्रचार है। महासभा के सूत्रधार पंडित लोग खुद शास्त्र छपाकर अथवा छपाने के लिये ग्रन्थों का अनुवाद कर अपने पॉकिट भर रहे हैं, परन्तु महासभा अभी तक छापा-विरोधी प्रस्ताव को अपनाये हुए है। आज भी उसे उक्त प्रस्ताव को रद्द करने की हिम्मत नहीं होती। यही हाल मुनिवेषियों के विषय में है। प्रायः सब विचारशील व्यक्ति मुनिवेषियों की उच्छृंखलतासे परेशान हैं। आप किसी भी जैनपत्र को उठा लीजिये, उसमें अवश्य किसी न किसी मुनिवेषी की शिथिलाचार-कहानी आपको मिलेगी। जैनदर्शन, चंद्रप्रकाश सरीखे कट्टर स्थितिपालक पत्रोंने भी इन लोगोंके उचित नियंत्रणकी आवश्यकतापर अनेक बार लिखा है। महासभाकी सब्जैक्टस् कमेटीमें इस विषय पर प्रस्ताव पेश हुवा। प्रस्तावक व समर्थक महाशयों ने भाषण दिये। एक महाशयने तो जोशमें आकर यहाँ तक कहा कि—"आप पंडित लोगोंने ही तो उन्हें सिर पर चढ़ा रखा है। हमलोग कहाँ तक उन्हें कपड़े पहिनावें और कहाँ तक ढोंगी ब्रह्मचारियोंकी गठड़ियाँ छीनें ? पहिले एक मरतबा एक भंगी, मुनि-

वेष धारण कर यहाँ आया था और अमुक सेठजी ने अपने चौके में उसे आहार दिया था। बाद में पता लगने पर उसे कपड़े पहिनाये गये। दूसरे एक मुनिको हम लोग यहाँ चार मरतबा कपड़े पहिना चुके हैं, किंतु वह अब भी मुनि बना हुआ फिर रहा है।" आदि। परन्तु इतना सब कुछ हो जाने पर भी प्रस्ताव योंही धरा रह गया। प्रस्तावक महाशयने देखा कि जब इतने आदमी समर्थन कर ही रहे हैं तो अकेला मैं क्यों प्रस्तावक बनकर धर्मात्माओंकी नजरमें बुरा बनूँ। उन्होंने चाहा कि मैं अलग निकल जाऊँ और समर्थक महाशय ही प्रस्तावक बन जावें। परन्तु समर्थक महाशय बिलकुल भोंदू न थे; वे इस चक्कर में न फँसे। इस तरह इन दोनोंकी "तू आगे चल, तू आगे चल" में दोनोंही खिसक गये और मुनि लोगोंको स्वच्छंदतापूर्वक मनमानी करते रहनेके लिये छुट्टी देदी गई। जो सच्चा नेता होता है, वह यश-अपयश, पुरस्कार-बहिष्कार आदिकी परवाह न कर खरी बात कहनेके लिये सर्वदा तैयार रहता है। जबकि ठकुरसुहाती कहने वाले पदवियें पाते हैं, वाहवाही लूटते हैं, सच्चा नेता बहिष्कारका पुरस्कार पाता है। किंतु अंतमें सत्यकी जय होती है और समाज उस बहिष्कृत व्यक्ति के सिर पर सेहरा न बाँध सके तो भी कम से कम उसके निर्दिष्ट पथका अनुसरण करने लगती है।

४—पंचायतों की अकर्मण्यता।

एक युवक सेठजी अपनी युवती विधवा काकी को सधवा बनाये हुए हैं। जब गुप्त प्रणय मूर्तिक रूपमें प्रकट होनेकी चेष्टा करने लगता है तो वे किसी तीर्थकी यात्रा कर आते हैं अथवा अस्वस्थता के बहाने अखियाँ में जा रहते हैं। पंचायत सदाचारियों के कुटुम्बी होनेके कारण किसकी ताब जो इनकी ओर अंगुली भी उठासके? समझ में नहीं आता ऐसे लोग स्वयं इतने दुराचारी होते हुएभी कैसे पंचायत में बैठकर बढ़ बढ़ कर बातें बनाने तथा वैवाहिक रस्मों में फेरफार करने वालोंका बहिष्कार करनेकी हिमाकत करने लगते हैं! और सबसे बढ़कर आश्चर्य होता है पंचों पर जो सब कुछ जानते बूझते हुए आँखें बंदकर अकर्मण्य बने रहते हैं। प्रकाशक।

समाचार संग्रह।

...देहली के श्री० रंगविहारी माथुर की नौवर्षीया पुत्री शांतिकुमारी अपने पिछले दो भवों का हाल बताती है। करीब १२ वर्ष पहिले वह मथुरा के श्री केदारनाथ चौबे की स्त्री थी। वहाँ से मरकर उसने लड़की रूप में जन्म लिया और ढाई वर्ष की अवस्था में ही मर गई। इसके बाद वह वर्तमान पर्याय में आई। बीच के भव की उसे विशेष बातें याद नहीं हैं किन्तु उसके पहिले का सब हाल वह विशद रूप से बताती है। उसने अपने उस भव के पति, जेठ, ससुर, माता, पिता, भाई आदि सबको स्वयं पहिचाना तथा अनेक रहस्य पूर्ण बातें बतलाईं।

—करांची शहरमें विवाह-योग्य लड़कियोंको योग्य वर न मिलनेसे अविवाहित लड़कियोंकी संख्या बढ़ती जारही है। इसके लिये डॉ० जी० टी० हिंगुरानी वहाँके म्युनिसिपल कॉर्पोरेशनमें प्रस्ताव रखना चाहते हैं कि १००) माहवार से अधिक कमानेवाले २५ वर्षसे ४० वर्षके बीचके कुँवारोंपर आमदनीका २५ फी सैंकड़ा टैक्स लगाया जाय।

—महगाँव (भिंड) के जैनमंदिरमें से सब प्रतिमाएँ, जिनकी संख्या २७ थी, गायब कर दी गईं

और जैन शास्त्रोंमें आग लगादी गई। मंदिरको और प्रकार से भी अशुद्ध किया गया।

—नरसिंहपुरके सबडिविजनल मजिस्ट्रेटकी अदालतमें एक मुस्लिम लड़की पर एक युवकको पत्थरसे मारकर क़तल करनेके अभियोगपर मुकदमा चल रहा है। कहा जाता है कि वह युवक उस लड़कीको तंग किया करता था। उस युवककी हरकतोंसे परेशान होकर एक दिन लड़कीने उसपर पत्थर फैंका, जिससे वह मर गया।

—ता० ८ नवम्बरको नासिकमें हरिजन युवकोंकी एक सभा हुई जिसमें हिंदूधर्मको शीघ्र छोड़देने का निश्चय हुवा। बादमें अस्पृश्यता का विधान करने वाले मनुस्मृति आदि हिंदू ग्रन्थोंको जलाकर हिंदू-धर्मका क्रियाकर्म किया गया। उक्त सभामें यह भी निश्चय हुवा कि हरिजनोंको हिंदू तीर्थों, मंदिरों आदि में नहीं जाना चाहिये, उनके त्यौहार नहीं मनाना चाहिये।

—नागपुरमें हरिजनोंने डॉ० आम्बेडकरके धर्म-परिवर्तनके निश्चयपर अमल करनेके लिये एक हिंदू-धर्म-त्याग कमेटी बनाई है।

—दिल्लीके श्री आनंदराजजी सुराणाने गरीब लँगड़ोंको कृत्रिम टाँगें मुफ्त वितरण करनेकी घोषणा की है। पूरी टाँगका मूल्य २००) और घुटने तक की आधी टांगका मूल्य १४०) होता है।

—भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद्‌का वार्षिक अधिवेशन झाँसीमें दिसम्बरके आखिरी सप्ताहमें होगा। उत्सवकी सफलताके लिये खूब तैयारियाँ की जा रही है।

—इंदौर रियासतमें ता० १ अगस्तसे बाल विवाह तथा अनमेल-विवाह प्रतिबंधक क़ानून जारी कर दिये गये हैं। इनके अनुसार १७-वर्षसे कम अवस्थाके लड़के और १३ वर्षसे कम अवस्थाकी लड़कीका विवाह बालविवाह तथा १५ वर्षसे कम अवस्थाकी लड़कीका ४० वर्षसे अधिक उम्रके पुरुषके साथ विवाह अनमेल विवाह माना जावेगा। बालविवाह तथा अनमेल विवाह करनेवालोंको १०००) तक जुर्माना तथा एक महीने तक की क़ैदकी सजा दी जावेगी।

—सिवनीके प्रसिद्ध सनातनी सिंघई कुँवरसेन जी ने 'जैनमित्र' में एक लम्बा लेख लिखकर युवती विधवाओंसे अपील की है कि वे अपने सिर के बाल कतरवा डालें, जेवर न पहनें, किसी भी तरहका शृंगार न करें, सादा भोजन करें और सफ़ेद साड़ी पहिनें। इससे उनके शीलकी रक्षा होगी और लोग उनकी तरफ आकर्षित न होंगे। परन्तु इसके साथ ही यदि वे आकर्षित होनेवालों से भी कुछ अपील करते या उन्हें उपदेश देते, तो अधिक अच्छा होता। तपस्वियोंके आश्रममें शकुन्तला बहुत ही सादगीसे रहती थी, फिर भी उनकी सादगी दुष्यन्तको आकर्षित होनेसे न रोक सकी। "इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी" वल्कल पहने हुये भी वह उनको आंखोंमें बहुत ही मनोज्ञ जँची और वे कह उठे कि जिनकी प्रकृति स्वभावसे ही मधुर, सुन्दर है, उनको आभूषणोंकी क्या जरूरत है? ऐसी दशामें आकर्षणसे बचाने के लिये तो यह उपाय पर्याप्त नहीं मालूम होता। और इसमें भी संदेह है कि सिंघईजीकी अपीलसे विधवाएँ बाल कटानेको तैयार हो जायँगी।

———

Printed by Babu Durga Prasad, at the Durga Press, Dhanmandi Ajmer.